सूतसंहिता

प्रथमो भागः

[illegible] -29
[illegible] - 87

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला–३५

संहितात्मक-श्रीस्कन्दपुराणान्तर्गता

सूतसंहिता

प्रथमो भागः

●

श्रीमद्माधवाचार्यप्रणीता

तात्पर्यदीपिका

●

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज

आचार्य महामण्डलेश्वर की आज्ञानुसार

स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि

द्वारा सानुवाद सम्पादित

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

डी ४९/९ मिश्रपोखरा,

वाराणसी-२२१०१०

●

प्रथम संस्करण

शङ्कराब्द १२११

विक्रमाब्द २०५६

खीष्टाब्द १९९९

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य : तीन सौ बीस रुपये मात्र (दोनों भागों का)

मुद्रक

महिम पत्रन प्रा. लि., सोंठ की मण्डी, आगरा

भूमिका

भारतीय धर्मों की दो परम्पराएँ रही हैं । प्रधान धारा वैदिक धर्म है, एवं इसके विरोध में उठा सुधारवादी अवैदिक धर्म गौण धारा । अनेक मान्यताएँ दोनों में समान होने पर भी अपौरुषेय अनादि वेद को प्रमाण स्वीकार करने या न करने के विषय में इनमें आधारभूत भेद है । वैदिक धर्म की अनेक शाखा-प्रशाखाओं में शैव व वैष्णव धाराएँ सर्वाधिक प्रसृत हुई हैं । शैव धर्म का सर्वतोभावेन प्रामाणिक ग्रन्थ उपस्थापित सूत संहिता है । 'स्कन्द पुराण' के संहितात्मक खण्डों में यह एक है । अन्य पाँच खण्ड अति विरल हो चुके हैं । परन्तु इसका प्रचुर प्रचार है । विशेषतः यह अद्वैत दर्शन का सरल व सरस रूप से प्रतिपादन करता है । अतः माधवाचार्य ने इस पर संक्षिप्त पर सारगर्भित व्याख्या की रचना की है । अनेक स्थलों में दुर्लभ शैवागमों का प्रमाण देते हुए इसे बोधगम्य बनाया है, तो अद्वैत के आचार्यों के उद्धरणों से इसका दर्शन पक्ष भी सुस्पष्ट व परिष्कृत किया है । वर्तमान संस्करण में यह व्याख्या भी दे दी गई है एवं इस व्याख्या के आधार पर सिद्धहस्त श्री परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरिजी ने हिन्दी व्याख्या समुपस्थापित की है जिसमें उन्होंने अनेक गुत्थियों को सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया है । इस प्रकार यह संस्करण संस्कृतज्ञों व असंस्कृतज्ञों का समान रूप से उपकारक होगा । इसके अध्ययन से शैव धर्मावलम्बियों को अपने धर्म व दर्शन का समग्र ज्ञान हो सकेगा । हिन्दी भाषा में इस प्रकार के ग्रन्थों का अभाव ही परिलक्षित होता है । इसमें शैव धर्म की आचार पद्धति, पूजा पद्धति, ध्यान पद्धति एवं योग या साधन पद्धति सभी पर प्रकाश डाला गया है ।

यह ग्रन्थ स्वयं ही सनत्कुमार संहिता, सूत संहिता, शंकर संहिता, वैष्णव संहिता, ब्राह्मी संहिता एवं सौर संहिता में अपने मूल को विभक्त करता है । इस प्रकार यह द्वितीय है । इसमें ६००० श्लोक हैं जबकि पूरे श्लोक सभी संहिताओं में मिलाकर ५५००० हैं । यह उपपुराणों में गिनी गई हैं । ग्रन्थारंभ में ही यह सूचित करके माधवाचार्य ने प्रति अध्याय की विषय सारणी भी दे दी है । प्रारम्भ में विषय का सुन्दर प्रतिपादन करते हुये माधव ने स्पष्ट किया है कि शिव के निष्कल व सकल दोनों रूप हैं । वैष्णव सम्प्रदायों में वर्तमान में निष्कल रूप का प्रतिपादन नहीं किया जाता । परन्तु सभी शैव सम्प्रदायों में इसकी वास्तविकता स्वीकारी जाती है । वैष्णवों के साथ यह मतभेद शैवों का प्रारम्भ से ही रहा है । शैवागमों से प्रमाणित करते हुये कहा गया है कि वृत्ति व वृत्ति के प्रागभाव का साक्षी ही परप्रेमास्पद होने से शिव चिदानन्दमय ही है । परन्तु इस तत्त्व को समझने में असमर्थ लोगों के ध्यान व पूजा के निमित्त वही चिदानंद शिव मायिक रूप ग्रहण करता है । वाचस्पति के व्याख्याता अमलानन्द स्वामी ने कल्पतरु में स्पष्टतः 'साक्षात्कर्तुमनीश्वराः अनुगृह्यन्ते सविशेषनिरूपणैः' कहकर इसी को पुष्ट किया है । विद्वान् तात्पर्यदीपिकाकार शिव की लीलाओं में जीव की तरह प्रवृत्ति दिखने पर भी वह जीव की तरह न होकर उससे विलक्षण है इसका विस्तृत विश्लेषण उपस्थित करते हैं । यहाँ शास्त्रों का प्रमाण देकर कहते हैं कि जैसे नारायण होने पर भी अज्ञानावृत होने से राम स्वस्वरूप के अनवबोध से जीववत् दुःखी हुये ऐसा शिव में नहीं है । अनावृत ही उनका नित्य मायिक स्वरूप है । वे माया को प्रवर्तित करके लीला करते हैं, जीव उससे आवृत होकर कर्त्ता-भोक्ता बनता है ।

सूत ने ऋषियों को उपदेश दिया । इससे इस पुराण में प्रतिपादित तत्त्व विद्या की विशेषता है ऐसा तत्त्वदीपिकाकार का मत है । भाव यह है कि व्यास से पुराण सुनकर सूत ब्राह्मणों को भी उपदेश देने में समर्थ हो सके । सूत संहिता को स्वयं यहाँ संहितां श्रुतिसंमिताम् (६) कहा है ।

इसे संहिता कहा है क्योंकि यह श्रुत्यर्थ का संग्रह रूप है । वैसे आगमों में, विशेषतः वैष्णवागमों में, 'संहिता' शब्द का प्राचुर्येण प्रयोग है । यह संहिता चार भागों में विभक्त है । प्रायः किसी भी प्रकार के संग्रहों को संहिता नाम से कहा जाता है । वैदिक संहिता भी शौनक, बाष्कल, बाजसनेय, पिप्पलाद, मैत्रायणी आदि के नाम से प्रसिद्ध है । स्पष्टतः यह ऋषि लोग संहिता के निर्माता नहीं, वरन् वैदिक मंत्रों के संग्राहक थे । अतः यहाँ भी शैव धर्मों के चारों खण्ड यहाँ संगृहीत होने से इसे भी संहिता नाम से कहा गया है । चर्या या भक्ति, क्रिया या कर्मकाण्ड, ज्ञान या सिद्धान्त व योग या ध्यान ही चार पाद शैवों के द्वारा स्वीकृत प्रकार से यहाँ प्रतिपादित हैं । चौथे खण्ड का उत्तरभाग ब्रह्मगीता स्पष्टतः ज्ञान खण्ड है, एवं सूतगीता भी इसी प्रकार का खण्ड है । चतुर्थ खण्ड के पूर्वभाग में प्रथम १५ अध्याय विशेषतः योग का वर्णन करते हैं । शेष अध्याय क्रिया पाद है । प्रथम तीन खण्ड प्रधानतः चर्या है पर क्रिया व योग से मिश्रित रूप में है । शैव सिद्धान्त के प्रसिद्ध विद्वान क. शिवरामन् ने अपने Saivism in Philosophical Perspective में सूतसंहिता को स्कन्द महापुराण का हिस्सा बताते हुए इसे शैवों के शिवाद्वैत का आधार ग्रन्थ कहा है (पृ. ३२) । अप्पय दीक्षित की शिवार्कमणि-दीपिका तो शैव सिद्धान्तों का चरमोत्कर्ष है । विद्वान् लेखक के मत में शैवों पर कुछ समय तक पाशुपत नैयायिकों का प्रभाव द्वैतवाद के रूप में अवश्य रहा, पर शीघ्र ही मूल अद्वैत धारा पुनः प्रभावकारी रूप से प्रकट हो गई । सिद्धान्ततः तार्किक मीमांसा केवल निमित्त कारण ही शिव को स्वीकारती है । वैदिक मीमांसा अभिन्न निमित्तोपादान की पोषक है । यही सूतसंहिता को भी स्वीकृत है । "मैं ही एक मात्र जगत् का कारण हूँ" (१.२.८) कहकर यह स्पष्ट किया गया है । प्रामाण्य के विषय में भी 'सभी वेद अविरोध के द्वारा ही प्रमाण हैं', अन्य किसी भी प्रकार से नहीं (१.१.३६) कहकर सूतसंहिता ने 'विरोध त्वनपेक्ष' के द्वारा प्रतिपादित जैमिनी के सिद्धान्त को ही स्वीकारा है । माधवाचार्य ने यह स्पष्ट भी किया है । सारे वेद की एक वाक्यता, एवं 'तत्तु समन्वयात्' का बादरायण न्याय भी १.१.३९ में स्पष्ट किया गया है । इस प्रकार यह पुराण रत्न वेदान्त मर्यादाओं का पोषक पूर्णरूप से करता है । पुराण की आवश्यकता बताते हुए वेदों की दुरधिगमता पर माधव ने १.१.३४ की टीका में प्रकाश डाला है । किंच वेदाधिकार में पर्युदस्त शूद्र आदि के लिए भी पुराण ही उपाय है । शूद्र को ब्रह्मविद्या का अधिकार शांकरभाष्य में स्पष्ट कहा है एवं उसका उपाय पुराण भी वहाँ बताया है । यहाँ भी १.७.२१ में यही स्पष्ट किया है । सूतसंहिता स्पष्ट कहती है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य स्त्रियों को तो वेद द्वारा भी ज्ञान का अधिकार है (१.१.२०) । आगे कहा है कि भाषान्तर से तो शूद्रों से भी निकृष्ट म्लेच्छ, यवन, चाण्डाल आदि को ज्ञानाभ्यास विहित है । समय से सभी का ज्ञान पक जाता है । जहाँ ज्ञानसाधना के बिना ज्ञान देखने में आता है वहाँ तो पूर्व जन्म में ज्ञानसाधना मान लेनी पड़ती है (१.१.२३) । इस प्रकार सूत संहिता मानवमात्र को परमेश्वर की भक्ति व शिवात्मैक्य ज्ञान में अधिकार स्वीकारती है ।

सूत संहिता में अनेक स्थलों पर स्तुतियाँ आई हैं जो भाव व ज्ञान दोनों से परिपूर्ण हैं । १-३-२७ से ४८ तक ब्रह्मादि देवताओं की स्तुति यजुर्वेद के नमकाध्याय की स्मृति दिलाती है । १-९-१२ से ३४ तक वाराहरूप विष्णु की स्तुति ब्रह्मर्षियों ने की परन्तु यह जान करके कि वे ही शिव हैं (१.९.५) । ४.२९ में विष्णु द्वारा की गई वर्णमाला स्तुति भी अत्यन्त सुन्दर हैं ४-३८-५ से ६९ तक व्यास स्तुति भी श्रेष्ठ है । ४.२०.३५ से ४१ तक वेद की प्रमाणता को अनेक दृष्टान्तों

से निरूपित किया है । ४.२२ में सभी धर्ममार्गों के प्रामाण्य का सम्यग्रूपेण निरूपण किया है । ४. उ. सू. गी. ८ में २७ से ६१ तक सभी मार्गों का संक्षिप्त वर्णन व उनका तथा वेदमार्ग का समन्वय भी सुरुचिपूर्ण ढंग से किया है । इन मार्गों में ब्राह्मणों की प्रवृत्ति गौतम के शाप से होना भी ४.३२.१९ से ४४ तक विस्तार से बताया है । ४.३६ में कालहस्तीश्वर की महिमा व प्रतिमास अर्चना का विस्तृत वर्णन करके इसमें अन्त्यज का अधिकार भी बताया है । कण्णप्प भील ने यहाँ ज्ञान पाकर मुक्ति पाई थी यह प्रसिद्ध ही है ।

४.२०.१३ में पौरुषेय धर्म को भी धर्म कहा है पर यह सर्वथा सामान्य कोटि का माना गया है । वहीं १४ में यदि वह धर्म किसी देवता को उद्देश्य करके विहित है तो वह तदपेक्षया श्रेष्ठ है । पहले धर्म में परलोक तो स्वीकार किया जाता है पर ईश्वर नहीं, दूसरे में परलोक व ईश्वर दोनों की स्वीकृति है, यद्यपि ईश्वर को अभिन्ननिमित्तोपादान रूप से नहीं समझा गया है । इस प्रकार जो पौरुषेय प्रसूत होकर भी जितना अपौरुषेय के अनुरूप है वह उतना ही श्रेष्ठ है । इस प्रकार सर्व-धर्म-समन्वय का आधार अद्भुत रूप से उपस्थापित किया गया है । बृहदारण्यक वार्त्तिक में भगवान् सुरेश्वराचार्य ने एवं शिवमहिम्नः स्तोत्र की व्याख्या में आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने इन विचारों की आधारशिला पर अत्युत्कृष्ट विचार प्रकट किया है जो सहृदयों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता है । इन्हीं विचारों का विस्तार ४.२५.४० में भगवान् विष्णु का वचन है कि ज्ञान द्वारा संसार के आत्यन्तिक संहार का कार्य भगवान् शंकर का ही साक्षात् विषय है, स्वयं विष्णु या ब्रह्मा का नहीं क्योंकि वे सृष्टि व पालन के ही साक्षात् अधिकारी हैं । कैवल्यमुक्तिप्रद शिव ही हैं यह स्पष्ट है । ४.२८ में शिवलिंगस्वरूप का इतना सुन्दर दार्शनिक व धार्मिक पक्ष उपस्थापित किया गया है जो अन्यत्र सुलभ नहीं । इसी प्रकार ४.३० में महामाया का अवभासक महादेव ही महाभस्म कहा गया है । माधव ने स्पष्ट किया है कि तत्त्वज्ञान प्रदान करके सारे पापों को भस्म करने वाला ब्रह्म ही अग्नि है, एवं यह ज्ञान ही वह भस्म है जिसे शिव धारण करते हैं । इस भस्म को ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ धारण करते हैं । उसे बाह्य भस्म, जटा व चीवर अपेक्षित नहीं है । इस बात का स्मरण कराने वाला बाह्य भस्म साधक के लिए विहित है । इस प्रकार जो भस्म धारण से मुक्ति के शास्त्रीय वचन हैं वे सर्वथा संगत हो जाते हैं । अन्यथा ज्ञान ही मुक्तिप्रद है इस वेदोक्ति का विरोध बना रहता है ।

ज्ञानयोग की एक परम्परा ४.२५ में प्रतिपादित है जिसके अनुसार ईशानमूर्त्ति से विष्णु, ब्रह्मा, सनत्कुमार, व्यास को क्रमशः ज्ञान प्राप्त हुआ । ४.४२ में प्रायश्चित्त निरूपण में निश्चयात्मक ब्रह्मज्ञान का साक्षी किसी भी कर्म के बन्धन को प्राप्त नहीं करता है यह स्पष्ट बताया है । ४.४२.३५, ३६ को पंचदशी में उद्धृत किया गया है । ३५ तो शब्दतः उद्धृत है । ३६ अर्थतः उद्धृत है । इसी प्रकार पंचदशी के कूटस्थदीप प्रकरण में 'वृत्तेः साक्षितया' (५६) से (५८) तक स्वयं विद्यारण्य स्वामी ने शैवपुराण कहकर जो उद्धरण दिये हैं उन्हें शैवपुराण का कहा है । उनके शिष्य रामकृष्ण ने इसे मुखतः सूतसंहिता का बताया है । इस प्रकार प्रसिद्ध ग्रन्थों में अन्यत्र भी सूतसंहिता उद्धृत है । अच्युतराय मोदक ने अपनी पंचदशी टीका में इसे स्कान्दसूतसंहिता कहकर इसे स्कन्दपुराण का अंश कहा है । इसी प्रकार यज्ञवैभवखण्ड ४.५९ व ६० सर्ववेदान्त-सार-संग्रह के २७९ का शब्द व अर्थ साम्य भी द्रष्टव्य है । ४.१४.५१ इसी प्रकार विवेक चूडामणि में २७२ में उद्धृत प्रतीत

होता है । इस प्रकार शांकर सिद्धान्त में इस ग्रन्थ का प्रचुर अध्ययन व प्रामाण्य स्वीकार किया जाता रहा है जो इस ग्रन्थ को पढ़ने पर सर्वथा न्यायोचित लगता है । सामान्य वेदान्त के साधकों में योगवासिष्ठ व सूतसंहिता का विपुल प्रचार रहा है । उपनिषदों का संक्षेप व भावपूर्ण वर्णन प्रति उपनिषद् को लेकर ब्रह्मगीता वाले अध्यायों में स्पष्ट किया है । अनेक दशकों पूर्व स्वामी सनातनदेव ने इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया था । इसी को लक्ष्य करके अनुभूतिप्रकाश स्वामी विद्यारण्य ने बनाया जो उपनिषद् के प्रत्येक प्रकरणो को समझने में अत्यन्त उपकारक है । आचार्य शंकर व उनके साम्प्रदायिक आचार्यों ने "उपरत" शब्द से परमहंस संन्यास को, जो सर्व-कर्म-परित्याग रूप है, स्वीकार किया है । अतः मुख्याधिकारी संन्यासी ही माना गया है । गौणाधिकारी को भी ज्ञान, अनेक शांकर मत के आचार्यों के अनुसार, जन्मान्तरकृत संन्यास से ही अप्रतिबद्ध होता है । सूत संहिता ४.२.१० में इसी बात को स्पष्टतः कहती है । ४.२.१५ में भी पुनः स्पष्ट किया है कि कर्मसंन्यासी परमहंस ही है, दूसरे तो काम्य कर्म का ही त्याग करते हैं, अतः परमहंस ही श्रवणमात्र से ज्ञान प्राप्त कर पाता है । ४.२१.२२ में अन्य संन्यासियों को भी मुक्ति की इच्छा होने पर परमहंस संन्यास स्वीकार करने की ही शंकर की आज्ञा को प्रतिपादित किया है । १.७.१८.१९ में भी इसे स्पष्ट किया है । यहाँ द्विजस्त्री को वेदाधिकार भी कहा है । २३ व २४ में वहीं सामान्यतः सभी संन्यासियों की आह्निक चर्या का वर्णन करके, २५ व २६ में गुरुसेवा, श्रवण, मनन व निदिध्यासन ही परमहंस का विशेष धर्म कहा है ।

सूतसंहिता ४.१० के १६, १७, १८ में सभी पांच भाव प्रमाणों का संग्रह, एवं शांकर सिद्धान्त के अनुरूप उनका लक्षण प्रस्तुत करके प्रामाण्यविचार में अद्वैतमत से अपनी एक वाक्यता प्रतिपादित करता है । शाब्द प्रमाण में तात्पर्योपेतशब्दोत्थ ज्ञान सर्वथा आचार्य पद्मपाद एवं विवरणाचार्य के सिद्धान्त का परिपोषक ही है । भगवान् भाष्यकार के उपवर्ष के उद्धृत मत को यहाँ माधव ने भी दर्शाया है । ३७ व ३८ में मुखतः सूतसंहिता वेदान्त वाक्य के श्रवण को ही ज्ञान का साक्षात् साधन स्वीकार करके आचार्य शंकर के बृहदारण्यक में किये 'औपनिषदं पुरुषं' की व्याख्या को ही उपोद्बलित करता है । माधवाचार्य ने अपनी व्याख्या में भी इसे स्पष्ट किया है । २७ में अवान्तर वाक्यों का महावाक्यों से भेद भी सर्वथा अद्वैत का पोषक है । माधव ने टीका में यहाँ मीमांसा के विचारों को उद्धृत करके यह विषय स्पष्ट किया है । वेदान्त ग्रन्थों में प्रायः उद्धृत 'अधिष्ठान रूप से बच जाना ही कल्पित का नाश है' सूत संहिता का ही ४.२.८ का श्लोक है । यहाँ माधव ने साहित्यकारों को उद्धृत करके अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है ।

माधवाचार्य साहित्य ही नहीं तंत्रशास्त्र के भी मर्मज्ञ थे । यह ४.७ में अजपाजप की व्याख्या में स्पष्ट है । यह अजपामंत्र भी पूर्ण बोध देने में समर्थ होता है जो भागत्याग लक्षणा से ही संभव है । इसे १३ में स्पष्ट किया है । माधव ने यहाँ विस्तृत व्याख्या में सारी प्रक्रिया स्पष्ट की है । वाक्यवृत्ति का यहाँ आधार लिया है । अन्यशेषता के विचार से आत्मा की परप्रेमास्पदता की सिद्धि भी यहाँ १७ से २० में की है, जो विद्यारण्य महास्वामी ने पंचदशी में विस्तृत की है । इस ज्ञान के अनधिकारी को ३४ में जो साधना बताई है उसका तंत्रों में विस्तार है, जिसे सार रूप में साधक को माधव ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है । इस साधक को सर्वथा गुरु की आज्ञा पर, बिना अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग किये, लगना आवश्यक है, यह ३८ में स्पष्ट किया है । ४.१३ में सृष्टि प्रक्रिया का विचार सूतसंहिता में है । श्लोक २ की व्याख्या में माधव ने

तान्त्रिक स्वातन्त्र्यवाद को वेदान्त सूत्र के "लोकवत्तु" सूत्र से समन्वित किया है । इसका विस्तार शिवमाहात्म्य खण्ड के पांचवे अध्याय के नवें श्लोक की व्याख्या में उन्होंने विस्तृत रूप से मातृका विचार के प्रसंग में उपस्थित करके अपनी तंत्रज्ञता को प्रकट किया है । ४.१३ के ५० में भी यह समझाया है । शिव ही रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, सदाशिव, हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, विराट्, स्वराट्, सम्राट्, इन्द्र आदि भावों को उपाधि द्वारा प्राप्त करते हैं । यह ४.१३.७ से १७ तक स्पष्ट करके १९ से २९ तक मनुष्य, पशु, पहाड़, समुद्र आदि रूपों को भी उपाधिभेद से शिव ही प्राप्त होते हैं यह स्पष्टतः प्रतिपादित किया है ।

यज्ञवैभवखण्ड के १४वें अध्याय में पंचमुखों का वर्णन पंचकृत्यों से जोड़ना भी मूलतः तन्त्र की विचारधारा है । परवर्ती उपनिषदों में इसे एवं अन्य तंत्र परम्पराओं का संग्रह किया गया है यह विषय दूसरा है । आचार्य माधव ने अपनी व्याख्या में स्पष्टतः यहाँ तांत्रिक ग्रंथों का उल्लेख किया है । मूल सूतसंहिता में तो केवल पंचकृत्य का संकेत देकर औपनिषद प्रकार से पंचभूतों व इन्द्रियादि का ही सम्बन्ध बताया है । शैवागमों के तत्त्वों का अवश्य यहाँ पंचमहाभूतों से सम्बन्ध स्थापित किया गया है । इसी खण्ड में अन्यत्र भी यह सब देखा जाता है ।

यज्ञवैभवखण्ड के आठवें अध्याय में 'नमः शिवाय' की विस्तृत व्याख्या की है । 'नमः' शब्द का अर्थ तादात्म्य सम्बन्ध (१० व ११) बताया है । यहाँ १२ की व्याख्या में माधव ने सुरेश्वराचार्य के दक्षिणामूर्ति वार्त्तिक मानसोल्लास ९.४३ को उद्धृत किया है । 'म' के अर्थ में मिथ्या का भी कथन है । यहाँ का वर्णन ही भगवान् पद्मपाद के मंत्रराज या पंचाक्षरी व्याख्यान का मूल प्रतीत होता है । वहाँ और अधिक अर्थगौरव दिखाया गया है । परन्तु प्रतिपादन शैली व प्रतिपाद्य विषय में अभूतपूर्व साम्य देखने में आता है । इसी अध्याय में २२वें श्लोक की व्याख्या में आचार्य माधव ने अत्यन्त विस्तार से सर्ववादिसमन्वय की पद्धति बताई है, जिसका आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने प्रस्थान भेद में अनुसरण किया है । ३२ व ३४ में अर्थ ज्ञान में असमर्थ को साधन बताते हुए ६ लाख मंत्र का जप, १ लाख का तर्पण व एक हजार का हवन करने का विधान किया है । इससे मंत्रसिद्धि कही है । इस विषय में सामान्य परम्परा दशांश होम व शतांश तर्पण की है । अतः यह सूतसंहिता का विशेष प्रयोग ही माना जायेगा । ऐसा अन्यत्र भी अनेक विधियों में द्रष्टव्य है । प्रथम खण्ड के चतुर्थ व पंचम, चतुर्थ खण्ड के षष्ठ, सप्तम, अष्टम आदि अध्याय विशेषतः मननीय हैं ।

यज्ञवैभवखण्ड के सोलहवें अध्याय में ज्ञानोत्पत्ति में तैत्तिरीयोपनिषद् की शान्ति का प्रयोग बताया है, तथा उसी उपनिषद् के शीक्षाध्याय के आधार पर देहयात्रार्थ हवन के विधान का भी वर्णन है । संन्यासी के लिये केवल श्रद्धापूर्वक जपमात्र का स्पष्ट कथन किया है । माधव तो सभी अनग्नि साधकों का इस प्रकार के जप में अधिकार स्वीकारते हैं । षडक्षर जप आदि शैवधर्मों का भी यहाँ विस्तार है । तैत्तिरीय के "भूत्यै न प्रमदितव्यम्" की अप्पयदीक्षितेन्द्रकृत व्याख्या का भी यहाँ मूल है । यहाँ ४८ में अन्त्यज, कीट आदि का भी शिवकृपा से मोक्ष प्रतिपादित किया है । ३५ से "सत्यं वद" आदि धर्मों का भी संग्रह है । अभिशस्त, पतित आदि के साथ निवास आदि का निषेध भी है । इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् की ही यहाँ व्याख्या है । इस प्रकार केवल ब्रह्मगीता में ही नहीं अन्यत्र भी सूतसंहिता औपनिषद सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करती है । इस प्रकार प्रत्येक श्रौत उपनिषद् का विवेचन और किसी भी पुराण में उपलब्ध नहीं है । अतः इसका

वैशिष्ट्य अन्य पुराणों की अपेक्षा स्पष्ट ही विचारणीय है । संभवतः इसी पुराण से प्रभावित होकर स्वामी शंकरानन्द सरस्वती ने आत्मपुराण की रचना की हो । माधव ने ४.१७.४८ के 'गर्भस्थितः' की व्याख्या में इसीलिये ऐतरेयक के 'गर्भ एव एतच्छयानः'' का उल्लेख किया है । प्रसिद्ध हाथी के अंगों से ही हाथी की कल्पना का दृष्टान्त भी ४७ में ''जात्यंधगजदृष्ट्या'' से दिया है, एवं माधव ने इसे स्पष्ट भी किया है । यज्ञवैभवखण्ड के पन्द्रहवें अध्याय में अनेक बादरायण न्यायों का प्रतिपादन किया गया है एवं माधव ने अपनी व्याख्या में उन न्यायों को उद्धृत भी किया है । भगवान् सुरेश्वराचार्य का 'अव्यावृत्तानुगतं' (बृ. वा १.४.१०७६), 'तदनन्यत्वं' (ब्र. सू. २.१.१४) तथा मुक्ति के विषय में 'तदधिगमे' (ब्र. सू. ४.१.१३) 'अनारब्धकार्ये एव' (४.१.१५), 'एवं मुक्तिफलानियम.' (३-४-५२), 'न निरोधो न' (गौ. का. २.३२) आदि इस यज्ञवैभवखण्ड के पन्द्रहवें अध्याय में ही द्रष्टव्य है । माधव ने सर्वत्र इन प्रसंगों को स्पष्ट किया है । इसी प्रकार ३.२.५२ से ५४ तक परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, व ज्ञाननिष्ठा के तीन स्वरूपों को बताया है जिसे सर्वज्ञात्ममहामुनि ने भी संक्षेपशारीरिक में प्रतिपादित किया है । माधव ने अपनी व्याख्या में इन तीनों को स्पष्ट किया है । मुक्तिखण्ड के द्वितीय अध्याय की २८ व २९ श्लोक की विस्तृत व्याख्या में सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य तथा सायुज्य मुक्तियों का वर्णन किया है । माधव ने सर्वत्र उपनिषदों के सन्दर्भ में इसे स्पष्ट किया है ।

मुक्ति खण्ड में स्पष्टतः मुक्ति देने वाला परमेश्वर का रूप दक्षिणामूर्ति ही को बताया है । ४.१.३५ से ४९ तक भगवान् दक्षिणामूर्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुये अपस्मार को आत्मा का अज्ञान बताया है, जिसे चरणों के नीचे दबाया गया है । ज्ञानमुद्रा, वेद, रुद्राक्ष की माला एवं कलश उनके चारों हाथों में है । परमानंद ही उनका आधा शरीर, शक्ति रूप है । धर्म रूप वृषभ पर आरूढ हैं । माया रूपी वट वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठे हैं । वेदज्ञ मुनि उनके चारों तरफ हैं । ॐकार ही उनका आसन है । उपासकों को सभी इष्ट देने वाले हैं । 'रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं' आदि श्वेताश्वतर शाखा के मंत्र से उनकी पूजा होती है । बहुत से साधक उन्हीं से कृतार्थ होते हैं एवं मुक्ति प्राप्त करते हैं । इस प्रकार दक्षिणामूर्ति की उपासना का यहाँ सुन्दर वर्णन मुमुक्षु के लिये बताया है । आचार्य शंकर ने दक्षिणामूर्तिस्तोत्रों में इसी का विशद वर्णन किया है । मुक्तिखण्ड के पांचवें अध्याय में १५ से ३२ तक अतिवर्णाश्रमी का भी मोहक वर्णन किया है । अग्रिम अध्यायों में नटराज का भी वर्णन किया है । इसी प्रकार शिवमाहात्म्य खण्ड के दसवें अध्याय के ३३ से ३७ तक स्पष्ट किया है कि ब्रह्मा की प्रार्थना पर शिव ने अपने जैसे मुक्तों की सृष्टि की । ब्रह्मा के यह कहने पर कि जन्ममृत्यु वाले की सृष्टि करें, शिव ने मना कर दिया क्योंकि वे संसारमोचक हैं, अतः बद्धों की सृष्टि नहीं करेंगे । 'दुःखियों की सृष्टि तुम्हीं करो' ।' इस प्रकार शिव ही मोचक हैं, एवं वे मोचक ही हैं, यह सूतसंहिता की स्पष्ट घोषणा है । ब्रह्मादिरूप से वे ही प्रपंचसृष्टि के कारण भी हैं यह तो स्पष्ट ही है, परन्तु अपने शिवरूप से तो वह मोचक ही है ।

ब्रह्मगीता यज्ञवैभवखण्ड का उपरिभाग या उत्तरखण्ड का प्रथम हिस्सा है । इसका अन्तिम भाग सूतगीता है । ब्रह्मगीता का पूर्वभाग अर्थात् २ से ११ अध्याय तो उपनिषदों का एक एक करके संक्षेप है । इसमें पहले ऋग्वेद, फिर कृष्ण यजुर्वेद, सामवेद, और अन्त में अथर्ववेद की उपनिषदों का विचार किया है । ब्रह्मोपनिषद्, कैवल्योपनिषद् आदि फुटकर उपनिषदों का विचार करके अन्त में बृहदारण्यक के मैत्रेयी ब्राह्मण, उषस्त ब्राह्मण, काठकोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् का विचार

किया है । १२ में संग्रह करके तात्पर्य निर्णय किया है । सर्वत्र ही बीच-बीच में अन्यत्र से भी सम्बन्धित विषय समझाये गये हैं । इस प्रकार यह उपनिषद् के तत्त्वों का हृदयंगम कराने का स्तुत्य प्रयास है ।

दूसरे व तीसरे अध्याय के तीसवें श्लोक तक ऐतरेय का वर्णन है । इसमें प्राण का प्रवेश शिव की क्रियाशक्ति का प्रवेश है, एवं चिच्छक्ति या ज्ञानशक्ति का प्रवेश शिव का प्रवेश है, इसे टीका में स्पष्ट किया है । ३.१ की व्याख्या में यह द्रष्टव्य है । इसी प्रकार ४० की व्याख्या में मनोमय में रजोगुण का स्वल्प अनुवेध, व विज्ञानमय में रजोगुण का अभाव माधव ने प्रतिपादित किया है । सूतसंहिता का इन कोशों का वर्णन ही परवर्ती वेदान्त ग्रन्थों में स्वीकृत है, जो तैत्तिरीय से कुछ हटकर ही प्रतीत होता है । परन्तु इसका पंचदशी आदि ग्रन्थों में स्वीकार सूतसंहिता के वेदान्त सम्प्रदाय में प्रभाव को स्पष्ट करता है । तैत्तिरीय में माधव ने अधिक विस्तार से विचार किया है जो माधव का कृष्णयजुर्वेदी होने का संकेत देता है । स्वयं चतुर्वेदभाष्य में सर्वप्रथम कृष्णयजुर्वेद की व्याख्या करना सायण माधव एवं व्याख्याकार माधव में एकता का भी संकेत दे सकता है । १०८-११४ में ज्ञानी के सामगान का विचार करते हुये भाषागान की भी स्वीकृति याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय श्लोक ११३ से साम्य बताती है । याज्ञवल्क्य यजुर्वेदी थे यह तो निःसंदिग्ध ही है । चतुर्थ अध्याय में केनोपनिषद् का विचार है । इसके ५१ व उसकी व्याख्या में समाधिकाल में जीवन्मुक्त की ब्रह्मस्थिति एवं व्युत्थान काल में संसार प्रतीति स्पष्ट ही विवरण प्रस्थान के अनुसार है । 'कदाचिद् असंप्रज्ञातात्मैकत्वदर्शनं, कदाचिद् आरब्धकर्मोपस्थापितद्वैतदर्शनं चेति' (विवरण पृ. ६७१ पंक्ति १५) से यह स्पष्ट है । केन की यक्ष कथा में केवल इन्द्र का श्रद्धायुक्त होना कहा है । सूतसंहिता में इन्द्र की विद्या का ध्यान १०३ में कहा है । एवं इन्द्र कथा का तात्पर्य ७३ से ७८ में शिवप्रसाद के बिना ज्ञान की अप्राप्ति बताया है । यहाँ शिवप्रसाद का मनोमोहक वर्णन किया है । अप्पयदीक्षितेन्द्र व श्रीहर्ष के 'ईश्वरानुग्रहादेव' एवं 'अनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः' का यही मूल है । "देव प्रसादाच्च गुरोः प्रसादात्" की श्वेताश्वतर तो इसका प्रमाण है ही । पंचम में केन का विचार करके छान्दोग्य की श्वेतकेतु विद्या का विचार है । छठे में ब्रह्मपुर का वर्णन है । सातवें में आथर्वण मुण्डकोपनिषद् का विचार है । आठवें में कैवल्योपनिषद् का विचार है । यहाँ जाग्रदादि के अभिमानी विश्व आदि का वर्णन माण्डूक्य के आधार पर किया है एवं ६२ में कारिका भी उद्धृत है । 'एतस्माज्जायते' का ३९ में 'ब्रह्मणा जायते' कहकर तटस्थ लक्षण बताया है यह माधव ने कहा है । इस प्रकार अनेक जीववाद की दृष्टि ही यहाँ अपनाई गई है । नवम से बृहदारण्यक का विचार प्रस्तुत है । १४ के श्लोक में आत्मा की प्रियतमता को ही आनन्दरूपता में प्रमाण दिया है । दसवें में साक्षात् अपरोक्ष रूप ब्रह्म का उषस्त प्रश्न एवं उसके याज्ञवल्क्य के उत्तर से दिये गये मुनि काण्ड का विस्तृत विवेचन किया गया है । ८ में गार्गी के ओतप्रोत का विवेचन है । बीसवें में अन्तर्यामी ब्राह्मण का संग्रह है । २७ में ज्योति ब्राह्मण व इसके बाद शेष बृहदारण्यक के ब्रह्मविषयक सन्दर्भों का संक्षेप करके समापन किया है । ग्यारहवें में कठ ५६ श्लोक तक समाप्त करके ५७ से श्वेताश्वतर का विवेचन किया गया है । ६१ में क्षर को माया व अक्षर को जीव कहा है । इन दोनों से ही एक देव भिन्न प्रतीत होता है । माया का तात्पर्य देवरूप अधिष्ठान से अभिन्न, अर्थात् ईश्वर रूप है, यह वार्ता माधव ने स्पष्ट की है । ६८ में 'युञ्जानः' का तात्पर्य अग्निहोत्रादिनित्यकर्म है ऐसा माधव ने स्पष्ट किया है । १२.२९ में आगमों में वर्णित कर्मसाम्य को बताया है । इस अध्याय में गुरु की कृपा का भी विस्तृत वर्णन है । शिवमाहात्म्यखण्ड के ग्यारहवें

अध्याय में कृतिशक्तियों से उपहित सूत्रात्मा को विष्णु (श्लोक ९), तथा क्रिया व ज्ञान के अभेद रूप पंचभूतों की शक्ति से उत्पन्न प्राण व मन के विभाग से रहित एक ही उपाधि से उपहित को अन्तर्यामी भी बताया है । उसे ही त्रिमूर्ति में महेश बताया है । त्रिमूर्ति में विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी को ब्रह्मा कहा है । इसी को समष्टि सूक्ष्म से उपहित होने पर हिरण्यगर्भ कहा जाता है । यहाँ माधव ने विस्तृत विवेचन उपस्थापित कर औपनिषद तत्त्वों का पौराणिक देव तत्त्वों से समीकरण का स्तुत्य प्रयास किया है । ब्रह्माण्डान्तरवर्ती समष्टि लिंग शरीराभिमानी को स्वराट् बताया है (१३) । यह प्रसंग इतने स्पष्ट रूप से अन्यत्र दुर्लभ है । इस प्रकार माधव की व्याख्या सूतसंहिता के रहस्यों का सम्यक् प्रकाश करती है ।

सूतगीता के आठों अध्याय वेदान्त दृष्टि को संक्षेप में प्रकट करते हैं । द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में जीव बहुत्व को स्पष्टतः कल्पित कहा है । उपाधि के आकार भेदों से जीव व ईश्वर के बहुत्व का प्रतिपादन है । देहेन्द्रियादि संघात व वासना के भेदों से संस्कृत एक ही अविद्या जीवभेद का कारण है (१३) । एक अविद्या पक्ष ही सूत संहिता सम्मत है, अनेक अविद्या पक्ष नहीं यह यहाँ स्पष्ट है । विवरणाचार्य प्रकाशात्म श्री चरणों से अनेक स्थलों पर साम्य विवरण सम्प्रदाय का पौराणिक पुष्ट समर्थन है । पुराण यद्यपि सभी पक्षों का समन्वय उपस्थित करने का प्रयास करते हैं, पर उसका मूल आधार भी स्पष्ट हो ही जाता है । इसी प्रकार गुणों के वासना भेदों से वही अविद्या ईश्वर के भेद प्रतीति का कारण भी हो जाती है (१४) । ३६ में स्पष्ट किया है कि परम तत्त्व से श्रेष्ठ रुद्र या विष्णु को मानना संसार की ही प्राप्ति कराता है । इससे उन वैष्णव आदि आचार्यों की मान्यता कि निर्गुण से सगुण श्रेष्ठ है, सूतसंहिता द्वारा सर्वथा तिरस्कृत है । कुछ आधुनिकों का कथन कि जैसे नक्षत्र हमें केवल बिन्दु रूप से दीखते हैं, वैसे निर्गुण का दर्शन है । दूरवीक्षण यंत्र से नक्षत्र साफ सावयव दीखते हैं, वैसे सगुण का दर्शन उसी ब्रह्म का सम्यग्दर्शन है, यहाँ सूतसंहिता में स्पष्ट ही निषिद्ध किया गया है । आगे ३७ में स्पष्ट कहा है कि विष्णु आदि को परतत्त्वरूप मानना मुक्तिमार्ग को प्रशस्त करता है । तीसरे अध्याय के ७ में श्रुति प्रामाण्य के विचार में शिवप्रणीत या अपौरुषेय अनादि दोनों मान्यताओं में अनादि पक्ष को ही श्रेयस्कर माना है, यद्यपि शंकरप्रणीत को भी स्वीकार करने में दोष नहीं है, यह स्पष्ट किया है । इस प्रकार गौतम, कणाद व सेश्वर सांख्यवाद की अपेक्षा जैमिनि व बादरायण की विचारधारा ही सूतसंहिता में श्रेष्ठ मानी है । २२ में स्पष्ट किया है कि शिव कृत मानने पर भी उसे शिव द्वारा अभिव्यक्त ही समझना चाहिये । इस प्रकार शास्त्रयोनित्व के दोनों वर्णकों के भाष्य को सूतसंहिता ठीक उसी प्रकार से स्वीकार करता है जैसा भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर का प्रतिपादन है । अध्याय ४ के श्लोक ३३ में माया को कारणत्वरूप से कल्पित बताकर उसे भी बाध्य बता दिया है । अतः तत्त्वनिरूपण करने पर अधिष्ठान ही तत्त्व सिद्ध होता है । ४४-४५ में नैष्कर्म्यसिद्धि के ४.५१ से प्रवृत्तिनिवृत्ति के अभाव का प्रतिपादन का मूल मिल जाता है । छठे अध्याय में अहंतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन किया है । १२ में जमे घी व तरल घी के दृष्टान्त से त्रिमूर्ति व परतत्त्व को स्पष्ट किया है । मूलाधार में स्थित ओङ्कार ही मूल या जड़ है । ॐ का बिन्दु ही उसकी शक्ति या मूल बनने की सामर्थ्य है । बिन्दु को आधुनिक जीव विज्ञान का Chromosome nuclear coding की भाँति कह सकते हैं । बैखरी में व्यक्त ओङ्कार ही पेड़ है । अकारादि वर्ण रूपी पचास भेद

उस वृक्ष की डालें हैं । शिव साक्षात्कार ही फूल है । मोक्ष ही फल है । अन्त में सभी देवताओं को त्याग करके, भोग व मोक्ष के लिए शिव ही ध्येय हैं यह अथर्वशिखोपनिषद् के अनुसार कहा है । यह स्पष्ट ही एकेश्वरवाद का घोष है । उपनिषदों में सकामों के लिए सोपाधिक ब्रह्म की प्राण, वैश्वानर आदि उपाधियों में उपासना बताई है । निष्कामों के लिए मोक्षार्थ शाण्डिल्य, दहर आदि उपासनाओं का प्रतिपादन है । वैराग्यवान् व प्राज्ञ लोगों के लिए ब्रह्मज्ञान बताया है । अन्यत्र भी वेद में कम से कम ब्राह्मण के लिए तो कर्म की मानस उपासना से वही फल बताया ही है जो उस कर्म के करने से होता है । पूर्वमीमांसा के अनुसार भी जिन लोगों को राजसूय आदि का अधिकार नहीं है उनको वेदाध्ययन के समय उन प्रकरणों के अध्ययन की विधि निष्प्रयोजन होने से अप्रमाण होगी । वेद का स्वाध्याय काम्य तो नहीं है जो वृत्त्यर्थ उसे फलवान् मान लिया जाये । अतः सभी प्रकरणों को एकेश्वरवाद में संगत किया जा सकता है । परन्तु उपनिषद् तो स्पष्ट ही एकेश्वरवादी है । यहाँ सूतसंहिता भी इसे ही प्रकट करती है । सातवें अध्याय के २४वें श्लोक में ज्ञानी के शरीर में सभी देवता प्रत्यगात्मरूप से भी भान होते हैं यह स्पष्टीकरण देकर ब्रह्मवेत्ता की आथर्वण उपासना को स्पष्ट किया है । सामान्य व्यक्तियों में देवता रहते हैं परन्तु तिरोभूत रूप से (२७) । अतः २९ में अपने व पराये शरीर के अपमान से अधोगति बताई है । आठवें में २० श्लोक स्पष्ट करता है कि सारे धर्मों की जड़ आस्तिकता है एवं आस्तिकता की जड़ निषिद्ध कर्मों का त्याग है । इसी के ७३वें श्लोक में व्यास अपने को शिव कृपा से ही ब्रह्मसूत्र का कर्त्ता होना बताते हैं ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिवभक्तों एवं वेदान्तज्ञानियों के लिए सूतसंहिता अनमोल रत्न है । अब तक आनन्दाश्रम से इसके दो संस्करण निकले हैं । द्वितीय १९२४-२५ ख्रीस्ताब्द में निकला था । इसमें माधव टीका है । मद्रास से भी माधव टीका के साथ यह प्रकाशित हुआ है । मूल ग्रंथ देवनागरी लिपि में भी तामिलनाडु में निकला था । ग्रन्थाक्षरों में तथा तेलुगु में भी इसका मूल प्रकाशित हुआ है । उत्तर भारत में इसकी पाण्डुलिपि भी नहीं मिलती है और न इसका प्रकाशन ही हुआ है । केवल ब्रह्मगीता सानुवाद प्रकाशित हुई थी । अब आनन्दाश्रम व मद्रास दोनों संस्करण अलभ्य हो गये हैं । अतः इसका प्रकाशन आवश्यक समझा गया । हिन्दीभाषी लोगों में यह प्रचलित हो सके, अतः हिन्दी अनुवाद भी जरूरी था । शिवानन्द लहरी, शिवाष्टोत्तरशत व्याख्या, शिवभक्तविलास, आदि शिवभक्ति के प्रसिद्ध व्याख्याता होने के साथ ही बृहदारण्यक वार्त्तिक, विवरणोपन्यास, वेदान्ततत्त्वविवेक व्याख्या, प्रश्नोपनिषद् शांकरभाष्य व्याख्या, मुण्डकोपनिषद् शांकरभाष्य व्याख्या, केनोपनिषद् पदभाष्य व वाक्यभाष्य का समन्वित अद्भुत संस्करण व उसकी व्याख्या, वाक्यवृत्तिव्याख्या आदि अनेक वेदान्त के आधारभूत ग्रंथों का अत्युत्तम व्याख्याओं का लेखन किया है जो सभी प्रकाशित हैं व विद्वानों में जिनका आदर है । उन्हीं से यह हिन्दी व्याख्या भी प्रकट कराई गई है । हमें पूर्ण विश्वास है कि सूतसंहिता का यह संस्करण अवश्य ही एक कमी को पूरा करेगा । माधव द्वारा व्याख्यात स्थलों का पूर्ण व्याख्यान तो इसमें किया ही गया है, उनके द्वारा अव्याख्यात स्थलों पर भी हिन्दी में अनेक स्थलों पर नवीन प्रकाश डाला गया है जिससे यह संस्कृतज्ञों को भी उपकृत करेगी । हम स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरिजी के दीर्घ जीवन की कामना करते हुए उनसे इस प्रकार की अनेक रचनाओं के उपस्थापन का आशीर्वाद देते हैं ।

आश्विन शुक्ला प्रतिपदा २०५६ आबूपर्वत

भगवत्पादीय

महेशानन्दगिरि

विषयसूची

विषय	खण्ड	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ संख्या
ग्रन्थावतार	१	१		१
सकल-निष्कल-प्रणिधान	१	१	१	१
लीलावताररूप-प्रणिधान	१	१	२	२
सत्रविचार (टी.)	१	१	३	२
चाक्षुषी दीक्षा (टी.)	१	१	५	४
अष्टादश पुराण	१	१	७–११	४
अष्टादश उपपुराण	१	१	१३–१८	५
स्कन्द पुराण निरूपण	१	१	१९–२४	५
सूतसंहिता निरूपण	१	१	२५–३२	६
सर्वाध्याय-विषय (टी.)	१	१	३२	७
पुराण-लक्षण	१	१	३३	८
वेद अविरुद्ध	१	१	३७	८
स्मृति कर्मप्रधान, पुराण ज्ञानप्रधान (टी.)	१	१	४१	९
व्यासकृत सम्प्रदायप्रवर्तन (हि.)	१	१	४३	१०
व्यास सर्वज्ञ	१	१	४७	१०
सूतकृत स्तुति	१	१	५४–५५	११
पाशुपत व्रत	१	२		१२
जगत् जन्य अतः सकारणक	१	२	१	१२
पशु व प्रकृति की अकारणता	१	२	२	१२
तत्त्वशब्दार्थ (टी.)	१	२	७	१३
एक शिव ही कारण है	१	२	८	१३
माया	१	२	९	१४
देवकृत व्रत	१	२	१३–२१	१५
सोम-सन्निधि	१	२	२२–३१	१६
सोम–उपदेश	१	२	३४–३९	१८
ईश्वर-प्रतिपादन	१	३		२०

सर्वपूज्य विषयक प्रश्न	१	३	१–२	२०
विष्णु का मोह	१	३	४–७	२०
नन्दिकेश्वर का उपदेश : शंकर परमेश्वर	१	३	१२–२१	२१
देवकृत वृषवाहन-स्तुति	१	३	२७–४८	२३
अहेयमात्र-गुणस्वीकरण अयुक्त (हिं.)	१	३	३३	२४
ईश्वर-पूजा-विधान	१	४		२७
लिंगलक्षण (टी.)	१	४	४	२७
आवाहन—विसर्जन	१	४	५	२८
आश्रमभेद से मंत्रव्यवस्था	१	४	१३	२८
स्त्रियों के लिए पंचाक्षरमंत्र	१	४	१४	२९
मंदिर को प्रणाम करना पूजा है	१	४	१६	२९
शूद्रादि को भी पंचाक्षर में अधिकार (टी.)	१	४	१६	२९
तीर्थसेवा से मोक्ष	१	४	४१–४५	३१
शक्तिपूजाविधि	१	५		३३
पराशक्ति (टी.)	१	५	२	३३
वैदिक-तान्त्रिक विभाग	१	५	४–५	३३
बाह्यपूजा	१	५	६–७	३४
मातृका-विचार	१	५	९	३४
आभ्यन्तर-पूजा	१	५	११	३५
संविद्वाचक शब्दद्वय	१	५	१७	३६
शिवभक्तपूजाविधि	१	६		३८
अष्टविधभक्ति (टी.)	१	६	१	३८.
भक्त कौन (हिं.)	१	६	९	३९
वाराणसी आदि तीर्थसेवन	१	६	१०–५८	३९
मुक्तिसाधन-प्रकार	१	७		४४
ज्ञान ही मोक्षसाधन	१	७	१६	४६
ज्ञानाधिकारी	१	७	१९	४६
द्विज स्त्रियों को श्रौत ज्ञान में अधिकार	१	७	२०	४६

शूद्र का पुराण में अधिकार	१	७	२१	४६
भाषान्तर ग्रन्थ भी उपकारक	१	७	२२	४७
'विद्यां चाविद्यां च' मंत्र का अभिप्राय (टी.)	१	७	२६	४८
तीर्थसेवा का साफल्य	१	७	२८–४०	४९
कालपरिमाण और काल से अनवच्छिन्न स्वरूप	१	८		५२
काष्ठा, निमेष आदि अवयव	१	८	३	५२
देवताओं के अहोरात्र	१	८	६	५३
चार युग	१	८	८–११	५४
मन्वन्तर	१	८	१२	५४
कल्प	१	८	१३	५४
द्विपरार्ध	१	८	१४	५४
विलय	१	८	१५	५५
माया आदि नाम-सार्थक्य	१	८	१८–२१	५५
परमकाल	१	८	२२	५६
शिव काल से अनवच्छिन्न	१	८	२४	५६
शिव सर्वकारण	१	८	२६	५७
गुणमूर्तिवर्णन	१	८	३०–३२	५७
रुद्रमूर्ति का वैशिष्ट्य	१	८	४०	५९
महादेव ही प्रतिपाद्य	१	८	४८	६०
पृथिवी का उद्धार	१	९		६२
नारायणनाम का निर्वचन	१	९	७	६३
ब्रह्मर्षियों द्वारा विष्णुस्तोत्र	१	९	१२–३४	६३
ब्रह्मसृष्टि	१	१०		६६
सर्गक्रम (टी.)	१	१०	२	६६
तम, मोह आदि का स्वरूप (हिं.)	१	१०	३	६७
वृक्षादिसर्ग	१	१०	५	६७
देवसर्ग	१	१०	९	६७
मानुषसर्ग	१	१०	११	६८

भूतादिसर्ग	१	१०	१३	६८
महान्, तन्मात्रा आदि की सृष्टि	१	१०	१४	६८
कौमार सर्ग	१	१०	१८	६९
अर्धनारीश्वर का प्रादुर्भाव	१	१०	३१	७०
रुद्र का अशुभ सृष्टि न उत्पन्न करना	१	१०	३६	७०
पंचीकरण	१	१०	३९	७१
मरीचि आदि साधकों की उत्पत्ति	१	१०	४२	७१
असुरसृष्टि	१	१०	४६	७१
रात्रि आदि की सृष्टि	१	१०	४७	७२
सृष्टि स्वप्नसम है	१	१०	५८	७२
हिरण्यगर्भादि विशेषसृष्टि	१	११		७३
क्लेशमूलक सृष्टि (टी.)	१	११	३	७४
ज्ञानशक्ति आदि का जन्म	१	११	४	७४
अंतर्यामी	१	११	१०	७५
स्वराट्, सम्राट्, विराट्, स्वराट्	१	११	१२–१४	७५
मनु-शतरूपा	१	११	१५	७६
दक्ष की चौबीस पुत्रियाँ (टी.)	१	११	१९	७६
स्वभाववादनिरास	१	११	२२	७७
कर्मवादनिरास	१	११	२३	७७
जन्मादिविषयक ईश्वरोपदेश	१	११	३४	७८
शिवज्ञानरूप पुण्यादि (हिं.)	१	११	३७	७८.
जाति निर्णय	१	१२		७९
स्वधर्म	१	१२	५०	८३
जाति जन्मना	१	१२	५१	८४
आत्मा की जातिरहितता	१	१२	५२	८४
अपरोक्ष ज्ञानी अनियोज्य	१	१२	५५	८५
आत्मसाक्षात्कार के विना वर्णादिधर्म अत्याज्य	१	१२	५८	८५
कर्म व त्यागादि का क्रम (हिं.)	१	१२	५९	८६

तीर्थमाहात्म्य	१	१३		८६
गंगाद्वार	१	१३	३	८७
सोमतीर्थ	१	१३	५	८७
वाराणसी में मणिकर्णिका	१	१३	९	८७
प्रयाग	१	१३	११	८७
गंगासागर	१	१३	१३	८७
नर्मदा	१	१३	१४	८७
यमुना	१	१३	१६	८७
सरस्वती	१	१३	१८	८८
गोदावरी	१	१३	२०	८८
कृष्णवेणी	१	१३	२२	८८
सुवर्णमुखरी	१	१३	२६	८८
कम्पा	१	१३	३३	८९
कुटिला	१	१३	३८	८९
मणिमुक्ता	१	१३	४६	९०
व्याघ्रपुर में शिवगंगा	१	१३	५५	९०
गुह्यतीर्थ	१	१३	६१	९१
ब्रह्मतीर्थ	१	१३	७२	९१
सूर्यपुष्करिणी	१	१३	७६	९२
श्वेतारण्यादि में कावेरी	१	१३	८७	९२
क्षीरकुण्ड	१	१३	९१	९३
देवतीर्थ	१	१३	९६	९३
गन्धमादान	१	१३	१०१	९३
ज्ञानयोगपरम्परा-कथन	२	१		९६
सहेतुक ज्ञानयोग का प्रश्न	२	१	१७	९७
आत्मा द्वारा की गयी सृष्टि	२	२		९८
अधिकारि-त्रैविध्य (टी.)	२	२	१–२	९८
शिवेतर का निषेध (हिं.)	२	२	३	९९

सत्त्वक्षोभ से महत्तत्त्वादि	२	२	४	९९
शिव की तीन मूर्तियाँ	२	२	४–६	९९
शब्दादि व इंद्रियादि की सृष्टि	२	२	७–९	९९
काल का लक्षण	२	२	१०	९९
प्रथम शरीरी	२	२	११	१००
प्रसाद से सामर्थ्य	२	२	१३–१८	१००
ज्ञान से ही मोक्ष	२	२	१९	१००
बृहस्पतिकृत शिवस्तोत्र	२	२	२३–३१	१०१
प्राणायाम से प्राणरक्षा	२	२	२९	१०१
ब्रह्मचर्याश्रमविधि	२	३		१०२
भस्मनिर्माण धारणादि (टी.)	२	३	७	१०३
ब्रह्मचर्य से संन्यास	२	३	२५	१०५
गृहस्थाश्रम-विधि	२	४		१०५
किन से दान लिया जा सकता है (हिं.)	२	४	७	१०६
यति को भिक्षा देने की महत्ता	२	४	१५–१६	१०७
गृहस्थ एक वार भोजन करे	२	४	१७	१०७
त्रिपुण्ड्र-धारण आवश्यक	२	४	२१	१०७
रुद्राक्ष धारण करे; शिवार्चन करे	२	४	२४	१०८
गार्हस्थ्य से संन्यास	२	४	२९	१०८
आश्रम-विकल्प	२	४	३१	१०९
वानप्रस्थाश्रम विधि	२	५		१०९
पंचयज्ञ (टी.)	२	५	५	११०
पंचविध चान्द्रायण (टी.)	२	५	९	११०
वानप्रस्थ से संन्यास	२	५	१६	१११
संन्यासविधि	२	६		११२
चतुर्विध भिक्षु	२	६	१	११२
कर्मत्यागी की ही ब्रह्मनिष्ठा (टी.)	२	६	१	११२
कुटीचक	२	६	३–५	११२

बहूदक	२	६	६—१०	११३
हंस	२	६	११—१४	११३
परमहंस	२	६	१५—२०	११३
प्रणवजप	२	६	२८—२९	११५
उत्तमाश्रम से निम्नाश्रम में जाना निषिद्ध	२	६	३१	११५
वेषमात्र से संन्यासी पूज्य	२	६	३६	११६
तत्तदाश्रमियों के तत्तद् देवता	२	६	३७—३८	११६
प्रायश्चित्तविधि	२	७		११७
महापापी	२	७	२	११७
ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त	२	७	३—९	११७
सुरापान का प्रायश्चित्त	२	७	९—११	११८
स्वर्णस्तेय का प्रायश्चित्त	२	७	१२—१३	११८
गुरुतल्पगमन का प्रायश्चित्त	२	७	१४—१५	११८
महापापिसंग का प्रायश्चित्त	२	७	१६—१७	११८
अगम्यागमन के प्रायश्चित्त	२	७	१८—२९	११८
सब पापों का प्रायश्चित्त	२	७	३२—३७	१२०
दानधर्म का फल	२	८		१२१
अमावास्यादि तिथियों पर विभिन्न दान	२	८	८—२६	१२२
सब कामनाओं की सिद्धि के लिये विद्वत्सेवन	२	८	२८	१२३
कामभेद से पूज्य देवताओं का भेद	२	८	३३—३५	१२४
व्रत के लिये श्रद्धा-भक्ति अनिवार्य	२	८	३६	१२४
शतरुद्रीय-अभ्यास का फल	२	८	३८—३९	१२४
चमकाध्याय आदि के जप का फल	२	८	४०—४३	१२४
कर्म में प्रवृत्ति भ्रममूलक	२	८	४४—४७	१२५
पापकर्मों का फल	२	९		१२५
न्यायवर्त्तियों का प्राशस्त्य (टी.)	२	९	१०	१२६
मन्दिरादि में उपद्रव करने का फल	२	९	२४—२६	१२७
आचार्यनिंदा-श्रवण का फल	२	९	२७—२८	१२७

ज्ञान से ही सर्वपापनिवृत्ति	२	९	३६	१२८
पिण्ड की उत्पत्ति	२	१०		१२९
आहुति, सूर्यादि क्रम से शरीरोत्पत्ति	२	१०	३	१२९
गर्भ में महादुःख	२	१०	२२	१३१
गर्भस्थ की प्रतिज्ञा	२	१०	२३–२९	१३२
आत्मापहारी चोर	२	१०	३७	१३३
बृहस्पतिकृत शिवस्तव	२	१०	४६–५५	१३४
नाडीचक्र-निरूपण	२	११		१३५
मूलाधार	२	११	३	१३५
मुख्य चतुर्दश नाडियाँ	२	११	८–१०	१३६
कुण्डली	२	११	१३	१३६
दश प्राण	२	११	२५–२७	१३७
नाडियों के अधिष्ठाता देवता	२	११	३७–४०	१३८
देह में विषुव, अयन आदि	२	११	४१–४९	१३९
देह में तीर्थ	२	११	५०–५१	१४०
आत्मतीर्थ	२	११	५५	१४१
बृहस्पतिकृत महादेवस्तुति	२	११	७१–७८	१४२
स्तोत्र की फलश्रुति	२	११	७९–८३	१४३
नाडी-शुद्धि	२	१२		१४४
साधनायोग्य स्थान	२	१२	३–५	१४४
प्राणायाम सहकृत चिन्तन	२	१२	१०–१५	१४५
स्वात्मशुद्धि : विवेक	२	१२	१८	१४६
यम-विधि	२	१३		१४७
दस यम	२	१३	३	१४७
तितिक्षा-क्षमा (हिं.)	२	१३	१३	१४९
ज्ञानशुद्ध का अकर्तव्यशेष	२	१३	२१	१५१
नियम-विधि	२	१४		१५१
दस नियम	२	१४	१–२	१५१

ईश्वर-पूजन	२	१४	१०–११	१५३
वेदबाह्य स्मृति आदि की व्यर्थता	२	१४	१८	१५३
यथाशक्ति नित्यादि कर्म अवश्यकर्तव्य (हिं.)	२	१४	१९	१५४
व्रत	२	१४	२५	१५५
शिरोव्रत	२	१४	२७	१५५
आसनविधि	२	१५		१५६
नव मुख्य आसन	२	१५	१–२	१५६
ध्यानादि बैठकर ही करे (हिं.)	२	१५	१५	१५८
प्राणायामविधि	२	१६		१५८
प्राणायाम प्रणवमय	२	१६	२	१५८
मात्रा-लक्षण (टी.)	२	१६	३	१५९
शूद्र व स्त्रियों के लिये मंत्रान्तरघटित प्राणायाम	२	१६	१४–१५	१६०
प्राणायाम के फल	२	१६	१६	१६०
अधम, मध्यम, उत्तम प्राणायाम	२	१६	२०	१६०
उदरादि में प्राणधारण	२	१६	२८	१६१
प्राणायाम से रोगनिवृत्ति	२	१६	३०	१६१
उत्कर्ष प्राणायाम (टी.)	२	१६	४४	१६३
वायुजय	२	१६	४९	१६३
कर्म से मोक्ष नहीं	२	१६	५९	१६५
प्रत्याहारविधि	२	१७		१६७
नानाविध प्रत्याहार	२	१७	२–१६	१६७
धारणा-स्थान (टी.)	२	१७	१२	१६८
वेदान्तज्ञों द्वारा प्रोक्त प्रत्याहार	२	१७	१६	१६९
धारणाविधि	२	१८		१६९
हकारादि वर्णों का प्रयोग	२	१८	३	१७०
धारणा में श्रौत प्रमाण (टी.)	२	१८	३	१७०

देह में पृथ्व्यादि व ब्रह्मादि	२	१८	४–६	१७०
मनआदि में धारणा	२	१८	७–१०	१७०
अन्य धारणा (परा धारणा)	२	१८	११–१२	१७१
एक और धारणा (पूजिता धारणा)	२	१८	१३	१७१
'ब्रह्मैवाहम्' धारणा	२	१८	१५–१६	१७२
ध्यानविधि	२	१९		१७२
सगुणध्यान (उमार्धदेह)	२	१९	१	१७२
परशिव का ध्यानान्तर (हिरण्यश्मश्रु आदि)	२	१९	५	१७३
गंगाधर का ध्यान	२	१९	८	१७३
विष्णुहृदय में शिव का ध्यान	२	१९	१२–२१	१७४
ब्रह्मा के हृदय में शिव का ध्यान	२	१९	२२–२३	१७५
अहंबुद्धि से ईशान का ध्यान	२	१९	२३–२४	१७६
निष्कल विषयक ध्यान	२	१९	२४	१७६
लक्ष्यार्थमात्र का अनुसंधानात्मक ध्यान	२	१९	२९	१७७
विष्णु आदि के ध्यान	२	१९	३३	१७७
ध्यानफल	२	१९	३९	१७८
समाधिनिरूपण	२	२०		१७८
जीव का परमात्मा से अभेद	२	२०	२–४	१७८
मायिक भेद	२	२०	५	१७९
विवेकधी समाधि	२	२०	६–८	१७९
प्रपंच का बुद्धि से विलयकर अद्वितीय में समाधि	२	२०	९–१२	१७९
प्रणव के सहारे समाधि	२	२०	१३–१९	१८०
आत्माऽभेद-चिंतनात्मक समाधि	२	२०	२०–२१	१८१
उक्तसमाधि का फल	२	२०	२२–२९	१८१
ज्ञानमहात्म्य	२	२०	३१–३८	१८३
ज्ञानी की प्रशंसा	२	२०	३९–४७	१८४
बृहस्पति की कृतार्थता	२	२०	५२	१८५
मुनियों को वेदमार्गस्थापन की प्रेरणा	२	२०	५३–५६	१८६

ज्ञानयोगखण्ड की फलश्रुति	२	२	५८–६०	१८६
मुक्ति आदि विषयक चतुर्विध प्रश्न	३	१		१८७
शंकरवन्दना	३	१	१–८	१८७
अनेक मुनियों का शिवभक्ति में तत्पर रहना	३	१	९–३०	१८८
सूतजी के प्रति मुनियों का चतुर्विध प्रश्न	३	१	३७–३८	१९०
मुक्तिभेद	३	२		१९०
नारायण की तपश्चर्या	३	२	१–८	१९०
प्रसन्न शिव का स्वरूप वर्णन	३	२	९–१७	१९१
विष्णुकृत प्रश्न	३	२	२३–२४	१९३
सालोक्यादि मुक्तियाँ (टी.)	३	२	२८	१९४
ज्ञानफल मुक्ति	३	२	३०–३५	१९५
अन्य मोक्षों की अपरमता	३	२	३५–३७	१९६
अन्य मोक्ष भी अत्यंत शुद्ध चित्त वालों को ही प्राप्य	३	२	३८	१९६
शंकरसारूप्य, मुकुन्दसारूप्य आदि भेद से मोक्षांतर नानाविध	३	२	३९–४६	१९७
अधिकारिभेद से मुमुक्षाभेद	३	२	४७–४९	१९८
परममोक्ष	३	२	५१–५३	१९८
जीवन्मुक्ति	३	२	५४–५६	१९८
विदेहमुक्ति	३	२	५७–५८	१९९
मोक्ष भी व्यवहारमात्र	३	२	५९–६०	१९९
मुक्ति के उपाय	३	३		२००
महातात्पर्य-अवान्तर तात्पर्य (टी.)	३	३	२	२०१
तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष	३	३	९–१०	२०२
कर्म से मोक्ष नहीं	३	३	१२–१३	२०३
कर्म से अपर मोक्ष	३	३	१४	२०३
द्विविध कर्म	३	३	१५	२०३
आन्तर कर्म का फल	३	३	१६	२०४
बाह्य कर्म का फल	३	३	४७	२०८
मानसकर्म की विशेषता	३	३	५१	२०८

कर्मत्याग ज्ञान का अंग	३	३	५२—५३	२०८
वाराणसी आदि में वास का महत्त्व	३	३	५३	२०९
प्रणवजप से मरणान्तर ज्ञानलाभ	३	३	५५	२०९
पंचाक्षर से भी मरणोत्तर ज्ञानप्राप्ति	३	३	५६	२०९
शतरुद्रीय के जप से परा गति	३	३	५८	२०९
अश्रद्धालु पापियों की मुक्ति का उपाय	३	३	६१	२१०
वेदारण्य माहात्म्य	३	३	६८	२१०
मोचक कथन	३	४		२१५
सरस्वती वर्णन	३	४	२—७	२१५
पशु आदि पदार्थ	३	४	९	२१६
श्रुति का प्रामाण्य	३	४	११	२१६
प्रमाणों में बलाबल (हिं.)	३	४	१२	२१६
पाञ्चरात्रादि का वेदबाह्यत्व	३	४	१५—१६	२१८
दक्षिणामूर्ति सम्बन्धी आख्यान	३	४	३१	२२०
दक्षिणामूर्तिशब्दार्थ (हिं.)	३	४	४५	२२१
मोचकप्रद	३	५		२२३
आचार्य ही संसार से छुड़ाने वाले हैं	३	५	२	२२३
उत्तमादि त्रिविध आचार्य	३	५	४	२२३
पाँच प्रकार के उत्तम आचार्य	३	५	९	२२४
अतिवर्णाश्रमी का लक्षण	३	५	१६—३२	२२५
बाधितानुवृत्ति : तीन अविद्यावस्थायें (टी.)	३	५	२८	२२६
अतिवर्णाश्रमी का अनुभव	३	५	३३	२२८
ज्ञान उत्पन्न न होने के कारण	३	६		२३१
शिवद्रोह (हिं.)	३	६	२	२३१
शिवभक्त के प्रति अपराध आदि अन्तराय	३	६	३	२३१
काम, क्रोध आदि के लक्षण (हिं.)	३	६	६	२३१
गोरक्षा न करना ज्ञानोत्पत्ति में प्रतिबंधक	३	६	१६	२३२
जुआ, अपशब्द प्रयोगादि से ज्ञान में विघ्न	३	६	२२	२३३

गुरूपसत्ति व गुरुसेवा	३	७		२३५
विद्वान् की सेवा की महत्ता का आख्यान	३	७	२	२३५
एक अन्य कथा	३	७	४९	२४०
शिवज्ञान के बिना मोक्ष असंभव	३	७	७४	२४३
ज्ञानी का उपदेशकत्व (टी.)	३	७	७६	२४४
जीवन्मुक्ति स्वानुभवगम्य (हिं.)	३	७	७८	२४४
देवोपदेश	३	८		२४६
देवों को विष्णुद्वारा शिव से उपदेशग्रहण की प्रेरणा	३	८	८	२४६
व्याघ्रपुरमहिमा (टी.)	३	८	९	२४६
वटच्छायाश्रित शिव (दक्षिणामूर्ति)	३	८	१५	२४८
स्वाभाविक आनंदका और ज्ञान का द्वैविध्य (टी.)	३	८	२७	२५०
देवों के प्रति महादेव का उपदेश	२	८	३३	२५१
वास्तव भेद की निवृत्ति का निषेध (टी.)	३	८	३४	२५२
काशी आदि में मरण से मोक्ष	३	८	४५	२५४
वाराणसी की मुख्यता	३	८	५०	२५५
ईश्वरनृत्य-दर्शन	३	९		२५६
पुण्डरीकपुर में शिवनृत्य	३	९	७	२५६
शौनक को ऋग्वेद-प्रचार की शिवाज्ञा	३	९	२४	२५८
आश्वलायन की शिवभक्ति	३	९	२६	२५८
व्यासजी की उपस्थिति	३	९	३३	२५९
व्याससहित मुनियों का व्याघ्रपुर में व्रतानुष्ठान	३	९	३९	२६०
मुनियों को शिवदर्शन	३	९	४७	२६१
देवादिकृत रुद्रस्तुति (शतरुद्रिय के अनुसार)	३	९	५७–७२	२६२
मुक्तिखण्ड की फलश्रुति	३	९	७५	२६४
सर्ववेदार्थ का प्रश्न	४ (पूर्व.)	१		२६५
सकल-निष्कल प्रणिधान (टी.)	४	१	१	२६५
अधिकारि-निरूपणार्थ गोत्रर्षिवर्णन	४	१	२–१०	२६५
सूत जी का प्रकट होना	४	१	१२	२६६

सूत की आचार्यादिस्मृति	४	१	१६	२६७
पर-अपर वेदार्थविभाग	४	२		२६८
परवेदार्थ	४	२	२	२६८
अपरवेदार्थ	४	२	३	२६८
माया से बंधन	४	२	६	२६९
माया की ज्ञानविनाश्यता	४	२	७	२६९
जीवत्व और परत्व (टी.)	४	२	७	२६९
कल्पिवस्तु का नाश	४	२	८	२७०
यति ज्ञान में मुख्याधिकारी	४	२	१०	२७०
चतुर्विध भिक्षुओं को परंपरा से व साक्षात् ज्ञान	४	२	१३–१५	२७०
परोक्षब्रह्मविज्ञान का फल	४	२	१६	२७१
अपरोक्ष ज्ञान का फल	४	२	१७	२७१
परमहंस के लिए प्रणवमात्र जप्य	४	२	२७	२७३
उमार्धविग्रह शिव प्रणवार्थ	४	२	२९	२७३
आधिभौतिक व आध्यात्मिक काशी (हिं.)	४	२	३४	२७३
शतरुद्रीय की महिमा (हिं.)	४	२	३७	२७४
सत्त्वादिगुणों के कार्य	४	२	४३–४५	२७५
द्विविध यज्ञ : स्थूल व सूक्ष्म	४	२	४८	२७६
तीन प्रकार के स्थूल यज्ञ	४	२	४९	२७६
शिव ही ध्येय	४	२	५४	२७६
शिव की अन्यों से असमानता	४	२	५७	२७७
नाम का आग्रह नहीं (हिं.)	४	२	५७	२७७
उत्पन्नज्ञान व्यक्ति के चिह्न	४	२	६९	२७८
कणाद आदि द्वारा निरूपित ज्ञान दर्शन नहीं	४	२	८१	२८१
कर्मयज्ञ का वैभव	४	३		२८२
काम्य, नित्य और नैमित्तिक विभाग	४	३	२	२८२
शिवपूजा दृष्टि से कर्म शीघ्र मोचक	४	३	६	२८३
शिव ही यज्ञों से पूज्य	४	३	१०	२८३

निषिद्ध कर्म से भी शिवाराधन	४	३	१५–१७	२८४
महायज्ञ	४	३	२०	२८५
नास्तिक मतों का भी समन्वय (हिं.)	४	३	२५	२८६
वाचिक यज्ञ	४	४		२८७
वागुत्पत्ति	४	४	१–२	२८७
परावाक्, पश्यन्ती (टी.)	४	४	३	२८८
मध्यमा	४	४	४	२८८
वैखरी	४	४	५	२८८
अक्षरों का द्विविध स्वरूप (टी.)	४	४	८	२८९
नादात्मक प्रणव	४	४	८	२८९
आद्यमंत्र, मंत्रशब्दार्थ	४	४	९	२९०
प्राण से वैखरी की उत्पत्ति	४	४	११	२९०
प्रणव शिव का वाचक	४	४	१३	२९१
महामंत्र और मंत्र	४	४	१९–२०	२९२
मातृका शिव-शक्तिप्रतिपादिका	४	४	२१–२२	२९२
अपद का पदभाव	४	४	२३	२९३
वैखरी सर्वोपजीव्य	४	४	२५–३०	२९३
त्रिविध मातृका	४	४	३२	२९४
प्रणवविचार	४	५		२९६
पर प्रणव	४	५	२	२९६
अपर प्रणव	४	५	३	२९६
प्रणव वेदसार	४	५	४–१४	२९६
प्रणववैशिष्ट्य का हेतु	४	५	१५–१६	२९८
प्रणव का सर्वावभासकत्व	४	५	१७–२२	२९८
प्रणव के ऋषि आदि	४	५	२४	२९९
अवयवों के ऋषि आदि	४	५	२७	३००
प्रणवजप का फल	४	५	४०–४१	३०१
गायत्री-विवरण	४	६		३०२

व्याहृतियाँ व उनके ऋषि आदि	४	६	१—५	३०२
गायत्री के ऋषि आदि	४	६	६	३०३
गायत्री त्रिपदा और चतुष्पदा	४	६	७	३०३
गायत्री का सिर	४	६	८	३०३
देवता व विनियोग	४	६	९	३०४
गायत्रीजप काल में ध्येय विराडात्मक मूर्ति	४	६	१०—१६	३०४
उक्त मूर्ति का प्रेरक शिव	४	६	१७	३०५
मन्त्रवर्णों का देहन्यास	४	६	१८—२०	३०५
वर्णों के ध्येय रंग	४	६	२१—२८	३०६
वर्णज्ञान का प्रयोजन	४	६	२९	३०७
गायत्री मंत्र का अर्थ	४	६	३१—३६	३०७
विनियोग	४	६	३९—५८	३०९
हंसविद्या	४	७		३१२
आत्ममंत्र के ऋषि आदि	४	७	१	३१२
जप के समय ध्यान	४	७	३	३१२
सध्यान जप का फल	४	७	४	३१३
मध्यमाधिकारी के लिये जपविधि	४	७	५—८	३१३
उत्तमाधिकारी के लिए अनुसंधान विधान	४	७	९	३१३
महावाक्य का अर्थ	४	७	१२	३१४
सत्य आदि शब्दों का बोधकत्व (टी.)	४	७	१४	३१५
जीव की सद् आदि रूपता	४	७	१५	३१६
चित् की अन्यशेषता नहीं	४	७	१७—१९	३१७
जीव की आनंदरूपता	४	७	२०—२१	३१८
जीव की पूर्णता	४	७	२२	३१८
साक्षी होने से असंसारिता	४	७	२३	३१८
साक्षात्कार का फल	४	७	२६	३२०
नित्यसाधनयोग	४	७	३२	३२१
षडक्षर-विवरण	४	८		३२४

ऋषि आदि	४	८	२	३२४
न्यास	४	८	४	३२५
मंत्राक्षर	४	८	६–७	३२५
मंत्रार्थ	४	८	८–२२	३२६
नमः शब्द का अर्थान्तर	४	८	१२	३२६
प्रणवार्थ	४	८	१५–१६	३२७
वाच्यत्वादि अवास्तविक	४	८	१७–२१	३२८
तैर्थिकों का समन्वय (टी.)	४	८	२२	३२९
शिव अनिषेध्य (हिं.)	४	८	२४	३२९
अविवादभूमि – शिव	४	८	२५	३३१
जपविधान	४	८	२७	३३२
विनियोग	४	८	३७	३३३
पूजा	४	८	४२	३३४
ध्यानयज्ञ-विवरण	४	९		३३५
निरुपाधिक ध्येय नहीं	४	९	२	३३५
असाधारण ध्येय मूर्ति	४	९	३–६	३३६
अन्य उपाधियों से विशिष्ट का ध्यान	४	९	८	३३७
ध्यानमाहात्म्य	४	९	४६	३४१
ध्यानजनिश्चय की निन्दा का अभिप्राय (हिं.)	४	९	४९	३४१
ज्ञानयज्ञ	४	१०		३४३
ज्ञानयज्ञशब्द का अर्थ (हिं.)	४	१०	१	३४३
स्वरूपज्ञान	४	१०	३	३४३
ईश्वरज्ञान	४	१०	४	३४४
जीवज्ञान	४	१०	५	३४४
मुख्य-अमुख्य आत्मा	४	१०	६	३४४
जीवरूपता का अभिव्यंजक	४	१०	७	३४४
प्रमाणज्ञान आदि	४	१०	८–९	३४५
प्रमिति का स्वरूप	४	१०	१०	३४५

प्रमा-विचार (हिं.)	४	१०	१०	३४५
भ्रान्ति	४	१०	११	३४६
भ्रमज्ञाननिष्कर्ष (हिं.)	४	१०	११	३४६
सन्देह	४	१०	११	३४६
सन्देहज्ञान का स्वरूपविवेचन (हिं.)	४	१०	११	३४६
निश्चय	४	१०	१२	३४६
निश्चयज्ञान का परिष्कृतरूप (हिं.)	४	१०	१२	३४६
संशयादि चित्तवृत्ति कैसे ? (हिं.)	४	१०	१२	३४६
प्रामाण्य	४	१०	१३	३४७
भ्रम में वृत्तिद्वय (टी.)	४	१०	१३	३४७
अभावविज्ञान	४	१०	१५	३४८
अनुपलब्धि (हिं.)	४	१०	१५	३४७
प्रत्यक्ष, अनुमान	४	१०	१६	३४८
वेदान्ताभिमत प्रत्यक्ष (हिं.)	४	१०	१६	३४८
उपमिति, अर्थापत्ति	४	१०	१७	३४८
उपमान (हिं.)	४	१०	१७	३४८
द्विविध अर्थापत्ति (हिं.)	४	१०	१७	३४९
शाब्दज्ञान	४	१०	१८	३४९
शाब्दी प्रमा (हिं.)	४	१०	१८	३४९
शब्द अर्थ का निश्चायक है	४	१०	१८	३४९
शब्द : अक्षर, पद, वाक्य	४	१०	१९	३४९
वाचक कौन	४	१०	२०	३५०
वर्णों की वाचतकता, स्फोटवाद (हिं.)	४	१०	२०	३५०
वाक्यों की वाचकता	४	१०	२१	३५१
शब्द प्रकाशक है (हिं.)	४	१०	२१	३५०
वाक्य	४	१०	२३	३५१
आकांक्षादि का निरूपण (हिं.)	४	१०	२३	३५१
ब्रह्म अपदार्थ, वाक्यार्थ (हिं.)	४	१०	२३	३५१

महावाक्य, अवांतरवाक्य	४	१०	२४	३५२
एकवाक्यता	४	१०	२५	३५२
शब्दशक्ति (हिं.)	४	१०	२५	३५२
अन्विताभिधान (हिं.)	४	१०	२६	३५२
वाक्यार्थ की लक्ष्यमाणता (टी.)	४	१०	२६	३५३
द्विविध तात्पर्य	४	१०	२७	३५३
विधि, निषेध और सिद्धार्थबोधक वाक्य	४	१०	२८–२९	३५४
सिद्धार्थबोधक का विस्तार	४	१०	३०	३५४
शिव में प्रमाणों की गति नहीं	४	१०	३३–३४	३५५
ब्रह्म की सर्वप्रमाणवेद्यत्वोक्ति का तात्पर्य (टी.)	४	१०	३७	३५६
स्वाभाविक बंधन असंगत	४	१०	३९	३५६
भेद औपाधिक	४	१०	४२	३५७
उपाधिशब्द का अर्थ (हिं.)	४	१०	४३	३५७
स्वप्रकाश चिद्रूप से भेद नहीं	४	१०	४४	३५८
आत्मभेदवाद का खण्डन	४	१०	४७	३५९
घटादि का भेद भी भ्रमसिद्ध	४	१०	५०–५१	३६०
त्रिविध सत्त्व (टी.)	४	१०	५२	३६०
स्वरूपतः और धर्मतः भेद असिद्ध	४	१०	५३	३६१
प्राभाकर व वैशेषिक मत (टी.)	४	१०	५३	३६१
स्वरूपभेद पक्ष का निराकरण (टी.)	४	१०	५३	३६१
धर्मभेदपक्ष का निराकरण	४	१०	५४	३६१
भेदनिरूपण की असंभवता	४	१०	५४	३६१
श्रुति से भेदनिषेध	४	१०	५५	३६२
भेद में प्रमाण का अभाव (हिं.)	४	१०	५५	३६२
अभेदज्ञान का फल	४	१०	५६	३६३
आत्मयाजी को स्वाराज्यलाभ	४	१०	६०	३६४
ज्ञानयज्ञवैभव	४	१०	६२–७३	३३४
ज्ञानयज्ञ-विशेष (दृश्य की कल्पितता)	४	११		३६६

आस्तिक्य	४	११	२	३६६
देवोत्कर्षविज्ञान	४	११	११	३६७
जीवस्वरूप	४	११	२३	३६९
देहभिन्न आत्मा	४	११	२४	३७०
देहात्मवाद की प्रसिद्धता (हिं.)	४	११	२४	३७०
स्मृति की अविद्यावृत्तिता (हिं.)	४	११	३०	३७२
अंतःकरणचतुष्टय का स्वरूप (टी.)	४	११	३१	३७२
अवस्थासाक्षी	४	११	३२	३७२
ज्ञात-अज्ञातविलक्षण	४	११	३४	३७३
ज्ञानयज्ञविशेष (शिव में प्रपंचाध्यास)	४	१२		३७४
निरुपाधिक शिव	४	१२	२	३७४
अधिष्ठानतोपपत्ति	४	१२	३	३७५
अधिष्ठान-द्वैविध्य	४	१२	५	३७५
अधिष्ठान-अध्यस्त विभाग	४	१२	६	३७५
नियोज्य का लक्षण (टी.), कर्तृत्त्व का लक्षण (टी.)	४	१२	११	३७६
अभाव की पदार्थान्तरता का निरास (हिं.)	४	१२	२८	३७६
ज्ञानयज्ञविशेष (परशक्ति का शिवानन्यत्व)	४	१३		३७९
परशक्ति का स्वरूप	४	१३	२	३८०
शिवलीला का उपपादन (टी.)	४	१३	२	३८०
शिवाऽभिन्ना शिवा	४	१३	३	३८०
परशक्ति की ही विशेषशक्तिरूपता	४	१३	४	३८१
शिव का पंचधाभवन (टी.)	४	१३	५—६	३८१
रुद्रादिरूप	४	१३	७—९	३८२
सदाशिव, ईश्वर	४	१३	१०—११	३८२
हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा	४	१३	१२—१३	३८३
विराट्; स्वराट्, सम्राट्	४	१३	१४—१६	३८३
शक्ति का अद्वैत	४	१३	२९	३८६
शिव-शिवा का अभेद	४	१३	३०	३८६

पार्वती ब्रह्मविद्या-प्रदायिनी	४	१३	३४	३८७
यही सर्वाराध्या	४	१३	३६	३८७
परिपूर्णशिवदर्शन	४	१३	४२	३८८
योगी की स्वच्छन्दता	४	१३	४७	३८९
ज्ञानयज्ञविशेष (पंचब्रह्म)	४	१४		३९०
निर्विकार शिव	४	१४	२	३९०
पाँच प्रकार से अवस्थित शिव	४	१४	३–४	३९१
शब्दादि की ईशानादिरूपता	४	१४	५	३९१
श्रोत्रादि के अध्यात्मादिभेद (टी.)	४	१४	१२	३९२
पैर आदि की ईशानादिता	४	१४	१४	३९३
मन आदि पंचब्रह्मरूप	४	१४	१८	३९३
पंचप्राण के प्रातिस्विक देवता	४	१४	२३	३९४
निवृत्ति आदि कलाओं की पंचब्रह्मरूपता	४	१४	२६–२७	३९४
निवृत्ति आदि कलाओं का स्वरूप (टी.)	४	१४	२६–२७	३९४
'दासोऽहम्' आदि भ्रम	४	१४	३७	३९६
विवेक प्रदीप	४	१४	३९–४०	३९७
ज्ञानशास्त्र	४	१४	४२	३९७
परमेश्वर ही कारण (टी.)	४	१४	४४	३९७
प्रपंच का सदा शिव से अभेद (हिं.)	४	१४	४५	३९८
अज्ञातात्मा ही अज्ञान (हिं.)	४	१४	४६	३९९
जीवन्मुक्त (हिं.)	४	१४	५०	३९९
शिवकृपा से ज्ञान	४	१४	५३	४००
मनःशुद्धि के अनुसार देवप्रसाद	४	१४	५६–५७	४००
श्रवणादि का स्वरूप (टी.)	४	१४	५८	४०१
शिवप्रसाद से ही सर्वप्राप्ति	४	१४	५९–६०	४०१
ज्ञानविशेषयोग	४	१५		४०२
सत्ता-विचार	४	१५	२	४०२

सत्ताजति का निषेध	४	१५	३–४	४०२
सत्ता व घटादि का भेदादि असंगत	४	१५	५	४०३
सत्ताप्रतीति भ्रम है	४	१५	८	४०४
ब्रह्म ही सत्ता है	४	१५	८	४०४
सत्ताशब्दार्थ (हिं.)	४	१५	८	४०४
अव्यावृत्त अननुगत वस्तु (टी.)	४	१५	८	४०४
कार्य की कारणात्मकता	४	१५	१२	४०५
निरवयव की विरुद्धार्थों के प्रति अधिष्ठानता	४	१५	१६	४०६
शंभु की सर्वरूपता	४	१५	१८	४०६
सर्वत्र शिवदर्शन का फल	४	१५	२२	४०७
ज्ञान से कर्मनिवृत्ति (टी.)	४	१५	२४	४०८
बाधसामानाधिकरण्य	४	१५	२७	४०८
वस्तुतः बाध्य नहीं	४	१५	२९–३०	४०९
मोक्ष निरतिशय (टी.)	४	१५	३१	४०९
ज्ञानोत्पत्ति के कारण	४	१६		४१०
देवता-प्रार्थना	४	१६	२	४१०
ब्रह्मचारी आदि के लिये होम	४	१६	१०	४११
गुरुसेवा	४	१६	१२	४११
वेदान्तश्रवण	४	१६	१३	४११
लिंगार्चन	४	१६	१४	४११
द्वन्द्वसहिष्णुता	४	१६	१५	४१२
रुद्राक्षधारण	४	१६	१६	४१२
षडक्षरजप	४	१६	१७–१८	४१२
नीचों से असम्पर्क	४	१६	१९	४१२
भस्म	४	१६	२१	४१२
उत्सव सेवा	४	१६	२५	४१२
शिवनिर्माल्य-ग्राह्यता का निर्णय (हिं.)	४	१६	२६	४१३
गन्धपुष्पादि की अग्राह्यता (टी.)	४	१६	२६	४१३

गुरूच्छिष्ट की पवित्रता	४	१६	२८	४१४
लांछन-निषेध	४	१६	३१—३३	४१४
भस्म का स्वरूप	४	१६	३८	४१५
ज्ञात का ज्ञान, मुक्त की मुक्ति	४	१६	४६	४१६
वैराग्य	४	१७		४१७
शोभन-अशोभनाध्यास से इच्छा-जिहीर्षा	४	१७	३	४१८
देहादि की जुगुप्सितता	४	१७	१२	४१९
गर्भादिदुःख	४	१७	४५	४२३
बाल्यदुःख	४	१७	५३	४२४
यौवनदुःख	४	१७	५७	४२५
देह में 'मैं—मेरा' निश्चय होने से सारा दुःख	४	१७	६९	४२९
सुखेच्छा भ्रम से	४	१७	७०	४२९
विरक्त को ही ज्ञानप्राप्ति	४	१७	७२	४३०
अनित्यवस्तु विचार	४	१८		४३०
अनात्मा जड अनित्य	४	१८	२	४३१
अकार्य भी अनित्य	४	१८	३	४३१
अनित्यत्व में अनात्मत्व हेतु की परीक्षा (टी.)	४	१८	३—४	४३१
भाववस्तु के लिये पृथक् नियम मानना व्यर्थ	४	१८	५—६	४३१
तर्क प्रमाण का अनुग्राहक	४	१८	७	४३२
श्रुति का निरपेक्ष प्रामाण्य (हिं.)	४	१८	८	४३२
ब्रह्म प्रमाणान्तर का अविषय	४	१८	९	४३३
श्रुत्यनुकूल प्रमाणान्तरों की विषयता स्वीकार्य (हिं.)	४	१८	९	४३२
शब्द की निरपेक्षता का उपपादन (टी.)	४	१८		४३२
अप्रामाणिक तर्क की अनर्थहेतुता का आख्यान	४	१८	११	४३३
तर्क की अप्रतिष्ठा	४	१८	१५	४३४
षडक्षरमहिमा	४	१८	२७	४३५
यम द्वारा परिहरणीय लोग	४	१८	३५—४७	४३६
यम द्वारा हन्तव्य लोग	४	१८	४८—५४	४३८

हैतुक महापापी है	४	१८	६४	४३९
वैराग्यजनक	४	१८	६६	४४०
अनित्यत्वज्ञान आवश्यक; न कि असत्यत्वज्ञान (हिं.)	४	१८	६६	४४०
वैराग्य का लक्षण (हिं.)	४	१८	६७	४४१
राग से ही दुःख	४	१८	६८	४४०
अनित्यत्व का विस्तार	४	१८	७०	४४०
परलोक का अनित्यत्व	४	१८	७५	४४१
भूतविलय	४	१८	७६	४४२
ब्रह्मा आदि की अनित्यता	४	१८	८०	४४२
परमेश्वर ही नित्य	४	१८	८२	४४३
नित्यवस्तुविचार	४	१९		४४३
नित्यवस्तु का स्वरूप	४	१९	२	४४४
चित् अनित्य नहीं	४	१९	३	४४४
'मैं नहीं था या रहूँगा' का विश्लेषण (हिं.)	४	१९	३	४४४
ज्ञान की नित्यता	४	१९	४	४४५
ज्ञान की अनित्यता प्रतीति का उपपादन (हिं.)	४	१९	४	४४५
'प्रत्यय' शब्द का अर्थ	४	१९	६	४४६
ज्ञप्तिमात्र का विनाश नहीं	४	१९	८	४४६
ज्ञान की अभिव्यक्ति का तात्पर्य (हिं.)	४	१९	११	४४७
साक्षी	४	१९	१२—२५	४४८
विशिष्ट धर्म	४	२०		४५१
विविध धर्म	४	२०	१३	४५३
म्लेच्छादि-मतसमन्वय (हिं.)	४	२०	१६	४५३
वैष्णवों से शैवों की श्रेष्ठता का आधार (हिं.)	४	२०	२०	४५४
सर्वश्रेष्ठ धर्म : ज्ञान	४	२०	२७	४५६
शिवज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है	४	२०	३१	४५६
श्रौतधर्म ही वास्तविक धर्म है	४	२०	३२	४५६
वेदमहत्ता	४	२०	३४	४५७

संक्षिप्त उपदेश	४	२०	४२	४५७
मुक्तिसाधन	४	२१		४५९
साधनविषयक ईश्वरोपदेश	४	२१	१४	४६०
साधन की गुप्तता (हिं.)	४	२१	१४	४६०
भिक्षुधर्म	४	२१	२३	४६२
श्रवणादि के लक्षण (टी.)	४	२१	२५–२६	४६२
देवताओं व मुनियों की एकवाक्यता	४	२१	३७–३९	४६४
मार्गों की प्रामाणिकता	४	२२		४६५
शंकर ही सर्वशास्त्रनिर्माता	४	२२	२–६	४६५
शिवनिर्मित शास्त्रों के ही विष्णु आदि व्याख्याता हैं	४	२२	८–९	४६६
समन्वय और तारतम्य (हिं.)	४	२२	९	४६६
सब मार्ग शिवप्राप्ति के	४	२२	१०	४६६
उत्कृष्ट मार्ग की प्राप्ति शिवकृपा से	४	२२	११–१२	४६७
औपनिषद ज्ञान ही विद्या	४	२२	१५–१७	४६८
अन्य मार्ग क्रम से प्रमाण	४	२२	१८–१९	४६९
वैदिक अन्य मार्ग पर न चले	४	२२	२१	४६९
वादों के मतभेद (टी.)	४	२२	२३–२४	४७०
मार्गान्तरों का प्रयोजन	४	२२	२६	४७०
शंकरप्रसाद	४	२३		४७१
साधनाक्रम	४	२३	९	४७२
अप्रमाद आवश्यक	४	२३	१६	४७४
प्रणवश्रैष्ठ्य	४	२३	१७	४७४
विभिन्न देवताओं की कृपा से विभिन्न फल	४	२३	२०–२५	४७४
महादेवप्रसाद स्वयं समर्थ	४	२३	२७–२८	४७५
सब मुक्त होते हैं	४	२३	३१–३६	४७५
प्रसादमाहात्म्य	४	२३	३७–४०	४७६
शिवप्रसाद के विना भोग-मोक्ष असंभव	४	२३	४७	४७७
शिवप्रसाद से शिवप्रसाद	४	२३	५०	४७८

प्रसादवैभव	४	२४		४७८
दुर्घट शूद्र की कथा	४	२४	२	४७८
व्याघ्रपुरमहत्ता	४	२४	१०	४७९
शूद्र का पंचाक्षर में अधिकारविचार (टी.)	४	२४	२२	४८०
प्रसादवैभव	४	२५		४८१
सत्यसन्ध की कथा	४	२५	२	४८२
विष्णुस्तुति	४	२५	१०–३४	४८२
परमेश्वर का विष्णु से अतिशय	४	२५	३९–४८	४८५
महादेव समाख्या का सार्थक्य	४	२५	५१	४८७
शिवभक्ति विचार	४	२६		४८९
नाना भक्तियाँ	४	२६	२–३३	४८९
शिव की साक्षाद् भक्ति	४	२६	३४	४९३
वेदान्तज्ञों द्वारा प्रोक्त भक्ति	४	२६	३७	४९३
परम पद का स्वरूप	४	२७		४९४
परशिवस्वरूप	४	२७	१	४९४
सच्चिदानन्दमय संसार (हिं.)	४	२७	२	४९४
उत्कर्ष परम्परा	४	२७	३	४९५
समष्टि-व्यष्टि शब्दों का अर्थ (हिं.)	४	२७	४	४९५
विभूतियों में वैशिष्ट्य	४	२७	६	४९६
नानादेववाद श्रौत-स्मार्त नहीं (हिं.)	४	२७	८	४९७
परतत्त्व	४	२७	९	४९७
आनंदमीमांसा	४	२७	१०–१२	४९७
भूमानन्द	४	२७	१३	४९८
विशेषण, उपाधि, उपलक्षण (हिं.)	४	२७	१३	४९८
रुद्रादि भेद से एक शिव स्थित हैं	४	२७	१४	४९८
देवविभाग व्यावहारिक	४	२७	१८	४९९
शिव ही ध्येय	४	२७	२३	५००
निर्विकल्प ज्ञान से मोक्ष	४	२७	२५	५००

शिव के नाम-रूप नहीं	४	२७	२८	५०१
परतत्त्व के विशिष्ट नाम	४	२७	२९	५०१
अन्य नाम गौण	४	२७	३०	५०१
मुख्य मूर्ति	४	२७	३१	५०१
रुद्र से परनामों का सम्बन्ध	४	२७	३६–३८	५०२
शिवलिंग का स्वरूप	४	२८		५०४
शिव ही लिंग हैं	४	२८	२	५०४
लिंगशब्द शिवमूर्ति में रूढ (हिं.)	४	२८	२	५०४
शिव की अस्वप्रकाशता असंभव	४	२८	३–४	५०४
स्वप्रकाशत्व-निर्वचन (हिं.)	४	२८	५	५०४
शून्यनिराकृति	४	२८	६	५०५
वृत्तिव्याप्ति का स्वीकार (टी.)	४	२८	७	५०६
'शिव का लिंग' इस व्युत्पत्ति की परीक्षा	४	२८	१०–१३	५०६
बहुविध लिंग	४	२८	१४–१९	५०७
ज्ञान ही लिंग	४	२८	२०	५०८
'आलय (मूर्ति आदि) लिंग है' इसका विचार	४	२८	२१	५०९
चेतन सदा सत्य	४	२८	२३	५०९
जड की असत्यता	४	२८	२४–२५	५१०
शिव किसी पर आधारित नहीं	४	२८	२६	५१०
वेदप्रामाण्य (टी.)	४	२८	२८	५११
बाणलिंगादि का उपयोग	४	२८	३०	५११
लिंगशब्द की व्युत्पत्ति	४	२८	३२	५१२
सत्य का अविलय	४	२८	३४	५१२
शरीर में लिंग	४	२८	३६	५१२
ज्ञान ही शिवार्चन	४	२८	४९	५१६
शिवस्थान	४	२९		५१६
मातृकाक्षरस्तोत्र	४	२९	७–६५	५१७
अक्षरग्रहण की सार्थकता (टी.)	४	२९	७	५१७

औकारमाहात्म्य (टी.)	४	२९	२०	५२०
विन्दु-बीज	४	२९	२१	५२१
विसर्गार्थ (टी.)	४	२९	२२	५२१
अहित संग्रह (टी.)	४	२९	२९	५२२
शिव ही यथार्थ	४	२९	४८	५२५
ध्वनि–स्फोट (टी.)	४	२९	६०	५२८
उपासना में आवृत्ति अलंकार (टी.)	४	२९	६४	५२९
अध्यात्म शिवस्थान	४	२९	७१	५३०
अधिभूत शिवस्थान	४	२९	७९	५३१
पुण्डरीकपुर का माहात्म्य	४	२९	८९–१०२	५३२
भस्मधारण-वैभव	४	३०		५३५
महाभस्म	४	३०	३	५३६
महाभस्मज्ञाता का माहात्म्य	४	३०	५–१२	५३६
स्वल्पभस्म	४	३०	१३	५३८
तत्तदंग के लिए मंत्र (टी.)	४	३०	१३–१४	५३८
भस्मनिर्माण (टी.)	४	३०	१३–१४	५३८
भस्म रुद्राग्निका वीर्य (टी.)	४	३०	१३–१४	५३८
भस्मस्नानफल (टी.)	४	३०	१३–१४	५३८
अधिकारिभेद से भस्मभेद	४	३०	१५–१७	५३९
धूलनार्थ मंत्र	४	३०	१८	५३९
त्रिपुण्ड्रार्थ मंत्र	४	३०	१९	५३९
त्रिपुण्ड्रधारण-वैशिष्ट्य (टी.)	४	३०	१९	५३९
आश्रमभेद से मंत्रभेद	४	३०	२०–२४	५४०
उद्धूलन व त्रिपुण्ड्र ज्ञान का अंग	४	३०	२५	५४०
कालाग्निरुद्रोपनिषत् में भस्मप्राप्य सिद्धियाँ (टी.)	४	३०	३३	५४२
उद्धूलन व त्रिपुण्ड्रधारण के फल व प्रयोजन	४	३०	३४–५०	५४२
भस्म न धारण करने की निंदा	४	३०	५१–५९	५४५
भस्मप्रशंसा	४	३०	६०–६२	५४६

जीवब्रह्मैक्यनिरूपण (शिवप्रीतिकरनिरूपण)	४	३१		५४७
शिव को प्रिय	४	३१	२–२२	५४७
शूश्रूषामाहात्म्य का आख्यान	४	३१	२३–३१	५४९
भक्ति न होने के कारण	४	३२		५५०
गौतमकथा	४	३२	२	५५०
गौतम का शाप	४	३२	१९–४४	५५१
परतत्त्वनाम	४	३३		५५४
शिव आदि नाम	४	३३	२–२५	५५५
अहिर्बुध्न्य का निरुक्त (टी.)	४	३३	९	५५६
पुनरुक्त नामों का तात्पर्य (टी.)	४	३३	२६	५६०
निंदा का अभिप्राय (हिं.)	४	३३	३३	५६१
महादेव के प्रसाद के कारण	४	३४		५६२
सम्प्रदाय शब्दार्थ (हिं.)	४	३४	१	५६२
शिष्यगुण	४	३४	२	५६२
आचार्यगुण	४	३४	३	५६२
गुरूपसत्ति	४	३४	४–६	५६३
दीक्षा	४	३४	७	५६३
ग्रन्थिच्छेदन (टी.)	४	३४	१४	५६४
शक्तिपात	४	३४	१६–१७	५६५
कर्मसाम्य अपेक्षित	४	३४	२०	५६५
बिना शक्तिपात के भी मोक्ष संभव	४	३४	२५	५६६
शक्तिपात का रहस्यांश (टी.)	४	३४	२७	५६७
सम्प्रदायपरंपरा	४	३५		५६८
आदिगुरु	४	३५	२	५६८
सम्प्रदाय न जानने की निंदा	४	३५	८–१०	५६९
नमस्कार्य	४	३५	१२–१३	५६९
मूर्खशिष्य को उपदेश न दे	४	३५	१६	५७०
परंपराबोध ज्ञान का उपकारक	४	३५	२२	५७०

सद्यः मुक्ति देने वाले क्षेत्र की महिमा	४	३६		५७२
शिव में प्रपंचविलय (टी.)	४	३६	५	५७३
दक्षिणकैलास	४	३६	१०	५७४
संवत्सरव्रत	४	३६	१५	५७५
मुक्ति के उपाय	४	३७		५८०
जैमिनी का प्रश्न	४	३७	५	५८०
व्यास का उत्तर	४	३७	६	५८०
व्याघ्रपुर	४	३७	१०	५८१
दक्षिण कैलास, वृद्धाचलादि नाना स्थान	४	३७	१३	५८१
हालास्य-माहात्म्य की कथा	४	३७	१८	५८२
मुक्तिसाधन	४	३८		५८४
परमेश्वरस्तोत्र	४	३८	५–६९	५८४
द्विविध सामानाधिकरण्य (टी.)	४	३८	६	५८५
मोक्ष नित्यप्राप्त	४	३८	७६	५९२
प्राप्य मोक्ष की परीक्षा	४	३८	८१	५९३
अभाव की असाध्यता	४	३८	८३	५९३
ध्वंस नित्य नहीं	४	३८	९२	५९५
अचेतनत्व अनित्यता का प्रयोजक	४	३८	९६–९७	५९६
ज्ञान-कर्म का समुच्चय असंभव	४	३८	९९–१००	५९६
ज्ञानी का कर्म में अनधिकार (हिं.)	४	३८	१००	५९७
सारूप्यादि का साधन कर्म	४	३८	१०१	५९७
नास्तिक्यनिषेध	४	३८	१०५	५९८
वेदों का अविरोध	४	३९		५९९
अनुभव आवश्यकत्व, समन्वय अनिवार्य (हिं.)	४	३९	१	५९९
वेद में विषयभेद	४	३९	२–३	६००
द्वैत अध्यस्त	४	३९	४–६	६००
अद्वैत अनध्यस्त	४	३९	७–१०	६०१
शून्य अधिष्ठान नहीं (हिं.)	४	३९	११	६०२

प्रत्यक्षादि के अविषय में श्रुति प्रमाण	४	३९	१५	६०२
श्रुति को प्रमाणान्तर-संवाद नहीं चाहिये	४	३९	१७	६०३
प्रयोजनवश प्रामाण्य	४	३९	२०–२१	६०४
अज्ञाननिवृत्ति द्वारा अद्वयबोधन	४	३९	२४	६०५
विधिमुख से बोधन	४	३९	२५	६०५
शक्ति से अविषयता (हिं.)	४	३९	२५	६०५
महावाक्य प्रवृत्ति	४	३९	२६	६०६
जीवत्व अस्वाभाविक	४	३९	२७–२८	६०६
मणि आदि केवल प्रतिबंधक, नाशक नहीं	४	३९	३३	६०८
रसवीर्य से वास्तविक स्वर्णता नहीं	४	३९	३७–३८	६०८
साम्य ही मोक्ष है इस वाद की परीक्षा	४	३९	४६	६१०
सकार्य अज्ञान का ग्रसन	४	३९	५१	६११
मोक्ष में जगत् का अभाव–इस का समीक्षण	४	३९	५४–५६	६१२
भावाद्वैत अस्वीकृत (हिं.)	४	३९	५६	६१२
एकत्वबोधक वाक्य शेषी	४	३९	६०	६१३
ब्रह्मकाण्ड कर्मशेष नहीं	४	३९	७१	६१५
श्रुतिलिंगादिवशात् भी ब्रह्मज्ञान कर्मांग नहीं (हिं.)	४	३९	७५	६१५
अधिकारिभेदवश भी समुच्चय नहीं	४	३९	७७	६१६
विवरणानुसार समुच्चयनिरास (हिं.)	४	३९	८०	६१८
कर्मभाग भी ब्रह्मकाण्ड का साक्षात् शेष नहीं	४	३९	८१	६१८
श्रवणादि करण हैं	४	३९	८२–८३	६१९
ज्ञान को इतरानपेक्षा	४	३९	८३–८४	६१९
कर्म का उपकारक्रम	४	३९	८८	६२०
सर्वसिद्धि करने वाले धर्म	४	४०		६२२
त्रिविध कर्म	४	४०	२	६२२
कायिक सर्वसिद्धिप्रद कर्म	४	४०	३–५	६२२
वाचिक तथाविध कर्म	४	४०	६–७	६२२
मानस तथाविध कर्म	४	४०	८–११	६२३

उक्त कर्मों की महत्ता	४	४०	१७	६२४
पातकविचार	४	४१		६२५
दस पातक (महापातकादि)	४	४१	३–५	६२५
महापातक	४	४१	६–७	६२५
अतिपातक	४	४१	८–९	६२५
मातायें (हिं.)	४	४१	९	६२५
प्रासंगिक पाप	४	४१	१०–१२	६२६
पातक	४	४१	१३–१६	६२६
उपपातक (मुख्य)	४	४१	१७–२०	६२६
उपपातक (गौण)	४	४१	२१–२७	६२७
जातिभ्रंशकर पाप	४	४१	२८–२९	६२७
संकीर्णकरण	४	४१	३०	६२७
अपात्रीकरण	४	४१	३१	६२७
मलावह	४	४१	३२	६२७
प्रकीर्ण	४	४१	३३	६२८
क्षत्रियादि के विशेष पाप	४	४१	३४–३९	६२८
प्रायश्चित्त	४	४२		६२९
वेदांतज्ञान सब पापों का दाहक	४	४२	२	६२९
ज्ञानी को कर्म बंधन नहीं—इसकी उपपत्ति (टी.)	४	४२	३	६२९
साक्षिरूप आत्मा का कर्मसंबंध नहीं	४	४२	४–२८	६३०
देहादि में अहंधी वाले का ही कर्मसंबंध	४	४२	३३	६३५
परोक्ष-अपरोक्ष ज्ञानों का फल	४	४२	३५–३६	६३६
ब्रह्मभावना भी प्रायश्चित्त	४	४२	४०	६३७
प्रायश्चित्तार्थ मूर्तिध्यान	४	४२	४३–५१	६३७
प्रायश्चित्तात्मक जप	४	४२	५२–७५	६३८
प्राणायाम से प्रायश्चित्त	४	४२	७६	६४०
प्रातः उठकर 'महादेव' कहने से प्रायश्चित्त	४	४२	७९	६४१
ब्राह्ममुहूर्त में शिवकीर्तन से प्रायश्चित्त	४	४२	८०	६४१

पाँच पुण्यों का प्रातः कीर्तन करने से प्रायश्चित्त	४	४२	८१–८२	६४१
ब्राह्मण भोजन से प्रायश्चित्त	४	४२	८५–८९	६४१
शिवपूजन से प्रायश्चित्त	४	४२	९०–९३	६४२
काशी में गंगास्नान, विश्वनाथदर्शन से प्रायश्चित्त	४	४२	९४	६४२
गोदावरी आदि में स्नान से प्रायश्चित्त	४	४२	९५–१००	६४२
दभ्रसभापति के दर्शन से प्रायश्चित्त	४	४२	१०१	६४३
प्रायश्चित्तात्मक संन्यास	४	४२	१०२	६४३
पापशुद्धि के उपाय	४	४३		६४५
शिवस्थान	४	४३	२–८२	६४५
व्याघ्रपुर, शिवगंगा	४	४३	८३–१०७	६५४
द्रव्यशुद्धि	४	४४		६५७
दो द्रव्य – आत्मा, अनात्मा	४	४४	२	६५८
सत्ता निर्दुष्ट	४	४४	३–५	६५८
ज्ञान भी दुष्ट नहीं	४	४४	५	६५८
जड में ही दोष	४	४४	६	६५९
ज्ञान की सदोषता औपाधिक	४	४४	९	६६०
आनंद भी निर्दुष्ट	४	४४	१०–१३	६६०
सुख आत्मरूप	४	४४	१४–१५	६६०
आत्मा शुद्ध	४	४४	१६	६६१
आत्मा की औपाधिक अशुद्धि	४	४४	१७	६६१
अशुद्धि-निवृत्ति	४	४४	१७–२१	६६१
परा-अपरा शुद्धि	४	४४	२२	६६२
द्विविध अनात्मा	४	४४	२४	६६२
देहशुद्धि	४	४४	२६	६६३
इन्द्रियशुद्धि	४	४४	२७	६६३
प्राणशुद्धि	४	४४	२८	६६३
मनःशुद्धि	४	४४	२९	६६३
व्यावहारिक शुद्धि	४	४४	३०	६६३

ब्रह्मभावना से शुद्धि	४	४४	३२	६६४
बर्तन आदि की शुद्धि	४	४४	३७	६६५
शौच-आचरण के लिए स्मर्तव्य नियम	४	४४	४२—४३	६६६
अन्न आदि की शुद्धि	४	४४	४३	६६६
वस्त्रादि की शुद्धि	४	४४	४९	६६६
द्रव वस्तुओं की शुद्धि	४	४४	५१	६६७
तैजस आदि पात्रों की शुद्धि	४	४४	५७	६६७
स्पर्शदोष कहाँ नहीं	४	४४	६१	६६८
सर्वदोषनिवर्तक ब्रह्मदृष्टि	४	४४	६४—६६	६६८
कारणाऽभेद विचार से शुद्धि	४	४४	६७	६६९
अभक्ष्य से निवृत्ति	४	४५		६७०
आहारशुद्धि से शिवज्ञान	४	४५	२	६७०
ग्रन्थियाँ (टी.)	४	४५	३	६७०
अभक्ष्यभक्षण से भ्रमज्ञान	४	४५	४	६७०
अज्ञानी के लिए ही अभक्ष्य	४	४५	७	६७१
ज्ञानी के लिए सारा जगत् भोज्य	४	४५	१०	६७१
जगत् भोज्य और भक्षित	४	४५	११	६७२
जगत् का भक्षण और सर्जन	४	४५	१३	६७२
सुषुप्ति में सर्वविलय का अर्थ (हिं.)	४	४५	१३	६७२
स्वस्वरूप का स्वयं भोग	४	४५	१५	६७३
ब्रह्मातिरिक्त सत्ता नहीं	४	४५	१६	६७३
माया अविचारितरूपिणी	४	४५	१८	६७३
बाधित माया की प्रतीति	४	४५	२०	६७४
अखाद्य	४	४५	२४	६७४
वेदबाह्य द्वारा स्पृष्ट खाने योग्य नहीं	४	४५	३४	६७५
पंचनख	४	४५	४१	६७६
मांस न खाना ही स्मृतियों का अभिप्राय (हिं.)	४	४५	४१	६७६
क्षत्रियादि भी अभक्ष्य वर्जन करें	४	४५	४९	६७७

अठारह विद्यायें	४	४५	५३	६७८
मृत्यु के सूचक	४	४६		६७९
अरिष्टों की उपादेयता (टी.)	४	४६	१	६७९
नाना अरिष्ट	४	४६	२–३५	६७९
अरिष्ट ज्ञात होने पर कर्तव्य	४	४६	३६–५४	६८२
व्याघ्रपुरगमन	४	४६	५५–६६	६८४
पापफल	४	४७		६८६
ब्रह्महत्यादि के फल	४	४७	२–२८	६८६
अज्ञान से बंधन	४	४७	२९	६८९
देहादि की दृश्यता	४	४७	३१–३२	६८९
द्रष्टा कभी दृश्य नहीं	४	४७	३३–३८	६९०
जड स्वप्रकाश नहीं	४	४७	३९	६९१
जड-चेतन का वास्तविक संबंध नहीं (टी.)	४	४७	४०	६९२
चेतन की अदृश्यता	४	४७	४१	६९२
चेतन का नित्य भान	४	४७	४२–४३	६९२
वृत्तिज्ञान से नित्यभान का भेद	४	४७	४४	६९३
स्वप्रकाशता	४	४७	४५	६९३
ज्ञाततानिरास (टी.)	४	४७	४५	६९३
दृग्रूप का कर्म से सम्बन्ध नहीं	४	४७	४७–५१	६९४
भ्रम से ही अधिकार व बंधन	४	४७	५२–५४	६९५
कर्मबन्धन से निवृत्ति	४	४७	५५	६९५
पराशक्ति की स्तुति	४	४७	५९–६९	६९६
स्तोत्र की फलश्रुति	४	४७	७०	६९७
ब्रह्मगीता	४ उत्तर	१–१२		६९९
ब्रह्मगीति	ब्र	१		७००
ब्रह्मपुर का वर्णन	ब्र	१	८–२८	७००
ब्रह्मा का वर्णन	ब्र	१	२९–३४	७०१
देवकृत ब्रह्मस्तोत्र	ब्र	१	३९–५८	७०२

वेदार्थ-विचार	ब्र	२		७०४
अवाच्य में शास्त्रप्रवृत्ति (हिं.)	ब्र	२	१	७०४
सृष्टि के पूर्व केवल शिव (ऐतरेयक का विस्तार)	ब्र	२	२	७०४
आत्मशब्दार्थ (टी.)	ब्र	२	२	७०४
ईक्षण	ब्र	२	३	७०४
सृष्टि	ब्र	२	४	७०५
आत्मगृहीति अधिकरण का संक्षेप (टी.)	ब्र	२	४	७०५
जगत्कारणविषयक मतभेद	ब्र	२	५–१०	७०५
शून्य की कारणता कहने का अभिप्राय (हिं.)	ब्र	२	८	७०६
द्विविध परमार्थ	ब्र	२	१७	७०७
व्यावहारिक-प्रातिभासिक विभाजन	ब्र	२	१९–२०	७०८
वेदार्थ	ब्र	२	२१	७०८
मार्गान्तर प्रातिभासिकबोधक	ब्र	२	२२	७०८
दृष्टिभेद से सत्यत्वभेद	ब्र	२	२५–२७	७०८
मिथ्या की सत्योपायता	ब्र	२	२८–२९	७०९
वैदिक के लिये मार्गान्तर हेय	ब्र	२	३०	७०९
पाखण्डी	ब्र	२	३५–५९	७०९
साक्षी शिव का स्वरूप	ब्र	३		७११
ऐतरेयकार्थनिरूपण	ब्र	३	१–३०	७११
क्रियाशक्ति व चिच्छक्तिरूप से प्रवेश (टी.)	ब्र	३	१	७११
स्वतःभान साक्ष्य का नहीं	ब्र.	३	२	७१२
जन्य भान मानने वाले पक्ष की समीक्षा	ब्र.	३	३–१०	७१२
भान नित्य	ब्र.	३	११	७१३
भान साक्षिरूप है	ब्र	३	१२	७१३
परोक्षस्थल में विषय-ज्ञानसम्बन्ध (हिं.)	ब्र.	३	१६	७१४
अनुगत चित्प्रकाश साक्षी है (टी.)	ब्र.	३	१८	७१५
निश्चय-निर्धारण (हिं.)	ब्र.	३	१९	७१५
संज्ञान-निरूपण (हिं.)	ब्र.	३	२०	७१६

स्मृति, मति, बुद्धि, प्रज्ञा (टी.)	ब्र.	३	२१	७१६
शिव सर्वात्मा	ब्र.	३	२५	७१७
प्रज्ञा ही प्रतिष्ठा है	ब्र.	३	२८	७१८
'प्रज्ञानं ब्रह्म' का स्पष्टार्थ (टी.)	ब्र	३	२८	७१८
ज्ञान से मोक्ष	ब्र.	३	२९	७१९
तैत्तिरीयोपनिषद्विवरण	ब्र.	३	३१–११८	७१९
व्याख्येय श्रुतिसंग्रह (टी.)	ब्र.	३	३१	७१९
स्वरूपलक्षण का साधन (टी.)	ब्र.	३	३१	७१९
गुहाशब्दार्थ (टी.)	ब्र.	३	३१	७२०
ब्रह्मज्ञान का फल	ब्र.	३	३२–३३	७२०
'सह' और 'विपश्चिता' का अभिप्राय (टी.)	ब्र.	३	३२	७२०
ब्रह्म से सृष्टि	ब्र.	३	३४	७२१
अज्ञातात्मा से अतिरिक्त अज्ञान नहीं (हिं.)	ब्र.	३	३४	७२१
अभिन्ननिमित्तोपादान (टी.)	ब्र	३	३४	७२१
विवर्तवाद (टी.)	ब्र.	३	३४	७२१
ब्रह्म से ही वायु आदि की उत्पत्ति (टी.)	ब्र.	३	३५	७२२
प्रजापतिकर्तृक भौतिक सर्ग (टी.)	ब्र.	३	३६	७२२
शरीरत्रय, पंचकोश (टी.)	ब्र.	३	३९	७२३
कोशविचार का प्रयोजन (हिं.)	ब्र.	३	३९	७२३
मनोमय	ब्र.	३	४०	७२४
कोशों का भीतरीपन (हिं.)	ब्र.	३	४०	७२४
आनन्दमय	ब्र.	३	४२	७२४
आनंदमय सर्वान्तर है या नहीं – इसकी परीक्षा (टी.)	ब्र.	३	४२	७२४
बाह्य कोश की आंतर कोश से पूर्णता (हिं.)	ब्र.	३	४४	७२६
कोशोपन्यास उपासनार्थ नहीं (टी.)	ब्र.	३	४६	७२६
रसवाक्य क्यों ? (टी.)	ब्र.	३	४६	७२७
रसात्मकता	ब्र.	३	४७	७२७
आनंदरूप आकाश	ब्र.	३	४८	७२७

भय व अभय का हेतु ब्रह्म	ब्र.	३	५०–५२	७२८
परम पद	ब्र.	३	५४	७२८
मननहीन को ब्रह्म से भय	ब्र.	३	५५	७२८
अभेद से अभय (हिं.)	ब्र.	३	५५	७२८
आनन्दमीमांसा	ब्र.	३	५७	७२९
जीव-ईश्वर का अभेद	ब्र.	३	५९	७२९
विवेकपूर्वक साक्षिबोध	ब्र.	३	६०	७३०
उपसंक्रमण	ब्र.	३	६२–६३	७३०
शब्द की अप्रवृत्ति	ब्र.	३	६४	७३०
विधि में लक्षणा कैसे ? (टी.)	ब्र.	३	६५	७३१
ब्रह्मचिंतन का उपपादन (टी.)	ब्र.	३	६७	७३१
ज्ञानी को ताप नहीं	ब्र.	३	६८	७३२
मुक्त का अनुभव	ब्र.	३	६९–१०५	७३२
उक्त अनुभववश सविशेषता नहीं	ब्र.	३	१०६–१०७	७३३
ईश्वरगीति का निर्देश	ब्र.	३	१०९–१११	७३४
गीतमाहात्म्य	ब्र.	३	११२–११७	७३५
तलवकारोपनिषत् (केनोपनिषत्) का व्याख्यान	ब्र.	४		७३६
स्वतःसिद्ध देव है	ब्र.	४	१	७३६
वही मन आदि का प्रेरक है	ब्र.	४	२	७३६
इन्द्रियाँ और उनका प्रेरक (हिं.)	ब्र.	४	३	७३६
मन आदि आत्मा में कल्पित	ब्र.	४	५	७३७
श्रोत्रादि का सामर्थ्यप्रदाता	ब्र.	४	६	७३७
मनका मन	ब्र.	४	७	७३७
इंद्रियो का व मन का अविषय	ब्र.	४	१०	७३८
विदित-अविदित से अन्य	ब्र.	४	११	७३८
आत्मा ही ब्रह्म	ब्र.	४	११–१३	७३८
धीर	ब्र.	४	१४	७३९
सुज्ञात मानना	ब्र.	४	१५	७३९

अविषयरूप से ज्ञात	ब्र	४	१६	७३९
'अविषय' का भी अविषय (हिं.)	ब्र	४	१६	७३९
प्रकाश-अव्यभिचार से मत	ब्र	४	१८	७४०
कर्तृतया भान गलत	ब्र	४	१९	७४०
विद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध नहीं (टी.)	ब्र	४	२६	७४१
प्रत्यगात्मा में अविद्या नहीं	ब्र	४	२७–३०	७४२
प्रकाशाद्वैत	ब्र	४	३१	७४३
मौन ही संगत	ब्र	४	३२	७४३
ज्ञानी के लिए क्रियादि नहीं	ब्र	४	३५	७४३
जीवित रहते ही ज्ञान पा लेना चाहिये	ब्र	४	४४–४५	७४५
विद्याफल	ब्र	४	४६	७४५
स्वप्नवत् बद्ध-मुक्तव्यवस्था	ब्र	४	४७	७४६
विद्वत्प्रवृत्ति की उपपत्ति (हिं.)	ब्र	४	४८	७४६
एक आत्मा बद्ध और मुक्त कैसे (टी.)	ब्र	४	४८–४९	७४६
यावत्प्रारब्ध अनुभूतियाँ	ब्र	४	५०–५४	७४७
ब्रह्मातिरिक्तका दर्शन नहीं	ब्र	४	५५–५६	७४८
विद्वान् की सदा समाधि	ब्र	४	५८	७४८
अभेद भी आध्यासिक	ब्र	४	६१	७४९
शिव से अतिरिक्त माया नहीं	ब्र	४	६३	७४९
सब प्रमाणों की परम निष्ठा	ब्र	४	६७–७०	७५०
ज्ञान शिव को ही	ब्र	४	७१	७५०
शिवकृपा से ही ज्ञान	ब्र	४	७३–८५	७५१
यक्षकथा	ब्र	४	८६	७५२
गुरु के आलोकन से रुद्रप्रसाद	ब्र	४	११९	७५६
प्रसाद के लिंग	ब्र	४	१२१–१२४	७५६
परमाद्वैतविज्ञानी की प्रशंसा	ब्र	४	१४१–१४६	७५८
विद्याप्रतिबन्धक	ब्र	४	१४७–१५१	७५९
ज्ञाननिष्ठा होने का विधान	ब्र	४	१५२	७५९

आदेशकथन (छान्दोग्य षष्ठ व सप्तम का संग्रह)	ब्र	५		७६0
आदेश का वैशिष्ट्य	ब्र	५	२	७६१
कार्य की कारण से अनन्यता	ब्र	५	३—४	७६१
कार्य-कारण का भेद अंसगत	ब्र	५	५	७६१
ध्वंस कार्य नहीं	ब्र	५	१४	७६३
कार्य सदसदात्मक नहीं	ब्र	५	१९	७६५
भ्रमसिद्ध भेद	ब्र	५	२१—२२	७६५
विकार वाचारंभण	ब्र	५	२३	७६५
कार्य के दो रूप (टी.)	ब्र	५	२४	७६६
कारणविज्ञान से सर्वविज्ञान	ब्र	५	२६	७६६
भेदनिराकरण	ब्र	५	२८	७६७
अभिन्न-निमित्तोपादान	ब्र	५	३१—३२	७६७
माया नहीं मायी कारण (हिं.)	ब्र	५	३४	७६९
असत्कारणनिरास	ब्र	५	३७—४५	७६९
अभावकारणता और प्रतिबंधकाभावकारणता का खण्डन (हिं.)	ब्र	५	३९—४0	७७0
सृष्टि	ब्र	५	४७	७७२
गुणोपसंहार (टी.)	ब्र	५	४८	७७३
पंचीकरण	ब्र	५	५0—५४	७७३
नाम-रूपव्याकरण	ब्र	५	५६	७७४
कारण-अव्यतिरेक का उपपादन	ब्र	५	५८	७७५
अनादि भ्रम	ब्र	५	६४	७७६
सत्यवस्तु का ज्ञान भ्रम के लिये अनावश्यक (हिं.)	ब्र	५	६४	७६६
श्वेतकेतुविद्या	ब्र	५	७५	७७८
महावाक्याविवरण (हिं.)	ब्र	५	७५	७७८
त्वम् व अहम् शब्दों का अर्थ	ब्र	५	७६	७७९
लक्ष्यार्थ	ब्र	५	७७	७८0
वाच्यों की एकता अनिष्ट	ब्र	५	७८	७८१

वाक्यार्थ	ब्र	५	८२	७८१
स्वप्रकाशतासमर्थन	ब्र	५	८३	७८२
अज्ञान यह वार्ता भी व्यर्थ	ब्र	५	८७	७८३
श्रुति में अन्यार्थवर्णन तात्पर्यतः नहीं	ब्र	५	१००–१०६	७८७
अनुसंधान का प्रकार	ब्र	५	१०९	७८८
भावना की अपेक्षा नहीं	ब्र	५	१२३	७९१
तत्त्वमसिपर्यायों का संग्रह (टी.)	ब्र	५	१२६	७९२
ईश्वरोपदेश (भूमविद्या)	ब्र	५	१४६–१७६	७९५
आत्मेतरविद्यावैयर्थ्य	ब्र	५	१८९–१९०	८०१
भेद में अल्पता	ब्र	५	१९१	८०२
भूमा सुख	ब्र	५	१९३	८०३
दहरोपासना	ब्र	६		८०४
ब्रह्मपुर में आकाश (हिं.)	ब्र	६	१	८०४
आत्मा में स्वाभाविक संकोच नहीं	ब्र	६	३	८०५
साक्षी को ज्ञात व अज्ञात रूप से सब का भान	ब्र	६	४	८०५
बाह्यप्रकाश की अन्तराकाश में समानता	ब्र	६	९	८०६
अपहतपाप्मत्वादि	ब्र	६	१०–११	८०६
पुण्यप्राप्य फल क्षयिष्णु	ब्र	६	१२	८०७
सौषुप्त ब्रह्मप्राप्ति व्यर्थ क्यों ?	ब्र	६	१५–१६	८०७
हृदयशब्दार्थ	ब्र	६	१७	८०८
ब्रह्मप्राप्तिप्रकार	ब्र	६	१८–१९	८०८
ब्रह्म सेतु	ब्र	६	२१	८०९
प्रजापति का उपदेश	ब्र	६	२५	८१०
सशरीर की दुःखनिवृत्ति नहीं	ब्र	६	२८	८१०
ब्रह्म की कार्यों में अनुगति	ब्र	६	३३–३७	८११
शिव की सर्वोत्कृष्टता	ब्र	६	५४	८१४
वस्तु का स्वरूप (मुण्डकोपनिषत्)	ब्र	७		८१५
अक्षर तत्त्व	ब्र	७	१	८१५

एक विज्ञान से सर्वविज्ञान	ब्र	७	२	८१५
परा व अपरा विद्या	ब्र	७	३	८१५
अद्रेश्य आदि विशेषण	ब्र	७	६–७	८१६
भूतयोनि में दृष्टान्त	ब्र	७	८–९	८१७
संसारमिथ्यात्व (हिं.)	ब्र	७	८	८१७
जगदुत्पत्तिक्रम	ब्र	७	१०	८१७
त्रिविध, द्विविध व एक सत्ता (हिं.)	ब्र	७	१२	८१८
ज्ञान से ही मोक्ष, कर्म से नहीं	ब्र	७	१३–२१	८१८
जीवों का शिव से अव्यतिरेक	ब्र	७	२३	८२०
निरुपाधिस्वरूप	ब्र	७	२४	८२०
विराट् भी शिव से उत्पन्न	ब्र	७	२६	८२१
'रूपोपन्यास' ब्रह्मसूत्र पर विचार, भाष्यसामंजस्य (हिं.)	ब्र	७	२६	८२१
पंचाग्निक्रम	ब्र	७	२७	८२२
पुरुष ही सब कुछ	ब्र	७	३२–३३	८२३
लक्ष्यवेधन	ब्र	७	३५–३७	८२४
अरणिमन्थन	ब्र	७	३८	८२४
अन्यवाग्विमोक	ब्र	७	४०	८२५
मनोमय अक्षर	ब्र	७	४२	८२५
ज्योतियों का ज्योति	ब्र	७	४४	८२६
शिव का अनुभान अन्य करते हैं	ब्र	७	४६	८२६
दो सुपर्ण	ब्र	७	४९	८२७
व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव (हिं.)	ब्र	७	५३	८२८
वीतशोकता	ब्र	७	५८–६०	८२९
मुक्ति	ब्र	७	६१–६३	८३०
परमसाम्य	ब्र	७	६४–७३	८३०
आत्मरति आदि	ब्र	७	७४–७५	८३३
विद्या के सहकारी साधन	ब्र	७	७७	८३३
विद्या के असाधारण हेतु	ब्र	७	८१	८३४

आत्मवेत्ता सदा पूज्य	ब्र	७	८५	८३५
प्रवचन आदि साधन नहीं	ब्र	७	८६	८३५
मुमुक्षा (हिं.)	ब्र	७	८६	८३५
संन्यास	ब्र	७	८७	८३६
तपःशब्द का अर्थ (हिं.)	ब्र	७	८७	८३६
'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' आदि वाक्य	ब्र	७	८९	८३६
कलाविलय	ब्र	७	९०	८३७
एकीभाव में दृष्टांत	ब्र	७	९१	८३८
ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म	ब्र	७	९२	८३८
तत्त्ववेदनविधि (कैवल्योपनिषत्)	ब्र	८		८३९
तत्त्व वेदनीय	ब्र	८	१	८३९
श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, योग (टी.)	ब्र	८	३	८३९
योगोपदेश	ब्र	८	६	८४०
ब्रह्मा, इन्द्र आदि एक ही तत्त्व हैं	ब्र	८	१४–१५	८४१
ज्ञानातिरिक्त मोक्षमार्ग नहीं	ब्र	८	१६	८४२
अवस्थात्रय	ब्र	८	२०–२३	८४३
दुःख आभास को, लीला (हिं.)	ब्र	८	२५	८४३
शिव निर्दुःख	ब्र	८	२६	८४४
विश्व, तैजस, प्राज्ञ	ब्र	८	३१	८४५
जीव-ईश्वर-एकत्व	ब्र	८	३५	८४६
'तत्त्वमसि' का बोधक्रम (हिं.)	ब्र	८	४१	८४७
माया, अविद्या	ब्र	८	४२	८४८
'वह तू, तू वह' का अर्थ	ब्र	८	४४	८४८
जीवन्मुक्त का अनुसंधान	ब्र	८	४६	८४९
शिव विशेष चिन्तनीय	ब्र	८	५४	८५०
बृहदारण्यकोपनिषद्व्याख्या (मैत्रेयी ब्राह्मण)	ब्र	९		८५०
आनंद परप्रेमास्पद	ब्र	९	१	८५०
स्वप्रकाश आनंद (हिं.)	ब्र	९	१	८५०

सब अपने लिए प्रिय	ब्र	९	२–१३	८५१
श्रवणादि विधेय, उनका स्वरूप (हिं.)	ब्र	९	१५	८५३
श्रवण अंगी (टी.)	ब्र	९	१५	८५३
ज्ञान से दुःखनिवृत्ति व परमानंदप्राप्ति	ब्र	९	१६–१७	८५४
भेददर्शन से हानि	ब्र	९	१८	८५४
अन्यबुद्धि संसारहेतु है	ब्र	९	२२	८५५
संसार-उच्छेद	ब्र	९	२३	८५५
अन्य शास्त्रों का परस्पर सामंजस्य नहीं	ब्र	९	२५–२८	८५६
अद्वैत प्रशंसा	ब्र	९	३५–४५	८५७
भेदाभेदनिरास	ब्र	९	४६	८५९
द्वैतवादनिरास	ब्र	९	४७	८५९
ज्ञानी दुर्लभ	ब्र	९	४९	८५९
अवाच्य निष्ठा	ब्र	९	५६	८६१
बृहदारण्यव्याख्यान (तृतीय व चतुर्थ अध्याय का सार)	ब्र	१०		८६१
उषस्तब्राह्मण का संग्रह	ब्र	१०	१–७	८६१
आत्मसंनिधि से सकल चेष्टा	ब्र	१०	२	८६२
अहमर्थ	ब्र	१०	४	८६२
गौण व मिथ्या का भेद (हिं.)	ब्र	१०	४	८६३
दृष्टि का द्रष्टा	ब्र	१०	६	८६३
नित्य व अनित्य दृष्टि (हिं.)	ब्र	१०	६	८६३
वृत्ति, आकार, प्रकार (हिं.)	ब्र	१०	६	८६३
गार्गीब्राह्मण का संग्रह	ब्र	१०	८–१९	८६५
ओत-प्रोत का अभिप्राय (हिं.)	ब्र	१०	८	८६५
साक्षी किसी में स्थित नहीं	ब्र	१०	१८	८६७
अन्तर्यामी ब्राह्मण	ब्र	१०	२०–२६	८६७
लोकनियन्तृता (हिं.)	ब्र	१०	२०	८६८
नियम्य-नियामक भेद से अद्वैतक्षति नहीं (हिं.)	ब्र	१०	२०	८६८
अदृष्ट द्रष्टा	ब्र	१०	२६	८६९

ज्योतिर्ब्राह्मण	ब्र	१०	२७–३३	८७०
अनन्यत्व	ब्र	१०	२७	८७०
ज्योतिर्ब्राह्मण का संक्षिप्त प्रतिपाद्य (टी.)	ब्र	१०	२७	८७०
ज्ञाताज्ञातरूप से साक्षी की सर्वज्ञता	ब्र	१०	३०	८७१
द्रष्टा की अनश्वर दृष्टि	ब्र	१०	३२	८७१
परा संपत्, परा गति	ब्र	१०	३३	८७२
ज्ञानी को शरीर में आत्मबुद्धि नहीं	ब्र	१०	३४	८७२
'नेह नानास्ति'	ब्र	१०	३५	८७२
एकधा दर्शन	ब्र	१०	३७	८७३
शास्त्र से जानकर साक्षात्कार करना ('विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत')	ब्र	१०	३८	८७३
महान् अज आत्मा	ब्र	१०	३९	८७३
निरंकुश ईशानता	ब्र	१०	४०	८७४
सेतुता का अभिप्राय (टी.)	ब्र	१०	४२	८७४
विविदिषु	ब्र	१०	४३	८७४
निषेधमुख से प्रतिपादन	ब्र	१०	४४	८७५
ब्रह्मवेत्ता की नित्य महिमा	ब्र	१०	४६	८७६
शम, दम आदि	ब्र	१०	४७	८७६
विद्वान् का कर्मों से संबंध नहीं	ब्र	१०	५०	८७७
गुरु के लिए सर्वस्व प्रदेय	ब्र	१०	५१	८७७
गुरुद्रोह का निषेध	ब्र	१०	५२	८७८
कठवल्ली और श्वेताश्वतरोपनिषत् की व्याख्या	ब्र	११		८७९
कठोपनिषत् का संग्रह	ब्र	११	१–५६	८७९
गुहानिहित गूढ तत्त्व	ब्र	११	१	८७९
आनुमानिकाधिकरण का संग्रह (हिं.)	ब्र	११	१	८७९
परतत्त्व धर्मादि से परे	ब्र	११	२	८८०
सर्ववेदप्रतिपाद्य	ब्र	११	३	८८०
अक्षर ब्रह्म	ब्र	११	४	८८०
श्रेष्ठ आलंबन	ब्र	११	५	८८१

ज्ञातव्य का स्वरूप	ब्र	११	६–८	८८१
‘मदन्य’ नहीं जान सकता	ब्र	११	९	८८२
शरीरों में अशरीर	ब्र	११	१०	८८२
ब्रह्मज्ञान के लिए प्रयास नहीं (हिं.)	ब्र	११	११	८८३
दुराचारत्याग आवश्यक	ब्र	११	१२	८८३
शरीरधारी और शंकर	ब्र	११	१४	८८४
गुहाधिकरण का विस्तृत निरूपण (हिं.)	ब्र	११	१४	८८५
रथरूपक	ब्र	११	१६	८८७
परमपद	ब्र	११	२४	८८८
इंद्रियादि से पुरुष की परता	ब्र	११	२५–२६	८८९
पुरुषनिरुक्ति	ब्र	११	२७	८९०
दर्शनोपाय	ब्र	११	२९	८९०
अशब्दादि स्वरूप	ब्र	११	३०	८९१
पराङ्मुख इंद्रियाँ	ब्र	११	३१	८९१
अधिगमोपय	ब्र	११	३३	८९२
साक्षी	ब्र	११	३४	८९३
भेददर्शन मृत्युहेतु	ब्र	११	३७	८९३
भेदोपलब्धि का उपपादन	ब्र	११	३८	८९४
नित्यों का नित्य	ब्र	११	४२	८९६
प्रमाण के बिना सिद्धि (हिं.)	ब्र	११	४३	८९६
सूर्यादि शिव को विषय नहीं करते	ब्र	११	४४	८९६
सनातन अश्वत्थ	ब्र	११	४५	८९७
महाभयहेतु	ब्र	११	४७	८९८
शरीर रहते मोक्ष पा लेवे	ब्र	११	४९	८९८
विवेक	ब्र	११	५३	८९९
मनीषा और मनन की साधनता	ब्र	११	५५	९००
श्वेताश्वतरोपनिषदर्थविस्तर	ब्र	११	५७–७१	९०२
प्रकृति अश्रौत, श्वेताश्वतर में माया (हिं.)	ब्र	११	५७	९०१

ब्रह्म के विविध रूप	ब्र	११	५८	१०३
ब्रह्मचक्र (संसारचक्र)	ब्र	११	५९	१०३
जीव-ईश्वर का अभेद	ब्र	११	६०	१०३
क्षर-अक्षर	ब्र	११	६१	१०४
ज्ञानफल	ब्र	११	६२	१०४
भोक्ता, भोग्य, प्रेरिता	ब्र	११	६३	१०४
प्रणव से ब्रह्मबोध	ब्र	११	६४	१०५
सत्यादि साधन	ब्र	११	६६	१०६
दूध में घी की तरह आत्मा सर्वव्यापक	ब्र	११	६७	१०६
उपनिषत् शब्दार्थ (टी.)	ब्र	११	६७	१०६
ज्ञान से ही मोक्ष	ब्र	११	६८	१०७
अत्याश्रम	ब्र	११	७०	१०८
देव व गुरु में भक्ति अनिवार्य	ब्र	११	७१	१०८
शिव अहम्प्रत्ययाश्रय	ब्र	१२		१०८
प्रत्यग्ब्रह्माभेद	ब्र	१२	२	१०९
मुमुक्षा, शमादि	ब्र	१२	४	१०९
परा विद्या से अविद्याविलय	ब्र	१२	७–८	१०९
उपलक्षणनिरूपण (हिं.)	ब्र	१२	७	१०९
भाव और अभाव दोनों नहीं बचते	ब्र	१२	९	११०
अविद्यानिवृत्ति अतात्त्विक	ब्र	१२	१०	१११
ज्ञान-अज्ञान	ब्र	१२	१३	१११
उपकारक अज्ञान	ब्र	१२	१४	१११
सत्यत्व के अभ्युपगम से साधनोपदेश	ब्र	१२	१५	१११
संसार का प्रवर्तक व निवर्तक	ब्र	१२	१६	१११
चित्तपाकानुसार उपदेश	ब्र	१२	१७–१९	११२
निर्वाणनिष्ठ परयोगी	ब्र	१२	२०–२६	११२
गुरुसेवा	ब्र	१२	३०–३७	११३
गुरु कौन ?	ब्र	१२	४१–४४	११४

साम्प्रदायकिता-प्रतिज्ञा	ब्र	१२	४८	११६
अनिश्चय से मूर्धापात	ब्र	१२	५३	११७
शंकर-नृत्य	ब्र	१२	६१	११८
ब्रह्मगीता की फलश्रुति	ब्र	१२	६८	११९
पाठनाधिकारी	ब्र	१२	७०	११९
सूतगीता	सू	१–८		१२१
सूतगीति	सू	१		१२१
मुनिकृत सूतस्तव	सू	१	४–११	१२१
संसार हेय (हिं.)	सू	१	७	१२२
आत्मा से सृष्टि	सू	२		१२७
स्वतःसिद्ध कर्ता	सू	२	२	१२७
आत्मा सच्चिदानन्द (हिं.)	सू	२.	२	१२७
पाश	सू	२	३	१२८
पशु, शिव	सू	२	५	१२८
संसारबीज	सू	२	७	१२८
जीवभेद, परमात्मभेद	सू	२	८–९	१२९
कारण, ज्ञाता, अंतर्यामी, साक्षी (हिं.)	सू	२	९	१२९
जीवेश्वर-विभाग	सू	२	१०	१२९
जीवभेद में हेतु	सू	२	१३	१३०
परमेश्वरभेद में हेतु	सू	२	१४	१३०
रुद्रादि की उच्चावचता	सू	२	१५	१३०
रुद्र की सात्त्विकता	सू	२	१५	१३०
विष्णु तामस	सू	२	१६	१३१
त्रिमूर्ति का परतत्त्व से अभेद	सू	२	२०–२१	१३१
रुद्रोत्कर्ष	सू	२	२३–३१	१३२
रुद्रपूजा उत्तम-साधन	सू	२	३२	१३३
गलत निश्चय से संसरण	सू	२	३५–३६	१३३
रुद्र सात्त्विक	सू	२	४०	१३४

शिवज्ञान मुक्तिसाधन	सू	२	४६	१३५
हरि, ब्रह्मा आदि ईश्वर ही हैं, जीव नहीं	सू	२	५१	१३६
पौराणिक लीलाओं का सामंजस्य	सू	२	५५—५८	१३६
अद्वैत का गलत प्रयोग	सू	२	६३	१३७
ऐक्य और असमानता की उपपत्ति (हिं.)	सू	२	६३	१३७
पौराणिक आदि वाक्यों का समन्वय	सू	२	६७—६९	१३८
सब कुछ शिव है	सू	२	७३	१३९
सामान्य सृष्टि	सू	३		१४१
शिव से सृष्टि का आविर्भाव	सू	३	१	१४१
अद्वितीय निर्मल शिव कारण	सू	३	२	१४१
अजाति और अध्यारोप (हिं.)	सू	३	४	१४१
तर्क अस्वतन्त्र	सू	३	६	१४२
वेदप्रामाण्य--नैयायिक, मीमांसक और वेदान्तियों के मत से (हिं.)	सू	३	७	१४२
अनादिश्रुति प्रमाण	सू	३	८	१४३
स्वतः या परतः दोष असंभव	सू	३	९—१५	१४३
स्वतः प्रामाण्य (हिं)	सू	३	१६	१४४
आप्तत्वपरीक्षा (हिं.)	सू	३	१७	१४५
शिव की आप्तता	सू	३	१८	१४६
वस्तुतः वेद अनादि	सू	३	२१	१४६
शास्त्रीय अर्थ में तर्कमूलक प्रश्नों का अवसर नहीं (हिं.)	सू	३	२६	१४७
शिवस्वरूप में श्रुति ही प्रमाण	सू	३	२८	१४८
विवर्ताश्रयण	सू	३	२९	१४९
माया	सू	३	३०	१४९
वेद ही निर्विरुद्ध प्रमाण	सू	३	३३	१५०
शिवेद्ध वेद	सू	३	३८	१५१
वेद के बिना शिव प्रमाण नहीं	सू	३	४०	१५१
शिवभक्त स्वतंत्र	सू	३	४७	१५२
ज्ञान से ही मोक्ष	सू	३	५२	१५३

अद्वैतविज्ञान में प्रमाण	सू	३	५३	१५३
तर्क से अखण्ड्य	सू	३	५४	१५३
भेदाभेद-निरास	सू	३	५७—६१	१५४
प्रसाददौर्लभ्य	सू	३	६४	१५५
विशेषसृष्टि	सू	४		१५६
अभिन्न मायी जगत्कर्ता	सू	४	१	१५६
माया परतंत्र है (टी.)	सू	४	१	१५६
शिव व माया में भेदकल्पना	सू	४	२	१५६
अनुप्रवेश	सू	४	५	१५७
रुद्रादि	सू	४	६	१५७
परमात्मा से ही भूतसृष्टि	सू	४	१०	१५८
गुण-गुणिभाव वैशैषिकों की तरह नहीं (हिं.)	सू	४	१०	१५८
अंतःकरणादिसृष्टि	सू	४	११	१५८
रुद्रादि औपचारिक स्रष्टा	सू	४	१६	१५९
समष्टि से व्यष्टि की उत्पत्ति	सू	४	१७	१५९
ज्ञानेन्द्रियादि के देवता	सू	४	२३	१६०
स्थूलसृष्टि	सू	४	२८	१६१
मायिक सब माया ही	सू	४	३२	१६२
माया भी शिव ही	सू	४	३३	१६२
जगदात्मदर्शन से बंधन; सर्वब्रह्म दर्शन से मोक्ष	सू	४	३७—४०	१६३
ज्ञानसोपानक्रम (टी.)	सू	४	४१	१६४
सद्योमुक्ति का हेतु	सू	४	४२	१६४
न देखते हुए देखना	सू	४	४३	१६४
जीवन्मुक्ति की स्थिति	सू	४	४४—४५	१६४
स्वप्रकाशता (हिं.)	सू	४	४८	१६५
आत्मस्वरूप	सू	५		१६६
अहमर्थविवेक	सू	५	२	१६६
इदमर्थ अनात्मा, अहमर्थ आत्मा	सू	५	७—८	१६७

शरीर द्विविध बुद्धिका विषय	सू	५	९	१६७
बुद्धि जड है	सू	५	१४	१६८
आत्मा ही अहमर्थ	सू	५	१८	१६९
स्वप्रकाशतासाधन	सू	५	१९	१६९
वृत्ति का विनियोग	सू	५	२०	१६९
चैतन्य ही भासक	सू	५	२१	१७०
भ्रम से कर्तृत्वादि	सू	५	२५	१७०
'गौः' ज्ञान का विषय है गोत्व	सू	५	२८	१७१
अहंबुद्धि भिन्नविषयक नहीं	सू	५	२९	१७१
अहंशब्द की भिन्नार्थता की उपपत्ति	सू	५	३०	१७२
आकृति से शब्द का संबंध, व्यक्ति से नहीं	सू	५	३१–३२	१७२
चिदात्मा ही अहंशब्दार्थ	सू	५	३५–३८	१७३
अहंकार अहंशब्द का गौण अर्थ	सू	५	३९	१७३
आत्मस्वरूप	सू	५	४१–४२	१७४
साक्षी ब्रह्म	सू	५	४५	१७४
वाक्यार्थ	सू	५	४८	१७५
ज्ञाननिष्ठा में क्रम	सू	५	५०	१७५
साधनसंक्षेप	सू	५	७१	१७८
सर्वशास्त्रार्थसंग्रह	सू	६		१७९
साक्षाद् भी आत्मा दुर्दर्श	सू	६	२–५	१७९
सच्चिदानंद साम्बमूर्ति	सू	६	१२	१८१
अवतार भी ईश्वर, न कि जीव	सू	६	१४	१८१
जीवेश्वरभेदनिरास	सू	६	१५	१८१
विष्णु आदि उपास्य	सू	६	१९	१८२
परतत्त्व प्राधान्येन ध्येय	सू	६	२३	१८२
कार्यदेवता अप्रधानतया ध्येय	सू	६	२४–३०	१८२
सब छोड़कर एक शिव ही ध्येय	सू	६	३१	१८३
आथर्वण द्रुम	सू	६	३३–३५	१८४

रहस्यविचार	सू	७		९८५
ध्यानादि साधनविधि	सू	७	२–२३	९८५
ज्ञानियों में देवतावस्थान	सू	७	२४	९८८
साधकों में देवतावस्थान	सू	७	२५	९८९
तांत्रिकों में देवतावस्थान	सू	७	२६	९८९
लौकिकों में देवतावस्थान	सू	७	२७	९८९
किसी का अवमान न करे	सू	७	२९	९८९
अप्रियभाषण न करे	सू	७	३१	९८९
हिंसा न करे	सू	७	३२	९८९
अंकन न करे	सू	७	३३	९८९
सर्ववेदान्तसंग्रह	सू	८		९९०
शिव की असाधारण मूर्ति	सू	८	२	९९०
परतत्त्व की विभूतियाँ	सू	८	४	९९०
सद्विलक्षण माया	सू	८	५	९९१
ज्ञान से ही मोक्ष	सू	८	६	९९१
वास्तविक प्रमा (हिं.)	सू	८	७	९९२
यज्ञादि विविदिषाहेतु	सू	८	८	९९२
ज्ञान के अंग	सू	८	११	९९३
वक्तव्य की समाप्ति	सू	८	२२	९९४
अधिकारिभेद से शास्त्रभेद	सू	८	२५	९९५
वैदिक के तुल्य कोई नहीं	सू	८	५०–६१	९९८
व्यासकथन	सू	८	६७	१०००
सूतगीता की फलश्रुति	सू	८	७८–८१	१००१
यज्ञवैभवखण्ड की फलश्रुति	सू	८	८२–८३	१००२
सूतसंहिता की महत्ता	सू	८	८४–८५	१००२
सूतसंहिता की फलश्रुति	सू	८	८६–८७	१००३
ग्रन्थान्त में मंगल	सू	८	८८–९१	१००३

सूतसंहिता
प्रथमं शिवमाहात्म्य-खण्डम्
प्रथमोध्यायः—ग्रंथावतारः

[1] *ऐश्वरं परमं तत्त्वमादिमध्यान्तवर्जितम् । आधारं सर्वलोकानामनाधारमविक्रियम् ॥१॥*

श्रीमाधवाचार्यप्रणीता तात्पर्यदीपिका

प्रणमामि परं ब्रह्म यतो व्यावृत्तवृत्तयः । अविचारसहं[2] वस्तु विषयीकुर्वते धियः[3] ॥ १ ॥

श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना । श्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवानिष्णातचेतसा ॥ २ ॥

वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा । **तात्पर्यदीपिका** सूतसंहिताया विधीयते ॥ ३ ॥

क्रियते तत्तत्प्रकरणतात्पर्यप्रथनपूर्वकं विशदम् । विषमपदवाक्यविवरणं[4] मन्दधियामनुग्रहाय भक्त्या च ॥ ४ ॥

इह हि भगवान् बादरायणो लोकानुग्रहैकरसिकतया परशिवस्वरूपाविष्करणप्रधानां संहितामारभमाणो महतः पुरुषार्थस्य प्रत्यूहप्राचुर्यात् तन्निवृत्तये शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकं परशिवस्य प्रणिधानप्रणामलक्षणं मङ्गलाचरणं स्वयं कृतं शिष्यशिक्षायै ग्रन्थादावुपनिबध्नाति— **ऐश्वरमिति** श्लोकद्वयेन । द्विविधं हि पारमेश्वरं रूपम्— निष्कलं, सकलं च । तत्र निष्कलं-शुद्धम् । सकलं शम्भुलिङ्गमूर्तिरूपम् । स्वप्रकाशाऽखण्डसच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं स्वप्रतिपत्तिफलं, तत्प्रणिधानं प्रथमार्धेन । निष्कलस्वरूपं बोधानन्दमयं प्रणिधेयत्वेनोक्तं शैवागमे

'परैक्यप्रापकं ज्ञानं वच्मि सम्यग्घिताय वः । चिदानन्दघनं पूर्णं प्रत्यग्ब्रह्मात्मना स्थितम् ॥

परे व्योम्नि शिखान्तस्थः निष्कलः परमः शिवः । चिदानन्दघनः सूक्ष्मः सर्वभूतानुकम्पया' ॥ इति ।

तथा सोमशंभुनापि 'जगन्मूलमकर्तारं बोधानन्दमयं विभुम् । निष्कलं स्वप्रकाशं च संचिन्त्य परमं शिवम्' ॥ इति ।

तत्रैव—'वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः । बुभुत्सायास्तथा ज्ञोऽस्मीत्यापातज्ञानवस्तुनः ॥

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु । साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥

आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना । सर्वसम्बन्धवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥

जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः । इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः' ॥

तदुक्तं मृगेन्द्रसंहितायां शिवं प्रकृत्य 'जगज्जन्मस्थितिध्वंसतिरोभावैककारणम् । भूतभौतिक भावानां नियमस्यैतदेव हि' ॥ इति ।

तत्र **ऐश्वरं** रूपमपरमचलतनयाद्युपाधिविशिष्टम् । **परमं** निरस्तसमस्तोपाधिकं स्वप्रतिष्ठमखण्डं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं

आनन्दाश्रमसंस्कारोक्तपाठान्तरदर्शनम् ।
टिप्पण्यां क्वचिदन्येषां विषयाणां प्रदर्शनम् ॥

१ इतः पूर्वमेकादश पद्यानि क्वचित् मङ्गलाचरणरूपेणोपलभ्यन्ते—

सौम्यं महेश्वरं साक्षात्सत्यविज्ञानमद्वयम् । वन्दे संसाररोगस्य भेषजं परमं मुदा ॥१॥
यस्य शक्तिरुमा देवी जगन्माता त्रयीमयी । तमहं शंकरं वन्दे महामायानिवृत्तये ॥२॥
यस्य विघ्नेश्वरः श्रीमान्पुत्रः स्कन्दश्च वीर्यवान् । तं नमामि महादेवं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥३॥
यस्य प्रसादलेशस्य लेशलेशलवांशकम् । लब्ध्वा मुक्तो भवेज्जन्तुस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥४॥
यस्य लिङ्गार्चनेनैव व्यासः सर्वार्थवित्तमः । अभवत्तं महेशानं प्रणमामि घृणानिधिम् ॥५॥
यस्य मायामयं सर्वं जगदीक्षणपूर्वकम् । तं वन्दे शिवमीशानं तेजोराशिमुमापतिम् ॥६॥
यः समस्तस्य लोकस्य चेतनाचेतनस्य च । साक्षी सर्वान्तरः शंभुस्तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥७॥
यं विशिष्टजनाः शान्ता वेदान्तश्रवणादिना । जानन्त्यात्मतया वन्दे तमहं सत्यचित्सुखम् ॥८॥
हरभक्तो हिरण्याक्षः शैवपूजापरायणः । क्लान्ताक्लेशहरः (!) क्लीव ईशपूजापरायणः ॥९॥
ॐकारवल्लभो लुब्धो लोलुपो लोललोचनः । महाप्राज्ञो महाधीमान्महाबाहुर्महोदरः ॥१०॥
शक्तिमाञ्शक्तिदः शङ्कुः शङ्कुकर्णः शनैश्चरः । भगवान्भग्नपापश्च भवो भवभयापहः ॥११॥

२ ङ. "चारास" । ३ घ. धिया । ४ ग. "णं सुधिया" ।

अनन्तानन्दबोधाम्बुनिधिमद्भुतविक्रमम् । अम्बिकापतिमीशान[1]मनीशं प्रणमाम्यहम् ॥२॥

सत्रावसाने मुनयो विशुद्धहृदया भृशम् । नैमिषीया महात्मानमागतं रोमहर्षणम् ॥ ३ ॥

तत्तत्त्वम् त्रैकालिकबाधशून्यम् । मिथ्याभूतपरिकल्पितस्वरूपमायातत्कार्यसंस्पर्शविरहात् । ननु मायाकार्येण कालेनावच्छेदादेव कथं तदसंस्पर्श इति तत्राऽऽह–**आदीति** । स्वप्रागभावावच्छिन्नो भूतकाल आदिः । स्वावच्छिन्नो वर्तमानकालो मध्यः । स्वप्रध्वंसावच्छिन्नो भविष्यत्कालोऽन्तः । एतत्त्रितयवर्जितम् । कलातत्त्वसहभावि हि कालतत्त्वम् । उक्तं हि–'पुंसो जगत्कर्तृत्वार्थं मायातस्तत्त्वपञ्चकं भवति कालो नियतिश्च तथा भूतयदृच्छास्वभावाश्च'इति । तथा च कलासहभावी काल एव नास्ति, कुतो निष्कलपरमशिवस्य तत्कृतपरिच्छेदाशङ्केत्यभिप्रायः । इत्थं निष्कलप्रणिधानं कृतम् ।

सकलमपि द्विविधम् । समस्तजगदात्मकम्, समस्तजगन्नियन्तृ लीलावताररूपं चेति । समस्तजगदात्मकमुपादा नत्वात् । जगन्नियन्तृ लीलावताररूपेण च; अत एव हि रुद्राध्याये जगदात्मना जगन्नियन्तृलीलावताररूपेण च नमस्कारः कृतः । तत्र जगदात्मना प्रणाममाह द्वितीयार्धेन–**आधारमिति** । यथैव हि जगतां नियन्ता सत्त्वमायोपाधिवशात्, तमउपाधिवशाज्जगदात्मकः, एवं रजोगुणोपाधिवशाज्जगदाधारोऽपि । उक्ते हि जगन्नियन्तृत्वजगदात्मकत्वे परमेश्वरस्य–'शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्' इति ॥ 'स्थितिसंयमकर्ता च जगतोऽस्य जगच्च सः' इति ।

श्रुतेश्च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति । तेन हि सोऽकामयतेति निमित्तत्वम् । बहु स्यामित्युपादानत्वम् । तथा पारमर्षं सूत्रमपि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इति । यथैव सर्वलोकानामयमाधार एवमस्यापि कश्चिदन्य आधार इति भ्र[2]मं व्युदस्यति–**अनाधारमिति** । स्वातिरिक्ताधाररहितः । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नी'ति स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व-श्रुतेः । ननु जगत आधारश्चेदाधेयजगदात्मना धर्मेण उपायापायवता विकारित्वं तस्य स्यात्, 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायादिति ? तत्राऽऽह–**अविक्रियमिति** । कल्पितत्वेन जगतो न स्वाश्रयविकारहेतुता । नहि मरुमरीचिकाजलैर्मरुभूमिरा-र्द्रीक्रियत इत्यर्थः ॥१॥

इदानीं जगन्नि[3]यन्तृत्वे लीलावताररूपेण प्रणिधानमाह–**अनन्तेति** द्वितीयश्लोकेन । अवतारो हि ध्यानपूजाद्यर्थमपि शिवेन स्वीक्रियते । तदुक्तं सुप्रभेदे–'यतीनां मन्त्रिणां चैव ज्ञानिनां योगिनां तथा । ध्यानपूजानिमित्तं हि तनुं गृह्णाति मायया' इति । अद्भुता विक्रमास्त्रिपुरदहनादयो यस्य तम् । अम्बिकायाः पार्वत्याः पतिरम्बिकापतिस्तमिति च विजयपरिणयनादयः परमेश्वरस्य लीला दर्शिताः । तर्हि प्राकृतपुरुषवदेव रागद्वेषादिदोषपारतन्त्र्यात्संसार्येवासौ ? तत्राह–**ईशानमनीशमिति** । संसारिणो हि[4] अनीशितृत्वात्पुरुषान्तरपरतन्त्रत्वाच्च स्वयमनीशा ईशवन्तश्च । शिवस्तु लीलयैव विजयपरिणयनादिव्यापारानाचरन्नपि रागद्वेषादिविरही सर्वजगदीशिता च न पुरुषान्तरपरतन्त्र इति न लौकिकसम इत्यर्थः । ननु लोकवदेव सर्वेऽपि व्यवहाराः शिवस्यापि श्रूयन्ते । अत एषां लीलारूपतैव कुत इत्यत आह–**अनन्तेति** । अन्तः परिच्छेदः तद्रहितयोरानन्दबोधयोरम्बुनिधिः समुद्रश्च; अतः तत्कृतपरिच्छेदविरहात् पारमेश्वरयोरानन्दज्ञानयोर्न लौकिकानन्दज्ञानवदुत्पत्तिविनाशवत्त्वम्, वस्तुकृतपरिच्छेदविरहाच्च तयोरखण्डैकरसत्वम्, इतीशानः । अतिशायिनो वस्त्वन्तरस्याभावेन निरतिशयत्वं चेति कुतो लौकिकव्यवहारसाधारणाशङ्कावकाश इत्यर्थः । यद्यप्यपां निधिरन्तवान्सातिशयश्च तथाऽपि लौकिकानां समुद्रेऽन्तवत्त्वसातिशयत्वविरहाभिमानात्तदभिमतदृष्टान्तेनैव परमेश्वरस्याप्यनन्तत्वं निरतिशयत्वं प्रदर्शयितुमम्बुनिधिना रूपकं कृतमिति । ननु लौकिका अपि सर्वात्मकादीश्वरादभिन्ना एवेति कथं तदीयौ ज्ञानानन्दौ न तत्सदृशाविति ? सत्यम् तत्सदृशौ । अज्ञानेना[5]ऽऽवृतत्वात्तु तत्सादृश्यं न ते जानन्ति । उक्तं हि–'अज्ञानेनाऽऽवृतो रामः साक्षान्नारायणोऽपि च । स्वस्वरूपं तु नाज्ञासीत्' इति ॥ अतस्तिरोहितज्ञानत्वाल्लौकिकानां व्यापारा दुःखमया एव न लीलाः । अनावरणनरमानन्दज्ञानत्वेन तु परमेश्वरस्य विजयपरिणयनादिव्यापारा लीला एवेत्यभिप्रायः । अत्र निष्कलशिवस्य तद्रूपतयाऽवस्थानमेव प्रणामः । सकलस्य तु ध्यानस्तुतिपूजात्मकः । तदुक्तं सुप्रभेदे– 'ध्यानपूजाविहीनं यन्निष्कलं तद्विधायकम् । तत्तस्मात्सकलं शम्भुं निष्कलं संप्रपूजयेत्' इति ॥ २ ॥

इत्थं मङ्गलाचरणं विधाय ऋषिसूतसंवादात्मना पुराणमारभते–**सत्रावसान** इत्यादि । ननु व्यासेन सूताय प्रागेवोपदिष्टान्यष्टादश पुराणानि । अधुना तत्पुनर्मुनयः शृण्वन्ति सूतो व्याचष्टे । व्यासस्तु कुरुते मङ्गलाचरणमित्यसंगतमुच्यते । व्यासः सूताय पुराणानि प्रागुपदिश्यापि तान्येव संप्रति मुनिसूतसंवादात्मना निबध्नाति स्वयं क्रियमाणनिबन्धनादौ स्वयमेव मङ्गलमाचरतीति

वाङ्मयोपदेशमन्तरा हि यो मुद्रया परात्मबोधनक्षमः ।
आत्मगोचरं तमो नुदेत् स मे दक्षिणाभिसंमुखो महेश्वरः ॥

वेदमर्थतो निरीक्ष्य दुर्गमं यो व्यधात् पुरा पुराणमादरात् ।
नौमि तं वसिष्ठवंशसम्भवं व्यासनामकं मुनिं कवीश्वरम् ॥

साधकार्थसाधनानि पूर्णतः सूतसंहिताहितान्यविन्दत ।
दीपिकां लिलेख माधवो गुरु-र्नो हितैकचिन्तया जयेत् सदा ॥

---

१. ग. °मनिशं । २. ङ ममुद° । ३. ङ. °न्नियन्तृली° । ४. हि रागद्वेषादिवशीकृतत्वात् पु° बाल.पाठः । ५. बाल. पाठे त्वत्र 'अज्ञानेनावृतम्' इत्यादिगीता-श्लोकार्धएवोदाहृतः ।

किमनुपपन्नम् ? अथ सूताय स्वात्मन उपदेशरूपं परित्यज्य व्यासेन मुनिसूतसंवादात्मना निबन्धने किं प्रयोजनम् ? उच्यते । पुराणप्रतिपाद्यायास्तत्त्वविद्यायाः प्रभावातिशयाविष्करणं प्रयोजनम् । तथाहि–इत्थंप्रभावेयं विद्या यत्सूतः प्राङ्[1] महाकनीयानपि व्यासात्पुराणमुखादेनामधिगम्य, अग्रजानामपि मुनीनां स्वयं तत्त्वोपदेशकर्ता जात इति । तत्र **सत्रावसाने विशुद्धहृदयाः प्रसन्नेन्द्रियमानसा** इति पदत्रयेण मुनीनां परविद्योचिताधिकारसंपत्तिनिरूपणम् । तथाहि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपादितवेदानुवचनयज्ञदानतपोव्रतादिभिः प्रक्षीणसकलकलुषस्यात एव शुद्धबुद्धेर्जनितजिज्ञासस्य परशिवस्वरूपविद्यायामधिकारः । अत ईदृग्विधविद्याग्रहणाधिकारे कारणगुणगणा उचितत्वादाविष्कर्तव्याः । तत्र **सत्रावसान** इत्यनेन श्रौतसकलकर्मानुष्ठानं विद्याप्रतिबन्धकसकलपापापनयनरूपविशुद्धहृदयत्वे कारण[2]मुच्यते । चतुर्विधा हि सोमयागाः । एकाहाहीनसत्रायनात्मकाः । एकैकदिनसाध्या अग्निष्टोमादय एकाहाः । द्विरात्रादय एकादशरात्रावसाना अहीनाः । द्वादशाहस्तु सत्राहीनोभयात्मकः । त्रयोदशरात्रादीनि सत्राणि । संवत्सरसाध्यान्ययनानि । अयनेष्वपि च सत्रप्र[3]योगो दृश्यते । 'गावो वा एतत्सत्रमासत, विश्वसृजः समाः सत्रमासतेति ।' तथा 'नैमिषे निमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः । सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत' इति । तदिह नैमिषीयैः क्रियमाणस्यानेकसंख्यासंवत्सरसाध्यस्यायनत्वेऽपि सत्रपदप्रयोगोपपत्तिः । 'सत्रं च परमो धर्म' इत्यपरेषामपि महतां वेदानुवचनानां दानतपोव्रतादीनामुपलक्षणम् । तेषामपि हि चित्तशुद्धिद्वारा विविदिषाकारणत्वमिष्यमाणवेदनकारणत्वं च श्रूयते । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति । तथा पाशुपतव्रतस्यापि परशिवसाक्षात्कारकारणत्वमथर्वशिरसि दृश्यते । 'अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा निमृज्याङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद्व्रतमेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाये'ति । उक्तस्य सत्रपदोपलक्षितस्य कर्मराशेर्बुद्धिशुद्धौ कारणभावमाह–**विशुद्धहृदया** इति । हृदयं बुद्धिस्तस्य विशुद्धिर्नाम संचितदुरितापनयनेन तन्निबन्ध[4]नस्य दुःखस्य निरासः । **नैमिषीया** इति ब्रह्मणा विसृष्टस्य चक्रस्य नेमिः शीर्यते कुण्ठी भवति यत्र तन्नैमिषं नेमिषमेव नैमिषम् । तथाचोक्तं वायवीये– 'एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते । यत्रास्य शीर्यते नेमिर्नैमिषं तच्छुभावहम् ॥ इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम् । प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः ॥ तेऽपि हृष्टतरा विप्राः प्रणम्य जगतां पतिम् । प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्व्यशीर्यत ॥ तद्वनं तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्' इति ॥

नैमिषमेषां निवास इति **नैमिषीयाः** । तथा **प्रसन्नेन्द्रियमानसा** इति । मनसः प्रसादो नाम रजस्तमोभ्यामनभिभवादावरणविक्षेप[5]विरहेण तत्त्वप्रणिधान ऐकाग्र्यम् । इन्द्रियाणां प्रसादो नाम प्रसन्नता [6]मनःप्रातिकूल्यपरिहारेण प्रत्युत तदानुकूल्येनैव वर्तनम् । श्रूयते हि– 'यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ (कठ. ३.५) यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः' इति ॥पतञ्जलिरप्याह (२.५४) 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' इति । इत्थमिह जन्मनि जन्मान्तरे वा विहितैर्व्रतदानादिभिः संचितदुरितनिरासद्वारा रजस्तमोभ्यामन[7]भिभूतहृदयास्तत्त्वजिज्ञासवो विद्याग्रहणाधिकारिणो दर्शिताः । विद्योपदेशे तु सूतस्येदानीमधिकारितामाह–**महात्मानमागतमिति** । उभयं हि तत्रापेक्षितम् अनुग्रहसामर्थ्यमनुग्रहशीलत्वं चेति । तत्र [8]**महात्मानमिति** महादेवप्रसादादासादितपरशिवस्य साक्षात्कारनिबन्धनमनुग्रहसामर्थ्यमुक्तम् । आगतमिति विशिष्टाधिकारिलाभात्तदुद्धरणार्थमनाहूतस्यापि स्वयमेवाभिगमनात्परमकारुणिकत्वादनुग्रहशीलत्वमुक्तम् । यथा जनकं प्रति याज्ञवल्क्यस्येति ॥ ३ ॥

शाम्भवीकथादिनेशरश्मिभि-र्यन्मनोमहोत्पलं विकासते ।
तं महेशहर्षशैलदेशिकं श्रद्धया दयालयालमाभजे ॥
देशिकोक्तिसत्सुधाल्पसेवया सूतसंहितां युयुक्षते जनः ।
व्याख्यया तु लोकबाधि बद्धया शक्तिमात्मनोऽसमीक्ष्य तद्ध्रुवम् ॥
निश्चयो गुरोः कृपार्द्रमानसं दास्यति प्रमातुमर्थमर्हताम् ।
आज्ञयाऽऽरभे तदीयया शुभां सूतसंहितासुधां सतां मुदे ॥

ग्रन्थ का अवतरण नामक पहला अध्याय

समस्त संसार के आधार, स्वातिरिक्त आधार-रहित, वास्तविक आधारता से भी रहित, उत्पत्ति, वृद्धि आदि और विनाश से वर्जित, सर्वोपाधिशून्य, सच्चिदानन्द एकरस तत्त्व को (और) ॥ १ ॥

आनन्द व ज्ञान के अनन्त समुद्र, अद्भुत पराक्रम वाले, किसी अन्य से अनियन्त्रित, उमापति, ईशान-श्रुत्युक्त भगवान् शङ्कर को प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

सत्र की समाप्ति पर सर्वथा रागादि अशुद्धि-रहित बुद्धि वाले नैमिषारण्यस्थ मुनियों ने वहाँ पहुँचे तथा शिवकृपा से परमेश्वरसाक्षात्कार के कारण अनुग्रह करने में समर्थ श्रीरोमहर्षण को ॥ ३ ॥

---

१. क. ग. घ. °हान्कनी° । २. घ. °णत्वमु° । ३. घ. °योगा दृश्यन्ते । ४. घ. °न्धस्य । ५. ख. °पपरिहारेण । ६. क. घ. मनःप्रतिकूलपरि° । ग. ङ, मनः प्रति प्रातिकूल्य° । ७. क. ख. घ. °भिभवाद्धृद° । ८. क. घ. महत्तपः प्रकर्षादासादितपरःशिवसा° । व्यासप्रसा° इति बालमनोरमापाठः ।

दृष्ट्वा यथार्हं संपूज्य प्रसन्नेन्द्रियमानसाः । पप्रच्छुः संहितां पुण्यां सूतं पौराणिकं मुदा ॥ ४ ॥

एवं पृष्टो मुनिश्रेष्ठैः सूतः सर्वार्थदायिनम् । महादेवं महात्मानं ध्यात्वा व्यासं च भक्तितः ॥ ५ ॥

समाहितमना भूत्वा विलोक्य मुनिसत्तमान् । वक्तुमारभते सूतः संहितां श्रुतिसंमिताम्[1] ॥ ६ ॥

ब्राह्मं पुराणं प्रथमं द्वितीयं पाद्ममुच्यते । तृतीयं वैष्णवं प्रोक्तं चतुर्थं शैवमुच्यते ॥ ७ ॥

ततो भागवतं[2] प्रोक्तं भविष्याख्यं ततः परम् । सप्तमं नारदीयं च मार्कण्डेयं तथाऽष्टमम् ॥ ८ ॥

आग्नेयं नवमं पश्चाद् ब्रह्मवैवर्तमेव[3] च । ततो लैङ्गं वराहं च ततः स्कान्दमनुत्तमम् ॥ ९ ॥

वामनाख्यं ततः कौर्मं मात्स्यं तत्परमुच्यते । गरुडाख्यं ततः प्रोक्तं ब्रह्माण्डं तत्परं विदुः ॥ १० ॥

अथ विद्याग्रहणाधिकारसंपन्ना मुनय उपदेशोचितगुरुलाभनिबन्धन[4]या प्रीत्या तं परिपूज्य स्वजिज्ञासामाविष्कृतवन्त इत्याह–पप्रच्छुरिति । उक्तं हि–'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति ॥ ४ ॥

एवं मुनिभिः पृष्टो मुनीनां पुराणसंहिताश्रवणे मुख्याधिकारसिद्धये परशिवप्रणिधानपुरः[5]सरां शिष्यावलोकनरूपां चाक्षुषीं दीक्षामकार्षीदित्याह–एवं पृष्ट इत्यादिना । उक्ता ह्यागमेषु चाक्षुषी दीक्षा–'चक्षुरुन्मील्य यत्तत्त्वं ध्यात्वा[6] शिष्यं समीक्षते । पशुबन्धविमोक्षाय दीक्षेयं चाक्षुषी मता' इति ॥ 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' ॥ इति श्वेताश्वतरश्रुतेः परशिवप्रणिधानवद् गुरुप्रणिधानमपि विधेयमित्याह–व्यासं चेति ॥ ५ ॥

संहितां श्रुतिसंमिताम् । सकलश्रुत्यर्थसंग्रहात्मिकामित्यर्थः ॥ ६ ॥

विवक्षिताया अस्याः संहिताया व्यासमुखादागतत्वेन प्रामाण्यं स्थापयितुं नानामुनि[7]प्रणीतसकलोपपुराणमूलभूतानामष्टादशानां पुराणानां वेदशाखाविभागस्य च प्रणयनेन व्यासस्य[8] सर्वज्ञत्वमत एव तस्य[9] माहेश्वरावतारत्वं च प्रतिपादयितुमष्टादश-पुराणान्यनुक्रामति–ब्राह्ममित्यादि । ब्रह्मसंबन्धि ब्राह्मम् । 'तस्येदम्' इत्यणि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपस्य, अन्निति प्रकृतिभावेन निरासेऽपि 'ब्राह्मोऽजातौ' इति निपातनाट्टिलोपः ॥ ७ -१० ॥

देखकर, उनकी यथोचित पूजाकर, प्रशान्त इन्द्रियों व मन वाले होकर पुराण के अध्येता उन सूतजी से प्रेम-पूर्वक शुभ संहिता के विषय में प्रश्न किया ॥ ४ ॥

श्रेष्ठ मुनियों द्वारा यों श्रद्धादि पुरःसर पूछे गये सूतजी ने सर्वाभीष्ट प्रदाता महादेव का और निजगुरु महात्मा व्यास का भक्तिपूर्वक ध्यानकर, ॥ ५ ॥ एकाग्रचित्त वाले हो, मुनिपुंगवों को देखकर श्रुति के सकल अर्थ का संग्रह करने वाली संहिता को बताना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

सूतजी बोले– ब्रह्मा-सम्बन्धी ब्राह्मपुराण पहला है । दूसरा है पद्मपुराण । तीसरा विष्णुपुराण बताया गया है । शिवपुराण चौथा कहा जाता है ॥ ७ ॥ तदनन्तर भगवती-सम्बन्धी भागवत पुराण और उसके बाद भविष्य पुराण बताया गया है । सातवाँ नारदीयपुराण है और इसी प्रकार मार्कण्डेय पुराण आठवाँ है ॥ ८ ॥ अग्निपुराण नवाँ है व अगला है ब्रह्मवैवर्तपुराण । फिर लिंग पुराण और वराहपुराण है तथा तदुत्तर श्रेष्ठ स्कन्दपुराण है । ॥ ९ ॥ चौदहवाँ वामनपुराण है, फिर कूर्म-पुराण है व उसके बाद मत्स्यपुराण बताया जाता है । तदनन्तर गरुडपुराण है और सबसे अन्त में अठारहवाँ ब्रह्माण्डपुराण–ऐसा विद्वान् समझते हैं ॥ १० ॥

---

१. क. संमताम् । २.भगवत्याइदं भागवतमितिव्युत्पत्या देवीभागवतं न तु श्रीमद्भागवतमिति सांप्रदायिकाः । ३. क. वर्तमुच्यते । ४. ङ. °नतया । ५. घ. °सरं शि° । ६. घ. °त्वा तत्त्वं स° । ७. ङ., °प्रणीत° । ८. क. ख. घ. °स्य सार्व° । ९. ङ.°स्य महे° ।

ग्रन्थतश्च चतुर्लक्षं पुराणं मुनिपुङ्गवाः । अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः ॥ ११ ॥

कामिकादिप्रभेदानां यथा देवो महेश्वरः । अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुतात् ॥ १२ ॥

अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु । आद्यं सनत्कुमारेण प्रोक्तं वेदविदां वराः ॥ १३ ॥

द्वितीयं नारसिंहाख्यं तृतीयं नान्दमेव[1] च । चतुर्थं शिवधर्माख्यं दौर्वासं पञ्चमं विदुः ॥ १४ ॥

षष्ठं तु नारदीयाख्यं कापिलं सप्तमं विदुः । अष्टमं [2]मानवं प्रोक्तं ततश्चोशनसेरितम् ॥ १५ ॥

ततो ब्रह्माण्डसंज्ञं तु वारुणाख्यं ततः परम् । ततः कालीपुराणाख्यं विशिष्टं मुनिपुङ्गवाः ॥ १६ ॥

ततो वासिष्ठलैङ्गाख्यं प्रोक्तं माहेश्वरं परम् । ततः साम्बपुराणाख्यं ततः सौरं महाद्भुतम् ॥ १७ ॥

पाराशरं ततः प्रोक्तं मारीचाख्यं ततः परम् । भार्गवाख्यं ततः प्रोक्तं सर्वधर्मार्थसाधकम् ॥ १८ ॥

लक्षं तु ग्रन्थसंख्याभिः सर्वविज्ञानसागरम् । स्कान्दमद्याभिवक्ष्यामि पुराणं श्रुतिसंमितम् ॥ १९ ॥

षड्विधं संहिताभेदैः पञ्चाशत्खण्डमण्डितम् । आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूतसंहिता ॥ २० ॥

ग्रन्थतश्च चतुर्लक्षमिति संख्याभिधानं प्रक्षेपविप्लवपरिहाराय । कामिककारणादीनामागमसंहितानां शिवेनैव प्रणयनात्प्रामा[3]ण्ये यथा विश्रम्भ एवं नारायणावतारेण व्यासेन प्रणयनात्पुराणेष्वप्यसावविशिष्ट इत्याह–**अष्टादशपुराणानामिति** ॥ ११ ॥

नानामुनिप्रणीतानामुपपुराणानामप्येतन्मूलत्वादेतेषां प्रणेतुर्व्यासस्य सार्वज्ञ्यं किं वक्तव्यमित्याह–**अष्टादश पुराणानि श्रुत्वेति** ॥ १२ ॥

उपपुराणान्यष्टादशानुक्रामति–**आद्यं सनत्कुमारेण प्रोक्तमित्यादिना** ॥ १३-१८ ॥

अथेदानीं विवक्षितां सूतसंहितामवतारयितुमनुक्रान्तानां पुराणानां मध्ये त्रयोदशस्य स्कान्दपुराणस्य संहितापदविभागमाह–**स्कान्दमद्याभिवक्ष्यामीति** ॥ १९ ॥ ॥ २० ॥

हे मुनिश्रेष्ठो ! ग्रन्थ की दृष्टि से पुराण चार लाख श्लोकों में निबद्ध हैं । अठारह पुराणों के रचयिता सत्यवती के पुत्र व्यासजी हैं ॥ ११ ॥ जैसे कामिक आदि भेदों वाले आगमों कें रचयिता भगवान् शंकर हैं (वैसे नारायणवतार व्यास पुराणों के निर्माता हैं) । सत्यवतीनन्दन के मुखारविन्द से अठारह पुराण सुनकर ॥ १२ ॥ मुनियों द्वारा इनसे अतिरिक्त उपपुराण रचे गये हैं । हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ मुनियो ! पहला उपपुराण सनत्कुमार द्वारा विरचित है ॥ १३ ॥ दूसरा नृसिंह नामक उपपुराण है और नान्दोपपुराण तीसरा है । शिवधर्म नाम का उपपुराण चौथा है । जानकार लोग दौर्वास उपपुराण को पाँचवाँ जानते हैं ॥ १४ ॥ छठा तो नारदीयोपपुराण है । कापिल-उपपुराण सातवाँ है । मानव-उपपुराण आठवाँ कहा गया है और तदनन्तर शुक्राचार्य द्वारा प्रोक्त उपपुराण गिना जाता है ॥ १५ ॥ फिर ब्रह्माण्ड नामक उपपुराण है व तदुत्तर वारुणोपपुराण है । हे श्रेष्ठ मुनियो ! तदनन्तर कालीपुराण कहा जाने वाला खास वैशिष्ट्य वाला उपपुराण है ॥ १६ ॥ इसके बाद वासिष्ठलैंग नामक महेश्वर सम्बन्धी उपपुराण है । फिर साम्बपुराण कहा जाने वाला उपपुराण है और तदनन्तर अत्यन्त अद्भुत सौर उपपुराण है ॥ १७ ॥ तदूर्ध्व सोलहवाँ पाराशर उपपुराण है और फिर मारीच उपपुराण है । अन्त में समस्त धर्म व अर्थ की सिद्धि का उपाय बताने वाला भार्गव उपपुराण अठारहवाँ बताया गया है ॥ १८ ॥

अब मैं स्कन्दपुराण के विषय में बताऊँगा.जो सभी विशिष्ट ज्ञानों का सागर है और वेद के अर्थ का संग्रह करने वाला है । ग्रंथ के आकार की दृष्टि से वह एक लाख श्लोकों में उपनिबद्ध है ॥ १९ ॥ संहिताओं के भेद से वह छह प्रकार का है तथा पचास खण्डों में बँटा है । पहली सनत्कुमारसंहिता है । द्वितीय सूतसंहित है ॥ २० ॥

---

१ नान्दिकेश्वरम् इति वाल. पाठः । २ ख. ग. वामनं । ३ ङ. °ण्येन य° ।

तृतीया शांकरी विप्राश्चतुर्थी वैष्णवी मता । तत्परा संहिता ब्राह्मी सौराऽन्त्या संहिता मता ॥ २१ ॥

ग्रन्थतः पञ्चपञ्चाशत्सहस्रेणोपलक्षिता । आद्या तु संहिता विप्रा द्वितीया षट्सहस्रिका ॥ २२ ॥

तृतीया ग्रन्थतस्त्रिंशत्सहस्रेणोपलक्षिता । तुरीया संहिता पञ्चसहस्रेणाभिनिर्मिता ॥ २३ ॥

ततोऽन्या त्रिसहस्रेण ग्रन्थेनैव विनिर्मिता । अन्या सहस्रतः सृष्टा ग्रन्थतः पण्डितोत्तमाः ॥ २४ ॥

द्वितीयां संहितां वक्ष्ये सर्वपापप्रणाशिनीम् । मुनिभिर्देवगन्धर्वैः पूजितामतिशोभनाम् ॥ २५ ॥

चतुर्धा खण्डिता साऽपि पवित्रा वेदसंमिता । शिवमाहात्म्यखण्डाख्यः प्रथमः परिकीर्तितः ॥ २६ ॥

द्वितीयो ज्ञानयोगाख्यः सर्ववेदान्तसंग्रहः । तृतीयो मुक्तिखण्डाख्यश्चतुर्थो यज्ञवैभवः ॥ २७ ॥

आद्यः सप्तशतं प्रोक्तो ग्रन्थतः पण्डितोत्तमाः । द्वितीयो ग्रन्थतः सप्तशतं त्रिंशत्ततोऽधिकम् ॥ २८ ॥

ततोऽधिकं च सप्तैव मुनयः परिकीर्तितः । तृतीयः षट्शतं विप्राः सप्तत्रिंशद्विवर्जितः ॥ २९ ॥

सौराऽन्त्येति । सूरसंबन्धि सौरम् । तदस्यामस्तीति सौरा 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यजन्तमत्वर्थीयान्ताट्टाप् । सूरस्येयं संहितेति व्युत्पत्तौ 'तस्येदम्' इत्यणन्तान्ङीपा भवितव्यमिति ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥ ॥ २४ ॥

इत्थं विभागमभिधाय विवक्षितां संहितां सूतः प्रतिजानीते–**द्वितीयां संहितां वक्ष्य** इति ॥ २५ ॥

यद्यपि खण्डान्तरेष्वपि शिवमाहात्म्यमुच्यते तथाऽपि प्रथमस्य तत्प्राधान्यात्तेन व्यपदेशः ॥ २६ ॥

द्वितीयो ज्ञानयोगाख्य इति । ज्ञानस्य योगा उपाया यमनियमादयो ज्ञानयोगा आख्यायन्तेऽस्मिन्नित्याख्यः । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । ज्ञानयोगानामाख्य इति संबन्धसामान्यषष्ठ्याः समासः सा तु प्रकृते संबन्धविशेषे कर्मत्वे योग्यताबलात्पर्यवस्यति । न च कर्मणि षष्ठ्यैवं समासः स किं न स्यादिति वक्तव्यम् । 'कर्मण्यण्' इत्यनेन परेण बाधापातादिति । यज्ञवैभवखण्डे तु यज्ञा यज्ञविशेषा वक्ष्यन्ते ते सर्वे ज्ञानात्मका एव यज्ञाः । इह तु तदुपाया यमनियमादय इत्यसंकरः । **यज्ञवैभव** इति । यज्ञानां वैभवः प्रभावोऽस्मिन्निति यज्ञवैभवः ॥ २७ ॥

आद्यः सप्तशतमिति । सप्तानां शतानां समाहारः सप्तशतमिति समाहारे द्विगुः । अकारान्तत्वेन प्राप्तं स्त्रीलिङ्गत्वं 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः' इत्यनेन निषिध्यते । नन्वेकोऽयं खण्डः कथं सप्तशतसमाहारात्मकः ? अत उक्तं–ग्रन्थत इति । ग्रन्थद्वारा स्वावयवभूतानां ग्रन्थानां सप्तशतसमाहारात्मकत्वात्तदभेदेन स्वयमपि सप्तशतमित्यर्थः । **ततोऽधिकमिति** । अधिकं च किंचिदस्तीति सामान्येनोपक्रम्य कियत्तदिति जिज्ञासायां **त्रिंशदिति** 'शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकिगन्धिनः' इतिवत् ॥ २८ ॥ २९ ॥

हे ब्राह्मणो ! तीसरी शांकरसंहिता और चौथी वैष्णव संहिता है । तदनन्तर ब्राह्म संहिता और अन्तिम सौर संहिता मानी गयी है ॥ २१ ॥ प्रथम संहिता में पचपन हजार श्लोक हैं । हे द्विजो ! दूसरी में छह हजार श्लोक हैं ॥ २२ ॥ तीसरी संहिता तीस हजार श्लोकों वाली है तथा चौथी पाँच हजार श्लोकों द्वारा रचित है ॥ २३ ॥ उससे अगली पाँचवीं संहिता की रचना तो तीन हजार श्लोकों द्वारा हो गयी है । हे उत्तम पण्डितो ! अन्तिम छठी संहिता एक हजार श्लोकों वाली है ॥ २४ ॥

इस अवसर पर मैं आपको सब पापों का नाश करने वाली, मुनियों द्वारा, देवताओं द्वारा व गन्धर्वों द्वारा आदृत तथा अत्यन्त शोभनीय द्वितीय संहिता–अर्थात् स्कन्द पुराण की सूतसंहिता–सुनाऊँगा ॥ २५ ॥ वेदार्थ का बोध कराने वाली वह पावन संहिता पुनः चार खण्डों में विभक्त है । पहले खण्ड का नाम है–'शिवमाहात्म्य खण्ड' ॥ २६ ॥ सारी उपनिषदों में बताये यम, नियम आदि ज्ञान के उपायों को एकत्र बताने वाला 'ज्ञानयोग' नामक द्वितीय खण्ड है । तीसरा 'मुक्तिखण्ड' है और ज्ञानात्मक यज्ञों के प्रभाव का प्रतिपादक चौथा 'यज्ञवैभवखण्ड' है ॥२७ ॥ हे उत्तम पण्डितो ! ग्रंथ के आकार की दृष्टि से पहले खण्ड में सात सौ श्लोक हैं । दूसरे में सात सौ सैंतीस श्लोक हैं । हे मुनियो ! तीसरा खण्ड पाँच सौ सत्ताइस श्लोकों वाला है ॥ २८–२९ ॥

चतुर्थस्तु मुनिश्रेष्ठाः सहस्राणां चतुष्टयम् । उपर्यधोभागभेदाद् द्विधाभूतः स उच्यते ॥ ३० ॥

आद्यस्त्रयोदशाध्यायो द्वितीयो विंशतिस्तथा । तृतीयो नव विप्रेन्द्राश्चतुर्थस्तु तथैव च ॥ ३१ ॥

सप्तषष्टिः समस्तानां वेदानामर्थ आस्तिकाः । अस्यामेव स्थितः साक्षात्संहितायां न संशयः ॥ ३२ ॥

चतुर्थ इति । चतुर्थखण्ड उपरिभागोऽधोभाग इति भेदेन द्विप्रकारः ॥ ३० ॥

प्रकृतसंहितागतखण्डचतुष्टयस्याध्यायविभागमाह—**आद्यस्त्रयोदशाध्याय** (यैः) इति । **आद्यः** खण्डोऽध्यायैस्त्रयोदश ग्रन्थतः सप्तशतमितिवत् । ननु त्रयोदशभिरध्यायैरिति 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इत्युक्तत्वात् । इह च द्विगुसमासनिमित्तानां संज्ञादीनामभावात् । **आद्यस्त्रयोदशाध्याय** इति तु पाठः श्रेयान् । तत्र हि त्रयोदशेति पृथक्पदम् ॥ ३१ ॥

तत्र प्रथमे खण्डे **प्रथमे**ऽध्याये ग्रन्थावतारः । **द्वितीये** पाशुपतव्रतम् । **तृतीये** नन्दीश्वरविष्णुसंवादेनेश्वरप्रतिपादनम् । **चतुर्थ** ईश्वर[१]पूजाविधानं देवपूजाफलं च । **पञ्चमे** शक्तिपूजाविधिः । **षष्ठे** शिवभक्तपूजा । **सप्तमे** मुक्तिसाधनम् । **अष्टमे** कालपरिमाणतदनवच्छिन्नस्वरूपकथनम् । **नवमे** पृथिव्युद्धरणम् । **दशमे** ब्रह्मणा सृष्टिकथनम् । **एकादशे** हिरण्यगर्भादिविशेषसृष्टिः । **द्वादशे** जातिनिर्णयः । **त्रयोदशे** तीर्थमाहात्म्यम् ॥ ॥ **द्वितीयखण्डे** विंशतिरध्यायाः ॥ तत्र **प्रथमे**ऽध्याये ज्ञानयोगसंप्रदायपरम्परा । **द्वितीय** आत्मना सृष्टिः । **तृतीये** ब्रह्मचर्याश्रमविधिः । **चतुर्थे** गृहस्थाश्रमविधिः । **पञ्चमे** वानप्रस्थाश्रमविधिः । **षष्ठे** संन्यासविधिः । **सप्तमे** प्रायश्चित्तम् । **अष्टमे** दानधर्मफलम् । **नवमे** पापकर्मफलम् । **दशमे** पिण्डोत्पत्तिः । **एकादशे** नाडीचक्रम् । **द्वादशे** नाडीशुद्धिः । त्रयोदशेऽष्टाङ्गयोगे यमविधिः । **सप्तदशे** प्रत्याहारविधानम् । **अष्टादशे** धारणाविधिः । **एकोनविंशे** ध्यानविधिः । **विंशे** समाधिः ॥ ॥ तृतीये मुक्तिखण्डे नवाध्यायाः ॥ तत्र **प्रथमे** मुक्तिमुक्त्युपायमोचकमोचकप्रदचतुर्विधप्रश्नः । **द्वितीये** मुक्तिभेदकथनम् । **तृतीये** मुक्त्युपायकथनम् । **चतुर्थे** मोचककथनम् । **पञ्चमे** मोचकप्रदकथनम् । **षष्ठे** ज्ञानोत्पत्तिकथनम् । **सप्तमे** गुरूपसदनशुश्रूषणमहिमा । **अष्टमे** व्याघ्रपुरे देवानामुपदेशः । **नवम** ईश्वरनृत्यदर्शनम् ॥ ॥ **चतुर्थखण्डे** सप्तषष्टिरध्यायाः । तत्र पूर्वभागे सप्तचत्वारिंशत् । तत्र **प्रथमे**ऽध्याये सर्ववेदार्थप्रश्नः । **द्वितीये** परापरवेदार्थविचारः **तृतीये** कर्मयज्ञवैभवम् । **चतुर्थे** वाचिकयज्ञः । **पञ्चमे** प्रणवविचारः । **षष्ठे** गायत्रीप्रपञ्चः । **सप्तम** आत्ममन्त्रः । **अष्टमे** षडक्षरविचारः । **नवमे** ध्यानयज्ञः । **दशमे** ज्ञानयज्ञः । **एकादशादिपञ्चस्वध्यायेषु** ज्ञानयज्ञविशेषाः । **षोडशे** ज्ञानोत्पत्तिकारणम् । **सप्तदशे** वैराग्यविचारः । **अष्टादशे**ऽनित्यवस्तुविचारः । **एकोनविंशे** नित्यवस्तुविचारः । **विंशे** विशिष्टधर्मविचारः । **एकविंशे** मुक्तिसाधनविचारः । **द्वाविंशे** मार्गप्रामाण्यम् । **त्रयोविंशे** शंकरप्रसादः । **चतुर्विंशपञ्चविंशयोः** प्रसादवैभवम् । **षड्विंशे** शिवभक्तिविचारः । **सप्तविंशे** परपदस्वरूपविचारः । **अष्टाविंशे** शिवलिङ्गस्वरूपकथनम् । **एकोनत्रिंशे** शिवस्थानविचारः । **त्रिंशे** भस्मधारणवैभवम् । **एकत्रिंशे** शिवप्रीतिकरं जीवब्रह्मैक्यज्ञानम् । **द्वात्रिंशे** भक्त्यभावकारणम् । **त्रयस्त्रिंशे** परतत्त्वनामविचारः । **चतुस्त्रिंशे** महादेवप्रसादकारणम् । **पञ्चत्रिंशे** संप्रदाय[२]परम्पराविचारः । **षट्त्रिंशे** सद्योमुक्तिकरक्षेत्रमहिमा । **सप्तत्रिंशे** मुक्त्युपायविचारः । **अष्टत्रिंशे** मुक्तिसाधनविचारः । **एकोनचत्वारिंशे** वेदानामविरोधः । **चत्वारिंशे** सर्वसिद्धिकर[३]धर्मविचारः । **एकचत्वारिंशे** पातकविचारः । **द्विचत्वारिंशे** प्रायश्चित्तविचारः । **त्रिचत्वारिंशे** पापशुद्ध्युपा[४]याः । **चतुश्चत्वारिंशे** [५]द्रव्यशुद्धिविचारः । **पञ्चचत्वारिंशे**ऽभक्ष्यनिवृत्तिः । **षट्चत्वारिंशे** मृत्युसूचकम् । **सप्तचत्वारिंशे**ऽवशिष्टपापस्वरूपकथनम् ॥ चतुर्थखण्डस्योत्तरभागे विंशतिरध्यायाः ॥ तत्र **प्रथमे** ब्रह्मगी[६]तिः । **द्वितीये** वेदार्थविचारः । **तृतीये** साक्षिशिवस्वरूपकथनम् । **चतुर्थे** साक्ष्यस्तित्वकथनम् । **पञ्चम** आदेशकथनम् । **षष्ठे** दहरोपासनम् । **सप्तमे** वस्तुस्वरूपविचारः । **अष्टमे** तत्त्ववेदनविधिः । **नवम** आनन्दस्वरूपकथनम् । **दशम** आत्मनो[७]ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनम् । **एकादशे** ब्रह्मणः सर्वशरीरस्थितिः । **द्वादशे** शिवस्याहंप्रत्ययाश्रयत्वम् । **त्रयोदशे** सूतगी[८]तिः । **चतुर्दश** आत्मना सृष्टिः । **पञ्चदशे** सामान्यसृष्टिः । **षोडशे** विशेषसृष्टिः । **सप्तदश** आत्मस्वरूपकथनम् । **अष्टादशे** सर्वशा[९]स्त्रार्थसंग्रहः । **एकोनविंशे** रहस्यविचारः । **विंशे** सर्ववेदान्तसंग्रहः इति । सामान्येनाध्यायार्थाः कथिताः ॥ सकलश्रुत्यर्थसंग्रहात्मकत्वादस्यां संहितायामवश्यमादरो विधेय इत्याह—**समस्तानामिति** श्लोक[१०]शेषेण ॥ ३२ ॥

हे मुनिवरो ! चौथा खण्ड चार हजार श्लोकात्मक है तथा पूर्वभाग और उत्तरभाग—यों दो हिस्सों में बँटा है ॥ ३० ॥ पहला खण्ड तेरह अध्यायों वाला है एवं दूसरा बीस अध्यायों वाला । हे उत्तम ब्राह्मणो ! तीसरे खण्ड में नौ अध्याय हैं तथा चौथा सड़सठ अध्यायात्मक है । हे आस्तिको ! सारे वेदों का अर्थ इस संहिता में स्फुट रूप से अवश्य प्रतिपादित है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३१—३२ ॥

---

१. ख. °पूजाप्रतिपादनं । २. घ. °यवि° । ३. ख. ग. रकर्मवि° । ४. ग. ध. पायः । च° । ५. घ. °द्रव्यशुद्ध्युपायः । ६. ग. ङ. °गीता । द्वि° । ७. क. ख. ब्रह्मत्वप्र° । ८. ग. ङ. °गीता । च° । ९. घ. °शास्त्रसं° । १०. ङ. °कविशेषेण ।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ ३३ ॥

यश्चतुर्वेदविद्विप्रः पुराणं वेत्ति नार्थतः । तं दृष्ट्वा भयमाप्नोति वेदो मां प्रतरिष्यति ॥ ३४ ॥

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । वेदाः प्रमाणं प्रथमं स्वत एव ततः परम् ॥ ३५ ॥

स्मृतयश्च पुराणानि भारतं मुनिपुङ्गवाः । अन्यान्यपि मुनिश्रेष्ठाः शास्त्राणि सुबहूनि च ॥ ३६ ॥

सर्वं वेदाविरोधेन प्रमाणं नान्यवर्त्मना । एक एव द्विजा वेदो वेदार्थश्चैक एव तु ॥ ३७ ॥

नानाविधोपाख्यानप्रतिपादनपर्यवसिते पुराणे कः प्रसङ्गो वेदार्थस्य तत्राऽऽह—**सर्गश्चेत्येकेन** । ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणत्वेन सृष्टिस्थितिप्रलया एव वेदे प्रधानं प्रमेयम् । 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' 'स ऐक्षत' इति महासर्गः । 'नेह नानाऽस्ति' इति महाप्रलयः । अन्यत्सर्वं स्थित्यवस्थाविलासः । इत्थमेवं पुराणेऽपि वंशमन्वन्तरवंशानुचरितानि स्थित्यव[1]स्थात एवेति ॥ ३३ ॥

वेदार्थ एव चेत्पुराणे स वेदेनैव सिद्धः किं पुराणेनेति ? तत्राऽऽह—**यश्चतुर्वेदविद्विप्र** इति । तत्र स्थितस्याप्यर्थस्य तावतैव दुरधिगमत्वात्तदुपबृंहणाय पुराणमित्यर्थः । अनुपबृंहणे बाधमाह—**तं दृष्ट्वेति** । विप्लवस्य दुष्परिहरत्वं दर्शयितुं वेदे भयारोपः । **प्रतरिष्यति** विप्लावयिष्यतीति बिभेति । अतस्तं **समुपबृंहयेदि**त्यन्वयः ॥ ३४ ॥

सर्वथा पुराणादिकमपेक्षितं चेत्तेनैव पर्याप्तम्, किं वेदैः ? न । वेदानां स्वतः प्रामाण्यात्तन्मूलतयैव पुराणादेः स्वरूपलाभादित्याह—**वेदाः प्रमाणं प्रथम**मिति ॥ ३५ ॥

अन्यान्यपि । आर्षस्मृतिपुराणमूलानि तदर्थसंग्रहशास्त्राणीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

वेदाविरोधेन । 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इति हि जैमिनीयं सूत्रम् । मूलभूतवेदानुमानेन स्मृत्यादेः प्रामाण्यं तद्विरोधे त्वनुमानमेव नोदेतीति मूलाभावादुपेक्षणीयम् । अथवा यावन्मूलोपलम्भं प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धस्मृत्याद्यर्थो नानुष्ठेय इति सूत्रार्थः । वेदाविरोधेन चेत्प्रामाण्यं तर्हि ऋग्वेदेऽनुदितहोमं निन्दित्वोदितहोमो विधीयते—'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्यमदिवाकीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्' इति ॥ यजुर्वेदे तूदितहोमनिन्दयाऽनुदितहोमो विधीयते—'यथाऽतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाऽऽहार्यं हरन्ति [2]तादृक्तद्यदुदिते जुहोति' इति । अतः परस्परविरोधाद्वेदद्वयम-प्रमाणं स्यादित्यत्राऽऽह—**एक एव द्विजा वेद** इति । सर्वोऽयमेक एव वेदस्तत्कुतः परस्परविरोधः । नचैवं स्ववचनव्याघातः । षोडशिग्रहणाग्रहणवचनवद्विकल्पाभिप्रायत्वादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशों के इतिहास—ये पाँच विषय पुराणों में प्रतिपाद्य होते हैं । (परमात्मा का तटस्थ-लक्षण है जिससे सृष्टि, स्थिति व संहार होता है । परमात्मा का प्रतिपादन करने के लिये इन्हें बताना अनिवार्य है । वंश आदि त्रितय स्थिति के गर्भ में हैं । अतः परमशिव के प्रतिपादक ग्रन्थ में सृष्टि आदि का वर्णन होने से उसमें पुराण का लक्षण अवश्य रहेगा । वेदार्थभूत परमेश्वर का प्रस्तावक सूतसंहिता नामक ग्रंथ भी अतएव पुराण है ।) ॥ ३३ ॥ जो वेदपाठी चारों वेदों का जानकार हो किन्तु अर्थसहित पुराण न जानता हो, उसे देख वेद को यह सोचकर भय लगता है कि यह मेरा सही अर्थ नहीं करेगा ॥ ३४ ॥ (अतः) इतिहास—रामायण व महाभारत—और पुराण के सहारे वेद का अर्थ विस्तार से समझना चाहिये । प्रथम अर्थात् स्वतः—प्रमाणान्तर के संवाद की अपेक्षा के बिना—प्रमाण वेद ही हैं । उससे भिन्न ॥ ३५ ॥ स्मृतियाँ, पुराण, महाभारत व अन्य बहुत से स्मृति-आदि मूलक शास्त्र ॥ ३६ ॥ सभी वेद से अविरुद्ध होने से ही प्रमाण होते हैं, वेद से विरुद्ध होने पर नहीं । हे ब्राह्मणो ! वेद एक ही है और उसका प्रतिपाद्य अर्थ भी एक ही है । (अतः वेद विरोधी अर्थों का प्रकाशक है, ऐसा भ्रम नहीं रखना चाहिये) ॥ ३७ ॥

१. °वस्थायामेवेति क्वचित्पाठः । २. ख. तादृगेव तद्य° ।

तथाऽपि मुनिशार्दूलाःशाखाभेदेन भेदितः । अनन्ता वै द्विजा वेदा वेदार्थोऽपि द्विजोत्तमाः ॥ ३८ ॥

अनन्तो वेदवेद्यस्य शंकरस्य शिवस्य तु । मायया न स्वरूपेण द्विजा ह्रा देववैभवम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्माणं मुनयः पूर्वं सृष्ट्वा तस्मै महेश्वरः । दत्तवानखिलान्वेदानात्मन्येव स्थितानिमान् ॥ ४० ॥

ब्रह्मा सर्वजगत्कर्ता शिवस्य परमात्मनः । प्रसादादेव रुद्रस्य स्मृतीः सस्मार सुव्रताः ॥ ४१ ॥

कथं तर्हि भेदव्यवहारः –'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः' इति स्मृतिः । 'वेदा वा एते अनन्ता वै वेदाः' इति च श्रुतिरित्यत आह–**तथाऽपीति** । एकस्याप्यपरिमितस्य वेदस्य केनचिदप्येकेन पुरुषेणाध्येतुं तदर्थस्य चानुष्ठातुमशक्यत्वादेकं वेदमृग्यजुःसामाथर्वभेदेन चतुर्धा विभज्य तत्रैकैकः पुनरैतरेयादिशाखाभेदेन भेदित इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

ननु वेदशाखा एव वेदसंख्याताः[1] कथं तर्हि 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' इति तैत्तिरीयकश्रुतिः; 'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च । नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्तः' इत्यथर्वशिरसि वचनमित्यत आह–**वेदवेद्यस्येति** । **मायया न स्वरूपेणेति** । परमार्थतो ह्यद्वितीयो रुद्र इत्युक्तम् । अतस्तेनैव लीलया निर्मितस्य मायामयस्य न वास्तवेन तदद्वैतेन विरोध इत्यर्थः । नन्वेतादृशी लीला क्वचिदपि लोके न दृष्टचरीत्यत आह–**द्विजा ह्रा देववैभवमिति** । 'अह हेत्यद्भुते खेदे' इत्यभिधानम् । अन्यत्रादृष्टत्वमद्भुतस्यालंकारो, न दूषणमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

नन्वपौरुषेया वेदाः 'वाचा विरूपनित्यया' 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' इति श्रुतिस्मृती इति ते कथं निर्मिताः, कश्चैता एतावतीर्ग्रहीष्यति यस्य कृते निर्मीयेरन्नित्यत आह–**ब्रह्माणं मुनयः पूर्वमिति** । स्वयमेव लीलया सकलवेदग्रहणसमर्थं **ब्रह्माणं** निर्माय स्वात्मनि नित्यमवस्थिता एव वेदास्तस्मै दत्ता इत्यर्थः । न च नित्यसिद्धवेदसमर्पणे शिवस्योपाध्यायतुल्यता । उपाध्यायो हि स्वयमन्यतो लब्ध्वा शिष्यानध्यापयति । शिवस्तु नैवमन्यतोऽधीते, स्वात्मनि नित्यमवस्थितानामेव तेषां ब्रह्मद्वारा संप्रदायं प्रवर्तयति । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति स्थितानामेव वेदानां प्रापणश्रुतेः ॥ ४० ॥

स्मृतिपुराणादीनामपि तर्हि शिवेनैव प्रापणं चेद्वेदसाम्यं, न चेदप्रामाण्यं, तत्राऽऽह–**ब्रह्मा सर्वजगत्कर्तेति** । वेदे हि द्वौ भागौ कर्मभागो ज्ञानभागश्चेति । आद्यस्यार्थः स्मृतिमुखेन ब्रह्मणा शिवाज्ञयैव व्याख्यातः । द्वितीयस्य तु विष्णुना व्यासरूपेणावतीर्य पुराणमुखेनेति स्मृतिपुराणानां वेदमूलता, न स्वातन्त्र्यमित्यर्थः । यद्यपि स्मृतिष्वपि विद्यानिरूपणमस्ति तथाऽपि तत्प्रासङ्गिकं, द्रव्यशुद्धिप्रसङ्गेन हि कथितम्–'क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता' इति । चतुर्थाश्रमधर्मप्रसङ्गेन चौपनिषदतत्त्वनिरूपणं कृतमिति । पुराणानां तु विद्याप्राधान्यं, प्रासङ्गिकं कर्मनिरूपणम् । पुराणेषु हि जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणत्वं शिवस्याभिप्रेत्योत्पत्तिकारणत्वं सर्गेणोक्तम् । लयकारणत्वं च प्रतिसर्गेण । स्थितिकारणत्वं च वंशमन्वन्तरवंशानुचरितनिरूपणेन तत्प्रसङ्गादाश्रमधर्मा आगता इति । अतएव धर्मविषये स्मृतिपुराणविप्रतिपत्तौ स्मृतीनां प्राबल्यं तत्र तासां तात्पर्यत इति, तत्त्वज्ञानविषये पुराणप्राबल्यमिति विवेकः ॥ ४१ ॥

हे मुनिश्रेष्ठो ! एक होते हुए भी वेद विभिन्न शाखाओं के कारण भेद वाला है । (अतएव कहा जाता है कि) वेद और वेदार्थ अनन्त है । (एक ही व्यक्ति सारा वेद पढ़ पाये यह नामुमकिन होन से उसे ऋग् आदि भागों में बाँटा गया है तथा ऋग् आदि प्रत्येक वेद भी नाना परम्पराओं में पढ़ा जाता हुआ नाना शाखाओं वाला है । वेदविषयक बहूक्तियाँ ऋग् आदि विभागों को या शाखाओं को विषय करती हैं । एकार्थपरक होने से वेद एकवाक्यता वाला एक ग्रन्थ ही है ।) ॥ ३८ ॥ हे द्विजो ! वेद से ही समझे जा सकने वाले कल्याणकारी शिव की माया से तो (वेद आदि प्रपंच) अनन्त है, पर स्वरूपतः (मायिक होने से) है ही नहीं । अहो ! महादेव का प्रभाव है (कि अविद्यमान भी सर्वथा सत्य प्रतीत होता है) ॥ ३९॥ हे मुनियो ! महेश्वर ने पहले ब्रह्माजी को उत्पन्नकर उन्हें सारे वेदों का उपदेश दिया, जो ये वेद (उस उपदेश के पूर्व) शिवरूप से ही स्थित थे–शिव में ही अपने ज्ञानरूप से मौजूद थे ॥ ४० ॥ हे साधु निश्चय वाले मुनियो ! सारे जगत् के कर्ता ब्रह्मा ने प्रकृति से निर्मल परमात्मा रुद्र की कृपा से स्मृतियों को यादकर प्रकट किया । (शिव से वेद का उपदेश पाकर ब्रह्मा ने स्मृतियाँ रचीं, अतः वे वेद की तरह स्वयं प्रमाण नहीं, वेद का अनुमान करा कर ही प्रमाण हैं जिससे प्रत्यक्षश्रुति से विरुद्ध स्मृति अनुष्ठापक नहीं हो पाती । वेद-प्रतिपाद्य धर्म की व्याख्या स्मृतियों में और वेदोक्त परमेश्वर के विषय में विस्तार पुराणों में है । अतः यह मर्यादा है कि धर्म के विषय में स्मृति पुराण की अपेक्षा बलवत्तर प्रमाण है और परमात्मा के विषय में पुराण का बल अधिक है ।) ॥ ४१ ॥

---

१. °व चेदसं° इति बाल. पाठः ।

विष्णुर्विश्वजगन्नाथो विश्वेशस्य शिवस्य तु । आज्ञया परया युक्तो व्यासो जज्ञे गुरुर्मम ॥ ४२ ॥

स पुनर्देवदेवस्य प्रसादादम्बिकापतेः । संक्षिप्य सकलान्वेदांश्चतुर्धा [1] कृतवान्द्विजाः ॥ ४३ ॥

ऋग्वेदः प्रथमः प्रोक्तो यजुर्वेदस्ततः परः । तृतीयः सामवेदाख्यश्चतुर्थोऽथर्व उच्यते ॥ ४४ ॥

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदो भेदितोऽमुना । यजुर्वेदो द्विजा एकशतभेदेन भेदितः ॥ ४५ ॥

नवधा भेदितोऽथ[2]र्ववेदः साम सहस्रधा । व्यस्तवेदतया व्यास इति लोके श्रुतो मुनिः ॥ ४६ ॥

अयं साक्षान्महायोगी व्यासः सर्वज्ञ ईश्वरः । महाभारतमाश्चर्यं निर्ममे भगवान्मुनिः ॥ ४७ ॥

व्यासेन पुराणानां प्रणयनं प्रागुक्तं तस्य तु विष्णो[3]रवतारत्वमिदानीमाह—**विष्णुर्विश्वजगन्नाथ** इति ॥ ४२ ॥

न केवलं वेदोपबृंहणाय [4]पुराणप्रणयनम् । महतो वेदस्याल्पबुद्धिभिर्दुरवगाह्यत्वात्तत्तच्छाखाविभागं कृत्वा संप्रदायप्रवर्तनमपि तेनैव कृतमित्याह—**स पुनर्देवदेवस्येति** ॥ ४३ ॥

अथर्वशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । 'अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' इति प्रयोगात्तेन लोके प्राचुर्येण प्रोक्तत्वाद्वेदोऽप्यथर्वः । प्रोक्तार्थे वाऽणि कृते 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति वृद्धिप्रकृतिभावयोरभावः ॥ ४४ ॥ ॥ ४५ ॥

गीतिविशेषः साम । 'गीतिषु सामाख्ये'ति हि जैमिनिः । तदाश्रयमन्त्रयोगाद्वेदोऽपि साम । उक्ते वेदविभागे व्यासनामनिर्वचनमेव प्रमाणमाह—**व्यस्तवेदतयेति** । वेदान्विभज्याऽऽसमन्ताच्छि[5]ष्येभ्यो व्यस्यतीति व्यासः । व्याङावुपसर्गौ पचाद्यच् । व्यस्ता वेदाः शिवेनैव कर्त्रा महर्षिरूपेण निजेनैवावतारान्तरेण करणेनेति करणे वा घञ् ॥ ४६ ॥

[6]सर्वज्ञत्वं द्रढयितुं साकल्येन चतुर्विधपुरुषार्थप्रकाशकस्य महाभारत[7]स्य तेनैव प्रणयनमाह—**अयं साक्षान्महायोगीति** । उक्तं हि—'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ । यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' ॥ इदमेव हि महाभारतप्रणयनं स साक्षाद्विष्णोरवतार इत्यत्र गमकम् । यदाहुः—'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् । को[8] ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्' इति ॥ ४७ ॥

विश्वेश्वर शिव की आज्ञा से विश्वसंरक्षक विष्णु मेरे गुरु व्यासरूप से उत्पन्न हुए ॥ ४२ ॥ और उमापति महादेव की कृपा से सारे वेदों को चार प्रकार से यों बाँटा कि प्रत्येक अध्येता को संक्षिप्त भाग का ही अध्ययन करना पड़े । (वेद की आनुपूर्वी अपरिवर्तनीय है । अतः नित्य सिद्ध विभाग को ही व्यास जी ने प्रचलित किया, यह तात्पर्य है । जैसे आजकल अनेक शाखायें लुप्त हो गयी हैं ऐसे तब प्रकृत विभाग लुप्त था जिसे शिवकृपा से व्यास ने प्राप्त किया और प्रचारित किया । अतएव 'महादेव की कृपा से' कहना सार्थक है । व्यास ने स्वतन्त्र होकर इदम्प्रथमतया वेदवाङ्मय में कोई हेर-फेर की, ऐसा नहीं समझना चाहिये ।) ॥ ४३ ॥ ऋग्वेद प्रथम बताया गया है । यजुर्वेद द्वितीय है । साम नामक वेद तृतीय है । अथर्ववेद चौथा कहा जाता है ॥ ४४ ॥ व्यासजी द्वारा ऋग्वेद इक्कीस प्रकारों से बाँटा गया है । हे द्विजो ! एक सौ भेदों में यजुर्वेद विभक्त किया गया ॥ ४५ ॥ नौ प्रकार से अथर्ववेद का विभाजन किया गया । गीतरूप साम के आश्रयभूत मन्त्रों वाला सामवेद हजार तरह से विभाजित किया गया । कृष्णद्वैपायन मुनि लोक में व्यास नाम से प्रसिद्ध ही इसलिये हुए कि उन्होंने अपने शिष्यों में विशिष्टरूप से समस्त वेद को स्थापित किया ॥ ४६ ॥ ये महायोगी व्यास साक्षात् सर्वज्ञ ईश्वर हैं । इन्हीं मुनीश्वर ने अद्भुत महाभारत का निर्माण किया है ॥ ४७ ॥

---

१. यथाक्रमं वेदो नित्य इति 'सनातनी श्रुति' रिति (श्लो. ४९) स्फुटीकरिष्यति । ततो लुप्तविभागान् परमेश्वरप्रसादादवाप्योपदेश एव चतुर्धाकरणं व्यासस्य न तु क्रमादौ स्वातन्त्र्येण परिवर्तनमित्यवधेयम् । संक्षिप्येति क्रियाविशेषणम् । २. ख. थर्वो वेदः । घ. ङ. तोऽथर्वा वेदः । ३. ख. °ष्णोरेवावतार° । ४. पुराणानां प्रण° । ५. क. ख. ग. °ष्येष्वस्यती° । ६. क. ग. घ. सार्वज्ञ्यं द्र° । ७. ङ. तस्यैतेन प्र.° । ८. ख. कस्त्वन्यः ।

तस्य शिष्या महाभागाश्चत्वारो मुनिसत्तमाः । अभवन्स मुनिस्तेभ्यः पैलादिभ्योऽददाच्छ्रुतीः ॥ ४८ ॥
तेभ्योऽधीता श्रुतिः सर्वैः साध्वी विप्राः सनातनी । तया वर्णाश्रमाचारः प्रवृत्तो वेदवित्तमाः ॥ ४९ ॥
पुराणानां प्रवक्तारं स मुनिर्मां न्ययोजयत् । तस्मादेव मुनिश्रेष्ठाः पुराणं प्रवदाम्यहम् ॥ ५० ॥
श्रद्धया परया युक्ताः शृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः । इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा नैमिषीयाः सनातनाः ॥ ५१ ॥
प्रणम्य सूतमव्यग्रं पूजयामासुरादरात् । सोऽपि सर्वजगद्धेतुं शंकरं परमेश्वरम् ॥ ५२ ॥
अम्बिकापतिमीशानमनन्तानन्दचिद्घनम् । ध्यात्वा तु सुचिरं कालं भक्त्या परवशोऽभवत् ॥ ५३ ॥
नमः सोमाय रुद्राय शंकराय महात्मने । ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणां ध्यानगम्याय शूलिने ॥ ५४ ॥
भक्तिगम्याय भक्तानां विदुषामात्मरूपिणे । स्वानुभूतिप्रसिद्धाय नमस्ते सर्वसाक्षिणे ॥ ५५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे ग्रन्थावतारकथनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पैलादिभ्यः पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यश्चतुरो वेदान्दत्त्वा ते यथा तत्प्रवर्तने नियुक्ता एवं पुराणानि मह्यं दत्वाऽहं नियुक्त इति तदाज्ञयैवेयं मया व्याक्रियत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ ॥ ४९ ॥ ॥ ५० ॥

शृणुध्वमिति व्यत्ययेनाऽऽत्मनेपदम् ॥ ५१ ॥

प्रणम्येति । पूर्वं दृष्ट्वा यथार्हमिति दर्शननिबन्धना पूजा । इह तु श्रवणारम्भनिबन्धने प्रणामपूजे मुनीनाम् । इत्थमेवं पृष्टो मुनिश्रेष्ठैरित्यत्र सूतेन शिवस्य प्रणिधानं चाक्षुषदीक्षार्थम् । इह तु प्रणिधानं पुराणारम्भायेति । सर्वजगद्धेतुमिति जगतामुपादान-रूपेण । **शंकरं परमेश्वरमिति** निमित्तरूपेण । **अम्बिकापतिमिति** लीलावतारूपेण **अनन्तानन्दचिद्घनमिति** निष्कलरूपेण प्रणिधानमिति ॥ ५२ ॥ ॥ ५३ ॥

भक्तिपारवश्यादेव तन्मुखादप्रयत्नेनेयमुद्गता स्तुतिः । **नमः सोमायेति** । सोमश्चन्द्रः शिवस्य सप्तमी मूर्तिः । इदं च पृथिव्यादि-मूर्त्यन्तरसप्तकस्याप्युपलक्षणम् । उमया वा सहितः सोमः । रुद्रम्(रुदम्) अनिष्टं संसारं द्रावयतीति रुद्रः । उक्तं च वायवीयसंहितायाम्—'रुद्दुःखं दुःखहेतुं[1] च विद्रावयति नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्माच्छिवः परम[2]कारणम्' ॥ इति । न केवलमनिष्टनिवृत्ताविष्टप्राप्तावपि स एव कारणमित्याह—**शंकरायेति** । भक्तिव्यतिरिक्तैरुपायसहस्रैरप्यगम्यत्वकथनाय तस्य निरतिशयं प्रभावमाह-**महात्मने** इति । तदुपपादनाय भक्तिविरहे प्रबलानामपि प्रयत्नास्तत्र कुण्ठिता इत्याह—**ब्रह्मविष्णुसुरेन्द्राणा-मिति** । उक्तं हि तलवकारोपनिषदि 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इत्यारभ्य परंशिवानुग्रहेणैव प्राप्तविजया इन्द्रादयः स्वमाहात्म्यनिबन्धनमेव तं विजयं मेनिरे । शिवश्च तेषां विनाशहेतुं मदमपनेतुं दूरे दिव्येन ज्योतिर्मयेन रूपेणाऽऽविरासीत्किमिदं लोकोत्तरं रूपमिति विमृशन्तोऽपि ते तं नाज्ञासिषुः । तदाह 'तन्न व्यजानत किमेतद्यक्षमिति' [3]यक्षं यजनीयं पूजार्हमिति । ततस्तज्जिज्ञासया गतयोरग्निवाय्वोः प्रतिहतयोः स्वयं गतायेन्द्राय देवो दर्शनमपि न प्रादात् । ततो व्यपगतमदाय निरतिशय-भक्तियुक्ताय तत्रैव हैमवतीरूपेणावतीर्य व्याहार्षीत्'परशिवोऽयं भवतां विनाशहेतुं मदमपनेतुमनुग्रहेणाऽऽविरासीदि'ति । तदिदमुक्तं—**ध्यानगम्यायेति** ॥ ५४ ॥ **भक्तिगम्यायेति** भक्तेः फलभूतं ज्ञानयोगमाह—**विदुषामात्मरूपिण** इति । विदुषो निजस्वरूपज्ञानिनः स्वात्मानमेव प्रापयतीत्यर्थः । इत्थंभूतस्य शिवस्य स्वरूपमाह—**स्वानुभूतिप्रसिद्धायेति** । स्वयं स्वतन्त्र एव भासते न प्रकाशान्तरेण । स्वातिरिक्तस्य च सर्वस्य भाने स्वयमेव हेतुर्भवति । "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" इति च श्रुतेरित्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे ग्रन्थावतारकथनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पैल आदि चार श्रेष्ठ मुनि व्यास के शिष्य हुए । उन्हें व्यास ने वेद का ग्रहण कराया ॥ ४८ ॥ हे विप्रो ! बाकी सबने सनातन विशुद्ध वेद उन व्यासशिष्यों के मुख से पढ़ा । हे वेदज्ञवरो ! उस वेद से वर्णों का व आश्रमों का आचार प्रवृत्त हुआ है ॥ ४९ ॥ उन मुनिश्रेष्ठ व्यास ने पुराणों के प्रवक्ता रूप से मुझे नियुक्त किया । अतएव गुरु-आज्ञा से मैं पुराण का प्रवचन करता हूँ ॥ ५० ॥ हे मुनिवरो ! आप लोग परम श्रद्धा से मेरे द्वारा बताये जाने वाले व्यासप्रणीत पुराण का श्रवण करें । इतना सुनकर नैमिषारण्य के सनातनधर्मावलम्बी उत्तम मुनियों ने ॥ ५१ ॥ प्रशान्त सूत जी का आदरपूर्वक पूजन किया । ॥ ५२ ॥ वे सूतजी भी सारे संसार के सर्वविधकारण, कल्याणकारी, अम्बिका के पति, अनन्त आनन्द व ज्ञान के मूर्तिमान् रूप, ईशानश्रुति प्रोक्त परमेश्वर का काफी समय तक ध्यानकर भक्ति के परवश हुए और यों स्तुति करने लगे—॥ ५३ ॥ चन्द्र मूर्तिधारी व उमासहित भगवान् सोम को नमस्कार है । अनिष्टभूत संसार की निवृत्ति कराने वाले रुद्र को नमस्कार है । समस्त अभीप्सित प्रदाता शङ्कर को प्रणाम है । निरतिशय सामर्थ्य वाले और दयालु महात्मा शिव को नमस्कार है । ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि भी जिसे ध्यानपूर्वक ही प्राप्त कर पाते हैं उन दुष्प्राप्य शूलधारी को नमस्कार है ॥ ५४ ॥ भक्तों को भक्ति से प्राप्त होने वाले और आत्मवेत्ता को स्वस्वरूपतया भासित होने वाले महादेव को प्रणाम है । निज अनुभूतिरूप से सभी के लिये प्रसिद्ध तथा समस्तसाक्षी आप शम्भु को नमस्कार है ॥ ५५ ॥

---

१. क. ख. ग. °हेतुर्वा वि° । २. ख. कारण इति । ३. ङ. यष्टव्यं ।

द्वितीयोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः— सर्वं जगदिदं[1] विद्वन्विभक्तं[2] केन हेतुना ।

उत्पन्नं [3]केनचित्तस्मादनित्यं च[4] ततः[5] पशुः ॥ १ ॥

अज्ञत्वान्नैव हेतुः स्यान्न च प्रकृतिरेव च । अतः सर्वजगद्धेतुरन्य एव तपोधन ॥ २ ॥

अथ पाशुपतव्रतपूर्वकं देवोपदेशादनुभवपर्यन्तं बोधो भवतीति वक्तुं द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । तत्रास्ति किंचिज्जगतः कारणमिति सामान्यतो जानन्त इदं तदिति विशेषेणाजानन्तो मुनयस्तज्जिज्ञासया सूतं पप्रच्छुः—**सर्वं जगदिदं विद्वन्निति** । प्रश्नोपपत्तये सामान्यतो ज्ञानहेतुमाह—**उत्पन्नं केनचिदिति** । अनित्यत्वादेव [6]जगदुत्पत्तिमदुत्पत्तिश्च न विना [7]कारणेन । अतोऽस्ति किंचित्कारणमिति सामान्यतो ज्ञातमित्यर्थः । अधुना विशेषेण ज्ञाने कारणमाह—**ततः पशुरिति** ॥ १ ॥

अज्ञत्वादिति । जगत उपादानादिज्ञानमन्तरेण तत्कर्तृत्वासिद्धेर्जीवस्य परिच्छिन्नज्ञा[8]नत्वात्प्रकृतेश्च जडत्वेन तदभावान्न तत्कारणतोपपत्तिरित्यर्थः । मलमायाकर्मलक्षणपाशत्रयबद्धा[9] जीवाः पशवः । तत्र मलपाशमात्रबद्धा विज्ञानकलाः । ते द्विविधाः । समाप्तकलुषा असमाप्तकलुषाश्च । आद्या विद्येशाः । द्वितीयाः सप्तकोटिमहामन्त्रात्मकाः । मलकर्मलक्षणपाशद्वयबद्धाः प्रलयकलाः । तेऽपि मलकर्मणोः परिपाकभावाभावाभ्यां द्विविधाः । येषां तत्परिपाको नास्ति ते कर्मवशान्नानायोनिषु जायन्ते । येषां तु मलकर्म[10]परिपाकोऽस्ति तेषु केषुचिदीश्वरानुग्रहाद्भुवनपतयो भवन्ति । पाशत्रयबद्धास्तु कलादियोगात्सकलाः । तत्राष्टादशाधिकशतसंख्याकाः शिवानुग्रहान्म[11]न्त्रेश्वरा भवन्ति । तत्र शतरुद्राः शतमण्डलिनोऽष्टौ [12]क्रोधादयोऽष्टौ श्रीकण्ठवीरेश्वरौ चेति । तद्व्यतिरिक्तानां मध्ये येषां मलत्रयपरिपाकस्तानाचार्यरूपेण शिव एव दीक्षयाऽनुगृह्णाति । अपरिपक्वमलांस्तु मलपरिपाकार्थं भोगाय नानायोनिषु विनियुङ्क्ते । एते सर्वेऽपि पशवः सत्यपि ज्ञानोत्कर्षतरतमभावे सार्वज्ञ्याभावान्न जगतः कर्तारः । प्रकृतेस्तु जडत्वात्तद्दूरत एव कर्तृत्वम् । अतोऽन्येनैव केनचित्सर्वज्ञेन जगतः कर्त्रा भवितव्यम् ॥ २ ॥

पाशुपतव्रत नामक दूसरा अध्याय

नैमिषारण्य के मुनियों ने सूत जी से पूछा— हे विद्वन् ! यह सारा जगत् अनित्य है अतः किसी से उत्पन्न हुआ है । वह कौनसा कारण है जिससे यह विचित्र विभागों वाला जगत् उत्पन्न हुआ है ? जीवरूप पशु नाना होने के कारण और ॥ १ ॥ अत्यन्त अल्पज्ञ होने से जगत् का कारण हो ही नहीं सकता (क्योंकि कुलाल आदि घटकारण उपादानादि का ज्ञाता देखा गया होने से जगत्कारण को भी समस्त जगत् के उपादानादि का ज्ञाता होना आवश्यक है व जीव में ऐसा ज्ञान अनुभवविरुद्ध है । विशिष्ट जीव में उसकी कल्पना दृष्टान्त के अभाव में अप्रामाणिक है । शास्त्रसिद्ध कारण में तो दृष्टान्त आदि तर्क से निरपेक्ष ही प्रामाणिकता है ।) और प्रकृति भी ज्ञानशून्य अर्थात् जड होने से जगत् की उत्पादिका सर्वथा नहीं हो सकती । (संसार में सर्वत्र सुख, क्रिया व मोह दीखने से इसके कारण में भी इनकी अवस्थिति मानकर सांख्यवाद ने एक प्रकृति नामक तत्त्व की कल्पना की है जो सत्त्वादि तीन गुणों की साम्यावस्था है । वे मानते हैं कि जैसे चेतनव्यापार के विना दूध परिवर्तित हो जाता है—फट जाता है—वैसे प्रकृति ही महान् आदि क्रम से स्वयमेव परिवर्तित हो जगत् के आकार में बन जाती है । किन्तु संसार में उपलब्ध नानाविध और नियत प्रवृत्ति अचेतन प्रकृति का विकारमात्र मानना स्वभाववाद का ही प्रच्छन्नरूप होने से अनुभव व युक्ति से सर्वथा विरुद्ध है । अतः मुनियों ने उसकी भी अकारणता सिद्धवत् कह दी है ।) हे तपोधन सूत जी ! अतः सारे संसार का कारण जीव व प्रकृति से अन्य ही कोई है ॥ २ ॥

---

१. क. ख. °दं ब्रह्मन्वि° । २. स्वभाववादः स्थविष्ठतयाऽनुत्तरमिति सूचयन्तो 'विभक्तमि'त्याहुः । ३. असदकारणमिति जानीम इति शून्यस्य कारणतां मा वोच इति सूचयितुं 'केनचिदि'ति । ४. नाशहेतुरपि पृष्टप्राय इति चकारार्थः । ५. तत इति विभक्तत्वं पशोरहेतुत्वेन परामृश्यते । ६. ङ. जगदुत्पत्तिश्च । ७. घ. कारणत्वेन । ८. ङ. °ज्ञानवत्त्वात् । ९. 'मलोमाया कर्मतत्त्वतिरोधानञ्च ते मताः । मलो ज्ञानक्रियाशक्त्याऽऽच्छादकोधर्म इष्यते । रागादिहेतु र्माया स्यात् कर्म पुण्यं च पातक'मिति शैवागमेषु । १०. ख. °र्मविपा° । ११. °मन्त्रेशा म° । १२. क. ख. ग. क्रोधाद्यादयो° ।

तमस्माकं महाभाग ब्रूहि पुण्यवतां वर । सूत उवाच : पुरा विष्ण्वादयो देवाः सर्वे संभूय कारणम् ॥ ३ ॥
विचार्य जगतो विप्राः संशयाविष्टचेतसः[१] । अतीव सुखदं शुद्धं रौद्रं लोकं समागमन् ॥ ४ ॥

तेषां मध्ये महादेवः संसारद्रावको हरः । रुद्रः परमकारुण्यः स्वयमाविरभूद् द्विजाः ॥ ५ ॥

अदृष्टपूर्वं तं दृष्ट्वा देवा विष्णुपुरोगमाः । प्रणिपत्य महादेवमपृच्छन्को भवानिति ॥ ६ ॥

सोऽब्रवीद्भगवान्रुद्रः पशूनां पतिरीश्वरः । सर्वज्ञः सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूतः सनातनः ॥ ७ ॥

अहमेको जगद्धातुरासं प्रथममीश्वरः । वर्तामि च भविष्यामि न मत्तोऽन्योऽस्ति कश्चन ॥ ८ ॥

कोऽसाविति मुनीनां जिज्ञासा । अत्रोत्तरमथर्वशिरसि स्थितयाऽऽख्यायिकयैव सूत आह–पुरा विष्ण्वादयो देवा इति । अतीव सुखदं शुद्धमिति । तथा च श्रुतिः–'देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन्' इति । तदाहुः–'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम्' इति ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥

परमकारुण्यः करुणैव कारुण्यम् । 'चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे' इति ष्यञ् । तमाविर्भूतं रुद्रं देवाः को भवानित्यपृच्छन् । तदाह श्रुतिः–'ते[२] देवा रुद्रम[३]पृच्छन्को भवानिति' इति ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥

पशूनां पतिः । उक्तलक्षणानां त्रिविधानां पशूनामनुग्रहेण पालनात्पतिः । उक्तं हि मृगेन्द्रसंहितायाम्–'अथानादिमलापेतः सर्वकृत्सर्वदृक् शिवः । पूर्वं व्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति' ॥ इति । पाशानां स्वव्यापारे सामर्थ्याधानात्पशूनां भोगापवर्गप्रदानाच्च तेषामीष्ट इतीश्वरः यथाऽऽहुरागमिकाः–'भुक्तिं मुक्तिमणूनां स्वव्यापारे समर्थनाधानम् । जडवर्गस्य विधत्ते सर्वानुग्राहकः शंभुः' ॥ इति । सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूत इति । आप्रलयमवस्थितानि तत्त्वानि प्रलयेऽप्यवस्थानात्तु सनातनः शिवः सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूतः । तदुक्तम्–'आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम् । तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादि तत्त्वमतः' ॥ इति ॥ ७ ॥

रुद्रस्योत्तरम्–अहमेक इति ।[४] जगद्धातुर्ब्रह्म[५]णः सकाशादपि प्रथमम् अहमासं वर्तामि[६] भविष्यामि च एकैककालकृतपरिच्छेद-विरहाभिप्रायं नतु कालत्रयसंबन्धाभिप्रायम् अहमेक इति न मत्तोऽन्य इति च स्वातिरिक्तस्य कालस्यापि निरासात् । अतएव चैक इत्यपि द्वित्र्यादिसंख्यासंबन्धनिरासो विवक्षितो नैकत्वसंबन्धः । यदाह श्रुतिः–'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्तः' इति ॥ ८ ॥

हे पुण्यवानों में उत्तम रोमहर्षण जी ! वह कारण हमें बताइये ।

सूतजी ने उत्तर दिया–हे विप्रो ! पूर्वकाल में एकदा विष्णु आदि सब देवताओं ने मिलकर जगत् के कारण के विषय में ॥ ३ ॥ विचार किया किन्तु किसी निर्णय पर न पहुँच सके अतः संशयापन्न हो अत्यन्त सुखप्रद, निष्पाप रुद्र लोक को गये ॥ ४ ॥ हे द्विजो ! संसार का प्रमोष कराने वाले, दोषों का हरण करने वाले, दुःख नष्ट करने वाले, परम करुणा वाले महादेव स्वयं उन देवताओं के बीच प्रकट हुए ॥ ५ ॥ पूर्व में कभी न देखे उन महादेव को देखकर विष्णु-प्रमुख देवताओं ने उन्हें नमस्कार कर पूछा, 'आप कौन हैं ?' ॥६ ॥ जीवरूप पशुओं के पालक व शासक, सर्वज्ञ, सब तत्त्वों की अपेक्षा अधिक तात्त्विक अर्थात् पारमार्थिक एवं नित्य उन भगवान् रुद्र ने कहा–॥ ७ ॥ जगत् का धारण करने वाले ब्रह्मा से भी पहले मैं ईश्वर अकेला ही था, हूँ और रहूँगा । मुझ से भिन्न कोई नहीं है । (अर्थात् मैं वह अद्वितीय हूँ जो सदा काल आदि सद्वय संसार से असृष्ट रहता है ।) ॥ ८ ॥

---

१. संशयस्य विचाराङ्गत्वमनेन द्योतितम् । २. ङ. तं । ३. घ. °द्रमापृ° । ४. क्वचिन्मूले जगद्धेतुरिति पाठः । ५. ख. °ह्मणोऽपि । ६. ख. °मि च भ° ।

मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तं जगत्सर्वं चराचरम् । साऽपि मत्तः पृथग्विप्रा नास्त्येव परमार्थतः ॥ ९ ॥

कथं तर्हि लोकस्य चराचरजगद्गोचरोऽनुभव इत्यत आह—**मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तमि**ति । तर्हि तयैव मायया सद्वितीयत्वं चेन्न, तस्या अपि परमार्थतः सत्त्वाभावादित्याह—**साऽपी**ति । अयमभिसंधिः—यदनुविद्धानि हि यान्यवभासन्ते तत्र तानि परिकल्पितानि, यथाऽयं सर्पोऽयं दण्ड इयं धारेति रज्ज्वा इदमंशेनानुविद्धतया भासमानाः सर्पदण्डधारादयस्तत्र परिकल्पिताः । सदनुविद्धं चेदं सकलं जगदवभासते—सन्घटः सन्पट इति, अतः सन्मात्ररूपे परशिवे विश्वं परिकल्पितम् । नच तस्य सन्मात्रस्यानवभा[१]सने तदनुवेधेन कल्पितावभाससंभव, इति सदैव तस्य प्रकाशोऽभ्युपगन्तव्यः । नच तस्य प्रकाशकान्तरं किंचिदस्ति । स्वव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य कल्पिततया जडत्वात् । अतः स्वप्रकाशतया तदेव चिद्रूपम् । तथा च श्रूयते—'सद्धीदं सर्वं सत्सदिति । चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च' इति । तस्य च स्वात्मनो[२]ऽनतिरेकादात्[३]मनः परमप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपत्वात् । श्रुतिभिश्च परानन्दैकरसत्वं प्रतिपादितम् । इत्थं सच्चिदानन्दैकरसः परमात्मा **मन्माये**त्यत्र मच्छब्देनोच्यते । कल्पितस्य जगतोऽनाद्यनन्तत्वे सर्वदोपलम्भप्रस[४]ङ्गान्न कादाचित्कत्वम् । कादाचित्कस्य च कारणापेक्षत्वात्तदनुरूपं किंचित्कल्पितमुपादानमङ्गीकर्तव्यम् । सत्योपादानत्वे कार्यस्यापि कल्पितत्वव्याघातात्तस्य च कारणस्याऽऽदिमत्त्वे तादृक्कारणान्तरकल्पनानवस्था[५]पातादनाद्येव तत्स्वीकर्तव्यं सेयमुच्यते **माये**ति । सा च सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकाऽपि न सांख्याभिमतप्रधानवत्स्वतन्त्रा किंत्वीश्वरस्य परतन्त्रेत्याशयेन **शक्ति**रित्युक्तम् । 'शक्तिरिति परतन्त्रतामाहे'ति विवरणाचार्याः । ते च गुणाः परस्पराभिभवात्मकाः । उक्तं हि गीतासु—'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत । रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा' ॥ इति । [६]तेन सा माया त्रेधा भवति । रजस्तमसोरत्यन्ताभिभवेन विशुद्धसत्त्वात्मिका तावदेका । ईषदुद्भूताभ्यां रजस्तमोभ्यां मलिनसत्त्वात्मिका द्वितीया । तमसोऽत्यन्तमुद्भवेनात्यन्ताभिभूतयोः सत्त्वरजसोरसत्प्रायत्वात्केवलतमोमयी तृतीयेति । तत्र मन्मायेत्यत्र मच्छब्दोपलक्षितं मायातीतं सच्चिदानन्दैकरसं परशिवस्वरूपम् । विशुद्धसत्त्वप्रधाना तु माया मायिनं न वशी करोति । किंतु तस्य वशे वर्तते । तथाच स्वाधीनमायोपाधिविशिष्टं तदेव परशिवस्वरूपमिह मच्छब्देनाभिधीयमानमीश्वरो जगत्कर्ता सर्वज्ञो भोगप्रद इत्यादि शब्दैरुच्यते । उक्तं हि व्यासेन—'फलमत उपपत्तेः' इति । मलिनसत्त्वप्रधाना तु मायिनं वशी करोति । तद्वशीकृतं च चैतन्यं जीवः संसारी कर्ता भोक्तेत्यादि[७]भि-रुच्यते । केवलतमोमयी तु स्वाश्रयमसत्प्रायं कृत्वा भूतभौतिकजगदात्म[८]कभोग्यरूपेण च विवर्तते । तत्र मच्छब्देनाभिहितो य ईश्वरो भोगप्रदस्तत्परतन्त्रा माया **मन्मायाशक्ति**रित्युक्ता, तयैव द्वितीयां दशां प्राप्तयोपाधिभूतया विशिष्टा भोक्तारो जीवाश्चरशब्दे-नोक्ताः । तयैव तृतीयां दशां प्राप्तयोपाधिभूतया विशिष्टं भोग्यं जडं [९]जगदचरमित्युच्यते । इत्थं भोगप्रदभोक्तृभोग्यविभागकल्पिकाया मायायाः कल्पितत्वान्मायातीतपरशिवव्यतिरेकेण परमार्थतो न भाव[१०] इति । तदुक्तं श्वेताश्वतरोपनिषदि—''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म[११]मेतत्' इति । यावद् ब्रह्म न जानाति तावत्प्रेरयिता भोगप्रद ईश्वरः, भोक्ता जीवः, भोग्यं जगदिति विभागः । ब्रह्म [१२]मत्वा तु स्थितस्यैतत्त्रिविधं ब्रह्मैव भवति । अतो मायाशक्तिसंक्लृप्तमित्यर्थः । आगमिका अप्याहुः —'शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत् । शिवो यजति यज्ञैश्च यः शिवः सोऽहमेव हि' ॥ इति । मायातीतः शिव एव स्वमायया भोगदाता भोक्ता भोग्यं च भवति । यदा तु भोक्ता शिवं साक्षात्कुरुते तदा विभागहेतुभूताया मायाया नाशात्स्वयं शिवरूपतामेव प्रतिपद्यत इत्यर्थः । अयमर्थः सर्वोऽग्रे प्रपञ्चेन भविष्यति ॥ ९ ॥

हे वेदज्ञ देवताओ ! मेरी मायाशक्ति से कल्पित यह सारा जड-चेतन जगत् है । वह माया भी मुझसे अलग कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है । (यद्यपि शिव सनातन अद्वितीय हैं तथापि हमें द्वैत-प्रतीति है जो किसी प्रतीतियोग्य कारण के बिना अनुपपन्न होती हुई जगत् के समान योग-क्षेम वाले उसके कारण की कल्पना कराती है जिसका अनुवाद शास्त्र में माया आदि शब्दों से किया गया है । 'है' व 'नहीं है' इन प्रकारों से समझी न जा सकने से वह माया कही गयी है, जगत् का मूल होने से प्रकृति है, प्रबोध से निवृत्त होने के कारण अविद्या है तथा शिव के परतंत्र होने से वह उनकी शक्ति कही गयी है । इस मायिक मायाशक्ति से ईश्वर, जीव और जगत्—ये भेद कल्पित हैं । जैसे रज्जुसर्प की प्रतीति की कथंचिद् उपपत्ति के लिये उसके कारण आदि सब मान लिये जाते हैं जबकि वस्तुतः सर्प ही नहीं तो उसका कैसा भी कारण वस्तुतः होना असंभव है, वैसे ही हमारी द्वैतप्रतीति से अविद्या स्वीकार्य है, वस्तुतः तो यह है ही नहीं । 'मुझसे भिन्न' आदि का यही अर्थ है कि जैसे रस्सी से भिन्न सर्पादि नहीं होता वैसे शिव से भिन्न मायाशक्ति आदि नहीं है ।) ॥ ९ ॥

---

१. क. ख. ग. °भासे त° । २. ख. °नोऽव्यति° । ३. क. ख. ग. °त्मनश्च प° । ४. ङ. °सङ्गात्कादा° । ५. ग. °स्थाव्याघाता° । ६. ङ. तेन मा° । ७. दिशब्दैरु° । ८. क. ख. °त्मभोग्य° । ९. ङ. जगच्चरा- चर° । १०. भ. भवति । ११. ङ. °ह्म चैतत् । १२. ङ. मत्वोपरिस्थि° ।

[१]मामेवं वेदवाक्येभ्यो जानात्याचार्यपूर्वकम् । यः पशुः स विमुच्येत ज्ञानाद्वेदान्त[२]वाक्यजात् ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा भगवान्रुद्रः स्वं पूर्णं रूपमाविशत् । नापश्यन्त ततो रुद्रं देवा विष्णुपुरोगमाः ॥ ११ ॥

अथर्वशिरसा देवमस्तुवंश्चोर्ध्वबाहवः । अन्यैर्नानाविधैः सूक्तैः श्रीमत्पञ्चाक्षरेण च ॥ १२ ॥

पुनः साक्षांच्छिवज्ञानसिद्ध्यर्थं मुनिपुङ्गवाः । अग्निहोत्रसमुत्पन्नं भस्माऽऽदायाऽऽदरेण तु ॥ १३ ॥

निधाय पात्रे शुद्धे तत्पादौ प्रक्षाल्य वारिणा । द्विराचम्य मुनिश्रेष्ठाः सपवित्राः समाहिताः ॥ १४ ॥

ओमापः सर्वमित्येतन्मन्त्रमुच्चार्य भक्तितः । ध्यात्वा विष्णुं जलाध्यक्षं गृहीत्वा भस्म वारिणा ॥ १५ ॥

विमृज्य मन्त्रैर्जाबालैरग्निरित्यादिसप्तभिः । समाहितधियः शुद्धाः शिवं ध्यात्वा शिवामपि ॥ १६ ॥

उक्तमायापरिहारेण शिवस्वरूपप्राप्तावुपायमाह—मामेवमिति । वेदवाक्येभ्य इति तत्त्वमसीत्यादिभ्यः । स [३]एव मुख्य उपायः । 'तं त्वौपनिषदम्' इति श्रुतेः । आचार्यपूर्वकमिति । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति श्रुतेः । 'यो जानाति सोऽज्ञानान्मुच्यते' इति । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति । 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' । 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति च श्रुतेः ॥ १० ॥

इत्थं गुरूपदेशादेव ज्ञातव्यं स्वरूपमुपदिश्य तत्साक्षात्कारसाधनानां पाशुपतव्रतप्रणवपञ्चाक्षरजपादीनां शास्त्रत एव देवैर्ज्ञातुं शक्यत्वेन कर्तव्याभावाच्छिवः स्वप्रतिष्ठोऽभवदित्याह—इत्युक्त्वा भगवान्रुद्र इति ॥ ११ ॥

उपदेशपरितुष्टास्तुष्टुवुरित्याह—अथर्वशिरसा देवमिति । 'यो वै रुद्र' इत्यादिनेत्यर्थः । तदाह श्रुतिः—'ततो देवा रुद्रं नापश्यंस्ते देवा रुद्रं ध्यायन्ति । ततो देवा ऊर्ध्वबाहवः स्तुवन्ति यो वै रुद्रः स भगवानि'त्यादि । अलभ्यलाभनिबन्धनस्य हर्षोत्कर्षस्य लिङ्गमूर्ध्वबाहुत्वम् । अन्यैर्नानाविधैः सूक्तैरिति शतरुद्रियादिभिः ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥

ॐमापः सर्वमिति । 'ॐमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः [४]स्वरोम्' इत्येतन्मन्त्रमित्यर्थः । सर्वशब्देनार्थद्वारा ज्योतिरादयः शब्दा गृह्यन्ते ॥ १५ ॥

अग्निरित्यादीति । सप्तभिरिति शब्दपरो निर्देशः । आदिशब्देन जलमिति[५] स्थलमित्यादयो गृह्यन्ते ॥ १६ ॥

जो जीवरूप पशु गुरु द्वारा समझाये वेदवाक्यों से मुझे अद्वितीयादि समझ लेता है वह उस वेदान्तमहावाक्य से उत्पन्न ज्ञान के कारण इस माया के पाश से छूट जाता है ॥ १० ॥—इतना कहकर भगवान् रुद्र तत्काल गृहीत मायिक विग्रह को छोड़ अपने सर्वोपाधिशून्य रूप से पुनः स्थित हो गये । तदनन्तर विष्णु आदि देवों ने रुद्र को नहीं देखा ॥ ११ ॥ देवताओं ने हर्षोत्कर्षवशात् हाथ उठाकर महादेव की अथर्वशिर उपनिषत् के मन्त्रों द्वारा, शतरुद्रीय आदि अन्य नाना प्रकार के सूक्तों द्वारा और पंचाक्षर मन्त्र द्वारा स्तुति की ॥ १२ ॥ हे श्रेष्ठ मुनियो ! तदनन्तर शिव के साक्षात्कार के उद्देश्य से देवताओं ने श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र से समुत्पन्न भस्म लेकर, ॥ १३ ॥ उसे शुद्ध पात्र में रखकर, पानी से अपने पाँव धोकर, दो बार आचमन कर, अंगुली में कुश के पवित्र को धारणकर, एकाग्र होकर, ॥ १४ ॥ भक्तिपूर्वक 'ॐ आपः' इत्यादि पूरे मन्त्र का उच्चारण कर, जल के अधिष्ठाता विष्णु का ध्यानकर, हाथ में भस्म लेकर, उसे ॥ १५ ॥ जाबालोपनिषत् में बताये 'अग्निरिति भस्म' इत्यादि सात मन्त्रों का उच्चारण करते हुए जल से मिलाकर, एकाग्रचित्त वाले हुए उन शुद्ध देवताओं ने शिव-पार्वती का ध्यान कर ॥ १६ ॥

---

१. ख. °मामेव वेद° । २. घ. °न्तशास्त्रजा° । ३. क. ख. ग. एव हि मु° । ४. ख. सुवरोम् । ५. क. ख. °ति भस्म स्थ° ।

[१]समुद्धूल्य मुनिश्रेष्ठा आपादतलमस्तकम् । सितेन भस्मना तेन ब्रह्मभूतेन भावनात् ॥ १७ ॥

ललाटे हृदये कुक्षौ दोर्द्वंद्वे च सुरोत्तमाः । त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्वा ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥ १८ ॥

एवं कृत्वा व्रतं देवा अथर्वशिरसि स्थितम् । शान्ता दान्ता विरक्ताश्च त्यक्त्वा कर्माणि सुव्रताः ॥ १९ ॥

वालाग्रमात्रं विश्वेशं जातवेदस्वरूपिणम् । हृत्पद्मकर्णिकामध्ये ध्यात्वा वेदविदां वराः ॥ २० ॥

सर्वज्ञं सर्वकर्तारं समस्ताधारमद्भुतम् । प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयामासुरीश्वरम् ॥ २१ ॥

अथ तेषां प्रसादार्थं पशूनां पतिरीश्वरः । उमार्धविग्रहः श्रीमान्सोमार्धकृतशेखरः ॥ २२ ॥

नीलकण्ठो निराधारो निर्मलो निरुपप्लवः । ब्रह्मविष्णुमहेशानैरुपास्यः परमेश्वरः ॥ २३ ॥

सांनिध्यमकरोद्रुद्रः साक्षात्संसारनाशकः । यं प्रपश्यन्ति वेदान्तैः स्वरूपं सर्वसाक्षिणम् ॥ २४ ॥

ब्रह्मभूतेनेति । ब्रह्मत्वेन भाव्यमानतया ब्रह्मीभूतेनेत्यर्थः ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ ॥ १९ ॥

वालाग्रमात्रमिति । अतिसूक्ष्मे दहराकाश उपलभ्यमानत्वादीशस्य वालाग्रमात्रत्वम् । जातमाविर्भूतं वेदो ज्ञानं तदेव स्वरूपं तद्वन्तम् । यद्वा चरमसाक्षात्कारवृत्त्यभिव्यक्तेः सकारणं संसारं दहतीति जातवेदा इत्यग्नित्वारोपः । श्रूयते हि—'वालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातवेदं वरेण्यम्' इति ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥

अथ तेषामिति । **प्रसादो** नैर्मल्यं संस्काराविद्यानिवृत्तिस्तदर्थमित्यर्थः । ननु व्रतादिभ्यः पूर्वमपि देवैः शिवः साक्षात्कृतः सन्नुपदिदेशेत्युक्तम् व्रतादिभिः को विशेषो जात इति ? न । सकलं रूपं तत्र साक्षात्कृतम् । निष्कलं तु शिवेनोपदिष्टं सच्छब्दतः परोक्षतयैव ज्ञातम् । अधुना तु व्रतादिभिः प्रतिबन्धकदुरितप्रक्षयाद्यप्राक्परोक्षतया ज्ञातं तदेव निष्कलं तत्त्वं प्रत्यक्षतोऽपश्यन्निति विशेषः । नन्वत्राप्युमार्धविग्रहः सोमार्धकृतशेखर इति सकलमेव रूपमुच्यते ? न । यः प्राग्दृष्टः सकल उमार्धविग्रहादिरूप इत्यनूद्य स एव निराधारत्वनिर्मलत्वादिना निष्कलरूपेण साक्षात्सांनिध्यमपरोक्षज्ञानविषयभावमकरोदिति विधानात् । **निराधारः** स्वमहिमप्रतिष्ठत्वात् । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः । मायापारतन्त्र्यलक्षणकालुष्यविरहान्नैर्मल्यम् । अत एव मायाकार्यसंसारोपप्लवविरहान्निरुपप्लवः ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥

तदेव साक्षात्क्रियमाणं निष्कलं रूपं सकलाद्विविच्य विशदीकर्तुमाह—**यं प्रपश्यन्तीत्यादिभिः** । **वेदान्तैः** 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिभिः पदार्थ[२]पदैरवान्तरवाक्यगतैः, 'तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मी' त्यादिभिर्महावाक्यगतैश्च पदैरभिधावृत्त्या सगुणं रूपं ज्ञात्वा लक्षणया निष्कलं रूपं पश्यन्तीत्यर्थः । तथाहि— सत्यज्ञानानन्तानन्दशब्दाः परापरजातियाचिनस्तदाधारभूतामेकामानन्दव्यक्तिं ब्रह्मत्वेन लक्षयन्ति । 'तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मी' त्यादौ च तदादीनि पदानि सर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वादिविशिष्टं, त्वमादीनि च

उस श्वेत भस्म में ब्रह्मदृष्टि करते हुए उससे अपने पूरे शरीर को उद्धूलित कर ॥ १७ ॥ ललाट, हृदय, पार्श्व तथा भुजाओं पर ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूप त्रिपुण्ड्र लगाकर ॥ १८॥ यों अथर्वशिर उपनिषत् में बताये व्रत का अनुष्ठान कर इन्द्रियों को व मन को नियंत्रित किये हुए और वैराग्यवान् हुए उन देवताओं ने कर्मों को छोड़ कर ॥ १९ ॥ अपने-अपने हृदयकमल की कर्णिका पर (कमल पुष्प के बीच चपटा भाग कर्णिका होता है) स्थित बाल की नोक की तरह सूक्ष्म और स्फुट ज्ञान स्वरूप विश्वेश्वर का ध्यान कर ॥ २० ॥ सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, समस्त संसार के आधार, संसार से विलक्षण ईश्वर की केवल प्रणवमंत्र से पूजा की ॥ २१ ॥

व्रतपूर्वक उस पूजन के अनन्तर उन देवताओं की अविद्या निवृत्त करने के लिए पशुपति, सर्वशासक, आधे शरीर में उमा का धारण करने वाले, वैभव युक्त, चन्द्रार्धरूप शिरोभूषण वाले ॥ २२ ॥ नीले कण्ठ वाले, किसी अन्य पर आधारित न होने वाले, माया के अपरतन्त्र, संसार से अस्पृष्ट, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रद्वारा उपास्य परमेश्वर ॥ २३ ॥

१. घ. समुद्धृत्य । २. पदार्थबोधकपदैरित्यर्थः । महावाक्यघटकपदानामर्थबोधकवाक्यान्यवान्तरवाक्यानि ।

तमेव शंकरं साक्षाद्दृशुः सुरसत्तमाः । यं न पश्यन्ति दुर्वृत्ताः श्रौतस्मार्तविवर्जिताः ॥ २५ ॥

तमेव शंकरं साक्षाद्दृशुर्देवपुङ्गवाः । यत्प्राप्त्यर्थं द्विजैर्वेदा अधीयन्ते समाहितैः ॥ २६ ॥

तमेव रुद्रमीशानं ददृशुस्त्रिदशा भृशम् । यं यजन्ते मुनिश्रेष्ठाः श्रद्धया ब्राह्मणोत्तमाः ॥ २७ ॥

तमेव परमं देवं ददृशुः स्वर्गवासिनः । यं प्रपश्यन्ति देवेशं योगिनो दग्धकिल्बिषाः ॥ २८ ॥

तमेव सर्वमानन्दं ददृशुर्लोकनायकाः । यस्य प्रसादाद्भगवान्विष्णुर्विश्वजगत्पतिः ॥ २९ ॥

तमेव सर्वलोकेशं ददृशुः पुरुषाधिकाः[1] । यत्प्रसादाद्द्विजा ब्रह्मा स्रष्टा सर्वस्य सुव्रताः ॥ ३० ॥

तमेव [2]सत्यमीशानं ददृशुः सत्त्वसंयुताः । अथ तं तुष्टुवुर्देवाः साम्बं सर्वफलप्रदम् ॥ ३१ ॥

संसारादिविशिष्टमभिधाय, विरुद्धं विशेषणांशद्वयं परित्यज्याखण्डैकरसं लक्षयन्ति । स्वरूपमिति स्वं निरस्तसमस्तोपाधिकं रूपमित्यर्थः । **सर्वसाक्षिणमिति** यथा साक्षी व्यवहाराननुप्रविष्ट उदासीन एवं संसाराननुप्रविष्टमुदासीनमित्यर्थः । अत्रापि **शंकरमिति** सकलं रूपमनूद्य तस्य [3]तमेव साक्षाद्दृशुरिति निष्कलरूपतया साक्षाद्दर्शनमुच्यते । यद्वा शं सुखं संसारिणां मुक्तानां च करोतीति शंकरः । तथाहि–शुभकर्मोपस्थापितविषयेन्द्रियसंप्रयोग[4]जनितान्तःकरणवृत्तौ पर एवाऽऽनन्दः संसारिणां मात्रया व्यज्यते । श्रूयते हि–'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति । सकलसंसारनिवृत्तौ च साकल्येन व्यज्यते । 'एषोऽस्य परमानन्दः' इति श्रुतेः । तदुक्तं तत्त्वविद्भिः :–'स्वमात्रयाऽऽनन्दयदत्र जन्तून्सर्वात्मभावेन तथा परत्र । यच्छंकरानन्दपदं हृदब्जे [5]विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति' ॥ इति । **यत्प्राप्त्यर्थं द्विजैर्वेदा अधीयन्ते** । **यं यजन्त** इति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति [6]यज्ञेन' इति श्रुतेः । **रुद्रमीशानमिति** शंकरपदवदनुवादत्वमेव । यद्वा रुदं दुःखं द्रावयतीति रुद्रः । अपरतन्त्रत्वादीशानश्चेति निष्कलपरतया व्याख्येयम् । न केवलं विविदिषन्ति, विदन्ति चेत्याह–**यं प्रपश्यन्ति देवेशं योगिन** इति । **यस्य प्रसादादिति** । यद्विष्णोर्जगतः परिपालने सामर्थ्यं यद्ब्रह्मणस्तत्सृष्टौ सामर्थ्यं तदुभयं शिवप्रसादादेवेत्यर्थः ॥ २४-३० ॥

सत्त्वसंयुता विशुद्धसत्त्वाः । श्रूयते हि–'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं [7]पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति । **अथ तं तुष्टुवुरिति**–इयमपरोक्षज्ञानलाभनिबन्धना स्तुतिः । 'अथर्वशिरसा देवमस्तुवन्निति तूपदेशातः परोक्षज्ञानलाभनिबन्धना स्तुतिरिति ।

साक्षात्कृत होने पर संसार के निवारक श्री महारुद्र उन देवों के संमुख प्रकट हुए । (जो महादेव पूर्व में सविशेषरूप से उपस्थित हुए थे वे ही अब अपेतोपाधिकल्मषरूप से आविर्भूत हुए यह भाव है । यहाँ पशुपति आदि विशेषणों का इतना ही कृत्य है कि 'किसी अन्य पर आधारित न होने वाले' इत्यादि से बताये जाने वाले तत्त्व को पूर्व प्रकट तत्त्व से अर्थान्तर न समझ लिया जाये । प्रकृत आविर्भाव सविशेषरूप का नहीं है क्योंकि वह तो व्रताद्यनुष्ठान से पहले हो ही चुका है । सगुण व निर्गुण दो ब्रह्म नहीं हैं । एक ही शिवतत्त्व गुणदृष्ट्या देखा जाता हुआ सगुण प्रतीत होता है और केवल अपने स्वरूप से जाना जाता हुआ निर्गुण प्रमित होता है ।) जिस समस्तसाक्षी निज-रूप को वेदान्तवाक्यों द्वारा उत्तम साधक जानते हैं ॥ २४ ॥ उसी शंकर का सुरश्रेष्ठों ने साक्षात्कार किया । श्रुति-स्मृति में विहित कर्तव्यों का पालन न करने वाले व दुष्ट आचार वाले जिसे कभी नहीं देख पाते, ॥ २५ ॥ उसी शंकर का देवोत्तमों ने साक्षात्कार किया । जिसकी प्राप्ति के लिये एकाग्रचित्त वाले ब्राह्मणों द्वारा वेद पढ़े जाते हैं ॥ २६ ॥ उसी ईशानशब्दित रुद्र का स्पष्ट दर्शन देवताओं ने किया । हे मुनिश्रेष्ठो ! उत्तम ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक जिसकी पूजा करते हैं ॥ २७ ॥ उसी परमात्मदेव का ज्ञान स्वर्गवासी उन व्रताचारी देवों को हुआ । क्षीणपाप योगी जिस देवेश्वर का दर्शन करते हैं ॥ २८ ॥ उसी सर्वरूप व आनन्दरूप परमात्मा को जगत् के शासक देवताओं ने जाना । जिसकी कृपा से विष्णु भगवान् सारे जगत् के पालक हैं ॥ २९ ॥ समस्त लोकों के अनन्य अधिपति उसी शंभु का ज्ञान उन मनुष्यों से भी श्रेष्ठ देवताओं को हुआ । हे द्विजो ! हे पुराणश्रवण के व्रत का धारण करने वाले मुनियो ! जिनकी अनुकम्पा से ब्रह्माजी सबके उत्पादक हुए हैं ॥ ३० ॥

---

१. ऐतरेयकादौ पुरुषस्य प्रशंसिततया ततोप्यतिशयोक्तिर्देवानां स्तुतये तद्द्वारा च दर्शनस्तुतय इति बोध्यम् । २. ख. सर्वमी° । ३. ङ. तदेव । ४. ङ. °योगाजनि° । ५. ङ. विराजते । ६. ख. यज्ञेन दानेन । ७. ध. पश्यति ।

संसाररोगदुःखस्य भेषजं गद्गदस्वराः । अथ[1] देवो महादेवः साम्बो देवैरभिष्टुतः ॥ ३२ ॥

विलोक्य देवानखिलान्प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीद्धरः । पुनर्देवान्समालोक्य रुद्रो विष्णुपुरोगमान् ॥ ३३ ॥

प्राह गम्भीरया वाचा भगवान्करुणानिधिः । अहमेव परं तत्त्वं मत्तो जातं जगत्सुराः ॥ ३४ ॥

मय्येव संस्थितं नष्टं मत्समो नाधिकः सदा । मत्स्वरूपपरिज्ञानादेव संसारनि[2]र्वृतिः ॥ ३५ ॥

मम ज्ञानं च वेदान्तश्रवणादेव जायते । मुमुक्षोर्व्रतनिष्ठस्य प्रशान्तस्य महात्मनः ॥ ३६ ॥

त्यक्तकर्मकलापस्य ध्याननिष्ठस्य शूलिनः । यज्ञदानादिभिः क्षीणमहापापार्णवस्य च ॥ ३७॥

सर्वफलप्रदमिति निरतिशयानन्दत्वेन सुखजातस्य समस्तस्यात्रैवान्तर्भावात् । श्रूयते हि–'यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह' इति ॥ ३१ ॥ ॥ ३२ ॥ ॥ ३३ ॥

ननूपदेशेन परोक्षज्ञानं देवानां शिवेन प्रागेव जनितम् । प्रागुक्तपाशुपतव्रतादिसाधनैश्च तैस्तन्निष्कलं रूपमपरोक्षतया ज्ञातम् । किमतः परम् 'अहमेव परं तत्त्वमि'त्यादिना तेभ्यः शिवेनोपदेष्टव्यम् ? अथ तस्य तन्निष्कलरूपस्य साक्षात्कृतस्यापि वक्त्रा स्वस्मादभेद उपदिश्यत इति ? न । तस्यापि 'अहमेको जग[3]द्धातुर'त्यादिना प्रथमत एवोपदिष्टत्वात् । सत्यम् । येयं मम निष्कलरूपता भवद्भिः प्रागुपदेशतो ज्ञाता सैवेयमिदानीं भवद्भिः साक्षात्कृतेति देवैर्ज्ञाताया अपि शिवेन प्रत्यभिज्ञाप्यमानत्वात् **मत्तो जातमिति** । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतेः । **मत्समो नाधिकः सदेति** । मुक्तौ द्वितीयस्यैवाभावात्संसारे सतोऽपि द्वितीयस्य शिवादपकृष्टत्वान्न कदाचिदपि परः शिवेन समोऽस्ति कुतोऽभ्यधिकस्य कथा । श्रूयते हि–'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति । ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वं यत्प्रागुपदिष्टम् 'यो जानाति स मुच्यते' इति तत्प्रत्यभिज्ञापयति–**मत्स्वरूपपरिज्ञानादिति** ॥ ३४ ॥ ॥३५ ॥

ज्ञानस्य वेदान्तहेतुकत्वमुपदिष्टम् 'ज्ञानं वेदान्तवाक्यजम्' इति तत्प्रत्यभिज्ञापयति–**मम ज्ञानं चेति** । तदपि श्रवणमभिहितव्रताद[4]क्षपितकल्मषस्यैव फलपर्यन्तं भवति नान्यस्येत्याह–**मुमुक्षोर्व्रतेति** । विविदिषापरिपन्थिपापापनयनं यज्ञादिना । उत्पन्नविविदिषस्य मुमुक्षोर्वेदनपरिपन्थिपापापनयो व्रतादिनेति[5] ॥ ३६ ॥

त्यक्तकर्मेति । विक्षेपकत्वेन कर्मकलापस्य ध्यानविरोधित्वात् । **शूलिन** इति कर्मणि षष्ठी । शिवगोचरं [6]यद्ध्यानं तन्निष्ठस्येत्यर्थः ॥ ३७ ॥

उन्हीं परमसत्य ईशानसंज्ञक महादेव को विशुद्धचेतस्क देवताओं ने जाना । शिवज्ञान प्राप्त कर देवों ने सब फलों के प्रदाता पार्वती-समेत परमेश्वर की स्तुति की ॥ ३१ ॥ भक्ति से गद्गद स्वर वाले हुए उन देवों ने संसाररोगरूप दुःख का निवारण करने वाली दवारूप शिव की प्रशंसा की ।

तदनन्तर देवों द्वारा स्तुत, गिरिजा-समेत स्वप्रकाश महादेव ने ॥ ३२ ॥ सब देवताओं को देखकर कहा, 'मैं प्रसन्न हूँ ।' फिर विष्णु प्रमुख देवताओं को लक्षितकर ॥ ३३ ॥ ऐश्वर्यादि-उपेत, करुणासागर श्रीरुद्र ने गंभीर वाणी से कहा–हे देवताओं ! मैं ही परम तत्त्व हूँ । जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, ॥ ३४ ॥ मुझ में ही रहता है और मुझ में ही लीन होता है । यह ध्रुव सत्य है कि मेरे तुल्य या मुझसे अधिक सत्ता वाला कुछ नहीं है । मेरे स्वरूप की असन्दिग्ध प्रमा से ही संसरण समाप्त होता है ॥ ३५ ॥ मेरा ज्ञान उपनिषदों के तात्पर्यनिर्णय से ही होता है और वह भी उसे जो मुक्त होने की तीव्र उत्कण्ठा वाला हो, शम आदि व्रतों का दृढता से पालन करता हो, अचंचल चित्त वाला हो, क्षुद्र न हो ॥ ३६ ॥ सर्वकर्मसंन्यासी हो, शूलधारी महेश्वर के ध्यान में तत्पर हो तथा जिसके ज्ञानप्रतिबन्धक पाप यज्ञ दान आदि द्वारा निवृत्त हो चुके हों ॥ ३७ ॥

---

१. जातबोधानामनुभव एव प्रदर्श्यते वाक्यैरुत्तरैः । जीवन्मुक्तस्येश्वराभेदं वक्तुं 'देव' इत्याद्युक्तम् । यथा महादेवो माययैव देहमादाय भक्तेभ्यो ब्रवीति तथैव तत्त्वज्ञोपि बाधितमेव शरीरादिकं स्वीकृत्योपदिशतीति दिक् । २. घ. °निर्वृतिः । ३. क. गद्धेतु° । ४. °दिना क्ष° । ५. विविदिषामुद्दिश्य यज्ञादयो वेदनं चोद्दिश्य शमादयो विहिता इति बहिरङ्गान्तरङ्गत्वस्य व्यवस्थितत्वादन्तरङ्गसाधनेष्वधिकारमवाप्य बहिरङ्गसाधनानि त्याज्यान्येवेत्यभिप्रायः । ६. क. ख. ग. घ. यज्ज्ञानं° ।

एवं मां यो[1] विजानाति स सर्वं वेद नेतरः । उक्तं वेदान्तविज्ञानं युष्माकं सुरपुङ्गवाः ॥ ३८ ॥
व्रतं पाशुपतं चीर्णं यैर्द्विजैरादरेण च । तेषामेवोपदेष्टव्यमिति वेदानुशासनम् ॥ ३९॥
सूत उवाच : इत्युक्त्वा भगवान्रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत । ततो देवा मुनिश्रेष्ठा देवदेवस्य वैभवम् ॥ ४० ॥
विदित्वा तं जगद्धेतुममन्यन्तानसूयवः । तस्माद्यूयमपि श्रेष्ठाः सर्वज्ञं परमेश्वरम् ॥ ४१ ॥
जगतः कारणं बुद्ध्वा भजध्वं सर्वकारणम् । सोऽपि सर्वजगद्धेतुः सोमः सोमार्धशेखरः ॥ ४२ ॥
प्रसादाभिमुखो भूत्वा ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सह । सांनिध्यं वेदविच्छ्रेष्ठाः करिष्यत्यखिलेश्वरः ॥ ४३ ॥
इति श्रुत्वा महात्मानो नैमिषारण्यवासिनः । महादेवस्य माहात्म्यं श्रीमत्पाशुपतस्य च ॥ ४४ ॥
हृष्टचित्ता महात्मानं सूतं सर्वार्थसागरम् । प्रणम्य पूजयामासुर्भक्त्या विज्ञप्तिसिद्धये ॥ ४५ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे पाशुपतव्रतं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

स सर्वं वेदेति—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुतेः । उक्ताधिकारकारणाभावे जातमपि ज्ञानमूष[2]रनिक्षिप्तं बीजमिव निष्फलं भवेदित्याह—**नेतर इति** । 'येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् । तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया च' इति श्रुतेः । ब्रह्मैव लोको निष्कलः शिव इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अत एव व्रतादिभिर्जनिताधिकाराणामेवोपदेष्टव्यमित्याह—**व्रतं पाशुपतं चीर्णमिति** । लोकरञ्जनमात्रप्रयोजनतया दाम्भिकैः कृतमपि व्रतादिकं निष्फलमेवेत्याह—**आदरेणेति** । **इति वेदानुशासनमिति** । 'क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः । तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' इत्यादि[3]श्रुतेः । अत्रैकर्षिहोमशिरोव्रतादिकमध्ययनधर्मत्वादाथर्वणिकानामेव । अन्येषां तु क्रियावत्त्वादिकमेव विद्याधिकारकारणम् । तदुक्तं व्यासेन 'स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः' इति ॥ ३९ ॥

अतः सर्वजगद्धेतुरन्य एवेति मुनिभिः प्रश्ने यन्निर्दिष्टं तदेतद्देवेभ्यः शिवेनोपदिष्टमिति सूतः प्रत्यभिज्ञापयन्नुपसंहरति—**इतीति** । **तं जगद्धेतुममन्यन्त इति** । **मुनिश्रेष्ठा इति** संबोधनम् । हे मुनिश्रेष्ठाः ! देवा अमन्यन्तेत्यन्वयः । **अनसूयव इति** । असूया हि चित्तस्य मलम् । मलिनचित्तास्तु न बुध्यन्ते । अत एव चित्तस्य मलनिरासकारिकर्माण्युक्तानि पतञ्जलिना—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इत्यादीनि । सुखितेषु मैत्रीं भावयतः परकीयमपि सुखं स्वकीयमेवेत्यभिमानाच्चित्तगतमीर्ष्यामलं निवर्तते । दुःखितेषु करुणां भावयतः स्वयं दुःखोत्पादनहेतुद्वेषमलं निवर्तते । पुण्यकृत्सु मुदितां भावयतो गुणेषु दोषारोपणरूपमसूयामलं निवर्तते । पापिष्ठेषूपेक्षां भावयतस्तत्संसर्गत्यागात्संसर्गजदोषमलं निवर्तत इति । शिवस्य देवैः सह संवादोपन्यासस्य फलमाह—**तस्माद्यूयमिति** । भजनफलमाह—**सोऽपि सर्वजगद्धेतुरिति** ॥ ४०-४३ ॥

सूतमुनिसंवादमुपन्यस्तं व्यास उपसंहरति—**इति श्रुत्वेति** । **विज्ञप्तीति** । ज्ञपेः 'सनीवन्तर्ध' इति सनीडागमविकल्पात् 'यस्य विभाषा' इति निष्ठायामुक्तो यो निषेधः सः 'ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्भवति' इति निष्ठावद्भावात्क्तिन्यपि भवति ॥४४-४५ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे पाशुपतव्रतं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उन्हीं परमसत्य ईशानसंज्ञक महादेव को विशुद्धचेतस्क देवताओं ने जाना । शिवज्ञान प्राप्त कर देवों ने सब फलों के प्रदाता पार्वती-समेत परमेश्वर की स्तुति की ॥ ३१ ॥ भक्ति से गद्गद स्वर वाले हुए उन देवों ने संसाररोगरूप दुःख का निवारण करने वाली दयारूप शिव की प्रशंसा की ।

तदनन्तर देवों द्वारा स्तुत, गिरिजा-समेत स्वप्रकाश महादेव ने ॥ ३२ ॥ सब देवताओं को देखकर कहा, 'मैं प्रसन्न हूँ ।' फिर विष्णु प्रमुख देवताओं को लक्षितकर ॥ ३३ ॥ ऐश्वर्यादि-उपेत, करुणासागर श्रीरुद्र ने गंभीर वाणी से कहा—हे देवताओं ! मैं ही परम तत्त्व हूँ । जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, ॥ ३४ ॥ मुझ में ही रहता है और मुझ में ही लीन होता है । यह ध्रुव सत्य है कि मेरे तुल्य या मुझसे अधिक सत्ता वाला कुछ नहीं है । मेरे स्वरूप की असन्दिग्ध प्रमा से ही संसरण समाप्त होता है ॥ ३५ ॥ मेरा ज्ञान उपनिषदों के तात्पर्यनिर्णय से ही होता है और वह भी उसे जो मुक्त होने की तीव्र उत्कण्ठा वाला हो, शम आदि व्रतों का दृढ़ता से पालन करता हो, अचंचल चित्त वाला हो, क्षुद्र न हो ॥ ३६ ॥ सर्वकर्मसंन्यासी हो, शूलधारी महेश्वर के ध्यान में तत्पर हो तथा जिसके ज्ञानप्रतिबन्धक पाप यज्ञ दान आदि द्वारा निवृत्त हो चुके हों ॥ ३७ ॥ इस प्रकार स्वयं की योग्यता अर्जित कर जो वेदान्तश्रवण द्वारा मेरे वास्तविक स्वरूप को जानता है वही सर्वज्ञ है, उससे भिन्न कोई सर्वज्ञ नहीं । हे सुरोत्तमो ! यह मैंने आपको वेदान्त विज्ञान बताया है ॥ ३८ ॥ इसका उपदेश उन्हें ही देना चाहिये जिन द्विजों ने श्रद्धापूर्वक पाशुपतव्रत का आचरण कर लिया है । यह वेद की आज्ञा है कि ऐसे अधिकारियों को ही इसका उपदेश दिया जाये ॥ ३९ ॥

सूत जी ने कहा—इतना कहकर भगवान् रुद्र वहीं अन्तर्धान हो गये । हे मुनियो ! तब असूया-रहित देवताओं ने महादेव के वैशिष्ट्य को ॥ ४० ॥ जानकर उन्हें ही जगत् का कारण स्वीकार किया । अतः हे श्रेष्ठो ! आप लोग भी उसी सर्वज्ञ परमेश्वर को ॥ ४१ ॥ जगत् का कारण जानकर उन्हीं सर्वहेतु का भजन कीजिये । संसारकारण, चन्द्रकलाधर सर्वशासक वे सोम भी ॥ ४२॥ आपके अज्ञान को हटाने के प्रति उन्मुख हो ब्रह्मा विष्णु आदि समेत आपकी संनिधि में उपस्थित होंगे (व उनके साक्षात्कार से आप कैवल्य पायेंगे) ॥ ४३ ॥

नैमिषारण्यवासी मुनियों ने यों महादेव के और पाशुपतव्रत के माहात्म्य को सुनकर ॥ ४४ ॥ प्रसन्नचित्त वाले हो समस्त पुरुषार्थों के उपायों के ज्ञान के सागर रूप सूतजी को प्रणाम कर शिवानुभवप्राप्ति के लिये भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की ॥ ४५ ॥

---

१. ख. ग. योऽभिजा° । २. क. ख. ङ. मूखर° । ३. क. ख. छ. श्रुतिः ।

तृतीयोध्यायः

नैमिषीया ऊचुः

भगवन्कः सुरैः सर्वैरसुरैः सिद्धकिंनरैः । मुनिभिर्यक्षगन्धर्वैस्तथाऽन्यैः सर्वजन्तुभिः ॥ १ ॥

भुक्त्यर्थं च विमुक्त्यर्थं पूज्यः पुण्यवतां वर । तमस्माकं महाभाग ब्रूहि सर्वार्थ[1] वित्तम ॥ २ ॥

सूत उवाच

साधु साधु महाप्राज्ञाः पृष्टमेतज्जगद्धितम् । वक्ष्ये तं श्रद्धयोपेताः शृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः ॥ ३ ॥

पुरा विष्णुर्जगन्नाथः पुराणः पुरुषोत्तमः । मायया मोहितः साक्षाच्छिवस्य परमात्मनः ॥ ४ ॥

अहमेव जगत्कर्ता मय्येवेदं जगत्स्थितम् । मत्समश्चाधिकश्चापि नास्ति सर्वत्र सर्वदा ॥ ५ ॥

मम शक्तिविलासोऽयं जगत्सर्वं चराचरम् । अहमेव समाराध्यः सर्वदा सर्वजन्तुभिः ॥ ६ ॥

विरक्ताः शिवसेवया तत्त्वज्ञानेन मुच्यन्ताम् । ये तु न केवलं मोक्षं भोगानप्यपेक्षन्ते तैः को देवः सेव्य इति मुनयः सूतं पृच्छन्ति—**भगवन्कः सुरैरिति** ॥ १ ॥

भुक्त्यर्थमिति । प्रथमतो भुक्त्यर्थं क्रमेण मुक्त्यर्थं च । अथवा सर्वेषां मध्ये कैश्चिद्भुक्त्यर्थमपरैर्मुक्त्यर्थमिति विभागेन सर्वैरुभयार्थमित्यर्थः । क्रममुक्तिरपि हि श्रूयते—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति ॥ २ ॥

स्वयमुपरतचित्तैः केवलं मोक्षापेक्षैरपि भवद्भिः करुणया भोगार्थिभ्यो हितमेतत्पृष्टमित्याह—**जगद्धितमिति** ॥ ३ ॥

पुरुषोत्तम इति । पुरुषेषूत्तम इति पुरुषोत्तमः । 'यतश्च निर्धारणम्' इति विहितया निर्धारणसप्तम्या समासः । पुरुषश्चासावुत्तमश्चेति सामानाधिकरण्ये हि 'सन्महत्परमोत्तम' इति प्रथमानिर्देशात्पूर्वनिपात उत्तमपुरुष इति स्यात् । पुरुषाणामुत्तम इति निर्धारणषष्ठ्यां तु 'न निर्धारणे' इति समासनिषेधः । अतो यथोक्त एव विग्रहः । विष्णोरप्येतादृशी दशा कैवान्यस्य कथेति विवक्षया विष्णूदाहरणम् ॥ ४ ॥ मोहमूलवचनमाह—**अहमेव जगत्कर्तेति**[2] ॥ ५॥ ६ ॥

ईश्वर-प्रतिपादन नामक तीसरा अध्याय

नैमिषारण्य के मुनियों ने सूत जी से प्रश्न किया—हे भगवन् ! सब देवता, दानव, सिद्ध, किन्नर, मुनि, यक्ष, गन्धर्व तथा अन्य सब जन्तुओं द्वारा ॥ १ ॥ भोग व मोक्ष की प्राप्ति के लिये कौन देव पूजनीय है ? हे पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ ! हे सर्वज्ञ महोदय ! उस देव का हमें उपदेश दीजिये ॥ २ ॥

सूत जी बोले—हे विशाल दृष्टि वाले मुनियो ! जगत् के सब लोगों के हित की बात आपने बहुत अच्छी पूछी है । हे श्रेष्ठ मुनियो ! मैं इस विषय में बताऊँगा, आप लोग श्रद्धायुक्त होकर सुनिये ॥३ ॥

पूर्व काल में सब पुरुषों में उत्तम, जगत्पालक, पुरातन विष्णु स्वयं शिव की माया से मोहित हो गये थे ॥ ४ ॥ अहंकार के वशीभूत होकर अपने आत्मरूप अम्बिकानाथ निरतिशय आनन्द व ज्ञानात्मक महेश्वर को समझे बिना श्रीहरि ने ब्रह्मा आदि सब देवताओं के संमुख अत्यधिक औद्धत्य से घोषणा की—'मैं ही जगत् का रचयिता हूँ, मुझमें ही संसार स्थित है । किसी

---

१. घ. °र्थसत्तम । २. ख. °ति त्रयाणां संबन्धः ।

इत्यहंमानसंछन्नः स्वात्मभूतं महेश्वरम् । अविज्ञायाम्बिकानाथमनन्तानन्दचिद्घनम् ॥ ७ ॥

अतीवाऽऽज्ञापयामास ब्रह्मादीनखिलान्हरिः । अथ देवो महादेवः सर्वात्मा सर्वभासकः ॥ ८॥

तस्य शक्तिं समाहृत्य मोहयामास शंकरः । ततस्तत्प्रमुखाः सर्वे ब्रह्माद्याः पशवो भृशम् ॥ ९ ॥

मोहिता मायया शंभोर्विवशाश्च विशेषतः । एतस्मिन्नन्तरे श्रीमान्नन्दी शंकरवल्लभः ॥ १० ॥

सर्वविज्ञानरत्नानामाकरः करुणालयः । समागत्य हरिब्रह्मप्रमुखानमराधिपान् ॥ ११ ॥

बोधयामास सर्वज्ञः परं भावं शिवस्य तु ।

नन्दिकेश्वर उवाच— विष्णो विश्वजगन्नाथः शंकरः परमेश्वरः ॥ १२ ॥

सर्वसाक्षी महानन्दः सर्वात्मत्वेन संस्थितः । स एव सर्वजन्तूनामात्मा सर्वावभासकः ॥ १३ ॥

नन्वहमेव जगत्कर्तेति जीवेश्वरतादात्म्यप्रतिपादकमिदं महावाक्यं तदनुसंधानेऽस्य विष्णोः कथं व्यामोह इत्यत आह—**इत्यहंमानसंछन्न** इति । वाच्यार्थ[१]परित्यागेन लक्ष्यस्य चिदानन्दघनस्यानुसंधाने न व्यामोहः । अहंकारविशिष्टं त्वात्मानं मन्यमानस्य तस्यासदेव सार्वज्ञ्यं ब्रुवतः कथं न व्यामोह इत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

अविमर्शदशायां व्यामुह्यतोऽपि विष्णोर्विमर्शकाले विवेकः स्यात्तमपि शिवः संजहार ब्रह्मादिसकललोकव्यामोहजनना[२]-पराधनिमित्तेनेत्याह—**तस्य शक्तिमिति** ॥ ९ ॥

नन्दी देवानप्यनुग्रहीतुं समर्थ इत्याह—**सर्वविज्ञानेति** । न केवलमनुग्रहसमर्थः, अनुग्रहशीलोऽपीत्याह—**करुणालय** इति । उभयत्र कारणमाह—**शंकरवल्लभ** इति ॥ १० ॥ ११ ॥

परं भावमि[३]ति । भावः सत्ता । शिवस्य यः परो भावो निष्कलं रूपं तद्धि स्वरूपं पारमार्थिकत्वात्सदित्युच्यते । तदेव स्वात्मनि परिकल्पितेषु समस्तवस्तुषु सत्सदित्यनुगमात्सत्तेत्युच्यते । जलतरङ्गचन्द्रप्रतिबिम्बेष्वनुगतं चन्द्ररूपं [४]यथा तद्वत् । सा चानुगम्यमानवस्तूपहिताऽपरो भावः । उपाध्यपगमे त्वनुगतं सन्मात्रं सत्परो भावः । सकलं या विश्वाधिकं सोऽपि स्वेतरसमस्तवस्त्व-तिशायित्वात्परो भावः । 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिरि'ति हि श्रुतिः । तस्य विश्वाधिकत्वे विश्वस्य स्वत्वं तस्य च स्वामित्वमिति स्वस्वामिभावलक्षणं कारणमाह—**विश्वजगन्नाथ** इति । भोगापवर्गप्रदानलक्षणं **शंकर** इति । नियमनसामर्थ्यं **परमेश्वर** इति । सर्वज्ञत्वं

भी देश या काल में मेरे तुल्य या मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है । यह सारा जड-चेतन संसार मेरी सामर्थ्य का विस्तार है । सब जन्तुओं द्वार हमेशा मेरी ही आराधना की जानी चाहिये ।' (क्योंकि अपने व्यष्टि अभिमानरूप अहंकार का परित्याग कर यह नहीं कहा गया था इसीलिये यह गलत ज्ञान व गलत वचन थे । यदि शुद्ध त्वमर्थ का ब्रह्म से अत्यन्त अभेद समझकर कहा होता तो यही वचन सही ठहरते । जैसे कुन्ती आदि से अपने जन्म का वृत्तान्त पता लगने से पूर्व कर्ण यदि स्वयं को क्षत्रिय कहता तो वह खुद ही अपने को असत्यवक्ता समझता और अपनी उत्पत्ति का रहस्य जानकर अपने को क्षत्रिय कहते हुए उसे असत्यवदन की ग्लानि का प्रश्न ही नहीं, वैसे प्रकृत में समझना चाहिये ।) विष्णु का यह कथन ज्ञात होने पर सर्वस्वरूप, सर्वसाक्षी, स्वयम्प्रकाश महादेव ॥ ५–८ ॥ शंकर ने उनकी विमर्शकालीन विवेकशक्ति को भी हर कर उन्हें सर्वथा व्यामुग्ध कर दिया । इससे विष्णु, ब्रह्मा आदि सभी पशु—जीव होने से देवता भी पशु ही हैं—अत्यधिक ॥ ९ ॥ व्यामोह को प्राप्त हुए और शंभु की माया के सर्वथा परवश हो गये, पूज्यादिविषयक सही निर्णय कर पाने में असमर्थ हो गये । इसी समय शंकर-प्रिय, ॥ १० ॥ सब विद्यारत्नों की खान, करुणानिधि श्रीमान् नन्दी ने आकर हरि, ब्रह्मा आदि देवताओं को ॥ ११ ॥

---

१. ङ. °र्थस्य परि° । २. ग. °नाय बाध° । ३. ख. °मित्यव भा° । ४. क. ख. ग. यथा चन्द्रत्वमित्युच्यते ।

अस्य प्रसादलेशस्य लवलेशलवेन तु । इदं विष्णुपदं लब्धं त्वया नान्येन हेतुना ॥ १४ ॥
अन्येषामपि सर्वेषां पदमस्य प्रसादतः । अनेनेदं जगत्सर्वं विना न भवति स्वयम् ॥ १५ ॥
अयं धाता विधाता च सर्वदा सर्ववस्तुनाम् । यथा वैश्वानरेणेद्धमयो दहति भाति च ॥ १६ ॥
तथाऽनेन भवत्येतज्जगत्सर्वं विभाति च । अस्याऽऽनन्दस्य भूतानि लेशमन्यानि सर्वदा ॥ १७ ॥
लब्ध्वा संतोषमापन्नान्यतीव ब्रह्मवित्तमाः । अस्यैवाऽऽज्ञालवाकृष्टं जगन्नित्यं प्रवर्तते ॥ १८ ॥
अविज्ञायैनमात्मानं भवानत्यन्तमोहितः । अहंकाराभिभूतश्च भवता मोहितं जगत् ॥ १९ ॥
अतस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य स्वात्मभूतं महेश्वरम् । आराधयाऽऽदरेणैव सह देवैरुमापतिम् ॥ २० ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा मुनयः श्रीमान्नन्दी शंकरवल्लभः । अगमद्रथमारुह्य श्रीमत्कैलासपर्वतम् ॥ २१ ॥

सर्वसाक्षीति । नित्यतृप्ततामाह—**महानन्द** इति । स्वात्मन्यध्यस्तस्य सर्वस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वं **सर्वात्मत्वेनेति** । न केवलं भोग्यवर्गस्य अपि तु भोक्तृवर्गस्यापि स एवाऽऽत्मेत्याह—**स एव सर्वजन्तूनामात्मेति** । नच तदात्मकस्य तन्नियन्तृत्वाद्यसंभवः । वास्तवं हि तादात्म्यम् । लीलाकल्पितविभागनिबन्धनं तु नियन्तृत्वादिति[1] । अत एव हि श्रूयते—'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां [2]सदात्मे' ति । आत्मत्वे सत्ताप्रदत्वं कारणमाह—**सर्वावभासक** इति । स्वसत्तयैव लब्धसत्ताकं करोतीत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥

विश्वाधिकत्वं वक्तुं शिवस्योत्कर्षमुक्त्वा तदन्यस्यापकर्षमाह—**अस्य प्रसादेति** ॥ १४ ॥ १५ ॥

धाता पोषकः । **विधाता** निर्माता । अतस्तेन पोष्यत्वं निर्मायमाणत्वं च तदन्यस्य ततोऽपकर्षे हेतुरित्यर्थः । **वस्तुनामिति** 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इत्यदीर्घत्वम् । अन्येषामपि स्वोपजीविनः प्रति यत्पोषकत्वादि तच्छिवप्रसादलब्धत्वाच्छिवस्यैवेत्यत्र निदर्शनमाह—**यथा वैश्वानरेणेति** । अयसो यद्दग्धृत्वं भानं च तद्यथा वह्नेरेव तथेत्यर्थः । उत्तरत्र चायं दृष्टान्तः । अयसो यथा दाहप्रकाशौ वह्नेरेवैवं विषयानन्दाः सर्वेऽपि शिवस्यैव स्वरूपभूता इति ॥ १६ ॥

अस्याऽऽनन्दस्येति । 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः ॥ १७ ॥

अस्यैवाऽऽज्ञेति । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः' इत्यादिश्रुतेः ॥ १८ ॥

अहंकाराभिभवो विष्णोः प्राक्सूतेनोक्तः । अधुना तु नन्दिनेति न पौनरुक्त्यम् ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

शिव का पारमार्थिक स्वरूप समझाया ।

नन्दिकेश्वर ने कहा—हे विष्णु ! शिव ही सारे जगत् के स्वामी हैं, भोग व मोक्ष देने वाले हैं तथा संसार का नियमन करते हैं । सबके साक्षी होने से वे ही सर्वज्ञ हैं, सदा तृप्त रहते हैं एवं सबके अधिष्ठानरूप से विद्यमान हैं । सभी जीवों के प्रत्यगात्मा वे ही हैं । वे ही सबको प्रकाशित अर्थात् ज्ञानसे संबद्ध करते हैं ॥ १२—१३ ॥ इनकी कृपा के छोटे से अंश के प्रभाव से आपको यह विष्णुपद मिला है, और किसी कारण से नहीं ॥ १४ ॥ अन्य भी सब देवताओं को इन्हीं की कृपा से स्वकीय पद प्राप्त हुए हैं । इनके बिना यह जगत् स्वयं अपनी किसी सत्ता वाला नहीं है, शिवरूप सत्ता से ही यह सत्तान्वित है ॥ १५ ॥ ये ही हमेशा हर चीज़ के निर्माता और पोषक हैं । जैसे आग से तपा लोहा जलाता व चमकता है, (स्वयं अपने किसी तेज के कारण नहीं,) ॥ १६ ॥ वैसे शिव के कारण यह जगत् विद्यमान और प्रकाशित होता है । अन्य प्राणी इसके आनन्द के छोटे से हिस्से को पाकर ही अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं । हे ब्रह्मोपासक मुनियो ! (—यह सूत जी के द्वारा कहा गया सम्बोधन है ।) इन महादेव की आज्ञा से नियंत्रित हो यह जगत् सदा चलता है ॥ १७—१८ ॥ इस शिवरूप आत्मतत्त्व को न समझकर आप (विष्णु) अत्यन्त मोह में पड़ गये और अहंकार के वश में होकर आपने बाकी देवों को भी विवेकभ्रष्ट कर दिया ॥ १९ ॥ अतः आप भ्रम का परित्याग कर अपने आत्मरूप उमापति महेश्वर की सब देवताओं सहित आदर पूर्वक आराधना कीजिये ॥ २० ॥

सूत जी बोले—हे मुनियो ! इतना कहकर शिवप्रिय श्रीनन्दी रथपर चढ़कर कैलास पर्वत को चले गये ॥ २१ ॥

---

१. लीलादिनिबन्धनं यथा स्यात्तथा नियन्तृत्वं तस्मान्नासंभवइत्यर्थः । नियन्तृत्वादीति—इति बाल. पाठे लीलादिनिबन्धनं नियन्तृत्वादि इति हेतो र्नासंभव इति स्पष्टं वाक्यम् । २. ग. सर्वात्मेति ।

ततो विश्वाधिकं रुद्रं महर्षिं सर्वसाक्षिणम् । ब्रह्मविष्ण्वादयो देवाः पूजयामासुरादरात् ॥ २२ ॥

तथा लक्ष्म्यादयो देव्यस्तथाऽन्ये सर्वजन्तवः । पूजयामासुरीशानं पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥ २३ ॥

अथैषां पुरतः श्रीमानम्बिकापतिरीश्वरः । आविर्बभूव सर्वज्ञः शंकरो वृषवाहनः ॥ २४ ॥

दृष्ट्वा तं ब्रह्मविन्मुख्याः पशूनां पतिमीश्वरम् । ब्रह्मविष्ण्वादयः सर्वे प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ २५ ॥

शिरस्यञ्जलिमाधाय प्रसन्नेन्द्रियमानसाः । अस्तुवन्मुक्तिदं भक्त्या भुक्तिदं भवभेषजम् ॥ २६ ॥

देवा ऊचुः—

नमस्ते देवदेवेश नमस्ते करुणालय । नमस्ते सर्वजन्तूनां भुक्तिमुक्तिफलप्रद ॥ २७ ॥

नमस्ते सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकारण । नमस्ते भवभीतानां भवभीतिविमर्दन ॥ २८ ॥

नमस्ते वेदवेदान्तैरर्चनीय द्विजोत्तमैः । नमस्ते शूलहस्ताय नमस्ते वह्नि[1]पाणये ॥ २९ ॥

नमस्ते विश्वनाथाय नमस्ते विश्वयोनये । नमस्ते नीलकण्ठाय नमस्ते कृत्तिवाससे ॥ ३० ॥

नमस्ते सोमरूपाय नमस्ते सूर्यरूपिणे । नमस्ते वह्निरूपाय नमस्ते [2]जलरूपिणे ॥ ३१ ॥

नमस्ते भूमिरूपाय नमस्ते वायुमूर्तये । नमस्ते व्योमरूपाय नमस्ते ह्यात्मरूपिणे ॥ ३२ ॥

महर्षिमिति । दर्शनादृषिः । 'ऋषिर्दर्शनादि'ति यास्कः । तस्य महत्त्वं सर्वज्ञत्वात् ॥ २२ ॥

[3]पुरुषमिति । अन्तर्यामित्वेन सर्वेषां हृदयेऽवस्थानात्पूर्षु शरीरेषु शेत इति पुरुषः । श्रूयते हि 'स या अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' इति । कृष्णपिङ्गलमिति । कण्ठे कृष्णः । ललाटे पिङ्गलः 'पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्' इति हि श्रुतिः ॥ २३-२८ ॥

वेदवेदान्तैरिति । वेदान्तैः पारमार्थिकेन रूपेण ज्ञापनमर्चनं; वेदैः स्तुत्यत्वेन चेष्टव्यत्वेन वाऽभिधानम् ॥ २९ ॥ ३० ॥

नमस्ते सोमरूपायेत्यादिनाऽष्टमूर्तित्वकथनम् । आत्मरूपिण इति । आत्मा यजमानः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

तब ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं ने श्रद्धापूर्वक सर्वोत्कृष्ट, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी रुद्र की पूजा की ॥ २२ ॥ इसी प्रकार लक्ष्मी आदि देवियों ने तथा अन्य सब लोगों ने नीले कण्ठ और पिंगल ललाट वाले ईशानसंज्ञक पुरुष की पूजा की ॥ २३ ॥ तदनन्तर इन देवादि के सामने अम्बिकापति, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, वृषभवाहन श्रीमान् शङ्कर प्रकट हुए ॥ २४ ॥ ब्रह्मोपासकों में मुख्य ब्रह्मा विष्णु आदि सबने उन्हें देख पृथिवी पर दण्डवत् प्रणाम किया ॥ २५ ॥ और सिर पर अंजलि बाँधकर, प्रशान्त इंद्रिय व मन वाले होकर, सर्वभोगप्रदाता, भव रोग की दवारूप तथा मोक्ष देने वाले शंकर की स्तुति की ॥ २६ ॥

देवताओं ने कहा—हे देव तथा देव-शासक ! आपको नमस्कार है । हे करुणासागर ! आपको प्रणाम है । सब प्राणियों को भोग व मोक्ष रूप फल देने वाले आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति व विलय के कारणभूत आपको नमस्कार है । संसार से डरे लोगों के संसारभय के निवर्तक आपको नमस्कार है ॥ २८ ॥ वेदों द्वारा स्तोतव्य, वेदांतों द्वारा प्रतिपाद्य व उत्तम ब्राह्मणों द्वारा पूज्य आपको प्रणाम है । हाथ में शूल व वह्नि धारण करने वाले आपको प्रणाम है ॥ २९ ॥ जगद्रक्षक व जगत्स्रष्टा आपको नमस्कार है । नीले कण्ठ वाले एवं चर्मपरिधान वाले आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥ चन्द्ररूप, सूर्यरूप, वह्निरूप, जलरूप, पृथ्वीरूप, वायुरूप, व्योमरूप तथा यजमानरूप आपको पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ३१—३२ ॥

---

१. ग. °ह्निरूपिणे । २. क. ख. ग. जलमूर्तये । ३. ख. तथेति ।

नमस्ते सत्यरूपाय नमस्तेऽसत्यरूपिणे । नमस्ते बोधरूपाय नमस्तेऽबोधरूपिणे ॥ ३३ ॥

नमस्ते सुखरूपाय नमस्तेऽसुखरूपिणे । नमस्ते पूर्णरूपाय नमस्तेऽपूर्णरूपिणे ॥ ३४ ॥

नमस्ते ब्रह्मरूपाय नमस्तेऽब्रह्मरूपिणे । नमस्ते जीवरूपाय नमस्तेऽजीवरूपिणे ॥ ३५ ॥

नमस्ते व्यक्तरूपाय नमस्तेऽव्यक्तरूपिणे । नमस्ते शब्दरूपाय नमस्तेऽशब्दरूपिणे ॥ ३६ ॥

नमस्ते स्पर्शरूपाय नमस्तेऽस्पर्शरूपिणे । नमस्ते रूपरूपाय नमस्तेऽरूपरूपिणे ॥ ३७ ॥

नमस्ते रसरूपाय नमस्तेऽरसरूपिणे । नमस्ते गन्धरूपाय नमस्तेऽगन्धरूपिणे ॥ ३८ ॥

नमस्ते देहरूपाय नमस्तेऽदेहरूपिणे । नमस्ते प्राणरूपाय नमस्तेऽप्राणरूपिणे ॥ ३९ ॥

नमस्ते श्रोत्ररूपाय नमस्तेऽश्रोत्ररूपिणे । नमस्ते त्वक्स्वरूपाय नमस्तेऽत्वक्स्वरूपिणे ॥ ४० ॥

नमस्ते दृष्टिरूपाय नमस्तेऽदृष्टिरूपिणे । नमस्ते रसनारूप नमस्तेऽरसनात्मने ॥ ४१ ॥

नमस्ते सत्यरूपायेत्यादिभावाभावप्रपञ्चस्य समस्तस्य शिवे परिकल्पितत्वाच्छिव एव तस्य पारमार्थिकं रूपं रजतादेरिव शुक्त्यादीत्यर्थः । **असत्यरूपिण** इत्याद्यकारप्रश्लेषो द्वितीयपादेषु सर्वत्र । **सुखरूपाय** परमानन्दरूपाय । **पूर्णरूपाया**नन्ताय ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ **जीवरूपाया**ऽऽत्मरूपाय ॥ ३५ ॥

सत्यज्ञानानन्दात्मानन्तशब्दा अनृतजडदुःखानात्मत्वान्तवत्त्वव्युदासद्वारा ब्रह्म लक्षयन्तीति ह्युक्तं व्यासेन 'आनन्दादयः प्रधानस्य' इत्यत्र । तत्र देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदनिरासवाचिनाऽनन्तशब्देन वस्तुकृतस्यापि परिच्छेदस्य निरासाद्भावाभावावपि

सत्य तथा असत्यरूप आपको नमस्कार है । ज्ञानरूप व अज्ञानरूप आपको नमस्कार है । परमानन्दरूप एवं दुःखरूप आपके लिये प्रणाम है । अनन्त व सीमित आपको प्रणाम है । (शिव सर्वरूप है अतः असत्यादि भी शिव ही है, उनसे भिन्न हो असत्यादि भी क्यों विद्यमान हो पायेंगे ? अतः सर्वरूप शिव को प्रणाम करने के अवसर पर असत्यादि रूपों के लिये प्रणत होना उचित है । क्योंकि समस्त विशेष कल्पित हैं अतः असत्यादि से शिव में अणुमात्र के अपकर्ष की शंका को अवकाश नहीं । अत एव केवल अहेय गुणों को ही परमेश्वर में स्वीकारना जैसा अर्धजरतीय प्रयास अशोभनीय है । उपासना के लिये तत्क्रतुन्याय की प्रवृत्ति होने से श्रेष्ठ गुणों का ही अनुसन्धान हो यह तो इष्ट ही है । किन्तु एतावता हेयगुण शिव में कल्पित नहीं यह कहना शिवेतर को स्वीकारना होगा और वह श्रौतों के लिये असंभव है) ॥ ३३–३४ ॥ ब्रह्मरूप तथा अब्रह्मरूप आपको प्रणाम है । प्रत्यगात्मरूप व परागात्मरूप आपको प्रणाम है ॥ ३५ ॥ व्यक्तरूप तथा अव्यक्तरूप आपको प्रणाम है । (प्रत्यक्षविषय को व्यक्त और तद्भिन्न को अव्यक्त समझना चाहिये) । शब्दरूप व अशब्दरूप आपको नमस्कार है ॥ ३६॥ स्पर्शरूप एवं अस्पर्शरूप आपको नमस्कार है । रूपात्मक एवं अरूपात्मक आपको नमस्कार है ॥ ३७ ॥ रसरूप व रसरहितरूप आपको नमस्कार है । गन्धरूप व निर्गन्धरूप आपको नमस्कार है (पाँचों इन्द्रियाँ जिसे ग्रहण कर सकें व जिसे न ग्रहण कर सकें वह सब शिवरूप होने से तत्तद्विशेषों वाले भगवान् नमनीय हैं) ॥ ३८ ॥ शरीररूप व शरीररहितरूप आपको नमस्कार है । (प्रारब्धादि भोग व कर्म करने के लिये जिस भौतिक पिण्ड में स्थित हो पुर्यष्टक कार्यकारी होता है उस पिण्ड को शरीर कहते हैं । इनसे भिन्न मूर्तपिण्ड शरीररहितरूप हैं ।) प्राणरूप तथा अप्राणरूप आपको नमस्कार है । (शरीर को जीवित रखना आदि करते हुए शरीर में स्थित वायु का विकारविशेष—जो पुर्यष्टक में गणित है—प्राण है ।) ॥ ३९ ॥ कानरूप व कान से भिन्न रूप आपको नमस्कार है । यहाँ कान आदि शब्द इन्द्रियपरक हैं, गोलकपरक नहीं । शरीर में दीखने वाले कान आदि गोलक हैं । इन्द्रियाँ सूक्ष्मशरीर के अंग हैं । बाह्य कान यथावत् रहते हुए ही जिसके प्रतिबद्ध हो जाने से हम सुन नहीं पाते वह वस्तु—या सामर्थ्य—कान-इन्द्रिय है । 'बाह्य कान' से उस पूरे अंग को समझ लेना चाहिये जो स्थूल भूतों से बना है—इंद्रियग्राह्य है ।) त्वगिन्द्रियरूप तथा त्वगिन्द्रिय से भिन्न रूप वाले आपको नमस्कार है । (छूने की इंद्रिय त्वक् कहलाती है ।) ॥ ४० ॥ दृष्टिरूप एवं अदृष्टिरूप आपको नमस्कार है । (दृष्टि अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय ।) रसनारूप और रसना से अतिरिक्त रूप वाले आपको नमस्कार है । (चखने की इंद्रिय रसना है ।) ॥ ४१॥ घ्राणरूप व घ्राणेतररूप आपको प्रणाम है । (सूँघने की इंद्रिय घ्राण कही जाती है । इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों

नमस्ते घ्राणरूपाय नमस्तेऽघ्राणरूपिणे । नमस्ते पादरूपाय नमस्तेऽपादरूपिणे ॥ ४२ ॥

नमस्ते पाणिरूपाय नमस्तेऽपाणिरूपिणे । नमस्ते वाक्स्वरूपाय नमस्तेऽवाक्स्वरूपिणे ॥ ४३ ॥

नमस्ते लिङ्गरूपाय नमस्तेऽलिङ्गरूपिणे । नमस्ते पायुरूपाय नमस्तेऽपायुरूपिणे ॥ ४४ ॥

नमस्ते चित्तरूपाय नमस्तेऽचित्तरूपिणे । नमस्ते मातृरूपाय नमस्तेऽमातृरूपिणे ॥ ४५ ॥

नमस्ते मानरूपाय नमस्तेऽमानरूपिणे । नमस्ते मेयरूपाय नमस्तेऽमेयरूपिणे ॥ ४६ ॥

नमस्ते मितिरूपाय नमस्तेऽमितिरूपिणे । नमस्ते सर्वरूपाय नमस्तेऽसर्वरूपिणे ॥ ४७ ॥

रक्ष रक्ष महादेव क्षमस्व करुणालय । भक्तचित्तसमासीन ब्रह्मविष्णुशिवात्मक ॥ ४८ ॥

सूत उवाच—

इति ब्रह्मादयः स्तुत्वा प्रणम्य भुवि दण्डवत् । भक्तिपारं गता देवा बभूवुः परमेश्वरे ॥ ४९ ॥

वस्तुतः परमात्मनो न पृथगित्यभिप्रायेण बहुधा भावाभावरूपताभिधानम् ॥ ३६-४४ ॥

मातृरूपायेत्यादि मितिः प्रमा तस्याः कर्ता माता ॥ ४५ ॥ करणं मानम् । विषयो मेयम् । तद्रूपायेत्यर्थः ॥ ४६-४७ ॥

रक्ष रक्षेति । 'अहमेव जगत्कर्ते'त्यादि यदुक्तं यच्चान्यैस्तथा प्रतिपन्नं तमपराधं क्षमस्व तन्निबन्धनादनर्थाच्च रक्ष । यतस्त्वं करुणालय इत्यर्थः । 'हृदि ह्ययमात्मा' 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इति श्रुतिस्मृतिदर्शनात् । सर्वेषां चित्तेषु यद्यप्यस्ति तथाऽपि भक्तचित्तेषु विशेषत इत्याह—भक्तचित्तेति । ब्रह्मविष्णुशिवात्मकेति । 'स ब्रह्मा स शिवः स हरिः' इति श्रुतिः ॥ ४८ ॥

भक्तिपारमिति । प्रियातिशयवशाच्चित्तस्य विषयान्तरव्यावृत्तस्य तदेकनिष्ठतां भक्तेः पारम् ॥ ४९ ॥

की तरह इन्द्रियाँ भी शिवरूप हैं और जो इन्द्रियाँ नहीं वह भी शिव ही है । ज्ञानेन्द्रियों के अनन्तर कर्मेन्द्रियों के प्रसंग को उठाते हैं—) पादरूप और पादभिन्नरूप आपको नमस्कार है । (चलने की इन्द्रिय पाद है । दीखने वाले पैर आदि द्वारा काम करने वाली उनसे भिन्न इन्द्रियाँ हैं ।) ॥ ४२ ॥ पाणिरूप और अपाणिरूप आपको नमस्कार है । (पकड़ने की इन्द्रिय पाणि है ।) वागूरूप तथा वाग्भिन्नरूप आपको प्रणाम है । (बोलने की इन्द्रिय वाक् है ।) ॥ ४३ ॥ उपस्थरूप व उपस्थेतररूप आपको नमस्कार है । (मैथुन करने वाली इन्द्रिय उपस्थ है ।) पायुरूप एवं पायु-भिन्न रूप आपको नमस्कार है । (मल आदि का विसर्ग करने वाली इन्द्रिय पायु है ।) ॥ ४४ ॥ चित्त तथा चित्त-भिन्न रूप आपको नमस्कार है । (संशय, निश्चय, कामना, श्रद्धा, भय आदि करने वाली इन्द्रिय यहाँ चित्त कही गयी है ।) प्रमातारूप व अप्रमातारूप आपको प्रणाम है ॥ ४५ ॥ प्रमाणरूप एवं अप्रमाणरूप आपको प्रणाम है । प्रमेय तथा अप्रमेयरूप आपको नमस्कार है ॥ ४६ ॥ प्रमा और अप्रमारूप आपको नमस्कार है । सर्वरूप एवं असर्वरूप आपको नमस्कार है । (सर्व से समष्टि और असर्व से व्यष्टि समझना चाहिये ।) ॥ ४७ ॥ भक्तों के चित्तों में विशेषतः उपस्थित तथा ब्रह्मा विष्णु व शिव रूपों को ग्रहण करने वाले करुणासागर हे महादेव ! हम लोगों की हर तरह से रक्षा कीजिये ॥ ४८ ॥

सूत जी बोले—ब्रह्मा आदि देव यों स्तुतिकर और भूमि पर दण्डवत् प्रणामकर परमेश्वर में अत्यधिक भक्ति वाले हुए ॥ ४९॥

देवदेवो महादेवः सर्वभूतहिते रतः । अनुगृह्यावशान्देवानम्बिकापतिरीश्वरः ॥ ५० ॥
प्रनृत्य परमं भावं स्वकं सम्यक्प्रदर्शयन् । ब्रह्मविष्ण्वादिभिः साकं श्रीमद्व्याघ्रपुरं गतः ॥ ५१ ॥
तत्र सर्वे सुरा विप्राः श्रद्धया द्रष्टुमिच्छया । अवर्तन्ताखिलेशस्य नर्तनं भुक्तिमुक्तिदम् ॥ ५२ ॥
भवन्तोऽपि महादेवप्रसादाय मुनीश्वराः । पूजयध्वं महाभक्त्या महादेवं घृणानिधिम् ॥ ५३ ॥
इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा नैमिषीयास्तपोधनाः । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ सूतमात्महितप्रदम् ॥ ५४ ॥
जज्ञिरे देवदेवोऽसौ शंकरस्त्वम्बिकापतिः । पूजनीय इति श्रीमान्सर्वदा सर्वजन्तुभिः ॥ ५५ ॥
तेषां शिष्याः प्रशिष्याश्च तथाऽन्ये सर्वजन्तवः । महादेवः सदा सर्वैः पूज्य इत्येव जज्ञिरे ॥ ५६॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे नन्दीश्वरविष्णुसंवादेनेश्वरप्रतिपादनं नाम

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

[1]अत एव व्यवहारान्तराक्षमत्वमाह—अवशानिति । ईदृग्दशोपलम्भेन देवान्मुख्याधिकारिणो ज्ञात्वा परतत्त्वविषयं साक्षात्कारं तेषामन्वग्रहीदित्याह—अनुगृह्येति । ईदृशी हि दशा साक्षात्काराधिकारकारणमुक्ता पतञ्जलिना—'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिरि'ति । भावो देवादिविषया रतिः । यदाहुः—'रतिर्देवादिविषयाऽव्यभिचारि[2]तयाऽर्जिता । भावः प्रोक्तः' इति । स चेह विषयस्य शिवस्य परमानन्दरूपत्वात्तद्विषयः स्वयमपि परमः । तं स्वात्मनि वर्तमानं परमं भावमभिनयेन विशदं दर्शयितुं देवैः सह नृत्योचितं स्थानं श्रीमद्व्याघ्रपुरं गत इत्याह—प्रनृत्य परमं भावमिति । यथा रत्यादिस्थायिभावकार्यस्य वर्णनेनाभिनयेन वा प्रदर्शने स रत्यादिरभिव्यक्तः सञ्शृङ्गारादिरसरूपतामापद्यते । उक्तं हि—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' इति । एवं परतत्त्वस्वरूपविषयो भावोऽपि तत्कार्येणाभिनयेन विशदीभूतः प्रकर्षेण दृश्यत इति । प्रदर्शयन्निति 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति हेतौ शतृप्रत्ययः ॥ ५० ॥ ॥ ५१ ॥

नर्तनं द्रष्टुमिच्छयेति संबन्धः । परापरपुरुषार्थैकसाधनत्वेनेच्छा न पुनरौत्सुक्यमात्रेणेत्याह—[3]श्रद्धयेति । भुक्तिमुक्तिदमिति । भोगमोक्षसाधनोपदेशाय ह्ययमध्याय आदावेवावतारितः ॥ ५२ ॥

भवन्तोऽपीति । पूजयध्वमिति मध्यमपुरुषाक्षिप्तस्य युष्मच्छब्दस्यापिना संबन्धः । भवन्त इति शत्रन्तम् । यूयमपि देववद्भक्तिपरवशाः सन्तः पूजयध्वमित्यर्थः । पूज्य इत्येव जज्ञिर इति फलाभिसंबन्धविरह एवकारार्थः । तादृशी हि पूजा सात्त्विकी । उक्तं हि गीतासु—'अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते । यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः' इति । जज्ञिर इति 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥ ॥ ५४ ॥ ॥ ५५ ॥ ॥ ५६ ॥

इतिश्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे नन्दीश्वरविष्णुसंवादेनेश्वरप्रतिपादनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

सब प्राणियों के हित में लगे रहने वाले अम्बिकापति देवाधिदेव महादेव मोहपरवश हुए देवताओं पर कृपा कर, ॥ ५० ॥ नाचकर उन्हें अपनी परम महत्ता का भली प्रकार से दर्शन कराने के लिये ब्रह्मा विष्णु आदि को साथ ले श्रीमद्व्याघ्रपुर को गये ॥ ५१ ॥ हे विप्रो ! सब देव समस्त संसार के शासक का भोग व मोक्ष देने वाला नृत्य श्रद्धापूर्वक देखने के लिये वहाँ (व्याघ्रपुर में) रहे ॥५२ ॥ हे मुनीश्वरो ! भक्तियुक्त हुए आप लोग भी महादेव की कृपा पाने के लिये परम भक्ति पूर्वक करुणाकर महादेव की पूजा कीजिये ॥ ५३ ॥ नैमिषारण्यवासी, तप को ही धन मानने वाले मुनिश्रेष्ठों ने यह सुनकर तथा अपने को हितबोध प्रदान करने वाले सूतजी को भूमि पर लेटकर दण्डवत् प्रणाम कर ॥ ५४ ॥ यह निश्चय किया कि अम्बिकापति देवाधिदेव ये श्रीमहादेव ही सदा सबके द्वारा पूजनीय हैं ॥ ५५ ॥ उनके शिष्यों, प्रशिष्यों व अन्य सब जन्तुओं ने भी यह निर्णय किया कि सदा सबके द्वारा महादेव ही पूज्य हैं ॥ ५६ ॥

---

१. ख. देवदेव इति । भक्त्याऽधीनानां देवानां व्यव° । २. क. °तयाऽञ्जितः । ३. ख. तत्रेति ।

चतुर्थोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः –

भगवन्देवदेवस्य नीलकण्ठस्य शूलिनः । ब्रूहि पूजाविधिं विद्वन्कृपया भुक्तिमुक्तिदम् ॥ १ ॥

सूत उवाच–

वक्ष्ये पूजाविधिं विप्राः शृणुध्वं भुक्तिमुक्तिदम् । श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म कृत्वा श्रद्धापुरःसरम् ॥ २ ॥

स्नात्वा शुद्धे समे देशे गोमयेनोपलेपिते । समासीनः सदा मौनी निश्चलोदङ्मुखः सुखी ॥ ३ ॥

विचित्रमासनं तत्र निधाय ब्रह्मवित्तमाः । आगस्त्येनैव शास्त्रेण प्रोक्तलक्षणलक्षितम् ॥ ४ ॥

पूज्य[1]स्वरूपापरिज्ञाने पूजाया मन्दफलत्वादध्यायद्वयेन मुनयस्तत्स्वरूपं ज्ञात्वा पूजां जिज्ञासन्ते–**भगवन्देवदेवस्येति** ॥ १ ॥

कृतनित्यनैमित्तिकस्यैव पूजाधिकार इत्याह–**श्रुतिस्मृतीति** । **श्रद्धेति** उक्तं गीतासु–'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह' इति ॥ २ ॥

स्नात्वेति । स्मार्तकर्माङ्गत्वेन वारुणं स्नानं कृतवताऽपि शिवपूजाङ्गत्वेन भस्मस्नानमपि कार्यमित्यर्थः । अथ वा 'ष्णा शौचे' इत्यतः स्नात्वेति पदं निष्पन्नम् । अतः पञ्चसु शुद्धीर्विधायेत्यर्थः । आह सोमशंभुः–'इत्थमात्माश्रयद्रव्यमन्त्रलिङ्गविशुद्धिषु । कृतासु देवदेवस्य पूजनं नान्यथा भवेत् ॥' इति **सदेति** यावत्पूजाकालमित्यर्थः । निश्चलश्चासावुदङ्मुखश्च । उदङ्मुखत्वं चोक्तं सोमशंभुना–'देवदक्षिणदिग्भागे संनिविष्टः सुखासने । उत्तरस्थो विनीतात्मा न्यस्तमन्त्रकरद्वयः' इति ॥ उदङ्मुखत्वे कारणमुक्तं ज्ञानरत्नावल्याम्–'न प्राच्यामग्रतः शंभोर्नोत्तरे योषिदाश्रये । न प्रतीच्यां यतः पृष्ठं तस्माद्दक्षं समाश्रयेत्' इति ॥ दक्षं देवस्य दक्षिणभागम् तं चाऽऽश्रित उत्तराभिमुख एव भवति ॥ ३ ॥

विचित्रमिति । स्थिरलिङ्ग आधारशक्त्यादिशिवासनपर्यन्तैर्विविधव्याप्तिभाव[2]नाविषयैश्चित्रमित्यर्थः । चरलिङ्गे तूक्तरूपं स्थिरासनं स्नानार्थं षड्उत्थं चलासनं च दत्त्वेत्यर्थः । **आगस्त्येनेति** नानागमोपलक्षणम् । लिङ्गलक्षणमुक्तं श्रीकालोत्तरादिषु–'स्थिरलिङ्गे सदा कार्यं सिद्धिकामैः प्रयत्नतः । भुक्तिमुक्तिप्रदं पुंसां चरलिङ्गे शिवार्चनम् ॥ सर्वत्र संस्थितः पूज्यः सर्वाधारेषु सर्वदा । तथाऽपि लिङ्गे भगवान्पूजां गृह्णाति धूर्जटिः ॥ असंपूर्णा कृता पूजा मन्त्रद्रव्यक्रियागुणैः । तथाऽपि लिङ्गे संपूर्णा पूजा भवति षण्मुख ॥ लीयन्ते यत्र भूतानि निर्गच्छन्ति यतः पुनः । तेन लिङ्गं परं व्योम निष्कलः परमः शिवः ॥ लिङ्ग्यते चिन्त्यते येन भावेन भगवाञ्शिवः । योगिभिस्तत्त्रिधा लिङ्गं व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकम् ॥ व्यक्तं तत्सकलं ज्ञेयमव्यक्तं निष्कलं मतम् । ज्ञानज्योतिर्मयं लिङ्गं व्यक्ताव्यक्तमिदं स्मृतम् ॥ स्फाटिकं त्रिविधं ज्ञेयं सूर्यचन्द्रानलात्मकम् । श्वेतं रक्तं च पीतं च कृष्णच्छायं द्विजास्त्रिषु ॥ त्रिपञ्चवारं यस्यैव तुलासाम्यं न जायते । तदा वाणं समाख्यातं शेषं पाषाणसंभवम् ॥ नद्यां वा प्रक्षिपेद्भूयो यदा तदुपलक्ष्यते । वाणलिङ्गं तदा विद्धि' इति ॥ तथा तत्रैव मृन्मयादिलिङ्गानामुत्तरोत्तरोत्कर्षाभिधानप्रस्तावे–'संस्थाप्य बाणलिङ्गं तु रत्नात्कोटिगुणं भवेत । रसलिङ्गे ततो वाणात्फलं कोटिगुणं स्मृतम् ॥ को गुणान्रसलिङ्गस्य वक्तुं शक्नोति शांकरि । सिद्धयो रसलिङ्गे स्युरणिमाद्याः सुसंस्थिताः' इति ॥ ४ ॥

ईश्वर-पूजा-विधान नामक चौथा अध्याय

नैमिषारण्य वासियों ने जिज्ञासा की–हे भगवन् ! हे विद्वान् सूत जी ! कृपाकर त्रिशूलधारी नीलकण्ठ देवाधिदेव महादेव की भोग व मोक्ष देने वाली पूजाविधि बताइये ॥ १ ॥

सूत जी ने कहना प्रारंभ किया–हे वेदज्ञ ब्राह्मणो ! भोग व मोक्ष देने वाली शिव पूजाविधि बताता हूँ, सुनिये । श्रद्धापूर्वक श्रुति-स्मृति में विहित नित्य-नैमित्तिक कर्म कर चुकने के बाद ॥ २ ॥ भस्म-स्नानकर तथा स्वयं को व पूजा-सामग्री आदि को शुद्धकर स्वच्छ, समतल एवं गोबर से लीपे स्थान पर उत्तर की ओर मुँहकर स्थिर रूप से आराम से बैठ जायें । पूजाकाल में बातें न करें ॥ ३ ॥ अपने संमुख आगस्त्य आदि आगमों में बताये लक्षणों वाला, आधारशक्ति आदि उत्तरोत्तर व्यापक विविध वस्तुओं की भावने से संकल्पित आसन रखें ॥ ४ ॥

---

१. ख. °ज्यस्य स्व° । २. ख. °वनया वि° ।

आदाय श्रद्धया विप्राः शिवलिङ्गं समाहितः । तत्रैवाऽऽवाह्य देवेशं प्रणवेन हृदि स्थितम् ॥ ५ ॥

अर्घ्यं दत्त्वा मुनिश्रेष्ठाः पूर्वोक्तेनैव मन्त्रतः । पाद्यमाचमनं चैव पुनः पूर्वोक्तमन्त्रतः ॥ ६ ॥

पुनः स्नाप्य महादेवमापोहिष्ठादिभिस्त्रिभिः । तथा पुरुषसूक्तेन श्रीमत्पञ्चाक्षरेण च ॥ ७ ॥

पुनराचमनं दत्त्वा प्रतिष्ठाप्याऽऽसने हरम् । दत्त्वा वस्त्रं मुनिश्रेष्ठाः प्रणवेन समाहितः ॥ ८ ॥

उपवीतं पुनर्दत्त्वा भूषणानि च सादरम् । गन्धं पुष्पं तथा धूपं दीपं चैवाऽऽदरेण च ॥ ९ ॥

श्रीमत्पञ्चाक्षरेणैव प्रणवेन युतेन च[१] । हविर्निवेद्य देवाय पानीयेन [२]सहाऽऽदरात् ॥ १० ॥

पुनराचमनं दत्त्वा ताम्बूलं सोपदंशकम् । माल्यं दत्त्वाऽनुलेपं च प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ ११ ॥

लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैः स्तुत्वा हृदि विसर्जयेत् । प्रणवेन महादेवं सर्वज्ञं सर्वकारणम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च सुव्रताः । एवं दिने दिने देवं पूजयेदम्बिकापतिम् ॥ १३ ॥

प्रोक्तलक्षणलक्षितं शिवलिङ्गमादाय दीक्षापुरःसरं परिगृह्य । आवाह्येति । आवाहनं लिङ्गेऽभिव्यक्त्यनुसंधानम् । विसर्जनं तु निजरूपेणावस्थानचिन्तनम् । उक्तं हि–'आवाहनमभिव्यक्तिः [३]शक्तिभावो विसर्जनम्' इति । आवाहनं तदादिसंस्कारदशकोपलक्षणम् । यथाऽऽहुरागमविदः–'आवाहनं स्थापनं च सांनिध्यं संनिरोधनम्[४] । सकलीकारममृतीकरणं चाथ पाद्यकम् ॥ तत आचमनं चार्घ्यं पुष्पं च दश संस्क्रियाः' इति । प्रणवेनेति । तेन हि यत्कृतं तदशेषैर्मन्त्रैः कृतं भवति । श्रूयते हि–'यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते' इति । यथा 'एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत्परममक्षरम्' इति ॥ ५ ॥

पूर्वोक्तेनेति प्रणवेन । मन्त्रतो मन्त्रेण पञ्चाक्षरेण ॥ ६ ॥पञ्चाक्षरेण चेति । चकारादन्यैरपि शतरुद्रियादिभिः ॥ ७-११ ॥

प्रणवेन हृदि विसर्जयेदिति । हृदि स्वप्रतिष्ठिततया शिवमनुसंदध्यादित्यर्थः । हृदयं तस्य नियतं स्थानम् । 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इति [५]स्मृतेः । 'हृदयं[६] तद्विजानीयादि' त्यारभ्य 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' 'स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्' इति श्रुतेश्च । इत्थं संग्रहेण शिवपूजाविधिरुक्तः । एतावताऽप्यसौ पूर्ण एव । 'बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रकीर्तितम् । तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वः कृतो भवेत्' इति न्यायात् ॥ प्रपञ्चस्तु पुराणान्तरादागमान्तरेभ्यश्चोक्तोऽविरुद्ध उपसंहर्तव्यः ॥ १२ ॥

उक्तपूजाविधावाश्रमभेदेन मन्त्रव्यवस्थामाह–ब्रह्मचारीति ॥ १३ ॥

फिर श्रद्धापूर्वक ध्यान से शिवलिंग को उस पर स्थिर करें और हृदय में स्थित देवेश्वर का उसमें प्रणव मंत्र से आवाहन करें। (लिंग में भगवान् अभिव्यक्त हो रहे हैं ऐसा चिन्तन आवाहन कहलाता है।) ॥ ५॥ प्रणवोच्चारण पूर्वक ही उन्हें अर्घ्य दें। फिर पंचाक्षरमन्त्र से पाद्य व आचमन समर्पित करें ॥ ६ ॥ तदनन्तर 'आपो हिष्ठा' इत्यादि तीन मंत्रों से, पुरुषसूक्त से, और पंचाक्षरादि मंत्रों से भगवान् को स्नान करावें ॥ ७ ॥ फिर आचमन देकर श्रीहर को आसन पर प्रतिष्ठित करें और एकाग्रता से प्रणवोच्चारणपूर्वक वस्त्र चढ़ायें ॥ ८ ॥ तदनन्तर आदरपूर्वक यज्ञोपवीत, आभरण, चन्दन, पुष्प, धूप और दीप समर्पित करें ॥ ९ ॥ प्रणवयुक्त पंचाक्षर मंत्र से नैवेद्य तथा जल समर्पित करें ॥ १० ॥ पुनः आचमन के लिये जल देकर इलायची आदि युक्त पान चढ़ावें। माला एवं अनुलेपन (चन्दनादि) समर्पित कर भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करें ॥ ११ ॥ फिर वैदिक और लौकिक स्तोत्रों के पाठ से भगवान् की स्तुति कर सर्वज्ञ सर्वकारण महादेव को अपने हृदय में विसर्जित करें अर्थात् शिव मुझमें–मेरे हृदय में–प्रतिष्ठित हो रहे हैं ऐसा ध्यान करें ॥ १२॥ हे उचित निश्चय वालो ! ब्रह्मचारी, गृहस्थ व वानप्रस्थ इस प्रकार प्रतिदिन गिरिजापति का पूजन करें ॥ १३ ॥

---

१. ख. तु । २. ङ. सदाऽऽद° । ३. ङ. शक्त्यभा° । ४. ङ. ° म् । संक° । ५. ख. भगवदुक्तेः । ६. ङ. °दयमित्या° ।

संन्यासी देवदेवेशं प्रणवेनैव पूजयेत् । नमोन्तेन शिवेनैव स्त्रीणां पूजा विधीयते ॥ १४ ॥

विरक्तानां च शूद्राणामेवं पूजा प्रकीर्तिता । अन्येषामपि सर्वेषां नराणां मुनिपुङ्गवाः ॥ १५ ॥

पूजा देवालयं दृष्ट्वा प्रणामस्तस्य कीर्तितः । एवं पूजा कृता येन सफलं तस्य जीवितम् ॥ १६ ॥

पूजया भुक्तिमाप्नोति पूजया मुक्तिमाप्नुयात् । पुरा कश्चिन्महापापी पुल्कसः पुरुषाधमः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणानां कुलं हत्वा गवां वेदविदां वराः । अपहृत्य धनं मार्गे प्राणिहिंसापुरःसरम् ॥ १८ ॥

स्वच्छन्दं निर्घृणो विप्राश्चचार पृथिवीतले । तस्य मित्रमभूत्कश्चिद् ब्राह्मणो गणिकापतिः ॥ १९ ॥

पञ्चाक्षरपूजायां स्त्रीशूद्राणां विशेषमाह–नमोन्तेनेति ॥ १४ ॥

अन्येषामिति । संकरजातीनां देवालयं दृष्ट्वा तस्य देवालयस्य प्रणाम एव पूजा प्रकीर्तिता । पुराणान्तरेषु स्त्रीशूद्रादीनां सर्वेषां प्रणवमात्रं परित्यज्यावशिष्टेन पञ्चाक्षरेणैव पूजाऽभिहिता । यथाऽऽह वसिष्ठः–'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः । सदों नमः शिवायेति शिवमन्त्रं समाश्रयेत् ॥ पञ्चाक्षरः सप्रणवो द्विजराज्ञोर्विधीयते । विट्शूद्रजन्मनां वाऽपि स्त्रीणां निर्बीज एव हि ॥ सबीजः सस्वरः सौम्य विप्रक्षत्रिययोर्द्वयोः । नेतरेषामितीशानः स्वयमेवाऽऽह शंकरः ॥ दुर्वृत्तो वृत्तहीनो वा पतितोऽप्यन्त्यजोऽपि वा । जपेत्पञ्चाक्षरीं विद्यां जपेनैवाऽऽप्नुयाच्छिवम्' इति ॥ शैवपुराणे शिवोऽप्याह–'समन्त्रकं तु पतितो ह्यर्चयेद्यदि पद्मज । नारकी स्यान्न संदेहो मम पञ्चाक्षरं विना ॥ मयोक्तमेतद्धि पुरा पवित्रं पञ्चाक्षरं मन्त्रमिमं शिवायै । साधारणं पद्मज वेदसारं ममाऽऽज्ञया सर्वमिदं सुरेश' इति ॥ नन्दीश्वरोऽपि–'शृणुष्वातिरहस्यं ते वदामि मुनिपुङ्गव । हिताय सर्वलोकानां पतितानां विशेषतः ॥ समन्त्रकं सकृद्वाऽपि पतितः पूजयेद्यदि । नारकी स्यान्न संदेहः शैवपञ्चाक्षरं विना' इति ॥ [1]इत्यमुक्ता पूजा । तत्फलमाह–एवं पूजा कृता येनेति ॥ १५ ॥ ॥ १६ ॥

तत्राऽऽदरातिश[2]यार्थमाख्यायिकामाह–पुरा कश्चिदित्यादिना । पुल्कसलक्षणमत्रैव वक्ष्यते–'जातः शूद्रेण राजन्यां वैदेहाख्यः स पुल्कसः' इति । पुल्कसकृतपापप्रपञ्चवर्णनं तादृगपि दभ्रसभादर्शनमात्रादेव विमुक्त इति सभादर्शनप्रभावोत्कर्ष-ज्ञापनाय ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ ॥ १९ ॥

संन्यासी प्रणवोच्चारण से ही महादेव की पूजा करें । स्त्रियों के लिये नमोन्त मन्त्र से (नमः शब्द है अंत में जिसके ऐसे पंचाक्षर मन्त्र से) पूजा करना विहित है ॥ १४ ॥ विरक्त शूद्रों के लिये भी पूजा का यही (नमोन्त मन्त्र से करना) प्रकार है । हे मुनिपुंगवो ! अन्य सभी मनुष्यों के लिये ॥ १५ ॥ पूजा यही बतायी गयी है कि देवमंदिर देखकर उसे प्रणाम कर दें । यों अपने-अपने अधिकारानुसार जिसने पूजा की है उसका जन्म सार्थक है ॥ १६ ॥ (अन्य पुराणों के अनुसार स्त्री, शूद्र आदि सबको प्रणवरहित पंचाक्षर मन्त्र द्वारा पूजा करनी चाहिये । प्रणवसहित पंचाक्षर का प्रयोग ब्राह्मण व क्षत्रिय के लिये है ।) भक्त पूजा से ही भोग व मोक्ष प्राप्त कर सकता है । (इस विषय में यह आख्यायिका है–)

पूर्वकाल में एक महापापी पुल्कस जाति का (शूद्रपिता व क्षत्रियमाता की संकर संतान पुल्कस होती है ।) नीच पुरुष था ॥ १७ ॥ हे श्रेष्ठ वेदवेत्ताओ ! ब्राह्मण वंशों को व गायों को मारकर मार्ग में धन लूटकर प्राणियों की हिंसा करते हुए ॥ १८ ॥ दयाशून्य हो स्वच्छन्द वृत्ति से रहता था । हे विप्रो ! कोई वेश्यापति ब्राह्मण उसका मित्र बन गया ॥ १९ ॥

---

१. ग. इत्युक्ता । ° । २. ङ. °शयेन पूर्वमा° ।

तस्मै दत्तं धनं किंचित्पुल्कसेन द्विजोत्तमाः । स पुनर्ब्राह्मणस्तुष्टो मतिं तस्मै प्रदत्तवान् ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच—

सुबन्धो मम दुर्बुद्धे त्वया पापानि निर्घृण । कृतानि सर्वदा[1] मूढ त्वहो किं ते फलिष्यति ॥ २१ ॥

इत्येवं बहुधा विप्रः पुल्कसं प्रत्यभाषत । सोऽपि विप्रवचः श्रुत्वा बहुशः पण्डितोत्तमाः ॥ २२ ॥

कालेन महता दान्तः पुल्कसः पुरुषाधमः । जन्मान्तरसहस्रेषु कृतपुण्यवशेन च ॥ २३ ॥

प्रणम्य दण्डवद्विप्रं पप्रच्छ ब्रह्मवित्तमाः ।

पुल्कस उवाच— देव विप्र सुबन्धो मे मया सर्वत्र सर्वदा ॥ २४ ॥

महाघोराणि पापानि कृतानि मम नायक । किं करोम्यहमद्यास्मिँल्लोके मूढोऽतिनिर्घृणः ॥ २५ ॥

तद्वदातिभयाविष्टं मानसं मम संततम् ।

ब्राह्मण उवाच—साधु साधु त्वयाऽद्योक्तं तव वक्ष्ये हितं शृणु ॥ २६ ॥

पुण्यक्षेत्रे महातीर्थे पुराणे वसुधातले । मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैरमरैश्च सुसेविते ॥ २७ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरे[2] यत्र प्रनृत्यत्यम्बिकापतिः । तत्र भक्तिपरो भूत्वा स्नात्वा प्रातः समाहितः ॥ २८ ॥

मतिं तस्मै प्रदत्तवानिति । दातुं प्रवृत्त[3]वान् । आदिकर्मणि क्तवतुः । अन्यथा 'अच उपसर्गात्तः' इति तत्वे प्रत्तवानिति स्यात् । आदिकर्मणि तु 'प्रदत्तं चाऽऽदिकर्मणि' इति क्तेन क्तवतोरप्युपलक्षणात्तत्वप्रतिषेधे ददादेश एव भवति । यदि वा ब्राह्मणेन पुल्कसं प्रति बुद्धिदानं बहुशः कृतं तदलम् । मतिदानस्य प्रारम्भमात्रं ततोऽप्यतिशयितस्यापरिमितस्य कर्तव्यस्य संभवात्कृतस्याऽऽरम्भमात्रत्वमित्यादिकर्माभिप्रायः ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥

दान्त इति । दम इन्द्रियाणां निषिद्धव्यापारोपरमः । विप्रजनितोपदेशेन जातनिर्वेदे मनस्युपरते तदधीनव्यापाराणि

पुल्कस ने उस ब्राह्मण को कुछ धन दिया । उससे संतुष्ट हुआ वह ब्राह्मण उसे शिक्षा देने में प्रवृत्त हुआ ॥ २० ॥ ब्राह्मण बोला— 'हे निर्दय निर्बुद्धि, दोस्त ! तुमने सदा पाप ही किये हैं । तुम मूर्ख हो । अरे ! तुम्हें कितना अनिष्ट फल मिलेगा !' ॥ २१ ॥—इस प्रकार ब्राह्मण ने पुल्कस को अनेक तरह से उसके कर्मों के विषय में कहा । हे पण्डितश्रेष्ठो ! उस पुल्कस ने भी बहुत बार कही ब्राह्मण की बात सुनकर ॥ २२ ॥काफी समय बाद संयतेन्द्रिय होकर हज़ारों पूर्व जन्मों के किये पुण्यों के फलोन्मुख होने के प्रभाव से ब्राह्मण को दण्डवत प्रणाम कर पूछा—; पुल्कस बोला—'हे भूसुर ! हे वेदज्ञ ! हे मेरे मित्र ! मेरे द्वारा सदा सर्वत्र महाघोर पाप किये गये हैं । मेरे मार्गदर्शक मित्र ! बताओ कि मैं इस संसार में अब क्या करूँ (कि दुर्गति से बचूँ) ?' ॥ २३—२५½ ॥ ब्राह्मण बोला—'आज तुमने बड़े कल्याण की बात पूछी है । सुनो, मैं तुम्हारे हितसाधक कर्तव्य को बताता हूँ ॥ २६ ॥ वसुधातल पर पुरातन काल से विद्यमान पुण्यक्षेत्र महातीर्थ श्रीमद्व्याघ्रपुर को जाओ, जो तीर्थ मुनि,

---

१. पूर्वजनुष्यपि तत एव नीचयोनौ जन्म । अग्रेऽपि तान्येव संभाव्यन्ते पूर्वकृतसंस्कारानुसारित्वादुत्तरप्रवृत्तेरित्यभिप्रेत्य सर्वदेत्युक्तम् । २. ख. °रे रम्ये प्र° । ३. ङ. °त्त इति । आ° ।

दृष्ट्वा दभ्रसभां दूरे प्रणम्य भुवि दण्डवत् । योगिनां भोगिनां नृणां दत्त्वा सर्वस्वमर्जितम् ॥ २९ ॥
स्थानस्यास्य भये जाते रक्षणं कुरु यत्नतः ।
सूत उवाच–एवं द्विजो[1] त्तमेनोक्तः पुल्कसः पुरुषाधमः ॥ ३० ॥
श्रीमद्व्याघ्रपुरं पुण्यं गतः श्रद्धापुरःसरम् । ब्राह्मणोऽपि सहानेन श्रद्धया मुनिपुङ्गवाः ॥ ३१ ॥
प्राप्तवानेतदत्यन्तं श्रद्धया स्थानमुत्तमम् । पुल्कसः श्रद्धया स्नात्वा ब्राह्मणा वेदवित्तमाः ॥ ३२ ॥
योगिभ्यश्च तथाऽन्येभ्यो दत्त्वा सर्वस्वमर्जितम् । श्रीमद्दभ्रसभां नित्यं [2]ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ ३३ ॥
दूरे दृष्ट्वा नमस्कृत्वा पञ्चक्रोशाद्बहिर्द्विजाः । उवास सुचिरं कालमेवं कृत्वा दिने दिने ॥ ३४ ॥
एवं चिरगते काले पुल्कसः पुण्यगौरवात् । स्थानसंरक्षणव्याजात्तत्रैव मरणं गतः ॥ ३५ ॥
स पुनर्मरणादूर्ध्वं भुक्त्वा भोगाननेकशः । श्रीमद्व्याघ्रपुरेशस्य प्रसादादम्बिकापतेः ॥ ३६ ॥
अवाप परमां मुक्तिमविघ्नेन द्विजोत्तमाः । ब्राह्मणोऽपि तथैवास्मिन्स्थाने प्रातः समाहितः ॥ ३७ ॥
स्नानं कृत्वा महादेवमम्बिकापतिमीश्वरम् । पूजयामास पूर्वोक्तप्रकारेण महेश्वरम् ॥ ३८ ॥
तस्यापि ब्रह्मविच्छ्रेष्ठाः पूजया परमेश्वरः । श्रीमद्दभ्रसभानाथः प्रददौ मुक्तिमीश्वरः ॥ ३९ ॥
बहवो वेदविच्छ्रेष्ठाः पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना । शिवलिङ्गार्चनं कृत्वा विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ४० ॥
केचिद्वाराणसीं गत्वाऽऽपूज्य पूर्वोक्तवर्त्मना । महादेवं महात्मानं विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ४१ ॥
केचिच्छ्रीसोमनाथाख्यं केचित्केदारमद्भुतम् । केचिच्छ्रीपर्वतं मुख्यं केचिद्गोपर्वतं नराः ॥ ४२ ॥

तस्माद् व्यापारादुपारमन्नित्यर्थः ॥ २३-३३ ॥

नमस्कृत्वेति । नम इति शब्दपरो निर्देशः । नम इत्येतत्पदप्रयोगं कृत्वेत्यर्थः । नमस्कृत्वेति तु पाठेऽर्थपरस्य नमः-शब्दस्य गतिसमासे 'नमस्पुरसोर्गत्योः' इति सत्वम् । नमस्कृत्वेति तु पाठे 'क्त्वाऽपि च्छन्दसी'ति ल्यपोऽपवादः क्त्वादेशश्छान्दसः ॥ ३४ ॥

स्थानसंरक्षणव्याजादिति । व्याजशब्देन निमित्तमात्रं लक्षितम् । संरक्षणाद्धेतोरित्यर्थः ॥ ३५ ॥ ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणोऽपीति । गणिकापतिरपि ब्राह्मणः सभादर्शनमात्रेण कृतप्रायश्चित्त इति पूर्वोक्तप्रकारेण प्रणवेन पूजयामासेत्युक्तम् ॥ ३७ ॥ ॥ ३८ ॥ ॥ ३९ ॥ ॥ ४० ॥

सिद्ध, गन्धर्व तथा देवताओं द्वारा सेवित होता है तथा जहाँ अम्बिकानाथ अलौकिक नृत्य करते हैं। वहाँ भक्तियुक्त होकर, प्रातः स्नान कर, एकाग्रता से शिवसभा का दर्शन कर, (अपने वर्ण का ख्याल करते हुए) दूर से दण्डवत् प्रणामकर अपने द्वारा इकट्ठे किये सारे धन को योगियों को एवं गृहस्थ ब्राह्मणों को दानकर निवास करो तथा उस स्थान पर यदि कोई आपत्ति आये तो यत्नपूर्वक उस स्थान की रक्षा करो।' ॥ २७–२९½ ॥ सूतजी बोले–पुल्कसजाति का वह नीच पुरुष द्विजों में उत्तम ब्राह्मण जाति वाले अपने मित्र से यों समझकर श्रद्धासमेत श्रीमद्व्याघ्रपुर को गया। हे मुनियो! वह ब्राह्मण भी श्रद्धायुक्त हो उसके साथ गया ॥ ३०–३१ ॥ ब्राह्मण सहित वह पुल्कस श्रद्धासहित उस उत्तम तीर्थ में पहुँचा। श्रद्धापूर्वक स्नानकर उसने योगियों व अन्य अधिकारियों में अपनी अर्जित सारी सम्पत्ति बाँट दी और प्रतिदिन शिव सभा को दूर से देखकर प्रणाम करता था तथा सभा से पाँच कोस दूर रहता था। यों करते हुए वह बहुत समय तक वहाँ रहा ॥ ३२–३४ ॥ इस प्रकार काफी काल बीत जाने पर पुल्कस ने पुण्यप्रभाव से उस तीर्थ की रक्षा करने का अवसर पाया और उसमें मर गया ॥ ३५ ॥ मरने के बाद उसने शिवकृपा से अनेक भोग भोगकर बिना किसी विघ्न के परम मोक्ष प्राप्त किया ॥ ३६½ ॥ वह ब्राह्मण भी उसी तरह उस दिव्य स्थान पर प्रातः स्नानकर एकाग्रमन से सर्वनियन्ता अम्बिकानाथ सर्वफलदाता महादेव का पूर्वोक्त प्रकार

१. अत्र द्विजपदं द्विजातिमात्रपरं, ब्राह्मणेषूत्तमत्वस्य गणिकापतौ विधातुमनौचित्यात् । २. ग. ब्राह्मणान्वेदपारगान् ।

केचिद्दक्षिणकैलासं केचिदग्नीश्वराभिधम् । केचिच्छ्रीहरतीर्थाख्यं केचिद् वृद्धाचलाभिधम् ॥ ४३ ॥
केचिद्वल्मीकमाश्चर्यं केचिद्धालास्यसंज्ञितम् । केचिद्रामेश्वरं पुण्यं केचित्कान्तारमादरात् ॥ ४४ ॥
प्राप्य पूर्वोक्तमार्गेण शिवं पूज्य द्विजोत्तमाः । अनायासेन संसाराद्विमुक्ता वेदवित्तमाः ॥ ४५ ॥
केचित्स्वे स्वे गृहे देवं समाराध्य यथाबलम् । पूर्वोक्तेनैव मार्गेण विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ४६ ॥
केचिद्भोगेच्छया देवं पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना । श्रद्धयाऽऽपूज्य देवेशं भुक्तवन्तो महासुखम् ॥ ४७ ॥
किमत्र बहुनोक्तेन श्रूयतां मुनिपुङ्गवाः । पूजया सर्वजन्तूनां भोगमोक्षौ च नान्यथा ॥ ४८ ॥
तस्माद्भवन्तोऽप्यमुना पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना । पूजयध्वं महादेवं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ४९ ॥
इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठाः सूतं सर्वार्थसागरम् । प्रणम्य पूजयामासुः शंकरं शशिभूषणम् ॥ ५० ॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयः सुहृदो जनाः । पूजयामासुरीशानं मुनिभिस्तैः प्रचोदिताः ॥ ५१ ॥
पूजया सदृशं पुण्यं नास्ति लोकत्रयेष्वपि । पूजयैव महादेवः शंकरः परमेश्वरः ॥ ५२ ॥
नीलकण्ठो विरूपाक्षः शिवो नित्यं प्रसीदति । पूजिते देवदेवेशे पुराणे सर्वकारणे ॥ ५३ ॥
पूजिता देवताः सर्वा इति वेदान्तनिश्चयः । भोगं मोक्षं च लभते नात्र कार्या विचारणा ॥ ५४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्ड ईश्वरपूजाविधानं नाम चतुर्थोऽध्याय : ॥ ४ ॥

क्षेत्राणां प्रभावोत्कर्षतरतमभावसंभवेऽप्युक्तपूजाविधानमाहात्म्यान्निरतिशयश्रद्धापूर्वकात्सममेव फलमपवर्गलक्षणं प्रतिपन्ना इत्याह—केचिद्वाराणसीमिति । आपूज्येत्याकारप्रश्लेषः । शिवं पूज्येत्यसमासेऽपि ल्यबादेशश्छान्दसः ॥ ४१-४५ ॥

यथाबलमिति । बलं सामर्थ्यमनतिक्रम्य विद्यमानसामर्थ्यमवञ्चयित्वा । अत एव गृहे शिवं समाराध्य विमुक्ताः । भवो जन्म स एव दुःखमयसंसारबन्धहेतुत्वाद्बन्धनं जन्माभावे हि दुःखाभावोऽपवर्गो भवति । उक्तं हि गौतमेन 'दुखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानाना-मुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इति, शास्त्रजनिततत्त्वज्ञानादहं मनुष्य इति मिथ्याज्ञानापाये रागादिदोषापायाद्धर्माधर्मयोः प्रवृत्त्यभावेन तन्निबन्धनजन्माभावादात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपोऽपवर्गो भवतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

भोगेच्छयेति । भोगापवर्गसाधनं शिवपूजेति ह्युक्तम् ॥ ४७ ॥ ॥ ४८ ॥ तस्मादिति । भवन्त इति शत्रन्तम् । यूयमपि प्रागुक्ता इव सन्तः पूजयध्वमित्यर्थः ॥ ४९-५१ ॥

पूजयैवेति । यथाधिकारं प्रागुक्तया मानस्या बाह्यया वा ॥ ५२ ॥ ॥ ५३ ॥

पूजिता देवताः सर्वा इति वेदान्तनिश्चय इति । उक्तं ह्यथर्वशिरसि शिवेनैव 'मां यो वेद स सर्वान्देवान्वेद' इति[1] ॥ ५४ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्ड ईश्वरपूजाविधानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

से पूजन करते हुए रहा ॥ ३७—३८ ॥ हे ब्रह्मोपासकों में श्रेष्ठ मुनियो ! उसके द्वारा की पूजा से भी प्रसन्न होकर दभ्रसभा के अध्यक्ष श्रीपरमशिव ने उसे मोक्ष प्रदान किया ॥ ३९ ॥ अन्य भी श्रेष्ठ वेदज्ञों ने पूर्वोक्त विधि से शिवलिंग का अर्चनकर संसार बंधन से मोक्ष पाया है ॥ ४० ॥ कुछ लोग वाराणसी जाकर वहाँ पूर्वोक्त ढंग से कृपालु महादेव की सर्वविध पूजाकर भवसागर से पार हुए हैं ॥ ४१ ॥ कुछ लोग सोमनाथ में, कुछ विलक्षण केदारनाथ में, कुछ श्रीपर्वत पर (श्रीशैल पर), कुछ लोग गोपर्वत पर, कुछ दक्षिण कैलास में (श्रीकालहस्तीश्वर), कुछ अग्नीश्वर नामक स्थान पर, कुछ श्रीहरतीर्थ नामक स्थल पर, कुछ वृद्धाचल पर, कुछ आश्चर्यजनक वल्मीकतीर्थ पर, कुछ हालास्य नामक स्थान पर, कुछ रामेश्वर नामक पुण्य स्थल पर, कुछ कान्तारनामक स्थान पर (व ऐसे ही अन्यान्य पवित्र क्षेत्रों में) श्रद्धापूर्वक पहुँचकर पूर्वोक्त विधान से शिव की पूजाकर अनायास ही संसार बन्धन से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं ॥ ४२—४५ ॥ कुछ भक्त अपने-अपने घरों में ही पूर्वोक्त ढंग से यथाशक्ति महादेव की पूजाकर भवबन्धन से मुक्त हुए हैं ॥ ४६ ॥ कुछ अर्थार्थिभक्तों ने भोगप्राप्ति की इच्छा से पूर्वोक्त प्रकार से श्रद्धापूर्वक शिव की भली भाँति पूजाकर महान् सुख भोगे हैं ॥ ४७ ॥ हे श्रेष्ठ मुनियो ! इस विषय में अधिक क्या कहें, सार सुन लीजिये—सभी जन्तुओं को शिवपूजा से ही भोग व मोक्ष मिलते हैं, और किसी कारण से नहीं ॥ ४८ ॥ अतः आप लोग भी इस पूर्व में बताये विधान से भोग व मोक्ष देने वाले महादेव का पूजन कीजिये ॥ ४९ ॥

यह सुनकर उन श्रेष्ठ मुनियों ने समस्त पुरुषार्थों के उपायों के ज्ञान की वारिधिरूप सूतजी को प्रणाम किया और शशिशेखर शिव की पूजा की ॥ ५० ॥ उन मुनियों की आज्ञा से उनके पुत्र पौत्र आदि कुल वालों ने, जाति-भाइयों ने व मित्रों ने भी ईश्वर की पूजा की ॥ ५१ ॥ तीनों लोकों में पूजा के तुल्य कोई पुण्यकर्म नहीं है । कल्याणकारी सर्वनियन्ता नीलकण्ठ विरूपाक्ष आनन्दरूप महादेव पूजा से ही सदा प्रसन्न होते हैं ॥ ५२ $^1/_2$ ॥ सर्वकारण सर्वादि देवाधिदेव की पूजा हो जाने से सभी देवता पूजित हो जाते हैं यह उपनिषदों में निश्चित किया गया है । शिव पूजा से भोग व मोक्ष दोनों मिलते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ५४ ॥

---

१. 'एष उ ह्येव सर्वे देवा' (बृ. १. ४. ६) इत्याद्याः श्रुतयः 'यान्ति मामपि' (१८. २३) इत्याद्याः स्मृतयोपि द्रष्टव्याः ।

पञ्चमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः –

भगवन्सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानवतां वर । ब्रूहि पूजाविधिं शक्तेः परायाः संग्रहेण तु ॥ १ ॥

सूत उवाच–

वक्ष्ये पूजाविधिं शक्तेः पराया आस्तिकोत्तमाः । अत्यन्तश्रद्धया सार्धं शृणुध्वं भुक्तिमुक्तिदम् ॥ २ ॥

पूजा शक्तेः परायास्तु द्विविधा परिकीर्तिता । बाह्याभ्यन्तरभेदेन बाह्या तु द्विविधा मता ॥ ३ ॥

वैदिकी तान्त्रिकी चेति द्विजेन्द्रास्तान्त्रिकी तु सा । तान्त्रिकस्यैव नान्यस्य वैदिकी वैदिकस्य हि ॥ ४ ॥

उक्तभोगापवर्गलक्षणं फलं परमेश्वरः स्वशक्त्यैव दातुं शक्तो नान्यथा । तदुक्तम्–'शक्तो यया स शंभुर्भुक्तौ मुक्तौ च पशुगणस्यास्य । ता[1]मेनां चिद्रूपामाद्यां सर्वात्मनाऽस्मि नतः' इति ॥ अत उक्तशिवपूजाफलावाप्तयेऽवश्यापेक्षितां मुनयः शक्तिपूजां पृच्छन्ति[2]**भगवन्सर्वशास्त्रार्थेति** । अस्ति काचित्पराशक्तिर्नाम यत्पूजया शिवपूजा प्रोक्तफला भवतीति सामान्यतो ज्ञात्वा शक्तिस्वरूपतद्विभागतत्पूजाविधींश्च विशेषतो जिज्ञासूनां मुनीनामयं प्रश्नः । दाहपाकप्रकाशादिविषयाः शक्तयो वह्न्यादावपि सन्ति । इयं तु शिवस्य जगन्निर्माणादिविषयेति **पराया** इति विशेषणम् । **अत्यन्तश्रद्धयेति** । शिवपूजाया ज्ञातत्वात्प्रासङ्गिकीयं जिज्ञासेति मा भूत्, तत्साफल्यस्य तदधीनत्वादत्रातिशयेन भवितव्यमित्याशयः । यथा दण्डचक्रादयः स्वरूपेण तथा व्यपदिश्यमाना अपि कार्यघटादिप्रतियोगि[3]निरूप्येण रूपेण कारणानीत्युच्यन्ते, एवं परशिवस्वरूपेण तथोच्यमानोऽपि कृत्यपञ्चकलक्षणशक्त्येन निरूप्यमाणः परा शक्तिरित्युच्यते । उक्तं हि तस्य कृत्यपञ्चकम्–'पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहृतितिरोभावाः । तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य' इति ॥ परमार्थतस्तु सा च शक्तिः शक्तिमतः शिवाद[4]भिन्नैवेत्यागमेषु बहुधा प्रपञ्चितम्– 'पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः । चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा ध्रुवा' इत्यादिभिः ॥ १ ॥ ॥ २ ॥

तत्पूजाया अधिकारिभेदेन व्यवस्थां दर्शयितुं विभागमाह–**पूजा शक्तेरित्यादि** ॥ ३ ॥

तन्मूलस्मृतिपुराणादिप्रतिपादिता **वैदिकी** । तदनपेक्षया शिवप्रोक्ता कामिकाद्यागमप्रतिपादितप्रकारा **तान्त्रिकी** । तत्र तान्त्रिक्या अधिकारिविशेषमाह **तान्त्रिकस्यैवेति** । तन्त्रोदीरितकुण्डमण्डपादिपुरःसरदीक्षासंस्कृतस्यै[5]व न तद्रहितस्येत्यर्थः । **वैदिकस्येति** स्वगृह्योक्तसंस्कारसंस्कृतस्यैवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

शक्तिपूजा-विधि नामक पाँचवा अध्याय

नैमिषारण्यस्थ मुनियों ने कहा–हे भगवन् ! सब शास्त्रों के जानकारों में श्रेष्ठ रोमहर्षण जी ! परा शक्ति की पूजा की विधि संक्षेप में बताइये ॥ १ ॥

सूतजी बोले–हे श्रेष्ठ आस्तिको ! मैं परा शक्ति की भोग व मोक्ष देने वाली पूजाविधि बताता हूँ, अत्यन्त श्रद्धा सहित सुनिये ॥ २ ॥

परा शक्ति की पूजा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की बतायी गयी है । बाह्य पूजा पुनः दो प्रकार की मानी गयी है–॥ ३ ॥ एक वैदिकी और दूसरी तान्त्रिकी । हे उत्तम ब्राह्मणो ! कामिकादि आगम-प्रतिपादित तान्त्रिकी पूजा करने के अधिकारी वे ही हैं जो तान्त्रिक दीक्षा से संस्कृत हैं । अदीक्षितों के लिये तान्त्रिकी पूजा नहीं है । वैदिकों के लिये– अर्थात् जो स्वकीय गृह्यसूत्र के अनुसार संस्कारों से संस्कृत हो चुके हैं उन वेदमार्ग पर चलने वालों के लिये–वैदिकी पूजा ही कर्त्तव्य है ॥ ४ ॥

---

१. ग. ङ. तामेतां । २. ख. भगवन्निति । ३. ङ. °गिरूपे° । ४. ख. °भिन्नेत्या° । ५. ग. घ. °स्यैवेत्यर्थः ।

इत्थं समस्तदेवानां पूजा विप्रा व्यवस्थिता । अविज्ञायान्यथा पूजां कुर्वन्पतति मानवः ॥ ५ ॥

आसनावाहने चार्घ्यं पाद्यमाचमनं तथा । स्नानं वासोत्तरीयं च भूषणानि च सर्वशः ॥ ६ ॥

गन्धपुष्पं तथा धूपं दीपमन्नेन तर्पणम् । माल्यानुलेपनं चैव नमस्कारं विसर्जनम् ॥ ७ ॥

सर्वं मातृकया कुर्यान्मातृका मन्त्रनायिका । मातृकाव्यतिरेकेण मन्त्रा नैव हि सत्तमाः ॥ ८ ॥

मातृका च त्रिधा स्थूला सूक्ष्मा सूक्ष्मतराऽपि च[1] । गुरूपदेशतो ज्ञेयो नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ॥ ९ ॥

न केवलं शक्तेः, शिवविष्णुविनायकादीनामपि वैदिकतान्त्रिकविभागेन पूजादिभेदस्तदधिकारिभेदश्चेत्याह–[2]**इत्थं समस्तेति** । अधिकारिविभागाभिधानप्रयोजनमाह–**अविज्ञायेति** । स्वमार्गातिक्रमो हि श्रुत्यैव निन्दितः 'यो वै स्वां देवतामपि त्यजते स स्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान्भवति' इति । स्वां देवतामिति स्वोचितमार्गोपलक्षणम् ॥ ५ ॥

तत्र बाह्यां पूजामाह–**आसनावाहने चार्घ्यमित्यादि** । इयं हि बाह्योपकरणसव्यपेक्षत्वाद्बाह्या । **वासोत्तरीयमिति** । वास इति वाससोऽन्त्यलोपश्छान्दसः ॥ ६ ॥

उक्तोपचारजातस्य शक्तिपूजामात्रस्य पूजांगं मन्त्रमाह– **सर्वं मातृकयेति** । तयैव करणे कारणमाह–**मन्त्रनायिकेति** । तत एवोद्धृत्य हि सर्वमन्त्रा नीयन्त इत्यर्थः । **मातृकाव्यतिरेकेणेति** । नहि मातृकायामननुप्रविष्टमक्षरमस्ति न चानक्षरात्मको मन्त्रोऽप्यस्ति । अतो मातृकया कृतं सर्वैरेव मन्त्रैः कृतं स्यादित्यर्थः ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥

प्रथममध्यमोत्तमानामधिकारिणां स्वाधिकारानुसारेण मातृकारूपपूजाकरणमित्यभिप्रेत्य तस्यास्त्रैरूप्यमाह–**मातृका च त्रिधेति** । प्रथमोऽधिकारी स्थूलया मातृकया पूजयेत् । मध्यमः सूक्ष्मया । उत्तमः सूक्ष्मतरयेति विभागः । स्थूलादिरूपत्रयं चैवमवगन्तव्यम् । नियतकालपरिपाकाणां हि प्राणिकर्मणां मध्ये परिपक्वाणामुपभोगेन प्रक्षयादितरेषां चापरिपक्वाणां भोगाभावेन तदर्थायाः सृष्टेरनुपयोगात्प्राकृतप्रलये ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चा माया स्वप्रतिष्ठे निष्कले परशिवे विलीना यावदवशिष्टकर्मपरिपाकं वर्तते । उक्तं हि–'प्रलये व्याप्यते तस्यां चराचरमिदं जगत्' इति ॥ तथा–'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते ॥ वायुः प्रलीयते व्योम्नि तदव्यक्ते प्रलीयते । अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्म निष्कले संप्रलीयते' इति ॥ अव्यक्तं माया तस्याश्च सम्यक्प्रलयो नाम मुक्ताविव नाऽऽत्यन्तिको नाशः । किंतु सुप्तौ सति मायागोचरप्रवृत्तीनामप्यभावात्स्व- प्रतिष्ठपरमात्म प्रकाशस्याप्यत्यन्तनिर्विकल्पतया तद्बलाद्भासमानाया अप्यप्रतिभातप्रायत्वं न पुनरनवभानमेव, प्रतिभासमात्रशरीरस्य हि मिथ्यावस्तुनो- ऽनवभाने सत्यभाव एव स्यादिति । न चाभाव एवास्तु । उत्तरसर्गानुपपत्तिप्रसङ्गादिति । अवशिष्टैः प्राणिकर्मभिश्च तस्यां मायायां विलीयैव क्रमेण प्राप्तपरिपाकैः स्वफलप्रदानाय परमेश्वरस्य सिसृक्षात्मिका मायावृत्तिर्जन्यते । सैषा मायावस्थेक्षण- कामतपोविचिकीर्षादिशब्दैरभिधीयते । 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति छान्दोग्ये । 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजै' इत्यैतरेयके । 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति तैत्तिरीयके । 'तपसा चीयते ब्रह्म' इति मुण्डके । 'विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्' इति प्रपञ्चसारे ।अपरिपक्वकर्माभेदाद् घनीभावस्तदर्थव्यापारो विचिकीर्षा । परिपक्वकर्माकारपरिणतमायाविशिष्टं बिन्दुस्तदिदमविभागा-

शक्ति की ही नहीं, सभी देवताओं की पूजा इसी तरह वैदिकी व तान्त्रिकी विभागों में बँटी है । जो इनके अधिकार के विभाजन को न जानकर स्वाधिकार का अतिक्रमण कर पूजा करता है, वह मनुष्य पतित होता है ॥ ५ ॥ बाह्य पूजा का संक्षेप है–आसन, आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, अधोवस्त्र, उत्तरीय, हर तरह के गहने, चंदन, फूल, धूप, दीप, नैवेद्य, माला, उद्वर्तन, नमन और विसर्जन–ये सब उपचार मातृका से (अक्षरात्मक मंत्रों से) समर्पित करने चाहिये क्योंकि मातृका सब मंत्रों में मुख्य है । इसमें कारण है कि मातृका से (अक्षरों से) विरहित कोई मंत्र नहीं हैं । (सभी मंत्र अक्षरघटित होते ही हैं । अतः सब अक्षरों के उच्चारण से सभी मन्त्र उच्चरित हो गये ।) ॥ ६–८ ॥

---

१. ङ. वा । २. ख. इत्थमिति ।

अथाभ्यन्तरपूजायामधिकारो भवेद्यदि । त्यक्त्वा बाह्यामिमां पूजामाश्रयेदपरां बुधः ॥ १० ॥

पूजा याऽभ्यन्तरा साऽपि द्विविधा परिकीर्तिता । साधारा च निराधारा निराधारा महत्तरा ॥ ११ ॥

वस्थमव्यक्तमुच्यते । अत एव तस्योत्पत्तिः स्मर्यते—'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इति । स एव जगदङ्कुराकारोऽध्यात्मं चाऽऽधारादा[1]वभिव्यज्यमानः कुण्डल्यादिशब्दैरुच्यते । यदाहुः—'शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमां ज्ञात्वेत्थं न पुनर्विशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः" इति । 'कुण्डली सर्वथा ज्ञेया सुषुम्नान्तर्गतैव सा' इति । बिन्दोः कालक्रमेण चिदचिदंशविभागात्त्रैविध्यं तत्रैवोक्तम्—'कालेन विद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा ॥ स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते । स बिन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते' इति ॥ अचिदंशः स्थूलो बीजम् । चिदचिन्मिश्रः सूक्ष्मो नादः । स एव पुरुषश्चिदंशः परो बिन्दुः स एवेश्वरः । तस्य च त्रिधाविभागसमये शब्दब्रह्मापरनामधेयस्य रवस्योत्पत्तिरुक्ता—'बिन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवो व्यक्तात्मको भवेत् । स रवः श्रुतिसंपन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते' इति ॥ स एव शब्दब्रह्मात्मको रवो जगदुपादानं बिन्दुतादात्म्येन सर्वगतोऽपि प्राणिनां मूलाधारेऽभिव्यज्यत इत्युक्तम्—'स तु सर्वत्र संस्यूतो मूले व्यक्तस्तथा पुनः । आविर्भवति देहेषु प्राणिनामर्थविस्तृतः' इति ॥ देहेष्विति मूलाधारप्रदेशे तस्यानुस्यूतस्य रवस्य संस्थितपवनबलेनाभिव्यक्तिराविर्भावः । तत्र हि पवनस्योत्पत्तिरुक्ता 'देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुद्यति समीरणः' इति । ज्ञातमर्थं विवक्षोः पुरुषस्येच्छया जातेन प्रयत्नेन मूलाधारस्थः पवनः संस्कृतस्तेन पवनेन सर्वत्र स्थितं शब्दब्रह्म तत्राभिव्यज्यते । तदभिव्यक्तं शब्दब्रह्म कारणबिन्द्वात्मकं स्वप्रतिष्ठतया निस्पन्दं सत्परा वागित्युच्यते । तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्तं विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपिणी कार्यबिन्दुतत्त्वात्मिकाऽधिदैवमीश्वररूपा पश्यन्ती वागित्युच्यते । तदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमभिव्यज्यमानं निश्चयात्मिकया बुद्ध्या युक्तं विशेषस्पन्दरूपनादबिन्दुमव्यधिदैवतं हिरण्यगर्भरूपा मध्यमा वागित्युच्यते । तदेवाऽऽस्यपर्यन्तं तेनैव वायुना कण्ठादिस्थानेष्वभिव्यज्यमानमकारादिक्षकारान्तवर्णमालारूपं परश्रोत्र-ग्रहणयोग्यं बीजात्मकमधिदैवं विराड्रूपं वैखरी वागित्युच्यते । तदुक्तमाचार्यैः—'मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः । वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्नां बद्धस्तस्माद्भवति पवनः प्रेरितो वर्णसंज्ञः' इति ॥ तत्र वैखरी स्थूला मातृका सा प्रथमाधिकारिण पूजोपकरणम् । मध्यमा सूक्ष्मा मातृका मध्यमाधिकारिणः पूजोपकरणम् । कारणकार्यबिन्द्वात्मिका परापश्यन्तीरूपा सूक्ष्मतरा मातृकोत्तमाधिकारिणः पूजोपकरणम् । मातृकात्रैविध्यं सर्वमन्त्रोपलक्षणम् । अतश्च सर्वमन्त्रा उक्तरीत्या स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपाः प्रथममध्यमोत्तमाधिकारिविषया इत्यर्थः । बहुवक्तव्यश्चा-यमर्थः । किंचित्तु प्रकृतोपयोगादाविष्कृतमिति । गुरूपदेशत इति । उपदेशमन्तरेण शास्त्रैर्दुरधिगमत्वात्तथैव च फलातिशयत्वा-च्चेत्यर्थः ॥ ९ ॥

प्रथममभिधानाद्बाह्यपूजैव मुख्येतरा जघन्येतिभ्रमनिरासाय सुलभत्वनिमित्तं बाह्यायाः प्रथममभिधानम् । उत्तमा त्वितरैवेत्याह—अथाभ्यन्तरेति । पूजास्वरूपस्य शास्त्रतः सम्यक्परिज्ञानं चित्तस्यैकाग्रता वाऽधिकारः ॥ १० ॥

मनसा परिकल्पितमूर्ताद्याधारे सच्चिदानन्दैकरसस्य शिवस्याऽऽवाहनाद्यात्मिका या सा साधारेत्याह—साधारेति । आधारकल्पितमन्तरेण साक्षात्तस्यैवानुसंधानं निराधारा । अत एव महत्तरेत्युक्तम् ॥ ११ ॥

मातृकाओं का उच्चारण तीन प्रकार से होता है—वैखरी द्वारा स्थूल रूप से, मध्यमा द्वारा सूक्ष्मरूप से और परा व पश्यन्ती द्वारा सूक्ष्मतर रूप से । मातृकाओं को गुरुमुख से जानना चाहिये अन्यथा करोड़ों शास्त्रों द्वारा उन्हें नहीं समझा जा सकता ॥ ९ ॥ यदि इस पूजा से चित्त शुद्ध होने के कारण या अन्य कारण से चित्त में एकाग्रता अधिक हो आभ्यन्तर पूजा में अधिकार हो जाये तो बुद्धिमान् को चाहिये कि इस बाह्य पूजा को छोड़कर आन्तर पूजा करे ॥ १० ॥

जो आभ्यन्तर पूजा है वह भी दो प्रकार की बतायी गयी है । एक साधार, जिसमें मन से मूर्ति की कल्पना कर उसमें आवाहनादि मन से ही किये जाते हैं, व दूसरी निराधार जिसमें मूर्ति आदि आधार की कल्पना के बिना सीधे ही उपास्य का चिन्तन किया जाता है ॥ ११ ॥

---

१. क. ग. ङ. °दाऽऽनाभि° ।

साधारा या तु साधारे निराधारा तु संविदि । आधारे वर्णसंक्लृप्तविग्रहे परमेश्वरीम् ॥ १२ ॥

आराधयेदतिप्रीत्या गुरुणोक्तेन वर्त्मना । या पूजा संविदि प्रोक्ता सा तु तस्यां मनोलयः ॥ १३ ॥

संविदेव परा शक्तिर्नेतरा परमार्थतः । अतः संविदि तां नित्यं पूजयेन्मुनिसत्तमाः ॥ १४ ॥

संविद्रूपातिरेकेण यत्किञ्चित्प्रतिभासते । स हि संसार आख्यातः सर्वेषामात्मनामपि ॥ १५ ॥

अतः संसारनाशाय साक्षिणीमात्मरूपिणीम् । आराधयेत्परां शक्तिं प्रपञ्चोल्लासवर्जिताम् ॥ १६ ॥

संविद्वाचकशब्देन संविद्रूपामनाकुलः । अर्चयेदादरेणैव शिवामादौ महामतिः ॥ १७ ॥

कल्पिताधारस्वरूपमाह—**आधार इति** । मूलाधारमुखोद्गतबिसतन्तुनिभप्रभाप्रभावितसुधियाऽऽधारविस्तृतलिपिजाताहितमुखकर-चरणादिकायां मुद्राक्षमालामृतकलशपुस्तकहस्तायां मूर्तौ संविद्यावाहनादिभिराराधयेदित्यर्थः । **सा तु तस्यामि**[1]ति तुशब्देनाऽऽधार-वन्मानसोपचारकल्पनाया अपि विरहलक्षणं वैलक्षण्यमाह । किं तर्ह्यस्याः पूजाया रूपमित्यत आह—**तस्यां मनोलय इति** । विषयान्तरव्यावृत्त्या तदेकविषयचित्तप्रवाहानुवृत्तिरि[2]त्यर्थः ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥

कथमस्या निराधारतेति चेत् ? पूज्यतदधिष्ठानयोरात्यन्ति[3]कभेदविरहादित्याह—**संविदेवेति** । शक्तिस्वरूपं तु 'वक्ष्ये पूजाविधिं शक्तेः परायाः' इत्यत्रोक्तम् । शक्तिशक्तिमद्भेदव्यवहारोऽप्यौपाधिकादेव भेदान्न वास्तवादित्याह—**नेतरेति** । अत एवातः **संविदि तां नित्यमित्यपि** भेदव्यवहार आधारान्तरविरहनिबन्धन एवेति । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इतिवत् ॥ १४ ॥

उक्ते निराधाराया महत्त्वे संसारसागरोत्तारणहेतु[4]त्वकारणमाह—**संविद्रूपातिरेकेणेति** । साधारायामिव पूज्यपूजाधिकरणपूजक-पूजोपकरणादिप्रपञ्चलक्षणसंसारसमुल्लासविरहात्संसारनाशहेतुत्वेनेयं महत्तरेत्यर्थः ॥ १५ ॥

साक्षिणीमिति । साक्ष्यप्रपञ्चोल्लासविरहेऽपि साक्षित्वं स्वरूपा[5]परोक्षाभिप्रायं तदुल्लाससमयभावि वा तद्विरहदशायामसदप्युप-लक्षणत्वेनोपादीयते ॥ १६ ॥

निरस्तसमस्तोपाधौ निर्विकल्पिकायां संविदि चित्तमवतारयितुमुपायक्रममाह—**संविद्वाचकेति** । संविद्वाचकशब्दाः प्रणवहृल्ले-खादिमन्त्राः । प्रणवो ह्यकारोकारमकारैर्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसाक्षिणीं बिन्दुनादशक्तिशान्तैश्च तुरीयतुरीयातीतशक्तिशान्तात्मिकां संविदं प्रतिपादयन्निष्प्रपञ्चसंविदि पर्यवस्यति । एवं हृल्लेखामन्त्रोऽपि हकाररेफेकारबिन्दुनादशक्तिशान्तलक्षणैः सप्तभिर्मार्गैरिति । अनयोश्चैते भागा आगमे प्रदर्शिताः—'अकारश्चाप्युकारश्च मकारो बिन्दुरेव च । नादः शक्तिश्च शान्तश्च तारभेदाः प्रकीर्तिताः ॥ हकारो रेफ ईकारो बिन्दुनादौ तथैव च । शक्तिशान्तौ च संप्रोक्ताः शक्तेर्भेदास्तु सप्त[6]धा' इति ॥ **संविद्रूपा-मिति** । संविदेव हि हृल्लेखामन्त्रप्रतिपाद्या देवतोक्ता 'बोधस्वरूपवाची संवित्तत्रैव देवता गुरुभिः' इति । प्रणवस्य तु संविद्वाचकता सकलश्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासेषु[7]द्घोष्यत एव । अत **आदौ** प्रथमावस्थायां विक्षेपकविषयव्यावृत्तेन चेतसा यथोक्तमन्त्ररूपैः संविद्वाचकशब्दैर्निर्विकल्पायां संविद्यवतरेदित्यर्थः ॥ १७ ॥

जो साधार आभ्यन्तर पूजा है वह आधार में (मनःकल्पित मूर्ति आदि में) की जाती है और निराधार तो ज्ञान में ही की जाती है । साधार पूजा के अधिकारी को चाहिये कि वर्णघटित मूर्तिरूप आधार में गुरु द्वारा बताये प्रकार से प्रसन्नतापूर्वक परमेश्वरी की आराधना करे । जो निराधार पूजा ज्ञान में कही गयी है उसका तो स्वरूप है अन्य कोई चिन्तन न करते हुए केवल उपास्य विषयक चिन्तन करना—ध्यान करना ॥ १२—१३ ॥ वस्तुतः ज्ञान ही परा शक्ति है, उससे भिन्न नहीं । अतः ज्ञान रूप से ही उसका नित्य चिन्तन करना चाहिये ॥ १४ ॥ ज्ञान से अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है वही संसार कहा गया है । अतः सभी के व अपने संसरण की निवृत्ति के लिये प्रपंचरूप उद्रेकरहित, समस्तसाक्षिरूप, आत्मरूपिणी परा शक्ति की आराधना करनी चाहिये ॥ १५—१६ ॥ शान्त व विवेकी व्यक्ति को चाहिये कि प्रणवादि ज्ञानबोधक शब्दों के सहारे पहले ज्ञानरूप शिवा का श्रद्धापूर्वक अर्चन—अर्थात् अनुसन्धान—करे ॥ १७ ॥

---

१. ख. °मित्यत्र तु° । २. ख. °रिति द्वयोरर्थः । ३. °न्तिकाद्भे° इति बाल. । ४. ख. ग. °तुत्वं का° । ५. ङ. °पापारो-क्ष्याभि° । ६. ङ °प्तचेति । ७. ग. °रुद्धोध्यत ।

पुनः समस्तमुत्सृज्य स्वपूर्णां[1] परसंविदम् । स्वात्मनैवानुसंधाय पुनस्तच्च विसर्जयेत ॥ १८ ॥

स्वानुभूत्या स्वयं साक्षात्स्वात्मभूतां महेश्वरीम् । पूजयेदादरेणैव पूजा सा पुरुषार्थदा ॥ १९ ॥

पूजाविधिर्मया शक्तेः प्रोक्तो वेदैकदर्शितः । पूजयध्वं भवन्तोऽपि मुदा तामुक्तवर्त्मना ॥ २० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे शक्तिपूजाविधिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अत्र योगे निष्णातस्यानन्तरकक्षामाह—**पुनः समस्तमिति** पादत्रयेण । आलम्बनमात्रपरित्यागेन जागरादिक्रमपरित्यागेन च परमायामेव संविदि प्रत्ययावृत्तिं कृत्वेत्यर्थः । तृतीयां कक्षामाह—**पुनस्तच्च विसर्जयेदिति** । इत्थमनुसंधानेन साक्षात्कृतपरसंवित्स्वरूपः स्वयं तदात्मा भूत्वा ध्यानध्यातृध्येयविभागानुसंधानमपि परित्यजेदित्यर्थः । द्वितीयकक्षायां हि प्रत्यया अप्यनुसंधीयन्ते । इह तु स्वरूपतः सतोऽपिताननुसंधाय प्रत्येतव्यमेवानुसंधीयत इत्येतावानेव विशेषः । प्रत्ययस्वरूपस्याप्यभावे तु सुषुप्तितः समाधेरविशेषापातः ॥ १८ ॥

परित्यज्य कथं तिष्ठेदित्यत आह—**स्वानुभूत्येति** । प्रत्ययानामप्यनवभासे परानन्दैकरसस्वप्रकाशसंविदात्मना स्वयमपरोक्षतया-ऽवभासमानोऽवतिष्ठतीति । इयं हि संविदः परमा पूजा । एषा च सकलसंसारकारणाविद्यानिरासेन यावदारम्भककर्मसंस्कारा-नुवृत्तिस्तावज्जीवन्मुक्तिलक्षणं, तन्निवृत्तौ परकैवल्यलक्षणं च पुरुषार्थं ददातीत्यर्थः ॥ १९ ॥

वेदैकदर्शित इति । श्वेताश्वतरे ध्यानयोगस्यैव परशक्तिसाक्षात्कारहेतुतोक्ता 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति । एको मुख्यः केवलो वा संदर्शित एकदर्शितः । वेदेनैकेन दर्शित इति विग्रहे 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इति प्रथमानिर्देशादेकशब्दस्यैव पूर्वनिपात एकवेददर्शित इति स्यात् । **पूजयध्वमि**तिमध्यमपुरुषेणाऽऽक्षिप्तस्य युष्मच्छब्दस्यापिनाऽन्वयः । **भवन्त** इति तु प्रथमानिर्देशे शत्रन्तम् । यूयमपि तां संविदमुक्तवर्त्मना तद्रूपाः सन्तोऽलभ्यलाभनिबन्धनया मुदोपेताः पूजयध्वमित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे शक्तिपूजाविधिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

फिर शब्दादि सहारे छोड़कर स्वतः पूर्ण परा ज्ञानशक्ति का स्वात्मरूप से ध्यान करे । तदनन्तर ध्याता-ध्यान-ध्येय के विभाग को भी छोड़ दे और स्वयं अपरोक्ष स्वानुभवरूप से स्थित रहे, यही स्वात्मरूप महेश्वरी की सर्वश्रेष्ठ पूजा है । यों श्रद्धापूर्वक पूजा करनी चाहिये । यह चरम पूजा परमपुरुषार्थदायिका है ॥ १८—१९ ॥ वेदों में मुख्यतः बतायी शक्तिपूजाविधि मैंने आप लोगों को बता दी । आप भी प्रसन्नता से उसका इस विधि से पूजन कीजिये ॥ २० ॥

---

१. ग. स्वपूर्णं ।

षष्ठोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः —भगवञ्शिवभक्तस्य कथं पूजा प्रकीर्तिता ।

फलं च कीदृशं प्रोक्तं पूजायास्तद्वदाऽऽदरात् ॥ १ ॥

सूत उवाच—वक्ष्ये पूजाविधिं विप्राः शिवभक्तस्य सादरम् ।

शृणुध्वं श्रद्धयोपेताः कुरुध्वं यत्नतः सदा ॥ २ ॥

येन केन प्रकारेण शिवभक्तस्य जायते । मनस्तृप्तिस्तथा कुर्यात्पूजा सैव मयोदिता[१] ॥ ३ ॥

शु[२]द्धतोयं समादाय शिवभक्तस्य सादरम् । पादं प्रक्षालयेत्साऽपि पूजा विप्रा गरीयसी ॥ ४ ॥

तैलाभ्यङ्गं तथा पूजां प्रवदन्ति मनीषिणः । गात्रमर्दनमप्यस्य शिवभक्तस्य सुव्रताः ॥ ५ ॥

वेदेन मुख्यतया दर्शितसंवित्पूजाविधौ ये न समर्थास्तेषामपि सामर्थ्यप्राप्तिरनायासेन तत्फलप्राप्तिश्च यया शिवभक्तपूजया भवति सा कीदृशीति मुनयः पृच्छन्ति—**भग[३]वन्निति[४]** । अष्टविधा भक्तिस्तन्मध्येऽपि शिवभक्तपूजैव प्रथमत उक्ता शिवपुराणे—'मद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् । स्वयमप्यर्चनं भक्त्या मदर्थं चाङ्गचेष्टितम् ॥ मत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया । मन्नामकीर्तनं नित्यं यश्च मां नोपजीवति' इति ॥ १ ॥

अल्पेन सुकरेणोपायेन परमपुरुषार्थः कथं सिध्येदित्यनाश्वासात्तच्छ्रवणे[५] करणे वाऽनादरो न विधेय इत्याह—**शृणुध्वं श्रद्धयोपेता** इति ॥ २ ॥ संग्रहेण पूजामाह—**येन केनेति** ॥ ३ ॥

शिवभक्त-पूजाविधि नामक छठा अध्याय

नैमिषारण्यवासियों ने सूतजी से निवेदन किया—हे भगवन् ! हमें कृपया यह बताइये कि शिवभक्तों की पूजा कैसे की जाती है और उसका क्या फल है ॥ १ ॥ (पुराणादि में बताया है कि भक्तिमार्ग के आठ सोपानों में भक्तों की सेवा प्रथम है । अतः उस सेवा के स्वरूप की जिज्ञासा संगत है) ।

सूतजी ने कहा—हे विप्रो ! मैं सावधान होकर शिवभक्त की पूजा का विधान बताता हूँ, आप लोग श्रद्धायुक्त होकर सुनें व प्रयत्न पूर्वक उसे करें ॥२॥

जिस किसी प्रकार के क्रियाकलाप से शिवभक्त का मन सन्तुष्ट हो, उसे (क्रियाकलाप को) करना भक्तपूजा है, यह मेरा संक्षिप्त कथन है ॥ ३ ॥ साफ पानी से शिवभक्त के चरण धोना उनकी श्रेष्ठ पूजा है ॥ ४ ॥ हरानुचर की तेल-मालिश करना उसका शरीर दाबना, उसे अन्नपान देना, धन देना, वस्त्र देना, माला-चंदनादि देना, कन्या देना, भूमि देना, गायें देना, तिल देना, जल का बर्तन देना, घर देना, तालपत्र देना, बर्तन देना, छाता व पादुका देना, शय्या देना—ये सभी शिवभक्त की पूजा हैं ॥ ५—९ ॥

---

१. यथोक्तं वायुसंहितायामुत्तरभागे (३.३०)—'सर्वाभयप्रदानं च सर्वानुग्रहणं तथा । सर्वोपकारकरणं शिवस्याराधनं विदुः ॥'' इति । अन्यत्रापि—'येन केनाप्युपायेन यस्य कस्यापि प्राणिनः । सन्तोषं जनयेत्प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम् ॥' इति । नन्वेवं मद्यकामिने सुरादानस्य शिवपूजात्वं स्यात् ? न स्यात्, सुरायाः सन्तोषाहेतुत्वात् । पुनः सुरालोलुभतादर्शनात् । न चैवमन्नादिदानमप्यपूजनमिति वाच्यम्, अस्माद्वचनात् तस्य पूजात्वाऽसिद्धेरिष्टत्वात् । यया कया च विधया शिवज्ञानं समेषां जनयेदित्यत्रैव तात्पर्यात् । प्रकृते तु प्राणिमात्रस्यासंग्रहाद्भक्तस्यैव वचनात्तस्य पुन र्दुष्टेच्छाऽसंभवान्न शंकावकाशः । २. घ. ङ., शुद्धं तो° । ३. क. ख. ग. भगवञ्शिवभक्तस्येति । ४. ख. °ति ॥ १ ॥ ५.ग. "णे वा"

अन्नपानप्रदानं च प्रोक्ता पूजा गरीयसी । अ[1]र्थदानं च पूजा स्याद्वस्त्रदानमपि द्विजाः ॥ ६ ॥

स्रक्चन्दनादिदानं च वनितादानमेव[2] च । भूमिदानं च गोदानं तिलदानमपि द्विजाः ॥ ७ ॥

जलपात्रप्रदानं च गृहदानं तथैव च । तालवृन्तप्रदानं च पात्रदानं तथैव च ॥ ८ ॥

छत्रपादुकयोर्दानं शय्यादानं तथैव च । शिवभक्तस्य पूजेति प्रवदन्ति[3] विपश्चितः ॥ ९ ॥

पुरा कश्चिद् द्विजा वैश्यः समृद्धोऽभून्महीतले । तस्य पुत्राः समुत्पन्नाश्चत्वारो वेदवित्तमाः ॥ १० ॥

तेषां ज्येष्ठतमः पुत्रः सत्यवादी महाधनः । सर्वभूतानुकम्पी च ब्रह्मचर्यपरायणः ॥ ११ ॥

शिवभक्तः सदा विप्राः प्रसन्नो नियताशनः । जन्ममृत्युभयाक्रान्तस्त्वरमाणो विमुक्तये ॥ १२ ॥

श्रीमद्वाराणसीमेत्य ब्रह्मविष्ण्वादिसेविताम् । स्वधनं शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा श्रद्धया सह ॥ १३ ॥

पूजया शिवभक्तानां विमुक्तः कर्मबन्धनात् । द्वितीयो वैश्यपुत्र[4]स्तु धनिकोऽतीव सुव्रताः ॥ १४ ॥

सोमनाथं महास्थानं सर्वकामफलप्रदम् । समागत्य सह स्वस्य भार्यया वेदवित्तमाः ॥ १५ ॥

सर्वस्वं शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा श्रद्धया सह । पूजया शिवभक्तानां तथा मुक्तिमवाप्तवान् ॥ १६ ॥

पुत्रस्तृतीयो वैश्यस्य प्रोज्झिताशेषबान्धवः । अन्यायेनैव मार्गेण वर्तमानश्चिरं द्विजाः ॥ १७ ॥

महाधनपतिर्भूत्वा पूर्वपुण्यबलेन सः । श्रीमद्व्याघ्रपुरं पुण्यं समागत्य द्विजोत्तमाः ॥ १८ ॥

प्रपञ्चयति—शुद्धमित्यादिना ॥ ४ ॥ ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥

संग्रहविवरणाभ्यामभिहितायां पूजायामाश्वासातिशयजननाय पुरावृत्तान्युदाहरति—पुरा कश्चिदित्यद्यध्यायशेषेण ॥ १० ॥

सत्यदयाब्रह्मचर्यैरेव शिवभक्तिर्लभ्येत्याह—सत्यवादीति ॥ ११ ॥

तत्प्रसादवतामेव सकलप्राणिसाधारणावपि जन्ममृत्यू भयहेतुत्वेन भासेते इत्याह—जन्ममृत्युभयेति । श्रूयते हि—विवेकिनं नाचिकेतसं प्रति संतुष्टस्य मृत्योर्वचनम्—'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' इति ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥१७ ॥ १८ ॥

प्राचीन काल में पृथ्वी पर एक सम्पत्तिशाली बनिया था जिसके चार पुत्र थे ॥ १० ॥ उनमें बड़ा पुत्र सत्यवादी, बहुत धनी, सबपर कृपा करने वाला व ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला था ॥ ११ ॥ वह शिव का भक्त था अतएव सदा प्रसन्न रहता था । नियत आहार ग्रहण करता था और जन्ममृत्युरूप संसार से भयभीत हो मोक्ष-प्राप्ति के लिये आतुर था ॥ १२॥ जहाँ ब्रह्मा विष्णु आदि देवता शिवाराधन करते हुए स्थायी निवास करते हैं उस वाराणसी नगरी को वह बणिकपुत्र गया । वहाँ शिवभक्तों को श्रद्धापूर्वक अपना धन देकर इस शिवभक्तों की पूजा के फलस्वरूप कर्मबन्धन से छूट गया । हे सुव्रतो ! बनिये का दूसरा पुत्र अतीव धनी था ॥ १३—१४ ॥ वह सारी कामनाओं को सिद्ध करने वाले सोमनाथ नामक उत्तम तीर्थ को अपनी पत्नी समेत गया ॥ १५ ॥ वहाँ श्रद्धासहित उसने अपना सर्वस्व शिवभक्तों को अर्पित कर दिया । यों शिवभक्तों की पूजा के कारण उसने भी मोक्ष प्राप्त किया ॥ १६ ॥ बनिये का तीसरा पुत्र अपने सब बन्धुओं से पृथक् हो गलत रास्ते पर चलता हुआ बहुत धनी हो गया । किन्तु पूर्वजन्म के पुण्यवशात् वह व्याघ्रपुर नामक शिवक्षेत्र को प्राप्त हुआ ॥ १७—१८ ॥

---

१. ग. अर्घ्यदानं । २. विवाहेच्छुकाय तस्मै स्वीयाया अन्यदीयाया वा योग्यायाः कन्यायाः दानं दापनं वेत्यर्थः । ३. ग. °न्ति हि पण्डिताः । ४. ग. ङ. °त्रश्च ध° ।

अन्नपानं तथा वस्त्रं चन्दनं पुष्पमेव च । ताम्बूलं शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा श्रद्धया सह ॥ १९ ॥

संवत्सरत्रयं कृत्वा पूजामेव द्विजोत्तमाः । पूजया शिवभक्तानां विमुक्तः कर्मबन्धनात् ॥ २० ॥

वैश्यपुत्रश्चतुर्थोऽपि ब्राह्मणानविचारतः । हत्वा सर्वधनं तेषां समादाय मुनीश्वराः ॥ २१ ॥

विटानां च नटानां च गायकानां तथैव च । मूर्खाणामपि दत्त्वा स सदा वेश्यापरोऽभवत् ॥ २२ ॥

स पुनः सर्वरोगार्तो गृहीतो ब्रह्मरक्षसा । एवं चिरगते काले पिता तस्य महाधनः ॥ २३॥

पुत्रस्नेहेन संतप्तः सत्वरं द्विजपुङ्गवम् । सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं समागत्य मुनीश्वराः ॥ २४ ॥

प्रणम्य दण्डवद्विप्रं दत्त्वा तस्मै महाधनम् । पुनर्विज्ञापयामास पुत्रवृत्तमशेषतः ॥ २५ ॥

श्रुत्वा वृत्तं द्विजस्तस्य ब्राह्मणैः पण्डितोत्तमैः । विचार्य सुचिरं कालं विनिश्चित्याब्रवीद् द्विजाः ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच—

श्रीमद्वृद्धाचलं नाम स्थानं सर्वनिषेवितम् । सर्वोपद्रवनाशाय शंकरेण विनिर्मितम् ॥ २७ ॥

ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्नित्यं सेवितं सर्वदाऽऽदरात् । नराणां दर्शनादेव वत्सराद् भुक्तिमुक्तिदम् ॥ २८ ॥

अल्पदानेन सर्वेषां महादानफलप्रदम् । ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयादिनाशनम् ॥ २९ ॥

अगस्त्येन च रक्षार्थं लोकानां पूजितं पुरा । मणिमुक्तानदीतीरे सर्वतीर्थसमावृते ॥ ३० ॥

अस्ति तत्सह पुत्रेण समागत्य मम प्रियः[1] । नद्यामस्यां स्वपुत्रेण सह स्नात्वा दिने दिने ॥ ३१ ॥

प्रदत्त्वेति । संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाल्ल्यबभावः ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

वाराणसीसोमनाथव्याघ्रपुरवृद्धाचललक्षणानि महत्तमानि तीर्थानि प्राप्तानामपि तद्बलाल्लब्धविवेकाना[2]मन्ततः शिवभक्तपूजयैव परमपुरुषार्थप्राप्तिर्जातेति पुरावृत्तचतुष्टयोदाहरणतात्पर्यम् । अत एव हि तदभावे तेषामपि न फलवत्तेति वक्ष्यति—"अदत्त्वा

वहाँ उसने श्रद्धापूर्वक शिवभक्तों को अन्न, पेय, वस्त्र, चन्दन, फूल, ताम्बूल आदि समर्पित किये ॥ १९ ॥ यों तीन साल तक उसने भक्तपूजा की जिसके प्रभाव से वह कर्मप्रबन्ध से मुक्त हो गया ॥ २० ॥ बनिये का चौथा पुत्र तो बिना किसी विवेक के ब्राह्मणवध कर उनका सब धन ले उसे विट, नट, गायक व मूर्खों में बाँटते हुए वेश्यागामी हो रहा ॥ २१–२२ ॥ (विटादि की चाटुकारिता से सन्तुष्ट हो उन्हें अपना प्रशंसक बनाये रखने के लिये अन्याय से अर्जित धन को उन्हें देता रहा यह समझना चाहिये) । यों करते हुए वह सभी रोगों से ग्रस्त हुआ तथा किसी ब्रह्मराक्षस का उस पर आवेश हो गया । इस प्रकार बहुत समय तक उसके रुग्ण रहने पर उसका धनी पिता पुत्रस्नेहवश दुःखी हुआ और सब शास्त्रों के जानकार किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण के पास गया ॥ २३–२४ ॥ उसे दण्डवत् प्रणामकर, बहुत धन भेंटकर अपने पुत्र का सारा हाल बताया ॥ २५ ॥ सारी बात सुनकर उस ब्राह्मण ने अन्य उत्तम पण्डितों से काफी विचारविमर्श कर यह बताया—॥ २६ ॥ ब्राह्मण बोला—भगवान शंकर ने वृद्धाचल नामक एक तीर्थ स्थान पृथ्वी पर बनाया है जो सभी आपत्तियों को निवृत्त करता है । सभी शैव उस स्थान का सेवन करते हैं ॥ २७ ॥ ब्रह्मा विष्णु आदि नित्य वहाँ श्रद्धापूर्वक विराजते हैं । एक साल तक नियमतः उसका दर्शन करने से लोगों को भोग व मोक्ष प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

---

१. क. ख. प्रिय । ग. प्रिया । २. क. ख. ग. °मन्तः शि° ।

श्रीमद्वृद्धाचलेशानं दण्डवत्प्रणिपत्य च । कृत्वा प्रदक्षिणं भक्त्या शतमष्टोत्तरं हरम् ॥ ३२ ॥

प्रसादयित्वा सद्वैश्य ब्राह्मणं चान्यमेव च । शिवभक्तं समाराध्य स्थानेऽस्मिञ्श्रद्धया सह ॥

पूजया शिवभक्तस्य पुत्रमुद्धर यत्नतः ॥ ३३ ॥

सूत उवाच—

एवमुक्तस्तु वैश्योऽपि ब्राह्मणेन समाहितः । सह पुत्रेण चार्थेन भार्यया बन्धुबान्धवैः ॥ ३४ ॥

श्रीमद्वृद्धाचलं पुण्यं समागत्य मुनीश्वराः । मणिमुक्तानदीतोये महापापविनाशने ॥ ३५ ॥

स्नानं कृत्वा महादेवं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । भक्त्या प्रदक्षिणीकृत्य[1] नित्यमष्टोत्तरं शतम् ॥ ३६ ॥

मनोरमं मठं कृत्वा दत्त्वा तच्छिवयोगिने । नित्यं प्रपूजयामास शिवभक्तानतिप्रियः[2] ॥ ३७ ॥

धनेन धान्येन तिलेन तण्डुलैस्तथैव तैलेन तथोदकेन च ।

दुकूलपुष्पाभरणैरपि द्विजा मनोनुकूलेन च पूजनेन ॥ ३८ ॥

मुष्टिमात्रं यो देशेऽस्मिन्मुनि[3]पुङ्गवाः । यो भुङ्क्ते तस्य संसारान्नहि मुक्तिः कदाचन" इति ॥ 'पूजया शिवभक्तानां भोगमोक्षौ च ना[4]न्यतः' इति ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

बन्धुबान्धवैरिति । बन्धूनां संबन्धिनो बान्धवाः । बन्धुभिस्तद्बन्धुभिश्चेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अष्टोत्तरं शतम् । वारानिति शेषः ॥ ३६ ॥३७ ॥ ३८ ॥

यहाँ किये अल्पदान का भी वही फल है जो अन्यत्र किये महादान का फल होता है । ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्ण की चोरी आदि महापापों का नाश उस तीर्थ का साल भर किया नियमित दर्शन कर देता है ॥ २९ ॥ पूर्व काल में संसार की रक्षा के लिये अगस्त्य महर्षि ने उसकी पूजा की थी । वृद्धाचल नामक वह स्थान मणिमुक्ता नामक नदी के किनारे है । उस तट पर अन्य भी अनेक तीर्थ हैं ॥ ३० ॥ हे मेरे प्रिय सेठ ! अपने पुत्र सहित वहाँ जाओ । उस नदी में पुत्र सहित रोज़ नहाकर ॥ ३१ ॥ वृद्धाचलेश्वर महादेव को दण्डवत् प्रणाम कर एक सौ आठ बार उनकी परिक्रमा करो ॥ ३२ ॥ हे सद्वैश्य ! उस स्थान पर श्रद्धा से ब्राह्मण और अन्य भी शिवभक्तों को प्रसन्न करो । शिव भक्तों की पूजा से अपने पुत्र का कल्याण करो ॥ ३३ ॥

सूतजी बोले—ब्राह्मण द्वारा यों बताया गया वह वैश्य भोगादि से अपना मन हटाकर पुत्र, पत्नी, बन्धु-बान्धवों सहित वृद्धाचल नामक पुण्य तीर्थ को गया । महापापों के विनाशक मणिमुक्तानदी के जल में स्नान कर वृद्धाचलेश्वर महादेव की प्रतिदिन एक सौ आठ परिक्रमायें करते हुए वह वहाँ रहा ॥ ३४—३६ ॥ वहाँ उसने एक सुंदर मठ बनवाया और एक शिवयोगी को समर्पित कर दिया । वह रोज शिवभक्तों की पूजा करता था ॥ ३७ ॥ धन, अनाज, तिल, चावल, तेल, जल, वस्त्र, पुष्प, अलंकार आदि द्वारा मनोरम पूजन से वह शिवभक्तों को सन्तुष्ट करता था ॥ ३८ ॥

---

१. ङ. °त्य शिवम° । २. शिवभक्ता इति मुनीन्प्रति सम्बोधनम् । नतिप्रियः सन् पूजयामास वैश्य इति च सम्बन्धः । अथवा, भक्तपूजनादेवासौ समेषामतिप्रियः समभवदित्यर्थः । ३. क. ख. °निसत्तमाः । ४. ख. नान्यथेति ।

एवं संवत्सरेऽतीते पुत्रो नीरोगतां गतः । पूजया शिवभक्तानां निवृत्तो ब्रह्मराक्षसः ॥ ३९ ॥

स पुनः शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा धनमर्जितम् । अस्मिन्देशे विमुक्तोऽभूत्पूजया परयाऽनया ॥ ४० ॥

पिता तस्य महाधीमान्देशस्यास्य तपोधनाः । ज्ञात्वा माहात्म्यमाह्लादात्सर्वस्वं वेदवित्तमाः ॥ ४१ ॥

प्रदत्त्वा शिवभक्तानां विमुक्तः कर्मबन्धनात् । तस्य बन्धुजनाश्चैव शिवभक्तस्य पूजया ॥ ४२ ॥

अनायासेन संसाराद्विमुक्तास्तत्र सुव्रताः । अस्मिन्देशे प्रदत्तं यन्मुष्टिमात्रमपि द्विजाः ॥ ४३ ॥

तदनन्तं भवत्येव नात्र कार्या विचारणा । अदत्त्वा मुष्टिमात्रं यो देशेऽस्मिन्मुनिसत्तमाः ॥ ४४ ॥

यो भुङ्क्ते तस्य संसारान्न हि मुक्तिः कदाचन । अगस्त्यशिष्यो धर्मिष्ठः श्वेताख्यो भगवान्मुनिः ॥ ४५ ॥

वैश्यपुत्रस्य वैश्यस्य बन्धूनामपि सुव्रताः । श्रुत्वा मुक्तिमगस्त्येन प्रेरितो मुनिसत्तमाः ॥ ४६ ॥

प्राप्यैतच्छ्रद्धया स्थानं श्रीमद्वृद्धाचलाभिधम् । मणिमुक्तानदीतोये स्नानं कृत्वा समाहितः ॥ ४७ ॥

अर्कवारे तथाऽष्टम्यां पर्वण्यार्द्रादिने तथा । मघर्क्षे च महादेवं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् ॥ ४८ ॥

पूजयामास धर्मात्मा मणिमुक्तानदीजलैः । तज्जलं पूजितं तेन श्वेतेनैवाभवन्नदी ॥ ४९ ॥

नाम्ना श्वेतनदीत्युक्ता सर्वपापविनाशिनी । पुनः श्वेतो मुनिः श्रीमाञ्श्रद्धया परया सह ॥ ५० ॥

पूजयामास धर्मज्ञः शिवभक्ताननेकधा । देवदेवो महादेवः श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरः ॥ ५१ ॥

सांनिध्यमकरोत्तस्य भक्तानां पूजया तथा । मुनिश्च देवदेवेशं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् ॥ ५२ ॥

पूजयामास पुष्पेण पत्रेणैवोदकेन च । एतस्मिन्नन्तरे विप्राः शिवस्य परमात्मनः ॥ ५३ ॥

नीरोगतां गतः । निवृत्तो ब्रह्मराक्षस इति । न केवलं परमफलमपवर्ग एवावान्तरफलमारोग्यादिकमपि शिवभक्तपूजया भवतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

इस प्रकार करते हुए एक साल बीतने पर उसका पुत्र नीरोग हो गया तथा शिवभक्तों की पूजा के प्रभाव से ब्रह्मराक्षस भी निवृत्त हो गया ॥ ३९ ॥ उस वणिकपुत्र ने भी अपना कमाया धन शिवभक्तों में बाँट दिया तथा इस श्रेष्ठ पूजा द्वारा उसी स्थान पर मोक्ष पा गया ॥ ४० ॥ उसके पिता ने भी उस तीर्थ का माहात्म्य निश्चित कर अपना सर्वस्व शिवभक्तों को समर्पित किया और कर्मफल के चक्र से छूट गया। उसके बन्धुबान्धवों ने भी वहाँ शिवभक्तों की पूजा से अनायास ही संसार से मुक्ति पा ली। हे द्विजो ! इस पुण्य तीर्थ में किया मुट्ठीभर दान भी अनन्त पुण्य देता है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ जो मुट्ठीभर का भी दान किये बिना भोजन करता है उसका कभी संसार से मोक्ष संभव नहीं ॥ ४१–४४ $^{1}/_{2}$ ॥

अगस्त्य के शिष्य श्वेतनामक धार्मिकोत्तम मुनि ने वैश्य, उसके पुत्र व बन्धुओं के मोक्ष का प्रसंग सुन अगस्त्य की प्रेरणा से वृद्धाचल पर वास किया। उन्होंने श्रद्धासहित वृद्धाचल पहुँचकर, मणिमुक्ता नदी में स्नानकर रविवार, अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या, आर्द्रा तथा मघा नक्षत्रों वाले दिनों में एकाग्रवृत्ति पूर्वक मणिमुक्तानदी के जल से श्रीमद्वृद्धाचलेश्वर महादेव की पूजा की। श्वेत मुनि द्वारा आदृत होने के कारण उस नदी का नाम भी श्वेत पड़ गया ॥ ४५–४९ ॥

प्रसादाच्छिवभक्तानां पूजया परया तथा । अवाप परमां मुक्तिं मुनिः श्वेतो महामतिः ॥ ५४ ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन ब्राह्मणा वेदवित्तमाः । पूजया शिवभक्तानां भोगमोक्षौ न चान्यतः ॥ ५५ ॥

इति श्रुत्वा महात्मानो नैमिषारण्यवासिनः । सादरं पूजयामासुः शिवभक्ताननेकधा ॥ ५६ ॥

पूजया शिवभक्तानां प्रसन्नः परमेश्वरः । ननर्त पुरतस्तेषां मुनीनामम्बिकापतिः ॥ ५७ ॥

मुनयो देवदेवस्य शंकरस्य शिवस्य तु । दृष्ट्वाऽऽनन्दमहानृत्तमवशा अभवन्मुदा ॥ ५८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे शिवभक्तपूजाविधिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

पूजयामासेति । जलं समर्प्य पूजयामास 'ल्यब्लोपे पञ्चमी'[1] तेनैव च कारणेन तज्जलं लोके पूजितमभूत् । तेनैव निमित्तेन सा नद्यपि नाम्ना श्वेतनदीत्युक्ताऽभवदित्यर्थः ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

ननर्तेति । अभिनयेनैव परानन्दसाक्षात्कारोपदेशो नृत्ताभिप्रायं इति प्रागेव व्याख्यातम् । तेनोपदेशेन जनितसाक्षात्काराणां मुनीनां वाह्यविषयास्फुरणेन तत्परवशतानुवृत्तिमाह–दृष्ट्वाऽऽनन्दमहानृत्तमिति ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे शिवभक्त पूजाविधिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्वेत नदी कही जाने वाली वह मणिमुक्ता नदी सब पापों का विनाश करती है । फिर श्रीश्वेत मुनि ने सश्रद्ध शिवभक्तों की नाना प्रकार से पूजा की । शिवाराधना एवं शिवभक्तपूजा से प्रसन्न हो देवाधिदेव महादेव ने श्वेतमुनि को दर्शन दिया । मुनि ने सम्मुखस्थ साक्षात् वृद्धाचलेश्वर की जल, पत्र व पुष्प से पूजा की । उसी समय शिवभक्तों की पूजा के प्रभाव से और परमेश्वर की कृपा से परम बुद्धिमान् श्वेतमुनि ने मोक्ष पा लिया ॥ ५०–५४ ॥

हे वेदज्ञ ब्राह्मणो ! इस प्रसंग में अधिक क्या कहें, शिवभक्तों की पूजा से भोग व मोक्ष मिलते हैं, उसके बिना नहीं ॥ ५५ ॥

सूतजी से यह सुनकर नैमिषारण्यस्थ मुनियों ने नाना प्रकार से शिवभक्तों का पूजन किया ॥ ५६ ॥ शिवभक्तों की पूजा से प्रसन्न हुए अम्बिकानाथ परमेश्वर ने उन मुनियों को अपने आनन्दताण्डव का दर्शन दिया ॥ ५७ ॥ मुनियों ने शंकर के उस सुखमय नृत्त को देखकर परमानन्द का अनुभव किया ॥ ५८ ॥ (आधुनिक परिवेश में मनुष्यों व अन्य प्राणियों के प्रति सेवाभाव का प्रचार ईसानुयायियों की देन माना जाता है जो शास्त्र, इतिहास व संस्कृति नज़रन्दाज करने का फल है । भूतबलि, अतिथिसेवादि सनातन धर्म में रोज़ाना के कर्म हैं । श्रेष्ठजनों की आदरपूर्वक शुश्रूषा होने से अन्यान्य लोग तथा बालक श्रेष्ठता पाने को उत्सुक होते हैं अतः शिवभक्तों की पूजा का माहात्म्य है । आज सिर्फ धनाधिक्य आदरपात्रता का हेतु दीखने से आबालवृद्ध चाहे जिस तरह अर्थार्जनपरक होकर हर तरह की सामाजिक कुरीतियाँ स्थापित कर रहे हैं । इसे रोकने का सरल उपाय है उन्हे प्रश्रय देना जो अर्थ-काम की उपेक्षाकर धर्म-मोक्ष की ओर चलने वाले ईश्वरभक्त हैं । इससे सभी का इह-पर-लोक सुधरेगा ।)

---

१. एतद्व्याख्यानानुरोधेन मूले मणिमुक्तानदीजलादिति पञ्चम्यन्त एव पाठोऽवगम्यते ।

सप्तमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः –

भगवञ्श्रोतुमिच्छामः सर्वतत्त्वविशारद । केचित्केवलविज्ञानं प्रशंसन्ति विमुक्तये ॥ १ ॥

केचित्समुच्चितं कर्म ज्ञानेन ब्रह्मवित्तम । केचिद् दानं प्रशंसन्ति तथा केचिद् व्रतं बुधाः ॥ २ ॥

केचियज्ञं प्रशंसन्ति तपः केचित्तपोधनाः । ब्रह्मचर्याश्रमं केचिद्गार्हस्थ्यं भुवि केचन ॥ ३ ॥

वानप्रस्थाश्रमं केचित्संन्यासं भुवि केचन । तीर्थसेवां प्रशंसन्ति स्वाध्यायं भुवि केचन ॥ ४ ॥

शिवेनाभिनयरूपोपदेशेन विशदीकृतपरतत्त्वा जीवन्मुक्ताः कृतकृत्या अपि मुनयः सकललोकोपकाराय सुलभं मुक्तिसाधनं जिज्ञासमानाः संशयबीजभूता बुद्धेर्विप्रतिपत्तीरुदाहरन्ति–**भगवञ्श्रोतुमिच्छाम** इति । **केवलविज्ञान**मिति वेदान्ततत्त्वविदः ॥ १ ॥

समुच्चितं कर्मेति । तदेकदेशिनः–'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' ॥ 'यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् । एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्' ॥ इत्याद्याः श्रुतिस्मृतयो मोक्षकर्मसमुच्चया इति मन्यमानाः । **केचिद्दान**मिति 'किं भगवन्तः परमं वदन्ति' इति प्रस्तुत्य 'दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं परमं वदन्ति' इति श्रुतौ श्रद्दधानाः । **केचिद्व्रत**मिति 'न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत तद्व्रतं [1]तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्' 'अन्नं न निन्द्यात्तद्व्रतम्' इत्यादि पश्यन्तः ॥ २ ॥

केचियज्ञमिति । 'यज्ञेन हि देवा दिवं गताः' इत्यारभ्य 'तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति' इति श्रुतिमाद्रियमाणाः । **तपः केचि**-दिति । तप इति 'तपो नानशनात्परम्' इत्यारभ्य 'तस्मात्तपः परमं वदन्ति' इति श्रुतिमुदाहरन्तः । **ब्रह्मचर्याश्रम**मिति 'येषां तपो ब्रह्मचर्यम्' । 'नैष्ठिको ब्रह्मचारी वा वसेदामरणान्तिकम्' इत्यादिश्रुतिस्मृ[2]ती परिशीलयन्तः । **गार्हस्थ्य**मिति 'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य' इति गौतमवचसा वञ्चिताः ॥ ३ ॥

वानप्रस्थाश्रममिति । ''तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः'' इति श्रुतिमभ्यसन्तः । **संन्यास**मिति । 'न्यास इति ब्रह्मे' त्युपक्रम्य 'तानि वा एतान्यवराणि तपाँसि न्यास एवात्यरेचयत्' इति श्रुतितात्पर्यविदः । **तीर्थसेवा**मिति । 'तीर्थे स्नाति तीर्थमेव समानानां भवति' इति श्रुतिदर्शिनः । **स्वाध्याय**मिति । 'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति' इति श्रुतिमधीयानाः ॥ ४ ॥

मुक्तिसाधन-प्रकार नामक सातवाँ अध्याय

नैमिषारण्यवासियों ने सूतजी से कहा–सब विषयों के तात्त्विक ज्ञान में पारंगत हे भगवन् ! हम आपसे इस विषय में निर्णय सुनना चाहते हैं–कुछ वेदान्तवेत्ता मोक्ष के लिये निर्विशेष तथा कर्म-असहकृत आत्मज्ञान को ही साधन बताते हैं ॥ १ ॥ हे ब्रह्मज्ञोत्तम ! कुछ लोग ज्ञान से सहकृत कर्म को मोक्षोपाय कहते हैं । कुछ मोक्षसाधनतया दान की प्रशंसा करते हैं व अन्य विद्वान् व्रत का ही मोक्ष के उपायरूप से उपदेश देते हैं ॥ २ ॥ कुछेक यज्ञ की मोक्षसाधनता मानते हैं । तपस्वियों ने तप को ही मुक्ति का उपाय बताया है । संसार में कोई ब्रह्मचर्याश्रम के धर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष मानते हैं, कोई गृहस्थाश्रमधर्मों के अनुष्ठान से ॥ ३ ॥ कुछ लोग वानप्रस्थाश्रम की व अन्य संन्यासाश्रम की इस रूप में प्रशंसा करते हैं । कोई तीर्थपरायणता को और कोई वेदपाठपरायणता को परम कल्याण का उपाय बताते हैं ॥ ४ ॥

---

१. क. ख. पुस्तकयोस्तस्मादित्यारभ्येत्यादिपर्यन्तो ग्रन्थो नहि । २. क. ख. °स्मृतीः प° ।

केचित्स्थाने महेशस्य विशिष्टे वर्तनं सदा । एवमन्यानि लोकेऽस्मिन्प्रशंसन्ति विमुक्तये ॥ ५ ॥

एषां यत्सर्वजन्तूनां कर्तुं शक्यं विमुक्तिदम् । तदस्माकं महाभाग वद सूत हिते रत ॥ ६ ॥

सूत उवाच–

शृणुध्वं मुनयः सर्वे समाधाय मनः सदा । पुरा नारायणं व्यासः श्रीवैकुण्ठनिवासिनम् ॥ ७ ॥

प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या पर्यपृच्छदिदं बुधाः । सोऽपि नारायणः श्रीमानतीव प्रीतमानसः ॥ ८ ॥

समुत्थाय महालक्ष्म्या ब्रह्मणा च सुरैः सह । वेदव्यासेन कैलासमगमत्परमर्षयः ॥ ९ ॥

तत्र देव्या समासीनं नीलकण्ठमुमापतिम् । तेजसा भासयन्सर्वं चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥ १० ॥

ईश्वराणां च सर्वेषामीश्वरं परमेश्वरम् । पतिं पतीनां परमं दैवतानां च दैवतम् ॥ ११ ॥

स्मृतिमात्रेण सर्वेषामभीष्टफलदायिनम् । सत्यं विज्ञानमानन्दं संपूर्णं सर्वसाक्षिणम् ॥ १२ ॥

प्रणम्य परया भक्त्या पप्रच्छेदं जगद्धितम् । महादेवोऽपि सर्वज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ १३ ॥

प्राह सर्वामरेशानो वाचा मधुरया बुधाः ।

ईश्वर उवाच–

साधु साधु महाविष्णो भवता पृष्टमच्युत ॥ १४ ॥

पुरा देवी जगन्माता सर्वभूतहिते रता । मामपृच्छदिदं भक्त्या प्रणम्य परमेश्वरी ॥ १५ ॥

केचित्स्थान इति । 'संप्राप्य काशीं शिवराजधानीं मङ्क्त्वा तदग्रे मणिकर्णिकायाम् । दृष्ट्वाऽथ विश्वेश्वरमेकदाऽऽर्ये स्पृष्ट्वा प्रणामः परमो हि धर्मः' ॥ इत्यादिवचनसहस्राणि व्याहरन्तः । **एवमन्यानीति** । 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इत्यारभ्य 'परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इत्यादिश्रुतीर्विमृशन्तः प्रणवध्यानादिकमेव प्रशंसन्ति ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ सूतस्त्वाख्यायिकयैवोत्तरमाह–**पुरा नारायणं व्यास** इत्यादिना ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

भासयन्निति द्वितीयार्थे प्रथमा । **तेजसा सर्वं** भासयन्यश्चतुर्वर्गफलप्रदस्तमिति प्रकृत्यर्थविशेषणं वा, शोभनं पठतीतिक्रियाविशेषणवत् । विष्णुर्वा भासयन्नस्तु ॥ १० ॥

यतः सर्वेषामीश्वराणामीश्वरोऽतः परमेश्वरः ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि शंकर के विशिष्ट काशी आदि स्थानों में रहना ही मोक्ष-कारण है । इसी प्रकार संसार में मुक्ति के अन्यान्य उपाय प्रशंसित होते रहते हैं । इनमें जो साधन सब लोगों द्वारा किया जा सकता हो एवं मोक्ष का निश्चित कारण हो वह हमें बताइये ॥ ६ ॥

सूतजी बोले– हे मुनियो ! मैं बताता हूँ, सब ध्यान से सुनें । पूर्वकाल में व्यासजी ने वैकुण्ठ निवासी श्रीनारायण को दण्डवत् प्रणामकर उनसे यही पूछा था । वे नारायण इस प्रश्न से अत्यन्त प्रसन्न हुए किन्तु स्वयं उत्तर न देकर परम प्रामाणिक उत्तर उपलब्ध कराने के लिये महालक्ष्मी, ब्रह्मा, अन्य देवताओं और व्यास जी सहित कैलास पर्वत को गये ॥ ७–९ ॥ वहाँ देवी सहित बैठे महादेव को उन सबने प्रणाम किया । वे उमापति नीलकण्ठ थे और अपने तेज से सबको प्रकाशित कर रहे थे । लौकिक-अलौकिक सभी चेष्टाओं का फल देने वाले वे ही हैं ॥ १० ॥ क्योंकि वे सब शासकों के भी शासक हैं अतः परमेश्वर हैं । सभी रक्षकों के परम रक्षक तथा सब देवताओं से श्रेष्ठ देवता हैं ॥ ११ ॥ केवल याद कर लिये जाने से ही वे सभी को इच्छित फल दे देते हैं । वे ही एकमात्र सत्य हैं, अनुभवस्वरूप व आनन्दघन हैं, अनन्त हैं तथा सबके साक्षी हैं ॥ १२ ॥ उन्हें प्रणामकर विष्णु ने परमभक्ति से सर्वोपकारक वही प्रश्न उनसे पूछा । सब प्राणियों का हित साधने में तत्पर सर्वज्ञ महादेव ने भी मधुर वाणी से यह उत्तर दिया–

परमेश्वर ने कहा–हे अच्युत महाविष्णु ! आपने बड़ी अच्छी बात पूछी है ॥ १३–१४ ॥ पूर्व में जगन्माता परमेश्वरी ने भी मुझसे यह प्रश्न किया था ॥ १५ ॥

तदिदं कृपया वक्ष्ये तव सर्वजगद्धितम् । ज्ञानमेव महाविष्णो मोक्षसाधनमुच्यते ॥ १६ ॥

ज्ञानं वेदशिरोद्भूतमिति मे निश्चिता मतिः । अनेकजन्मशुद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम् ॥ १७ ॥

जायते तच्छिवज्ञानं प्रसादादेव मे हरे । निवृत्तिधर्मनिष्ठस्तु ब्राह्मणः पङ्कजेक्षण ॥ १८ ॥

उक्तो मुख्याधिकारीति ज्ञानाभ्यासे मया हरे । अन्ये च ब्राह्मणा विष्णो राजानश्च तथैव च ॥ १९ ॥

वैश्याश्च तारतम्येन ज्ञानाभ्यासेऽधिकारिणः । द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाभ्यासेऽधिकारिता ॥ २० ॥

अस्ति शूद्रस्य शुश्रूषोः पुराणेनैव वेदनम् । वदन्ति केचिद्वि[1]द्वांसः स्त्रीणां शूद्रसमानताम् ॥ २१ ॥

विदितप्रश्नाभिप्रायः शिवः सुलभं सर्वाधिकारं च मुक्तिसाधनं वक्तुं प्रतिजानीते—**तव सर्वजगद्धितमिति** । सुलभस्य सुकरस्य सर्वाधिकारस्य च विवक्षिततीर्थजातस्य [2]ज्ञानद्वारा मुक्तिसाधनतां च वक्तुं साक्षान्मोक्षसाधनत्वं ज्ञानस्यैवेत्याह—**ज्ञानमेव महाविष्णो** इति । 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः ॥ १६ ॥

तदपि ज्ञानमुपनिषद्वाक्यादेवेत्याह—**वेदशिरोद्भूतमिति** । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतम् । तस्य तु ज्ञानस्य वक्ष्यमाणोपाय[3]रहितैः प्रयत्नातिशयलभ्यतामाह—**अनेकजन्मेति** । निष्कामकृतानि हि कर्माणि भगवदाराधनद्वारेणैव तत्त्वज्ञानं साधयन्ति । फलं तु तत्त्वज्ञानमन्यद्वा शिवप्रसादादेव भवति । उक्तं हि—"फलमत उपपत्ते"—रिति ॥ १७ ॥

शिवज्ञानमिति मदीयनिष्कलतत्त्वज्ञानमित्यर्थः । उक्तज्ञानसाधनेषु तारतम्येनाधिकारिविभागमाह—**निवृत्तिधर्मेति** । **निवृत्तिधर्मः** संन्यासपूर्वकं श्रवणमननादिकम् । याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज । 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रूयते ॥ १८ ॥

अन्ये चेति—अकृतसंन्यासादिकाः[4] । **तारतम्येनेति** । न्यूनाधिकभावेन तरतमशब्दाभ्यां तरतमप्रत्ययवाचकाभ्यां तदर्थावतिशयौ लक्ष्येते । तत्रापि द्वयोरतिशयात्तरबर्थाद्बहूनामतिशयस्तमबर्थोऽधिक इति तद्भावस्तारतम्यम् । **द्विजस्त्रीणामिति** । 'अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ' इत्यादौ गार्ग्यादेर्विद्याव्यवहारदर्शनात् ॥ १९ ॥ २० ॥

अस्तिपदस्य पूर्वार्धेन संबन्धः । **शूद्रस्य शुश्रूषोरिति** । स्वधर्मनिष्ठस्य द्विजशुश्रूषा हि शूद्रस्य मुख्या वृत्तिः । 'शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवन्वणिग्भवेत्' इतिस्मृतेः । **पुराणेनैवेति** । वेदवाक्यश्रवणस्य निषिद्धत्वात् । 'अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां

उन्हें जो उत्तर दिया था वही समस्त संसार के कल्याण का उत्तर आप लोगों को भी देता हूँ—हे महाविष्णु ! मोक्ष का साक्षात् साधन केवल निर्विशेष आत्मज्ञान ही है ॥ १६ ॥ प्रकृत में ज्ञान वही है जो उपनिषदों के श्रवण से उत्पन्न होता है, यह मेरा निश्चय है । वह मेरे निष्कल तत्त्व का ज्ञान मेरी कृपा से उन्हें ही होता है जिनका चित्त अनेक जन्मों में शुद्ध होता चला आया है और जो श्रौत-स्मार्त मार्ग का अनुसरण करते हैं । हे हरि ! ज्ञान के अभ्यास का—श्रवणादि का—मुख्य अधिकारी वह ब्राह्मण है जो शम आदि निवृत्ति-धर्मों में ही निरत हो । जो सर्वकर्मसंन्यासी नहीं ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य भी न्यूनाधिकभाव से ज्ञानाभ्यास अर्थात् श्रवणादि के अधिकारी हैं । (वैराग्यादि के आधिक्य या अल्पत्व से अधिकार का आधिक्य या न्यूनत्व है । अधिकार की अधिकता का भी तात्पर्य है शीघ्र फलप्राप्ति की संभावना । वैराग्य अधिक होने से शीघ्र ज्ञानलाभ की संभावना अधिक है, अन्यथा कम है । वैराग्य न होने पर तो सर्वथा नहीं है) । द्विजाति स्त्रियों को भी ज्ञानाभ्यास के श्रौत उपायों में—उपनिषत्-श्रवणादि में—अधिकार है ॥ १७—२० ॥ द्विजों की सेवा में तत्पर शूद्र को पुराण द्वारा ज्ञान हो सकता है । कुछ

---

१. केचिदित्यनेनेहास्वारस्यं सूचितम् । द्विजस्त्रीणां कर्मांगतया केषुचिद्वाक्येष्वधिकारस्य पूर्वतन्त्रेप्यभ्युपगन्तव्यत्वान्न वेदत्वावच्छिन्ने तासामनधिकारस्ततश्च विवेकादिवत्त्या द्विजस्त्रियो वेदान्तश्रवणाधिकारः स्यादेव । शूद्रस्त्रियस्तु शूद्रत्वादेवानधिकारः । न चैवं तासां न त्रयी श्रुतिगोचरेत्यादिस्मृतिविरोधः, स्मृतेः सामान्यविषयत्वात्, समस्तवेदं ता न शृणुयुरित्येव तदर्थोऽन्यथा यज्ञादौ यजमानसंनिधौ तस्या उपवेश एव न सिद्ध्येदिति दिक् । २. ख. ज्ञानसाधन° । ३. ङ. °यसहितप्र° । ४. ज्ञानाभ्यासएवेतरेषां गौणोधिकारो न तु संन्यासेपीति भावः । संन्यासपदं चेहाश्रमपरम् । ततः प्रवृत्तित्यागेन विद्यमानतालक्षणे संन्यासे नानधिकारप्रसंग इति ध्येयम् ।

अन्येषामपि सर्वेषां ज्ञानाभ्यासो विधीयते । भाषान्तरेण कालेन[1] तेषां सोऽप्युपकारकः ॥ २२ ॥

येषामस्ति परिज्ञानं विनेह ज्ञानसाधनम् । कल्प्यं तत्साधनं तेषां पूर्वजन्मसु सूरिभिः ॥ २३ ॥

श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति । इदमेवोक्तं व्यासेन 'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च' इति । **स्त्रीणां शूद्रसमानतामिति** । यथाऽऽहुः— 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्' ॥ इति । गार्गीमैत्रेय्यादीनामपि श्रुतिवाक्यान्न तत्त्वबोधः किंतु पौरुषेयैरेव वाक्यैर्जातस्तत्त्वावबोध आख्यायिकारूपया श्रुत्या व्यवहृत इत्येतावदिति हि ते मन्यन्त इत्यर्थः ॥ २१ ॥

येषां तु हीनजातीनां पुराणेऽप्यनधिकारस्तेषामपि स्वदेशभाषया तत्त्वविद्यायामस्त्यधिकार इत्याह—**अन्येषामिति** । नचैवं सर्वेषां फलसाम्यम् । कालसंनिकर्षविप्रकर्षादिकृतवैषम्यसंभवादित्याह—**कालेनेति** ॥ २२ ॥

ननु निवृत्तिधर्मश्रवणादिकं विनैव वामदेवादेर्गर्भस्थस्यैव स्वतो बोधः श्रूयते—'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदम्' इति प्रस्तुत्य 'गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाचे'ति तत्कथं श्रवणादेः साधनतेति ? तत्राऽऽह—**येषामस्तीति** ॥ २३ ॥

विद्वान् सभी स्त्रियों की शूद्र से समानता बताते हैं अर्थात् द्विज स्त्रियों को भी उपनिषत्-श्रवणादि में नहीं, पुराण श्रवणादि में ही अधिकार है ऐसा मानते हैं । (चाहे उपनिषत् से हो चाहे पुराणादि से, ज्ञान वही होता है । वेदाधिकारी को भी यद्यपि पुराण आदि से वही ज्ञान प्राप्त हो सकता है तथापि स्वतः प्रमाण होने से वेद श्रेष्ठतर उपाय है अतः अधिकारी उसी का उपयोग करे यही शोभनीय है । जैसे जो सीधे संस्कृत में मूल ग्रंथ समझ सकता है वह अनुवाद पढ़ता शोभा नहीं देता, चाहे अनुवाद से भी ज्ञान वही होता है जो मूल से होना है वैसे यहाँ भी समझना चाहिये । क्योंकि ज्ञान वही प्राप्य है अतः जिन्हें अधिकार नहीं उन्हें अनावश्यक आग्रह से श्रुति के अनुशीलन का प्रयास नहीं करना चाहिये । यद्यपि वह प्रयास पदपदार्थ के ज्ञाता के लिये सफल हो सकता है चाहे ज्ञाता अधिकारी हो या न हो, तथापि निषिद्धाचरण से उत्पन्न होता हुआ पाप चित्त को कलुष करता रहेगा जिससे तत्त्वज्ञानरूप फल नहीं हो पायेगा । अतः स्वाधिकारानुसार ज्ञानाभ्यास करना चाहिये) । जिन हीन जाति वालों का पुराणश्रवणादि में भी अधिकार नहीं उन सभी के लिये भी अन्य भाषा के द्वारा—हिन्दी अंग्रेजी आदि भाषाओं में परात्मैक्यप्रतिपादक ग्रन्थों का अनुशीलन आदिरूप—ज्ञानाभ्यास विहित है । वह अभ्यास भी उपकार तो करता है किन्तु समय अधिक लेता है । (उपनिषत्, पुराण आदि का श्रवण अधिकारी के चित्त को भी संस्कृत करता चलता है अतः शीघ्र फल देने वाला है । भाषान्तर ग्रन्थ यद्यपि बात तो वही बताने से तत्त्वज्ञान का उत्पादक तो होता है तथापि चित्तशोधक नहीं हो पाता अतः देर से उपकार करता है । यद्यपि अनधिकारियों के लिये विहित होने से भाषान्तरद्वारा ज्ञानाभ्यास भी उनका धर्म अतएव शोधक भी है, तथापि शक्तशब्दों में शक्त्यतिशय होने से वे शीघ्र शोधन करते हैं यह समझना चाहिये । श्रवणजन्य चित्तशुद्धि अवान्तर फल है । मुख्य फल तो तत्त्वज्ञान है । विहितत्त्वसामान्य से फलहेतुता भी समान हो यह मुख्य फल के लिये नियम हो सकता है । अवान्तरफल के विषय में यह नियम नहीं । दृष्टान्त के रूप में समझ सकते हैं कि भोजन पकाने के दो साधन हैं—गैस का चूल्हा और लकड़ी का चूल्हा । दोनों साधनों से भोजन पक जायेगा अतः दोनों के मुख्य फल में समानता है । किन्तु अवान्तर फल शीतनिवृत्ति आदि लकड़ी के चूल्हे से तो होगी, गैस के चूल्हे से नहीं या अत्यल्प होगी । ऐसे ही उपनिषत्, पुराण व भाषाग्रन्थ तीनों ज्ञान के उत्पादक होंगे इसमें तो समानता है, शुद्धि आदि में वैषम्य है ।) ॥ २१—२२ ॥ जिन वामदेव आदि में ज्ञान के साधन श्रवणादि के बिना ही तत्त्वज्ञान देखा जाता है उनके विषय में विचारकों को चाहिये कि यह कल्पना करें कि उन्होंने पूर्वजन्मों में उन साधनों का अनुष्ठान किया था । (ज्ञानसाधनों का अनुष्ठान उत्तरजन्मों में भी उपकारक होता है । ज्ञानकी तरह ज्ञानसाधनों की सद्यः फलकता का कोई नियम नहीं । पूर्वजन्म का अनुष्ठान भी फलबलकल्प्य ही है । अतः यह सोचकर कि हम भी उनका अनुष्ठान कर ही चुके होंगे, उनकी उपेक्षा केवल मूर्खता है । जैसे पुष्टि देखकर भोजन की कल्पना होती है, इतने से हम बिना पुष्टि देखे ही भोजन की कल्पना करें तो निश्चित ही भूखे मर जायेंगे, वैसे ही यदि हमें शिवज्ञान हो गया तो चाहे पूर्वजन्म के साधनानुष्ठान की कल्पना करें किन्तु उसके बिना कल्पना करना हमारा कोई हित नहीं साधेगी ।) ॥ २३ ॥

---

१. जन्मान्तरेणेति केचित् । वयन्तु मानमेयादिगोचरासम्भावनाविपरीतभावनयोरभावे शोधितपदार्थानां पुंसां केनचिदपि प्रकारेणाभेदज्ञाने जाते सद्यो मोक्ष एव ज्ञानस्य दृष्टफलत्वादिति युक्तमुत्पश्यामः । लौकिकवाक्यस्याप्यात्मयाथात्म्ये प्रामाण्यं स्वयं स्थापयिष्यति (४. १०. ३७) ।

मुख्याधिकारिणां नृणां प्रतिबन्धविवर्जितम् । ज्ञानमुत्पद्यतेऽन्येषां प्रतिबद्धं विजायते ॥ २४ ॥

प्रतिबद्धं परिज्ञानं नेह मुक्तिं प्रयच्छति । विशुद्धं ब्रह्मविज्ञानं विशुद्धस्यैव सिध्यति ॥ २५ ॥

अतः सर्वमनुष्याणां नहि मुक्तिरयत्नतः । यज्ञदानादिकर्माणि न साक्षान्मुक्तिसिद्धये ॥ २६ ॥

सर्वेषां फलसाम्याभावाय वैषम्यान्तरमाह—**मुख्याधिकारिणामिति** ॥ २४ ॥

प्रतिबद्धेन किं क्रियत इति चेत् ? अनेकजन्मव्यवधानमित्याह—**प्रतिबद्धं परिज्ञानमिति** । उक्तं हि व्यासेन—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' इति । भगवानप्याह—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इति । इह जन्मनि जन्मान्तरे वा मुक्तिश्चेत्सिध्यति कियान्विशेष इति चेत् ? 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इति तलवकारोपनिषदि महतो वैषम्यस्य[1] दर्शनादिहापि जायमाने वाऽधिकारिभेदेन वैल[2]क्षण्यमाह—**विशुद्धमिति** । उक्तमुख्याधिकारिणोऽपरोक्षानुभवपर्यन्तं ज्ञानमितरस्य तु स्वाधिकारतारतम्येन परोक्षमपीत्यर्थः ॥ २५ ॥

अधिकारवैचित्र्यमुपसंहरति—**अतः सर्वेति** । यानि कैश्चिन्मुक्तिसाधनान्युक्तानि तान्यत्यन्तविप्रकृष्टान्येवेत्याह—**यज्ञदानादीति** । निष्कामकृतान्यपि हि यज्ञादीनि प्रतिबन्धकपापनिरासद्वारा सत्त्वशुद्धिमात्रं जनयन्ति, तेन च विषयदोषदर्शनं ततो वैराग्यं, तेन च श्रेयसि जिज्ञासा, ततः संन्यासपूर्वकान्मनननिदिध्यासनोपाकृताच्छ्रवणात्तत्त्वज्ञानेनापवर्ग इति । अतस्तेषां परमतत्त्वाद्यभिधानमपि परम्परासाधनताभिप्रायमेव । तथाच—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति यज्ञादीनां विविदिषामात्रे साधनत्वं, न वेदनेऽपि किमुत तत्फले मोक्षे । 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' इत्यत्राप्यविद्याशब्दाभिधेयस्य कर्मणो विद्यया सहोपायोपेयभावेन वेदन एव सहभावः श्रुतो, न पुनरनुष्ठाने[3] । अतो ज्ञानकर्मणोः क्रमसमुच्चय एव । यान्यप्यन्यानि ज्ञानकर्मसमुच्चयवचनानि तान्यप्युक्तरीत्या क्रमसमुच्चयपराण्येव । अतो ज्ञानमेव साधनम् । तच्चाधिकारिवैचित्र्यात्साधनप्रयत्नवैचित्र्याच्चानेकतारतम्योपेतमिति प्रकरणार्थः ॥ २६ ॥

जो मुख्य अधिकारी हैं—त्यक्तकर्मा ब्राह्मण हैं—उन्हें तो अप्रतिबद्ध ज्ञान होता है । जो उनसे भिन्न हैं—वैराग्यातिशय न होने से दृष्ट व आनुश्रविक कर्मों में व्यापृत हैं—उन्हें प्रतिबद्ध ज्ञान ही होता है । (असंभावना-विपरीत भावना ही ज्ञान के प्रतिबंधक हैं । ये सर्वकर्मपरित्याग पूर्वक शमादि अभ्यास करते हुए श्रवणादि करने से ही निवृत्त होते हैं । अतः अन्यों को ज्ञान होने पर भी इन दोनों से प्रतिबद्ध ही रहता है । यही भेद ज्ञान व दृढज्ञान आदि शब्दों से प्रकट किया जाता है । गीता में भगवान् ने 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः' (१८.५१) आदि से जो निरूपण किया है उसका भी यही अभिप्राय है ।) ॥ २४ ॥ प्रतिबद्ध ज्ञान यहाँ मुक्ति नहीं देता । (यह अवश्य है कि जन्मान्तर में वैराग्यादि होने पर वह तुरन्त सफल हो जायेगा ।) विशुद्ध अर्थात् अप्रतिबद्ध ज्ञान विशुद्ध अर्थात् रागादि सर्वदोष रहित व्यक्ति को ही होता है ॥ २५ ॥ अतः किसी भी मनुष्य को साधनानुष्ठान के बिना ही मोक्ष हो यह संभव नहीं । इतना अंतर हो सकता है कि किसी को यहीं साधना करनी पड़े व किसी ने पूर्वभव में साधना कर रखी हो जिससे इस जन्म में उसे सुविधा हो ।

यज्ञ दान आदि कर्म मुक्ति की सिद्धि के साक्षात् साधन नहीं हैं, परम्परा से ही साधन हैं ॥ २६ ॥

---

१. नेह मुक्तौ वैषम्यं विवक्षितम् । इहैव तल्लाभाय यतेत—इत्येव विधित्सितमिति ज्ञेयम् । २. इदं च वैलक्षण्यं ज्ञाने । अनधिकारिणो मुख्यं ज्ञानमेव न जायत इति स्थितिः, जातं वा तदसम्भावनादिनाच्छन्नं सत्र फलाय कल्पते । तस्मादथशब्दोक्तसम्पल्लाभाय यतनीयमिति भावः । ३. तदुक्तं वार्तिकामृते (१.४.१७६४–६६)—'विद्यां चेत्यादिमन्त्रोऽपि न समुच्चयबोधकः । परस्परविरोधत्वान्न सहावस्थितिस्तयोः ॥ क्त्वायोगात् पूर्वकालत्वमविद्यायाः प्रतीयते । स्वाभाविकं कर्म मृत्युः विद्या शास्त्रीयमुच्यते ॥ मृत्युः स्वाभाविकं ज्ञानं शास्त्रीयं संभवस्तथा । शास्त्रीयेणेतरत्तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥' इति । माण्डूक्यभाष्येऽपि (३.२५)—'एषणालक्षणाविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण सम्बध्यमानाऽविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते'—इत्येवं क्रमसमुच्चयपरतया विद्यां चेत्यादि मन्त्रार्थो दर्शित इति भाष्याद्यनुगुणमेव इहत्यं व्याख्यानम् ।

तस्मादयत्नतो मुक्तिः सर्वेषां येन हेतुना । तं वदामि महाविष्णो हिताय जगतां शृणु ॥ २७ ॥

सन्ति लोके विशिष्टानि स्थानानि मम माधव । तेषामन्यतमे स्थाने वर्तनं भुक्तिमुक्तिदम् ॥ २८ ॥

श्रीमद्वाराणसी पुण्या पुरी नित्यं[1] मम प्रिया । यस्यामुत्क्रममाणस्य प्राणैर्जन्तोः कृपाबलात् ॥ २९ ॥

तारकं ब्रह्मविज्ञानं दास्यामि श्रेयसे हरे । तस्यामेव महाविष्णो प्राणत्यागो विमुक्तिदः ॥ ३० ॥

स्थानं दक्षिणकैलाससमाख्यं सत्कृतं मया । यत्र सर्वाणि तीर्थानि सर्वलोकगतानि तु ॥ ३१ ॥

सुवर्णमुखरीतोये पवित्रे पापनाशने । मासि मासि व्यतीपाते मघर्क्षे माघमासि च ॥ ३२ ॥

अर्कवारेऽप्यमावास्यां स्नानं कृत्वा महेश्वरम् । श्रीकालहस्तिशैलेशं पूजयेन्मां सुरेश्वरम् ॥ ३३ ॥

यत्र संवत्सरं भक्त्या यो वा को वा दिने दिने[2] । दृष्ट्वा दक्षिणकैलासवासिनं करुणानिधिम् ॥ ३४ ॥

भुङ्क्ते तस्य महाविष्णो ज्ञानं तस्य विमुक्तिदम् । जायते मरणे काले तेन मुक्तो भवेन्नरः ॥ ३५ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरे नित्यं यो वा को वा महेश्वरम् । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ मासद्वादशकं मुदा ॥ ३६ ॥

तस्य सिद्धा परा मुक्तिर्न हि [3]संशयकारणम् । श्रीमद्वृद्धाचले भक्त्या वर्तते वत्सरद्वयम् ॥ ३७ ॥

यो वा को वा महादेवं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणम्य परमेश्वरम् ॥ ३८ ॥

तस्य मुक्तिरयत्नेन सिध्यत्येव न संशयः । स्थाने वर्तनमात्रेण विशिष्टे मानवोऽच्युत ॥ ३९ ॥

यदर्थोऽयं प्रपञ्चस्तमिदानीं तीर्थविशेषप्रभावं वर्णयितुमारभते—तस्मादयत्नत इत्यादिना ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

प्राणत्याग इति । वक्ष्यमाणतीर्थविशेषेष्वपीति [4]शेषः ॥ ३० ॥

तानि क्रमेणाऽऽह—स्थानं दक्षिणकैलासेत्यादिना ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

हे महाविष्णु ! सभी जन्तुओं को जिस अत्यल्प प्रयास से मुक्ति प्राप्त हो सकती है उसे मैं संसार के हित के लिये बताता हूँ, सुनो ॥ २७ ॥

हे माधव ! संसार में कुछ मेरे विशिष्ट स्थान हैं । उनमें किसी एक में नियमपूर्वक रहना भोग व मोक्ष दोनों देता है (या, कर्मफलों का भोग करने से मुक्ति दिला देता है । मोक्षसाधन का उपक्रम कर भोगहेतुता बताना उचित नहीं । अथवा प्रशंसा में तात्पर्य है । क्योंकि भोग भी देता है अतः नियमतः उसका सेवन करना चाहिये, यह अभिप्राय है ।) ॥ २८ ॥ वाराणसी नामक पुण्य स्थल मुझे सदा प्रिय है । वहाँ जब कोई जन्तु मरने लगता है तब मैं कृपा के कारण संसार से तारने वाला मुक्तिफलक ब्रह्मज्ञान दे देता हूँ । काशी में ही मरना मोक्ष प्रदान करता है । (शिवोपदेश से ज्ञान हो ही जाता है यह भाव है ।) ॥ २९—३० ॥

---

१. अवान्तरप्रलयेष्वपि तस्या अनाशात्तदापि सा मम प्रिया तिष्ठतीति नित्यमित्युक्तम् । २. छ. हरम् । ३. छ. संसारकारणम् । ४. काशीमरणान्मोक्षो यथा श्रुतिस्मृतिसंमतस्तथा तीर्थान्तरे मरणान्नासौ सिद्ध्यतितराम् । अन्यत्र स्थलविशेषे मृतो जन्मान्तरे काशीमरणं प्राप्नोति ततो मुच्यत इति व्यवस्थेह ज्ञेया । एतेन 'तस्यामेवे' त्येवकारसंगतिरपि व्याख्याता । कोटिरुद्रसंहितायान्तु (२२.२६) 'अन्यत्र प्राप्यते मुक्तिः सारूप्यादिर्मुनीश्वराः । अत्रैव प्राप्यते जीवैः सायुज्या मुक्तिरुत्तमा ॥' इति व्यवस्थापितम् ।

अयत्नेन विमुच्येत स्वसंसारमहद्भयात् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्नयत्नेनैव मानवः ॥ ४० ॥

भजेदन्यतमं स्थानमेतेषां श्रद्धया सह ।

सूत उवाच—

इति श्रुत्वा हरिर्ब्रह्मप्रमुखैरमरैरपि ॥ ४१ ॥

वेदव्यासेन लक्ष्म्या च सह वेदविदां वराः । प्रणम्य परया भक्त्या भवं [1]भक्तप्रिये रतम् ॥ ४२ ॥

विहाय पद्मसंभूतं पाराशर्यं सुरानपि । श्रीमद्दक्षिणकैलासं सर्वदेशोत्तमोत्तमम् ॥ ४३ ॥

पञ्चयोजनविस्तीर्णं दशयोजनमायतम् । ब्रह्मणा च सरस्वत्या वज्रिणा नीलया[2] तथा ॥ ४४ ॥

कालेन हस्तिना चान्यैर्देवगन्धर्वराक्षसैः । मुनिभिः पूजितं स्थानं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ४५ ॥

अवाप पद्मया विष्णुः सह सर्वजगत्पतिः । ब्रह्मा वेदविदां मुख्यः श्रीमद्वृद्धाचलं मुदा ॥ ४६ ॥

यो वा को वेति । प्रागुक्ताधिकारादिवैचित्र्यनिबन्धनोऽपि न विशेषः कश्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ३४-४६ ॥

दक्षिणकैलास नामक स्थान का भी मैं आदर करता हूँ । सारे संसार में होने वाले तीर्थ वहाँ एकत्र हैं ॥ ३१ ॥ वहाँ हर महीने व्यतीपातयोग होने पर तथा मघा नक्षत्र होने पर, रविवार को, अमावस्या को तथा पूरे माघमास में सुवर्णमुखरी नदीं में स्नान कर श्रीकालहस्तीश्वर नाम से स्थित मुझ महेश्वर की पूजा करनी चाहिये ॥ ३२—३३ ॥ जो कोई भी वहाँ साल भर प्रतिदिन करुणानिधि महादेव का दर्शन कर ही भोजन करता है, उसे मरते समय मोक्षदायक ज्ञान हो जाता है जिससे वह मनुष्य मुक्त हो जाता है । (यहाँ मोक्षशब्द कैवल्येतर चतुर्विध मोक्षविषयक समझा जा सकता है । ज्ञान का अर्थ भी तदनुकूल अभिमान समझ सकते हैं । अतः केवल काशी में ही मरना मोक्षप्रद है यह वचन भी संगत है । वहाँ कैवल्य मोक्ष विवक्षित हो सकता है । अथवा शिवपुराण की कोटिरुद्रसंहिता के (२२.२६) वचनानुसार काशीमरण से उत्तम सायुज्य मोक्ष तथा अन्यत्र सारूप्यादिमुक्तियाँ मिलती हैं यह व्यवस्था समझनी चाहिये ।) ॥ ३४—३५ ॥

जो कोई भी व्यक्ति व्याघ्रपुर में बारह महीने प्रतिदिन महादेव को दण्डवत् नमस्कार करता हुआ रहे, उसके लिये भी मोक्षप्राप्ति सुरक्षित है ॥ ३६$^1/_2$ ॥ वृद्धाचल में जो कोई भी दो साल तक प्रणाम करते हुए वृद्धाचलेश्वर की तीन परिक्रमायें करे उसके मोक्ष के विषय में भी कोई संदेह नहीं ॥ ३७—३८$^1/_2$ ॥ विशिष्ट स्थानों में नियमतः रहने मात्र से अपना संसरण समाप्त किया जा सकता है । अतः मुमुक्षु को चाहिये कि भक्तिपूर्वक किसी एक विशिष्टस्थान पर नियमपूर्वक रहे ॥ ३९—४०$^1/_2$ ॥

सूत जी बोले—शिव का यह उपदेश सुनकर ब्रह्मा आदि देवताओं, वेदव्यास तथा लक्ष्मी सहित श्रीहरि ने भक्तों के हितकारी भगवान् को प्रणाम किया ॥ ४२ ॥ तथा ब्रह्मा, व्यास व अन्य देवताओं को छोड़कर सब स्थानों में उत्तम दक्षिणकैलास को चले गये ॥ ४३ ॥ वह स्थान पाँच योजन चौड़ा व दस योजन लम्बा है । ब्रह्मा, सरस्वती, इन्द्र, नीला (नीलानामक नदी की अधिष्ठात्री देवता), यम (अथवा सर्प), हाथी, अन्य देवों, गन्धर्वों, राक्षसों व मुनियों द्वारा उस स्थान का आदर व वहाँ महादेव का पूजन किया गया है । वहाँ की शिवपूजा भोग व मोक्ष दोनों प्रदान करती है ॥ ४४—४५ ॥ लक्ष्मी सहित विष्णु उस स्थान को प्राप्त हुए ।

भारती समेत ब्रह्मा प्रसन्नतापूर्वक पापनिवारक वृद्धाचल पहुँचे ॥ ४६$^1/_2$ ॥ ज्ञानविज्ञान के सागर व्यासमुनि वाराणसी

---

१. ङ. भक्तहिते । २. 'वेणा इरावती नीला उत्तरात्पूर्ववाहिनी' इति हारीतादौ प्रसिद्धा नदी नीला, तदधिष्ठातृदेवतयेत्यर्थः । यद्वा सरस्वतीविशेषणमिदम् ।

प्राप्तवानाशु भारत्या प्रसन्नः पापनाशनम् ।

वेदव्यासो मुनिः श्रीमान्विश्वविज्ञानसागरः ॥ ४७ ॥

प्राप्तवानादरेणैव श्रीमद्वाराणसीं पुरीम् ।

तथा सर्वे सुरा विप्राः प्रसन्ना भुक्तिमुक्तिदम् ॥ ४८ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरं भक्त्या प्राप्तवन्तो मुनीश्वराः ।

तथाऽन्ये मुनयो व्याघ्रपुरं पूर्वतपोबलात् ॥ ४९ ॥

अवापुर्यत्र देवेशः प्रनृत्यत्यम्बिकापतिः ।

अहं व्यासवचः श्रुत्वा श्रद्धया परया सह ॥ ५० ॥

श्रीमद्दक्षिणकैलासेऽप्युषित्वा वत्सरं बुधाः । पुण्डरीकपुरे[1] तद्वच्छ्रीमद्वृद्धाचले तथा ॥ ५१ ॥

वाराणस्यामपि ज्ञानं लब्धवानतिशोभनम् । भवन्तोऽपि यथाश्रद्धं वर्तध्वं पण्डितोत्तमाः ॥ ५२ ॥

एषामन्यतमे स्थाने विशिष्टे मुक्तिसिद्धये । बहवो वर्तनादेषु विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ५३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे मुक्तिसाधनप्रकारो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

विश्वविज्ञानसागर इति विष्णोरवतारभेदस्य व्यासस्य विशेषणं तदीयादरविषयभूताया वाराणस्याः सर्वत उत्कर्षाभिप्रायेण ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

अत एव सूतः स्वयमपि दक्षिणकैलासव्याघ्रपुरवृद्धाचलेषु वत्सरं वत्सरमुषित्वा वाराणस्यामेव परमपुरुषार्थं प्राप्तवानस्मीत्याह—श्रीमद्दक्षिणकैलासेऽपीति ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्त्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे मुक्तिसाधनप्रकारो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

पुरी को गये । तथा अन्य सब देवता भोग-मोक्ष देने वाले व्याघ्रपुर को परम भक्तिपूर्वक गये । अन्य मुनि भी पूर्वकृत तपस्या के फलस्वरूप व्याघ्रपुर पहुँचे जहाँ अम्बिकापति नृत्य करते हुए विराजमान हैं ॥ ४७–४९½ ॥

व्यास जी का उपदेश सुनकर मैं परमश्रद्धा से एक-एक साल दक्षिणकैलास, पुण्डरीकपुर (चिदंबर), वृद्धाचल और वाराणसी में रहा व मैंने अतिश्रेष्ठ ज्ञान पाया ॥ ५०–५१½ ॥ हे उत्तम पण्डितो ! आप लोग भी अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार इनमें से किसी एक स्थान पर मोक्षलाभ के लिये रहिये । इन स्थानों में निवासमात्रसे अनेक भक्त भवबन्धन से मुक्त हुए हैं ॥ ५२–५३ ॥

---

१. भारतेऽपि (३.८३.८३) पुण्डरीकतीर्थस्योल्लेखः ।

अष्टमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः –

कालसंख्या कथं विद्वन्कथिता कालवेदिभिः । कः कालेनानवच्छिन्नो वद कारुण्यतोऽनघ ॥ १ ॥

सूत उवाच–

कालसंख्या मया वक्तुं न शक्या जन्मकोटिभिः । मुनीन्द्रैरपि देवैश्च शिवेनापि महात्मना ॥ २ ॥

तथाऽपि संग्रहेणाहं वक्ष्ये युष्माकमादरात् । काष्ठा[1] पञ्चदश प्रोक्ता निमेषाः पण्डितोत्तमाः ॥ ३ ॥

तासां त्रिंशत्कला तासां त्रिंशन्मौहूर्तिकी[2] गतिः । मुहूर्तानां द्विजास्त्रिंशद्दिवारात्रं तु मानवम् ॥ ४ ॥

उक्ततीर्थसेवया जनिततत्त्वज्ञानानां मुक्तानामपि कालपरिच्छेदं[3] संसारिभ्यः सकाशादविशेषप्रसङ्गाद्विशेषज्ञानाय परिच्छेदकं कालस्वरूपं तदनवच्छिन्नस्वरूपं च मुनयो जिज्ञासन्ते–**कालसंख्या कथमिति** ॥ १ ॥

सर्गप्रलयप्रवाहस्याऽऽनन्त्यादियद्दिन इयन्मास इयद्वर्ष [4]एव वा काल इति हि परिच्छेदरूपा कालसंख्या भवद्भिर्जिज्ञासिता, सा नास्त्येव । असती च सा मया मुनीन्द्रैः शिवेन वा कथं वक्तुं शक्या ? नहि नरविषाणस्य परिमाणं केनचिद्वक्तुं शक्यमित्याह–**कालसंख्या मयेति** । युगमन्वन्तरकल्पमहाकल्पानां वर्षादिसंख्या चेत्पृच्छ्यते सा कथ्यत इत्याह–**तथाऽपीति** । अपरिज्ञातपरिमाणं कल्पादिकं ज्ञापयितुं परिज्ञातपरिमाणं [5]निमेषादिकमारभते–**काष्ठा पञ्चदशेति** । **दिवारात्रं तु मानवमित्येवमन्तं**[6] सावनमानाभिप्रायम् । सौरचान्द्रनाक्षत्रमानेषु मनुष्याणां रात्रिंदिवविभागव्यवहाराभावात् । स हि विभागव्यवहारः सूर्यसावने मानवानाम् । चान्द्रमाने पितॄणाम् । सौरमाने देवानाम् । तथाहि सूर्यदर्शनादर्शनोपलक्षितयोर्हि कालभागयोर्दिवारात्रिशब्दौ व्युत्पन्नौ । तौ च सूर्योदयमारभ्य षष्टिघटिकात्मककालमध्ये मनुष्याणां भवतः । चन्द्रवृद्धिक्षयावच्छिन्नस्तु कालश्चान्द्रो मासः । तत्र पितॄणां कृष्णाष्टम्यां [7]सूर्योदयः । दर्शोऽहर्मध्यम् । शुक्लाष्टम्यामस्तमयः । पौर्णमास्यां रात्रिमध्यमिति च चान्द्रोऽहोरात्रः ॥ २-४ ॥

कालका माप और उससे असीमित स्वरूप का कथन नामक आठवाँ अध्याय

नैमिषारण्यवासियों ने प्रश्न किया– हे विद्वान् ! काल के जानकारों ने काल की संख्या किस प्रकार बतायी है ? हे निष्पाप रोमहर्षण जी ! कृपया यह भी बताइये कि कालसीमा से रहित कौन है ? ॥ १ ॥

सूतजी ने उत्तर दिया–'इतने दिन या इतने साल का काल है' इस प्रकार काल की पूर्णायुरूप कोई संख्या नहीं है अतः मैं करोड़ों जन्मों में उसे नहीं बता सकता । बड़े-बड़े मुनि, देवता या शिवजी भी उसे नहीं बता सकते । जो है ही नहीं ऐसे नृशृंगतुल्य को भला कौन बता सकेगा ! ॥ २ ॥ हाँ, यदि आपका अभिप्राय युग, मन्वन्तर आदि का परिमाण जानने से है तो मैं संक्षेप में बताता हूँ । उत्तम पण्डितों ने बताया है कि पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा होती है । (पलक झपकने का समय एक निमेष कहा जाता है) । तीस काष्ठाओं की एक कला और तीस कलाओं का एक मुहूर्त होता है । हे द्विजो ! तीस मुहूर्तों का एक मानव अहोरात्र होता है । (फलतः अड़तालीस मिनट का एक मुहूर्त हुआ । इसी तरह कला आदि समझ सकते हैं) ॥ ३–४॥

---

१. अष्टादशनिमेषास्तु काष्ठा इति त्वमरे । २. अमरसिंहस्तु 'तास्तु त्रिंशत्क्षणास्ते तु मुहूर्तो द्वादशा' इत्याह । ३. मा स्वीकार्षीत्– इति शेषः । तत्र हेतुमाह संसारीत्यादिना । ४. ग. एव का° । घ. एतावान्काल । ङ. एव हि का° । ५. क. ख. घ. निमेषमारभते । ६. क. ख. ग. घ. मतं सा° । ७. क. ख. सूर्यस्योदयः ।

अहोरात्राणि विप्रेन्द्राः पक्षः पञ्चदशः स्मृतः । पक्षद्वयेन मासः स्यान्मासैः षड्भिर्द्विजोत्तमाः ॥ ५ ॥

अयनं द्वेऽयने वर्षं क्रमात्ते दक्षिणोत्तरे । रात्रिर्दिवौकसां पूर्वं दिवा चैवोत्तरायणम् ॥ ६ ॥

मनुष्याणां यथा तद्वद्देवानामपि सूरिभिः । पक्षमासायनाब्दानां विभागः कथितो द्विजाः ॥ ७ ॥

अहोरात्राणि विप्रेन्द्रा इति तिथ्यभिप्रायम् । तेषु हि शुक्लप्रतिपदादिपौर्णमास्यन्तेषु मानवानां शुक्लपक्षव्यवहारः शेषे कृष्णपक्षव्यवहार इति । **पक्षद्वयेन मासः स्यात्** इति तु चान्द्रमासाभिप्रायम् । स हि यथोक्तपक्षद्वयात्मकः । सावनस्तु मासो यदा कदाचिदारभ्य त्रिंशत्सूर्योदयात्मकः । सौरस्तु सूर्यस्यैकराशिभोगमात्रात्मक इति न तौ पक्षद्वयात्मकत्वेन व्यवह्रियेते । **मासैः षड्भिरि**त्यारभ्य सौरमानेन ॥ ५ ॥

यद्यपि चान्द्रादीनामपि दक्षिणोत्तरायणे विद्येते तथाऽपि न तयोर्मासषट्कालकत्वम् । नापि तद्द्वयस्य वर्षात्मकत्वम् । **क्रमात्ते** इति । कर्कटायनमारभ्य मकरायणपर्यन्तं दक्षिणायनम् । तस्मिन्खलु काले क्रान्तमण्डलस्योत्तरमवसानमारभ्य दिने दिने सूर्यो दक्षिणत एति मकरायणपर्यन्तम् । तदारभ्य दिने दिने क्रान्ते दक्षिणावसानमारभ्योत्तरतं एति कर्कटायनपर्यन्तमिति तदुत्तरायणम् । **पूर्वं** दक्षिणायनं देवानां रात्रिः । **उत्तरायणं** तेषामहरित्यर्थः । ननु मेषादिराशिषट्कं निरक्षदेशादुत्तरतश्चरति तत्रस्थं सूर्यं सदा देवाः पश्यन्ति । अतस्तेषां तदहः । तुलादिराशिषट्कं निरक्षदेशाद्दक्षिणतश्चरति तत्रस्थं सूर्यमसुरा नित्यं पश्यन्ति देवा न कदाचिदतो देवानां सा रात्रिः । उक्तं हि सूर्यसिद्धान्ते–'सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात्' इति । अत उत्तरायणानुप्रविष्टे मकरकुम्भमीनमासत्रये देवानां सूर्यदर्शनाभावात्कथं सकलमुत्तरायणं तेषामहरित्युच्यते । तथा कर्कटकसिंहकन्या-मासेषूक्तदक्षिणायनानुप्रविष्टेषु देवाः सदा सूर्यं पश्यन्तीति तेषां कथं रात्रिरुच्यत इति ? तत्र ब्रूमः । उक्तानुपपत्तिबलादेवात्र श्लोक उत्तरायणशब्देन मकरादिमासषट्कं न गृह्यते । किंतूत्तरगोलभूतं मेषादिमासषट्कम् । तद्धि निरक्षदेशादुत्तरतः स्थितमिति तत्र वर्तमानः सूर्यो गतेन प्रत्यागतेन च सदा निरक्षदेशादुत्तरत एतीति तदुत्तरायणमत्र विवक्षितम् । तत्र च सूर्यं सदा देवाः पश्यन्तीति मेषादिमासषट्कं देवानामहरिति । एतेन तुलादिमासषट्कं देवानां रात्रिरिति व्याख्येयम् । यद्वाऽत्र दिवाशब्देन सूर्यस्योन्नतकालो गृह्यते । रात्रिशब्देन च तस्य नतकालः । मकरादिमासषट्कं हि देवान्प्रति सूर्यस्योन्नतकालत्वाद्दिवेत्युक्तम् । कर्कटादिमासषट्कं तु तान्प्रति नतकालत्वाद्रात्रिरित्युक्तमिति । तदेवं दक्षिणायनोत्तरायणशब्दौ वा सूर्यस्य निरक्षदेशाद्दक्षिणोत्तरगोलगमनाभिप्रायौ, रात्रिदिवाशब्दौ वा देवान्प्रति सूर्यस्य नतोन्नतकालाभिप्रायाविति सर्वं समंजसम् ॥ ६ ॥

मनुष्याणां पञ्चदश तिथयः पक्षः । पक्षद्वयं चान्द्रो मासः । सूर्यस्यैकराशिभोगस्तु सौरो मासः । राशिषट्कभोगोऽय-नम् । अयनद्वयं संवत्सर इति । यथा मानुषः संवत्सर एवं देवानां स्वमानेनाहोरात्रस्तदनुसारेणैव पक्षमासायनाब्दा अपि द्रष्टव्या इत्याह–**मनुष्याणामिति** ॥ ७ ॥

पन्द्रह अहोरात्र को एक पक्ष कहते हैं । दो पक्षों से एक महीना बनता है । छह महीनों का एक अयन होता है । दो अयनों का एक वर्ष होता है ।

दो अयनों को दक्षिणायन व उत्तरायण कहते हैं । दक्षिणायन देवताओं की रात है व उत्तरायण देवताओं का दिन है ॥ ५–६ ॥ इस दिन-रात के मान के अनुसार मनुष्यों के पक्षादि की तरह देवताओं के भी पक्ष, मास, अयन और वर्ष समझने चाहिये । (अर्थात् मनुष्यों के पन्द्रह साल देवताओं का एक पक्ष है, तीस साल एक मास है, एक सौ अस्सी वर्षों का एक अयन है और मानवीय तीन सौ साठ वर्षों का एक देव वर्ष है) ॥ ७ ॥

दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैर्वर्षैः प्रोक्तं चतुर्युगम् । कृतं तत्र युगं विप्राः सहस्राणां चतुष्टयम् ॥ ८ ॥

तस्य संध्या च संध्यांशः प्रोक्तश्चाष्टशताऽनघाः । त्रिभिर्वर्षसहस्रैस्तु त्रेता दिव्यैः प्रकीर्तिता ॥ ९ ॥

कृतार्धं द्वापरः प्रोक्तस्तदर्धं कलिरुच्यते । क्रमात्संध्या च संध्यांशस्तुरीयांशविवर्जितः ॥ १० ॥

त्रेताद्वापरतिष्याणां युगानां मुनिपुङ्गवाः । एवं द्वादशसाहस्रं प्रोक्तं विप्राश्चतुर्युगम् ॥ ११ ॥

युगानामेकसप्तत्या मन्वन्तरमिहोच्यते । मनवो ब्रह्मणः प्रोक्ता दिवसे च चतुर्दश ॥ १२ ॥

ब्राह्ममेकमहर्विप्राः कल्प इत्युच्यते बुधैः । तावती रात्रिरप्युक्ता ब्रह्मणः पण्डितोत्तमाः ॥ १३ ॥

त्रिशतैः षष्टिभिः कल्पैर्ब्रह्मणो वर्षमीरितम् । वर्षाणां यच्छतं तस्य द्विपरार्धमिहोच्यते ॥ १४ ॥

दिव्यैर्द्वादशेत्यादि । दिव्याब्दानां सहस्रद्वादशकेन कृतत्रेताद्वापरकलिनामकं युगचतुष्टयं भवति । तत्र द्वादशसहस्रमध्ये चतुःसहस्राण्यष्टौ शतानि चाब्दाः कृतयुगप्रमाणम् । आदाववसाने च शतद्वयं[1] शतद्वयं च संध्या । तत्संनिकृष्टं शतद्वयं[2] शतद्वयं च संध्यांशः । तन्मध्यवर्ति सहस्रचतुष्टयं युगशरीरम् । **त्रिभिरित्यादि** । कृतप्रमाणं पादोनं त्रेता । कृतार्धं द्वापरः । कृतचतुर्थांशः कलिः । कृतसंध्यांशौ पादोनौ त्रेतायाः कृतवदमितो द्रष्टव्यौ । [3]अर्धीकृतौ द्वापरस्य; चतुर्थांशः कलेरिति । उक्तं हि सूर्यसिद्धान्ते– 'दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैर्भिन्नैरेकं चतुर्युगम् । युगस्य दशमो भागश्चतुस्त्रिद्व्येकसंगुणः ॥ क्रमात्कृतयुगादीनां षष्ठोंऽशः संध्ययोः स्वकः' । इति ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ **युगानामिति** । उक्तचतुर्युगानाम् ॥ १२ ॥

ब्राह्ममेकमहरिति । कल्पादावेकः संधिः । मन्वन्तरावसाने चैकैक इति पञ्चदश संधयः कृतयुगप्रमाणाः, कृतचतुर्थांशश्च कलिरिति चतुर्गुणितैः पञ्चदशभिः षष्टिः कलिप्रमाणानि भवन्ति । दशभिः कलिप्रमाणैरेकं चतुर्युगमिति षष्ट्या षट्चतुर्युगानि भवन्ति । चतुर्दशगुणितया चैकसप्तत्या षडूनं सहस्रं भवति । मिलितं युगसहस्रं ब्राह्ममेकमहः स कल्प उच्यत इत्यर्थः । तदवसाने च भूर्भुवः स्वरिति लोकत्रयं लीयते[4] । तद्रात्र्यवसाने च लोकत्रयं सृज्यते । सा च सृष्टिरनन्तराध्याये वक्ष्यते ॥ १३ ॥

त्रिशतैरिति । तावत्तावद्रात्रियुक्तैरित्यर्थः ॥ १४ ॥

देवताओं के बारह हज़ार वर्ष एक चतुर्युगी का मान है । चतुर्युगी में कृतयुग चार हज़ार दिव्य वर्षों का होता है, उसकी दोनों संध्यायें दो-दो सौ वर्ष की व संध्यांश दो-दो सौ वर्ष के होते हैं । (आरम्भ व समाप्ति का काल संध्या और संध्या के समीप का काल संध्यांश कहा जाता है । इस प्रकार संध्या व संध्यांश मिलाकर कृतयुग का मान हुआ दिव्य चार हज़ार आठ सौ वर्ष) ॥ ८ ½ ॥ त्रेता युग दिव्य तीन हज़ार वर्षों का और उसकी संध्यायें तथा संध्यांश डेढ़-डेढ़ सौ वर्ष के होते हैं । (एवं च समस्त त्रेता का मान तीन हज़ार छह सौ दिव्य वर्षों का है ।) ॥ ९ ॥ द्वापर युग कृत युग का आधा होता है । (अतः युगशरीर दो हज़ार दिव्य वर्षों का व संध्या आदि सौ-सौ वर्षों में सीमित होने से समस्त का मान हुआ दो हज़ार चार सौ दिव्य वर्ष) । उससे भी आधा कलियुग है । (इसके संध्यादि पचास-पचास वर्षों के होने से पूरे कलि का मान है दिव्य एक हज़ार दो सौ वर्ष अर्थात् चार लाख बत्तीस हज़ार मानवीय वर्ष) ॥ १० ॥ इस प्रकार बारह हज़ार दिव्य वर्षों की चतुर्युगी बतायी गयी है ॥ ११ ॥

इकहत्तर चतुर्युगों को एक मन्वन्तर कहते हैं । ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं (अर्थात् चौदह मन्वन्तर व्यतीत होते हैं) ॥ १२ ॥ ब्रह्माजी का एक दिन विद्वानों द्वारा कल्प नामसे पुकारा जाता है । जितने समय का ब्राह्म दिन है उतने ही समय की ब्राह्म रात्रि होती है ॥ १३ ॥ तीन सौ साठ ब्राह्म अहोरात्रों का–सात सौ बीस कल्पों का–एक ब्राह्म वर्ष है । ब्रह्मा के सौ वर्षों को द्विपरार्ध कहते हैं ॥ १४ ॥

---

१. ग. °यं सं° । २. ग. °यं च । ३. ख. अर्धोंती । ४. °ते । रात्र्य° ।

ब्रह्मणोऽन्ते मुनिश्रेष्ठा मायायां लीयते जगत् । तथा विष्णुश्च रुद्रश्च प्रकृतौ विलयं गतौ ॥ १५ ॥

[1]ब्रह्मणश्च तथा विष्णोस्तथा रुद्रस्य सुव्रताः । मूर्तयो विविधाः स्वेषु कारणेषु लयं ययुः ॥ १६ ॥

माया च प्रलये काले परस्मिन्परमेश्वरे । सत्यबोधसुखानन्तब्रह्मरुद्रादिसंज्ञिते ॥ १७ ॥

अभेदेन स्थितिं याति हेतुस्तत्र सुदुर्गमः[2] । अन्यथाभानहेतुत्वादियं मायेति कीर्तिता ॥ १८ ॥

आत्मतत्त्वतिरस्कारात्तम इत्युच्यते बुधैः । विद्यानाश्यत्वतोऽविद्या मोहस्तत्कारणत्वतः ॥ १९ ॥

सद्वैलक्षण्यदृष्ट्येयमसदित्युदिता बुधैः । कार्यनिष्पत्तिहेतुत्वात्कारणं प्रोच्यते बुधैः[3] ॥ २० ॥

ब्रह्मणोऽन्त इति । स्थूलभूतकार्यं जगत्स्थूलभूतेषु तानि सूक्ष्मभूतेषु । 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते ॥ वायुः प्रलीयते व्योम्नि तदव्यक्ते प्रलीयते' इत्युक्तदिशेत्यर्थः । तथा विष्णुश्चेति । ब्रह्मविष्णुरुद्राणामवतारमूर्तयः स्वकारणेषु मायाया रजःसत्त्वतमोगुणेषु प्रविशन्ति । स्वयं तु परमेश्वरात्मनैव वर्तन्ते ॥ १५-१६ ॥

प्रलये काल इति प्राकृते प्रतिसंचरे । यस्य ह्यनन्तरभावी सर्गो दशमैकादशाध्याययोर्वक्ष्यते । सत्यबोधेति । सत्यज्ञानानन्दैकरसत्वं शिवस्योक्तं द्वितीयाध्याये 'मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तमि'त्यत्र ॥ १७ ॥

अभेदेन स्थितिं यातीति । यथा तस्या भेदेन नावभासो यथा च नाऽऽत्यन्तिको नाशस्तथोक्तं पञ्चमाध्याये 'मातृका च त्रिधे'त्यत्र । ननु कार्यप्रपञ्चवत्कारणभूता माया‌ऽपि कस्मान्न विलाप्यते किमिति तयाऽवस्थातव्यम् । उत्तरसर्गार्थमिति चेत् । अथ तस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य किमुत्तरैरपि सर्गैस्तत्राऽऽह–हेतुस्तत्र सुदुर्गम इति । तदुक्तमाचार्यैः–'भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थ[4]मपि चापरे । देवस्यैष प्रभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' ॥ इति । उक्तं हि व्यासेन 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि'ति । विष्णुपुराणेऽपि–'क्रीडतो बालकस्येव चेष्टास्तस्य निशामय' । इति । ननु कार्यप्रपञ्चस्य कारणे लयोऽस्तु कारणं तु मायैवेति कुतः ? असदव्यक्तादिशब्दैः श्रुतिस्मृतिपुराणेषु कारणस्यानेकधाविप्रतिपत्तिदर्शनादित्याशङ्क्य प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन मायादिशब्दा एकमेवार्थं प्रतिपादयन्तीत्यभिप्रेत्य प्रवृत्तिनिमित्तभेदमाह–अन्यथाभानेत्यादिना ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

ब्रह्मा की आयु पूरी होने पर जगत् माया में लीन हो जाता है । विष्णु व रुद्र की सत्त्वादि उपाधियाँ भी माया में लीन हो जाती हैं ॥ १५ ॥ ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र के शरीर अपने सत्त्वादि कारणों द्वारा माया में लीन हो जाते हैं ॥ १६ ॥ प्रलय काल में माया परमेश्वर में लीन हो जाती है । उस परमेश्वर को ही सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त, ब्रह्म, रुद्र आदि नामों से कहा जाता है ॥ १७ ॥ तब माया परमेश्वर से भिन्न होकर प्रतीत नहीं होती । माया क्यों है ?–इस प्रकार माया की स्थिति में कारण समझना असंभव है । (असंभव इसलिये कि उसकी स्थिति में कोई हेतु है ही नहीं । वस्तुतः माया भी नहीं है जो उसकी स्थिति तथा स्थिति का कारण हो) ।

जो वस्तु जैसी नहीं उसे वैसा प्रतीत कराने वाली होने से इसे माया कहते हैं ॥ १८ ॥ आत्मा की वास्तविकता को छिपा देती है अतः इसे तम कहते हैं । विद्या से इसका नाश हो जाता है इसलिये यही अविद्या कही जाती है । मोह–अविवेक–का कारण होने से इसे भी मोह कह देते हैं ॥ १९ ॥ क्योंकि यह सत् नहीं है, वास्तविक नहीं है, इसलिये जानकार इसे असत् कहते हैं । कार्यप्रपंच की उत्पत्ति में यह हेतु है अतः यह कारण कही जाती है ॥ २० ॥

---

१. विष्ण्वादेर्विलयं स्वयं व्याचष्टे–ब्रह्मणइत्यादिना । २. मायास्थितौ हेतोरसत्त्वादेव । ३. तदुक्तं प्रत्यक्स्वरूपेण भगवता ' इत्येषा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुरुन्नीततो मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्या सहायोदिता । शक्तिर्विश्वमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधोदधे-र्निर्धूताखिलभेदगन्धममलं वन्दे भवानीपतिम् ॥' इति । ४. ख. घ. °र्थमिति चा° ।

कार्यवद् व्यक्तताभावादव्यक्तमिति गीयते । एषा माहेश्वरी शक्तिर्न स्वतन्त्रा परात्मवत् ॥ २१ ॥

अनया[1] देवदेवस्य शिवस्य परमात्मनः । उदितः परमः कालस्तद्वशाः सर्वजन्तवः ॥ २२॥

सोऽपि साक्षान्महादेवे कल्पितो मायया सदा[2] । सर्वे काले विलीयन्ते न कालो लीयते सदा ॥ २३ ॥

कालो माया च तत्कार्यं शिवेनैवाऽऽवृतं बुधाः । शिवः कालानवच्छिन्नः कालतत्त्वं यथा तथा ॥ २४ ॥

परात्मवदिति । यथा परमात्मा स्वतन्त्रो नैवमेषा स्वतन्त्रा । अत एव हि शक्तिरित्युक्तम् । **परमः काल** इति । द्विविधो हि कालः परमोऽपरमश्चेति । शिवमायासंबन्धरूपः परम इति । वक्ष्यति ह्युत्तरखण्डे–'कालो मायात्मसंबन्धः सर्वसाधारणात्मकः' इति । स एव कल्पमन्वन्तरसंवत्सरमासाद्यात्मना पदार्थान्परिच्छिन्दन्नपरः काल इत्युच्यते । तदुक्तम्–'भावि भवद्भूतमयं कलयति जगदेष कालोऽतः' इति । तदाह–**तद्वशाः सर्वेति** । मायावदनादिरप्यसौ तदधीननिरूपणतया तयोदित इत्युच्यते ॥ २१-२२ ॥

अत एव मायावत्तत्संबन्धरूपः कालोऽपि कल्पित इत्याह–**सोऽपीति** । यथा माया मायादृष्ट्यैव कल्पिता तथा तत्संबन्धोऽपि । यदाहुराचार्याः–'[3]अस्याविद्येत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते' ॥ इति । ननु मायाशिवसंबन्धात्मनः कालस्य मायात उदितत्वे जगदिव सोऽपि विनाशीति परिमितत्वात्कथं तत्परिमाणं शिवेनापि ज्ञातुमशक्यमित्युक्तमित्यत आह–**सर्वे काल** इति । येन कालः परिच्छेत्तव्यः स सर्वः कालेनैव परिच्छिद्यत इति कालस्य परिच्छेदकाभावादपरिमिति इत्युक्तमित्यर्थः । उदित इति न जन्माभिप्रायम् । किंतु मायावत्सदा सद्भावादिति । प्रागसतः सत्तासंबन्धवाचको ह्युदयशब्दः प्रागभावांशं परित्यज्य सत्तासंबन्धांशमात्रं लक्षयति । यथा 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्ध' इति जैमिनिसूत्र उत्पत्तिशब्दः । तथाहि तत्र व्याख्यातं शाबरभाष्य 'औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूम' इति ॥ २३ ॥

कालस्य कदाचिदपि विलयाभावात्कथं कल्पितत्वमुक्तम् ज्ञानविलाप्यस्यैव कल्पितत्वनियमादित्यत आह–**कालो मायेति** । मायाकार्यं च माया च तत्संबन्धरूपः कालश्च त्रितयमपि शिवतत्त्वज्ञानेन विलीयत एव । तद्व्यतिरिक्तोपायैर्न विलीयत इत्यभिप्रायेण तु 'न कालो लीयते सदे'त्युक्तमित्यर्थः । कालस्य सर्वपरिच्छेदकत्वे सर्वान्तर्भावाच्छिवस्यापि तेन परिच्छेदो न शङ्कनीय इत्याह–**शिवः कालेति** । यथा कालः कालेन न परिच्छिद्यते तथा शिवोऽपीति ॥ २४ ॥

कार्य की तरह यह व्यक्त नहीं है–कार्येतररूप से स्फुट प्रतीत नहीं होती, जिससे यही अव्यक्त नाम से जानी जाती है । है यह महेश्वर की शक्ति–उनके अधीन । परमात्मा की तरह यह कोई स्वतन्त्र–स्वकीय सत्ता वाला–तत्त्व नहीं है ॥ २१ ॥ देवाधिदेव परमात्मा शिव का इस माया से सम्बन्ध ही परम काल कहा जाता है । सब जन्तु उस काल के परवश रहते हैं ॥२२ ॥ वह सम्बन्ध भी स्वयं महादेव पर मायाप्रयुक्त अनादिकल्पनासिद्ध ही है । सब पदार्थ काल में लीन होते हैं, काल कभी लीन नहीं होता ॥ २३ ॥ काल, माया और उसका कार्य शिवतत्त्वज्ञान द्वारा ही ढाँका अर्थात् बाधित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २३ १/२ ॥

जैसे काल स्वयं काल से सीमित नहीं, अन्यथा परिच्छेदक और परिच्छेद्य को एक मानना होगा जो सर्वसंमत कर्तृकर्मविरोध की असंभवता से अमान्य है, वैसे शिव भी काल से सीमित नहीं । (यहाँ काल से सीमित न होने मात्र में दृष्टान्त है । दोनों के काल से अपरिच्छिन्न होने में अन्तर है । काल तो उक्त कारण से कालापरिच्छिन्न है पर शिव इसलिये काल से अपरिच्छिन्न हैं कि न्यूनसत्ताककाल में यह सामर्थ्य नहीं कि उन्हें सीमित करे । इस बात को उत्तर श्लोक सूचित करता है–) ॥ २४ ॥

---

१. सम्बन्ध इति शेषः । सोऽपि मायैव । मायेतरसम्बन्धाभ्युपगमेऽनवस्थानात् । २. ततश्च मायायाः प्रयोजकत्वमेव न जनकत्वमित्यर्थः । ३. ग. यस्या° ।

तथाऽपि कालोऽसत्यत्वान्मायया सह लीयते । शिवो न विलयं याति द्विजाः सत्यस्वभावतः ॥ २५ ॥

उत्पन्नानां प्रनष्टानामुत्पाद्यानां तथैव च । शिवः कालानवच्छिन्नः कारणं त्विति कीर्तितः ॥ २६ ॥

प्रसादादस्य देवस्य ब्रह्मविष्ण्वादिकं पदम् । तदधीनं जगत्सर्वमित्येषा शाश्वती श्रुतिः ॥ २७ ॥

असंख्या विलयं याता ब्रह्माणः पण्डितोत्तमाः । असंख्या विष्णवो रुद्रा असंख्या वासवादयः ॥ २८ ॥

एक एव शिवः साक्षात्सृष्टिस्थित्यन्तसिद्धये[1] । ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिः कल्पनाभिर्विजृम्भितः ॥ २९ ॥

रजोगुणेन संछन्नो ब्रह्माऽधिष्ठाय तं गुणम् । स्रष्टा भवति सर्वस्य जगतः पण्डितोत्तमाः ॥ ३० ॥

गुणेन तमसा छन्नो विष्णुः सत्त्वगुणं बुधाः । अधिष्ठाय भवेत्सर्वजगतः पालकः प्रभुः ॥ ३१ ॥

तथा सत्त्वगुणच्छन्नो रुद्रो विप्रास्तमोगुणम् । अधिष्ठाय भवेद्धन्ता जगतः सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

कालशिवयोरुभयोरपि कालानवच्छेदसाम्येऽपि सत्यासत्यत्वकृतं वैलक्षण्यमित्याह–तथाऽपीति ॥ २५ ॥

कालसामान्येन शिवस्यानवच्छेद उक्तः । कालविशेषैस्तु सुतरामनवच्छेद इत्याह–उत्पन्नानामिति । शिवादेव हि जगज्जायते तस्मिन्नेव वर्तते तत्रैव लीयते । अतो जगतः प्रागपि सत्त्वान्न वर्तमानभविष्यत्कालाभ्यामवच्छिद्यते । स्थितिकालेऽपि सत्त्वान्न भूतभविष्यद्भ्यां, विनाशोत्तरमपि[2] सत्त्वान्न भूतवर्तमानाभ्यामिति ॥ २६ ॥

ननु जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तत्कथं शिव इत्युच्यत इत्यत आह–प्रसादादस्येति । शिवायत्तकालावच्छिन्ना ब्रह्मादयोऽपि न स्वतन्त्राः । कालस्य हि शिवायत्तता श्रूयते–'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि[3] निमेषा मुहूर्ता अर्धमासा मासा इति विधृतास्तिष्ठन्ती'ति । इतिशब्दोऽनुक्तसकलकालभागसंग्रहार्थः ॥ २७ ॥

ब्रह्मादीनां भूतकालपरिच्छेदमाह–असंख्या विलयं याता इति ॥ २८ ॥

तत्किं भूते काले ब्रह्मादयः स्वतन्त्राः ? न । तदाऽपि तद्रूपेण शिवस्यैव सर्गादिकर्तृत्वादित्याह–एक एवेति ॥ २९ ॥

कल्पनावैचित्र्ये गुणवैचित्र्यं कारणमाह–रजोगुणेनेति । ब्रह्मा हि रक्तवर्णत्वाद्बही रजोगुणेन संछन्नः प्रवृत्तिशीलत्वादन्तरपि तमेवाधितिष्ठति । इन्द्रनीलश्यामत्वाद्विष्णुरन्तस्तमसा संछन्नो जगतः पालनेन बहिः सत्त्वमधितिष्ठति । चन्द्रकोटिप्रकाशत्वाद्रुद्रोऽन्तः सत्त्वेन संछन्नः सकलसंसारसंहाराद्बहिस्तमोगुणेनेति । गुणवैचित्र्यं ब्रह्मादीनां गुणत्रयनिबन्धनम् रक्तकृष्णश्वेतरूपमिति सूतगीतासु द्वितीयाध्याये[4] वक्ष्यति । सत्यवादिन इति मुनीनां संबोधनम् ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

यों दोनों के कालापरिच्छिन्न होने पर भी काल असत्य–सत्य-भिन्न–होने के कारण माया के साथ बाधित हो जाता है जबकि सत्यस्वभाव होने के कारण शिव का कभी बाध या अन्य कोई विलय नहीं होता ॥ २५ ॥ जो कुछ उत्पन्न हो चुका है, नष्ट हो चुका है और उत्पन्न होगा, उस सबका कारण काल से असीमित शिव ही है ॥ २६ ॥ इन महादेव की कृपा से इनके अधीन रहते हुए ब्रह्मा, विष्णु आदि अपने पदों पर आसीन हो कार्य करते हैं । श्रुति का शाश्वत घोष है कि सारा जगत् शिव के अधीन है ॥ २७ ॥ असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र; तथा इन्द्रादि अब तक विलीन हो चुके हैं ॥ २८ ॥ एकमात्र स्वयं शिव ही सृष्टि स्थित तथा संहार करने के लिये ब्रह्मा विष्णु और शिव नामरूपों को माया से ग्रहण करता है और उन नामों से व उन रूपों वाला समझा जाता है ॥ २९ ॥

रजोगुणरूप उपाधि को ग्रहणकर तथा उसे ही–रजोगुण को ही–अधिष्ठितकर ब्रह्मारूपी महादेव सारे जगत् के उत्पादक बनते हैं ॥ ३० ॥ तमोगुणरूप उपाधि को ग्रहणकर और सत्त्वगुण को अधिष्ठित कर विष्णुरूप महादेव सारे जगत् के पालक–शासक हैं ॥ ३१ ॥ इसी तरह सत्त्वगुणरूप उपाधि को ग्रहणकर तथा तमोगुण को अधिष्ठित कर रुद्ररूपी महादेव जगत् के नाशक हैं ॥ ३२ ॥ (अभिभाव्य गुण को ग्रहण कर ही विपरीत गुण को अपने नियंत्रण में रख उसे अभिभूत किया जा सकता

१. घ. ङ. °न्तहेतवे । २. क. ख. घ. °रकालम° । ३. ङ. °र्गि घां वा नि° । ४. ४.२.१५–१७ तथा ४०–४१ ।

ब्रह्मणो मूर्तयोऽनन्ता जायन्ते गुणभेदतः । तथा विष्णोस्तथेशस्य गुणभेदेन सुव्रताः ॥ ३३ ॥

काश्चित्सत्त्वगुणोद्रेकाद्विशिष्टा मूर्तयो द्विजाः । काश्चित्तमोगुणोद्रेकान्निहन्त्र्यो वेदवित्तमाः ॥ ३४ ॥

परस्परोपजीव्याः स्युर्हिताय जगतां द्विजाः । सर्वमूर्तिष्वयं साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ॥ ३५ ॥

अप्रच्युतात्मभावेन सदा तिष्ठति सुव्रताः । तमहंप्रत्ययव्याजात्सर्वे जानन्ति जन्तवः ॥ ३६ ॥

तथाऽपि शिवरूपेण न विजानन्ति मायया । प्रसादाद्देवदेवस्य श्रुत्युत्पन्नात्मविद्यया ॥

बहूनां जन्मनामन्ते जानन्त्येव शिवं बुधाः ॥ ३७ ॥

ननु ब्रह्मादीनां भूतकालपरिच्छेदे कथमधुनातनो भविष्यन्वा सर्गादिरित्यत आह—**ब्रह्मणो मूर्तयोऽनन्ता** इति ॥ ३३ ॥

महासर्गाणामानन्त्यात्प्रतिमहासर्गं ब्रह्मादिसृष्टेस्तन्मूर्तीनामानन्त्यम् । न केवलं ब्रह्मादयोऽपरा अप्यनन्ताः शिवस्य मूर्तयो गुणभेदेन विचित्रा इत्याह—**काश्चित्सत्त्वगुणोद्रेकादि**ति ।'ये अन्नेषु विविध्यन्ति' 'ये पथां पथिरक्षयः' इत्यादयो हि निग्रहानुग्रहव्यापाराः शिवमूर्तयोऽनन्ताः श्रूयन्त इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

परस्परोपजीव्या इति । संहारैकगुणत्वे हि न सर्गोऽभिवर्धेत । सत्त्वैकगुणत्वे च दर्पेण विनश्येयुः । अतः परस्परोपजीवनं जगतो हितम् । इत्थं मूर्तीनां गुणवैचित्र्येण शान्तघोरमूढतेति । [1]तत्र सर्वत्रानुगतस्य शिवस्य स्वरूपादच्युतिमाह—**सर्वमूर्तिष्वि**ति ॥ ३५ ॥

सर्वत्रानुगमे किमित्यनुपलम्भस्तत्राऽऽह—**तमहंप्रत्यये**ति । अहंप्रत्ययो हि [2]सर्वप्रत्यक्त्वं विषयीकरोति । सर्वान्तरत्वं च शिवस्य स्वरूपम् । श्रूयते हि—'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति । अतोऽहमिति प्रत्यगात्मनो ज्ञानं तत्सर्वं शिवस्यैवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

तर्हि सर्वे प्राणिनः कृतकृत्या इति किं शास्त्रैराचार्यैर्वेति ? तत्राऽऽह—**तथाऽपी**ति । निरुपाधिकशिवस्वरूपज्ञानं हि पुरुषार्थः । न तत्तेषामस्ति मायया मोहितत्वादित्यर्थः । कथं तर्हि मायां जित्वा शिवमवाप्नुयुरिति ? तत्राऽऽह—**प्रसादा**दिति ॥ ३७ ॥

है अतः विष्णु व रुद्र अधिष्ठेय अभिभावक गुणों से विपरीत गुणों का ग्रहण करते हैं। इसलिये विष्णु को शयनशीलादि तथा रुद्र को कर्पूरगौर, समाधिनिष्ठ आदि वर्णित किया जाता है। ब्रह्मा को किसी का अभिभव करना नहीं अतः उनका ग्राह्य व अधिष्ठेय दोनों रजोगुण हैं। इसका विश्लेषण 'ब्रह्मतर्कस्तव' आदि में देखना चाहिये।) ॥ ३२॥ ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र की अनन्त मूर्तियाँ गुणों के भेद से हो जाती हैं। (अर्थात् शिव ने ही आज तक हुए सब ब्रह्माओं का रूप धरा है व आगे होने वाले ब्रह्माओं का रूप भी वे ही धरेंगे। ऐसे ही विष्णु आदि की अनन्त मूर्तियाँ जो इस अनादि-अनन्त संसार में हो चुकी हैं या होंगी उन सबको धरने वाले महादेव ही हैं।) ॥ ३३ ॥ (ब्रह्मादि से अतिरिक्त भी) कुछ विशिष्ट मूर्तियाँ सत्त्वगुणोद्रेक वाली तथा कुछ तमोगुणोद्रेक वाली विनाशक मूर्तियाँ शिव ग्रहण करते हैं ॥ ३४ ॥ ये सभी मूर्तियाँ एक दूसरे को सहारा देती हुई विश्व के हित में व्यापृत होती हैं। सभी मूर्तियों में सत्यादिस्वरूप शिव अपना स्वभाव छोड़े बिना विराजते हैं। 'मैं' इस ज्ञान के सहारे सभी प्राणी उस अंदर स्थित शिव को ही जानते हैं ॥ ३५—३६ ॥ यद्यपि हम सब जानते हैं उन्हें तथापि अज्ञानवश शिवरूप से—निरुपाधिकरूप से—उन्हें नहीं जानते, अतएव बद्ध हैं। महादेव की कृपा से श्रुतिद्वारा उत्पादित आत्मज्ञान से ही बहुत जन्मों के यत्न के बाद प्राणी शिव को, उनके वास्तविक रूप को, जानते हैं ॥ ३७ ॥

---

१. क. ख. ग. तच्च । २. घ. सर्वान्तरः सर्वं वि° ।

प्रसादहीनाः [1]पापिष्ठा मोहिता मायया जनाः । नैव जानन्ति देवेशं जन्मनाशादिपीडिताः ॥ ३८ ॥

यां यां मूर्तिं समाश्रित्य ब्रह्मभावनया जनाः । आराधयन्ति ते सर्वे क्रमाज्जानन्ति शंकरम् ॥ ३९ ॥

रुद्रस्य मूर्तिमाराध्य प्रसादात्क्रमवर्जिताः । अयत्नेनैव जानन्ति शिवं सर्वत्र संस्थितम् ॥ ४० ॥

रुद्रमूर्तिषु सर्वासु शिवोऽतीव प्रकाशते । अन्यासु तारतम्येन शिवः साक्षात्प्रकाशते ॥ ४१ ॥

आदर्शे निर्मले यद्वद्दृशं भाति मुखं द्विजाः । तथाऽतीव महादेवो भाति शुद्धासु मूर्तिषु ॥ ४२ ॥

कानिचिद्वेदवाक्यानि ब्राह्मणा वेदवित्तमाः । रुद्रमूर्तिं समाश्रित्य शिवे परमकारणे ॥ ४३ ॥

पर्यवस्यन्ति विप्रेन्द्रास्तथा वाक्यानि कानिचित् । विष्णुमूर्तिं समाश्रित्य ब्रह्ममूर्तिं च कानिचित् ॥ ४४ ॥

आग्नेयीं मूर्तिमाश्रित्य श्रुतिवाक्यानि कानिचित् । सूर्यमूर्तिं तथाऽन्येषां मूर्तिं चाऽऽश्रित्य कानिचित् ॥ ४५ ॥

केषांचिदात्मविद्याया अनुदयकारणमाह–प्रसादहीना इति ॥ ३८ ॥

तर्हि तत्तद्देवताभाजो न प्राप्नुयुरेव किं शिवम् ? नेत्याह–यां यामिति । शिवबुद्ध्या सर्वासु मूर्तिषु क्रियमाणाऽऽराधना शिवस्यैवेत्यर्थः । उक्तं हि गीतासु–'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति' इत्यादि ॥ ३९ ॥

तत्किं सर्वासु मूर्तिष्वेकमेव फलमिति ? नेत्याह–रुद्रस्येति ॥ ४० ॥

तत्र कारणमाह–रुद्रमूर्तिष्विति ॥ ४१ ॥

तारतम्येन प्रकाशे कारणमाह–आदर्श इति ॥ ४२ ॥

नानादेवताप्रतिपादकानां तत्तन्मूर्तिद्वारा परशिवे पर्यवसानमाह–कानिचिद्वेदवाक्यानीति । श्रूयते हि–'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

जो सतत पापनिरत व अविवेक के कारण मोही लोग हैं, उनपर शिवकृपा न होने से वे देवेश्वर को जानते नहीं और जन्म-मरण सें पुनः पुनः पीडित होते रहते हैं ॥ ३८ ॥ जिस जिस मूर्ति की लोग 'यह परमेश्वर है' ऐसा समझकर पूजा करते हैं वे सभी लोग वस्तुतः उस मूर्ति द्वारा समझ शिव को ही परमेश्वर रहे हैं (परं साक्षात् उन्हें न समझ मूर्ति द्वारा समझने की भूल से वे मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाते ।) ॥ ३९ ॥ रुद्र मूर्ति की आराधना से शीघ्र ही शिवकृपा पाकर अनायास ही सर्वव्यापी शिव को जान लेते हैं । क्योंकि रुद्रमूर्ति ईषद्विकृत ही है अतः वह शिवस्वरूप के अत्यंत निकट है जिससे उस रूप से शिव को समझना साक्षात् शिव को समझना कह दिया जाता है ॥ ४० ॥ सभी रुद्रमूर्तियों में शिव स्फुटतर भासित होते हैं । अन्य मूर्तियों में भी होते प्रकाशित स्वयं शिव ही हैं किन्तु मूर्तिनिमित्तक व्यवधान न्यूनाधिक रहता है ॥ ४१ ॥ जैसे साफ काँच में मुँह स्पष्ट प्रतीत होता है, ऐसे शुद्ध मूर्तियों में महादेव भी स्पष्ट प्रकाशित होते हैं ॥ ४२ ॥

हे वेदज्ञो ! कुछ श्रुतिवचन रुद्रमूर्ति के सहारे परम कारण शिव का प्रतिपादन करते हैं, कुछ विष्णुमूर्ति के सहारे, कुछ ब्रह्ममूर्ति के सहारे, कुछ अग्निमूर्ति के, कुछ सूर्य मूर्ति के व कुछ वाक्य अन्य मूर्तियों का आश्रयण ले शिव का बोध कराते हैं ॥ ४३–४५ ॥

---

१. शिवे वैषम्यादिं वारयितुं प्रसादहीनत्वे हेतुमाह–पापिष्ठाइति । तत्र हेतु मोहिताइति । ममता तयता चेह मोहस्तत्प्रयुक्तत्वात्पापस्य । तत्र कारणं माया–स्वरूपापरिज्ञानं ततोऽविवेकश्च । अन्येऽपि मायाधीना एव प्रसादाज्जानन्ति, निर्मायाणां ज्ञानप्रयोजनाभावात्, ततश्च को विशेषोऽनयोरित्यत आह–जनाइति । जनुषि बद्धादरा इत्यर्थः । ये तु तत्र विरक्तास्तएव प्रसादलब्धारइति भावः ।

पुराणैर्दशभिर्विप्राः प्रोक्तः शंभुस्तथैव च । चतुर्भिर्भगवान्विष्णुर्द्वाभ्यां ब्रह्मा प्रकीर्तितः ॥ ४६ ॥

अग्निरेकेन विप्रेन्द्रास्तथैकेन दिवाकरः । एवं मूर्त्यभिधानेन द्वारेणैव मुनीश्वराः ॥ ४७ ॥

प्रतिपाद्यो महादेवः स्थितः सर्वासु मूर्तिषु । स एव मोचकः साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ॥ ४८ ॥

ब्रह्मविष्णुमहादेवैरुपास्यः सर्वदा द्विजाः । अतोऽन्यदार्तं विप्रेन्द्रा अविनाश्योऽयमेव हि ॥ ४९ ॥

अयमात्मविदामात्मा ह्ययमज्ञानिनामपि । अस्मादेव समुत्पन्नं स्थितमस्मिन्द्विजोत्तमाः ॥

अस्मिन्नष्टमिदं सर्वं जगन्मायामयं बुधाः ॥ ५० ॥

प्रतिकल्पं मुनिश्रेष्ठा ब्रह्मनारायणादयः ॥ ५१ ॥

अस्मादेव विजायन्ते विलीयन्ते यथा पुरा । अयमेको महादेवः साक्षी सर्वान्तरो हरः ॥ ५२ ॥

तथाऽपि शिवमूर्तिष्वेव भूयसां पुराणानामादर इत्याह—**पुराणैरिति** । यान्यपि दशभ्योऽवशिष्टानि पुराणानि तेषामपि तत्तन्मूर्तयो द्वारमात्रम् । पर्यवसानं तु परशिव एवेत्याह—**चतुर्भिरित्यादि** । सर्वेषां पुराणानां साक्षात्परम्परया वा परशिवे पर्यवसाने कारणमाह—**स एव मोचक इति** । मोचको मोक्षप्रदः स एव साक्षान्मोक्षप्रदः । अन्ये तद्द्वारा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

ननु शिवः सर्वात्मकः श्रूयते । 'सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति' इत्यारभ्य 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति श्रुतेः । अतो ब्रह्मादीनामपि तदात्मकत्वे किंनिबन्धनमिदमुपास्योपासकभावलक्षणवैलक्षण्यमित्यत आह—**ब्रह्मविष्ण्विति** । निरस्तसमस्तोपाधिकं सच्चिदानन्दैकरसं परशिवस्य स्वरूपं, तदेव तत्तदुच्चावचोपाधिविशिष्टं सद् ब्रह्मादय इत्युच्यते । तत्रोपाधीनामन्तवत्त्वेन तद्विशिष्टरूपाणामप्यन्तवत्त्वम् । शिवस्य तु निरूपाधिक[1]त्वेनानन्तवत्त्वमित्येतद्वैलक्षण्यमित्यर्थः । 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तम्' इति श्रुतेः ॥ ४९ ॥

ननु विशिष्टस्यान्तवत्त्वे तदन्तःपातित्वेन विशेषणस्यापि तथात्वात्कथं सर्वात्मतेति चेत् ? विशिष्टाकारस्य कल्पितत्त्वेऽपि स्वरूपाकारस्य चेतनाचेतनजगदधिष्ठानत्वेनाकल्पितत्वान्नैवमित्याह—**अयमात्मविदामित्यादि** ॥ ५० ॥

नन्वनादौ संसारे कदाचिदासीद् ब्रह्मादीनां लयो न वा ? आसीच्चेत् कथमिदानीं तदुपलम्भः । न चेद्, इतः परं भविष्यतीति कैव प्रत्याशेत्यत आह—**प्रतिकल्पमिति** ।

अस्य तु तथाविधत्वमित्याह—**अयमेक इति** । सर्वान्तरत्वेनाधिष्ठानत्वान्न तथात्वमित्यर्थः । 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' इति श्रुतेः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

पुराणों में भी दस पुराणों द्वारा शंभुमूर्ति बतायी गयी है, चार द्वारा विष्णुमूर्ति, दो द्वारा ब्रह्मा-मूर्ति तथा एक-एक द्वारा अग्नि व सूर्य मूर्तियाँ वर्णित हैं । इस प्रकार मूर्तियों के कथन द्वारा समझाये सत्यादिस्वरूप, संसारवारक, सब मूर्तियों में स्थित साक्षात् महादेव ही गये हैं ॥ ४६–४८ ॥ हे द्विजो ! ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र भी इन परमशिव की ही सर्वदा उपासना करते हैं । इन परमशिव से भिन्न सभी कुछ सान्त है ये अकेले ही विनाशरहित हैं ॥ ४९ ॥ ज्ञानी व अज्ञानी दोनों के आत्मा ये ही हैं । यह सारा जगत् इन परमशिव से ही उत्पन्न हुआ है इन्हीं में स्थित है और इनमें ही नष्ट होता है । शिवहेतुक होने से यह दृश्य नहीं होना चाहिये किन्तु है दृश्य अत एव मायामय है ॥ ५० ॥ हे श्रेष्ठ मुनियो ! हर कल्प में ब्रह्मा, नारायणादि इन्हीं से उत्पन्न होते हैं तथा पूर्वकल्प की तरह इन्हीं में विलीन हो जाते हैं । महादेव ही अकेले हैं, साक्षी हैं, सब के अन्दर हैं तथा अज्ञान का हरण करने वाले हैं ॥ ५१–५२ ॥

---

१. ख. °कत्वादन° ।

अम्बिकासहितो नित्यं नीलकण्ठस्त्रिलोचनः । चन्द्रार्धशेखरः श्रीमाञ्श्रीमद्व्याघ्रपुरे तथा ॥ ५३ ॥

वाराणस्यां तथा सोमनाथे वृद्धाचलाभिधे । वेदारण्ये च वल्मीके श्रीमत्केदारसंज्ञिते ॥ ५४ ॥

श्रीमद्दक्षिणकैलासे सर्वस्थानोत्तमोत्तमे । नित्यं संनिहितो भक्तैरखिलैरमरेश्वरैः ॥
उपास्यः सर्वदा विप्राः सर्वैर्नित्यत्वकाङ्क्षिभिः ॥ ५५ ॥

कोऽन्यः संसारमग्नानामुपास्यो मोचकः प्रभुः ॥ ५६ ॥

ऋते साक्षान्महादेवमित्येषा शाश्वती श्रुतिः । अतः सर्वप्रयत्नेन भवद्भिर्मुनिसत्तमैः ॥ ५७ ॥

कालपाशविनाशाय शंकरः शशिशेखरः । उपासनीयः श्रोतव्यो मन्तव्यश्च द्विजोत्तमाः ॥ ५८ ॥

इति सूतवचः श्रुत्वा नैमिषारण्यवासिनः । शिवः कालानवच्छिन्न इत्यजानन्त पण्डिताः ॥ ५९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे कालपरिमाणतदनवच्छिन्नस्वरूपकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ननूक्तनिरुपाधिकशिवस्वरूपं वाङ्मनसयोरगोचरतया श्रूयते–'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति । तत्कथमर्वाचीनैरुपासनीयमित्यत आह–अम्बिकासहित इति । स्वीकृतदिव्यावतारस्य तस्य स्थानविशेषेषु सुकरमुपासनमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

तस्यैवोपासनीयत्वे श्रुतिमर्थत उदाहरति–कोऽन्य इति । 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' इति श्रुतिः । अत्राप्येषा श्रुतिर्भविष्यति । उक्तोपदेशस्य फलमाह–अतः सर्वप्रयत्नेनेति । उपासनीय इति । उपनिषच्छब्दानां शक्तितात्पर्यावधारणन्यायानुसंधानं श्रवणम् । वस्तुतथात्वव्यवस्थापकन्यायानुसंधानं मननम् । श्रवणमननाभ्यामवधृतेऽर्थे विजातीयप्रत्ययाव्यवहितसजातीयप्रत्ययसंतानानुवृत्तिर्निदिध्यासनमुपासना । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति हि दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन श्रवणादीनि हि श्रूयन्ते ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

कः कालेनानवच्छिन्न इति यत्पृष्टं तस्योत्तरमुक्तमुपसंहरति–शिवः कालेति ॥ ५९ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे कालपरिमाणतदनवच्छिन्नस्वरूपकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

चन्द्रभूषण, त्रिनेत्र, नीलकण्ठ शिव भगवती अम्बिका समेत व्याघ्रपुर में, काशी में, सोमनाथ में, वृद्धाचल में, वेदारण्य में, वल्मीक में (–एतन्नामक स्थान में), केदारनाथ में, तथा सब स्थानों में उत्तम दक्षिण कैलास में सदा उपस्थित रहते हैं । नित्यत्व चाहने वाले सब भक्तों को इनके इन स्थानों पर शीघ्र फल पाने के लिये उपासना करनी चाहिये ॥ ५३–५५ ॥ सनातन श्रुति ने घोषित कर रखा है कि साक्षात् महादेव को छोड़कर कोई दूसरा संसारसागर में डूबते हम जीवों का मुक्तिहेतु अत एव उपास्य नहीं है । अतः आप श्रेष्ठ मुनियों द्वारा काल के पाश से छुटकारा पाने के लिये पूरे प्रयत्न से शशिशेखर शंकर की उपासना की जानी चाहिये, उनके विषय में श्रवण और मनन करना चाहिये ॥ ५६–५८ ॥

सूतजी के ये वचन सुन नैमिषारण्य-वासियों ने यह निश्चित समझ लिया कि शिव ही काल से असीमित हैं ॥ ५९ ॥

नवमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः —

भगवन्विष्णुना तोयात्कथं भूमिः समुद्धृता । तदस्माकं समासेन वद सर्वार्थवित्तम ॥ १ ॥

सूत उवाच—

आसीदेकार्णवं घोरमविभागं तमोमयम् । शान्तानलादिकं सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ २ ॥

तदैवैकाम्बुधौ नष्टे जगति स्थावरादिके । विष्णुः साक्षात्समुद्भूतस्तदा तस्मिन्महोदधौ ॥ ३ ॥

स पुनर्वेदविच्छ्रेष्ठाः सहस्राक्षः सहस्रपात् । सहस्रशीर्षा पुरुषो द्विजा नारायणाभिधः ॥ ४ ॥

सुष्वाप सलिले साक्षाच्छिवं परमकारणम् । ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं साम्बमीश्वरम् ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं हृदि ध्यायन्महेश्वरम् । इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥ ६ ॥

'ब्राह्ममेकमहः कल्प' इत्युक्तब्रह्मदिनावसाने लीनस्य पृथिव्यादिलोकत्रयस्य तदीयरात्र्यवसाने पुनरुत्पत्तिप्रकारं जिज्ञासमाना मुनयः पृच्छन्ति—**भगवन्विष्णुनेति** । वराहरूपेणाहरादौ हि ब्रह्मा वराहरूपी भूत्वा सलिले मग्नां भुवमुद्धृत्य पुनर्ब्रह्मैव भूत्वा लोकत्रयमसृजदिति श्रूयते 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्तस्मिन्प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽहरत्तां विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् साऽप्रथत[1] सा पृथिव्यभवत्' इत्यादि । विष्णुपुराणेऽपि-'तोयान्तः स महीं ज्ञात्वा जगत्येकार्णवे प्रभुः । अनुमानात्तदुद्धारं कर्तुकामः प्रजापतिः ॥ अकरोत्स तनूमन्यां कल्पादिषु यथा पुरा । मत्स्यकूर्मादिकां तद्वद्वाराहं रूपमास्थितः' इति ॥ १ ॥

सूतस्तु पूर्वकल्पावसानप्रकाराभिधानपुरःसरमुत्तरं वक्तुमारभते—**आसीदेकेति** । **तमोमयमिति** । चन्द्रादित्यादिज्योतिषामभावात् । अत एव विभागापरिज्ञानादविभागम् ॥ २ ॥

जगतीति । जगति पृथिव्यादिलोकत्रयात्मके यत्स्थावरजङ्गमजातं तस्मिन्सर्वस्मिञ्जलप्लुते[2] । अत एव जनलोकनिवासिनोऽस्तुवन्निति वक्ष्यति । **विष्णुः साक्षादिति** । ब्रह्मा ह्यहरवसाने विष्णुरूपी शेषपर्यङ्कशायी स्थित्वा वराहरूपेण भुवमुद्धृत्य स्वेनैवाऽऽत्मना पुनर्लोकत्रयमस्राक्षीत् । अतएव वक्ष्यति—'विसृज्य रूपं वाराहं स्वयं ब्रह्मा भवद्धरिः' इति ॥ ३ ॥ ४ ॥

ऋतं सत्यमिति । उमासहायमूर्ध्वरेतसं त्रिनेत्रं महेश्वरमृतसत्याभिधेयसूक्ष्मस्थूलभूतोपलक्षितसमस्तजगदात्मकं **पुरुषं** परिपूर्णं परं निष्कलं **ध्यायन्** ॥ ५ ॥ ६ ॥

पृथिवी का उद्धार नामक नवाँ अध्याय

(ब्रह्मा के दिन की समाप्ति पर पृथिवी आदि लोक का विलय सुनकर ब्रह्मा की रात्रि की समाप्ति पर पुनरुत्पत्ति कैसे होती है?—इस जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है । अतः—) नैमिषारण्य के मुनियों ने पूछा—हे भगवन् ! हे विद्वानों में श्रेष्ठ ! विष्णु ने जल से भूमि का उद्धार किस प्रकार किया यह हमें संक्षेप में बताइये ॥ १ ॥

सूतजी बोले—जिस समय पृथिवी आदि लीन थी तब केवल एक अखण्ड भयंकर समुद्र ही था । चन्द्र आदि कोई प्रकाश न होने से अँधेरा था । शान्त हुइ अग्नि एवं अन्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता था ॥ २ ॥ तभी, उस एक सागर में स्थावर-जंगम जगत् की विलयवेला में, उस समुद्र में साक्षात् विष्णु प्रकट हुए ॥ ३ ॥ वे ही हज़ारों आँखों वाले, हज़ारों पैरों वाले, हज़ारों सिरों वाले नारायण नामक पुरुष हैं ॥ ४ ॥ प्रकट हुए वे उस जल पर लेट गये और सबके परम कारण, सनातन नियमरूप, कभी नष्ट न होने वाले, परिपूर्ण, निरंश, व्यापक, वस्तुतः कभी कुछ उत्पन्न न करने वाले, त्रिलोचन, अम्बिका समेत ईश्वर का हृदय में ध्यान करने लगे । इन विष्णु के विषय में शास्त्र ने यह श्लोक बताया है—॥ ५—६ ॥

---

१. ङ. °त तत्पथि° । २. ग. °र्वजल° ।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । ता यदस्यायनं तेन प्रोक्तो नारायणः स्वयम् ॥ ७ ॥

स पुनर्देवदेवस्य शिवस्य परमात्मनः । आज्ञया सलिले मग्नां महीमुद्धर्तुमिच्छया ॥ ८ ॥

वाराहं रूपमास्थाय महापर्वतसंनिभम् । अट्टहासं द्विजाः कृत्वा प्रविश्य च रसातलम् ॥ ९ ॥

दंष्ट्राभ्यामुज्जहारैनां महीमन्तर्गतां जले । तस्य दंष्ट्राग्रविन्यस्तामणुप्रायां महीमिमाम् ॥ १० ॥

दृष्ट्वा विस्मयमापन्ना जनलोकनिवासिनः । ते पुनर्वेदविच्छ्रेष्ठाः सिद्धा ब्रह्मर्षयो हरिम् ॥ ११ ॥

अस्तुवञ्श्रद्धया विष्णुं महाबलपराक्रमम् ।

ब्रह्मर्षय ऊचुः— नमस्ते देवदेवानामादिभूत सनातन ॥ १२ ॥

पुरुषाय पुराणाय नमस्ते परमात्मने । जरामरणरोगादिविहीनायामलात्मने ॥ १३ ॥

ब्रह्मणां पतये तुभ्यं जगतां पतये नमः । लोकालोकस्वरूपाय लोकानां पतये नमः ॥ १४ ॥

शङ्खचक्रगदापद्मपाणये विष्णवे नमः । नमो हिरण्यगर्भाय श्रीपते भूपते नमः ॥ १५ ॥

नमः स्वयंभुवे तुभ्यं सूत्रात्मादिस्वरूपिणे । विराट्प्रजापतेः साक्षाज्जनकाय नमो नमः ॥ १६ ॥

नरो हिरण्यगर्भस्तत उत्पन्नत्वादापो नरसूनवः । यत आहुः–'अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्यमवासृजत्' इति ।

जनलोकेति । पृथिव्यादिलोकत्रये जलप्लुतेऽपि चतुर्थे महर्लोके निवसतां पञ्चमे जनलोके गतत्वाज्जनलोकनिवासिन इत्युक्तम् । 'जनलोकं प्रयान्त्येते महर्लोकनिवासिन' इत्युक्तम् । लोकालोकेति । सकलभूतात्मकैकपादरूपाय स्वप्रतिष्ठत्रिपाद्रूपाय च । 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति श्रुतेः ॥ ७-१५ ॥

सूत्रात्मादीति । सूत्रात्मा क्रियाशक्तिप्रधानः प्राणोपाधिकः । आदिशब्देनान्तर्यामी ज्ञानशक्तिप्रधानो मनउपाधिको हिरण्यगर्भः । विराट् समष्टिरूपः स्थूलशरीरः ॥ १६ ॥

'जल को नार कहते हैं क्योंकि जल नरनामक हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुआ है । यतः यह जल उनके शयनादि का स्थान है अतः वे स्वयं नारायण कहे जाते हैं ।' ॥ ७ ॥ परमात्मा महादेव की आज्ञा के अनुसार उन्होंने जल में मग्न पृथिवी का उद्धार करने की इच्छा से बड़े भारी पहाड़ जैसे वराह का रूप लेकर अट्टहास किया तथा रसातल में घुसकर दाढ़ों के सहारे जल के अन्दर गयी इस पृथिवी का उद्धार किया ॥ ८ ½ ॥ उनकी दाढ़ की नोक पर स्थित अत्यन्त छोटी लगती इस भूमि को देख जनलोक के निवासियों को बहुत आश्चर्य हुआ । उन ब्रह्मर्षियों ने महान् पराक्रमशाली विष्णु की स्तुति की–

ब्रह्मर्षियों ने कहा–हे सब देवों में सबसे पहले होने वाले ! सनातन ! पुराण पुरुष आप परमात्मा को नमस्कार है ॥ १०–१२ ½ ॥ जरा, मरण, रोग आदि रहित तथा निर्दोष स्वरूप वाले आपको प्रणाम है । ब्रह्माओं के पालक व जगत् के नियन्ता आपको प्रणाम है । लोकरूप एवं लोकातीतरूप आपको नमस्कार है । सब विषयों के रक्षक आपको नमस्कार है ॥ १३–१४ ॥ शंख, चक्र, गदा व पद्म हाथ में लिये आप विष्णु को नमस्कार है । हिरण्यगर्भ, श्रीपति व भूपति आपको नमस्कार है ॥ १५ ॥ स्वयं उत्पन्न होने वाले आपको प्रणाम है । समष्टि क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति वाले आपको प्रणाम है । समष्टि स्थूल शरीर वाले आपको प्रणाम है । प्रजापति के स्वयं उत्पादक आपको प्रणाम है ॥ १६ ॥

विश्वतैजसरूपाय प्राज्ञरूपाय ते नमः । जाग्रत्स्वप्नस्वरूपाय नमः सुप्त्यात्मने नमः ॥ १७ ॥

अवस्थासाक्षिणे तुभ्यमवस्थावर्जिताच्युत । [1]तुरीयाय विशुद्धाय तुर्यातीताय ते नमः ॥ १८ ॥

प्रथमाय समस्तस्य जगतः परमात्मने । ॐकारैकस्वरूपाय शिवाय शिवद प्रभो ॥ १९ ॥

सर्वविज्ञानसंपन्न नमो विज्ञानदायिने । जगतां योनये तुभ्यं वेधसे विश्वरूपिणे ॥ २० ॥

नित्यशुद्धाय बुद्धाय मुक्ताय सुखरूपिणे । नमो वाचामतीताय नमोऽगम्याय ते नमः ॥ २१ ॥

अप्रमेयाय शान्ताय स्वयंभानाय साक्षिणे । नमः पुंसे पुराणाय श्रेयःप्राप्त्येकहेतवे ॥ २२ ॥

आकाशादिप्रपञ्चाय नमस्तद्रूप शंकर । मायारूपाय मायायाः सत्ताहेतो जनार्दन ॥ २३ ॥

नमः प्रद्युम्न[2]रूपाय नमः संकर्षणात्मने । नमोऽनिरुद्धरूपाय वासुदेवाय ते नमः ॥ २४ ॥

इत्थं समष्टिरूपवैश्वानरहिरण्यगर्भेश्वररूपतामुक्त्वा व्यष्टिरूपविश्वतैजसप्राज्ञरूपतां तदवस्थारूपतां चाऽऽह–विश्वतैजसेति । अवस्थात्रयविशिष्टो विश्वादिः ॥ १७ ॥

अवस्थोपलक्षितस्तद्द्रष्टा तत्साक्षी । तदप्यपश्यन्स्वप्रतिष्ठोऽवस्थावर्जितः । साक्षिणं विवृणोति–तुरीयायेति । स हि विश्वादित्रयापेक्षया चतुर्थत्वात्तुरीयः । अवस्थाविवर्जितं विवृणोति–तुर्यातीतायेति ॥ १८ ॥

ॐकारेति । 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इति हि श्रूयते । प्रणवप्रतीकत्वात्तत्प्रतिपाद्यत्वाद्वा तत्स्वरूपः ॥ १९ ॥ २० ॥

नमो वाचामिति । 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति [3]श्रुतेः ॥ २१ ॥ २२ ॥

मायाया इति । यतोऽधिष्ठानमन्तरेण मायाऽपि न सिध्यति ॥ २३ ॥

नमः प्रद्युम्नायेति । सर्वात्मकत्वेऽपि विभूतिमत्सु संनिधानात्तदात्मकत्वेन स्तूयते । स्मर्यते हि–'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं

जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्तिरूप तथा इन अवस्था वाले विश्व, तैजस, प्राज्ञरूप आपको नमस्कार है ॥ १७ ॥ अवस्थाओं के साक्षी व अवस्था-निरपेक्ष आपको नमस्कार है । अवस्था वालों की अपेक्षा से चौथे आप सर्वावस्थानुस्यूत को नमस्कार है । अवस्था-निरपेक्ष होने से जो आप चौथे भी नहीं कहे जा सकते उन आपको नमस्कार है ॥ १८ ॥ जो आप सर्वप्रथम हैं, समस्त जगत् के परम आत्मा हैं, ॐकारमात्ररूप हैं, कल्याणात्मक हैं, कल्याणप्रदाता हैं, स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं, सब विज्ञानों से संपन्न हैं, सब ज्ञानों के उपदेष्टा हैं, जगत् के निर्माता, विधाता और सर्वरूप हैं, उन आपको नमस्कार है ॥ १९–२० ॥ सदा शुद्ध, अज्ञान से अनभिभूत, बंधन-विवर्जित, सुखरूप आपको प्रणाम है । वाणी के अविषय व क्रिया से विषय न किये जा सकने वाले आपको प्रणाम है ॥ २१ ॥ जिनका वास्तविक ज्ञान अत्यन्त कठिनाई से होता है ऐसे शान्त तथा स्वयं ज्ञानरूप आप साक्षी को नमस्कार है । कल्याणलाभ के एकमात्र कारण पुराण पुरुष आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥ आकाशादि प्रपंच रूप आपको तथा जो कुछ भी परोक्ष है उस रूप वाले आपको नमस्कार है । मायारूप एवं माया को सत्ता देने वाले आपको नमस्कार है ॥ २३ ॥ प्रद्युम्न, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा वासुदेव रूप आपको प्रणाम है । (यहाँ पांचरात्र आगमों की भाषा में

---

१. ख. तुर्याय ते वि° । २. पाञ्चरात्रमते प्रद्युम्नो मनः, संकर्षणः प्रकृतिः, अनिरुद्धोऽहंकारो, वासुदेवश्च परमात्मा । संकर्षणो बलरामः, प्रद्युम्नः कृष्णपुत्रः, अनिरुद्धः कृष्णपौत्र इत्यैतिहासिकाः । ३. क. ख. ग. श्रुतम् ।

योगाय योगगम्याय [1]योगानामिष्टसिद्धये । नमस्ते मत्स्यरूपाय नमस्ते कूर्मरूपिणे ॥ २५ ॥
नमस्तुभ्यं वराहाय नारसिंहाय ते नमः । नमो वामनरूपाय नमो रामत्रयात्मने ॥ २६ ॥
नमः कृष्णाय सर्वज्ञ नमस्ते कल्किरूपिणे । कर्मिणां फलरूपाय कर्मरूपाय ते नमः ॥ २७ ॥
कर्मकर्त्रे नमस्तुभ्यं नमस्ते कर्मसाक्षिणे । नमो विज्ञप्तिरूपाय नमो वेदान्तरूपिणे ॥ २८ ॥
गुणत्रयात्मने तुभ्यं नमो निर्गुणरूपिणे । अद्भुतायामरेशाय शिवप्राप्त्येकहेतवे ॥ २९ ॥
नमो नक्षत्ररूपाय नमस्ते सोमरूपिणे । नमः सूर्यात्मने तुभ्यं नमो वज्रधराय ते ॥ ३० ॥
नमस्ते पद्मनाभाय नमस्ते शार्ङ्गपाणये । नमस्तुभ्यं विशालाक्ष नमः श्रीधर नायक ॥ ३१ ॥
नमः संसारतप्तानां तापनाशैकहेतवे । श्रौतस्मार्तैकनिष्ठानामचिरादेव मुक्तिद ॥ ३२ ॥
अन्येषामपि सर्वेषां संसारैकप्रदाव्यय । नमोऽसुरविमर्दाय नमो विद्याधरार्चित ॥ ३३ ॥
क्षीरोदशायिने तुभ्यं नमो वैकुण्ठवासिने । नमो रागाभिभूतानां वैराग्यप्लवदायिने ॥ ३४ ॥
सूत उवाच–इत्थं [2]ब्रह्मर्षिभिः सिद्धैः सनकाद्यैरभिष्टुतः । प्रसादमकरोत्तेषां श्रीवाराहशरीरभृत् ॥ ३५ ॥
ततः पूर्ववदानीय महीं साक्षान्महीपतिः । विसृज्य रूपं वाराहं स्वयं ब्रह्माऽभवद्धरिः ॥ ३६ ॥
सा मही संस्थिता विप्रा जलस्योपरि नौरिव । तस्यां ब्रह्मा महादेवप्रसादादेव सुव्रताः ॥ ३७ ॥
पूर्वसर्गोत्थविध्वस्तानखिलानमरप्रभुः । यथापूर्वं द्विजाः स्रष्टुं मतिं चक्रे प्रजापतिः ॥ ३८ ॥
इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा नैमिषारण्यवासिनः । पूजयामासुरत्यर्थं सूतं सर्वहितप्रदम् ॥ ३९ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे पृथिव्युद्धरणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्' इति ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे पृथिव्युद्धरणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

क्रमशः समष्टि मन, प्रकृति, समष्टि अहंकार व परमात्मरूप नारायण को प्रणाम अर्पित किया गया है।) ॥ २४ ॥ योगात्मक तथा योग से प्राप्त होने वाले आपको प्रणाम है। योगियों को अभीष्ट सिद्धियाँ देने वाले आपको प्रणाम है। मत्स्य व कूर्मरूप आपको प्रणाम है ॥ २५ ॥ वराह, नृसिंह और वामनरूपों वाले आपको नमस्कार है। परशुराम, दाशरथि राम व बलराम अवतारों वाले आपको नमस्कार है ॥ २६ ॥ हे सर्वज्ञ ! कृष्ण व कल्कि रूप आपको नमस्कार है। कर्म करने वाले जिन कर्मों को करते हैं उन कर्मस्वरूप तथा कर्मों के फलरूप आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ कर्मकर्ता व कर्मसाक्षीरूप आपको नमस्कार है। (सूर्य, संध्या, अग्नि आदि कर्मसाक्षी प्रसिद्ध हैं) । अनुभवरूप आपको प्रणाम है। वेदसिद्धान्तरूप आपको प्रणाम है ॥ २८ ॥ त्रिगुणस्वरूप व त्रिगुणवर्जित आपको प्रणाम है। अद्भुतस्वरूप, देवशासक तथा शिवोपलब्धि के एकमात्र कारण आपको नमस्कार है ॥ २९ ॥ नक्षत्ररूप, चंद्ररूप, सूर्यरूप व इंद्ररूप आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥ नाभि में कमल वाले, हाथ में शार्ङ्ग धनुष वाले तथा विशाल नेत्र वाले आप श्रीपति व ब्रह्माण्ड-नायक को नमस्कार है ॥ ३१ ॥ संसारताप से पीडितों के ताप हटाने वाले अकेले कारण आपको नमस्कार है । श्रौत व स्मार्त मार्ग पर निष्ठा पूर्वक चलने वालों को अतिशीघ्र मोक्ष देने वाले आपको नमस्कार है ॥ ३२ ॥ अन्य सभी कुमार्गगामियों का संसरण कराते रहने वाले आप अव्यय हरि को नमस्कार है। असुरों के समापक और विद्याधरों द्वारा अर्चित आपको प्रणाम है ॥ ३३ ॥ क्षीरसागर में सोने वाले और वैकुण्ठ में रहने वाले आपको प्रणाम है। रागाम्भोधि में डूबते साधकों को वैराग्यनौका देने वाले आपको प्रणाम है ॥ ३४ ॥

सूतजी बोले–इस प्रकार ब्रह्मर्षियों व सनकादि सिद्धों द्वारा स्तुति की जाने पर वराहशरीरधारी महाविष्णु ने उनपर कृपा की ॥ ३५ ॥ पूर्वकल्प की तरह पृथ्वी को स्थितकर उन्होंने वराहरूप छोड़ दिया और हरि ही स्वयं ब्रह्मा हो गये ॥ ३६ ॥ वह पृथ्वी नौका की तरह जल पर तैरती रही। महादेव की कृपा से ब्रह्माजी ने पूर्वसृष्टि में उत्पन्न व नष्ट सब वस्तुओं को उस पृथ्वी पर उत्पन्न करने का निश्चय किया ॥ ३७–३८ ॥

यों अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर नैमिषारण्यनिवासी मुनियों ने हितोपदेशक सूतजी का बहुमानपुरःसर पूजन किया ॥ ३९ ॥

---

१. क. ग. घ. योगिनामिष्टसिद्धिद । २. ग. महर्षिभिः ।

दशमोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः—कथं ब्रह्माऽसृजद्विद्वञ्जगत्सर्वं चराचरम् । संग्रहेण तदस्माकं ब्रूहि पुण्यवतां वर ॥ १ ॥

सूत उवाच—सिसृक्षोर्ब्रह्मणस्तस्य ब्राह्मणा वेदवित्तमाः । अबुद्धिपूर्वकः सर्गः कल्पादिषु यथा पुरा ॥
प्रादुर्भूतोऽम्बिकाभर्तुराज्ञयैव तमोमयः ॥ २ ॥

अहरवसाने ध्वस्तस्य लोकत्रयस्य तन्निवासिनां च पृथिव्युद्धरणसमनन्तरभाविसर्गक्रमं मुनयः पृच्छन्ति—**कथं ब्रह्मेति** । **ब्रह्मा** प्रजापतिः ॥ १ ॥

सिसृक्षोरिति । अत्रैष सर्गक्रमः ब्रह्मण आयुरवसाने ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चाया अत्यन्तनिर्विकल्पिकाया[1] मायाया जडत्वेन स्वप्रतिष्ठं निरस्ततरङ्गसमुद्रकल्पपरब्रह्म यावत्प्राणिकर्मपरिपाकमवतिष्ठते । परिपक्वेषु तु कर्मसु तस्य परब्रह्मणः सर्गाभिमुखे प्रथमपरिस्पन्दे ज्ञानेच्छाप्रयत्नविरहादबुद्धिपूर्वके स्रष्टव्यप्राणिकर्मप्रेरणयैव प्रवर्तिते तद्विषयतया सविकल्पकत्वेन तदावरणमायाया यत्स्फुरणं सोऽयमबुद्धिपूर्वकस्तमसः **सर्गः प्रथमः** । यदधिकृत्योच्यते 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नम्' इति । श्रूयते च 'नासदासीत्' इत्यारभ्य 'तम आसीत्तमसा गूहळमग्रे' इति । एष च तमःसर्गः पञ्चमे शक्तिपूजाध्यायेऽस्माभिः प्रपञ्चितः । ततोऽत्यन्तनिर्विभागायां तस्यां मायायां तमःशब्दाभिधेयायां मोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रापरपर्याया अस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाश्चत्वारो विपर्ययाः प्रसुप्ततया वर्तन्ते, यथा तत्त्वलीनानां हि । उक्तं हि पातञ्जले—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । अविद्यात्रयमुत्तरेषां प्रसुप्तत[2]नुविच्छिन्नोदाराणाम्' । तथा—'प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तनुदग्धास्तु योगिनाम् । विच्छिन्नोदाररूपास्तु क्लेशा विषयसङ्गिनाम्' इति ॥ तत्रानात्मनि देहादावात्मतत्त्वविपर्ययोऽस्मिता स मोहः । तेन च देहभोगोपकरणे स्रक्चन्दनादावभिलाषो रागः स महामोहः । तत्प्राप्तिपरिपन्थिनि द्वेषः स तामिस्रः । तदिदमहितमिति ज्ञात्वाऽप्यज्ञवदपरित्यागोऽभिनिवेशः सोऽन्धतामिस्रः । यद्वा—'तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः । महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा ॥ मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते । अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः' ॥ इति । तस्मादविभागापन्नगुणत्रयादव्यक्तात्तमसः सकाशादन्तर्विभागस्थगुणत्रयात्मकस्य महतः सर्गो **द्वितीयः** । [3]अत्रेदमुच्यते—'अव्यक्तादन्तर्हितत्रिभेदगहनात्मकम् । महन्नाम भवेत्तत्त्वं महतोऽहंकृतिस्तथा' ॥ इति । तस्माद्बहिर्विभागगुणत्रयावस्थ[4]स्याहमस्**तृतीयः सर्गः** । [5]अत्रेदमुच्यते—'वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः । त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत' इति ॥ तत्र भूतादिनामकात्तामसादहंकाराद्रजसोपष्टब्धात् पञ्चतन्मात्राणां **सर्गश्चतुर्थः** । वैकारिकनाम्नः सात्त्विकादहङ्काराद् रजसोपष्टब्धादेकादशेन्द्रियगणस्य **सर्गः पञ्चमः** । यदाहुः सांख्याः—'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् । भूतादेस्तन्मात्रं स तामसस्तैजसादुभयम्' ॥ इति । शैवास्तु सात्त्विकादहंकारान्मनसो राजसादिन्द्रियदशकस्य सर्गमाहुरित्येतावान्विशेषः । यदाहुः—'सात्त्विकराजसतामसभेदेन स जायते पुनस्त्रेधा । स च तैजसवैकारिकभूतादिकनामभिः समुच्छ्वसिति ॥ तैजसतस्तत्र मनो वैकारिकतो भवन्ति चाक्षाणि । भूतादेस्तन्मात्राण्येषां सर्गोऽयमेतस्मात्' इति ॥ इन्द्रियदशकाधिष्ठातृदेव**सर्गः षष्ठः** । षडिमे प्राकृताः सर्गा ईश्वरकर्तृकाः । उक्तं भागवते—'आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः । द्वितीयस्त्वहमो यत्र [6]द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ॥ भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् । चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ॥ वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः । षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभोः ॥ षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु' । इति । वस्तुगत्या प्रथमस्यापि तमःसर्गस्याबुद्धिपूर्वकस्य बुद्धिपूर्वकसर्गपञ्चकानन्तरमुपन्यासादुपन्यासक्रमानुसारेण षष्ठत्वमिति । अयमेवाबुद्धिपूर्वकस्तमःसर्गः । स्वसृष्टौ प्रजापतिनाऽपि प्रथमं सृष्टस्ततो वृक्षादिर्मुख्यः सर्गस्ततस्तिर्यक्स्रोतः पश्वादिः । [7]तत ऊर्ध्वस्रोतो देवादिः । ततोऽर्वाक्स्रोतो मानुषस्ततो भूतप्रेतादिरिति षड्वैकृताः । प्राकृतवैकृतात्मक एकः कौमार इति । तत्र प्रजापतेः स्वसृष्टौ प्रथमं तमःसर्गमाह—**अबुद्धिपूर्वक** इति । अबुद्धिरविद्या सा पूर्वा यस्यास्मितादेः स तथोक्तः । अथवाऽबुद्धिरननुसंधानं[8] तत्पूर्वकोऽत एव **ब्रह्मणः प्रादुर्भूत** इत्याह नतु ब्रह्मा तं ससर्जेति । महाकल्पादिषु यथा परमात्मनः सकाशात्पञ्चपर्वाऽविद्या प्रादुर्भवत्येवमवान्तरकल्पे स्वसृष्टौ ब्रह्मणोऽपि प्रादुरभूत् । अवान्तरकल्पेषु चातीतेष्वनन्तरेषु यथा प्रादुरासीदेवमस्मिन्नपि कल्प इति ॥ २ ॥

ब्रह्मसृष्टि-कथन नामक दसवाँ अध्याय

नैमिषारण्यस्थ मुनियों ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! ब्रह्मा ने चराचर सारे जगत् को किस क्रम से उत्पन्न किया यह हमें बताइये ॥ १ ॥

सूतजी ने उत्तर देना प्रारंभ किया—हे ब्राह्मणो ! हे वेदज्ञोत्तमो ! अम्बिकापति की आज्ञा से ही सृष्टि करना चाहने वाले ब्रह्मा से तमोविकारभूत सृष्टि वैसे ही हुई जैसे पूर्व कल्पों के प्रारंभ में होती आयी है । वह तमोमयीसृष्टि अविद्या का ही स्फुट रूप है अतः उसे अबुद्धिपूर्वक होने वाला कहा अर्थात् वह ऐसी है जिसके पूर्व में अबुद्धिशब्दित अविद्या है ही ॥ २ ॥

---

१. ज्ञानस्य स्वसमानाकाराविद्यानिवर्तकत्वनियमान्निर्विकल्पकज्ञाननिवर्त्यं प्रत्यगज्ञानमपि निर्विकल्पकमेवेति बोध्यम् । २. घ. °तनुदग्धवि° । ३. ख. तत्रे° । ४. क. ख. °स्थस्य महतस्तृ° । ५. क. ख. यत्रेद° । ६. क. ख. दिव्य° । ७. अत ऊ° । ८. यथापूर्वं हि सर्जनीयमित्यनुसन्धानानुपयोगेन ब्रह्मणोऽननुसन्धानं ज्ञेयम् ।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः । पञ्चधाऽवस्थितः सर्गः प्रवृत्तस्तामसो द्विजाः ॥ ४ ॥

अन्तर्बहिश्च वेदज्ञास्त्वप्रकाशस्तथैव च । स्तब्धो निःसंज्ञ एवायमभवन्मुनिपुंगवाः ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा भगवान्ब्रह्मा सिसृक्षुः सर्वमास्तिकाः । असाधक इति ज्ञात्वा पुनः सोऽपरमीश्वरः ॥ ६ ॥

अमन्यतास्य वेदज्ञा ब्रह्मणो ध्यायतः[1] पुनः । सर्गोऽवर्तत[2] दुःखाद्यस्तिर्यक्स्रोतः प्रजापतेः[3] ॥ ७ ॥

पश्वादिः स तु विज्ञेयस्तिर्यक्स्रोतः समासतः । तं चासाधकमित्येवं ज्ञात्वाऽमन्यत्परं प्रभुः ॥ ८ ॥

पुनश्चिन्तयतस्तस्य सात्त्विकोऽवर्तत द्विजाः । ऊर्ध्वस्रोत इति ख्यातः सर्गोऽतीव सुखावहः ॥ ९ ॥

देवसर्ग इति ख्यातः स तु सत्यपरायणः । तमप्यसाधकं मत्वा ब्रह्मा ब्रह्मविदां वराः[4] ॥ १० ॥

तान्येव पञ्चपर्वाण्याह–**तमो मोह** इति । तमआदीनां स्वरूपं प्रागुक्तम् । तदा तु मोहादीनां विपर्ययाणामनुत्पन्नत्वात्प्रसुप्तता वृत्तिरुक्ता । इह तु समुदाचरद्वृत्तिताऽपीत्येतावान्विशेषः । **पञ्चधेति** । तामसो यः सर्ग उक्तः स पञ्चप्रकार इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४॥

अधुना वृक्षादिमुख्यसर्गमाह–**अन्तर्बहिरिति** । **अयमिति** स्थावरादिर्मुख्यः सर्गः । [5]सर्गानुक्रमण्यामस्य क्रमे–'चतुर्थो मुख्यसर्गाख्यो मुख्यस्तु स्थावराभिधः, इति वक्ष्यमाणत्वात् । अयमिति प्रकृततमः परामर्शो तु स्थावरसर्गस्य पृथगनभिधानादनुपन्यस्तस्यैव तदनुक्रमणं स्यादिति । वृक्षादिर्हि च्छेदन आदानादिजनितदुःखसुखमात्रज्ञानवत्त्वेऽपि तत्प्रतीकारं तदुपायं चाऽऽन्तरं बाह्यमप्य[6]-जानन्प्रकृष्टज्ञानाभावाद**प्रकाशः** । नामापरिज्ञानान्निः**संज्ञः**, व्यापारासमर्थत्वेन **स्तब्धश्चो**च्यते । अत एवेमं मुख्यसर्गं प्रकृत्य विष्णुपुराणम्–'बहिरन्तश्चाप्रकाशः संवृतात्मा नगात्मकः । मुख्या नगा यतश्चोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम्' इति ॥ ५ ॥

असाधक इति । ऐहिकामुष्मिकहिताहिततदुपायतत्प्रतीकारविरहादप्यसाधकत्वम् । सर्गान्तरमाह–**पुनः सोऽपरमिति** ॥६॥

तिर्यग्भूतं स्रोतो गमनमाहारसंचाराद्यर्थमस्येति **तिर्यक्स्रोताः** । ह्रस्वत्वमार्षम् । **समासत** इति । व्यासतस्तु पुराणान्तरे तद्भेदा अष्टाविंशतिर्दर्शिताः । सर्गान्तरमाह–**तं चेति** । **अमन्यद**मन्यत ॥ ७ ॥ ८ ॥

सात्त्विकत्वादेव देवसर्गस्योर्ध्वस्रोतस्त्वम् 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' इति गीतासु । भोगभूमौ हि देवा वर्तन्ते न कर्मभूमौ । अतस्तदीयसर्गस्यासाधकत्वम् ॥ ९ ॥ १० ॥

उस तमोमयी सृष्टि में अविद्या इन पाँच पर्वों वाली हो गयी–तम, मोह, महामोह, तामिस्र व अन्धतामिस्र। इस तरह वह तामस सृष्टि पाँच प्रकार की हुई। (तम कहते हैं तत्त्व-अपरिज्ञान को। देहादि को अपना स्वरूप समझ लेना मोह है। विषयाभिलाषारूप राग महामोह कहा गया है। द्वेष को ही तामिस्र और द्वेषादि को अहितकर समझकर भी उन्हें न छोड़ने का आग्रह अन्धतामिस्र है। क्योंकि इन प्रत्येक से अविद्या पूरी होती चलती है–दृढतर होती जाती है–इसलिये ये उसके पर्व कहे जाते हैं।) ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥ तदनन्तर ये वृक्षादि स्थावर उत्पन्न हुए जिन्हें न अन्तःकरण से कोई विशेष ज्ञान है और न बहिःकरणों से कोई ज्ञान हैं जिससे ये 'अप्रकाश' कहे गये हैं। गमनागमनादि व्यापार करने में असमर्थ होने से ये 'स्तब्ध' हैं। इन्हें अपने नामों का पता नहीं अतः 'निःसंज्ञ'–संज्ञाशून्य हैं ॥ ५ ॥ हे आस्तिको ! नानाभेदभिन्न सारा जगत् उत्पन्न करना चाहने वाले ब्रह्माजी ने उस स्थावरसृष्टि को देखकर समझ लिया कि यह सृष्टि चलाने के लिये पर्याप्त नहीं है। उन परमेश्वर ब्रह्माने पुनः अन्य सृष्टि का संकल्प किया। यों ध्यान करते–संकल्प करते–प्रजापति से दुःखभोगप्रधान तिर्यक्स्रोतों की सृष्टि हुई ॥ ७ ॥ संक्षेप में कहें तो 'तिर्यक्स्रोता' कहते हैं पशु आदि को। (संक्षेप इसलिये कि इनकी जाति-प्रजाति का विस्तार यहाँ नहीं बता रहे। तिर्यक् अर्थात् टेढ़ा–पृथ्वी के समनन्तर रहते हुए–है स्रोत अर्थात् गमन जिनका उन्हें तिर्यक्स्रोता कहते हैं)। उस सृष्टि को भी प्रभु ने सृष्टि का सुसाधक नहीं समझा। (कर्माधिकार न होने से पशु भोग तो सकते हैं, आगे के लिये कुछ कर नहीं सकते। यही हाल वृक्षादि का है। अतः ये सृष्टि चला नहीं सकते) ॥ ८ ॥ पुनः संकल्प करते उन प्रजापति से सात्त्विक ऊर्ध्वस्रोता देवताओं की सृष्टि हुई। वह अत्यन्त सुखशाली उत्पत्ति थी। (ऊर्ध्व लोकों में गमन करने वाले होने से वे ऊर्ध्वस्रोता हैं)। यह सत्यपरायण देवसृष्टि भी (पूर्वोक्त कारण से ही) प्रपंच प्रचलन के लिये सामर्थ्यवान् नहीं यह मान कर ब्रह्माजी ने इससे भिन्न राजस सृष्टि का संकल्प किया। यों संकल्प करते उनसे शिवाज्ञावशात् अर्वाक्स्रोता मनुष्य उत्पन्न हुए। (देवलोक से इधर के लोक में ही गमन वाले होने से मनुष्य अर्वाक्स्रोता हैं) ॥ ९–११½ ॥

---

१. ख. ध्यानतः । २. क. ख. दुःखाढ्यस्ति° । ३. क. ख. °पते । ४. ङ. वरः । ५. ख. सर्गादिक° । ६. °मप्यज्ञवत्प्रकृष्ट° ।

अमन्यत परं सर्गं राजसं वैदिकोत्तमाः । तस्य चिन्तयतः सृष्टिं प्रादुरासीच्छिवाज्ञया ॥ ११ ॥

अर्वाक्स्रोत इति ख्यातः सर्गो[१] विप्रास्तु मानुषः । पुनश्चिन्तयतस्तस्य ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥ १२ ॥

महादेवाज्ञया विप्राः सर्गो भूतादिकोऽभवत् । इति पञ्चविधा सृष्टिः प्रवृत्ता परमेष्ठिनः ॥ १३ ॥

सर्गस्तु प्रथमो ज्ञेयो महतो ब्रह्मणस्तु सः । द्वितीयो वेदविच्छ्रेष्ठास्तन्मात्राणां च भौतिकः ॥ १४ ॥

वैकारिकाख्यो वेदज्ञास्तृतीयः परिकीर्तितः । सोऽयमैन्द्रियकः सर्ग इत्येते प्राकृतास्त्रयः ॥ १५ ॥

चतुर्थो मुख्यसर्गाख्यो [२]मुख्यस्तु स्थावराभिधः । तिर्यक्स्रोतस्तु पश्वादिः पञ्चमः परिकीर्तितः ॥ १६ ॥

षष्ठस्तु देवसर्गाख्यः सप्तमोऽर्वाक्प्रकीर्तितः । अष्टमो मुनिशार्दूला भूतप्रेतादिसंज्ञितः ॥ १७ ॥

राजसमिति । राजसो हि रागेण कर्मणि प्रवर्तमानोऽसौ साधको भविष्यतीति स्रष्टुरभिप्रायः । उक्तं हि–'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्' इति । देवलोकादर्वाचीने मनुष्यलोके गमनमेषामित्यर्वाक्स्रोतसो मनुष्याः । अर्वाग्वा पुत्रपौत्रादिरूपप्रवाहरूपेण गमनमेषामिति । यद्यप्येतत्पश्वादावपि समानं तथाऽपि मनुष्येषु रूढोऽयं शब्दः । गच्छतीति गौरिति यथा पशुषु । साधकत्वेन मनुष्यसर्गे नास्त्यपरितोषः ॥ ११ ॥ १२ ॥

भूतादिक इति । आदिशब्देन प्रेतपिशाचादयः । इति पञ्चविधेति । मुख्य सर्गो वृक्षादिः प्रथमः । तिर्यक्स्रोतः पश्वादिर्द्वितीयः । ऊर्ध्वस्रोतो देवसर्गस्तृतीयः । अर्वाक्स्रोतो मनुष्यसर्गश्चतुर्थः । भूतादिः पञ्चमः । इति वैकृताः सर्गाः पञ्च । यस्तु प्रजापतेः प्रथमस्तामसः सर्गः सोऽबुद्धिपूर्वक इति बुद्धिपूर्वकवैकृतसर्गेषु न गणनीय इति । अत एव प्राकृतेष्वपि परमात्मनः सकाशादव्यक्ताख्यस्य तमसः सर्गो न गणनीयः ॥ १३ ॥

[३]अन्तर्बहिर्विभागगुणत्रयात्मनोर्महदहंकारयोरन्तर्बहिर्विभागलक्षणविशेषपरित्यागेन गुणत्रयविभागात्मनैकीकरणान्महतः सर्गः प्रथमः । महतो यः सर्गो ब्रह्मणः परमात्मनः सकाशादित्यर्थः । सूक्ष्मभूतानां तन्मात्राणां शब्दादीनां सर्गो द्वितीयः ॥ १४ ॥

इन्द्रियतदधिष्ठातृदेवतासर्गयोर्वैकारिकत्वेनैकीकरणादिन्द्रियसर्गस्तृतीय, इति प्राकृतास्त्रयः । वैकारिकाख्य इति । इह पुराणेऽहंकारस्य महतः पृथगुपादानात्तन्मात्रगतज्ञानक्रियाशक्ति[४]जनकत्वमेव वैकारिकशब्दार्थः । अयं चार्थोऽग्रत[५] एव 'हिरण्यगर्भं वक्ष्यामी'त्यत्र स्पष्टीभविष्यति । उक्ता मुख्यसर्गादयो वैकृताः पञ्चेत्यष्टौ वैकृतेषु [६]प्रथमस्यापि मुख्यसर्गस्य प्राकृतांस्त्रीनपेक्ष्य चतुर्थत्वम् । एवं [७]तैर्यग्योन्यादीनां पञ्चमत्वादिकमिति ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

पुनः संकल्प करते प्रजापति से भूत, प्रेत, पिशाच आदि की सृष्टि हुई । इस प्रकार संकल्पपूर्वक पाँच प्रकार की सृष्टि परमेष्ठी प्रजापति से हुई । (तामससर्ग अबुद्धिपूर्वक होने से यहाँ नहीं गिना गया है । स्थावर, पशुआदि, देवता, मनुष्य और भूतादि– ये पाँच प्रकार हैं) ॥ १२–१३ ॥

क्रम की दृष्टि से कहें तो ब्रह्म से जो महान् की सृष्टि हुई वह प्रथम सर्ग है । (महान् से अहंकार भी समझ लेना चाहिये) । तन्मात्रा नामक सूक्ष्ममहाभूतों का जन्म द्वितीय सर्ग है ॥ १४ ॥ इन्द्रियों की सृष्टि वैकारिक कहा जाने वाला तीसरा सर्ग है । ये तीन प्राकृत सर्ग कहे जाते हैं । (प्रकृति की तरह ये प्रत्यक्ष नहीं होने से प्राकृत हैं । इंद्रियों की वैकारिकता का अभिप्राय है कि सूक्ष्मभूतों में ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति की उत्पादकतारूप विकार-प्रयुक्त उनकी, इंद्रियों की, सृष्टि है) ॥ १५ ॥ चौथा सर्ग मुख्य सर्ग कहा जाता है । स्थावरों को मुख्य कहते हैं । (पशु, देवता आदि सब का साक्षात् व परम्परा से आहार होने के कारण औषधि-वनस्पति मुख्य सर्ग हैं) । तिर्यक्स्रोता पशु आदि की उत्पत्ति पाँचवाँ सर्ग है ॥ १६ ॥ छठा देवसर्ग और सातवाँ अर्वाक्स्रोता मानुषों का सर्ग है । भूतप्रेतादि की उत्पत्ति आठवाँ सर्ग है ॥ १७ ॥

---

१. ग. सर्गे विप्रस्तु । २. ग. मुख्यः स्थावरजाभि° । ३. तन्मात्राणामुत्पत्ते र्द्वितीयत्वं स्मृतिविरुद्धमित्याशङ्क्याहङ्कारस्यान्तर्भावं व्यनक्ति-अन्तरित्यादिना । ४. ख. घ. °क्तिजत्व° । ग. °क्तिजहत्व° । ङ. °क्तिज्ञहक° । ५. १.११.३ । ६. ग. प्रधानस्या° । ७. ग. तिर्य° ।

कौमारो नवमः प्रोक्तः प्राकृतो वैकृतश्च सः । एषामवान्तरो भेदो मया वक्तुं न शक्यते ॥ १८ ॥

अल्पत्वादुपयोगस्य द्विजा नाथ वदाम्यहम् । सनकं च द्विजश्रेष्ठास्तथैव च सनातनम् ॥ १९ ॥

सनन्दनसमाख्यं च तथैव ब्रह्मवित्तमाः । ऋभुं सनत्कुमारं च ससर्जाग्रे प्रजापतिः ॥ २० ॥

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा इमे ब्रह्मसमा द्विजाः । महावैराग्यसंपन्ना अभवन्पञ्च सुव्रताः ॥ २१ ॥

अकर्त्रात्मानुसंधानाज्जाता एते प्रजापतेः । शिवध्यानैकमनसो न सृष्टौ चक्रिरे मतिम् ॥ २२ ॥

सृष्ट्यर्थं भगवान्ब्रह्मा लोकानामम्बिकापतेः । मुमोह मायया सद्यस्तं दृष्ट्वा पुरुषोत्तमः ॥ २३ ॥

बुबोध पुत्रं ब्रह्माणं द्विजा नारायणः पिता । प्रबोधितश्चतुर्वक्त्रो विष्णुना विश्वयोनिना ॥ २४ ॥

महाघोरं तपश्चक्रे ध्यायन्विष्णुं सनातनम् । एवं चिरगते काले न किंचित्प्रत्यपद्यत ॥ २५ ॥

ततः क्रोधो महानस्य ब्रह्मणोऽजायताऽऽस्तिकाः । क्रोधेन तस्य नेत्राभ्यां प्रपतन्नश्रुबिन्दवः ॥ २६ ॥

एतस्मिन्समये तस्य ब्रह्मणः परमेश्वरः । अददात्कृपया बुद्धिं भगवान्करुणानिधिः ॥ २७ ॥

स पुनर्देवदेवस्य प्रसादादम्बिकापतेः । ततापं परमं घोरं तपो विप्राश्चतुर्मुखः ॥ २८ ॥

कौमारः सनकादिरग्रे वक्ष्यमाणप्रभावातिशययोगात्प्रजापतिना सृष्टत्वाच्च प्राकृतवैकृतोभयात्मकः । इति सर्गा नव । यद्यपि मुनिभिर्भूम्युद्धरणानन्तरभाविप्रजापतिकृतो वैकृत एव सर्गः पृष्टः सूतेन स्वयमपि 'सिसृक्षोर्ब्रह्मण' इत्यादिना स एव व्युत्पादितस्तथाऽपि सर्गानुक्रमणप्रस्तावेन प्राकृतमपि सर्गत्रयमुपन्यस्तमिति तेन सह सर्गा नवेत्युक्तम् । पुराणान्तरेषु मुख्यसर्गः षड्विधः । तैर्यग्योन्योऽष्टाविंशतिभेदो देवसर्गोऽष्टविध इत्याद्युक्तम् । इह तदनभिधाने कारणमाह—एषामवान्तर इति । न शक्यत इति नेष्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अनिच्छाकारणमाह—अल्पत्वादिति । कौमारस्य सर्गस्य विभागमाह—सनकं चेति ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

सनकादयश्चेत्सृष्टौ मतिं न चक्रिरे ब्रह्मा वा किमिति क्लेशात्मिकायां मतिमकरोदित्यत आह—सृष्ट्यर्थमिति । सं हि शिवाज्ञया स्वयं सृष्टौ नियुक्त इति तेनावश्यं सा कर्तव्येत्यर्थः ॥ २३ ॥

बुबोध बोधयामास ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

सनकादि कुमारों की सृष्टि नवम सर्ग है । यह नवमसर्ग प्राकृत भी है वैकृत भी । (प्रत्यक्षादि का विषय व वैकृतसर्ग की अन्य विशेषताओं वाला होने से वैकृत और प्रभावातिशय वाला होने से प्राकृत भी है ।) इन सर्गों के अवान्तर भेद मैं बताना नहीं चाहता क्योंकि उसे जानने का आप लोगों को कोई खास उपयोग नहीं । अतः मैं उसे अभी नहीं बताता ॥ १८½ ॥

(कौमारसर्ग श्रेष्ठ होने से व नाममात्र से समझ न आने के कारण स्वल्प विस्तार से बताया जा रहा है—) हे शिवोपासक-श्रेष्ठो ! प्रजापति ने प्रारंभ में सनक, सनातन, सनन्दन, ऋभु और सनत्कुमार को उत्पन्न किया ॥ १९–२० ॥ ब्रह्मा के ये मानसपुत्र ब्रह्मा के समान श्रेष्ठता वाले हैं । ये पाँचों परम वैराग्यसम्पन्न हुए ॥ २१ ॥ प्रजापति से उत्पन्न ये कुमार आत्मा की अकर्तृता के निश्चय से एकमात्र शिवध्यान में एकाग्र हुए, सृष्टि करने की इच्छा इन्हें नहीं हुई ॥ २२ ॥

सृष्टि के लिये व्यग्र ब्रह्मा अम्बिकापति की मायावशात् किंकर्तव्यविमूढ हो गये । (मेरे पुत्र सनकादि सृष्टि कर नहीं रहे तो अब मैं क्या करूँ जिससे सृष्टि प्रबन्ध चले ?—यह सोचने लगे) । उन्हें परेशान देखकर उनके पिता पुरुषोत्तम नारायण ने उन्हें समझाया । सर्वकारण विष्णु द्वारा समझाये जाने पर ब्रह्मा ने नित्य विष्णु का ध्यान करते हुए महाघोर तप किया । यों बहुत समय बीतने पर भी उन्हें कुछ समझ न आया ॥ २३–२५ ॥ हे आस्तिको ! इससे ब्रह्मा को अत्यधिक क्रोध हुआ । क्रोध से उनकी आँखों से आँसू गिरने लगे ॥ २६ ॥ इस समय करुणानिधि परमेश्वर ने ब्रह्मा को सद्बुद्धि दी ॥ २७ ॥ शिवकृपा से लब्धबुद्धि चतुर्मुख ब्रह्मा ने पुनरपि परम घोर तपस्या की ॥ २८ ॥

सृष्ट्यर्थं ब्रह्मणस्तस्य भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यतः । अविमुक्ताभिधाद्देशात्स्वकीयात्तु विशेषतः ॥ २९ ॥

त्रिमूर्तीनां महेशस्य द्विजा वेदार्थवित्तमाः । असंभूतो महादेवः सर्वदेवनमस्कृतः ॥ ३० ॥

अर्धनारीश्वरो भूत्वा प्रादुरासीद् घृणानिधिः । तमजं शंकरं साक्षात्तेजोराशिमुमापतिम् ॥ ३१ ॥

सर्वज्ञं सर्वकर्तारं नीललोहितसंज्ञितम् । दृष्ट्वा नत्वा महाभक्त्या स्तुत्वा हृष्टः प्रजापतिः ॥ ३२ ॥

उवाच देवदेवेशं सृजेमा विविधाः प्रजाः । ब्रह्मणो वचनं देवः श्रुत्वा विश्वजगत्पतिः ॥ ३३ ॥

ससर्ज स्वात्मना तुल्याञ्शिवो रुद्रान्द्विजोत्तमाः । तं पुनश्चाऽऽह देवेशं ब्रह्मा विश्वजगत्प्रभुः ॥ ३४ ॥

जन्ममृत्युभयाविष्टाः सृज देव प्रजा इति । एवं श्रुत्वा महादेवः प्रहस्य करुणानिधिः ॥ ३५ ॥

प्रोवाचाशोभनाः स्रक्ष्ये नाहं ब्रह्मन्प्रजा इमाः । अहं दुःखोदधौ मग्ना उद्धरामि प्रजा इमाः ॥ ३६ ॥

सम्यग्ज्ञानप्रदानेन गुरुमूर्तिपरिग्रहः । त्वमेव सृज [1]दुःखाद्याः प्रजाः सर्वाः प्रजापते ॥ ३७ ॥

सृष्ट्यर्थमिति । सृष्ट्यर्थं तपतस्तस्य ब्रह्मणो भ्रुवोर्घ्राणस्य च मध्ये यदविमुक्ताभिधानं क्षेत्रं त्रिमूर्तीनां ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणामुपलब्धिस्थानत्वेन साधारणमपि विशेषतो महेश्वरस्य स्वकीयम् । तत्रासंभूतोऽनादिरपि परमेश्वरः कृपयाऽर्धनारीश्वरः सन्प्रादुरासीत् । भ्रुवोर्घ्राणस्य च मध्यं शैवमविमुक्ताभिधमिति हि जाबालोपनिषदि श्रूयते–'अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य [2]एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति । सहोवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति । सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयति तेन वरणा भवति, सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयति तेन नासी भवतीति । कत[3]मं चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एव द्यौर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति' ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

नीललोहितमिति । कण्ठे नीलोऽन्यत्र लोहितः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

जन्ममृत्युभयेति । तथाविधा एव प्रवृत्त्यभिमुखा यतः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

गुरुमूर्तीति । 'योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः' इति ह्युक्तम् ॥ ३७ ॥

सृष्टि के लिये तपस्या करते उन ब्रह्मा की भौंहों तथा नाक की संधि स्थल से अर्धनारीश्वर होकर सब देवों के आराध्य करुणालय महादेव प्रकट हुए । वह संधिस्थल 'अविमुक्त देश' कहा जाता है । वह यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, महेश–तीनों की उपलब्धि का स्थान है तथापि विशेषतः उपलब्धि के लिये महेश का अपना स्थान है ॥ २९–३०½ ॥

अजन्मा, कल्याणकारी, स्वयंतेजोरूप, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, नीललोहित कहे जाने वाले उमापति को देखकर प्रसन्न हुए प्रजापति ने उन्हें प्रणामकर व परम भक्ति से उनकी स्तुति कर उन देवाधिदेव से ही कहा, 'ये (पूर्व सर्ग में ज्ञात व प्रकृतसर्ग में आवश्यक) विविध प्रजायें उत्पन्न कीजिये ।' ब्रह्मा की बात मानकर महादेव ने अपने समान रुद्रों को उत्पन्न किया । ब्रह्मा ने उन्हें फिर कहा, 'हे देव ! (ऐसे प्राणियों की सृष्टि संसार की उच्चावच गति की हेतु कैसे बनेगी ?) जन्म-मृत्यु के भय से आविष्ट प्राणियों को उत्पन्न कीजिये ।' यह सुनकर करुणामय महादेव ने हँसकर कहा, 'हे ब्रह्मन् ! मैं ये (जैसी तुम चाहते हो वैसी) अशुभ प्रजायें उत्पन्न नहीं करूँगा । मैं तो उल्टे दुःखसमुद्र में डूबती ऐसी प्रजाओं का गुरुमूर्ति ग्रहणकर सम्यक् आत्मज्ञान देकर उद्धार करता हूँ । हे प्रजापति ! दुःखप्रमुख इन प्रजाओं को तुम ही उत्पन्न करो ।' ॥ ३१–३७ ॥ यह कहकर श्रीमान् नीललोहित भगवान् शंकर अन्तर्धान हो गये ।

---

१. °दुःखाढ्याः । २. ख. एषोऽव्यक्तोऽनन्त आत्मा । ३. ङ. °तमच्चास्य ।

इत्युक्त्वाऽन्तर्हितः श्रीमान्भगवान्नीललोहितः । ततस्तस्य प्रसादेन निवार्य कमलासनः ॥ ३८ ॥
रुद्रानत्यन्तकल्पायून्प्रजासृष्टौ प्रवर्तकान् । शब्दादीनि च भूतानि पञ्चीकृत्य द्विजोत्तमाः ॥ ३९ ॥
तेभ्यः स्थूलाम्बरं वायुं वह्निं चैव जलं महीम् । पर्वतांश्च समुद्रांश्च वृक्षादीनपि सुव्रताः ॥ ४० ॥
कलादियुगपर्यन्तान्कालानन्यानपि प्रभुः । सृष्ट्वा वेदविदां मुख्याः साधकानसृजत्प्रभुः ॥ ४१ ॥
मरीचिं च स्वनेत्राभ्यां हृदयाद् भृगुमेव च । शिरसोऽङ्गिरसं चैव तथोदानाद् द्विजोत्तमाः ॥ ४२ ॥
पुलस्त्यं पुलहं व्यानादपानात्क्रतुमीश्वरः । दक्षं प्राणात्तथैवात्रिं श्रोत्राभ्यां मुनिपुंगवाः ॥ ४३ ॥
समानाच्च वसिष्ठाख्यं संकल्पाद्धर्मसंज्ञितम् । एवमेतानजः श्रीमानसृजत्साधकोत्तमान् ॥ ४४ ॥
पुनस्तदाज्ञया विप्रा धर्मः संकल्पसंज्ञितः । मानवं रूपमापन्नः साधकैस्तु प्रवर्तितः ॥ ४५ ॥
ततश्चतुर्मुखः स्वस्य जघनादसुरान्द्विजाः[1] । सृष्ट्वा भूर्तिं पुनस्त्यक्त्वा शरीरान्तरमाप्तवान् ॥ ४६ ॥

रुद्रान्नीललोहितेन सृष्टान्निवार्य शब्दादीनि तन्मात्रापरपर्यायाणि सूक्ष्मभूतानि प्रागेव परमात्मना सृष्टानि पञ्चीकृत्य वियदादीनां पञ्चानां भूतानां मध्य एकैकं पञ्चात्मकं कृत्वा । यथा–वियदादिकमेकैकं द्विधा द्विधा विभज्य तत्र द्विधातो द्वितीयभागं चतुर्धा विभज्य वाय्वादिभूतचतुष्टयप्रथमभागेष्वेकैकं योजयेत् । एवं वायोरपि द्वितीयभागं चतुर्धा विभज्य वायुप्रथमभागं परित्यज्य वायुव्यतिरिक्तभूतचतुष्टयप्रथमभागेषु योजिते सत्येकैकभूतस्यार्धं स्वकीयमर्धं स्वेतरभूतचतुष्टयात्मकमित्येकैकस्य पञ्चात्मकत्वेऽपि भागाधिक्यात्पृथिव्यादि विभागव्यवहार इति । उक्तं व्यासेन–'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद' इति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

तेभ्य इति । तेभ्योऽपञ्चीकृतेभ्यः शब्दादिभ्यः सकाशात्पञ्चीकरणेन निष्पन्नानि स्थूलादीन्याकाशादीनि भूतानि भौतिकानि पर्वतादीनि च ससर्जेत्यर्थः ॥ ४० ॥

कलादीति । कलाकाष्ठामुहूर्तादिकालविभागानां बह्वल्पतपनपरिस्पन्दोपाधिकृतत्वेन पञ्चीकरणोत्तरकालभावित्वम् । कालस्वरूपमात्रस्य तु मायापरमात्मसंबन्धमात्रकत्वेन प्रागेव सिद्धेः ॥ ४१ ॥

तानेव साधकानाह–मरीचिं चेत्यादि ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

साधकैर्मरीच्यादिवसिष्ठान्तैर्नवभिः प्रवर्तितो धर्म एव मनुरूपतां प्राप्त इत्याह–पुनरिति ॥ ४५ ॥

ततश्चतुर्मुख इति । असुरान्सृष्ट्वा ब्रह्मणा परित्यक्तं तच्छरीरं रात्र्यात्मकमासीत् । तथाहि तैत्तिरीयके 'इदं वा अग्रे नैव किंचनाऽऽसीत्' इति ब्रह्मणोऽहरादौ लोकत्रयसृष्टिं प्रक्रम्योक्तम् 'स जघनादसुरानसृजत तेभ्यो मृन्मये पात्रेऽन्नमदुहद्यास्य सा तनुरासीत्तामपाहत सा तमिस्राऽभवत्' इति ॥ ४६ ॥

तब शिवकृपा से कमलासन ब्रह्मा ने रुद्रों को सृष्टि करने से रोक दिया और सूक्ष्ममहाभूतों का पंचीकरण कर उनसे स्थूल आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा पर्वत, समुद्र वृक्ष आदि बनाये। (पाँचों सूक्ष्म महाभूतों को विशिष्ट अनुपात में आपस में मिला देना पंचीकरण है। पचास प्रतिशत सूक्ष्म आकाश में साढ़े बारह-साढ़े बारह प्रतिशत अन्य चारों महाभूत मिलाने से जो वस्तु तैयार होती है उसे स्थूल या पंचीकृत आकाश कहते हैं। इसी तरह सभी महाभूत पंचीकृत रूप में उपस्थित होते हैं। इन्द्रियविषयभूत गुणों का आधार होना ही स्थूल होना है) ॥ ३८–४० ॥ कला से युग तक के खण्डकालों को व अन्य सामग्रियों को उत्पन्नकर ब्रह्माजी ने सृष्टि-संचालन में सहायक व्यक्तियों को उत्पन्न किया ॥ ४१ ॥ अपने नेत्रों से मरीचि को, हृदय से भृगु को, सिर से अंगिरस् को, उदान से पुलस्त्य को, व्यान से पुलह को, अपान से क्रतु को, प्राण से दक्ष को, कानों से अत्रि को, समान से वसिष्ठ को, और संकल्प से धर्म को–यों इन उत्तम साधकों को श्रीमान् ब्रह्मा ने उत्पन्न किया ॥ ४२–४४ ॥ फिर उनकी आज्ञा से मरीचि से वसिष्ठ तक गिनाये नौ साधकों द्वारा प्रवर्तित धर्म, जो ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण संकल्प नाम वाला था, मनु-रूप को प्राप्त हुआ ॥ ४५॥

तदनन्तर चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपनी जंघा से असुरों को उत्पन्न किया। ये सब उत्पन्नकर उन्होंने अपना वह शरीर छोड़ दिया और अन्य शरीर ग्रहणकर लिया। ब्रह्मा द्वारा छोड़ा वह शरीर मनुष्यों की रात्रि बन गया ॥ ४६½ ॥

---

१. नचासुरसृष्टिवैयर्थ्यम्, पापमन्तरा संसारचक्रस्यगनादिति बोध्यम्। सुरेभ्यः पूर्वजत्वं चासुरप्रवृत्तीनां स्वाभाविकतयानुभवसिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः।

सा तनुर्ब्रह्मणा त्यक्ता रात्रिरूपाऽभवन्नृणाम् । पुनर्ब्रह्माऽऽप्तदेहस्य मुखात्सत्त्वविजृम्भितात् ॥ ४७ ॥
सृष्ट्वा सुरानजस्तच्च शरीरं त्यक्तवान्पुनः । तत्पुनर्वेदविच्छ्रेष्ठा अभून्नृणां दिनं शुभम् ॥ ४८ ॥
पुनश्च सत्त्वसंयुक्तं शरीरं भगवानजः । आस्थाय ब्रह्मविन्मुख्याः पितॄन्सृष्ट्वा विहाय तत् ॥ ४९ ॥
शरीरान्तरमापन्नश्चतुर्वक्त्रः शिवाज्ञया । त्यक्ता मूर्तिर्द्विजाः सा तु संध्या तेनाभवद् द्विजाः ॥ ५० ॥
ब्रह्मणो विग्रहादेव रजसा परिवेष्टितात् । जज्ञिरे मनुजाः सर्वे त्यक्तं तद्विग्रहं पुनः ॥ ५१ ॥
ज्योत्स्नारूपेण निष्पन्नं पुनर्देहान्तरं गतः । ब्रह्मा तस्य शरीरात्तु रजसा सहिता[1] द्विजाः ॥ ५२॥
क्षुत्पिपासाभिभूताश्च राक्षसाः पन्नगास्तथा । भूतगन्धर्वरूपाश्च समुत्पन्ना बलान्विताः ॥ ५३ ॥
पुनर्देहान्तरं गत्वा ततो विश्वजगत्पतिः । वयांसि गर्दभानश्वान्मातङ्गान्रासभान्मृगान् ॥ ५४ ॥
ससर्जान्यांश्च विश्वात्मा तथैवौद्गात्रमेव च । ऋचं चैव त्रिवृत्सोमं तथा चैव रथंतरम् ॥ ५५ ॥
अग्निष्टोमादिकं सर्वं सहाङ्गेन प्रजापतिः । तथैव सर्वनामानि निर्ममे वेदशब्दतः ॥ ५६ ॥

मुखात्सत्त्वविजृम्भितादिति । ऊर्ध्वस्रोतसो हि सात्त्विका इत्युक्तम् । श्रूयते हि–'स मुखाद्देवानसृजत तेभ्यो हरिते पात्रे सोममदुहत् । याऽस्य सा तनूरासीत्तामपाहत तदहरभवदि'ति ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

पुनश्च सत्त्वसंयुक्तमिति । **पितॄन्देवपितॄन्** ऋतून् 'ऋतुवः खलु वै देवाः पितरः' इति श्रुतेः । मनुष्यपितरस्तु तदा न जाता एव । तान्सृष्ट्वा त्यक्तं शरीरं **संध्या** जाता । श्रूयते हि–'स उपपक्षाभ्यामेवर्तूनसृजत तेभ्यो राजते पात्रे घृतमदुहत् । याऽस्य सा तनूरासीत्तामपाहत सोऽहोरात्रयोः संधिरभवत्' इति ॥ ४९ ॥ ५० ॥

रजसा परिवेष्टितादिति । अर्वाक्स्रोतसो हि राजसा इत्युक्तम् । श्रूयते हि 'स प्रजननादेव प्रजा असृजत' इत्यारभ्य 'ताभ्यो दारुमये पात्रे पयोऽदुहद्याऽस्य सा तनूरासीत्तामपाहत सा ज्योत्स्नाऽभवत्' इति ।

रजसा सहितादिति । रजसो रागात्मकत्वात्ततो जाता राक्षसादयः क्षुत्पिपासादिपरीता जाताः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

तत्तत्स्रष्टव्यानुरूपं तं तं देहं स्वीकृत्य शेषं सर्वं सृष्टवानित्याह–**पुनर्देहान्तरं गत्वेति** ॥ ५४ ॥

औद्गात्रमुद्गातृकर्म । **ऋचं** यज्ञम् । **त्रिवृदादीनि** यज्ञाङ्गानि । श्रूयते हि 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच ऋचो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि यज्ञान्प्रजां पशून्' इति ॥ ५५ ॥

वेदशब्दत इति । तथा चोक्तं पुराणे–'ऋषीणां नामधेयानि कर्माणि विविधानि च । वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ निर्ममे स महेश्वरः' इति ॥ ५६ ॥

ग्रहण किये उस नवीन शरीर के सत्त्वगुणाधिक्य वाले मुख से ब्रह्मा ने देवताओं को उत्पन्न किया और पुनः शरीर छोड़ दिया जो मनुष्यों का दिन बन गया ॥ ४७–४८ ॥ तदनन्तर ब्रह्मा ने सत्त्वसंयुक्त एक और देह धारण किया व उससे ऋतुयें उत्पन्न कीं तथा शिवाज्ञानुसार उस शरीर को भी छोड़ दिया जो मनुष्यों की सन्ध्या बन गया ॥ ५० ॥ ब्रह्मा द्वारा गृहीत रजोगुण-युक्त शरीर से ही सब मनुष्य उत्पन्न हुए । मनुष्य बनाकर ब्रह्मा ने वह शरीर छोड़ा तो वह ज्योत्स्ना बना गया ॥ ५१½ ॥ ब्रह्मा ने पुनः अन्य शरीर लिया । रजोगुण से युक्त उस शरीर से भूख-प्यास से अभिभूत तथा अत्यन्त बली राक्षस, पन्नग, भूत व गन्धर्व उत्पन्न हुए । (यद्यपि पशु, मनुष्य आदि में भी भूख-प्यास हैं तथापि राक्षस आदि में अत्यधिक हैं अतः उनके लिये इनका उल्लेख कर दिया ।) ॥ ५२–५३ ॥ फिर अन्य देह धारणकर पक्षी, खच्चर, घोड़े, हाथी, गधे, मृग तथा अन्य जानवर उत्पन्न किये । इसी प्रकार औद्गात्र (उद्गाता नामक ऋत्विक् का कर्म), यज्ञ, त्रिवृत्सोम, रथन्तर, अग्निष्टोम आदि सब (यज्ञांगों) को उनके अवयवों सहित ब्रह्मा ने बनाया ॥ ५४–५५½ ॥ तथा वेद के शब्दों से सारे नाम (संज्ञायें) बनाये ॥ ५६ ॥

---

1. टीकेह पञ्चम्यन्तं पिपठिषति ।

पञ्चीकृतानि भूतानि ब्रह्मणा मुनयः पुरा । सर्वेषां कारणत्वेन प्रोक्तानि ब्रह्मवादिभिः ॥ ५७ ॥

एवं विचित्रं जगदन्तरात्मा प्रजापतिः स्वप्नसमं स सृष्ट्वा ।

प्रसादतस्तस्य महेश्वरस्य पुनस्तमोरूपमवाप सद्यः ॥ ५८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे ब्रह्मसृष्टिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः

एवं सृष्ट्वा पुनर्ब्रह्मा स्थावराणि चराणि च । भगवन्भगवानीशः किं चकाराऽऽशु तद्वद ॥ १ ॥

यानि पुरा **ब्रह्मणा पञ्चीकृतानि भूतानि** तान्येवोक्तस्य शब्दार्थप्रपञ्चजातस्य कारणमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

एवं विचित्रमिति । निरतिशयज्ञानवैराग्यसंपन्नो हि प्रजापतिः । यत्रेदमुच्यते–'ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्' इति ॥ सह स्वभावत एव[1] । एवंभूतोऽपि सृज्यप्राणिकर्मभिः प्रवर्तितस्य परमेश्वरस्याऽऽज्ञया [2]मायामयं जगन्निर्माय प्रभोराज्ञां निष्पन्नां मन्यमानः स्वाभाविकीं स्वरूपप्रतिष्ठां प्रापत् । तत्त्वनिष्ठैव चेयं लौकिकदृष्टीनामविषयत्वात्तमोरूपप्राप्तिरुच्यते । उक्तं गीतासु–'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' इति ॥ ५८ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे ब्रह्मसृष्टिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

प्रजापतेः स्वप्रतिष्ठत्वेऽवशिष्टसृष्टिः सृष्टपरिपालनं सांप्रतिकसंसारोपलम्भश्च कथं स्यादिति जिज्ञासमाना मुनयः पृच्छन्ति–एवं सृष्ट्वेति ॥ १ ॥

हे मुनियो ! ब्रह्मा ने पहले पहल जिन महाभूतों का पंचीकरण कर दिया था वे इस शब्द व अर्थ रूप सारे प्रपंच के कारण ब्रह्मवादियों द्वारा बताये गये हैं ॥ ५७ ॥

इस प्रकार महेश्वर की कृपा से अन्तरात्मा प्रजापति ने विचित्र स्वप्नसदृश जगत् रचा और पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो गये । यह स्वरूपस्थिति ही साधारण दृष्टि से तमोरूपता की प्राप्ति है क्योंकि इसमें भेदभिन्न जगत् का परामर्श नहीं ॥ ५८ ॥

हिरण्यगर्भ आदि विशेषसृष्टि नामक ग्यारहवा अध्याय

नैमिषारण्य के मुनियों ने आगे जिज्ञासा की–हे भगवन् ! इस प्रकार स्थावर व जंगम सृष्टियों को रचने के बाद ईश्वरात्मक ब्रह्माजी ने क्या किया–यह हमें शीघ्र बताइये । (जानने के लिये शीघ्रता इसलिये है कि यदि ब्रह्मा जी पूर्वाध्यायोक्त रीति से निश्चेष्ट हो गये तो उत्तरसृष्टि, परिपालन व अब तक व्यवस्था कैसे चल रही है–यह शंका उत्कट है ।) ॥ १ ॥

---

१. जातमात्रस्य प्रजापते र्न ज्ञानादिः, भयारत्यादिश्रवणात्ततश्च विनोपदेशं ज्ञानादिलाभः सहसिद्धवाक्यार्थ इति स्थितमाकर इत्यभिप्रेत्य सहपदार्थः स्वभावत एवेति व्याख्यातः ।

२. एवं व्यवस्थितोत्पत्तिकायां सृष्टौ सत्यताधीपरिजिहीर्षया मूले स्वप्नसममित्युक्तं, तद्व्याचष्टे मायामयमिति । न च मायिकेऽक्रमनियमः, स्वप्नादौ क्वचित् क्रमस्याप्युपलब्धेः । सृष्टेरुपलब्धतया प्रयोजनाभावेन तत्र शास्त्रतात्पर्यायोगात्, अनुपलब्धे ह्यर्थे तत्प्रामाण्यस्य तान्त्रिकैरभ्युपगमात्र हि सृष्ट्यादिप्रपंचः प्रतिपिपादयिषितः, किन्तर्हि, नेतीत्यादि निषेधायैवोपस्थापितो नेदं रजतमित्यत्र रजतवदिति वोध्यम् । दृष्टस्य गतिमनुक्त्वाऽद्वैतोपदेशस्यासम्भवत्वादुक्तं द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वमद्वैतसत्यत्वसिद्धेः । अध्यारोपापवादन्यायं च हित्वोपायान्तराभवआत्मवोधन इति गीताभाष्यादावुक्तत्वाच्चेति ।

सूत उवाच—संहारहेतुभूतेन तमसा परिवेष्टितः । विहाय तत्तमोरूपं सृष्टानामभिवृद्धये ॥ २ ॥
हिरण्यगर्भसंज्ञस्य ब्रह्मणो रूपमाप सः । हिरण्यगर्भं वक्ष्यामि तथाऽन्यदपि सुव्रताः ॥ ३ ॥
पञ्चभूतेषु जातेषु शब्दस्पर्शादिषु द्विजाः । विजातास्तेषु सत्त्वेन गुणेन ज्ञानशक्तयः ॥ ४ ॥
तथा समष्टिभूतानां द्विजाः स्वानां रजोगुणात् । शब्दस्पर्शादिभूतेषु विजाताः कृतिशक्तयः ॥ ५ ॥

संहारहेतुभूतेनेति । जगत्कर्तरि प्रजापतौ स्वरूपप्रतिष्ठे हि 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे' इत्युक्तरीत्या सकलं जगदव्यक्ते लीयते । अत उक्तं संहारहेतुभूतं तमः । तेन **परिवेष्टितस्तदुपाधिकः स सृष्टानामभिवृद्धये तत्तमोरूपं** विजहौ । अयमाशयः—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशलक्षणक्लेशपञ्चकमूलो हि कर्माशयः प्राणिभिरिहामुत्र च लोके भोक्तव्यः । यदुक्तं पतञ्जलिना—'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय' इति । यावच्च कर्मणां मूलभूतं क्लेशपञ्चकमनुवर्तते तावत्तस्य कर्माशयस्य त्रिविधः परिपाको भवति नानाविधयोनिषु जन्मप्राप्तिश्चाऽऽयुश्च सुखदुःखलक्षणफलोपभोगश्चेति । तदप्युक्तं तेनैव 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' इति । तत्र पूर्वोदीरितसृष्ट्यां केषांचिज्जन्महेतुकर्मणां चरितार्थत्वेऽप्यवशिष्टानां चाऽऽयुर्हेतूनां च कर्मणां फलप्रदानानुरूपसर्गपर्यन्तानां प्रभोराज्ञामनुसंदधानस्तदर्थं हिरण्यगर्भापरपर्यायस्य ब्रह्मणो रूपं प्रापदिति । यद्यपि ब्रह्मा हिरण्यगर्भरूप एव तथाऽपि सूतः प्राकृतसर्गशेषं विवक्षुरजिज्ञासिताभिधानेऽनवधेयवचनतापातात्तद्विषयां जिज्ञासां मुनीनामुत्पादयितुं **हिरण्यगर्भसंज्ञस्येति** विशिनष्टि । अमुनैव विशेषणेन मुनीञ्ज्ञातजिज्ञासानाकलय्यापृष्टोऽपि सूतः स्वयमेव वक्तुं प्रतिजानीते **हिरण्यगर्भमिति** । **तथाऽन्यदिति** । सूत्रात्मानमन्तर्यामिणं त्रयाणामपेक्षितमुपाधित्रयं तदुत्पत्तिप्रकारं चेत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

पञ्चभूतेष्विति । अयमर्थः अबुद्धिपूर्वकं तमोरूपमव्यक्तमुत्पन्नमिति यदवादिष्म तदधिष्ठितनिष्कलः परशिव ईश्वरः सगुणं ब्रह्मेति चोच्यते । तत उत्पन्नं यन्महत्तत्त्वं प्राकृतसर्गमध्ये प्रथमम्, 'सर्गस्तु प्रथमो ज्ञेयः' इति प्रागुक्तं, तस्य गुणत्रयात्मकत्वात्तत उत्पन्नानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रापरपर्यायाणि सूक्ष्मभूतान्यपि गुणत्रयात्मकान्येव । अतस्तेषु सत्त्वगुणनिबन्धना याः **पञ्चज्ञानशक्तयस्ताः** प्रत्येकं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च जनयन्ति । तेष्वेव पञ्चसु सूक्ष्मभूतेषु **रजोगुणात्समष्टिभूतानां स्वानां** वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानां कर्मेन्द्रियाणां कारणभूताः पञ्च क्रियाशक्तयो जायन्ते । तथेति कथनात्समष्टिभूतानां स्वानामित्येतत्पूर्वत्रापि योजनीयम् । तत्र तु श्रोत्रादीनां ज्ञानेन्द्रियाणां कारणभूता ज्ञानशक्तय इत्यर्थः । **समष्टिभूतानामिति** व्यष्टिव्यवच्छेदार्थम् । तथाहि—व्यष्टिभूतस्थूलभूतसूक्ष्मकारणोपाधिभिरुपहितं तत्त्वं विश्वतैजसप्राज्ञशब्दैरभिधीयते । समष्टिभूतैस्तैरुपहितं तत्त्वं वैश्वानरहिरण्यगर्भेश्वरपदैरभिधीयते । तथा ह्युत्तरतापनीयोपनिषदि श्रूयते 'विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादस्तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः' इति । तदिह हिरण्यगर्भस्य विवक्षितत्वात्समष्टिभूतानामित्युक्तम् । तत्र समष्टिसूक्ष्मभूतेषु पञ्चसु स्थिता ज्ञानशक्तयो मिलि[1]त्वा मनोबुद्ध्यपरपर्यायं समष्टिभूतमन्तःकरणं जनयन्ति । पञ्चभूतगतज्ञानशक्त्यात्मकस्यापि मनसश्छन्दोगोपनिषदि यदन्नमयत्वाभिधानम्, 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' इति, तदन्नप्राचुर्याभिप्रायम् । अन्ननिबन्धनोपचयाभिप्रायं वा । तथाच तत्रैव 'पञ्चदशाहानि माऽशी'रित्यादिनाऽन्नहानोपादानाभ्यां चित्तस्यापच[2]योपचयावेवोदाहरन्ति । अमुनैवाभिप्रायेण यज्ञवैभवखण्ड उपरिभागे पञ्चमाध्याये—'अन्नेनाऽऽप्यायिते भुक्तेनाधीतं

सूतजी ने बाताना आरंभ किया—संहार की कारणभूत अविद्यारूप उपाधि का परित्यागकर उत्पन्न प्रपंच की अभिवृद्धि के लिये उन्होंने हिरण्यगर्भनामक ब्रह्मा का रूप ग्रहण किया । अब मैं हिरण्यगर्भ तथा सूत्रात्मा आदि अन्य रूपों का वर्णन करूँगा ॥ २—३ ॥ (प्रजापति के स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर सकल जगत् का अव्यक्त माया में विलय अवश्यंभावी है अतः उस समय वे माया उपाधि वाले हो रहते हैं । इस विलयाधिकरणता की दृष्टि से संसारकारणभूत माया को यहाँ संहारकारणभूत कहा है । किन्तु प्रजापति को यह विलय अभीष्ट था नहीं अतः उन्होंने वह रूप छोड़ रूपान्तर ग्रहण किया । पूर्व में स्वरूपप्रतिष्ठा का अभिप्राय यही व्यक्त करता है कि सृष्टि करने आदि से आत्मा में कुछ अन्तर नहीं आता) ।

शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्ररूप सूक्ष्म महाभूतों के उत्पन्न हो जाने पर उनमें स्थित सात्त्विकांशों से ज्ञानशक्तिरूप श्रोत्र, त्वक् आदि ज्ञानेन्द्रियाँ उपजीं तथा उन्हीं सूक्ष्म महाभूतों के अपने-अपने रजोगुणांशों से क्रियाशक्तिरूप कर्मेन्द्रियाँ निर्मित हुई ॥ ४—५ ॥ महाभूतों में स्थित पाँचों ज्ञानशक्तियाँ मिलकर सबका समष्टि मन बन गयीं ॥ ६ ॥ उस समष्टि मन—अर्थात्

---

१. ग. ङ. °लितत्वान्मनो° । २. ङ. °चयौ चोदा° ।

भूतेषु संस्थिता ज्ञानशक्तयः पञ्च संयुताः । समष्टिभूतं सर्वेषां मानसं करणं भवेत् ॥ ६ ॥
तद्गतो भगवान्ब्रह्मा त्रिमूर्तीनां द्विजर्षभाः । हिरण्यगर्भ इत्युक्तो मुनिभिः सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ ७ ॥
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठाः संयुताः कृतिशक्तयः । समष्टिभूतः प्राणानां भवेत्प्राणः शिवाज्ञया ॥ ८ ॥
तत्रस्थो भगवान्विष्णुः सूत्रात्मेति प्रकीर्तितः । उभयत्र स्थितः साक्षात् त्रिमूर्तीनां महेश्वरः ॥ ९ ॥
अन्तर्यामीति वेदेषु गीयते वेदवित्तमाः । हिरण्यगर्भरूपं यः प्राप्तः श्रुतिषु निश्चितः ॥ १० ॥
स पुनर्भगवान्ब्रह्मा माययैव स्वकं पुनः[१] । द्विधा कृत्वा मुनिश्रेष्ठा अर्धेन पुरुषोऽभवत् ॥ ११ ॥
अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत्पुनः[२] । पुनश्च भगवानस्यां स्वराडाख्यं तथैव च ॥ १२ ॥
सम्राडात्माभिधं विप्रा असृजल्लोकनायकः । ते पुनस्तेन विप्रेन्द्र ब्रह्माण्डेनाऽऽवृतास्त्रयः ॥ १३ ॥

तस्य भासते' इत्याप्यायन एवान्नस्यासाधारणकारणतां वक्ष्यति । तदुपहितः परमात्मा **हिरण्यगर्भ** इत्युच्यते । स एव च ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यमूर्तित्रयमध्ये ब्रह्मेत्युच्यते ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

तथा सूक्ष्मभूतपञ्चके यत्क्रियाशक्तिपञ्चकं तन्मिलितं तत्समष्टिभूतं प्राणापानादिपञ्चवृत्तिकं प्राणं जनयति । 'आपोमयः प्राण' इत्यप्य[३]न्नमयवत्प्राचुर्याभिप्रायमुपचयाभिप्रायं वा ॥ ८ ॥

तदुपहितः परमात्मा **सूत्रात्मे**त्युच्यते । स एव च ब्रह्मादिमूर्तित्रयमध्ये **विष्णुरि**ति । **उभयत्रे**ति । क्रियाज्ञानप्रविभागमन्तरेण भूतशक्तिपञ्चकोत्पन्ने परिहृतमनःप्राणविभाग एकस्मिन्नुपाधौ स एव परमात्माऽ**न्तर्यामी**ति । स च ब्रह्मादिमूर्तित्रयमध्ये **महेश्वर** इत्युच्यते । अविभक्तज्ञानक्रियाशक्तित्वाविशेषात्कारणोपाधिक ईश्वरोऽप्यन्तर्यामीतिकथ्यते । 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' इति हि श्रूयते । **वेदेषु गीयत** इति । बृहदारण्यके पञ्चमाध्याय उद्दालकयाज्ञवल्क्यसंवादे सप्तमब्राह्मणे प्रष्टारमुद्दालकं प्रति याज्ञवल्क्येनोक्तम् । 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इत्यादिभिर्बहुभिः पर्यायैरन्तर्यामी निरूपितः । तथा 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रमि'त्यादिना प्राणः सूत्रात्मा निरूपितः । तथा 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इति हिरण्यगर्भोऽपि श्रुतिषु गीयते । **हिरण्यगर्भरूपमि**ति । ब्रह्मा हि त्रिमूर्तिमध्यवर्तिना ब्रह्माण्डाभिमानिविराडात्मना च व्यपदिश्यते । तदुभयमव्यवच्छेदेन समष्टिसूक्ष्मोपाधिकविवक्षया यः प्राग्घिरण्यगर्भरूपं प्राप्त इत्युदित इत्युक्तम् ॥ ९ ॥ १० ॥

द्विधा कृत्वेति । यदाह मनुः–'द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत्प्रभुः' ॥ इति । इयत्पर्यन्तं प्राकृतसर्गविशेषः । अव्यक्तमहदहंकारतन्मात्राणि ह्यष्टौ प्रकृतय इत्युच्यन्त इत्यारभ्य वैकृतसर्ग[४]विशेषः । विकारषोडशकान्तरवर्तिपञ्चीकृतभूतकार्यो हि ब्रह्माण्डः ॥ ११ ॥

विराजमिति । समष्टिरूपस्थूलभूतपञ्चमयब्रह्माण्डाभिमानिनम् । **स्वराडाख्यमि**ति ब्रह्माण्डान्तरवर्तिसमष्टिलिङ्गशरीराभिमानिनम् । **सम्राडात्मे**ति तदुभयकारणाव्याकृताभिमानिनम् । तेन स्रष्ट्रा हिरण्यगर्भेन **ब्रह्माण्डेनाऽऽवृता** इत्युक्तप्रकारेण ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥

समष्टि ज्ञानशक्ति रूप उपाधि वाले को सूक्ष्मदर्शी मुनियों ने हिरण्यगर्भ कहा है। त्रिमूर्ति में वे ही ब्रह्मा हैं ॥ ७ ॥ हे ब्रह्मविविदिषुओ ! सूक्ष्ममहाभूतों की पाँचों क्रियाशक्तियाँ मिलकर शिव की आज्ञा से समष्टि प्राण बन गया ॥ ८ ॥ उस उपाधि वाला—अर्थात् समष्टि क्रियाशक्तिरूप उपाधि वाला आत्मा सूत्रात्मा कहा जाता है । त्रिमूर्ति में वह ही विष्णु है । ज्ञान-क्रिया विभाग को छोड़कर जो केवल सूक्ष्मोपाधि आत्मा है वह अन्तर्यामी रूप से वेदों में बताया गया है । त्रिमूर्ति में वही महेश्वर है ॥ ९½ ॥

हे श्रेष्ठ मुनियो ! श्रुतियों में निश्चित किये ढंग से जो हिरण्यगर्भरूप को प्राप्त हुए थे उन भगवान् ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो हिस्सों में बाँट दिया । आधे हिस्से से वे पुरुष हो गये और आधे से नारी । उस नारी में उन्होंने विराट् को—समष्टि स्थूल ब्रह्माण्डाभिमानी को—उत्पन्न किया । फिर उसी में स्वराट् नाम वाले को—अर्थात् ब्रह्माण्ड के अन्दर होने वाले समष्टि लिंगशरीर के अभिमानी को—उत्पन्न किया ॥ १०–१२ ॥ इसी प्रकार सम्राडात्मा नाम वाले को—पूर्वोक्त दोनों के कारणभूत अव्याकृत

---

१. ख. वपुः । २. ङ. °जत्प्रभुः । ३. एवं प्राणो वायुविकारोऽध्यात्मं देहधारणपोषणोद्गमनादिकर्मेत्याद्युक्ति र्वायुप्राधान्यात्तस्य संगमनीयेति भावः । ४. क. ख. °र्गशे° ।

प्राधान्येन विराडात्मा ब्रह्माण्डमभिमन्यते । स्वराट् स्वरूपमुभयं सम्राडित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ १४ ॥
विराट्स्वायंभुवं विप्रा असृजन्मनुमास्तिकाः । असृजद्योगिनीं नारीं शतरूपां तपस्विनीम् ॥ १५ ॥
सा पुनर्मनुना तेन गृहीताऽतीव शोभना । तस्यां तेन समुत्पन्नः प्रियवृत्तस्तथैव च ॥ १६ ॥
उत्तानपादसंज्ञश्च तथा कन्याद्वयं पुनः । उत्तानपादजां कन्यां द्विजा दक्षप्रजापतेः ॥ १७ ॥
आकूतिं दत्तवाञ्शुद्धां मानसस्य प्रजापतेः । आकूत्यां मानसस्याभूद्यज्ञो विप्राश्च दक्षिणा ॥ १८ ॥
यज्ञस्य जज्ञिरे पुत्रा मुनयो द्वादशास्तिकाः । दक्षाज्जाताश्चतस्रश्च तथा पुत्र्यश्च विंशतिः ॥ १९ ॥
धर्मस्य दत्ता दक्षेण श्रद्धाद्यास्तु त्रयोदश । तथैव तेन संपन्नाः श्रद्धाद्याः कन्यका दश ॥ २० ॥

उक्तमेव प्रकारमाह–**प्राधान्येनेति** । **स्वरूपमिति** । **स्वरूपं** समष्टिलिङ्गस्वरूपं, समष्टिलिङ्गशरीरं तद्ध्यासंसारमनुवृत्तेः स्वरूपमित्युच्यते । यदाह व्यासः–'तदापीतेः संसारव्यपदेशादि'ति । आपीतिरप्ययो मायायास्तत्पर्यन्तमापीतेरिति । **अब्रवीच्छ्रुतिरिति** । तैत्तिरीयकोपनिषदि 'आपो वा इदं सर्वम्' इति प्रक्रम्य 'सम्राडापो विराडापः स्वराडापः' इति त्रितयात्मकत्वेनापां स्तुतिं कुर्वाणा श्रुतिरुक्तसम्राडादित्रितयं व्यवहृतवतीत्यर्थः । अन्यत्राप्येते बहुषु प्रदेशेषु श्रुत्या व्यवह्रिय[1]न्ते, उपरवाभिमन्त्रणे 'विराडसि सपत्नहा सम्राडसि भ्रातृव्यहा स्वराडस्यभिमातिहेति ।' तथा 'विराड्ज्योतिरधारयत्सम्राड्ज्योतिरधारयत्स्वराड्ज्योतिरधारयत्' इति ॥ १४ ॥

वैकृतसृष्टेः प्रस्तुतत्वाद्विकाररूपब्रह्माण्डाभिमानिना विराजैव कृतं सर्गमाह **विराट् स्वायंभुवमिति** । **विराड्ब्रह्मा** सोऽपि स्वशरीरं स्त्रीपुंसात्मकं कृत्वा तद्भागावेव मनुशतरूपे कृतवानित्यर्थः । तदुक्तं भागवते–'कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते । ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ यस्तु तत्र पुमान्सोऽभून्मनुः स्वायंभुवः स्वराट् । स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः' ॥ इति । कस्य विराड्ब्रह्मण इत्यर्थः । श्रुतिरप्याह–'स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्' इति प्रक्रम्य 'तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त' इत्यादि । स्वयंभुवो विराजोऽपत्यं स्वायंभुवो मनुः । तेनैव ह्युक्तम्–'तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् । तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः' ॥ इति । वृत्तं व्रतं प्रियवृतः प्रियव्रतः । **उत्तानपादजामिति** । उत्तानपादानुजां[2] जातां प्रसूतिं कन्यां दक्षप्रजापतये । **मानसस्येति** । रुचिप्रजापतये । यदाहान्यत्र–'ददौ प्रसूतिं दक्षाय आकूतिं रुचये पुरा । प्रजापतिः स जग्राह तयोर्यज्ञः सदक्षिणः' इति ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

यज्ञस्येति । दक्षिणायामिति शेषः । **दक्षाज्जाता** इति । चतुर्विंशतिकन्याः । तत्र श्रद्धाद्यास्त्रयोदश धर्मस्य पत्न्यः । यदाह पराशरः–'श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा तथा क्रिया । बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्तिस्त्रयोदशी ॥ पत्न्यर्थं प्रतिजग्राह धर्मो दाक्षायणीः प्रभुः' इति । ताभ्यः श्रद्धादिभ्यस्त्रयोदशभ्योऽवशिष्टाः ख्यात्यादय एकादश । तास्वष्टौ दक्षव्यतिरिक्तेभ्यः

के अभिमानी को–उत्पन्न किया (स्थूल सूक्ष्म व कारण रूप) ब्रह्माण्ड से परिच्छिन्न इन तीनों में विराट् स्थूल का अभिमानी है, स्वराट् स्वरूप का अर्थात् समष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी है और सम्राट् उन दोनों के कारण अव्याकृत का अभिमानी है । यह सब श्रुति ने तत्र तत्र बताया है ॥ १३–१४ ॥ (पूर्वोक्त त्रिमूर्ति कारणकोटि है व यहाँ कार्यकोटि का उल्लेख है यह विवेक है) ।

हे आस्तिको ! विराट् ने स्वायंभु मनु को उत्पन्न किया । विराट् ने ही योगज्ञ शतरूपा नामकी नारी को भी उत्पन्न किया ॥ १५ ॥ मनु ने उस स्त्री को पत्नी रूप से ग्रहण किया । उसमें मनु से प्रियवृत्त–या प्रियव्रत–और उत्तानपाद नामक दो पुत्र तथा दो कन्यायें उत्पन्न हुईं । उत्तानपाद के बाद पैदा हुई (प्रसूति नामक) कन्या का दक्ष प्रजापति से विवाह कर दिया तथा आकूति नामक दूसरी कन्या का (रुचि नामक) मानस प्रजापति से विवाह कर दिया ॥ १६–१७½ ॥ आकूति में मानस की सन्तान हुई–यज्ञ । दक्षिणा नामक उसकी पत्नी से यज्ञ के बारह पुत्र उत्पन्न हुए । दक्ष की चौबीस पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं ॥ १९ ॥ उनमें से श्रद्धा आदि तेरह कन्याओं का विवाह धर्म से कर दिया गया । अतएव धर्म को श्रद्धा आदि तेरह कन्यायें

---

१. ङ. °न्ते यथो प° । २. ग. ङ. °जां प्र° ।

ताभ्यः ख्यात्यादयो विप्रावशिष्टाः[1] षट् च पञ्च च । एवं कर्मानुरूपेण प्राणिनामम्बिकापतेः ।
आज्ञया बहवो जाता असंख्याता द्विजर्षभाः ॥ २१ ॥
स्वभावादेव संभूतं समस्तमिति केचन । तन्न सिध्यति विप्रेन्द्रा देशकालाद्यपेक्षया ॥ २२ ॥
कर्मणैव समुत्पन्नं समस्तमिति केचन । तच्छ्रुतिस्मृतिवादस्य विरुद्धं मुनिपुंगवाः ॥ २३ ॥
पुरा हिमवतः पार्श्वे मुनिः सत्यवतीसुतः । सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव वैशंपायन एव च ॥ २४ ॥
पैलः कपिलसंज्ञश्च तथा विप्राः पतञ्जलिः । अक्षपादः कणादश्च तथैवाऽऽङ्गिरसो मुनिः ॥ २५ ॥
मुकुन्दो मोचकश्चैव महाकालो महामतिः । कालरूपः कलामाली कामरूपः कपिध्वजः ॥ २६ ॥

प्रजापतिभ्योऽष्टभ्यो भवायैका पितृभ्य एका वह्नय एका । यदाह पराशरः–'ताभ्यः शिष्टा यवीयस्य एकादश सुलोचनाः । ख्यातिः सत्पथसंभूतिः स्मृतिः प्रीतिः क्षमा तथा ॥ सन्नतिश्चानसूया च ऊर्जा स्वाहा स्वधातथा । भृगुर्भवो मरीचिश्च तथा चैवाङ्गिरा मुनिः । पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्चर्षिवरस्तथा ॥ अत्रिर्वसिष्ठो वह्निश्च पितरश्च यथाक्रमम् । ख्यात्याद्या जगृहुः कन्याः' इति ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

न केनचित्सृष्टं स्वाभाविकमेवैतज्जगदिति लोकायतिकास्त[2]मुपन्यस्य निरस्यति–**स्वभावादेवेति** । काश्मीरेष्वेव कुङ्कुममिति देशापेक्षा । अहन्येव कमलानां विकासः रात्रावेवोत्पलानामिति कालापेक्षा । आदिशब्देन पुण्यकृत एव सुखं पापिन एव दुःखमित्यदृष्टापेक्षा । सर्वमिदमीश्वरेच्छयेतीश्वरापेक्षा । सर्वमेवैत[3]त्स्वभाव इतिचेत् ? न । ईदृग्विधस्य लोकायतपक्षस्य वैदिकमताविशेषात्[4] ॥ २२ ॥

कर्मणैवेति[5] अनीश्वरवादिनः । **श्रुतिस्मृतिवादस्य विरुद्धमिति** । ननु 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति वाजसनेयोपनिषदि कर्मणैवेति पक्षः स्वीकृतः ? न । ईश्वराधिष्ठितयोरेव तयोः स्वरूपलाभः स्वकार्य[6]कर[7]त्वं चेत्यपि श्रुतावेवोदीरणात् । श्रूयते हि–एष[8] उ एव साधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषती'ति । व्यासोऽपीश्वरादेव फलप्राप्तिमाह–'फलमत उपपत्ते'रिति । स्मर्यते च–'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इति ॥ २३ ॥

प्राप्त हुईं ॥ २० ॥ उनसे बची ग्यारह कन्याओं का भी यथायोग्य विवाह कर दिया गया । (दक्ष को छोड़ अन्य आठ प्रजापतियों को एक-एक, भव को एक, पितरों को एक और वह्नि को एक कन्या प्रदान कर दी ।) इस प्रकार प्राणियों के कर्मों के अनुसार अम्बिकानाथ भगवान् शंकर की आज्ञा से असंख्य प्रजायें उत्पन्न हो गयीं ॥ २१ ॥

हे ब्राह्मणोत्तमो ! कुछ लोग कहते हैं कि यह सारा प्रपंच स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है । किन्तु यह बात युक्तिसिद्ध नहीं क्योंकि संसार की वस्तुएँ देश काल आदि निमित्तों की अपेक्षा रखती देखी जाती हैं जो व्यवस्था स्वभाववाद में संभव नहीं ॥ २२ ॥ (स्वभाव वस्तु का धर्म होने से लब्धसत्ताक वस्तु में रहता है अतएव वस्तु का कारण क्योंकर होगा ? कहीं भी पुत्र पिता का कारण नहीं सुना गया है । किंच स्वभाव अपरिवर्तनीय हुआ करता है । जागतिक वस्तुओं में देशादिसापेक्ष परिवर्तन प्रत्यक्ष है । और भी, सत्स्वभाव वस्तु का कभी अभाव न हो पायेगा व असत्स्वभाव वस्तु कभी सत्ता में नहीं आ पायेगी जबकि होता यही है कि पूर्व में अविद्यमान बालक उत्पन्न होता है व पूर्व में विद्यमान पितामह आदि मरते हैं । अतएव तत्तकालविशिष्ट वस्तु का तत्तत्स्वभाव भी मान नहीं सकते, तत्कालविशिष्ट का सत्स्वभाव होने पर वह नित्य हो जायेगी । सदसद्विलक्षण स्वभाव मानने पर अनिर्वचनीयतावाद हो जायेगा । अतः स्वभाववाद युक्तिसह नहीं ।)

हे मुनिश्रेष्ठो ! कुछ लोग मानते हैं सब कुछ कर्म से ही उत्पन्न हुआ है । किन्तु यह भी श्रुति व स्मृति में निर्णीत सिद्धान्त के विरुद्ध है ॥ २३ ॥ (श्रुति आदि शास्त्र ने शिव को ही जगत् का कारण स्थापित किया है अतः कर्म को कारण मानना शास्त्रसंमत नहीं । जड होने से कर्म इस जटिल और व्यवस्थित संसार का हेतु और संचालक बन भी नहीं सकता । किंच कर्म

---

१. सन्धिरार्षः । २. ग. °स्तदुप° । ३. ईश्वरपरामर्शक एतच्छन्दः । ४. देवस्यैष स्वभावोयमिति स्मृतेरित्यर्थः । ५. अपूर्वद्वारेति शेषः । अपूर्वस्य चाऽप्रामाणिकत्वमभाणि बृहद्भाष्ये (३.८.९) 'अपूर्वमिति चेन्ने' त्यादिनेति द्रष्टव्यम् । 'कर्म हैव तदूचतु' (बृ. ३. २. १३) रिति श्रुत्यक्षरस्मारणायेह कर्मेत्युक्तम् । ६. क. °र्यकारणं चे° । ७. घ. °रणं चे° । ८. ङ. °ष एवं तु सा° ।

वेदज्ञो वैदिको विद्वान्वि[1]द्वेषी वेणुवाहनः । [2]बाल्वलो बकुलो वह्निर्वज्रदण्डः परंतपः ॥ २७ ॥
पापनाशः पवित्रश्च तथाऽन्ये च महर्षयः । परस्परं विचार्याथ श्रद्धया परमर्षयः ॥ २८ ॥
संशयाविष्टमनसस्तपश्चेरुर्महत्तरम् । एतस्मिन्नन्तरे रुद्रः प्रसन्नः करुणानिधिः ॥ २९ ॥
स्वयमाविरभूत्तेषां पुरतः परमेश्वरः । तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे प्रसन्नेन्द्रियबुद्धयः ॥ ३० ॥
प्रणम्य परया भक्त्या भगवन्तं त्रिलोचनम् । कृताञ्जलिपुटाः सर्वे पप्रच्छुः परमेश्वरम् ॥ ३१ ॥
देवदेवो महादेवः सर्वज्ञः करुणानिधिः । कपर्दी नीलकण्ठश्च कालकालो महेश्वरः ॥ ३२ ॥
सोमार्धशेखरः सोमः सोमसूर्याग्निलोचनः । उवाच मधुरं वाक्यं मुनीनां संशयापहम् ॥ ३३ ॥
ईश्वर उवाच—न स्वभावाज्जगज्जन्मस्थितिध्वंसा मुनीश्वराः । न मया केवलेनापि न च केवलकर्मणा[3] ॥ ३४ ॥
प्राणिनां कर्मपाकेन[4] मया च मुनिसत्तमाः । जगतः संभवो नाशः स्थितिश्च भवति द्विजाः ॥ ३५ ॥
एवं कर्मानुरूपेण जगज्जन्मादि यन्मया । एष स्वभावो विप्रेन्द्रा इति वेदार्थनिर्णयः ॥ ३६ ॥
सूत उवाच—एवमुक्त्वा महादेवः सर्वज्ञः करुणानिधिः । अनुगृह्य मुनिश्रेष्ठांस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ३७ ॥

उक्तेऽर्थे मुनीनां संशयापनयनाय परमेश्वरवाक्यमुदाहर्तुं संशयानान्मुनीननुक्रामति—पुरा हिमवत इत्यादिना ॥ २४-३२ ॥

साध्यस्वभाव होने से साधक का कार्य है अतएव साधक का कारण नहीं हो सकता । अनादित्यकल्पना की अन्धपरंपरा मानना अप्रामाणिक होगा । और कर्म दृष्टनष्टस्वभाव होने से कालान्तर में फल कैसे दे सकता है ? अपूर्वनामक वस्त्वन्तर में कोई प्रमाण नहीं । अर्थापत्ति ईश्वर से ही गतार्थ हो जाने से अपूर्व की साधिका नहीं व अन्य कोई प्रमाण नहीं । अतः शिवातिरिक्त कोई कारण इस जगत् का नहीं । एक नास्तिकों के व एक आस्तिकों के मत का उल्लेख अन्य ऐसे सब मतवादों के उपलक्षणार्थ है । पुद्गल, शून्य आदि अप्रामाणिक व जड होने से अकारण हैं । क्षणिक विज्ञान क्षणिक होने से ही अकारण है क्योंकि कारण का कार्यकाल में रहना आवश्यक है । परमाणु व प्रकृति भी अप्रामाणिक व जड होने से कारण नहीं है । अन्य भी कारणत्वेन अभिमत वस्तुओं की अयोग्यता समझ लेनी चाहिये ।)

प्राचीन काल में एक बार इस विषय में इन मुनियों ने हिमालय के निकट स्थित हो श्रद्धापूर्वक विचार किया था—सत्यवतीपुत्र व्यास, सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन, पैल, कपिल, पतञ्जलि, अक्षपाद, कणाद, अंगिरस, मुकुन्द, मोचक, महाकाल, महामति, कालरूप, कलामाली, कामरूप, कपिध्वज, वेदज्ञ, वैदिक, विद्वान्, विद्वेषी, वेणुवाहन, बाल्वल, बकुल, वह्नि, वज्रदण्ड, परन्तप, पापनास, पवित्र आदि ॥ २४–२८ ॥ किन्तु कोई निर्णय न होने से ये संशयापन्न हो गये और सबने महत्तर तप किया तब करुणामूर्ति रुद्र प्रसंन हो स्वयं उनके सामने प्रकट हुए । उन्हें देख सब मुनि शान्तमानस हुए और भगवान् को परम भक्तिपूर्वक प्रणामकर सश्रद्ध सविनय उनसे इस विषय में पूछने लगे ॥ २९–३१ ॥ देवाधिदेव, सर्वज्ञ, करुणालय, जटिल, नीलकण्ठ, कालशिक्षक, सोमार्धचूडामणि, चन्द्र-सूर्य-वह्निलोचन, उमासमेत महेश्वर महादेव ने मुनियों के संशय के निवारक इस वाक्य को कहा—॥ ३२–३३ ॥ ईश्वर बोले—हे मुनियो ! स्वभाव से जगत् के जन्मादि नहीं होते । न अकेले मैं ही इसे उत्पन्न करता हूँ और न केवल कर्म से ही यह पैदा हो जाता है ॥ ३४ ॥ प्राणिकर्मों का पकना और मैं—हम दोनों से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व नाश होते हैं ॥ ३५ ॥ इस प्रकार जो मेरे द्वारा प्राणियों के कर्म के अनुसार जगज्जन्मादि किया जाता है वही मेरा स्वभाव कहा जाता है । यह वेद का निर्णीत सिद्धान्त है ॥ ३६ ॥ (हमारे किये को शिव जानते हैं । शिव का

---

१. ख. न्विद्वेषो व° । २. ङ. बिल्वलो । ३. देवप्रसादकोपरूपमायावृत्तिविशेषस्य कर्मापूर्वादिवाच्यत्वमुपेयमन्यथाऽतिप्रसंगादिति स्वमते व्यवस्थां वक्तुं केवलविशेषणम् । कर्म नाम स्वतन्त्रः पदार्थः कश्चनार्थापत्तिसिद्ध इति यन्मतं तन्न; ईश्वरज्ञानेच्छादिरूपं तु स्वीक्रियत एव कर्मेति तात्पर्यम् । एवंभूतकर्मणां फलं प्रति निमित्तोपादानोभयात्मकत्वमीश्वरस्य पुन र्निमित्तत्वमेवेति विभागः । ४. एतानि कर्माणि सम्प्रति फलवन्ति भूयासुरितीश्वरेच्छैव कर्मणां पक्वता । अतएव कर्मपाके को हेतुः, कर्म चेत्स्वात्माश्रयो दोषोऽकारणं चेदतिप्रसंग इत्यादिकुचोद्योपशमः, इच्छास्वातन्त्र्यस्य संमतत्वात् । तत्रपि हेत्वन्वेषणेऽनवस्थानादिति दिक् ।

मुनयश्च पुनर्विप्राः समाभाष्य परस्परम् । अतीव प्रीतिमापन्ना अगमन्वेदवित्तमाः ॥ ३८ ॥
भवन्तोऽपि मुनिश्रेष्ठाः प्राणिकर्मानुरूपतः । सृष्ट्वा संहरतीशान इति वित्त जगत्सदा ॥ ३९ ॥
इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा नैमिषीयास्तपोधनाः । प्रसन्नहृदयाः शर्वं पूजयामासुरादरात् ॥ ४० ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे हिरण्यगर्भादिविशेषसृष्टिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः—भगवन्सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानवतां वर । जातिनिर्णयमस्माकं वद वेदैकदर्शितम् ॥ १ ॥
सूत उवाच—वक्ष्ये लोकोपकाराय जातिनिर्णयमादरात् । अगस्त्योऽपि पुराऽपृच्छत्प्रणम्य वृषवाहनम् ॥ २ ॥

मुनीनां यथोपन्यस्तः संशयस्तन्निरासाय परमेश्वरप्रणिधानं च श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छया भूतानि योनिः पुरुषः' इति चिन्त्यम् । 'संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः' । 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणएनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे हिरण्यगर्भादिविशेषसृष्टिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

'प्राणिनां कर्मपाकेन मया चे'त्युक्तत्वात्कर्मणां च जातिभेदेन व्यवस्थितत्वाज्जातिभेदं जिज्ञासमाना मुनयः पृच्छन्ति—भगवन्निति । वेदैकदर्शितमिति । स्मृतिपुराणानामपि मूलभूतवेदानुमा[1]पनेनैव धर्मे प्रमाणत्वात् । वेदैकप्रमाणको धर्म इति जैमिनिरप्याह—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति ॥ १ ॥

अगस्त्योऽपीति । स शिवं यदपृच्छत्तस्मै शिवेनोक्तं तदहं वो वच्मीत्यर्थः ॥ २ ॥

यह जानना ही हमारा पुण्य या पाप है । 'अब यह प्राणी इस कर्म का फल भोगे' ऐसी शिवेच्छा ही कर्म का पकना या फलोन्मुख होना है । क्योंकि इच्छा में स्वातन्त्र्य सर्वसंमत है अतः इस पक्ष में कोई दोष नहीं । अकेले शिव को कारण मानने से वैषम्यादि दोष होगा । केवल कर्म को मानने पर पूर्वोक्त मत ही होने लगेगा । अतः दोनों की हेतुता कही । क्योंकि कर्म भी शिवज्ञानरूप ही है अतः शिव का पारतन्त्र्य भी नहीं ।)

सूतजी बोले—ऐसे शंका का समाधान कर कृपासागर महादेव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३७ ॥ मुनियों ने भी इस प्रसंग पर और बातचीत कर उक्त निर्णय को दृढतर किया और संशय निवृत्ति से अत्यन्त प्रसन्न हो निज स्थानों को चले गये ॥ ३८ ॥ आप लोग भी यही समझ लीजिये कि ईशान ही जीवकर्मों के अनुरूप संसार को रचते और लीन करते हैं ॥ ३९ ॥

यह सुन नैमिषारण्यीय मुनियों ने प्रसन्न हो भगवान् शर्व का पूजन किया ॥ ४० ॥

जाति-निर्णय नामक बारहवा अध्याय

(कर्मानुसार जन्म होता है सुनकर स्वाभाविक है कि कर्माधिकार में निमित्तभूत जातिविषयक जिज्ञासा हो । वैदिक धर्मों का विधान वर्णों व आश्रमों के उद्देश्य से ही हुआ है । यदि किसी को वर्णाभिमान और आश्रमाभिमान न रहे तो उसके लिये कुछेक सत्यवदनादि सामान्य धर्मों से अतिरिक्त अन्यान्य शुभ कर्म करना संभव न रहेगा व उनसे होने वाले उत्तमोत्तम फलों से भी वह वंचित रहेगा । अतः—) नैमिषारण्य के मुनियों ने प्रार्थना की—सब शास्त्रों के मर्मज्ञ सूत जी ! हमें जातिविषयक निर्णय बताइये ॥ १ ॥

सूत जी बोले—हे मुनियो !एक बार अगस्त्य ने वृषभवाहन शंकर से यही प्रश्न किया था । जो उत्तर शिव से उन्हें मिला था वही मैं लोकोपकार के लिये आपके सामने व्यक्त करूँगा ॥ २ ॥

---

१. ख. °मानेनैव ।

पुरा सर्वे मुनिश्रेष्ठाः प्रलये विलयं गते । अन्धकारावृते लोके विष्णोरंशो महाद्युतिः ॥ ३ ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषो वि[1]ष्णुर्नारायणाभिधः । क्षीराब्धौ चिन्तयन्रुद्रं सुष्वाप ब्रह्मवित्तमाः ॥ ४ ॥
कदाचित्पङ्कजं विप्रास्तरुणादित्यसंनिभम् । तस्य सुप्तस्य देवस्य नाभ्यां जातं महत्तरम् ॥ ५ ॥
हिरण्यगर्भो भगवान्ब्रह्मा विश्वजगत्पतिः । आस्थाय परमां मूर्तिं तस्मिन्पद्मे समुद्बभौ ॥ ६ ॥
तस्य वेदविदां श्रेष्ठा ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । महादेवाज्ञया पूर्ववासनासहितान्मुखात् ॥ ७ ॥
ब्राह्मणा ब्राह्मणस्त्रीभिः सह जातास्तपोधनाः । [2]तस्य हस्तात्सह स्त्रीभिर्जज्ञिरे पृथिवीभुजः ॥ ८ ॥
ऊरुभ्यां सहिताः स्त्रीभिर्जाता वैश्याः शिवाज्ञया । पद्भ्यां शूद्राः सह स्त्रीभिर्जज्ञिरे वेदवित्तमाः ॥ ९ ॥
स्वस्त्रीषु स्वस्य वैधेन मार्गेणोत्थः स्वयं भवेत् । अवरात्तूत्तमाज्जातस्त्वनुलोमः प्रकीर्तितः ॥ १० ॥
उत्तमास्ववराज्जातः प्रतिलोम इति स्मृतः । वर्णस्त्रीष्वनुलोमेन जातः स्यादान्तरालिकः ॥ ११ ॥
वर्णात्तु प्रतिलोमेन जातो व्रात्य इति स्मृतः । ब्राह्मण्यां सधवायां यो ब्राह्मणेन द्विजोत्तमाः ।
जातश्चौर्येण कुण्डोऽसौ विधवायां तु गोलकः ॥ १२ ॥

प्रलय इति । नैमित्तिकप्रलयावसरे लोकत्रये विलयं गते सति सुष्वापेत्य[3]न्वयः । प्रलयकाले वा विलयं प्राप्ते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ॥ ५ ॥ ६ ॥

सर्गावसरे ब्रह्मणो मुखाद् ब्राह्मणा जाता इत्यनेनान्वयः । मुखाद् ब्राह्मणा इति । श्रूयते हि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इति ॥ ७ ॥

ब्राह्मणा इत्यादि जात्यभिप्रायमत उक्तं सह स्त्रीभिरिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

असंकीर्णस्य जातिचतुष्टयस्य लक्षणमाह—स्वस्त्रीष्विति । ब्राह्मण्यां ब्राह्मणस्य क्षत्रियायां क्षत्रियस्येत्यादि । स्मर्यते हि—'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि स्व[4]जातयः' इति । वैधेनेति । विवाहादिविध्युक्तेन । अन्यथा जातानां कुण्डगोलकादीनां सत्यपि सवर्णत्वे शूद्रधर्मत्वं स्मर्यते—'शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वस्तजाः स्मृताः' इति । संकीर्णाननुलोमजानाह—अवरास्विति । क्षत्रियवैश्याशूद्रासु ब्राह्मणस्य । वैश्यशूद्रयोः क्षत्रियस्य । शूद्रायां वैश्यस्येत्यर्थः ॥ १० ॥

उत्तमास्विति । ब्राह्मण्यां क्षत्रियादित्रयात् । क्षत्रियायां वैश्यशूद्राभ्याम् । वैश्यायां शूद्रादित्यर्थः । वर्णस्त्रीष्विति ॥ ११ ॥ अनुलोमप्रतिलोमजाः स्त्रियो व्यवच्छिनत्ति—वर्णास्वित्यपि । कुण्डगोलकयोर्लक्षणमाह—ब्राह्मण्यां सधवायामिति ॥ १२ ॥

प्रलयकाल में सब विलीन था व अंधकार से ढँका था । उस समय विष्णु के अंश नारायण नामक सहस्रशीर्षा पुरुष क्षीरसागर में रुद्र का ध्यान करते हुए लेटे थे ॥ ३–४ ॥ यों सोये उन देवकी नाभि से अरुणोदयकालिक सूर्य के वर्णका एक कमल उत्पन्न हुआ ॥ ५ ॥ उस पर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा चतुर्मुखी मुर्ति धारण कर प्रकट हुए ॥ ६ ॥ महादेव की आज्ञानुसार उन ब्रह्मा के मुख से, जिस मुख में पूर्वकल्पीय स्वोपादानक सृष्टि विलीनरूप से मौजूद थी, ब्राह्मण स्त्रियों समेत ब्राह्मण उत्पन्न हुए । उन्हीं के हाथ से स्त्रियों सहित पृथ्वीपालक क्षत्रिय उत्पन्न हुए ॥ ८ ॥ ब्रह्मा की ही जंघा से वैश्य पुरुष और स्त्रियाँ पैदा हुए । उन्हीं के पैरों से शूद्र स्त्री-पुरुषों का जन्म हुआ ॥ ९ ॥

एक जाति वाले पुरुष व स्त्री हों तथा उनका विधिवत् विवाह हुआ हो तो उनसे उत्पन्न प्रजा भी उसी जाति की होती है । पुरुष श्रेष्ठ जाति का व स्त्री कनिष्ठ जाति की हो तो प्रजा अनुलोम कही जाती है ॥ १० ॥ स्त्री श्रेष्ठ जाति की व पुरुष कनिष्ठ जाति का हो तो उनकी प्रजा प्रतिलोम होती है । सवर्ण स्त्रियों में अनुलोम जाति के पुरुष से उत्पन्न प्रजा आन्तरालिक कहलाती है ॥ ११ ॥ प्रतिलोम जाति के पुरुष से सवर्णस्त्रियों में उत्पन्न प्रजा व्रात्य कही जाती है । सधवा ब्राह्मणी में चोरी से किसी ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न प्रजा कुण्ड तथा विधवा ब्राह्मणी में चोरी से किसी ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न प्रजा गोलक कही जाती है ॥ १२ ॥ (अन्य जातियों में भी चोरी से उत्पन्न प्रजा को सामान्यतः इन दोनों नामों से सूचित किया जाता है) । क्षत्रिय स्त्री

---

१. ख. ग. विश्वो नारा° । २. ब्राह्मणा अरक्षिता धनसेवकयोश्चाभावे कस्मैचिदपि वीर्यवत्कर्मणेऽसमर्था इति ते तथा कुर्युरित्याशयेन परमेष्ठिना वर्णान्तराणि समुत्पादितानीति वर्णोत्पत्तेः प्रयोजनं शातपथीये व्यक्तम् । ३. ग. °त्यर्थः प्र° । ४. क. ख. द्विजातयः ।

नृपायां ब्राह्मणाज्जातः सवर्ण इति कीर्तितः ॥ १३ ॥

चौर्यादस्यामनेनोत्थो नाम्ना नक्षत्रजीवनः । वैश्यायां ब्राह्मणाज्जातो निषादो वेदवित्तमाः ॥ १४ ॥

अस्यामनेन चौर्येण कुम्भकारोऽभिजायते । ऊर्ध्वनापित एवासौ नाम्ना वेदविदां वराः ॥ १५ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणेनोत्थो द्विजाः पारशवः स्मृतः । चौर्येणास्यां निषादोऽभून्नाम्ना वेदार्थवित्तमाः ॥ १६ ॥

दौष्यन्त्यां ब्राह्मणाज्जात आपीताख्यो भवेद् द्विजाः । आयोगव्यां तु विप्रेण पिङ्गलो नाम जायते ॥ १७ ॥

विप्रायां क्षत्रियाज्जातः सूत इत्युच्यते बुधैः । चौर्येणास्यामनेनोत्थो रथकार इति स्मृतः ॥ १८ ॥

क्षत्रियस्त्रीषु वैश्यात्तु भोजश्चौर्याद्विजायते । वैश्यायां क्षत्रियाज्जातो माहिष्योऽम्बष्ठसंज्ञितः ॥ १९ ॥

चौर्येणास्यामनेनोत्थो भवेदविरसंज्ञितः । शूद्रायां क्षत्रियाज्जातो दौष्यन्त्याख्यो भवेद् द्विजाः ॥ २० ॥

चौर्येणास्यामनेनोत्थः शूलिको भवति द्विजाः । ब्राह्मण्यां वैश्यतो जातः क्षत्ता भवति नामतः ॥ २१ ॥

अस्यामनेन चौर्येण म्लेच्छो विप्राः प्रजायते । जातो वैश्यान्नृपायां यः शालिको मागधश्च सः ॥ २२ ॥

अस्यामनेन चौर्येण पुलिन्दो जायते बुधाः । मणिकारस्तु वैश्यायां चौर्याद्वैश्येन जायते ॥ २३ ॥

शूद्रायां वैश्यतो जात उग्र इत्युच्यते बुधैः । अस्यामनेन चौर्येण कटकारः प्रकीर्तितः ॥ २४ ॥

शूद्राद्विप्राङ्गनायां तु चण्डालो नाम जायते । अस्यामनेन चौर्येण बाह्यदासस्तु जायते ॥ २५ ॥

नृपायामिति । क्षत्रियायामनुलोमजो विधिना जातश्चेत्सवर्णः । चौर्येण चेन्नक्षत्रजीवीत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

कुम्भकारस्यैव नामान्तरमूर्ध्वनापित इति ॥ १५ ॥ १६ ॥

दौष्यन्त्यामिति । शूद्रायां क्षत्रियाज्जातो दौष्यन्त इति वक्ष्यति । तज्जातिः स्त्री दौष्यन्ती । आयोगव्यामिति । शूद्राद्वैश्यायां जात आयोगवः । तज्जाता स्त्र्यायोगवी । एतावत्पर्यन्तं ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्यादिषु चौर्यजा अचौर्यजाश्चोक्ताः ॥ १७ ॥

क्षत्रियेण ब्राह्मण्यादिषु पूर्ववद् द्विविधानाह–विप्रायां क्षत्रियादित्यादिना ॥ १८ ॥

माहिष्य इत्यम्बष्ठ इति नामद्वयेनोक्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥ २० ॥

वैश्याद् ब्राह्मण्यादिषु पूर्ववद् द्विविधानाह–ब्राह्मण्यां वैश्यतो जात इत्यादिना ॥ २१ ॥

शालिकमागधशब्दौ पर्यायौ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

शूद्राद् ब्राह्मण्यादिषु पूर्ववद् द्विविधानाह–शूद्राद्विप्राङ्गनायामित्यादिना ॥ २५ ॥

में ब्राह्मण पुरुष द्वारा विवाहपूर्वक उत्पादित प्रजा सवर्ण नामकी होती है और क्षत्रिय स्त्री व ब्राह्मण पुरुष की चोरी से उत्पादितप्रजा नक्षत्रजीवन कहलाती है ॥ १३¹/₂ ॥ वैश्य स्त्री व ब्राह्मण पुरुष की वैध संतान निषाद होती है व उन्हीं की अवैध–विवाह के बिना हुई–संतान के दो नाम हैं कुम्भकार व ऊर्ध्वनापित ॥ १४–१५ ॥ शूद्र स्त्री व ब्राह्मण पुरुष की वैध प्रजा पारशव और अवैध प्रजा निषाद कही जाती है ॥ १६ ॥ दौष्यन्ती स्त्री में (द्रष्टव्य श्लो. २०) ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न आपीत नामक प्रजा होती है । आयोगवी स्त्री में (शूद्र पुरुष व वैश्य स्त्री की संतान आयोगव होती है) ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न प्रजा पिंगल नाम वाली होती है ॥ १७ ॥

ब्राह्मणी में क्षत्रिय से उत्पन्न को जानकारों द्वारा सूत कहा जाता है तथा यही यदि प्रजा अवैध हो तो रथकार कही जाती है ॥ १८ ॥ क्षत्रिय स्त्रियों में वैश्य पुरुष द्वारा चोरी से उत्पादित प्रजा का नाम होता है भोज । वैश्य स्त्री में क्षत्रिय पुरुष द्वारा उत्पन्न वैध संतान माहिष्य और अम्बष्ठ कही जाती है जबकि वैसी ही अवैध संतान अविर कही जाती है । शूद्रा स्त्री व क्षत्रिय पुरुष की वैध संतान दौष्यन्त्य और अवैध संतान शूलिक होती है ॥ १९–२०¹/₂ ॥ ब्राह्मणी और वैश्य की वैध संतान क्षत्ता तथा अवैध संतान म्लेच्छ कही जाती है । क्षत्रिय स्त्री व वैश्य पुरुष की वैध संतान शालिक या मागध कही जाती है और वही अवैध होने पर पुलिन्द कही जाती है । वैश्य स्त्री-पुरुष की अवैध सन्तान मणिकार कहाती है ॥ २१–२३ ॥ शूद्र स्त्री में वैश्य पुरुष की वैध प्रजा उग्र और अवैध प्रजा कटकार कही गयी है ॥ २४ ॥

शूद्र पुरुष और ब्राह्मणी की वैध संतान चण्डाल तथा अवैध संतान बाह्यदास कही जाती हैं ॥ २५ ॥ शूद्र पुरुष व क्षत्रिय

जातः शूद्रेण राजन्यां वैदेहाख्यश्च पुल्कसः । अस्यामनेन चौर्येण वेलवाख्यो विजायते ॥ २६ ॥
जातः शूद्रेण वैश्यायां भवेत्पत्तनशालिकः । अनेनास्यां भवेच्चक्री चौर्याद् ब्रह्मविदां वराः ॥ २७ ॥
चौर्याच्छूद्रेण शूद्रायां जातो माणविको भवेत् । अम्बष्ठायां समुत्पन्नः सवर्णेन द्विजोत्तमाः ॥ २८ ॥
आग्नेयनर्तकाख्यः स इति प्रोक्तो महात्मभिः । करणायां तु विप्रेन्द्रा माहिष्याद्यो विजायते ॥ २९ ॥
स तक्षा रथकारश्च प्रोक्तः शिल्पी च वर्धकी । लोहकारश्च कर्मार इति वेदार्थवेदिभिः ॥ ३० ॥
विप्रायामुग्रतो जातस्तक्षवृत्तिः प्रकीर्तितः । वैश्यायां तेन निष्पन्नः समुद्रो नाम जायते ॥ ३१ ॥
ब्राह्मण्यां यो निषादेन जनितः स तु नापितः । नृपायां यो निषादेन जातोऽधोनापितः स्मृतः ॥ ३२ ॥
विप्रायां नापिताज्जातो वेणुकः परिकीर्तितः । राज्ञ्यां यो जनितस्तेन कर्मकारः स उच्यते ॥ ३३ ॥
द्विजोत्तमायां [1]दौष्यन्ताद्भागलब्धः प्रजायते । वैश्यायां तु निषादेन सुनिषादोऽभिजायते ॥ ३४ ॥
ब्राह्मण्यां यो मुनिश्रेष्ठा वैदेहेन प्रजायते । स नाम्ना रजको ज्ञेयः पण्डितैः पण्डितोत्तमाः ॥ ३५ ॥
द्विजोत्तमायां [2]चण्डालाद्यः पुमाञ्जायते भुवि । श्वपचः स तु विज्ञेयः सर्वशास्त्रविशारदैः ॥ ३६ ॥
श्वपचाद्विप्रकन्यायां गुहको जायते सुतः । वैश्यायां यस्तु चण्डालाज्जातो दन्तकवेलकः ॥ ३७ ॥
जनितोऽनेन शूद्रायां विप्रा आश्रमकः[3] स्मृतः । प्रतिलोमनिषादाद्यः शूद्रायां स तु भैरवः ॥ ३८ ॥
शूद्रायां मागधाज्जातः कुकुन्दः प्रोच्यते बुधैः । नृपायां मागधाज्जातः खनकः परिकीर्तितः ॥ ३९ ॥
खनकाद्राजकन्यायामुद्बन्धो नाम जायते । अयोगवेन ब्राह्मण्यां चर्मकारः प्रजायते ॥ ४० ॥

राजन्यां राजन्यायाम् । वैदेहपुल्कसशब्दौ पर्यायौ ॥ २६ ॥ २७ ॥

अपरा अपि नानाविधाः संकरजातीराह—अम्बष्ठायामित्यादिना । अम्बष्ठायां क्षत्रियाद्वैश्यायां जातायां सवर्णेन ब्राह्मणात्क्षत्रियायां जातेन ॥ २८ ॥

स्त्री की वैध संतान के दो नाम हैं वैदेह और पुल्कस । उन्हीं की अवैध संतान वेलव नाम वाली होती हैं ॥ २६ ॥ शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री की वैध संतान पत्तनशालिक और अवैध संतान चक्री होती है ॥ २७ ॥ शूद्र स्त्री पुरुष की अवैध संतान माणविक नाम वाली होती है ।

अम्बष्ठ स्त्री और सवर्ण पुरुष की प्रजा आग्नेयनर्तक कही जाती है । करण जाति वाली स्त्री (शूद्र माता व वैश्य पिता वाली प्रजा करण होती है) और अम्बष्ठ अपर नाम माहिष्य जाति वाले पुरुष की संतान को तक्षा, रथकार, शिल्पी, वर्धकी, लोहकार और कर्मार कहते हैं ॥ ३० ॥ ब्राह्मणी व उग्र की (शूद्रमाता व वैश्य पिता वाली प्रजा को उग्र भी कहते हैं) संतान तक्षवृत्ति होती है । वैश्य स्त्री व उग्र की संतान समुद्र कही जाती है ॥ ३१ ॥ ब्राह्मणी और निषाद की प्रजा नापित होती है । क्षत्रिय स्त्री व निषाद की संतान अधोनापित होती है ॥ ३२ ॥ ब्राह्मणी और नापित की संतान वेणुक होती है । क्षत्रिय स्त्री और नापित की संतान कर्मकार कही जाती है ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणी और दौष्यन्त की प्रजा का नाम है भागलब्ध । वैश्य स्त्री और निषाद की संतान सुनिषाद कही जाती है ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणी और वैदेह की संतति रजक नाम वाली होती है ॥ ३५ ॥ ब्राह्मणी व चण्डाल की प्रजा का नाम श्वपच है ॥ ३६ ॥ ब्राह्मणी और श्वपच की प्रजा गुहक होती है । वैश्य स्त्री और चण्डाल पुरुष की संतति दन्तकवेलक कही जाती है ॥ ३७ ॥ इसी से शूद्र स्त्री में उत्पादित संतान को आश्रमक कहते हैं । प्रतिलोम निषाद से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न प्रजा भैरव नाम वाली होती है ॥ ३८ ॥ शूद्रा स्त्री और मागध पुरुष की संतान कुकुन्द होती है । क्षत्रिय स्त्री और मागध पुरुष की प्रजा खनक होती है ॥ ३९ ॥ क्षत्रिय स्त्री और खनक पुरुष की संतान उद्बन्ध नाम से जानी जाती है । ब्राह्मणी और अयोगव की संतान चर्मकार होती है ॥ ४० ॥

---

१. ख. °ष्यन्त्याद्भा° । २. ग. चाण्डालाद्यः । ३. ख. °श्रमिकः ।

विप्रव्रात्यात्तु विप्रायां बन्दिको नाम जायते । क्षत्रव्रात्यान्नृपायां तु [1]खल्लो मत्तश्च मल्लकः ॥ ४१ ॥
मल्लात्तु पिच्छलस्तेन नटाख्यो जायते भुवि । नटात्करणसंज्ञस्तु करणात्कर्मसंज्ञितः ॥ ४२ ॥
तेन द्रमिल उत्पन्नो नृपायां वेदवित्तमाः । वैश्यव्रात्यात्तु वैश्यायां सुधन्वा जायते द्विजाः ॥ ४३ ॥
अनेनावार्यसंज्ञस्तु [2]भारुषो भारुषादपि । द्विजन्मा जायते तस्मान्मैत्रो मैत्रात्तु सात्वतः ॥ ४४ ॥
मैत्राद्वैदेहको जातः स मातङ्गश्च कीर्तितः । मातङ्गाज्जायते सूतः सूताद्दस्युः प्रजायते ॥ ४५ ॥
दस्योर्जातो मुनिश्रेष्ठा मालाकारः समाख्यया । प्रतिलोमनिषादेन कैवर्ताख्यो विजायते ॥ ४६ ॥
तिलकारिस्त्रियां जात आयोगेन द्विजोत्तमाः । नीलादिवर्णविक्रेता नाम्ना वेदार्थवित्तमाः ॥ ४७ ॥
कारौ चारुसमाख्यायां निषादेन मुनीश्वराः । चर्मजीवी समुत्पन्नः सर्वविज्ञानसागराः ॥ ४८ ॥
युष्माकं संग्रहेणैव मयोक्तो जातिनिर्णयः । यथाऽगस्त्याच्छ्रुतः पूर्वं सद्गुरोरनुशासनात् ॥ ४९ ॥
स्वजात्युक्तं यथाशक्ति कुरुते कर्म यः पुमान् । मुक्तिस्तस्यैव संसारादिति वेदानुशासनम् ॥ ५० ॥

करणायामिति । शूद्रायां विश उत्पन्नायाम् । माहिष्यादिति । अम्बष्ठापरपर्यायात् ॥ २९–३० ॥ उच्यत इति[3] । शूद्रायां वैश्यतो जातं उग्र इत्युच्यते तस्मात्तेनेति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मातङ्गादिति । 'सुधन्वे'त्यारभ्य मालाकारपर्यन्तम् वैश्यायामित्यनुवर्तते ॥ ४५–४८ ॥

ईदृशानामनुक्तानामनन्तानां भेदानां संभवादाह—संग्रहेणेति ॥ ४९ ॥

जातिनिर्णयप्रयोजनमाह—स्वजात्युक्तमिति । वेदानुशासनमिति । 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्' इति हि वेदवाक्येऽनुशिष्यते । स्वजात्युक्त एव हि धर्मः ॥ ५० ॥

ब्राह्मण व्रात्य से ब्राह्मणी में उत्पादित प्रजा बन्दिक होती है । क्षत्रियव्रात्य और क्षत्रिय स्त्री की संतति के नाम हैं खल्ल, मत्त और मल्लक ॥ ४१ ॥ मल्ल व क्षत्रिय स्त्री की संतान पिच्छल है । पिच्छल और क्षत्रिय स्त्री की संतान नट होती है । नट और क्षत्रिय स्त्री की संतान करण है । करण और क्षत्रिय स्त्री की संतान कर्म नाम वाली होती है । कर्म और क्षत्रिय स्त्री की संतान द्रमिल कही जाती है ॥ ४२$^1/_2$ ॥ वैश्यव्रात्य से वैश्य स्त्री में सुधन्वा नामक प्रजा पैदा होती है ॥ ४३ ॥ वैश्य स्त्री व सुधन्वा पुरुष की प्रजा अवार्य नाम वाली है । इसे ही भारुष भी कहते हैं । भारुष और वैश्य स्त्री की प्रजा द्विजन्मा है । द्विजन्मा और वैश्य स्त्री की संतान मैत्र कही जाती है । मैत्र पुरुष और वैश्य स्त्री की प्रजा सात्वत है ॥ ४४ ॥ मैत्र से उत्पन्न को वैदेहक और मातंग भी कहते हैं । मातंग और वैश्य स्त्री से सूत पैदा होते हैं । सूत और वैश्य स्त्री से दस्तु पैदा होते हैं ॥ ४५ ॥ दस्यु और वैश्य स्त्री की प्रजा मालाकार कही जाती है । प्रतिलोम निषाद और तिलकार स्त्री की अवैध प्रजा का नाम है कैवर्त और वह नील आदि रंग बेचने का काम करती है ॥ ४६–४७ ॥ चारु या कारु जाति वाली स्त्री और निषाद पुरुष की प्रजा चर्मजीवी होती है ॥ ४८ ॥ इस प्रकार जातिविषयक निर्णय जैसा अगस्त्य ने शिवसे सुना था वैसा मैंने अपने गुरु के उपदेश से जानकर आप लोगों को बता दिया ॥ ४९ ॥

शास्त्र का यह निर्णय है कि जो व्यक्ति अपनी जाति के लिये विहित कर्म का अपनी सामर्थ्यानुसार अनुष्ठान करता है, उसे ही चित्तशुद्धि व ज्ञानप्राप्ति द्वारा संसार से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ५० ॥ (स्ववर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठानरूप तप से वैराग्यादि

---

१. ङ. मल्लो । २. ख. भारूषो । ३. उग्रतइतीति पाठः कल्प्यते ।

सर्वेषां जन्मना जातिर्नान्यथा कर्मकोटिभिः । पश्वादीनां यथा जातिर्जन्मनैव न चान्यथा ॥ ५१ ॥
साऽपि स्थूलस्य देहस्य भौतिकस्य न चाऽऽत्मनः । तथाऽपि देहेऽहंमानादात्मा विप्रादिसंज्ञितः ॥ ५२ ॥

जन्मनिबन्धना एता जातयः सन्तु कर्मनिबन्धनास्तु कीदृश्य इत्याशङ्क्य ता न संभवन्त्येवेत्याह—सर्वेषामिति । तत्र दृष्टान्तमाह—पश्वादीनामिति ॥ ५१ ॥

यदि जन्मनिबन्धनैव जातिस्तर्हि जन्मरहितस्याऽऽत्मनः सा कथं भवेत्तदभावे वा तस्य कथं जातिप्रयुक्तधर्मेषु नियोग इत्यत साधन चतुष्टय उत्पन्न होते हैं ऐसा आचार्यों ने बताया है । अतः सभी को स्वधर्म का त्याग नहीं करना चाहिये । परधर्म ऐहिक लाभ दे भी दे परलोक का लाभ तथा चित्तशुद्धि का लाभ तो दे नहीं सकता । अपने लिये विहित धर्म ही अपना धर्म है । अन्य के लिये विहित धर्म हमारा नहीं हो सकता । जैसे चाहे जितनी सुन्दर लगे, परायी औरत को अपना मानने से कष्ट ही होगा वैसे चाहे जितना उत्तम लगे अन्य का धर्म हम अपनायेंगे तो कष्ट ही पायेंगे । स्वकीय धर्मानुष्ठान धर्मनिष्ठा है । परकीय धर्मानुष्ठान तो अधर्म है । अतः स्वधर्म में प्रवृत्त होना चाहिये) ।

सभी की जाति जन्म से निर्णीत होती है, अन्य किसी तरह नहीं । करोड़ों कर्म भी शरीर की जाति को बदल नहीं सकते । जैसे पशु आदि की गोत्वादि जाति का निर्णय जन्म से ही होता है, दूध देना आदि कर्म से नहीं, वैसे मनुष्यों की जाति के विषय में भी समझना चाहिये ॥ ५१ ॥ (जो तो महाभारतादि में तत्तत्कर्म करने वाले को तत्तद्वर्ण वाला कहा है वह उन कर्मों की प्रशंसा के लिये है । अर्थात् शमादि वाला वेदज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठ है, क्रोध आदि युक्त अविद्वान् नीच है किंतु है ब्राह्मण ही । जप आदि से उत्तम वर्ण का लाभ भी जन्मान्तर के अभिप्राय से समझना चाहिये । जातिभ्रंशकर पाप भी उनके अनुष्ठाता को बहिष्कार्य तो बना सकते हैं किंतु जाति का परिवर्तन नहीं कर सकते । संकर जातियाँ चाहे समाज द्वारा व्यवस्थित हों, ब्राह्मणादि चार जातियाँ भगवान् ने ही बनायी हैं अतः उनमें कोई हेरफेर हम लोग नहीं कर सकते । जात्यनुसार उच्च-नीचभाव भी अतएव ध्रुव ही है, ब्राह्मण ही पूज्य हो सकता है क्षत्रियादि नहीं । क्योंकि इन जातियों के निर्णय का संबंध धर्म से है अतः सामाजिक सुधार आदि का फल इन पर नहीं पड़ सकता । अतः चाहे समाज स्वयं यह निर्णय कर भी ले कि ब्राह्मण को सबसे हीन ही माना जायेगा, फिर भी ब्राह्मण रहेगा ब्राह्मण ही अतः उसे धर्म की दृष्टि से वेदाध्ययनादि ही करना पड़ेगा । वृत्ति के लिये उत्तम तो है कि याजन आदि ही ब्राह्मण करे किन्तु उससे जीविका असंभव होने पर क्रमशः हीनवर्णों के वृत्तिधर्मों का अनुष्ठान किया जा सकता है । यह भी तब जब स्वकीय वृत्तिधर्म से जीवनयापन असंभव हो । केवल सुविधा के आधिक्य के लिये भी यह छूट नहीं । स्वकीय वृत्तिधर्म से शोधन रूप अवांतर फल मिलता है । अन्यदीय वृत्तिधर्म से वह नहीं मिलता । अतः कोशिश यही करनी चाहिये कि स्वकीय वृत्तिधर्म से ही आजीविका चलायी जाये । यही इतर वर्णों के विषय में समझ लेना चाहिये । क्योंकि हमारे ही पूर्व कर्मों के अनुसार हमें वर्ण मिला है इसलिये इसके लिये दोषी हम स्वयं हैं, न ईश्वर न समाज । यदि आगे के लिये हम अपनी स्थिति सुधारना चाहते हैं तो स्वकीय धर्म के अनुष्ठान से ही यह संभव है क्योंकि उसी से वह पुण्य होगा जो हमें उत्तम जाति देगा । अन्य जप आदि भी इसके लिये करने चाहिये । इसी योनि में हम चाहे सामाजिक या कानूनी दृष्टि से अपना वर्ण बदल लें, धार्मिक दृष्टि से वह बदलेगा नहीं और स्वधर्मत्याग तथा परधर्म-पालन इन दो दोषों से हम बचेंगे नहीं । (सनातन धर्म मुख्यतः वर्णाश्रम धर्म है अतः इसे मानने वाला वर्णाश्रम को अवश्य स्वीकारता है । जो वर्णाश्रमहीन हैं उनके लिये भी सनातन धर्म में साधन बताये हैं किंतु वे साधन विलम्ब से फलदायक होते हैं यह अन्तर अवश्य है । मुमुक्षु को तो यथासंभव स्वधर्मतत्पर हो चित्तनैर्मल्य का संपादन कर ही लेना चाहिये । मोक्ष सभी वर्णों में प्राप्त हो सकता है । अतः फल की दृष्टि से मोक्षशास्त्र में कोई भेदभाव नहीं । स्वधर्मानुष्ठान से वैराग्यलक्षण चित्तशुद्धि पाकर स्वाधिकारानुसार श्रवण मनन निदिध्यासन से सभी मनुष्य इसी जन्म में मुक्त हो सकते हैं) ।

जन्म से प्राप्त वह जाति भी भौतिक स्थूल देह की होती है, आत्मा की नहीं । फिर भी 'स्थूल शरीर मैं हूँ' ऐसा मानने से आत्मा भी विप्र आदि नाम पा जाता हैं ॥ ५२ ॥ (व्यवहार स्थूल देह से होता है अतः आत्मा की जातिहीनता से व्यवहार में कोई भी अंतर नहीं आता । 'मैं ब्राह्मण हूँ' इत्यादि समझना हमारी भूल है किंतु उसी कोटि की भूल है जिस कोटि की 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं पुरुष हूँ' आदि मानना । भूल सुधारने चलेंगे तो अपनी शिवरूपता ही हाथ आयेगी, मनुष्यत्वादि सब छूटेंगे । एक को छोड़ दूसरी भूल पकड़ना मूर्खता ही है । अतः कर्तव्य यही है कि वेदान्तश्रवणादिपूर्वक सभी भूलों को जड़ से उखाड़ें ।) अपने वास्तविक शिवस्वरूप के अज्ञान से ही हमें 'शरीर मैं हूँ' ऐसा भ्रमात्मक निश्चय होता है । अपने स्वरूप

स्वस्वरूपापरिज्ञानाद्देहेऽहंमान[1] आत्मनः । अपरिज्ञानमप्यस्य ब्राह्मणा वेदवित्तमाः ॥ ५३ ॥
आदिमन्न भवत्यन्तस्तस्य ज्ञानेन सुव्रताः । ज्ञानं वेदान्तविज्ञानमिति सद्गुरुनिर्णयः[2] ॥ ५४ ॥
यस्यापरोक्षविज्ञानमस्ति वेदान्तवाक्यजम् । तस्य नास्ति नियोज्यत्वमिति वेदार्थनिर्णयः ॥ ५५ ॥
[4]वर्णिनामाश्रमाः प्रोक्ताः सर्वशास्त्रार्थवेदिभिः । तेषां वर्णाश्रमस्थानां वेदकिंकरता सदा ॥ ५६ ॥
यो अस्ति चेद्ब्रह्मविज्ञानं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा । वर्णाश्रमसमाचारस्तयोर्नास्त्येव सर्वदा ॥ ५७ ॥
अविज्ञायाऽऽत्मसद्भावं स्ववर्णाश्रममास्तिकाः । जहाति यः स मूढात्मा पतत्येव[5] न संशयः ॥ ५८ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रद्धया सह सर्वदा । कर्तव्यो वर्णिभिर्धर्मः श्रौतः स्मार्तश्च मुक्तये ॥ ५९ ॥

आह—**साऽपि स्थूलस्येति** । सूक्ष्मभूतकार्यस्य लिङ्गशरीरस्याप्या[3]त्मवज्जात्यभावाभिप्रायेण स्थूलस्येत्युक्तम् । जातिमद्देहादितादात्म्याध्यासादजातेरप्यात्मनो विप्रत्वादिव्यवहार इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अध्यासोपादानमज्ञानमाह—**स्वस्वरूपेति** । अज्ञानस्य तर्हि को हेतुः ? अनादित्वे वा तस्याऽऽत्मवदन्तोऽपि न स्यादिति चेत् ? न । यथा प्रागभावस्यानादेर्भावेन निवृत्तिरेवमनादेरज्ञानस्य ज्ञानेन निवृत्तिरित्याह—**अपरिज्ञानमिति** । लोकायतादिशास्त्रोक्तप्रज्ञानादज्ञाननिवृत्तिं वारयितुमाह—**ज्ञानमिति** । यथार्थदर्शिनो यथादृष्टार्थवादिनश्च व्यासादयस्ते सद्गुरवः । लोकायतादयस्तु विप्रलम्भकत्वादज्ञत्वाच्च नैवंविधा इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ज्ञानिनस्तर्हि जात्यभावे कथं तस्य तत्प्रयुक्तौ विधिनिषेधाविति चेत् ? न स्त एव तस्य ताविति आह—**यस्यापरोक्षेति** । **वेदार्थेति** । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानिति' वाजसनेयश्रुतिः । 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति काठकश्रुतिः ॥ ५५ ॥

वर्णधर्मवदाश्रमधर्मोऽपि तत्त्वज्ञानविरहिणामेवेत्याह—**वर्णिनामिति** । वेदकिंकरता वेदेन कर्मसु नियोज्यता ॥ ५६ ॥

स्त्रीत्वादीनामपि वर्णाश्रमवद्देहधर्मत्वेन देहाध्यासविरहे सति कर्मस्वनियोज्यत्वे न तत्कृतः कोऽपि विशेष इत्याह—**अस्ति चेदिति** ॥ ५७ ॥

संश्चासौ भावश्च सद्भावः पारमार्थिकं रूपमात्मनस्तदसाक्षात्कृत्य कर्मपरित्यागे पातित्यमाह—**अविज्ञायेति** ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

का अज्ञान भी अनादि है और ज्ञान के बिना इसकी समाप्ति संभव नहीं । ज्ञान भी यहाँ वेदान्तविज्ञान ही विवक्षित है यह मेरे सद्गुरु व्यास जी का निर्णय है ॥ ५३—५४ ॥ जिस व्यक्ति को वेदान्तवाक्य से आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार हो गया है वह वेदादि द्वारा किसी कर्तव्य वाला नहीं बनाया जा सकता यह वेद का ही सिद्धान्त है ॥ ५५ ॥ जिन्हें यह ज्ञान नहीं अतएव वर्णाभिमान है उन्हीं के लिये आश्रम बताये गये हैं । जो अपने को किसी वर्ण व आश्रम वाला मानते हैं वे ही वेद की आज्ञाओं के विषय बनते हैं ॥ ५६ ॥ किन्तु पुरुष या स्त्री चाहे जिसको परमात्मज्ञान हो गया, उसे वर्णाश्रम धर्म का पालन करने का कोई विधान नहीं ॥ ५७ ॥ (पूर्वाभ्यास से उसका कार्यकरणसंघात व्यवहार करता रहे तो कोई प्रतिबंध भी नहीं । उसे तो अपनी अकर्तृभोक्तृता का निश्चय बना रहता है । देहादि चाहे अश्वमेध करें चाहे ब्रह्महत्या, कुछ अंतर नहीं, न एक से कुछ भी पुण्य होना है व न दूसरे से कुछ भी पाप) ।

---

१. ख. ङ. °नमात्म° । २. अतएवाध्यासात्मकवन्धनिवृत्तये प्रत्यज्ञासीद्ब्रह्मज्ञानस्य हेतुत्वमसौ वेदान्तमीमांसोपोद्घात इति भावः । वेदान्तविज्ञानवतामेव परिमोक्षः श्रुत्याऽपि निरगादि । बुद्धिमान् कृतकृत्य इति च पंचदशाध्यायोपसंहारे भगवता श्रीकृष्णेन बुद्धेरेव कृतकृत्यताप्रयोजकत्वं मुखतः प्रतिज्ञातं न कर्मणो भक्त्यादे र्वा । बुद्धिश्च योमामेवं जानातीत्यनुपदमेवोक्तेति न शंकालेशावसरः । ततश्च श्रुतिस्मृतिन्यायैरेवमेवोक्तत्वात्साधूक्तं निर्णयइति । ३. सूक्ष्मस्य जातिमत्त्वे सर्वेषु जन्मसु जातेरैक्यप्रसंगादित्यर्थः । ४. ग. वर्णाना° । ५. अयमत्र क्रमः—विविदिषायाः प्राक् स्ववर्णादिनिमित्तं प्रवृत्तिकर्म कुर्यात् । विविदिषोत्पत्तेरूर्ध्वं निवृत्तिकर्मैव श्रवणादिसहकृतं कुर्यात् । साक्षात्कारे जाते सर्वं कर्म परित्यजेदिति । विदुषि दृश्यमानन्तु कर्म आभासमात्रं लोकसंग्रहार्थमिति ।

इत्याकर्ण्य मुनीश्वराः श्रुतिगतं सूतोपदिष्टं परं सत्यानन्तसुखप्रकाशपरमं ब्रह्मात्मविज्ञानदम् ।
श्रुत्वा जातिविनिर्णयं सकललोकाम्भोधिपारं सदा सत्यास्तेयदयार्जवादिसहितास्तुष्टा बभूवुर्भृशम् ॥ ६० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे जातिनिर्णयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

सत्यानन्तेति । जातिनिर्णयो हि तत्प्रयुक्तकर्मानुष्ठानद्वारा तत्त्वज्ञानहेतुः ॥ ६० ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे जातिनिर्णयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

नैमिषीया ऊचुः—भगवंस्तीर्थमाहात्म्यं सर्वशास्त्रार्थवित्तम । ब्रूहि कारुण्यतोऽस्माकं हिताय प्राणिनां मुदा[1] ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञानमन्तरेण कर्मत्यागे पातित्यमुक्तम् । प्रमादाज्जातस्य तस्य निर्णेजने तीर्थसेवा सुकरोपाय इति मन्यमाना मुनयस्तीर्थमाहात्म्यं जिज्ञासन्ते—भगवंस्तीर्थेति ॥ १ ॥

आत्मस्वरूप के अनुभव के बिना स्ववर्णाश्रमधर्म को छोड़ना मूर्खता है और ऐसा करने वाला पतित ही होता है ॥ ५८ ॥ (यहाँ यह क्रम है : इहलोक व परलोक से जब तक वैराग्य न हो तब तक प्रवृत्तिधर्मों को करना चाहिये । ईश्वरार्पण बुद्धि से या विविदिषा के उद्देश्य से उन्हें करने पर मनोनैर्मल्य होकर जिज्ञासा उत्पन्न होती है । जिज्ञासा पैदा होने के बाद प्रवृत्तिधर्म छोड़कर शमादि निवृत्तिधर्मों से सहकृत श्रवणादि अनुष्ठान में तत्पर हो जाना चाहिये । समस्त—प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों—कर्मों का परित्याग दृढ आत्मबोध के अनन्तर ही किया जा सकता है । उसके पूर्व वह है असंभव अतः हम यदि समझें भी कि हमने सर्वकर्मत्याग कर दिया तो वह भ्रम ही है । यह याद रखना चाहिये कि यह सारी परंपरा एक ही जन्म में होना आवश्यक नहीं । अतः यह संभव है कि किसी ने प्रवृत्ति धर्म से चित्तशुद्धि पूर्वभव में अर्जित कर ली हो जिससे इस जन्म में वह निवृत्ति धर्मों से अनुष्ठान से ही साधना प्रारंभ करे । यह निर्णय तो स्वयं अपनी मनःस्थिति से हो सकता है । यदि सांसारिक कोई कामना है तो स्ववर्णाश्रम प्रवृत्तिधर्मों का ही अनुष्ठान करे और यदि सांसारिक कामनायें नहीं, आत्मजिज्ञासा है तो निवृत्तिधर्मों का ही अनुष्ठान करे । जिज्ञासा के बाद प्रवृत्तिधर्मों के तत्पर होना उतना ही गलत है जितना जिज्ञासा के बिना निवृत्तिधर्म-परायण होना । अतः दृढात्मबोध के पहले सबको प्रवृत्तिधर्म ही करना चाहिये ऐसा असंभव अर्थ शास्त्र का कहीं नहीं है । स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिये इससे यह भ्रम किन्हीं को हो सकता है, किंतु धर्म तो प्रवृत्ति व निवृत्ति उभयात्मक है व कल्याण चाहने वालों को क्रमशः दोनों करने ही पड़ते हैं । किसी एक को ही धर्म नहीं मानकर बैठ सकते । यह विषय गीताभाष्य के उपोद्घात आदि में स्पष्ट सूचित है) ।

अतः सब वर्ण वालों को श्रद्धापूर्वक पूर्ण प्रयत्न से मुक्तिप्राप्ति के लिये श्रौत-स्मार्त धर्मों का पालन करना चाहिये ॥ ५९ ॥

इस प्रकार नैमिषीय मुनियों ने जातिनिर्णय सुना तथा सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), दया, ऋजुता (कुटिल न होना) आदि आदि सद्गुणों का रक्षण करते हुए परम सन्तुष्ट हुए । मुनि होने से इन्हीं धर्मों में अधिकारी थे और स्वकीय जो कोई भी धर्म है वह पर्याप्त है यह सूतजी ने निर्णय दिया ही था अतः इन्हीं का पालन करते हुए वे परम संतुष्ट हुए । यह जाति निर्णय श्रुति-समधिगत है । सूतोपदिष्ट अर्थात् पुराणसंमत भी है । यह पर अर्थात् श्रेष्ठ भी है क्योंकि इसके बिना स्वधर्म में प्रवृत्ति अशक्य है । यही सत्य, अनन्त, सुख व प्रकाश रूप परमात्मा की प्राप्ति के लिये तत्पर है अर्थात् इसे समझकर तदनुसार कर्म करने से ही शिवप्राप्ति संभव है । अतएव यह ब्रह्म की आत्मरूपता प्रदान करता है क्योंकि इसके अनुसार ही श्रुति, स्मृति, पुराण, भाषादि ग्रंथों का श्रवणादि किया जा सकता है । अतः सब लोगों के लिये संसार सागर से पार ले जाने वाला यह जातिनिर्णय है ॥ ६० ॥

तीर्थमाहात्म्य-कथन नामक तेरहवा अध्याय

(शिवबोध के बिना कर्मत्याग दोषावह बताया गया । यदि प्रमाद से या अज्ञान से वह हो जाये तो उस दोष का प्रायश्चित्त

१. मुदा हितायेत्यन्वयः । प्रसन्नतया हितलाभो हि तीर्थसेवया भवतीत्यनुभवसिद्धम् ।

सूत उवाच—वक्ष्यामि तीर्थमाहात्म्यं संग्रहेण मुनीश्वराः । शृणुध्वं सर्वशास्त्रोक्तं श्रद्धया परया सह ॥ २ ॥
गङ्गाद्वारं महातीर्थं सर्वदेवनिषेवितम् । तत्र स्नात्वा रवौ मेषे स्थितेऽश्विन्यां मुनीश्वराः ॥ ३ ॥
यथाशक्ति धनं दत्त्वा श्रद्धया शिवयोगिने । उपोष्य सर्वपापेभ्यो मुच्यते मानवो द्विजाः ॥ ४ ॥
सोमतीर्थमिति ख्यातं सोमनाथस्य संनिधौ । समुद्रे पश्चिमे विप्राः स्थितं योजनमायतम् ॥ ५ ॥
विस्तीर्णं योजनं विप्राः विश्वैर्देवैर्निषेवितम् । पर्वण्यार्द्रादिनेऽष्टम्यां व्यतीपाते तथा द्विजाः ॥ ६ ॥
अर्कवारे चतुर्दश्यां स्नात्वा दत्त्वाऽत्र भोजनम् । प्रणम्य सोमनाथाख्यं सोमं सोमविभूषणम् ॥ ७ ॥
उपोष्य रजनीमेकां भस्मदिग्धतनूरुहः । सर्वपापविनिर्मुक्तः शंकरं याति मानवः ॥ ८ ॥
वाराणस्यां महातीर्थं नाम्ना तु मणिकर्णिका । तत्र स्नात्वा महाभक्त्या प्रातरेव समाहितः ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा विश्वेश्वरं देवं करुणासागरं हरम् । यथाशक्त्यन्नपानादि दत्त्वा मुक्तो भवेन्नरः ॥ १० ॥
प्रयागाख्यं महातीर्थं भवरोगस्य भेषजम् । भरण्यां कृत्तिकायां तु रोहिण्यां वा विशेषतः ॥ ११ ॥
तत्र स्नात्वा रवौ मेषे वर्तमाने मुनीश्वराः । यथाशक्ति धनं दत्त्वा विमुक्तो मानवो भवेत् ॥ १२ ॥
आर्द्रायां मार्गशीर्षे वा गङ्गासागरसंगमे । स्नात्वा मध्यंदिने दत्त्वा यथाशक्ति धनं मुदा ॥ १३ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् । नर्मदा च महातीर्थं नरकद्वारनाशकम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्नित्यं सेवितं शंकरेण च । तत्र स्नात्वा यथाशक्ति धनं दत्त्वाऽऽदरेण च ॥ १५ ॥
ब्रह्मलोकमवाप्नोति नरो नात्र विचारणा । यमुना च महातीर्थं यमेनापि निषेवितम् ॥ १६ ॥

श्रद्धयेति । तद्विरहे तीर्थानामपि निष्फलत्वम्—'मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ । यादृशी भावना [1]यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी' इत्याहुः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

करना चाहिये । प्रायश्चित्तों में तीर्थसेवा सुकर है अतः सबके उपकारार्थ) नैमिषारण्य के मुनियों ने प्रार्थना की—हे भगवन् ! सब प्राणियों के हित के लिये कृपाकर प्रसन्नता पूर्वक हमें तीर्थों की महत्ता बताइये ॥ १ ॥

सूतजी बोले—हे मुनीश्वरो ! सब शास्त्रों में बताये तीर्थमाहात्म्य को मैं संक्षेप में बताता हूँ, परम श्रद्धालु होकर सुनिये ॥ २ ॥

गंगाद्वार (हरद्वार) एक महान् तीर्थ है । सब देवता उसका सेवन करते हैं । मेष राशि में तथा अश्विनी नक्षत्र में सूर्य के स्थित होने पर वहाँ स्नान कर किसी भी शिवयोगी को यथाशक्ति धन देना चाहिये और व्रती रहना चाहिये । ऐसा करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है ॥ ३—४ ॥

सोमनाथ के निकट पश्चिम समुद्र में एक योजन विस्तार वाल सोमतीर्थ प्रसिद्ध है । सभी देवताओं ने उसका सेवन किया है । पर्वों पर, आर्द्रा नक्षत्र होने पर, अष्टमी को, व्यतीपात योग होने पर, रविवार को तथा चतुर्दशी को उसमें स्नान कर भोजन दान करना चाहिये । सोमार्धशेखर भगवान् सोमनाथ को प्रणामकर एक दिन (अहोरात्र) व्रत रखना चाहिये और सारे शरीर पर भस्म लगानी चाहिये । इससे मानव सब पापों से छूटकर शंकर को पा लेता है ॥ ५—८ ॥

वाराणसी में मणिकर्णिका नामक महान् तीर्थ है । भक्तिपूर्वक प्रातःकाल उसमें स्नानकर करुणासागर विश्वेश्वर का दर्शन कर यथाशक्ति अन्न पेय आदि का दान करने से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है ॥ ९—१० ॥

संसाररूप रोग की दवा रूप महान् तीर्थ प्रयाग है । भरणी, कृत्तिका या रोहिणी नक्षत्र के समय तथा विशेषतः सूर्य के मेष राशि में होने पर वहाँ स्नानकर यथाशक्ति धन का दान करने से मनुज पापमुक्त होता है ॥ ११—१२ ॥

आर्द्रा नक्षत्र के समय या मार्गशीर्ष महीने में गंगासागर में (गंगा व सागर के संगम में) स्नानकर मध्याह्न में यथाशक्ति

१. ख. तत्र । घ. यस्य ।

तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या रवौ वृषभसंस्थिते । विशाखे सूर्यवारे वा दत्त्वा विप्राय भोजनम् ॥ १७ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवेन सह मोदते । सरस्वतीति विख्याता नदी सर्ववरप्रदा ॥ १८ ॥
यस्यां वागीश्वरी देवी वर्तते सर्वदाऽऽदरात् । तस्यामार्द्रादिने स्नात्वा यत्किंचिच्छिवयोगिने ॥ १९ ॥
दत्त्वा पुत्रादिभिः सार्धं नरः स्वर्गमवाप्नुयात् । गोदावरीति या लोके सुप्रसिद्धा महानदी ॥ २० ॥
[1]सिंहराशौ स्थिते सूर्ये सिंहयुक्ते बृहस्पतौ । तस्यां स्नात्वा यथाशक्ति धनं दत्त्वा तु मानवः ॥ २१ ॥
गङ्गायां द्वादशाब्दस्य नित्यं स्नानफलं लभेत् । कृष्णवेणीति या लोके प्रोक्ता विप्रा महानदी ॥ २२ ॥
सर्वयो[2]गीश्वराराध्या सह्यादेवोद्गता शुभा । इन्द्रनीलगिरिर्यस्यां स्नात्वाऽभूच्छंकरासनम् ॥ २३ ॥
नित्यं यस्यां महादेवः स्नात्वा विष्ण्वादिभिः सह । तस्मिन्गिरिवरे श्रीमान्वर्तते शिवया सह ॥ २४ ॥
स्नात्वा तस्यां नरः पर्वण्युपोष्य ब्रह्मवित्तमाः । यथाशक्ति धनं दत्त्वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥ २५ ॥
सुवर्णमुखरी नाम नदी संसारनाशिनी । समस्तप्राणिनां भुक्तिमुक्तिसिद्ध्यर्थमास्तिकाः ॥ २६ ॥
केवलं कृपया साक्षाच्छिवेन परमात्मना । निर्मिता मघनक्षत्रे माघमासि द्विजोत्तमाः ॥ २७ ॥

विशाख इति । विशाखानक्षत्रयुक्ते सूर्यवारे । 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण् । संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वादादिवृद्ध्यभावः । सूर्यवारस्य विशेषस्योपादानात् 'लुबविशेषे' इति न लुप् । अत एव युक्तवद्व्यक्तिवचने न भवतः । अथवा सूर्यवारे विशाखे स्यातां चेदित्यर्थः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

व प्रसन्नतासे धनदान करने से सब पापों से छूटकर शिवसायुज्य की प्राप्ति होती है ॥ १३१/२ ॥

नरक के द्वार को नष्ट करने वाला श्रेष्ठ तीर्थ नर्मदा है । ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता व स्वयं शंकर उसका प्रतिदिन सेवन करते हैं । उसमें स्नानकर और आदरपूर्वक स्वसामर्थ्यानुसार धन का दान करने से मनुष्य ब्रह्मलोक प्राप्त करता है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ १४–१५१/२ ॥

यमुना भी महान् तीर्थ है । यमराज भी उसका सेवन करते हैं । जब सूर्य वृष राशि में हो, या विशाखा नक्षत्र वाले रविवार को भक्तिपूर्वक उसमें स्नानकर ब्राह्मण को भोजन-प्रदान करने से मानव सब पापों से छूटकर शिव के साथ रहते हुए आनन्दित होता है ॥ १६–१७१/२ ॥

प्रसिद्ध सरस्वती नदी सब श्रेष्ठ फलों को देने वाला तीर्थ है । भगवती वागीश्वरी (सरस्वती) सदा प्रेम से उसका सेवन करती हैं । आर्द्रानक्षत्र वाले दिन में उसमें स्नानकर किसी शिवयोगी को जो कुछ भी दे देने से मनुष्य अपने पुत्रादियों सहित स्वर्ग पाता है (अर्थात् तत्फलस्वरूप वह भी मरने पर स्वर्ग पाता है व उसके पुत्रादि भी यथाकाल मरकर स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं । आदि से पत्नी व दुहिता समझना चाहिये ।) ॥ १८–१९१/२ ॥

गोदावरी नामक प्रसिद्ध नदी भी उत्तम तीर्थ है । जब बृहस्पति व सूर्य सिंह राशि में स्थित हों तब गोदावरी में स्नान कर यथाशक्ति धनदान करने से मनुष्य को वही फल मिलता है जो गंगा में बारह साल नित्य स्नान करने से मिलता है ॥ २०–२११/२ ॥

कृष्णवेणी नाम की जो नदी सह्याद्रि से निकली है (आजकल केवल कृष्णा नाम से प्रसिद्ध है) वह भी श्रेष्ठ तीर्थ है । सब योगीश्वर उसकी आराधना करते हैं । इसी में स्नान करने से इंद्रनील पर्वत ने शंकर की आसनरूपता प्राप्त की है । विष्णु आदि सहित महादेव इसी नदी में स्नानकर उस पर्वत पर पार्वती समेत विराजते हैं । पर्व-दिनों पर व्रती होकर इसमें स्नानकर स्वसामर्थ्यानुसार धनदान करने से भवबन्धन से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २२–२५ ॥

सुवर्णमुखरी नामक नदी संसरण निवृत्त करने वाली है । यह सब प्राणियों को भोग व मोक्ष प्रदान करती है । परमात्मा

---

१. ख. सिंहराशियुते सूर्ये सिंहस्थे च बृहस्पतौ । २. °योगेश्व° ।

यस्यास्तीरे महादेवः शंकरः शशिभूषणः । श्रीमद्दक्षिणकैलासे शिवया परया सह ॥ २८ ॥
वर्तते तां समालोक्य सुवर्णमुखरीं नदीम् । यस्यां संभूय तीर्थानि स्वपापध्वस्तिसिद्धये ॥ २९ ॥
स्नानं कृत्वा महाभक्त्या मघर्क्षे माघमासि च । यथाशक्ति धनं दत्त्वा श्रद्धया शिवयोगिने ॥ ३० ॥
श्रीकालहस्तिशैलेशं शिवं शिवकरं नृणाम् । श्रीमद्दक्षिणकैलासवासिनं वासवार्चितम् ॥ ३१ ॥
प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या विमुक्ता ह्यघपञ्जरात् । स्नात्वा तस्यां नरो भक्त्या मघर्क्षे माघमासि च ॥ ३२ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् । [1]कम्पा नाम नदी पुण्या कमलासननिर्मिता ॥ ३३ ॥
यस्यां द्विजोत्तमाः स्नात्वा शंकरं शशिशेखरम् । दृष्ट्वा भक्त्या नरः सद्यो मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ३४ ॥
आदिलिङ्गे महाविष्णुर्यस्यां स्नात्वा महेश्वरम् । समाराध्य स्थितस्तत्र देवदेवस्य संनिधौ ॥ ३५ ॥
निरीक्ष्य श्रद्धया विप्रा नदीं तामच्युतो हरिः । तस्यां स्नात्वाऽर्कवारे च ब्राह्मणाः श्रद्धया सह ॥ ३६ ॥
हस्ते वा भगनक्षत्रे तथा पर्वण्यपि द्विजाः । विप्रायान्नादिकं दत्त्वा नरः स्वर्गे महीयते ॥ ३७ ॥
कुटिला नाम या लोके प्रसिद्धा महती नदी । यस्यास्तीरे मुनिश्रेष्ठा वीराख्या वेदवित्तमाः ॥ ३८ ॥
श्रावण्यां पौर्णमास्यां तु[2] भद्रकाली दृढव्रता । अधिकासंज्ञितां रम्यां पुरीमादित्यनिर्मिताम् ॥ ३९ ॥
अप्सरोगणसंकीर्णामाश्रितामसुरैः सुरैः । अभ्येत्याशेषदेवानामादिभूतं महेश्वरम् ॥ ४० ॥
प्रतिष्ठाप्य जलेनास्याः स्नाप्य श्रद्धापुरःसरम् । प्रार्थयामास धर्मज्ञा [3]देवदेवं घृणानिधिम् ॥ ४१ ॥
यः पुमान्देवदेवास्यां स्नात्वा श्रद्धापुरःसरम् । श्रावण्यां पौर्णमास्यां वा दृष्ट्वा स्तुत्वाऽभिवन्द्य च ॥ ४२ ॥
ददाति विदुषे वस्त्रं धनं धान्यं यथाबलम् । तस्य भुक्तिं च मुक्तिं च प्रयच्छाशेषनायक ॥ ४३ ॥

सह्यादिति । सह्यपर्वतात् ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

भगनक्षत्र उत्तरफल्गुन्याम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

ने इसे केवल कृपा के कारण मघनक्षत्र के समय माघ मास में निर्मित किया है। इसी के तट पर दक्षिणकैलास में ज्ञानप्रसूनाम्बिका समेत भगवान् विराजते हैं। सब तीर्थ इस एक तीर्थ में एकत्र हैं। मघनक्षत्र के समय माघमास में इस नदी में श्रद्धापूर्वक स्नानकर व यथाशक्ति किसी शिवयोगी को धनदानकर श्रीकालहस्तीश्वर को भक्तियुक्त हो दण्डवत् प्रणाम करने से मनुष्य पापों से छूट जाता है। उक्त काल में इसमें स्नान कर पापमुक्त हो शिवसायुज्य प्राप्त होता है ॥ २६—३२½ ॥

ब्रह्मा द्वारा निर्मित कम्पा नामक नदी है जिसमें स्नानकर महादेव का दर्शन करने से मनुष्य भवबंधन से मुक्त हो जाता है। उसी में स्नानकर महाविष्णु आदिलिंग में महादेव की आराधना करते हुए स्थित हैं। रविवार को, हस्त नक्षत्र के या उत्तरा फाल्गुनी के काल में तथा पर्वों पर उसमें स्नानकर ब्राह्मण को अन्न आदि का दान करने से मनुष्य स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है ॥ ३३—३७ ॥

कुटिला नाम की प्रसिद्ध नदी भी विशिष्ट तीर्थ है। श्रावणी पूर्णिमा को वीराख्य भद्रकाली सूर्यनिर्मित अधिकपुरी में आयी थीं। यह पुरी कुटिलातट पर है। सुर, असुर, अप्सरायें आदि सब इसमें निवास करते हैं। भद्रकाली ने वहाँ महेश्वर को प्रतिष्ठापित कर कुटिला के जल से उनका श्रद्धापूर्वक अभिषेक किया। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि जो कोई पुरुष श्रावणी पूर्णिमा को उस नदी में श्रद्धा से स्नानकर अथवा उसका दर्शन व स्तुतिकर किसी वेदज्ञ को यथाशक्ति वस्त्र, धन और धान्य का दान करे, भगवान् उस व्यक्ति को भोग व मोक्ष दे देवें। वीरा देवी की प्रार्थना भगवान् ने मान

१. ख. पम्पा ना° । २. ख. वा । ३. ख. वेदवेद्यं ।

सूत उवाच—वीरया प्रार्थितो देवो विप्रेन्द्रा ब्रह्मवित्तमाः । तथा भवत्विति प्राह शिवो गम्भीरया गिरा ॥ ४४ ॥
तस्यां स्नात्वाऽर्कवारे यः श्रद्धया परया सह । ददाति धनमन्यद्वा स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४५ ॥
मणिमुक्ता नदी दिव्या महादेवेन निर्मिता । यस्यां विष्णुश्च रुद्रश्च ब्रह्मा वह्निश्च मारुतः ॥ ४६ ॥
विश्वे देवाश्च वसवः सूर्यो देवः पुरंदरः । आदित्ये चापसंयुक्ते श्रद्धयाऽऽर्द्रादिने द्विजाः ॥ ४७ ॥
स्नानं कृत्वा धनं दत्त्वा श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ लोकानां हितकाम्यया ॥ ४८ ॥
प्रार्थयामासुरीशानं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा ॥ ४९ ॥
ब्राह्मणो वाऽथ शूद्रो वा चाण्डालो वाऽन्य एव वा । अस्यामस्मिन्दिने स्नात्वा श्रद्धया शिवयोगिने ॥ ५० ॥
यथाशक्ति धनं दत्त्वा धान्यं वा वस्त्रमेव वा । श्रीमद्वृद्धाचलेशाय ब्राह्मणा वेदवित्तमाः ॥ ५१ ॥
उपोष्य प्रातरेवेशं श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरम् । यो नमस्कुरुते तस्य प्रयच्छ परमां गतिम् ॥ ५२ ॥
इत्येवं प्रार्थितः सर्वैः श्रीमद्वृद्धाचलेश्वरः । तथैवास्त्विति संतुष्टः प्राह गम्भीरया गिरा ॥ ५३ ॥
तस्यामार्द्रादिने स्नाति श्रद्धया मानवो द्विजाः । तस्य संसारविच्छित्तिः सिद्धा नात्र विचारणा ॥ ५४ ॥
श्रीमद्व्याघ्रपुरे रम्ये महालक्ष्म्या निषेविते । शिवगङ्गेति विख्यातं तटाकं तीर्थमुत्तमम् ॥ ५५ ॥
तस्य दक्षिणतीरे श्रीशंकरः शशिशेखरः । प्रनृत्यति परानन्दमनुभूयानुभूय च ॥ ५६ ॥
यस्मिन्ब्रह्मादयो देवा मुनयश्च दिने दिने । स्नानं कृत्वा प्रनृत्यन्तं भवानीसहितं शिवम् ॥ ५७ ॥
प्रणमन्ति महाभक्त्या भवरोगनिवृत्तये । यस्मिन्साक्षान्महादेवो भवानीसहितो हरः ॥ ५८ ॥
ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सार्धं मघर्क्षे माघमासि च । स्नानं करोति रक्षार्थं प्राणिनामीश्वरेश्वरः ॥ ५९ ॥

[1]अप्सरैरप्सरोभिश्च न कादाचित्कत्वं संकीर्णत्वं किंतु नियतवासोऽपि तासामियं पुरीत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

ली । अतः जो व्यक्ति रविवार को उस नदी में स्नानकर दान करता है वह अवश्य मुक्त हो जाता है ॥ ३८—४५ ॥

महादेव द्वारा निर्मित मणिमुक्ता नाम की नदी उत्तम तीर्थ है । विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा आदि देवताओं ने सूर्य के धनुराशि में स्थित होने पर आर्द्रा नक्षत्र के समय उस नदी में स्नानकर तथा धनदान कर श्रीवृद्धाचलेश्वर को दण्डवत् प्रणाम किया और प्रार्थना की कि सदाचारी या दुराचारी, मूर्ख या पण्डित, ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल या अन्य भी कोई व्यक्ति उस दिन (अर्थात् धनुराशि में सूर्य के रहते आर्द्रानक्षत्र युक्त काल में) उस नदी में नहाकर श्रद्धापूर्वक किसी शिवयोगी को यथासामर्थ्य धन, धान्य या वस्त्र देकर, वृद्धाचलेश्वर के निमित्त व्रत रखे और प्रातःकाल ही वृद्धाचलेश्वर को प्रणामकरे तो भगवान् उसे परम गति प्रदान करें । भगवान् ने उनकी भी प्रार्थना मान ली । आर्द्रानक्षत्र के दिन जो व्यक्ति उसमें स्नान करता है उसका संसरण कष्ट अवश्य समाप्त होता है ॥ ४६—५४ ॥

महालक्ष्मी द्वारा सेवित व्याघ्रपुर में शिवगंगा नामक तालाब है जो एक श्रेष्ठ तीर्थ है । उसके दाहिने तट पर परमानन्द का अनुभव करते-कराते हुए नृत्य करते हैं । ब्रह्मादि देवता नित्य उस तीर्थ में स्नानकर भवानी सहित शिव को वहाँ प्रणाम करते हैं । प्राणियों की रक्षा के लिये भगवान् शंकर भवानी व अन्य देवताओं सहित मघनक्षत्र के समय माघमास में उसमें स्नान करते हैं । जो मनुष्य उसमें स्नानकर धनदान करता है वह ब्रह्मप्राप्ति करता है ॥ ५५—६० ॥

---

१. असुरैः सुरैरप्सरोभिश्चेत्यपेक्षितमिति प्रतिभाति ।

तस्मिन्भक्त्या नरः स्नात्वा ददाति धनमादरात् । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माप्येति द्विजोत्तमाः ॥ ६० ॥
गुह्यतीर्थमिति ख्यातं समुद्रे वेदवित्तमाः । श्रीमद्व्याघ्रपुरस्यास्य प्रागुदीच्यां दिशि स्थितम् ॥ ६१ ॥
एकयोजनविस्तीर्णमेकयोजनमायतम् । समुद्रतीरमारभ्य ब्रह्मणा विष्णुना तथा ॥ ६२ ॥
रुद्रेणाशेषदेवाद्यैर्मुनिभिश्च निषेवितम् । पुरा वेदविदां मुख्या वरुणो जलनायकः ॥ ६३ ॥
प्रमादाद्ब्राह्मणं हत्वा तत्पापविनिवृत्तये । व्याघ्रपादवचः श्रुत्वा त्वरया परया सह ॥ ६४ ॥
गुह्यतीर्थमिदं गत्वा मघर्क्षे माघमासि च । तत्र स्नात्वा महाभक्त्या वरुणो दग्धकल्मषः ॥ ६५ ॥
एतस्मिन्नन्तरे श्रीमान्नीलकण्ठोऽम्बिकापतिः । प्रसादमकरोत्तस्य वरुणस्य कृपाबलात् ॥ ६६ ॥
वरुणोऽपि महादेवं वाञ्छितार्थप्रदायिनम् । प्रार्थयामास धर्मात्मा लोकानां हितकाम्यया ॥ ६७ ॥
वरुण उवाच–भगवन्देव मत्पूजां मघर्क्षे माघमासि च । कृत्वा यः श्रद्धयैवास्मिंस्तीर्थे स्नात्वा ददाति च ॥ ६८॥
तस्य मुक्तिं प्रयच्छाऽऽशु ब्राह्मणस्यान्त्यजस्य वा ।
सूत उवाच–देवदेवो महादेवो वाङ्मनोऽगोचरो हरः ॥ ६९ ॥
तथैवास्त्विति विप्रेन्द्राः प्राह गम्भीरया गिरा । अत्र पर्वणि यः स्नात्वा ददाति धनमादरात् ॥ ७० ॥
समस्तपापनिर्मुक्तः[1] स याति परमां गतिम् । बहवोऽत्र मुनिश्रेष्ठाः स्नात्वा पर्वणि पर्वणि ॥ ७१ ॥
विहाय सर्वपापानि विमुक्ता भवबन्धनात् । ब्रह्मतीर्थमिति ख्यातं तटाकं ब्रह्मणा कृतम् ॥ ७२ ॥
श्रीमद्ब्रह्मपुराख्यस्य मध्यमे सुप्रतिष्ठितम् । [2]रोमशो भगवान्यस्मिंस्तटाके वेदवित्तमाः ॥ ७३ ॥
स्नात्वा नित्यं महाभक्त्या ततापं सुम[3]हत्तपः । यस्मिन्ब्रह्मा द्विजाः स्नात्वा कल्पादौ परमेश्वरम् ॥ ७४ ॥
पूजयामास लोकानां सृष्टिस्थित्यर्थमादरात् । तत्र स्नात्वाऽर्कवारे च ग्रहणे चैव पर्वणि ॥ ७५ ॥

स सर्वसमतामेत्येति । समत्वलाभो हि महत्तरं फलम्। तथा च गीतासु–'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' इति ॥ ६०–६८ ॥ वाङ्मनोऽगोचरो वाङ्मनसयोरगोचरः ॥ ६९–९३ ॥

व्याघ्रपुर से पूर्वोत्तर दिशा में समुद्र में गुह्यतीर्थ प्रसिद्ध है । समुद्रतट से लेकर यह तीर्थ एक योजन विस्तार वाला है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र व अन्य सभी देवताओं द्वारा यह सेवित है । एक बार वरुण ने प्रमादवश ब्राह्मण हत्या कर दी थी । उस पाप को धोने के लिये व्याघ्रपाद से इस तीर्थ के विषय में सुनकर वरुण मघनक्षत्र के समय माघमास में इस गुह्यतीर्थ में स्नानकर पाप से निवृत्त हुए थे । उसी समय भगवान् ने कृपाकर उन्हें दर्शन दिया । सब लोगों का हित चाहकर वरुण ने उनसे प्रार्थना की–वरुण बोले–'हे भगवन् ! हे देव ! जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक मघनक्षत्र के समय माघमास में मेरी पूजाकर इस तीर्थ में स्नान कर दान देवे उसे–चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे अन्त्यज–आप शीघ्र मोक्ष प्रदान करें ।' सूतजी बोले–वाणी व मन से जिनकी करुणा बतायी व समझी नहीं जा सकती उन महादेव ने वरुण की प्रार्थना स्वीकार कर ली । जो व्यक्ति पर्वदिनों में यहाँ श्रद्धा से स्नानकर सत्कारपूर्वक धनदान करता है वह सभी दोषों से छूटकर सद्गति प्राप्त करता है । कई लोग यों उत्तम गति पा चुके हैं ॥ ६१–७१¹/₂ ॥

ब्रह्मा द्वारा निर्मित ब्रह्मतीर्थ नामक तालाब (पुष्करराज) भी उत्तम तीर्थ है । यह ब्रह्मपुर नाम स्थान में स्थित है । रोमश ने इसमें स्नानकर महान् तप किया था । कल्पप्रारंभ में ब्रह्माजी ने भी इसमें स्नान कर परमेश्वर का पूजन किया था । रविवार, ग्रहण तथा पर्व के दिनों में इसमें स्नानकर धनदान करने से परमेश्वरप्राप्ति होती है ॥ ७२–७५¹/₂ ॥

---

१. समस्तसर्वादिशब्दा आधिक्यबोधकाः । २ ख. लोमशो । ३. ङ. °महातपाः ।

यो ददाति धनं भक्त्या स याति परमेश्वरम् । सूर्यपुष्करिणी नाम तीर्थमत्यन्तशोभनम् ॥ ७६ ॥
श्रीमद्ब्रह्मपुरात्यस्य पश्चिमस्यां दिशि स्थितम् । यत्र स्नात्वाऽर्कवारे च ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥ ७७ ॥
विषुवायनकालेषु पर्वण्यार्द्रादिने तथा । पूषा दक्षाध्वरध्वस्तदन्तांल्लब्ध्वा प्रियं गतः ॥ ७८ ॥
पुरा रावणपुत्रस्तु विजित्य सकलं जगत् । इन्द्रजिद्रथमारुह्य प्रमत्तः पण्डितोत्तमाः ॥ ७९ ॥
गच्छन्नत्यन्तवेगेन व्योम्नि लङ्कां प्रति द्विजाः । तीर्थस्यास्य रथस्तीरे दक्षिणे सुस्थितोऽभवत् ॥ ८० ॥
सोऽपि तत्प्रेक्ष्य विप्रेन्द्रा विचार्य सुचिरं सुधीः । पूजयामास तत्रैव श्रद्धया परमेश्वरम् ॥ ८१ ॥
देवदेवो महादेवो राक्षसानां महाधनम् । तत्रैदाऽऽस्ते स्वयं प्रीत्या भवानीसहितो हरः ॥ ८२ ॥
इन्द्रजित्पुनरादातुं न शशाक तमीश्वरम् । स पुनः सुचिरं कालं विचार्य परमेश्वरम् ॥ ८३ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा समारुह्य रथोत्तमम् । विवर्णो विवशोऽतीव द्विजा लङ्कापुरीं गतः ॥ ८४ ॥
अस्मिन्पर्वणि यः स्नात्वा भोजयेद्ब्राह्मणं मुदा । सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोकं स गच्छति ॥ ८५ ॥
यः स्नाति वेदविच्छ्रेष्ठाः कावेर्युदधिसंगमे । सर्वाणि तस्य पापानि विनश्यन्ति न संशयः ॥ ८६ ॥
श्वेतारण्ये तथा कुम्भकोणे मध्यार्जुने द्विजाः । आम्रतीर्थे हृदि स्थाने तथा मङ्गलवंशके ॥ ८७ ॥
त्रिकोटिहाख्ये कावेरी वरिष्ठा सर्वकामदा । एषु स्थानेषु कावेर्यां स्नात्वा पर्वणि यः पुमान् ॥ ८८ ॥
अर्कवारे तथा विप्राः प्रणम्य परमेश्वरम् । ददाति धनमन्यद्वा महापापात्प्रमुच्यते ॥ ८९ ॥
पापिष्ठो वा वरिष्ठो वा यः पुमान्मरणं गतः । एषु स्थानेषु विप्रेन्द्राः स मुक्तो नात्र संशयः ॥
बहवो मरणान्मुक्ता एषु स्थानेषु सप्तसु ॥ ९० ॥

ब्रह्मपुर के ही पश्चिम में सूर्यपुष्करिणी नाम का तीर्थ है । रविवार को, चन्द्र व सूर्य के ग्रहणों पर, विषुव के दिनों पर, अयनारंभक संक्रान्तियों पर, पर्वों पर तथा आर्द्रानक्षत्र वाले दिन पूषा देवता ने इसमें स्नानकर दक्षयज्ञ के ध्वंस के समय नष्ट अपने दाँत पुनः पा लिये थे । प्राचीन काल में रावण का पुत्र इंद्रजित् सारे जगत् पर विजयकर आकाशमार्ग से लंका जा रहा था । वह इस तीर्थ के दक्षिण तट पर रुका । उसने वहाँ श्रद्धा से भगवान् शंकर का पूजन किया । देवी समेत शंकर जी वहीं विराजते हैं । इंद्रजित् उन्हें वहाँ से ले जाने में समर्थ नहीं हुआ । उनकी तीन बार परिक्रमा कर वह लंका को चला गया । जो व्यक्ति इस तीर्थ में पर्वकाल में स्नानकर प्रसन्नता से ब्राह्मण को भोजन कराता है वह सब पापों से छूटकर शिवलोक को जाता है ॥ ७६–८५ ॥

जो व्यक्ति कावेरी और समुद्र के संगम पर स्नान करता है उसके सारे पाप धुल जाते हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ८६ ॥

श्वेतारण्य, कुम्भकोण, मध्यार्जुन, आम्रतीर्थ, हृदयस्थान, मंगलवंशक व त्रिकोटिह नामक स्थलों पर कावेरी सर्वोत्तम है व सर्वकामप्रदायिका है । जो पुरुष पर्व के दिनों पर तथा रविवार को इन स्थानों पर कावेरी में स्नानकर, परमेश्वर को प्रणामकर धन या अन्य वस्तुएँ दान करता है वह महापाप से भी छूट जाता है । चाहे अत्यधिक पापी हो, चाहे साधना बिना किये ही बुढ्ढा हो गया हो, इन सात स्थानों पर यदि मर जाता है तो अवश्य मुक्त होता है । बहुत लोग यहाँ मरकर मुक्त हुए हैं ॥ ८७–९० ॥

क्षीरकुण्डमिति ख्यातं भवरोगस्य भेषजम् । सर्वतीर्थोत्तमं पुण्दं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९१ ॥
सर्वकामप्रदं दिव्यं श्रीमद्वल्मीकमध्यगम् । उत्तरे फाल्गुने मासि ब्रह्मणा विष्णुना तथा ॥ ९२ ॥
शंकरेण तथा देवैर्मुनिभिः सर्वजन्तुभिः । सेवितं सोमसूर्याभ्यां स्वर्गाद्वल्मीकमागतम् ॥ ९३ ॥
यः स्नाति फाल्गुने मासि श्रद्धयैवोत्तरे दिने । तस्य सर्वाणि पापानि विनश्यन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ९४ ॥
यः स्नात्वा[1]ऽत्र व्यतीपाते ददाति धनमादरात् । तस्य मुक्तिरयत्नेन सिध्यत्येव न संशयः ॥ ९५ ॥
देवतीर्थमिति ख्यातं क्षीरकुण्डस्य पश्चिमे । देवराजः पुरा यत्र स्नात्वा पर्वणि पर्वणि ॥ ९६ ॥
वत्सरान्ते महादेवं वल्मीकावासमादरात् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ ९७ ॥
विसृज्य देवराजत्वं विमुक्तः कर्मबन्धनात् । यत्र स्नात्वोत्तरे मर्त्यः श्रद्धया मासि फाल्गुने ॥ ९८ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा वल्मीकावासमीश्वरम् । ददाति धनमल्पं वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ९९ ॥
अर्कवारे च तथाऽऽर्द्रायां कृष्णाष्टम्यां विशेषतः । यः स्नाति देवतीर्थेऽस्मिन्स याति परमां गतिम् ॥ १०० ॥
सेतुमध्ये महातीर्थं गन्धमादनपर्वतम् । यत्र स्नात्वा महाभक्त्या राघवः सह सीतया ॥ १०१ ॥
लक्ष्मणेन तथैवान्यैः सुग्रीवप्रमुखैर्वरैः । मुनिभिर्देवगन्धर्वैर्यक्षविद्याधरादिभिः ॥ १०२ ॥
राक्षसेशवधोत्पन्नां ब्रह्महत्यां विहाय सः । प्रतिष्ठाप्य महादेवं श्रीमद्रामेश्वराभिधम् ॥ १०३ ॥
विदित्वा तीर्थमाहात्म्यं दत्तवान्धनमुत्तमम् । यत्र स्नात्वा व्यतीपाते ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ॥ १०४ ॥
अर्कवारे भृगोवरि पर्वण्यर्द्रादिने तथा । विषुवायनकालेषु षडशीतिमुखे तथा ॥ १०५ ॥
अर्धोदयेऽथवा विप्राः सुमुहूर्तेषु चाऽऽस्तिकाः । यथाशक्ति धनं दत्त्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम् ॥ १०६ ॥

उत्तरे दिन इति । विशाखे सूर्यवारे चेतिवद्व्याख्येयम् ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥ १०० ॥ १०२ ॥ ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

श्रीवल्मीक नामक स्थान में क्षीरकुण्ड नामक उत्तम तीर्थ है जिसे भवरोग की दवा समझना चाहिये । सब पापों का नाशक व सब कामनाओं का साधक वह तीर्थ है । ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, देवता, मुनि व अन्य सब जन्तुओं द्वारा स्वर्ग से वल्मीक में आये हुए और सूर्य व चंद्र द्वारा सेवित इस तीर्थका फाल्गुन मास में उत्तरनक्षत्र युक्त दिन को सेवन किया जाता है । व्यतीपात योग होने पर जो इसमें स्नान कर धन का दान करता है उसे अनायास मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ९१–९५ ॥

क्षीरकुण्ड से पश्चिम में देवतीर्थ है । पूर्वकाल में इन्द्र ने एक वर्ष तक यहाँ प्रतिपर्व स्नान किया तथा साल की समाप्ति पर वल्मीक स्थान पर स्थित महादेव को प्रणाम कर तीन परिक्रमायें कर इन्द्रपद छोड़ मोक्ष पाया । जो व्यक्ति फाल्गुन मास में उत्तरनक्षत्रयुक्त दिन को देवतीर्थ में स्नानकर वल्मीकावास परमेश्वर की तीन परिक्रमायें कर थोड़े भी धन का दान करता है वह भवबन्धन से छूट जाता है । रविवार, आर्द्रा नक्षत्र के रहते और विशेषतः कृष्णाष्टमी को जो इस देवतीर्थ में स्नान करता है वह उत्तम गति पाता है ॥ ९६–१०० ॥

सेतु नामक शैलशृंखला के बीच गंधमादनपर्वत एक महान् तीर्थ है । राक्षसराज रावण को मारने से लगी ब्रह्महत्या से छूटने के लिये श्रीराम ने सीत, लक्ष्मण व मुनि आदि सहित परम भक्तिपूर्वक यहाँ स्नान किया था और रामेश्वर नाम से महादेव

---

१. ङ. °स्नात्वा तु व्य° ।

लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैः स्तुत्वा वेदार्थपारगाः । प्रदक्षिणत्रयं भक्त्या यः करोति द्विजोत्तमाः ॥ १०७ ॥

ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्महद्भिः स विमुच्यते । कृतघ्नाश्च विमुच्यन्ते यद्यत्र मरणं गताः ॥ १०८ ॥

स्नात्वाऽत्रैव महाभक्त्या मासमात्रं दिने दिने । दृष्ट्वा रामेश्वरं [१]दत्त्वा सुवर्णं निष्कमादरात् ॥ १०९ ॥

उपोष्य रजनीमेकां मासान्ते पर्वणि द्विजाः । ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयादिपातकैः ॥ ११० ॥

बुद्धिपूर्वकृतैर्मर्त्यो मुच्यते नात्र संशयः । कृतार्थाः स्नानमात्रेण बहवोऽत्राभवन्द्विजाः ॥ १११ ॥

सूत उवाच—

एतानि तीर्थानि पुरोदितानि वेदेषु शास्त्रेषु शिवागमेषु ।
दृष्ट्वा भवानीपतिरम्बिकायाः प्रोवाच कारुण्यबलेन देवः ॥ ११२ ॥
देवी पुनः प्राह गुहस्य शंकरी गुहो विरिञ्चाय चतुर्मुखस्ततः ।
गुरोर्ममाशेषजगत्प्रसिद्धये गुरुर्ममापारकृपामहोदधिः ॥ ११३ ॥
युष्माकं परमकृपाबलेन विप्रा अस्माभिः कथितमिदं जगद्धिताय ।
शिष्याणां सततमिदं मुदा भवद्भिर्वक्तव्यं परमशिवप्रसादसिद्ध्यै ॥ ११४ ॥

य इदं तीर्थमाहात्म्यं पठते सुमुहूर्तके । सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ११५ ॥

य इदं शृणुयान्नित्यं सुमुहूर्तेषु वा पुनः । सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥ ११६ ॥

तीर्थेषु श्राद्धकाले वा य इदं श्रावयेन्मुदा । दारिद्र्यं सकलं त्यक्त्वा स महाधनवान्भवेत् ॥ ११७ ॥

की स्थापना की थी । उस तीर्थ के माहात्म्य को जानकर उन्होंने उत्तम धन का दान भी किया था । व्यतीपात योग होने पर, चंद्र या सूर्य के ग्रहण होने पर, रविवार को, बृहस्पतिवार को, पर्व के दिनों में, आर्द्रा नक्षत्र वाले दिन, विषुव के दिनों में, अयनारंभक संक्रान्तियों पर, मिथुन कन्या धन और मीन राशियों में सूर्यसंक्रान्ति होने पर, अष्टमी को अथवा अन्य शुभ मुहूर्तों पर वहाँ स्नानकर, यथाशक्ति धनदान कर, रामेश्वर का दर्शन और लौकिक व वैदिक स्तोत्रों से उनकी स्तुतिकर जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक उनकी तीन परिक्रमायें करता है वह ब्रह्महत्या आदि महापापों से छूट जाता है । वहाँ मरने से कृतघ्न लोग भी मुक्त हो जाते हैं । एक महीना प्रतिदिन इस तीर्थ में स्नानकर, रामेश्वर का दर्शनकर, स्वर्ण निष्क (सोलह माशे के तोल के सोने के बराबर की स्वर्ण मुद्रा) का दानकर और मासान्त के पर्व पर एक अहोरात्र का व्रत रखने से जान बूझकर किये भी ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णकी चोरी आदि महापापों से छुटकारा मिल जाता है । यहाँ अनेक भक्त स्नान करने से ही कृतार्थ हुए हैं ॥ १०७–१११ ॥

---

१. ख. नत्वा ।

यः शृण्वन्देवतापूजां करोतीदं मुदा नरः । तस्य ब्रह्मा हरिश्चापि प्रसीददति महेश्वरः ॥ ११८ ॥
भगवान्देवकीसूनुः सर्वभूतहिते रतः । महादेवप्रसादार्थमिदं पठति नित्यशः ॥ ११९ ॥
तस्माद्भवद्भिर्मुनयः श्रद्धया परया सह । पठितव्यमिदं नित्यं प्रसादार्थं त्रिशूलिनः ॥ १२० ॥
एवमुक्त्वा मुनीन्द्रेभ्यः सूतः सर्वार्थवित्तमः । अतीव प्रीतिमापन्नः सोमं सोमार्धशेखरम् ॥ १२१ ॥
सर्वज्ञं सर्वकर्तारं संसारामयभेषजम् । सुरासुरमुनीन्द्रैश्च प्रणताङ्घ्रिसरोरुहम् ॥ १२२ ॥
ध्यात्वा हृत्पङ्कजे भक्त्या प्रसन्नेन्द्रियमानसः । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ महादेवं जगद्गुरुम् ॥ १२३ ॥
वेदव्यासं च संसारसमुद्रतरणप्लवम् । विहाय मुनिशार्दूलान्कैलासमचलं गतः ॥ १२४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे शिवमाहात्म्यखण्डे तीर्थमाहात्म्यकथनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

षडशीतिमुख इति । मिथुनकन्याधनमीनराशिषु रविसंक्रमे ॥ १०५ ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥ ॥ १२४ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासश्रीक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां शिवमाहात्म्यखण्डे तीर्थमाहात्म्यकथनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

समाप्तमिदं शिवमाहात्म्यखण्डम् ।

सूतजी ने तीर्थमाहात्म्य का वर्णन यह कहते हुए समाप्त किया—पूर्व में वेद, शास्त्र व शिवागमों में बताये इन तीर्थों को उन ग्रंथों में देखकर भगवान् ने देवी को बताया । देवी ने कार्तिकेय को, उन्होंने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने मेरे गुरु व्यासदेव को तथा कृपा के अथाह सागर मेरे गुरु ने मुझे ये तीर्थ बताये हैं ॥ ११२–११३ ॥ परमेश्वर की कृपा से प्राप्त बल के सहारे मैंने इन्हें आप लोगों को बताया है, आप लोग भी अपने शिष्यों को इनका ज्ञान कराइये जिससे वे इनका सेवन कर शिवप्रसाद पावें ॥ ११४ ॥ जो इस तीर्थमाहात्म्यद्योतक अध्याय का शुभ मुहूर्त में अध्ययन करता है वह सब पापों से मुक्त हो उत्तम गति प्राप्त करता है ॥ ११५ ॥ जो इसका उत्तम मुहूर्त में श्रवण कर लेता है वह भी निष्पाप हो शिवलोक में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ११६ ॥ तीर्थों में या श्राद्ध के समय जो इसे प्रसन्नतापूर्वक सुनाता है उसका दारिद्र्य निवृत्त हो वह अत्यधिक धनी हो जाता है ॥ ११७ ॥ जो इसे सुन देवता पूजन करता है उसपर ब्रह्मा विष्णु महेश प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ११८ ॥ देवकीपुत्र श्रीकृष्ण शिवप्रीत्यर्थ इसका नित्य पाठ करते हैं ॥ ११९ ॥ अतः हे मुनियो ! आप लोगों को भी शिवप्रसन्नता के लिये इसे रोज़ पढ़ना चाहिये ॥ १२०॥

यों मुनीन्द्रों को समझाकर सर्वज्ञ सूतजी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए । सर्वदेव-नमस्कृत, चन्द्रभूषण भगवान् उमेश का हृदय में ध्यान और उन्हें दण्डवत् प्रणामकर तथा संसारार्णव से तारने वाले निजगुरु व्यास का ध्यान व उन्हें प्रणामकर सूतजी मुनियों को छोड़ कैलास पर्वत की ओर चले गये ॥ १२१–१२४ ॥

द्वितीयं ज्ञानयोगखण्डम्

प्रथमः अध्याय

कैलासशिखरे रम्ये नानारत्नसमाकुले । नानापुष्पसमाकीर्णे नानामूलफलोदके ॥ १ ॥
नानावल्लीसमाकीर्णे नानामृगसमाकुले । नानावृक्षसमाकीर्णे नानायोगिसमावृते ॥ २ ॥
नानासिद्धसमाकीर्णे नानामुनिसमावृते । नानादेवसमाकीर्णे नानाचारणसेविते ॥ ३ ॥
नाना[1]यक्षसमाकीर्णे नानागन्धर्वसेविते । सुखासीनं सुप्रसन्नं [2]सुनेत्रं सुस्मितं शुचिम् ॥ ४ ॥
स्वतेजसा जगत्सर्वं भासयन्तं भयापहम् । सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं वेदवेदा[3]ङ्गपारगम् ॥ ५ ॥
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकम् । रुद्राक्षमालाभरणं जटामण्डलमण्डितम् ॥ ६ ॥
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जीवन्मुक्तं जगद्गुरुम् । व्यासप्रसादसंपन्नं व्यासवद्विगतस्पृहम् ॥ ७ ॥
वेदमार्गे सदा निष्ठं वेदमार्गप्रवर्तकम् । ऋजुकायशिरोग्रीवं नासा[4]ग्रन्यस्तलोचनम् ॥ ८ ॥
स्वयं स्वमेव ध्यायन्तं सूतं बुद्धिमतां वरम् । विष्णुवृद्धो विशालाक्षो [5]वत्सः कुण्डिन आरुणिः ॥ ९ ॥
जाबालो जमदग्निश्च जर्जरो जङ्गमो जयः । पङ्क्वः पाशधरः पारः पारगः पण्डितोत्तमः ॥ १० ॥
महाकायो महाग्रीवो महाबाहुर्महोदरः । उद्दालको महासेन आर्त आमलकप्रियः ॥ ११ ॥
एकपादो द्विपादश्च त्रिपादः पद्मनायकः । उग्रवीर्यो महावीर्य उत्तमोऽनुत्तमः पटुः ॥ १२ ॥
पण्डितः करुणः कालः कैवल्यश्च कलाधरः । कल्यान्तः रुङ्कणः कण्वः कालः कालाग्निरुद्रकः ॥ १३ ॥
श्वेतबाहुर्महाप्राज्ञः श्वेताश्वतरसंज्ञकः । एषां शिष्याः प्रशिष्याश्च पाशविच्छेदने रताः ॥ १४ ॥
विचार्यमाणा वेदार्थं विषण्णा विवशा भृशम् । समागम्य समाधिस्थं दण्डवत्प्रणिपत्य च ॥ १५ ॥

ज्ञातव्यं वस्तु प्रथमखण्डेनोपदिश्य ज्ञानोपायं वक्तुं द्वितीयखण्डमार[6]भते—कैलासेत्यादिना । कैलासेत्यारभ्य मुनय उचुरि[7]त्येतदन्तं व्यासवाक्यम् ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

द्वितीय— ज्ञानयोगखण्ड

ज्ञानयोग-परम्परा-कथन नामक प्रथम अध्याय

रमणीय, अनेक रत्नों से सज्जित, विभिन्न सुमनों से सुगंधित, पर्याप्त मूल फल व जल से भरपूर, विभिन्न लताओं से आच्छादित, कई प्रकार के पशुओं से संचरित, असंख्य प्रजातियों के वृक्षों वाले, नाना योगी, सिद्ध, मुनि, देव, चारण, यक्ष तथा गन्धर्वों से सेवित कैलास-शिखर पर सुख से बैठे सुप्रसन्न, आभापूर्ण, सर्वज्ञ, जटिल, भस्म-रुद्राक्ष से विभूषित जीवन्मुक्त, जगद्गुरु, निरीह, व्यास के कृपापात्र, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, स्वयं अपना ध्यान करते हुए श्री सूतजी से विष्णुवृद्ध, वत्स, आरुणि, श्वेताश्वतर जाबाल, जमदग्नि, उद्दालक आदि मुनियों व उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने—जो कि सभी पाशों को काटने के लिये साधनारत थे—प्रणाम तथा स्तुतिकर निवेदन किया ॥ १—१५½ ॥

---

१. घ. °नापक्षिस° । २. ङ. त्रिनेत्रं । ३. क. ख. °दान्तपा° । ४. क. घ. °साग्रे न्य° । ५. ग. ङ. वत्सकु° । ६. ग. घ. °रभ्यते । ७. ख. °रित्यन्तं ।

स्तोत्रैः स्तुत्वा महात्मानं पप्रच्छुः पण्डितोत्तमाः ।

मुनय ऊचुः—भवता कथितं सर्वं संक्षेपाद्विस्तरेण च ॥ १६ ॥

इदानीं श्रोतुमिच्छमो ज्ञानयोगं सहेतुकम् । साक्षाद्विष्णोर्जगन्नाथात्कृष्णद्वैपायनाद्गुरोः ॥ १७ ॥

अवा[1]प्तज्ञानयोगस्त्वं न वेत्ता त्वादृते भुवि । तस्मात्कारुण्यतोऽस्माकं संक्षेपाद्वक्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

इति पृष्टो मुनिश्रेष्ठैः सूतः पौराणिकः प्रभुः । साक्षात्सर्वेश्वरं साम्बं संसारा[2]मयभेषजम् ॥ १९ ॥

सर्वज्ञं सर्वगं श[3]र्वं सर्वभूतहिते रतम् । व्याघ्रचर्माम्बरधरं व्याख्यानैकरतं विभुम् ॥ २० ॥

चतुर्भुजं शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलाकृतिम् । गङ्गाधरं विरूपाक्षं चन्द्रमौलिं जटाधरम् ॥ २१ ॥

नीलग्रीवं चिरं स्मृत्वा व्यासमप्यमितौजसम् । प्रहृष्टः परया भक्त्या परिपूर्णमनोरथः ॥ २२ ॥

लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैः स्तुत्वा सम्यक्समाहितः । वक्तुमारभते सर्वं प्रणिपत्य महेश्वरम् ॥ २३ ॥

सूत उवाच—शृणुध्वं मुनयः सर्वे भाग्यवन्तः समाहिताः । एतदेव पुराऽपृच्छद् गिरां नाथो महेश्वरम् ॥ २४ ॥

देवोऽपि देवी[4]मालोक्य करुणाविष्टचेतसा । प्राह गम्भीरया वाचा गुरवे मुनिपुंगवाः ॥ २५ ॥

देव्या अङ्के समासीनः स्कन्दोऽपि श्रुतवांस्तदा । स्कन्दाद्वसिष्ठः संप्राप्तः पूर्वजन्मतपोबलात् ॥ २६ ॥

संक्षेपविस्तराभ्यामुपदिष्टस्यापि तत्त्वस्यानादिभवपरम्परोपात्तदुरितोपहतचित्तैर्दुरधिगमत्वाद्दुरितप्रक्षयद्वारा तेषामपि तदधिगमे क उपाय इति मुनयो जिज्ञासन्ते—भवता कथितमिति । योग उपायः । सोपायं ज्ञानसाधनं शुश्रूषामह इत्यर्थः ॥ १६–२३ ॥

गिरां नाथो बृहस्पतिः । सकललोकहितायावश्यप्रष्टव्यमर्थमसौ बृहस्पतिः पृच्छति ॥ २४ ॥

आलोक्येति । देव्या ब्रह्मविद्याऽधिदेवतात्वात् तत्करुणावीक्षां विना ब्रह्मज्ञानानुदयान् तदभ्यनुज्ञापनमावश्यकमिति देव्यालोकनाभिप्रायः ॥ २५ ॥

मुनि बोले—हे सूत जी ! आपने सारा विषय संक्षेप व विस्तार से (बहुधा) बताया है (किन्तु कठिन बात बार-बार सुनने से ही समझ आती और जँचती है अतः) अब हम उपाय सहित ज्ञानसाधन के विषय में सुनना चाहते हैं ॥ १५–१६½ ॥ स्वयं व्यासरूप विष्णु से आपने विद्या पायी है अतः आपसे अन्य संसार में कौन जानकार होगा ? इसलिये कृपाकर आप ही हमें संक्षेप में यह विषय समझाइये ॥ १७–१८ ॥

यह सुनकर पौराणिक सूतजी ने साक्षात् परमेश्वर, संसाररोग की औषधि, सर्वज्ञ, व्यापक, पाशनाशक, सबका हित करते रहने वाले, बाघाम्बर धारी, सदा व्याख्यान करने वाले, परम महान्, शरत्कालीन चन्द्रज्योत्स्ना सी धवल आकृति वाले, गंगाधर, त्रिनेत्र, सोमार्धशेखर, जटिल, नीलकण्ठ, चतुर्भुज, पार्वती-परमशिव को कुछ समय स्मरणकर तथा अपरिच्छिन्न तेज वाले व्यासजी को स्मरणकर, निष्काम होने से प्रसन्नतापूर्वक परमभक्ति से लौकिक व वैदिक स्तोत्रों से शिवस्तुति व गुरुस्तवनकर एकाग्र हो पुनः महेश्वर को प्रणामकर कहना प्रारंभ किया ॥ १९–२३ ॥

सूतजी बोले—हे सौभाग्यशाली मुनियो ! आप लोग ध्यान से सुनिये । यही बात पहले बृहस्पति ने महादेव से पूछी थी ॥ २४ ॥ शिव ने भी करुणाकर देवी को देखते हुए बृहस्पति को उपदेश दिया था ॥ २५ ॥ भगवती की गोद में बैठे कार्तिकेय ने तब इसे सुन लिया था । उनसे वसिष्ठ ने यह ज्ञान पूर्व जन्म में किये तप के प्रभाव के कारण पाया ॥ २६ ॥

---

१. ख. °वाप्तो ज्ञा° । २. घ. °रभय° । ३. ङ. घ. सर्वं । ४. ग. °देवमा° ।

वसिष्ठाल्लब्धवाञ्शक्तिः शक्तेः प्राप्तः पराशरः । पराशरान्मुनि[1]श्रेष्ठो भगवान्व्याससंज्ञितः ॥ २७ ॥

तदहं श्रुतवान्व्यासाज्जन्मान्तरतपोबलात् । वक्ष्ये वेदविदामद्य युष्माकं तद्यथाश्रुतम् ॥ २८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे ज्ञानयोगसंप्रदायपरम्पराकथनं नाम प्रथमोध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अवाच्यमेतद्विज्ञानमतिगुह्यमनुत्तमम् । आम्नायान्तैकसंसिद्धमशेषक्लेशनाशनम् ॥ १ ॥

अनन्तानन्दमोक्षाख्यब्रह्मप्राप्त्यै[2]कसाधनम् । आश्रमैरखिलैर्युक्तमष्टाङ्गै[3]रपि [4]संयुतम् ॥ २ ॥

वक्ष्यमाणोपाये समाश्वासजननाय शिवादिवक्तृपरम्परोपन्यासः ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां ज्ञानयोगखण्डे ज्ञानयोगसंप्रदायपरम्पराकथनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

सोपायज्ञानयोगे श्रद्धावत एवाधिकारो नेतरस्य । उक्तं हि—'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह' इति ॥ अतस्तत्र ज्ञाने श्रद्धातिशयजननाय स्वरूपतः फलतश्च तस्य निरतिशयमुत्कर्षमाह—**अवाच्यमित्यादिभिः** । अशेषक्लेशनिवर्हणत्वेन नित्यनिरतिशयानन्दप्रापकत्वेन चात्यन्तमुत्तमत्वादतिगुह्यमतिरहस्यमिदं ज्ञानं यत्र तत्रानधिकारिणि न वक्तव्यम् । न विद्यामूखरे वपेदित्यर्थः । तत्र च ज्ञाने त्रिविधा अधिकारिणः । विशुद्धसत्त्वाः समाहितचेतस उत्तमाः । तेषां वेदान्तश्रवणमात्रमेवोपायस्तदाह—**आम्नायान्तैकसंसिद्धमिति** । वक्ष्यति च सप्तमाध्यायावसाने—'सर्वदा सर्वमुत्सृज्य वेदान्तश्रवणं कुरु' इति ॥ १ ॥

ये तु विवेकवैराग्यसंपन्ना अपि रजोलेशानुवृत्त्या विक्षिप्तचेतसो मध्यमाधिकारिणः सहसैव चेतस एकाग्रत्वं न लभन्ते तेषामष्टाङ्गयोगो ज्ञानसाधनम् । [5]तच्च दशमाध्यायमारभ्य खण्डशेषेण वक्ष्यति । ये तु प्रबलतरदुरितप्रतिबद्धचित्ताऔत्सुक्यमात्रेण प्रवृत्ता अप्यप्रतिष्ठितजिज्ञासा अधमाधिकारिणस्तेषां जिज्ञासाप्रतिष्ठार्थं वर्णाश्रमध[6]र्माणां[7] कथंचिद्व्यतिक्रमे तन्निमित्तं पापं तस्य प्रायश्चित्तं तेन विशुद्धानां दानधर्मादिकं चोपायः । 'विविदिषन्ति यज्ञेन'—इत्यादिश्रुतेः । स चायमुपायो दशमादर्वाचीनेनाध्यायजातेनोपदिश्यत इति सकलोऽयं खण्डो ज्ञानोपायप्रतिपादकः ॥ २ ॥

वसिष्ठ से शक्ति ने, शक्ति से पराशर ने और पराशर से मनिपुंगव श्रीमान् व्यासदेव ने इसे प्राप्त किया ॥ २७ ॥ अन्य जन्म में किये तप के फलस्वरूप मैंने इस ज्ञान को व्यासजी से पाया है उसे जैसे मैंने सुना है वैसा आज आपको सुनाता हूँ ॥ २८ ॥

आत्माद्वारा की गयी सृष्टि का निरूपण नामक द्वितीय अध्याय

शिव ने (बृहस्पति से) कहा— केवल वेदान्तों से समधिगम्य तथा समस्त-क्लेश-विनाशक सर्वश्रेष्ठ यह विज्ञान अत्यन्त छिपाने योग्य है अतः अनधिकारी के लिये इसे प्रकाशित नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥ (अनधिकारी इसे समझ तो सकेगा नहीं, गलत ही समझेगा और अपना विनाश करेगा तथा वैसा ही प्रचार कर अन्यों की भी हानि करेगा । पुस्तकादि पढ़ते हुए अपना अधिकार भी निर्धारित कर लेना चाहिये अन्यथा हम भी पतित हो सकते हैं । प्रत्येक ग्रंथ अपने अधिकारी का उल्लेख करता है । यदि हममें वे गुण हैं तब तो उस ग्रंथ के उपदेश अपनाने चाहिये । यदि नहीं हैं, तो या उसे पढ़ें नहीं और यदि कुतूहलवश पढ़ें तो न उसका अनुसरण करें व न उसे हमने समझ लिया ऐसा मानकर दूसरे को उसका उपदेश दें ।) यह विज्ञान ही अनन्त आनन्दरूप मोक्ष नामक परमात्मा की प्राप्ति का साधन है । समस्त आश्रमों के धर्म व योग के आठों अंग न्यूनाधिक व्यवधान से इस ज्ञान के लाभ के उपाय हैं ॥ २ ॥ हे वाचस्पति ! यह मैं तुम्हें बताऊँगा, अब ध्यान से सुनो—

---

१. घ. ङ. °श्रेष्टान्द्रग° । २. अन्ययोगव्यवच्छेदोऽत्रैकपदार्थः । न हि नाना ज्ञानं मोक्षोपायः शिष्टसंमत इत्यर्थः । ३. ङ. °रधिसं° । ४. ग. संयुतः ॥ २ ॥ ५. घ. तत्र । ६. क. घ. °धर्माः क° । ७. धर्माणामुपायत्वमिति शेषः । धर्मानुष्ठानस्यापि केनचित्प्रकारेण व्यतिक्रमे जाते तज्ज्ञानस्य कारणं न भवेदित्याह—कथंचिदिति । अतन्निमित्तमितिच्छेदः । तेन धर्माणां स्वनुष्ठितानामुपायत्वेन । विशुद्धानां मुमुक्षुतया विशुद्धत्वेऽप्यधमाधिकारिणामित्यर्थः ।

वक्ष्ये कारुण्यतः साक्षाच्छृणु वाचस्पतेऽधुना । आसीदिदं तमोमात्रमात्माभिन्नं जगत्पुरा ॥ ३ ॥
ततः सत्त्वगुणक्षोभान्महत्तत्त्वमजायत । एक एव शिवः साक्षात्तिस्रो मूर्तीर्दधौ पुनः ॥ ४ ॥
रजोगुणं समास्थाय ब्रह्मा स्यात्सृष्टिकारणम् । सत्त्वमास्थाय विष्णुः स्यात्पालनार्थं बृहस्पते ॥ ५ ॥
तमसा कालरुद्राख्यः सर्वं[1] संहारकारणम् । असंख्या मूर्तयस्तेषां विजायन्ते पृथक्पृथक् ॥ ६ ॥
उत्तमाधमरूपेण गुणवैषम्यमात्रतः । शब्दादीनि च भूतानि श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकम् ॥ ७ ॥
वागादिपञ्चकं तद्वत्प्राणापानादिपञ्चकम् । मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥ ८ ॥
अव्यक्तात्काल[2]पाकेन प्रजायन्ते पृथक्पृथक् । सर्वे कालपराधीना न कालः कस्यचिद्वशे ॥ ९ ॥
[3]कालो मायात्मसंबन्धात्सर्वसाधारणात्मकः । हिरण्यगर्भो भगवान्प्रादुरासीत्प्रजापतिः ॥ १० ॥

तत्रै[4]तस्मिन्नध्याये वर्णाश्रमध[5]र्मेण सृष्टिं वक्तुं महदादिक्रमेण हिरण्यगर्भोत्पत्तिमाह—आसीदिदमित्यादि । एष च सर्गक्रमो गतखण्डेऽष्टमादिष्वध्यायेषु प्रपञ्चित इति नेह पुनरुच्यते । तत्र तु सूतेन मुनिभ्यः स्ववचनेनैवोक्तः । इह तु शिवेन बृहस्पतय उपदिष्टप्रकारवर्णनमे[6]वेत्येतावानेव विशेषः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

हिरण्यगर्भ इति । यथोक्तसूक्ष्मभूतेन्द्रियकरणोपाधिको हिरण्यगर्भः पञ्चीकृतभूतमयशरीरः प्रजापतिरूपेण प्रादुरासीदित्यर्थः ॥ १० ॥

यह जगत् अभिव्यक्त होने से पूर्व केवल अव्यक्तरूप तथा आत्मा से अभिन्न था ॥ ३ ॥ (श्रुतियों का साग्रह घोष है कि वस्तुतः शिवेतर कुछ नहीं है । इसे समझाने के लिये वेद ने उस अवस्था का सहारा लिया है जब प्रपंच स्फुटरूप से नहीं था । अभी तो शिवैकसत्त्व समझने में सत्त्वेन उपस्थित संसार प्रतिरोधक है । इसे हटाने से समझना सरल होगा यह शास्त्र का अभिप्राय है । संसार का हटाना यही हो सकता है कि हम उस अवस्था का विचार करें जब संसार नहीं है । 'नहीं है' का भी अर्थ यही समझना होगा—कार्यरूप से नहीं है, क्योंकि यदि सर्वथा न हो तो बाद में भी उत्पन्न न होगा और आज 'है' इस तरह उपस्थित न होगा । अतएव कहा कि तब प्रपंच अव्यक्त है—कार्यकारी नहीं, आत्मैकत्व का प्रतियोगी नहीं । किन्तु इससे कहीं यह भ्रम न हो जाये कि 'अव्यक्तरूप से ही सही, प्रपंच है तो शिवेतर ही, अव्यक्त होने से प्रतियोगी न भी हो, व्यक्त हुआ तो शिव को सद्वितीय बना ही देगा'; उसे आत्मा से अभिन्न कहा गया है । अव्यक्त जगत् भी शिवेतर नहीं । अतएव व्यक्त जगत् भी शिव को सीमित करने में असमर्थ है । एवं च शिव से भिन्न न होते हुए शिव से भिन्न प्रतीत होना रूप मिथ्यात्व प्रपंच में सिद्ध करना श्रुति का करुणामय उद्देश्य है । उसी उद्देश्य को यहाँ पुराण सिद्ध कर रहा है ।) आत्मा की उस अव्यक्त नामक उपाधि में सत्त्वगुण का क्षोभ हो जाने से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ । (यह क्षोभ भी किसी स्वतन्त्र प्रकृति का नहीं किन्तु आत्मसत्ता से अनतिरिक्त सत्ता वाली अज्ञानरूप प्रकृति का हुआ । स्वतन्त्र सत्ताकता व स्वैकप्रकाशता ही ईक्षणादिसिद्ध आत्मस्वातंत्र्य है । इच्छा आदि सब क्षेत्रधर्म हैं । इस प्रकार सांख्यवाद से वैलक्षण्य स्फुट है ।) एक शिव ने ही तीन मूर्तियाँ धारण की । (शिव का परोक्षतया अभिधान यह द्योतित करने के लिये है कि जो मैं तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ वह तो धारण की हुई मूर्ति वाला हूँ किन्तु जिसके विषय में बता रहा हूँ वह वह है जिसने मूर्ति को धारण किया है । यद्यपि धारण करने वाला और धारण किये हुए है एक ही तथापि सविशेष व निर्विशेष के अभिप्राय से भेद है ।) रजोगुण को प्रधानकर शिव ही सृष्टि कारण ब्रह्मा हुए । सृष्टि का पालन करने के लिये सत्त्वगुण को प्रधानकर वे ही विष्णु हुए और तमोगुणप्रधान कर सर्वसंहारकारण कालरुद्र हुए ॥ ४–५$^1/_2$ ॥ गुणों के न्यूनाधिक्य से ब्रह्मादि त्रितय की भी असंख्य मूर्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ६$^1/_2$ ॥ अव्यक्त से यथाकाल शब्दादितन्मात्रारूप पाँच सूक्ष्म महाभूत, श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण आदि पंचक, मन बुद्धि अहंकार चित्त—यह अंतःकरणचतुष्टय, सभी उत्पन्न हुए । सभी काल के पराधीन है, काल किसी के वश में नहीं ॥ ७–९ ॥ माया व आत्मा के सम्बन्ध से तद्रूप काल बना है और यह सबके लिये एक जैसा है । सूक्ष्मोपाधिक हिरण्यगर्भ स्थूलोपाधिक प्रजापति रूप से प्रकट हुए ॥ १० ॥ वे ही प्रथम शरीरी हैं । क्योंकि पूर्व में उन्होंने अपने सारे पाप जला दिये थे इसलिये

---

१. ङ. °र्वकारणका° । २. ङ. °लरूपेण प्र° । ३. 'न कस्यचिद्वश' इत्युक्तेऽमुष्य स्वातन्त्र्यशङ्कामपाकरोति—कालइति ! मायात्मसबन्धएव कालस्ततएव सर्वसाधारणो, मायात्मसम्बन्धस्य विशेषे मानाभावात् । अतएव नासौ स्वतन्त्रः सम्बन्धस्य सम्बन्ध्यधीनत्वादिति भावः । ४. ङ. °त्रैव त° । ५. क. ख. ग. ङ. °धर्माणां हिरण्यगर्भेण सृ° । ६. घ. मेव° वि° ।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । तेन ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तन्मध्येऽयं बृहस्पते ॥ ११ ॥
भुवनानि च देवाश्च शतशोऽथ सहस्रशः । स्थावरं जङ्गमं चैव तथा वर्णाश्रमादि च ॥ १२ ॥
साम्बं सर्वेश्वरं ध्यात्वा प्रसादात्तस्य निर्ममे । प्रसादेन विना देवाः प्रसादेन विना नराः ॥ १३ ॥
प्रसादेन विना लोका न सिध्यन्ति महामुने । प्रसादाद्देवदेवस्य ब्रह्मा ब्रह्मत्वमागतः ॥ १४ ॥
विष्णुर्विष्णुपदं प्राप्तो रुद्रो रुद्रत्वमागतः । वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण महेश्वरः ॥ १५ ॥
आराध्यते प्रसादार्थं न दुर्वृत्तैः कदाचन । यस्मिन्प्रसन्ने सर्वेषां पुष्टिर्जायेत पुष्कला ॥ १६ ॥
अहो तेन विना लोकश्चेष्टतेऽन्यत्र मायया । ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां च विशेषतः ॥ १७ ॥
वानप्रस्थाश्रमस्थानां गृहस्थानां वशो हरः । वर्णाश्रमसमाचारात्प्रसन्ने परमेश्वरे ॥ १८ ॥
साक्षात्तद्विषयं ज्ञानमचिरादेव जायते । ज्ञानादज्ञानविध्वस्तिर्न कर्मभ्यः कदाचन ॥ १९ ॥
अज्ञाने सति संसारो ज्ञाने स कथमुच्यते । तस्माज्ज्ञानेन मुक्तिः स्यादज्ञानस्य क्षयान्मुने ॥ २० ॥
सर्वं संक्षेपतः प्रोक्तं मया वेदविदां वर । तस्मात्त्वं च महाभाग वर्णाश्रमरतो भव ॥ २१ ॥
सूत उवाच—इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठाः प्रणम्य[1] परमेश्वरम् । स्तोतुमारभते विप्राः प्रसादार्थं त्रिशूलिनः ॥ २२ ॥

प्रथमः शरीरीति स्थूलभूतमयशरीरसंबन्ध एव तस्यैव यतः प्रथम इत्यर्थः । प्रजापतिपदप्रापकेण तपसा सर्वाणि पापानि पूर्वमोषतीति पुरुषः । श्रूयते हि—'स यत्पूर्वोऽ[2]स्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुषः' इति ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

एवं वर्णाश्रमाचाराणामुत्पत्तिमभिधाय तदाचरणोपयोगमाह—वर्णाश्रमाचारवतेति ॥ १५ ॥ १६ ॥

चतुर्णामाश्रमाणां शिवप्रसादद्वारा ज्ञानोपयोगमाह—ब्रह्मचर्याश्रमेति ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

सर्वं संक्षेपत इति । अयमुपायोऽनुष्ठेय इति संक्षेपेणोक्तमित्यर्थः । अनुष्ठानप्रकारस्तु प्रपञ्चेन वक्ष्यते । वर्णाश्रमरत इति तत्प्रयुक्तधर्मरत इत्यर्थः । तत्र वर्णधर्माः—'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन, राजा राजसूयेन यजेत, वैश्यो वैश्यस्तोमेन' इत्यादयः । आश्रमधर्माः—'आहूतश्चाप्यधीयीत' इत्यादिब्रह्मचारिधर्माः । 'क्षौमे वसानौ जायापती अग्निमादधीयाताम्' इत्यादयो गृहस्थधर्माः । अरण्यवासादयो वनस्थधर्माः । [3]श्रवणादयो यतिधर्माश्चेति ॥ २१ ॥ २२ ॥

वे पुरुष कहे जाते हैं । उन्होंने ही ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया और उसमें अभिमानी हुए वे ही उपस्थित हैं ॥ ११ ॥ (व्यष्टि भेदों में बाँटना ब्रह्माण्ड उत्पन्न करना है) । तीनों भुवन व हजारों की तादाद में देवता बनाये । साम्ब सर्वेश्वर का ध्यानकर उन्हीं की कृपा से स्थावर-जंगम सब प्राणी तथा वर्ण, आश्रम, अवस्था आदि का निर्माण किया । शिवप्रसाद के बिना देव, मनुष्य, लोक आदि नहीं बनाये जा सकते ॥ १२—१३½ ॥ महादेव की कृपा से ही ब्रह्मा विष्णु रुद्रादि ने अपने पद प्राप्त किये हैं ॥ १४½ ॥

वर्णाश्रम के लिये विहित आचरणों को करने वाले पुरुषों द्वारा कृपाप्राप्ति के लिये महेश्वर की आराधना की जाती है । जो दुराचारी हैं वे कभी शिवपूजा नहीं करते ॥ १५½ ॥ अहो खेद है कि जिनकी प्रसन्नता से सबको पुष्कल पुष्टि प्राप्त होती है उन शंकर को छोड़ अज्ञानवश लोग अन्यान्य इष्टसाधकों की आराधना में लगते हैं ॥ १६½ ॥ विशेषकर संन्यासियों पर व ब्रह्मचारी आदि सभी आश्रमियों पर शिव शीघ्र कृपा करते हैं ॥ १७½ ॥ वर्णाश्रम के आचार के परिपालन से शिव के प्रसन्न हो जाने पर साक्षात् शिवविषयक ज्ञान तुरन्त उत्पन्न हो जाता है । ज्ञान से ही अज्ञान निवृत्त होता है कर्मों से कभी निवृत्त नहीं होता ॥ १८—१९ ॥ अज्ञान के रहते ही संसरण है । ज्ञान हो जाने पर वह कहाँ ? अतः हे मुनि बृहस्पति ज्ञान से अज्ञान का नाश होने के कारण मोक्ष होता है ॥ २० ॥ इस प्रकार जो उपाय अनुष्ठेय है उसे तुम्हें बता दिया । इसे समझ तुम वर्णाश्रमाचार में निरत हो जावो ॥ २१ ॥

सूतजी ने कहा—हे उत्तम मुनियो ! यह सुनकर बृहस्पति ने परमशिव को प्रणामकर उनकी कृपा पाने के लिये उनकी स्तुति करना प्रारंभ किया ॥ २२ ॥

१. ङ. °म्य जगदीश्व° । २. ख. °स्मात्सर्वान्पा° । ङ. °स्मात्पूर्वोऽसंमात्माप्मन औ° । ३. ङ. श्रमणा° ।

बृहस्पतिरुवाच–नमो हराय देवाय त्रिनेत्राय त्रिशूलिने । तापसाय महेशाय तत्त्वज्ञानप्रदायिने ॥ २३ ॥

नमो मौञ्जाय शुभ्राय नमः कारुण्यमूर्तये । नमो देवादिदेवाय नमो वेदान्तवेदिने ॥ २४ ॥

नमः पराय रुद्राय सुपाराय नमो नमः । विश्वमूर्ते महेशाय[1] विश्वाधाराय ते नमः ॥ २५ ॥

नमो भक्तभवच्छेदकारणायामलात्मने । कालाय कालकालाय कालातीताय ते नमः ॥ २६ ॥

जितेन्द्रियाय नित्याय जितक्रोधाय ते नमः । नमः पाषण्डभङ्गाय नमः पापहराय ते ॥ २७ ॥

नमः पर्वतराजेन्द्रकन्यकापतये नमः । योगानन्दाय योगाय योगिनां पतये नमः ॥ २८ ॥

प्राणायामपराणां तु प्राणरक्षाय ते नमः । मूलाधारे प्रविष्टाय मूलदीपाय ते नमः ॥ २९ ॥

वर्णाश्रमधर्माणामुत्पत्तिं संग्रहेण स्वरूपं च श्रुतवानपि बृहस्पतिस्तत्प्रपञ्चशुश्रूषया देवं तुष्टाव–**नमो हराय देवाये**त्यादिना ॥ २३ ॥

नमो मौञ्जायेति । [2]मुञ्जा अन्नं 'ऊर्ग्वै मुञ्जा' इति श्रुतेः । तच्च भोग्यमिति तत्संबन्धी भोगप्रद ईश्वरस्तस्मै । मुञ्जपदेन मुञ्जवान्वा हिमवतः शिखरप्रदेश उपलक्ष्यते । सोऽस्य निवास इति मौञ्जस्तस्मै । 'परो मौञ्जवतोतीहि' इति श्रुतेः ॥ २४ ॥ २५ ॥

कालाय भावि[3]कालवद्भूतमयं कलयति जगदेष कालोऽतस्तदात्मने । **कालकालाय** । तमपि कलयते तस्यापि परिच्छेदकाय । **कालातीताय** स्वयं केनचिदप्यपरिच्छिन्नाय ॥ २६ ॥ २७ ॥

योगानन्दायेति । योगः समाधिः । 'युज समाधौ' इति धातुः । तत्राभिव्यज्यमानो य आनन्दस्तद्रूपाय । **योगाय** समाधिरूपाय । **योगिनां पतय** इति योगसमाधिनिष्ठानां समाधिफलप्रदानेन पालकाय च नम इत्यर्थः ॥ २८ ॥

प्राणायामेति । श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामस्तदभ्यासपराणाम् । तेहि यदा कण्ठादिस्थानेषु लकारादिभूतवर्णैः सह प्राणनियम[4]मभ्यस्यन्ति तदा[5] ते कालं वञ्चयन्ति । उक्तं हि–'कण्ठे भ्रूमध्ये हृदि नाभौ सर्वाङ्गे स्मरेत्क्रमशः । लवरसमीरणषवर्णैरनिलसमा कालवञ्चनेयं स्यात्' इति । अतस्तेषां वञ्चितकालानां या प्राणरक्षा भवति साऽपि त्वत्प्रसादलभ्येत्यर्थः । **मूलाधार इति** । परा हि शक्तिर्मूलाधारादामस्तकमुद्गता तत्र चन्द्र[6]मण्डलसंस्पर्शात्स्रवदमृतधारया सह स्वयमपि पुनर्मूलाधारं प्रविशति । यदाहुः–

बृहस्पति बोले–सर्वतापहर आपको नमस्कार है । प्रपंच क्रीडा करने वाले आपको नमस्कार है । सब प्रमाणों से सब जानने वाले आप त्रिनेत्र को नमस्कार है । पापियों को त्रिविध ताप से तप्त करने वाले त्रिशूलधारी आपको प्रणाम है । संकल्पमात्र से सब करने वाले आप तापस के लिये प्रणाम है । महान् शासक आपको नमस्कार है । वास्तविकता का बोध देने वाले आपको नमस्कार है ॥ २३ ॥ सर्वभोगप्रदायक होने से मौञ्ज कहे जाने वाले आपको नमस्कार है । सत्त्वरूप आपको नमस्कार है । करुणा के मूर्त्तिमान् रूप आपको प्रणाम है । सब प्रकाशों के मूल प्रकाश आपको नमस्कार है । वेदान्त समझने वाले आपको नमस्कार है ॥ २४ ॥ सबसे परे स्थित आपको प्रणाम है । दुःखनिवारक आपको प्रणाम है । संसार के श्रेष्ठ परले पाररूप आपको प्रणाम है । सर्वरूप आपको प्रणाम है । यज्ञ में अन्तर्हित रहने वाले आपको नमस्कार है । संसार के आधार आपको नमस्कार है ॥ २५ ॥ भक्तों की संसरणशृङ्खला तोड़ देने वाले शुद्ध स्वरूप आपको नमस्कार है । कालरूप तथा काल को भी सीमित कर देने वाले आपको नमस्कार है । वस्तुतः कालसम्बन्धवर्जित आपको प्रणाम है ॥ २६ ॥ नियंत्रित इन्द्रियों वाले आपको नमस्कार है । सनातन आपको नमस्कार है । क्रोध को जीतने वाले आपको प्रणाम है । पाखण्ड का नाश करने वाले तथा पाप का हरण करने वाले आपको प्रणाम है ॥ २७ ॥ पर्वतराजपुत्री के पति आपको नमस्कार है । समाधि में व्यक्त होने वाले आनन्दरूप तथा समाधिरूप आपको नमस्कार है । समाधिनिष्ठों को फलप्रदान करने वाले आपको नमस्कार है ॥ २८ ॥ प्राणायाम में तत्पर लोगों की प्राणरक्षा करने वाले आपको प्रणाम है । मूलाधार में निहित शक्ति से अभिन्न आपको प्रणाम है । स्वयम्प्रकाशरूप आपको प्रणाम है ॥ २९ ॥ नाभि में प्रवेश करने वाले और हृदय में रहने वाले आपको नमस्कार है ।

---

१. महो यज्ञः, मह्यतेऽनेनेति भौवादिकमहेः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेणे'ति घः । तस्मिन् शेत इत्युलुक्समासेनायं महेशशब्दस्ततो न पुनरुक्तिः । सर्वयज्ञैः शिवएव पूज्यइत्यर्थः । २. घ. मौञ्जा । ३. क. ख. ग. घ. °विभव° । ४. ग. घ. ङ. °मनम° । ५. ङ. °दा केवलं ते° । ६. घ. °द्रस°।

नाभिक[1]न्दे प्रविष्टाय नमो हृद्देशवर्तिने । सच्चिदानन्दपूर्णाय नमः साक्षात्परात्मने ॥ ३० ॥

नमः शिवायाद्भुतविग्रहाय ते नमः शिवायाद्भुतविक्रमाय ते ।

नमः शिवायाखिलनायकाय ते नमः शिवायामृतहेतवे नमः ॥ ३१ ॥

सूत उवाच—य इदं पठते नित्यं स्तोत्रं भक्त्या सुसंयतः । तस्य मुक्तिः करस्था स्याच्छंकरप्रियकारणात् ॥ ३२॥

विद्यार्थी लभते विद्यां विवाहार्थी गृही भवेत् । वैराग्यकामो लभते वैराग्यं भवतारकम् ॥ ३३ ॥

तस्माद्दिने दिने यूयमिदं स्तोत्रं समाहिताः । पठन्तु भवनाशार्थमिदं हि भवनाशनम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्ड आत्मना सृष्टिनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मचर्याश्रमं मुने । आम्नायैकसुसंसिद्धमादराच्छृणु सुव्रत ॥ १ ॥

'मूलालवालकुहरादुदिता भवानि निर्भिद्य षट्सरसिजानि तडिल्लतेव । भूयोऽपि तत्र विशसि ध्रुवमण्डलेन्दुनिष्पन्दमानसुखबोधसुधास्वरूपे' । इति । तस्याः शक्तेः शक्तिमाञ्शिवोऽप्यभिन्न इति हि निरूपितम् । अतः सोऽपि मूलाधारे प्रविष्ट इत्यर्थः । मूलदीपायेति । सोमसूर्याग्नयो हि सर्वं दीपयन्तीति दीपास्ते हि चिदाकाशेन प्रतिभातमेवार्थं दीपयितुं शक्नुवन्ति नान्यथा । श्रूयते हि—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' इति । अतश्चिदाकाशो मूलदीपस्तदात्मने ॥ २९ ॥

नाभिकन्द इति । तत्र तयोरपि स्थानयोरभिव्यक्तिहेतुत्वात् ॥ ३० ॥

अमृतहेतव इति । अमृतं पुण्यफलं स्वर्गादि विद्याफलं चापवर्गः तदुभयहेतवे । तथात्वं च गतखण्डे तृतीयाध्याये वर्णितम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

पठन्त्विति पुरुषव्यत्ययः ॥ ३४ ॥[2]

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां ज्ञानयोगखण्ड आत्मना सृष्टिनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

विदितबृहस्पत्यभिप्रायः शिवो वर्णाश्रमधर्मान्प्रपञ्चयति । तत्र ब्रह्मचर्यपूर्वकत्वादाश्रमान्तराणां तद्धर्मानेव प्रथममाह—अथातः संप्रवक्ष्यामीति । यतो ब्रह्मचर्यं प्रथम आश्रमोऽतो बृहस्पतेर्जिज्ञासानन्तरं तद्धर्मान्संप्रवक्ष्यामि । आम्नायैकेति । 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादिश्रुतेः ॥ १ ॥

(मूलाधार से ऊर्ध्वगति होने पर इन स्थानों से होते हुए सहस्रार तक पहुँचा जाता है ।) सच्चिदानन्द से परिपूर्णस्वभाव वाले साक्षात्परमात्मा आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥ अद्भुत मूर्ति वाले आप शिव को नमस्कार है । अलौकिक पराक्रम वाले आप शिव को नमस्कार है । सबके नेता आप शिवको नमस्कार है । अमरता के कारणभूत आप शिव को नमस्कार है ॥ ३१॥

सूतजी बोले—जो व्यक्ति इस स्तोत्र का प्रतिदिन भक्तिपूर्वक पाठ करता है उसे शंकरकृपा से अवश्य मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥ विद्या चाहने वाले को विद्या, विवाह चाहने वाले को पत्नी तथा वैराग्य चाहने वाले को संसार से तारने वाला वैराग्य प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥ अतः आप लोग एकाग्रतापूर्वक प्रतिदिन इसका पाठ कीजिये, यह संसार को निवृत्त करने का कारण है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मचर्य-आश्रमविधि कथन नामक तीसरा अध्याय

(सामान्यतः अनुष्ठेय सुनकर भी बृहस्पति उसे विशेषतः जानना चाहते थे यह समझकर) भगवान् शंकर ने कहा—हे मुनि बृहस्पति ! अब मैं वेदसमधिगत ब्रह्मचर्याश्रम के विधान बताता हूँ, श्रद्धा से सुनो ॥ १ ॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका

---

१. घ. °कण्ठे प्र° । २. 'संहितायाश्च सूतस्य व्याख्यां तात्पर्यदीपिकाम् । सुस्थितामनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥' इत्यधिकं क्वचित् ।

उपनीतो द्विजो वेदानधीयीत समाहितः । दण्डं यज्ञोपवीतं च मेखलां च तथैव च ॥ २ ॥

कृष्णाजिनं च काषायं[1] शुक्लं वा वस्त्रमुत्तमम् । धारयेन्मन्त्रतो विद्वान्स्वसूत्रोक्तेन वर्त्मना ॥ ३ ॥

भिक्षाहारो यथाकामं गुरुशुश्रूषणे रतः । धारयेद्बैल्वपालाशौ दण्डौ केशान्तिकौ द्विजः ॥ ४ ॥

आश्वत्थं वा ऋजुं सौम्यमव्रणं त्वग्विभूषितम् । सायंप्रातरुपासीत संध्यां विप्रः समाहितः ॥ ५ ॥

कामं क्रोधं तथा लोभं मोहं चैव विवर्जयेत् । अग्निकार्यं[2] द्विजः कुर्यात्सायं प्रातः स्वसूत्रतः ॥ ६ ॥

देवानृषीन्पितॄन्स्नात्वा तर्पयेद्ब्राह्मणोत्तमः । समिद्धाग्निसमुत्थेन विरजानलजेन च ॥ ७ ॥

अग्निहोत्रसमुत्थेन भस्मना सजलेन च । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः षड्भिर्वा सप्तभिः क्रमात् ॥ ८ ॥

विमृज्याङ्गानि सर्वाणि समुद्धूल्य ततः परम् । तिर्यक्त्रिपुण्ड्रमुरसा ललाटेन करादितः ॥ ९ ॥

ग्रीवायां च शुचिर्भूत्वा शिवं ध्यात्वा शिवां तथा । मेधावीत्यादिभिर्मन्त्रैर्धारयेद्ब्राह्मणः सदा ॥ १० ॥

उपनीतो द्विज इति । अध्यापनस्य वृद्ध्[3]यर्थतया प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात्[4] 'उपनीय तमध्यापयी[5]त' इति वाक्ये प्रयोजकव्यापारवाचिभ्यामुपनयनाध्यापनधातुभ्यां प्रयोज्यव्यापारलक्षणया 'उपगच्छेत्सोऽधीयीत' इति हि व्याचक्षते ॥ २ ॥ ३ ॥

बैल्वपालाशौ विकल्पितौ[6] । केशान्तिकाविति केशानामन्तिकौ । पुरुषशिरःसंमितावित्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

काममिति मदमात्सर्ययोरप्युपलक्षणम् ॥ ६ ॥

समिद्धाग्निसमुत्थेनेति । समिद्धोऽग्निः शिवाग्निस्तदुत्थेन भस्मना । उक्तं[7] शैवागमेषु-'शुद्धं गोमयमादाय सद्योजातेन भस्मवित् । पञ्चगव्यात्मकं पिण्डं कृत्वा वामेन चाम्बुभिः ॥ शिवाग्निना दहद्धोरं [8]चालन्या [9]चालयेत्परम् । स्वरत्नीशं नवे कुम्भे भस्म मूलेन संचयेत् ॥ ततः किंचित्समुद्धृत्य जप्त्वा [10]शस्त्रेण सप्तधा । क्रमशः शिरसः कार्यं तेनाङ्गौघप्रघर्षणम् ॥ ततश्च यावता स्नानं तावदुद्धृत्य मन्त्रयेत् । कलाभिर्भस्म गायत्र्या ब्रह्माङ्गैश्च शिवाणुना' । 'ॐसद्यो जाताय विद्महे । वामदेवाय धीमहि । तन्नो घोरः प्रचोदयात्' इति भस्मगायत्री । विरजानलजेनेति । 'ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासँ स्वाहा' इत्येतैर्मन्त्रैर्हुतोऽग्निर्विरजानलस्तदुत्थेन ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

'मेधावी भूयासं' 'तेजस्वी भूयासम्' इत्यादयो मन्त्राः ॥ १० ॥

है ऐसे ब्राह्मण को ध्यानपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिये । क्षत्रिय व वैश्य को भी उपनयन के अनन्तर वेदाध्ययन करना चाहिये । दण्ड, यज्ञोपवीत, मेखला, काला मृगचर्म तथा काषाय (गैरिक) या सफेद रंग का कपड़ा धारण करना चाहिये । स्वकीय परंपरा के गृह्यसूत्र के अनुसार बताये ढंग से मंत्रपूर्वक इनका ग्रहण कर्तव्य है ॥ २-३ ॥ भिक्षा से आहार चलाये और गुरु की यथेष्ट सेवा में तत्पर रहे । अपने सिर तक की लम्बाई वाले बेल, पलाश या पीपल के दण्ड धारण करे ॥ ४ ॥ दण्ड सीधा होना चाहिये, सुंदर दीखे, बीच में कटा न हो तथा छाल से युक्त हो । सुबह शाम एकाग्रता पूर्वक संध्या करनी चाहिये ॥ ५ ॥ ब्रह्मचारी को चाहिये कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का परित्याग करे । स्वसूत्र में विहित अग्निसेवा भी सुबह शाम करनी चाहिये ॥ ६ ॥ उत्तम ब्राह्मण को चाहिये कि स्नानकर देवता, ऋषि व पितरों को तर्पण दे । शिवाग्नि, विरजाग्नि या अग्निहोत्राग्नि से संभूत भस्म को जल से मिलाकर उससे 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों का उच्चारण करते हुए सब अंगों पर भस्मसमुद्धूलन करे । तदनन्तर छाती, ललाट, हाथ, ग्रीवा आदि में त्रिपुण्ड्र लगावे ॥ ७-९ ॥ 'मेधावी भूयासम्' आदि मन्त्रों से या 'त्रियायुषं जमदग्नेः' आदि मंत्र से त्रिपुण्ड्रधारण करना चाहिये ॥ १०½ ॥

---

१. अतएव काषायस्य न यतिलिंगत्वमिति सम्प्रदायः । २. ङ. °र्यं ततः कु° । ३. वृत्त्यर्थतयेत्यर्थः । ४. अपूर्वतया नियमतया वेति शेषः । अध्ययनस्य च नित्यत्वादनित्यप्रयुक्तत्वासम्भवादित्यर्थः । ५. क. °यीतेति हि वा° । ख. °यीतेत्यस्मिन्वाक्ये । ६. केचित्तु वर्णभेदेन दण्डभेदमाहुः । तत्रौदुम्बरो वैश्यस्य । दण्डस्य केशान्तिकप्रमाणत्वमपि ब्राह्मणस्यैव, क्षत्रियस्य ललाटपर्यन्तो वैश्यस्य च नासिकान्त इत्येवमादिविशेषाः स्मृत्यन्तरेषु दर्शनीयाः । ७. क. ख. ग. घ. °क्तं हि चाऽऽग° । ८. ख. चालिन्या । ९. चालयन्तरम् (?) इति सर्वपुस्तकेषु दृश्यते । १०. ग. शास्त्रेण ।

त्रियायुषं जमदग्नेरिति मन्त्रेण वा द्विजः । महादेवार्चनं कुर्यात्पुष्पाद्वा पत्रतोऽन्यतः ॥ ११ ॥
मातरं पितरं वृद्धं[1] तथा ज्येष्ठं स्वकं गुरुम् । अध्यात्मज्ञानिनं नित्यं श्रद्धयैवाभिवादयेत् ॥ १२ ॥
असावहं भो नामास्मि सम्यक्प्रणतिपूर्वकम् । आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ॥ १३ ॥
आकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः । व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ॥ १४ ॥
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः । लौकिकं वैदिकं चापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव च ॥ १५ ॥
आददीत यतो ज्ञानं तत्पूर्वमभिवादयेत् । मातापित्रोश्च वंश्यांश्च गुरुवंश्यान्गुणाधिकान् ॥ १६ ॥
अनुवर्तेत मनसा वाचा कायेन सादरम् । गुरुं दृष्ट्वा समुत्तिष्ठेन्नमस्कृत्वा कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥
तेनैवाभिहितः पश्चात्समासीतान्यभागतः । सत्यमेव वदेन्नित्यमधीतं च न विस्मरेत् ॥ १८ ॥
नित्यं नैमित्तिकं कर्म मोक्षकामनयाऽथवा । विध्युक्तमिति बुद्ध्या वा शान्तो भूत्वा समाचरेत् ॥ १९ ॥
भिक्षामाहृत्य विप्रेभ्योऽलाभे वर्णान्तरेष्वपि । निवेद्य गुरवेऽश्नीयाद्ब्रह्मचारी दिने दिने ॥ २० ॥
भवत्पूर्वं[2] चरेद्भैक्ष्यमुपनीतो द्विजस्तथा । भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ २१ ॥
अभिशस्तेषु[3] सर्वेषु भिक्षां नित्यं विवर्जयेत् । प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत सूर्याभिमुख एव वा[4] ॥ २२ ॥

अन्यत इति । अन्यैरक्षतचन्दनादिभिः ॥ ११–१२ ॥ अभिवादने कृते अभिवादितैश्च गुर्वादिभिः 'आयुष्मान्भव सौम्य देवदत्ता ३' इत्यादिक्रमेण प्रत्यभिवादनं च कार्यमित्याह– आयुष्मान्भवेति ॥ १३ ॥ १४ ॥

व्यत्यासमेव दर्शयति–सव्येनेति ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

विप्रेभ्य इति । तदलाभे वर्णान्तरेषु ॥ २० ॥

भवत्पूर्वमित्यादि । 'भवति भिक्षां देही'ति ब्राह्मणः । 'भिक्षां भवति देही'ति क्षत्रियः । 'भिक्षां देहि भवती'ति वैश्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥ २२ ॥

तदनन्तर पुष्प से, बिल्वादि पत्ते से या चंदन आदि से महादेव की पूजा करे ॥ ११ ॥ माता, पिता, वृद्ध, ज्येष्ठ, निज गुरु तथा अध्यात्मज्ञानी का प्रतिदिन अभिवादन करना चाहिये ॥ १२ ॥ नमस्कार करते समय अपना नाम लेकर 'यह मैं आपको नमस्कार करता हूँ' यों कहकर भली प्रकार से प्रणाम करे । गुरु आदि को चाहिये कि नमस्कार करने वाले ब्राह्मण को कहें 'हे सौम्य ! तुम आयुष्मान् होवो' तथा अंत में उसका नाम लेकर प्लुत आकार का उच्चारण करें ॥ १३¹/₂ ॥ (ब्राह्मण) शिष्य को चाहिये कि अपने हाथों का व्यत्यास कर गुरु का चरण स्पर्श करे अर्थात् बायें हाथ से बायाँ और दाहिने से दायाँ चरण छुए । जिससे लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक ज्ञान लेता हो उन्हें पहले प्रणाम करना चाहिये । (अध्यात्मविद्यागुरु का प्रथम, वेदशिक्षक का तदनन्तर और उसके बाद लौकिक शिक्षा के प्रदाता का अभिवादन करे ।) माता-पिता के वंश वाले व गुरु के वंश वाले जो अन्य गुणतः श्रेष्ठ लोग हों उन्हें भी मन, वाणी और शरीर से अभिवादन करना चाहिये ॥ १४–१६¹/₂ ॥ गुरु को देखते ही खड़े हो जाना चाहिये और अंजलि बाँधकर नमस्कार करना चाहिये । उनके बैठने के बाद उनकी आज्ञा पाकर पुनः बैठना चाहिये । सदा सत्य ही बोले और पढ़े हुए को भूले नहीं ॥ १७–१८ ॥ नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को मोक्षकामना से या यह समझकर कि ये विहित होने से कर्तव्य हैं, शान्तिपूर्वक निष्पादित करना चाहिये ॥ १९ ॥ ब्राह्मणों से या उनसे न मिले तो इतर वर्ण वालों से रोज़ भिक्षा लाये और गुरु को निवेदित कर तब उसे खाये, यह ब्रह्मचारी का कर्तव्य है ॥ २० ॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी हो तो भिक्षा माँगते हुए भवत्शब्द पहले बोले, क्षत्रिय हो तो मध्य में व वैश्य हो तो अंत में बोले ॥ २१ ॥ जो अभिशस्त हों उनसे कभी भिक्षा न ले । (शिष्ट जिन्हें महापापी मानें वे अभिशस्त कहलाते हैं ।) पूर्व की ओर या सूर्य की ओर मुँहकर भोजन करना चाहिये ॥ २२ ॥ दोनों हाथ व दोनों पैर धोकर और दो बार आचमन

१. पितामहादयो वृद्धाः पितृव्यादयो ज्येष्ठा इति विभागः । २. ग. °र्वं भवेद्भैक्षमु° । ३. इमे महापातकिन इत्येवं शिष्टैर्यै व्यवह्रियन्ते तेऽभिशस्ताउच्यन्ते । ४. ग. च ।

प्रक्षाल्य चरणौ हस्तौ द्विराचम्यान्नभुग्भवेत् । प्राणायेत्यादिभिर्मन्त्रैर्हुत्वा प्राणाहुतीर्द्विजः ॥ २३ ॥
वेदाभ्यासैकनिष्ठः स्यान्नान्यमन्त्ररतो भवेत् । एवमभ्यसतस्तस्य वैराग्यं[1] जायते यदि ॥ २४ ॥
प्रव्रजेत्परमे हंसे मोक्षकामनया द्विजः । नैष्ठिको वा गृही वाऽपि भवेत्कामी यथारुचि ॥ २५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे ब्रह्मचर्याश्रमविधिकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि गार्हस्थ्यं संग्रहेण ते । अधीत्य वेदान्विविधा[2]न्पूर्वोक्तेनैव वर्त्मना ॥ १ ॥
आचार्यानुज्ञया युक्तः स्नात्वा गार्हस्थ्यमा[3]विशेत् । अनुकूले कुले गोत्रप्रवरादिविवर्जिते ॥ २ ॥
सूत्रोक्तेनैव मार्गेण वरयेत्कुलजां स्त्रियम् । सर्वलक्षणसंपन्नां साध्वीमन्यां विवर्जयेत् ॥ ३ ॥
ऋक्षसंज्ञां नदीसंज्ञां वृक्षसंज्ञां च वर्जयेत् । तया धर्मं चरेन्नित्यं सहितः संयतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

प्राणायेति । प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहेत्यादयो मन्त्राः ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां ज्ञानयोगखण्डे ब्रह्मचर्याश्रमविधिकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्यधर्मान्संग्रहेणोक्त्वा गृहस्थधर्मान्वक्तुं प्रतिजानीते—अथात इति । यतश्चरितब्रह्मचर्यस्यैव विवाहः । यथाऽऽहुः—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ॥ अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्' इति ॥ [4]अतस्तदनन्तरं गृहस्थधर्मा उच्यन्ते ॥ १ ॥

स्नात्वा समावर्तनं कृत्वा । प्रवरादिविवर्जित इति । 'असमानार्षगोत्रजाम्' इति स्मृतेः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

कर तब खाने बैठे । सर्वप्रथम 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि मंत्रों से पाँच प्राणाहुतियाँ समर्पित करनी चाहिये ॥ २३ ॥ ब्रह्मचारी को चाहिए कि केवल वेदाभ्यास में लगा रहे, वेदेतर मन्त्रों को सीखने या जप करने में तत्पर न हो । यों अभ्यास करते हुए यदि उसे इहलोक व परलोक से वैराग्य हो जाये तो मोक्ष की इच्छा से परमहंस संन्यास ग्रहण करना चाहिये । और यदि वैराग्य न हो, कामनायें हों तो यथारुचि नैष्ठिक ब्रह्मचारी या गृहस्थ बन जाये ॥ २५ ॥ (नैष्ठिक ब्रह्मचारी को उत्तम लोक प्राप्त होते हैं । अतः इहलौकिक कामना न हो तो विद्याध्ययनानन्तर नैष्ठिक ब्रह्मचारी बने । यदि ऐहिक भोग भी इष्ट हों तो गृहस्थ बने यह अर्थ है ।)

गृहस्थाश्रमविधि-निरूपण नामक चौथा अध्याय

शंकर भगवान् ने आगे बताया—अब मैं तुम्हें संक्षेप में गृहस्थाश्रम के विषय में बताता हूँ । पूर्वोक्त ढंग से विधिवत् नाना वेदों का अध्ययन मैं कर आचार्य की अनुमति से समावर्तन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये । पति-पत्नी के कुल आपस में अनुकूल होने चाहिये अर्थात् आचार विचार तथा मर्यादायें यथासंभव समान होनी चाहिये । पति-पत्नी के गोत्र प्रवर आदि विभिन्न होने चाहिये ॥ १—२ ॥ सत्कुलीन, श्रेष्ठ लक्षणों वाली तथा साधु-विचारों वाली कन्या से स्वपरंपरा में मान्य सूत्रग्रंथोक्त विधि पूर्वक विवाह करे । कुल, लक्षण व विचारों से जो दुष्ट हो उससे विवाह न करे ॥ ३॥ नक्षत्र, वृक्ष और नदी के नामों वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिये । पत्नी सहित नित्य धर्म का आचरण करे और अपनी इंद्रियों को नियंत्रित रखे ॥ ४ ॥ मन्त्रपूर्वक केवल ऋतुकाल में ग्राम्यधर्म का पालन करे अन्य काल में कभी न करे । (रजोदर्शन

---

१. अनेनर्णश्रुतिस्मृत्यो गृहस्थविषयत्वमुक्तम् । अतएव 'अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' (मनु. ६.३५) इत्यादेरपस्मृतित्वं निरधारि । संन्यासे पुन वैराग्यमेव मुख्यो हेतुस्तमन्तरा न संन्यसेत् । मोक्षकामनयेति ब्रह्मलोकफलकं संन्यासं दण्डतर्पणादिकर्म—सहितं व्यावर्तयति । सर्वकर्मत्यागपूर्वकं शमाद्यन्वितो वेदान्तश्रवणादितत्परो भवेदित्यर्थः । २. पूर्वं तु स्वशाखैवाध्येया ततो यथेष्टमधीयीत । स्वशाखामनधीत्य शाखान्तरं माध्यगीष्ट । अत्र चाक्षरग्रहणं स्वाध्यायविधिना कार्यमर्थग्रहणन्तु मुख्यतः स्वधर्मानुष्ठानायावश्यकमित्युत्तरविधिप्रयुक्तं ततश्च स्वधर्मं कर्तुं यावतां वाक्यानामर्थबोधआवश्यकस्तावतामर्थं जानीयाद्, यस्त्वार्त्विज्यं चिकीर्षेत् स काममशेषां मीमांसामधीतामिति ज्ञेयम् । इतरत्र भाट्टमताभ्युपगमेऽपि पद्मपादाद्याचार्यैरिह विषये तन्नोरीकृतमिति स्थितेः । ३. ख. °माचरेत् । ४. क. ख. ग. घ. यतस्त° ।

ऋतुकालेऽङ्गनासेवां कुर्यात्प्राज्ञः समन्त्रकम् । देवाग्न्यतिथिभैक्ष्यार्थं पचेन्नैवाऽऽत्मकारणात् ॥ ५ ॥
आत्मार्थं यः पचेन्मोहान्नरकार्थं स जीवति । धर्मार्थं जीवनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ॥ ६ ॥
ते मुच्यन्ते हि संसारान्नान्ये नारकिणः सदा । याजनाध्यापनाभ्यां च विशुद्धेभ्यः प्रतिग्रहात् ॥ ७ ॥
यात्रार्थमर्जयेदर्थं यागार्थं वा[1] द्विजोत्तमः । निर्जने निर्भये देशे विण्मूत्रादि विसर्जयेत् ॥ ८ ॥
प्रक्षालयेद्गुदं शिश्नं पादद्वंद्वं करद्वयम् । मृज्जलाभ्यां यथाशक्ति गन्धलेपनिवृत्तये ॥ ९ ॥
यावन्मात्रं मनःशुद्धिस्तावच्छौचं विधीयते । पश्चादाचमनं कुर्याद्दन्तकाष्ठं च भक्षयेत् ॥ १० ॥
द्विराचम्य पुनः स्नात्वा कृत्यशेषं समाचरेत् । प्राणायामत्रयं कुर्यात्सावित्रीं च जपेद्बुधः ॥ ११ ॥
उपस्थानं[2] ततः कुर्यान्मध्याह्नेऽप्येवमाचरेत् । ब्रह्मयज्ञं द्विजः कुर्याद्वेदपारायणे रतः ॥ १२ ॥
अन्यानि यानि कर्माणि नित्यं तानि समाचरेत् । अग्निकार्यं द्विजः कुर्याद्बलिकर्मादिकं तथा ॥ १३ ॥

समन्त्रकमिति । 'अमोहमस्मि सा त्वम्' इत्यादयो मन्त्राः ॥ ५ ॥

आत्मार्थमिति । 'नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी' इति श्रुतेः । 'न पचेदन्नमात्मनः' इति स्मृतेः ॥ ६ ॥ ७ ॥

यात्रार्थं शरीरयात्रार्थम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

के अनन्तर प्रथम चार दिन, एकादशी, त्रयोदशी, पूर्णिमा व अमावास्या को छोड़ रजोदर्शन के बाद के सोलह दिन अवर्जित ऋतुकाल कहा गया है। दिन के समय भी कभी ग्राम्यधर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये।) गृहस्थ को चाहिये कि देवता, अग्नि, अतिथि व भिक्षु के उद्देश्य से भोजन पकाये, उससे बचे हुए को स्वयं खाये। उन्हें न देने की नियत से केवल अपने लिये भोजन नहीं पकाना चाहिये ॥ ५ ॥ जो मोहवश केवल अपने लिये भोजन पकाता है वह निश्चय ही नरक जाने की तैयारी कर रहा है। जिन गृहस्थों का जीवन धर्म करने के लिये है और जो मैथुन केवल संतानप्राप्ति के लिये करते हैं, भोगमात्र के लिये नहीं, वे तो संसारबंधन से छूट जाते हैं। अन्य लोग संसृतिचक्र से निकल नहीं पाते बल्कि नरकगामी ही होते हैं ॥ ६¹/₂ ॥ ब्राह्मण गृहस्थ को चाहिये कि जीवनयात्रा और यागानुष्ठान के लिये इन तीन उपायों से ही धनार्जन करे—याजन अर्थात् पौरोहित्यद्वारा, अध्यापन अर्थात् शिक्षाप्रदान के द्वारा और विशुद्ध लोगों से दान लेकर। (पशुमारणपूर्वक मांस बेचकर आजीविका चलाने वाला, तेली अर्थात् तेल निकालने व बेचने वाला, शराब बेचकर जीविका चलाने वाला, वेश्यावृत्ति करवाकर जीवनयापन करने वाला तथा राजा—इनका प्रतिग्रह यथासंभव कभी नहीं लेना चाहिये। अपने यजमानों से व शिष्यों से दान लेना प्रायः निरापद है। जो शास्त्रानुकूल आचरण वाले त्रैवर्णिक धर्मबुद्धि से दान करते हैं वे विशुद्ध दाता समझे जाते हैं। आपत्काल में ही अविशुद्धों से दान लेवे। जहाँ तक हो सके ब्राह्मण को दान नहीं लेना चाहिये। प्रतिग्रह से ब्रह्मतेज नष्ट होता है। द्रव्य, विधि आदि जाने बिना तो दान लेना महान् अनर्थ का हेतु है। स्वर्ण, भूमि, घोड़ा, गाय, अन्न, वस्त्र, तिल और घी—इन्हें वह ब्राह्मण यदि दानरूप से स्वीकारे जिसने वेदग्रहण नहीं किया है व जो ब्रह्मयज्ञादि नहीं करता है तो वह भस्मसात् हो जाता है (मनुस्मृ. ४.१८८)। अतः चाहे जिस व्यक्ति से चाहे जिस वस्तु का दान लेने से ब्राह्मण को डरना चाहिये। इतर वर्ण वालों को अपने लिये अनुमोदित वृत्तिधर्मों द्वारा जीवनयापन और धर्मानुष्ठान के लिये धनअर्जित करना चाहिये। सभी वर्ण वाले स्वकीय वृत्तिधर्म से जीवन चलना असंभव होने पर क्रमशः अवर वर्णों की अनिन्द्य वृत्तियों का आपद्धर्म के रूप में पालन कर सकते हैं किन्तु सुविधालोलुप होकर हीनवृत्ति का अनुपालन अनर्थफलक है।)

---

१. चेत्यर्थः । तदुक्तं पार्थसारथिना शास्त्रदीपिकायां (६.१.८) 'अतोऽद्रव्योऽपि द्रव्यमर्जयित्वा कुर्यादि'ति । क्रतूनां द्रव्यार्जनाक्षेपकत्वसामर्थ्यमतः शब्दार्थः । यागश्चेहावश्यदेयादिप्रयोजनानामुपलक्षणम् । अतस्तैत्तिरीयके 'अतिथयश्च, मानुषं च', (१.९) इत्याद्युक्तम् । तथा 'संविदा देयम्' (१.११) इति च । २. अर्घ्यदानादिनाऽऽराधनम् ।

नित्यश्राद्धं तथा दानमशक्तानां च रक्षणम् । दयां सर्वेषु भूतेषु कुर्याद्गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ १४ ॥
यतिसंरक्षणं कुर्यादन्नपानादिभिः सदा । यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ ॥ १५ ॥
तयोरन्नमदत्त्वा तु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् । यतिहस्ते जलं दद्याद्भै[1]क्षं दद्यात्पुनर्जलम् ॥ १६ ॥
तद्भैक्षं मेरुणा तुल्यं तज्जलं सागरोपमम् । एकवारं गृही नित्यमश्नीयादुत्तमं हि तत् ॥ १७ ॥
द्विवारं वाऽक्षमोऽश्नीयाद्द्वात्रिंशद्ग्रास[2]मन्वहम् । कुक्कुटाण्डप्रमाणेन न हृष्टो न[3] विषादवान् ॥ १८ ॥
होमे जपे च भुक्तौ च गुरुवृद्धाद्युपासने । तथैवाऽऽचमने यज्ञोपवीती स्यान्न चान्यथा ॥ १९ ॥
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । उद्धूलनं सकृत्कुर्यात्सर्वदैवोक्तवर्त्मना ॥ २० ॥
त्रैयम्बकेण मन्त्रेण सतारेण शिवेन च । त्रिपुण्ड्रं धारयेन्नित्यं गृहस्थाश्रममाश्रितः ॥ २१ ॥

दयां सर्वेषु भूतेष्विति । यतो गृहस्थाश्रमः सर्वेषामुपजीव्यः । श्रूयते हि गृहस्थाश्रममुद्दिश्य–"अयमात्मा सर्वेषां भूतानां लोकः । स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकः । अथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणाम् । अथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणाम् । अथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणाम् । यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः' इति ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

न चान्यथेति । उपवीतरहितो न स्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥ २० ॥

त्रैयम्बकेणेति । सतारेण शिवेन सप्रणवेन पञ्चाक्षरेण ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

निर्जन तथा निर्भय स्थान पर मल-मूत्र का विसर्ग करना चाहिये ॥ ८ ॥ मृत्तिका और जल द्वारा गुदा, शिश्न, दोनों हाथ और दोनों पैर यथासामर्थ्य धोने चाहिये जिससे गंधलेपादि साफ हो जायें । जितने शौचाचार से मन प्रसन्न हो जाये उतना शौच कर लेना चाहिये ॥ ९¹/₂ ॥ तदनन्तर आचमन कर दातुन करनी चाहिये ॥ १० ॥ उसके बाद पुनः दो बार आचमनकर स्नान करे तथा अन्य कार्य निर्वृत्त करे । तीन बार प्राणायाम कर गायत्रीमंत्र का जप करना चाहिये ॥ ११ ॥ तदनन्तर सूर्य को अर्घ्यप्रदान आदि उपस्थान करना चाहिये । मध्याह्न वेला में भी इसी तरह गायत्री जप आदि करना चाहिये । वेद के पारायण में रत रहते हुए द्विजन्मा को ब्रह्मयज्ञ भी नित्य कर लेना चाहिये ॥ १२ ॥ अन्य सब नित्य कर्मों को भी करे । अग्निपरिचर्या तथा वैश्वदेव बलि अवश्य करे ॥ १३ ॥ नित्य श्राद्ध का अनुष्ठान करे । प्रतिदिन यथाशक्ति दान दे और असमर्थों का स्वकीय योग्यतानुसार रक्षण करे । गृहस्थ को सब भूतों पर दया करनी चाहिये ॥ १४ ॥ अन्न जल आदि द्वारा यतियों की सेवा करे । यति और ब्रह्मचारी ये दोनों पक्वान्न के अधिकारी हैं । इन्हें अर्पित किये बिना भोजन करे तो दोष होता है जिसका प्रायश्चित्त है चांद्रायण व्रत करना ॥ १५¹/₂ ॥ यति के हाथ में जल देवे, तब भिक्षा देवे व पुनः जल देवे । वह भिक्षा मेरु के समान अधिक फल देती है और वह जल सागर के समान अधिक फलशाली होता है ॥ १६¹/₂ ॥ उत्तम तो है कि गृहस्थ दिन में एक बार ही भोजन करे । यदि एक बार खाकर स्वस्थ जीवन चलाने में असमर्थ हो तो दो बार भोजन कर सकता है । भोजन में कुल बत्तीस कौर खाने चाहिये । एक कौन उतना बड़ा हो जितना बड़ा मुर्गी का अण्डा होता है । (यदि इतना बड़ा कौर न खा पाये तो खण्डशः खाले किंतु कुल भोजन की मात्रा उतनी ही रखे जितनी बत्तीस अण्डों की मात्रा होती है । मात्रा से माप समझना चाहिये, वजन नहीं ।) भोजन करते समय न हर्षित होवे और न दुःखी ॥ १८ ॥ होम करते हुए, जप; भोजन; गुरु व वृद्धों की सेवा तथा आचमन करते हुए उपवीतरहित नहीं होना चाहिये ॥ १९ ॥ एक बाँस का डण्डा तथा जलभर कमण्डलु गृहस्थ को साथ रखना चाहिये ॥ १९¹/₂ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से सदा भस्मोद्धूलन करना चाहिये ॥ २० ॥ त्र्यम्बक मंत्र और प्रणवोपेत पंचाक्षरमंत्र से गृहस्थ को त्रिपुण्ड्रधारण करना चाहिये ॥ २१ ॥ जिस ब्राह्मण ने सिर पर भस्मत्रिपुण्ड्र धारण कर लिया, मान लेना चाहिये कि उसने

१. ङ. °द्भैक्ष्यं द° । २. घ. ङ. °समात्रकम् । ३. ङ. न. प्रमाद° ।

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् । येन विप्रेण शिरसि त्रिपुण्ड्रं भस्मना धृतम् ॥ २२ ॥
त्रिपुण्ड्रं धारयेद्भक्त्या मनसाऽपि न लङ्घयेत् । श्रुत्या विधीयते यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ॥ २३ ॥
रुद्राक्षं धारयेन्नित्यं रुद्राक्षाणामिति श्रुतिः[1] । लिङ्गे समर्चयेन्नित्यं देवदेवं महेश्वरम् ॥ २४ ॥
अग्नीनाधाय विधिवत्कुर्याद्यज्ञाननन्तरम् । यज्ञैः सर्वाणि पापानि विनश्यन्ति न संशयः ॥ २५ ॥
प्रक्षीणाशेषपापस्य शुद्धान्तःकरणस्य तु । देवदेवपरिज्ञाने वाञ्छा जायेत सुव्रत ॥ २६ ॥
स्वर्गकामो यदि स्वर्गं याति यज्ञाद्द्विजोत्तमः । पुत्रमुत्पादयेत्त्वस्यां पितॄणामृणशान्तये ॥ २७ ॥
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्सर्वभूतेषु सर्वदा । एवं समाचरन्विप्रो विरक्तश्चेद्गृहाश्रमात् ॥ २८ ॥
संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदान्ताभ्यासयत्नवान् । वेदान्तश्रवणाभावे पतितोऽयं भवेद्ध्रुवम् ॥ २९ ॥
विरक्तोऽपि मुमुक्षुश्चेद्धंसे वा संन्यसेद्गृही । बहूदके वा शक्तश्चेन्न्यसेद्विप्रः कुटीचके ॥ ३० ॥

रुद्राक्षाणामिति श्रुतिरिति । स्मृत्यनुमितश्रुतिरित्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

निष्कामस्य जिज्ञासाजनका यज्ञादय इत्युक्तम् । सकामस्य स्वर्गादिकं जनयन्तीत्याह–स्वर्गकाम इति । यदि स्वर्गकामस्तर्हि यज्ञात्स्वर्गं यातीति 'स्वर्गकामो यजेत' 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इति श्रुतिद्वयादियं व्यवस्था ॥ २७ ॥

गृहाश्रमात्संन्यसेदिति च । 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' इति ॥ २८ ॥ २९ ॥

विरक्तोऽपीति । मुमुक्षुश्चेत्परमहंसो भवेत् । [2]अमुमुक्षुरपि शक्तश्चेद्धंसो[3] बहूदको वा भवेत् । अशक्तश्चेत्कुटीचको वा भवेदित्यर्थः ॥ ३० ॥

वेद पढ़ लिया तथा सब कर्त्तव्य कर लिया ॥ २२ ॥ श्रुतिविहित होने से भक्तिपूर्वक त्रिपुण्ड्रधारण करना चाहिये क्योंकि ऐसा न करने से पतन होता है ॥ २३ ॥ रुद्राक्षधारण भी कर्तव्य है । यह भी श्रुतिविहित है । नित्य शिवलिंग में महादेव का पूजन करना चाहिये ॥ २४ ॥ तदनन्तर अग्नियों को उद्दीप्तकर विधिवद् यज्ञ करना चाहिये । यज्ञों से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं ॥ २५ ॥ जिसके सब पाप क्षीण हो चुकते हैं अतएव मन निर्मल हो जाता है उसे ही महादेव को जानने की इच्छा होती है ॥ २६ ॥ यदि व्यक्ति स्वर्ग चाहता है तो यज्ञ से उसे चित्तशुद्धि की जगह स्वर्गरूप फल मिलता है ।

गृहस्थ को पितरों का ऋण चुकाने के लिये तर्पण, श्राद्ध आदि तो करना ही चाहिये साथ ही निज पत्नी में पुत्र भी उत्पन्न करना चाहिये ॥ २७ ॥ सभी लोगों से सत्य तथा प्रिय वचन बोलने चाहिये ।

यों आचरण करता ब्राह्मण यदि गार्हस्थ्य से विरक्त हो जाये तो उसे सर्वकर्मसंन्यास कर वेदान्तों के अभ्यास में यत्नशील हो जाना चाहिये अर्थात् संन्यासी बन जाना चाहिये । संन्यासी यदि वेदान्तश्रवण नहीं करता तो निश्चित ही पतित हो जाता है ॥ २९ ॥ गार्हस्थ्य से वैराग्यवान् यदि मुमुक्षु हो तब तो पूर्वोक्त परमहंस बने जिसमें शमादिसहित श्रवणादि ही उसके कर्तव्य हैं । यदि वैराग्य होने पर भी मुमुक्षा न हो तो हंस, बहूदक या कुटीचक संन्यास ग्रहण कर लेने चाहिये ॥ ३० ॥

---

१. भस्मजाबाले द्वितीयाध्याय आदावेव 'जाबालो महादेवं पप्रच्छ–किं नित्यं ब्राह्मणानां कर्तव्यं यदकरणे प्रत्यवैति ब्राह्मणः' इति । तत्र भगवानुवाच–'प्रागुदयान्निर्वर्त्य शौचादिकं ततः स्नायात्.....भस्मना त्रिपुण्ड्रं श्वेतेनैव रुद्राक्षाञ्छ्वेतान् बिभृयादि'ति । २. मुमुक्षोरेव सर्वकर्मत्यागात्मकपरमहंससंन्यासः । अन्येषान्तु ब्रह्मलोकादिफलकः सकर्मसंन्यासो यस्य नामाश्रमसंन्यास इति । तत्रैव दण्डतर्पणादीनां कर्तव्यता । ये तु विदुष एव पारमहंस्यमिच्छन्ति ते वस्तुतो विज्ञानविद्वेषिण एव, विविदिषावस्थायामेव हित्वा कर्माणि श्रवणादौ यत्नस्य कार्यत्वाद्विदुषस्तु कर्मत्यागेऽपि प्रयोजनाभावात्प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा न कटाक्षेणेत्यादिन्यायाद्विविदिषोरेव विधेयं पारमहंस्यं विदुषस्तु तदर्थसिद्धमित्येव स्वीकार्यम् । ३. ङ. सो वा व° ।

अविरक्तो गृही चान्ते वानप्रस्थं समाश्रयेत् । अथवा यावदायुष्यं गार्हस्थ्यं सम्यगाचरेत् ॥ ३१ ॥

गृहस्थादाश्रमाः सर्वे समुत्पन्नाः सुरक्षिताः । तस्माद्गृहस्थ एव स्यादविरक्तो द्विजः सदा ॥ ३२ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे गृहस्थाश्रमविधिनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि वानप्रस्थाश्रमं[1] मुने । पुत्रे भार्यां विनिक्षिप्य गृहीत्वा वा समाहितः ॥ १ ॥

शुक्लपक्षे शुभे वारे शुभनक्षत्रसंयुते । सुमुहूर्ते वनं गच्छेद् गृहस्थश्चोत्तरायणे ॥ २ ॥

यमादिसहितः शुद्धस्तपः कुर्यात्समाहितः । शाकमूलफलाशी स्यात्तेनेशं पूजयेद्बुधः ॥ ३ ॥

अविरक्तो गृहीति । अतो[2] गार्हस्थ्याद्वानप्रस्थाश्रममाश्रयेदित्यर्थः । यावदायुष्यं वा सम्यग्गार्हस्थ्यमाचरेत् ॥ ३१ ॥

गार्हस्थ्यस्य प्राशस्त्ये हेतुः—गृहस्थादाश्रमा इति । यत आश्रमान्तराणां सर्वेषां स्वरूपलाभः स्वधर्मपरिपालनं च गृहस्थाश्रमनिबन्धनम् अतः प्रशस्त इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे गृहस्थाश्रमविधिनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यादुत्तमं गार्हस्थ्यमभिधाय ततोऽप्युत्तमं वानप्रस्थाश्रमं च वक्तुं प्रतिजानीते—अथात इति । यतो गृहस्थादुत्तमो वनस्थः । यदाऽऽहुः—'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ॥ चत्वार आश्रमाः प्रोक्ता यो यः पश्चात्स उत्तमः'इति ॥ अतो गृहस्थधर्माभिधानानन्तरं वानप्रस्थधर्माभिधानमित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥

तेनेशमिति । तपःप्रभृतिकं हि वनस्थस्य स्वधर्मः स्वधर्मानुष्ठानमेवेश्वरस्य पूजा ॥ 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्युक्तम् ॥ ३ ॥

(इनका वर्णन छठे अध्याय में है ।)

जो गृहस्थ वैराग्यवान् न हो उसे अंतकाल में वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लेना चाहिये । (अन्य स्मृतियों के अनुसार आयु के दूसरे भाग तक गृहस्थ रहकर वानप्रस्थ बन जाना चाहिये । आयु से पूर्णायु अर्थात् सौ वर्ष समझे जाते हैं । अतः पचास वर्ष का होने पर वानप्रस्थी बने । अथवा जब त्वक्शैथिल्य (चमड़े पर झुर्रियाँ पड़ना), श्वेत बाल तथा पौत्र को देख ले तब वनी बने । ये दोनों समय 'अंतकाल' शब्द से कह दिये हैं ।) अथवा यावज्जीवन गृहस्थ भी बना रहे तो कोई निषेध नहीं । विधिवत् पंचयज्ञादि करते हुए जीवनभर गृहस्थ रहा जाना चाहिये ॥ ३१ ॥ सभी आश्रम गृहस्थ से पैदा होते हैं तथा सुरक्षित रहते हैं, अतः अविरक्त द्विज को सदा गृहस्थाश्रम में ही रहना चाहिये ॥ ३२ ॥

वानप्रस्थाश्रमविधि-निरूपण नामक पाँचवा अध्याय

ईश्वर ने पुनः कहा—हे मुनि अब मैं वानप्रस्थ आश्रम के विषय में बताता हूँ । अपनी पत्नी को पुत्र की देख-रेख में छोड़कर अथवा साथ लेकर एकाग्रतापूर्वक वन को जाये । उत्तरायण में शुक्लपक्ष, शुभ वार तथा शुभ नक्षत्र के समय शुभ मुहूर्त पर वन के लिये प्रस्थान करना चाहिये ॥ १–२ ॥ शुद्ध रहते हुए ध्यान से यज्ञादि सहित तपस्या करे । शाक, मूल तथा फल खावे । 'ईश्वर प्रसन्न होवे' इस दृष्टि से स्वधर्म का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३ ॥ यदि वन्य आहार से काम न

---

१. बृहन्नारदीये वानप्रस्थाश्रमग्रहणं कलिवर्ज्यत्वेनोक्तम् । २. अन्त इत्यत्र अतः पाठष्टीकाभिमतो भाति ।

ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयाद्ग्रासान्षोडश बुद्धिमान् । जटाश्च बिभृयान्नित्यं नखलोमानि नोत्सृजेत् ॥ ४ ॥

वेदाभ्यासं सदा कुर्याद्वाग्यतः सुसमाहितः । अग्निहोत्रं च जुहुयात्पञ्च यज्ञान्समाचरेत् ॥ ५ ॥

चीरवासा भवेत्कुर्यात्स्नानं त्रिषवणं बुधः । सर्वभूतानुकम्पी स्यात्प्रतिग्रहविवर्जितः ॥ ६ ॥

वर्जयेन्मधुमांसानि भौमानि वनजानि च । एकवारं समश्नीयाद्रात्रौ ध्यानपरो भवेत् ॥ ७ ॥

जितेन्द्रियो जितक्रोधो भवेदध्यात्मचिन्तकः । भूमौ शयीत सततं सावित्रीं च जपेद्बुधः ॥ ८ ॥

क्रोधपैशून्यनिद्रादि दूरतः परिवर्जयेत् । कृच्छ्रं चान्द्रायणं कुर्यान्मासि मासि वने स्थितः ॥ ९ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपाश्च स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशगः । आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ १० ॥

षोडशेति । यत आहुः–'अष्टौ ग्रासा मुनेः प्रोक्ताः षोडशारण्यवासिनः ॥ द्वात्रिंशत्तु गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्' इति ॥ ४ ॥

पञ्च यज्ञानिति । श्रूयते हि–'पञ्च वा एते महायज्ञाः । देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्यज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति । यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते । यत्पितृभ्यः स्वधा करोत्यप्यपस्तत्पितृयज्ञः संतिष्ठते । यद्भूतेभ्यो बलिं हरति तद्भूतयज्ञः संतिष्ठते । यद्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं ददाति तन्मनुष्ययज्ञः संतिष्ठते । यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद्ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते' इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

भौमानीति । शशादीनि । **वनजानीति** । वनं जलम् । जलजानि कच्छपादीनि–'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या गोधाकच्छपशल्लकाः ॥ शशश्च नकुलश्च' इति गृहस्थस्याभ्यनुज्ञातान्यपि । तथा मधु माक्षिकं च वनस्थेन वर्जनीयमित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

कृच्छ्रं चान्द्रायणमिति । कृच्छ्रलक्षणानि मनुनोक्तानि–'त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् । त्र्यहं परं तु नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः' इति ॥ एकभक्तादिषु ग्राससंख्याऽऽपस्तम्बेन–'सायं द्वाविंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिः स्मृताः ॥ चतुर्विंशतिरायाच्याः परं निरशनं स्मृतम्' इति ॥ तत्प्रमाणमपि तेनैवोक्तम्–'कुक्कुटाण्डप्रमाणेन यथा चाऽऽस्यं विशेत्सुखम्' इति ॥ चान्द्रायणं पञ्चविधम् । पिपीलिकामध्यं यवमध्यमृषिचान्द्रायणं शिशुचान्द्रायणं यतिचान्द्रायणं चेति । पिपीलिकामध्यमाह वसिष्ठः–'मासस्य कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश । ग्रासापचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत् ॥ तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुञ्जीत चापरम् ॥ ग्रासोपचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत्' इति । यदाऽऽह यमः–'एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् । एतत्पिपीलिकामध्यं चान्द्रायणमुदाहृतम् ॥ वर्धयेत्पिण्डमेकैकं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत् । एतच्चान्द्रायणं नाम यवमध्यं प्रकीर्तितम् ॥ त्रींस्त्रीन्पिण्डान्समश्नीयान्नियतात्मा दृढव्रतः । हविष्यान्नस्य वै मासमृषिचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ चतुरः प्रातरश्नीयाच्चतुरः सायमेव वा । पिण्डानेतद्धि बालानां शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ पिण्डानष्टौ समश्नीयान्मासं मध्यंदिने रवौ । यतिचान्द्रायणं ह्येतत्सर्वकल्मषनाशनम्' इति ॥ ९ ॥

पञ्चतपा इति । पञ्च तपांसि तापकानि दिक्चतुष्टयेऽग्नय उपर्यादित्यश्चेति यस्य स पञ्चतपाः । **अभ्रावकाशग इति** । अभ्रदर्शनवानवकाशोऽभ्रावकाशो गृहबाह्यश्चत्वरादिकस्तत्र गत इत्यर्थः ॥ १० ॥

चले तो गाँव से लाकर भोजन करना चाहिये । कुल सोलह कौर भोजन करना चाहिये । जटा, नख तथा लोम को सदा धारण करे ॥ ४ ॥ अन्यथा प्रायः मौन रहते हुए सदा वेदाभ्यास करे । अग्निहोत्र और पंचयज्ञों का अनुष्ठान करे ॥ ५ ॥ वृक्ष की छाल के वस्त्र पहने तथा दिन में तीन बार स्नान करे । सब प्राणियों पर दया करे । प्रतिग्रह (दान) न ले ॥ ६ ॥ वानप्रस्थ को न शहद खाना चाहिये और न उन माँसों को जो गृहस्थ के लिये अभ्यनुज्ञात हैं । जलचरों को भी नहीं खाना चाहिये । दिनभर में एक समय ही भोजन करना चाहिये । रात को ध्यान में तत्पर होना कर्तव्य है ॥ ७ ॥ अपनी इंद्रियों पर एवं क्रोध पर नियंत्रण रखे तथा आत्मविचार में लगा रहे । ज़मीन पर सोना चाहिये और निरंतर गायत्री का जप करना चाहिये ॥ ८ ॥ क्रोध, पिशुनता, अतिनिद्रा आदि से सदा दूर रहे । वन में रहते हुए हर महीने कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करना चाहिये ॥ ९ ॥ ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तपनी चाहिये । वर्षा काल में खुले आकाश में रहे अर्थात् छत-छप्पर से ढके स्थान में न रहे । हेमन्त ऋतु में अपने वस्त्रों को गीला रखे । तप को धीरे-धीरे बढाये ॥ १० ॥ तीन बार नहाकर पितरों व देवताओं को तर्पण देवे ।

उपस्पृश्य त्रिषवणं पितृदेवांश्च तर्पयेत् । एकपादेन तिष्ठेत वायुभक्षोऽब्दमध्यमे ॥ ११ ॥
पयः पिबेच्छुक्लपक्षे कृष्णपक्षे च गोमयम् । जीर्णपर्णाशिनो वा स्यात्कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा ॥ १२ ॥
योगाभ्यासपरो भूत्वा ध्यायेत्पशुपतिं शिवम् । कृष्णाजिनी सोत्तरीयः शुक्लयज्ञोपवीतवान् ॥ १३ ॥
अथ[1] वाऽग्नीन्समारोप्य स्वात्मनि ध्यानतत्परः । अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मोक्षपरो भवेत् ॥ १४ ॥
सदोपनिषदभ्यासपरो वा स्यात्समाहितः । त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं कुर्याद्गृहस्थस्योक्तमन्त्रतः ॥ १५ ॥
यदा वैराग्यमुत्पन्नं तदैव प्रव्रजेद्वनी । बहूदके वा हंसे वा मुमुक्षुः परहंसके ॥ १६ ॥
सर्वं संग्रहरूपेण सम्यगुक्तं बृहस्पते । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रद्धया विद्धि सुव्रत ॥ १७ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे वानप्रस्थाश्रमविधिनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

उपस्पृश्य स्नात्वा । उपपूर्वः स्पृशिः स्नाने प्रयुज्यते त्रिषवणमुदकोपस्पर्शी चतुर्थकालपानभक्तः स्यादित्यादौ । वायुभक्षः पवनाहारः । तदशक्तौ पयःप्रभृति शक्त्यनुसारेण कुर्यादित्यर्थः । स्मर्यते हि—'मूलं फलं पय आपो वायुराकाश इति । उत्तरमुत्तरं ज्यायः' इति । अब्दमध्यम एकस्याब्दस्य संवत्सरस्य मध्ये सदा वायुमेव भक्षयन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अधुना चतुर्थाश्रममाह—अथवाऽग्नीनित्यादि । स्मर्यते हि—'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहाद्' इति । 'अनग्निरनिकेतः स्यादशर्माऽशरणो मुनिः' इत्यापस्तम्बोऽप्याह ॥ १४ ॥

गृहस्थस्येति । गृहस्थस्य य उक्तस्त्र्यम्बकमन्त्रः सप्रणवः पञ्चाक्षरश्च तेनेत्यर्थः ॥ १५ ॥

यदेति । एषा च प्रव्रज्या सत्येव वैराग्ये कार्या । बहूदके वेतिवचनात्प्राक्तनी कुटीचकविषया । कुटीचकबहूदकादिचातुर्विध्यं च वक्ष्यमाणतत्तद्धर्मानुष्ठानसामर्थ्यानुसारेण व्यवस्थया विकल्प्यते ॥ १६ ॥

संग्रहरूपेणेति । संन्यासभेदानामुद्देशमात्रमत्र वनस्थेनानुष्ठेयतया वनस्थधर्माध्याये कथितम् । संन्यासधर्मप्रपञ्चस्त्वनन्तराध्याये वक्ष्यते ॥ १७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे वानप्रस्थाश्रमविधिनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

एक पैर से खड़ा रहे । वर्ष के मध्य में केवल पवनाहारी हो रहे । यदि यह न हो सके तो शुक्लपक्ष में दूधपीकर और कृष्णपक्ष में गोमय (गोबर) खाकर रहे । अथवा पुराने पत्ते खाकर रहे । अथवा सदा कृच्छ्र व्रत करते हुए रहे ॥ ११—१२ ॥ योगाभ्यास में तत्पर रहकर पशुपति का ध्यान करना चाहिये । काले मृगचर्म का उत्तरीय और शुक्ल यज्ञोपवीत रखे ॥ १३ ॥ (यदि ऐसा करते हुए वैराग्य न उत्पन्न हो तो इसी आश्रम में रहे ।

यदि वानप्रस्थधर्मों का अनुष्ठान करते हुए विरक्ति आ जाये तो) वैराग्योपजनि के अनन्तर अग्नियों को अपने में समारोपित कर आत्मविषयक ध्यान में तत्पर हो जाना चाहिये अर्थात् उत्तराध्यायप्रतिपाद्य संन्यासग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार अग्निरहित और आवासरहित हो मनन करते हुए मोक्षार्थ साधना में तत्पर रहे ॥ १४ ॥ अथवा (यदि ध्यान में लगा रहना संभव न हो तो) एकाग्रतापूर्वक उपनिषदों का अभ्यास (श्रवण-मनन) करे । उसे उन्हीं मंत्रों से त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये जिनसे गृहस्थ करते हैं ॥ १५ ॥ वैराग्य उत्पन्न होने पर कुटीचक, बहूदक या हंस संन्यास लेवे । यदि मुमुक्षु हो तो परमहंस संन्यास लेवे ॥ १६ ॥ हे बृहस्पति ! तीन आश्रमों के विषय में मैंने पूरी बातें बता दीं । श्रद्धा से इन्हें प्रयत्नपूर्वक समझ लेना चाहिये ॥ १७ ॥

---

१. अथशब्दोऽत्रानन्तर्यार्थः । वाशब्दश्च यावज्जीवं वानप्रस्थाश्रमविकल्पार्थः । वैराग्यं चेज्जायेत संन्यसेत्, न चेत्तत्स्याद् वनस्थ एव तिष्ठेदित्यर्थः ।

षष्ठोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि संन्यासं मुनिसत्तम । चतुर्विधास्तु विज्ञेया भिक्षवो वृत्तिभेदतः ॥ १ ॥
कुटीचको मुनिश्रेष्ठ तथैव च बहूदकः । हंसः परमहंसश्च तेषां वृत्तिं वदामि ते ॥ २ ॥
कुटीचकश्च संन्यस्य स्वे स्वे वेश्मनि नित्यशः । भिक्षामादाय भुञ्जीत स्वबन्धूनां गृहेऽथवा ॥ ३ ॥
शिखी यज्ञोपवीती स्यात्त्रिदण्डी सकमण्डलुः । सपवित्रश्च काषायी गायत्रीं च जपेत्सदा ॥ ४ ॥
सर्वाङ्गोद्धूलनं कुर्यात्त्रिपुण्ड्रं च त्रिसंधिषु । शिवलिङ्गार्चनं कुर्याच्छ्रद्धयैव दिने दिने ॥ ५ ॥

वनस्थप्रसङ्गेनोद्दिष्टमेव कुटीचकादिचतुष्टयं तद्धर्माभिधानाय पुनरनुवदति—अथात इति । अत उक्तमाश्रमत्रयं धर्मस्कन्धः सांसारिकफलविषय एव । श्रूयते हि—'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप एव । द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ती'ति । अतस्ततो विरक्तस्यानन्तरमपुनरावृत्तिरूपब्रह्मप्राप्तये ज्ञानस्कन्धः संन्यास उच्यते । श्रूयते हि—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति । ब्रह्मणि संस्था सम्यङ्निष्ठा यस्य चतुर्थाश्रमिणः स ब्रह्मसंस्थः स एवामृतत्वमपवर्गं प्राप्नोति । आश्रमान्तराणामपि ब्रह्मसंस्था[1]त्वसंभवं[2]प्रापय्य परिहृतं हि तत्त्वविद्भिः—'लोककाम्याश्र[3]मी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा । यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्ह[4]त्यवारणात् ॥ अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठाऽसौ कर्मिणे कथम् । कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः' इति । विवृतं चैतत्तैरेव त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्राऽऽश्रमानधिकृत्य 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' इति । आश्रमानुष्ठायिनां पुण्यलो[5]कमभिधाय 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति मोक्षसाधनत्वेन ब्रह्मनिष्ठा प्रतिपाद्यते । सेयं ब्रह्मनिष्ठा पुण्यलोककामिन आश्रमिणोऽपि संभाव्यते । आश्रमकर्माण्यनुष्ठाय यथावकाशं ब्रह्मनिष्ठायाः कर्तुं सुकरत्वात् । न हि लोककामी ब्रह्म न जानीयादिति निषेधोऽस्ति[6], तस्मादस्ति सर्वस्याऽऽश्रमिणो ब्रह्मनिष्ठतेति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मनिष्ठा नाम सर्वव्यापारपरित्यागेनानन्यचित्ततया ब्रह्मणि समाप्तिः । नचासौ कर्मशूरे[7] संभवति कर्मानुष्ठानत्यागयोः परस्परविरोधात् । तस्मात्कर्मत्यागिन एव ब्रह्मनिष्ठेति । वृत्तिभेदत इति । आचारभेदतः ॥ १ ॥ २ ॥

तत्र कुटीचकस्य वृत्तिमाह—कुटीचकश्चेति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

सन्न्यासविधिनिरूपण नामक छठा अध्याय

भगवान् ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं संन्यास के विषय में बताऊँगा । भिक्षु चार प्रकार के होते हैं । कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस—ये चार प्रकार के संन्यासी होते हैं । इनके धर्म संक्षेप से बताता हूँ ॥ १—२ ॥

कुटीचकसंन्यासी को रोज़ अपने घर से ही भिक्षा ले लेनी चाहिये । अथवा अपने बन्धुओं के घर से भिक्षा लेकर खा लेवे ॥ ३ ॥ शिखा, यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड, कमण्डलु और पवित्र (कुश) का धारण करे तथा गैरिक वस्त्र पहने और सदा गायत्री जपता रहे ॥ ४ ॥ सारे शरीर में भस्मोद्धूलन करे तथा त्रिपुण्ड्र धारण करे । प्रतिदिन तीनों संध्याओं के समय श्रद्धापूर्वक शिवलिंग की पूजा करनी चाहिये ॥ ५ ॥

---

१. ङ. °स्थात्वं सं । २. घ. प्राप्य । ३. ङ. °श्रमो ब्र° । ४. ङ. °र्हस्यवा° । ५. ङ. °लोकानभि° । ६. ग. ङ. °स्ति स° ।
७. असन्न्यासिनो ब्रह्मनिष्ठा चेदसौ सदा कर्म कुर्वतः कदाचित्तत्कुर्वतो वेति विकल्प्य नाद्यस्येत्याह—कर्मशूर इति । ज्ञानपूर्वकत्वान्निष्ठायाः सदा कर्तुर्ज्ञानासंभवान्नतरां निष्ठाप्रसंग इत्यर्थः । न द्वितीयस्येत्याह—कर्मानुष्ठानेति । कर्मच्छिद्रेषु ज्ञानस्य संभवेऽपि तद्दार्ढ्यलक्षणनिष्ठायास्तेष्वसंभवात् । नाहं कर्तेति निश्चयोऽचलो दार्ढ्यं । न हि नित्यादिकुर्वतोऽसौ स्यान्नित्यं करिष्ये करिष्य इति स्वकर्तृत्वाभ्यासं कुर्वत इति भावः ।

बहूदकश्च संन्यस्य बन्धुपुत्रादिवर्जितः । सप्तागारं चरेद्भैक्ष्यमेकान्नं परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
गोवालरज्जुसंबद्धं त्रिदण्डं शिक्यमद्भुतम् । पात्रं जलपवित्रं च कौपीनं च कमण्डलुम् ॥ ७ ॥
आच्छादनं तथा कन्थां पादुकां छत्रमद्भुतम् । पवित्रमजिनं सूचीं पक्षिणीमक्षसूत्रकम् ॥ ८ ॥
योगपट्टं बहिर्वस्त्रं मृत्खनित्रीं कृपाणिकाम् । सर्वाङ्गोद्धूलनं तद्वत् त्रिपुण्ड्रं चैव धारयेत् ॥ ९ ॥
शिखी यज्ञोपवीती च देवताराधने रतः । स्वाध्यायी सर्वदा वाचमुत्सृजेत्स्थानतत्परः[1] ॥ १० ॥
संध्याकालेषु सावित्रीं जपन्कर्म समाचरेत् । हंसः कमण्डलुं शिक्यं भिक्षापात्रं तथैव च ॥ ११ ॥
कन्थां कौपीनमाच्छाद्यमङ्गवस्त्रं बहिःपटम् । एकं तु वैणवं दण्डं धारयेन्नित्यमादरात् ॥ १२ ॥
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं कुर्याच्छिवलिङ्गं समर्चयेत् । अष्टग्रासं सकृन्नित्यमश्नीयात्सशिखं भवेत् ॥ १३ ॥
संध्याकालेषु सावित्रीजपमध्यात्मचिन्तनम् । तीर्थसेवां तथा कृच्छ्रं तथा चान्द्रायणादिकम् ॥ १४ ॥
कुर्वन्ग्रामैकरात्रेण न्यायेनैव समाचरेत् । परहंसस्त्रिदण्डं च रज्जुं गोवालनिर्मितम् ॥ १५ ॥
शिक्यं जलपवित्रं च पवित्रं च कमण्डलुम् । पक्षिणीमजिनं सूचीं मृत्खनित्रीं कृपाणिकाम् ॥ १६ ॥

वहूदकस्य वृत्तिमाह–बहूदकश्चेति ॥ ६ ॥

जलपवित्रं जलशोधनवस्त्रम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

मृत्खनित्रीमिति । मृत्खन्यते यया स्नानाद्यर्थं तां कृपाणिकां कृपाणाकारतीक्ष्णलोहघटितां यष्टिम् ॥ ९ ॥

स्वाध्यायीति । स्वाध्याय एवोत्सृज्यमानो वाचमित्यापस्तम्वः ॥ १० ॥

हंसस्य वृत्तिमाह–हंसः कमण्डलुमिति ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

बहूदक को चाहिये कि बंधु, पुत्रादि के घरों को छोड़ अन्य किन्हीं सात घरों से भिक्षा लेकर खाये । रोज़ एक ही जगह से भिक्षा न लेवे ॥ ६ ॥ गोवालरज्जु से बँधा त्रिदण्ड, झोला, बर्तन, पानी छानने का कपड़ा, कौपीन, कमण्डलु, बिछाने का वस्त्र, गुदड़ी, पादुका, छाता, पवित्र मृगादि-चर्म, सुई, पक्षिणी (जप करते हुए हाथ को सहारा देने वाली लकड़ी), रुद्राक्षमाला, योगपट्ट (अलफी), बाहिरी वस्त्र, स्नानादि के लिये मिट्टी खोदने वाली खुरपी–इन सबको साथ रखना चाहिये । सारे देह में भस्मोद्धूलन करे और त्रिपुण्ड्र लगाये ॥ ७–९ ॥ शिखा-यज्ञोपवीत रखे रहे व देवताराधन में तत्पर हो । सर्वदा स्वाध्याय करे (वेदाभ्यास करे) । अन्य काल में मौन रहे और परमस्थान मोक्ष का इच्छुक बने । संध्याओं के समय गायत्रीजप करते हुए कृत्यसंपादन करे ॥ १०१/२ ॥

हंस संन्यासी को कमण्डलु, झोला, भिक्षापात्र, गुदड़ी, कौपीन, बिछाने का वस्त्र, कटिवस्त्र, उत्तरीय, तथा बाँस का एक दण्ड धारण करना चाहिये ॥ ११–१२ ॥ त्रिपुण्ड का उद्धूलन करे व शिवलिंग की अर्चना करे । दिन में एक बार खाये और वह भी केवल आठ कौर । हंस शिखा सहित होता है ॥ १३ ॥ प्रातः आदि संध्याओं के समय गायत्री का जप और आत्मचिन्तन करे । तीर्थों में भ्रमण करे । कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रत रखे तथा गाँव में एक रात से अधिक न रुके ॥ १४१/२ ॥

परमहंस इन सबका त्याग करे–त्रिदण्ड, गोवालरज्जु, झोला, पानी छानने का कपड़ा, पवित्र (कुश), कमण्डलु, पक्षिणी, मृग आदि के चर्म, सुई, खुरपी, शिखा, यज्ञोपवीत तथा (संध्यादि) नित्यकर्म । इनका ग्रहण कर सकता है–कौपीन, बिछाने

---

१. °जेद्ध्यान° इति वालमनोरमापाठः ।

शिखां यज्ञोपवीतं च नित्यकर्म परित्यजेत्[1] *। कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्थां शीतनिवारिकाम् ॥ १७ ॥*

योगपट्टं बहिर्वस्त्रं पादुकां छत्रमद्भुतम् । अक्षमालां च गृह्णीयाद्वैणवं दण्डमव्रणम् ॥ १८ ॥

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः कुर्यादुद्धूलनं मुदा । ओमोमिति च त्रिः प्रोच्य परहंसस्त्रिपुण्ड्रकम् ॥ १९ ॥

मृत्पात्रं कांस्यपात्रं वा दारुपात्रं च वैणवम् । पाणिपात्रं च गृह्णीयादाचम्यैव तथोदरम् ॥ २० ॥

बहूदकानां हंसानां पाणिपात्रं तथोदरम् । कांस्यपात्रं न विध्युक्तं मृत्पात्रमिति हि श्रुतिः ॥ २१ ॥

माधूकरमथैकान्नं परहंसः समाचरेत् । नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ॥ २२ ॥

तस्माद्योगानुगुण्येन भुञ्जीत परहंसकः । अभिशस्तं समुत्सृज्य सार्ववर्णिकमाचरेत् ॥ २३ ॥

उत्तरोत्तरलाभे तु पूर्वं पूर्वं परित्यजेत् । गुरुशुश्रूषया नित्यमात्मज्ञानं समभ्यसेत् ॥ २४ ॥

परमहंसस्याऽऽह–पर[2]हंसस्त्रिदण्डमिति ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

ओमोमिति । अजपासहितेन प्रणवेन त्रिरुक्तेन त्रिपुण्ड्रं कुर्यात् ॥ १९ ॥

हेयोपादेयविभागविवक्षया प्रथमं साधारण्येन सं[3]भवत्पात्रजातमुद्दिशति–मृत्पात्रमिति । एतच्चालाबुपात्रस्याप्युपलक्षणम् । 'मृत्पात्रमलाबुपात्रं दारुपात्रं वा' इत्यारुणिश्रुतेः । उद्दिष्टमध्य उपादेयमाह–दारुपात्रमिति । एतच्च कांस्यव्यति[4]रिक्तस्योक्तस्योपलक्षणम् । उपादेयमन्यदपि समुच्चिनोति–तथोदरमिति ॥ २० ॥

एतच्च न केवलं परमहंसानामेवेत्याह–बहूदकानामिति । पात्रान्तरमपि समुच्चिनोति–पाणिपात्रमिति । यथोदरं तथा पाणिपात्रं चेत्यर्थः तथा चाऽऽरुणिश्रुतिः–'पाणिपात्रमुदरपात्रं च' इति । उपादेयमभिधाय हेयमाह–कांस्यपात्रं नेति । मृत्पात्रमिति हि श्रुतिरिति यथोदीरितारुणिश्रुतिः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

का वस्त्र, पहनने का वस्त्र, शीतनिवारक गुदड़ी, योगपट्ट (अलफी), ओढ़ने का वस्त्र, पादुका, छाता, रुद्राक्ष की माला और बाँस का छेदादि-रहित दण्ड ॥ १५–१८ ॥ 'अग्निरिति' आदि मंत्रों का उच्चारण कर भस्मोद्धूलन तथा तीन बार ॐ बोलकर त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये ॥ १९ ॥ मिट्टी, काँसा, लकड़ी, या बाँस का बर्तन आचमन पूर्वक ग्रहण करना चाहिये । अथवा करपात्र ही रहे या उदरपात्र ही रहे । (हाथ से अतिरिक्त पात्र न रखने वाला करपात्र है । जो हाथ से भी बर्तन का काम न ले, केवल जो पेट में समा जाये उतना ही ग्रहण कर ले वह उदरपात्र है । अथवा करपात्र और उदरपात्र का समुच्चय है अर्थात् मृदादिपात्र न रख केवल हाथ और पेट को ही पात्र बनाये–खाने के लिये हाथ रूप और रखने के लिये पेटरूप बर्तन ।) ॥ २० ॥ बहूदकों व हंसों के लिये भी पाणि और उदर पात्र रूप से विकल्पित हैं । उन्हें काँसे का पात्र नहीं रखना चाहिये । हाथ व पेट से अतिरिक्त पात्र रखना हो तो उन्हें मिट्टी का पात्र रखना चाहिये, यही श्रुतिसंमत है ॥ २१ ॥ परमहंस चाहे माधूकरी वृत्ति से भिक्षा ले चाहे किसी एक घर से भिक्षा ले लेवे । न अधिक खाये और न सर्वथा भूखा रहे । अधिक खाने व न खाने से साधना में प्रतिरोध होता है । अतः साधना के चलते रहने के लिए जितना अनुकूल हो उतना आहार परमहंस के लिये विहित है । अभिशस्तों को छोड़कर सभी वर्णों से भिक्षा ली जा सकती है । ब्राह्मणादि से भिक्षा प्राप्त हो सके तो क्षत्रियादि से भिक्षा नहीं लेनी चाहिये । इसी क्रम से अन्य वर्णों के विषय में समझना चाहिये । सदा गुरु की सेवा करते हुए आत्मज्ञान का अभ्यास करे ॥ २४ ॥ स्नान, सफाई और आत्मध्यान का अनुष्ठान करे । सत्य व झूठ सभी व्यवहार छोड़े । काम, क्रोध,

---

१. इहान्यत्र च सर्वत्र शिखोपवीतयोस्त्यागएव शास्त्रविहितो, न कथंचिदपि पुनर्ग्रहणम्, एवमपि केचित्परमहंसब्रुवः शिखोपवीते पुनरादाय दण्डे स्थापयन्ति, स तेषामाचारश्चिन्त्यमूल इति सुधीभि र्विभावनीयम् । २. क. ख. घ. °रमहं° । ३. ङ. °भवात्पा° । ४. ग. °तिक्रमस्यो° ।

स्नानं शौचमभिध्यानं सत्यानृतवि[1]वर्जनम् । कामक्रोधपरित्यागं हर्षरोषविवर्जनम् ॥ २५ ॥
लोभमोहपरित्यागं दम्भदर्पादिवर्जनम् । चातुर्मास्यं च सर्वेषां वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ २६ ॥
कुटीचकाश्च हंसाश्च तथैव च बहूदकाः । सावित्रीमात्रसंपन्ना भवेयुर्मोक्षकारणात् ॥ २७ ॥
प्रणवाद्यास्त्रयो वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः । तस्मात्प्रणवमेवैकं परहंसः सदा जपेत् ॥ २८ ॥
संध्याकालेषु शुद्धात्मा प्रणवेन समाहितः । षट्प्राणायामकं कुर्याज्जपेदष्टोत्तरं शतम्[2] ॥ २९ ॥
विविक्तदेशमाश्रित्य सुखासीनः समाहितः । यथाशक्ति समाधिस्थो भवेत्संन्यासिनां वरः ॥ ३० ॥
क्रमाद्वाऽक्रमतो विद्वानुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् । उत्तमां वृत्तिमापन्नो न नीचां वृत्तिमाश्रयेत् ॥ ३१ ॥

सत्यानृतविवर्जनमिति । असत्यवत्सत्यमपि व्यवहारं शक्यं विवर्जयेत् । चित्तैकाग्र्यविरोधादित्यर्थः । श्रूयते हि—'तमेवैकं जा[3]नथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' इति । स्मर्यते च—'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि[4] तं त्यज' । इति ॥ २५ ॥

चातुर्मास्यमिति । वर्षास्वेकत्र वासं, चत्वारो मासाश्चातुर्मास्यम्[5] । तद्धितार्थे द्विगुः । 'चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे' इति ष्यञ् ॥ २६ ॥

सर्वेषां चतुर्विधानां यतीनां परमहंस[6]व्यतिरिक्तस्य प्रधानं जप्यमाह—कुटीचका इति । मोक्षं प्रयोजनमुद्दिश्य सावित्र्यैव तत्त्वमनुसंदध्युरित्यर्थः ॥ २७ ॥

परमहंसस्य प्रणवैकनिष्ठतां विवक्षुः प्रणवस्योत्कृष्टतामाह—प्रणवाद्या इति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह 'ब्रह्मोपाप्नवानीति' 'ब्रह्मैवोपाप्नोति' इति श्रुतेः । प्रणवे पर्यवस्थिता इति । प्रणवस्य वेदत्रयसारत्वात्तत्प्रतिनिधित्वम् । तथात्वं च श्रूयते छान्दोग्योपनिषदि बह्वृचब्राह्मणे च । लोकदेववेदव्याहृत्यक्षरत्रयसारत्वं प्रणवस्य । तैत्तिरीयोपनिषदि च ब्रह्मयज्ञप्रकरणे 'ॐमिति प्रपद्यत एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रति' इति ॥ २८ ॥

षडिति । षण्णां प्राणायामानां समाहारः षट्प्राणायामम् । '[7]पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः' इति न ङीप् । स्वार्थे कप्रत्ययः ॥ २९ ॥
॥ ३० ॥

क्रमादिति । 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति जाबा[8]लश्रुतिः । अक्रमतो वेति । 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा' इति तत्रैव ॥ ३१ ॥

हर्ष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प आदि का परित्याग करना चाहिये ॥ २५$^1/_2$ ॥

सभी प्रकार के संन्यासियों के लिये वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहना रूप चातुर्मास्य व्रत बताया गया है ॥ २६ ॥ कुटीचक, हंस और बहूदक को चाहिये कि मोक्ष के उद्देश्य से केवल गायत्री का जप करें ॥ २७ ॥

तीनों वेद प्रणव से प्रारंभ होते हैं और उसीमें समाप्त होते हैं । अतः परमहंस को केवल प्रणव का ही जप करना चाहिये ॥ २८ ॥ संध्याओं के समय एकाग्रचित हो प्रणव से छह प्राणायाम कर एक सौ आठ बार प्रणव का जप करना चाहिये ॥ २९ ॥ एकान्त स्थान में रहकर, आराम से बैठकर, इंद्रियादि को उपरतकर यथासामर्थ्य समाधि में स्थित रहना परमहंस के लिये श्रेष्ठ है ॥ ३० ॥

जानकार को चाहिये कि ब्रह्मचर्य के बाद क्रम से या एक अथवा दो को लाँघकर अगले आश्रम का ग्रहण करे । किन्तु कभी अगले आश्रम में पहुँच कर पिछले आश्रम में न जाये ॥ ३१ ॥ जो व्यक्ति उत्तर आश्रम ग्रहणकर फिर पूर्व आश्रम

१. ङ. °वर्जितम् । २. प्रणवस्येति शेषः । ३. ङ. जानीथ । ४. ग. °सि. तत्त्यज" । ५. अत्र च मासपदं पक्षपरमिति सम्प्रदायः । ६. घ. °हंसातिरि° । ७. क. ख. ग. ङ. मन्त्रादिभ्यः । ८. ग. °बालिश्रु° ।

उत्तमां वृत्तिमाश्रित्य नीचां वृत्तिं समाश्रितः । आरूढपतितो ज्ञेयः सर्व[1]धर्मबहिष्कृतः ॥ ३२ ॥
प्रव्रजन्तं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः । एष मे मण्डलं भित्त्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ॥ ३३ ॥
रूपं[2] तु द्विविधं प्रोक्तं चरं चाऽचरमेव च । चरं संन्यासिनां रूपमचरं मृन्मयादिकम् ॥ ३४ ॥
यस्याऽऽश्रमे यतिर्नित्यं वर्तते मुनिसत्तम । न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ३५ ॥
दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा । वेषमात्रेण संन्यासी पूज्यः सर्वेश्वरो यथा ॥ ३६ ॥
ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां ब्रह्मा देवः प्रकीर्तितः । गृहस्थानां च सर्वे स्युर्यतीनां तु[3] महेश्वरः ॥ ३७ ॥
वानप्रस्थाश्रमस्थानामादित्यो देवता मता । तस्मात्सर्वेषु कालेषु पूज्यः संन्यासिनां हरः ॥ ३८ ॥
मृते न दहनं कार्यं परहंसस्य सर्वदा । कर्तव्यं खननं[4] तस्य नाशौचं नोदकक्रिया ॥ ३९ ॥
अश्वत्थस्थापनं कार्यं तद्देशेऽध्वर्युणा मुने । अश्वत्थे स्थापिते तेन स्थापितो हि महेश्वरः ॥ ४० ॥
दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य सर्वं नश्यति पातकम् । अन्येषामपि भिक्षूणां खननं पूर्वमाचरेत् ॥ ४१ ॥
पश्चाद्गृही यथाशास्त्रं कुर्याद्दहनमुत्तमम् । अश्वमेधफलं तस्य स्नानमात्राद्विशुद्धता ॥ ४२ ॥
सर्वमुक्तं समासेन तव शिष्यस्य धीमतः । तस्मादेतद्विजानीहि वेदान्तार्थप्रकाशनम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे संन्यासविधिनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

अश्वत्थे स्थापित इति । तेनाध्वर्युणा । तत्राश्वत्थस्य स्थापनमात्रेणापि शिवलिङ्गस्थापनेन यत्फलं तल्लभ्यत इत्यर्थः । तस्य प्रकृतस्य तस्मिन्स्थाने स्थापितस्याश्वत्थस्य महेश्वरस्य वा[5] दर्शनस्पर्शनाभ्यां सर्वपातकनाश इत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

इति श्री सूति संहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे संन्यासविधिनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

ग्रहण करता है उसे आरूढपतित कहते हैं और वह सभी धर्मों से बहिष्कृत है ॥ ३२ ॥

प्रव्रज्या लेते हुए ब्राह्मण को देखकर सूर्य भी यह सोचकर विचलित हो जाता है कि यह मेरे मण्डल का भेदन कर ब्रह्मलोक चला जायेगा ॥ ३३ ॥ नारायण के चर और अचर दो रूप समझने चाहिये । संन्यासी चररूप है तथा मृन्मयादि विग्रह अचररूप हैं ॥ ३४ ॥ जिस स्थान पर सदा संन्यासी रहता है वहाँ कोई वस्तु दुर्लभ नहीं ॥ ३५ ॥ दुश्चरित्र हो चाहे सच्चरित्र, मूर्ख हो या पण्डित, संन्यासी के वेष में जो हो वह सर्वेश्वर की तरह पूजनीय ही होता है ॥ ३६ ॥ ब्रह्मचर्य आश्रमों वालों के देवता हैं ब्रह्मा । गृहस्थों के सभी देवता हैं । संन्यासियों के देवता महेश्वर हैं ॥ ३७ ॥ वानप्रस्थियों के देवता आदित्य हैं । अतः संन्यासियों को सब समय भगवान् हर की आराधना करनी चाहिये ॥ ३८ ॥ मरने पर परमहंस का शरीर जलाना नहीं चाहिये । ज़मीन में गाड़ देना चहिये । परमहंस के मरने से न कोई अशौच होता है और न तर्पण देना पड़ता है ॥ ३९ ॥ जहाँ परमहंस को गाड़ा हो वहाँ पीपल का पेड़ लगा देना चाहिये । अश्वत्थ की स्थापना से महादेव ही स्थापित हो जाते हैं ॥ ४० ॥ उसके दर्शन और स्पर्श से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । परमहंस से अन्य संन्यासियों को भी मर चुकने पर पहले गाड़ना चाहिये । बाद में (उनके पुत्रादि) गृहस्थ को चाहिये कि उनका दाह करे । दाहक को अश्वमेध करने का फल मिलता है तथा स्नान करने से ही शुद्धि हो जाती है (मृतक अशौच नहीं लगता) ॥ ४१–४२ ॥ मेरे पास शिष्यभाव से आये तुम्हें मैंने संन्यासियों के विषय में भी सब बता दिया । अतः मेरे इस उपदेश को वेदान्त-प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण समझना । ('अतः' अर्थात् क्योंकि तुम शिष्य हो और तुम्हारे कल्याण के लिये यह उपदेश है इसलिये । वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैतात्मबोध के आरादुपकारक धर्मों का उपदेश भी परंपरा से बोधफलक होने से उसके ही साधन-भाग का स्पष्टीकरण है) ।

---

१. ख. °र्वकर्म° । २. नारायणस्येति शेषः । ३. ख. च । ४. आधुनिकशिष्टाचारस्तु जलप्रवाह इति ज्ञेयम् । ५. ङ. च. ।

सप्तमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तं समासतः । दोषाणामपनुत्त्यर्थं सर्वभूतानुकम्पया ॥ १ ॥

ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः । एते वेदविदां श्रेष्ठा महापातकिनः स्मृताः ॥ २ ॥

एभिः सह वसेद्यस्तु संवत्सरमसावपि । ब्रह्महा निर्जनेऽरण्ये कुटीं कृत्वा वसेन्नरः ॥ ३ ॥

द्वादशाब्दानि संतप्तः सर्वदा विजितेन्द्रियः । भिक्षामाहृत्य भुञ्जीत स्वदोषं ख्याप[१]यन्नृणाम् ॥ ४ ॥

शाकमूलफलाशी वा कृत्वा शवशिरोध्वजम् । संपूर्णे द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ५ ॥

अकामकृतदोषस्य प्रायश्चित्तमिदं मुने । कामतश्चेन्मुनिश्रेष्ठ प्राणान्तिकमुदीरितम् ॥ ६ ॥

अथवा मुनिशार्दूल पापशुद्ध्यर्थमात्मनः । ग्रामादनलमाहृत्य प्रविशेत्परिता[२]पतः ॥ ७ ॥

पश्चादनशनो भूत्वा धर्मयुद्धेऽथ वाऽनले । अप्सु वा मुनिशार्दूल महाप्रस्थानकेऽपि वा ॥ ८ ॥

नित्यधर्माभिधानानन्तरं नैमित्तिकधर्माभिधानायाध्यायान्तरमार[३]भ्यते–अथात इति । यत उक्तस्य विधिनिषेधात्मकस्य नित्यस्य धर्मस्य प्रमादादिना व्यतिक्रमे तन्निमित्तप्रायश्चित्तापेक्षाऽतो नित्यानन्तरं तदुच्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

अपनोदनीयान्प्रधानदोषाननुक्रामति–ब्रह्महेति । तथाच च्छान्दोग्योपनिषदि 'स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिब꣡श्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरंस्तैः' इति ॥ २ ॥

वसेदिति वचनात्सहवासादिनैव संवत्सरात्पातित्यम्[४] । याजनाध्यापन[५]यौनसंबन्धैस्तु सद्यः पातित्यम् । यदाह याज्ञवल्क्यः– 'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन् । याजनाध्यापनाद्यौ[६]नान्न तु पानाशनादितः' ॥ इति ॥ [७]उक्तनिमित्ताना[८]मुद्देशक्रमेण प्रायश्चित्तान्याह–ब्रह्महा निर्जन इत्यादि ॥ ३ ॥ भुञ्जीतेति भुञ्जीयात् ॥ ४ ॥

प्रायश्चित्तविधि-निरूपण नामक सातवाँ अध्याय

शंकर भगवान् ने आगे कहा–क्योंकि नित्यादि धर्मों में प्रमादादि से ग़लती संभव है इसलिये अब मैं दोष हटाने वाले प्रायश्चित्तों को संक्षेप से बताता हूँ ॥ १ ॥

ब्राह्मण का वध करने वाला, सुरा पीने वाला, चोरी करने वाला तथा गुरुपत्नी से समागम करने वाला–ये सब वेदज्ञों द्वारा महापापी कहे गये हैं। (सुरा पीने वाला ब्राह्मण विशेषतः समझना चाहिये। इसी तरह सोने की चोरी करने वाला समझना चाहिये।) ॥ २ ॥ इन महापापियों के साथ जो व्यक्ति एक साल रह जाये वह भी महापापी ही समझा जाना चाहिये। ब्रह्महत्यारे के लिये प्रायश्चित्त यह है कि वह निर्जन जंगल में कुटिया बनाकर बारह साल तक सन्ताप करते हुए रहे। उसे उस दौरान जितेन्द्रिय रहना चाहिये और अपने पाप को प्रकट करते हुए भिक्षा लेकर जीवन चलाना चाहिये। अथवा शाक, मूल व फल खाकर ही रह जाये। उसे अपने साथ एक छड़ी रखनी चाहिये जिसके एक सिरे में मानव मुण्ड जड़ा हो। बारह वर्ष पूरे होने पर ब्रह्महत्या का दोष निवृत्त हो जाता है ॥ ३–५ ॥ बिन चाहे (दुर्घटनादि से) हुई ब्रह्महत्या का यह प्रायश्चित्त है। यदि जानबूझकर ब्राह्मण का वध किया हो तब तो विधिवत् आत्महत्या को प्रायश्चित्त बताया गया है। अथवा गाँव से अग्नि लाकर सखेद उसमें प्रवेश करे व तदनंतर (बच जाये तो) अनशन कर या धर्मयुद्ध में या अग्नि में ही या जल में या महाप्रस्थान में शरीर छोड़े। (मरने के उद्देश्य से हिमालय की ओर जाना महाप्रस्थान कहा जाता है। यह कलिवर्ज्यों में गिना गया है।) अथवा ब्राह्मण की या गाय की रक्षा के लिये प्राणत्याग करे ॥ ६–८½ ॥

---

१. घ. ङ. °पयेन्नृ° । २. ङ. °तापितः । ३. ङ. °रभते° । ४. ग. °म् । यज° । ५. घ. ङ. °नयोनिसं° । ६. ख. °नादन्नपा-नांशनासनात्" इ° । ७. घ. उंक्तानां नि° । ८. ग. °नामनुद्दे° ।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सम्यक्प्राणान्परित्यजेत् । सुरापानादिदोषोऽपि नश्य[1]त्येतेन सुव्रत ॥ ९ ॥
अग्निवर्णां सुरां तप्तां प्राणविच्छेदनक्षमाम् । पीत्वा नष्टशरीरस्तु सुरापानात्प्रमुच्यते ॥ १० ॥
गोमूत्रं वा घृतं तोयं गोशकृद्रसमेव वा । अतितप्तं पिबेत्तेन मृतो मुच्येत दोषतः ॥ ११ ॥
सुवर्णस्तेयकृत्साक्षाद्राजानमभिगम्य तु । स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ १२ ॥
आयसं मुसलं तीक्ष्णं गृहीत्वा स्वयमेव तु । हन्यात्सकृत्प्रयोगेण राजा तं पुरुषाधमम् ॥ १३ ॥
मुच्यते स्तेयदोषेण नास्ति राज्ञोऽपि पातकम् ।[2] अवगूहेत्स्त्रियं तप्तामयसा निर्मितां नरः ॥ १४ ॥
स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्पाट्याऽऽधाय चाञ्जलौ । दक्षिणां दिशमागच्छेद्यावत्प्राणविमोचनम् ॥ १५ ॥
अनेन विधिना युक्तो मुच्यते गुरुतल्पगः । तप्तकृच्छ्रं चरेत्तप्तः संवत्सरमतन्द्रितः ॥ १६ ॥
महापातकिनां नृणां संसर्गात्स विमुच्यते । मातरं मातृसदृशीं भागिनेयीं तथैव च ॥ १७ ॥
मातृष्वसारमारुह्य कुर्यात्कृच्छ्रातिकृच्छ्रकौ । चान्द्रायणं च कुर्वीत तत्पापविनिवृत्तये ॥ १८ ॥

शवशिरोध्वजमिति । स्मर्यते हि–'शिरःकपाली ध्वजवान्भिक्षाशी कर्म चोदयन्' इति ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अवगूहेदिति । आश्लिषेत् ॥ १४ ॥ १५ ॥

तप्तकृच्छ्रमिति । तप्तकृच्छ्रलक्षणमुक्तं यमेन–'त्र्यहमुष्णं पिबेदम्भस्त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् । त्र्यहमुष्णं पिबेत्सर्पिर्वायुभक्षः परं त्र्यहम् ॥ तप्तकृच्छ्रं विजानीयाच्छीते शीतमुदाहृतम्' इति । अम्भःप्रभृतीनां परिमाणमुक्तं पराशरेण–'षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत् । पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते' इति ॥ १६ ॥ १७ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रकाविति । द्विरावृत्तं कृच्छ्रातिकृच्छ्रकं कुर्यात् । तल्लक्षणमुक्तं याज्ञवल्क्येन–'कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम्' इति । एकभक्तनक्तायाचितदिवसेषु यो भोजनकालस्तस्मिन्नेव काले केवलमुदकेन वा वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्रो भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

इसीसे सुरापान आदि पाप भी धुल सकते हैं। अथवा सुरा को इतना गरमकर कि उसे पीने से व्यक्ति मर जाये, उसे पीकर शरीर त्यागने वाला सुरापान के दोष से मुक्त हो जाता है ॥ ९–१० ॥ अथवा अत्यंत गरम किया गोमूत्र या घी या पानी या गोबर का रस पीकर मरने से सुरापान के दोष से मुक्त हुआ जा सकता है ॥ ११ ॥

स्वर्ण के चोर को स्वयं राजा के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार करना चाहिये तथा राजा का कर्तव्य है वह स्वयं लोहे के तीक्ष्ण मूसल से चोर का वध कर दे। इससे वह स्वर्णस्तेय के दोष से छूट जाता है और राजा को भी कोई पाप नहीं होता ॥ १२–१३½ ॥

गुरुस्त्रीदूषक के लिये प्रायश्चित्त है कि लोहे से बनी स्त्रीप्रतिमा को अत्यधिक तपाकर उसका आलिंगन करे (और इस प्रकार जलकर देह छोड़े)। अथवा स्वयं अपना लिंग और अण्डकोष काटकर अंजलि में रखकर प्राण छूटने तक दक्षिण दिशा में चलता जाये। इस प्रकार गुरुतल्पगामी दोषमुक्त होता है ॥ १४–१५½ ॥

महापापियों के संसर्ग से दोष वाले व्यक्ति को प्रायश्चित्त रूप से एक वर्ष तक तप्तकृच्छ्र व्रत का पालन करना चाहिये ॥ १६½ ॥

माता, माता के समान स्त्रियों, भानजी तथा मासी के साथ समागम करने का प्रायश्चित्त है कि कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण व्रत करे ॥ १७–१८ ॥

---

१. घ. °श्यते ते° । २. यदि परं सदोषं मुंचति तदा राजैव दोषभाग्भवति, यथोक्तम् 'अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि अनेना अभिशंसति । स्तेनः प्रमुक्तो राजनि याचन्ननृतसंगरे ॥' इति ।

स्वसारं मुनिशार्दूल गत्वा दुहितरं तु वा । कृच्छ्रं सांतपनं कुर्याद्दोषशुद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १९ ॥
भ्रातृभार्याभिगमने चान्द्रायणचतुष्टयम् । चरेत्पापविशुद्ध्यर्थं संतप्तो ब्राह्मणोत्तमः ॥ २० ॥
पैतृष्वसे[1] यीगमने मातुलाद्दुहितां स्त्रियम् । चान्द्रायणं चरेदेकं कामतोऽकामतोऽपि वा ॥ २१ ॥
अवशिष्टासु सर्वासु द्विजस्त्रीषु महामुने । गत्वा कृच्छ्रं चरेत्तप्तमेकं तद्दोषशान्तये ॥ २२ ॥
क्षत्रियाणां च वैश्यानां स्त्रीषु गत्वा द्विजश्चरेत् । कृच्छ्रमन्यासु बहुशो गत्वा कृच्छ्रं चरेद्[2] द्विजः ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारी स्त्रियं गत्वा कामतो मुनिसत्तम । संवत्सरं चरेद्भैक्ष्यं वसित्वा गर्दभाजिनम् ॥ २४ ॥
स्वपापकीर्तनं [3]कुर्वन्स्नात्वा त्रिषवणं पुनः । तस्मात्पापात्प्रमुच्येत षण्मासात्कामवर्जितः ॥ २५ ॥
अग्निकार्यपरित्यागे रेतोत्सर्गे समाहितः । स्नात्वा प्रणवसंयुक्ता व्याहृतीश्च तथैव च ॥ २६ ॥
सावित्रीं सशिरां मौनी जपेदयुतमादरात् । यतीनामिन्द्रियोत्सर्गे स्नात्वा शुद्धः समाहितः ॥ २७ ॥
प्रणवं परमात्मानं जपेदयुतमादरात् । द्विजस्त्रीगमने भिक्षुरवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ २८ ॥
अन्यासु बुद्धिपूर्वं चेत्तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् । हत्वा वैश्यं च राजानं ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ॥ २९ ॥

कृच्छ्रं सांतपनमिति । तल्लक्षणमाह याज्ञवल्क्यः—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रं चोपवसेत्कृच्छ्रं सांतपनं भवेत्' इति ॥ १९ ॥

॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

बहन या पुत्री से समागम का प्रायश्चित्त है सांतपन कृच्छ्र ॥ १९ ॥

भाभी से समागम का प्रायश्चित्त है चार बार चान्द्रायण व्रत करना । ब्राह्मण ऐसा करने से पापमुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

भुआ या मामा की लड़की से चाहकर या अनचाहे समागम हो जाये तो प्रायश्चित्त रूप से चान्द्रायण करना चाहिये ॥ २१ ॥ (भानजीगमन का पूर्व में भी प्रायश्चित्त कहा है । अतः वह चाहकर किये समागम का और इसे अनचाहे हुए समागम का प्रायश्चित्त समझना चाहिये ।)

इनसे भिन्न किसी स्वपत्नीतर ब्राह्मण स्त्री से (ब्राह्मण का) समागम हो जाये तो उस दोष की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त है तप्त कृच्छ्र ॥ २२ ॥ ब्राह्मण ने यदि क्षत्रिय या वैश्य स्त्रियों से समागम किया हो तो कृच्छ्र प्रायश्चित्त है । अन्य स्त्रियों से तीन बार समागन करने पर कृच्छ्र प्रायश्चित्त है ॥ २३ ॥

ब्रह्मचारी यदि किसी स्त्री से समागम कर ले तो एक साल तक गधे की खाल ओढ़कर अपना पाप बताते हुए भिक्षा लेकर रहे व रोज़ तीन बार नहाये । अगर अनचाहे समागम किया हो तो इस प्रकार छह महीने तक करना चाहिये ॥ २४–२५ ॥ यदि अग्निकार्य छूट जाये या रेतउत्सर्ग हो जाये तो स्नान कर प्रणव तथा व्याहृतियों सहित सशिरा गायत्री का मौन हो दस हज़ार बार जप करना चाहिये ॥ २६½ ॥ संन्यासी का यदि शुक्रत्याग हो जाये तो स्नान से शुद्धि होती है । स्नान के बाद परमात्मवाचक प्रणव का दस हज़ार जप कर लेना चाहिये ॥ २७½ ॥ ब्राह्मण स्त्री से समागम कर ले तो संन्यासी प्रायश्चित्त रूप में अवकीर्णीव्रत का पालन करे । (मनुस्मृति में (११.११८–१२३) इस व्रत का वर्णन है) ॥ २८ ॥ संन्यासी ने ब्राह्मणेतर स्त्रियों से समागम किया हो तो तप्तकृच्छ्र करना चाहिये ॥ २८½ ॥

ब्राह्मण ने यदि क्षत्रियवध किया हो तो छह महीने तक वही व्रत करना चाहिये जो ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त रूप से बताया

---

१. क. ग. °सेयाग° । २. घ. चरेद्बुधः । ३. ग. कुर्यात्स्नात्वा ।

क्रमान्मासत्रयं पूर्वं[1] षाण्मासिकमनन्तरम् । ब्राह्मणस्तु विमुच्येत शूद्रं हत्वाऽर्धमासतः ॥ ३० ॥
विहिताकरणे तद्वत्प्रतिषिद्धातिसेवने । वेदविप्लावने चैव गुरुद्रोहेऽन्यकर्मणि ॥ ३१ ॥
तप्तकृच्छ्रं चरेत्तेन मुच्यते सर्वदोषतः । अथ वा सर्वपापानां विशुद्ध्यर्थं समाहितः ॥ ३२॥
कुर्वञ्शुश्रूषणं नित्यं वेदान्तज्ञानभाषिणाम् । श्रद्धाविनयसंयुक्तः शान्तिदान्त्यादिसंयुतः ॥ ३३ ॥
यावज्ज्ञानोदयं तावद्वेदान्तार्थं नि[2]रूपयेत् । नास्ति ज्ञानात्परं किंचित्पापकान्तारदाहकम् ॥ ३४ ॥
मासमात्राद्विनश्यन्ति क्षुद्रपापानि सुव्रत । षण्मासश्रवणात्सर्वं नश्यत्येवोपपातकम् ॥ ३५ ॥
महापातकसंघाश्च नित्यं वेदान्तसेवनात् । नश्यन्ति वत्सरात्सर्वे सत्यमुक्तं बृहस्पते ॥ ३६ ॥
यः श्रद्धया युतो नित्यं वेदान्तज्ञानमभ्यसेत् । तस्य संसारविच्छित्तिः श्रवणादिति हि श्रुतिः ॥ ३७ ॥
एवमभ्यसतस्तस्य यदि विघ्नोऽभिजायते । सर्वलोकान्क्रमाद्भुक्त्वा भूमौ विप्रोऽभिजायते[3] ॥ ३८ ॥
सर्वलक्षणसंपन्नः शान्तः सत्यपरायणः । पुनश्च पूर्वभावेन विद्वांसं पर्युपासते ॥ ३९ ॥

॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

नास्ति ज्ञानादिति । उक्तं गीतासु–'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' ॥ इति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

यः श्रद्धयेति । श्रवणाच्छब्द[4]शक्तितात्पर्यावधारणन्यायानुसंधानमुखेन वेदान्तज्ञानमभ्यसेत् । तस्य संसारविच्छित्तिरित्यस्मिन्नर्थे श्रुतिरस्तीत्यर्थः । सा चेयम्–'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' इति ॥ ३७ ॥

एवमभ्यसत इति । अर्जुनं प्रति भगवतोक्तम्–'प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इति ॥ ३८ ॥

पुनश्चेति । 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' इति । पर्युपासते । पर्युपास्ते शपो लुगभावश्छान्दसः ॥ ३९ ॥

गया है। ऐसे ही वैश्यवध के लिये तीन महीने तक और शूद्रवध के लिये पन्द्रह दिन तक ही व्रत रखने से प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ २९–३० ॥

विहित कर्म न करने का, प्रतिषिद्ध कर्म कर लेने का, वेदविरोध करने का, गुरुद्रोह करने का तथा ऐसे अन्य कर्मों का प्रायश्चित्त है तप्तकृच्छ्र। अथवा सभी पापों से छूटने के लिये श्रद्धा, विनय, शम, दम आदि से युक्त हो वेदान्तोपदेशक की प्रतिदिन सेवा करे और जब तक ब्रह्मात्मसाक्षात्कार न हो जाये तब तक वेदान्त के अर्थ का श्रवण मनन निदिध्यासन करता रहे। ज्ञान से अधिक शक्तिशाली कुछ नहीं है जो पापों को निवृत्त कर सके ॥ ३१–३४ ॥ एक महीने के वेदांत-श्रवण से क्षुद्रपाप निवृत्त हो जाते हैं। छह महीने वेदान्तश्रवण करने से उपपातक नष्ट हो जाते हैं। एक वर्ष तक नित्य वेदान्त का श्रवणादि करने से महापातक नष्ट हो जाते हैं। (ब्रह्महत्यादि पाँच महापाप हैं। गोवध आदि उपपातक हैं। (द्र. मनु ११.५४–६६)। अस्पृश्यस्पर्शादि क्षुद्र पाप समझने चाहिये।) ॥ ३५–३६ ॥

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक नित्य वेदान्तज्ञान का श्रवणादिरूप अभ्यास करता है उसे उस श्रवण के प्रताप से संसार से मोक्ष मिल जाता है यह श्रुति की घोषणा है ॥ ३७ ॥ यदि यों अभ्यास करते हुए उसके ज्ञानलाभ में कोई विघ्न आ जाये तो मरकर वह उत्तम लोकों को भोगकर पृथ्वी पर ब्राह्मणकुल में जन्म पाता है तथा उत्तम लक्षणों वाला हुआ शांत और सत्यनिष्ठ होकर

---

१. क. ख. ग. °र्वं षण्मा° । २. ङ. निवेदयेत् । ३. आरब्धसाधनस्य जन्मत्रयादूर्ध्वं संसारो न तिष्ठतीति गीताविवरणेषु साम्प्रदायिकानामुक्तिः । ४. क. ग. ङ. °ब्दता° ।

तत्संपर्कात्स्वमात्मानमपरोक्षीकृतो मुनिः । स्वप्नादिव विमुच्येत स्वसंसारमहोदधेः ॥ ४० ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्वमुक्त्यर्थं बृहस्पते । सर्वदा सर्वमुत्सृज्य वेदान्तश्रवणं कुरु ॥ ४१ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे प्रायश्चित्तविधिनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि दानधर्मफलं मुने । सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं परं स्मृतम् ॥ १ ॥
[1]विद्यया प्राणिनां मुक्तिस्तस्मा[2]त्तद्दानमुत्तमम् । भूमिदानं च गोदानमर्थदानं तथैव च ॥ २ ॥
कन्यादानं च मुख्यं स्यादन्नदानं तथैवच । धनधान्यसमृद्धां यो भूमिं दद्याद्द्विजाय सः ॥ ३ ॥
इह लोके सुखी भूत्वा प्रेत्य चाऽऽनन्त्यमश्नुते । अरत्निमात्रां[3] वा भूमिं दद्याद्ब्रह्मविदे नरः ॥ ४ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः संसारमतिवर्तते । विनीतायोपसन्नाय विप्राय श्रद्धया युतः ॥ ५ ॥
यो दद्याद्वैदिकीं विद्यां न स भूयोऽभिजायते । यतये श्रद्धया नित्यमन्नं दद्याद्यथाबलम् ॥ ६ ॥

अपरोक्षीकृत इति । संपदादित्वाद्भावे क्विप् । आत्मानं प्रति यदपरोक्षीकरणं तस्मादित्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे प्रायश्चित्तविधिनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

उक्तप्रायश्चित्तैः[4] परिहृतप्रतिबन्धकपापजालस्य पुरुषस्य यैर्यैर्दानैर्धर्मैश्च यानि यानि फलानि प्राप्यन्ते तानि तानि वक्तुं प्रतिजानीते–अथात इति । यतः प्रतिबन्धकापगमे सत्येव साधनं स्वकार्ये समर्थमतः प्रायश्चित्तानन्तरमित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥

विनीतायो[5]पसन्नायेति । श्रूयते हि–'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय [6]शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' इति ॥ विप्रायेति त्रैवर्णिकोपलक्षणम् । विद्याग्रहणाधिकारविभागो हि गतखण्डसप्तमाध्याये

पुनः वेदान्ताभ्यास में ही तत्पर होता है एवं वेदान्त के संपर्क से निज आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार कर संसारसागर से वैसे ही पार हो जाता है जेसे स्वप्न में जल में डूबता व्यक्ति जग जाने के कारण डूबने से बच जाता है ॥ ३८–४० ॥ अतः हे बृहस्पति ! अपनी मुक्ति के लिये अन्य सब कुछ छोड़कर पूरे प्रयत्न से हर समय वेदान्तश्रवण करो ॥ ४१ ॥

दानधर्म के फल का कथन नामक आठवाँ अध्याय

(क्योंकि प्रतिबन्धक हट जाने पर ही साधन अपने फल को उत्पन्नकर पाता है इसलिये प्रतिबंधकीभूत पापों के निवर्तक प्रायश्चित्तों को बताकर) भगवान् ने आगे कहा–हे मुनि ! अब मैं दान व धर्म के फलों को बताऊँगा । सभी दानों में विद्यादान सर्वश्रेष्ठ है ॥ १ ॥ क्योंकि विद्या से प्राणी मोक्ष पाते हैं इसलिये उसके दान की श्रेष्ठता है । अन्य दानों में मुख्य हैं भूमिदान, गोदान, धनदान, कन्यादान तथा अर्थदान ॥ २½ ॥ जो व्यक्ति धनधान्य से भरपूर भूमि ब्राह्मण को दान करता है वह इस लोक में सुख पाकर परलोक में भी आनन्त्य प्राप्त करता है । जो व्यक्ति किसी वेदज्ञ ब्राह्मण को हाथभर ज़मीन भी दान कर देता है वह सब पापों से छूटकर संसार से पार हो जाता है ॥ ३–४½ ॥

विनययुक्त तथा जिज्ञासापूर्वक निकट आये ब्राह्मण को जो सादर वैदिक विद्या प्रदान करता है उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ५½ ॥ जो व्यक्ति संन्यासी को रोज़ यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक अन्न देता है वह ब्रह्मलोक पाता है और पृथ्वी पर पुनः

---

१. आन्वीक्षिक्यादिभेदभिन्नाश्चतस्रो विद्याः, विद्याश्चतुर्दशेत्यादि पुराणोक्ते नव पंच विद्याः, उपवेदसहिता अष्टादशविद्या इति विद्यापदस्यानिर्धारितार्थकत्वे पराविद्यैवेह विवक्षिता नेतरा अमोक्षफलकत्वात्तासामित्याह–विद्ययेति । साधनतयाऽपरविद्यापीह बोध्या तस्याः परविद्याद्वारा मोक्षहेतुत्वात् । २. ङ. °स्माद्दानमनुत्तमम् । ३. 'मध्यांगुलिकूर्परयोर्मध्ये प्रामाणिकः करः । बद्धमुष्टिकरो रत्निररत्निः सकनिष्ठिकः ॥' इति हलायुधे । ४. ख. °त्तैः प्र° । ५. ग. ङ. °पसंपन्ना° । ६. क. दमान्विताय । घ. समन्विताय ।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति न पुनर्जायते भुवि । मठं वा यतये दद्यान्न स भूयोऽभिजायते ॥ ७ ॥
अमावास्यां मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मणायानसूयवे । अन्नं दद्या[1]न्महादेवं समुद्दिश्य समाहितः ॥ ८ ॥
सोऽक्ष[2]यं फलमाप्नोति महादेवसमो भवेत् । यस्तु कृष्णचतुर्दश्यां श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ॥ ९ ॥
आराधयेद्द्विजमु[3]खे महादेवं स मुच्यते । त्रयोदश्यां तथा स्नात्वा ब्राह्मणं भोजयेन्मुदा ॥ १० ॥
ब्रह्मलोकमवाप्नोति ब्रह्मणा सह मुच्यते । द्वादश्यां तु द्विजः स्नात्वा विष्णुमुद्दिश्य भक्तितः ॥ ११ ॥
ब्राह्मणाय विनीताय दद्यादन्नं समाहितः । सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ १२ ॥
एकादश्यामुपोष्यैव द्वादश्यां पक्षयोरपि । वासुदेवं समुद्दिश्य ब्राह्म[4]णान्भोजयेन्नरः ॥ १३ ॥
सप्तजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति । दशम्यामिन्द्रमुद्दिश्य यो दद्याद्ब्राह्मणे शुचौ ॥ १४ ॥
अन्नं वा तण्डुलं वाऽपि स देवेन्द्रमवाप्नुयात् । नवम्यां धर्मराजानमुद्दिश्य ब्राह्मणे शुचौ ॥ १५ ॥
अन्नं दद्याद्यथाशक्ति धर्मराजः प्रसीदति । अष्टम्यां शंकरं पूज्य ब्राह्म[5]णं भोजयेन्नरः ॥ १६ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् । सप्तम्यां चन्द्रमुद्दिश्य ब्राह्मणान्भोजयेद्द्विजः ॥ १७ ॥
चन्द्रलोकमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा. । षष्ठ्यामादित्यमुद्दिश्य ब्राह्मणा[6]नेव भोजयेत् ॥ १८ ॥
सूर्यलोकमवाप्नोति सुखमक्षय्यमश्नुते । पञ्चम्यां पार्वतीं विप्रानुद्दिश्यान्नेन भोजयेत् ॥ १९ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात् । चतुर्थ्यां ब्राह्मणाञ्शुद्धाल्लँक्ष्मीमुद्दिश्य भोजयेत् ॥ २० ॥

'निवृत्तिधर्मनिष्ठस्तु ब्राह्मणः' इत्यत्रोपवर्णित इति ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

तिथिदेवताविशेषेणान्नदानफ[7]लान्याह—अमावास्यामित्यादिना । अमावास्यायाम् । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

उत्पन्न नहीं होता । जो संन्यासी को मठ दान करता है वह भीं पुनः बंधन में नहीं पड़ता ॥ ६—७ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! अमावास्या के दिन महादेव की प्रसन्नता के लिये असूयारहित ब्राह्मण को अन्न देने से अक्षय फल मिलता है ॥ ८¹/₂ ॥ कृष्णपक्षीय चतुर्दशी को जो श्रद्धाभक्ति समेत ब्राह्मण को भोजन कराकर महादेव की आराधना करता है वह मोक्ष पा लेता है ॥ ९¹/₂ ॥ त्रयोदशी को स्नान कर ब्राह्मणभोजन कराने से ब्रह्मलोक मिलता है व कल्पांत में मोक्ष भी मिलता है ॥ १०¹/₂ ॥ द्वादशी को स्नानकर विष्णुप्रीत्यर्थ विनीत ब्राह्मण को अन्न देने से सब पापों से छूटकर विष्णु लोक जाता है ॥ ११—१२ ॥ दोनों पक्षों की एकादशी को व्रत रख द्वादशी को विष्णुप्रसन्नतार्थ (कम से कम तीन) ब्राह्मणों को भोजन कराने से सात जन्मों के पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ १३¹/₂ ॥ दशमी को जो शुद्ध ब्राह्मण को इन्द्रप्रीत्यर्थ कोई अन्न या विशेषतः चावल का दान करता है वह इंद्र को प्राप्त होता है ॥ १४¹/₂ ॥ नवमी को धर्मराज की प्रसन्नता के लिये शुद्ध ब्राह्मण को यथाशक्ति अन्न देने से धर्मराज प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १५¹/₂ ॥ अष्टमी को शिवपूजन कर ब्राह्मण को भोजन कराने से सब पापों से छूटकर शिव का सायुज्य प्राप्त कर लेता है ॥ १६¹/₂ ॥ सप्तमी को चन्द्रप्रीत्यर्थ ब्राह्मणों को भोजन कराने से अवश्य ही चंद्रलोक की प्राप्ति होती है ॥ १७¹/₂ ॥ षष्ठी को सूर्यप्रीत्यर्थ ब्राह्मणों को भोजन कराने से सूर्य लोक की प्राप्ति और अक्षयसुख मिलता है ॥ १८¹/₂ ॥ पंचमी को पार्वती की प्रसन्नता के लिये ब्राह्मणों को अन्नयुक्त भोजन कराने से सब पापों का क्षय और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ १९¹/₂ ॥ चतुर्थी को लक्ष्मीप्रीत्यर्थ शुद्ध ब्राह्मणों को भोजन कराये । ऐसा करने से सारी दरिद्रता हटाकर महालक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ २०¹/₂ ॥ तृतीया को स्नानकर जो ब्राह्मणों को एकबार भी भोजन करा

१. यस्मिन्वस्तुनि स्वस्वत्वमस्ति तस्यैव दानं यत्र स्वस्वत्वमेव नास्ति तत्र देयम् । अयं मत्तः श्रेयानिति धिया दातव्यम् । स्वाश्रितानां भागमपहृत्यापि न दातव्यम् । अन्नवस्त्रयो र्विना पात्रं परीक्ष्य दानमुचितम् । अन्यच्च मयूखादौ दर्शनीयम् । २. क. °क्षय्यं फ° । ३. ङ. °मुखैर्महा° । ४. क. ख. ग. घ. °ह्मणं भोज° । ५. ङ. °ह्मणं पूज° । ६. °णान्भोजयेद्द्विजः ॥ १८ ॥ सू° । ७. ग. °फलमाह ।

दारिद्र्यं सकलं त्यक्त्वा[1] महालक्ष्मीमवाप्नुयात् । तृतीयायां द्विजः स्नात्वा ब्राह्मणान्भोजयेत् सकृत् ॥ २१ ॥
तस्य ब्रह्मा हरिश्चापि महादेवो वशो भवेत् । द्वितीयायां विशुद्धायां ब्राह्मणान्भोजये[2]न्नरः ॥ २२ ॥
तस्य वाचि सदा वेदा नृत्यन्ति स्म महामुने । सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात् ॥ २३ ॥
प्रथमायां पवित्रायां परब्रह्मार्पणं द्विजः । यो ब्राह्मणमुखे कुर्याच्छ्रद्धाभक्तिसमन्वितः ॥ २४ ॥
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माप्येति सनातनम् । ब्राह्मणाय मुदा दद्याच्छुक्लां गामुत्तमां नरः ॥ २५ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षाद् ब्रह्म स गच्छति । यो दद्यात्कन्यकां शुद्धां ब्राह्मणाय विभूषिताम् ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोकं स गच्छति ॥ २६ ॥
येन केन प्रकारेण यं यं देवं समर्चयेत् । तं तं देवं समाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ २७ ॥
यं यं कामयते लोकं तं तमुद्दिश्य भक्तिमान् । आत्मज्ञं ह्यर्चयेन्नित्यमात्मज्ञमिति हि श्रुतिः ॥ २८ ॥
कृमिकीटपतङ्गेभ्यः श्रेष्ठाः पश्वादयस्तथा । पश्वादिभ्यो नराः श्रेष्ठा नरेभ्यो ब्राह्मणास्तथा ॥ २९ ॥
ब्राह्मणेभ्योऽथ विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्तारस्तेभ्यः संन्यासिनो वराः ॥ ३० ॥
तेषां कुटीचकाः श्रेष्ठा बहूदकसमाश्रिताः । बहूदकाद्वरो हंसो हंसात्परमहंसकः ॥ ३१ ॥
परहंसादपि श्रेयानात्मविन्नास्त्यतोऽधिकः । तस्मादात्मविदः पूज्याः सर्वदा सर्वजन्तुभिः ॥ ३२ ॥

पक्षयोरपीति । यत्तु 'शुक्लामेव सदा गृही' इति तद् गृहस्थोऽपि शुक्लां शुद्धां कामानुपहतामिति हि व्याचक्षते । यदाहुः– "सकामानां गृहस्थानां काम्यव्रतनिषेधनात्" इति ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥ २४ ॥

स सर्वसमतामिति । 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः' इति गीतासु ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

आत्मज्ञमिति हि श्रुतिरिति । मुण्डकोपनिषदि–'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः' इति ॥ २८ ॥

तस्मादात्मविदः पूज्या इति यदुक्तं त[3]त्र हेतुत्वेनाऽऽत्मविद्यायाः सर्वतः प्राशस्त्यमाह–कृमिकीटेत्यादिना । मनुरप्याह–'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणास्तथा ॥ ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥ ब्रह्मविद्भ्यः परं किंचिन्न भूतं न भविष्यति' ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

देता है, ब्रह्मा विष्णु महेश उसपर विशेष दया करते हैं ॥ २१½ ॥ विशुद्ध (शुक्लपक्षीय) द्वितीया को जो व्यक्ति ब्राह्मणों को भोजन कराता है उसे वेद उपस्थित हो जाते हैं । वह पापों से मुक्त होकर सम्यग्ज्ञान पा लेता है ॥ २२–२३ ॥ जो व्यक्ति पवित्र प्रथमा तिथि को (प्रतिपदा को) ब्राह्मणों को भोजन कराता है वह सबमें समदृष्टि तथा मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २४½ ॥ ब्राह्मण को शुक्ल गाय देने से सब पाप निवृत्त होते हैं व ब्रह्मप्राप्ति होती है ॥ २५½ ॥ जो ब्राह्मण को कन्यादान करता है वह भी सब पापों से छूटकर शिवलोक प्राप्त करता है ॥ २६½ ॥ जिस किसी प्रकार से जिस देवता की आराधना करे, फलस्वरूप उस देवता की प्राप्ति होती है इसमें कोई शंका नहीं ॥ २७ ॥ चाहे जिस लोक की प्राप्ति चाहे, आत्मज्ञानी की अर्चना से वे सब मिल जाते हैं ऐसा श्रुति ने बताया है ॥ २८ ॥ कृमि, कीट, पतंग आदि से पशु श्रेष्ठ हैं । विद्वानों में वे श्रेष्ठ हैं जिन्हें कृतकृत्यता का निश्चय हो चुका है । उनमें भी वे श्रेष्ठ हैं जो निश्चय होने के बाद यज्ञादि करते रहते हैं । उनकी अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं जिन्होंने कृतकृत्यता का निश्चय कर कर्मों का सन्न्यास कर दिया है । संन्यासियों में क्रमशः कुटीचक, बहूदक, हंस व परमहंस श्रेष्ठ हैं । परमहंस से भी वह श्रेष्ठ है जिसे अप्रतिबद्ध आत्मसाक्षात्कार है । इससे श्रेष्ठ और कोई नहीं । अतः सब जंतुओं को सदा जीवन्मुक्त की सेवा करनी चाहिये ॥ २९–३२ ॥

---

१. ङ. °भित्त्वा° । २. क. ख. °यद्देद्विजः । ३. क. ख ग. ङ. तच्च । ४. ङ. कृतनिश्चयाः ।

ब्रह्मवर्चसकामस्तु ब्रह्माणं पूजयेन्नरः । आरोग्यकाम आदित्यं बलकामः समीरणम् ॥ ३३ ॥

कीर्तिकामोऽनलं तद्वन्मेधाकामः सरस्वतीम् । ज्ञानकामो महादेवं सिद्धिकामो विनायकम् ॥ ३४ ॥

भोगकामस्तु शशिनं मोक्षकामस्तु शंकरम् । वैराग्यकामो विद्वांसं पुष्टिकामः शचीपतिम् ॥ ३५ ॥

व्रतान्याचरतः श्रद्धाभक्तिभ्यां[1] संयतः शुचिः । क्षीयन्ते पापकर्माणि क्षीयन्तेऽस्येति[2] हि श्रुतिः ॥ ३६ ॥

ज्योतिष्टोमादिकं कर्म यः कुर्याद्विधिपूर्वकम् । स देवत्वमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ३७ ॥

यः श्रद्धया युतो नित्यं शतरुद्रियमभ्यसेत् । अग्निदाहात्सुरापानादकृत्याचरणात्तथा ॥ ३८ ॥

मुच्यते ब्रह्महत्याया इति कैवल्यशाखिनः । शतशाखागतं साक्षाच्छतरुद्रिय[3]मुत्तमम् ॥ ३९ ॥

तस्मात्तज्जपमात्रेण सर्वपापात्प्रमुच्यते । चमकं च जपेद्विद्वान्सर्वपापप्रशान्तये ॥ ४० ॥

सहस्रशीर्षासूक्तं च शिवसंकल्पमेव च । जपेत्पञ्चाक्षरं चैव सतारं तारणक्षमम् ॥ ४१ ॥

त्रिःसप्तकुलमुद्धृत्य शिवलोके महीयते । तत्र नानाविधान्भोगान्भुक्त्वा कर्मपरिक्षयात् ॥ ४२ ॥

तिथिभेदेन देवताभेदाः प्रागुक्ताः । कामनाभेदेन तानाह—ब्रह्मवर्चसकाम इत्यादिना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

क्षीयन्तेऽस्येति हि श्रुतिरिति । कठवल्लीषु हि श्रूयते—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

कैवल्यशाखिन इति । श्रूयते हि कैवल्योपनिषदि—'यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति, सुरापानात्पूतो भवति, ब्रह्महत्यायाः[4] पूतो भवति, कृत्याकृत्यात्पूतो भवति' इति । साक्षात्प्रत्यक्षभूता याः शतसंख्याका अध्वर्युशाखास्तासु सर्वासु गतमित्यर्थः । शतं रुद्रा देवता अस्येत्यर्थे 'शतरुद्राद्घश्च' इति घः । शतं सहस्रमित्यपरिमितपर्यायाः 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' इति हि श्रूयते ॥ ३९ ॥

चमकं चेति । वसोर्धाराम् 'अग्नाविष्णू सजोषसे' इत्यादिकाम् ॥ ४० ॥

शिवसंकल्पम् । 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्' इत्यादिकम् ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

ब्रह्मतेज की कामना हो तो ब्रह्मा की पूजा करे । आरोग्य की इच्छा से सूर्य की और बलप्राप्ति के लिये वायु की पूजा करनी चाहिये ॥ ३३ ॥ कीर्ति चाहने वाला अग्नि की, मेधा चाहने वाला सरस्वती की, ज्ञान चाहने वाला महादेव की, सिद्धियाँ चाहने वाला गणेश की, भोग चाहने वाला चंद्र की, मोक्ष चाहने वाला शंकर की, वैराग्य चाहने वाला आत्मज्ञ की और पुष्टि चाहने वाला इंद्र की पूजा करे ॥ ३४—३५ ॥

श्रद्धा-भक्ति से व्रतों का संयम और शुद्धता पूर्वक अनुष्ठान करने से पाप क्षीण होते हैं यह श्रौत सिद्धांत है ॥ ३६ ॥ विधि के अनुसार ज्योतिष्टोमादि करने से देवरूपता मिलती है यह निश्चित है ॥ ३७ ॥ जो श्रद्धा से नित्य शतरुद्रिय का पाठ करता है वह अग्निदाह, सुरापान, अकृत्य के आचरण और ब्रह्महत्या से छूट जाता है ऐसा कैवल्योपनिषत् में बताया है । यजुर्वेद की सौ शाखायें हैं उन सभी में उपलब्ध रुद्राध्याय अत्युत्तम है । अतः उसके जप से ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ३८—३९$^1/_2$ ॥ सब पापों की शांति के लिये चमकाध्याय का पाठी भी करना चाहिये ॥ ४० ॥ पुरुषसूक्त, शिवसंकल्पसूक्त तथा प्रणवसहित पंचाक्षर मंत्र के जप से इक्कीस पीढ़ियों का उद्धारकर शिवलोक में प्रतिष्ठित होता है । वहाँ नाना भोगों को भोगता है । कर्मक्षीण होने पर पृथ्वी पर जन्म होता है । पुनः पुण्य या पाप करता है और फिर फल पाने के लिये लोकांतर को चल देता है । इस प्रकार जन्म-मृत्यु का प्रवाह शिवात्मतत्त्वज्ञान के बिना चलता ही रहता है ॥ ४१—४३ ॥

---

१. अश्रद्धया कृतं नेह फलति नवामुत्रेति भागवतं मतम् । अत्र भक्तेर्विशेषउच्यते । भक्तिः प्रेमा । तं विना श्रद्धासत्त्वेपि रुच्या न क्रियत इति नोत्तमं फलं जायत इत्युभयोर्ग्रहणम् । २. घ. °ति वै श्रु° । ३. क. ख. °यमद्भुतम् । ४. ख. ग. °त्यात्पूतो ।

भूलोके जायते पुण्यं पापं वा कुरुते पुनः । यावज्ज्ञानोदयं [1]तावज्जायते म्रियतेऽपि च ॥ ४३ ॥
असुखे सुखमारोप्य[2] विषयेऽज्ञानतो नरः । करोति सकलं कर्म तत्फलं चावशोऽश्नुते ॥ ४४ ॥
अहो मायावृतो लोकः स्वात्मानन्दमहोदधिम् । विहाय विवशः क्षुद्रे रमते किं वदामि तम् ॥ ४५ ॥
तस्मान्मायामयं भोगमसारमखिलं नरः । विहाय विमलं नित्यमात्मानन्दं समाश्रयेत् ॥ ४६ ॥
सर्वसंग्रहरूपेण सस्नेहं सम्यगीरितम् । तस्मात्त्वं सकलं त्यक्त्वा स्वात्मानन्दे कुरु श्रमम् ॥ ४७ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे दानधर्मफलकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि पापकर्मफलं मुने । खरोष्ट्रसूकराजाविगजाश्वमृगपक्षिणाम् ॥ १ ॥
च[3]ण्डालपुल्कसत्वं[4] च प्राप्नोति ब्रह्महा क्रमात् । दस्यूनां विड्भुजां योनिं पक्षिणां च तथैव च ॥ २ ॥
क्रिमिकीटपतङ्गानां सुरापः प्राप्नुयाद्द्विजः । राक्षसानां पिशाचानां चोरो याति सहस्रशः ॥ ३ ॥
क्रव्याददंष्ट्रिणां योनिं तृणादीनां तथैव च । क्रूरकर्मरतानां च प्राप्नोति गुरुतल्पगः ॥ ४ ॥
ब्राह्मणस्य धनं क्षेत्रमपहृत्य नराधमः । ब्रह्मराक्षसतां याति शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५ ॥

यावज्ज्ञानोदयमिति । ज्ञानमुदेति यस्मिन् दिने तज्ज्ञानोदयं तद्यावदायाति तावदित्यर्थः ॥ ४३ ॥ अज्ञानत इत्यारोपे हेतुः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे दानधर्मफलकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

स्वर्गापवर्गसाधने विहिते धर्मज्ञाने उपादानायाभि[5]धाय, हानाय निषिद्धं कर्माभिधातुं प्रतिजानीते—अथात इति । यतो हि विहितकारिणामपि निषिद्धापरित्यागे नरकः, अतो विहिताभिधानानन्तरं हानाय निषिद्धमुच्यत इत्यर्थः । बहुतरनरकोपभोगानन्तरं शेषेण खरोष्ट्रादिजन्मप्राप्तिः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

जो विषय सुखात्मक नहीं है उन्हें सुख या सुख का कारण मानकर ही मनुष्य रागादि के परवश हुआ सब कर्म करता है । सुखहीन को सुख इसीलिये मानता है कि वह अपनी वास्तविकता को; चिदानन्दघनता को जानता नहीं ॥ ४४ ॥ अहो ! कितने कष्ट की बात है । माया से मोहित लोग आनन्दसागररूप स्वयं को छोड़कर क्षुद्र स्त्री आदि विषयों में रमण करते हैं । ऐसे मूर्खों को क्या कहूँ ? ॥ ४५ ॥ इसलिये मायामय असार भोगों को छोड़कर निर्मल सनातन आनंदरूप शिवात्मा का भजन करना चाहिये ॥ ४६ ॥ स्नेहपूर्वक सारी बात तुम्हें बता दी हैं अतः तुम सब छोड़कर स्वात्मानन्द प्राप्ति के लिये यत्न करो ॥ ४७ ॥

पापकर्मों के फलों का निरूपण नामक नवा अध्याय

(विहितानुष्ठान करने पर भी यदि पापाचार करा जाये तो नरक निश्चित है इसलिये कल्याणेच्छु को दुःखफलक पापों से बचना चाहिये । इस अभिप्राय से छोड़ने योग्य कुछ पापों का परिचय कराने के लिये) श्रीभगवान् ने कहा—हे मुनि ! अब मैं पाप कर्मों का फल बताऊँगा (जिस कष्टफल से डरकर उसके साधनभूत पाप से दूर रहा जाये) ।

ब्रह्महत्यारा (बहुतेरे नरक भोगने के बाद) क्रमशः गधा, ऊँट, सुअर, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़ा, हरिण तथा पक्षियों की योनि से होकर चाण्डाल और अन्त में पुल्कस शरीर प्राप्त करता है ॥ १½ ॥ सुरापान करने वाला ब्राह्मण इन योनियों को पाता है—दस्यु (सर्वकर्मबहिष्कृत मनुष्य), गाँव के सुअर, पक्षी, क्रिमि, कीट, तथा पतंगा ॥ २½ ॥ स्वर्ण का चोर हज़ारों बार राक्षसों व पिशाचों की योनि प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ गुरुपत्नी से समागम करने वाला मांसभक्षी जानवरों की व तृणभक्षी जानवरों की योनियों से होकर क्रूरकर्मा जातियों में जन्म लेता है ॥ ४ ॥ जो नराधम किसी ब्राह्मण के धन या क्षेत्र (खेत या स्त्री) को चुराता है वह अनेक बार ब्रह्मराक्षस बनता है ॥ ५ ॥ धान्य-चोर चूहा बनता है और जल-चोर मेंढक । काँसा-चोर

१. क. ख. ग. घ. ङ. °दयस्ताव° । २. एतदशुच्यादौ शुचित्वाद्यारोपस्योपलक्षणम् । शोभनाशोभनाध्यासौ प्रवर्तकनिवर्तकौ अनात्मधीस्तयोर्मूलं तस्मात्सा पातकं परं, हानिश्च तस्या विद्यायाः सा पापविनिवर्तिनी महीकरोति तामेवं कृपया शंकरो गुरुरिति ध्येयम् । ३. चाण्डा° । ४. अनयोः स्वरूपं पूर्वं (१.१२.२५–२६) न्यरूपि । ५. °भिधाना° ।

धान्यचोरो भवेदाखुर्जलं हृत्वा प्लवो भवेत् । कांस्यं हृत्वा भवेद्धंसः श्वा रसं नकुलो घृतम् ॥ ६ ॥
पयः काको भवेन्मांसं हृत्वा गृध्रो भवेत्तथा । चक्रवाकस्तु लवणं बकस्तैलापहारतः ॥ ७ ॥
कौशेयं तित्तिरिः[1] क्षौमं हृत्वा दर्दुरसंज्ञकः । पत्रशाखापहारेण बर्हिणः स्युर्नराधमाः ॥ ८ ॥
श्वा[2]ऽन्नं हृत्वा भवेत्पुष्पं मर्कटः स्यात्तथैव च । यानाप[3]हरणादुष्ट्रः पशुं हृत्वा भवेद्गजः[4] ॥ ९ ॥
शवभक्षणतो राजा वैश्यः पूयाशनो भवेत् । श्येनाशनो भवेच्छूद्रो जलूको रक्तपो भवेत् ॥ १० ॥
नैतावताऽलं विप्रेन्द्र पापकर्मफलोदयम् । नरके वर्तनं चास्ति महाघोरेऽतिदारुणे ॥ ११ ॥
हस्तद्वंद्वं दृढं बद्ध्वा ततः शृङ्खलया तथा । क्षिप्यते दीप्तवह्नौ च ब्रह्महाऽऽचन्द्रतारकम् ॥ १२ ॥
अतितप्तायसैर्दण्डैः पीड्यते यमकिंकरैः । प्राणिहिंसापरो गाढं कल्पकोटिशतं मुने ॥ १३ ॥
तप्ततैलकटाहेषु बद्ध्वा हस्तौ पदद्वयम् । क्षिप्यते यमदूतेन तैलचौरो महामुने ॥ १४ ॥
तप्त[5]ताम्रकटाहेषु क्षिप्य मिथ्याभिशंसिनम् । जिह्वामुत्पाटयन्त्याशु बहुशो यमकिंकराः ॥ १५ ॥

प्लव इति । प्लवो मण्डूकः । पचाद्यच् ॥ ६ ॥ ७ ॥

दर्दुरो भेकः ॥ ८ ॥ ९ ॥

शवभक्षणतो राजेति । यो हि राजा न्यायेन प्रजाः परिपालयति स ब्राह्मणादनन्तरं प्रशस्यते । स्मर्यते हि—'श्रेयान्प्रतिग्रहो राज्ञो माऽन्येषां ब्राह्मणादृते' इति । यस्त्वन्यायकारी क्रूरो राजा स[6] उच्यते 'शवभक्षणतो राजे'ति । स हि सूनिचक्रिध्वजिवेश्याभ्योऽपि निकृष्टः स्मर्यते—'प्रतिग्रहे सूनिचक्रिध्वजिवेश्यानराधिपाः ॥ दुष्टा दशगुणं प्रोक्ताः पूर्वादिते यथाक्रमम्' इति । तथा—'दशसूनिसमश्चक्री दशचक्रिसमो ध्वजी ॥ दशध्वजिसमा वेश्या दशवेश्यासमो नृपः' इति । एवं वैश्यशूद्रयोरपि निकृष्टयोरिहाभिधानम् । न्यायवर्ती तु 'शूद्रः साधुः स्त्रियः साधुरि'त्यादिदर्शनं विद्यते । वैश्योऽपि न्यायवर्ती तुलाधारस्तीर्थसेविनो जाजलिब्राह्मणादुत्कृष्टः स्मर्यते । तस्य हि जाजलिं प्रत्येतद्वाक्यम्—'जाजले तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव' इति ॥ १० ॥

पापकर्मणः फलमुदेति यस्मिन्वर्तने तदित्यर्थः । अधिकरण एरच् । तद्वर्तनमेतावता नालमित्यन्वयः ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥

मिथ्याभिशंसिनमिति । अविद्यमानं दोषमारोपयन्तम् ॥ १५ ॥

हंस, पारा-चोर कुत्ता और घी-चोर नेवला बनता है ॥ ६ ॥ दूध-चोर कौआ, मांस-चोर गीध, नमक-चोर चकवा तथा तेल-चोर बगुला बनता है ॥ ७ ॥ रेशम-चोर तीतर, ऊन-चोर मेंढक एवं पत्ते वाले साग चुराने वाला मोर बनता है ॥ ८ ॥ अन्न-चोर कुत्ता; फूल-चोर बन्दर, वाहन-चोर ऊँट और पशुचोर हाथी बनता है ॥ ९ ॥ शवभक्षण करने वाला राजा बनता है, पीप खाने वाला वैश्य बनता है । बाज खाने वाला शूद्र बनता है और रक्त पीने वाला जोंक बनता है । (यहाँ अन्यायकारी राजा तथा नीच कर्मा वैश्य एवं स्वकर्तव्य न करने वाला शूद्र समझना चाहिये अथवा उद्देश्य-विधेय उलटकर श्लोकार्थ समझना चाहिये ।) ॥ १० ॥

इन योनियों की प्राप्ति से ही पाप का फल पूरा नहीं भोग लिया जाता, महाघोर नरकों में भी जाना पड़ता है ॥ ११ ॥ ब्रह्महत्यारे के दोनों हाथ साँकल से बाँधकर उसे आग में बहुत लम्बे समय तक जलाया जाता है । (नरक में मिला शरीर उतने भीषण कष्टों को भोगने लायक होता है अतः भोगकाल पूरा होने के पहले मृत्यु भी नहीं होती ।) ॥ १२ ॥ जो व्यक्ति प्राणियों की हिंसा में तत्पर रहता है उसे नरक में यमकर्मचारी अत्यंत तपे लोहे के डण्डों से लंबे समय तक पीटा करते हैं ॥ १३ ॥ तेल-चोर के हाथ-पैर बाँधकर उसे तपे तेल के कड़ाह में छोड़ देते हैं ॥ १४ ॥ जो व्यक्ति किसी पर झूठा आरोप लगाता है उसकी तुरंत जीभ उखाड़कर स्वयं उसे तपे ताम्बे के कड़ाह में डाल दिया जाता है ॥ १५ ॥ जो व्यक्ति सुरापान में रत रहता

---

१. घ. तैत्तिरिः । २. घ. श्वा वै ह° । ३. क. °पहार° । ४. क. भवेदजः । ५. क. ख. °प्ततैलक° । ६. यद्वा स्वाभाव्येनासात्त्विकतया राजादयो दुष्कृतफलभूताएव । राजर्षीणां पुण्यत्वं तु प्रशंसायै । 'शवभक्षणक' इति मूलटीकयोर्वा. पाठः ।

तप्तताम्रजलं तीक्ष्णैः पिबेत्युक्त्वाऽऽयसायुधैः । छिद्यते यमदूतैस्तु सुरापानरतो नरः ॥ १६ ॥
छित्त्वा छित्त्वा पुनर्दग्ध्वा पिण्डीकृत्य पुनस्तथा । क्षिप्यते पूयपूर्णेऽस्मिन्कटाहे गुरुतल्पगः ॥ १७ ॥
मातरं पितरं ज्येष्ठं गुरुमध्यात्मवेदिनम् । महादेवं तथा वेदं विष्णुं ब्राह्मणमेव च ॥ १८ ॥
आदित्यं चन्द्रमग्निं च वायुं निदन्ति ये नराः । कल्पकोटिशतं दिव्यं पच्यन्ते नरकालये ॥ १९ ॥
यतिहस्ते जलं चान्नं न दत्तं यैर्नराधमैः । इक्षुवत्संप्रपीड्यन्ते मुद्गरैर्मुनिसत्तमाः[1] ॥ २० ॥
पादे चाऽऽस्ये तथा पार्श्वे नाभौ शिश्ने गुदेऽक्षिणि । निखन्यन्ते महातप्तैः शङ्कुभिश्चार्थहारिणः ॥ २१ ॥
अयसा निर्मितां कान्तां सुतप्तां झर्झरीकृताम् । गाढमालिङ्गयते मर्त्यः परदारपरिग्रहात् ॥ २२ ॥
दुश्चारिण्यः स्त्रियश्चापि सुतप्तं पुरुषं तथा । श्रौतस्मार्तविहीना ये निषिद्धाचरणे रताः ॥ २३ ॥
पच्यन्ते नरके तीव्रे कल्पकोटिशतं सदा । ये शिवायतनारामवापीकूपमठादिकम् ॥ २४ ॥
उपद्रवन्ति पापिष्ठा [2]नृपास्तत्र रमन्ति च । व्यायामोद्वर्तनाभ्यङ्गस्नानपानान्नभोजनम् ॥ २५ ॥
क्रीडनं मैथुनं द्यूतमाचरन्ति मदोद्धताः । ते च तद्विविधैर्घोरैरिक्षुयन्त्रादिपीडनैः ॥ २६ ॥
निरयाग्निषु पच्यन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ । वेदमार्गरताचार्यनिन्दां शृण्वन्ति ये नराः ॥ २७ ॥
द्रुतताम्रादिभिस्तेषां कर्ण आपूर्यतेऽनघ ॥ २८ ॥

आचरन्ति प्रकृते देवालयादौ ॥ २६ ॥

निरया नरका एवाग्नयस्तेषु ॥ २७ ॥ २८ ॥

है उसे तपा पिघला ताम्बा पीने को कहा जाता है और लोहे के आयुधों से छेद दिया जाता है ॥ १६ ॥ गुरुपत्नी-समागमी को मारपीट और जलाकर पीप से भरे कड़ाह में डाल देते हैं ॥ १७ ॥ जो लोग माता, पिता, अपने से बड़े, गुरु, अध्यात्मवेत्ता, महादेव, वेद, विष्णु, ब्राह्मण, सूर्य, चंद्र, अग्नि या वायु की निन्दा करते हैं वे दिव्य करोड़ों कल्पों तक नरक में कष्ट पाते हैं ॥ १८—१९ ॥ जिन्होंने कभी संन्यासी को अन्न-जल नहीं भेंट किया उन्हें मुद्गरों से गन्ने की तरह पेरा जाता है ॥ २० ॥ जो दूसरों का धन चुरा लेते या अन्याय से उस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं उन्हें तपे हुए शंकुओं से पैरों में, मुँह में, बगलों में, नाभि में, शिश्न में, गुदा में और आँखों में गोदा जाता है ॥ २१ ॥ जो व्यक्ति दूसरे की पत्नी से विवाह कर लेता है उसे वेश्या के आकार की तपे लोहे से बनी स्त्री का आलिंगन कराया जाता है ॥ २२ ॥ इसी प्रकार दुराचारिणी स्त्रियों को तपे लोहे के पुरुष का आलिंगन कराया जाता है । जो अधिकारी श्रौत-स्मार्त धर्म का पालन न कर निषिद्ध आचरण करते हैं उन्हें सैकड़ों कल्पों तक तीव्र नरक में दुःख भोगना पड़ता है ॥ २३½ ॥

जो लोग शिव-मंदिर में, मंदिर-संबंधी बगीचे, बावड़ी, कूए, मठ आदि में उपद्रव मचाते हैं तथा जो राजा लोग वहाँ रमण, व्यायाम, उबटन लगाना, तेल लगाना, स्नान, भोजन, पान गोष्ठी, खेलकूद, मैथुन, जुआ आदि करते हैं उन्हें नरक में गन्ने की तरह पेरा जाता है और जब तक सूर्य चंद्र हैं तब तक नरकाग्नियों में पकाया जाता है ॥ २४—२६½ ॥ (मंदिर को क्रीडाभूमि नहीं बनाना चाहिये । 'पिकनिक' आदि की दृष्टि से मंदिर-प्रांगण में भोजनादि का निषेध है । तीर्थदृष्ट्या जाकर श्रद्धा से देवता को अर्पितकर प्रसादरूप से शान्तिपूर्वक वहाँ भोजन करने का निषेध नहीं । ऐसे ही क्रीडादि करते हुए स्नान का निषेध है, नियमित स्नान का नहीं । उबटन, तेल आदि तो तीर्थस्नान में कहीं नहीं लगाया जाता अतः मंदिर के जलाशयों में भी उनका निषेध है । मंदिर के आहते में चलते फिरते भी अत्यंत संयम बरतना चाहिये । हाथ में हाथ डालकर तथा अन्य

१. क. ख. म. °त्तम ॥ २० ॥ वा° । २. इतरेषामप्युपलक्षणम् । उपद्रवेण चान्येषां देवापराधानां गणनम् ।

घोराख्ये नरके केचित्पच्यन्ते पापकर्मतः । सुघोराख्ये तथा केचिदतिघोरे च केचन ॥
महाघोराभिधे केचिद्घोररूपे च केचन ॥ २९ ॥
करालाख्ये तथा केचित्तथा केचिद्भयानके । कालरात्रौ महापापास्तथा केचिद्भयोत्कटे ॥ ३० ॥
केचिच्चण्डाभिधे केचिन्महाचण्डाभिधे सदा । चण्डकोलाहले केचित्प्रचण्डायां च[1] केचन ॥ ३१ ॥
तथा पद्माभिधायां च पद्मावत्यां च केचन । तथा केचन भीमायां केचिद्भीषणसंज्ञिते ॥ ३२ ॥
कराले तु तथा केचिद्विकराले च केचन । वज्रे त्रिकोणसंज्ञे च पद्मकोणे च केचन ॥ ३३ ॥
सुदीर्घे वर्तुलाख्ये च सप्तभौमे च केचन । अष्टभौमे च दीप्ते च रौरवे चैव केचन ॥ ३४ ॥
केचिदन्येषु पापिष्ठाः पच्यन्ते विवशा भृशम् । अहो कष्टं महाप्राज्ञ पापकर्मफलोदयम् ॥ ३५ ॥
एवं पापफलं ज्ञात्वा[2] मुने ज्ञानरतो भव । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते मुने ॥ ३६ ॥
अहो ज्ञानं परित्यज्य मायया परिमोहिताः[3] । नरकेषु हि पच्यन्ते स्वप्नकल्पेषु दुःखिताः ॥ ३७ ॥
एवं पापफलं भुक्त्वा[4] महादेवप्रसादतः । पश्चाद्भूमौ विजायन्ते मानुष्ये कर्मसाम्यतः ॥ ३८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे पापकर्मफलनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

घोरसुघोरादयो नरकविशेषाः ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

पापकर्मणां फलमुदेति यस्मिन्नरकजाते तत्पापकर्मफलोदयम् ॥ ३५ ॥

इह जन्मनि जन्मान्तरेषु च कृतस्य पापराशेरु[5]पशमोपायस्य दुर्ज्ञानत्वात्प्रातिस्विकप्रायश्चित्तकरणासंभवात्सकलपापनि[6]र्हरणस्य सुकरमेकमुपायमाह—एवं पापेति ॥ 'परोक्षमात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥ बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥ अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥ संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः' ॥ इति वक्ष्यति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

मानुष्ये मनुष्यलोके । कर्मसाम्यतः पुण्यपापकर्मणोरुभयोरपि युगपत्परिपाके । 'समाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं प्राप्नुयान्नरः' इत्यग्रे वक्ष्यति ॥ ३८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे पापकर्मफलनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

असभ्य या अश्लील प्रकारों से चलना, भद्दे ढंग से एवं चिल्लाकर बातचीत करना, कूड़ा फैलाना, किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाना, स्थान के नियमों का उल्लंघन करना आदि सभी देवापराध हैं जिनसे प्रत्येक को बचना चाहिये) ।

जो व्यक्ति वेदमार्ग पर चलने वालों की एवं आचार्य की निंदा (प्रतीकार किये बिना) सुनते हैं उनके कान पिघले ताम्बे आदि से भर दिये जाते हैं ॥ २७–२८ ॥

कुछ नरकों के ये नाम हैं—घोर, सुघोर, अतिघोर, महाघोर, घोररूप, कराल, भयानक, कालरात्रि, भयोत्कट, चण्ड, महाचण्ड, चण्डकोलाहल, प्रचण्डा, पद्मा, पद्मावती, भीमा, भीषण, कराल, विकराल, वज्र, त्रिकोण, पद्मकोण, सुदीर्घ, वर्तुल, सप्तभौम, अष्टभौम, दीप्त, रौरव ॥ २९–३४ ॥ पापिष्ठ लोग इनमें तथा अन्य नरकों में कष्ट पाते रहते हैं । पाप कर्मों का फल जहाँ भोगा जाता है वे नरक अत्यंत कष्टमय हैं ॥ ३५ ॥

हे मुनि ! पापों के फलों को इस प्रकार दुःखात्मक जानकर इनसे बचते हुए ज्ञानप्राप्ति में लगो । ज्ञानरूप आग ही सब कर्मों को जलाती है ॥ ३६ ॥ अहो खेद है ! माया से मुग्ध हुए लोग ज्ञान को छोड़ देते हैं अतएव पापकर मिथ्याभूत नरकों में दुःखी होते रहते हैं ॥ ३७ ॥ नरकों में यों पापकर्मों का फल भोगकर शिवकृपा से जब उनके पाप व पुण्य लगभग समान होते हैं तब पृथ्वी पर मनुष्य होकर पैदा होते हैं ॥ ३८ ॥

---

१. क. ग. तु । २. जीवता संयमिनाऽपि मनसा वा वाचावा कर्मणा वा कदाचिदिच्छया कदाचिदनिच्छया किंचित्पापं कार्यमेव भवति सर्वारम्भाणां दोषावृतत्वस्मरणात्क्षणमपि चाकुर्वन्न कश्चन तिष्ठतीत्युक्तिः । ततश्च दुःखं फलेदेवेति निश्चयात्ततो भीतो दुःखपरिवर्जनाय ज्ञानाय यतेतेत्यर्थः । ३. आत्माज्ञानमेव महत्तमं पापं ततएव सर्वं दुखमित्यर्थः । ४. परमार्थतः पुण्यस्यापि पापत्वात्स्वर्गादेरपि नरकत्वाच्चेह पापफलमित्यनेनैव पुण्यफलान्यप्युक्तानि ज्ञेयानि । ५. क. °रुपा° । ६. ङ. °निर्बर्हण° ।

दशमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि देहोत्पत्तिं महामुने । शृणु वैराग्यसिद्ध्य[1]र्थमात्मशुद्ध्यर्थमेव च ॥ १ ॥
पुण्यैर्देवत्वमाप्नोति पापैः स्थावरतामियात् । समा[2]भ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं प्राप्नुयान्नरः ॥ २ ॥
तत्राऽऽहुत्या रविर्नित्यं वर्धते मुनिसत्तम । सूर्याद्वृष्टिर्विजायेत वृष्टेरोषधयः क्रमात् ॥ ३ ॥
ओषधीभ्योऽन्नमन्नं च नित्यं भुङ्क्ते च मानवः । पञ्चभूतात्मकं भुक्तं किट्टसारात्मना द्विधा ॥ ४ ॥
पुनर्द्विधा भवेत्सारः स्थूलसूक्ष्मविभेदतः । किट्ट[3]मूत्रपुरीषास्थिमेदस्नाय्वात्मना भवेत् ॥ ५ ॥

एवमुत्तमाधिकारिणां वेदान्तवाक्यश्रवणम[4]धमाधिकारिणां च कर्माणि ज्ञानसाधनमभिधाय, कर्मभिः प्रक्षीणप्रतिबन्धकदुरितानामपि रजसा विक्षिप्तचेतसां सहसा मनस ऐकाग्र्यासंभवात्तदर्थं नाडीशुद्धिपुरःसरमष्टाङ्गयोगं वक्तुं प्रथमं पिण्डोत्पत्तिमाह—अथात इति । यत उक्तपापकर्मफलज्ञानवद्देहोत्पत्तिज्ञानमपि वैराग्योपयोगि, अतस्तदनन्तरमित्यर्थः । देहोत्पत्तिक्रमकथने हि गर्भक्लेशवर्णनाद्वैराग्यं जायते । अत एव योगसाधनप्रवृत्तिद्वारा ब्रह्मज्ञानमपि सिध्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

पुण्यैर्देवत्वमिति । 'पुण्येन पुण्यं लोकं जयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' इति श्रुतेः ॥ २ ॥

तत्राऽऽहुत्येति । यदाहुः—'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' इति ॥ ३ ॥

पञ्चभूतात्मकं भुक्तमिति । श्रूयते हि—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, यो[5]ऽणिष्ठस्तन्मनः । आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः । तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः स वागिति' । अत्र च भुक्तानां स्थूलादीनामन्नादीनां मनआदिकं प्रत्युपचयमात्रहेतुत्वम् । उपादानत्वं[6] तु सूक्ष्मभूतानामेवेति गतखण्ड एकादशाध्याये 'हिरण्यगर्भं वक्ष्यामि' इत्य[7]त्रोक्तम् ॥ ४ ॥ ५ ॥

पिण्ड की उत्पत्ति का कथन नामक दसवाँ अध्याय

(नाडीशोधनपूर्वक अष्टांगयोगरूप समाधानद्वारक ज्ञानसाधन बताने के उद्देश्य से भूमिका रचते हुए) भगवान् शंकर बोले—हे महामुनि ! अब मैं शरीर की उत्पत्ति के विषय में बताता हूँ । शरीर से वैराग्य के लिये और शरीर से आत्मा के विवेक के लिये इसे सुनो ॥ १ ॥

अत्यधिक पुण्य हों तो जीव देवयोनि पाता है तथा अत्यधिक पाप हों तो वृक्षादि योनि पाता है । पुण्य व पाप जब लगभग बराबर हों तब मानव देह मिलता है ॥ २ ॥

शरीरप्राप्ति के क्रम के विषय में यह समझना चाहिये—नित्य समर्प्यमाण आहुतियों से सूर्य पुष्ट होता है । सूर्य से वृष्टि और वृष्टि से व्रीहि आदि ओषधियाँ उपजती हैं ॥ ३ ॥ ओषधियों को कूटपीसकर उनसे खाने योग्य अन्न निष्पन्न होता है तथा मानव रोज़ अन्न खाता है । खाया हुआ पांचभौतिक अन्न दो हिस्सों वाला हो जाता है—मल और सार ॥ ४ ॥ सारभाग पुनः दो तरह होता है—स्थूल और सूक्ष्म । मलात्मक मूत्र और विष्ठा तथा हड्डी, मेदा और स्नायुरूप से अन्न ही परिणत होता है ॥ ५ ॥ पुरीष और मूत्र को वायु (अपान) यथाक्रम शरीर से निकाल देता है । सारभाग के स्थूल हिस्से से क्रमशः धातुओं

---

१. देहादात्मनो विवेकार्थमित्यर्थः । जन्यादिमच्छरीरं यस्यासावात्मा मम शरीरमिति दर्शनादभेदे च संबंधासंभवा द्भेदाभेदस्याप्रामाणिकत्वात्सम्बन्धस्य चौपचारिकत्वे मानाभावदकृताभ्यागमादिप्रसंगाच्चेत्यादयो युक्तयोप्यनुसन्धेयाः । २. समप्रायत्वमिह विवक्षितमन्यथा समेषां सुखदुःखतौल्यप्रसंगात् । ३. किट्टमिति सामान्यतो मलमुक्त्वा तद्विशेषयोरुक्ति र्मूत्रपुरीषेति । तदाहु र्वैद्यकविदः 'आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः । शिराभिस्तज्जलं नीतं वस्तिं मूत्रत्वमाप्नुयात् । शेषं किट्टञ्च यत्तस्य तत्पुरीषं निगद्यते ॥' (भावप्रकाश आदौ) इति ॥ ४. घ. °मननाधि° । ५. घ. यो निकृष्टस्त° । ६. ग. °नभूतत्व° । ७. घ. °त्वत्रैवोक्त° ।

पुरीषमूत्रे विसृजेदनिलः क्रमशो मुने । सारयोः स्थूलभागस्य पञ्चभूतांशकैः क्रमात् ॥ ६ ॥

वर्धन्ते धातवः सर्वे तेषां मध्ये महामुने । आकाशाद्धातवः सर्वे वर्धन्ते वायुना बलम् ॥ ७ ॥

अग्निना वर्धते मज्जा लोहितं वर्धते जलात् । भुवा मांसस्य वृद्धिः स्यादित्थं धातुविवर्धनम् ॥ ८ ॥

अवशिष्टो रसांशश्च द्विधा सत्त्वगुणेन च । राजसेन गुणेनापि भवेत्[1] सत्त्वं[2] तपोधन ॥ ९ ॥

तयोः सत्त्वप्रधानस्य भूमिभागान्महामुने । घ्राणेन्द्रियस्यापानस्य वर्धकश्च सदा भवेत् ॥ १० ॥

उपस्थस्यापि विप्रेन्द्रा जिह्वायाश्च जलांशकः । अग्निर्वाक्चक्षुषोश्चर्महस्तयोरनिलस्तथा ॥ ११ ॥

आकाशो वर्धकः पादश्रोत्रयोर्मुनिसत्तम । सर्वांशो वर्धकश्चान्तःकरणप्राणसंज्ञयोः ॥ १२ ॥

विशेषेण महीभागो वर्धको मनसो भवेत् । तोयं प्राणस्य वह्न्यंशो वदनस्य विशेषतः ॥ १३ ॥

वाय्वंशः पाणिमूलस्य पादमूलस्य चाम्बरम् । तथा रजोगुणग्रस्तो रसांशः कालकर्मतः ॥ १४ ॥

क्रमादिति । समनन्तरवक्ष्यमाणा[3]वकाशदानादिक्रमेणेत्यर्थः ॥ ६ ॥

तमेव क्रममाह—आकाशाद्धातव इति । अवकाशदानद्वाराऽऽकाशस्य वृद्धिहेतुता । व्यूहनद्वारा वायोः । पाकद्वाराऽग्नेः । क्लेदनद्वारा जलस्य । घनीभावद्वारा भुव इति द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

अवशिष्टः सारयोः सूक्ष्मः । द्विधेति सत्त्वरजोभेदेन ॥ ९ ॥

तत्र सात्त्विकस्य सारस्य पञ्चभूतात्मकस्य यः पृथिव्यंशः स प्राणापानयोर्वर्धकः । एवमबाद्यंशा अपि चत्वारश्चतुर्णां ज्ञानकर्मेन्द्रिययुग्माणामित्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥

सर्वांशो वर्धक इति पृथिव्याद्यंशपञ्चकं सात्त्विकं मनः प्राणवाय्वोरुपष्टम्भकम् । विशेषेण तु पृथिव्यबंशौ मनःप्राणयोः पाञ्चभौतिकयोरप्यन्नप्राणयोर्विशेषेणोपचयहेतुत्वादेव "अन्नमयं हि सौम्य मनः । आपोमयः प्राणः" इत श्रुतिरिति गतखण्डे कथितम् । ननु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं मनश्च प्रत्येव शक्तिद्वारा सत्त्वस्य हेतुत्वम्, कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणं च प्रति तु शक्तिद्वारा रजस इति प्रागुक्तम्, इह तु मनःप्राणौ ज्ञानकर्मेन्द्रियदशकं च प्रति सत्त्वस्य कारणता कथमुच्यत इति ? सत्यम् । सूक्ष्मभूतगतयोः सत्त्वरजसोर्मनःप्राणौ ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च प्रति विभागेनोपादानत्वं तत्रोक्तम् । इह तु स्थूलभूतसारतरांशगतस्य सत्त्वस्याविभागेनोपष्टम्भकत्वमुच्यत इत को विरोधः ॥ १२ ॥

ननु तेजोवाय्वाकाशानां मनःप्राणावपि प्रति कारणत्वे 'तेजोमयी वागि'त्यादिवागादिमात्रकारणत्वव्यवहारः कथमित्याशङ्क्य तदपि विशेषाभिप्रायमित्याह—वह्न्यंशो वदनस्येत्यादि ॥ १३ ॥

सात्त्विकरसभागस्येन्द्रियमनःप्राणोपष्टम्भकतामभिधाय राजसरसभागस्य रक्तादिक्रमेण धातूत्पादकतामाह—तथा रजोगुणग्रस्त इति ॥ १४ ॥

की वृद्धि होती है । आकाश जगह देकर सब धातुओं को बढ़ाता है । वायु से बल बढ़ता है ॥ ६—७ ॥ अग्नि से मज्जा, जलसे खून और पृथ्वी से मांस की वृद्धि होती है ॥ ८ ॥ अन्न का सूक्ष्मभाग भी दो प्रकार का होता है—सात्त्विक और राजस ॥ ९ ॥ सात्त्विक सारभाग का पार्थिवांश घ्राणेन्द्रिय और अपानवायु का वर्धक होता है । सात्त्विक सारभाग का जलीयांश उपस्थ और जिह्वा का बलवर्धक होता है । उसी का अग्निअंश वाणी और चक्षु का उपोद्बलक होता है । त्वगिन्द्रिय और हाथ का वर्धक वायु-अंश होता है । आकाश पैर और श्रोत्रेन्द्रिय को पुष्ट करने वाला होता है। सात्त्विक सारभाग के पाँचो महाभूतों के अंश अंतःकरण और प्राण के पोषक होते हैं ॥ १०-१२ ॥ फिर भी विशेषकर पृथ्वी-अंश मन का और जलांश प्राण का वर्धक होता है । इसी तरह तेज-अंश वागिन्द्रिय का विशेष पोषक है ॥ १३ ॥ सात्त्विक सारभाग की तरह राजस सारभाग समयानुसार रक्त बनता है । रक्त ही कालक्रम से मांस बनता है । मांस से मेदा, उससे स्नायु तथा उससे अस्थि बनती है । अस्थि से मज्जा

१. ख. ग. °सत्यं त° । २. सत्त्वं स्थिरं, स्यादितिशेषः । पाठान्तरं तु 'सत्यमि'ति । भगवानेव तथा प्रतिजानीते । ३. °णाका°।

भवेद्रक्तं महाप्राज्ञ रक्तं मांसं भवेत्पुनः । मांसान्मेदस्ततः स्नायुस्तस्मादस्थि समुद्गतम् ॥ १५ ॥
ततो मज्जोद्भवस्तस्माद्बलं पश्चात्समुद्गतम् । बलाच्छोणितसंयुक्तात्प्रजा कालविपाकतः ॥ १६ ॥
ऋतुकाले यदा शुक्रं निर्दोषं योनिसंगतम् । कदाचिन्मारुतेनैव स्त्रीरक्तेनैकतामियात् ॥ १७ ॥
शुक्राशोणितसंयुक्तं कललं बुद्बुदं तथा । पिण्डं[1] भवेद्दृढं तद्वच्छिरः पश्चात्पदद्वयम् ॥ १८ ॥
तथाऽङ्गुल्यः कटी कुक्षिस्तद्वत्पृष्ठास्थिसंधयः । चक्षुषी नासिका श्रोत्रे पश्चाज्जीवप्रकाशनम्[2] ॥ १९ ॥
अङ्गप्रत्यङ्गसंपूर्णं भवेत्तु [3]क्रमशो मुने । एकाहात्सप्तरात्रेण तथा पञ्चदशेन च ॥ २० ॥
एकद्वित्रिक्रमेणैव मासानां तद्विवर्धते । इत्थं परिणतो गर्भः पूर्वकर्मवशान्मुने ॥ २१॥
महद्दुःखमवाप्नोति रौरवे नरके यथा[4] । तां पीडां च विजानाति तदा जातिस्मरो[5] भवेत् ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां सर्गादावेवोत्पन्नत्वात्तानि प्रत्युपष्टम्भकत्वमात्रमत्रोक्तम् । धातूनां तु प्रतिशरीरमिदानीमेवोत्पत्तेस्तान्प्रत्युत्पादकत्वमिति विभागः । 'त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इति त्वगादयः शुक्रान्ताः सप्त धातवः कथ्यन्ते । तत्राऽऽद्याः षट्कोशत्वेनोच्यन्ते । मज्जास्थिस्नायवः शुक्राद्,रक्तात्त्वङ्मांसशोणितानीति षाट्कौशिकं नाम देहो भवति । इह त्वन्नरसादेव पच्यमानात्किट्टसारात्मना त्वग्रसयोरुत्पत्तिरिति किट्टभूतां त्वचमनादृत्य रस एव रक्तं भवतीती तदारभ्य मेदसश्चरमावस्था स्नायुपदेन पृथग्धात्वात्मना कोशात्मना च स्वीकृत्य कोशगतषट्संख्या धातुगतसप्तसंख्या चेति द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

बलमिति । शुक्रम् । **बलाच्छोणितसंयुक्ताद्** इति मातृबीजसहितात् पितृबीजात् **कालविपाकत** इति । स कललादिपरिणामक्रमेण ॥ १६ ॥

तदाह–**ऋतुकाल** इत्यादिना । **निर्दोषमिति** । धातुषु नित्यं स्थितानामपि वातपित्तश्लेष्मणां प्रतिकूलत्वे सत्येव दोषत्वम् । अनुकूलत्वे तु गुणत्वमेव यदुक्तम्–'कालेन जन्तुर्भवति दोषास्त्वनुगुणा यदि' इति । **मारुतेनेति** । तदुक्तमागमे–'स्वस्थानतश्च्युताच्छुक्राद्बिन्दुमादाय मारुतः । गर्भाशयं प्रापयति यदा तुल्यं तदा परः ॥ आर्तवात्मसमं बीजमादायास्याश्च मूलतः ॥ यदा गर्भाशयं नेष्यत्यथ संमिश्रयेन्मरुत्' इति ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

उक्तकललादिपरिणामस्य कालपरिमाणमाह–**एकाहात्सप्तरात्रेणे**त्यादि । तदुक्तं गर्भोपनिषदि–"एकरात्रोषितं कललं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्धमासाभ्यन्तरेण पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरेण कठिनो भवति, मासद्वयेन शिरः कुरुते, मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति, अथ चतुर्थे मासेऽङ्गुलिजठरकटिप्रदेशो भवति, पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति; षण्मासे नासाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति, सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति, अष्टमे मासे सर्वसंपूर्णो भवति" ॥ २० ॥ २१ ॥

जातिस्मर इति । कारणकर्मपरिज्ञानेन दुःखाभिवृद्धये तान्येव कर्माणि पूर्वजन्मान्तराण्यपि स्मारयन्तीत्यर्थः । श्रूयते हि तत्रैव–"नवमे मासि सर्वलक्षणसंपूर्णो भवति, पूर्वजातीः स्मरति, कृताकृतं च कर्म भवति, शुभाशुभं च कर्म विन्दति" इति ॥ २२ ॥

और उससे अंत में शुक्र बनता है ॥ १४–१५१/२ ॥ (पूर्व में धातुओं की वृद्धि बतायीथी, यहाँ उत्पत्ति कम बताया है अतः अपुनरुक्ति है ।)

शोणित-सम्बद्ध शुक्र से यथाकाल प्रजा उत्पन्न होती है । ॥ १६ ॥ ऋतुकाल में जब दोषरहति शुक्र योनि में जाकर वायु-प्रेरित हो स्त्रीशोणित से मिल जाता है तब शुक्र-शोणित के उस संयुक्त रूप से कलल और बुद्बुद क्रम से पिण्ड बनता है । पहले गर्भस्थ का सिर बनता है फिंर दोनो पैर बनते हैं । ऐसे ही अंगुलियाँ, कमर पीठ की हड्डियाँ और जोड़ बनते हैं । आँखे, नाक और कान बनने के बाद गर्भस्थ देह में जीव सबोध होता है ॥ १७-१९ ॥ क्रम से ही यह अंग प्रत्यंगों की सम्पूर्णता होती है । एक दिन में कलल, सात दिन में बुद्बुद; पन्द्रह दिन में पिण्ड तथा पहले दूसरे तीसरे आदि महीनों में बढ़ोत्तरी होती जाती है । इस प्रकार पूरा बढ़ा गर्भ पूर्व कर्मों के कारण रौरव नरक की तरह दुःख पाता है । सबोध होने से वह उस पीडा का अनुभव करता है । उस समय वह जीव अपने पूर्व जन्मों को स्मरण करता है ॥ २०-२२ ॥

---

१. क. ख. °ण्डं दृढं भवेत्तद्व° । २. प्रवेशस्त्वन्नेन सहैवेति पंचाग्निप्रसंगे स्पष्टम् । ३. क. ख. ग. घ. °वेत्तत्क्रम° । ४. ग. ङ. तथा । ५. वैराग्यविधेरर्थवादतयापि जातिस्मरवचांसि नेतुं शक्यानीति ज्ञेयम् ।

नानायोनिसहस्राणि पुरा प्राप्तानि वै मया । आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः ॥ २३ ॥
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् । यदि योन्याः प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम् ॥ २४ ॥
अध्येष्यामि सदा वेदन्साङ्गाञ्शुश्रूषया गुरोः । नित्यं नैमित्तिकं कर्म श्रद्धयैव करोम्यहम् ॥ २५ ॥
कृतदारः पुनर्यज्ञान्करोम्यात्मविशुद्धये । यज्ञैर्दग्धमलो भूत्वा ज्ञात्वा संसारहेयताम् ॥ २६ ॥
वैराग्यातिशयेनैव मोक्षकामनया पुनः । निरस्य सर्वकर्माणि शान्तो भूत्वा जितेन्द्रियः ॥ २७ ॥
विरजानलजं भस्म गृहीत्वा चाग्निहोत्रजम् । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैः षड्भिराथर्वणैः क्रमात् ॥ २८ ॥
विमृज्याङ्गानि मूर्धादिचरणान्तानि सादरम् । समुद्धूल्य सदाऽऽचार्यं प्रणिपत्याऽऽत्मविद्यया ॥ २९ ॥
संसारसागरं घोरं लङ्घयाम्यहमात्मनः । इत्थं गर्भगतः स्मृत्वा योनियन्त्रप्रपीडनात् ॥ ३० ॥
जायते वायुना याति विस्मृतिं वैष्णवेन[1] च । अज्ञाने सति रागाद्या धर्माधर्मौ च तद्वशात् ॥ ३१ ॥
धर्माधर्मवशात्पुंसां शरीरमुपजायते । ज्ञानेनैव निवृत्तिः स्यादज्ञानस्य न कर्मणा ॥ ३२ ॥
यद्यात्मा मलिनः कर्ता भोक्ता च स्यात्स्वभावतः । नास्ति तस्य विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥ ३३॥

गर्भोपनिषदर्थं संगृह्णाति–**नानायोनीत्यादि** । इत्थं हि श्रूयते–"नानायोनिसहस्राणि [2]दृष्टाश्चैव ततो मया । आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः ॥ जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः । अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् । यदि योन्याः प्रमुञ्चामि सांख्यं योगं समाश्रये । अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् । यदि योन्याः प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम्" इत्यादि ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

इत्थं गर्भगत इत । तदाह सैवोपनिषत्–'योनिद्वारेण संप्राप्ते यन्त्रेणाऽऽपीड्यमानो महता दुःखेन जात[3]मात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृशति तदा न स्मरति' इति ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

यद्यात्मा मलिन इति । मलिनसत्त्वप्रधानमायोपाधिकत्वमात्मनो मालिन्यं तन्निबन्धनश्च भोग इत प्रागुक्तं, तद्यदि स्वाभाविकं स्यात्तदा न मुक्तिरित्यर्थः[4] ॥ ३३ ॥

वह यों सोचता है–'मैंने अब तक नानाविध हज़ारों योनियाँ प्राप्त की हैं । भिन्न-भिन्न आहार खाये हैं । सब प्रकारों के पेय चखे हैं । न जाने कितनी माताओं का स्तनपान किया है । अहो कष्ट है ! इतना भोगकर भी मैं रहा सदा दुःखसागर में ही डूबता । इससे उबरने का उपाय मैंने कभी अनुष्ठित नहीं किया । यदि इस गर्भ से निकलूँगा तो अवश्य महादेव की शरण लूँगा । श्रीगुरु से अंगों सहित वेदों का पावन अध्ययन करूँगा । परम श्रद्धापूर्वक नित्य व नैमित्तिक कर्म निर्वर्तित करूँगा । सत्पत्नी का ग्रहण कर पुनः चित्तशुद्धि के उद्देश्य से विविध यज्ञों को संपादित करूँगा । अत्यधिक वैराग्य से प्रेरित हुआ मोक्ष की इच्छा से सर्वकर्मसंन्यास कर जितेन्द्रिय होकर शांत वृत्ति से रहूँगा । विरजाहोम की या अग्निहोत्र की भस्म लेकर 'अग्निरिति' आदि अथर्ववेदीय छह मंत्रों से उसे सिर से पैर तक यथाविधि लगाऊँगा । यों समुद्धूलन कर उत्तम आचार्य के पास जाकर सेवादिपूर्वक शिवात्मविद्या का ग्रहण करूँगा और उससे इस घोर संसारसागर से तर जाऊँगा ।' ॥ २३–२९½ ॥

योनि की यंत्रणा से पीडित होता हुआ जीव इस प्रकार का विचार करता है । किन्तु जब उत्पन्न होता है तो वैष्णवी मायात्मक वायु के स्पर्शमात्र से यह सब भूल जाता है । मूलतः अज्ञानी तो वह होता ही है । जब इस यंत्रणा व अपनी प्रतिज्ञा को विस्मृत कर देता है तब साधनाप्रवृत्ति न होकर स्वाभाविक राग-द्वेष और तत्प्रेरित धर्मा-ऽधर्म करता रहता है । धर्माधर्म से निश्चित ही उसे पुनः शरीर मिलना है और यों यह चक्र चलता रहता है । इसकी निवृत्ति तो एकमात्र ज्ञान से है, कर्म से नहीं । ३०–३२ ॥

यदि आत्मा स्वभाव से–स्वरूप से–अशुद्ध अर्थात् कर्ता-भोक्ता होता तो करोड़ों जन्मों में भी उसका मोक्ष संभव नहीं

१. ब्राह्मी माया जन्महेतु वैष्णवी स्थितिहेतुः शाम्भवी च मोक्षहेतुरित्युपेयते । वैष्णवी मायैवेह वैष्णवो वायुः । मायायाः कार्यविशेष एवैवमुक्तो वोध्यः । न च गर्भस्थस्यैवंविधविचारोऽप्रामाणिकः, शास्त्रस्यैव तत्र मानत्वात् । किंच ज्ञानाय यतेतेत्यत्रैव तात्पर्यात्सर्वमनाकुलम् ।
२. ध. दृष्ट्वा चैव । ३. घ. °तस्तु ॥ ४. स्वभावापरिवर्तनीयत्वात् ।

आत्माऽयं केवलः स्व[1]च्छः शान्तः सूक्ष्मः सनातनः । अस्ति सर्वान्तरः साक्षी चिन्मात्रसुखविग्रहः ॥ ३४ ॥
अयं स भगवानीशः स्वयंज्योतिः सनातनः । अस्माद्धि[2] जायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते ॥ ३५ ॥
अयं ब्रह्मा शिवो विष्णुरयमिन्द्रः प्रजापतिः । अयं वायुरयं चाग्निरयं सर्वाश्च देवताः ॥ ३६ ॥
य एवंभूतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥ ३७ ॥
ब्राह्मण्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन्नमूकोऽबधिरो भवेत् । नापक्रामति संसारात्स खलु ब्रह्महा भवेत् ॥ ३८ ॥
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ॥ ३९ ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्टे ह्यात्मनि सुव्रत ॥ ४० ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । ज्ञात्वाऽऽत्मानं परानन्दं न बिभेति कुतश्चन ॥ ४१ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्रद्धया गुरुभक्तितः[4] । उत्सृज्य प्राकृतं भावं शिवोऽहमिति भावयेत् ॥ ४२ ॥
एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणानां विशेषतः । प्राप्यैतत्कृत कृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ४३ ॥

कथं तर्हि विनिर्मोक्षः ? तत्राऽऽह–**आत्माऽयं केवल** इति । अनेन शोधितस्त्वंपदार्थो दर्शितः ॥ ३४ ॥

तस्य तत्पदार्थतादात्म्यरूपं महावा[5]क्यार्थमाह–**अयं स भगवानिति** ॥ ३५ ॥

अयं ब्रह्मेति । श्रूयते हि 'स ब्रह्म(ह्मा) स शिवः स हरिः स इन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्' इति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ब्राह्मण्यं प्राप्येति । **अमूकः** शास्त्राण्यध्येतुं शक्तः । **अबधिरः** श्रोतुं क्षमः । इत्थं ज्ञानसामग्रीसद्भावेऽपि, आलस्यादिना सच्चिदानन्दैकरसमात्मानमजानानः पुनः पुनः संसारे पातयति यः स ब्रह्मघातक इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अविदुषः संसारप्राप्त्याऽऽत्मघातकतामुक्त्वा विदुषस्तद्विरह[6]तामाह–**आत्मानं चेदिति** ॥ ३९ ॥

ज्ञानिनस्तापहेतुशरीरेन्द्रियादिसंबन्धविरहे कारणमाह–**भिद्यत** इति ॥ ४० ॥

कुतश्चनेति विहिताकरणादविहितकरणाद्वेत्यर्थः । श्रूयते हि 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

क्योंकि स्वभाव परिवर्तनीय नहीं होता है । (स्वरूप तो दूर की बात है, यदि किसी भी वास्तविक कारण से बंधन होता तो भी मोक्ष की आशा नहीं । कारण यह कि उस कारण को हम समाप्त कर नहीं सकते क्योंकि हर वास्तविक वस्तु व्यक्त या अव्यक्त रूप से अवश्य रहती है । उसका ध्वंस भी केवल उसका सूक्ष्म रूप से, प्रविलीन रूप से रहना ही है । अतः कारण वास्तव होने पर सनातन होता और इसीलिये मोक्ष नाम की स्थिति नृशृङ्ग जैसी असत् होती । किन्तु शास्त्र उसे शाश्वत सत्य कहता है । मोक्षसत्यत्व की अन्यथा अनुपपत्ति से बन्धन का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है ।) ॥ ३३ ॥ यह आत्मा अद्वितीय निर्मल शान्त अविषय नित्य प्रत्यक् द्रष्टृस्वभाव ज्ञानात्मक सुखरूप है ॥ ३४ ॥ यही वह भगवान् ईश्वर है जो स्वप्रकाश नित्य है । इस आत्मा से ही संसार उत्पन्न होता है और इसी में लीन होता है ॥ ३५ ॥ आत्मा ही ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इंद्र, प्रजापति, वायु, अग्नि तथा सारे देवता है ॥ ३६ ॥ ऐसे तात्त्विक आत्मा को जो अन्य प्रकार का बद्ध, परिच्छिन्न आदि समझता है, उसने आत्मा के वास्तविकत्त्व को चुराने की कोशिश द्वारा सभी पाप कर लिये हैं ॥ ३७ ॥ संसार में ब्राह्मणजन्म पाकर न गूंगा होना चाहिये न बहरा अर्थात् शास्त्राध्ययन और वेदान्त श्रावण अवश्य करना चाहिये । जो ज्ञानसामग्री के रहते भी संसारसमुद्र को लाँघ नहीं जाता वह निश्चित ही ब्रह्महत्यारा है ॥ ३८ ॥ यदि 'यह आत्मा मैं ही हूँ' इस प्रकार पुरुष आत्मा को जान ले तो वह क्योंकर कामनाओं के परवश हुआ शरीर को स्वस्वरूप समझे ? ॥ ३९ ॥ आत्मयाथात्म्य का दर्शन हो जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है–आत्मा-अनात्मा का आध्यासिक सम्बंध बाधित हो जाता है । सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं । आत्मज्ञाता के कर्म क्षीण हो जाते हैं– संचित नष्ट हो जाते हैं, आगामी उससे सम्बद्ध नहीं होते और प्रारब्ध बाधितानुवृत्तिपूर्वक खेल खेल में भोग लिए जाते हैं ॥ ४० ॥ मन और वाणी जिसे विषय नहीं कर सकते उस परम आनन्दरूप आत्मा को जानकर विद्वान् को किसी भी हेतु से कोई भय नहीं होता क्योंकि भयहेतु नामक द्वितीय कुछ रहता ही नहीं ॥ ४१ ॥ इसलिये गुरुसेवापूर्वक पूर्णप्रयत्न से आज्ञानिक आत्मभावनाओं को छोड़ 'मैं शिव हूँ' ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ४२ ॥ यह निश्चय प्राप्त होना ही जन्म की सफलता है । खासकर ब्राह्मणों के लिए तो यही एकमात्र लक्ष्य है । इसे पाकर ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है । कृतकृत्यता पाने का और कोई साधन किसी के लिये नहीं है ॥ ४३ ॥ हे बृहस्पति ! मैंने सब उपनिषदों का सार तुम्हें बता

---

१. व. स्वस्थः । २. ख. ङ. °स्माद्विजा° । ३. आत्मस्तेयाख्यपरपापस्य ब्रह्मघातस्य प्रायश्चित्तमाह-आत्मानमिति । ४. गुरोः सेवया ततो विद्या ग्राह्येत्यर्थः । यद्वा महत्या भक्त्येत्यर्थः । सैव गुर्वी भक्ति र्यामाह भगवान् भक्त्या मामभिजानातीति । ५. ख. गं. °वाक्यना° । ६. ङ. °हत्वमा° ।

सर्ववेदान्तसर्वस्वं मया प्रोक्तं बृहस्पते । श्रद्धयैव विजानीहि श्रद्धा सर्वत्र कारणम् ॥ ४४ ॥

सूत उवाच–इति श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा गिरां नाथः समाहितः । स्तोतुमारभते भक्त्या देवदेवं त्रियम्बकम् ॥ ४५ ॥

बृहस्पतिरुवाच–नमः शिवाय सोमाय सपुत्राय त्रिशूलिने । प्रधानपुरुषेशाय[1] सृष्टिस्थित्यन्तहेतवे ॥ ४६ ॥

सर्वज्ञाय वरेण्याय शंकरायाऽऽर्तिहारिणे । नमो वेदांतवेद्याय चिन्मात्राय महात्मने ॥ ४७ ॥

देवदेवाय देवाय नमो विश्वेश्वराय च । ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥ ४८ ॥

ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं नमाम्यहम् । विश्वं विश्वाधिकं रुद्रं विश्वमूर्तिं वृषध्वजम् ॥ ४९ ॥

नमामि सत्यविज्ञानं हृदयाकाशमध्यगम् । चन्द्रः सूर्यस्तथेन्द्रश्च वह्निश्च यमसंज्ञितः ॥ ५० ॥

निर्ऋतिर्वरुणो वायुर्धनदो रुद्रसंज्ञितः । [2]स्थूला मूर्तिर्महेशस्य तया व्याप्तमिदं जगत् ॥ ५१ ॥

यस्य प्रसादलेशेन देवा देवत्वमागताः । तं नमामि महेशानं सर्वज्ञमपराजितम् ॥ ५२ ॥

नमो दिग्वाससे तुभ्य[3]मम्बिकापतयेनमः । उमायाः[4]पतये तुभ्यमीशानाय नमो नमः ॥ ५३ ॥

श्रद्धयैवेति । श्रद्धा हि समाधिलाभद्वारा पुरुषार्थसाधनमु[5]क्ता पातञ्जले 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' इति ॥ ४४ ॥ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

दिया । (शिवैकसत्यत्व, शिवेतर-मिथ्यात्व और प्रत्यक्-शिवैक्य–यही श्रुत्यन्तसार है ।) श्रद्धा से ही इसे जानो । सभी दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति में श्रद्धा ही कारण होती है ॥ ४४ ॥

सूत जी बोले–हे उत्तम मुनियों ! भगवान् के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर बृहस्पति ने भक्ति से एकाग्र हो उनकी स्तुति करना प्रारंभ किया–॥ ४५ ॥

बृहस्पति ने कहा–पुत्रों सहित शिव को प्रणाम है । त्रिशूलधारी को प्रणाम है । माया, जीव और ईश्वर तीनों रूपों में व्यक्त होने वाले तथा संसार की सृष्टि, स्थिति व समाप्ति के कारण परमशिव को प्रणाम है ॥ ४६ ॥ सर्वज्ञ, चुनने योग्य, कल्याणकारी, दुःखनिवारक, उपनिषद्गम्य, चिन्मात्रस्वरूप कृपालु शंकर को नमस्कार है ॥ ४७ ॥ सब देवताओं के शासक, प्रपंच-क्रीडा के अद्वितीय खिलाड़ी, सबके मालिक को नमस्कार है । जो शाश्वत नियमरूप और नियमों का पालन करना रूप हैं, सर्वश्रेष्ठ व्यापाक तथा पूर्ण हैं, जो अविद्यालांछित प्रतीत होते हैं, कभी कुछ पैदा न करने वाले, अलौकिक ज्ञान वाले सर्वरूप उन महेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४८$^{1}/_{2}$ ॥ चंद्र, सूर्य, इंद्र, वह्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, रुद्र आदि महेश की स्थूल मूर्तियाँ हैं जिन्होंने संसार को व्याप्त कर रखा है ॥ ५०–५१ ॥ जिसकी कृपा के अंशमात्र से देवताओं ने

---

१. तथा च श्वेताश्वतारोपनिषदि 'प्रधानक्षेत्रज्ञपति र्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' (६-१६) इति । २. ग. घ. ङ. स्थूलमू° । ३. ङ. °भ्यमीशानाय नमो न° । ४. अम्बिकेति निग्रहशक्तिरुक्ता । उमेति त्वनुग्रहशक्तिरुच्यते । ५. घ. °मुक्तं पा° ।

नमो नमो नमस्तुभ्यं पुनर्भूयो नमो नमः । ॐकारान्ताय सूक्ष्माय मायातीताय ते नमः ॥ ५४ ॥
नमो नमः कारणकारणाय[1] ते नमो नमो मङ्गलमङ्गलात्मने[2] ।
नमो नमो वेदविदां मनीषिणामुपासनीयाय नमो नमो नमः ॥ ५५ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे पिण्डोत्पत्तिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि नाडीचक्रमनुत्तमम् । श्रद्धया गुरुभक्त्या च विद्धि वाचस्पतेऽधुना ॥ १ ॥
शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् । मनुष्याणां मुनिश्रेष्ठ स्वाङ्गुलीभिरिति श्रुतिः ॥ २ ॥
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं बृहस्पते ॥ ३ ॥
गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः । देहमध्यं विजानीहि मनुष्याणां बृहस्पते ॥ ४ ॥
कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिसत्तम ॥ ५ ॥
कुक्कुटाण्डवदाकारं भूषितं च त्वगादिभिः । तन्मध्यं नाभिरित्युक्तं मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ६ ॥

ॐकारान्तायेति । ॐकारस्य ह्यन्तो नादस्तत्प्रतिपाद्यतया निष्कलः शिवोऽपि तथोच्यते ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे पिण्डोत्पत्तिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

यतः शरीरसंस्थानज्ञानाधीनं नाडीज्ञानं तदधीनं च तच्छोधनविज्ञानमतः शरीरोत्पत्तिकथनानन्तरं नाडीचक्राभिधानं प्रतिजानीते–अथात इति ॥ १ ॥

षण्णवत्यङ्गुलेति । अत्राङ्गुलीशब्देन शरीरायामस्य षण्णवतितमांशोऽभिधीयते ॥ २ ॥

तादृशानामंशानामष्टचत्वारिंशत्तममधस्तादुपरिष्टाच्च परित्यज्य[3] मध्ये मूलाधारस्तमाह–देहमध्य इति । शिखिस्थानमग्निस्थानम् । तदाहुरागमिकाः– "षण्णवत्यङ्गुलोत्सेधो देहः स्वाङ्गुलिमानतः । पाय्वन्तद्व्यङ्गुलादूर्ध्वं लिङ्गाच्च द्व्यङ्गुलादधः । मध्यमेकाङ्गुलं यच्च देहमध्यं प्रचक्षते" इति ॥ ३ ॥ ४ ॥

कन्दस्थानमित्यादि । तदुक्तमन्यत्र–"नवाङ्गुलोर्ध्वतस्तस्मादस्ति कन्दोऽण्डसंनिभः । चतुरङ्गुलविस्तार उत्सेधेनापि तत्समः । त्वगास्थिभूषितः कन्दस्तन्मध्यं नाभिरुच्यते" इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

अपने पद पाये हैं उन कभी न हारने वाले सर्वज्ञ महान् ईशान को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५२ ॥ दिगम्वर, अम्बिकापति, उमापति ईशान आपको बारंबार प्रणाम है ॥ ५३ ॥ आपको अनेकों बार प्रणाम है । प्रणवनाद के साक्षीरूप से स्फुट समझे जा सकने वाले दुर्लक्ष्य तथा माया से अतीत आपको नमस्कार है ॥ ५४ ॥ कारणों के भी कारण और मंगलों के भी मंगल आपको प्रणाम है । वेदवेत्ता मनीषियों के उपास्य आपको भूयोभूयो नमस्कार है ॥ ५५ ॥

नाडीचक्र-निरूपण नामक ग्यारहवा अध्याय

शङ्कर जी ने आगे कहा–हे वाचस्पति (बृहस्पति) ! अब मैं साधना में अत्यधिक उपयोगी नाडीचक्र के विषय में बताता हूँ इसे श्रद्धा व गुरुसेवापूर्वक समझना चाहिये ॥ १ ॥

मनुष्यों का शरीर अपनी-अपनी अंगुली के हिसाब से छयानब्बे अंगलु लम्बा होता है ॥ २ ॥ देह के ठीक मध्य में तपे सोने के रंग का अग्निस्थान है जो त्रिकोणाकार है ॥ ३ ॥ गुदासे दो अंगुल ऊपर व शिश्नसे दो अंगुल नीचे (रीढ़ की हड्डी

१. परिणामिनोप्यधिष्ठानायेत्यर्थः । २. मंगलानां मांगल्यहेतवे । अशिवस्य स्वरूपतएवामंगलत्वात् । ३. ध. °ज्य मू° ।

कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता । तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाडयो मुनिसत्तम ॥ ७ ॥
[1]द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश । सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती ॥ ८ ॥
पूषा च वारुणी चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी । अलम्बुषा कुहूश्चैव विश्वोदारा [2]पयस्विनी ॥ ९ ॥
शङ्खिनी चैव गान्धारी इति मुख्याश्चतुर्दश । तासां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेका वरा मुने ॥ १० ॥
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः । पृष्ठमध्ये स्थितेना[3]स्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत ॥ ११ ॥
सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता । नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुलं मुने ॥ १२ ॥
अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम । यथावद्वायुचेष्टां च जलान्नादीनि नित्यशः ॥ १३ ॥
परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता । स्वमुखेन सदाऽऽवेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुने ॥ १४ ॥

पवनस्य सुषुम्नाप्रवेशलक्षणं योगमग्रे विवक्षुः सुषम्नाया नाड्यन्तरेभ्यः प्राधान्यमाह—**कन्दमध्य** इति ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

ब्रह्मनाडीति ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारत्वात् । तथा[4]चाऽऽथर्वणोपनिषदि—"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्[5]वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति । अमृतत्वं ह्यत्र ब्रह्मलोकप्राप्तिर्मता । "आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इत्याहुः । उक्तानां नाडीनां संस्थानमभिधित्सुः प्रथमं सुषुम्नामाह—**पृष्ठमध्य** इति ॥ ११ ॥

पवनो हि मूलाधारादुत्थित इडापिङ्गलाभ्यां बहिरस्तमेति । तदुक्तम्—"देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुद्यति समीरणः । नाडीभ्यामस्तमभ्येति घ्राणतो द्विषडङ्गुले" इति । तत्र मूलाधारादुत्थितस्य वायोः स्वसंमुखावस्थितमध्यवर्तिसुषुम्नाद्वारपरित्यागेन पार्श्वस्थितयोरिडापिङ्गलयोः संचारे कारणं सुषुम्नाद्वारस्य कुण्डल्या स्वफणाग्रेणापिधानमभिधातुं कुण्डल्याः स्थानं स्वरूपं व्यापारं च क्रमेणाऽऽह—**नाभिकन्दादिति** ॥ १२ ॥

अष्टप्रकृतीति । "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" इत्युक्ता अष्टौ प्रकृतयः । तत्र मूलप्रकृत्यात्मिका कुण्डली तस्याः सुषुम्नावेष्टनानि महदादिसप्तप्रकृतिविकृत्यात्मकानीत्यष्टप्रकृतिरूपता । सा ह्यष्टधा कुण्डलीकृता तिष्ठति । यदाहुः—"कुण्डली परितस्तस्मादष्टधा कुण्डलीकृता । अष्टप्रकृतिरूपा सा सुप्तसर्पसमाकृतिः" इति । एवं स्वरूपमुक्त्वा व्यापारमाह—**यथावदिति** ॥ १३ ॥

मूलाधारादुत्थितस्य पवनस्य साक्षात्स्वसंमुखसुषुम्नाद्वारसंचारादियथावद्वायुचेष्टतामियं निरुणद्धि । कोष्ठगतस्य ह्यशितपीतादेर्मूलाधारस्थज्वलनव्यवधायकत्वेन त्वरया पाकप्रतिबन्धो जलान्नादीनां निरोधः । **स्वमुखेनेति** । मुखेन सुषुम्नामूलरन्ध्रं पिधायाष्टधाकुण्डलीभावेन स्वग्री[6]वां परिवेष्ट्य शेषकायं वंशास्थिसंबन्धमुपरि नीत्वा पुच्छेन ब्रह्मरन्ध्रं पिदधातीत्यर्थः । तदुक्तम्—"कन्दनाभेरधोरन्ध्रे निधाय स्वफणां दृढम् । संनिरुध्य मरुन्मार्गं पुच्छेन स्वमुखं तथा ॥ ब्रह्मरन्ध्रं च संवेष्ट्य पृष्ठास्थ्ना सह सुस्थिता" इति ॥ १४ ॥

की सीध में) वह मूलाधार नाम से प्रसिद्ध स्थान है ॥ ४ ॥ उससे नौ अंगुल ऊपर कन्दस्थान है जो चार अंगुल आयाम वाला और मुर्गी के अण्डे के आकार का है । यह त्वचा आदि से युक्त है और उसके मध्य को नाभि कहा जाता है ॥ ५–६ ॥ कन्द के बीच में सुषुम्ना नामक नाडी स्थित है । उसके चारों ओर नाडियां हैं । कुल मिलाकर बहत्तर हज़ार नाडियाँ हैं । उनमें चौदह मुख्य हैं जिनके नाम हैं—सुषुम्ना, पिंगला, इडा, सरस्वती, पूषा, वारुणी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, विश्वोदारा, पयस्विनी, शंखिनी और गान्धारी । इनमें भी प्रमुख हैं तीन (इडा, पिंगला, सुषुम्ना) और उनमें भी एक (सुषुम्ना) ही सर्वप्रमुख है ॥ ७-१० ॥ उसे वेदान्तज्ञ ब्रह्मनाडी कहते हैं । पीठ में वीणादण्ड की तरह स्थित हड्डी के (हड्डीशृंखला के) साथ सुषुम्ना मस्तक तक गयी है । नाभिकन्द से नीचे कुण्डली का स्थान है जिसका दो अंगुल आयाम है ॥ ११–१२ ॥ कुण्डली अष्टप्रकृतिरूप है । (कुण्डली मूलप्रकृतिरूप व उसके सात वेष्टन महदादिरूप हैं ।) वह अपने मुख से सुषुम्ना के मूलच्छिद्र को और पूँछ से ब्रह्मरन्ध्र के छिद्र को बन्द किये रहती है । अतः सुषुम्ना में वायुचेष्टा न होने देकर कन्द के अगल-बगल ही वायुचेष्टा को

---

१. सार्धलक्षत्रयं नाडीनामितरत्र वर्णितमुपेक्ष्य संहत्य नाडीसंख्यामाह—द्विसप्ततीति । २. घ. °श्वोदरा । ३. ङ. °नान्यवी° । ४. घ. °था छान्देग्योप° । ५. घ. °ष्वमन्या । ६. ङ. °ग्रीवायां प° ।

सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्मृता । सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते ॥ १५ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च इडायाः पूर्वपार्श्वयोः । पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गलापृष्ठपूर्वयोः ॥ १६ ॥
कुह्वाश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता । यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वारुणी सुप्रतिष्ठिता ॥ १७ ॥
पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता पयस्विनी [1] । गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी ॥ १८ ॥
अलम्बुषा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यतः । पूर्वभागे सुषुम्नाया मेढ्रान्तं संस्थिता कुहूः ॥ १९ ॥
अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी वारुणी सर्वगामिनी । पिङ्गलासंज्ञिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते ॥ २० ॥
इडा चोत्तरनासान्तं स्थिता वाचस्पते तथा । यशस्विनी च याम्यस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥ २१ ॥
पूषा याम्याक्षिपर्यन्तं पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः । पयस्विनी तथा याम्यकर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः ॥ २२ ॥
सरस्वती तथा चोर्ध्वमा जिह्वायाः स्थिता मुने । हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥ २३ ॥
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमुच्यते । गान्धारी सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥ २४ ॥
विश्वोदराभिधा नाडी तुण्डमध्ये व्यवस्थिता । प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च ॥ २५ ॥
नागः कूर्मश्च [2] कृकरो देवदत्तो धनंजयः । एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ॥ २६ ॥
तेषु प्राणादयः पञ्च मुख्याः पञ्च च [3] सुव्रत । प्राणसंज्ञस्तथाऽपानः पूज्यः प्राणस्तयोर्मुने ॥ २७ ॥

उद्घाटनीयद्वारायाः सुषुम्नायाः संस्थानमभिधाय निरोद्धव्यद्वारयोरिडापिङ्गलयोराह–सुषुम्नाया इति । सरस्वतीत्यादिनाडीस्थानसंनिवेशाभिधानस्य प्रयोजनं प्रमादात्तत्र प्रविष्टस्य पवनस्य प्रवेशमार्गेणैवापकृष्य सुषुम्नायोजनमिति । सरस्वतीति । सुषुम्नायाः पुरतः सरस्वती । तदुक्तम्–'सुषुम्नापूर्वभागस्था जिह्वान्तस्था सरस्वती । पृष्ठतश्च कुहूः' इति ॥ १५–१८ ॥

पूर्वभागे सुषुम्नाया इति । पृष्ठत उत्पन्नाऽपि सुषुम्नायाः पूर्वभागं समागत्य मेढ्रान्तं गतेत्यर्थः ॥ १९–२० ॥

याम्यस्य पादेति । याम्यस्य पादस्य योऽङ्गुष्ठस्तत्पर्यन्तमित्यर्थः ॥ २१–२५ ॥

दश वायव इति । तत्राऽऽद्या नव देहस्थितिहेतवः । दशमो धनंजयस्तु लौकिकः । यदाहुः–'धनंजयाख्यो देहेऽस्मिन्कुर्याद्बहुविधान्रवान् । स तु लौकिकवायुत्वान्मृतं च न विमुञ्चति' इति ॥ २६–२७ ॥

अवसर देना इसका काम है। ऐसे ही जठरस्थ अन्न-जल मूलाधारस्थ अग्नि के जलते रहने में व्यवधान न करें, इसलिये उनके पाचन को नियंत्रित रखना भी इसका कार्य है ॥ १३–१४ ॥ सुषुम्ना की बायीं ओर इडा और दाहिनी ओर पिंगला नाडियाँ हैं। ऐसे ही सुषुम्ना के आगे-पीछे सरस्वती व कुहू नाडियाँ हैं ॥ १५ ॥ इडा के सामने की ओर अगल-बगल गान्धारी और हस्तिजिह्वा नाडियाँ हैं। पिंगला के पीछे व आगे पूषा और यशस्विनी हैं ॥ १६ ॥ कुहू और हस्तिजिह्वा के बीच विश्वोदरी है। यशस्विनी और कुहू के बीच वारुणी स्थित है ॥ १७ ॥ पूषा और सरस्वती के बीच पयस्विनी है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य शंखिनी है। [इस प्रकार सुषुम्ना को केन्द्र मान कर उसके दायें स्थित पिंगला से घड़ी के कांटों की गति के अनुसार देखें तो यहाँ बताया क्रम यह है–पिंगला, यशस्विनी, वारुणी, कुहू, विश्वोदरी, हस्तिजिह्वा, इडा, गान्धारी, शंखिनी, पयस्विनी और पूषा।] ॥ १८ ॥ अलम्बुषा नाडी कन्द के मध्य से पायु तक स्थित है। सुषुम्ना से पीछे की ओर उत्पन्न हुई कुहू सुषुम्ना के सामने की ओर जाकर शिश्न पर्यन्त स्थित है ॥ १९ ॥ वारुणी नाडी ऊपर-नीचे सर्वत्र गयी हुई है। पिंगला नाडी बायीं नाक की नोंक तक और इडा दायीं नाक की नोंक तक है ॥ $20^1/_2$ ॥ यशस्विनी बायें पैर के अंगूठे तक और हस्तिजिह्वा दायें पैर के अंगूठे तक है। पिंगला के सामने की ओर से निकलने वाली पूषा बायीं आँख तक और गान्धारी दायीं आँख तक गयी है। पयस्विनी बायें कान तक और शंखिनी दायें कान तक स्थित है। सरस्वती ऊपर की ओर जीभ तक है।

---

१ ग. घ. यशस्विनी। २ घ. कृकलो । ३ अत्र 'पञ्चसु' इति पाठः संभाव्यते ।

आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि । प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम ॥ २८ ॥
अपानो वर्तते नित्यं गुदमेढ्रोरुसंधिषु । उदरे वृषणे कट्यां नाभौ जंघे च सुव्रत ॥ २९ ॥
व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च कृकटयाङ्गुष्ठयोरपि । प्राणस्थाने गले चैव वर्तते[1] मुनिपुंगव ॥ ३०॥
उदानः सर्वसंधिस्थो विज्ञेयः पादहस्तयोः । समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः ॥ ३१ ॥
नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः । उद्गारादि गुणः प्रोक्तो नागाख्यस्य बृहस्पते ॥ ३२ ॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं तु कृकरस्य च । देवदत्तस्य कर्म स्यात्तन्द्रीकर्म महामुने ॥ ३३ ॥
धनंजयस्य शोकादि कर्म प्रोक्तं[2] बृहस्पते । निःश्वासोच्छ्वासकासादि प्राणकर्म बृहस्पते ॥ ३४ ॥
अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम् । समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिसत्तम ॥ ३५ ॥
उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः । व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ३६ ॥
सुषुम्नायाः शिवो देव इडाया देवता हरिः । पिङ्गलाया विरिञ्चिः स्यात्सरस्वत्या विराण्मुने ॥ ३७ ॥
पूषा दिग्देवता प्रोक्ता वारुणी वायुदेवता । हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत् ॥ ३८ ॥
यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान्भास्करो मुने । अलम्बुषाभिमान्यात्मा वरुणः परिकीर्तितः ॥ ३९॥
कुहोः क्षुर्देवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता । शङ्खिन्याश्चन्द्रमास्तद्वत्पयस्विन्याः प्रजापतिः ॥ ४० ॥

व्यापिनामपि प्राणानां स्थानविशेषेषु कार्यभेदकरतामभिप्रेत्याऽऽह–आस्यनासिकयोरिति ॥ २८ ॥ ऊरुसंधिर्वङ्क्षणः ॥ २९–३१ ॥ नागादिवायव इति । नागादीनां बाह्यकोशवर्तित्वं प्राणादीनामन्तःकोशवर्तित्वं चोक्तमन्यत्र–'एते प्राणादयः पञ्च मध्यकोशेषु संस्थिताः । त्वगादिपञ्चकोशस्था नागाद्या बाह्यवायवः' इति ॥ ३२–३५ ॥ विवादकृदिति । विवादः प्राणापानयोः परस्परप्रतिबन्धादुभयाभावः । तदुक्तं छान्दोग्ये–"यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानः सा वाक्तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति" इत्यादि ॥ ३६ ॥ उक्तनाडीनामधिष्ठातृदेवता आह–सुषुम्नायाः शिव इत्यादि ॥ ३७–४० ॥

विश्वोदरी मुँह के मध्य में स्थित है ॥ २१–२४$^1/_2$ ॥

सब नाडियों में दस वायुभेद संचरण करते हैं–प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय ॥ २५–२६ ॥ इनमें प्राणादि पाँच मुख्य हैं । उन प्राणादि पाँचों में भी प्राण और अपान मुख्य हैं तथा उन दोनों में प्राण ही श्रेष्ठ है ॥ २७॥ मुँह व नाक के बीच, नाभि में और हृदय में प्राण वायु रहता है ॥ २८ ॥ गुदा, शिश्न, जाँघ के जोड़, उदर, अण्डकोष, कमर, नाभि और जंघा में अपान रहता है ॥ २९॥ कान व आँख के बीच, गले के उठे हुए भाग में, दोनों अँगूठों में, नाक में और ग्रीवा में व्यान वायु रहता है ॥ ३० ॥ सब जोड़ों में स्थित उदान हाथ-पैर में रहता है । समान सारे शरीर में फैला रहता है ॥ ३१॥ नाग आदि पाँच वायुवृत्तियाँ त्वक्, अस्थि आदि में रहती हैं । थूकने आदि को नागवायु संभव करती है ॥ ३२ ॥ आँख बन्द करना आदि कूर्म वायु का कार्य है । छींकना कृकर वायु से होता है । तंद्रासूचक जँभाई आदि देवदत्त से होता है ॥३३॥ धनंजय वायु का कार्य है विकलता आदि करना । निःश्वास, उच्छ्वास, खाँसी आदि कर्म है प्राण का ॥ ३४ ॥ विष्ठा, मूत्रादि का विसर्जन अपान का कार्य है । समान सबके अर्थात् सब अंगों के समीप अन्न पहुँचाता है ॥ ३५ ॥ उदान ऊर्ध्वगमन में कारण है । (देह को सीधा रखना आदि व मरने पर पुर्यष्टक को गति देना ऊर्ध्वगमन है ।) व्यान का कर्म है प्राण और अपान को रोक कर वीर्यवत् कर्मों को करना ॥ ३६ ॥

सुषुम्ना के देवता शिव हैं । इडा के विष्णु, पिंगला के ब्रह्मा, सरस्वती के विराट्, पूषा के दिक्, वारुणी के वायु, हस्तिजिह्वा के वरुण, यशस्विनी के भास्कर, अलम्बुषा के वरुण, कुहू की पृथ्वी, गांधारी

---

१. इतरत्र तूक्तं 'स चाक्षिकर्णयोर्मध्ये कट्यां वै गुल्फयोरपि । घ्राणे गले स्फिगुद्देशे तिष्ठत्यत्र निरन्तरम् ॥' इति । २ मानसोल्लासकृतस्तु 'स्थौल्यं धनञ्जयः कुर्यान्मृतं चापि न मुञ्चती' त्याहुः (९.१८) ॥

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः । इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने ॥ ४१ ॥
पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदांवर । पिङ्गलायां इडायां तु वायोः संक्रमणं तु यत् ॥ ४२ ॥
तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदार्थवेदिभिः[1] । इडायाः पिङ्गलाया तु प्राणसंक्रमणं मुने ॥ ४३ ॥
दक्षिणायनमित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः । इडापिङ्गलयोः संधिं यदा प्राणः समागतः ॥ ४४ ॥
अमावास्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर ।
मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम ॥ ४५ ॥
तदाऽऽद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम । प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्रविशेद्यदा ॥ ४६ ॥

दिनरात्रिषु विषुवायनग्रहणानि देहे दर्शयितुं तेषां चन्द्रसूर्यायत्तत्वात्तयोरेव तावद्देहेऽवस्थानमाह–**इडायां चन्द्रमा** इति । अत एवेडायां पवनस्योद्गमकालो रात्रिः, प्रवेशकालस्त्वहः । रात्रावहनि च परिपूर्णस्य चन्द्रस्योदयास्तमयनियमात् । पिङ्गलायां तु पवनस्योद्गमो दिनं प्रवेशो रात्रिः । तदुक्तं प्रपञ्चसारे–'देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुद्यति समीरणः । नाडीभ्यामस्तमभ्येति घ्राणतो द्विषडङ्गुले ॥ अहोरात्रमिनेन्दुभ्यामूर्ध्वाधोवृत्तिरिष्यते' इति ॥ ४१ ॥

पिङ्गलाया इति । प्राङ्मुखस्थितस्य हि पुरुषस्य पिङ्गला दक्षिणदिशि भवति इडा तूत्तरदिशि । मकरायनसमये च दक्षिणदिगवस्थितः सूर्यः कर्कटायनपर्यन्तं नित्यमुत्तरो[2] गच्छतीति तदुत्तरायणं यथा, एवं पिङ्गलायां स्थितः पवनः सूर्यात्मा यावत्साकल्येनेडां संक्रामति तावदुत्तरायणमित्यर्थः । इत्थं दक्षिणायनमपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं प्रपञ्चसारे–"वामदक्षिणनाडीभ्यां स्यादुदग्दक्षिणायनम्" इति । कालोत्तरे च–'उत्तरं दक्षिणं प्रोक्तं वामदक्षिणसंज्ञितम्' इति ॥ ४२॥

इडापिङ्गलयोरिति । अमावास्यायां हि चन्द्रार्कौ सहैवोदयं सहैवास्तं च प्रतिपद्येते । इडावर्ती च प्राणश्चन्द्रः पिङ्गलावर्ती सूर्यः, संधिसमये चोभयत्र प्राणः सम एव वर्तमानः सहैवोदेति सहैव चास्तमेतीति साऽमावास्या ॥ ४४ ॥ **मूलाधारमिति** । सूर्यो हि प्राणः । तथा च प्रश्नोपनिषदि–"आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः" इति । स च प्राणो मूलाधारप्रवेशानन्तरमुदेति । मूर्धप्रवेशानन्तरं घ्राणतो द्विषडङ्गुले चास्तमेति । देवानां चाऽऽद्यविषुवे मेषायने सूर्योदयः । विषुवान्तरे तुलायने चास्तमय इति ॥ ४५ ॥ प्राणोदयास्तमयसमयौ विषुवद्वयत्वेनोक्तौ । अत्रामावास्यात्वेनोक्तो यः संधिसमयः स एव विषुवद्वयत्वेनोक्तः द्विशतिकालोत्तरे–"मध्ये तु विषुवं प्रोक्तं पुटद्वयविनिःसृतम्" इति । तत्र दक्षिणाद्वामगमनसमये यः संधिः स उत्तरायणमध्यवर्तित्वादाद्यविषुवकालः । इतरस्तु दक्षिणायनमध्यवर्तित्वाद् द्वितीयविषुवकाल इति ॥ ४६ ॥

के चंद्र, शंखिनी के चन्द्रमा, पयस्विनी के प्रजापति और विश्वोदरी के पावक देवता हैं ॥ ३७–४०¹/₂ ॥
इडा नाडी में सदा चन्द्रमा प्रचार करते हैं और पिंगला में सूर्य ॥ ४१¹/₂ ॥ पिंगला से इडा में वायु का संक्रमण आध्यात्मिक दक्षिणायन है ॥ ४२–४३¹/₂ ॥ जब प्राण इडा और पिंगला की संधि में स्थित होता है तब शारीरिक अमावास्या कही जाती है । जब प्राण मूलाधार में प्रवेश करता है तब प्रथम (अर्थात् उत्तरायण के मध्य होने वाला) विषुव, तथा जब प्राण मूर्धा में प्रवेश करता है तब अंतिम (दक्षिणायन में होने वाला) विषुव अध्यात्म-दृष्टि से बताया गया है । ४४–४६¹/₂ ॥ निःश्वास-उच्छ्वास का जो इडा से पिंगला में, पिंगला से सुषुम्ना में व सुषुम्ना से इडा में संचरण होता है उसे आध्यात्मिक संक्रान्ति

---

१ इतआरभ्य बाह्यतीर्थकालादेर्निन्दा योगाभ्यासे प्रवर्तनायैव, नानाधिकारिणां बहिस्तीर्थेभ्यो व्यावृत्तये । अतो वक्ष्यति (१२.२०) 'न बुद्धिभेदं जनयेदि'ति । २ घ. °तरं ग° । ङ. °त्तरे ग° ।

तदाऽन्त्यं विषुवं प्रोक्तं धार्मिकैस्तत्त्वचिन्तकैः ।
निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां संक्रमो भवेत् ॥ ४७ ॥
इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः । सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर ॥ ४८ ॥
तथा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः । यदा तदा भवेत्सूर्यग्रहणं मुनिसत्तम ॥ ४९ ॥
श्रीपर्वतः शिरस्थाने केदारं तु ललाटके । वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥ ५०॥
भ्रुवोर्घ्राणस्य यः संधिरिति जाबालकी श्रुतिः । कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागो हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं च हृन्मध्य आधारः कमलालयः ॥ ५१ ॥
आत्मस्थं तीर्थमुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गति ॥ ५२ ॥
भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता भावेन दुहिताऽन्यथा ॥ ५३॥

संक्रमकालमाह—निःश्वासेति । इडाचारिणां निःश्वासोच्छ्वासानां ततः सकाशाधः सुषुम्नाप्रवेशकालस्ततश्च पुनः पिङ्गलाप्रवेशकालस्ततः पुनः सुषुम्नाप्रवेशकालः पुनरिडाप्रवेशकाल इति, तेऽविशेषेण संक्रमकाला इत्यर्थः । तदुक्तं कालोत्तरे—'संक्रान्तिः पुनरस्यैव स्वस्थानानिलयोगतः' इति । स्वस्यानिलस्य यानीडापिङ्गलासुषुम्नास्थानानि तेषां तद्योगत इत्यर्थः । तथा च स्पष्टीकृतं तत्रैव—"इडा च पिङ्गला चैव अमा चैव तृतीयका । सुषुम्ना मध्यमे ह्यङ्ग इडा वामे प्रकीर्तिता । पिङ्गला दक्षिणे ह्यङ्ग एषु संक्रान्तिरिष्यते" इति । अमा सुषुम्ना । तत्र हि सूर्याचन्द्रमसोः सहैवोदयास्तमयौ भवत इति ॥ ४७ ॥**इडाया इति** । इडासंचारिणः प्राणस्य चन्द्रात्मकत्वात्तस्य सुप्तसर्पाकारकुण्डलीस्थानेऽन्तर्हितत्वात्स सोमग्रहणकाल इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ **तथा पिङ्गलयेति** । पिङ्गलाचारिणः प्राणस्य सूर्यात्मकत्वात्पूर्ववदेव तस्यापि ग्रहणम् ॥ ४९ ॥

योगिनः शरीरस्थानभेदानामेव तत्तत्तीर्थविशेषतामाह—**श्रीपर्वत इति** ॥ ५० ॥ **जाबालकी श्रुतिरिति** । "अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति । स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ? वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयति तेन वरणा भवति सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयति तेन नासी भवतीति कतमं[1] चास्य स्थानं भवतीति ? भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवति" इति हि तत्र श्रूयते ॥ ५१ ॥ उक्ततीर्थानां बाह्यतीर्थेभ्यो विशेषमाह—**आत्मस्थमिति** । **विमार्गति** गवेषते ॥ ५२ ॥ ननु बाह्यानि तीर्थानि प्रत्यक्षतो निरीक्ष्यन्त आन्तराणि तु भावनामात्रसिद्धानीति कथं ततस्तेषामुत्कर्ष इत्यत आह—**भावतीर्थमिति** । भावः शास्त्रप्रतिपादितेषु[2] प्राकृततीर्थेष्वास्तिक्यबुद्धिः । सा च संसारोत्तरणकारणतया तरन्त्यनेनेति तीर्थं तद्विषयीकृतस्यार्थस्य परमार्थत्वात्प्रमाणं च । बाह्यतीर्थस्नानदानादिषु सर्वेष्वपि कर्मसु सत्येव भावे फलसाधनता नान्यथेति तस्य सर्वत्र प्रमाणतेत्यर्थः । कर्मण एकरूपत्वेऽपि भावभेदस्यैव निषेधानिषेधवैषम्यहेतुत्वमुदाहरति—**अन्यथाऽऽलिङ्ग्यत इति** ॥ ५३ ॥

समझना चाहिये ॥ ४७ ॥ जब प्राण इडा से कुण्डलीस्थान को प्राप्त होता है तब चन्द्रग्रहण और जब पिंगला से वहीं पहुँचता है तो सूर्यग्रहण जानना चाहिये ॥ ४८–४९ ॥

योगी के सिर में श्रीपर्वत, ललाट में केदार, भ्रूमध्य व नासिका की सन्धि में वाराणसी, स्तन में कुरुक्षेत्र, हृदय में प्रयाग, हृदय के बीच चिदम्बर और आधार कमलालय है ॥ ५०–५१ ॥ जो इन निजस्थ तीर्थों को छोड़कर बाह्यतीर्थों की ओर जाता है वह मानो करस्थ श्रेष्ठ रत्न को छोड़कर काँच को ढूँढने निकलता है ॥ ५२ ॥ सभी कर्मों को सफल बनाने वाली भावना ही परम तीर्थ है । एक ही कर्म भावना बदल जाने से अलग फल दे देता है : पत्नी और पुत्री को आलिंगित एक ही तरह करने पर भी दोनों आलिंगनों में भावना अलग-अलग हैं अतः फलभूत पुलकादि भी विभिन्न हैं ॥ ५३ ॥ तीर्थों में जल ही है और वहाँ प्रतिष्ठित देवविग्रह

१ ङ. °तमच्चास्य° । २. क. ख. ग. °षु प्रकृ° ।

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादिनिर्मितान् । योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारिणः ॥ ५४ ॥
बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने । आत्मतीर्थं[1] परं तीर्थमन्तस्तीर्थं निरर्थकम् ॥ ५५ ॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति । शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥ ५६ ॥
विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा । वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः ॥ ५७ ॥
ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालित्तं जलम् । पापशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिसत्तम ॥ ५८ ॥

तीर्थे दाने तपोयज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा ।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवो देहे प्रतिष्ठितः ॥ ५९ ॥

सर्वत्रावस्थितं शान्तं न प्रपश्यन्ति शंकरम् । ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादहो मायाबलं मुने ॥ ६० ॥

आत्मस्थं यः शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यजते शिवम् ।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥ ६१ ॥
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥ ६२ ॥

अपूर्वानपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम् । प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति ॥ ६३ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं विशुद्धज्ञानदेहिनम् । स्वात्मन्यपश्यन्बाह्येषु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ६४ ॥

स्वात्मप्रत्ययेति । स्वात्मन्येव शास्त्रोदीरिततीर्थादिविश्वासवन्त इत्यर्थः ॥ ५४–५६ ॥ अतः प्रागुक्तपुण्यकालेषु[2] प्रागुक्ततीर्थस्नानेषु चित्तस्थापनलक्षणमेव स्नानं कार्यमित्याह–विषुवेति ॥ ५७ ॥ उक्तयोगासमर्थानामपि लघुप्रशस्तं चोपायमाह–ज्ञानयोगेति ॥ ५८–६१ ॥ प्रतिमानामुपयोगमाह–अज्ञानामिति ॥ ६२ ॥ अपूर्वं कारणरहितमनपरं कार्यरहितं निष्कलमखण्डमद्वयं सच्चिदानन्दैकरसमित्यर्थः । स पश्यतीति तदीयमेव दर्शनं फलवदित्यर्थः ॥ ६३ ॥ अन्तर्योगाभावे केवलबहिर्योगस्य वैफल्यमाह–सर्वभूतेति ॥ ६४ ॥

लकड़ी आदि से बने हैं । यह सोचकर योगी बाह्य तीर्थों में न जाकर शास्त्रानुसार निज में ही सब तीर्थ स्थित मानकर भावनापूर्वक साधना में लगे रहते हैं । ॥ ५४ ॥ बाह्य तीर्थों से आन्तर अध्यात्मतीर्थ और उनसे भी आत्मतीर्थ श्रेष्ठ है । आत्मतीर्थ ही सार्थक है, अन्य तीर्थ तब निष्फल हैं जब उस तीर्थ को समझ लिया जाता है ॥ ५५ ॥ जैसे शराब से भरे बर्तन को सैकड़ो बार बाहर से जल से धोने पर भी उसमें स्थित शराब साफ नहीं हो जाती है ऐसे ही, अंदर स्थित सदोष मन तीर्थस्नानों से शुद्ध नहीं होता ॥ ५६ ॥ अतः विषुव, अयन, ग्रहण आदि पूर्वदर्शित वेलाओं में आध्यात्मिक वाराणसी आदि में अपना चित्त एकाग्र करना चाहिये जिससे व्यक्ति का मन शुद्ध हो ॥ ५७ ॥ जो महात्मा ज्ञानयोग में तत्पर हों उनका चरणामृत अज्ञानियों के पापों की शुद्धि के लिये तीर्थ का कार्य करता है ॥ ५८ ॥ वह मूर्ख ही है जो तीर्थ, दान, तप, यज्ञ, लकड़ी, पत्थर आदि में ही शिव को स्थित समझता है । अपने शरीर में शिव प्रतिष्ठित हैं ॥ ५९ ॥ अहो माया कितनी बलवती है ! सर्वत्र उपस्थित शांत शंकर को लोग ज्ञानचक्षु से रहित होने के कारण देख नहीं पाते ॥ ६० ॥ जो अपने में स्थित महादेव को छोड़ बाहर स्थित शिव की पूजा करते हैं वे मानो हाथ में रखी मिठाई फेंक कर अपनी कोहनी को चाटते हैं (क्योंकि मिठाई से बहा रस कोहनी पर दीखता है) ॥ ६१ ॥ योगी लोग शिव को स्वयं में देखते हैं न कि प्रतिमाओं में । जिन्हें शिव की आत्मता का पता नहीं है, वे अज्ञानी शिव के प्रति प्रेम वाले बनें इसके लिये शास्त्र ने प्रतिमाओं का उपदेश दिया है ॥ ६२ ॥ जो व्यक्ति कारण-कार्य रहित व्यापक सत्य अखण्ड

---

१ आत्मैव स्वज्ञानेन तारयतीति भवत्यसौ तीर्थम् । २ ङ. "ण्यलोकेषु" ।

देवतां महतीमन्यामुपास्ते स्वात्मनो नरः ।
न स वेद परं तत्त्वमथ योऽन्यामिति श्रुतिः ॥ ६५ ॥
नाडीपुञ्जं सदासारं नरभावं महामुने । समुत्सृज्याऽऽत्मनाऽऽत्मानमहमित्यवधारय ॥ ६६ ॥
अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम् ।
आनन्दमक्षरं[1] साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६७ ॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने[2] । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति[3] ॥ ६८ ॥
सर्वं समासतः प्रोक्तं सादरं मुनिसत्तम ।
तस्मान्मायामयं देहं मुक्त्वा पश्य स्वमात्मकम् ॥ ६९ ॥
सूत उवाच— इति श्रुत्वा गिरां नाथो भक्त्या परवशः पुनः ।
स्तोतुमारभते देवमम्बिकापतिमद्भुतम् ॥ ७० ॥
बृहस्पतिरुवाच— जय देव परानन्द जय चित्सत्यविग्रहं ।
जय संसाररोगघ्न जय पापहर प्रभो ॥ ७१ ॥

महतीं देवतां परशिवात्मिकां स्वात्मनः सकाशादन्यां य उपास्ते भेदेन स मूढः पशुरित्यर्थः । अथ योऽन्यामिति श्रुतिरिति । वाजसनेयके हि श्रूयते—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते, अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानां यथा ह वै वहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु । तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः' इति ॥ ६५ ॥ भेदेन चेन्नोपासनीयं तर्हि कथमित्यत आह— नाडीपुञ्जमिति । नर इति भावोऽहमभिमानो यस्मिंस्तं नाडीपुञ्जं तदुपलक्षितं शरीरत्रयमुपाधिभूतमात्मना[4] समुत्सृज्य बुद्ध्या विविच्याऽऽत्मानमहमित्यवधारय परमात्मानं प्रत्यक्तादात्म्येनानुसंधेहीत्यर्थः ॥ ६६ ॥ उक्तेऽर्थे काठकश्रुतिमर्थत उदाहरति— अशरीरमिति । श्रुतिपाठस्त्वेवम्—'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" इति । मत्वा ज्ञात्वा ॥ ६७ ॥ तावतैव शोकाभावे कारणमाह—विभेदेति । निरतिशयानन्दपरशिवस्वरूपस्य हि जीवस्य तथात्वापरिज्ञाननिबन्धनो यो भेदः स एव सांसारिकसकलक्लेशहेतुरैकात्म्यज्ञानेन तादृगज्ञाननिवृत्तौ ब्रह्मणः सकाशादात्मनो जीवस्य तन्निबन्धनभेदाभावान्निर्हेतुकः संसारशोक इत्यर्थः ॥ ६८–८६ ॥

ज्ञानरूप आनन्दात्मक शिव को जानता है वही सही जानकारी वाला है ॥ ६३ ॥ जो व्यक्ति सब प्राणियों में स्थित विशुद्ध ज्ञानशरीर वाले आत्मा को स्वयं में नहीं समझ पाता, वह आँखों से देखते हुए भी अंधा ही है ॥ ६४ ॥ जो परमशिव को अपने से भिन्न मानकर उनकी उपासना करता है वह वास्तविकता से अनभिज्ञ है । श्रुति ने कहा है कि जो देवता और स्वयं को विभिन्न मानता है वह गैर जानकार है ॥ ६५ ॥ हे महामुनि बृहस्पति ! जिस नाडीपुंज वाले शरीर में तुम्हे अभिमान है कि 'यह नरदेह मैं हूँ या यह मेरा है' वह सर्वथा असार है । अतः उसमें अभिमान छोड़कर स्वयं अपनी प्रत्यगात्मरूपता का ही निश्चय करो । ॥ ६६ ॥ शरीरों में प्रतीत होते हुए भी जो शरीररहित है, महान्, व्यापक, जगद्योनि, आनन्दरूप, अक्षयस्वभाव शिव है, बुद्धिमान् उसे जानकर शोक से सर्वथा रहित हो जाता है ॥ ६७ ॥ शिव से अपने भेद के कारणभूत अज्ञान के बाधित हो जाने पर अब कौन उस सर्वथा असत् भेद को पुनरुत्पन्न करेगा ? ॥ ६८ ॥ मैने सब बातें संक्षेप में बता दी हैं । अतः मायिक शरीर को छोड़कर तुम

१ ग. °न्दमीश्वरं । २ °नवतां मुने° । ३ अनादितयाऽज्ञानस्य नष्टं सत्तन्न पुन र्जायतामित्यर्थः । ४ ख. °धित्रयभू° ।

जय पूर्ण महादेव जय देवारिमर्दन । जय कल्याण देवेश जय त्रिपुरमर्दन ॥ ७२ ॥
जयाहंकारशत्रुघ्न जय मायाविषापह । जय[1] वेदान्तसंवेद्य जय वाचामगोचर ॥ ७३ ॥
जय रागहरश्रेष्ठ जय द्वेषहराग्रज[2] । जय साम्ब सदाचार जय सर्वसमाकुल ॥ ७४ ॥
जय ब्रह्मादिभिः पूज्य जय विष्णो परामृत ।
जय विद्यामहेशान जय विद्याप्रदानेशम्[3] ॥ ७५ ॥
जय सर्वाङ्गसंपूर्ण नागाभरणभूषित । जय ब्रह्मविदां प्राप्य जय भोगापवर्गद ॥ ७६ ॥
जय कामहर प्राज्ञ जय कारुण्यविग्रह । जय भस्म महादेव जय भस्मावगुण्ठित ॥ ७७ ॥
जय भस्मरतानां तु पाशभङ्गपरायण । जय हृत्पङ्कजे नित्यं यतिभिः पूज्यविग्रह ॥ ७८ ॥
सूत उवाच—इति स्तुत्वा महादेवं प्रणिपत्य बृहस्पतिः ।
कृतार्थः क्लेशनिर्मुक्तो भक्त्या परवशोऽभवत् ॥ ७९ ॥
य इदं पठते नित्यं संध्ययोरुभयोरपि । भक्तिपारं गतो भूत्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८० ॥
गङ्गाप्रवाहवत्तस्य वाग्विभूतिर्विजृम्भते । बृहस्पतिसमो बुद्ध्या गुरुभक्त्या मया समः ॥ ८१ ॥
पुत्रार्थी लभते पुत्रं कन्यार्थी कन्यकामियात् । ब्रह्मवर्चसकामस्तु तदाप्नोति न संशयः ॥ ८२ ॥
तस्माद्भवद्भिर्मुनयः संध्ययोरुभयोरपि । जप्यं स्तोत्रमिदं पुण्यं देवदेवस्य भक्तितः[4] ॥ ८३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे नाडीचक्रनिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे नाडीचक्रनिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अपनी आत्मा का ही ज्ञान करो ॥ ६९ ॥

सूत जी बोले—यह सुनकर बृहस्पति ने शिवस्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ ७० ॥

बृहस्पति ने कहा—हे देव ! हे परमानन्दरूप ! हे ज्ञान व सत्य स्वरूप ! आपकी जय हो । संसाररोग के नाशक और पापनिवारक आपकी जय हो ॥ ७१ ॥ पूर्ण स्वभाववाले आप महादेव की जय हो । देवशत्रुओं के नाशक, कल्याणात्मक आप त्रिपुरारि की जय हो ॥ ७२ ॥ अहंकाररूप शत्रु को मारने वाले तथा मायारूप विष उतारने वाले आपकी जय हो । वेदान्तों से समझे जा सकने वाले वाणी के अविषय आपकी जय हो ॥ ७३ ॥ राग का हरण करने वाले, द्वेष को नष्ट करने वाले एवं सर्वप्रथम विजयी आपकी जय हो । सदाचार-प्रवर्तक, सबके समान होते हुए भी सबसे विलक्षण आप साम्ब की जय हो ॥ ७४ ॥ ब्रह्मादि द्वारा पूजित आपकी जय हो । विष्णुरूप तथा परम अमृतरूप आपकी जय हो । विद्या के शासक तथा निरंतर विद्यादान करने वाले आपकी जय हो ॥ ७५ ॥ सब अंगों से सम्पूर्ण और सर्परूप अलंकारों से सुशोभित आपकी जय हो । ब्रह्मवेत्ताओं को मिलने वाले एवं भोग-मोक्ष प्रदाता आपकी जय हो ॥ ७६॥ कामनाशक, प्राज्ञस्वरूप तथा करुणा के मूर्तिमान्रूप आपकी जय हो । भस्मरूप व भस्मभूषित आपकी जय हो। जो भस्मधारण में तत्पर रहते हैं उनके पाशों के नाशक आपकी जय हो । जिनका विग्रह सदा यतियों द्वारा हृदयकमल में पूजा जाता है उन आपकी जय हो ॥ ७७–७८ ॥

सूत जी बोले—यों महादेव की स्तुति कर बृहस्पति कृतार्थ, क्लेशमुक्त और भक्ति-परवश हो गये ॥ ७९ ॥ जो व्यक्ति इस स्तोत्र का प्रातः व सायं सन्ध्या के समय नित्य पाठ करता है वह भक्ति में पारंगत हो परब्रह्म को पा जाता है ॥ ८० ॥ उसके वचन गंगाप्रवाह की तरह अनवरत और अतिपावन होते हैं । वह बुद्धि

---

१. ङ., ०य विज्ञानसं० । २ अग्रेजयतीत्यग्रजः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा. ३.२.१०१) इति ङः । ३ प्रकाशनम् । ४ ङ. भक्तिदम् ।

द्वादशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समासतः ।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः ॥ १ ॥
यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ॥ २ ॥
स्वाश्रमे संस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः ।
पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वने[1]ऽथवा ॥ ३ ॥
मनोरमे शुचौ देशे वेदघोषसमन्विते । फलमूलैः सुसंपूर्णैर्वारिभिश्च सुसंयुते ॥ ४ ॥
सुशोभनं मठं कृत्वा सर्वरक्षासमन्वितम् । त्रिकालस्नानसंयुक्तः श्रद्दधानः समाहितः ॥ ५ ॥
विरजानलज[2] भस्म गृहीत्वा वाऽग्निहोत्रजम् । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालैः सप्तभिर्मुने ॥ ६ ॥
षड्भिर्वाऽऽथर्वणैर्मन्त्रैः समुद्धूल्य ततः परम् । तिर्यक्त्रिपुण्ड्रमुरसा शिरसा बाहुमूलतः ॥ ७ ॥
धारयेत्परया भक्त्या देवदेवं प्रणम्य च । सरस्वतीं सुसंपूज्य स्कन्दं विघ्नेश्वरं[3] गुरुम् ॥ ८ ॥
चन्द्रमादित्यमनिलं तथैवाग्निं महामुने ।
आरुह्य चाऽऽसनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ॥ ९ ॥

यतो नाडीचक्रज्ञानाधीनं तत्र चित्तप्रणिधानपूर्वकं नाडीशोधनमतस्तदनन्तरं तत्कथनमिति प्रतिजानीते—**अथात** इति । पापनिबन्धनस्य शोधनसमये नाडीस्खलनस्य परिहारायाऽऽह—**विध्युक्ते**ति । चित्तविक्षेपनिबन्धनस्य परिहारायाऽऽह—**कामे**ति ॥ १–२ ॥ **ज्ञानिभिरि**ति शोधनेऽनुभवपर्यन्तं ज्ञानवद्भिः । ऐकाग्र्यायानुकूलं देशमाह-**पर्वताग्र** इत्यादि ॥ ३ ॥ पावनत्वाय वैदिकाधिष्ठितं देशमाह—**वेदघोषे**ति । ननु योगाभ्याससमये वेदघोषापेक्षा । 'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोनुकूले नतु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' इति श्वेताश्वतरश्रुतेः ॥ ४–९ ॥

में बृहस्पति के समान और गुरुभक्ति में मेरे (सूत के) समान होता है । ॥ ८१ ॥ पुत्र चाहने वाले को पुत्र और कन्या चाहने वाले को कन्या मिलती है । ब्रह्मतेज का इच्छुक उसे ही प्राप्त करता है ॥ ८२ ॥ अतः आप मुनियों को दोनों संध्याओं के समय इस शिवस्तोत्र का पाठ करना चाहिये ॥ ८३ ॥

नाडीशुद्धिनिरूपण नामक बारहवा अध्याय

भगवान् शंकर ने आगे कहा—अब मैं संक्षेप से नाडीशुद्धि के विषय में बताऊँगा । साधक को चाहिये कि वह विधियों द्वारा विहित कर्मों को यथाकाल करता रहे और विषयों की इच्छाओं से विमुख हो ॥ १ ॥ यम आदि आठ अंगों का अनुष्ठान करे, चांचल्यरहित हो तथा सदा सत्य पर दृढ रहे । गुरु, माता और पिता की सेवा में उसे तत्पर रहना चाहिये ॥ २ ॥ अपने आश्रम में रहते हुए उसे सम्यग्ज्ञानियों से शिक्षा प्राप्त कर लेनी चाहिये । एकाग्रता के अनुकूल स्थानों में जैसे पहाड़ की चोटी, नदीतट, बेल के वृक्ष के नीचे, जंगल तथा अन्य मनोरम स्थलों में मठ बनाना चाहिये । जहाँ मठ बनाये वहाँ वातावरण आदि शुद्ध होना चाहिये व अनार्यादिसुंकल देश नहीं होना चाहिये । मठ में या आसपास वेद का घोष होता हो तथा मठ में फल, मूल व जल की कमी न हो । सर्दी, बरसात, हिंस्र पशु आदि से मठ सुरक्षित भी होना चाहिये । वहाँ साधक तीनों समय स्नान कर श्रद्धापूर्वक एकाग्रता का अभ्यास करे ॥ ३–५ ॥ विरजा होम की या अग्निहोत्र की

---

१ ग. "ने तथा । २ ग. "लकं भ" । ३ ङ. विश्वेश्वरं ।

समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ।
नासाग्रे शशभृद्बिम्बं बिन्दुमच्च तुरीयकम् ॥ १० ॥
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः । इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥ ११ ॥
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायञ्ज्वालावलीमयम् । बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत् ॥ १२ ॥
पश्चाद्विरेचयेत्प्राणं मन्दं पिङ्गलया बुधः । पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य वह्निबीजमनुस्मरन्[1] ॥ १३ ॥
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः । त्रिचतुर्वत्सरं वाऽथ त्रिचतुर्मासमेव वा ॥ १४ ॥
षट्कृत्व आचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसंधिषु । नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षिताम्[2] ॥ १५ ॥
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्तिनः । नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ॥ १६ ॥
यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत् । अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाश्रयेत् ॥ १७ ॥

समग्रीवेति । तथाच गीतासु–'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः । संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः । मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः' इति । नासाग्र इति । नासाग्रे चन्द्रबिम्बं तत्र यत्तुरीयकं यकाराच्चतुर्थं वकारं सबिन्दुकममृतस्राविणं स्मरन्नेत्राभ्यामपि तमेव देशं पश्यन्नित्यर्थः । तदुक्तमागमे– 'नासाग्रे मण्डलं चान्द्रं ज्योत्स्नाजालसमन्वितम् । नादबिन्दुयुजा मध्ये वकारेण विराजितम् ॥ ध्यायन्प्रपूरयेद्वायुम्' इति ॥ १०–११ ॥ बिन्दुनादसमायुक्तमिति । बिन्दुरनुस्वारः । नादस्तदनुगतो ध्वनिः ॥ १२–१५ ॥ नादाभिव्यक्तिरिति । अनाहतनादः स्फुरतीत्यर्थः[3] ॥ १६ ॥ विवेकज्ञानाधिकारवतस्तु तदेव पर्याप्तं, नाडीशुद्ध्यादिभिर्न प्रयोजनमित्याह– अथवैतदिति । पूर्वोक्ता विशुद्धिर्नाडीगत-पित्तश्लेष्मादिशोषणेन देहशुद्धिमात्रे हेतुः । विवेकज्ञानं तु नाडीपरिवृतं[4] स्थूलं देहं तत्र व्याप्तं लिङ्गशरीरं तदुभयोपादानं चाविद्यामात्मनः सकाशात्परिशोध्य विविक्तं सच्चिदानन्दैकरसमात्मतत्त्वं[5] व्यवस्थापयतीति पूर्वस्मादिदं प्रशस्ततरमित्यर्थः ॥ १७ ॥

भस्म से 'अग्निरिति' आदि मंत्रपूर्वक समुद्धूलन करे । सिर, बाहुमूल तथा सीने पर परम भक्ति से त्रिपुण्ड्र लगावे । महादेव को प्रणाम कर तथा सरस्वती, स्कंद, गणेश, गुरु, चंद्र, सूर्य, वायु तथा अग्नि की पूजा कर आसन पर पूर्व, पश्चिम या उत्तर की ओर मुख कर बैठे ॥ ६–९ ॥ गर्दन, सिर और गात सीधे रहने चाहिये । मुँह बंद रहना चाहिये व शरीर और उसके कोई अंग हिलने नहीं चाहिये । नाक के अग्रभाग पर सबिन्दु वकार वाले चन्द्रबिम्ब को देखे जिस चंद्रबिम्ब से अमृत का स्राव हो रहा हो ॥ १०$^1/_2$ ॥ इडा से प्राण को खींचकर पूरक करे और देह में स्थित ज्वालाओं वाली अग्नि का ध्यान करे । उस समय अनुस्वार और तदनुगत ध्वनि समेत अग्निबीज (रं) का चिंतन करे ॥ ११–१२ ॥ फिर धीरे-धीरे पिंगला द्वारा रेचक करे और अग्निबीज का अनुस्मरण करते हुए पिंगला से ही पुनः पूरक करे व इडा द्वारा शनैः शनैः रेचक करे । तीन-चार साल तक या कम से कम तीन-चार महीनों तक प्रतिदिन एकान्त में इस प्रकार छह बार अभ्यास करने से नाडीशुद्धि होती है । इस नाडीशुद्धि के ये चिह्न हैं– शरीर में हल्कापन, जठराग्नि की दीप्तता तथा अनाहत नाद का स्फुरण । इन चिन्हों से निश्चित होता

१. ङ. °बीजं मुनीश्वर° । २. क. घ. ङ. °क्षितम्° । ३. घ. °स्फुटती° । ४. घ. °वृते स्थू° । ५. ग. °नन्दरसात्मत° ।

आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयंप्रभः ।
अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो विभात्ययम्[1] ॥ १८ ॥
अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः ।
स एव सर्वदा शुद्धो नाज्ञः कर्मरतो हि सः ॥ १९ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । कर्म कर्तव्यमित्येवं बोधयेत्तान्समाहितः ॥ २० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे नाडीशुद्धिनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

वस्तुभूतश्लेष्मादिमलनिरसनं हि वस्तुभूतेनैव पवनेन भवति । नित्यशुद्धस्वप्रकाशचिदानन्दैकरस[2] आत्मा त्वविद्यामलेनैव मलिन इति विद्यया तन्निरासे स्वाभाविकी तस्य शुद्धिर्व्यवतिष्ठत इत्याह—आत्मा शुद्ध इति ॥ १८ ॥ १९ ॥ इयमेव यदि प्रशस्ता किमिति तर्हि भूतपूर्वा शुद्धिः शास्त्रैरुपदिश्यत इत्यत आह—न बुद्धिभेदमिति । अज्ञो हि कर्मणि सक्तो ज्ञानानधिकृत इति तस्य कृते साऽपि शुद्धिर्वक्तव्येत्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्री सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे नाडीशुद्धिनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

है कि नाडीशोधन हुआ या नहीं ॥ १३—१६ ॥ जब तक ये चिह्न स्फुट न हो जायें तब तक उक्त अभ्यास करते रहना चाहिये ।

अथवा, जो विवेक करने की सामर्थ्य वाला एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करने में सक्षम हो उसे इस शोधनादि को छोड़ निज आत्मा का शोधन करना चाहिये ॥ १७ ॥ आत्मा स्वरूप से सदा शुद्ध, नित्य, सुखरूप और स्वप्रकाश ज्ञानरूप है किन्तु इस तथ्य को न जानने से प्रतीत यों होता है मानो मलिन हो । वास्तविकता समझ लेने पर अपने स्वाभाविक शुद्ध रूप से प्रतीत होता है ॥ १८ ॥ अज्ञानरूप कीचड़ को ज्ञानरूप जल से धोकर जो हटा देता है वही सर्वदा शुद्ध है, अज्ञानी सर्वदा शुद्ध नहीं क्योंकि वह तो कर्म में लगा रहता है, ज्ञान से दूर ही रहता है ॥ १९ ॥ जिन्हें आत्मतत्त्व के विषय में कुछ मालूम नहीं अतएव जो कर्म करने और उसका फल पाने में आसक्ति वाले हैं, उनकी बुद्धि में कर्मविषयक संशय नहीं उत्पन्न करना चाहिये । कारण यह है कि वे कर्मत्याग का तात्पर्य तो समझ नहीं सकते अतः 'कर्म प्रशस्त नहीं है' सुनकर वे सत्कर्म छोड़ देंगे व दुष्कर्म करते रहेंगे जो उनकी दुर्गति का कारण होगा । अतः उन्हें धर्माचरण की प्रेरणा देते रहना चाहिये । जो आत्मजिज्ञासु हों उन्हें कर्मनैष्फल्य समझाकर आत्मबोध के अभ्यास में प्रवृत्त कराना चाहिये ॥ २० ॥

---

१. एवं च मान एव विशेषो नात्मनीत्यर्थः । २. ग. °शसच्चिदा° ।

त्रयोदशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि तवाष्टाङ्गानि सुव्रत ।
यमश्च नियमश्चैव तथैवाऽऽसनमेव च ॥ १ ॥
प्राणायामस्तथा विप्र प्रत्याहारस्तथा परः ।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमो मुने ॥ २ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश[1] ॥ ३ ॥
वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन ।
कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा ॥ ४ ॥

यत उक्तनाडीशोधनसापेक्षाणि यमादीन्यष्टौ योगाङ्गान्यतःतदनन्तरं तदभिधानमिति प्रतिजानीते–**अथात इति** ॥ १ ॥ २ ॥ उद्देशक्रमेण यमस्य लक्षणमाह–**अहिंसेत्यादि** ॥ ३ ॥ "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इति निषेधः स रागनिबन्धनाया एव हिंसायाः । अतः "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इति विधिनिवन्धना हिंसा न निषिध्यत इत्याह–**वेदोक्तेनेति** । अग्नीषोमीयस्य हि सोमयागाङ्गत्वात्तद्धिंसा विधिनिबन्धना । "श्येनेनाभिचरन्यजेत" इत्यत्रापि श्येनयागाङ्गभूतपशुहिंसा विधिनिवन्धनैव न निषिध्यते । या तु तेनाभिचारयोगेण शत्रुवधात्मिका हिंसा सा द्वेषनिबन्धनैवेति विध्यसंस्पर्शान्निषिध्यते[2] । शारीरहिंसाया एव हिंसात्वं न पुनर्वाचिकमानसयोरिति[3] भ्रमनिरासाय तद्भेदानाह–**कायेनेति** । साऽप्येकैका त्रिविधा । स्वयं कृताऽन्येन कारिता क्रियमाणा केवलमनुमोदिता चेति नवधा । तत्राप्येकैका त्रिविधा । लोभमूला क्रोधमूलाऽज्ञानमूला चेति सप्तविंशतिधा । साऽप्येकैका त्रिविधा । मृदुमात्रा मध्यमात्राऽधिकमात्रा चेत्येकाशीतिर्हि हिंसाभेदा वितर्कनामानस्त्यक्तव्याः । तत्त्यागोपायश्च तेषां निरतिशयदुःखहेतवस्तत्त्वज्ञानप्रतिवन्धकाश्चेति प्रणिधानम् । एतच्च सत्यवचनादिवितर्कान्तरेष्वपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं योगशास्त्रे–'वितर्कवाधने प्रतिपक्षभावनम्', 'वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्' इति ॥ ४ ॥

यमविधि-निरूपण नामक तेरहवा अध्याय

भगवान् ने कहा–अब मैं तुम्हे योग के आठों अंगों के विषय में बताऊँगा । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग प्रसिद्ध हैं ॥ १–२ ॥ 'यम' इन दस का नाम है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (अकुटिलता), क्षमा, धैर्य, मितभोजन और सफाई ॥ ३ ॥ हे तपोधन ! यह सत्य समझ लो कि वेदविहित प्रकार को छोड़ किसी अन्य ढंग से शरीर, मन या वाणी द्वारा की हिंसा ही शास्त्रीय दृष्टि से हिंसा है, विहित पशुवधादि हिंसा निर्दोष होने से इन प्रसंगों में हिंसाशब्द से नहीं कही जाती । स्वयं मन आदि से हिंसा न करना, किसी अन्य को हिंसा-

---

१. यद्यप्यहिंसादयः पंचैव यमाः पतंजलिनोदितास्तथाप्यन्यैर्दश प्रकीर्तिताः । तथा च याज्ञवल्क्यः 'ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिः दानं सत्यमकल्कता । अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः' ॥ ३.३१३ ॥ मानवेपि 'आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥' ४.२१४ ॥ आचार्यास्तु परिगणनमिह नेच्छन्ति ततश्च सामान्यलक्षणमाहुः 'मनःसाध्या यमाः स्मृता' इति (मानसोल्लासे ९.२२) । २. क. °ते । शरी° । ३. ख. °नसिकयो° ।

आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्य अदाह्य इति या मतिः ।

सा चाहिंसा परा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ५ ॥

यत्त्वदुष्टेन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं वेदविदां वर । तस्यैवोक्तिर्भवेद्विप्र सत्यता नान्यथा भवेत् ॥ ६ ॥

सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः ।

तत्सत्यं परमं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानभावितैः ॥ ७ ॥

अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि वा ।

मनसाऽपि निवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥ ८ ॥

आत्मनोऽनात्मभावेन ह्यपहारविवर्जनम् । यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ९ ॥

कायिकादिहिंसाया वर्जनमुक्त्वाऽऽत्महिंसाया वर्जनमाह—**आत्मा सर्वगत** इति । "अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" इति । उक्तस्याऽऽत्मस्वरूपस्याज्ञानमात्महिंसा । यदाहुः—"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा" इति । अतो ज्ञानेन तन्निरासः परमाऽहिंसेत्यर्थः ॥ ५ ॥ अहिंसावत्सत्यमपि परमपरं चेति द्विविधम् । तत्रापरमाह—**यत्त्वदुष्टेति** । भ्रमदृष्टाभिधानं प्रमाणदृष्टस्यापि[1] रागादिभिरन्यथाभिधानं चासत्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ परमं सत्यमाह—**सर्वं सत्यमिति** । सर्वं वस्तु ब्रह्मस्वरूपेणैव[2] सत्यं पृथक्त्वेनासत्यमिति यज्ज्ञात्वाऽभिधानं तत्सत्यमित्यर्थः[3] ॥ ७ ॥ अस्तेयमपि द्विविधम् । तत्राऽऽद्यमाह—**अन्यदीय** इति । मृदुमध्याधिकमात्रा इत्युक्तभेदोपलक्षणत्वेन तृणादिविभागकथनम् ॥ ८ ॥ द्वितीयमस्तेयमाह—**आत्मन** इति । अनात्मा देहेन्द्रियादिस्तद्रूपतयैवाऽऽत्मनो यत्परिज्ञानं स आत्मापहारः । "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा" इत्युक्तम् । तद्विवर्जनं देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तात्मानुसंधानं परममस्तेयमित्यर्थः ॥ ९ ॥

के लिये प्रेरित न करना और हिंसा का अनुमोदन न करना—इस प्रकार अहिंसा का अभ्यास करना चाहिये ॥ ४ ॥ परम अहिंसा तो यह निश्चय रखना है कि सर्वव्यापक आत्मा काटा, जलाया आदि नहीं जा सकता ॥ ५ ॥

निर्दुष्ट इन्द्रियों से जो देखा-सुना गया है उसका ही कथन करना सत्यवदन है ॥ ६ ॥ सब वस्तुयें ब्रह्मरूप से सत्य हैं, उससे पृथक् रूप से असत्य हैं—यह निश्चय परम सत्य है ॥ ७ ॥

किसी अन्य व्यक्ति की कोई भी वस्तु हो—तिनका, रत्न, सोना या मोती, उसे हथियाने की प्रवृत्ति मनमें भी न आये यह अस्तेय है ॥ ८ ॥ (जिस अनिषिद्ध वस्तु की कामना हो, याचना, सेवा, वाणिज्य आदि नियमों से उसे अर्जित करने का प्रयास करना चाहिये । नियमानुसार जो स्वकीय न हो उसे अपना मानकर उससे व्यवहारादि करना गलत है ।) परमार्थतः तो अस्तेय है आत्मा को अनात्मा न समझना । देहादि अनात्मा हैं, उन्हें आत्मा मान बैठना ही चोरी है ॥ ९ ॥

---

१ घ. °दृश्यस्या° । २ घ. °व सम्यक्पृ° । ३ अयमेवास्याश्चूडामण्युक्तेरभिप्रायः 'सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेवे'ति (श्लो. २३२) ।

कायेन मनसा वाचा नारीणां परिवर्जनम् ।
ऋतुसेवां विना स्वस्यां ब्रह्मचर्यं तदुच्यते ॥ १० ॥
ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परं तथा । आत्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा ॥ ११ ॥
अनुकम्पा दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ।
पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि संततम् ॥ १२ ॥
ऐकरूप्यं[1] मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया । कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते ॥ १३॥
चित्तक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुंगव । वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा ॥ १४ ॥
इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः ।
अहमात्मा न मर्त्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मतिः ॥ १५ ॥

अपरं ब्रह्मचर्यमाह–कायेनेति । अनुरागपुरःसराणि नारीणां स्पर्शभाषणचिन्तनान्यब्रह्मचर्यम् । उक्तं हि–"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यम्" इति । ऋतौ स्वभार्यासेवा तु ब्रह्मचर्यमेव । ऋताविति विहितकालोपलक्षणम् । श्रूयते हि–"प्राणं[2] वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यते" इति ॥ १० ॥ ब्रह्मभाव इति । ब्रह्मात्मैकत्वे मनसश्चरणं ब्रह्मचर्यम् । श्रूयते हि–"येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्। तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया च" इति । अत्र परमपरं ब्रह्मचर्यं विवक्षितम् । आत्मवदिति । अनुकम्पा रक्षाभिमुखी बुद्धिः । यदुक्तमागमे–"रोगार्तस्य रिपोर्वाऽपि मित्रस्यान्यस्य वा पुनः । तद्रक्षाभिमुखी बुद्धिर्दयैषा भाषिता बुधैः" इति । पुत्रे मित्र इति । तदुक्तं गीतासु–"सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ॥ साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते" इति ॥ ११ ॥ १२ ॥ कायेनेति । त्रिभिरपि करणैः पीडने चित्तविक्षेपविरहः क्षमा ॥ १३ ॥ वेदादेवेति । वेदविप्लावकवचनेषु सत्स्वपि वेदविरुद्धधर्मपरिहारेण वैदिकधर्मेषु स्थैर्यमपरमा धृतिः ॥ १४ ॥ परमामाह–अहमात्मेति । उक्ता हि धृतिर्देहाद्विविक्तात्मविषयेति परमा धृतिः ॥ १५ ॥

शरीर, मन और वाणी से स्त्रियों का भोग न करना ब्रह्मचर्य है । (कामुकतापूर्वक तथा कामुकता के अनुकूल स्मरण, कथन, वार्तालाप, दर्शन, पठन, इच्छा आदि सभी भोग ही हैं ।) गृहस्थ के लिये ब्रह्मचर्य यही है कि ऋतुकाल तथा अपनी पत्नी से इतर स्त्रियों से उक्त त्रिविध भोग न करे ॥ १० ॥ परम ब्रह्मचर्य तो यह है कि मन ब्रह्मभाव में स्थिर रहे ।

जैसे स्वयं अपनी रक्षा के लिये हम सदा यत्नशील रहते हैं, ऐसे शरीर, मन और वाणी द्वारा सब प्राणियों की रक्षा के लिये तत्पर रहना दया है । ॥ ११½ ॥

पुत्र, मित्र, पत्नी, शत्रु व स्वयं अपने प्रति निरंतर एकसा भाव रहना आर्जव है । (तात्पर्य है कि जैसे हम अपने लिये उचित ही व्यवहार चाहते हैं वैसे ही जिस किसी से हम व्यवहार करें, उचित ही व्यवहार करे । जैसे दूसरे को हम उतना ही देना चाहते हैं जितना अनिवार्य हो वैसे दूसरे से भी उतने की ही आशा रखें । एकसे भाव का यह अर्थ नहीं कि मित्र के प्रति शत्रुभाव या शत्रु के प्रति मित्रभाव हो । किन्तु दोनों के प्रति औचित्यपूर्ण भाव रखें यह अर्थ है) । ॥ १२½ ॥

शत्रुओं द्वारा शरीर, मन या वाणी द्वारा परिपीडित होने पर चित्त क्षुब्ध न होना क्षमा है । (पीडा से दुःख तो प्रारब्धवश होता है, क्षोभ हमारे आग्रहों से हम करते हैं । रोज असंख्य लोग मरते ही हैं । किसी दिन

१ घ. ऐक्यरूपं । २ घ. प्राणा वा ।

या सा प्रोक्ता धृतिः श्रेष्ठा मुने वेदैकवेदिभिः ।
अल्पमिष्टाशनाभ्यां तु नास्ति योगः कथंचन ॥ १६ ॥
तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम् । स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने ॥ १७ ॥
यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः ।
अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचं वाञ्छन्ति पण्डिताः ॥ १८ ॥
अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥ १९ ॥
ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः ।
स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत ॥ २० ॥

अल्पेति । अल्पाशने तु धातुसंक्षोभः । अधिकेऽजीर्णं निद्रालस्यादि वा । अतो मिताहारो योगाङ्गमिति । उक्तं च–'अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत् । प्राणसंचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥ गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता' इत्यादि वैद्यशास्त्रोक्तं द्रष्टव्यम्[1] ॥ १६ ॥ स्वदेहेति । 'शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां भवेद्बाह्यं भावशुद्धिस्तथाऽऽन्तरम्'' । इति स्मरणात् ॥ १७ ॥ अहं शुद्ध इति । 'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्पन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः' । अतस्तदविवेक एवाशौचं तद्विवेकज्ञानं शौचमित्यर्थः ॥ १८ ॥

हमारा पुत्र मरता है तो दुःख तो होगा ही । किन्तु 'मेरा ही पुत्र क्यों मरा, इसी निमित्त क्यों मरा, अभी ही क्यों मरा' इत्यादि क्षोभ हम स्वयं करते हैं । इससे आगे द्वेष, क्रोध आदि दुर्भाव उत्पन्न होते हैं । प्रारम्भ में क्षोभ होने पर विचार कर उसे शांत करना चाहिये । यह तितिक्षा की अवस्था है । जब यह आदत इतनी दृढ हो जाये कि मन में क्षोभ उठे ही नहीं, तब क्षमा है) ॥ १३½ ॥

वैदिक विचारक धृति या धैर्य इस निश्चय को कहते हैं कि वेदप्रोक्त साधनानुष्ठान से ही संसरण से मोक्ष संभव है, अन्य किसी तरह नहीं । परमार्थतः धैर्य तो यह निष्कम्प निश्चय है कि मैं आत्मा हूँ; मरणधर्मा नहीं ॥ १४–१५½ ॥

अल्प या यथेष्ट भोजन करने से किसी तरह योग संभव नहीं । अतः योगानुष्ठान हो सके इसके अनुकूल मात्रा में भोजन करना मितभोजन है । (एक दिन भरपेट भोजन कर फिर चौबीस घंटे कुछ न खा तदनन्तर पुनः भरपेट भोजन करने से अपना पूर्ण आहार पता चलता है । उससे आधा आहार प्रतिदिन खाना चाहिये ऐसा आयुर्वेदिकों का कथन है ।) ॥ १६½ ॥

बाह्य, मानस और पारमार्थिक भेद से शौच अर्थात् सफाई तीन प्रकार का है । मिट्टी व जल से अपने शरीर के मल को साफ करना बाह्य शौच है । शिवात्मविषयक मनन करना मानस शौच है । 'मैं शुद्ध हूँ' यह प्रामाणिक निश्चयात्मक ज्ञान पारमार्थिक शौच है । ॥ १७–१८ ॥ देह अत्यन्त मलिन और देही आत्मा अत्यन्त निर्मल है । इन दोनों का भेद जानकर फिर किसकी सफाई की जाये ? ॥ १९ ॥ (अर्थात् शरीर स्वरूपतः अशुद्ध होने से साफ नहीं किया जा सकता और आत्मा स्वभावतः शुद्ध ही होने से साफ नहीं किया जा सकता । अभी हम इन दोनों को एकमेक कर जानते हैं अतः हमें शुद्धि-अशुद्धि का भ्रम है । इनके परस्पर भेद

---

१. आचार्यैश्चोक्तम् 'हितपरिमितभोजी नित्यमेकान्तसेवी' त्यादि (सर्ववे.वे.सि.सा.श्लो. ३७२) ।

ज्ञानाम्भसैव शुद्धस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
कर्तव्यं नास्ति लोकेऽस्मिन्नस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥ २१ ॥
लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनः ।
इहैव जीवन्मुक्तास्त इह चेदिति हि श्रुतिः ॥ २२ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादिसाधनैः । आत्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि ज्ञानात्तु वेदजात् ॥ २३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे यमविधिनिरूपणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि नियमान्मुनिसत्तम ।
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्[1] ॥ १ ॥

विवेकज्ञानस्यैव शौचत्वे हेतुमाह–अत्यन्तमलिन इति ॥ १९–२१ ॥ किंचिदिति । किमपि नास्ति । इहैव जीवन्मुक्तत्वे श्रुतिमुदाहरति– इह चेदिति । 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इति तलवकारोपनिषदीत्यर्थः ॥ २२–२३ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डेऽष्टाङ्गयोगे यमविधिनिरूपणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

को पक्का समझ लें तो यह भ्रम हट जाये ।) जो मनुष्य ज्ञानशौच अर्थात् ज्ञान-लभ्य पारमार्थिक शौच छोड़कर बाह्य शौच में ही तत्पर रहता है वह मानो स्वर्ण छोड़कर मिट्टी इकट्ठी करता है ॥ २० ॥ जो योगी ज्ञानवारि से साफ हो चुका है वह कृतकृत्य है, उसका संसार में कोई कर्त्तव्य रह नहीं गया है । यदि कर्त्तव्य रह गया है तो निश्चित है कि वह तत्त्ववेत्ता नहीं है ॥ २१ ॥ आत्मज्ञानियों का त्रिलोकी में कहीं कोई कर्त्तव्य नहीं है । वे जीवित रहते हुए ही मुक्त हैं यह श्रुति का मत है ॥ २२ ॥ इसलिये हे मुनि ! पूरा प्रयत्न कर अहिंसादि साधनों का अभ्यास कर वैदिक वाक्य से अपने आपको अक्षर ब्रह्म जानो ॥ २३ ॥

नियमविधिकथन नामक चौदहवा अध्याय

भगवान् ने कहा–हे श्रेष्ठ मुनि ! अब मैं नियमों को बताता हूँ । तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्त-श्रावण, लज्जा, मति, जप और व्रत–ये नियम योग के जानकार महात्माओं द्वारा बताये गये हैं

१. ङ. °ररअनम्°.।

सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।
एते च नियमाः[1] प्रोक्ता योगविद्भिर्महात्मभिः ॥ २ ॥
तानहं क्रमशो वक्ष्ये शृणु श्रद्धापुरःसरम् । वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ॥ ३ ॥
शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः । कोऽहं मोक्षः कथं केन संसारं प्रतिपन्नवान् ॥ ४ ॥
इत्यालोचनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः[2] ।
यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम् ॥ ५ ॥
तं संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः । ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्तस्य[3] परात्मनि ॥ ६ ॥
प्रियं यत्तन्महाप्राज्ञाः संतोषं परमं विदुः ।
श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते ॥ ७ ॥
न्यायार्जितं धनं चान्नं श्रद्धया वैदिके द्विजे । अन्यद्वा यत्प्रदीयेत तद्दानं प्रोच्यते मया ॥ ८ ॥
अवैदिकाय विप्राय दत्तं यन्मुनिपुङ्गव । नोपकाराय तत्तस्य भस्मनीव हुतं हविः ॥ ९ ॥

यतो यमवन्नियमा अपि योगाङ्गमतस्तदनन्तरं तान्वक्तुं प्रतिजानीते—अथात इति ॥ १–२ ॥ अपरं तप आह—वेदोक्तेनेति । कृच्छ्रचान्द्रायणादिस्वरूपं प्रागुक्तम् ॥ ३ ॥ परमं तप आह—कोऽहमिति । उक्तं हि—"मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः । तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः परमो मतः" इति ॥ ४–५ ॥ परमं संतोषमाह—ब्रह्मादीति । श्रूयते हि—"ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः, स एकः प्रजापतेरानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" इति ॥ ६–९ ॥

॥ १–२ ॥ इन्हें क्रमशः समझाता हूँ । वेदोक्त ढंग से कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि द्वारा शरीर का शोषण तप है । परम तप तो यह विचार है 'मैं कौन हूँ, मोक्ष कैसे होगा, किस कारण से मेरा संसरण हो रहा है ?' ॥ ३–४½ ॥ संयोगवश जो मिल जाये उसीसे प्रसन्न हो जाना सन्तोष है । परमार्थतः सन्तोष है ब्रह्मलोक पर्यंत संसार से विरक्त होकर परमात्मा में प्रेम रखना ॥ ५–६½ ॥ श्रुति-प्रोक्त व स्मृति-प्रतिपादित अर्थ में विश्वास करना आस्तिकता है ॥ ७ ॥ उचित नैतिक मार्ग से कमाये धन, अन्न आदि को वैदिक ब्राह्मण को प्रदान करना दान है । अवैदिक ब्राह्मण को जो दिया जाता है वह भस्म में प्रक्षिप्त हवि की तरह कोई उपकार नहीं करता ॥ ८–९ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्वारा क्रमशः शंकर, विष्णु और ब्रह्मा की अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार भक्तिपूर्वक पूजा करना ईश्वर-पूजा है । हृदय को राग आदि से

---

१. सुरेश्वरगुरवस्तु 'स्नानं शौचं क्रतुः सत्यं जपो होमश्च तर्पणम् । तपो दानं तितिक्षा च नमस्कारः प्रदक्षिणम् ॥ व्रतोपवासाद्याश्चान्ये कायिका नियमाः स्मृताः ॥' (मानसो. ९.२३–२४) इत्याहुः । याज्ञवल्क्यीये पुनः 'स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः । नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥' (३.३१४) इति । मानवे (४.२१६) शौचादयो दश नियमाः । पातञ्जले तु शौचादीश्वरप्रणिधानान्ता पंचैव प्रसिद्धाः । मानसकायिकभेदेन विभागस्य स्पष्टत्वादाचार्योक्तिरेव श्रद्धेया । २. तथा च तैत्तिरीयवार्तिके 'मनसश्चेन्द्रियाणां चेत्येवमाध्यात्मिकं तपः ।...अन्वयव्यतिरेकादिचिन्तनं वा तपो भवेद् । अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधायालमिदं यतः ॥ कोहं कस्य कुतो वेति कः कथं वा भवेदिति । प्रयोजनमतिर्नित्यमेवं मोक्षाश्रमी भवेत् ॥ व्यास प्राहातएवेदं मुमुक्षोर्मुक्तये तपः ॥' (३.१.१८–२०) इति । ३ ग. °रक्तः परमात्म° ।

ब्रह्माणं विष्णुमीशानं वैश्यक्षत्रियवाडवैः । यथाशक्त्यर्चनं[1] भक्त्या यत्तदीश्वरपूजनम् ॥ १० ॥
रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना[2] । हिंसाविरहितः काय एतच्चेश्वरपूजनम् ॥ ११ ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं ध्रुवं परम् । प्रत्यगित्यवगत्यन्तं वेदान्तश्रवणं बुधाः ॥ १२ ॥
सिद्धान्तश्रवणं प्राहुर्द्विजानां मुनिसत्तम । शूद्राणां च विरक्तानां तथा स्त्रीणां महामुने ॥ १३ ॥
सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं पुराणश्रवणं बुधैः । वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ॥ १४ ॥
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैवेति कीर्तिता ।
वैदिकेषु हि सर्वेषु श्रद्धया सा मतिर्भवेत् ॥ १५ ॥
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तन्त्रसंबन्धवर्जितः । वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥ १६ ॥
[3]कल्पे सूत्रेऽथवा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके ।
इतिहासे[4]ऽनुवृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया ॥ १७ ॥
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ १८ ॥

ब्रह्माणमिति । वैश्यैर्ब्रह्माणं क्षत्रियैर्विष्णुम् । वाडवा ब्राह्मणास्तैरीशानं स्वीकृत्य यदर्चनं तदित्यर्थः ॥ १०-११ ॥ प्रत्यगिति । अवगतिरापरोक्ष्यम् ॥ १२ ॥ तथा स्त्रीणामिति । त्रैवर्णिकस्त्रीणां तु श्रौते विकल्प उक्तः ॥ १३–१५ ॥ उपदिष्टोऽपीति । न पुनः पुस्तकपाठादिमात्रेण ज्ञात इत्यर्थः । तन्त्रसंबन्धेति । कापालं नाकुलं वाममित्यादिवेद-विरुद्धागमसंस्पर्शरहित इत्यर्थः ॥ १६–१७ ॥ वेदविरुद्धतन्त्रसंबन्धत्यागे[5] कारणमाह—या वेदबाह्या इति ॥ १८ ॥

रहित रखना, वाणी को असत्य आदि से सदोष न बनाना और शरीर से हिंसा आदि न करना, यह भी ईश्वर-पूजा है ॥ १०–११ ॥ प्रत्यगात्मा ही सत्य, ज्ञान, अनन्त, परम आनन्द, कूटस्थ, संसार से अस्पृष्ट है—इस अपरोक्ष निश्चय पर्यन्त उपनिषदों का तात्पर्य-अवधारण द्विजों के लिये सिद्धान्त-श्रवण है । वैराग्य वाले शूद्रों के लिये एवं स्त्रियों के लिये पुराण-श्रवण सिद्धान्तश्रवण है । त्रैवर्णिक स्त्रियों के लिये उपनिषद्-श्रवण भी विकल्पतः प्राप्त है, यह कहा जा चुका है (१.७.२०) ॥ १२–१३½ ॥ वैदिक तथा लौकिक दृष्टि से जो कुत्सित (सदोष) कर्म हो उसे करने में जो संकोच का अनुभव है उसे लज्जा कहते हैं ॥ १४½ ॥ वैदिक तथा अन्य सत्कर्मों में श्रद्धापूर्वक जो चिकीर्षा होती है वह मति कही जाती है ॥ १५ ॥ (अतः सत्कर्म करने में संकोच लज्जा नहीं, भय कहा जा सकता है । 'श्रद्धा या सा' यह बाल. पाठ बेहतर है।)

कापालादि तंत्रों से असम्बद्ध तथा गुरु के उपदेश से प्राप्त मन्त्र का वेदोक्त ढंग से पुनः पुनः उच्चारण करना जप है । मुझ रोमहर्षण का तो कहना है कि कल्पसूत्र, वेद, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहास (रामायण, महाभारत) की अनुवृत्ति करना जप है । जो वेदविरुद्ध स्मृतियाँ हैं तथा जो भी कोई कुदृष्टियाँ हैं वे पारलौकिक या पारमार्थिक किसी फल को देने वाली नहीं अतः वे तमोनिष्ठ (अज्ञानमय) मानी गयी हैं । अपने लिये विहित धर्म यदि सब अंगों समेत न किया जा सके तो भी उसका अनुष्ठान श्रेष्ठ है बजाय उस सांगोपांग धर्मानुष्ठान के जिसका अपने लिये विधान न हो । स्वधर्म करते हुए चाहे जीवन बीत जाये यह इससे कहीं अच्छा है कि उसे छोड़ उस धर्म का पालन करें जिसका विधान अपने लिये न कर अन्यों के लिये किया गया है । (उदाहरणार्थ, उपनीत द्विज के लिए त्रिकाल सन्ध्या विहित है व शूद्रादि के लिये लौकिक स्तोत्रादि का पाठ । यदि द्विज पूरी सन्ध्या न कर पाये और लौकिक स्तोत्रादि अच्छे ढंग से कर पाये तो भी उसे आधी-अधूरी जैसी बन पड़े सन्ध्या ही करनी चाहिये न कि उसे छोड़ लौकिक स्तोत्रादि में प्रवृत्ति । मीमांसकों ने नित्य कर्मों के लिये यह स्वीकारा है कि सब अंग न कर पाये तो जितने कर सकता है उतने अंगों

---

१. क. ग. घ. °शक्त्यार्चन° । २. घ. ङ. °दिभिः । हिं° । ३ ग. जपे । ४ घ. °से च वृ° । ङ. °से निवृ° । ५ ङ. °न्त्रप्रबन्ध° ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः । १९ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन वेदमन्त्रं सदा जपेत्[1] ।
जपश्च द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥ २० ॥
वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः । मानसो मननध्यानभेदाद् द्वैविध्यमास्थितः ॥ २१ ॥
उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुण उच्यते । मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुण उच्यते ॥ २२ ॥
उच्चैर्जपस्तु सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् ।
नीचैः श्रुतो न चेत्तोऽपि श्रुतश्चेन्निष्फलो भवेत् ॥ २३ ॥
ऋषिं छन्दोऽधिदैवं च ध्यायमानो जपेन्नरः । प्रसन्नगुरुणा पूर्वमुपदिष्टं त्वनुज्ञया ॥ २४ ॥

वेदोक्तधर्मसम्यगनुष्ठानाशक्तस्यापि यथाशक्ति तदनुष्ठानमेव, न तु विरुद्धतन्त्रार्थानुष्ठानमित्याह—श्रेयान्स्वधर्म इति ॥ १९–२० ॥ वाचिकोपांशुरिति संधिश्छान्दसः ॥ २१–२२ ॥ उच्चैर्जपादुपांशुजपः फलेन सहस्रगुण[2] उक्तः । उच्चैर्जपस्तु कियत्फल इत्यत आह—उच्चैर्जपस्तु सर्वेषामिति । यो मंत्रजपो यावतः[3] फलस्य साधनत्वेन शास्त्रे कथितः स तावत्फलस्तत्सहस्रगुणस्तन्मन्त्रोपांशुजप इत्यर्थः । उच्चैर्जपोऽपि[4] यथा नीचैर्म्लेच्छैर्न श्रूयते तथाऽरण्यादौ विविक्तदेशे क्रियते चेदुक्तफलो भवति । प्रमादात्तैः श्रुतश्चेत्तस्य यथोक्तमपि फलं नास्तीत्याह—नीचैरिति ॥ २३ ॥

दशमं नियमव्रतमाह—प्रसन्नेति । प्रतिबन्धकपापनिरासद्वारा चित्तशुद्धये पुण्योपचयद्वारा फलानुकूल्याय च गुर्वनुज्ञया क्रियमाणमुपवासादिकं व्रतमित्यर्थः ॥ २४ ॥ व्रतशब्दस्यार्थान्तरमाह—अथवेति ॥ २५ ॥ एतद्वेदेति । अथर्वशिरसि—

से ही नित्य कर्म कर ले, उसे छोड़े नहीं । हाँ, काम्य कर्म तो तब करे जब सांगोपांग कर सके : 'एवं च सांगं यावज्जीवं न शक्नोति कश्चिदपि कर्तुमिति कृत्त्वा यावच्छक्नुयादित्युपनिबध्यते । शक्तस्य कामतो वैगुण्यं स्यात् । काम्ये तु यदा शक्नुयात् तदा प्रवर्तते ।' (टुप्टीका ६.३.१.२) शक्तस्येति—यः शक्नोति नित्यमपि सांगं कर्तुं स नाम लोभालस्यादिना न चेत्कुर्याद्, अंगं न सम्पादयेद्, वैगुण्यमेव तदा स्यात् नित्यानिर्वृत्तितुल्यतैव भवेदित्यर्थः ।) अतः पूरा प्रयत्न कर अधिकारी को सदा वेदमंत्रों का ही जप करना चाहिये ॥ १६–१९½ ॥ जप दो प्रकार का बताया गया है—वाचिक और मानस । वाचिक पुनः दो प्रकार का है—उपांशुस्वर से और उच्च स्वर से । मानस भी दो प्रकार का है—मनन और ध्यान । ऊँचे स्वर से जप करने की अपेक्षा उपांशु जप हज़ार गुना अधिक श्रेष्ठ है । (जिस जप को अतिसमीप स्थित भी अन्य व्यक्ति न सुन सके उसे उपांशु कहते हैं । अतः उपांशुस्वर मंद स्वर—बुद्बुदाहट को कहते हैं ।) उपांशु की अपेक्षा मानस जप हज़ार गुना अधिक श्रेष्ठ है । उच्च स्वर से किया जप तो उतना ही फल देता है जितना शास्त्र ने सामान्यतः जप का फल बता रखा है । उपांशु आदि जप उससे हज़ार आदि गुना अधिक फल देते हैं । उच्च स्वर से किया जाता जप म्लेच्छ आदि नीच मनुष्यों द्वारा नहीं सुना जाना चाहिये अन्यथा वह निष्फल हो जाता है । ऋषि, छन्द और देवता का ध्यान करते हुए जप करना चाहिये ॥ २०–२३½ ॥

सेवादि से प्रसन्न हुए गुरु ने जिस उपायविशेष का उपदेश दिया हो व उसके अनुष्ठान के लिये अनुमति दी हो उसका पुण्य प्राप्ति के लिए या मनःशुद्धि के लिये यथानियम अनुष्ठान करना व्रत है । अथवा अथर्ववेदोक्त मंत्रों से सारे शरीर का भस्मोद्धूलन व्रत है जिसे वेदान्तों में पाशुपतव्रत कहा गया है ॥ २४–२६ ॥ इसे ही

१. अतएव यतिभिः श्रवणादावेव यथाशक्ति यतनीयं न तु देवतार्चनादौ एवमितरैः स्वस्ववर्णाश्रमधर्मा एवाचरणीया न तु तेषां साकल्येनाननुष्ठानात्सर्वथाऽननुष्ठानमेव । एतेन—ये सन्ध्यां न कुर्वन्ति ते जपमपि मा कार्षु नैष्फल्यादित्यादि ब्रुवन्तः प्रत्याख्याताः । यत्नतः सगुणं कर्म कार्यं परमशक्तौ विगुणमपि तदेव कार्यं न तु तस्य त्यागएवेति । २. क. ख. ग. घ. °गुणोऽस्तूक्त° । ३. ङ. °यावत्फल° । ४. घ. श्रुतस्यैतस्य ।

धर्मार्थमात्मशुद्ध्यर्थमुपायग्रहणं व्रतम् । अथवाऽऽथर्वणैर्मन्त्रैर्गृहीत्वा भस्म पाण्डुरम् ॥ २५ ॥

सर्वाङ्गोद्धूलनं यत्तद् व्रतं प्रोक्तं मनीषिभिः । एतद्वेदशिरोनिष्ठाः प्राहुः पाशुपतं मुने ॥ २६ ॥

केचिच्छिरोव्रतं प्राहुः केचिदत्याश्रमं विदुः ।

केचित्तद् व्रतमित्यूचुः केचिच्छांभवमैश्वरम् ॥ २७ ॥

अस्य व्रतस्य माहात्म्यमागमान्तेषु संस्थितम् । सर्वपापहरं पुण्यं सम्यग्ज्ञानप्रकाशकम् ॥ २८ ॥

यः पशुस्तत्पशुत्वं च व्रतेनानेन[1] न त्यजेत् ।

तं हत्वा न स पापीयानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ २९ ॥

सर्वमुक्तं समासेन नियमं मुनिसत्तम । अनेन विधिना युक्तो भस्मज्योतिर्भविष्यति ॥ ३० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे नियमविधिकथनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

"अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा निमृज्याङ्गानि संस्पृशेद्व्रतमेतत्पाशुपतम्" इत्युक्तमित्यर्थः ॥ २६ ॥ व्रतपदस्य मतभेदेनार्थान्तराण्याह—केचिदिति । 'शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' इत्याथर्वणिका आहुरित्यर्थः । केचिदिति । 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्' इति श्वेताश्वतरशाखिनो व्यवहरन्तीत्यर्थः। व्रतं नाम शांभवमित्यन्ये, ऐश्वरमित्यपरे कथयन्तीत्यर्थः । अथवा यथोक्तपाशुपतव्रतमेव शिरोव्रतात्याश्रमशांभवैश्वरशब्दैराथर्वणिकादिभिरभिधीयत इत्यर्थः ॥ २७ ॥ आगमान्तेष्वपरेष्वपि बहुषु वेदान्तेषु ॥ २८ ॥ यः पशुरिति । सुकरसर्वभोगोपकरणं परमपुरुषार्थसाधनं चैतत्पाशुपतव्रतम् । अमुना व्रतेन यः पशुः स्वात्मनः पशुत्वं न जहाति स आत्मघातकत्वादाततायी । अतः—"आततायिवधे दोषो हन्तुर्नास्त्येव कश्चन" इति वेदविदः स्मरन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ भस्मज्योतिरिति भस्मैवोक्तरीत्या तत्त्वावबोधहेतुत्वाज्ज्योतिर्यस्य स तथोक्तः ॥ ३० ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे नियमविधिकथनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

कहीं शिरोव्रत, कहीं अत्याश्रमव्रत, कहीं शांभव व्रत और कहीं ऐश्वरव्रत कहा है। (अथवा शिरोव्रतादि अन्यान्य व्रतों को यहाँ सूचित किया है।) इस पाशुपतव्रत का माहात्म्य उपनिषदों में बताया है । यह सब पापों का निवारण करता है, शुद्धि का आधान करता है और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करता है ॥ २७—२८ ॥ जो जीवरूप पशु इस व्रत के सहारे अपनी वह हेय पशुता छोड़ता नहीं, उसे यदि मार दिया जाये तो मारने वाले को अधिक पापी नहीं समझना चाहिये । (इसे न करते हुए जीने से मरना कोई बुरा नहीं ।) ॥ २९ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! मैंने नियम-विषयक सभी बातें संक्षेप में बता दी । इस प्रकार इनका पालन करने से व्यक्ति 'भस्मज्योति' हो जायेगा । (भस्म के उद्धूलन द्वारा तत्त्वज्ञानरूप ज्योति प्राप्त करने वाला 'भस्मज्योति' शब्द से कहा गया है ।) ॥ ३० ॥

---

१. घ. °नान्येन° ।

पञ्चदशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच– आसनानि[1] पृथग्वक्ष्ये शृणु वाचस्पतेऽधुना ।
स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरं सिंहासनं तथा ॥ १ ॥
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च । सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुंगव ॥ २ ॥
जानूर्वोरन्तरे विप्र कृत्वा पादतले उभे । समग्रीवशिरस्कस्य स्वस्तिकं परिचक्षते ॥ ३ ॥
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् । दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं तत्प्रचक्षते ॥ ४ ॥
अङ्गुष्ठावपि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम् । पद्मासनं भवेदेतत्पापरोगभयापहम् ॥ ५ ॥
दक्षिणोत्तरपादं तु सव्य ऊरुणि विन्यसेत् । ऋजुकायः सुखासीनो वीरासनमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

यमनियमानुक्त्वा क्रमप्राप्तमासनं बृहस्पतिं प्रति वक्तुमीश्वरः प्रतिजानीते–आसनानीति । तानि[2] नव तावदुद्दिशति–स्वस्तिकमिति ॥ १ ॥ २ ॥ स्वस्तिकस्य लक्षणमाह–जानूर्वोरिति । दक्षिणजानूरुमध्ये वामपादतलं वामजानूरुमध्ये दक्षिणपादतलं च विन्यस्य ऋजुकाय उपविशेदेतत्स्वस्तिकासनमित्यर्थः ॥ ३ ॥ सव्ये वामे तस्मिन्पृष्ठपार्श्वे दक्षिणगुल्फं दक्षिणे च पृष्ठपार्श्वे सव्यं वामं[3] विन्यसेदेतद् गोमुखासनम् ॥ ४ ॥ अङ्गुष्ठावपीति । दक्षिणस्योरोरुपरि वामपादतलं विन्यस्य तदीयमङ्गुष्ठं पश्चिमपथा गतेन वामहस्तेन गृह्णीयात् । एवं वामस्योरोरुपरि न्यस्तस्य दक्षिणपादतलस्याङ्गुष्ठं पश्चिमपथा गतेन दक्षिणहस्तेनेत्येतत्पद्मासनमुक्तफलमित्यर्थः ॥ ५ ॥ दक्षिणमुत्तरपादं[4] नाम पादाग्रं सव्ये वाम ऊरौ विन्यसेत् । एतच्चोपलक्षणम् । सव्यं वामं दक्षिण ऊरावेतद्वीरासनमित्यर्थः । दक्षिणोत्तरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेदिति पाठान्तरम् । आगमे चोभयमुक्तम्–'ऊर्वोरुपरि कुर्वीत पादौ वीरं चे'ति ॥ ६ ॥

आसनविधिनिरूपण नामक पन्द्रहवां अध्याय

भगवान् बोले–हे वाचस्पति ! अब मैं विभिन्न आसनों को बताऊँगा । स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर और सुख–ये नौ आसन प्रमुख हैं ॥ १–२ ॥ दायें घुटने और जंघा के बीच बायें पाँव के तले को और बाँये घुटने और जंघा के बीच दायें पाँव के तले को फँसाकर पालथी-सी मारकर पीठ, गर्दन और सिर को सीधे रख बैठना स्वस्तिकासन है ॥ ३ ॥ बायें नितम्ब के नीचे दायें पैर की गाँठ को और दायें नितम्ब के नीचे बायें पैर की गाँठ को रखकर बैठें तो गोमुखासन होता है । (साथ ही अन्यत्र बताया है कि बायें हाथ को सिर की ओर से और दायें हाथ को नीचे की ओर से पीठ पर ले जाकर बायीं तर्जनी से दायीं तर्जनी को दृढतापूर्वक पकड़ना चाहिये । दायाँ-बायाँ क्रमशः अदल-बदल कर प्रायः सर्वत्र करना चाहिये) ॥ ४ ॥ दायीं जंघा पर बायें पादतल को और बायीं जंघा पर दायें पादतल को रख पीठ की ओर से ले गये बायें हाथ से बायें पैर का अगूंठा और दायें हाथ से दायें पैर का अंगूठा पकड़ सीधे बैठना पद्मासन है । यह पाप और रोग के भय को निवृत्त करता है ॥ ५ ॥ पद्मासन की तरह पैरों को रखकर हाथों को सीधे ही घुटनों पर रखकर सीधे बैठना वीरासन है ॥ ६ ॥

---

१. मानसोल्लासवार्तिके (९/२४-२६) नानादेवाधिष्ठिततयाऽऽसनानि निरूपितानि । २. घ. °नि ता° । ३. घ. ङ. °वामुगुल्फं वि° । ४. घ. °दं वामपादा° ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणं सव्यगुल्फेन वामं दक्षिणगुल्फतः ॥ ७ ॥
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ।
नासाग्रं च [1]निरीक्षेत भवेत्सिंहासनं हि तत् ॥ ८ ॥
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥ ९ ॥
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलः । भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशनम् ॥ १० ॥
निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मां दक्षिणोत्तरगुल्फतः ।
वामं याम्येन[2] गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत् ॥ ११ ॥
मेढ्रोपरि विनिक्षिप्य सव्यगुल्फं तथोपरि ।
गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं भवेत् ॥ १२ ॥
कूर्पराग्रौ मुनिश्रेष्ठ निःक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः ।
भूम्यां [3]पाणितलद्वंद्वं निःक्षिप्यैकाग्रमानसः ॥ १३ ॥
समुन्नतशिरःपादो दण्डवद् व्योम्नि संस्थितः । मयूरासनमेतत्स्यात्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ १४ ॥

सीवन्या वामपार्श्वे दक्षिणगुल्फं दक्षिणपार्श्वे च वामगुल्फं प्रसारिताङ्गुलिहस्तौ जानुमूर्ध्नोर्विन्यस्य नासाग्रदर्शनं **सिंहासनम्** ॥ ७–८ ॥ भद्रासनमाह–**गुल्फौ** चेति । सीवन्या वामपार्श्वे वामगुल्फो दक्षिणपार्श्वे दक्षिणगुल्फो यथा भवति तथा पादतले परस्पराभिमुखे सीवन्या अधस्ताद्विनिवेश्य दक्षिणोरुं दक्षिणपाणिना वामोरुं च वामपाणिना सम्यङ्निष्पीड्यावस्थानं **भद्रासनमित्यर्थः** ॥ ९–१० ॥ सीवन्या अधस्ताद्वामो गुल्फस्तस्याधस्ताद्दक्षिणः । अथवा मेढ्रस्योपरि सव्यो गुल्फस्तस्योपरि दक्षिण इति द्वेधा मुक्तासनमित्याह-**निपीड्य सीवनीमिति** ॥ ११–१२ ॥ **कूर्पराग्रावि**ति । तथा चाऽऽगमे–'भुवि पाणितले कृत्वा कूर्परौ नाभिपार्श्वगो । समुन्नतशिरःपादं दण्डवद्व्योमसंश्रयम् ॥ कुर्याद्देहमिति प्रोक्तं मायूरं पापनाशनम्' इति ॥ १३–१४ ॥

अण्डकोष के नीचे बायें नितंब की ओर दायें टखने को और दायें नितंब की ओर बायें टखने को रखें और हाथों की अंगुलियाँ फैलाकर सीधे ही घुटनों के ऊपर रखें तो सिंहासन होता है ॥ ७–८ ॥ अण्डकोष के नीचे दोनों पादतलों को एक-दूसरे के संमुख रख मिलाकर बैठें और दोनों हाथों से दोनों जंघाओं को भरसक दबायें तो भद्रासन हो जाता है जो विष और रोग का नाशक है ॥ ९–१० ॥ बायें टखने को बारीक सीवनी दबाते हुए अण्डकोष के नीचे स्थापित कर उससे नीचे दायें टखने को रखकर बैठने से मुक्तासन होता है। (लिंगमणि का सन्धिशोथ सीवनी कहलाता है ।) अथवा लिंग के ऊपर बायाँ टखना और उसके ऊपर दाहिना टखना रखकर बैठने से मुक्तासन होता है ॥ ११–१२ ॥ दोनों कोहनियों को नाभि के पास सटा लें और अंगुलियों को पैर की तरफ कर हथेलियों को ज़मीन पर टिका दें । तदनन्तर सिर व पैरों को उठाकर पृथ्वी के समनन्तर दण्डे की तरह सीधा रखें और मन एकाग्र करें । यह मयूरासन है जो सब पापों को नष्ट करता है ॥ १३–१४ ॥

जिस किसी प्रकार से बैठने में आराम मिले और हिले-डुले बिना कुछ देर तक सीधा बैठा जा सके

---

१. क. ङ. निरीक्ष्येत । २. ग. ङ, वामेन । ३. ग. "पादतल" ।

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते । तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥ १५ ॥
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ।
आसनं [1] सकलं प्रोक्तं मुने वेदविदां वर ॥ १६ ॥
अनेन विधिना युक्तः प्राणायामं सदा कुरु [2] ॥ १७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्ड आसनविधिनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामं यथाविधि ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥ १ ॥
वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ।
स एव प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥ २ ॥

येन केनेति । तथा च पातञ्जलं सूत्रम्—"स्थिरसुखमासनम्" इति ॥ १५ ॥ जगत्त्रयमिति । आसनजयस्य चित्तैकाग्र्यहेतुत्वात्, शीतोष्णादिद्वंद्वैरनुपघाताच्च, आह पतञ्जलिः—"ततो द्वंद्वानभिघातः" इति ॥ १६ ॥ अनेनेति । आसनवतैव हि प्राणायामः कर्तव्य इत्याह—विधिनेति । श्वास[3] प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम इति ॥ १७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्ड आसनविधिनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

यतो जितासनस्यैव[4] प्राणायामो निरुपद्रवः सिध्यति, अतस्तदनन्तरं तत्प्रतिजानीते—अथात इति ॥ १ ॥ २ ॥

वही सुखासन है । जो उक्त आसनों में असमर्थ हों वे सुखासन का ही अभ्यास बढ़ायें । (उपासना के लिये शरीर स्थिर होना चाहिये व जिस स्थिति में शरीर हो उसमें कोई पीडा नहीं होनी चाहिये अन्यथा मन उस पीडा की ओर ही जायेगा तो ध्यानादि संभव न होगा । खड़े रहकर ध्यान करने में गिरने का डर है और लेट कर ध्यान करने में जल्दी नींद आने का डर है । अतः योगाभ्यासियों ने ऐसी नाना शरीरस्थितियाँ खोजी हैं जिनमें स्थिरतापूर्वक आराम से बैठा जा सके और तब ध्यान हो । वे आसन ही मुख्य हैं । अन्य अनेक आसन केवल शरीर को स्वस्थ रखने के लिए अभ्यास करने योग्य हैं । इसीलिये शंका होने पर कि उपासना बैठकर ही करें ऐसा नियम है या नहीं, महर्षि बादरायण ने (ब्र.सू. ४.१.७) कहा है कि नियम यही है कि बैठकर उपासना करनी चाहिये क्योंकि उसी स्थिति में वह संभव है । 'स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे.३.८), 'प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी. ६.११) आदि श्रुति-स्मृति का भी यही तात्पर्य है । यही उपयोगिता आसन की पतंजलि ने भी समझी है । विभिन्न आसनों का वर्णन न कर उन्होंने इतना ही बता दिया है 'जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है । और उससे सर्दी-गर्मी आदि कष्टप्रद नहीं रह जाते ।' (यो. सू. साधन. ४६, ४८) । इसी रीति से प्रकृत श्लोक भी समझ लेना चाहिये ।) ॥ १५ ॥ जिस साधक ने आसनजय कर लिया उसने मानो त्रिलोकी को जीत लिया । (तीन घंटे सर्वथा आराम से यदि एक आसन पर हिले-डुले बिना रहा जा सके तो वह आसन जीत लिया गया समझा जाता है । क्योंकि यह चित्तस्थैर्य में अत्यन्त उपयोगी है व शरीर की सहन-सामर्थ्य का उपोद्बलक है अतएव ऐसी प्रशंसा कर दी है ।) हे मुनि ! मैंने आवश्यक सभी आसन बता दिये । इस तरह किसी आसन का अभ्यास करने के बाद प्राणायाम करो ॥ १७ ॥

प्राणायामविधि-निरूपण नामक सोलहवा अध्याय

परमेश्वर ने आगे बताना प्रारम्भ किया—(क्योंकि जिसने आसनजय कर लिया वही रुकावट के बिना

---

१. ङ. सफलं । २. अनेनाधुनिकानां मतमपास्तं ये हि मन्वत आसनाभ्यास एव योगाभ्यासः । आसनं तु उपविश्य ध्यानाद्यर्थं न स्वयं फलवद् द्वन्द्वानभिघातस्यापि ध्यानाद्यर्थतयैवोपयोगात् । ततश्च रोगादिनिवृत्तिमात्रार्थं येषामासनानि ते न योगाभ्यासिन इति बोध्यम् । ३ ङ. °सनिश्वा° । ४ 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम' इति योगसूत्रे (२.४९) तस्मिन् आसनजये ।

इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् । शनैः षोडशभिर्मन्त्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥ ३ ॥
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया । उकारमूर्तिमत्रापि[1] संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥ ४ ॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारयञ्जपसंयुतम् । पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ॥ ५ ॥
शनैः पिङ्गलया विप्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः । प्राणायामो भवेदेष ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥ ६ ॥
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा । मकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः ॥ ७ ॥
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं विंशतिद्वयम् । जपेदत्र स्मरेन्मूर्तिमुकाराख्यां तु वैष्णवीम् ॥ ८ ॥
अकारं तु स्मरेत्पश्चाद्रेचयेदिडयाऽनिलम् । एवमेव पुनः कुर्यादिडयाऽऽपूर्य बुद्धिमान् ॥ ९ ॥
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं यतीश्वरः । अथवा प्राणमारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ॥ १० ॥
प्रणवेन समायुक्तां व्याहृतीभिश्च संयुताम् । गायत्रीं संजपेच्छुद्धः प्राणसंयमने त्रयम् ॥ ११ ॥
पुनश्चैवं त्रिभिः कुर्याद् गृहस्थश्च त्रिसंधिषु । ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां वनस्थानां महामुने ॥ १२ ॥

उक्तं वर्णात्मकत्वं विवृणोति–इडयेति । मात्रैर्मात्राभिः । तल्लक्षणमुक्तम्–'कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वजानुमण्डलम् । पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रया' इति । अकारं ब्रह्मात्मकम् ॥ ३ ॥ उकारमूर्तिं[2] विष्णुमूर्तिम् ॥ ४-६ ॥ मकारमूर्तिं रुद्रम् ॥ ७–९ ॥ प्रणवव्याहृतिपूर्विकां गायत्रीं या कुम्भके जपित्वेत्याह–अथवेति ॥ १०–१२ ॥

प्राणायाम कर सकता है) इसलिये अब मैं जिस ढंग से प्राणायाम करना चाहिये वह विधि बताता हूँ। रेचक, पूरक और कुम्भक–इन तीन से प्राणायाम हुआ करता है । (श्वास को बाहर निकाल कर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव करना रेचक है । श्वास अंदर खींचकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव पूरक है । श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को एकदम जहाँ का तहाँ रोक देना कुम्भक है । प्राणायाम का सामान्य लक्षण है : श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ।) ॥ १ ॥ रेचक आदि तीनों अकार आदि तीन अक्षरात्मक हैं । तीन अक्षरों का समूह ही प्रणव है, अतः प्राणायाम प्रणवमय है ॥ २ ॥

सोलह मात्राओं के समय में ब्रह्मात्मक अकार का चिन्तन करते हुए इडा से (बायें नथुने से) पूरक करे । उदरस्थित उस वायु को चौंसठ मात्राओं के समय तक उकारात्मक विष्णुमूर्ति का स्मरण और प्रणव का जप करते हुए रोके रखे । अथवा जब तक रोक सके तब तक जप करते हुए रोके । तदनन्तर शनैः शनैः बत्तीस मात्राओं के समय में रुद्रात्मक मकार का चिंतन करते हुए पिंगला द्वारा (दायीं नासिका से) उस वायु का रेचन करे । यह एक प्राणायाम हुआ । पुनः पिंगला से सोलह मात्राओं के समय में मकारात्मक रुद्रमूर्ति का ध्यान करते हुए पूरक करे । पूरित वायु को उदर में रोक कर उकारात्मक विष्णुमूर्ति का ध्यान करते हुए चालीस बार प्रणव का जप करे । फिर ब्रह्मात्मक अकार का चिंतन करते हुए धीरे-धीरे इडा से रेचन करे । अब पुनः इडा से पूरक कर इस प्रक्रिया को दुहराना चाहिये । इस प्रकार यतीश्वरों को नित्य अभ्यास करना चाहिये । (अपनी हथेली अपने घुटने पर फेरने में जितना समय लगता है वह एक मात्रा का समय है ।) ॥ ३–९½ ॥

अथवा गृहस्थ को चाहिये कि पूरक के बाद कुम्भक के समय प्रणव और व्याहृतियों समेत गायत्री का तीन बार जप करे । तीनों संध्याओं में इस प्रकार करना चाहिये ॥ १०–११½ ॥

ब्रह्मचारियों और वानप्रस्थियों के लिये विकल्प है–वे चाहे प्रणव से प्राणायाम करें चाहे गायत्री से । क्षत्रिय भी ब्राह्मण की तरह प्राणायाम कर सकता है (अर्थात् गार्हस्थ्य में गायत्री समेत कर सकता

---

१ ग. घ. °र्तिमात्रा° । २ ङ. °कारं वि° ।

प्राणायामो विकल्पेन प्रोक्तो वेदान्तवेदिभिः । द्विजवत्क्षत्रियस्योक्तः प्राणायामो महामुने ॥ १३ ॥

विरक्तानां प्रबुद्धानां वैश्यानां च[१] तथैव च ।
शूद्राणां च तथा स्त्रीणां प्राणसंयमनं मुने ॥ १४ ॥
नमोन्तं शिवमन्त्रं वा वैष्णवं वा न चान्यथा ।
नित्यमेवं प्रकुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश ॥ १५ ॥

ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते मासमात्रतः । षण्मासाभ्यासतो विप्रा वेदनेच्छामवाप्नुयात् ॥ १६ ॥

वत्सराद् ब्रह्म विद्वान्स्यात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ।
योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः ॥ १७ ॥

प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति । बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥ १८ ॥
संपूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् । बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ॥ १९ ॥

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ।
कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमं तथा ॥ २० ॥

पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः । संभवत्युत्तमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं[२] भवति सुव्रत ।
चित्ते शुद्धे मनः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिष्ववस्थितम् ॥ २२ ॥

प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति । प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ २३ ॥

विकल्पेनेति । उक्तविकल्पेनेत्यर्थः । क्षत्रियवैश्ययोरपि वैदिकमन्त्राधिकाराद्विप्रवदेव प्रणवगायत्रीभ्यां प्राणायाम इत्याह—द्विजवदिति ॥ १३ ॥ शूद्राणामिति वेदानधिकारात् ॥ १४–१६ ॥ योगाभ्यासेति । यः स्वधर्मनिरतः सन्योगाभ्यासरतो भवति तस्य प्राणायाम एवोक्तरीत्या ज्ञानद्वारा मोक्षसाधनमित्यर्थः ॥ १७–२१ ॥ प्राणायामेन चित्तमिति । आह पतञ्जलिः—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणं धारणासु योग्यता मनसः" इति ॥ २२–२३ ॥

है) ॥ १२–१३ ॥ विरक्त तथा प्रबुद्ध वैश्य भी उक्त प्रकार से अभ्यास में अधिकारी हैं । शूद्रों व स्त्रियों को नमोन्त शिवमन्त्र से (शिवाय नमः) या वैष्णवमन्त्र से ही प्राणायाम करना चाहिये, गायत्री आदि से नहीं । इस प्रकार रोज़ सोलह प्राणायाम करने चाहिये ॥ १४–१५ ॥ एक महीने यह साधना करने से ब्रह्महत्यादि पाप छूट जाते हैं । छह माह अभ्यास करे तो श्रद्धालु को विविदिषा उत्पन्न हो जायेगी ॥ १६ ॥ एक वर्ष के अभ्यास से ब्रह्म को जान लेगा । अतः इसका नित्य अभ्यास करना चाहिये । जो व्यक्ति स्वधर्म तथा योगाभ्यास में सदा लगा रहता है वह प्राणों के संयम से ही योग्यता पाकर ज्ञान द्वारा मुक्त हो जाता है ॥ १७½ ॥

वायु को बाहर से खींच कर उदर में भरना पूरक है । भरे घड़े की तरह भरी वायु का धारण करना कुंभक है । उदर से वायु को बाहर निकाल देना रेचक है ॥ १८–१९ ॥ जो प्राणायाम पसीना उत्पन्न करे वह अधम है । जो कम्पन करे वह मध्यम है और जो उत्थान करे (आसन से ऊँचा उठा दे) वह उत्तम है । जब तक उत्तम प्राणायाम न हो तब तक पूर्व प्राणायाम ही करते रहना चाहिये । उत्तम प्राणायाम होने पर व्यक्ति सुखी हो जाता है । २०–२१ ॥ प्राणायाम से चित्त शुद्ध होता

---

१. ख. तु । २ प्राणायामात्क्षीयते प्रकाशावरणं मनसश्च धारणासु योग्यता जायत इति पातंजलाः । इह 'ज्योतिष्ववस्थितम्' इत्यत्र 'ज्योतिष्यवस्थितम्' इति युक्तं पठितुम् ।

देहश्चोत्तिष्ठते तेन किंचिज्ज्ञानाद्विमुक्तता । रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ॥ २४ ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात् । मनोजयत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ॥ २५ ॥
प्राणायामैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ २६ ॥
विनियोगान्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत ।
संध्ययोर्ब्राह्मकाले वा मध्याह्ने वाऽथवा सदा ॥ २७ ॥
बाह्यप्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरेऽनघ । नासाग्रे नाभिमध्ये च पादाङ्गुष्ठे च धारयेत् ॥ २८ ॥
सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः । नासाग्रधारणाद्वायुर्जितो भवति सुव्रत ॥ २९ ॥
सर्वरोगविनाशः स्यान्नाभिमध्ये च धारणात् । शरीरलघुता विप्र पादाङ्गुष्ठनिरोधनात् ॥ ३० ॥
जिह्वया वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः । श्रमदाहविनिर्मुक्तो भवेन्नीरोगतामियात् ॥ ३१ ॥

किंचिज्ज्ञानादिति । प्राणायामो हि सत्त्वशुद्धिं जनयति । तया ज्ञानं भवति । श्रूयते हि–"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" इति ॥ २४–२७ ॥

नासाग्रं नाभिमध्यं पादाङ्गुष्ठं च चिन्तयतस्तत्र चित्तं धृतं भवति तेन च प्राणो जीयत इत्यर्थः । एतद्योगप्रकारः सविशेषमन्यत्रोक्तः "इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे दृढम् । वामाङ्घ्र्यङ्गुष्ठके नाभौ नासाग्रे धारयेत्स्थिरम् ॥ पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य दक्षाङ्घ्र्यङ्गुष्ठकेऽनिलम् । नाभौ नासाग्रके प्राग्वद्धारयेद्ध्यानसंयुतः । पुटाभ्यामथवा वायुं पूरितं धारयेत्स्थिरम् । अनेनाभ्यासयोगेन प्राणवायुर्जितो भवेत्" इति ॥ २८ ॥ धारणात्रयस्य पृथक्फलमाह–नासाग्रेति ॥ २९-३१ ॥

है । चित्त शुद्ध होने पर मन सीधे प्रत्यगात्मा में स्थिर हो जाता है । चित्त से संयुक्त प्राण भी परमात्मा में स्थित रहता है। (प्राण के सहारे ही मन की गति है । यदि प्राण चंचल होगा तो मन भी अवश हुआ चंचल हो जायेगा । मन की स्थिरता से प्राण की स्थिरता अर्थसिद्ध है ।) प्राणायाम के अभ्यासी महात्मा पुरुष का शरीर उस प्राणायाम से थोड़ा उठ जाता है । (प्राणायाम से अतिशोधित चित्त वाला व्यक्ति) ज्ञान से मोक्ष पा लेता है । रेचक व पूरक को छोड़ कुम्भक का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये । इससे सारे पाप छूट जायेंगे और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी । मन पर नियंत्रण होगा और बालों की सफेदी दूर होगी । ॥ २२–२५ ॥ जो केवल प्राणायाम में तत्पर रहता है उसके लिये कुछ दुर्लभ नहीं है । अतः पूरा प्रयास कर प्राणायाम का सही ढंग से अभ्यास करना चाहिये ॥ २६ ॥

अब मैं प्राणायामके विनियोग बताऊँगा । दोनों संध्याओं के समय या ब्राह्ममुहूर्त में या मध्याह्न के समय अथवा सदा ही बाह्य प्राण को खींचकर उदर में भर ले और नाक की नोक पर, नाभि में तथा पैरों के अंगूठों में वायु व मन को स्थिर करे । इससे सब रोगों से निवृत्त हो साधक सौ वर्ष जीता है । नाक की नोंक पर मन एकाग्र करने से वायु पर जय होता है ॥ २७–२९ ॥ नाभि के बीच धारणा करने से सब रोग नष्ट होते हैं और पैरों के अंगूठों में मन व प्राण का निरोध करने से शरीर में हल्कापन रहता है ॥ ३० ॥ जो व्यक्ति जीभ से वायु खींच कर उसे मानो पीता है उसकी थकान दूर होती है और वह नीरोग हो जाता है ॥ ३१ ॥ जीभ से वायु खींच कर जिह्वामूल में चित्त एकाग्र करना चाहिये ।

जिह्वया वायुमाकृष्य जिह्वामूले निरोधयेत् । पिबेदमृतमव्यग्रं सकलं सुखमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥

इडया वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ।

यः पिबेदमृतं शुद्धं व्याधिभिर्मुच्यते हि सः ॥ ३३ ॥

इडया वेदतत्त्वज्ञ तथा पिङ्गलया[1] ऽपि च । नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः ॥ ३४ ॥

मासमात्रं त्रिसंध्यायां जिह्वयाऽऽरोप्य मारुतम् ।

अमृतं च पिबेन्नाभौ मन्दं मन्दं निरोधयेत् ॥ ३५ ॥

[2]वातपित्तादिजा दोषा नश्यन्त्येव न संशयः ।

नाडीभ्यां वायुमाकृष्य नेत्रद्वंद्वे निरोधयेत् ॥ ३६ ॥

नेत्ररोगा विनश्यन्ति तथा श्रोत्रनिरोधनात् ।

तथा वायुं समारोप्य धारयेच्छिरसि स्थिरम् ॥ ३७ ॥

शिरोरोगा विनश्यन्ति सत्यमुक्तं बृहस्पते । स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥ ३८ ॥

अपानमूर्ध्वमाकृष्य प्रणवेन शनैः शनैः । हस्ताभ्यां बन्धयेत्सम्यक्कर्णादिकरणानि वै ॥ ३९ ॥

अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी ।

नासापुटावथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ॥ ४० ॥

जिह्वामूले निरोधयेच्चित्तं धारयेत् । तमेवात्यन्तशीतलममृतमयं वायुमव्यग्रं शनैः पिबेत् ॥ ३२–३४ ॥ जिह्वयाऽऽरोप्येति । जिह्वाग्रसंस्पर्शी यथा वायुर्भवति तथा काकचञ्चुवदोष्ठौ कृत्वा मन्दं मन्दं पवनमाकर्षन्नाभौ[3] चित्तं धारयेदित्यर्थः ॥ ३५–३७ ॥ संमुखीकरणयोगमाह–स्वस्तिकासनमित्यादि ॥ ३८ ॥ ऊर्ध्वमाकृष्याऽऽकुञ्च्य शनैः शनैः । त्वरया हि कृते नाड्यन्तरप्रविष्टः पवनो व्यथयेत् ॥ ३९ ॥

तब अमृत की तरह शीतल वायु को बिना जल्दी किये पीने से सुख मिलता है ॥ ३२ ॥ इडा से वायु खींच कर भ्रूमध्य में मनोनिरोध करना चाहिये । इससे शुद्ध अमृतपान जैसा फल होता है और व्याधियाँ नष्ट होती हैं ॥ ३३ ॥ इडा तथा पिंगला से पूरक कर नाभि में चित्त को एकाग्र करने से भी रोगनिवृत्ति होती है ॥ ३४ ॥ ओष्ठ को कौवे की चोंच की तरह बनाकर धीरे-धीरे वायु खींचे ताकि जीभ की नोक को वह छूती चले और नाभी में एकाग्रता करे । ऐसा तीनों संध्याओं के समय एक महीने तक करने से वात, पित्त आदि दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ३५½ ॥ दोनों नासिकाओं से पूरक करे और दोनों नेत्रों में मन को एकाग्र करे तो नेत्र-रोग नष्ट हो जाते हैं । इसी प्रकार पूरक कर कानों में धारणा करने से (कान के रोग नष्ट होते हैं) । तथा वैसे ही पूरक कर सिर में चित्त एकाग्र करने से सिर के रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ३६–३७½ ॥ स्वस्तिकासन से बैठकर सावधानीपूर्वक प्रणव जप करते हुए धीरे-धीरे अपान को ऊपर खींचे और दोनों हाथों की अंगुली आदि से शीर्षण्य गोलकों को भली-भाँति बन्द

१. ख. °या पुनः । ना° । २. ग. घ. ङ. °वायुपि° । ३. ग. °माकृष्य नाभौ° ।

आनन्दाविर्भवं यावत्तावन्मूर्धनि [1]धारयेत् । प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने ॥ ४१ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे गते वायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ ।
शङ्खध्वनिनिभश्चाऽऽदौ[2] मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥ ४२ ॥

शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्रवणं यथा । पश्चाच्चित्तं महाप्राज्ञ साक्षादात्मोन्मुखं भवेत् ॥ ४३ ॥

पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिस्तया संसारनिह्नुतिः । दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीवनीं पीडयेच्छिराम् ॥ ४४ ॥

सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेद्बुद्धिमान्नरः ।
जान्वोरधः स्थितं संधिं स्मृत्वा देवं च त्र्यम्बकम् ॥ ४५ ॥

विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः ।
लिङ्गनालात्समाकृष्य वायुमव्यग्रतो मुने ॥ ४६ ॥

प्रणवेनाग्नियुक्तेन बिन्दुयुक्तेन बुद्धिमान् । मूलाधारस्य विप्रेन्द्र मध्यमे तु निरोधयेत्[3] ॥ ४७ ॥

निरुद्धवायुना दीप्तो वह्निर्दहति कुण्डलीम् ।
पुनः सुषुम्नया वायुर्वह्निना सह गच्छति ॥ ४८ ॥

एवमभ्यसतस्तस्य जितो वायुर्भवेद् ध्रुवम् । प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात्कम्पनं मुनिसत्तम ॥ ४९ ॥

उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतज्जितेऽनिले[4] । एवमभ्यसतस्तस्य मूलरोगो विनश्यति ॥ ५० ॥

भगंदरं च नष्टं स्यात्तथा[5]ऽन्ये व्याधयो मुने ।
पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च ॥ ५१ ॥

वामदक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाभ्यां श्रोत्रे । तर्जनीभ्यां चक्षुषी । मध्यमाभ्यां नासापुटौ च निरुध्य यावदानन्दाविर्भावो भवति तावद् ब्रह्मरन्ध्रे चित्तं धारयतः प्राणः सुषुम्नां प्रविशतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ ४१ ॥ नादश्चोत्पद्यत इति । तद्भेदा हंसोपनिषदि दशधा कथिताः । चिणीति प्रथमः । चिणिचिणीति द्वितीयः । घण्टानादस्तृतीयः । शङ्खनादश्चतुर्थः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः । दशमो मेघनाद इति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ उत्कर्षप्राणायाममाह–दक्षिणोत्तरेति । वामेन गुल्फेन पीडयित्वा जान्वोरधः स्थितं तमेव वामगुल्फसंधिं दक्षिणगुल्फेन पीडयित्वा शिवविनायकवागीशान्स्मरल्लिँङ्गनालं समाकृष्य निरुद्धस्य पवनस्य नाड्यन्तरप्रवेशपरिहारार्थमाकुञ्चितोल्बणबन्धं कृत्वा रेफबिन्दुयुक्तं प्रणवमनुस्मरन्मूलाधारपवनं निरोधयेत् । मूलाधाराकुञ्चनलक्षणं मूलबन्धं कुर्यादित्यर्थः । अयमुत्कर्षप्राणायामयोग आगमे सविशेषो दर्शितः– 'अथोत्कर्षाभिधानस्य प्राणायामस्य संयमः । इडाधः सीवनीं सूक्ष्मां पीडयेद्वामगुल्फतः ॥ तद्गुल्फोपरि निक्षिप्य दक्षगुल्फं समं स्थिरम् । जङ्घोरुसंधिं निश्छिद्रां बद्ध्वाऽऽसीत समाहितः ॥ मूलाधारे चतुष्पत्रे रक्तकिञ्जल्कशोभिते । मनसा प्रणवं ध्यायन्दक्षगुल्फं विलोकयन् ॥

कर ले । दोनों अंगूठों से दोनों कान, तर्जनियों से आँखें, मध्यमाओं से नाक (और शेष चारों से मुँह) बंद करे । मूर्धा में मन को एकाग्र करना चाहिये । जब तक आनन्द प्रकट न हो तब तक यों ध्यान करे । इससे प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है ॥ ३८–४१ ॥ जब वायु ब्रह्मरंध्र में घुसती है तब अंदर ही विभिन्न नाद उत्पन्न होते हैं । पहले शंखध्वनि की तरह तथा अंत में मेघध्वनि की तरह शरीर के अंदर ही ध्वनि अनुभव में आती है । ॥ ४२ ॥ जब सिर के मध्य प्राण पहुँचता है तो ब्रह्मरन्ध्र से

---

१. ङ. धापयेत् । २. घ. °श्चासौ म° । ३. ग. °धने° ॥ ४७ ॥ ४. ग. ङ. °तेऽनले° । ५. ग. °थाऽन्या व्या° ।

नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमुत्तमम् । पुनर्ब्रह्मादिलोकेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥ ५२ ॥
विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम् ।
तेन पाशापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवमिति श्रुतिः ॥ ५३ ॥
अहो ज्ञानामृतं मुक्त्वा मायया परिमोहिताः ।
परिभ्रमन्ति संसारे सदाऽसारे नराधमाः ॥ ५४ ॥

यावन्मनोलयस्तस्मिंस्तावद्वायुं निरोधयेत् । अपानोऽनेन योगेन वह्निस्थानं व्रजेत्तदा ॥ आग्नेये मण्डले रक्ते त्रिकोणे देहधारकः । वैश्वानरो वसत्यग्निरन्नपानादिपाचकः ॥ अपानमग्निना सार्धं प्राणं तत्रैव निश्चलम् । धारयेत्प्रणवं ध्यायन्यावदग्निर्जितो भवेत् ॥ जातेऽग्निविजये सम्यगूर्ध्वं तद्वह्निमण्डलात् । कन्दनाभेरधस्ताच्च स्वाधिष्ठाने च षड्दले ॥ प्राणापानौ समारोप्य निश्चलं वह्निना सह । नाभिं विलोकयन्दृष्ट्या मनसा प्रणवं स्मरन् ॥ यावन्मनोलयस्तस्मिंस्तावद्वायुं निरोधयेत्। ततोऽग्निना ऽभ्यावर्तेन[1] प्रबोधं याति कुण्डली ॥ प्रबुद्धा कुण्डली कन्दनाभिरन्ध्रात्फणं स्वकम् । अपाकरोति तेनैतत्सुषुम्नामूलरन्ध्रकम् ॥ विवृतं भवति क्षिप्रं तस्मिन्वायुं प्रपूरयेत् । शनैः साग्निं सुषुम्नायामा मूर्ध्नः प्रणवं स्मरेत् ॥ धारयेन्मारुतं[2] साग्निं सुषुम्नारन्ध्रमूर्धनि । मरुताऽऽपूरिते देहे सुसर्वाङ्गे सवह्निना ॥ तदात्मा दृश्यते मूर्ध्नि यथाऽऽकाशे प्रभाकरः' इति ॥ ४४–५१ ॥ अनेन योगेन न केवलमारोग्यं किं तु समाधानं ज्ञानमप्यपवर्गफलं भवतीत्याह–पुनर्ब्रह्मादीति ॥ ५२ ॥ ज्ञात्वा देवमिति 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः' इति श्वेताश्वतरोपनिषदित्यर्थः ॥ ५३–५४ ॥

मानो प्रस्राव होता है । तदनन्तर चित्त आत्मोन्मुखी हो जाता है ॥ ४३ ॥ इस अवस्था वाले को सरलता से आत्मज्ञान होता है जिससे संसारनिवृत्ति होती है । बायें टखने से सीवनी को दबाये और दायें टखने से बायें टखने के जोड़ को दबा कर बैठ जाये । शिव, गणेश और सरस्वती का स्मरण करे । लिंगनाल से वायु का शनैःशनैः समाकर्षण कर रेफ-बिन्दुयुक्त प्रणव का जप करते हुए उसे मूलाधार में निरुद्ध करे । इससे कुण्डली उद्दीप्त होती है और वह्नि समेत वायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। यह अभ्यास वायु पर विजय दिलाता है । पहले पसीना, फिर कंपन होता है और यों वायुजय होने पर शरीर का उत्थान हो जाता है । यों अभ्यास करने वाले को मूलरोग, भगन्दर व अन्य व्याधियों से छुटकारा मिलता है । क्षुद्र व महान् पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ४४–५१ ॥ पापनिवृत्ति से चित्तशुद्धि व ब्रह्मलोकपर्यन्त वैराग्य हो जाता है । संसार से जिसे वैराग्य है उसके मोक्ष का साधन शिवात्मज्ञान है । ज्ञान से ही बंधन कटते हैं । श्रुति ने भी कहा है कि महादेव को जानने से पाशों से छुटकारा मिलता है । अहो खेद है ! रागी नराधम माया से मुग्ध हुए ज्ञानरूप अमृत को छोड़ संसार में भटकते रहते हैं ॥ ५२–५४ ॥

---

१. ०ना सवातेन प्र० इति बाल. पाठः । २. ग. ०येन्मरुतः सा० ।

ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत् । स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥ ५५ ॥

ज्ञानामृतरसः प्रायस्तेन नाऽऽस्वादितो भवेत् ।
यो वाऽन्यत्रापि रमते तद्विहायैव दुर्मतिः ॥ ५६ ॥

ज्ञानस्वरूपमेवाऽऽहुर्जगदेतद्विचक्षणाः । अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥ ५७ ॥

यज्ञैर्देवत्वमाप्नोति तपोभिर्ब्रह्मणः पदम् । दानैर्भोगानवाप्नोति ज्ञानाद् ब्रह्माधिगच्छति ॥ ५८ ॥

कर्मणा केचिदिच्छन्ति कैवल्यं मुनिसत्तम ।
ते मूढा मुनिशार्दूल प्लवा ह्येत इति श्रुतिः ॥ ५९ ॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वमिति जानन्ति पण्डिताः ।
अज्ञानेनाऽऽवृता मर्त्या न विजानन्ति शंकरम् ॥ ६० ॥

अज्ञानपाशबद्धत्वादमुक्तः पुरुषः स्मृतः । ज्ञानात्तस्य निवृत्तिः स्यात्प्रकाशात्तमसो यथा ॥ ६१ ॥

असारसंसारपरिभ्रमणं ज्ञानामृतरसापरिज्ञानादित्युक्तम् । तत्परिज्ञानवतस्तु तद्विरहमाह–ज्ञानामृतेति ॥ ५५–५६ ॥ चराचर-जगज्जातस्य परशिवपरिकल्पितत्वेन वस्तुतस्तन्मयतां तत्त्वविदः पश्यन्तीत्याह–ज्ञानस्वरूपमिति । 'सद्धीदं सर्वं सत्सदिति । चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च' इति तापनीयश्रुतिः । ज्ञानात्पृथगर्थस्य पारमार्थिकत्वाभिमानस्त्वविद्यैकनिबन्धन इत्याह–अर्थेति ॥ ५७–५८ ॥ प्लवा ह्येत इति ॥ 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' इति मुण्डकश्रुतिरपवर्गस्य कर्मसाध्यतां प्रतिक्षिपतीत्यर्थः ॥ ५९–६१ ॥

जिसने एक बार भी ज्ञानामृत का रस चख लिया वह तो सब काम छोड़ उसी ओर दोड़ता है ॥ ५५ ॥ जो अन्यत्र रमण करता है उसने निश्चित ही ज्ञान का स्वाद नहीं जाना है ॥ ५६ ॥ विद्वान् तो जगत् को ज्ञानस्वरूप ही बताते हैं । जो विद्वान् नहीं गलत दृष्टि वाले हैं वे अर्थस्वरूप का दर्शन करते हैं। (जैसे सर्पादि रज्जुस्वरूप ही अधिष्ठानतत्त्ववेत्ता को प्रतीत होते हैं क्योंकि रज्जुसे अतिरिक्त उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं वैसे शिवात्मवेत्ता संसार को शिवमात्रस्वरूप देखता है । भ्रमकाल तक सर्पादि स्वस्वरूप से अवस्थित प्रतीत होते हैं । ऐसे ही पदार्थ भी हमें अज्ञानवेला में निजी स्वरूप वाले लगते हैं ।) ॥ ५७ ॥ यज्ञों से देवतापद, तप से ब्रह्मापद तथा दान से भोग मिलते हैं, किंतु ज्ञान से ब्रह्मरूप मोक्ष ही प्राप्त हो जाता है ॥ ५८ ॥ कुछ विचारक समझते हैं कि कर्मों से मोक्ष मिलता है । वे मूर्ख हैं क्योंकि स्वयं वेद ने कर्मों को अदृढ नौका बता कर उनकी मोक्षसाधनता का निषेध कर दिया है ॥ ५९ ॥ यह सारा जगत् आत्मा ही है ऐसा पण्डित लोग जानते हैं (जैसे सर्पादि रज्जु ही है ऐसा रज्जुज्ञ जानता है) । इस कल्याणकारी तत्त्व को वे मर्त्य नहीं जानते जो अज्ञानपंक में निमग्न हैं ॥ ६० ॥ अज्ञानपाश से बँधा पुरुष ही अमुक्त कहा जाता है । अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है जैसे अँधेरे की निवृत्ति प्रकाश से ही होती है ॥ ६१ ॥ अज्ञान के स्वरूप का विचार कर निश्चय होता है यह मिथ्या ही है । यों इसके

आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परीक्षया[1] । क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः ॥ ६२ ॥
रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापोपमर्दनम् । तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते ॥ ६३ ॥
अशरीरो महानात्मा सुखदुःखैर्न बाध्यते । क्लेशमुक्तः प्रसन्नात्मा मुक्त इत्युच्यते बुधैः ॥ ६४ ॥
तस्मादज्ञानमूलानि सर्वदुःखानि देहिनाम् ।
ज्ञानेनैव निवृत्तिः स्यादज्ञानस्य न कर्मभिः ॥ ६५ ॥
नास्ति ज्ञानात्परं किंचित्पवित्रं पापनाशनम् । तदभ्यासादृते नास्ति संसारच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥
सर्वमुक्तं समासेन तव स्नेहान्महामुने । गोपनीयं[2] त्वयैवैष वेदान्तार्थो महामुने ॥ ६७ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे प्राणायामविधिनिरूपणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ज्ञानान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तन्निबन्धनरागाद्यभावेन धर्माधर्मप्रवृत्तिविरहे तदुभयफलभोगनिमित्तस्य शरीर-परिग्रहस्याभावाद्दुःखात्यन्तनिवृत्तिरपवर्गो भवतीत्याह—आत्मस्वरूपेति । तथा च गौतमसूत्रम्–'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इति ॥ ६२–६६ ॥ गोपनीयमिति[3] । ज्ञानस्यैव हेतुत्वं कर्मणामहेतुत्वं च यद्यपि सकलवेदान्तार्थस्तथाऽपि मूर्खेषु न प्रकाशनीयम् । 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् । जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्' ॥ इति गीतासु भगवतोक्तमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे प्राणायामविधिनिरूपणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

आग्रह से छूटने पर आत्मस्वरूप का अनुभव होता है जिससे अज्ञान क्षीण हो जाने पर रागादि समाप्त हो जाते हैं ॥ ६२ ॥ रागादि न रहने पर पुण्य-पाप नहीं रह जाते । (अज्ञान व राग-द्वेष से युक्त पुरुष ने ही कर्मों को किया है, अतः वे उसे तभी तक फल दे सकते हैं जब तक वह अज्ञान और राग-द्वेष से युक्त रहे । अज्ञानादि से युक्त न रह जाने पर पुण्य-पाप उसके लिये कोई फल उपस्थित नहीं कर सकते ।) पुण्य-पाप न रह जाने से वह व्यक्ति पुनः शरीर से सम्बद्ध नहीं होता ॥ ६३ ॥ शरीर बिना व्यापक आत्मा सुख-दुःख से परेशान नहीं हो सकता । (सुख भी प्राप्ति आदि आयासों से व समाप्त हो कर परेशान ही करता है ।) यों अविद्यादि पाँचों क्लेशों से छूटा हुआ प्रसन्न आत्मा मुक्त कहा जाता है ॥ ६४ ॥ अतः देहधारियों के सारे कष्टों का मूल है अज्ञान । अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है, कर्मों से नहीं ॥ ६५ ॥ ज्ञान से पवित्र कुछ नहीं है जो सब पापों को नष्ट करे । ज्ञानाभ्यास से भिन्न कोई साधन नहीं है जो संसारबंधन को छिन्न-भिन्न करे ॥ ६६ ॥ हे महामुनि ! मैंने साधनाविषयक प्रायः सारी बातें तुम्हें प्रेमपूर्वक समझा दी हैं । वेदान्त के इस रहस्य को अनधिकारियों से छिपाये रखना (ताकि वे इससे दिग्भ्रान्त हो अनर्थ को प्राप्त न हों ।) ॥ ६७ ॥

---

१. परस्यात्मनईक्षा दर्शनं ज्ञानं तयेत्यर्थः । हानादिति शेषः । यद्वाऽज्ञानस्यैव परीक्षणं वास्तवत्वनिर्धारणं—नेदं तत्त्वतो नाम किंचिदस्तीति । २. ख. घ. °नीयस्त्वयै° । ३. ख. °नीय इति° ।

सप्तदशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने ।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥ १ ॥
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते । यद्यत्पश्यति तत्सर्वं ब्रह्म पश्येत्समाहितः ॥ २ ॥
प्रत्याहारो भवत्येष ब्रह्मविद्भिः[1] पुरोदितः । यदि शुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ॥ ३ ॥
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारोऽयमुच्यते । अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः ॥ ४ ॥
काम्यानि च [2]तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा वायुमाकृष्य[3] तत्तत्स्थाने निरोधयेत् ॥ ५ ॥

यतो जितप्राणस्यैवेन्द्रियनियमनहेतुप्रत्याहारसंभवः, अतस्तदनन्तरं स उच्यत इत्याह–**अथात** इति । लक्षणमाह–**इन्द्रियाणामि**ति । आह पतञ्जलिः–'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' इति ॥ १ ॥ ज्ञेयप्रपञ्चस्य सर्वस्य ज्ञानादव्यतिरेकानुसंधानमिन्द्रियनियमनादपि प्रशस्तः प्रत्याहार इत्याह–**यद्यदि**ति । 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इति हि मुण्डकोपनिषत् ॥ २ ॥ सर्वव्यापारजातस्य ब्रह्मणि समर्पणलक्षणमपरं प्रत्याहारमाह–**यदि शुद्ध**मिति । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः' इति हि गीतासु ॥ ३ ॥ निषिद्धानि वर्जयित्वा नित्यानां काम्यानां च फलानभिसंधानेन भगवदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठानलक्षणमपरं प्रत्याहारमाह–**अथवा नित्येति** ॥ ४ ॥ दन्तमूलात्पादाङ्गुष्ठपर्यन्तं प्राणस्यापकर्षणरूपमपरं प्रत्याहारमाह**अथवा वायुमि**ति । पूर्वस्थानादपरं स्थानं प्रति वायुमाकृष्यैकैकत्र स्थाने यावदखिलोऽपि प्राण आगत्य स्थिरो भवति तावच्चितं धारयेत् । अनन्तरमवस्थानान्तरं[4] नयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रत्याहार-विधाननिरूपण नामक सत्रहवाँ अध्याय

भगवान् बोले–हे महामुनि ! अब मैं प्रत्याहार बताऊँगा । इन्द्रियाँ स्वभाव से विषयों की ओर भागती हैं । उन्हें बलपूर्वक वहाँ से हटाना प्रत्याहार है । (पतंजलि ने स्पष्ट किया है कि क्योंकि इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करती हैं, इसलिये चित्त का पहले यमादि से नियमन कर लेना चाहिये । जब चित्त अन्तर्मुखी होगा तो इंद्रियों को वैसा बनाना सरल हो जाता है । यद्यपि यमादि में भी इंद्रियनिग्रह है ही तथापि अब उनका सर्वथा नियंत्रण इष्ट है क्योंकि संयम का निकटतम प्रत्याहार है । अतः प्रत्याहार का फल इतना ही नहीं कहा कि इंद्रियाँ वशीभूत होती हैं किन्तु कहा कि उनकी परम वश्यता होती है–'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' (यो. सू. साधन ५५) ।) ब्रह्मवेत्ताओं ने तो माना है कि हम जिस किसी का अनुभव करते हैं उसे ब्रह्म जानें–यह प्रत्याहार है ॥ १–२½ ॥ शुभ या अशुभ जो कुछ भी जीवनभर हम

---

१ तदाहापरोक्षानुभूतिप्रकरण आचार्यः 'विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम् । प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः' ॥ १२१ ॥ इति । २ ङ. ततः । ३ ग. घ. "ष्य स्थानात्स्थानं नि" । ङ. "ष्य स्थानान्तरस्थं नि" । ४ घ. "रमेव स्था" ।

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम् । उरोदेशात्समाकृष्य नाभिकन्दे निरोधयेत् ॥ ६ ॥
नाभिकन्दात्समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत् । कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत् ॥ ७ ॥
तथाऽपाने कटिद्वंद्वे तथोरुद्वयमध्यमे । तथा जानुद्वये जङ्घे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत् ॥ ८ ॥
प्रत्याहारोऽयमित्युक्तः प्रत्याहारपरैः पुरा । एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ ९ ॥
सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगाश्च सुव्रत । अथवा तव वक्ष्यामि प्रत्याहारान्तरं मुने ॥ १० ॥
नाडीभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः । पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम् ॥ ११ ॥
पश्चात्पादद्वये तद्वन्मूलाधारे तथैव च । नाभिकंदे च हृन्मध्ये कण्ठकूपे च तालुके ॥ १२ ॥
भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि रोधयेत्[1] ।
अकारं च तथोकारं मकारं च तथैव च ॥ १३ ॥
नकारं च मकारं च शिकारं च वकारकम् ।
यकारं च तथोङ्कारं जपेद्बुद्धिमतां वर ॥ १४ ॥

तानि धारणास्थानान्यवरोहेणाऽऽह—दन्तमूलादिति ॥ ६–८ ॥ प्रत्याहारोऽयमिति । दन्तमूलमारभ्योक्तस्थानक्रमेण प्राणस्य पादाङ्गुष्ठप्रत्याहरणं प्रत्याहारः ॥ ९ ॥ पवनस्य पादद्वयमारभ्याऽऽरोहरूपं प्रत्याहारान्तरमाह—अथवा तवेति । पादद्वयादिस्थाननवके पूर्वपूर्वस्थानजयानन्तरमुत्तरोत्तरस्थानक्रमेणाकारादिवर्णनवकेन सह चित्तस्य धारणमित्यर्थः । एष च पवनधारणरूपः प्रत्याहार आगमे दर्शितः—'चित्तात्मैक्यधृतस्य प्राणस्य स्थानसंहतिः स्थानात् । प्रत्याहारो ज्ञेयश्चैतन्ययुतस्य सम्यगनिलस्य' इति । धारणास्थानानि तु तत्र कानिचिदधिकानि—'अङ्गुष्ठगुल्फजानुद्वितयानि गुदं च सीवनी मेढ्रम् । नाभिर्हृदयं ग्रीवा सलम्बिकाग्रं तथैव नासा च । भ्रूमध्यललाटाग्रं सुषुम्नाद्वादशान्तमित्येवम् ॥ उत्क्रान्तौ परकायप्रवेशने चाऽऽगतौ पुनः स्वतनौ । स्थानानि धारणायाः प्रोक्तानि मरुत्प्रयोगविधिनिपुणैः' इति ॥ १०–१४ ॥

करते हैं उस सबको ब्रह्मार्पण करना प्रत्याहार है ॥ ३½ ॥ अथवा नित्य व काम्य कर्मों को इस दृष्टि से करना कि हम परमात्मा की आराधना कर रहे हैं, प्रत्याहार है ॥ ४½ ॥ अथवा वायु को खींच कर इन स्थानों पर निरुद्ध करना चाहिये : दन्तमूल में, वहाँ से कण्ठ में, वहाँ से सीने में, वहाँ से नाभिकन्द में, वहाँ से कुण्डली में, वहाँ से मूलाधार में, वहाँ से गुदद्वार में, वहाँ से नितम्बों में, वहाँ से जाँघ के बीच, वहाँ से घुटनों में, वहाँ से पिण्डलियों में और अंत में पादांगुष्ठ में । यह प्राण का अपकर्षण रूप प्रत्याहार बताया गया है । इस प्रकार अभ्यास करने वाले महात्मा के पाप कटते हैं और सांसारिक रोग दूर होते हैं ॥ ५–९½ ॥ अथवा तुम्हें एक अन्य प्रत्याहार बताता हूँ : स्वस्तिकासन से बैठकर दोनों नासिकाओं से वायु खींच कर पैर के तले से मस्तकपर्यन्त उसे भर ले । फिर दोनों पैरों में, मूलाधार में, नाभिकन्द

---

१ क. ख. ग. घ. धारयेत् ।

प्रत्याहारोऽयमित्युक्तः पण्डितैः पण्डितोत्तम । अथवा मुनिशार्दूल प्रत्याहारं वदामि ते ॥ १५ ॥

देहाद्यात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः ।

आत्मनाऽऽत्मनि निर्द्वंद्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥ १६ ॥

प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः । एवमभ्यसतस्तस्य न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ १७ ॥

तस्य पुण्यं च पापं च न हि सत्यं बृहस्पते ।

अयं ब्रह्मविदां श्रेष्ठः साक्षाद्देवेश्वरः पुमान् ॥ १८ ॥

प्रत्याहारः समाख्यातः संक्षेपेण महामुने । गोपनीयस्त्वया नित्यं गुह्याद् गुह्यतरो ह्ययम् ॥ १९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे प्रत्याहारविधाननिरूपणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः[1] पञ्च सुव्रत ।

देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥ १ ॥

विषयादिभ्यः प्रत्याहृत्य बुद्धेरात्मनि धारणरूपं प्रत्याहारान्तरमाह–अथवा मुनिशार्दूलेति ॥ १५ ॥ आत्मना बुद्ध्या ॥ १६ ॥ १७ ॥ तस्य पुण्यं चेति । पापवद्भोगकारणं पुण्यमपि संसारावहतया हेयमेव । 'तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति मुण्डकश्रुतिः ॥ १८ ॥ गुह्यात्पवनप्रत्याहारादपि विमर्शरूपस्य प्रत्याहारस्य विशेषमाह–गोपनीय इति ॥ १९ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे प्रत्याहारविधाननिरूपणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

में, हृदय में, कण्ठकूप में, तालु में, भ्रूमध्य में, ललाट में और मूर्धा में क्रमशः उसका निरोध करे । इन नौ स्थानों पर निरोध करते हुए क्रमशः इन अक्षरों का जप करे : अ, उ, म, न, म, शि, व, य, ॐ । पण्डितों ने इसे आरोहरूप प्रत्याहार बताया है ॥ १०–१४½ ॥ अथवा हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम्हें अन्य प्रत्याहार बताता हूँ । एकाग्रतापूर्वक देहादि से आत्मबुद्धि को हटाकर निश्चयपूर्वक सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से न बदलने वाले, सभी विशेषताओं से रहित प्रत्यङ्मात्र आत्मतत्त्व में उसे स्थापित करे । (अर्थात् 'मैं शरीरादि हूँ' ऐसा न सोच 'मैं शरीरादिरहित आत्ममात्र हूँ' ऐसा चिन्तन करे ।) यह वेदान्तियों ने प्रत्याहार बताया है । इस प्रकार अभ्यास करने वाले के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है । वह पुण्य-पाप से अतीत हो जाता है । वह स्वयं शिवरूप हो जाता है ॥ १५–१८ ॥ यों संक्षेप से प्रत्याहार समझा दिया । इस प्रत्याहार को गोपनीय रखना क्योंकि यह गुह्य से भी अधिक गुह्य है । (अनधिकारी को इन अभ्यासों से लाभ नहीं, हानि भले ही हो । अतः इन्हें गोपनीय बताया है । आसन से प्रारम्भ होने वाले सभी योगांग श्री गुरु के निर्देश से ही ग्रहण कर उनकी संनिधि में ही अभ्यास करने चाहिये अन्यथा नानाविध आपत्तियाँ संभव हैं ।) ॥ १९ ॥

धारणाविधि-निरूपण नामक अठारहवा अध्याय

महादेव बोले–अब मैं तुम्हें पाँच धारणायें बताऊँगा । (चित्तवृत्ति को किसी स्थान पर स्थिर करने का अभ्यास 'धारणा' शब्द का अर्थ है ।) देहान्तर्वर्ती आकाश में बाह्याकाश के तादात्म्य की बुद्धि हकार के जप सहित करे । प्राण में बाह्यवायु के तादात्म्य की दृष्टि यकार-जप सहित करे । इसी प्रकार उदर-

---

१ पातंजलन्तु सूत्रं 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणे'ति । नाभ्याद्यान्तरस्थाने चन्द्रादिबहिर्देशे वा चित्तवृत्तेः स्थिरीकरणं धारणेत्यर्थः ।

प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे । तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने ॥ २ ॥
[1]हयवरलकाराख्यं मन्त्रमुच्चारयेत्क्रमात् । धारणैषा मया प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी[2] ॥ ३ ॥
जान्वन्तः पृथिवीभागो ह्यपां पाय्वन्त उच्यते ।
हृदयान्तस्तथाऽग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः[3] ॥ ४ ॥
आकाशान्तस्तथा प्राज्ञ मूर्धान्तः परिकीर्तितः ।
ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा ॥ ५ ॥
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके । आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम् ॥ ६ ॥
अथवा तव वक्ष्यामि धारणां मुनिपुंगव ।
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरिम् ॥ ७ ॥

यतः प्रत्याहारेण वशीकृतस्य चित्तस्य धारणासु योग्यता, अतस्तद्नन्तरं ता उच्यन्त इति प्रतिजानीते–**अथात** इति । तत्र शरीरान्तर्वर्तिषु वियदादिषु[4] हयवरलवर्णैर्भूतबीजैः सह बाह्यविषयादितादात्म्येन[5] बुद्धिर्धारयितव्या । एषा च धारणा सह फलेन श्वेताश्वतरोपनिषदि वर्णिता–'पृथ्व्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' इति ॥ १–३ ॥ उक्तानां वियदादीनां शरीरे धारणावस्थानविशेषात्सह तत्तद्देवताभिराह–**जान्वन्त** इति ॥ ४–५ ॥ **महेशानं** रुद्रं; पञ्चधा विभक्तेषु पादादिषु शरीरप्रदेशेषु पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मकतां, तेषु च ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवरूपतां च सदा भावयेदित्यर्थः ॥ ६ ॥ **अथवा तवे**ति । मनःप्रभृत्याध्यात्मिक-शरीरभागेषु चन्द्रादीन्याधिदैविकरूपाणि तादात्म्येन भावयेत् । **क्रान्ते** क्रमणेनोपलक्षिते पादे । **हरि**मिन्द्रम्[6] ॥ ७ ॥

स्थित अग्नि और बाह्य अग्नि के तादात्म्य की बुद्धि वकारजप सहित करे । शरीरान्तःस्थ जलभाग में बाह्यजल-तादात्म्य-दृष्टि रेफजप सहित करे। देहवर्ती पृथ्वी भाग में बाह्य पृथिवी के तादात्म्य की बुद्धि लकारजप सहित करे । यह धारणा सब पापों को निवृत्त करती है ॥ १–३ ॥ पादतल से घुटने तक के देहभाग में पृथ्वी-दृष्टि और उसमें पुनः ब्रह्म-दृष्टि करनी चाहिये। (अपने घुटने तक के पैरों को पृथ्वी समझे और उसे–पृथ्वी को–ब्रह्मा समझे । ऐसे ही आगे भी जानना चाहिये ।) घुटने से पायु तक के देहभाग में जल-दृष्टि और उसमें विष्णु-दृष्टि करे ।. हृदयपर्यन्त अग्नि-दृष्टि और उसमें रुद्रदृष्टि करनी चाहिये । भ्रूमध्य तक के देहभाग में वायुदृष्टि और उसमें ईश्वरदृष्टि करे । मूर्धा-पर्यन्त भाग में आकाशदृष्टि और उसमें सदाशिवदृष्टि करे ॥ ४–६ ॥ अथवा यह धारणा करनी चाहिये–मन में चन्द्रतादात्म्यदृष्टि, कानों में दिक्-तादात्म्यदृष्टि, पैरों में विष्णुतादात्मयदृष्टि, हाथों में इन्द्रतादात्म्यदृष्टि, वाणी में अग्नितादात्म्य-दृष्टि, अपान में मित्रदेवतादात्म्यदृष्टि, उपस्थ में प्रजापतितादात्म्यदृष्टि, त्वचा में वायुतादात्म्यदृष्टि, नेत्रों में

---

१. घ. हयरवल° । २ ग. °शोपिणी ॥ ३ ॥ ३ ख. ङ. °ध्यांशोऽनि° । ४ घ. °हयरवल° । ५ ख. °वियदादि° ।
६. 'अर्कमर्कटमण्डूकविष्णुवासववायवः । तुरंगसिंहशीतांशुयमाश्च हरयो दश ॥' हलायुधे ।

वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे तथोपस्थे प्रजापतिम् । त्वचि वायुं तथा नेत्रे सूर्यमूर्तिं तथैव च ॥ ८ ॥
जिह्वायां[1] वरुणं घ्राणे भूमिदेवीं तथैव च । पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम् ॥ ९ ॥
धारयेद् बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये । एषा च धारणा प्रोक्ता[2] योगशास्त्रार्थवेदिभिः ॥ १० ॥
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे । सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् ॥ ११ ॥
साक्षादात्मनि संपूर्णे धारयेत्प्रयतो नरः । धारणैषा परा प्रोक्ता धार्मिकैर्वेदपारगैः ॥ १२ ॥
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसाऽऽत्मनि धारयेत् ।
कंचित्कालं महाप्राज्ञ धारणैषा च पूजिता ॥ १३ ॥
वेदादेव सदा देवा वेदादेव सदा नराः । वेदादेव सदा लोका वेदादेव महेश्वरः ॥ १४ ॥

उत्सृजत्यनेनेत्युत्सर्गोऽपानं तत्र ॥ ८ ॥ **पुरुषे** जीवे **सर्वशास्तारं** परमात्मानम् । 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति श्रुतेः ॥ ९–१० ॥ धारणान्तरमाह–**ब्रह्मादीति** । ब्रह्मादीनामचिदंशाः स्वस्वकारण-परम्परया मायायां लीयन्ते । माया च परमात्मनि । ब्रह्मादयस्तु परमात्मरूपेणैव न्यवतिष्ठन्त इति भावयेदित्यर्थः । **अव्यक्त**मनभिव्यक्तम् । नामरूपानिरूप्यमनिर्वचनीयम् । **अचेतनं** जडम् ॥ ११–१२ ॥ धारणान्तरमाह–**इन्द्रियाणीति** । मनसैव विषयेभ्य इन्द्रियाणि व्यावृत्त्य मन **आत्मनि धारयेदि**त्यर्थः । इयं च कठवल्लीषु सविशेषं दर्शिता–'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' इति ॥ १३ ॥ **वेदादेवेति** । देवादयः सर्वे वेदशब्देभ्य एव सृष्टाः । 'एते असृग्रमिन्दवस्तिरःपवित्रमाशवः' इति अत्र मन्त्रः, 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत । असृग्रमिति मनुष्यान् । इन्दव इति पितॄन् । तिरःपवित्रमित्यन्याः प्रजा' इति श्रुतेः । 'ऋषीणां नामधेयानि कर्माणि च पृथक्पृथक् वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ निर्ममे स महेश्वरः' इति स्मृतावपि ऋषिपदस्य सर्वस्रष्टव्यो-पलक्षणार्थत्वात् । महेश्वरोऽपि वेदादेव ज्ञातव्यः 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं सर्वानुभवमात्मानं संपराये' इति ॥ १४ ॥

सूर्यतादात्म्यदृष्टि, जिह्वा में वरुणतादात्म्यदृष्टि, घ्राण में पृथ्वीतादात्म्यदृष्टि तथा जीव में सर्वशासक ज्ञान-आनन्दमय शिव की दृष्टि करे । यह धारणा योगियों ने सब पापों के शोधन के लिये बतायी है ॥ ७–१० ॥ अथवा यह धारणा करे–ब्रह्मा आदि की उपाधियों को अपने अपने कारण में विलीन कर मायापर्यन्त विलय करे । वह माया व्यक्त नहीं है, अनिर्वचनीय है और जड है । उसे परमात्मा में लीन करे । यह धारणा श्रेष्ठ है ॥ ११–१२ ॥ अथवा इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त कर मन सहित उनको आत्मा में धारण करे । (अर्थात् आत्मेतर कोई वृत्ति न बनावे । अथवा इंद्रियों को मनसे और मन को आत्मा से अभिन्न चिंतित करे ।) यह भी उत्तम धारणा है ॥ १३ ॥ अथवा पाँचवीं धारणा यह चिंतन करना है कि देव, नर और लोक वेद से ही उपजे हैं तथा महेश्वर भी वेद से ही जाना जा सकता है ॥ १४ ॥ इनसे अतिरिक्त यह निश्चय रखना भी धारणा है कि मैं देव, यक्ष, नर, देह, इंद्रिय, बुद्धि

---

१ वाचीति कर्मेन्द्रियग्रहणं जिह्वेति ज्ञानेन्द्रियग्रहणम् । २ ग. "क्ता वेदशा" ।

इति चित्तव्यवस्था या धारणा सा प्रकीर्तिता ।

ब्रह्मैवाहं सदा नाहं देवो यक्षोऽथवा नरः ॥ १५ ॥

न [1]देहेन्द्रियबुद्ध्यादिर्न माया नान्यदेवता[2] ।

इति बुद्धिव्यवस्थाऽपि धारणा सेति हि श्रुतिः १६ ॥

सर्वं संक्षेपतः प्रोक्तं सर्वशास्त्रविशारद । आगमान्तैकसंसिद्धमास्थेयं भवता सदा ॥ १७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे धारणाविधिनिरूपणं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं[3] संसारनाशनम् ।

आकाशे निर्मलं शुद्धं भासमानं सुशीतलम् । १ ॥

सोममण्डलमापूर्णमचलं दृष्टिगोचरम् । ध्यात्वा मध्ये महादेवं परमानन्दविग्रहम् ॥ २ ॥

ब्रह्मैवाहमिति । 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुतावात्मनः परमात्मतादात्म्याभिधानेनैव तदितरसमस्तवस्त्वात्मकत्वावगमादित्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे धारणाविधिनिरूपणं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

यतो धारणाभ्यासेन परित्यक्तचापलस्य मनसो ध्यानयोग्यता, अतस्तदनन्तरं तदुच्यत इत्याह—अथात इति । तच्च सगुणनिर्गुणलक्षणविषयभेदेन द्विविधम् । तत्र सगुणध्यानान्याह—आकाश इत्यादि । आकाशे वर्तमानमुक्तलक्षणं सकललोकदृष्टिगोचरं चन्द्रमण्डलं प्रथमतो ध्यात्वा, तन्मध्ये 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुत्युक्तं सच्चिदानन्दैकरसं परमेव ब्रह्मोमासहायत्वादियथोक्तलक्षणं स्वीकृतलीलावतरं शिवमात्मत्वेन ध्यायेदित्यर्थः । तथा च वाजसनेयके—बालाक्यजातशत्रुसंवादे—'य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति बालाकिनोक्ते, नैतन्निष्कलशिवस्वरूपं किं तु स्वीकृतलीलावतारं सकलमिदं रूपमित्यभिप्रायवताऽजातशत्रुणोक्तम् 'मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहन्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपासे' इति ॥ १–४ ॥

आदि, माया या अन्य कोई देवता नहीं हूँ, केवल ब्रह्म हूँ ॥ १५–१६ ॥ इस प्रकार धारणा के विषय में भी संक्षेप से सब बता दिया । उपनिषदों में बतायी इन धारणाओं का तुम्हें अभ्यास करना चाहिये ॥ १७ ॥

ध्यानविधि-निरूपण नामक उन्नीसवा अध्याय

भगवान् ने आगे कहा—अब मैं संसारचक्र में परिभ्रमण की निवृत्ति के उपायभूत ध्यान के विषय में कहूँगा । आकाश में सुशीतल शुद्ध चमकते हुए चन्द्रमण्डल का ध्यान कर उस चन्द्रबिम्ब के मध्य महादेव का ध्यान करे । आनन्द से उल्लसित अर्धनारीश्वर रूप का चिन्तन करना चाहिये । शुद्ध स्फटिक की तरह उनका शरीर है, द्वितीया के चन्द्र का शिरोभूषण है, तीन आँखें हैं, चार भुजायें हैं, नीली ग्रीवा है,

१. ख. देहेन्द्रियमनोबुद्धिर्न । २. विष्ण्वादेरंशोऽहमित्यादिधीरिहापोद्यते । यद्वा देवोहमिति तु मिथ्याधी र्देवयोनिवतामुक्ता, देवतेति चास्माकं गौणी धीरुच्यते । ३ धारणाध्यानसमाधयो न जात्या पृथक् । स्थैर्याधिक्यमेव विशेषः । अतः संयमनाम्ना त्रयाणां बोधो योगिनामिष्टः ।

उमार्धदेहं वरदमुत्पत्तिस्थितिवर्जितम्[1] । शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्ररेखावतंसकम् ॥ ३ ॥
त्रिलोचनं चतुर्बाहुं नीलग्रीवं परात्परम् । ध्यायेन्नित्यं सदा सोऽहमिति ब्रह्मविदां वर ॥ ४ ॥
अथवाऽऽकाशमध्यस्थे भ्राजमाने सुशोभने । आदित्यमण्डले पूर्णे लक्षयोजनविस्तृते ॥ ५ ॥
सर्वलोकविधातारमीश्वरं हेमरूपिणम् । हिरण्मयं श्मश्रुकेशं हिरण्मयनखं तथा ॥ ६ ॥
कप्यास्यासनवद्वक्त्रं[2] नीलग्रीवं विलोहितम् । आगोपालप्रसिद्धं तमम्बिकार्धशरीरिणम् ॥ ७ ॥
सोऽहमित्यनिशं ध्यायेत्संध्याकालेषु वा नरः । अथवा वैदिके शुद्धेऽप्यग्निहोत्रादिमध्यगे ॥ ८ ॥
आत्मानं जगदाधारमानन्दानुभवं सदा । गङ्गाधरं विरूपाक्षं विश्वरूपं वृषध्वजम् ॥ ९ ॥
चतुर्भुजं समासीनं चन्द्रमौलिं कपर्दिनम् । रुद्राक्षमालाभरणमुमायाः पतिमीश्वरम् ॥ १० ॥
गोक्षीरधवलाकारं गुह्याद् गुह्यतरं सदा । अत्यद्भुतमनिर्देश्यमहंबुद्ध्या विचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

चन्द्रमण्डलवदादित्यमण्डलमप्याकाशे ध्यात्वा तत्र स्वीकृतदिव्यावतारं परशिवमेवं ध्यायेदित्याह–**अथवाऽऽकाशेति** ॥ ५ ॥ **हेमरूपिणमिति** । उद्गीथविद्यायामादित्यस्थस्य पुरुषस्य कतिचिदिहोक्ता हेमरूपत्वादिगुणाः श्रूयन्ते–'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते । हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ[3] प्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' इति ॥ ६ ॥ **कप्यास्यासनवदिति** । कपीनां हि केषांचिदास्यमासनं च रक्तवर्णं तथा रक्तवर्णं मुखमित्यर्थः । **आगोपालमिति** । श्रूयते हि रुद्राध्याये–'उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः । उतैनं विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयाति नः' इति ॥ ७ ॥ उक्तलक्षणं परशिवमग्नौ वा स्वीकृतवक्ष्यमाणदिव्यावतारं ध्यायेदित्याह-**अथवा वैदिक** इति । परब्रह्म सगुणमग्नावुपास्यत्वेनोक्तं हि बालाकिनैव–'य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । उक्ताश्चन्द्रादित्याग्नयः शिवमूर्तित्वेनाऽऽगमेष्वपि प्रसिद्धाः–'क्ष्मावह्नियजमानार्कजलवातेन्दुखानि च । कीर्तिता मूर्तयो ह्यष्टौ' इति ॥ ८–११ ॥

वर प्रदान कर रहे हैं, जन्मादि विकार से शून्य हैं तथा सबसे परम हैं–इस तरह के महादेव को अपने से अभिन्न रूप से सोचना चाहिये–'ऐसे महादेव मैं हूँ' यों ध्यान करना चाहिये ॥ १–४ ॥ अथवा आकाश के मध्य चमकते हुए तथा एक लाख योजन विस्तार वाले सुशोभन पूर्ण आदित्यमण्डल में समस्त लोकों के विधाता ईश्वर का ध्यान करे । उनका ध्येयरूप सोने की तरह है । दाढ़ी बाल व नख–सभी स्वर्णमय हैं । उनका मुख वैसा गुलाबी है जैसे वानर का नितम्ब होता है । ग्रीवा के मध्य में नीलिमा है व चारों ओर लालिमा । गोपालकों पर्यंत सभी उनके रूप से परिचित हैं । ऐसे अर्धनारीश्वर महादेव का अपने से अभिन्न रूप से ध्यान करना चाहिये ॥ ५–७$^1/_2$ ॥ अथवा अग्निहोत्रादि की शुद्ध अग्नि के मध्य स्थित उमापति का ध्यान करे । वे चेतन हैं, जगत् के आधार हैं, आनन्द का सदा अनुभव कर रहे हैं, उनकी जटा में गंगा है, तीन आँखें हैं, चार भुजायें हैं, चन्द्र मुकुट है, उन्नत जटाये हैं, रुद्राक्ष मालाओं

---

१ विकाररूपस्थितिरहितमित्यर्थः । या हि जन्मानन्तरं स्थितिः सैव विकारः, नित्यस्थितिस्तु शिवरूपमेवेति । २ ङ. °वद्रक्तं नी° । ३ क. ग. आ प्रनखा° । घ. आ नखा° ।

अथवाऽहं हरिः साक्षात्सर्वज्ञः पुरुषोत्तमः । सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ १२ ॥

विश्वो नारायणो देवः अक्षरः परमः प्रभुः । इति ध्यात्वा पुनस्तस्य हृदयाम्भोजमध्यमे ॥ १३ ॥

प्राणायामैर्विकसिते परमेश्वरमन्दिरे । अष्टैश्वर्यदलोपेते विद्याकेसरसंयुते ॥ १४ ॥

ज्ञाननालमहत्कन्दे प्रणवेन प्रबोधिते । विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

आदित्यमूर्तिवद्विष्णुमूर्तावपि परशिवस्य वक्ष्यमाणलीलावतारस्य स्वात्मतादात्म्येन ध्यानमाह—**अथवेति** । तत्र प्रथमतो विष्णुमूर्तेरपि स्वात्मतादात्म्यानुसंधानमाह—**अहं हरिरिति** । **सहस्रशीर्षा** ब्रह्मादिपिपीलिकान्तसर्वप्राणिषु वर्तमानानि सहस्राण्यनन्तानि शीर्षाणि शिरांसि यस्येति स तथोक्तः । **पुरुषः** पूर्णः । **सहस्राक्षः** सहस्राण्यनन्तानि प्रजासंबन्धीन्यक्षीणीन्द्रियाणीति सहस्राक्षः । एवं **सहस्रपादिति** ॥ १२ ॥ **विश्वो** विश्वत्वेन स्थितः । **नारायणः** 'नृ नये' पचाद्यच् । नरो नेता सर्वस्य स्वामी । तस्यापत्यानि नाराः सर्वे चेतना अचेतनाश्च । अपत्येऽण् । तेषामयनमधिष्ठानत्वेनाऽऽश्रयभूतं जलचन्द्राणां विम्बचन्द्रवत्कलधौतादीनां शुक्तिकादिवदिति नारायणः 'पूर्वपदात्संज्ञायामि'ति णत्वम् । **देवो** देवनशीलः । **अक्षरो** न क्षरतीति सर्वमश्नुत इति[1] वाऽक्षरः । अशेः सरप्रत्ययेऽक्षरम् । **परमः** सर्वोत्कृष्टः । यद्वा**ऽक्षरः परमः** परमाक्षरः परमव्यापको व्यापकानामपि व्यापकः । **प्रभुः** सर्वेषां प्रकर्षेण भरणक्षमः । तदात्मकस्य स्वात्मनो हृदयाम्भोजमध्ये "पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्" इतिश्रुत्युक्ते ॥ १३ ॥ रेचकप्राणायामेन विकासीकृत्य, ऊर्ध्वमुखीकृतपरमेश्वरमन्दिरे । तत्र हि परमेश्वरो ध्यातव्यत्वेन वक्ष्यते । अणिमादीन्यष्टैश्वर्याणि[2] दलानि तैरुपेते तत्त्वविद्यारूपैः केसरैर्युते ॥ १४ ॥ शास्त्रविषयं ज्ञानं नालं यस्य तस्मिन्, महत्तत्त्वमेव कन्दो यस्य तस्मिन्, **प्रणवेन प्रबोधिते** प्रागुक्तविकासे प्रणवदिवाकरस्य कारणतोच्यते । उक्तहृदयकमलमध्यगतसुषुम्नायामन्तर्वक्ष्यमाणवह्निशिखायाः कारणभूतं मूलाधारस्थं वैश्वानरमाह—**विश्वार्चिषमिति** । विश्वार्चिषं सर्वतःप्रसरज्ज्वालम् । **विश्वतोमुखं** विश्वावकाशोदीर्णमुखसामर्थ्यम् ॥ १५ ॥

से सज्जित हैं, गाय के दूध के समान गौरवर्ण हैं । उनकी ध्वजा में वृषभ अंकित है । सारा संसार उन्हीं का रूप है । इस प्रकार सब द्वन्द्वों से रहित अद्भुत शान्तरूप से बैठे महादेव का अपने से अभिन्न रूप से —ऐसे महादेव मैं हूँ—ध्यान करना चाहिये ॥ ८—११ ॥ अथवा यों ध्यान करे—पहले विष्णुमूर्ति का अपने से अभिन्नरूप से ध्यान करे—'मैं हरि हूँ' । हरिरूप की इन विशेषताओं का चिन्तन करे—वे सर्वज्ञ हैं, सब पुरुषों में उत्तम हैं, संसार के समस्त सिर उन्हीं के होने से वे हजारों सिरों वाले हैं । पूर्ण हैं । हजारों ही उनकी आँखे व हजारों ही उनके चरण हैं । व्यापक हैं। सब जीवों के अधिष्ठान हैं । ज्ञानशील हैं । क्षरित होने वाले नहीं हैं । सब से उत्कृष्ट हैं । सबका भरण करते हैं । (क्योंकि स्वतादात्म्येन चिंतन विधित्सित है इसलिये—'ऐसे विष्णु मैं हूँ'—यह ध्यान का पर्यवसित रूप होगा ।) इस प्रकार के विष्णु से अभिन्नतया ध्यात अपने हृदयकमल के मध्य शिव का ध्यान करना है । पहले रेचक प्राणायाम द्वारा उस कमल का विकास करना चाहिये—खिले हुए कमल का ध्यान करना चाहिये । वही परमेश्वर का स्थान है । अणिमादि आठ ऐश्वर्यरूप उसकी पंखुड़ियाँ हैं । तत्त्वविद्या उसमें केसर है । शास्त्रविषयक ज्ञान उस कमल की नाल है । उसका कन्द (गाँठ) महत्तत्त्व है। प्रणवरूप सूर्य से वह विकसित हुआ है । ऐसे कमल के बीचों-बीच

---

१ क. ख. "ति चाक्ष" । २ घ. "न्यष्टावैश्व" ।

वैश्वानरं जगद्योनिं शिखातन्विनमीश्वरम् । तापयन्तं स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ॥ १६ ॥
निर्वातदीपवत्तस्मिन्दीपितं हव्यवाहनम् । नीलतोयदमध्यस्थं विद्युल्लेखेव भास्वरम् ॥ १७ ॥
नीवारशुकवद्रूपं पीताभासं विचिन्तयेत् ।
तस्य वह्नेः[1] शिखायां तु मध्ये परमकारणम् ॥ १८ ॥
परमात्मानमानन्दं परमाकाशमीश्वरम् । ऋतं सत्यं परं ब्रह्म साम्बं संसारभेषजम् ॥ १९ ॥
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं महेश्वरम् । नीलग्रीवं स्वमात्मानं पश्यन्तं पापनाशनम् ॥ २० ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानैर्ध्येयं ध्येयविवर्जितम् । सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगी महेश्वरम् ॥ २१ ॥
अयं मुक्ते[2] र्महामार्ग आगमान्तैकसंस्थितः । अथवाऽहं मुनिश्रेष्ठ ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २२ ॥

जगद्योनिम् । यद्धि जगदुपादानं परमात्मज्योतिस्तत्प्रतीकत्वेन तदात्मकमिदं मूलाधारस्थं ज्योतिस्तेन जगद्योनिरित्युच्यते । तत्प्रतीकत्वं च श्रूयते छान्दोग्ये–'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्यारभ्य 'इदं वाव तद्यदिदमन्तः पुरुषे ज्योतिः' इति । शिखां तनोतीति शिखातन्विनम् । औणादिको विनिप्रत्ययः । तापयन्तमिति । श्रूयते च तैत्तिरीयोपनिषदि–'संतापयति स्वं देहमापादतलमस्तकम्' इति ॥ १६–१७ ॥ तस्य वह्नेरिति । श्रूयते च–'तस्याः शिखाया मध्ये तु परमात्मा व्यवस्थितः' इति ॥ १८–२० ॥ स्वयं ब्रह्मादिभिर्ध्येयं स्वात्मना ध्यातव्येनान्येन वर्जितम् ॥ २१ ॥ ध्यानस्य मोक्षहेतुत्वे श्रुतिः प्रमाणमित्याह–आगमान्तेति । 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' इति श्रूयते । विष्णुमूर्तिरिव स्वयं ब्रह्ममूर्तिर्भूत्वा स्वहृदये शिवं ध्यायेदित्याह–अथवाऽहमिति ॥ २२–२३ ॥

एक महान् वह्नि का ध्यान करे । उस वह्नि से सब ओर लपटें निकल रही हैं । अतः यह सब ओर फैलने में समर्थ है । वही वैश्वानराग्नि है (जठराग्नि है) । जगत् के कारणभूत परमात्मा का प्रतीक होने से यह भी जगत्कारण कही जाती है । लौ निकालने वाली होने से यही 'शिखातन्वी' है । ईश्वरोपलब्धि का स्थान होने से यही ईश्वर है । यह अपने पूरे शरीर को तपा रही है । जहाँ हवा बह न रही हो ऐसी जगह रखे दिये की तरह निश्चल भाव से कमलस्थित वह प्रदीप्त अग्नि जल रही है। नीले बादल में जैसे बिजली चमकती है वैसी इसकी चमक है । नीवारशुक की तरह (एक प्रकार का धान नीवार कहा जाता है) उसका रूप और पीत वर्ण है । उस वह्नि की ज्वाला के बीच महेश्वर का ध्यान करे । वे महेश्वर परम कारण हैं । वे ही परमात्मा हैं, परमानंद हैं, परमाकाश हैं (परम व्यापक तथा प्रकाशशील हैं), ईश्वर हैं, ऋत (नियम) हैं, सत्य हैं, परब्रह्म हैं, अम्बा समेत हैं, संसाररोग की औषध हैं, किसी को उत्पन्न नहीं करते हैं, त्रिनेत्र हैं, सर्वरूप हैं, महान् शासक हैं, नीलकण्ठ हैं, मानो अपने आपको

---

१ ग. °वह्निशि° । २ घ. °र्महाभाग आ° ।

इति स्मृत्वा स्वहृन्मध्ये शिवं परमकारणम् । साक्षाद्वेदान्तसंवेद्यं साम्बं संसारभेषजम् ॥ २३ ॥
अहंबुद्ध्या विमुक्त्यर्थं ध्यायेदीशानमव्ययम् । अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ॥ २४ ॥
अनन्तममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् । तथाऽस्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचक्षुषम् ॥ २५ ॥
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् । सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तं मूर्तमव्ययम् ॥ २६ ॥
अदृश्यं दृश्यमन्तस्थं बहिष्ठं सर्वतोमुखम् । सर्वतः पाणिपादं च सर्वकारणकारणम् ॥ २७ ॥
सर्वज्ञानादिसंयुक्तमहमित्येव चिन्तयेत् । अयं पन्था मुनिश्रेष्ठ साक्षात्संसारनाशने ॥ २८ ॥

सर्वाधारत्वजगत्कारणत्वादिविशिष्टवाचकस्य स इति पदस्य बुद्ध्यादिविशिष्टप्रत्यक्चैतन्यवाचकस्याहंपदस्य च सामानाधिकरण्ये सत्यखण्डैकरसे लक्ष्ये यत्र वाक्यार्थे पर्यवसानमतः सोऽहमिति महावाक्येनानुसंदध्यादिति । निष्कलविषयं ध्यानमाह– अथवा सत्यमिति ॥ २४ ॥ २५ ॥ तत्राहंपदवाच्यस्य बुद्ध्यादिविशिष्टप्रत्यक्चैतन्यस्य सकललोकप्रत्यक्षत्वेऽपि स इत्येतत्पदवाच्यस्य परोक्षत्वेनाप्रसिद्धत्वात्सर्वाधारमित्यादिना पदजातेन तन्निर्देशः । ततः प्राक्तनेन च सत्यमित्यादिना लक्ष्यस्याखण्डैकरसप्रदर्शनं, सोऽहमिति च लक्षणाबीजस्य सामानाधिकरण्यनिर्देश इति विभागः । तत्राद्वयमस्थूलमनाकाशमित्यादयो द्वैतादिनिषेधमुखेन लक्ष्ये पर्यवस्यन्ति । सत्यादयस्तु स्वार्थार्पणप्रणाड्येति विशेषः । तदुक्तमाचार्यैः–'तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् । स्वार्थार्पणप्रणाड्या तु परिशिष्टे[1] विशेषणम्' इति । वाजसनेयश्रुतिरप्येतद्व्यावृत्तिमुखेनैवैतदेव लक्ष्यं निर्दिशति 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रम्' इत्यादि । प्रकृत्याऽमूर्तमपि मायया मूर्तम् ॥ २६ ॥ एवमदृश्यं; दृश्यमव्ययं तत्त्वावबोधपर्यन्तमनिवृत्तोपाधिकम् । अन्तस्थमिति । 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इति हि श्रुतिः ॥ २७–२८ ॥

देख रहे हैं, पापनाशक हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश के ध्येय हैं, स्वयं उनका और कोई ध्येय नहीं । ऐसे महेश्वर का अपने से अभिन्न रूप से ध्यान करना चाहिये । यह ध्यान मोक्षप्राप्ति के लिये उत्तम मार्ग है ॥ १२–२१½ ॥ अथवा यों ध्यान करना चाहिये कि मैं सर्वलोक-जनक ब्रह्मा हूँ । फिर अपने हृदय में परम-कारण शिव का ध्यान करे । वे शिव वेदान्तों से जाने जा सकते हैं । माता पार्वती से युक्त हैं, संसाररोग की भेषज हैं । ऐसे अव्यय ईशान का अपने से अभिन्न रूप से ध्यान करे ॥ २२–२३½ ॥ अथवा (निष्कल तत्त्व का) यों ध्यान करे : ईशान शिव मैं हूँ—ऐसा चिन्तन करना चाहिये । ईशान की ये विशेषतायें हैं— वे त्रिकालाबाध्य हैं, ज्ञानरूप व आनंदरूप हैं, उनसे दूसरा कुछ नहीं है । वे निःसीम हैं, निर्मल हैं, जन्मादि नाशान्त विकारों से वर्जित हैं, स्थूल नहीं हैं, आकाश से भी सूक्ष्म हैं, संसर्ग के अयोग्य हैं । वे न चक्षु हैं न रस हैं और न गन्ध नामक गुण ही हैं । सर्वप्रमेयविलक्षण हैं, अपने लिये दी जाने वाली उपमाओं के अनुरूप हैं, सब के आधार हैं, जगत् उन्हीं का रूप है, स्वयं वे अमूर्तिमान् हैं किन्तु अपने वशीभूत मायाबल से मूर्तिमान् भी हैं, अव्यय हैं, दृष्टि की विषयता से रहित हैं पर वृत्ति से व्याप्त होते हैं, अन्दर बाहर सर्वत्र हैं, सभी ओर उन्हीं के मुँह, हाथ व पैर हैं, सबके कारणभूत आकाशान्त तत्त्वों के भी वे कारण हैं तथा समस्त विषयों के ज्ञान, नियंत्रण आदि करने वाले हैं। ऐसे 'ईशान मैं हूँ'—इस

अथवा सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत । अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥ २९ ॥
इदंतया न देवेशमभिध्यायेन्मनागपि । ब्रह्मणः साक्षिरूपत्वान्नेदं यदिति हि श्रुतिः ॥ ३० ॥
एवं ध्यानपरः साक्षाच्छिव एव न चान्यथा ।
अनेन सदृशो लोके न हि वेदविदां वर ॥ ३१ ॥
प्रक्षीणाशेषपापस्य ज्ञाने ध्याने भवेन्मतिः । पापोपहतबुद्धीनां तद्वार्ताऽपि सुदुर्लभा ॥ ३२ ॥
अथवा विष्णुमव्यक्तमाधारं देवनायकम् । शङ्खचक्रधरं देवं पद्महस्तं सुलोचनम् ॥ ३३ ॥
किरीटकेयूरधरं पीताम्बरधरं हरिम् । श्रीवत्सवक्षसं विष्णुं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ३४ ॥
पद्मपुष्पदलाभोष्ठं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् । शुद्धस्फटिकसंकाशमहमित्येव चिन्तयेत् ॥ ३५ ॥
एतच्च दुर्लभं प्रोक्तं योगशास्त्रविशारदैः । अथवा देवदेवेशं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ॥ ३६ ॥
अक्षमालाधरं देवं कमण्डलुकराम्बुजम् । वरदाभयहस्तं च वाग्देव्या सहितं सदा ॥ ३७ ॥
कुन्देन्दुसदृशाकारमहमित्येव चिन्तयेत् ।
अथवाऽग्निं तथाऽऽदित्यं चन्द्रं वा देवतान्तरम् ॥ ३८ ॥

उक्ते वाच्यार्थपूर्वकलक्ष्यानुसंधानेक्षणे सति वाच्यानुसंधानमपि त्यक्त्वा लक्ष्य एवार्थोऽनुसंधेय इत्याह–अथवा सच्चिदिति । सच्चिदानन्दादयः शब्दा लक्षणयाऽखण्डैकरसमेव स्वरूपं [1]समर्थयन्ति ॥ २९ ॥ [2]प्रत्यक्तादात्म्येनैवानुसंधाननियमे कारणमाह–इदंतयेति । नेदं यदिति हि श्रुतिरिति । 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि [3]पश्यति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥' इति तलवकारोपनिषत्परात्त्वेन ब्रह्मणो[4]ऽनुसंधानं प्रत्याचष्ट इत्यर्थः ॥ ३०–३२ ॥ सकलनिष्कलात्मकस्य शिवस्य तादात्म्यानुध्यानान्युक्त्वा विष्ण्वादीनामपि सकलध्यानान्याह–अथवा विष्णुमित्यादि । निष्कलं तु. विशेषाभावात्तदेव भविष्यतीति न पृथगुक्तम् ॥ ३३–३८ ॥

प्रकार ध्यान करे । संसारबंधन की निवृत्ति का यह उपाय है ॥ २४–२८ ॥ अथवा 'ध्येय से अतीत सच्चिदानन्द अनन्त ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा ध्यान करना चाहिये । यह मोक्षफलक ध्यान है । परमेश्वर का 'मैं' इस तरह ही ध्यान करना चाहिये, 'यह' इस तरह अपने से भिन्न रूप से नहीं क्योंकि परमशिव ही साक्षी होने से प्रत्यक्तम हैं । श्रुति ने भी बताया है कि 'यह' इस रूप से जिसकी उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं । यों आत्मरूप से ध्यान करने वाला साक्षात् शिव ही है । इसके तुल्य संसार में कोई नहीं । ज्ञान व ध्यान में उन्हीं का मन लगता है जिनके पाप क्षीण हो चुके हैं । जिनके मन मलिन हैं उन्हें इनकी बात भी रुचती नहीं ॥ २९–३२ ॥ अथवा 'विष्णु मैं हूँ' ऐसा ध्यान करे । विष्णु अव्यक्त हैं, सर्वाधार हैं, देवनेता हैं, हाथों में शंख, चक्र व पद्म लिये हैं, द्युति वाले हैं, सुंदर नेत्रों वाले हैं, मुकुट व बाजूबन्ध से अलंकृत हैं, पीताम्बर धारण किये हैं, पापहर्ता हैं, उनके सीने पर घुँघराले रोम हैं, वे व्यापक हैं, पूर्ण चन्द्र की तरह आह्लाददायक मुख वाले हैं, पद्म की पंखुड़ियों की तरह गुलाबी ओष्ठ वाले हैं, सुप्रसन्न हैं, शुद्ध मुस्कान वाले हैं, तथा शुद्ध स्फटिक की तरह चमकदार हैं । यह एक दुर्लभ ध्यान है ॥ ३३–३५½ ॥ अथवा 'ब्रह्मा मैं हूँ' ऐसा ध्यान करे । ब्रह्मा सब देवताओं का नियमन करने वाले हैं, परमतम

---

१. ख. घ. समर्पयन्ति । २. ङ. प्रत्यगात्म्ये° । ३. क. पश्यन्ति । ४. °नुसंधाना° ।

वेदोक्तेनैव मार्गेण सदाऽहमिति चिन्तयेत् । एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ ३९ ॥
क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं विजायेत न संशयः । ज्ञानादज्ञानविच्छित्तिः सैव तस्य [1]विमुक्तता ॥ ४० ॥
सर्वमुक्तं समासेन मया वेदान्तसंग्रहम् । मत्प्रसादाद्विजानीहि मा शङ्किष्ठाः कदाचन ॥ ४१ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे ध्यानविधिनिरूपणं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधिं[2] भवनाशनम् ।
समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैक्यतामतिः[3] ॥ १ ॥
यदि जीवः पराद्भिन्नः कार्यतामेति सुव्रत । अचित्त्वं च प्रसज्येत घटवत्पण्डितोत्तम ॥ २ ॥
विनाशित्वं भयं च स्याद् द्वितीयाद्वा इति श्रुतिः ।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥ ३ ॥

अत्र सगुणध्यानानि चित्तैकाग्र्यद्वारा पापक्षयद्वारा वा निष्कलसाक्षात्कारे कारणम् । निष्कलं ध्यानं त्वव्यवधानेनेत्याह—एवमभ्यासेति ॥ ३९–४१ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे ध्यानविधिनिरूपणं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

यतः साधनभूतध्यानस्वरूपज्ञानायत्ता[4] तत्फलसंविदः समाधिपर्यायाया उत्पत्तिः अतस्तदनन्तरं तदभिधानमिति प्रतिजानीते—अथात इति । महावाक्यलक्ष्यस्वरूपसाक्षात्कार एव समाधिरिह विवक्षित इत्यर्थः ॥ १ ॥ ध्यानफलभूततत्त्वविमर्श-स्वरूपफलमाह—यदि जीव इति । 'कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति वाजसनेयश्रुतिरित्यर्थः ॥ २–३ ॥

(सबसे परम) हैं, रुद्राक्ष माला पहने हैं, हाथ में कमण्डलु लिये हैं, उनके हाथ वरद और अभय मुद्रा में हैं, वाग्देवी समेत हैं, कुन्द (मोतिया पुष्प) या चन्द्र के समान शुभ्र हैं । इस प्रकार के ब्रह्मा मैं हूँ ऐसा चिंतन करना चाहिये ॥ ३६–३७½ ॥

अथवा वेदोक्त विशेषताओं वाले अग्नि, सूर्य, चन्द्र या किसी देवता का आत्मरूप से ध्यान करना चाहिये ॥ ३८½ ॥ यों अभ्यास करते रहने वाले महात्मा को क्रमशः वेदान्त का बोध—अपनी ब्रह्मरूपता का निश्चय—हो जाता है इसमें संदेह नहीं । ज्ञान से अज्ञान विनष्ट होता है। अज्ञाननाश ही उस साधक का मोक्ष होना है ॥ ३९–४० ॥ ध्यानविषयक सारी जानकारी संक्षेप में दे दी । मेरी कृपा से इसे तुम समझ लोगे । इस विषय में शंकायें न करना ॥ ४१ ॥

समाधिनिरूपण नामक बीसवा अध्याय

भगवान् बोले—अब मैं भवबंध-निवारक समाधि बताता हूँ । परमेश्वर और जीव के ऐक्य के ज्ञान की उत्पत्ति का नाम समाधि है ॥ १ ॥ यदि जीव परमेश्वर से भिन्न हो तो कार्य (जन्य) तथा घट की तरह जड होगा । साथ ही वह विनाशवान् और सदा भयग्रस्त होगा (अर्थात् मोक्ष असंभव होगा) । किन्तु ये सब जीव के स्वरूप हैं नहीं अतः वह परमेश्वर से भिन्न नहीं है ॥ २½ ॥ एकमात्र नित्य, व्यापक, कूटस्थ आत्मा समस्त दोषरहित रहता हुआ ही अज्ञानवश हुए भ्रम से जीवादिरूप से बँट जाता है । वस्तुतः भेद है नहीं । सत्य अद्वैत ही है । न यह प्रपंच है और न संसरण ॥ ३–४ ॥ जैसे अखण्ड

---

१. ङ. विविक्तता । २. अत्र कैवल्यपादोक्तः क्लेशकर्मनिवर्तकः समाधिर्विवक्षितः । सूत्रं तु 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधि' रिति । विभूतिपादोक्तोप्यस्यैवोपायः । तस्य लक्षणम् 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि' रिति । तदेवेति ध्यानमेव । यदा ध्याने नान्यद्भासतेऽर्थएव भासते तदा ध्यानस्य यत् त्रिपुटीघटितं स्वरूपं तदविद्यमान-सममास्ते, सावस्था समाधिरिति सूत्रार्थः । ३. क. ख. °वैकता° । ४. ङ. °य तत्तत्फ° ।

एकः स भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ।
तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः ॥ ४ ॥
यथाऽऽकाशो घटाकाशो महाकाश इतीरितः ।
तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ॥ ५ ॥
नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि तथैव च ॥
न मानोऽहं[1] न बुद्धिश्च नैव चित्तमहंकृतिः ॥ ६ ॥
नाहं पृथ्वी न सलिलं न च वह्निर्न चानिलः ।
न चाऽऽकाशो न शब्दश्च न च स्पर्शस्तथा रसः ॥ ७ ॥
नाहं गन्धो न रूपं च न मायाऽहं न संसृतिः ।
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ॥ ८ ॥
इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते । अथवा पञ्चभूतेभ्यो जातमण्डं महामुने ॥ ९ ॥
भूतमात्रतया दग्ध्वा विवेकेनैव वह्निना । पुनः स्थूलादिभूतानि सूक्ष्मभूतात्मना तथा ॥ १० ॥

स भिद्यत इति । माययाऽज्ञानेन जनिता या भ्रान्तिर्विपरीतज्ञानं तया भेदो गृह्यते । प्रमेयभेदग्रहणस्य 'नेह नानाऽस्ति' इति श्रुतिबाधितत्वेन भ्रान्तित्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥ अविद्ययाऽऽत्मतादात्म्येनाध्यस्तस्य[2] देहेन्द्रियमनःप्राणादेर्विमर्शजनितेन विवेकज्ञानेन निरासमभिनयेन[3] दर्शयति–नाहं देह इति ॥ ६ ॥ यथा भूतकार्यस्य देहादेर्विवेक एवं तत्कारणस्य पृथिव्यादिभूतजातस्य चेत्याह–नाहं पृथ्वीति ॥ ७–८ ॥ सकारणाद्भूतभौतिकप्रपञ्चादात्मानं बुद्ध्यैव विविच्य विविक्ते तस्मिन्समाधिरुक्तः। अधुना तं प्रपञ्चं बुद्ध्यैव प्रविलाप्य परिशिष्टे तस्मिन्नद्वितीये समाधिमाह–अथवा पञ्चेति । 'तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः' इति न्यायेन भौतिकं ब्रह्माण्डं पञ्चीकृतभूतात्मना तानि च भूतान्यपञ्चीकृतभूतात्मना ॥ ९–१० ॥

आकाश में महाकाश और घटाकाश की कल्पना हो जाती है वैसे भ्रान्ति वालों द्वारा जीव और ईश्वर विभिन्न समझे जाते हैं ॥ ५ ॥ मैं–आत्मा–देह, प्राण, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार नहीं हूँ । ऐसे ही इनके कारणभूत पाँचों महाभूत व उनके गुण मैं नहीं हूँ । न मैं माया हूँ न संसरण । सदा साक्षात् द्रष्टा होने से केवल शिव ही हूँ ॥ ६–८ ॥ यह निश्चय समाधि है ।

अथवा विवेकात्मक विचार से पांचभौतिक इस अपने शरीर को तथा समस्त ब्रह्माण्ड को पंचभूतरूप ही समझना चाहिये क्योंकि कारण से कार्य अनन्य ही होता है । जैसे मिट्टी से भिन्न घट कोई वस्तु नहीं–केवल नाम और रूप ही हैं, ऐसे पाँच भूतों से अतिरिक्त ब्रह्माण्ड या पिण्ड कोई वस्तु नहीं, यह निश्चय करना चाहिये । आगे स्थूल भूत भी सूक्ष्मभूतरूप ही हैं । वे भी स्वकारण मायामात्र हैं । माया भी स्वाधिष्ठान प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त नहीं । यह प्रत्यगात्मा ब्रह्म मैं हूँ । संसारी नहीं हूँ । मुझसे अन्य कभी कुछ नहीं है । यों अपने वास्तविक स्वरूप का निश्चय

---

१. मन्यतेऽनेनेति घञि मानो मनएवोच्यते । २. घ. ङ. °स्तदे° । ३. घ. °नयत्वेन ।

विलाप्यैवं विवेकेन ततस्तान्यपि बुद्धिमान् ।
मायामात्रतया दग्ध्वा मायां च प्रत्यगात्मना ॥ ११ ॥
सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यत्कदाचन ।
इति विद्यात्स्वमात्मानं स समाधिः प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥
अथवा योगिनां श्रेष्ठ प्रणवात्मानमीश्वरम् । वर्णत्रयात्मना विद्यादकारादिक्रमेण तु ॥ १३ ॥
ऋग्वेदोऽयमकाराख्य उकारो यजुरुच्यते[1] ।
मकारः सामवेदाख्यो नादस्त्वाथर्वणी श्रुतिः ॥ १४ ॥
अकारो भगवान्ब्रह्मा तथोकारो हरिः स्वयम् ।
मकारो भगवान्रुद्रस्तथा नादस्तु कारणम् ॥ १५ ॥

तान्यपीति[2] । 'पर्ययेणानुक्रमोऽत उपपद्यते च' इति न्यायेन पृथिव्यादिक्रमेण मायायां, तामप्यात्मनि बुद्ध्यैव प्रविलाप्य परिशिष्टेऽद्वितीये केवलमात्मनि स्वात्मतादात्म्येनानुसंधानं समाधिरित्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥ वाच्यवाचकप्रपञ्चस्य[3] ब्रह्मणि परिकल्पितत्वात्[4] प्रणववाच्यस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य सकारणस्योपसंहारद्वारा निष्कलब्रह्मणि समाधिमभिधाय, वाचकप्रणवावयवानामकारोकारमकारार्धमात्रारूपाणां सकारणानां प्रविलापनं ब्रह्मणि समाधिमिदानीमाह—**अथवा योगिनामिति** । 'प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परं स्मृतम् । एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्' इति ह्युक्तम् ॥ १३ ॥ अकारोकारमकारनादानां वेदचतुष्टयात्मकत्वमाह—**ऋग्वेद इति** ॥ १४ ॥ तेषामेव ब्रह्मविष्णुरुद्रतत्कारणात्मकतामाह—**अकार इति** ॥ १५ ॥

रूप समाधि करनी चाहिये ॥ ९–१२ ॥

अथवा ॐकार के सहारे सारे भेद निवृत्त कर आत्मस्थिति रूप समाधि करे । ईश्वरप्रतीक प्रणव को अकारादि क्रम से तीन वर्णों में (तथा नाद में) बँटा जान लो । प्रपंच इन अक्षरों में व नाद में सिमट जाता है । ऋग्वेद, ब्रह्मा, गार्हपत्याग्नि, पृथ्वी, जाग्रदवस्था, नाभिदेश, उदात्तस्वर और भूत काल—ये सब अकार हैं । यजुर्वेद, हरि, दक्षिणाग्नि, अंतरिक्षलोक, स्वप्नावस्था, हृदयदेश, अनुदात्त स्वर और भविष्य काल—ये सब उकार हैं । सामवेद, रुद्र, आहवनीयाग्नि, द्युलोक, सुषुप्ति अवस्था, कण्ठदेश, स्वरित स्वर और वर्तमान काल—ये सब मकार हैं । अथर्ववेद, कारण ब्रह्म, संवर्तकाग्नि (प्रलयाग्नि), सोमलोक, तुरीय अवस्था, मूर्धा देश, सर्वसाधारण स्वर और साधारण काल—ये सब नाद हैं । यह समझ कर सारे संसार को इन अक्षरों से अभिन्न जानना चाहिये । तदनंतर स्वभिन्न प्रपंचरूप द्वन्द्व से रहित अकार को उकार से अभिन्न जाने । उकार को मकार से और मकार को महान् नाद से अभिन्न जाने । नाद को माया से अभिन्न और माया को जीवरूप समझना चाहिये । जीव को ईश्वर ही जानना चाहिये—जो ईश्वर है वह मैं ही हूँ । यह निश्चय विद्वानों द्वारा समाधि कहा गया है ॥ १३–१९ ॥

---

१ ङ. °जुरेव च । म° । २ ग. घ. °ति । विपर्ययेण तु क्रा । ङ. °ति । विपर्ययेणानुक्रमो नोप° । ब्रह्मसूत्रेषु तु 'विपर्ययेण तु क्रमोत उपपद्यते च' (२.३.१४) इत्युपलभ्यते । ३ क. ख. घ. °च्यप्र° । ४ घ. °त्वात्प्राणवा° ।

अग्नयश्च तथा लोका अवस्थावसथास्त्रयः ।
उदात्तादिस्वराः कालाश्चैते वर्णत्रयात्मकाः ॥ १६ ॥
इति ज्ञात्वा पुनः [1] *सर्वमक्षरत्रयमात्रतः । विलाप्याकारमद्वंद्वमुकाराख्ये विलापयेत् ॥ १७ ॥*
उकारं च मकाराख्ये महानादे मकारकम् ।
तथा मायात्मना नादं मायां जीवात्मरूपतः ॥ १८ ॥
जीवमीश्वरभावेन विद्यात्सोऽहमिति ध्रुवम् ।
एषा बुद्धिश्च विद्वद्भिः समाधिरिति कीर्तिता ॥ १९॥
यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः । समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्येव लीयते ॥ २० ॥
तस्मान्मत्तः पृथङ्नास्ति जगन्माया च सर्वदा ।
इति बुद्धिः समाधिः स्यात्समाधिरिति हि श्रुतिः ॥ २१ ॥
यस्यैवं परमात्माऽयं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः ।
स याति परमं भावं स्वकं साक्षात्परामृतम् ॥ २२ ॥

तेषामेव गार्हपत्यदक्षिणाहवनीयसंवर्तकाग्निरू[2]पात्मकतामाह—**अग्नय** इति । **लोका** इति तु पृथिव्यन्तरिक्षद्युसोमलोकात्मकतां दर्शयति । **अवस्था** इति जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयात्मकतामाह । **आवसथा** इति नाभिहृदयकण्ठमूर्धात्मकतामाह । **त्रय** इति संवर्तकादीनां चतुर्थानामप्युपलक्षणम् । **उदात्तादी**ति, उदात्तानुदात्तस्वरितैकश्रुत्यात्मकतामाह । **काला** इति भूतभविष्यद्वर्तमानसाधारणकालतामाह । **वर्णत्रये**ति नादस्याप्युपलक्षणम् । ऋग्वेदाद्यात्मकता चाकारादीनां श्रूयते—'तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः । द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णू रुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः । तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्र आदित्या जगत्याहवनीयो याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सौमलोक ॐकारः साऽऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकऋषिः' इति । तथा—'जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्' इति च । तथाऽन्यत्र—'नाभिर्हृदयं कण्ठो मूर्धा चे'ति ॥ १६ ॥ उक्तरूपोपेतमकारं तथाविध उकारे तं च तथाविधे मकारे तं नादे तं मायायां तां च तदुपाधिके जीवे तं च परमात्मनैकीकृत्य तद्रूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ १७–२० ॥ इति हि श्रुतिरिति । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति हि श्रूयते ॥ २१ ॥ उक्तसमाधिनिष्ठस्य फलमाह—**यस्यैव**मिति । परमं भावमित्येतद् गतखण्डतृतीयाध्याये[3] निरूपितम् ॥ २२ ॥

जैसे फेन, तरंग आदि समुद्र से उठते और उसी में लीन हो जाते हैं (क्योंकि समुद्र से भिन्न वे कुछ नहीं है) ऐसे सारा जगत् मुझमें ही उठा है और मुझमें ही लीन हो रहा है, अतः जगत् व माया मुझसे पृथक् नहीं है । यह निश्चय ही वेदोक्त समाधि है ॥ २०—२१ ॥ प्रत्यगात्मरूप परमात्मा को जिसने इस तरह समझ लिया वह अपने परम भाव अर्थात् मुक्तस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । ॥ २२ ॥ जब मन में व्यापक अखण्ड चैतन्य का सर्वदा भान होता है तब व्यवधायक अज्ञान न रहने

---

१. वाच्यस्य वाचकाभेदो यथा वनादिशब्दभिन्नो वनादिपदार्थो नास्ति वृक्षाणामेव तत्त्वात् तथा च संसारः शब्द एव सर्वश्च शब्दः प्रणव एव स्थूलादित्रितयस्याकारादिवाच्यत्वात् प्रणवः पुनरात्मैव तमन्तरा सत्त्वशून्यत्वाद् इत्यादिविचारप्रकारो माण्डूक्यविवरणादौ दर्शितः । पञ्चीकरण-प्रकरणमत्र मदुपयोगीति प्रसिद्धमेव । २. क. °रूपक° । ३ द्वादशश्लोकव्याख्याने । स्वाभिन्ने मुक्तस्वरूपे प्रतिष्ठत् इति सारार्थः ।

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा । योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम् ॥ २३ ॥

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ २४ ॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति ।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥ २५ ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
तदाऽसावमृतीभूतः[1] क्षेमं गच्छति पण्डितः ॥ २६ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ २७ ॥

यदा पश्यति चाऽऽत्मानं केवलं परमार्थतः ।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति [2]निर्वृतः ॥ २८ ॥

यदा जन्मजरादुःखव्याधीनामेकभेषजम् । केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायते[3]ऽसौ तदा शिवः ॥ २९ ॥

योगिन इति । व्यवधायकस्याज्ञानस्य निरासात्स्वयं ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः । ॥ २३–२५ ॥ यदा सर्व इति । तज्ज्ञानेनाज्ञाननिरासात्तत्कार्यनिवृत्तौ 'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव सम[4]वनीयन्ते' 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति श्रुत्युक्तं ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥ यदा भूतेति । भूतानां पृथिव्यादीनां यः पृथग्भावो भेदः स सर्व एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रलयदशायां तादात्म्येन [5]स्थित्वा पुनः सृष्टौ तत एव विस्तारं प्रतिपद्यत इति यः पश्यति स ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः । श्रुतिपुराणयोरयं समानः पाठः ॥ २७ ॥

से योगी स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है ॥ २३ ॥ जब सबको स्वयं में व स्वयं को सबमें देखता है तब साधक ब्रह्म हो जाता है ॥ २४ ॥ परमात्मा से एक हुआ योगी जब समाधि में स्थित हो कोई भेद नहीं देखता तब वह केवल ब्रह्मरूप से रहता है ॥ २५ ॥ जब साधक की मनःस्थित सभी कामनायें निवृत्त हो जाती हैं तब यह अमृत हुआ मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २६ ॥ जो यह जानता है कि पृथिवी आदि भूतों का भेद प्रलय में एकमात्र परमात्मा में ही रहता है व सृष्टिकाल में उसी से पुनः फैल जाता है, वह ब्रह्म हो जाता है ॥ २७ ॥ जब केवल अपने को वास्तविक तथा सारे जगत् को मायामात्र जानता है तब साधक मुक्त हो जाता है ॥ २८ ॥ जब जन्म, जरा, दुःख व सब व्याधियों की अकेली दवा रूप निर्विशेष आत्मज्ञान हो जाता है तब वह साधक शिव ही है । (सदा शिव होते हुए भी ज्ञान न होने से स्वयं को अशिव समझता है, वह ग़ैरसमझी ज्ञान से दूर हो जाती है । ज्ञान के बिना अशिव और ग़ैरसमझ वाला है, ज्ञान के बाद केवल शिव रहता है यह भेद है ।) ॥ २९ ॥ इसलिये ज्ञान से ही

१ क. ख. ग. °तीभावः क्षे° । २ व. निर्वृतिः । ३ °तेऽस्मै त° । ४ क. ख. ध. वली । ५ ग. ङ. स्थितः ।

तस्माद्विज्ञानतो मुक्तिर्नान्यथा कर्मकोटिभिः ।
कर्मसाध्यस्य नित्यत्वं न सिध्यति कदाचन ॥ ३० ॥
ज्ञानं वेदान्तविज्ञानमज्ञानमितरन्मुने । अहो ज्ञानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ॥ ३१ ॥
अत्यल्पोऽपि यथा वह्निः सुमहन्नाशयेत्तमः ।
ज्ञानाभ्यासस्तथाऽल्पोऽपि महत्पापं विनाशयेत् ॥ ३२ ॥
यथा वह्निर्महादीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत् ।
तथा शुभाशुभं कर्म ज्ञानाग्निर्दहति क्षणात्[1] ॥ ३३ ॥
पद्मपत्रं यथा तोयैः स्वस्थैरपि न लिप्यते ।
तथा शब्दादिभिर्ज्ञानी विषयैर्न हि लिप्यते ॥ ३४ ॥
मन्त्रौषधिबलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षितं विषम् ।
तद्वत्सर्वाणि पापानि जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात् ॥ ३५ ॥
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्यच्छन्स्ववपञ्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥ ३६ ॥
अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमसङ्गः परमेश्वरः ।
सदा मत्संनिधानेन चेष्टते सर्वमिन्द्रियम् ॥ ३७ ॥

निर्वृतस्तृप्तो मुक्त इत्यर्थः ॥ २८–३२ ॥ शुष्कमार्द्रं चेति । परस्परविरोधिनोः शुभाशुभयोरेकरूपेण

मोक्ष होता है कर्मों से नहीं । कर्म से जो मिलता है वह कभी नित्य नहीं होता ॥ ३० ॥ वेदान्तार्थानुभव ही ज्ञान है, बाकी सब अज्ञान ही है । ज्ञान का माहात्म्य मेरे द्वारा भी बताया नहीं जा सकता ॥ ३१ ॥ जैसे थोड़ी भी आग घने अँधेरे को नष्ट कर देती है ऐसे ज्ञान का थोड़ा भी अभ्यास महान् पापों को निवृत्त कर देता है ॥ ३२ ॥ जैसे उद्दीप्त वह्नि सूखे व गीले सभी ईंधन को जला डालती है वैसे ज्ञानाग्नि क्षणभर में शुभ व अशुभ सभी कर्मों को नष्ट कर देती है ॥ ३३ ॥ जैसे कमलपत्र अपने पर पड़े हुए भी जल से लिप्त नहीं होता ऐसे ज्ञानी शब्दादि विषयों से लिप्त नहीं होता ॥ ३४ ॥ जैसे खाया हुआ विष मंत्र या दवा के द्वारा निर्बल हो जाता है वैसे ज्ञानी के सारे पाप फलदान में असमर्थ हो जाते हैं ॥ ३५ ॥ देखना, चलना आदि सभी ज्ञान व कर्म करते हुए जिसे यह निश्चय बना रहता है कि मैं अकर्ता, अभोक्ता, असंग परमेश्वर हूँ, सब इंद्रियाँ मेरे सांनिध्य के कारण चेष्टा कर रही हैं,

---

१ 'यथा मन्त्रवलोपेतः क्रीडन् सर्पैर्न दश्यते । क्रीडन्न लिप्यते ज्ञानी तद्वदिन्द्रियपन्नगैः ॥' इति वाल. संस्करणेऽधिकमपि दर्शितम् ।

इतिविज्ञानसंपन्नः सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ३८ ॥
ये द्विषन्ति महात्मानं ज्ञानवन्तं नराधमाः ।
पच्यन्ते रौरवे कल्पमेकान्ते नरके सदा ॥ ३९ ॥
दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खः पण्डित एव वा ।
ज्ञानाभ्यासपरः पूज्यः किं पुनर्ज्ञानवान्नरः ॥ ४० ॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्[1] । अनुव्रजाम्यहं नित्यं [2]पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ ४१ ॥
यथा राजा जनैः सर्वैः पूज्यते मुनिसत्तम ।
तथा ज्ञानी सदा देवैर्मुनिभिः पूज्य एव हि ॥ ४२ ॥
यस्य गेहं समुद्दिश्य ज्ञानी गच्छति सुव्रत ।
तस्य क्रीडन्ति पितरो यास्यामः परमां गतिम् ॥ ४३ ॥
यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते । तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥ ४४ ॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरे सदा विलीयते यस्य मनःप्रचारः ॥ ४५ ॥

ज्ञानेन दाहे निदर्शनम् ॥ ३३–३९ ॥

ज्ञानाभ्यासपर इति । ज्ञानसाधनयोगाङ्गयमाद्यभ्यासवानपि पूज्यः किं पुनर्ज्ञानीत्यर्थः ॥४० ॥ निरपेक्षमिति । विवेकविज्ञानातिरिक्तस्य [3]निष्कलत्वावधारणाद्विवेकविज्ञानस्य प्राप्तत्वात्क्वचिदप्यपेक्षारहितमित्यर्थः । समदर्शिनमिति । तथाच भगवतोक्तम्–'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' इति । ॥ ४१-४५ ॥

वही निःसंग हो सब कुछ करता है और उसे ही कर्म या विषयों का लेप नहीं होता । जिसे यह बोध बना नहीं रहता वह आसक्त हो जाता है ॥ ३६–३८ ॥

जो नराधम आत्मवेत्ता से द्वेष करते हैं वे कल्पपर्यन्त रौरव नरक में कष्ट पाते हैं ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य ज्ञान के अभ्यास में तत्पर हो वह सदा पूज्य है, चाहे उसका आचरण अच्छा हो या बुरा, चाहे वह मूर्ख हो या पण्डित । जब अभ्यासी ही पूज्य है तो जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया उसकी पूज्यता का क्या कहना ॥ ४० ॥ निरीह, निर्वैर, समदर्शी, शान्त मुनि का तो मैं भी नित्य अनुगमन करता हूँ कि उसकी चरणरज से स्वयं को पवित्र कर लूँ ॥ ४१ ॥ जैसे राजा सारी जनता का पूज्य होता है वैसे ही ज्ञानी सब देवताओं और मुनियों का पूज्य होता है ॥ ४२ ॥ ज्ञानी (भिक्षादि के निमित्त) जिसके घर की ओर जाता है उसके पितर यह समझकर प्रसन्न

---

१. ग. °दर्शन° । २. ग. ङ. पूजयेत्य° । ३ निष्फलत्वेति बाल. पाठः, युक्तं तथा पठितुम् ।

महात्मनो ज्ञानवतः प्रदर्शनात्सुरेश्वरत्वं झटिति प्रयाति ।
[1]विहाय संसारमहोदधौ नरा रमन्ति ते पापबलादहो मुने ॥ ४६ ॥
महानिधिं प्राप्य विहाय तं वृथा विचेष्टते मोहबलेन बालकः ।
यथा तथा ज्ञानिनमीश्वरेश्वरं विहाय मोहेन चरन्ति मानवाः ॥ ४७ ॥
अहो महान्तं परमार्थदर्शिनं विहाय मायापरिमोहिता नराः ।
हिताय लोके विचरन्ति ते मुने विषं पिबन्त्येव महामृतं विना ॥ ४८ ॥
बहुनोक्तेन किं सर्वं संग्रहेणोपपादितम् । श्रद्धया गुरुभक्त्या त्वं विद्धि वेदान्तसंग्रहम् ॥ ४९ ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते न संशयः ॥ ५० ॥
सूत उवाच–इत्येवमुक्त्वा भगवांस्तूष्णीमास्ते महेश्वरः ।
वक्तव्याभावमालोक्य मुनयः करुणानिधिः ॥ ५१ ॥
बृहस्पतिश्च मुनयो वेदान्तश्रवणात्पुनः । आनन्दाक्लिन्नसर्वाङ्ग आत्मानन्दवशोऽभवत् ॥ ५२ ॥

महात्मन इति । श्रूयते हि मुण्डकोपनिषदि–'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः' इति । इत्थं सकलश्रेयोमूलस्य तस्य परित्यागेनान्यत्र प्रवृत्तिः संचितदुरितैकहेतु- केत्याह– विहायेति ॥ ४६–४९ ॥ गुरुभक्तेस्तत्र कारणत्वे श्वेताश्वतरश्रुतिमुदाहरति–यस्य देव इति ॥ ५० ॥

होते हैं कि हमें परम गति मिलेगी ॥ ४३ ॥ जिसे शिवतत्त्व का अनुभव हो चुका है उसके दृष्टिपात से ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ४४ ॥ जिसका चित्त सदा अपार सच्चिदानन्दात्मक सागर में निमज्जन करता है उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतार्थ हो जाती है, तथा भूमि पुण्यमयी हो जाती है ॥ ४५ ॥ ज्ञानवान् महात्मा के दर्शन से ही सुरेश्वरता प्राप्त हो जाती है । तथापि खेद का विषय है कि लोग उसके लिये प्रयास नहीं करते और संसारपंक में निमग्न होते जाते हैं ॥ ४६ ॥ जिस प्रकार किसी बालक को महान् खजाना मिल जाये तो भी उसकी महत्ता न समझने वाला वह उसे छोड़ इधर-उधर भटकता रहता है, उसी प्रकार सांसारिक लोग ज्ञानीरूप प्रत्यक्ष महेश्वर को छोड़ अन्यत्र आयास करते हैं ॥ ४७ ॥ ओह आश्चर्य है ! परमार्थवेत्ता महात्मा को छोड़ मायामुग्ध लोग अपना हित प्राप्त करने के लिये संसार में ही परिभ्रमण करते हैं (जिससे अनायास हित मिल सकता है उस मुख्य परमहंस की सेवा में उपस्थित नहीं होते) । वे लोग वैसे ही हैं जैसे कोई श्रेष्ठ अमृत छोड़ कर विष पिये (और चाहे अमरता पाना !) ॥ ४८ ॥

अधिक कहने से क्या लाभ ? सारी बातें संक्षेप में मैंने समझा ही दी हैं । श्रद्धा और गुरुसेवापूर्वक वेदान्त में संगृहीत अर्थ को समझो ॥ ४९ ॥ जिसे महादेव और गुरु में एक जैसी परम

---

१. ङ. "हारसं" ।

भवन्तोऽपि महाप्राज्ञा मत्तःप्राप्तात्मवेदनाः । अभवन्कृतकृत्याश्च मा शङ्कध्वं कदाचन ॥ ५३ ॥
स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे द्विजाः ।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं भवेत् ॥ ५४ ॥
यो हि स्थापयितुं शक्तो न कुर्यान्मोहतो नरः ।
तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः ॥ ५५ ॥
यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सः । सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षाज्ज्ञानमवाप्नुयात् ॥ ५६ ॥
यः स्वविद्याभिमानेन वेदमार्गप्रवर्तकम् । छलजात्यादिभिर्जीयात्स महापातकी भवेत् ॥ ५७ ॥
य इमं ज्ञानयोगाख्यं खण्डं श्रद्धापुरःसरम् । पठते सुमुहूर्तेषु न स भूयोऽभिजायते ॥ ५८ ॥
ज्ञानार्थी ज्ञानमाप्नोति सुखार्थी सुखमाप्नुयात्[1] । वेदकामी लभेद्वेदं विजयार्थी जयं लभेत् ॥ ५९ ॥
राज्यकामो लभेद्राज्यं क्षमाकामः क्षमी भवेत् । तस्मात्सर्वेषु कालेषु पठितव्यो मनीषिभिः[2] ॥ ६० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे समाधिर्नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

सूतो मुनीन्संबोध्याऽऽह–इत्येवमुक्त्वेति ॥ ५१–५४ ॥ कृतकृत्यस्य किं स्थापनप्रवृत्त्याऽपीत्यत आह–यो हि स्थापयितुमिति । स्वयं कृतकृत्येनापि परमकारुणिकेन शत्रोरपि भवदल्पमर्थ्यानिष्टं न सोढव्यं किमुत सकललोकस्य प्राप्तं विद्यासंप्रदायोच्छेदलक्षणं महत्तरमनिष्टमित्यर्थः ॥ ५५–६० ॥

संहितायाश्च सूतस्य व्याख्यां तात्पर्यदीपिकाम् । सुस्थिरामनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासश्रीक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन श्रीमाधवाचार्येण विरचितायां श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानयोगखण्डे समाधिनिरूपणं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

–समाप्तमिदं ज्ञानयोगखण्डम्–

भक्ति है उसे निश्चित ही ये सब विषय समझ आ जाते हैं ॥ ५० ॥

सूतजी बोले–हे मुनियों ! करुणासागर भगवान् ने इतना कहकर अन्य कुछ बताने योग्य विषय बचा न समझ मौन धारण किया ॥ ५१ ॥ बृहस्पति ने भी वेदान्तश्रवण से परमानन्द में स्थिति पायी ॥ ५२ ॥ आप लोगों ने भी मुझसे आत्मज्ञान प्राप्त किया है, अतः आप सभी कृतकृत्य हो गये हैं, इसमें शंका मत कीजिये ॥ ५३ ॥ मोक्ष के इस घण्टापथ को अध्ययन, आचरण, निश्चय और प्रचार द्वारा स्थापित कीजिये । वैदिक मार्ग दृढतापूर्वक प्रतिष्ठित होने से सब कुछ स्थिर होता है ॥ ५४ ॥ जो इस मार्ग की स्थापना में समर्थ हो और आलस्यादिवशात् इसके लिये प्रयास न करे, उसे यदि कोई अन्य व्यक्ति मार भी दे तो अधिक दोष का भागी नहीं होता यह वेदान्तों का निर्णय है ॥ ५५ ॥ जो व्यक्ति असमर्थ होने पर भी श्रद्धा से प्रेरित हो इसकी स्थापना का प्रयास करता है वह सब पापों से रहति हो तत्त्वज्ञान पा ही लेता है ॥ ५६ ॥ जो तार्किकंमन्य वेदमार्ग के प्रवर्तक को असद्-युक्तियों से हराता है वह महापापी है ॥ ५७ ॥

जो श्रद्धालु शुभ समय में इस ज्ञानयोगखण्ड का अध्ययन करता है उसे पुनः गर्भवास नहीं करना पड़ता ॥ ५८ ॥ ज्ञानेच्छुक इसके पाठ से ज्ञान प्राप्त करता है, सुखप्रार्थी सुख पाता है, वेद चाहने वाले को वेद कण्ठ करने की सामर्थ्य मिल जाती है, विजयकामी की जीत होती है, राज्येच्छुक को राज्य और सहनशीलता चाहने वाले को उसीकी प्राप्ति हो जाती है । अतः बुद्धिमानों को हर समय इसका पठन करना चाहिये । ॥ ५९–६० ॥

–ज्ञानयोग खण्ड पूरा हुआ–

---

१. "मः क्षमां लभेत् । यद्यदिच्छेच्च मनसा तत्तदेव फलं लभेत् ॥ इति वाल. पाठोधिकः । २. गुणान्विताय शिष्याय प्रदेयोऽयं प्रयत्नतः ॥ इति तत्राधिकम् ।

तृतीयं मुक्तिखण्डम्

प्रथमोऽध्यायः

सौम्यं महेश्वरं साक्षात्सत्यविज्ञानमद्वयम् । वन्दे संसाररोगस्य भेषजं परमं मुदा ॥ १ ॥
यस्य शक्तिरुमा देवी जगन्माता त्रयीमयी । तमहं शंकरं वन्दे महामायानिवृत्तये ॥ २ ॥
[1]यस्य विघ्नेश्वरः श्रीमान्पुत्रः स्कन्दश्च वीर्यवान् । तं नमामि महादेवं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥ ३॥

[2]यस्य प्रसादलेशस्य लेशलेशलवांशकम् ।
लब्ध्वा मुक्तो भवेज्जन्तुस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥ ४ ॥

यस्य लिङ्गार्चनेनैव व्यासः सर्वार्थवित्तमः । अभवत्तं महेशानं प्रणमामि घृणानिधिम् ॥ ५ ॥
यस्य मायामयं सर्वं जगदीक्षणपूर्वकम् । तं वन्दे शिवमीशानं तेजोराशिमुमापतिम् ॥ ६॥

यः समस्तस्य लोकस्य चेतनाचेतनस्य च ।
[3]साक्षी सर्वान्तरः शंभुस्तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥ ७ ॥
यं विशिष्टा जनाः शान्ता वेदान्तश्रवणादिना ।
जानन्त्यात्मतया वन्दे तमहं सत्यचित्सुखम् ॥ ८ ॥

एवं ज्ञानोपायमभिधाय ज्ञानफलभूताया मुक्तेः परमप्रयोजनत्वात्तस्याः सोपकरणाया अभिधानारम्भे सपरिवारशिवप्रणिधानप्रणामलक्षणं मङ्गलाचरणं कृतमुपनिबध्नाति व्यासः श्लोकाष्टकेन—सौम्यमित्यादिना । सकलकल्याणगुण[4]गणनिधेरपि भगवतो मुक्तिप्रदानावसरे तदुपाधिकगुणविशिष्टतयैव प्रणिधानमुचितम् 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति' इति [5]श्रुतेरिति[6] सौम्यत्वसत्यज्ञानत्वसंसारवैद्यत्वगुणानामुपन्यासः ॥ १-८ ॥

तृतीय— मुक्तिखण्ड

मुक्ति, मुक्ति के उपाय, मोचक और मोचकप्रद इन चतुर्विध प्रश्नों का निरूपण

प्रथम अध्याय

सत्य, ज्ञानस्वरूप, निर्भेद, अपरोक्ष, सौम्य तथा भवरोग की औषध रूप श्रीमहेश्वर की परम प्रसन्नतापूर्वक मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥ जगन्माता, वेदरूपिणी उमा देवी जिनकी शक्ति है उनकी मैं वन्दना करता हूँ ताकि मेरा महामोह निवृत्त होवे ॥ २ ॥ सब देवों द्वारा नमन किये गये उन महादेव की मैं वन्दना करता हूँ जिनके श्रीमान् विघ्नेश्वर और वीर्यवान् स्कन्द पुत्र हैं ॥ ३ ॥ जिनकी कृपा के अत्यन्त अल्पभाग की प्राप्ति से सतत जन्म-मरणशील जन्तु तुरन्त मुक्त हो जाता है उन परमेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ४ ॥ जिनके लिंग की अर्चना करने से ही व्यास सर्वज्ञों में श्रेष्ठ हो गये उन कृपासागर महेशान को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥ सारा मायामय जगत् जिनके ईक्षण से हुआ है उन प्रकाशपुंज, उमापति, ईशान, शिव का मैं वन्दन करता हूँ ॥ ६ ॥ मैं उन साम्ब, ईश्वर, शंभु का वन्दन करता हूँ जो जड-चेतन समस्त संसार के सर्वान्तर साक्षी हैं ॥ ७ ॥ विशिष्ट अधिकारी शमादियुक्त साधक वेदान्तों के श्रवणादि द्वारा जिन्हें आत्मरूप से जानते हैं उन सच्चिदानन्दरूप परमशिव की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ८ ॥

---

१ घ. तस्यं । २ घ. तस्य । ३ ग. साक्षात्सर्वेतरः । ४ क. ख. "णनि" । ५ ग. ङ. श्रुतिरि" । ६ घ. "ति साम्य" । ङ. "ति सौम्यतरत्व" ।

हरभक्तो हिरण्याक्षः शैवपूजापरायणः । अम्बिकाचरणस्नेह ईश्वराङ्घ्रिपरायणः ॥ ९ ॥

क्लान्तः क्लेशहरः क्लीब ईशपूजापरायणः ।

ॐङ्कारवल्लभो लुब्धो लोलुपो लोललोचनः ॥ १० ॥

महाप्राज्ञो महाधीमान्महाबाहुर्महोदरः । शक्तिमाञ्शक्तिदः[१] शङ्कुः शङ्कुकर्णः शनैश्चरः ॥ ११ ॥

भगवान्भग्नपापश्च भवो भवभयापहः । [२]भग्नदर्पो भवप्रीतो भागज्ञो भङ्गराशुभः ॥ १२ ॥

अग्निवर्णो जपावर्णो बन्धूककुसुमच्छविः । विरक्तो विरजो विद्वान्वेदपारायणे रतः ॥ १३ ॥

समचित्तः समग्रीवः समलोष्टाश्मकाञ्चनः । शाकाशी फलमूलाशी शत्रुमित्रविवर्जितः ॥ १४ ॥

कालरूपः कलामाली कालतत्त्वविशारदः ।

[३]अणिमाण्डो मुनिश्रेष्ठः सोमनाथः प्रियः सुधीः ॥ १५ ॥

वेदविद्वेदविन्मुख्यो विद्वत्पादपरायणः । विशालहृदयो विश्वो विश्ववान्विश्वदण्डधृत् ॥ १६ ॥

पवित्रः परमः पङ्गुः पङ्कजारुणलोचनः । लम्बकर्णो महातेजा लम्बपिङ्गजटाधरः ॥ १७ ॥

ग्राह्मायणसुतो ग्रीष्मो[४] ग्राहभङ्गपरायणः । [५]लोकाक्षितनयोद्भूतो लोकयात्रापरायणः ॥ १८ ॥

जैगीषव्यस्य पुत्रस्य प्रातःस्नायी जितेन्द्रियः । वत्सपुत्रो मुनिश्रेष्ठो वंशकाण्डप्रभो मुनिः ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वरेता उमाभक्तो रुद्रभक्तश्च [६]वल्कली । आश्वलायनसूनुश्च ब्रह्मविद्यारतो मुनिः ॥ २० ॥

मुकुन्दो मोचको मुख्यो मुसली मूलकारणः । सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वः सर्वप्राणिहिते रतः ॥ २१ ॥

अत्युग्रोऽतिप्रसन्नश्च प्रमाणज्ञानवर्धकः । [७]आरुणेयो महावीर [८]आरुण्युपनिषत्परः ॥ २२ ॥

मुक्तेः परमप्रयोजनत्वेन तत्राऽऽदरातिशयजननाय जिज्ञासूनां हरभक्तादीनां मुनीनां भूयसामुपन्यासः—हरभक्त [९]इत्यादिमहर्षयइत्यन्तेन ॥ ९–३० ॥

अनेक मुनि नित्य शिवभक्ति में तत्पर रहते हैं, जैसे— हरभक्त, हिण्याक्ष, शैवपूजापरायण, अम्बिकाचरणस्नेह, ईश्वराङ्घ्रिपरायण, ॥ ९ ॥ आदि नाना मुनि तथा संगम आदि नौ लाख अस्सी हज़ार महर्षि सभी शम दम आदि से युक्त हो शिवभक्ति में लगे रहते हैं। 'अग्निरिति' आदि मन्त्रपूर्वक वे अपने शरीर को भस्म से उद्धूलित किये रहते हैं। रुद्राक्ष की माला से सज्जित और माथे पर त्रिपुण्ड्र अंकित किये रहते हैं। सदा वे अतुलनीय तेज वाले श्री शंभु के लिंग की तत्परता से अर्चना करते हैं।

---

१ ग. °दः शंभुः शङ्कुकर्णः शनेश्वरः । घ. °दः शङ्कुः शङ्कु° । २ क. ख. ग. घ. भगदर्पो। ३ घ अडिमा° । ४ ग. ङ. °ष्मो ग्रह° । ५ क. लोगाक्षि° । ङ. लौगाक्षि° । ६ घ. वल्लकी । ७ ग. अरुणयो । ङ. अरुणो या । ८ ग. आरण्यु° । ङ. अरण्यु° । ९ व. °त्यारभ्य म° ।

आत्मविद्यारतः[1] श्रीमाञ्श्वेताश्वतरपुत्रकः । श्वेताश्वतरशाखायाः श्रद्धयैव प्रवर्तकः ॥ २३ ॥
शतरुद्रसमाख्यश्च शतरुद्रियभक्तिमान्[2] । पञ्चप्रस्थानहेतुज्ञः श्रीमत्पञ्चाक्षरप्रियः ॥ २४ ॥
शिवसंकल्पभक्तश्च शिवसूक्तप्रवर्तकः[3] । लिङ्गसूक्तप्रियः साक्षात्कैवल्योपनिषत्प्रियः ॥ २५ ॥
जाबालाध्ययनध्वस्तपापपञ्जरसुन्दरः । पुराणः पुण्यकर्मा च पुरुषार्थप्रवर्तकः ॥ २६ ॥
मैत्रायणश्रुतिस्नेही महामैत्रायणो मुनिः । बाष्कलाध्ययनप्रीतः शाकलाध्ययने रतः ॥ २७ ॥
सर्वशाखारतः श्रीमान्संगमादिमहर्षयः । द्विःसप्ततिसहस्राणि सह द्वादशसंख्यया ॥ २८ ॥
सर्वे शमदमोपेताः शिवभक्तिपरायणाः । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मोद्धूलितविग्रहाः ॥ २९ ॥
रुद्राक्षमालाभरणास्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकाः । लिङ्गार्चनपरा नित्यं शंभोरमिततेजसः ॥ ३० ॥
सत्रावसाने संभूय मेरुपार्श्वे विचक्षणाः । परस्परं समालोच्य श्रद्धया सुचिरं बुधाः ॥ ३१ ॥
मुक्तिं मुक्तेरुपायं च मोचकं मोचकप्रदम् । तपश्चेरुर्महाधीराः शंकरं प्रति सादरम् ॥ ३२ ॥
प्रसादादेव रुद्रस्य शिवस्य परमात्मनः । व्यासशिष्यो महाधीमान्सूतः पौराणिकोत्तमः ॥ ३३ ॥
आविर्बभूव सर्वज्ञस्तेषां मध्ये महात्मनाम् । मुनयश्च महात्मानमागतं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥
दृष्ट्वोत्थायातिसंभ्रान्ताः संतुष्टा गद्गदस्वराः । प्रणम्य बहुशो भक्त्या दण्डवत्पृथिवीतले ॥ ३५ ॥
पादप्रक्षालनाद्यैश्च श्रद्धयाऽऽराध्य[4] सत्वरम् ।
समाश्वास्य चिरं कालं प्रसन्नं करुणानिधिम् ॥ ३६ ॥

परस्परमनुज्ञाप्य मुक्त्यादिकं सत्रमालोच्योद्दिश्य तं जिज्ञासयः शंकरं प्रति तपश्चेरुः ॥ ३१–३६ ॥

॥ १०–३० ॥ (मुनियों के नाम प्रायः सप्रयोजन ही हैं । इन विशेषताओं से युक्त भक्त ही साधना में सफल होता है यह समझाना इन नामों का कार्य है ।) सत्र की समाप्ति पर वे सब विद्वद्धौरेय मेरुपर्वत के निकट एकत्र हुए और श्रद्धापूर्वक उन्होंने काफी समय आपस में मुक्ति, मुक्ति के उपाय, मोचक और मोचकप्रद के विषय में विचार किया किन्तु जब निर्णय न कर पाये तो जिज्ञासुभाव से उन्होंने भगवान् शंकर की प्रसन्नता के लिये तप किया ॥ ३१–३२ ॥ तपस्या से संतुष्ट हुए महादेव की कृपा से व्यासदेव के शिष्य, पौराणिकों में सर्वश्रेष्ठ श्री सूतजी उन मुनियों के बीच प्रकट हुए । रोमहर्षण जी को आया देख सब मुनियों ने उठकर उनका स्वागत

---

१. घ. °रतिः श्री° । २. घ. ङ. °रुद्रीय° । ३. ङ. °सूत्रप्र° । ४. ङ. शंकरम् ।

सर्वज्ञं सर्वजन्तूनां निश्चितार्थप्रदायिनम् ।
पप्रच्छुः परमां मुक्तिं मुक्त्युपायं च मोचकम् ॥ ३७ ॥
मोचकप्रदमन्यच्च विनयेन सह द्विजाः । श्रुत्वा मुनीनां तद्वाक्यं लोकानां हितमुत्तमम् ॥ ३८ ॥
सूतः पौराणिकः श्रीमान्ध्यात्वा साम्बं त्रियम्बकम् ।
वेदव्यासं च वेदार्थपरिज्ञानवतां वरम् ॥ ३९ ॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भक्त्या परवशः पुनः । वक्तुमारभते सर्वं सर्वभूतहिते रतः ॥ ४० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे मुक्तिमुक्त्युपायमोचकमोचकप्रदचतुर्विधप्रश्ननिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

सूत उवाच— शृणुध्वं वेदविन्मुख्याः श्रद्धया सह सुव्रताः ।
पुरा नारायणः श्रीमान्सर्वभूतहिते रतः ॥ १ ॥
किरीटकेयूरधरो रत्नकुण्डलमण्डितः । पीतवासा विशालाक्षः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २ ॥

मुक्तिः सायुज्यादि । तदुपायो ज्ञानम् । मोचकः शिवः । तत्प्रदस्तज्ज्ञापक आचार्यः । अन्यच्चेति च षष्ठाध्यायादिषु वक्ष्यमाणज्ञानोत्पत्तिकारणादि ॥ ३७–४० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्डे मुक्तिमुक्त्युपायमोचकमोचकप्रदचतुर्विधप्रश्ननिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पर्यनुयुक्तः सूतो मुनिभ्यो वक्तुमारभमाणो वक्तव्यस्य मुक्त्यादिचतुष्टयस्यात्यन्तदुर्लभत्वेन तत्र तेषां श्रद्धातिशयजननाय

किया और स्वयं सन्तोष का अनुभव किया क्योंकि उन्हें निश्चय था कि सूत जी उनकी जिज्ञासा शान्त कर देंगे । मुनियों ने रोमहर्षण को दण्डवत् प्रणाम किया और पैर धोना आदि सेवाओं से उन्हें आराम पहुँचाया ॥ ३३–३६ ॥ तदनन्तर विनयपूर्वक सर्वज्ञ, करुणापूर्ण और प्रसन्न सूतजी से उन्होंने अपना चतुर्विध प्रश्न पूछा । श्रीमान् रोमहर्षण ने उनकी बात सुनकर महादेव और अपने गुरु व्यासदेव का ध्यान व उन्हें प्रणाम किया तथा यों कहना प्रारम्भ किया ॥ ३७–४० ॥

मुक्तिभेद-कथन नामक द्वितीय अध्याय

सूतजी बोले— हे वेदवेत्ताओं में मुख्य मुनियो ! हे श्रेष्ठ नियम पालन करने वालो ! श्रद्धा सहित सुनिये । प्राचीन काल में श्रीमान् नारायण ने कैलास जाकर तप किया था । नारायण सभी प्राणियों का हित करते रहते हैं । मुकुट और बाजूबन्ध धारण किये रहते हैं और रत्नमय कुण्डलों से अलंकृत हैं । पीताम्बर धारण करते हैं, विशाल नेत्रों वाले हैं तथा शंख, चक्र और गदा से उपेत हैं । कुन्दपुष्प या चंद्र की तरह मनोहारी उनका आकार है तथा सभी आभरणों से वे विभूषित हैं । मुनि, देव, गंधर्व, राक्षस आदि

कुन्देन्दुसदृशाकारः सर्वाभरणभूषितः । उपास्यमानो मुनिभिर्देवगन्धर्वराक्षसैः ॥ ३ ॥
श्रीमदुत्तरकैलासं[1] पर्वतं पर्वतोत्तमम् । स्मरणादेव सर्वस्य पापस्य तु विनाशकम् ॥ ४ ॥
अनेकजन्मसंसिद्धैः श्रौतस्मार्तपरायणैः । शिवभक्तैर्महाप्राज्ञैरेव प्राप्यं महत्तरम् ॥ ५ ॥
अवैदिकैश्च पापिष्ठैर्वेदनिन्दापरैरपि । देवतादूषकैरन्यैरप्राप्यमतिशोभनम् ॥ ६ ॥
अनेककोटिभिः कल्पैर्मया मद्गुरुणाऽथ[2] वा ।
ब्रह्मनारायणाभ्यां वा न शक्यं वर्णितुं [3]बुधैः ॥ ७ ॥
प्राप्य साक्षान्महाविष्णुः सर्वलोकेश्वरो हरिः । ततापं परमं घोरं तपः संवत्सरत्रयम् ॥ ८ ॥
ततः प्रसन्नो भगवान्भवो भक्तहिते रतः । सर्वलोकजगत्सृष्टिस्थितिनाशस्य कारणम् ॥ ९ ॥
सर्वज्ञः सर्ववित्साक्षी सर्वस्य जगतः सदा । परमार्थपरानन्दः परज्ञानघनाद्वयः ॥ १० ॥
शिवः शंभुर्महादेवो रुद्रो ब्रह्म महेश्वरः । स्थाणुः पशुपतिर्विष्णुरीश ईशान ईश्वरः ॥ ११ ॥
परमात्मा परः पारः पुरुषः परमेश्वरः ।
पुराणः परमः पूर्णस्तत्त्वं काष्ठा परा गतिः ॥ १२ ॥

स्वगर्वपरिहाराय यथावदुपसन्नाय जिज्ञासमानाय विष्णवे शिवेनोक्तैरेव वचनैस्तत्त्वचतुष्टयं प्रतिपादयितुमाह–शृणुध्वमित्यादिना ॥ १–३ ॥ उत्तरकैलासमिति । क्षेत्रविशेषकृतेन तपसा क्षपितकल्पषाणामेव यथोक्तविषय उपदेशः क्रियमाणः फलपर्यन्तो भवति नान्यथेति विवक्षया तदुपन्यासः ॥ ४–९ ॥ परमार्थ इति– विषयानन्दवन्नाभिमानमात्रसिद्धः परमानन्दः । परज्ञानघन इत्यखण्डैकरसत्वम् ॥ १०–११ ॥ काष्ठेति । 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति काठकश्रुतिः ॥ १२ ॥

सब उनकी उपासना करते हैं ॥ १–३ ॥ वे उत्तरकैलास पर्वत की ओर गये । वह सब पर्वतों में उत्तम है । उसके स्मरणमात्र से सब पाप नष्ट हो जाते हैं । उस पर वे अत्यन्त बुद्धिमान् शिवभक्त ही पहुँच सकते हैं जो श्रौत-स्मार्त कर्मों में निरत हैं और अनेक जन्मों से शैवमार्ग पर बढ़ रहे हैं । जो लोग अवैदिक हैं, अत्यधिक पाप करते हैं, वेदों की निंदा करते हैं तथा देवताओं पर दोषारोपण करते हैं एवं ऐसे अन्य अनधिकारी उस तक नहीं पहुँच सकते । (शिवप्रीत्यर्थ तप आदि के उद्देश्य से श्रद्धापूर्वक कैलासप्राप्ति अभक्तों को नहीं होती यह तात्पर्य है ।) वह पर्वत अत्यन्त शोभा-युक्त है । मैं, मेरे गुरु व्यास, ब्रह्मा या नारायण भी अनेकों कल्पों में भी उसका वर्णन कर पाने में अक्षम हैं ॥ ४–७ ॥ वहाँ पहुँच श्रीहरि ने तीन साल तक घोर तप किया ॥ ८ ॥ जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व नाश के कारणभूत, भक्तों का हित साधने वाले, सबको सामान्य व विशेषरूप से जानने वाले, इंद्रियादि उपायों के बिना ही सारे संसार का अनुभव कर लेने वाले, वास्तविक परमानंदरूप, परमज्ञानमय, अद्वय, कल्याणकारी, सब देवों में महान्, दुःखनिवारक, व्यापक, शासकों के नियन्ता, स्थिर स्वभाव वाले, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र रूप, स्वाभाविकरूप से ही

---

१ श्रीकालहस्तीश्वरं व्यावर्तयितुमुत्तरेति विशेषणम् । २ ग. °णा तथा । ३ क. ख. ग. बुधाः ।

पतिर्देवो हरो हर्ता[1] भर्ता स्रष्टा पुरातनः ।
[2]महाग्रीवो महाधारः अत्ता विश्वाधिकः प्रभुः ॥ १३ ॥
महर्षिर्भूतपालोऽग्निराकाशो हरिरव्ययः ।
प्राणो ज्योतिः पुमान्भीमः अन्तर्यामी सनातनः ॥ १४ ॥
अक्षरो दहरः साक्षादपरोक्षः स्वयंप्रभुः । असङ्ग आत्मा निर्द्वंद्वः प्रत्यगात्मादिसंज्ञितः ॥ १५ ॥
उमासहायो भगवान्नीलकण्ठस्त्रिलोचनः । ब्रह्मणा विष्णुना चैव रुद्रेणापि सदा हृदि ॥ १६ ॥
उपास्यमानः सर्वात्मा सर्ववस्तुविवर्जितः । कृपया केवलं विष्णुं विश्वमूर्तिर्वृषध्वजः ॥ १७ ॥
अनुगृह्याब्रवीद्विप्रा देवो मधुरया गिरा । 'किमर्थं तप्तवान्विष्णो महाघोरं तपश्चिरम् ॥ १८ ॥

महाधार इति । महाननवच्छिन्न आधारो विस्तारो यस्य स महाधारः स्वात्मनि परिकल्पितस्य मायातत्कार्यजातस्य[3] रज्जुरिव सपदिराश्रयः । अत्तेति । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' इति काठकश्रुतिः ॥ १३ ॥ भूतपाल इति । 'एष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' इति काण्वश्रुतिः । अग्निरिति । 'तेजो रसो [4]निरवर्ततताग्निः' इति हि श्रूयते । आकाश इति । 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणः' इति छान्दोग्यम् । प्राण इति । 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्स्व' इति कौषीतकिश्रुतिः । ज्योतिरिति । 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' इति माध्यंदिनश्रुतिः । अन्तर्यामीति। 'एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य' इति माण्डूक्योपनिषत् ॥ १४ ॥ अक्षर इति । 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति' इति वाजसनेयश्रुतिः । दहर इति । 'दहरोऽस्मिन्नन्तरा[5]काशः' इति छान्दोग्योपनिषत् ॥ १५–२१ ॥

शासन कर लेने वाले ईशानशब्दित भगवान् शिव उनके तप से प्रसन्न हो गये ॥ ९–११ ॥ शिव ही अव्यभिचरित आत्मा हैं, श्रेष्ठ हैं, संसारसमुद्र के परले किनारे हैं, सब शरीरों में विद्यमान हैं, सबका पोषण करने वाले हैं, सनातन हैं, वास्तविक हैं, पूर्ण हैं, सत्स्वरूप हैं, हर सद्गुण की चरम सीमा हैं और सबकी अंतिम गति हैं ॥ १२ ॥ वे ही सबके पालक हैं, संसार-खेल के शौकीन हैं, पाप का हरण करते हैं, दुःखहर्ता हैं, सब को व्याप्त करते हैं, संसारसर्जक हैं, सबसे प्राचीन हैं, महान् कण्ठ वाले हैं, महान् विस्तार वाले हैं, संसारनाशक हैं, प्रपंच से परे हैं तथा पारमार्थिक सत्ता वाले हैं ॥ १३ ॥ सबसे महान् ऋषि वे ही हैं क्योंकि समस्त वेद के वे ही ज्ञाता और उपदेशक हैं, भूतों का पालन करने वाले हैं, अग्नि व आकाशरूप हैं, वे ही चन्द्र हैं तथा अव्यय हैं । उन्हें ही कहीं प्राण या ज्योति शब्द से श्रुति ने कहा है । एकमात्र आत्मा वे ही हैं । सब उनसे डरते हैं और वे सबके अंदर रहकर सबका शासन करते हैं । वे नित्य हैं ॥ १४ ॥ महादेव ही क्षीण न होने वाले हैं, सूक्ष्म हैं, अनुपचरित अपरोक्ष हैं, स्वतन्त्र हैं, असम्बद्ध हैं, चेतन हैं, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित हैं तथा प्रत्यगात्मा आदि नामों से कहे जाते हैं ॥ १५ ॥ उमापति नीलकण्ठ त्रिलोचन भगवान् परमशिव की अपने-अपने हृदय में ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र भी उपासना

---

१. घ. °र्ता स्रष्टा पाता पु° । २. ग. महाधीरो । ३ ङ. °स्य मायार° । ४. ग. घ. °निव° । ५. घ. °रात्माऽऽका° ।

अत्यन्तं प्रीतवानस्मि तव तद्वद मेऽनघ' । इत्युक्तः शंकरेणासौ विष्णुर्विश्वजगन्मयः ॥ १९ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा दण्डवत्पृथिवीतले । प्रणम्य बहुशः श्रीमान्भक्त्या परवशो हरिः ॥ २० ॥
साम्बं शैवं परानन्दसमुद्रं पुरुषोत्तमः । नेत्राभ्यामागलं पीत्वा कंचित्कालं द्विजर्षभाः ॥ २१ ॥
प्रमत्तः शंकरादन्यं न किंचिद्वेद सुव्रताः । ततः प्रबुद्धो भगवान्प्रसन्नः कमलेक्षणः ॥ २२ ॥
अपृच्छद्देवमीशानं कृपामूर्तिं जगत्पतिम् ।
विष्णुरुवाच— भगवन्भूतभव्यज्ञ भवानीसख शंकर ॥ २३ ॥
मुक्तिं मुक्तेरुपायं च मोचकं मोचकप्रदम् । तथैवान्यच्च मे ब्रूहि श्रद्दधानस्य शंकर ॥ २४ ॥
सूत उवाच— एवं पृष्टो महादेवो विष्णुना विश्वयोनिना ।
विलोक्य देवीमाह्लादादम्बिकामखिलेश्वरीम् ॥ २५ ॥
प्रहस्य किंचिद्भगवान्भवानीसहितो हरः । प्राह सर्वामरेशानो विष्णवे मुनिसत्तमाः ॥ २६ ॥
ईश्वर उवाच— भद्रं भद्रं महाविष्णो त्वया पृष्टं जगद्धितम् ।
वदामि संग्रहेणाहं तच्छृणु श्रद्धया सह ॥ २७ ॥

प्रमत्तः प्रकर्षेण हृष्टः । ततः प्रबुद्ध इति । हर्षपारवश्यं मुक्त्वा प्रकृतिस्थः ॥ २२ ॥ [1]प्रष्टव्यपरमकाष्ठामसौ विष्णुः पृच्छति–भगवन्निति ॥ २३–२४ ॥ विलोक्येति । देव्यालोकनाभिप्रायः–आह्लादात् । 'ह्लादी सुखे च', आह्लादत इत्याह्लादः । पचाद्यच् ॥ २५–२७ ॥

करते हैं । वे ही सबके स्वरूप हैं किन्तु वस्तुतः उनमें कोई वस्तु स्थित ही नहीं है । सर्वरूपधारी उन वृषभध्वज ने विष्णु पर केवल कृपा के कारण अनुग्रह किया और मधुर वाणी से कहा—'हे विष्णु ! इतने समय तक तुमने किसलिये महाघोर तप किया है ? मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ । अपनी तपस्या का उद्देश्य मुझे बताओ ।' ॥ १६–१८½ ॥ यों कहे जाने पर जगद्रूप में परिणत होने वाले विष्णु ने भगवान् की तीन बार परिक्रमा की और प्रेम-परवश हो दण्डवत् प्रणाम किया । कुछ समय पुरुषोत्तम विष्णु ने साम्ब सदाशिव को जीभर निहारा । वे हर्ष से मस्त हो गये । शंकरातिरिक्त कुछ भी भान उन्हें नहीं रहा । फिर हर्षावेश पर काबू पाकर कमलनेत्र श्रीहरि ने प्रसन्नतापूर्वक भगवान् के संमुख अपनी जिज्ञासा व्यक्त की ॥ १९–२२½ ॥ विष्णु बोले—'हे भवानीसहचर भगवान् शङ्कर ! मुझ श्रद्धालु को मुक्ति, उसके उपाय, मोचक, मोचकप्रद तथा अन्य आवश्यक ज्ञातव्य विषय बताइये ।' ॥ २३–२४ ॥ सूत जी ने कहा—इस प्रकार विष्णु द्वारा पूछे जाने पर महादेवजी ने प्रसन्नतापूर्वक अखिलब्रह्माण्डनायिका भगवती की ओर देखा और मुस्कराते हुए देवेश विष्णु को समझाना प्रारम्भ किया ॥ २५–२६ ॥ भगवान् बोले—हे महाविष्णु ! तुमने

---

१. घ. °प्रवृत्यप° ।

बहुधा श्रूयते मुक्तिर्वेदान्तेषु विचक्षण । एका सालोक्यरूपोक्ता द्वितीया कमलेक्षण ॥ २८ ॥

बहुधा श्रूयत इति । सालोक्यसामीप्यसारूप्यसायुज्यस्वरूपावस्थालक्षणाः पञ्च मुक्तयः । **वेदान्तेष्विति** । 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसंन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा' इति मुण्डकश्रुतिः । तत्र हि सूर्यद्वारेणेति सूर्योपलक्षितेनार्चिरादिमार्गेण गत्वा यत्र सत्यलोके स पुरुषो ब्रह्मा वर्तते तत्र यान्तीति । **सामीप्यमेतदूर्ध्वरेतसां** स्वाश्रमेषु यथोक्तधर्मानुष्ठानवताम् । सालोक्यसारूप्यसायुज्यरूपासु तिसृषु मुक्तिषु 'एतासामेव देवतानां सायुज्य ँ् सार्ष्टिता ँ् समानलोकतामाप्नोति' इति तैत्तिरीयकश्रुतिः । अत्र हि प्रतिमादिषु [1]विष्ण्वादिदेवतानामिव तत्समानलोकत्वं **सालोक्यम्** । अन्तरेणैव प्रतीकं स्वात्मनः पृथक्त्वेनैश्वर्यविशेषविशिष्टतया देवताया उपासकस्य सार्ष्टिता[2] समानरूपता **सारूप्यम्** । सगुणं देवतारूपमहंग्रहेणोपासनीयस्योपास्यदेवतातादात्म्यं **सायुज्यम्** । एताश्चतस्रो मुक्तयः कर्मफलभूता अनित्याः सातिशयाश्च । या तु ज्ञानफलभूता नित्यनिरतिशयानन्दाभिव्यक्तिलक्षणा सा **पञ्चमी** । तत्रापि 'य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्य ँ् सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' इति तैत्तिरीयके । अत्र हि केवलकर्मिणां चन्द्रलोकप्राप्तिरुक्ता । 'य एवं विद्वानि'ति विद्वच्छब्दाभिहितप्रतीकाद्युपासनात्रयवतो 'देवानामेव महिमानमि'ति सालोक्यसारूप्यसायुज्यलक्षणास्तिस्रो मुक्तय उक्ताः । 'ब्राह्मणो विद्वानि'ति ब्रह्मनिष्ठस्तत्त्वज्ञानवानुच्यते । 'एतौ' कर्मोपासनाप्राप्यत्वेनोक्तौ 'सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ' । 'एतौ वै' एतादृशौ खलु सातिशयत्वावृतत्वानित्यत्वादिदोषोपेतत्वात् । 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'स एको मानुष आनन्दः' 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते' 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' 'अतोऽन्यदार्तम्' 'वाचारम्भणं विकारः' 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकम्' 'कामात्मानः स्वर्गपराः' 'क्षरन्ति स्वर्गं वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः' 'आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः[3]' 'स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः' 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धौ महिमानौ बुद्ध्वा 'ब्राह्मणो विद्वान्' प्रकृतिप्राकृतमलैरनास्कन्दितं परं ब्रह्माऽऽत्मतया तद्भावं गतो ब्राह्मणोऽभिजयत्यभितः पराकरोति । यद्वा, एतौ महिमानौ सूर्याचन्द्रमसोर्ज्ञानादैश्वर्याविर्भावलक्षणौ विद्वान्ब्राह्मणोऽभिजयत्यात्मत्वेन प्राप्नोति । स्वात्मानं ज्ञानातिशयत्वात्तयोरानन्दादिमहिम्नोः स्वात्मन्येव पश्यति । 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति । 'सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह' 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' 'एष उ एव वामनीः' 'एष उ एव भामनीः' 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्' 'यावानर्थ उदपाने' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । 'तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' । येन सम्यग्ज्ञानेनावच्छेदकविश्वादिसर्वोपाधीनामात्ममात्रतया प्रविलाप्य तदुपहितज्ञानानन्दादीन्स्वात्ममात्रतया पश्यति विद्वान् । तस्माद् ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानाद् ब्रह्मणो निरस्तसमस्तोपप्लवानन्तसत्यपरमानन्दबोधैकतानस्य परमात्मनः स्वरूपभूतमहिमानं महत्त्वमपास्तसमस्तातिशयपरमानन्दैकतानलक्षणं स्वात्मत्वेनाऽऽप्नोति । एकत्वज्ञानेन व्यवधायिकाविद्यानिवृत्तिरेवाऽऽप्नोतीत्युपचर्यते 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इत्यादिश्रुतिभ्यः । तत्र प्रतीकोपासकस्य मुक्तिमाह – **एका सालोक्येति** ॥ २८ ॥

सबके हित का बहुत अच्छा प्रश्न किया है । मैं संक्षेप से यह सब बताऊँगा, श्रद्धा सहित सुनो ॥ २७ ॥ हे विद्वन् ! वेदान्तों में मुक्ति बहुत प्रकार की सुनी गयी है । एक सालोक्यरूप है, दूसरी सामीप्यरूप, तीसरी सारूप्य, चौथी सायुज्य तथा पाँचवी कैवल्यमुक्ति है ॥ २८–२९ ॥ (इष्ट के लोक में निवासप्राप्ति

१. ङ. विष्णुशिवादि० । २. ङ. ०ता समानार्ष्टिता स० । ३ क. ०ह्मभव० ।

सामीप्यरूपा सारूप्या तृतीया पुरुषोत्तम । अन्या सायुज्यरूपोक्ता सुखदुःखविवर्जिता ॥ २९ ॥

षड्भावविक्रियाहीना [1]शुभाशुभविवर्जिता । सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्ता सत्यविज्ञानरूपिणी ॥ ३० ॥

केवलं ब्रह्मरूपोक्ता सर्वदा सुखलक्षणा । न हेया नाप्युपादेया सर्वसंबन्धवर्जिता ॥ ३१ ॥

न दृष्टा न श्रुता विष्णो न चाऽऽस्वाद्या न तर्किता ।
सर्वावरणनिर्मुक्ता न विज्ञेया निराश्रया ॥ ३२ ॥

वाच्यवाचकनिर्मुक्ता लक्ष्यलक्षणवर्जिता । सर्वेषां प्राणिनां साक्षादात्मभूता स्वयंप्रभा ॥ ३३ ॥

ऊर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेषु यथोक्तधर्मानुष्ठानवतां मुक्तिमाह—सामीप्येति । अन्तरेणैव प्रतीकं स्वात्मनः पृथक्त्वेन विविधैश्वर्योपेतदेवतोपासकस्य मुक्तिमाह—सारूप्येति । अहंग्रहोपासकस्य मुक्तिमाह—अन्या सायुज्येति । इत्थं चतस्रः कर्मफलभूता मुक्तय उक्ताः । ज्ञानफलमुक्तिमाह—सुखदुःखेति । अन्येत्यनुवर्तते । दुःखेन क्षयातिशयवता वैषयिकसुखेन च वर्जिता । नित्यनिरतिशयपरानन्दलक्षणत्वाद्विद्याफलस्य मुक्तेरित्यर्थः ॥ २९ ॥ वैषयिकसुखदुःखविरहे तदयोग्यत्वं कारणमाह—षड्भावेति । जायतेऽस्ति विपरिणमते विवर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावविकाराः । वैषयिकसुखप्राप्तौ वा दुःखनिवृत्तौ वा एते स्युः । 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायान्नित्यनिरतिशयानन्दस्वरूपस्याऽऽत्मनः स्वरूपाभिव्यक्तिरूपायां मुक्तौ नैतत्संभव इत्यर्थः । वैषयिकसुखदुःखविरहे कारणमाह—शुभाशुभेति । विहितं यागादि शुभम् । प्रतिषिद्धं हिंसाद्यशुभम् । तदुभयं विदुषो नास्ति 'नैनं कृताकृते तपतः' इत्यादिश्रुतिभ्यः । द्वंद्वान्तरविरहस्याप्युपलक्षणमित्याह—सर्वेति । रागद्वेषौ मानावमानौ शीतोष्णावित्यादिद्वंद्वैर्न स्पृश्यत इत्यर्थः ॥ ३० ॥ आत्मनः स्वरूपत्वेन हातुमशक्यत्वादहेयाऽत एव नित्यप्राप्तत्वान्नोपादातव्या[2]ऽपीत्याह—न हेयेति ॥ ३१ ॥ न दृष्टेति । 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इत्यादिश्रुतिभ्यः । ननु महावाक्यात्मिकया श्रुत्या लक्षणया वेद्यत्वात्कथमश्रुतत्वमित्यत आह—सर्वावरणेति । अविद्ययाऽऽवृतस्यैव स्वरूपस्याऽऽवरणनिरासाय लक्षणया वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वान्निरस्तसमस्तोपाधिकस्यं त्वावरणेन लक्ष्यत्वेन श्रुतिजन्यज्ञानेन च नास्त्येव संबन्धः । तथाविधस्वरूपम्येह मुक्त इत्युच्यते । 'यद्वाचाऽनभ्युदितम्' इत्यादिभिर्ज्ञानाविषयस्यैव वस्तुत्वेन व्यवस्थापनात् । [3]नन्वेवं तस्यौपनिषदज्ञानविषयत्वेऽवस्तुत्वाद् अवस्तुनि नोपनिषदां प्रामाण्यमविषयत्वे च सुतरामिति कथमौपनिषदत्वं वस्तुन उच्यते 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति ? सत्यम् । वस्तु ज्ञानाविषय एव । 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इति वाङ्मनसातीतस्यैव वस्तुत्वेन व्यवस्थापनात् । औपनिषदत्वं तु, उपनिषज्जन्यान्तःकरणवृत्त्या स्वात्मानमप्यविषयीकुर्वत्या वस्तुतत्त्वमात्राकारया प्रतिबन्धकाज्ञाननिवृत्तौ स्वरूपभूतस्फुरणेनैव वस्तुनोऽवभासमभिप्रेत्योक्तमिति न दोषः । तदिदमुक्तं—स्वयंप्रभेति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

सालोक्य है । इष्ट के लोक में उनके निकट उपस्थित रहना सामीप्य है । इष्ट के समान ऐश्वर्यादि रूपों की प्राप्ति सार्ष्टि या सारूप्य है । इष्टतादात्म्यलाभ सायुज्य है । सर्वविशेषरहित निरञ्जन आनन्दावस्थिति कैवल्य है ।) ज्ञानफलरूप कैवल्य मुक्ति विषयप्रतिबद्ध सुख-दुःख से रहित है । उत्पत्ति आदि भाव-वस्तुओं के छहों विकारों से यह अस्पृष्ट है । पुण्य-पाप का इससे कोई सम्बन्ध नहीं । राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों को कैवल्यमोक्ष में कोई स्थान नहीं । यह मुक्ति सत्य अनुभव रूप है ॥ ३० ॥ कैवल्य ब्रह्म से अनतिरिक्त है । यह नित्य व सुखात्मक है । हान या उपादन का वह विषय नहीं । उसका किसी से या किसी का

१. कर्मणाऽलभ्यत्वमाह—शुभेति । २ ख. °पादेयाऽपी° । ३ ङ. नचैवं ।

प्रतिबन्धविनिर्मुक्ता[1] सर्वदा परमार्थतः । अविचारदशायां तु प्रतिबद्धा[2] स्वमायया ॥ ३४ ॥

एषैव परमा मुक्तिः प्रोक्ता वेदार्थवेदिभिः ।

अन्याश्च मुक्तयः सर्वा अवराः परिकीर्तिताः ॥ ३५ ॥

जन्मनाशाभिभूताश्च तारतम्येन संस्थिताः । स्पर्धयोपहता नित्यं परतन्त्राश्च सर्वदा ॥ ३६ ॥

सुखोत्तरा अपि श्रेष्ठा दुःखमिश्राश्च सर्वदा ।

एताश्च मुक्तयोऽन्येषां केषांचिदधिकारिणाम् ॥ ३७ ॥

विश्रान्तिभूमयः साक्षान्मुक्तेः प्रोक्ताः क्रमेण वै ।

अत्यन्तशुद्धचित्तानां नृणामेता विमुक्तयः ॥ ३८ ॥

स्वरूपातिरिक्तस्य प्रतिबन्धस्याङ्गीकारे तेनैव द्वैतापत्तिस्तन्निवृत्तये कर्मपेक्षा च स्यात् । नहि वस्तु ज्ञानेन निवर्तते यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमित्यत आह–प्रतिबन्धेति । अज्ञानस्यैव[3] प्रतिबन्धकत्वाभिधानाद्वास्तवप्रतिबन्धकानङ्गीकारान्न यथोक्तदोष इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ प्राक्तनमुक्तिचतुष्टये तर्हि प्रतिबन्धकस्याज्ञानस्यानिवृत्तेः कथं ता मुक्तय इत्यत आह–एषैवेति । इयमेव मुख्या मुक्तिः । अन्यास्तु कियत्यः कियतोऽपि दुःखस्योपरमान्मुक्तित्वेनोपचरिता इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ तासाममुख्यत्वे कारणमाह–जन्मेत्यादि । दुःखसंपृक्तत्वेनाविशुद्धत्वात्क्षयित्वात्सातिशयत्वाच्च न ता मुख्या मुक्तयः । इयमेव च तद्विरहान्मुख्या । यदुक्तम्–'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः । तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' इति ॥ जन्मनाशेति विनाशित्वम् । तारतम्येनेति सातिशयत्वम् । सातिशयत्वस्य[4] दोषतामाह–स्पर्धयेति । उपकरणपारतन्त्र्यादपि तासां न मुख्यत्वमित्याह–परतन्त्रा इति ॥ ३६ ॥ अविशुद्धिमाह–सुखोत्तरा अपीति । कथं तर्ह्येता मुक्तित्वेन परिगणिता इत्याशङ्क्य मन्दाधिकारिविषयत्वेनेत्याह–एताश्चेति । साक्षान्मुक्तेरर्वाचीना एताः क्रमेण तारतम्येनोपेता[5] विश्रान्तिभूमित्वसाम्यान्मुक्तय इत्युपचरिता इत्यर्थः । आसां मुक्तित्वमुपचरितमित्यपि विवेकिन एव जानन्ति । अविवेकिनस्तु स्वर्गवद्भोगभूमीरेता एव मुक्तित्वेनाभिमन्यन्ते । कर्मिणो हि स्वर्गमपि मुक्तित्वेन व्यवहरन्ति । 'अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्' इति । तदीयाभिमानस्य भ्रममूलत्वं मुण्डकादिषु श्रूयते–'अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते' इत्यादि ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

उससे सम्बन्ध संभव नहीं ॥ ३१ ॥ चक्षु, श्रोत्र, रसना आदि का वह गोचर नहीं । तर्क से उसे समझा नहीं जा सकता । (तर्क हेतु वाले में साध्यसत्त्व का साधक है । सम्बन्धशून्य में न हेतु है, न साध्य । अतः उसे तर्क विषय कैसे करे ?) मोक्ष में अविद्यावरण सर्वथा नहीं रहता । उसे अनुभव का विषय नहीं बना सकते । वह किसी पर आश्रित नहीं है ॥ ३२ ॥ वाच्यवाचकभाव से ब्रह्मरूप मोक्ष अस्पृष्ट है । उसका कोई चिह्न नहीं, अतः वह लक्ष्य –चिह्न वाला– नहीं । वह सभी प्राणियों का निज स्वयम्प्रकाश स्वरूप है ॥ ३३ ॥ वस्तुतः उस मोक्ष का कभी कोई प्रतिबंधक नहीं है । अविचार की अवस्था में वह आत्मसम्बन्धी अज्ञान से प्रतिबद्ध प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥ वेदान्तज्ञाताओं ने कैवल्य मोक्ष को ही परममुक्ति कहा है । अन्य चारों मुक्तियाँ इससे निकृष्ट हैं ॥ ३५ ॥ वे उत्पत्ति व समाप्ति से युक्त

---

१ ङ. °न्धकनि° । २ अस्फुरणमेव प्रतिबन्धः । तदप्यवास्तव एव, तथा च प्रतिबद्धेति प्रतिबद्धतया प्रतीयमानेत्यर्थः, अप्रतीयमानेति यावत् । ३ घ. °व वस्तुभूतस्य प्र° । घ. °स्यैवास्तु प्र° । ४ घ. °त्वदो° । ५ ङ. °तम्योपे° ।

भवन्ति विष्णो भोगार्थं स्वर्गवत्ताश्च नश्वराः ।

एताश्च बहुधा भिन्ना विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ३९ ॥

काश्चिच्छंकरसारूप्यरूपाः प्रोक्ता विमुक्तयः । काश्चिन्मुकुन्दसारूप्यरूपाः काश्चिज्जनार्दन ॥ ४० ॥

ब्रह्मसारूप्यरूपाश्च तथा काश्चिद्विमुक्तयः । ब्रह्मविष्णुमहेशानामर्वाग्रूपसमाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

काश्चित्सदाशिवादीनां रूपेण सदृशा हरे ।

काश्चिदन्यसमा विष्णो मुक्तयः परिकीर्तिताः ॥ ४२ ॥

काश्चिच्छंकरसामीप्यरूपाः प्रोक्ता विमुक्तयः ।

विष्णुसामीप्यरूपाश्च काश्चिद्विष्णो विमुक्तयः ॥ ४३ ॥

ब्रह्मसामीप्य[1] रूपाश्च तथा काश्चिद्विमुक्तयः । विभूतिरूपसामीप्यरूपा ज्ञेया विमुक्तयः ॥ ४४ ॥

शिवसालोक्यरूपाश्च प्रोक्ताः काश्चिद्विमुक्तयः ।

विष्णुसालोक्यरूपाश्च काश्चिद्विष्णो विमुक्तयः ॥ ४५ ॥

ब्रह्मसालोक्यरूपाश्च तथा तेषां जनार्दन । विभूतिरूपसालोक्यरूपा ज्ञेया विमुक्तयः ॥ ४६ ॥

भ्रममुक्तीनां[2] स्वरूपभेदं विवेकिभिस्तासां हानाय व्युत्पादयति–एताश्च बहुधेति ॥ ३९–४६ ॥

हैं । उनमें प्रत्येक में सातिशयता है अतएव उनमें स्पर्धा बनी रहती है और जीव का स्वातन्त्र्य व्यक्त नहीं होता ॥ ३६ ॥ (सायुज्य में भी अभ्यासदार्ढ्यकृत तादात्म्यदार्ढ्य होने से सातिशयता संगत है ।) सालोक्यादि चारों मोक्षों में प्राप्य सुख से अधिक सुख कैवल्य में होने से ये परम सुखरूप मोक्ष नहीं तथा स्पर्धादि से इनमें दुःख भी मिला है । एवमपि हैं ये श्रेष्ठ क्योंकि इनमें भगवत्संनिधि या तद्रूपता का निश्चय रहता है । (इहलोक व कर्ममात्रलभ्य स्वर्गादि से भगवान् से सम्बन्ध वाली स्थिति की श्रेष्ठता अशक्यशंक है ।) इन चतुर्विध मुक्तियों को उन अधिकारियों के लिये बताया है जो वैराग्यादि के राहित्य से तत्त्वज्ञान में अधिकारी नहीं ॥ ३७ ॥ इन्हें परममोक्ष के मार्ग में आने वाले विश्राम स्थल समझ सकते हैं । ये प्राप्त उन्हें ही होती हैं जो अत्यंत शुद्ध चित्त वाले हैं ॥ ३८ ॥ (विश्रामस्थल कहने का अभिप्राय है कि जैसे यात्रा में चलते हुए यदि साँझ पड़ जाये और गंतव्य तक पहुँचना असंभव हो तो रात्रिविश्राम के लिये कहीं रुक जाना पड़ता है वैसे ही जो साधक कैवल्यप्राप्ति के लिये अपने को असमर्थ पायें वे उपासना आदि से इन मोक्षों को पाकर संतोष करें । यदि विविदिषा बनी रही तो इन मुक्तावस्थाओं में अनुकूल साधन जुटाकर भी कैवल्यलाभ हो सकता है । या इनसे लौटकर भी चित्त शुद्ध होने से पुनः मानवलोक में शीघ्र शमादिसंपत्तिशाली हुआ जा सकता है । जिसने पहले उपासना कर रखी है उसे मुमुक्षा होने पर ज्ञानप्राप्ति में सुकरता होती है यह सिद्धान्त है ही । विश्रामस्थल का यह अर्थ नहीं कि कैवल्य तक पहुँचने के लिए इनसे गुज़रना ही होगा ।) हे विष्णु ! ये मोक्ष स्वर्ग की तरह भोगप्रद और नश्वर हैं तथा

१. घ. °सारूप्य° । २. भेदसत्वादासां भ्रमता ।

एवं बहुविधा ज्ञेया मुक्तयः पुरुषोत्तम । एतास्वशुद्धचित्तानामिच्छा नित्यं प्रजायते ॥ ४७ ॥

[1]नृणां विशुद्धचित्तानां क्रममुक्तौ जनार्दन ।

वाञ्छा विजायते तेषां सिध्यत्येव परा गतिः ॥ ४८ ॥

अतीव शुद्धचित्तानां प्रसादादेव मे हरे । इच्छा सायुज्यरूपायां मुक्तौ सम्यग्विजायते ॥ ४९ ॥

[2]साक्षात्प्रसादहीनानां मुक्तौ नेच्छा विजायते । वेदमार्गैकनिष्ठानां मद्भक्तानां महात्मनाम् ॥ ५० ॥

[3]श्रद्धा प्रवृत्तिपर्यन्ता साक्षान्मुक्तौ विजायते । सायुज्यरूपा परमा मुक्तिर्जीवपरात्मनोः ॥ ५१ ॥

पारमार्थिकतादात्म्यरूपाऽप्यज्ञाननाशतः । मुमुक्षोर्व्यज्यते सम्यगिति वेदान्तनिर्णयः ॥ ५२ ॥

यस्य स्वभावभूतेयं मुक्तिः साक्षात्परा हरे । अभिव्यक्ता स एवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥ ५३ ॥

यस्य मुक्तिरभिव्यक्ता[4] स्वात्मसर्वार्थवेदिनी । तस्य प्रारब्धकर्मान्तं जीवन्मुक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ५४ ॥

त्रिविधा ह्यधिकारिणः अविशुद्धचित्ता विशुद्धचित्ता अतीव शुद्धचित्ताश्चेति । आद्या भ्रममुक्तिमिच्छन्ति । द्वितीयाः क्रममुक्तिम्[6] । तृतीयाः साक्षान्मुक्तिमित्यधिकारिभेदेन मुक्तिर्विभज्यते—**एतास्वशुद्धेति** ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ **सायुज्यरूपायामिति** । अत्र सायुज्यपदेन निर्गुणब्रह्मात्मभाव एव विवक्षितो न देवतातादात्म्यमिति ॥ ४९ ॥ ५० ॥ विवृणोति—**सायुज्यरूपा परमेति** ॥ ५१ ॥ **वेदान्तेति** । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिषु ॥ ५२ ॥ तादात्म्यस्य स्वाभाविकत्वेनाविद्यामात्रनिबन्धना तदप्राप्तिर्विद्यया तन्निवृत्तिरेव[7] प्राप्तिरेवा**भिव्यक्ते**त्युक्तम् ॥ ५३ ॥ ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तौ तत्कार्यप्राणदेहधारणलक्षणजीवनस्यासंभवात्कथं लोकवेदयोर्जीवन्मुक्तिरिति व्यवहार इत्यत आह—**यस्य मुक्तिरिति** । द्विविधो ह्यविद्याव्यापारः । दृश्यस्यावभासकत्वं, तस्य वस्तुत्वाभिमानजनकत्वं चेति। तत्र यस्मिञ्शरीरे विद्योदयस्तदारम्भककर्मावसाने जाता विद्या देहाभासजगदवभासावपि निवर्तयति । या त्वारम्भककर्मशेषे सत्येव विद्या जायते सा तेन कर्मणा प्रतिबद्धा जाताऽपि दृश्यस्य वस्तुत्वाभिमानमेव व्यवच्छिनत्ति न स्वरूपाभासं[8], सा जीवन्मुक्तिः। स्वात्मन्यध्यस्तं सर्वं स्वरूपप्रकाशेनैव वेत्तीति स्वात्मसर्वार्थवेदी[9] तस्य च मुक्तिः स्वरूपभूतैव । यदाहुः— 'निर्वृत्तिरात्मा[10] मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः । उपलक्षणहानेऽपि स्यान्मुक्तिः पाचकादिवत्' इति ॥ अतः सा **सर्वार्थवेदिनीत्यभिव्यक्तेति** चोच्यते । प्रारब्धकर्मणोऽन्तोऽवसानं तदवधिका जीवन्मुक्तिरित्यर्थः । श्रूयते हि—'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति । तिस्रो हि मायावस्थाः[11] । दृश्यस्य वास्तवत्वाभिमानात्मिका प्रथमा । सा[12] युक्तिशास्त्रजनितविवेकज्ञानान्निवर्तते । तन्निवृत्तावपि प्रागिव साभिनिवेशव्यवहारहेतुर्द्वितीया । सा तत्त्वसाक्षात्कारान्निवर्तते । तन्निवृत्तावपि देहाभासजगदवभासहेतुरूपा तृतीया । सा प्रारब्धकर्मावसाने निवर्तत इत्यर्थः । **स्वतःसिद्धात्मरूपिणी** इति पाठान्तरम् ॥ ५४ ॥ दग्धवस्त्रं प्रावरणादिव्यवहारजननाक्षममपि

ये स्वयं नाना अवान्तर भेदों वाले हैं ॥ ३९ ॥ शंकरसारूप्य, विष्णुसारूप्य, ब्रह्मासारूप्य तथा अन्य स्व-इष्टसारूप्य—इस प्रकार इनके भेद हैं । ऐसे ही शंकरसामीप्य आदि समझने चाहिये । सामीप्य मोक्ष में इष्ट के विभूतिरूप शरीर की समीपता प्राप्त होती है । इसी प्रकार शंकर आदि अपने अपने इष्ट के विभूतिरूप शरीर जिन शिवलोकादि में निवास करते हैं उन लोकों की प्राप्ति सालोक्य मोक्ष है । यह भी इष्टभेद से नानाविध है ॥ ४०—४६ ॥ इस प्रकार की नानाविध मुक्तियों को वे चाहते हैं जिनका चित्त विशुद्ध नहीं हो चुका है ॥ ४७ ॥ जिनका तो चित्त शुद्ध है उन्हे क्रममुक्ति की अभिलाषा होती है जिसके द्वारा

---

१ ख. ग. ग. घ. ङ. विशुद्धचित्तानां नृणां । २. क. ग. घ. ङ. प्रसादहीनानां साक्षान्मुक्तौ । ३. क. ख. ग. घ. ङ प्रवृत्तिपर्यन्ता श्रद्धा । ४ ख. "क्तात्म ए" । ५ क. ख. ग. "क्ता स्वतःसिद्धात्मरूपिणी । ६ क्रममुक्तिर्हि अनावृत्यादिश्रुतिभ्योऽभ्युपेयेति 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहे'ति सूत्रभाष्ये व्यक्तम् । ७ ग. ङ. "रेवा" । ८ ख. ग. ङ. "पावभा" । ९ क. ख. ग. "त्मवे" । १० ग. घ. "रात्ममो" । ११ उत्तरत्र (३.५.२८) तिस्रोऽविद्यावस्था वक्ष्यति । १२ ख. ग. सा मुक्ति" ।

स्वतः सिद्धात्मभूताया मुक्तेरज्ञानहानतः । अभिव्यक्तेर्महाविष्णो बद्धत्वं दग्धवस्त्रवत् ॥ ५५ ॥
प्रपञ्चस्य प्रतीतत्वाज्जीवनं पुरुषोत्तम । फलोपभोगात्प्रारब्धकर्मणः संक्षये हरे ॥ ५६ ॥
प्रतिभासो निवर्तेत प्रपञ्चस्य न संशयः । यस्य दृश्यप्रपञ्चस्य प्रतिभासोऽपि केशव ॥ ५७ ॥
निवृत्तः स्वप्नवत्सोऽयं मुक्त एव न संशयः । भूतपूर्वानुसंधानान्मुक्त इत्युच्यते मया ॥ ५८ ॥

स न मुक्तो न बद्धश्च न मुमुक्षुर्न चापरः ।
य एवमात्मनाऽऽत्मानं सुदृढं वेद केशव ॥ ५९ ॥
स एव परमज्ञानी नेतरो माययाऽऽवृतः ।
एवं जानामि सुदृढमिति यो वेत्ति केशव ॥ ६० ॥

तदाकारप्रतिभासमात्रेण यथा वस्त्रमित्युच्यते, एवं ज्ञानाग्निना दग्धप्रपञ्चः प्रागिवाभिनिवेशाजनकोऽपि[१], अवभासमात्रेण[२] बद्ध इत्युच्यते । अभिनिवेशाभावादेव चाऽऽत्मनो मुक्तत्वमित्यर्थः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ इयं चेज्जीवन्मुक्तिः का तर्हि परमा मुक्तिरित्यत आह–**यस्य दृश्येति** ॥ ५७ ॥ बन्धश्चेदवस्तुत्वेन न कदाचिदप्यस्ति तर्हि न तस्य निवृत्तिरिति कथं तन्निवृत्तिरूपा मुक्तिरित्युच्यते ? इत्यत आह–**भूतपूर्वेति** । यथा वस्तुतोऽसतोऽपि बन्धस्याऽऽविद्यकं सत्त्वमेवं तन्निवृत्तेरपीत्यर्थः । न च निवृत्तेरवस्तुत्वे निवर्त्यमवतिष्ठेत इति वाच्यम् । यथाऽऽहुः–'मिथ्याभावेन भूतं किं मिथ्यानाशान्न नश्यति' इति ॥ ५८ ॥ वस्तुतस्तर्हि कथमित्यत आह–**स न मुक्त इति** । तदुक्तमाचार्यैः– 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' इति । **य एवमिति** । नित्यनिवृत्ताया मायाया निवृत्तिमात्मस्वभावभूततां[३] स्वरूपप्रकाशेनैवं वेद, एवं जानीयात् ॥ ५९ ॥ इतरस्तु ज्ञानविषयतामविषयस्याऽऽत्मनो मन्यमान आत्मानमजानन्नेव जानामीति व्यवहाराद्वञ्चक इत्यर्थः । उक्तं तलवकारोपनिषदि– 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति ॥ ६० ॥

वे अवश्य परम गति–कैवल्य–पा लेते हैं ॥ ४८ ॥ जो इनसे विलक्षण अत्यधिक शुद्ध चित्त वाले होते हैं उन्हें मेरी कृपा से कैवल्यप्राप्ति की ही इच्छा होती है । जिन पर मेरी कृपा नहीं उन्हें मुमुक्षा नहीं हुआ करती । जो वैदिक मार्ग पर चलते हैं व मेरे भक्त हैं उन्हें मोक्ष में श्रद्धा होती है और उसे पाने के लिये वे प्रयास भी करते हैं ॥ ४९–५०$^1/_2$ ॥ परम सायुज्यरूप कैवल्य मोक्ष का स्वरूप है जीवात्मा-परमात्मा का पारमार्थिक अभेद । यह कोई कार्य अभेद नहीं है, केवल अज्ञान के नाश से सम्यग् अभिव्यक्त होने वाला है ॥ ५१–५२ ॥ स्वरूपात्मक यह मोक्ष जिसके लिये अभिव्यक्त हो गया वही मैं हूँ यह मेरा निश्चय है । (मुक्त पुरुष शिव ही है ।) ॥ ५३ ॥ ऐसे व्यक्ति की प्रारब्धस्थिति पर्यन्त की अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते हैं । इसमें वह सारे भेदप्रपंच को अपने में अध्यस्त देखता है ॥ ५४ ॥ हे महाविष्णु ! अज्ञाननिवृत्ति से स्वतःसिद्ध आत्मरूप इस मोक्ष के अभिव्यक्त हो जाने के बाद सिद्ध की प्रतीयमान बद्धता जले कपड़े की तरह है–जला कपड़ा किसी काम का नहीं यद्यपि हवा आदि से राख उड़ने से पूर्व कपड़े की भाँति प्रतीत

---

१ ङ. ॰ननेऽपि । २ ख. ॰पि, आभा॰ । ३ ङ. ॰स्वरूपभावभूतस्य स्वरूपप्रकाशत्वेनैवं ।

स मूढ एव संदेहो नास्ति विज्ञानवञ्चकः । मुक्तिस्वभावो वेदा[1]न्तैर्मया च परिभाषितुंम् ॥ ६१ ॥
अशक्यः स्वानुभूत्या च मौनमेवात्र युज्यते । मुक्तिरुक्ता मया विष्णो महत्या श्रद्धया तव ॥ ६२ ॥
त्वमपि श्रद्धया विद्धि श्रेयसे भूयसे सदा ।
सूत उवाच— एवं निशम्य भगवान्विष्णुर्वेदार्थमुत्तमम् ॥ ६३ ॥
सर्वज्ञं सर्वभूतेशं सर्वभूतप्रिये रतम् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा भवानीसहितं हरम् ॥ ६४ ॥
प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या भवं भवहरं शिवम् । स्तोत्रैः स्तुत्वा महादेवं पूजयामास सुव्रताः ॥ ६५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे मुक्तिभेदकथनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

ईश्वर उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि मुक्त्युपायं समासतः । श्रद्धया सह भक्त्या च विद्धि पङ्कजलोचन ॥ १ ॥

मुक्तिस्वभाव इति । मुक्तेरात्मस्वरूपत्वात्तस्य च वाङ्मनसागोचरत्वान्मौनमेव तत्र शोभत इत्यर्थः । श्रूयते हि—'अवचनेनैव प्रोवाच' इति ॥ ६१–६५ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्डे मुक्तिभेदकथनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

यत उपेयाभिधानानन्तरं तदुपायजिज्ञासाऽतस्तदनन्तरं स उच्यत इति प्रतिजानीते—अथात इति ॥ १ ॥

होता है, ऐसे जीवन्मुक्त जो शरीरादि में बँधा दीखता है वह प्रतीति से अतिरिक्त कुछ नहीं क्योंकि उससे उसे 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं कर्ता' आदि निश्चय नहीं होता ॥ ५५ ॥ क्योंकि प्रपंच-प्रतीति बनी है इसलिये वह है जीवित । प्रारब्ध फल को भोग लेने पर उसकी समाप्ति हो जाती है और उसके साथ ही प्रपंच प्रतीति भी निवृत्त हो जाती है ॥ ५६½ ॥ हे केशव ! जिस मुक्त की प्रपंचप्रतीति भी हट चुकती है उसकी मुक्तता में तो कोई संशय नहीं । वह विदेहमुक्त कहलाता है । (जीवन्मुक्त में अशनायादि संसारधर्मों की अनुवृत्ति दीखने से यथाकथंचित् बद्धत्वशंका हो भी सकती है पर विदेहमुक्त में तो उसका कोई अवसर नहीं । इसी दृष्टि से लघुचन्द्रिकादि में कहा है 'विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः' ।) उसे मुक्त भी पूर्वानुभूत मिथ्या बंधन की दृष्टि से ही कहते हैं । वस्तुतः तो वह मुक्त, बद्ध, मुमुक्षु या और कुछ कभी नहीं है ॥ ५७–५८½ ॥ जिसे अपने विषय में यह दृढ निश्चय है कि मेरा तीनों कालों में संसारसम्बन्ध नहीं, वही परम ज्ञानी है । अन्यथा जानने वाले मायाक्षेत्र में ही हैं । इस निश्चय के बिना जो समझता है कि मैंने आत्मा को जान लिया, उसकी मूढता के विषय में कोई संदेह नहीं । वह आत्मज्ञान के बहाने (स्वयं की व अन्यों की) वंचना करने वाला ही है ॥ ५९–६०½ ॥ मुक्ति का स्वभाव न मैं प्रकट कर सकता हूँ, न वेद । उसे तो स्वानुभव से ही समझ सकते हैं । अतः इस विषय में तो मौन धारण करना ही संगत है ॥ ६१½ ॥ हे विष्णु ! बड़े प्रेम से मैंने तुम्हें मुक्ति के बारे में बता दिया । तुम भी इसे श्रद्धापूर्वक समझो और कल्याणस्थिति में अवस्थित रहो ॥ ६२½ ॥ सूत जी बोले—भगवान् विष्णु ने यों उत्तम वेदार्थ सुनकर सर्वज्ञ, सब प्राणियों के नियंता महादेव की तीन परिक्रमायें कीं और उन्हें दण्डवत् प्रणाम कर उनकी स्तुति और पूजा की ॥ ६५ ॥

मुक्ति के उपायों का कथन नामक तीसरा अध्याय

भगवान् ने अगले प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—हे कमलनयन ! मैं संक्षेप में मुक्ति का उपाय बताता

१. घ. "न्तैर्मायया प" ।

आत्मनः परमा मुक्तिर्ज्ञानादेव न कर्मणा । ज्ञानं वेदान्तवाक्यानां महातात्पर्यनिर्णयात् ॥ २ ॥
उत्पन्नायां मनोवृत्तौ महत्यामम्बुजेक्षण । अभिव्यक्तं भवेदेतद् ब्रह्मैवाऽऽत्मा[1] विचारतः ॥ ३ ॥
अनेनैवाऽऽत्मनोऽज्ञानमात्मन्येव विलीयते[2] । विलीने स्वात्मनोऽज्ञाने[3] द्वैतं वस्तु विनश्यति ॥ ४ ॥
द्वैतवस्तुविनाशे च शोभनाऽशोभना मतिः । क्षीयते मतिनाशेन रागद्वेषौ विनश्यतः ॥ ५ ॥
तयोर्नाशे महाविष्णो धर्माधर्मौ विनश्यतः । धर्माधर्मक्षयाद्देहो विषयाणीन्द्रियाणि च ॥ ६ ॥

ज्ञानादेवेति । यद्यपि ज्ञानमेव मुक्तिसाधनं न कर्मादिकमिति प्रथमखण्डे सप्तमाध्यायेऽप्युक्तं तथाऽपि साधनभूतस्य[4] तस्य ज्ञानस्य च स्वरूपं, यथा च तस्य साधनत्वं स प्रकारः सकलो वर्णनीय इत्ययमारम्भः । **महातात्पर्येति** । तत्त्वंपदार्थयोरेकैकस्य स्वरूपे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्यादेरवान्तरवाक्यस्य यत्तात्पर्यं तदवान्तरतात्पर्यम् । शोधितपदार्थद्वयस्य तादात्म्येऽखण्डैकरसरूपे तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य यत्तात्पर्यं तन्महातात्पर्यं तन्निर्णीयते येन वेदान्तमीमांसान्यायसंदर्भेण तन्निर्णयस्तस्मादित्यर्थः ॥ २ ॥ विषयस्याखण्डैकरसस्य परमपुरुषार्थत्वेन तद्विषया मनोवृत्तिर्महती । **विचारत उत्पन्नायामिति** संबन्धः ॥ ३ ॥ **अनेनैवेति** । यद्यपि ब्रह्म स्वात्मन्यध्यस्तस्य मायातत्कार्यजातस्य स्वरूपस्फुरणेनैव प्रकाशकमत एव 'यः सर्वज्ञः सर्वविदि'त्यप्युच्यते, तथाऽपि तदेव ब्रह्म यथोक्तरूपायां वृत्तौ प्रतिबिम्बितं सत्तस्यैव मायातत्कार्यजातस्य विनाशकं भवति । एकस्याप्यवस्थाभेदेन तत्प्रकाशकत्वं तन्निवर्तकत्वं चाविरुद्धम् । तथा हि–'प्रकाशयति मा भानोर्यैव तूलतृणादिकम् । सा सूर्यकान्तसंक्रान्ता तद्दहन्त्युपलभ्यते' इति ॥ अज्ञानविनाशे तत्कार्यत्वेन द्वैतवस्तुनो विनाशः ॥ ४ ॥ यथोक्ततत्त्वज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तावुपादाननाशादेव संचितस्य धर्माधमर्दिर्नाशः । नूतनस्य तु निरुपादानत्वादनुत्पत्तिरेव । रागद्वेषौ विनश्यत इत्यादौ नाशशब्दौ विनेत्युच्यते[5] ॥ ५ ॥ ६ ॥

हूँ, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उसे समझो ॥ १ ॥ अपना परम मोक्ष ज्ञान से ही होता है, कर्म से नहीं । यहाँ ज्ञानशब्द का तात्पर्य उससे है जो वेदान्तवाक्यों का महातात्पर्यनिर्णयरूप श्रवण करने से उत्पन्न अखण्डाकार मनोवृत्ति में अभिव्यक्त होता है । विचारफलतया संजात वृत्ति में अभिव्यक्त होने वाला ज्ञान है आत्मरूप ब्रह्म ही ॥ २–३ ॥ (वस्तुतः जो विवक्षित होता है उसे महातात्पर्य कहते हैं । उसे समझने के लिये जिन आवश्यक विषयों को बताया जाता है उनमें अवान्तरतात्पर्य हुआ करता है । वेदान्तवाक्यों का अवान्तरतात्पर्य जीव व ईश्वर के स्वरूप का निरूपण है क्योंकि उनके स्वरूप को समझे बिना अभेद नहीं समझा जा सकता । जीव और ईश्वर के अभेद के निरूपण में वेदान्तों का महातात्पर्य है ।) उक्त ज्ञान से ही आत्मा का अज्ञान नष्ट हो जाता है–अपने अधिष्ठानमात्ररूप से रह जाता है । आत्मसम्बन्धी अज्ञान के नष्ट हो जाने पर द्वैत वस्तुमात्र भी विनष्ट हो जाती है–व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों से नहीं रह जाती ॥ ४ ॥ द्वैतनिवृत्ति से–द्वैत है ही नहीं इस अडिग निश्चय से–'यह अच्छा है, यह बुरा है' ऐसी बुद्धि नहीं होती । अतएव 'यह मुझे मिले या बना रहे, यह मुझसे दूर हो या नष्ट हो जाये'–

---

१ क. ख. ग. घ. °वाऽऽत्मवि° । २ नश्यतीत्यर्थः । वक्ष्यति हि 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः' (४.२.८) इति । ३ क. ग. घ. °द्वैतव° । ४ घ. ङ. °स्य ज्ञा° । ५ रागद्वेषयोर्धर्माधर्मयोश्च विनाऽऽस्तइत्यर्थः । विनाशशब्दस्यार्थोऽदर्शनं तत्तु तयो र्जीवन्मुक्तेऽसम्भवि । यद्यपि रागादयो दृश्यन्ते तथापि मुक्तस्य ते केवलमाभासरूपा इत्यन्यत्र विस्तरः ।

नश्यन्त्येव न संदेहो ज्ञात्वा देवमिति श्रुतिः ।
घटज्ञानाद्धटाज्ञानं यथा लोके विनश्यति ॥ ७ ॥
तथाऽऽत्मज्ञानमात्रेण नश्यत्यज्ञानमात्मनः । रज्ज्वज्ञानविनाशेन रज्जुसर्पो विनश्यति ॥ ८ ॥
तथा[1]ऽऽत्माज्ञाननाशेन संसारश्च विनश्यति । तस्मादज्ञानमूलस्य संसारस्य क्षयो हरे ॥ ९ ॥
आत्मनस्तत्त्वविज्ञानात्तत्वं ब्रह्मैव केवलम् । यथा सर्पेदमंशस्य तत्त्वं दण्डादि केवलम् ॥ १० ॥
अस्य संसारिणस्तत्त्वं तथा ब्रह्मैव केवलम् । अज्ञानमूलं कर्त्रादिकारकज्ञाननिर्मितम् ॥ ११॥

ज्ञात्वेति । 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' इति श्वेताश्वतरश्रुतिरित्यर्थः । ज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वे घटज्ञानं दृष्टान्तः ॥ ७ ॥ अज्ञाननाशाद्भ्रमनिवृत्तौ रज्जुसर्पन्यायः ॥ ८ ॥ ९ ॥ ननु कथमात्मज्ञानादज्ञान-तत्कार्यनिवृत्तिः, संसारदशायामहं कर्ताऽहं भोक्तेत्यादावहमित्यात्मनि भासमाने सत्येव तत्राऽऽरोपितसंसारावभासादित्यत आह—आत्मनस्तत्त्वेति । अज्ञानं हि निरंशमप्यात्मानमंशवन्तमिव कृत्वा तत्रैकमंशमावृणोति नेतरम् । यत्राऽऽवृणोति स विभ्रमदशायामहमित्यवभातो[2] भ्रमतत्कारणयोरधिष्ठानम् । तन्मात्रावभासो भ्रमस्य हेतुरेव, न निवर्तकः । यं पुनरावृणोति निरतिशयानन्दरूपमद्वितीयं तदज्ञानस्य विषयमात्मनस्तत्त्वं ब्रह्मैव, तज्ज्ञानादज्ञानस्य निवृत्तिः, नाधिष्ठानज्ञानमात्रादित्यर्थः । अधिष्ठानज्ञानस्य भ्रमानिवर्तकत्वे विशेषज्ञानस्य च निवर्तकत्वे निदर्शनमाह—यथा सर्पेति । अयं सर्प इति विभ्रमेऽवभासमानो दण्डस्य तनुदीर्घत्वादिसाधारणाकारोऽधिष्ठानम्[3] । आवृतस्तु दण्डत्वादिरसाधारणाकारो विषय[4]श्चेदमंशस्य पारमार्थिकं रूपं, तेन रूपेण दण्डस्य ज्ञानाद्विभ्रमनिवृत्तिर्यथेत्यर्थः ॥ १० ॥ दार्ष्टान्तिके योजयति—अस्येति । कर्मणः संसारनिवर्तकत्वेन[5] तन्मूलाज्ञानान्निवर्तकत्वं(?) [6]कारणमाह—अज्ञानेति ॥ ११ ॥

ये राग-द्वेष नहीं होते ॥ ५ ॥ राग-द्वेष न रह जाने पर धर्माधर्म उत्पन्न नहीं होते क्योंकि तत्कारणभूत कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती । पुण्य-पाप न बचने से शरीर, इंद्रियाँ और विषय भी नहीं रहते इसमें संशय नहीं । श्रुति ने स्पष्ट कहा है—'स्वप्रकाश आत्मतत्त्व को जानने से सब पाशों से छुटकारा हो जाता है' ॥ ६½ ॥ जैसे संसार में देखा गया है कि घट के ज्ञान से घट का अज्ञान नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मा के ज्ञान से आत्मा का अज्ञान नष्ट हो जाता है ॥ ७½ ॥ जैसे रस्सी का अज्ञान नष्ट हो जाने से भ्रमभूत रज्जुसर्प नष्ट हो जाता है वैसे आत्मा का अज्ञान नष्ट हो जाने से भ्रमभूत संसार नष्ट हो जाता है ॥ ८½ ॥ अतः हे हरि ! अज्ञानमूलक इस संसार की निवृत्ति अपनी वास्तविकता के अनुभव से ही हो सकती है । अपनी वास्तविकता निर्विशेष ब्रह्म ही है ॥ ९½ ॥ जैसे भ्रान्ति में अनुभूयमान सर्प की और पुरोवर्तिता आदि की वास्तविकता केवल दण्डादि ही है, वैसे इस अपरोक्षतया अनुभूयमान संसरण करने वाले जीव की वास्तविकता केवल ब्रह्म ही है । ॥ १०½ ॥ कर्ता आदि कारकों व उनके

१ घ. °था ह्यज्ञा° । २ घ. °भाते भ्र । ङ °भासते भ्र° । ३ आधारइत्यर्थः । ४ विषयोऽज्ञानस्येतिशेषः । स एव पारमार्थिकं रूपमधिष्ठानमित्यर्थः । ५ घ. ङ. °त्वे त° । ६ 'कर्मणः संसाराऽनिवर्तकत्वे तन्मूलाज्ञानाऽनिवर्तकत्वं कारणमाहे'ति पाठः सम्भाव्यते ।

अज्ञानबाधकं कर्म नं [१]भवेदम्बुजेक्षण । कर्मणा परमा मुक्तिर्यदि सिध्यति केशव ॥ १२ ॥

सा विनश्यत्यसंदेहः स्वर्गलोको यथा तथा ।

तस्मान्न कर्मणा मुक्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥ १३ ॥

कर्मणैवापरा मुक्तिर्न ज्ञानादेव केवलात् ।

तत्र कर्म द्विधा विष्णो विजानीहि विचक्षण ॥ १४ ॥

एकं कर्माऽऽन्तरं बाह्यमपरं पङ्कजेक्षण ।

वाचिकं कायिकं बाह्यं कर्म मानसमान्तरम् ॥ १५ ॥

न केवलं कर्मणः स्वमूलत्वादज्ञानं प्रत्यनिवर्तकत्वं निवर्तकत्वेऽज्ञाननिवृत्तिरूपाया मुक्तेः कर्मजन्यत्वेन स्वर्गवदनित्यत्वप्रसङ्गादपि तदनिवर्तकत्वमित्याह–**कर्मणेति** । 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादिभिरपि न कर्मणो मुक्तिहेतुतोच्यते, किंतु सम्यक्सिध्यत्यनया मुक्तिरिति विद्या संसिद्धिपदेनोच्यते । तत्प्रतिबन्धकपापनिराकरणद्वारा[२] परमुक्तौ साधनता कर्मणोऽभिधीयत इति मन्तव्यम् ॥ १२ ॥ १३ ॥ कर्मणः साक्षात्परममुक्तावसाधनत्वे वैयर्थ्यमेव प्राप्तमिति चेन्न । विचित्रं हि कर्म, तत्र किंचित्साक्षादसाधनमपि ज्ञानद्वारा परमुक्तौ साधनम् । किंचित्पुनरपि परिपक्वज्ञानसहकृतमपरमुक्तौ । किंचित्तु केवलं भोगसाधनमित्यादिप्रकारभेदेन तदुपयोगसंभवादित्याह–**कर्मणैवापरे**त्यादिप्रपञ्चेन । कर्मणा सहैव ज्ञानादुपासनारूपादपरिपक्वात्मज्ञानाद्वा, तयोरन्यतरलाभमात्रेण कर्मत्यागेनाकरणनिमित्तप्रत्यवायात्तदुपायमपि प्रतिबध्येत[३] । परिपक्वात्मज्ञानं पुनरनादिभावपरम्परोपार्जितं[४] संचितमपि निर्दहेत्, न केनचित्प्रतिबध्यते । श्रूयते हि–'एत ँ ह वाव न तपति । किमह ँ साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति स य एवं विद्वानेते आत्मान ँ स्पृणुते' इति । स्मर्यते च– 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' । 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति । विभागेनोपयोगं दर्शयितुं कर्म विभजते–**तत्र कर्मेति** ॥ १४–१५ ॥

ज्ञान से लब्ध-शरीर कर्म का मूल है अज्ञान अतः कर्म अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता (जैसे घट मिट्टी का निवर्तक नहीं हो सकता) । ॥ ११½ ॥ हे केशव ! यदि कर्म से मुक्ति हो तो वह स्वर्ग की तरह नष्ट भी हो जायेगी इसमें संदेह नहीं । अतः करोड़ों कल्पों में भी कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती ॥ १२–१३ ॥ कैवल्य से भिन्न मोक्ष उपासना-सहित कर्म से मिलते हैं, केवल ज्ञान से नहीं । अपरमोक्षसाधनकोटि में स्थित कर्म दो प्रकार का है : ॥ १४ ॥ एक आन्तर और दूसरा बाह्य । वाचिक और कायिक कर्म बाह्य है तथा मानस कर्म आन्तर है ॥ १५ ॥ जो पुरुष श्रद्धापूर्वक सदा यह चिन्तन

---

१ घ. भजेद॰ । २ क. ख. ग. घ. ॰द्वारेण विद्यासा॰ । ३ अत्राऽपरिपक्वमिति विविदिषाऽजनकमित्यर्थः । तज्जनौ तु कर्मत्याग एव । तदुक्तमाचार्यैः सहस्रिकायां 'सहैव विदुषा तस्मात् कर्म हेयं मुमुक्षुणे'ति (१.१५) । ४ भव एव भावः ।

तत्र सर्वं परं ब्रह्म न चान्यदिति यः पुमान् ।

उपास्ते श्रद्धया नित्यं स सम्यग्ज्ञानमाप्नुयात् ॥ १६ ॥

यः पुमान्देवदेवेशं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम् । उमार्धविग्रहं शुद्धं नीलग्रीवं महेश्वरम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मविष्णुमहादेवैरुपास्यं गुणमूर्तिभिः । उपास्ते तस्य विज्ञानं जायते पारमेश्वरम् ॥ १८ ॥

अथवा चित्तकालुष्याच्छिवसारूप्यमच्युत । लब्ध्वा भुक्त्वा महाभोगानन्ते विज्ञानमैश्वरम् ॥ १९ ॥

लब्ध्वा तेन महाविष्णो प्राप्नोति परमां गतिम् ।

यः शिवं गुणमूर्तीनामुपास्ते श्रद्धया सह ॥ २० ॥

स लब्ध्वा रुद्रसारूप्यं क्रमाज्ज्ञानेन मुच्यते । यो रुद्रस्यापरां मूर्तिमुपास्ते श्रद्धया सह ॥ २१ ॥

स लब्ध्वा रुद्रसारूप्यं[1] भुक्त्वा भोगानतिप्रियान् ।

चित्तपाकानुगुण्येन शिवसारूप्यमेव च ॥ २२ ॥

आन्तरस्य कर्मणः फलमाह—तत्र सर्वमिति ॥ १६ ॥ तस्यैव विषयभेदेन फलान्तरमाह—यः पुमानिति ॥ १७ ॥ पारमेश्वरमिति । परमेश्वरस्य सकलरूपविषयसाक्षात्कारक्रमेण निष्कलरूपविषयं चेत्यर्थः ॥ १८ ॥ रागाद्यनुपहतचित्तस्योक्तम् । तदुपहतचित्तस्य पुनराह-अथवा चित्तेति ॥ १९ ॥ गुणमूर्तीनामिति । ब्रह्मविष्णुरुद्राणां मध्ये यो रुद्रमुपास्त इत्यर्थः ॥ २० ॥ अहंग्रहादिवैचित्र्येण सायुज्यादिव्यवस्था प्रागुक्तरीत्या द्रष्टव्या ॥ २१ ॥ २२ ॥

करता है कि सब कुछ पर ब्रह्म ही है उससे भिन्न कुछ नहीं, वह इस आन्तरकर्म के फलस्वरूप समयग्ज्ञान प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥ जो व्यक्ति महादेव की उपासना करता है—कि वे त्रिलोचन, चन्द्रार्धशेखर, उमाघटिततनु, शुद्ध, नीलकण्ठ, महेश्वरं, ब्रह्मादि के उपास्य हैं,—उसे भी परमेश्वरविषयक विज्ञान हो जाता है ॥ १७–१८ ॥ यदि ऐसा उपासक रागादि से कलुषित चित्त वाला है तो वह शिवसारूप्य पाकर और श्रेष्ठ भोग भोगकर अंत में भगवत्तत्वज्ञान पा लेता है और उससे परम गति(कैवल्य) की प्राप्ति कर लेता है ॥ १९½ ॥ गुणमूर्तियों में (सत्त्वादिगुणसम्बन्धी रूपों में) जो प्रसिद्ध शिव हैं उनकी श्रद्धा से उपासना करने वाला रुद्रसारूप्य पाकर भोगक्रम से ज्ञान व उससे मोक्ष का लाभ करता है ॥ २०½ ॥ जो व्यक्ति शिव की इसी (गुणसम्बन्धी) अपर मूर्ति की उपासना करता है किंतु अहंग्रहादिपूर्वक नहीं, वह रुद्र-सामीप्य प्राप्त करता है । यहाँ अत्यंत प्रिय भोग भोगकर भावनादार्ढ्य के अनुसार शिवसारूप्य पाता है व तदनन्तर शिवतत्त्वज्ञान द्वारा परमसायुज्यलाभ करता है ॥ २१–२२½ ॥ जो व्यक्ति शिव की प्रतीकोपासना करता है वह रुद्र-

---

१ रूपमात्रस्य समानत्वमिह सारूप्यं, मोक्षस्तु सामीप्यम् । तत्तल्लोके समेषामिष्टसमानशरीराणीति पुराणेष्वभिहितम् ।

शिवसायुज्यमाप्नोति शिवज्ञानेन केशव । अत्यन्तापरमां मूर्तिं यः पुमानीश्वरस्य तु ॥ २३ ॥
उपास्ते रुद्रसालोक्यं स लब्ध्वा पुरुषोत्तम ।
भुक्त्वा भोगान्क्रमाद्विष्णो रुद्रसारूप्यमेव च ॥ २४ ॥
रुद्रसामीप्यमन्यद्वा सायुज्यं विद्ययाऽऽप्नुयात् । अथवा विष्णुलोकादीनवाप्य पुरुषोत्तम ॥ २५ ॥
तत्र तत्र महाभोगानवाप्य कमलेक्षण । पृथिव्यां जायते शुद्धे ब्राह्मणानां कुले नरः ॥ २६ ॥
यः पुमाञ्श्रद्धया नित्यं त्वामुपास्ते जनार्दन ।
स शुद्धचित्तस्त्वां विष्णो प्राप्य कालेन मामपि ॥ २७ ॥
भुक्त्वा भोगान्पुनर्ज्ञानं लब्ध्वा मुक्तो भवेन्नरः[1] ।
अथवा चित्तवैकल्याद्विष्णुसारूप्यमेव वा ॥ २८ ॥
विष्णुसामीप्यमन्यद्वा विष्णुसालोक्यमाप्नुयात् । यस्तवापरमां मूर्तिमुपास्ते श्रद्धया नरः ॥ २९ ॥
तव सामीप्यमाप्नोति क्रमेणैव विमुच्यते ।
अत्यन्तापरमां मूर्तिं य उपास्ते तवाच्युत ॥ ३० ॥

अत्यन्तापरमामिति । प्रतीकमत्यन्तापरमं फलार्थम् । तत्तद्गुणविशिष्टमपरम् ॥ २३ ॥ २४ ॥ स्वाभाविकं परमम् । प्रतीकोपासकः क्रमात्स्वरूपोपासनं लभत इत्याह–विद्ययेति ॥ २५ ॥ २६ ॥ विष्ण्वादिप्रतीकादिष्वाह–यः पुमानिति । अनन्तरोक्तमिदं च निष्कामसकामविषयमिति द्रष्टव्यम् ॥ २७ ॥ वैकल्यादिति रागादियोगात् ॥ २८–४६ ॥

सालोक्य पाता है । वहाँ भोगलाभ के अनन्तर भावानुसार सामीप्य व सारूप्य पाकर आत्मविद्याप्राप्तिक्रम से परमसायुज्यरूप कैवल्य भी पा लेता है ॥ २३–२४½ ॥ (यदि अन्य गुणमूर्तियों की उपासना करता है तो उपास्यानुसार) विष्णुलोकादि को जाकर वहाँ दिव्य विषयों का भोग कर पृथ्वी पर शुद्ध ब्राह्मण कुल में पुरुषजन्म पाता है ॥ २५–२६ ॥ हे जनार्दन ! जो पुरुष तुम्हारी नित्य श्रद्धापूर्वक उपासना करता है वह शुद्ध मानस वाला व्यक्ति तुम्हें प्राप्त होता है और (तुमसे उपदेशादि पाकर) समयानुसार मुझे भी पा लेता है ॥ २७ ॥ उत्तम लोकों में विषयोपभोग के अनन्तर भी ज्ञान प्राप्त कर जीव मुक्त हो जाता है । अथवा यदि चित्त अधिक शुद्ध नहीं है तो सारूप्य, सामीप्य या सालोक्य पाकर फिर क्रम से मोक्ष की ओर बढ़ सकता है (या पुनः मर्त्यलोक को आ सकता है) । हे विष्णु ! जो तुम्हारी अपरमूर्ति की उपासना करता है वह सामीप्य पाकर क्रमशः मुक्त होता है । (विष्णु की अपरमूर्ति अर्थात् गुणसंबंधी विष्णुमूर्ति । परममूर्ति तो एक ही है ।) हे अच्युत ! जो तुम्हारी प्रतीकोपासना करता

---

१. लोकान्तरे ब्रह्मविज्ञानसम्भवो 'यथादर्शे तथे'त्यादिकठश्रुतौ ।

स लब्ध्वा तव सालोक्यं पुनः सामीप्यमेव [1]वा ।
सारूप्यं वा पुनश्चित्तपरिपाकानुकूलतः ॥ ३१ ॥
मामवाप्य परिज्ञानं लब्ध्वा तेन प्रमुच्यते । अथवा चित्तकालुष्याद् ब्रह्मादिभवनं गतः ॥ ३२ ॥
तत्र भुक्त्वा महाभोगान्[2] क्रमाद्भूमौ विजायते ।
यः पुमान्हृदये नित्यं ब्रह्माणं पङ्कजेक्षण ॥ ३३ ॥
अक्षमालाधरं शुभ्रं कमण्डलुकराम्बुजम् । वरदाभयहस्तं च वाचा सहितमीश्वरम् ॥ ३४ ॥
उपास्ते ब्रह्मसारूप्यं स याति पुरुषोत्तम । विशुद्धचित्तश्चेन्मर्त्यस्त्वामवाप्य ततः परम् ॥ ३५ ॥
प्राप्य मामद्वयं ज्ञानं लब्ध्वा तेन प्रमुच्यते ।
अथवाऽपक्वचित्तश्चेद् ब्रह्मलोके महासुखम् ॥ ३६ ॥
भुक्त्वा भूमौ महाप्राज्ञः सदाचारवतां कुले । जायते पूर्वभावेन ब्रह्मध्यानरतो भवेत् ॥ ३७ ॥
ब्रह्मणः[3] परमां मूर्तिं य उपास्ते जनार्दन ।
ब्रह्मसामीप्यमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ३८ ॥
विशुद्धहृदयो मर्त्यः क्रमान्मामाप्नुयाद्धरे । अविशुद्धो विजायेत क्रमेण वसुधातले ॥ ३९ ॥

है वह सालोक्य पाकर भावनानुसार उत्तरोत्तर मोक्ष पा लेता है और अन्त में मेरा दर्शन कर तत्त्वज्ञान द्वारा कैवल्यभागी हो जाता है ॥ २८–३१½ ॥ अथवा पूर्ववत् मनोनैर्मल्य के अभाव में ब्रह्मादि की उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मादिलोकों में पहुँच वह दिव्यभोगों का भोगकर मार्गादिक्रम से भूमि पर उत्पन्न होता है ॥ ३२½ ॥ जो पुरुष हृदय में ब्रह्मा का ध्यान नित्य करता है वह ब्रह्मा का सारूप्य पा लेता है । ब्रह्मा एक हाथ में रुद्राक्षमाला धारण किये हैं, देदीप्यमान हैं, दूसरे में कमण्डलु लिये हैं व अन्य दोनों से वर और अभय प्रदान कर रहे हैं । सरस्वती सहित उनकी इस प्रकार उपासना करनी चाहिये ॥ ३३–३४½ ॥ साधक शुद्ध मन वाला होता है तो हे पुरुषोत्तम ! तुम्हें प्राप्त कर मुझे प्राप्त करता है व ज्ञान द्वारा मुक्त हो जाता है ॥ ३५½ ॥ यदि निर्मल मन वाला नहीं होता तो ब्रह्मलोक में सुख भोग कर पुनः मर्त्यलोक को जाता है । किंतु वहाँ पैदा सदाचार वाले उत्तम कुल में ही होता है और पूर्वसंस्कारवशात् ब्रह्मा का पुनः ध्यान करना आरम्भ करता है ॥ ३६–३७ ॥ जो ब्रह्मा की परममूर्ति (उक्त गुणविशिष्ट रूप) की उपासना करता है वह अवश्य ब्रह्मा का सामीप्य पा लेता है ॥ ३८ ॥ वह भी यदि रागादिमल-

१ ख. ग. च । २ ङ. °गान्कामाद्भूमौ प्रजा° । ३ क. ख. घ. ङ. °ह्मणोऽप° ।

अत्यन्तापरमां मूर्तिं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
य उपास्ते स सालोक्यं याति शुद्धस्तु मुच्यते ॥ ४० ॥
अशुद्धो जायते भूमौ क्रमाद्भुक्त्वा महासुखम् ।
यो देवतान्तरं नित्यमुपास्ते श्रद्धया सह ॥ ४१ ॥
चित्तपाकानुगुण्येन मूर्त्युत्कर्षबलेन च । सालोक्यादिपदं लब्ध्वा पुनर्ब्रह्मपदं हरे ॥ ४२ ॥
लब्ध्वा विष्णुपदं वाऽपि मम रूपं महत्तरम् ।
[1]मत्तो लब्ध्वा मम ज्ञानं तेन मुच्येत बन्धनात् ॥ ४३ ॥
अथवा मलिनस्तत्र भुक्त्वा भोगाननेकशः ।
भूमौ विजायते मर्त्यः सत्यमेव न संशयः ॥ ४४ ॥
सर्वमूर्तिषु मां बुद्ध्वा श्रद्धया परया सह ।
य उपास्ते महाविष्णो मूर्त्युत्कर्षक्रमेण तु ॥ ४५ ॥
चित्तपाकानुगुण्येन हरे शीघ्रं क्रमेण तु । अवाप्य परमां मूर्तिं मम सर्वोत्तमां नरः ॥ ४६ ॥

शून्यस्वान्त वाला होता है तो क्रमशः मुझ तक पहुँच जाता है; पर यदि दूषित मन वाला होता है तो पूर्वविधि से मनुष्य बन जाता है ॥ ३९ ॥ जो तो ब्रह्मा की प्रतीकोपासना करता है वह सालोक्य पाता है । वह भी यदि शुद्धचित्त हो तो क्रमशः मोक्ष पा लेता है और अशुद्धचित्त हो तो सुख भोगकर पृथ्वी पर लौट आता है ॥ ४०$^1/_2$ ॥ जो श्रद्धालु अन्य देवताओं की उपासना करता है वह उपास्यमूर्ति के उत्कर्ष के अंतर से और अपनी उपासना के दार्ढ्य के अंतर से सालोक्यादि पाता है । फिर क्रममोक्ष का अधिकारी होने पर ब्रह्मलोक और विष्णुलोक होता हुआ मेरे संमुख आता है तथा मुझसे मद्विषयक वेदान्तबोध पाकर कैवल्य प्राप्त करता है । क्रममोक्ष का अनधिकारी तो उपासनाप्राप्त लोक में अनेक भोगों का सुख भोग कर फिर मानवदेह ही पाता है ॥ ४१–४४ ॥ जो व्यक्ति यह समझता है कि 'सभी मूर्तियों में मैं शिव ही उपस्थित हूँ' और इस प्रकार मेरी उपासना करता है वह भी उपास्य विशिष्ट मूर्ति की श्रेष्ठता और उपासनादार्ढ्य के अंतर के अनुसार पूर्वोक्त क्रम से मेरी परममूर्ति को प्राप्त कर उस रूप में स्थित मुझसे ज्ञान लेकर कैवल्यभागी होता है । किंतु जो सब मूर्तियों में मुझे ही मानने वाला है वह मुझे उसकी अपेक्षा शीघ्र प्राप्त होता है जो ऐसा नहीं समझता है ॥ ४५–४६$^1/_2$ ॥

---

१. ग. ङ. ततो ।

लब्ध्वा [1]मत्तः शिवज्ञानं तेन याति परां गतिम् ।
एवमेव[2]क्रमाद्विष्णो नरो बाह्येन कर्मणा ॥ ४७ ॥
मामवाप्य शिवज्ञानं लब्ध्वा तेन प्रमुच्यते ।
अविशुद्धोऽपि बाह्येन कर्मणा तत्र तत्र तु ॥ ४८ ॥
सालोक्यादि पदं लब्ध्वा पुण्यकर्मक्षये पुनः ।
भूमौ विजायते पश्चात्कुरुते कर्म पूर्ववत् ॥ ४९ ॥
बाह्येन कर्मणा मुक्तिः क्रमात्कालेन सिध्यति ।
आन्तरेणाचिरादेव कर्मणा [3]मुक्तिरच्युत ॥ ५० ॥
यथाऽऽन्तरोपचारेण नराणां वल्लभाः स्त्रियः ।
तथाऽऽन्तरेण [4]ध्यानेन वल्लभा मम जन्तवः ॥ ५१ ॥
बाह्यं कर्म महाविष्णो ज्ञानेच्छोत्पादकं भवेत् ।
त्यागश्च कर्मणां [5]तद्वन्महाविष्णो शमादयः ॥ ५२ ॥

मानसकर्मोक्तन्यायं वाचिककायिककर्मणोरतिदिशति–एवमेव क्रमादिति ॥ ४७–५० ॥ मानसस्य वाह्याद्विशेषे निदर्शनमाह–

हे विष्णु ! इसी तरह बाह्य कर्म द्वारा भी क्रम से मुझे पाकर और मुझसे शिवज्ञान लेकर जीव मुक्त हो जाता है, यदि बाह्य कर्म शुद्ध हृदय से करता हो तो । अगर तो मन उतना निर्मल नहीं तो सालोक्यादि पाकर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक को लौटकर पूर्वसंस्कारों से प्रेरित हुआ पुनः कर्म में प्रवृत्त हो जाता है ॥ ४७–४९ ॥ बाह्य कर्म क्रमशः मोक्ष का हेतु तो बनता है पर समय अधिक लगता है । आन्तर कर्म इसकी अपेक्षा शीघ्र फलप्रद होता है ॥ ५० ॥ जैसे अंतरंग सेवा के कारण पुरुषों को स्त्रियाँ प्रिय होती हैं वैसे आन्तर ध्यान करने वाले जन्तुओं पर मेरा प्रेम अधिक रहता है ॥ ५१ ॥ बाह्य कर्म (स्वकीय प्रतिनियत फल की अभिलाषा से न किया गया हो तो) ज्ञानप्राप्ति की इच्छा को उत्पन्न करता है । जैसे कर्म जिज्ञासा प्राप्ति के उपाय हैं वैसे ही जिज्ञासा हो जाने पर कर्मत्याग और शमादि इसी जन्म में ज्ञानप्राप्ति के उपायभूत अंग हैं । यह श्रुति को संमत है ॥ ५२½ ॥ हे जनार्दन ! वाराणसी आदि परमेश्वरसम्बन्धी

---

१ ख. मर्त्यः । २ घ. "वमादिक्र" । ३ घ. मुक्तिरुच्यते । ४ ङ. "ण ज्ञाने" । ५ यद्वत् कर्मणां त्यागो ज्ञानांगं तद्वच्छमादयोऽपि ज्ञानांगमित्यन्वयः । यथा विविदिषाप्राप्तये कर्मणामुपयोगस्तथा ज्ञानप्राप्तये कर्मत्यागस्य शमादीनां चेत्यर्थः । अतः शमाद्युपेतः स्यात्तेषामवश्यानुष्ठेयत्वादिति सूत्रयांबभूव वादरायणः ।

इहैव सम्यग्ज्ञानाङ्गमित्येषा शाश्वती श्रुतिः ।
वाराणस्यादिके स्थाने विशिष्टे पारमेश्वरे ॥ ५३ ॥
वर्तनं केवलं विष्णो नराणां [1]मरणात्परम् । सम्यग्ज्ञानप्रदं दिव्यं सत्यमुक्तं जनार्दन ॥ ५४ ॥
नित्यं द्वादशसाहस्रं प्रणवं यो जपत्यसौ । मत्प्रसादान्मम ज्ञानं मरणादूर्ध्वमाप्नुयात् ॥ ५५ ॥
श्रीमत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं प्रणवेन षडक्षरम् । नित्यं द्वादशसाहस्रं यो जपेच्छ्रद्धया सह ॥ ५६ ॥
स पुनर्मरणादूर्ध्वं मम ज्ञानं महत्तरम् ।
मत्तो लब्ध्वा परां मुक्तिं तेन याति न संशयः ॥ ५७ ॥
यः पुमाञ्शतरुद्रीयं जपति श्रद्धया सह । दिने दिने महाविष्णो मरणादूर्ध्वमैश्वरम् ॥ ५८ ॥
ज्ञानं लब्ध्वा स विज्ञानादेव याति परां गतिम् ।
यानि कर्माणि बाह्यानि मरणादूर्ध्वमच्युत ॥ ५९ ॥
मम ज्ञानप्रदानीति कथितानि मया तव ।
तानि कल्याणवृत्तस्य विद्धि नान्यस्य कस्यचित् ॥ ६० ॥

यथाऽऽन्तरेति ॥ ५१–५२ ॥ शाश्वती श्रुतिरिति । कर्मणो ज्ञानेच्छामात्रजनकत्वे 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादिश्रुतिः । शमादीनां ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गत्वे 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्' इति श्रुतिः । त्यागस्य तु 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इति । संन्यासवद्वाराणस्यादौ शरीरत्यागः प्रणवादिमन्त्रजपोऽपि साक्षाज्ज्ञानसाधनमित्याह–वाराणस्यादिक इति ॥ ५३–५९ ॥

विशिष्ट स्थानों में मरणपर्यन्त निवास करने से मरने के अनन्तर दिव्य सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है जो मोक्षप्रद है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ५३–५४ ॥ जो अधिकारी प्रतिदिन बारह हज़ार जप प्रणव का करता है वह भी मेरी कृपा से मेरे याथात्म्य का ज्ञान मरने के बाद पा लेता है (और उससे मुक्त हो जाता है) ॥ ५५ ॥ जो प्रतिदिन बारह हज़ार जप पंचाक्षर मंत्र का या अधिकारी होने पर उसमें प्रणव जोड़ कर षडक्षर मंत्र का करता है वह भी मरने के बाद मेरे उपदेश से मेरी यथार्थता समझ कर निश्चित ही मुक्त हो जाता है ॥ ५६–५७ ॥ जो अधिकारी भक्त प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक शतरुद्रिय का जप करता है वह भी मरने के अनंतर परमेश्वर का ज्ञान पाकर परम मोक्ष पा लेता है ॥ ५८½ ॥ हे अच्युत ! जिन बाह्य कर्मों को मैंने मरणोत्तर तत्त्वज्ञानप्रद बताया है वे उन्हीं के लिये उक्त फल दे पाते हैं जो सदाचारी हैं । जो शील से दुष्ट हैं वे उन कर्मों से इस अत्युत्तम फल को नहीं पा सकते ॥ ६० ॥ जो लोग

---

१. ङ. परमात्परम् ।

पापिष्ठानामपि श्रद्धाविहीनानां जनार्दन । मुक्तिदं मरणादूर्ध्वं शिवक्षेत्रैकवर्तनम् ॥ ६१ ॥

पुरा कोलाहलो नाम्ना वृषलो विधिचोदितः ।

कामेन पीडितः स्वस्य पितरं पङ्कजेक्षण ॥ ६२ ॥

हत्वा मातरमादाय गत्वा मोहेन केशव । वेदारण्ये यथाकामं चरित्वा मरणं गतः ॥ ६३ ॥

तत्र वर्तनमात्रेण स पुनः पुरुषाधमः । प्रनष्टपापः शुद्धात्मा वेदारण्यवतो मम ॥ ६४ ॥

प्रसादादेव वेदान्तज्ञानं लब्ध्वाऽमृतोऽभवत् । तस्माद्विमुक्तिकामानां विशिष्टेषु जनार्दन ॥ ६५ ॥

शिवक्षेत्रेषु मद्भक्त्या वर्तनं केवलं परम् ॥

सूत उवाच— एवं महेश्वरेणोक्तं निशम्य पुरुषोत्तमः ॥ ६६ ॥

प्रणम्य परया भक्त्या पप्रच्छेदं पुनर्द्विजाः ॥

विष्णुरुवाच— वेदारण्यस्य माहात्म्यं श्रोतुमिच्छामि शंकर ॥ ६७ ॥

तदद्य भगवन्ब्रूहि मम कारुण्यविग्रह ॥

ईश्वर उवाच— वदामि तव विष्णो श्रीवेदारण्यस्य वैभवम् ॥ ६८ ॥

अतीव श्रद्धया सार्धं शृणु सर्वजगद्धितम् । [1]श्रीमद्वल्मीकसंज्ञस्य मम स्थानस्य दक्षिणे ॥ ६९ ॥

अत्यंत पापी तथा अश्रद्धालु हैं उन्हें मरने के बाद मोक्ष चाहिये तो शिवक्षेत्रों में रहना ही एक मात्र उपाय है ॥ ६१ ॥ (अश्रद्धालु होने पर भी यदि कोई मोक्ष चाहे उस स्थिति की यह बात है । प्रायः श्रद्धाहीन को मोक्षसद्भाव में ही विश्वास न होने से उसकी इच्छा होना दुर्लभ है । पर दूसरों की प्रेरणा आदि से या स्वभावतः शिवक्षेत्रवास करने से फल तो मिल ही जाता है । क्योंकि यह उपाय सर्वसुलभ है इसलिये वैषम्यादि दोष का प्रसंग नहीं । यह शंका कि इससे पाप करने की प्रेरणा मिलती है, तो साधना से मोक्षप्राप्ति में भी तुल्य है । अनादिकाल से संचित अनन्त पुण्य पापों का क्षणमात्र में ध्वंस सह्य है तो एक और जन्म के कुछेक पापों से कौन भार हो जायेगा ? अतः शास्त्रप्रामाण्य से शिवक्षेत्र-महिमा अशंकनीय है ।) प्राचीन काल में एक कोलाहल नामक पापी शूद्र था । विधाता की संसारसंचालिका प्रेरणा से वह अत्यन्त कामुक था । (अतः सारी संपत्ति तुरन्त पाने के लिये) उसने स्वयं अपने पिता की हत्या कर दी । (अनजान देश में यथेच्छ आचरण निरंकुश होगा ऐसा सोच) वह अपनी माँ को ले घर छोड़कर चल

---

१ ग. ङ. °मद्वाल्मी° ।

समुद्रतीरे मद्भक्तैरखिलैरावृतं सदा । पुरा सर्गे महाविष्णो प्रलये विलयं गते ॥ ७० ॥

मयि संस्काररूपेण स्थिता वेदाः सनातनाः ।

कल्पादौ पूर्ववन्मत्तः प्रवृत्ता विमलाः पुनः ॥ ७१ ॥

समस्तलोकरक्षार्थं हरे भूत्वा शरीरिणः । श्रद्धया सहिताः श्रीमद्वेदारण्यं महत्तरम् ॥ ७२ ॥

अवाप्य वेदतीर्थाख्ये समुद्रे संस्थिते हरे । अर्धयोजनविस्तीर्णे पादयोजनमायते ॥ ७३ ॥

स्नानं कृत्वाऽर्कवारे च सदा पर्वणि केशव । पूजयामासुरीशानं श्रीवेदारण्यनायकम् ॥ ७४ ॥

श्रीवेदारण्यनाथोऽपि सह देव्या जनार्दन । प्रसादमकरोत्तेषां वेदानामम्बिकापतिः ॥ ७५ ॥

स्कन्दश्च मत्सुतस्तस्मिंस्तीर्थे स्नात्वा महत्तरे ।

श्रीवेदारण्यनाथाख्यं समाराध्य प्रसादतः ॥ ७६ ॥

निहत्य तारकं विष्णो महावीर्यपराक्रमम् । प्रददौ सर्वलोकानां परमं सुखमच्युत ॥ ७७ ॥

नारदो मुनिरत्रैव स्नात्वा पर्वणि शंकरम् । श्रीवेदारण्यनाथाख्यं श्रद्धया परया सह ॥ ७८ ॥

जपादिभ्यः शिवक्षेत्राणां विशेषमाह–तानि कल्याणवृत्तस्येति ॥ ६०–६९ ॥ कल्पादौ वेदानां शरीरिणां प्रथमावतारस्थानत्वेन तस्यैव वेदारण्यमिति प्रसिद्धिरित्याह–पुरा सर्गइत्यादि ॥ ७० ॥ मत्तो मत्सकाशात् । स्पष्टोऽध्यायशेषः ॥ ७१–१०७ ॥

दिया । बिना किसी विचार के ही वह वेदारण्य में पहुँच गया और वहीं रह गया । वहाँ उसने यावज्जीवन यथेष्टाचरण ही किया और वहीं मर भी गया । वहाँ रहनेमात्र के फलस्वरूप उसके पाप नष्ट हो गये, चित्त शुद्ध हो गया और मेरी कृपा से उसने वेदान्तज्ञान पाया तथा मुक्त हुआ । इसलिये जो अन्य कुछ भी साधन करने में असमर्थ हों उन्हें चाहिये कि भक्तिपूर्वक शिवक्षेत्रों में निवास करें, यही उनके लिये परम साधन है ॥ ६२–६५१/२ ॥ सूत जी बोले–पुरुषोत्तम नारायण ने इस प्रकार महेश्वर से मुक्ति का सरल उपाय सुनकर उनसे प्रणतिपूर्वक पूछा–॥ ६६१/२ ॥ विष्णु ने कहा–'हे शंकर भगवान् ! मैं वेदारण्य का माहात्म्य जानना चाहता हूँ आप कृपा कर बतायें' ॥ ६७१/२ ॥ भगवान् ने यों माहात्म्य बताया–हे विष्णु ! मैं तुम्हे श्रीवेदारण्य की महत्ता बताता हूँ, अतीव श्रद्धासहित इस सर्वलोक-हितसाधक विषय को सुनो ॥ ६८१/२ ॥ श्रीमद्वल्मीक नामक मेरे स्थान से दक्षिण की ओर समुद्रतट पर वेदारण्य है जो सदा मेरे भक्तों से घिरा रहता है ॥ ६९१/२ ॥ प्रलय काल में पूर्व सर्ग का विलय हो जाने पर सनातन वेद मुझमें संस्कार रूप से स्थित थे । कल्प के प्रारम्भ में वे निर्मल वेद मुझसे ही प्रारम्भ हुए ॥ ७०–७१ ॥ उन्होंने शरीर धारण कर श्रद्धापूर्वक वेदारण्य में प्रवास किया और समुद्र में स्थित आधे योजन लम्बे व

समाराध्याऽऽत्मविज्ञानं संसारच्छेदकारणम् । सनत्कुमारात्सर्वज्ञादाप्तवानम्बुजेक्षण ॥ ७९ ॥

याज्ञवल्क्यो मुनिस्तत्र स्नात्वा तीर्थे महत्तरे ।

वेदारण्येश्वरं भक्त्या प्रातःकाले समाहितः ॥ ८० ॥

पर्वण्याराध्य तस्यैव प्रसादादेव केवलात् । योगीश्वरोऽभवद्धीमानचिरादेव केशव ॥ ८१ ॥

तथा गार्गी च मैत्रेयी तत्र तीर्थे महत्तरे ।

वेदतीर्थाभिधे स्नानं कृत्वा पर्वणि केशव ॥ ८२ ॥

श्रीवेदारण्यनाथाख्यं शंकरं लिङ्गरूपिणम् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणम्य वसुधातले ॥ ८३ ॥

प्रसादादेव तस्यैव ज्ञानयोगं विमुक्तिदम् । अचिरादेव सर्वज्ञाद्याज्ञवल्क्यादवापतुः ॥ ८४ ॥

श्वेतकेतुर्मुनिस्तत्र स्नानं कृत्वाऽम्बुजेक्षण । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा वेदारण्याधिपं हरम्[1] ॥ ८५ ॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भक्त्या परमया सह । पितुरुद्दालकात्साक्षादात्मविज्ञानमच्युत ॥ ८६ ॥

अवाप सर्वसंसारकारणाज्ञाननाशकम् । वरुणो वेदतीर्थेऽस्मिन्पर्वणि श्रद्धया सह ॥ ८७ ॥

स्नानं कृत्वा महादेवं श्रीवेदारण्यनायकम् । समाराध्य प्रसादेन प्राप्तवानात्मदर्शनम् ॥ ८८ ॥

तस्य पुत्रो भृगुस्तस्मिंस्तीर्थे स्नात्वा महत्तरे । वेदारण्याधिपं देवं वेदवेदान्तनायकम् ॥ ८९ ॥

दृष्ट्वा प्रदक्षिणीकृत्य श्रद्धयाऽऽराध्य शंकरम् ।

प्रसादात्तस्य विज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यप्रकाशकम्[2] ॥ ९० ॥

चौथाई योजन चौड़े वेदतीर्थ में रविवार तथा पर्वों पर सदा स्नान कर श्रीवेदारण्यनाथ महादेव का पूजन किया। अम्बिका समेत महेश्वर ने उन वेदों पर कृपा की ॥ ७२–७५ ॥ मेरे पुत्र स्कन्द ने भी यहीं स्नान और पूजनादि आराधना कर तारकासुर का वध किया था जिससे सभी लोगों को परम शांति मिली ॥ ७६–७७ ॥ नारद मुनि ने भी इसी तीर्थ में प्रतिपर्व स्नान और वेदारण्यनाथ का श्रद्धापूर्वक पूजन कर ही सनत्कुमार से आत्मविद्योपदेश ग्रहण किया था ॥ ७८–७९ ॥ मुनि याज्ञवल्क्य पर्वकाल में प्रातःकाल उस तीर्थ में नहाकर श्रीवेदारण्येश्वर का पूजन कर उनकी कृपा से ही शीघ्र योगीश्वर बन गये ॥ ८०–८१ ॥ गार्गी और मैत्रेयी ने भी पर्वों में वेदतीर्थ में स्नान कर वेदारण्यनाथ महादेव को पृथ्वी पर प्रणाम कर उनकी तीन परिक्रमायें कीं जिससे उनकी कृपा के कारण ही सर्वज्ञ याज्ञवल्क्य से उन्होंने मोक्षप्रद ज्ञानयोग शीघ्र प्राप्त किया ॥ ८२–८४ ॥ इसी प्रकार स्नान व प्रणामपूर्वक प्रदक्षिणा कर श्वेतकेतु ने उद्दालक नामक

---

१. ग. हरे । २. ग. °क्यप्रसादक° । ङ. °क्यप्रसादतः ॥ ९० ॥ अ° ।

अपरोक्षं पितुर्लेभे वरुणादृषिसत्तमः[1] । त्रिशङ्कुर्वेदतीर्थेऽस्मिञ्श्रद्धया सह पर्वणि ॥ ९१ ॥

स्नानं कृत्वा महादेवं वेदारण्याधिपं हरम् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणम्य वसुधातले ॥ ९२ ॥

लेभे परमविज्ञानं सुदृढं सर्वदुःखनुत् । बहवो वेदतीर्थेऽस्मिन्वेदारण्येऽतिशोभने ॥ ९३ ॥

स्नानं कृत्वाऽम्बिकानाथं श्रीवेदारण्यनायकम् । दृष्ट्वा प्रदक्षिणीकृत्य ब्रह्मविज्ञानमच्युत ॥ ९४ ॥

अवापुर्वेदजं तस्य प्रसादादेव मुक्तिदम् । अत्र भूमिप्रदः साक्षाद्रुद्रलोके महीयते ॥ ९५ ॥

आवासभूमिदो रौद्रं पदमाप्नोत्यसंशयम् । धनधान्यप्रदो मर्त्यो धनदेन समो भवेत् ॥ ९६ ॥

अन्नदानपरः श्रीमानरोगी भवति ध्रुवम् । तिलदानान्महापापान्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९७ ॥

कन्यादानप्रदानेन पार्वतीलोकमाप्नुयात् । वस्त्रदानेन देवेन्द्रो भवत्येव न संशयः ॥ ९८ ॥

विषुवायनकालेषु[2] ग्रहणे सोमसूर्ययोः । व्यतीपाते तथा पर्वण्यार्द्रायामिन्दुवासरे ॥ ९९ ॥

स्नात्वा यो वेदतीर्थेऽस्मिञ्श्रद्धया परया सह ।

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा वेदारण्याधिपं शिवम् ॥ १०० ॥

प्रणम्य दण्डवत्तस्मै प्रदत्त्वा दीपमच्युत । निष्कमात्रं धनं दत्त्वा श्रद्धया शिवयोगिने ॥ १०१॥

अपने पिता से आत्मविज्ञान पाया, जो विज्ञान संसरण का निवर्तक है ॥ ८५–८६½ ॥ वरुण महर्षि ने भी पर्वों पर वेदतीर्थ में अवगाहन कर वेदारण्यनाथ की समाराधना के फलस्वरूप उनकी कृपा से आत्मदर्शन किया ॥ ८७–८८ ॥ वरुण के पुत्र भृगु ने वहाँ स्नान तथा महादेव की प्रदक्षिणा व पूजा के फलस्वरूप ही अपने पिता से जीव-ब्रह्म के अभेद का प्रकाशक अपरोक्ष आत्मज्ञान प्राप्त किया ॥ ८९–९०½ ॥ त्रिशंकु मुनि ने सश्रद्ध वेदतीर्थ में पर्वों पर स्नान कर और वेदारण्येश्वर की प्रणामपूर्वक तीन परिक्रमाएँ कर सर्वदुःखनाशक परमार्थ अनुभव पाया ॥ ९१–९२½ ॥ अन्य भी अनेकों भक्तों ने ऐसे अत्यंत शोभन वेदतीर्थ में यथाविधि स्नान कर, अम्बिकानाथ वेदारण्येश्वर का दर्शन और परिक्रमा कर उनकी कृपा से वेदोक्त आत्मज्ञान प्राप्त किया है ॥ ९३–९४½ ॥ वेदारण्य में भूमिदान करने वाला रुद्रलोक में श्रेष्ठ स्थान पाता है ॥ ९५ ॥ यहाँ आवासयोग्य भूमि का दान करने से रुद्र पद मिल जाता है । धनधान्य का यहाँ दान करने से मनुष्य कुबेर के तुल्य हो जाता है ॥ ९६ ॥ जो तत्परतापूर्वक यहाँ अन्नदान करता है वह नीरोग हो जाता है । तिलदान करने से महापाप छूट जाते हैं ॥ ९७ ॥ वेदारण्य में कन्यादान करने से पार्वतीलोक मिलता है । वस्त्रदान करने से इंद्र बन जाता है ॥ ९८ ॥ विषुव के दिनों पर, अयनारंभक संक्रातियों पर, सूर्य व चन्द्र ग्रहणों पर, व्यतीपात योग में, पूर्णिमा व अमावस्या को, आर्द्रा नक्षत्र के समय और सोमवार को परम श्रद्धा से वेदतीर्थ में स्नान कर, वेदारण्यनाथ की तीन परिक्रमायें कर उन्हें प्रणाम कर दीपदान

१. क. ख. ग. घ. °णादाशु स° । २. ङ. °काले च ग्र° ।

उपवासं करोत्यत्र स मुक्तो नात्र संशयः ।
सुमुहूर्तेषु यस्तत्र स्नात्वा दृष्ट्वा महेश्वरम् ॥ १०२ ॥
शिवयोगिकरे दत्त्वा पणमात्रं धनं मुदा ।
ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ १०३ ॥
अत्रैव[1] मरणं प्राप्तो विमुक्तो भवति ध्रुवम् ।
सर्वरोगहरं स्थानमिदं भक्तिमतां नृणाम् ॥ १०४ ॥
मया च मम देव्या च मम भक्तैर्महत्तमैः ।
पूजितं पुण्यदं स्थानमेतद्भुक्तिविमुक्तिदम् ॥ १०५ ॥
मुक्त्युपायो मया प्रोक्तः सर्ववेदान्तसंग्रहः ।
श्रद्धाहीनाय मर्त्याय न देयोऽयं त्वयाऽच्युत ॥ १०६ ॥
सूत उवाच— इति माहेश्वरं वाक्यं निशम्य कमलेक्षणः ।
प्रणम्य देवमीशानं परितृप्तोऽभवद्धरिः ॥ १०७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे मुक्त्युपायकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्डे मुक्त्युपायकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

कर, शिवयोगी को कम से कम एक स्वर्णमुद्रा प्रदान कर उपवास करने वाला व्यक्ति निश्चित ही मुक्त हो जाता है ॥ ९९–१०१½ ॥ शुभ मुहूर्तों पर वेदतीर्थ में स्नान और वेदारण्येश्वर का दर्शन कर शिवयोगी को अस्सी कौड़ी के बराबर धन का दान करने से भी ब्रह्महत्यादि पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ १०२–१०३ ॥ वेदारण्य में मरने से जीव अवश्य मुक्त होता है । भक्ति वाले साधकों के लिये यह स्थान सब रोगों का हरण करने वाला है ॥ १०४ ॥ यह भोग, मोक्ष व पुण्य देने वाला स्थान मुझसे, पार्वती से व मेरे भक्तों द्वारा पूजित है ॥ १०५ ॥ हे अच्युत ! मैंने समस्त वेदान्तों का संक्षेपरूप मुक्त्युपाय का वर्णन कर दिया । अश्रद्धालु के प्रति इसका उपदेश नहीं करना चाहिये ॥ १०६ ॥ सूत जी बोले— भगवान् के ये वचन सुन कमलनयन ने उन्हें प्रणाम किया और तृप्ति का अनुभव किया ॥ १०७ ॥

---

१. ग. तत्रैव ।

चतुर्थोऽध्यायः

ईश्वर उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि मोचकं पुरुषोत्तम ।
श्रद्धया च महाभक्त्या विद्धि वेदैकदर्शितम् ॥ १ ॥
पुरा सरस्वती देवी सर्वविद्यालया शुभा । अकारादिक्षकारान्तैर्वर्णैरत्यन्तनिर्मलैः ॥ २ ॥
आविर्भूतस्वरूपा श्रीर्ज्ञानमुद्राकरा[1] परा । अक्षमालाधरा हैमकमण्डलुकराम्बुजा ॥ ३ ॥
सर्वज्ञानमहारत्नकोशपुस्तकधारिणी । कुन्देन्दुसदृशाकारा कुण्डलद्वयमण्डिता ॥ ४ ॥
प्रसन्नवदना दिव्या विचित्रकटकोज्ज्वला । जटाजूटधरा शुद्धा चन्द्रार्धकृतशेखरा ॥ ५ ॥
पुण्डरीकसमासीना नीलग्रीवा त्रिलोचना । सर्वलक्षणसंपूर्णा सर्वाभरणभूषिता ॥ ६ ॥
उपास्यमाना मुनिभिर्देवगन्धर्वराक्षसैः । मामपृच्छदिदं भक्त्या प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ ७ ॥
अहं च परया युक्तः कृपया पुरुषोत्तम । अवोचं मोचकं देव्यै हितायाखिलदेहिनाम् ॥ ८ ॥

यतो मुक्तिस्वरूपतदुपायपरिज्ञानानन्तरं मुक्तिप्रदातरि जिज्ञासा अतस्तदनन्तरं तत्कथनं प्रतिजानीते—अथात इति । वेदैकदर्शितमिति ॥ १–७ ॥ बन्धहर्तृत्वं[2] विमोचकत्वम् । तदुक्तमुत्तरतापनीये—'[3]स्वात्मबन्धहर' इति । गर्भोपनिषद्यपि—'अशुभक्षयकर्तारं पाशमुक्तिप्रदायिनम् । यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम्' ॥ ८ ॥

मोचककथन नामक चौथा अध्याय

भगवान् बोले—हे पुरुषोत्तम ! अब मैं मोचक (मुक्त करने वाले) के विषय में बताऊँगा । केवल वेद में प्रदर्शित इस रहस्य को तुम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक समझो ॥ १ ॥ पूर्वकाल में देवी सरस्वती ने भी मुझसे यह प्रश्न किया था और मैंने भी परम कृपा से युक्त हो समस्त प्राणियों के हित के लिये देवी को मोचक के बारे में बताया था । वे देवी सभी विद्याओं की निधि हैं, शुभस्वरूपिणी हैं । अत्यन्त निर्मल अकार से क्षकार पर्यन्त (अर्थात् सब) अक्षरों से उनका स्वरूप प्रकट हुआ है । वे सम्पत्तिरूप हैं, परम हैं और हाथ में ज्ञानमुद्रा धारण किये हैं । अपर हस्तों में रुद्राक्ष माला, स्वर्ण कमण्डलु और ऐसी पुस्तक धारण किये हैं जो सब ज्ञानरूप श्रेष्ठ रत्नों का खजाना है । कुन्द या इंदु की तरह उनका सुखद आकार है, दो कुण्डल उनके कानों को शोभित करते हैं, मुख उनका प्रसन्न है और वे प्रकाशमयी हैं । उन्होंने विचित्र कटक (मीनाकारी किया हुआ कड़ा) पहन रखा है । जटाजूट उन पर शोभित हो रहे हैं । उनमें किसी तरह का दोष नहीं है । चंद्रकला उनके मस्तक को अलंकृत कर रही है । कमल पर वे बैठती हैं, नीलकण्ठ और त्रिलोचन हैं । सब श्रेष्ठ लक्षणों व आभूषणों से युक्त हैं तथा मुनि, देव, गंधर्व, राक्षस आदि द्वारा उपास्यमान हैं । ऐसी उन देवी ने भक्ति से मुझे भूमि पर दण्डवत् प्रणाम कर मोचकविषयक प्रश्न पूछा

१. ङ. °करी प° । २. क. घ. °न्धहर्तृत्वं मो° । ग. न्धकर्तृत्वं हि मो° ङ. °न्धहर्तृत्वं हि मो° । ३. ख. स्वात्मा ह° ।

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः । तेषां पतिरहं देवः स्मृतः पशुपतिर्बुधैः ॥ ९ ॥

मायापाशेन बध्नामि पशूनेतान्सरस्वति । तेषां पशूनां सर्वेषां मोचकोऽहं सुलोचने ॥ १० ॥

मामेव मोचकं प्राह श्रुतिः साध्वी सनातनी ।
श्रुतिर्बलीयसी प्रोक्ता प्रमाणानां सुलोचने ॥ ११ ॥

स्वतश्च परतो दोषो [1]नहि तस्याः कदाचन । अन्येषामक्षजादीनां प्रमाणानामविद्यया ॥ १२ ॥

दोषसंभावनाऽस्त्येव ततस्तेषां सुलोचने । विरोधे वेदवाक्येन प्रामाण्यं नैव सिध्यति ॥ १३ ॥

पशुपाशविमोचनकर्तारं मोचकं वक्तुं बद्धान्पशूनाह—**ब्रह्माद्या** इति । कर्मपरिपाकात्प्राग्भोगप्रदानेन कर्मपरिपाकानन्तरं मोक्षप्रदानेन च पाति पशूनतः स्वयं पशुपतिरित्याह—**तेषां पतिरिति** ॥ ९ ॥ बन्धनिवर्तकमात्मानमुक्त्वा[2] बन्धकारणमाह—**मायेति** ॥ १० ॥ ननु विहितकरणादकरणनिमित्तपापानुदयात्काम्यकर्माकरणेन च भोगहेतुपुण्यानुदयात्पूर्वकृतपुण्यपापयोश्च भोगेन प्रक्षयादयत्नसिद्धा[3] विमुक्तिः, किं तत्र मोचकेन ? यद्यवश्यं मोचकेन भवितव्यं तथाऽपि शिव एवेति कुतः ? अन्योऽपि हि यः कश्चिद् ब्रूयात्स्वयमेवेति तत्र कुतो निश्चयः ? इत्यत आह—**मामेवेति** । श्रुतिस्तु'अशुभक्षये'त्यादिका समनन्तरोदाहृता गर्भोपनिषत् । आप्तवचनादिभ्यः[4] श्रुतेः प्राबल्ये विशेषमाह—**श्रुतिर्बलीयसीति** । ज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यान्न स्वतः, श्रुतेरनादित्वेन[5] कारणाभावान्न कारणदोषादप्यप्रामाण्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥ श्रुतिव्यतिरिक्तेषु प्रत्यक्षादिषु कारणदोषसंभवश्चेत्कथं तर्हि तत्र प्रामाण्यव्यवहार इत्यत आह—**अन्येषामिति** । अविद्याकार्यत्वेनावस्त्वेव विषयीकुर्वता[6]मेषां व्यावहारिकमेव प्रामाण्यम् । उपनिषदस्तु वस्तुविषयत्वात्तत्त्वावेदनलक्षणं[7] प्रामाण्यम् । यदाहुः—'प्रत्यक्षादिप्रमाणानां प्रामाण्यं व्यावहारिकम् । आश्रित्यायं प्रपञ्चः स्यादलीकोऽपि प्रमाणवान् ॥ अद्वैतागमवाक्यं तु तत्त्वावेदनलक्षणम् । प्रमाणभावं भजतां बाधवैधुर्यहेतुतः' इति । तथा सुंदरपाण्ड्यवार्तिकमपि—'देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन संमतः । लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्' इति ॥ १२ ॥ १३ ॥

था जिसका मैंने यह उत्तर दिया ॥ २—८ ॥ ब्रह्मा से स्थावर (वृक्षादि) पर्यन्त सभी जीव पशु हैं और उन्हें भोग व मोक्ष देकर उनका पालन करने वाला मैं स्वप्रकाश देव ही पशुपति हूँ ॥ ९ ॥ हे सरस्वति ! इन पशुओं को मैं मायारूप पाश से बाँधता हूँ । उन सभी पशुओं का मोचक मैं ही हूँ ॥ १० ॥ ('मैं बाँधता हूँ' का यह अर्थ है कि मुझसे लब्ध सत्ता वाली अनादि माया से वे बँधे हैं ।) सनातन श्रुति ने मुझे ही मोचक कहा है । सब प्रमाणों में श्रुति ही सर्वाधिक बलवती है ॥ ११ ॥ सभी ज्ञानसाधनों में स्वरसतः प्रमाणहेतुता होने से कोई भी ज्ञान-साधन स्वरूप से अप्रमा का उत्पादक नहीं होता । किसी दोष के होने पर ही अप्रमाकारणता ज्ञानसाधन में आती है । श्रुति भी ज्ञानसाधन है अतः स्वरूप से प्रमा को ही उत्पन्न करेगी । नित्य व अपौरुषेय होने से इसमें कहीं से दोष भी प्राप्त नहीं हो सकता कि यह अप्रमा को उत्पन्न करे । शब्दप्रमाण में दोष उसके वक्ता से ही आता है । श्रुति का

१ ग. ङ. नास्ति । २ ख. ग. ङ. °मात्मज्ञानमु° । ३ ङ. °द्धान्निर्मुक्ति । ४ घ. °दिभ्योऽत्र श्रु° । ५ घ. °दित्वात्° । न का° । ६ घ. °तामेतेषां । ७ क. घ. °णं य° ।

स्मृतयश्च पुराणानि भारतादीनि सुंदरि ।

वेदमूलान्यतस्तेन विरोधे मूलिनामपि ॥ १४ ॥

रचयितारूप वक्ता कोई न होने से वह सर्वथा निर्दुष्ट प्रमाण अतएव सर्वप्रबल है । अन्य प्रमाणों में अविद्या के कारण दोष की संभावना रहती ही है । प्रत्यक्ष व तन्मूलक ही श्रुतिभिन्न प्रमाण हैं । क्योंकि प्रत्यक्ष नीलनभोदर्शनादि से व्यभिचारी दृष्टचर है, इसलिये उसका प्रामाण्य शंकित होता है और फलतः तन्मूलक सभी प्रमाणों की प्रामाणिकता पर सन्देह हो जाता है । 'अविद्या के कारण' अर्थात् भ्रमदर्शन के कारण । भ्रम के लिये अविद्याशब्द बहुत्र प्रयुक्त है । श्रुति भ्रमोत्पादिका नहीं । जो हमें कदाचित् श्रौतार्थ में भ्रम होता है वह हमारे दोष से है, श्रुति के दोष से नहीं । जैसे यह स्थाणु का अपराध नहीं कि अंधा उसे नहीं देखता–'न ह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'–वैसे हमारा ग़लत समझना श्रुति का दोष नहीं । श्रुतीतर प्रमाणों की शंकितता से स्वतःप्रामाण्य के अभ्युपगम का विरोध नहीं समझना चाहिये क्योंकि व्यावहारिक स्वतःप्रामाण्य ही उनमें स्वीकार्य है व उसके विषय में शंकितता नहीं । पारमार्थिक प्रामाण्य उनमें स्वीकृत नहीं व उसी के विषय में शंकितता है । 'पारमार्थिक प्रामाण्य' से तात्पर्य है उस प्रामाणिकता से जो परमार्थविषयक प्रमा उत्पन्न करती है । एवं च श्रुति ही सबसे अधिक बल वाला प्रमाण है । इतना अवश्य स्मर्तव्य है कि प्रमाणों के बलाबल का तात्पर्य यही है कि यदि ज्ञानों में विरोध प्रतीत हो, तो किसे सही मानकर प्रवृत्ति की जाये–यह शंका होने पर जिस ज्ञान का साधनरूप प्रमाण बलवत्तर है उसी को स्वीकारना चाहिये । प्रमाणों के बलाबल का यह अर्थ नहीं कि दोनों प्रमाण रहते हुए एक दूसरे के विरुद्ध या बाधक हो सकते हैं । जिसे बलवान् समझा जायेगा, जो बाधक होगा, वही प्रमाण है । दूसरा अप्रमाण है । अप्रामाणिकता के निश्चय के पूर्व स्वतः प्रामाण्य के अनुसार उसे प्रमाण स्वीकारने मात्र से प्रमाणों का बलाबल बताया जाता है । ऐसे ही श्रुति और प्रत्यक्ष में भी समझना चाहिये कि जहाँ प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं, वहाँ (उस विषय में) श्रुति का उनसे विरोध नहीं और जहाँ श्रुति प्रमाण है वहाँ उनका श्रुति से विरोध नहीं । प्रत्यक्षादि व्यवहारभूमि में प्रमाण हैं और श्रुति परमार्थभूमि में । अतः दोनों का आपसी विरोध न होना स्वाभाविक है । तथापि बलाबल का अभिप्राय यह है कि यदि प्रत्यक्षादि पारमार्थिक को विषय करते प्रतीत हों, युक्ति आदि से श्रुतिविरुद्ध पारमार्थिकता सिद्ध होती हो, तो श्रुति को ही बलवत्तर समझ कर प्रत्यक्षादि को उपेक्ष्य मानना चाहिये । जैसे पारमार्थिक विषय में, वैसे ही अपूर्व –धर्माधर्म– के विषय में श्रुति ही एकमात्र निर्णायिका है । अतः श्रुति ने पशुपति को मोचक कह दिया तो इस विषय में यदि अन्य प्रमाण विरोधी अर्थ का समर्पण करेंगे तो ग़लत ही समझे जायेंगे यह भाव है, इसलिये वेदवाक्य से विरोध होने पर उनमें प्रामाण्य ही नहीं हुआ करता ॥ १२–१३ ॥ स्मृतियाँ, पुराण, महाभारतादि सभी वेदमूलक हैं, अतः उनका भी यदि स्वमूलभूत

---

१. घ. °ने ॥ पञ्च° । २. श्रुतिपुराणादावधिकारिभिस्तु 'गोपयः श्वदृतौ यथे'तिन्यायेन संमतोंऽशोपि ततो न ग्राह्यः, सर्वथा हेयानि तादृशशास्त्राणि ।

न सिध्यत्येव सुश्रोणि प्रामाण्यं सूक्ष्मदर्शने[1] । पाञ्चरात्रादिमार्गाणां वेदमूलत्वमास्तिके ॥ १५ ॥
नहि, स्वतन्त्रास्ते तेन भ्रान्तिमूला निरूपणे । तथाऽपि योंऽशो मार्गाणां वेदेन न विरुध्यते ॥ १६॥
सोंऽशः प्रमाणमित्युक्तं केषांचिदधिकारिणाम् । अत्यन्तगलितानां तु प्राणिनां वेदमार्गतः ॥ १७ ॥
पञ्चरात्रादयो मार्गाः कालेनैवोपकारकाः । तान्त्रिकाणामहं देवि न लभ्योऽव्यवधानतः ॥ १८ ॥
कालेन देवताप्राप्तिद्वारेणैवाहमास्तिके । लभ्यो वेदैकनिष्ठानामहमव्यवधानतः ॥ १९ ॥
तत्रापि कर्मनिष्ठेभ्यो ज्ञाननिष्ठस्य सुंदरि । लभ्यो न ज्ञानिनां लभ्यस्तेषामात्मैव केवलम् ॥ २० ॥
सर्वेषामात्मभूतोऽहमेव संसारमोचकः । न मत्तोऽन्यः पुमानज्ञ इत्येषा शाश्वती श्रुतिः ॥ २१ ॥
मामृते साम्बमीशानं मोचकोऽन्यो न विद्यते । अहमप्राप्तसंसारः सर्वज्ञश्च स्वभावतः ॥ २२ ॥

स्मृतिपुराणादीनां तु वेदाविरोधेनैव प्रामाण्यमिति प्रथमखण्डस्य प्रथमाध्याये वर्णितम् । अनुमितवेदमूलानां स्मृतिपुराणादीनां यावन्मूलोपलम्भनं प्रत्यक्षश्रुतिविरोधेनाननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यमुक्तम् ॥ १४ ॥ पञ्चरात्रादीनां तैः स्वयमेव वेदमूलतानङ्गीकाराद्वेदविरुद्धानेकार्थोपदेशाच्च स्मृतिपुराणादिवत्र यावन्मूलोपलम्भं किंतु सर्वथैवाप्रामाण्यमित्याह—पाञ्चरात्रेति ॥ १५ ॥ वेदमूलत्वं नहि किन्तु स्वतन्त्राः । हिशब्दो वेदमूलत्वविरहे तदीयशास्त्रप्रसिद्धिमाह । आपाततः प्रमाणवदाभासेऽपि निरूपणे भ्रान्तिमूला एवेत्यर्थः । वेदाविरुद्धांशे प्रामाण्यं किं न स्यादित्याशङ्क्य तद्भवत्येवाधिकारिविशेषं प्रतीत्याह—तथाऽपि य इति ॥ १६ ॥ तानेवाधिकारिण आह—अत्यन्तेति ॥ १७ ॥ तेषामप्युपकारकत्वे श्रुतिसाम्यमेव तर्हीत्यत आह—तान्त्रिकाणामिति । अव्यवधानेन न लभ्यः किंतु व्यवधानेनैव ॥ १८ ॥ तदेव व्यवधानमाह—कालेनेति ॥ १९ ॥ कर्मनिष्ठेभ्य इति । तेषां कर्मभिः पापक्षये ज्ञाननिष्ठाद्वारेणैव लभ्यः । ज्ञाननिष्ठेभ्यो जिज्ञासुभ्यः सकाशाज्ज्ञानिनां विशेषमाह—न ज्ञानिनामिति । तेषामात्मत्वेन लब्धत्वान्न लब्धव्य इत्यर्थः । अन्येषामात्मभूतोऽप्यज्ञानेन व्यवहितत्वाल्लभ्य एव न तु लब्धः ॥ २० ॥ व्यवधानाव्यवधानाभ्यां मो[2]चनीयपशुवैचित्र्यवन्मोचके न वैचित्र्यमित्याह—सर्वेषामिति ॥ २१ ॥ तव तर्हि[3] को मोचक इति तत्राऽऽह—अहमप्राप्तेति । तथा मृगेन्द्रे—'अथानादिमलापेतः सर्वकृत्सर्वदृक्शिवः ॥ पूर्वं व्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति' इति ॥ २२ ॥

वेद से कहीं विरोध होता है तो वे वहाँ प्रमाण नहीं होते । अधिकतम बातें वेदानुसारी होने से उन्हें वेदमूलक कहते हैं, अतः एक-आध बात वेदविरुद्ध होने पर उतनी बात ही अपस्मृति आदि रूप से अप्रमाण हो जाती है । यद्यपि स्मृति से श्रुति का अनुमान होता है तथापि उपलब्ध हुए बिना अनुमितमात्र श्रुति उपलब्ध श्रुति की बाधिका या उसका संकोच करने वाली नहीं बन सकती । और प्रमाण होने से ही श्रुतियों में परस्पर विरोध असम्भ है । प्रतीयमान विरोध भी हमारी समझ की ही भूल है । तत्त्वविषयक विरोध तो है ही नहीं । क्रियाविषयक जो विरोध प्रतीत होता है वह विकल्पार्थ होने से विकल्पित पक्ष को छोड़कर ही प्रत्येक वचन की प्रवृत्ति होने से विरोध है नहीं । इस प्रकार जो श्रुत्यनुकूल स्मृत्यादि हैं वे श्रुतिविरोध न होने पर प्रमाण हैं ॥ १४½ ॥ पांचरात्र आदि आगममार्ग वेदमूलक नहीं हैं यह वे स्वयं घोषित करते हैं । वे वेद से स्वतंत्र हैं, वेद का अनुसरण करने वाले नहीं । अतः परमार्थ निरूपण में वे भ्रामक ही हैं और आस्तिकों के विषय में अर्थात् आस्तिकों के लिये वे प्रमाण कोटि में नहीं समझने चाहिये । एवमपि उनका जो अंश वेद से विरुद्ध नहीं पड़ता उसे उन लोगों के लिये ग्राह्य बता दिया गया है जो

१. घ. °ने ॥ पञ्च° । २. क. ख. ग. घ. °चयितव्यप° । ३. ख. °र्हि मोचकः क इति ।

मदन्ये त्वात्मविज्ञानविहीना माययाऽऽवृताः । सदा संसारिणो मोच्याः प्रकृतिः केवलं जडा ॥ २३ ॥

तस्मात्पशूनां सर्वेषामहं संसारमोचकः । न मत्तोऽन्यः पुमान्सत्यमित्येषा शाश्वती श्रुतिः ॥ २४ ॥

एवं निशम्य मद्वाक्यं महाविष्णो सरस्वती । पूजयामास मां भक्त्या जगन्माता त्रयीमयी ॥ २५॥

त्वमप्यत्यन्तकल्याणो मद्भक्तश्च विशेषतः । त्वया नास्ति समः कश्चिल्लोके विष्णो महामते ॥ २६॥

शिवादन्यस्य मोचकत्वं संसारिणो वा प्रकृतेर्वेति ? नाऽऽद्य इत्याह–मदन्य इति । स्वयं बद्धाः कथमन्यं मोचयेयुरित्यर्थः। ननु मोच्यत्वं मोचकत्वं च प्रकृतेरेवेति सांख्याः । यदाहुः–'रूपैः सप्तभिरेवं बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः । सैव च पुरुषस्यार्थे विमोचयत्येकरूपेण' इति ॥ तत्राऽऽह–प्रकृतिरिति ॥ २३ ॥ नित्यमुक्तः शिवस्तद्विलक्षणानां जीवानां भोगमोक्षलक्षणस्वाभिमतपुरुषार्थप्रापक इति काठके कथितमित्याह–शाश्वती श्रुतिरिति । एवं हि 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्' इति ॥ २४–२६ ॥

वैदिक मार्ग से अत्यंत दूर हैं ॥ १५–१७ ॥ पांचरात्रादि आगमप्रोक्त कल्याणोपाय उस प्रकार के प्राणियों के लिये उपकारक तो हैं किंतु उनसे इष्टसिद्धि होने में समय काफी लगता है । तान्त्रिकों को मैं सीधे ही प्राप्त नहीं होता किन्तु वे देवताओं को प्राप्त करने के द्वारा ही मुझ तक पहुँच सकते हैं । जो तो केवल वेद पर निष्ठा रखते हैं उन्हे मेरी प्राप्ति में कोई व्यवधान नहीं होता ॥ १८–१९ ॥ वेदमार्गगामियों में भी कर्मनिष्ठों की अपेक्षा ज्ञानसाधकों को मेरी प्राप्ति शीघ्र होती है (क्योंकि कर्मठों को भी ज्ञान पाकर ही मैं मिलता हूँ) । ज्ञानियों के लिये तो मैं प्राप्तव्य नहीं क्योंकि उनका आत्मा ही हूँ ॥ २० ॥ (उनके लिये शिवकी आत्मरूपता अनावृत होने से 'उसका आत्मा' ऐसा कहा । वस्तुतः) सभी का आत्मा मैं ही हूँ । अज्ञानी पुरुष मुझसे भिन्न कोई नहीं है । और (विद्यावृत्ति का विषय हुआ) मोचक भी मैं ही हूँ । शाश्वत श्रुति का यह उद्घोष है कि एक अकेला शिव ही संसारी और मोचक है । मुझ सांब ईशान से भिन्न कोई मोचक नहीं है । (बद्ध व मोचक दोनों विरुद्ध धर्म बताकर दोनों की अवास्तविकता स्पष्ट कर दी । अजाततत्व में दोनों ही कल्पित हैं ।) ॥ २१½ ॥ मैं स्वभाव से ही ऐसा हूँ कि मुझे कभी संसारबंधन नहीं हुआ । (अतः मेरा कोई और मोचक नहीं ।) ऐसे ही मैं स्वभावतः अज्ञानावरणमुक्त हूँ ॥ २२ ॥ मुझसे अन्य सभी जब तक मैं उन्हें मुक्त नहीं करता तब तक आत्मज्ञान से रहित हैं–अज्ञान से आवृत हैं । अत एव वे अनादि संसरण वाले हैं । अज्ञानशब्दित प्रकृति जड है । एवं च मुझसे अन्य मोचक संभव नहीं क्योंकि मुझसे भिन्न चेतन स्वयं बद्ध हैं और मुझसे भिन्न प्रकृति जड है । इससे अतिरिक्त और कुछ है नहीं । बद्ध मोचक हो यह असंगत है । जड भी मोचक हो नहीं सकता ॥ २३ ॥ अतः सभी पशुनामक जीवों को संसार से मुक्त करने वाला मैं हूँ, मुझसे अन्य कोई पुरुष नहीं यह श्रौत निर्णय है ॥ २४ ॥

तस्मादेव मया प्रोक्तस्तव संसारमोचकः । वेदमार्गैकनिष्ठानां धार्मिकाणाममानिनाम् ॥ २७ ॥

मद्भक्तानां विशुद्धानां द्विजानामम्बुजेक्षण ।

मयोक्तोऽर्थस्त्वया देयो न देयो यस्य कस्यचित् ॥ २८ ॥

सूत उवाच— एवं निशम्य पुरुषोत्तम आदिभूतमम्बासहायममलेन्दुकलावतंसम् ।

सर्वामरैरखिलयोगिभिरर्चनीयं संसारमोचक इति प्रतिपद्य भक्त्या ॥ २९ ॥

नत्वा परापरविभागविहीनबोधः[1] सत्यामृताद्वयशिवाभिधसर्वनाथम् ॥

स्तुत्वा गिरा परवशोऽभवदम्बुजाक्षः शिष्टादृतं शिवकरं शिवमादरेण ॥ ३० ॥

शृणुध्वमन्यद्वक्ष्यामि मोचकत्वप्रसाधकम् । श्रद्धया सहिता यूयं मुनयो मुनिसत्तमाः ॥ ३१ ॥

पुरा कश्चिद् द्विजश्रेष्ठः श्रद्धया कर्म वैदिकम् ।

कृत्वा प्रदग्धपापस्तु विशुद्धहृदयो भृशम् ॥ ३२ ॥

भीतो जन्मविनाशाभ्यामतीव मुनिपुंगवाः । क्रमेण सकलान्देवान्स्वसंसारविमोचकान् ॥ ३३ ॥

अमानिनामिति निरहंका[2]रिणाम् । न देय इति । यदाहुर्नैरुक्ताः—"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि । असूयकायानृजवे जडाय नेमां ब्रूयाद्वीर्यवती तथा स्याम्" इति ॥ २७–३० ॥

हे महाविष्णु ! यों मेरा वचन सुनकर जगन्माता सरस्वती ने प्रेमपूर्वक मेरी पूजा की थी ॥ २५ ॥ तुम भी मेरे विशेष भक्त और सब कल्याणगुणों से उपेत हो । संसार में तुम्हारे समान कोई नहीं है ॥ २६ ॥ इसीलिये मैंने अपनी संसार-मोचकता तुम्हें समझायी है । यह विषय तुम उन्हीं को बताना जो वैदिक मार्ग में ही निष्ठा वाले निरभिमानी रागादिरहित धार्मिक द्विज मेरे भक्त हैं, अन्य चाहे जिस को इसका उपदेश मत देना ॥ २७–२८ ॥

सूत जी बोले—यह शिवोपदेश सुनकर पुरुषोत्तम नारायण ने महादेव को प्रणाम और उनकी स्तुति की । विष्णु को जो ज्ञान हुआ था उसमें पर-अपर विभाग नहीं था, सारा ही परज्ञान था । उन्होंने निश्चय किया था कि शिव ही संसार से छुड़ाने वाले हैं अत एव भक्तिपूर्वक प्रणामादि किया था । उनको समझ आ गया था कि शिव ही सबके कारण हैं । सुन्दर चन्द्रकलाघटित मुकुट वाले अम्बिकानाथ ही सब देवताओं और समस्त योगियों के आराध्य हैं । उन्हें ही सत्य, अमृत, अद्वय, शिव आदि कहते हैं । वे ही सबके स्वामी हैं । अतएव कमलनयन विष्णु ने भक्ति के परवश हो शिष्टों द्वारा आदृत, कल्याणकारी शिव की आदरपूर्वक निजवाणी से स्तुति की ॥ ३० ॥

हे मुनिश्रेष्ठो ! मोचक के स्वरूप को बताने वाली एक आख्यायिका मैं आप लोगों को और सुनाता हूँ ॥ ३१ ॥ प्राचीन काल में एक उत्तम ब्राह्मण था जिसने वैदिक कर्मों का अनुष्ठान कर पाप जला दिये

---

१. 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत' इति मुक्तिहेतुज्ञानमेव परोबोधः श्रुतिप्रसिद्धः स एव विष्णोरेतावता संवादेन जातइति तज्ज्ञानेऽपराया विद्याया अंशो न बभूवेत्यर्थः । २. ख. °काराणां ।

मत्वाऽऽराध्य पुनः सर्वाञ्जन्मनाशवृतानिमान् । परित्यज्य विचारेण भगवन्तं त्रिलोचनम् ॥ ३४ ॥
प्रलम्बितजटाबद्धं चन्द्ररेखावतंसकम् । नीलग्रीवं शरच्चन्द्रचन्द्रिकाभिर्विराजितम् ॥ ३५ ॥
गोक्षीरधवलाकारं चन्द्रबिम्बसमाननम् । सुस्मितं सुप्रसन्नं च स्वात्मतत्त्वैकसंस्थितम् ॥ ३६ ॥
गङ्गाधरं शिवं शान्तं लसत्केयूरमण्डितम् । सर्वाभरणसंयुक्तं सर्वलक्षणसंयुतम् ॥ ३७ ॥
वीरासने समासीनं वेदयज्ञोपवीतिनम् । भस्मधाराभिरामं तं नागाभरणभूषितम् ॥ ३८ ॥
व्याघ्रचर्माम्बरं शुद्धं योगपट्टावृतं शुभम् । सर्वेषां प्राणिनामात्माज्ञानापस्मारपृष्ठतः ॥ ३९ ॥
विन्यस्तचरणं सम्यग्ज्ञानमुद्राधरं हरम् । सर्वविज्ञानरत्नानां कोशभूतं सुपुस्तकम् ॥ ४० ॥
दधानं सर्वतत्त्वाक्षमालिकां कुण्डिकामपि । स्वात्मभूतपरानन्दपरशक्त्यर्धविग्रहम् ॥ ४१ ॥
धर्मरूपवृषोपेतं धार्मिकैर्वेदपारगैः । मुनिभिः संवृतं मायावटमूलाश्रितं शुभम् ॥ ४२ ॥

शृणुध्वमिति । मोचकस्वरूपज्ञापकमाख्यानान्तरं वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ ३१-३८ ॥

और निर्मल मन वाला हो गया । वह जन्म-मरण से बहुत भयभीत था । उसने क्रमशः अनेक देवताओं को संसार से मुक्त करने में समर्थ समझ उन सबकी तत्परता से आराधना की । किन्तु शास्त्रादि के विचार से उसे समझ आया कि वे सभी देवता स्वयं जन्म-नाश वाले हैं तो मुझे कैसे उससे छुड़ायेंगे ? अतः उन सबको छोड़ वह त्रिलोचन दक्षिणामूर्ति भगवान् शंकर की शरण गया ॥ ३२–३४ ॥ भगवान् की लम्बी व बँधी जटायें हैं । उनके मस्तक पर द्वितीया का चन्द्रमा शोभित हो रहा है । उनका सारा शरीर शरत्कालिक चन्द्रज्योत्स्ना की तरह शुभ्र और कण्ठ के मध्य नीलिमा है ॥ ३५ ॥ पूर्णचन्द्र की तरह आह्लादप्रद उनका मुख गाय के दूध सा गोरा है, प्रसन्नतापूर्वक हल्की मुस्कान उस पर खेल रही है । भगवान् निजस्वरूप में ही प्रतिष्ठित हैं ॥ ३६ ॥ शिव ने गंगा को जटाओं में आश्रय दिया है । शान्तमूर्ति की भुजायें बाजूबंधों से अलंकृत हैं तथा अन्यत्र भी यथायोग्य सब विभूषण शरीर को भूषित कर रहे हैं । सामुद्रिक शास्त्रप्रोक्त सभी उत्तम लक्षण उनमें लक्षित होते हैं ॥ ३७ ॥ महादेव वीरासन से बैठे हैं । वेदसंमत यज्ञोपवीत व भस्मत्रिपुण्ड्र धारण किये हैं और नागों को आभरण रूप से ग्रहण कर स्वयं को सजाये हुए हैं ॥ ३८ ॥ बाघ की खाल उनका वस्त्र है—उसी से उनका योगपट्ट (घुटने तक देह ढाँकने वाला कपड़ा जो समाधि काल में महात्मा पहनते हैं) निर्मित है । भगवान् तथा उनके निकटस्थ कोई वस्तु अशुभ और अशुद्ध नहीं । सभी प्राणियों को जो आत्मा का अज्ञान है वही अपस्माररूप से उनके चरणों में है और उसकी पीठ पर उन्होंने अपना पैर रख छोड़ा है । हर के एक हाथ में ज्ञानमुद्रा (चिन्मुद्रा) है, दूसरे में समस्त ज्ञानरत्नों की कोशभूत पुस्तक है, तीसरे में सब तत्त्वरूप रुद्राक्षों की माला है व चौथे में अमृतकलश है । ३९–४०½ ॥ उनसे अभिन्न परमानन्दरूप पराशक्ति उनका आधा शरीर है ॥ ४१ ॥ धर्मरूप वृषभ उनके संनिकट है । माया रूप वट के मूल में स्थित उनके चारों ओर धार्मिक व वेदों में पारंगत मुनि उपस्थित हैं ॥ ४२ ॥ शिव ही समस्त विद्याओं के स्वामी हैं । वे शासकों के भी नियन्ता हैं, अपरिवर्तनीय हैं । जन्मादि भावविकार उनका स्पर्श नहीं करते । ॐकाररूप कमलासन पर वे विराजमान हैं । ४३ ॥ वे अपने स्वरूप का परिज्ञान करा कर सदा संसार से मुक्त करते हैं । परम करुणावश वे सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं, सबका दुःख दूर करते रहते हैं ॥ ४४ ॥ सभी उपासकों को सकल अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करने वाले वे ही हैं । संसार की सृष्टि स्थिति संहार के कारणभूत उन महादेव को दक्षिणामूर्ति कहते हैं । (तत्त्वज्ञान को दक्षिणा कहते हैं । 'शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता' ऐसा दक्षिणामूर्त्युपनिषत् में कहा है । जिस रूप को धर कर भगवान् तत्त्वज्ञान प्रदान करते हैं वह रूप दक्षिणामूर्ति कहा जाता है ।) ॥ ४५ ॥-

ईशानं सर्वविद्यानामीश्वरेश्वरमव्ययम् । उत्पत्त्यादिविनिर्मुक्तमोंकारकमलासनम् ॥ ४३ ॥
स्वात्मविद्याप्रदानेन सदा संसारमोचकम् । रुद्रं परमकारुण्यात्सर्वप्राणिहिते रतम्[1] ॥ ४४ ॥
उपासकानां सर्वेषामभीष्टसकलप्रदम् ।
दक्षिणामूर्तिदेवाख्यं[2] जगत्सर्गादिकारणम् ॥ ४५ ॥
समागत्य महाभक्त्या दण्डवत्पृथिवीतले ।
प्रणम्य बहुशो देवं समाराध्य यथाबलम् ॥ ४६ ॥
रुद्र यत्ते मुखं तेन दक्षिणं पाहि मामिति ।
उक्त्वा पुनः पुनर्देवं पूजयामास भक्तितः ॥ ४७ ॥
पुनर्देवो महादेवो दक्षिणामूर्तिरीश्वरः । प्रदत्त्वा[3] स्वात्मविज्ञानं तस्मै विप्राय सुव्रताः ॥ ४८ ॥
तस्य संसारविच्छेदमकरोदम्बिकापतिः । बहवो दक्षिणामूर्तिप्रसादादेव जन्तवः ॥ ४९ ॥
अनायासेन संसाराद्विमुक्ताः परमर्षयः । भवन्तोऽपि महादेवं महानन्दस्वरूपिणम् ॥ ५० ॥
संसारमोचकं बुद्ध्वा भजध्वं सर्वभावतः । अस्यैव भजनादेव सर्वं सिध्यत्यसंशयम् ॥ ५१ ॥
इति श्रुत्वा द्विजाः सर्वे श्रद्धया परया सह ।
प्रणम्य सूतं सर्वज्ञं पूजयामासुरद्भुतम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे मोचककथनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

आत्माज्ञानेति । आत्मतत्त्वविषयं यदज्ञानं तस्यैव तत्त्वविद्याप्रतिबन्धमपस्माररूपेण प्राप्तस्य पृष्ठे वामपादं[4] दधानमित्यर्थः ॥ ३९-५२ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्डे मोचककथनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

यह ब्राह्मण उनकी शरण गया और उसने महाभक्ति से दण्डवत् प्रणाम किया तथा यथाशक्ति नाना प्रकार से उनकी आराधना की ॥ ४६ ॥ उसने प्रार्थना की 'हे दुःख निवारक रुद्र ! जो आपका दक्षिण मुख है उसके द्वारा मेरी रक्षा कीजिये ।' इस प्रार्थनापूर्वक वह भक्तिवशात् बार बार पूजा करता रहा ॥ ४७ ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत् में (४.२१) यह मन्त्र है 'अजात इति कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते । रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥' जैसे 'अधीहि भगवो ब्रह्म' यह गुरु से उपदेश ग्रहण की प्रार्थना प्रसिद्ध है वैसे ज्ञानार्थ शिव की शरणागति लेने वालों के लिये यही प्रार्थना उपयोगी है । उपदेश में कुशल होने से शिव का मुख दक्षिण कहा गया है । किंच सद्योजातादि पाँच मुखों में अघोर नामक मुख दक्षिण में पड़ता है । घोर संसार से छुड़ाने की प्रार्थना अघोर से करना संगत है।) दक्षिणामूर्ति महादेव ने कृपाकर उस ब्राह्मण को आत्मज्ञान दे दिया और इस प्रकार उसका संसारप्रबन्ध में परिभ्रमण सदा के लिये समाप्त कर दिया ॥ ४८¹/₂ ॥ यही नहीं, बहुत से जन्मादिशील मुमुक्ष जीवों ने दक्षिणामूर्ति की कृपा से ही अनायास मोक्ष पाया है ॥ ४९¹/₂ ॥ आप लोग भी महादेव को ही संसारमोचक जानिये और महानन्दस्वरूप उन्हीं का सब तरह से भजन कीजिये । इनकी सेवा से ही सब इष्ट सिद्ध होते हैं ॥ ५०–५१ ॥

यह सुनकर सब मुनियों ने परम श्रद्धापूर्वक सूतजी को प्रणाम किया व उनका विशिष्ट सत्कार किया ॥ ५२ ॥

---

१. ङ. °म् ॥ शंकरं दक्षिणामूर्तिं ज° । २. दक्षिणाप्रदमूर्तिः दक्षिणामूर्तिः । दक्षिणा ब्रह्मधीः 'शेमुषी दक्षिणे'तिश्रुतेः । यां मूर्तिं दधानो भगवान् सनकादिभ्योऽन्येभ्यश्च तत्त्वज्ञानं ददाति सैवैवमुच्यते । ३. ङ. °त्वा ब्रह्मवि° । ४. क. ख. ग. घ. °ददान° ।

पञ्चमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि तवाहं मोचकप्रदम् ।
अतीव श्रद्धया सार्धं शृणु पङ्कजलोचन ॥ १ ॥
आचार्य एव संसारमोचकप्रद उच्यते । आचार्यो नाम [1]वेदान्तविचारेणाऽऽप्तवेदनः ॥ २ ॥
तमप्यनेकधा विद्धि श्रद्धया पुरुषोत्तम । उत्तमो मध्यमस्तद्वदधमश्चाम्बुजेक्षण ॥ ३ ॥
उत्तमो ब्राह्मणः प्रोक्तो मध्यमः क्षत्रियस्तथा ।
अधमो वैश्य इत्युक्तः सर्वशास्त्रार्थवेदिभिः ॥ ४ ॥
अधमोऽच्युत वैश्यस्य शूद्रस्यापि गुरुर्भवेत् ।
मध्यमो मध्यमस्यापि तथा वैश्यस्य केशव ॥ ५ ॥
शूद्रस्यापि गुरुः प्रोक्तः शुश्रूषोरात्मवेदिभिः ।
उत्तमो ब्राह्मणस्यापि क्षत्रियस्य तथैव च ॥ ६ ॥
विशां शूद्रस्य शुश्रूषोर्गुरुरित्युच्यते मया ।
शूद्राणां च तथा स्त्रीणां गुरुत्वं न कदाचन[2] ॥ ७ ॥

यत ईश्वरोऽप्याचार्योपदेशादवगत एव मोचको भवति अतो मोचकाभिधानानन्तरं मोचकप्रदमाचार्यं वक्ष्यामीत्याह— अथात इति ॥ १ ॥ आचार्य एवेति । ईश्वरः संसारमोचक इति यद्यपि श्रुतिस्मृतिपुराणादिभिरपि ज्ञातुं शक्यते तथाऽपि तत्स्वरूपमाचार्यमुखादेव ज्ञातं फलपर्यन्तं भवतीति तथैव ज्ञातव्यम् । श्रूयते हि—'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' इति ॥ २ ॥ ३ ॥ यद्यपि 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरि'ति[3] क्वचिद्ब्राह्मणस्यैव गुरुत्वं स्मर्यते तथाऽपि श्रुतिस्मृत्यन्तरपर्यालोचनया समनन्तरवक्ष्यमाणविभागेनेतरेषामस्तीत्यभिप्रेत्योक्तम्—सर्वशास्त्रेति ॥ ४-७ ॥

मोचकप्रद-कथन नामक पाँचवा अध्याय

भगवान् शंकर ने अगले प्रश्न का उत्तर यों प्रारम्भ किया—हे कमलनयन ! अब मैं मोचकप्रद के विषय में बताता हूँ, तुम श्रद्धापूर्वक सुनो ॥ १ ॥

आचार्य ही मोचकप्रद हैं । (मोचक शिव के स्वरूप का ज्ञान देने वाला गुरु ही मोचकप्रद है) । आचार्य भी वह है जिसने वेदान्तविचार द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है ॥ २ ॥ उत्तम, मध्यम व अधम भेद से आचार्य नाना प्रकार के होते हैं ॥ ३ ॥ ब्राह्मण उत्तम आचार्य होते हैं । क्षत्रिय मध्यम व वैश्य अधम आचार्य बनते हैं । (यहाँ आत्मविद्या का ही प्रसंग है । वेदाध्यापनादि में केवल ब्राह्मण समर्थ हैं, किंतु अन्य विद्यायें अन्य लोग अपनी अपनी परम्पराओं से सीख-सिखा सकते हैं । आत्मविद्या भी चाहे कोई बता सकता है यदि वह स्वयं वेदान्तविचार द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर चुका है । तथापि क्षत्रियादि नीच वर्ण वाले से ब्राह्मणादि उत्तम वर्ण वाले को विद्या तब ही ग्रहण करनी चाहिये जब उत्तम वर्ण वाला उस विद्या का शिक्षक उपलब्ध न हो । और विद्याग्रहण काल से अतिरिक्त काल में नीच वर्ण वाले शिक्षक

---

१. श्रोत्रियत्वमाह—वेदान्तेति । ब्रह्मनिष्ठत्वं च ब्रूते—आप्तेति । २. आपद्यपीत्यर्थः । स्वपुत्रान्प्रति मातुर्गुरुत्वं तु संमतमेव । 3. ङ. °रित्युक्तं तद्ब्रा° ।

वैश्यस्यापि तथा राज्ञो विद्योत्कर्षबलेन च ।
गुरुत्वं केचिदिच्छन्ति[1] स्वोत्तमं प्रति केशव ॥ ८ ॥
उत्तमः पञ्चधा प्रोक्तो गुरुर्ब्रह्मात्मवेदिभिः ।
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ॥ ९ ॥
अतिवर्णाश्रमी चेति क्रमाच्छ्रेष्ठा विचक्षण ।
अश्रेष्ठानां हरे श्रेष्ठा गुरवः परिकीर्तिताः ॥ १० ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थस्य वनस्थस्य[2] यतेरपि ।
विद्योत्कर्षबलेनैव गुरुर्भवति नान्यथा ॥ ११ ॥
गृहस्थोऽपि वनस्थस्य यतेरप्यम्बुजेक्षण ।
विद्योत्कर्षबलेनैव गुरुर्भवति नान्यथा ॥ १२ ॥
वानप्रस्थाश्रमस्थोऽपि तथा संन्यासिनां हरे । विद्योत्कर्षबलेनैव गुरुर्भवति नान्यथा ॥ १३ ॥

राज्ञो गुरुत्वं केचिदिति । बृहदारण्यके दृप्तबालाकेर्ब्राह्मणस्य क्षत्रियमजातशत्रुं प्रति 'स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानी' त्युपगमाभिधानदर्शनात्तथा कैकेयं क्षत्रियं प्रति प्राचीनशालादीनां षण्णां मुनीनां वैश्वानरविद्यालाभायोपगमप्रवृत्तिदर्शनात्[3], उत्तमं ब्राह्मणं प्रत्यपि विद्योत्कर्षवतः क्षत्रियस्य गुरुत्वमस्तीति तेषामाशयः । अन्ये[4] तु 'प्रतिलोमं वै तद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयात्, ब्रह्म मे वक्ष्यतीति । व्येव त्वा ज्ञापयिष्यामि' इति क्षत्रियेणाजातशत्रुणा गुरुत्वमङ्गीकृत्य[5] गार्ग्यं प्रति विज्ञापनदर्शनात्तथा प्राचीनशालादीनपि कैकेयेन 'तान्हानुपनीयैवैतदुवाच' इति उपसदनमन्तरेणैव वैश्वानरविद्याभिधानदर्शनादुत्तमेनाभिहितमपि गुरुत्वं क्षत्रियादिना नाङ्गीकर्तव्यमिति मन्यन्ते । अत उक्तं केचिदिति ॥ ८-१३ ॥

के प्रति उच्च वर्ण वाले को प्रणामादि नहीं करना चाहिये । तात्पर्य है कि आत्मविद्या का इतना अधिक महत्त्व है कि वर्णकृत श्रेष्ठता को उसके ग्रहण में आड़े नहीं आना चाहिये । इसका उदाहरण स्वयं सूत जी हैं जिनसे ब्राह्मणादि मुनि विद्याग्रहण कर ही रहे हैं ।) ॥ ४ ॥ अधम अर्थात् वैश्य दो वर्ण वालों का गुरु हो सकता है—शूद्र का और वैश्य का । मध्यम अर्थात् क्षत्रिय तीन वर्ण वालों का गुरु हो सकता है—शुश्रूषु शूद्र का, वैश्यका और क्षत्रिय का । उत्तम अर्थात् ब्राह्मण चारों वर्ण वालों का गुरु हो सकता है । शूद्र तथा स्त्रियाँ कभी गुरु हों यह संमत नहीं है ॥ ५–७ ॥ हे केशव ! कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि यदि अधिक विद्वत्ता हो तो वैश्य और क्षत्रिय अपने से उत्तम वर्ण वाले के भी गुरु हो सकते हैं ॥ ८ ॥ (व्यवस्था पूर्वोक्त ही है—आपत्काल में उत्तमवर्ण वाला अधम वर्ण वाले की तात्कालिक गुरुता स्वीकार कर उससे विद्या ले सकता है । समान व अधम वर्ण वाला आपत्काल के विना भी विद्या ले सकता है और यावज्जीवन उसे गुरु माने, यह आवश्यक है ।)

उत्तम गुरु पाँच प्रकार के बताये गये हैं । वे हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी और अतिवर्णाश्रमी । ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ॥ ९$^1/_2$ ॥ श्रेष्ठ अश्रेष्ठों के गुरु होते हैं ॥ १० ॥ विद्या का उत्कर्ष होने पर यहाँ

---

१. ङ. °न्ति सोत्त° । २. ङ. °स्थश्च य° । ३. ङ. °त् कैकेयं क्षत्रियमुत्त° । ४. ङ. अन्यथेति । ५. गार्ग्यस्यैवेति शेषः । तिष्ठ त्वमाचार्यपद एव, त्वां शिष्यमकृत्वापि बोधयिष्यामीति राज्ञोऽभिप्रायः ।

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम् ।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तम ॥ १४ ॥
अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते ।
तत्समो नाधिकश्चास्मिँल्लोकेऽस्त्येव न संशयः ॥ १५ ॥
यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विभिन्नं सर्वसाक्षिणम् ।
पारमार्थिकविज्ञानसुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥ १६ ॥
परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
यो वेदान्तमहावाक्यश्रवणेनैव केशव ॥ १७ ॥
आत्मानमीश्वरं वेद सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
योऽवस्थात्रयनिर्मुक्तमवस्थात्रयसाक्षिणम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यादीनामाश्रममात्ररूपत्वात्स्वोत्तमं प्रत्यपि विद्योत्कर्षसंभवे गुरुत्वमङ्गीकृतम् । वर्णाश्रमातिक्रमस्तु निरतिशयज्ञानोत्कर्ष एवेति तद्वन्तमपेक्ष्य कस्यापि विद्योत्कर्षाभावात्स गुरुरेव न शिष्य इत्याह–अतिवर्णाश्रमीति ॥ १४ ॥ १५ ॥ प्रतिज्ञातं तस्य सर्वोत्कर्षमुपपादयितुं तल्लक्षणमाह–यः शरीरेति ॥ १६ ॥ विजानाति विशेषेण जानाति साक्षात्करोतीत्यर्थः । इत्थंभूतो हि लोकसंग्रहाय वर्णाश्रमधर्मानाचरन्ननाचरन्वा सर्वोत्तमत्वेन गुरुरेवेत्यर्थः । तादृशस्यापि हि तदाचरणं भवति । 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत । कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' इति ॥ यो वेदान्तेति। 'तं त्वौपनिषदम्' इति श्रुतेः ॥ १७ ॥ परतत्त्वसाक्षात्कारस्य मनननिदिध्यासनाङ्गनिबन्धनत्वाद्वेदानधिकृतानां भाषादिमुखेन ज्ञानमपि क्रमेण वेदाधिकारप्राप्तिद्वारेणैवोपकारकमिति हि प्रागुक्तम्–'अन्येषामपि सर्वेषां ज्ञानाभ्यासो विधीयते । भाषान्तरेण कालेन तेषां सोऽप्युपकारकः' इति । तमेवाऽऽत्मवेदनक्रममाह–योऽवस्थेति ॥ १८ ॥

भी व्युत्क्रम हो सकता है अर्थात् ब्रह्मचारी गृहस्थादि का भी गुरु हो सकता है । ऐसे ही गृहस्थादि में समझना चाहिये ॥ ११–१३ ॥ अतिवर्णाश्रमी तो सभी अधिकारियों का गुरु ही होता है, किसी का शिष्य नहीं होता । इसमें मैं शंकर ही दृष्टान्त हूँ ॥ १४ ॥ अतिवर्णाश्रमी गुरुओं का भी गुरु है । उसके समान या उससे बढ़कर संसार में कोई नहीं है ॥ १५ ॥

शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न, सबके साक्षी, पारमार्थिक विज्ञान व सुख रूप, स्वप्रकाश परात्मतत्त्व का जिसको निर्भ्रान्त अनुभव है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ १६½ ॥ जिस अत्युत्तमाधिकारी ने वेदान्त महावाक्यों के श्रवण से ही अपना ईश्वर से अभेद समझ लिया, वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ १७½ ॥ तीनों अवस्थाओं से रहित और तीनों अवस्थाओं के साक्षी महादेव को जो निजस्वरूप जानता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ १८½ ॥ जिसका यह अचल निश्चय होता है कि वर्ण आश्रम आदि माया द्वारा शरीर में कल्पित हैं, ज्ञानरूप मुझ आत्मा के वे कभी नहीं हैं वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ १९–२० ॥ जिसने वेदान्तों से यह अनुभव प्राप्त कर लिया है कि मेरी संनिधि से संसार की सब चेष्टायें उसी प्रकार होती हैं जैसे सूर्य की संनिधि

महादेवं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् । वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥ १९ ॥

नाऽऽत्मनो बोधरूपस्य[1] मम ते सन्ति सर्वदा ।

इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ २० ॥

आदित्यसंनिधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु । तथा मत्संनिधावेव चेष्टते सकलं जगत् ॥ २१ ॥

इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् । सुवर्णे हारकेयूरकटकस्वस्तिकादयः ॥ २२ ॥

कल्पिता मायया तद्वज्जगन्मय्येव सर्वदा ।

इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ २३ ॥

शुक्तिकायां यथा तारं कल्पितं मायया तथा । महदादि जगन्मायामयं मय्येव कल्पितम् ॥ २४ ॥

देह इति । देहसंबन्धोपाधिनिबन्धना आत्मनि कल्पिताः ॥ १९ ॥ बोधात्प्राक्कल्पनया सन्तोऽपि वस्तुतो न सन्ति, बोधोत्तरकाले [2]त्वनुभवतोऽपीति सर्वदेत्युक्तम् ॥ २० ॥ नन्ववस्थात्रयविरहे स्वस्याऽऽत्मनोऽकर्तृत्वादीश्वरस्य च जगत्कर्तृत्वात्कथमात्मानमीश्वरं वेदेति ? तत्राऽऽह—आदित्येति । य ईश्वरोऽपि[3] वस्तुतो न कर्ता तस्मिन्नधिष्ठाने सव्यापारस्य जगतः कल्पितत्वादेव तस्य जगत्कर्तृत्वव्यवहारः । यथाऽऽदित्यस्य संनिधौ लोकस्य प्रवृत्तिदर्शनादप्रवर्तकेऽप्यादित्ये प्रवर्तकत्वव्यवहारस्तद्वत् ॥ २१ ॥ परस्परव्यावृत्तं चेत्यं सर्वमनुवृत्ते चिद्रूपे कल्पितमित्यत्र निदर्शनमाह—सुवर्ण इति । श्रूयते हि—'चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च' इति ॥ २२ ॥ २३ ॥ महदादीनामपि सति प्रमातर्यबाध्यत्वे[4] सत्यत्वमिति मन्यमानं प्रति, सत्येव प्रमातरि[5] बाध्यमानं शुक्तिरूप्यमुदाहरति—शुक्तिकायामिति ॥ २४ ॥

से चोर व साहूकार आदि सब लोगों की प्रवृत्तियाँ होती हैं (मैं वैसे ही सब चेष्टाओं से अस्पृष्ट हूँ जैसे सूर्य), वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ २१½ ॥ वेदान्तविचार के फलस्वरूप जिसका यह अनुभव है कि सारा जगत् मुझ में वैसे ही कल्पित है जैसे सोने में विविध गहने कल्पित होते हैं वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ २२–२३ ॥ जिसका उपनिषल्लभ्य निश्चय यह होता है कि सींप में चाँदी की तरह महत्तत्त्व आदि सारा मायामय जगत् मुझ अविकृत अधिष्ठान में ही कल्पित है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ २४½ ॥ अतिवर्णाश्रमी वह होता है जिसका अकम्प निश्चय बना रहे कि पशु आदि व चाण्डाल के शरीर से लेकर ब्रह्मा के शरीर पर्यन्त अन्य वस्तुएँ चाहे तारतम्य से स्थित हों किंतु सब सम्बन्धों से रहित महादेव आकाश की तरह सबमें एक रूप से स्थित हैं और वे महादेव मैं ही हूँ ॥ २५–२७ ॥ वेदान्तानुभव के पश्चात् जिसे यह भान बना रहे कि जैसे दिग्भ्रम नष्ट हो जाने पर भी दिशायें दीखती पूर्ववत् ही रहती हैं वैसे आत्मज्ञान

---

१. घ. पत्वान्मम । २ क. ग. °नुभवेऽपी° । ङ. °नुभावेऽपी° । ३. सोपीति योज्यम् । यद्वा यो वेदेत्युत्तरस्य पूर्वार्धमिहान्वितमिति सूचयितुं यइति प्रतीकग्रहणम् । ४. ग. ङ. °त्वेन स° । ५. प्रमातृसत्त्वं न विषयसत्त्वप्रयोजकतां भजत इत्यभिप्रायः । दृष्टोपेक्षिते च रज्जुसर्पादौ सति प्रमातरि वर्ततेऽबाध्यत्वं न च सत्यत्वमिति तव व्यभिचारश्च । एवं देहाद्यभिमानेऽपि ज्ञेयम् ।

इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् । चण्डालदेहे पश्वादिशरीरे ब्रह्मविग्रहे ॥ २५ ॥
अन्येषु तारतम्येन स्थितेषु पुरुषोत्तम । व्योमवत्सर्वदा व्याप्तः सर्वसंबन्धवर्जितः ॥ २६ ॥
एकरूपो महादेवः स्थितः सोऽहं परामृतः ।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ २७ ॥
विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्मे भाति तन्नहि ॥ २८ ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः॥ २९ ॥
तथा जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि परमायाविजृम्भितः ।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ ३० ॥

एकस्मिन्नेव रूपे विचित्रं वस्तु यथा कल्पितं तथा तदुपाधिकं[1] तारतम्यमपीत्यत्र निदर्शनमाह—**चण्डालदेह** इति ॥ २५ ॥ सूचीपाशादिसंबन्धे तदुपाधिकं तारतम्यमाकाशे यथा कल्पितं तद्वदित्यर्थः ॥ २६ ॥ २७ ॥ नन्वतिवर्णाश्रमस्य तत्त्वज्ञानेन सकार्यस्याज्ञानस्य निवृत्तौ शिष्यमपश्यतः कं प्रति गुरुत्वं ? शिष्यप्रतिभाने वा तत्कारणमज्ञानमनु[2]भवन्नासौ विद्वानिति चेन्न । विदुषोऽपि बाधितानुवृत्तिसंभवादित्यभिप्रेत्य तत्र निदर्शनमाह—**विनष्टेति** । तिस्रो ह्यज्ञानस्यावस्थाः । एका तावद् दृश्यं सर्वं सत्यमित्यभिमानहेतुः । सा युक्तिशास्त्रजनिताद्विवेकज्ञानान्निवर्तते । तन्निवृत्तावपि यथापूर्वमभिनिवेशेन व्यवहारहेतुः द्वितीया, सा तत्त्वसाक्षात्कारान्निवर्तते । तन्निवृत्तावपि संस्कारमात्रेण [3]देहाभासजगदवभासहेतुः तृतीया[4] बाधितानुवृत्तिरित्युच्यते । सा चरमसाक्षात्कारेण निवर्तते । एतदवस्थात्रयं क्रमेणैव श्रूयते—'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति । तत्र तृतीयकक्षायां स्थितस्यातिवर्णाश्रमस्य विदुषोऽपि शिष्यादिदर्शनादुपदेशसंभवाद् ग्रहनक्षत्रगत्यादिदर्शनान्निवृत्तोऽपि दिङ्मोहः संस्कारमात्राद्यथा भासत एवमिह संस्कारमात्राच्छिष्यादि[5]भावादुपदेशोपपत्तिर्द्वैताभावस्य युक्तिशास्त्रानुभवैरवधृतत्वाद्विद्वत्ताऽपीत्यर्थः ॥ २८ ॥ ननु बाधितस्य कथमनुवृत्तिः । अनुवृत्तौ वा कथं बाधः । अभावबोधो हि बाधः । न च भावेन सहाभावो बोधार्हः ? इत्यत आह—**यथा स्वप्नेति** । बोधोत्तरकालं बाधितः स्वप्नप्रपञ्चः प्रागप्यसत्त्वेन प्रतीयमानोऽपि प्राक्कालसंबन्धितया स्मृत्या यथा विषयी क्रियते, एवं वर्तमानप्रपञ्चोऽसत्त्वेनानुभूयमानोऽपि संस्कारवशात्तत्कालसंबन्धितया किं न भासेतेत्यर्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥

से बाधित हो चुका जगत् मुझे प्रतीत भले ही हो रहा है पर है सर्वथा नहीं, वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ २८½ ॥ जैसे मायावश स्वप्न प्रपंच मुझमें कल्पित होता है वैसे जाग्रत्प्रपंच भी परमेश्वर की माया से परमेश्वर में ही कल्पित है (और वह परमेश्वर मैं हूँ)—यों जिसने वेदान्तों से जान लिया है वह अतिवर्णाश्रमी होता है ॥ २९—३० ॥ निजस्वरूप के परिज्ञान के कारण देहादि में अभिमान न रह जाने से जो वर्ण

---

१. ग. घ. ङ. °धिकता° । २. क. ख. ग. °भवंस्तेनासौ । ३. घ. देहभा° । ४. द्वितीयनिवृत्तौ देहादिः सत्यवद्भाति ज्ञानवलेन च बाध्यते । अत्र तु बाधितस्यैवानुभवइति विशेषः । पूर्वमपि (३.२. ५४) तिस्रो मायावस्था दर्शिताः । ५. ख. ग. घ. °भानादु° ।

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान्सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥ ३१ ॥
योऽतीत्य स्वाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदान्तवेदिभिः ॥ ३२ ॥
न देहो नेन्द्रियं प्राणो न मनो बुद्ध्यहंकृती ।
न चित्तं नैव माया च न च व्योमादिकं जगत् ॥ ३३ ॥
न कर्ता नैव भोक्ता च न च भोजयिता तथा ।
केवलं चित्सदानन्दं ब्रह्मैवाऽऽत्मा यथार्थतः ॥ ३४ ॥
जलस्य चलनादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः । तथाऽहङ्कारसंबन्धादेव संसार आत्मनः ॥ ३५ ॥
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि केशव ।
आत्मन्यारोपिता एव भ्रान्त्या ते नाऽऽत्मवेदिनः[1] ॥ ३६ ॥

ननु वर्णाश्रमाचारातिक्रमश्चेदित्थमुत्कर्षकारणं, जितं पाषण्डैरित्यत आह—यस्य वर्णाश्रमेति । तत्त्वसाक्षात्कारेण विगलितदेहाद्यात्मत्वाभिमानो देहेन सहैव तद्धर्माणां वर्णाश्रमाणामतिक्रमादतिवर्णाश्रमी । ईदृक्परमकाष्ठामप्राप्तोऽपि नास्तिकः प्रमादालस्यादिभिस्त्यजन्नकरण-निमित्तप्रत्यवायोपचयादधः पतति । अत एव हि प्रागत्रैवोक्तम्—'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण महेश्वरः । आराध्यते प्रसादार्थं न दुर्वृत्तैः कदाचन' इति । प्राप्तप्रसादस्त्वतिवर्णाश्रमीति महद्वैषम्यम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ उक्तस्यातिवर्णाश्रमस्यानुभवं विशदयति—न देह इत्यादिना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ तत्त्वविषयं तदीयमनुभवप्रकारमुक्त्वा दृश्यविषयमिदानीमाह—जलस्येति । आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं पश्यन्नप्यौपाधिकभ्रमकल्पितत्वादसत्त्येनैव स पश्यतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

व आश्रम प्रयुक्त किसी आचार का पालन नहीं करता वह वर्ण व आश्रम को लाँघ कर स्वरूपस्थित होता है । जो पुरुष निज आश्रम व वर्ण को इस प्रकार (—देहाद्यभिमानशून्य होकर)लाँघ कर स्वरूपस्थित है वह वेदान्तवेत्ताओं द्वारा अतिवर्णाश्रमी कहा जाता है ॥ ३१—३२ ॥ उसे यों अनुभव होता है—देह, इंद्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, माया, आकाशादि जगत्, कर्ता, भोग करने वाला, भोग कराने वाला आदि सब कुछ है ही नहीं, केवल ज्ञान, सत् और आनन्दरूप व्यापक मैं आत्मा ही वस्तुतः हूँ ॥ ३३—३४॥ जैसे जल के हिलने से तत्प्रतिबिंबित सूर्य में चंचलता का अनुभव होता है वैसे अहंकार के संबंध से ही (तादात्म्याध्यास से ही) आत्मा के संसरण का अनुभव होता है ॥ ३५ ॥ अत एव अन्यत्र अर्थात् शरीरादि के धर्मभूत वर्णाश्रमादि भ्रमवश आत्मा पर आरोपित कर लिये जाते हैं । जिसने आत्मस्वरूप समझकर वह भ्रम हटा लिया है उसके लिये उनकी सत्ता ही नहीं है ॥ ३६ ॥ आत्मज्ञानी के लिये विधि, निषेध, वर्ज्य, अवर्ज्य आदि कुछ भी नहीं है ॥ ३७ ॥ जो मरणधर्मा मनुष्य माया से मोहित होते हैं वे आत्मज्ञानी की ऐश्वर निष्ठा को कभी नहीं जान

[1] घ. °दिभिः ॥ ३६ ॥ त° ।

न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
आत्मविज्ञानिनामस्ति तथा नान्यज्जनार्दन ॥ ३७ ॥
आत्मविज्ञानिनो[1] निष्ठामीश्वरीमम्बुजेक्षण ।
मायया मोहिता मर्त्या नैव जानन्ति सर्वदा[2] ॥ ३८ ॥
न मांसचक्षुषा निष्ठा ब्रह्मविज्ञानिनामियम् ।
द्रष्टुं शक्या स्वतः सिद्धा विदुषः सैव केशव ॥ ३९ ॥
यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी । प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तस्तत्र केशव ॥ ४० ॥
एवमात्मानमद्वंद्वं निर्विकल्पं निरञ्जनम् । नित्यं शुद्धं निराभासं संविन्मात्रं परामृतम् ॥ ४१ ॥
यो विजानाति वेदान्तैः स्वानुभूत्या च निश्चितम् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी नाम्ना स एव गुरुरुत्तमः ॥ ४२ ॥

वर्णाश्रमयोः कल्पितत्वेन तदुपजीविनोर्विधिनिषेधयोस्तदधीनयोर्हानोपादानयोश्च तथात्वमित्याह—**न विधिरिति** । **तथा नान्यदिति** लौकिकव्यापारजातमपि ॥ ३७ ॥ इत्थमियं निष्ठा प्रशस्ता चेत्किमिति सर्वैर्नाऽऽश्रियत इत्यत आह—**आत्मविज्ञानिन इति** । श्रूयते हि—'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' इति ॥ ३८ ॥ **न मांसेति** । यतो मायामोहितानां मांसमयं चक्षुर्दर्शनसाधनमियं तु निष्ठा स्वानुभवैकवेद्येत्यर्थः ॥ ३९ ॥ **यत्र सुप्ता इति** । तत्त्वस्वरूपे **जना नित्यं सुप्तास्तत्र संयमी नित्यं प्रबुद्धः** । **यत्र** दृश्यप्रपञ्चे लोकाः **प्रबुद्धास्तत्र विद्वान्सुषुप्तः** । उक्तं हि भगवता—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' इति ॥ ४० ॥ **निर्विकल्पं** विक्षेपरहितं, **निरञ्जनम्**आवरणरहितम् ॥ ४१ ॥ यस्य न शब्दज्ञानमात्रं किंत्वनुभवपर्यन्तमपीत्याह—**स्वानुभूत्येति** ॥ ४२ ॥

सकते ॥ ३८ ॥ वह निष्ठा मांसमयी चक्षु का विषय तो हो नहीं सकती । वह विद्वान् को स्वानुभवसिद्ध है ॥ ३९ ॥ अज्ञानी जन जिस विषय में मानो सोये हुए हैं, ज्ञानी उसी के विषय में जागरूक है और जिस संसारविषय में विद्वान् मानो सो चुका है, अज्ञानी उसी में जाग रहे हैं । (अतः दोनों का तालमेल असंभव है) ॥ ४० ॥ जिसने अद्वितीय, विक्षेपशून्य, निरावरण, नित्य, शुद्ध, निर्भ्रान्त, परम, अमृत आत्मा को वेदान्तों से समझा तथा स्वानुभव से निश्चित किया है उसी का नाम है अतिवर्णाश्रमी और वही उत्तम गुरु है ॥ ४१–४२ ॥ वही वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ है, वह मोचकप्रद है, वस्तुतः वह स्वयं ही मोचक है क्योंकि

---

१. ग. °ज्ञाननिष्ठानामीदृशीम° । घ. °ज्ञानिनां निष्ठामीदृशीम° । २. तदुक्तं—काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोरिति । भगवतापि या निशेत्यादिना ।

स एव वेदवित्तमः स एव मोचकप्रदः । स एव सर्वमोचकः स एव सर्वकारणम् ॥ ४३ ॥
स एव सत्यचिद्घनः स एव मुक्तिरुत्तमा । स एव सर्वमुक्तिदः स एव सर्वमच्युत ॥ ४४॥
इति तव परमार्थः सर्ववेदान्तसिद्धः सकलमुनिवराणां देवतानां नराणाम् ।
परमपुरुष साक्षान्मुक्तिसिद्ध्यै मयोक्तः परमकरुणयैव प्रार्थितेन त्वयैव ॥ ४५ ॥
सूत उवाच– एवं निशम्य भगवान्वासुदेवो जगन्मयः ।
स्वमूर्ध्नि चरणद्वंद्वं शिवस्य परमात्मनः ॥ ४६ ॥
विन्यस्य ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तोक्तं विमुक्तिदम् ।
लब्ध्वा भूमौ महाभक्त्या विवशो गद्गदस्वरः ॥ ४७ ॥
प्रणम्य बहुशः श्रीमान्सलिलार्द्रसुलोचनः । कृतार्थोऽभवदीशानप्रसादादेव सुव्रताः ॥ ४८ ॥
भवन्तोऽपि द्विजा एवं श्रद्धया मोचकप्रदम् ।
विदित्वा तस्य शुश्रूषां कुरुध्वं यत्नतः सदा ॥ ४९ ॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्य प्रोक्ता द्विजा ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे मोचकप्रदकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वेदवित्तम इति । कर्मज्ञानवन्तोऽपि वेदविदः । वेदवित्तमस्त्वौपनिषंदतत्त्वज्ञानवानेव । यज्जगन्मूलकारणं तत्त्वज्ञानप्रदानेन मोचक ईश्वरो यश्च तमीश्वरं ज्ञापयति मोचकप्रद आचार्यस्त्रितयविभागोऽप्यविद्वद्दृष्ट्यैव । विदुषस्तु भेदहेतोरज्ञानस्य विनाशात्सोऽपि विभागोऽपि नास्तीत्याह–स एव सर्वमोचक इत्यादि ॥ ४३ ॥ न केवलमस्य मायोपाधिकं जगत्कारणत्वं किंतु मायातीतसच्चिदानन्दैकरसत्वमपीत्याह–स एव सत्येति । ननु मुक्तेरसत्यत्वे तदवाप्तेरपुरुषार्थत्वादन्यत्वे वा कथं स एव सत्यमित्युक्तमित्यत आह–स एव मुक्तिरिति । यद्यपि सालोक्यादिकमपि मुक्तिस्तथाऽपि तन्मायावस्थाविशेष एव । उत्तमा तु मुक्तिः स्वरूपमेव । यदाहुः – 'आत्मैवाज्ञानहानिर्वा' इति । अन्यत्रापि–'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः । उपलक्षणहानेऽपि स्यान्मुक्तिः पाचकादिवत्' इति ॥ एवं तत्त्वदृष्ट्याऽतिवर्णाश्रमस्य स्वरूपमुक्तम् । मायादृष्ट्या तु भोगप्रदत्वं भोक्तृभोग्यरूपता च तस्यैवेत्याह–स एव सर्वमिति ॥ ४४–५० ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्डे मोचकप्रदकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वही सर्वकारणरूप ईश्वर है ॥ ४३ ॥ सत्य व चिन्मात्ररूप वही है । ब्रह्म रूप कैवल्य मोक्ष भी तत्स्वरूप ही है । सब प्रकार की मुक्तियों का दाता वही है । कहाँ तक कहा जाये ? हे अच्युत ! वही सब कुछ है ॥ ४४ ॥ इस प्रकार तुम्हारी प्रार्थना के अनुसार मैंने सब उपनिषदों में प्रसिद्ध पारमार्थिक विषय तुम्हें बता दिया । मुनियों, देवताओं, व मनुष्यों के–अर्थात् सबके–मोक्ष के लिये यह पर्याप्त विज्ञान है । हे परमपुरुष ! मैंने कृपावश ही तुम्हें इसका उपदेश दिया है ॥ ४५ ॥

सूत जी बोले–यह सुन कर विष्णु भगवान् ने परमेश्वर के चरणों को अपने सिर पर धारण किया और मोक्षफलक वेदान्तज्ञान पाने से हर्षित हो उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया । वे रोमांचित हो उठे । उनका कण्ठ गद्गद हो गया । उनकी आँखों से हर्षाश्रु बहने लगे । वे ईश्वरकृपा से कृतार्थ हो गये थे ॥ ४६–४८ ॥ आप लोग भी श्रद्धापूर्वक मोचकप्रद आचार्य को ढूँढकर प्रयत्नपूर्वक उनकी सेवा कीजिये ॥ ४९ ॥ श्रुति ने बताया है कि महादेव और गुरु में एक समान पराभक्ति वाले महात्मा को ही वेदान्तों में कही बातें समझ आती हैं ॥ ५० ॥

षष्ठोऽध्यायः

ईश्वर उवाच– अथातः[1] संप्रवक्ष्यामि ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ।
शृणु त्वं श्रद्धया युक्तः परिहाराय केशव ॥ १ ॥
शिवद्रोहस्तु विज्ञानानुत्पत्तेर्मूलकारणम् । शिवभक्तापराधश्च शिवज्ञानस्य दूषणम् ॥ २ ॥
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनद्वेषस्तदनुष्ठानवर्जनम् । रुद्राक्षधारणाभावो ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ३ ॥
तव द्रोहस्त्वदीयानां[2] प्रद्वेषश्च जनार्दन । त्वदीयधनवाञ्छा च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ४ ॥
ब्रह्मद्रोहस्तदीयानां प्रद्वेषश्च जनार्दन । तदीयधनवाञ्छा च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ५ ॥
कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहो दम्भस्तथैव च । आलस्यमपि मात्सर्यं ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ६ ॥

यदुपादेयुमुक्त्यादिचतुष्टयस्वरूपज्ञानेऽपि प्रतिबन्धकरूपापरिज्ञाने तत्परिहारो न शक्यः अतस्तदनन्तरं तदभिधानं प्रतिजानीते–अथात इति ॥ १–११ ॥

ज्ञान उत्पन्न न होने के कारणों का कथन नामक छठा अध्याय

(मुख्य प्रश्नों का उत्तर देकर अन्य आवश्यक ज्ञातव्य विषयों को बताने की इच्छा से) भगवान् ने आगे कहा–हे केशव ! अब मैं तुम्हें वे कारण बताता हूँ जिनके रहते परमार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता । इन्हें जानना इसलिये जरूरी है कि इन्हे हटाना या इनसे बचना आवश्यक है और बिना इनका परिचय पाये इन्हें दूर किया नहीं जा सकता । अतः तुम श्रद्धापूर्वक सुनो ॥ १ ॥

आत्मानुभव उत्पन्न न होने का मूल कारण है शिवद्रोह । (जिसके प्रति द्रोह का भाव रहता है मनुष्य उससे दूर रहना चाहता है तथा उसे अपने से दूर रखना चाहता है । शिव से अत्यन्त अभेद स्थापित करना इसीलिये नहीं चाहते कि उनके प्रति द्रोह है–उनसे भिन्न ही बना रहना चाहते हैं, उन्हें अपने से भिन्न ही रखना चाहते हैं । वस्तुतः अपने अहंकार से दृढ तादात्म्य होने से उसके प्रति हमारा अत्यन्त घनीभूत राग ही शिवद्रोह है, जैसा कि कहा गया है 'अशिव से प्रेम ही शिव का विरोध है' । विवेक से अहन्धी से अपने भेद का निश्चय और तत्कृतममत्वप्रयुक्त दुःखबाहुल्य के विचार से उसमें रागशैथिल्य के लिये प्रयास करना अनिवार्य है ज्ञानप्राप्ति के लिये, यह तात्पर्य है ।) शिवभक्तों के प्रति अपराध करना और शिवज्ञान में दोषदृष्टि करना भी ज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबंधक हैं ॥ २ ॥ त्रिपुण्ड्र धारण करने व भस्मोद्धूलन के प्रति विद्वेष और उसका अनुष्ठान न करना, तथा रुद्राक्ष धारण न करना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ ३ ॥ हे जनार्दन ! तुम्हारे प्रति द्रोह करना, तुम्हारे भक्तों से द्वेष करना और तुम्हारे (मंदिर आदि के) धन को हथियाने की इच्छा रखना ज्ञान उत्पन्न नहीं होने देता ॥ ४ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मा के प्रति द्रोह, उनके भक्तों से द्वेष और उनके धन के अपहरण की कामना ज्ञान-प्राप्ति में रुकावट है ॥ ५ ॥ काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, आलस्य और मात्सर्य ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण हैं । (जिस विषय को हम सुख का हेतु समझते हैं उसकी विद्यमानता या अविद्यमानता में उसकी इच्छा को काम कहते हैं । स्वकाल में यह मित्रवत् लगता है, चाहे बाद में ग्लानि भी हो । अपने प्रतिकूल होने वाले जो विषय दुःख के हेतु समझे जाते हैं उनके प्रति होने वाला द्वेष क्रोध है । यह कभी अपने व प्रायः दूसरे के अपकार में प्रवृत्त करता है । कामना के साफल्य का प्रतिबन्ध होने पर इसका उद्भव होता है। जिस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं उसे अन्याय से अपना बनाने की इच्छा लोभ है । कामना में सुखप्राप्ति प्रधान है जब कि लोभ में वस्तु प्राप्ति ही ध्येय है । अथवा स्वकीय वस्तु का आवश्यक संविभाजन न करने की इच्छा लोभ है । ज्ञेय विषय को वैसा समझना जैसा वह नहीं है अर्थात् अविवेक मोह कहा जाता है । वस्तुतः विशेषता वाले न होते हुए स्वयं को विशेषता वाला प्रख्यापित करना दम्भ है । या कपट को भी दम्भ कहते हैं । परकीय सद्गुण के प्रति द्वेष करना या उसके उत्कर्ष को सहन न करना मात्सर्य है । श्रमभीरु होने से निरुत्साह होना आलस्य कहलाता है । तथा हि–'सुखहेतुतया ज्ञाते गृधिः कामोऽभिधीयते । क्रोधस्तु प्रतिकूलेषु

---

१. यतः 'तथैवान्यच्च मे ब्रूही'ति (३.२.२४) प्रार्थितं हरिणाऽत इत्यर्थः । २. भक्तानामित्यर्थः । ते च श्रुतिस्मृत्याज्ञावशवर्तिनः । तेन पूर्वनिन्दितपाञ्चरात्राद्यनुसारिणां व्यावृत्तिरिति ज्ञेयम् ।

धर्माधर्मेश्वरास्तित्वे संदेहश्च तथैव च । तेषामभावबुद्धिश्च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ७ ॥

मातृसंरक्षणाभावो मातृद्रोहश्च केशव । मातृसंतापकारित्वं ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ८ ॥

वेदवेदान्तविद्वेषस्तदध्ययनवर्जनम् । श्रोत्रियस्यापराधश्च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ९ ॥

वेदाङ्गानां च विद्वेषः स्मृतीनां च तथैव च ।
पुराणानां च विद्वेषो भारतस्य तथैव च ॥ १० ॥

तेषामध्येतृविद्वेषस्तेषां बाधश्च केशव । तेषामर्थापहारश्च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ११ ॥

वामपाशुपतादीनामश्रौतानां परिग्रहः । पाञ्चरात्राश्रयश्चापि ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ १२ ॥

शिष्टानामसदारोपः शिष्टसंसर्गवर्जनम् । अशिष्टता च मद्भक्तेर्ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ १३ ॥

दुर्वृत्तैरपि संसर्गो दुर्वृत्तानां च पोषणम् । दुर्वृत्तत्वं च भूनाथ ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ १४ ॥

पितृद्रोहश्च शुश्रूषाभावस्तस्य तथैव च । पितृसंतापकारित्वं ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ १५ ॥

गवां संरक्षणाभावो गवां हिंसा तथैव च । गोप्रचारस्थले बाधो ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ १६ ॥

द्वेषः स्याद् दुःखहेतुषु ॥ अन्यायेन परद्रव्यादित्सा लोभः प्रकीर्तितः । यथाशक्त्यथवा स्वस्याऽसंविभागो ह्यसौ मतः ॥ मोहो ज्ञेयस्याऽन्यथाधीरविवेक इतीरितः । धर्मध्वजित्वं दम्भः स्यात् कपटोऽपि स उच्यते ॥ अन्यस्य तु शुभे द्वेषो मात्सर्यं परिकीर्तितम् । आलस्यं श्रमभीरुत्वादुत्साहप्रतिबन्धनम् ॥) ॥ ६ ॥ धर्म, अधर्म तथा ईश्वर के अस्तित्व में संदेहशील होना या धर्मादि हैं ही नहीं ऐसा निश्चय कर लेना ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता ॥ ७ ॥ माता की सेवा न करना, उसके प्रति द्रोह का भाव रखना या ऐसी चेष्टायें करना कि उसे संताप हो, ज्ञान की उत्पत्ति को रोक देता है ॥ १ ॥ वेद-वेदान्तों के प्रति द्वेषबुद्धि रखना, उनका अध्ययन न करना और वेदाध्येता के प्रति अपराध करना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ ९ ॥ वेदांगों, स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारत के प्रति द्वेष, उनके अध्येताओं से द्वेष, उनका बाध करना (तत्प्रतिपादित विषय को अप्रामाणिक सिद्ध करना या अध्येताओं को कष्ट देना) तथा उनका अर्थ चुरा लेना (शास्त्रोक्त अर्थ को स्वकीयत्वेन ख्यापित कर शास्त्रविरोध करना या अध्येताओं का धन चुरा लेना) ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ १०—११ ॥ श्रौत पथ से भ्रष्ट वाम, पाशुपत आदि तंत्रों का एवं पांचरात्रादि आगमों का अवलम्बन करना ज्ञान उत्पन्न नहीं होने देता ॥ १२ ॥ शिष्ट पुरुषों पर झूठे लांछन लगाना, सत्संग न करना, मेरी भक्ति के प्रति अशिष्टता करना (शिवभक्ति विषयक अश्लीलादि भाषण करना) ज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबंधक है ॥ १३ ॥ दुष्टाचारियों से संबंध रखना, उनका पोषण करना और स्वयं दुष्टाचार वाला होना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ १४ ॥ पिता का द्रोह करना, उनकी सेवा न करना व उन्हें कष्ट पहुँचाना ज्ञानोत्पत्ति में रुकावट डालता है ॥ १५ ॥ गायों की रक्षा न करना, उनकी हिंसा करना व गोचरभूमि के विषय में कोई बाधा डालना ज्ञान-अनुत्पत्ति में कारण है ॥ १६ ॥ प्राणियों के आने-जाने के रास्ते

प्राणिसंचारमार्गस्य निरोधस्तस्य बाधनम् । तत्र कण्टकनिक्षेपो ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ १७ ॥
वृष्टिवातातपक्लेशैर्गृहप्राप्तस्य वर्जनम् । तद्रक्षाऽकरणं चापि ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ १८ ॥
वापीकूपतडागादिबाधस्तज्जलदूषणम् । तथा तज्जलचौर्यं च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ १९ ॥
व्याघ्रचोरादिभीतस्य रक्षणाकरणं तथा । साधूनां भयकारित्वं ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २० ॥
वश्याकर्षणविद्वेषस्तम्भोच्चाटनकारिता । अभिचारक्रिया चापि ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २१ ॥
अक्षद्यूतविनोदश्च नृत्यगीतेषु [1]मोहनम् । अपशब्दप्रयोगश्च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २२ ॥
वर्णाश्रमविशिष्टानामवमानस्तथैव च । तेषां शुश्रूषणाभावो ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २३ ॥
पुत्रमित्रगृहक्षेत्रभ्रातृबन्धुजने रतिः । अरतिर्गुरुपादे च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २४ ॥
अभक्ष्यभक्षणश्रद्धा तथाऽभक्ष्यस्य भक्षणम् । अभक्ष्यभक्षणस्पृष्टिर्ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २५ ॥
परस्त्रीदर्शनश्रद्धा परस्त्रीगमने रतिः । परस्त्रीगमनं चापि ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २६ ॥
स्वस्त्रीदर्शनविद्वेषः स्वस्त्रीदर्शनवर्जनम् । स्वस्त्रीबाधश्च कल्याण ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २७ ॥
गुरोरनिष्टाचरणं गुरोरिष्टविवर्जनम् । गुरोश्च सेवाऽकरणं ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २८ ॥

अश्रौतानामिति । श्रौतं हि पाशुपतं ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वेन महता प्रबन्धेन प्रपञ्चितम् ॥ १२-२१ ॥

में रुकावट डालना या रास्ते में काँटे आदि डालना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ १७ ॥ बरसात, आँधी या धूप से परेशान हो घर आये व्यक्ति को घर में लेने से मना करना और उसकी रक्षा न करना ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता ॥ १८ ॥ बावड़ी, कुआ, तालाब आदि में रुकावट करना, उनके जल को गंदा करना और उनके जल को चुरा लेना ज्ञान-प्राप्ति में प्रतिबंधक हैं ॥ १९ ॥ बाघ, चोर आदि से डरे व्यक्ति की रक्षा न करना व सत्पुरुषों को भयभीत करना ज्ञान-अनुत्पत्ति में कारण है ॥ २० ॥ वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, स्तंभन, उच्चाटन तथा मारण प्रयोग करना ज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबंधक हैं ॥ २१ ॥ पासों से जुआ खेलना, नाच-गान पर मुग्ध हो जाना, अपशब्द का (गालियों का) प्रयोग करना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ २२ ॥ वर्णाश्रमधर्म पालन करने वालों का अपमान व उनकी सेवा न करना ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता ॥ २३ ॥ पुत्र, मित्र, घर, पत्नी, भाई, बन्धु आदि में प्रेम रखना व गुरुचरणों में प्रेम न रखना ज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबंधक है ॥ २४ ॥ जिन वस्तुओं को खाना शास्त्र में निषिद्ध है उनके भक्षण के विषय में श्रद्धा रखना, उन्हें खाना तथा उन्हें खाने वालों का स्पर्श करना ज्ञान उत्पन्न नहीं होने देता । (श्रद्धा अर्थात् जैसे यह निश्चय रखना कि लहसन बड़े फायदे की वस्तु है आदि । स्वयं न खाते हुए भी श्रद्धा रखी जा सकती है) ॥ २५ ॥ दूसरे की पत्नी को देखने की लालसा रखना (या अपनी स्त्री से भिन्न स्त्री को देखने की लालसा रखना), उससे संभोग की इच्छा करना व उससे संभोग कर लेने से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ॥ २६ ॥ अपनी पत्नी को देखना भी न चाहना, उससे मेल-जोल न रखना व उसे कष्ट पहुँचाना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ २७ ॥ गुरु को जो इष्ट न हो ऐसा आचरण करना, जैसा वे चाहते हों वैसा न करना तथा उनकी सेवा न करना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ २८ ॥ ईश्वर, गुरु, वेद और ज्ञान के

---

१. घ. मोदनम् ।

ईश्वरे च गुरौ वेदे[1] ज्ञाने चाभक्तिरच्युत । तथा स्वगुरुसंताने ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ २९ ॥
स्वाचार्याय महाभक्त्या स्वदेहस्यानिवेदनम् । निवेदनं तथाऽन्यस्मै ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ३० ॥
आचार्यनिन्दाश्रवणं तद्बाधस्य च दर्शनम् । विवादश्च तथा तेन ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ३१ ॥
आचार्येऽनीश्वरज्ञानमुपेक्षा च तथैव च । तदुक्तविस्मृतिश्चापि ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ३२ ॥
आचार्ये बालबुद्धिश्च नरबुद्धिस्तथैव च । अशिष्टबुद्धिर्भूनाथ ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ३३ ॥
अशक्तानामरक्षा च तथाऽशक्तापराधनम् । अशक्तानां च निन्दा च ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ३४ ॥
अर्थहीनस्य निन्दा च तथा तस्यापराधनम् । तस्य संकोचसंतुष्टिर्ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ३५ ॥
रूपहीनस्य निन्दा च तथा तस्यापराधनम् । वैरूप्ये तस्य संतुष्टिर्ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् ॥ ३६ ॥
सूत उवाच—एवं महेश्वराद्विष्णुर्ज्ञानानुत्पत्तिकारणम् । श्रुत्वा प्रणामं कृतवान्भक्त्या परमया सह ॥३७॥
भवन्तोऽपि शिवज्ञानसिद्ध्यर्थं मुनिपुंगवाः । परिहृत्यैव वर्तध्वमेतानर्थानशेषतः ॥ ३८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे ज्ञानानुत्पत्तिकारणकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अपशब्देति । 'तस्माद् ब्राह्मणो न म्लेच्छितवै नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः' इति हि श्रूयते ॥ २२-३२ ॥ आचार्ये बालबुद्धिरिति । "शिव एव ह्याचार्यरूपेणानुगृह्णाति" इत्यागमेषु प्रसिद्धम् । यदाह—"योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः" इति । अन्यत्रापि—"गुरुदेवतानामात्मैक्यं संभावयन्समाहितधीः" इति[2] । अतः स मनुष्यबुद्ध्या न ग्राह्यः । अत एव वयसा कनीयानपि ज्यायस्त्वेनैव प्रतिपत्तव्यः । तस्य कृतकृत्यत्वेन वर्णाश्रमविरहेण च कर्तव्याभावाद्विहिताकरणनिमित्तमशिष्टत्वमपि तस्मिन्न मन्तव्यमित्यर्थः ॥ ३३–३८ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानानुत्पत्तिकारणकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

प्रति तथा गुरु की सन्तान के प्रति भक्ति न रखना ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता ॥ २९ ॥ परमभक्ति से अपने आचार्य की सेवा में अपना शरीर नियुक्त न करना व किसी अन्य की सेवा आदि में उसे लगा देना ज्ञान-अनुत्पत्ति में कारण है ॥ ३० ॥ आचार्य की निन्दा सुनना, उन्हें कोई पीडित कर रहा हो और उसके प्रतिकार के आयास के विना उसे देखते रहना तथा आचार्य से विवाद करना ज्ञानानुत्पत्ति में कारण है ॥ ३१ ॥ आचार्य को ईश्वर न समझना, उनकी उपेक्षा करना और उनकी बतायी बातें भूल जाना ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता ॥ ३२ ॥ आचार्य को बच्चा समझना, मनुष्यमात्र समझना या अशिष्ट समझना ज्ञानलाभ में रुकावट है । (वय से आचार्य छोटा हो तो भी उसके प्रति यह दृष्टि नहीं रखनी चाहिये कि वह बालक है । उन्हें ईश्वर मानना चाहिये, मनुष्य ही नहीं । क्योंकि वे वर्णाश्रम से अतीत हैं इसलिये उनकी कई चेष्टायें हमारी मान्यताओं से भिन्न होने पर भी उन्हें अशिष्ट नहीं समझ लेना चाहिये) ॥ ३३ ॥ अशक्तों की (अपाहिज आदि की) रक्षा न करना, उनके प्रति अपराध करना व उनकी निंदा करना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण हैं ॥ ३४ ॥ धनहीन की निंदा करना, उसके प्रति अपराध करना और उसके लज्जितहोने पर स्वयं संतोष का अनुभव करना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने देता ॥ ३५ ॥ कुरूप की निंदा करना, उसके प्रति अपराध करना (अर्थात् उसे अपने रूप के निमित्त अपमान आदि कष्ट हो ऐसी चेष्टायें करना) व उसकी कुरूपता से संतुष्ट होना ज्ञान की अनुत्पत्ति में कारण है ॥ ३६ ॥

सूत जी बोले—विष्णु ने भगवान् से इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न न होने में कारणों को समझकर परम भक्ति से उन्हें प्रणाम किया ॥ ३७ ॥ हे मुनिपुंगवो ! आप लोग भी शिवज्ञानप्राप्ति के लिये इनसे बचते हुए ही साधना कीजिये ॥ ३८ ॥

---

१ घ. देवं । २ आचार्योऽपि '....ईशः स्वयं साक्षाच्छ्रीगुरुरूपमेत्य कृपया.....विबोध्य तारयति.....' इति सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहे (श्लो. २५४) ।

सप्तमोऽध्यायः

ईश्वर उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि तवाहं पुरुषोत्तम । विद्वच्छुश्रूषणपरं शृणु श्रद्धापुरःसरम ॥ १॥
पुरा कश्चिद्द्विजश्रेष्ठः शशिवर्णसमाह्वयः । पाकयज्ञसमाख्यस्य तनयः पापकर्मकृत् ॥ २ ॥
तमोभिभूतचित्तश्च ब्रह्मविज्ञानदूषकः । वेदनिन्दापरः सर्वप्राणिहिंसापरोऽधमः ॥ ३ ॥
शिवनिन्दापरः सर्वदेवतादूषकः सदा । धर्मनिन्दापरस्तद्वद्धार्मिकस्यापराधकृत् ॥ ४ ॥
वर्णधर्मविनिर्मुक्तस्तथैवाऽऽश्रमवर्जितः । मातृहा पितृहा तद्वद्भ्रातृद्रोही यथाबलम् ॥ ५ ॥
गोघ्नश्चैव कृतघ्नश्च महानास्तिक्यगर्वितः । क्षेत्रदारहरस्तद्वदग्निदो गरदस्तथा ॥ ६ ॥
चण्डालस्त्रीपतिस्तद्वन्मधुमांसादिभक्षकः । महाधीरो महापाप्मा चचार पृथिवीतले ॥ ७ ॥
पितरस्तस्य मूर्खस्य ब्रह्मलोकगता अपि । स्वर्गलोकगताश्चान्ये विवशा नरकं गताः ॥ ८ ॥
शशिवर्णोऽपि कालेन व्याधिभिः पीडितोऽच्युत । अपस्मारपिशाचादिग्रहग्रस्तोऽभवद्भृशम् ॥ ९ ॥
पाकयज्ञः पिता तस्य मम भक्तो महत्तरः । निशम्य तनयक्लेशं निर्गतप्राणवत्सुधीः ॥ १० ॥
पतितो भूतले विष्णो रोदमानोऽतिदुःखितः । तं दृष्ट्वा देवभक्ताख्यो मुनिः सर्वार्थवित्तमः ॥ ११॥

[1]हातव्यत्वेन जिज्ञासिते विद्याप्रतिबन्धकारणे ज्ञाते सति यतो विद्योत्पत्तिकारणे विद्वच्छुश्रूषादौ प्रवृत्तिः स्वफलज्ञानायत्ता अतस्तदनन्तरं तदभिधानमिति प्रतिजानीते–अथात इति ॥ १-७ ॥ पितरस्तस्येति । विहिताकरणादिना हि पितॄणामधः पतनं स्मर्यते–'अधर्माभिभवात्कृष्ण' इत्यारभ्य 'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः' इत्यन्तेन ॥ ८-५४ ॥

गुरु के निकट जाना व उनकी सेवा करने की महिमा का कथन नामक सातवा अध्याय

परमेश्वर ने कहा–हे पुरुषोत्तम ! अब मैं तुम्हें श्रद्धापूर्वक आत्मवेत्ता की सेवा में तत्पर रहने की महत्ता बताता हूँ ॥ १ ॥

प्राचीन काल में शशिवर्ण नामक एक ब्राह्मण था । उसके पिता का नाम था पाकयज्ञ । शशिवर्ण पापकर्म में लगा रहता था । अज्ञानपूर्ण होने से ब्रह्मज्ञान के विषय में दोषदर्शन ही करता था । वेदों की निंदा करना मानो उसका धर्म था । वह अधम सभी प्राणियों की हिंसा किया करता था शिवनिन्दा ही उसका आह्निक ब्रह्मयज्ञ था । सभी देवताओं को वह दुष्ट ही समझता था । धर्म की निंदा और धार्मिकों को कष्ट देना उसका शौक था । स्वयं वह वर्ण व आश्रम धर्मों का पालन नहीं करता था । माता-पिता को उसने पीडित किया था और भाई का भी यथाशक्ति वह विरोध ही करता था । वह गोहत्यारा कृतघ्न था तथा अपनी नास्तिकता पर गर्व करता था । दूसरों की संपत्ति, पत्नी आदि का हरण, आग लगाना, जहर देना आदि आततायिकर्मों में वह माहिर था । मांस मदिरा आदि का सेवन करने वाला तथा चाण्डालस्त्री का पति वह अधीर महापापी पृथ्वी पर रहता था ॥ २–७ ॥ उस मूर्ख के पितर, जो कि पूर्व में ब्रह्मलोक या स्वर्गलोक पहुँचे हुए थे, उसके अनाचार के चलते नरक को प्राप्त हुए ॥ ८ ॥ कुछ समय बाद शशिवर्ण भी व्याधियों से और भूतावेशादि से पीडित हुआ ॥ ९ ॥ उसका पिता पाकयज्ञ मेरा भक्त था । उसने जब अपने पुत्र की अत्यन्त कष्टपूर्ण हालत सुनी तो वह रोता हुआ अति दुःख से पृथ्वी पर गिर पड़ा । उसे देख देवभक्त नामक एक महात्मा ने कहा 'हे शिवभक्त पाकयज्ञ ! उठो, डरो मत । तुम्हारे पुत्र के कल्याण का उपाय बताता हूँ ॥ १०–१२½ ॥ शिवप्राप्ति का अचूक साधन गोपर्वत है । वह रम्य श्रेष्ठ पर्वत

---

१. क. ख. हातव्येन । ङ. ज्ञातव्यत्वेन ।

कृपया पाकयज्ञाख्यं बभाषे वाक्यमुत्तमम् ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ मा भैषीः पाकयज्ञ भवप्रिय ॥ १२ ॥
त्वत्पुत्रस्यापि वक्ष्यामि श्रेयःप्राप्तेस्तु साधनम् । श्रीमद्गोपर्वते रम्ये शिवप्राप्त्यैकसाधने[1] ॥ १३ ॥
षोडशक्रोशविस्तीर्णे तावन्मात्रायते वरे । शिवशक्तिरुमादेवी यत्र गोपर्वतेश्वरम् ॥ १४ ॥
आराध्य श्रद्धया संज्ञां चकार परमेश्वरी ।
शक्तीश्वर इति स्वस्य संज्ञया भवनाशिनी ॥ १५ ॥
यत्र शक्तीश्वरं भक्त्या ब्रह्माऽऽराध्य यथाबलम् ।
शक्तिमानभवत्सृष्टौ जगतस्तत्प्रसादतः ॥ १६ ॥
यत्र शक्तीश्वरं पूज्य प्रसादेन पुरंदरः । अधिपः सर्वदेवानामभवत्तारकोऽसुरः ॥ १७ ॥
यत्र शक्तीश्वरं पूज्य प्रबलोऽभून्महीतले ।
उर्वशी यत्र शक्तीशं भक्त्या पूज्येन्द्रवल्लभा ॥ १८ ॥
यत्र वाचस्पतिर्देवं शक्तीशाख्यं यथाबलम् । समाराध्याभवत्साक्षाद्देवेन्द्रस्य पुरोहितः ॥ १९ ॥
यत्र [2]पूज्योऽभवच्छुक्रः शक्तीशाख्यं महेश्वरम् ।
आर्द्रायां नैर्ऋते साक्षादसुराणां पुरोहितः ॥ २० ॥
यत्र पर्वणि देवेशं दृष्ट्वा शक्तीश्वराभिधम् ।
प्रदत्त्वा धनमन्यद्वा नरः साक्षाच्छिवं व्रजेत् ॥ २१ ॥

सोलह कोस की लम्बाई-चौड़ाई वाला है । गोपर्वतेश्वर महादेव की आराधना भगवती उमा ने वहीं की थी और उनका 'शक्तीश्वर' नाम रख दिया था ॥ १३—१५ ॥ शक्तीश्वर की आराधना से ब्रह्मा ने जगत् उत्पन्न करने की सामर्थ्य पायी थी ॥ १६ ॥ वहीं शक्तीश्वर के पूजन के फलस्वरूप इंद्र देवराज बने हैं । तारकासुर ने भी गोपर्वत पर शक्तीश्वर की पूजा की थी जिससे वह पृथ्वी पर अत्यंत बलवान् हो गया ॥ १७$^1/_2$ ॥ वहीं शक्तीश्वर की भक्तिपूर्वक पूजा करने से उर्वशी इन्द्र की प्रिय बन गयी ॥ १८ ॥ बृहस्पति जो देव-पुरोहित बने वह भी गोपर्वत पर शक्तीश्वर-पूजन का ही फल है ॥ १९ ॥ शक्तीश्वर नामक महादेव का आर्द्रानक्षत्र के समय और राहुकाल में पूजन करने से ही शुक्राचार्य असुरों के पुरोहित बने हैं ॥ २० ॥ गोपर्वत पर पर्वकाल में शक्तीश्वर महादेव का दर्शन कर धन या अन्य वस्तुओं का दान करने से शिव-प्राप्ति हो जाती है ॥ २१ ॥ पुण्य कालों में वहाँ शिव को प्रणाम कर शिवभक्तों को धनदान देने से मनुष्य मुक्ति पाता है । वहाँ शक्तीश का दर्शन कर प्रसन्नतापूर्वक धनदान करने से भोग और विजय की प्राप्ति होती है ॥ २२—२३$^1/_2$ ॥ गोपर्वत पर शक्तीश्वर का

---

१ शिवप्राप्त्येकसाधनइति स्यात् । २ पूज्य पूजयित्वेत्यर्थः । ल्यब्विसर्गावार्षौ ।

यत्र पुण्येषु कालेषु श्रद्धया परमेश्वरम् । प्रणम्य शिवभक्तेभ्यः प्रदत्त्वा धनमुत्तमम् ॥ २२ ॥

नरो मुक्तिमवाप्नोति शक्तीशस्य प्रसादतः ।
यत्र दृष्ट्वा महादेवं शक्तीशाख्यं धनं मुदा ॥ २३ ॥
दत्त्वा भोगानवाप्नोति विजयं चापि मानवः ।
यत्र शक्तीश्वरं नित्यं दृष्ट्वा संकल्पपूर्वकम् ॥ २४ ॥
प्रदत्त्वा मुष्टिमात्रं वा प्रस्थं वा सिक्थमेव वा ।
तण्डुलं ब्रह्मविद्धस्ते विमुक्तो मानवो भवेत् ॥ २५ ॥

यत्र सर्वमहापापयुक्तोऽपि मरणं गतः । नरो मुक्तिमवाप्नोति शक्तीशस्य प्रसादतः ॥ २६ ॥

यत्र साक्षान्महायोगी सर्ववेदान्तपारगः । महाकारुणिको नाम्ना महानन्दपरायणः ॥ २७ ॥

आस्ते तं वेदविच्छ्रेष्ठं पाकयज्ञ स्वसूनुना ।
सह दृष्ट्वा महाभक्त्या प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ २८ ॥
तस्य शुश्रूषणं नित्यं कुरु तत्तारकं भवेत् ।
इत्युक्तो देवभक्तेन मुनिना पङ्कजेक्षण ॥ २९ ॥

पाकयज्ञः पिता पुत्रं शशिवर्णसमाह्वयम् । अतीव प्रीतिमापन्नः श्रीमद्गोपर्वतं गतः ॥ ३० ॥

पुनः शक्तीश्वरं देवं सह पुत्रेण पर्वणि ।
दृष्ट्वा प्रदक्षिणीकृत्य श्रद्धयाऽष्टोत्तरं शतम् ॥ ३१ ॥

नित्य दर्शन कर संकल्पपूर्वक ब्रह्मवेत्ता को (वेदज्ञ को) मुट्ठी भर या प्रस्थ भर भात या चावल दान करने से मानव विमुक्त हो जाता है । (पाँच सौ बारह माशे का एक प्रस्थ होता है) ॥ २४–२५ ॥ वहाँ मरने से अत्यन्त पापी भी शक्तीश्वर की कृपा से मोक्ष पा लेता है ॥ २६ ॥ वहाँ समस्त उपनिषदों के प्रतिपाद्य अर्थ का साक्षात्कार करने वाले व परम कारुणिक महानन्दपरायण नामक श्रेष्ठ योगी निवास करते हैं ॥ २७ ॥ हे पाकयज्ञ ! तुम अपने पुत्र सहित वहाँ जाकर उनका दर्शन करो । भक्तिपूर्वक उनको प्रणाम करो और प्रतिदिन उनकी सेवा करो । यह करना तुम्हारे व तुम्हारे पुत्र के कल्याण का उपाय है ॥ २८½ ॥'

देवभक्त मुनि द्वारा यों उपदिष्ट पाकयज्ञ अपने पुत्र शशिवर्ण को ले गोपर्वत को गया ॥ २९–३० ॥ पुत्र सहित वह प्रतिपर्व शक्तीश्वर का दर्शन, उनकी प्रदक्षिणा तथा अष्टोत्तरशतनामस्तोत्र का पाठ करता था ॥ ३१ ॥ शक्तीश्वर की कृपा से ही पाकयज्ञ को जीवन्मुक्त जगद्गुरु महानन्दपरायण के दर्शन हुए ॥ ३२ ॥ पुत्र समेत उसने उन्हे पुनः पुनः दण्डवत् प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनसे अपने कष्ट

प्रसादात्तस्य सर्वज्ञं जीवन्मुक्तं जगद्गुरुम् ।
अतिवर्णाश्रमं धीरं महानन्दपरायणम् ॥ ३२ ॥
दृष्ट्वा दूरे स्वपुत्रेण सह भूमौ मुहुर्मुहुः ।
प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या पाकयज्ञः कृताञ्जलिः ॥ ३३ ॥
सर्वं विज्ञापयामास पुण्डरीकनिभेक्षण ।
सोऽपि साक्षान्महायोगी महाकारुणिकोत्तमः ॥ ३४ ॥
स्वात्मानन्दानुसंधानप्रमोदेन सहाच्युत । विलोक्य पुत्रं पापिष्ठं शशिवर्णसमाह्वयम् ॥ ३५ ॥
शिशुत्वेनाग्रहीद्विष्णो ब्रह्मविद्याबलेन तु ।
तस्यावलोकनादेव शशिवर्णस्य कानिचित् ॥ ३६ ॥
विनष्टानि च पापानि तत्परिग्रहकारणात् ।
कानिचित्कल्मषाण्यस्य सोऽपि नीरोगतां गतः ॥ ३७ ॥
पुनः काष्ठं तृणं तोयं शाकमूलफलानि च ।
दिने दिने समादाय गुरवे दत्तवान्मुदा ॥ ३८ ॥
तस्य गोरक्षणं चापि शशिवर्णः समाहितः ।
अकरोत्तेन पापानि[1] नष्टानि सुबहूनि च ॥ ३९ ॥
पुनस्तस्य च शुश्रूषां पादमर्दनमच्युत । तैलाभ्यङ्गं च वस्त्रादिशोधनं चाकरोन्मुदा ॥ ४० ॥

का निवेदन किया । वे भी योगिराज व परम करुणा वाले थे । उन्होंने अपने स्वरूप का स्मरण करते हुए शशिवर्ण पर दृष्टि डाली । उसे उन्होंने अपना बालक ही मान लिया ब्रह्मविद्या के प्रभाव से महानन्दपरायण की दृष्टि पड़ने पर शशिवर्ण के काफी पाप दूर हो गये । क्योंकि उन महात्मा ने उसे स्वीकार लिया था इसलिये उसके और भी कल्मष निवृत्त हो गये व वह नीरोग हो गया ॥ ३३–३७ ॥ तदनन्तर वह प्रतिदिन गुरुसेवा करने लगा । ईधन तथा जल ले आता था । गायादि के लिये चारा ले आता था । साग, मूल, फल आदि उन योगी के लिये ले आया करता था ॥ ३८ ॥ गुरु की गाय की भी शशिवर्ण सेवा कर दिया करता था, बहुतेरे पाप उसीसे नष्ट हो गये ॥ ३९ ॥ अपने गुरु के पाँव दाब देना, तेल मालिश करना, वस्त्र धोना आदि सभी सेवा प्रेम से किया करता था ॥ ४० ॥ इस कारण उसके पूर्वकृत

1. ङ. °नि निष्ठासु च ब° ।

तेनैव हेतुनाऽप्यस्य शशिवर्णस्य केशव । महत्तराणि नष्टानि पापानि सुबहूनि च ॥ ४१ ॥

ततः प्रसन्नः सर्वज्ञो महायोगीश्वरेश्वरः ।

स्वभुक्तशेषं कारुण्याद्ददौ तस्मै प्रियेण सः ॥ ४२ ॥

तद्भुक्तशेषामृतपानशान्तसर्वाघतापो गुरुमादरेण ।

नत्वाऽथ शुश्रूषणमस्य शिष्यश्चक्रे सदाऽतीव महानुभावः ॥ ४३ ॥

ततः प्रसन्नो गुरुरस्य विद्वान्स्वशिष्यमेनं शशिवर्णसंज्ञम् ।

प्रनष्टपापं परिशुद्धचित्तं प्रगृह्य भूत्या सितयाऽस्य देहम् ॥ ४४ ॥

उद्धूल्य तस्मै प्रददौ महात्मा वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थम् ।

बुद्ध्वा हृषीकेश मम प्रसादाच्छिष्योऽपि मामात्मतयाऽपरोक्षम् ॥ ४५ ॥

मुक्तोऽभवत्तस्य पिताऽपि विष्णो श्रुत्वा बलेनैव मम प्रसादात् ।

शुश्रूषया तस्य विलक्षणस्य विद्यामवाप्याऽऽशु विमुक्तिमाप ॥ ४६ ॥

पितरस्तस्य परात्मविद्यया नरकादेव समुद्धृता हरे ।

कुलमप्यस्य पवित्रतां गतं पृथिवी पुण्यवती विशेषतः ॥ ४७ ॥

भुक्ता पुरा तेन महानुभावं चण्डालकन्याऽपि दिवं प्रविष्टा ।

नष्टा नरा भूधर नाकपृष्ठे विद्याबलेनास्य सुखं प्रयाताः ॥ ४८ ॥

महापाप भी समाप्त हो गये ॥ ४१ ॥ प्रसन्न हुए उन योगीश्वर ने उसे अपना भुक्तशिष्ट प्रसाद दिया ॥ ४२ ॥ गुरु के उस प्रसाद को खाने से उसके सारे पाप समाप्त हो गये । वह आदरपूर्वक उनकी सेवा में लगा रहा ॥ ४३ ॥ उसकी निष्ठा से वे विद्वान् योगी प्रसन्न हो गये । निष्पाप अत एव निर्मलचित्त हो चुके अपने उस शिष्य को ले उन्होंने श्वेत भस्म से उसके देह का उद्धूलन किया और वेदान्त का उपदेश दिया । मेरी कृपा से उस शशिवर्ण ने भी मुझे आत्मरूप से समझ लिया ॥ ४४—४५ ॥ ज्ञान-प्राप्ति से वह मुक्त हो गया । उसके पिता ने भी महानन्दपरायण की सेवा करते हुए श्रवणादि कर मेरी कृपा से आत्मसाक्षात्कार किया और मुक्त हुआ ॥ ४६ ॥ उसके पितरों का नरक से उद्धार हो गया । उनका कुल पवित्र हो गया । सारी भूमि ही पुण्यवती हो गयी ॥ ४७ ॥ जिस चाण्डालकन्या को शशिवर्ण ने पहले अपना रखा था वह भी स्वर्ग पा गयी और जिन्हे इसने मार डाला था वे भी विद्या के प्रभाव से सुखपूर्वक स्वर्ग में स्थित हुए ॥ ४८ ॥

शृणुष्व चान्यत्परया मुदा हरे तवाहमद्याभिवदामि सद्गुरोः ।
विलक्षणस्याऽऽत्मविदो महात्मनः शरीरशुश्रूषणजं महाफलम् ॥ ४९ ॥
पुरा महापापबलात्सुरातनान्निहत्य वेश्या सुभगाभिधा पतीन् ।
धनानि तेषामभिवाञ्छया सदा हरे समादाय सुहृज्जनैरपि ॥ ५० ॥
स्वदासवर्गैः सह पुत्रकैः स्वकैस्तथाऽम्बया भुक्तवती महासुखम् ।
पिशाचिकाभिः परिपीडिता पुनः सदा महाव्याधिभिरप्यतीव सा ॥ ५१ ॥
निद्राऽपि नाभूत्पुरुषोत्तमास्याः कष्टां दशामाप सह स्वकीयैः ॥
तस्या गृहं चक्रधरातिविद्वान्क्षुत्पीडितो विवशः संप्रपेदे ॥ ५२ ॥
अनेकजन्मार्जितपुण्यकर्मणा विलक्षणं ब्रह्मविदं गृहागतम् ।
विलोक्य सा भूमितले समाहिता प्रणम्य तत्पादसरोरुहद्वयम् ॥ ५३ ॥
स्वान्तर्गृहे शीतलगन्धतोयैः प्रक्षाल्य पादोदकमादरेण ।
आदाय पीत्वा सुभगा विमुक्ता पिशाचिकाभिश्च समस्तरोगैः ॥ ५४ ॥
ततः[1] प्रशान्तं सुभगाऽतिविस्मिता महानुभावं परमार्थवेदिनम् ।
अपूपशाल्योदनपूर्वकैर्वरैः सुभोजितं चन्दनकुङ्कुमादिभिः ॥ ५५ ॥

प्रशान्तं दृष्ट्वा । अतः 'शमोऽदर्शने'[2] इति दर्शनपर्युदासान्न मित्त्वम् ॥ ५५-६८ ॥

हे हरि ! आत्मवेत्ता की सेवा का फल बताने वाली एक और कथा सुनो—॥ ४९ ॥ प्राचीन काल में एक सुभगा नाम की स्त्री थी । पूर्व पाप संस्कारों से उसने अपने जीवन में वेश्यावृत्ति अपनायी । वह अपने पतियों को मारकर उनका सारा धन ले लेती थी । यों प्रभूत धनवती हो वह अपने कुटुम्ब समेत महान् सुखों को भोगती हुई रहा करती थी । कालक्रम से कदाचित् वह पिशाचिका आदि द्वारा पीडित हुई । उसे अनेक दुःसाध्य रोग भी हो गये ॥ ५०—५१ ॥ उसकी नींद उड़ गयी । वह बड़ा कष्ट पा रहा था और उसके परिवार वाले भी बहुत परेशान थे । एक बार एक अत्यन्त विद्वान् ब्रह्मवेत्ता भूख से पीडित हो भिक्षार्थ उसके घर आये ॥ ५२ ॥ अनेक जन्मो में इकट्ठे किये पुण्य के फलस्वरूप घर आये ब्रह्मज्ञानी को देखकर उसने श्रद्धा से उनके चरणों में प्रणाम किया ॥ ५३ ॥ उसने उनके चरण धोये और चरणामृत पिया जिससे वह पिशाचिका आदि सब रोगों से छूट गयी ॥ ५४ ॥ फिर उन महानुभाव को मालपुए व उत्तम भात आदि से तृप्त किया । चंदन, वस्त्र, पुष्प आदि से उनकी पूजा की । उन्हे

---

१. क. °तः प्रपश्यत्सुभ° । २. 'शमो दर्शने'—इति गणसूत्रं । 'न कम्यमिचमाम्' इत्यतो नञनुवृत्तिः । ततः फलितमिहोक्तम् 'अदर्शन' इति । शाम्यतिर्दर्शनार्थश्चेत् न मित् स्यादित्यर्थः । तेन ह्रस्वत्वादिर्न । रूपं निशामयति रूपं पश्यतीत्यर्थः ।

वस्त्रैः सुसूक्ष्मैश्च सुगन्धपुष्पैस्ताम्बूलवल्लीदलपूर्वकैश्च ।

आराध्य भक्त्या सह सुप्रसन्ना तं प्रार्थयामास परात्मनिष्ठम् ॥ ५६ ॥

त्वद्दर्शनेनैव समस्तरोगतो विमुक्तदेहाऽहमतीव निर्मला ।

अतश्च मामामरणादतिप्रभो सुभुङ्क्ष्व दास्यं करवाणि ते सदा ॥ ५७ ॥

इत्येवं प्रार्थितः सम्यक्तया प्रीतो जनार्दन[1] ।

प्रारब्धकर्मणा नीतस्तथा चक्रे मतिं बुधः ॥ ५८ ॥

साऽपि नित्यं महाविष्णो श्रद्धया परया सह ।

अतीव पूजयामास स्वात्मना च धनेन च ॥ ५९ ॥

वत्सराणां त्रयं पूजां कृत्वा तस्य महात्मनः ।

सुभगा सा तथा ज्ञानं लब्ध्वा मुक्ताऽभवद्धरे ॥ ६० ॥

तस्याः पुत्राश्च पौत्राश्च सुहृदो बन्धुबान्धवाः ।

दासवर्गाश्च माता च स्वर्गलोकं गता हरे ॥ ६१ ॥

बहवो ब्रह्मविद्वांसं समाराध्य यथाबलम् । तेन ब्रह्मात्मविज्ञानं वेदान्तार्थविमुक्तिदम् ॥ ६२ ॥

अपरोक्षमवाप्याऽऽशु विमुक्ता भवबन्धनात् ।

यत्र नित्यं वसेज्ज्ञानी तत्राहं सर्वदा स्थितः ॥ ६३ ॥

ताम्बूल का बीड़ा अर्पित किया । तदनंतर उन परमात्मनिष्ठ से उसने प्रार्थना की–॥५४–५६ ॥ हे प्रभो ! आपके दर्शन से मैं सब रोगों से रहित हो स्वस्थ और शुद्ध मन वाली हो गयी हूँ । अतः मेरे मरणपर्यन्त आप यहीं रहें, मैं आपकी सेवा करना चाहती हूँ ॥ ५७ ॥ उस विद्वान् ने भी प्रारब्धवश उसकी प्रार्थना स्वीकार ली ॥ ५८ ॥ उसने भी खुद व धनव्यय द्वारा उनकी प्रतिदिन सेवा की ॥ ५९ ॥ तीन साल यों भक्तिपूर्वक उनकी सेवा शुश्रूषा करने से वह ज्ञान पाकर मुक्त हो गयी ॥ ६० ॥ उसके पुत्र, पौत्र, मित्र, बन्धु, बांधव, दास तथा उसकी माता, सभी ने स्वर्ग पाया ॥ ६१ ॥

और भी अनेकों ने यथाशक्ति ब्रह्मवेत्ता की सेवा से अपरोक्ष ब्रह्मानुभव पाकर मोक्ष प्राप्त किया है ॥ ६२½ ॥ जहाँ ज्ञानी नित्य रहता है वहाँ मैं सर्वदा स्थित रहता हूँ ॥ ६३ ॥ जहाँ महेश्वर-विज्ञानी

---

१. क. °न । आर° । २. ङ. पूजा कृता त° ।

सुदूरमपि गन्तव्यं यत्र माहेश्वरो जनः । प्रयत्नेनापि द्रष्टव्यस्तत्राहं सर्वदा स्थितः ॥ ६४ ॥

निमेषं वा तदर्धं वा यत्र ज्ञानी हरे स्थितः ॥
तत्र तीर्थानि सर्वाणि तिष्ठन्त्येव न संशयः ॥ ६५ ॥

योऽनिष्टं ब्रह्मनिष्ठस्य करोत्यज्ञानतोऽपि वा ।
विमूढः स ममानिष्टं करोत्येव न संशयः ॥ ६६ ॥

अम्बिकायाः प्रियोऽत्यर्थं मम ज्ञानी सदा हरे ।
बहिष्ठाः[1] सर्वदा सर्वे ज्ञानी त्वात्मैव मे सदा ॥ ६७ ॥

आत्मनिष्ठं च मां विष्णो विभिन्नं प्रवदन्ति ये ।
ते मूढा एव मनुजा नात्र कार्या विचारणा ॥ ६८ ॥

तस्मादात्मविदः सर्वैः पूजनीया विशेषतः । वेदवेदान्तवाक्यानां मयाऽर्थः संग्रहेण ते ।
कथितः सारभूतोऽयं[2] शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ६९ ॥

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी गुरोरभ्यस्य तान्यपि ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥ ७० ॥

तस्मादात्मविद इति । श्रूयते हि 'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' इति ॥ ६९-७० ॥

रहता हो, वह स्थान दूर भी हो तो भी उसके दर्शन के लिये वहाँ जाना चाहिये । मैं तो वहाँ हमेशा रहता हूँ ॥ ६४ ॥ हे हरि ! ज्ञानी जिस जगह निमेष भर या आधा निमेष भी रह जाये उस जगह सभी तीर्थ एकत्र हो जाते हैं ॥ ६५ ॥ जो मूर्ख चाहे अज्ञानवश ही ब्रह्मनिष्ठ के प्रति अनिष्ट का आचरण करता है वह मेरा ही अनिष्ट किया चाहता है इसमें संदेह नहीं ॥ ६६ ॥ मेरी वास्तविकता का जानकार अम्बिका को अत्यन्त प्रिय है । अन्य सब मुझसे बहुत दूर स्थित हैं जबकि ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है ॥ ६७ ॥ जो अविवेकीजन ज्ञानी और मुझे विभिन्न बताते हैं वे परममूर्ख हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ ६८ ॥ (यद्यपि सभी जीव भगवत्स्वरूप हैं, केवल ज्ञानी ही नहीं तथापि वह इसे जानता है अतः ज्ञानश्रेष्ठता द्योतित करने के लिये ऐसा कहा है ।) इसलिये सभी लोगों द्वारा आत्मवेत्ताओं की पूजा की जानी चाहिये । (इह लोक, परलोक व मोक्ष तीनों के प्रार्थी आत्मवेत्ता की कृपा से स्वेष्टसिद्धि पा लेते हैं, अतः सभी को उसकी सेवा करने के लिये कहा है ।)

---

१. ङ. वरिष्ठाः । २. निर्विशेषात्मैव शास्त्रस्य सारभूतोर्थः । बभाषेहि भाष्यकृत् 'सर्वकल्पनाऽपनयनार्थसारपरत्वात्सर्वोपनिषदाम्' (बृ. २.१.२०) । वार्तिकाचार्योपि 'संसारानर्थनाशो हि विद्यायाः प्रार्थ्यते फलम्' (बृ. १.४.१७४४) इति । मधुसूदनसरस्वती च 'एतावान् हि सर्वेषां शास्त्राणां रहस्यभूतोर्थो यद्विषयाकारतानिराकरणपूर्वकं भगवदाकारतासम्पादनम्' (भ. र. १.३१) ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ७१ ॥

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं तत्रापि ब्रह्मविग्रहम् ।

[1]ब्राह्मण्यं च तथा विष्णो वेदान्तश्रवणादिना ॥ ७२ ॥

अतिवर्णाश्रमं रूपं सच्चिदानन्दमद्वयम्[2] ।

यो न जानाति सोऽविद्वान्कदा मुक्तो भविष्यति ॥ ७३ ॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदाऽविज्ञाय च शिवं दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ ७४ ॥

यावानर्थ इति । सर्वस्मिन्भूमण्डले जलप्लुते सति पिपासोरुदपाने कूपे यथा न किंचित्प्रयोजनमेवं तत्त्वविदां वेदैस्तत्प्रतिपादितकर्मभिर्वा न किंचित्प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ७१ ॥ विद्यैव श्रेयसी चेत्किमिति वेदैः कर्माणि प्रपञ्चेन प्रतिपादितानि । तेषामप्यर्थवत्त्वे वा कथं वैफल्यवचनमित्याशङ्क्य 'तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि' इति न्यायेन विद्यानधिकृतानां सांसारिकसुखाय तात्कालिकदुःखपरिहाराय च कर्माणि कथितानि । अधिकृतस्य तु परमपुरुषार्थसाधनतया विद्यैव श्रेयसीत्याह–दुर्लभं प्राप्येति । 'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणादयः' ॥ इत्युक्तदृशा मनुष्यत्वमेव तावद् दुर्लभम् । तत्रापि ब्रह्मविग्रहमिति । ब्रह्म वेदः, तदर्हविग्रहं त्रैवर्णिकत्वं प्राप्येत्यर्थः । वेदान्तश्रवणादिना ब्राह्मण्यं ब्रह्मनिष्ठताम् । 'मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इति ब्रह्मनिष्ठता ब्राह्मण्यपदार्थत्वेन श्रुता ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ज्ञानव्यतिरेकेण कर्मकोटिभिरपि मुक्तेरभावमाह–यदेति । अविज्ञायेतिच्छेदः ॥ ७४ ॥

वेद-वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य मैंने संक्षेप में बता दिया । यही सारभूत अर्थ है, बाकी तो केवल इसे समझाने के लिये ग्रंथों का विस्तार है ॥ ६९ ॥ गुरु से शास्त्रों का अध्ययन और उनका मननपूर्वक तात्पर्य निर्धारण कर मेधावी को चाहिये कि सार भाग में–अद्वैत तत्त्व में–स्थित रहे, अन्य बातें वैसे ही छोड़ दे जैसे चावल चाहने वाला पुआल छोड़ देता है ॥ ७० ॥ जब सब ओर पानी ही पानी हो तो जैसे कुएँ आदि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता वैसे ही जब ब्राह्मण परमात्मविज्ञाता हो जाता है तो उसके लिये वेद का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता ॥ ७१ ॥ जो जीव दुर्लभ मनुष्य योनि, उसमें भी ब्राह्मण शरीर और शमादिशीलता पाकर वेदान्त के श्रवणादिद्वारा वर्णाश्रम से अतीत अपने सच्चिदानन्द अद्वयस्वरूप को नहीं जानता, वह नासमझ न जाने कब मुक्त होगा ? ॥ ७२–७३ ॥ जब मनुष्य आकाश को मृगादिचर्म की तरह लपेट सकेगा तभी शिव को बिना जाने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो सकेगी । (आकाश लपेटने के समान असंभव है शिवात्मज्ञान के बिना मोक्ष, यह भाव है ।) ॥ ७४ ॥ अत्यन्त पुण्यशाली लोगों को अनेक जन्मों के बाद मेरी कृपा से महावाक्य का सम्यग्ज्ञान होता है ॥ ७५ ॥ जिस शरीर

१. ब्राह्मणदेहं प्राप्य ब्राह्मण्यं मुख्यब्राह्मणत्वं न जानाति नाप्नोतीति सम्बन्धः । यद्वा ब्राह्मण्यं प्राप्य ब्रह्मोपदेशकानां समूहमपि लब्ध्वेत्यर्थः । यद्वा ब्राह्मण्यं ब्राह्मणोचितान् शमादीनित्यर्थः । २. ख. °मव्ययम्° ।

बहूनां[1] जन्मनामन्ते महापुण्यवतां नृणाम् । प्रसादादेव मे वाक्याज्ज्ञानं सम्यग्विजायते ॥ ७५ ॥
यस्मिन्देहे दृढं ज्ञानमपरोक्षं विजायते । तद्देहनाशपर्यन्तमेव संसारदर्शनम् ॥ ७६ ॥
पुराऽपि नास्ति संसारदर्शनं परमार्थतः । कथं तद्दर्शनं देहविनाशादूर्ध्वमप्युत ॥ ७७ ॥
तस्माद्ब्रह्मात्मविज्ञानं दृढं चरमविग्रहे । जायते मुक्तिदं शुद्धं प्रसादादेव मेऽच्युत ॥ ७८ ॥
सूत उवाच—इत्येवमुक्त्वा परमेश्वरो हरस्त्रयीमयोऽभीष्टफलप्रदो नृणाम् ।
त्रिलोचनोऽम्बासहितः कृपाकरो न किंचिदप्याह पुनर्द्विजोत्तमाः ॥ ७९ ॥
निशम्य वेदार्थमशेषमच्युतः प्रणम्य शंभुं शशिशेखरं हरम् ॥
प्रगृह्य पादाम्बुजमास्तिको हरिः स्वमूर्ध्नि विन्यस्य करद्वयेन सः ॥ ८० ॥
अतिप्रसादेन शिवस्य केशवः समस्तसंसारविवर्जितोऽभवत् ।
प्रनृत्य देवोऽपि मुकुन्दसंनिधौ पुनः सुरेन्द्रैरखिलैः समावृतः ॥ ८१ ॥

विद्यानधिकृतानामपि निष्कामाणां विद्यावाप्तिद्वारा कर्म कारणमस्तीत्या—बहूनामिति ॥ ७५ ॥ नन्वज्ञानी विद्यामुपदेष्टुं न शक्नोति । ज्ञानी तु मुक्तः सन्दृश्यमात्रं न पश्यति किमुत शिष्यादीन् । तत्कथं विद्यासंप्रदायप्रवृत्तिः । ज्ञानिनोऽपि वा संसारदर्शने केनेदानीं मुक्तिरित्यत आह—यस्मिन्देह इति । विद्वद्देहारम्भकव्यतिरिक्तकर्मणामेव हि विद्यया निवृत्तिः । आरम्भकाणां तु विदुषो जीवन्मुक्तस्य देहाभासजगदवभासौ जनयतामास्थाविरहिणा भोगाभासेनैव निवृत्तिः । उक्तं हि व्यासेन—'. अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' इति । 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते' इति च । श्रूयते च–'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये, अथ संपत्स्ये' इति । अतो जीवन्मुक्तोऽतिवर्णाश्रमी विद्यासंप्रदायप्रवर्तक इत्यर्थः ॥ ७६ ॥ देहनाशानन्तरं संसारादर्शने कैमुतिकन्यायमाह—पुराऽपीति । पुरा विभ्रममात्रेण दर्शनं पश्चात्तु तदपि नास्तीत्यर्थः ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ नकिंचिदिति । वक्तव्यस्य परिपूर्णत्वाद्वक्तव्यान्तराभावाच्च ॥ ७९-८४ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्डे गुरूपसदन-शुश्रूषामहिमकथनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

में रहते हुए दृढ अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, उस देह के नष्ट होने तक ही संसार का दर्शन होता है। वस्तुतः तो पहले भी संसारदर्शन था नहीं अतः देहनाश के बाद उसके होने की संभावना नहीं ॥ ७६॥ अतः अंतिम शरीर में ही मोक्षदायक, अतिशुद्ध दृढ ब्रह्मात्मानुभव मेरी कृपा से उत्पन्न होता है ॥ ७८ ॥ (अन्य अनेक दुर्ज्ञेय विषयों के साथ जीवन्मुक्ति भी समझ पाना अज्ञानावस्था में कठिन है । वस्तुतः यह श्रुति और अनुभव से ही सिद्ध है, उसे समझाने के लिये युक्ति का प्रयोग भी किया जाता है अवश्य, पर यह अवस्था युक्तिगम्य है नहीं । सर्वज्ञगुरु ने इसीलिये कह दिया है 'तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम्'

---

१. अनादिप्रवाहपतितानामनेकजन्मनामन्ते वार्तमानिके देहइत्यर्थः । सर्वोहि लब्धं देहमाश्रित्य मोक्षाय यतितुं शक्नोति ततश्च जातमुमुक्षस्यैव देहोन्त्यो ज्ञेयः । यद्वा मुमुक्षोत्पत्तेरनन्तरं बहूनां जन्मनामन्त इत्यर्थः । अत्र केचित्कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रयाणामेव जन्मनां संभवमाचक्षते । वयन्तु तथात्वे बहुपदवैयर्थ्यं पश्यन्तोऽनियमे तात्पर्यं मन्महे केचिज्जन्मान्तरे केचिच्चात्र जन्मनि सम्यग्विज्ञानफलं प्रसादं लभन्तइति ।

पुण्डरीकपुरमाप शंकरस्तत्र सर्वगणनायकैः पुनः ।

पुष्पराशिभिरहर्निशं मुदा पूजितश्च भगवान्सभापतिः ॥ ८२ ॥

एवं सूतवचः श्रुत्वा मुनयो वेदवित्तमाः ।

प्रणम्य सूतं सर्वज्ञं सर्वदा करुणाकरम् ॥ ८३ ॥

तस्य शुश्रूषणे नित्यं मतिं चक्रुः समाहिताः ॥ ८४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे गुरूपसदनशुश्रूषामहिमकथनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(सं. शा. ४.४३) । सिद्धिकार ने भी 'तच्च जीवन्मुक्तानां स्वानुभवसिद्धम्' कहा है । चन्द्रिका में भी 'अज्ञाननिवृत्तज्ञानस्यैवानुभवात्' (बंबई पृ.८९२)–यह कहा है । अविद्यानिवृत्ति नैयायिकसंमत ध्वंस की तरह उपादानरहित है और शुद्धात्मा पर ही आश्रित है, जैसे अविद्या । अतः जैसे अविद्या को आत्मा पर आश्रित रहने के लिये अविद्यान्तरादि नहीं चाहिये वैसे अविद्यानिवृत्ति को भी आत्मा में रहने के लिये अविद्या आदि नहीं चाहिये । जैसे न्यायमतानुसार नष्ट होता हुआ घट क्षण भर तक अपने समवायी कारण के बिना भी रह जाता है वैसे ही मुक्त का शरीरादि अपने समवायी कारण अविद्या के बिना ही रह जाता है । प्रतिबंधकाभावसहकृत अविद्यानाश शरीरादि-निवृत्ति का हेतु है । प्रतिबंधक है भुज्यमान कर्म । जब तक वे समाप्त नहीं होते तब तक विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव होने से अविद्या न रहने पर भी देहादि का रहना युक्तिसंगत है– इत्यादि उपपत्तियाँ भी आचार्यों ने दी ही हैं ।)

सूत जी बोले–हे द्विजोत्तमो ! इतना कहकर साम्ब सदाशिव चुप हो गये । वे वेदात्मक हैं, परमेश्वर हैं, त्रिनेत्रधारी हैं, कृपालु हैं व लोगों को अभीष्ट प्रदान करने वाले हैं ॥ ७९ ॥ श्रीहरि ने भी सारा वेदान्तोपदेश सुनकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणों को अपने हाथ से पकड़कर अपने माथे पर रखा ॥ ८० ॥ शिव की अतिशय कृपा से केशव सर्वथा संसारातीत हो गये । महादेव भी प्रसन्नतावश मुकुन्द व अन्य देवताओं के मध्य नृत्य कर पुण्डरीकपुर को लौट आये जहाँ गणनाथों द्वारा वे प्रतिदिन पुष्पादि से पूजे जाते हैं ॥ ८१–८२ ॥

सूतजी के ये वचन सुन कर मुनियों ने सर्वदा करुणापूर्ण रहने वाले सर्वज्ञ सूतजी को प्रणाम किया और उनकी हमेशा सेवा करने का निश्चय किया ॥ ८३–८४ ॥

अष्टमोऽध्यायः

मुनय ऊचुः— एवं महेश्वराज्ज्ञानं लब्ध्वा विष्णुः सनातनः ।
ततः किमकरोद्विद्वान्वद कारुण्यविग्रह ॥ १ ॥
सूत उवाच— शृणुध्वं तत्प्रवक्ष्यामि मुनयः संशितव्रताः ।
महादेवं नमस्कृत्य विष्णुर्व्याघ्रपुरं गतः ॥ २ ॥
लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैः स्तुत्वाऽनुज्ञामवाप्य च । आरुह्य गरुडं विप्रा अमरैरखिलैर्हरिः ॥ ३ ॥
स्तूयमानो महाविष्णुर्हृष्टो वैकुण्ठमाप सः । ततस्तं सर्वलोकेशं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ ४ ॥
श्रीपतिं भूपतिं विप्राः सुरा ब्रह्मपुरोगमाः । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भक्त्या परमया सह ॥ ५ ॥
कृताञ्जलिपुटा भूत्वा पप्रच्छुः पङ्कजेक्षणम् ।
देवा ऊचुः— ●भगवन्नीश्वरात्सर्वं भवता श्रुतमच्युत ॥ ६ ॥
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामो ब्रूहि नः संग्रहेण तत् ।
विष्णुरुवाच— भवद्भिर्यच्छ्रुतं[1] देवास्तद्धितं सर्वदेहिनाम् ॥ ७ ॥
तथाऽपि नाहं वक्ष्यामि शिव एव प्रवक्ष्यति ।
भवन्तः श्रद्धया सार्धं पुण्डरीकपुराभिधम्[2] ॥ ८ ॥

तथा लब्धुं शक्याया अपि विधाया देशिकविशेषनिबन्धनं क्षेत्रविशेषनिबन्धनं चोत्कर्षातिशयं वर्णयितुं पुण्डरीकपुरवासिनं शिवं प्रति जिज्ञासूनां देवानां विष्णुना प्रस्थापनं विवक्षुस्तदर्थं मुनीनां प्रश्नमवतारयति—मुनय ऊचुरिति । एवं महेश्वरादिति ॥ १-८ ॥

देवोपदेश-कथन नामक आठवा अध्याय

मुनियों ने निवेदन किया—हे करुणामूर्ति रोमहर्षण जी ! पूर्वोक्त प्रकार से महेश्वर से आत्मज्ञान पाकर विद्वान् सनातन विष्णु ने क्या किया, यह बताइये ॥ १ ॥

सूत जी बोले—हे सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये कृतनिश्चय मुनियो ! विष्णु ने महादेव को प्रणाम कर व्याघ्रपुर की ओर प्रस्थान किया ॥ २ ॥ वहाँ भगवान् की श्रौत व लौकिक स्तोत्रों से स्तुति की और उनकी अनुमति ले गरुड पर चढ़कर सब देवताओं से प्रशंसित होते हुए प्रसन्नता से वैकुण्ठ को चले गये । ब्रह्मा आदि सब देवता वहाँ उन शंख-चक्र-गदाधारी, श्रीदेवी व भूदेवी के पति सर्वलोकेश विष्णु के पास पहुँचे और परम भक्ति से उन्हे प्रणाम कर अंजलि बाँधकर उन कमलनयन से पूछने लगे—॥ ३-५½ ॥ देवता बोले—हे अच्युत ! हे भगवान् ! आपने परमेश्वर से सारा श्रोतव्य सुन लिया है । हम

● अयं श्लोकः (क) पुस्तके नास्ति । १ शुश्रूषितमित्यर्थः । २ ङ. °राधिपम्° ।

स्वराट्संज्ञस्य देवस्य हृत्सरोरुहमध्यगम् ।
दिने दिनेऽथवा पक्षे पक्षे वा मासि मासि वा ॥ ९ ॥
षण्मासान्तेषु वाऽब्दान्तेष्वाशरीरविमोक्षणात् ।
दृश्यते प्राणिना येन श्रद्धया तस्य मुक्तिदम् ॥ १० ॥
अचिरात्सर्वपापघ्नं भोगदं भोगकामिनाम् ।
उपेत्य सुमहत्तीर्थं तपः कृत्वा सुदुश्चरम् ॥ ११ ॥
श्रीमत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं सतारं सर्वसिद्धिदम् ।
सर्वमन्त्रवरं नित्यं शतरुद्रीयमध्यगम् ॥ १२ ॥

स्वराट्संज्ञस्येति । शिवो हि पञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिरूपस्थूलशरीरमभिमन्यमानो विराट् । तद्व्यापकमपञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिरूपं सप्तदशकं लिङ्गशरीरमभिमन्यमानः स्वराट् । उभयकार[1]णमव्याकृतमभिमन्यमानः सम्राडिति प्रथमखण्ड एकादशाध्याये वर्णितम् । तत्र स्वराट्संज्ञस्य देवस्य हृत्सरोरुहं हृदयपुण्डरीकं तन्मध्ये वर्तमानं पुरं पुण्डरीकपुरम् । 'हृदयमिति तस्माद्धृदयमिति हृदि ह्येष आत्मा । अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इति श्रुतिस्मृतिपर्यालोचनया यस्मिन्नेव शरीरप्रदेशे शिवो नित्यं विशेषतः संनिहितः स एव प्रदेशो हृत्पुण्डरीकम् । व्यापकस्य च स्वराट्शरीरस्य मध्ये व्याघ्रपुरे शिवो नित्यं संनिहित इति तदेव स्वराजो हृत्सरोरुहं तन्मध्यगतमित्यर्थः ॥ ९-१७ ॥

उस उपदेश को सुनना चाहते हैं । कृपया संक्षेप से हमें सुनाइये ॥ ६½ ॥ विष्णु ने कहा—हे देवो ! आपने जो यह सुना है कि मैंने परमेश्वर से ज्ञान पाया है वह आपका सुनना सारे संसार के हित का कारण है (क्योंकि उसी से प्रेरित हो आप जिज्ञासा कर रहे हैं जिसकी उपशान्ति के लिये आपको भगवान् द्वारा संक्षेप में सारा रहस्य बताया जायेगा जिससे सभी उपकृत होंगे) । फिर भी मैं उसे नहीं बताऊँगा, स्वयं शिव ही बतायेंगे । (सर्वश्रेष्ठ गुरु के उपलब्ध रहते अन्य से विद्या ग्रहण करना श्रेयस्कर नहीं । किंच समस्त श्रुतियों का सारसंग्रह महादेव ने सुनाया था, अब आप उसका भी सार जानना चाहते हैं ॥ यों संक्षेप करने पर कहीं कोई आवश्यक बात न छूट जाये इसलिये महादेव के पास ही जाना चाहिये जो सारस्वरूप होने से आवश्यक का परित्याग नहीं कर पायेंगे । यद्यपि शिवोपदेश से विद्वान् हो चुके विष्णु शिव ही हैं तथापि यह स्पष्ट करने के लिये कि हर ज्ञानी उपदेशादि में रुचि रखे, आवश्यक नहीं, उन्होंने देवताओं को अन्यत्र भेज दिया ।) ॥ ७½ ॥ आप लोग स्वराट् नामक महादेव के हृदयकमल के मध्य स्थित पुण्डरीकपुर को जाइये । (समष्टिसूक्ष्माभिमानी शिव स्वराट् कहे जाते हैं । पुण्डरीकपुर उनके हृदयस्थानीय है । जैसे अध्यात्म में हृदय में शिव अवस्थित हैं वैसे बाहर वे पुण्डरीकपुर में रहते हैं ।

---

१. घ. ०रण मायाकृ० ।

जपित्वा लक्षमेकं वा श्रीमद्दभ्रसभापतिम् ।

दृष्ट्वा पञ्चाक्षरेणैव सतारेणाऽऽस्तिकाः सुराः ॥ १३ ॥

पूजयध्वं महादेवं युष्माकं करुणाकरः ।

अम्बिकापतिरानन्दमहाताण्डवपण्डितः[1] ॥ १४ ॥

सर्वाधारवटच्छायानिषण्णो[2] भूतिभूषणः ।

सोमार्धशेखरः सोमः सोमसूर्याग्निलोचनः ॥ १५ ॥

कपर्दी कालकण्ठश्रीर्वेदयज्ञोपवीतवान् ।

गङ्गाधरः सुप्रसन्नः सुस्मितो नागभूषणः ॥ १६ ॥

दीर्घबाहुर्विशालाक्षस्तुन्दबन्धविराजितः ।

हारकेयूरकटकनूपुरादिविभूषितः ॥ १७ ॥

जीवीय हृदय भी स्थूलाश्रित रहता है अतः समष्टि हृदय का भी स्थूल स्थल आश्रय है ।) जो व्यक्ति प्रतिदिन, प्रतिपक्ष, प्रतिमास, प्रति-अयन या प्रतिवर्ष भी जीवन भर श्रद्धा से उस पुर का दर्शन करता है उसे मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ८–१० ॥ वह सब पापों को शीघ्र नष्ट करता है । भोग चाहने वालों को वहाँ से भोग मिल जाता है । उस महान् तीर्थ पर पहुँच कर उग्र तप कीजिये ॥ ११ ॥ शतरुद्रीय के मध्य आने वाले पंचाक्षर मंत्र का प्रणवयुक्त कर जप कीजिये । सब सिद्धियाँ देने वाला वही सर्वश्रेष्ठ मंत्र है ॥ १२ ॥ उसका एक लाख बार जप कर दभ्रसभापति (पुण्डरीकपुरस्थ नटराज शिव) का दर्शन करिये और प्रणवयुक्त पंचाक्षर से उनकी पूजा कीजिये । वे आप पर करुणा करने वाले हैं ॥ १३¹/₂ ॥ वे ही ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी अम्बिका के पति हैं । श्रेष्ठ आनन्दताण्डव में वे ही कुशल हैं । (आनंद, संहार, चतुर, ऊर्ध्व आदि भेद से ताण्डव नाना प्रकार के हैं । प्रसिद्ध नटराज मूर्ति आनन्दताण्डव का प्रस्तुतिकरण है । मदुरै में ऊर्ध्वताण्डव की सुंदर मूर्ति है । ऐसे अन्य तांडवविग्रह तत्र तत्र देखने चाहिये ।) सब को धारण करने वाले वट की छाया में वे बैठते हैं । भस्म से विभूषित हैं । उमा सहित वे चन्द्रकलारूप शिरोमणि धारण किये हैं । चन्द्र, सूर्य व अग्नि उनके नेत्र हैं । जटाधारी हैं, काला कण्ठ उनकी शोभा है । वेदरूप यज्ञोपवीत पहने हैं । सुप्रसन्न सुस्मित भगवान् ने मस्तक पर गंगा को रख छोड़ा है तथा नागों को अलंकार बनाया है । शंकर आजानुबाहु हैं, विशाल नेत्रों वाले हैं तथा कमर में रत्नमयी मेखला से सुशोभित हैं । माला, बाजूबंध, कड़े, नूपुर आदि नाना आभरण उन पर शोभित होते हैं ॥ १४– १७ ॥ एक हाथ में उन्होंने अग्नि को

---

१. घ. °महत्ताण्डवमण्डि । २. मायोपहित इत्यर्थः ।

भस्माधारधरः[1] श्रीमानेककुण्डलमण्डितः[2] । पवित्रपाणिर्भगवान्पुण्डरीकत्वगम्बरः ॥ १८ ॥

क्वणत्किंकिणिसंयुक्तकलकाञ्चीविराजितः ।
सर्वाभरणसंयुक्तः सर्वलक्षणसंयुतः ॥ १९ ॥
गोक्षीरधवलाकारः कुन्देन्दुसदृशप्रभः ।
संसारभयभीतानामेकेनैवाभयप्रदः ॥ २० ॥
अन्येन पाणिना सर्वभक्तप्राणिपरिग्रहः ।
तदन्यकरसंलग्नसम्यग्डमरुकध्वनिः ॥ २१ ॥
वामभागोर्ध्वपाणिस्थमहादीप्तहुताशनः ।
कृपयैवाऽऽत्ममायोत्थघोरापस्मारसंस्थितः ॥ २२ ॥

स्वस्वरूपमहानन्दप्रकाशाप्रच्युतो हरः । प्रसन्नः सर्वविज्ञानमुपदेक्ष्यति स प्रभुः ॥ २३ ॥

सूत उवाच— पुण्डरीकपुरमापुरास्तिकाः श्रद्धयैव सह यत्र नृत्यति ।
अम्बिकापतिरशेषनायकश्चन्द्रमौलिरखिलामरा मुदा ॥ २४ ॥

पुण्डीरकत्वगम्बरो व्याघ्राजिनवसनः ॥ १८-२० ॥ सर्वान् भक्तान् प्राणिनोऽभिमतवरप्रदानेन परिगृह्णाति अनुगृह्णातीति सर्वभक्तप्राणिपरिग्रहः, पचाद्यच् ॥ २१ ॥ कृपयैवेति । स्वमाययोत्थितो यो घोरोऽपस्मारस्तं पादेनाक्रम्य वर्तत इति यत्तदपि तस्मिन् कृपयैव, पादस्पर्शेन स कृतार्थो भवतु – इत्येव हेतुनेत्यर्थः ॥ २२ ॥

धारण कर रखा है । अनन्तनाग उनको अलंकृत कर रहा है । एक हाथ में पवित्र (कुश) भी लिये हैं । बाघ की खाल उनका वस्त्र है ॥ १८ ॥ बजते हुए घुँघरूयुक्त करधनी भगवान् पहने हुए हैं । अन्य भी सभी श्रेष्ठ आभरण उन पर शोभायमान हैं तथा सब श्रेष्ठ लक्षणों वाला उनका शरीर है ॥ १९ ॥ गाय के दूध सा गोरा उनका रंग है जिसमें कन्दपुष्प या चंद्र की तरह चमक है । एक हाथ से वे संसारभय से डरे भक्तों को अभयमुद्रा से अभय प्रदान कर रहे हैं । दूसरा हाथ वरमुद्रा में है जिससे वे सभी भक्त प्राणियों पर अनुग्रह कर रहे हैं । तीसरे हाथ में डमरु है, उस हाथ में स्थित उत्तम डमरू की ध्वनि उनसे निकल कर फैल रही है ॥ २०—२१ ॥ ऊपर वाले बायें हाथ में प्रदीप्त अग्नि है । अपनी माया से उत्पन्न घोर अपस्मार पर उन्होंने कृपापूर्वक (यह जानकर कि मेरे पादस्पर्श से इसका कल्याण होगा) अपना चरण रखा हुआ है ॥ २२ ॥ भगवान् हर अपने स्वरूपभूत ज्ञानाऽभिन्न परमानन्द से कभी च्युत नहीं होते । वे महादेव आप पर प्रसन्न होकर सर्वात्मक परमतत्त्व के अनुभव को उत्पन्न करने वाला उपदेश देंगे ॥ २३ ॥

सूत जी बोले—विष्णु का निर्देश पाकर सब देवता श्रद्धापूर्वक पुण्डरीकपुर को गये जहाँ उमापति चंद्रमौलि प्रसन्न हो नृत्य किया करते हैं ॥ २४ ॥ वहाँ उन्होंने बहुत समय तक भस्मधारणादि नियमपूर्वक व्रत, दान

---

१. भस्माधारोऽग्निस्तत एव भस्मनः सम्भवात् । २. 'एककुण्डलोऽनन्त' इति हलायुधे । तत्र बलदेवनामत्वेऽपि तस्यानन्तावतारत्वादनन्त इह बोध्यः ।

ततः सुराश्चेरुरतीव सत्तमा विलक्षणा भूतिविभूषिताश्चिरम् ।
व्रतानि दानानि तपांसि चाऽऽदरान्मुनीश्वराः सर्वजगत्प्रिये रताः ॥ २५ ॥
पञ्चाक्षरं परममन्त्रमशेषवेदवेदान्तसारमतिशोभनमादरेण ।
जप्त्वा सुराः प्रणवसंयुतमम्बिकेशं दृष्ट्वा सभापतिमशेषगुरुं प्रणम्य ॥ २६ ॥
भक्त्याऽऽपूज्य महेश्वराख्यममलं मुक्तिप्रदं भक्तिदं
शक्त्या युक्तमतिप्रसन्नवदनं ब्रह्मेन्द्रपूर्वाः सुराः ।
नित्यानन्दनिरञ्जनामृतपरज्ञानानुभूत्या सदा
नृत्यन्तं परमेश्वरं पशुपतिं भक्त्यैकलभ्यं परम् ॥ २७ ॥
लौकिकेन वचसा मुनीश्वरा वैदिकेन वचसा च तुष्टुवुः ।
देवदेवमखिलार्तिहारिणं ब्रह्मवज्रधरपूर्वकाः सुराः ॥ २८ ॥
मुनीश्वरा महेश्वरः समस्तदेवनायकः सुरेश्वरान्निरीक्षणान्निरस्तपापपञ्जरान् ।
अनुग्रहेण शंकरः प्रगृह्य पार्वतीपतिः समस्तवेदशास्त्रसारभूतमुत्तमोत्तमम् ॥ २९ ॥

यत एवं घोरापस्मारः पादेनाऽऽक्रान्तः, अतएव महानन्दप्रकाशादप्रच्युतः ॥ २३-२६ ॥ नित्यानन्देति । आत्मनः स्वभावभूतोऽपि[1] ह्यानन्दो दशाभेदेन द्विविधः अनित्यो नित्यश्च । मायया नित्यमावृतः सञ्शुभकर्मोपस्थापितविषयेन्द्रियसंप्रयोगजनितवृत्त्यभिव्यक्तलक्षणः स्फुरन्व्यञ्जकवृत्तिविनाशे पुनस्तिरोभवन्ननित्य इत्यर्थः । परशिवस्वभावभूतस्तु निरतिशयानन्दः कदाचिदप्यनावृतत्वान्नित्यः । इत्थं ज्ञानमपि स्वभावभूतं मायया तिरोहितं सद् वृत्त्यभिव्यक्तमनित्यम् । शिवस्वरूपभूतं तु ज्ञानं मायापरनाम्नाऽञ्जनेनानावृतत्वान्न कदाचिदपि म्रियत इत्यमृतम् । क्षणिकेभ्यो वृत्तिज्ञानेभ्यो निरतिशयोत्कर्षात्तत्परं ज्ञानं नित्यमखण्डैकरसं वस्त्वत्यन्तानुकूल्येन परप्रेमास्पदत्वादानन्द इति, स्वस्वेतरव्यवहारकारणप्रकाशतया ज्ञानमिति च व्यपदिश्यते । तस्य च स्वप्रकाशस्य स्वभावभूतो यः प्रकाशः स एवानुभूतिरनुभवो नृत्यस्य कारणमित्यर्थः । नृत्यस्य च परानन्दाभिनयात्मकत्वं वर्णितं प्रथमखण्डे द्वितीयाध्याये ॥ २७-२९ ॥

और तप का आचरण किया ॥ २५ ॥ समस्त वेद-वेदान्तों के सारभूत पंचाक्षर मंत्र का प्रणवयुक्त जप किया और सब के गुरु दभ्रसभापति अम्बिकानाथ का दर्शन पाकर उनका प्रणतिपूर्वक पूजन किया ॥ २६ ॥ महेश्वर कहे जाने वाले वे सदा निर्मल हैं । भोग व मोक्ष दोनों प्रदान करने वाले हैं । वे नित्य अलुप्तशक्ति हैं । उनका मुख अतिप्रसन्न रहा करता है । नित्य आनन्दरूप निर्दोष अमृत परतत्त्व के ज्ञान की अनुभूति के कारण सदा नृत्य करते हैं । वे परमेश्वर हैं, पशुपति हैं और केवल भक्ति से प्राप्य हैं । ब्रह्मा, इंद्र आदि सुरों

1. ङ. °पि नित्यान° ।

प्रदर्शयन्नटेश्वरः समस्तदेवसंनिधौ स्वनर्तनं विमुक्तिदं महत्तरं महेश्वरः ।

समस्तलोकरक्षकं महात्मनां हृदि स्थितं निरीक्षणार्हमीश्वरोऽकरोत्सभापतिः शिवः ॥ ३० ॥

पशुपतिताण्डवदर्शनात्सुराः परममुदा विवशा विचेष्टिताः ।

पुनरमला महेश्वरं प्रणम्य प्रियवदनं विनयेन संयुताः ॥ ३१ ॥

पप्रच्छुः परमेश्वरं पशुपतिं पार्श्वस्थिताम्बापतिं सर्वज्ञं सकलेश्वरं शशिधरं गङ्गाधरं सुन्दरम् ।

विज्ञानं निखिलाः सुराः श्रुतिगतं संसारदुःखापहं निर्द्वंद्वो भगवाञ्शिवो गुरुगुरुः प्रोवाच कारुण्यतः ॥ ३२ ॥

ईश्वर उवाच— वक्ष्यामि परमं गुह्यं विज्ञानं सुरसत्तमाः ।

युष्माकं श्रद्धया सार्धं शृणुध्वं तत्समाहिताः ॥ ३३ ॥

निरीक्षणार्हमिति । अनुग्राह्याणां देवानामपरोक्षज्ञानजननलक्षणफलाद्धेतोर्नृत्यमकरोदित्यन्वयः ॥ ३०-३३ ॥

ने भक्तिपूर्वक उनकी पूजा कर लौकिक व वैदिक स्तोत्रवचनों से उनकी स्तुति की । समस्त दुःखनिवारक महादेव की स्तुति ब्रह्मा, वज्रधारी इंद्र आदि सभी देवताओं ने की ॥ २७–२८ ॥ हे मुनिश्रेष्ठो ! समस्त देवताओं के नेता, महाशासकों के शासक, पार्वतीपति शंकर ने सारे वेदशास्त्र के सर्वोत्तम सार को ग्रहण कर उसे अपने दृष्टिपात से निष्पाप हो चुके देवताओं को दिखाते हुए सब देवों के समक्ष मोक्षदायक महान् नृत्त किया जिससे दभ्रसभापति शिव ने सब लोगों के रक्षक, महात्माओं के हृदय में ज्ञातरूप से स्थित परमतत्त्व को देवताओं के देखने योग्य बना दिया ॥ २९–३० ॥ पशुपति के ताण्डव का दर्शन कर देवता परमानन्द में मग्न हो गये । कुछ समय बाद उन निर्मलचेतस्क देवों ने प्रियवदन महादेव को प्रणाम कर सविनय उनसे संसार-दुःखनिवारक वेदसिद्ध विज्ञान के विषय में पूछा । परमेश्वर, जीवपशुओं के पति, निकटस्थ पर्वती के नाथ, सर्वज्ञ, सब विद्याओं के उत्स, चंद्र व गंगा को धारण करने वाले सुन्दर भगवान् शंकर से जब सभी देवों ने वह प्रश्न किया तब द्वन्द्वसम्बन्धशून्य आदिगुरु भगवान् शिव ने करुणावश उत्तर दिया ॥ ३१–३२ ॥

भगवान् बोले—हे देवोत्तमो ! मैं तुम्हें रहस्यभूत विज्ञान बताता हूँ, श्रद्धापूर्वक एकाग्र होकर सुनो ॥ ३३ ॥ आत्मा है । (नास्तिकों की तरह यह न समझ लेना कि आत्मा है ही नहीं; वह है ।) वह मन व वाणी का विषय नहीं, उसे अन्य किसी के सहारे नहीं जाना जाता; वह है अतएव जाना भी जाता है । उसका कोई आश्रय नहीं, वह स्वयं अपने ही आश्रित है । आत्मा आनन्दस्वरूप है, नित्यज्ञानस्वरूप है । यह आत्मा अपने से भिन्न कोई तत्त्व नहीं, मैं–प्रत्यगात्मा–ही हूँ इसमें संदेह नहीं ॥ ३४ ॥ उस मुझ

आत्मा तावत्सुरा अस्ति स्वसंवेद्यो निरास्पदः ।

आनन्दः पूर्णचैतन्यः सदा सोऽहं[1] न संशयः ॥ ३४ ॥

तस्य काचित्सुराः शक्तिर्मायाख्याऽस्ति विमोहिनी ।

विचारवेलायां साऽऽत्मा भवत्येव न चान्यथा ॥ ३५ ॥

देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः सद्भावे हि बहवो विप्रतिपन्नाः । अत एव नचिकेता यमं प्रति व्यतिरिक्तात्मसद्भावसंशयमेव प्रथममुदाजहार 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहम्' इति । यमोऽपि तस्य दुरधिगमतामेव प्रथममाह–'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः' इति । तदस्तित्वमेव च प्रथमतो ज्ञातव्यमित्याह तैत्तिरीयकश्रुतिः–'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः' इति । काठकेऽपि–'अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति' इति । अतः परमेश्वरो देवान्प्रत्यात्मनः सद्भावमेव तावदाह–आत्मा तावत्सुरा अस्तीति । अस्ति तावत्स्वतस्तस्य स्वरूपप्रमाणप्रकारविशेषा अप्यग्रत एवोच्यन्त इति तावच्छब्दार्थः । स्वमसाधारणं रूपमाह–निरास्पद इति । मायातत्कार्यजातं सकलमात्मास्पदम् । आत्मा तु 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इति श्रुतेः स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वादनन्यास्पद इति । तदेव तस्यासाधारणं रूपमित्यर्थः । प्रमाणमाह–स्वसंवेद्य इति । 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति वाङ्मनसविषयातिवर्तिनि तस्मिन्भगवति स्वभावभूतः प्रकाश एव मुख्यं प्रमाणमित्यर्थः । ज्ञानातिरिक्तस्य जडत्वेन ज्ञानस्यैव स्वयंप्रकाशत्वात्तस्य च क्षणिकत्वात्तद्रूपस्याऽऽत्मनोऽपि तथात्वमिति भ्रमं व्युदस्यति–पूर्णचैतन्य इति । वृत्त्यवच्छेदेन हि चैतन्यं क्षणिकमिव भवति । तदनवच्छिन्नं तु परिपूर्णं तन्नित्यमित्यर्थः। इत्थं दुरधिगमस्य प्रयत्नतोऽधिगमे फलमाह–आनन्द इति । इत्यमुक्तरूपस्य ज्ञातव्यस्य तत्त्वस्य ज्ञातुरात्मनः पृथक्त्वं वारयति–सोऽहमिति । प्राक्पृथग्भूतस्यैव जीवस्य शिवतादात्म्यमुपायैर्लभ्यमिति केचन भ्रान्ताः । यदाहुः–'आ मुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च । मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः ॥' इति । तान्वारयति–सदेति । अत्रास्तीति सत्यत्वम् । स्वसंवेद्य इति ज्ञानत्वम् । पूर्ण इत्यनन्तत्वम् । आनन्द इति सुखत्वम् । सोऽहमिति प्रत्यक्त्वमिति रूपपञ्चकमुक्तम् । तेन सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मत्वलक्षणेन रूपपञ्चकेनानृतजडान्तवत्त्वदुःखानात्मत्वभ्रमव्युदासेनाखण्डैकरसं स्वरूपमुपदिष्टमिति द्रष्टव्यम्[2] ॥ ३४ ॥ इत्थमेकरसे तस्मिन्वस्तुनि कथं देहाभासजगदवभासाविति ? तत्राऽऽह–तस्य काचिदिति । तदाश्रितमायाविलासमात्रमेतत्तथात्वं च विचारजनितज्ञाननिवर्त्यत्वादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

आत्मा की एक माया नामिका शक्ति है जिसका काम मोह उत्पन्न करना है । विचार करने पर तो वह माया भी उसी तरह आत्ममात्र पता चलती है जैसे सर्प प्रमाकाल में रज्जुमात्र पता चलता है ॥ ३५ ॥ समस्त जगत् के संस्कारों वाली माया से अभिन्न हुआ आत्मा प्रलय काल में रहता है । (आत्मा का अज्ञान से अभिन्न होना उसका आश्रय और विषय होना ही है । स्वाश्रय में अध्यासरूप से ही अज्ञानादि शब्दित

---

१. 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेश' इति न्यायेनोक्तमहमिति । २. तदुक्तं ' नित्यःशुद्धः बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यःसूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः । आनन्दाब्धिः यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातु र्नात्र संशीतिरस्ति' (सं.शा. १.१७३) इति । आनन्दाद्यधिकरणे (३.३.६) विवरणाचार्याः सत्यज्ञानानन्दात्मानन्तपदानां सर्वत्रोपसंहारं सिद्धान्तयन्ति स्म ।

तदभेदेन सोऽप्यात्मा प्रलये जगतः[1] स्थितः ।

तस्मिन्प्रपञ्चसंस्कारः स्थितः सर्वः सुरोत्तमाः ॥ ३६ ॥

स्वभावादेव[2] संक्षुब्धा वासना कर्मणा भवेत् ।

ततस्तत्क्षोभयुक्तात्माऽविक्रियोऽपि स्वभावतः ॥ ३७ ॥

क्षोभकः कालतत्त्वस्य पुनः कालेन संयुतः ।

ईक्षणं पूर्ववत्कृत्वा पुनर्ब्रह्मादिकं जगत् ॥ ३८ ॥

प्राकृतप्रतिसंचरे तर्हि मायाया अपि नष्टत्वात्कुतः पुनः प्रादुर्भाव इत्यत आह—**तदभेदेनेति** । ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चा माया स्वप्रतिष्ठ[3]ठत्वादत्यन्तनिर्विकल्पकेन चैतन्येन विविच्यमानाऽपि तादात्म्याध्यासात्प्रकाशेनैव प्रकाशमाना वर्तत एव । 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले संप्रलीयते' इत्यपि विवेकावभासविरहमात्राभिप्रायमेवेति प्रपञ्चितं प्रथमखण्डे पञ्चमाध्याये। तदवस्थाया मायाया यथापूर्वं जगदुत्पत्तौ बीजमाह—**तस्मिन्निति** । परिपक्वस्य कर्मणो भोगप्रदानेन क्षीणत्वादितरस्य चापरिपाकाद्भोग्यः प्रपञ्चः सकलोऽपि मायाशबलिते तस्मिन्नात्मनि लीनः संस्काररूपेण वर्तमानः पुनः सर्गस्य बीजम् ॥ ३६ ॥ संस्कारापरपर्यायवासनावशात्प्राप्तपरिपाकेण[4] कर्मणा क्षुब्धा कार्याभिमुख्यं प्रापिता भवतीत्यर्थः । परिपक्वस्य हि कर्मणः स्वभाव एव स यद्वासनाक्षोभकत्वम् । कूटस्थनित्यतया स्वतो निर्विकारेणापि विकृतवासनासंयोगाद्विकारमिव प्राप्तेनाऽऽत्मना क्षोभं कार्याभिमुख्यं नीयत इत्याह—**ततस्तत्क्षोभेति** ॥ ३७ ॥ 'कालो मायात्मसंबन्धः' इत्युक्तलक्षणः कालः । **ईक्षणमिति** । कालकर्मयुक्तश्चाऽऽत्मा 'स ईक्षत[5] लोकान्नु सृजा इति' इत्यादिश्रुत्युक्तपरिपाट्या प्राक्तनसर्गपरम्परासदृशमेव सर्गं करोति । 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ ३८ ॥

माया रहती है।) ॥ ३६ ॥ कर्मों का स्वभाव है कि परिपक्व होने पर—फलोन्मुख होने पर—सूक्ष्म को व्यक्त होने के लिये प्रेरित करते हैं अतः पुनः सृष्टि के आरम्भ में कर्मों द्वारा माया में स्थित वासनायें क्षुब्ध हुईं—व्यक्त होने के लिये प्रेरित हुईं । स्वभावतः अविकारी आत्मा उन क्षुब्ध वासनाओं वाला हुआ (क्षुब्ध वासनाओं वाली माया से तादात्म्यापन्न हुआ) कालतत्त्व का क्षोभक बनता है—कालप्रवृत्ति करता है । (माया व आत्मा का विशिष्ट संबंध काल है ।) काल से युक्त हो आत्मा ने सृष्टि के लिये विचार किया और पूर्वकल्प के समान ब्रह्मादि जगत् रच दिया । रचे जगत् में मोहशब्दित स्वकीय शक्तिरूप माया के कारण ही आत्मा ने प्रवेश किया—शरीरों में तादात्म्याध्यास कर लिया । ज्ञाता-ज्ञेय आदिरूप, अशुद्ध, स्वप्नसम, अनादि-अनन्त, विस्तृत इस संसारमण्डल में अवश होकर कर्मानुसार विचित्र योनियाँ पाकर वह—मैं—आत्मा ही सुख-दुःख से

---

१. ग. °गति स्थि° । २. माययैवेत्यर्थः । कर्मपाकादिः मायासिद्ध एव नान्यथा । प्रलये सर्वेषामव्यक्तत्वे कर्मणामपि तथात्वादव्यक्तस्य च क्रियाकारित्वाभावाल्लीनं कर्म क्षोभत इति वक्तुमनौचित्यात्कर्मणामभिव्यक्तिहेतुतयाऽन्यस्वीकारेऽनवस्थानादस्वीकारेस्वभाववादापत्तेः कर्मवैयर्थ्याद् मायैवानिर्वाच्यतया सर्वस्य क्षोभादेः निदानमित्यभ्युपेयम् । परमार्थतस्त्वजातिः । ३. ग. °तिष्ठितत्वा° । ४. घ. °पर्यायप्राप्त° । क. ख. ग. °पर्याया वा° । ५. क. घ. °त इमाल्लोका° ।

सृष्ट्वाऽनुप्राप्य तन्मोहात्सुराः संसारमण्डले । ज्ञेयज्ञात्रादिकेऽशुद्धे स्वप्नतुल्ये महत्तरे ॥ ३९ ॥
अनाद्यन्तेऽवशो भूत्वा सुराः कर्मानुरूपतः । विचित्रां योनिमासाद्य सुखदुःखादिपीडितः ॥ ४० ॥
पूर्वजन्मार्जितात्पुण्यान्नरो भूत्वा महीतले ।
मत्प्रसादेन[१] वेदोक्तं कर्म कृत्वा विशुद्धधीः ॥ ४१ ॥
विचार्य सर्वं दुःखाद्यमनित्यं सारवर्जितम् । विरक्तो मोक्षमाकाङ्क्षन्मोक्षोपायं महत्तरम् ॥ ४२ ॥
वेदेन दर्शितं सम्यक्संपाद्यास्मत्प्रसादतः ।
आत्ममात्रां परां मुक्तिं प्राप्नोत्यात्मा स्वयं सुराः ॥ ४३ ॥
सर्वेषामात्मविज्ञानादेव मुक्तिर्न चान्यतः । ज्ञानादन्यत्सुराः सर्वं विज्ञानस्यैव साधनम् ॥ ४४ ॥
तत्र [२]शान्त्यादिकं सर्वमिहैव ज्ञानसाधनम् ।
मम स्थाने मृतिः शुद्धे वाराणस्यादिके सुराः ॥ ४५ ॥

सृष्ट्वाऽनुप्राप्येत्यादि । मायातीतः परमात्मा प्राणिकर्मप्रेरणाजनितलीलासर्गप्रवृत्तो विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकः स्रष्टा भूत्वा, राजसतामसमायामयं भोक्तृभोग्यलक्षणं प्रपञ्चं सृष्ट्वा, तत्तादात्म्याभिमानं तदनुप्रवेशं च विधाय सुखदुःखमयं संसारमनुभवति । 'इदं सर्वमसृजत तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः ॥ ३९ ॥ ४० ॥ इत्थं संसरतो[३] जीवस्यापवर्गप्रक्रियामाह–पूर्वजन्मेत्यादि ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ज्ञानकर्मणोरुभयोरुक्तत्वात्समसमुच्चयभ्रमनिवर्तनाय क्रमसमुच्चय इत्याह–सर्वेषामिति ॥ ४४ ॥

पीडित है ॥ ३७–४० ॥ पूर्वजन्म में इकट्ठे किये पुण्यों से कभी नरयोनि में आता है और मुझ ईश्वर की कृपा से वेदोक्त कर्म कर शुद्ध बुद्धि वाला हो जाता है ॥ ४१ ॥ बुद्धिशुद्धि के कारण संसार को असार, अनित्य और दुःखरूप समझ इससे विरक्त होता है और मोक्ष चाहते हुए वेदप्रदर्शित मोक्ष के महान् उपाय ज्ञान को पाकर हमारी कृपा से आत्ममात्ररूप परा मुक्ति पा जाता है ॥ ४२–४३ ॥ सभी को आत्मज्ञान से ही मोक्ष हो सकता है, अन्य साधन से नहीं । ज्ञान से अन्य जो कुछ भी वेदविहित है वह सब ज्ञानप्राप्ति का उपाय है ॥ ४४ ॥ विहित कर्मों में जो शान्ति, दान्ति आदि हैं वे इस जन्म में ही ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं । मेरे विशिष्ट वाराणसी आदि स्थानों पर मरना योग्य व अयोग्य सभी के लिये मरने के बाद ज्ञान पाने का उपाय है ॥ ४५–४६ ॥ सभी मंत्रों में पंचाक्षर उत्तम है, सभी मार्गों में वेदोक्त मार्ग उत्तम है, सभी प्राप्तव्यों में मोक्ष उत्तम है ॥ ४७ ॥ देवताओं में प्रमुख मैं–महादेव–

१. अनुप्रवेशादुत्तरं जीवेश्वरभेदं पश्यति । यमीश्वरं चिन्तयति तमाराधयति । ततोऽसौ प्रसन्नो भूत्वाऽस्मै फलं ददाति । नचैवमीश्वरो जीवकल्पित इति वाचस्पतिमतप्रवेशः । जीवोऽपि केन कल्पितः ? यो जीवं कल्पयति सएवेश्वरमपीत्यर्थः । ततः शुद्धःपन्थाः । सईश्वरोऽत्रास्मच्छब्दार्थः । २. ङ. सांख्यादिकं ।
३. ग. घ. ङ. संसारतो ।

अयोग्यानां च योग्यानां नराणां मरणात्परम् ।
विशुद्धब्रह्मविद्यायाः साधनं सुरसत्तमाः ॥ ४६ ॥
श्रीमत्पञ्चाक्षरो मन्त्रो मन्त्राणामुत्तमोत्तमः । मार्गाणां वेदमार्गश्च प्राप्यानां मुक्तिरुत्तमा ॥ ४७ ॥
देवतानामहं मुख्यः स्थानानां सुरसत्तमाः ।
मम स्थानानि मुख्यानि तेषां वाराणसी तथा ॥ ४८ ॥
श्रीकालहस्तिशैलाख्यं श्रीमद्वृद्धाचलाभिधम् । पुण्डरीकपुरं तद्वच्छ्रीमद्वल्मीकमुत्तमम् ॥ ४९ ॥
वेदारण्यसमाख्यं च स्थानं मुख्यं सुरोत्तमाः ।
एषां मुख्यतमा ख्याता श्रीमद्वाराणसी पुरी ॥ ५० ॥
पुण्डरीकपुरमप्यतिप्रियं वित्त सर्वसुरसत्तमा मम ।
भुक्तिमुक्तिकरमाशु देहिनां भक्तिलभ्यमतिशोभनं सदा ॥ ५१ ॥
अस्माभिः सुरसत्तमा अभिहितं विज्ञानमत्यद्भुतं युष्माकं मुनिपुंगवैरपि तथा सर्वार्थपारं गतैः ।
मद्भक्तैरतिशोभनं पुरवरं संसेवनीयं नरैर्मुक्त्यर्थं
परमास्तिकैरिति परा साध्वी श्रुतिर्वक्ति हि ॥ ५२ ॥
सूत उवाच– एवं महेश्वरः साक्षाच्छ्रीमद्दभ्रसभापतिः ।
देवदेवो जगन्नाथः पशुपाशविमोचकः ॥ ५३ ॥
आम्नायान्तैकसंवेद्यः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ।
अम्बिकासहितः श्रीमान्प्रोवाच ज्ञानमुत्तमम् ॥ ५४ ॥
देवाश्च ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तोत्थं विमुक्तिदम्।
श्रुत्वा सर्वेश्वरं विप्राः प्रणिपत्य महीतले ॥ ५५ ॥
लौकिकैर्वैदिकैः स्तोत्रैः स्तुत्वा भक्त्या सभापतिम् ।
पूजां प्रचक्रिरे देवाः श्रीमत्पञ्चाक्षरेण वै ॥ ५६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे व्याघ्रपुरे देवोपदेशकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

विदुषामुपायमभिधाय विद्वदविद्वत्साधारणमुपायमाह–मम स्थान इत्यादि ॥ ४५-५१ ॥ साध्वी श्रुतिरिति । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वरणायाम्' इत्यादिकेत्यर्थः ॥ ५२-५६ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्डे व्याघ्रपुरे देवोपदेशकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

हूँ । स्थानों में मेरे विशिष्ट स्थान मुख्य हैं । उनमें भी वाराणसी, श्रीकालहस्तीश्वर, वृद्धाचल, पुण्डरीकपुर वल्मीक और वेदारण्य प्रधान हैं । इनमें भी श्रेष्ठतम है वाराणसी ॥ ४७-५० ॥ पुण्डरीकपुर भी मुझे अतिप्रिय है यह समझ लो । वह अति उत्तम स्थान भक्ति से प्राप्य है और देहधारियों को शीघ्र ही भोग व मोक्ष प्रदान करता है ॥ ५१ ॥ इस प्रकार हमने अत्यद्भुत आत्मविज्ञान आप लोगों को बता दिया । जो कोई भी आस्तिक व मेरे भक्त मोक्ष चाहें उन्हें सब पुरियों में श्रेष्ठ वाराणसीपुरी में वास करना चाहिये । श्रुति को भी यह अभीष्ट है ॥ ५२ ॥

सूतजी बोले–महेश्वर, दभ्रसभापति (पुण्डरीकपुर के अधीश्वर), महादेव जगन्नाथ, पशुओं के पाश निवृत्त करने वाले, उपनिषद्वेद्य, सदा सबके साक्षी, अम्बिकासहाय स्वयं शंकर ने यों उत्तम ज्ञान का उपदेश देवताओं को दिया ॥ ५३–५४ ॥ देवताओं ने श्रवण कर भगवान् को दण्डवत् प्रणाम किया, उनकी स्तुति और पंचाक्षर मंत्र से पूजा की ॥ ५५–५६ ॥

नवमोऽध्यायः

मुनय ऊचुः—भवता सर्वमाख्यातं संक्षेपाद्विस्तरादपि । भवत्प्रसादादस्माभिर्विज्ञातं च विचक्षण ॥ १ ॥

तथाऽपि देवदेवस्य शिवस्य परमात्मनः । विश्वाधिकस्य रुद्रस्य ब्रह्मणः सर्वसाक्षिणः ॥ २ ॥

नर्तनं द्रष्टुमिच्छामः शंकरस्याम्बिकापतेः । अतः कारुण्यतोऽस्माकं तदुपायं वदाद्भुतम् ॥ ३ ॥

सूत उवाच— शृणुध्वं तत्प्रवक्ष्यामि श्रद्धया वेदवित्तमाः । पुरा नन्दीश्वरं धीमानपृच्छच्छौनको मुनिः ॥ ४ ॥

सोऽपि कारुण्यतः श्रीमान्नन्दी वेदविदां वरः । शौनकायाब्रवीन्नत्वा महादेवं घृणानिधिम् ॥ ५ ॥

नन्दिकेश्वर उवाच— कैलासे संध्ययोः शंभुः करोत्यानन्दनर्तनम् ।

तच्छिवा केवलं पश्यत्यन्यस्तत्र न पश्यति ॥ ६ ॥

पुण्डरीकपुरे रुद्रः शौनकाऽऽनन्दनर्तनम् । श्रीमद्दभ्रसभामध्ये करोति भगवान्सदा ॥ ७ ॥

तत्रापि शौनकाम्बाऽपि स्कन्दो विघ्नेश्वरोऽपि च ।

क्षेत्रपालो मया सार्धं पश्यत्यन्यो न पश्यति ॥ ८ ॥

उक्तमुक्त्युपायजातमध्ये भगवन्नृत्यदर्शनस्यैव सुकरत्वं सुलभत्वं महाफलत्वं च [१]निश्चिन्वतां मुनीनां तदुपायगोचरं प्रश्नमवतारयति—भवता सर्वमिति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ पृष्टमुपायं ब्रुवाणः सूतस्तत्र प्रत्ययदार्ढ्याय पुरावृत्तमुदाहरति—पुरेत्यादि ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ कैलासे नित्यं सतोऽपि नर्तनस्य दर्शनं दुर्लभमिति यत्र स्थाने सुलभं तदाह—पुण्डरीकपुर इति ॥ ७ ॥ अम्बाऽपि गौर्यपि ॥ ८ ॥

ईश्वर-नृत्यदर्शन नामक नवाँ अध्याय

मुनियों ने कहा—हे विद्वन् ! आपने संक्षेप व विस्तार से सारी बातें समझा दी और आपकी कृपा से हमने समझ भी लीं ॥ १ ॥ फिर भी हम संसारातीत, दुःखद्रावक, परब्रह्म, सर्वसाक्षी, कल्याणरूप, कल्याणकारी, अम्बिकापति परमात्मा महादेव का नृत्य देखना चाहते हैं । अतः कृपाकर उसका उपाय बताइये ॥ २–३ ॥

सूत जी बोले—हे वेदज्ञश्रेष्ठो ! मैं उस विषय में भी बताता हूँ, श्रद्धापूर्वक सुनिये । प्राचीन काल में शौनक मुनि ने नन्दीश्वर से यही बात पूछी थी ॥ ४ ॥ वेदवेत्ता श्रीमान् नन्दी ने करुणासागर महादेव को प्रणाम कर कृपावश शौनक से यों कहा था—॥ ५ ॥

नन्दीश्वर ने कहा—कैलास में प्रातः सायं दोनों सन्ध्याओं के समय शम्भु आनन्दपूर्वक नाचते हैं किंतु उसे केवल भगवती देखती हैं, अन्य कोई वहाँ शिवनर्तन नहीं देख सकता ॥ ६ ॥ पुण्डरीकपुर में दभ्रसभा के मध्य रुद्र भगवान् सदा आनन्दनर्तन किया करते हैं ॥ ७ ॥ वहाँ भी देवी गौरी, स्कंद, विघ्नेश्वर, क्षेत्रपाल और मैं ही उसका दर्शन करते हैं अन्य नहीं ॥ ८ ॥

---

१. ख. विचिन्यतां । ग. विनिश्चिन्वतां ।

येषां प्रसादो देवस्य शौनकास्ति महत्तरः । ते प्रपश्यन्ति तत्रैव महानर्तनमैश्वरम् ॥ ९ ॥

तस्मात्प्रसादसिद्ध्यर्थं शौनक श्रद्धया सह । पुण्डरीकपुरं गत्वा रवौ चापस्थिते सति ॥ १० ॥

आर्द्रायां प्रातरेव त्वं शुचिर्भूत्वा समाहितः । शिवगङ्गाभिधे तीर्थे स्नानं कृत्वा महत्तरे ॥ ११ ॥

यथाशक्ति धनं धान्यं दत्त्वाऽन्यद्वाऽनसूयवे[1] ।
उपोष्य दिनमेकं वा श्रीमूलस्थाननायकम् ॥ १२ ॥

भक्त्या प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य भुवि दण्डवत् । श्रीमत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं जपित्वाऽयुतमादरात् ॥ १३ ॥

दिने दिने मुनेऽब्दान्ते स्नानं कृत्वा यथा पुरा ।
प्रणम्य देवमीशानं श्रीमूलस्थाननायकम् ॥ १४ ॥

पुनर्नित्यं महाभक्त्या श्रीमदभ्रसभापतिम् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ १५ ॥

श्रीमत्पञ्चाक्षरं मन्त्रं जपित्वा पूर्ववत्पुनः । वत्सरान्ते यथाशक्ति धनं दत्त्वा सभापतेः ॥ १६ ॥

पूजां पञ्चाक्षरेणैव कुरु श्रद्धापुरःसरम् । पुनः प्रसादस्ते[2] तस्य भविष्यत्येव शौनक ॥ १७ ॥

बहवो देवदेवस्य नृत्यमत्र प्रसादतः । दृष्ट्वा स्ववाञ्छितं सर्वं प्राप्तवन्तो मुनीश्वराः ॥ १८ ॥

सूत उवाच– एवं नन्दीशवचनं श्रुत्वाऽसौ शौनको मुनिः ।
सर्वं कृत्वा क्रमेणैव श्रद्धया मुनिसत्तमाः ॥ १९ ॥

प्रसादेन महेशस्य नर्तनं सर्वसिद्धिदम् । दृष्ट्वा दभ्रसभामध्ये भवान्या सह शौनकः ॥ २० ॥

अतीव प्रीतिमापन्नः स्तोत्रैः स्तुत्वा यथाबलम् ।
भक्त्या परवशो भूत्वा किंचित्कालं महामुनिः ॥ २१ ॥

पुण्डरीकपुरे दर्शनलाभोपायमाह–येषामिति ॥ ९-२१ ॥

जिन पर भगवान् की अत्यधिक कृपा हो जाती है वे भी वहाँ शिवनृत्य का दर्शन पा लेते हैं ॥ ९ ॥ इसलिये हे शौनक ! तुम पुण्डकरीकपुर जाओ । सूर्य जब धनु राशि में और आर्द्रा नक्षत्र हो तो प्रातः ही शिवगंगानामक महान् तीर्थ में स्नान कर शुद्ध हो, किसी असूयारहित व्यक्ति को यथाशक्ति धन धान्य आदि का दान कर एक दिन व्रत रख दण्डवत् प्रणाम कर प्रधानदेवता (नटराज शिव) की पंचाक्षर जपते हुए परिक्रमा करना ॥ १०–१३ ॥ फिर इसी तरह प्रतिदिन स्नान व तीन प्रदक्षिणायें करना । एक साल पूरा होने पर धनदान और शिवपूजा करना । हे शौनक ! यों करने से तुम पर शिवकृपा होगी ॥ १४–१७ ॥ अनेक मुनियों ने भगवत्कृपा पाकर वहाँ उनके नृत्य का दर्शन किया है ॥ १८ ॥

---

१. ग. ०न्यद्ब्राह्मणाय च ॥ उ० । २ ङ. ०दतस्तस्य ।

पुनश्च दृष्ट्वा देवेशं नृत्यन्तं देवनायकम् । प्रमोदेन स्वयं विप्रा अकरोद्दण्डनर्तनम् ॥ २२ ॥

देवदेवोऽपि संतुष्टः शौनकाय द्विजोत्तमाः ।

प्राह गम्भीरया वाचा शौनकं त्वं महामुने ॥ २३ ॥

वेदानामादिभूतस्य ऋग्वेदस्य ममाऽऽज्ञया ।

भव निर्वाहकस्तत्र शाकल्यस्य[1] विशेषतः ॥ २४ ॥

एवमाज्ञापितस्तेन शिवेन मुनिसत्तमः । शौनको भगवान्विप्रास्तथा निर्वाहकोऽभवत् ॥ २५ ॥

तस्य शिष्यस्तु विप्रेन्द्रास्तद्वाक्यादाश्वलायनः । पूर्वोक्तेनैव मार्गेण भगवन्तं त्रियम्बकम् ॥ २६ ॥

श्रीमद्दभ्रसभामध्ये नृत्यन्तं देवनायकम् । दृष्ट्वा प्रणम्य मेधावी प्रसादेन शिवस्य तु ॥ २७ ॥

अभवत्सूत्रकृद्विप्राः शाकल्यस्य महामुनिः । एवं पूर्वोक्तमार्गेण श्रद्धया बहवो जनाः ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा दभ्रसभामध्ये नर्तनं शंकरस्य तु । कृतार्था वेदविच्छ्रेष्ठा अभवन्नचिरेण तु ॥ २९ ॥

तस्माद्भवन्तोऽपि पुरोक्तवर्त्मना शिवस्य नृत्तं शिवया निरीक्षितम् ॥

दृष्ट्वा महेशस्य हरस्य शूलिनः प्रसादमात्रेण विमुक्तिभागिनः ॥ ३० ॥

दण्डनर्तनमिति । दण्डप्रणामैः सहितं हर्षोत्कर्षनिमित्तवशप्रवृत्तं [2]नृत्तमित्यर्थः ॥ २२ ॥ २३ ॥ भव निर्वाहक इति । अत एव महाव्रते होतृप्रयोगस्य निर्वाहः शौनकेन कृतः । शाकल्यस्येति । शाकल्यकृतपदविभागानुसारेण हि शौनक ऋग्विधानबृहद्देवतामहाव्रतप्रयोगादिग्रन्थानकार्षीदित्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥

सूत जी बोले—इस प्रकार नन्दीश्वर के वचन सुन शौनक ने तदनुसार ही सब संपन्न किया ॥ १९ ॥ महेश्वर की कृपा पाकर भवानी आदि सहित शौनक ने भी शिवनृत्य का दर्शन किया । वह नृत्य सभी सिद्धियों का प्रदाता है ॥ २० ॥ वे मुनि शौनक अत्यन्त प्रसन्न हुए और विविध स्तोत्रों से उन्होंने महादेव की स्तुति की ॥ २१ ॥ भक्ति के आवेश में शौनक भी दण्डवत्प्रणाम करते हुए नाचने लग पड़े ॥ २२ ॥ सन्तुष्ट हुए देवाधिदेव ने गंभीर वाणी में उनसे कहा, 'हे महामुनि ! तुम मेरी आज्ञा से वेदों में प्रथम गिने जाने वाले ऋग्वेद के निर्वाहक (प्रचारक, अध्यापक) बनो, उसमें भी विशेषकर शाकल्यशाखा का विस्तार करो ।' ॥ २३–२४ ॥ भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर शौनक ऋग्वेद की शाकल्य शाखा के निर्वाहक बने ॥ २५ ॥ उनके शिष्य आश्वलायन ने गुरु शौनक के निर्देशानुसार पूर्वोक्त प्रकार से शिवकृपा पाकर ईश्वरनृत्य का दर्शन किया । वे शाकल्यशाखा के सूत्रकार हुए ॥ २५–२७½ ॥ इसी प्रकार अन्य भी श्रद्धालुओं ने भगवदाराधना कर उनका नृत्य करते हुए दर्शन किया है और कृतार्थ हुए हैं ॥ २८–२९ ॥ अतः आप लोग भी नन्दीश्वरोक्त विधान से शिवनृत्य का दर्शन कीजिये जिसे शिवा सप्रेम देखा करती हैं । त्रिशूलधारी, पापहारी महेश की कृपा से ही मुक्ति पा जाइये । परतत्त्व की प्राप्ति का उपाय

१. ङ. शाकलस्य । २. ग. ङ. नृत्यमि° ।

भवत, परमतत्त्वप्राप्त्युपायो मयोक्तः सकलगुरुवराणामुत्तमो व्याससंज्ञः ।
अवददतिरहस्यं मे पुरा श्रद्धयैव प्रवरगुणनिधानः पद्मनाभांशभूतः ॥ ३१ ॥

एवमुक्त्वा मुनीन्द्रेभ्यः सूतः पौराणिकोत्तमः ।
कृष्णद्वैपायनं व्यासं सस्मार श्रद्धया सह ॥ ३२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे श्रीमान्महाकारुणिकोत्तमः । कृष्णाजिनी सोत्तरीय आषाढेन विराजितः ॥ ३३ ॥
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गः शुद्धतिर्यक्त्रिपुण्ड्रधृत् । रुद्राक्षमालाभरणो जपन्पञ्चाक्षरं मुदा ॥ ३४ ॥

शिष्यैस्तादृग्विधैर्युक्तो महात्मा स्वयमागतः ।
तं दृष्ट्वा परमप्रीत्या प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ ३५ ॥
सूतः स्वशिष्यैर्मुनिभिः सह सत्यवतीसुतम् ।
तत्पादपङ्कजद्वंद्वं निधाय शिरसि क्रमात् ॥ ३६ ॥

चक्षुषोर्हृदये चैव संतोषाद्गद्गदस्वरः । पादप्रक्षालनं कृत्वा पवित्रं तज्जलं पुनः ॥ ३७ ॥

न केवलं स्वयमकार्षीत् किंतु स्वशिष्यमाश्वलायनमपि तथाकरणे नियुक्तवान् । स आश्वलायनोऽपि तथा कृतवानित्याह– तद्वाक्यादाश्वलायन इत्यादि ॥ २६-३२ ॥ आषाढेनेति । 'आषाढो व्रतिनां दण्डः' इति हलायुधः ॥ ३३-३७ ॥

मैंने बता दिया है । यह रहस्य मुझे सब उत्तम गुरुओं में श्रेष्ठ व्यास जी ने बताया था । प्रशस्त गुणों के खजाने, विष्णु के अंशावतार व्यास जी ने बड़े आदर से इस विद्या का उपदेश दिया था ॥ ३०–३१ ॥ यों कहकर सूतजी ने श्रद्धापूर्वक निजगुरु कृष्णद्वैपायन व्यास का स्मरण किया ॥ ३२ ॥ इसी समय व्यास जी स्वयं वहाँ आ गये । वे परम दयालुओं में उत्तम हैं । उत्तरीय सहित काला मृगचर्म पहने हुए व्रतदण्ड लिये वे वहाँ पहुँचे ॥ ३३ ॥ उन्होंने सारे शरीर पर भस्म का उद्धूलन किया हुआ था तथा परम पवित्र त्रिपुण्ड्र धारण किये थे । रुद्राक्षमाला से सज्जित थे व पंचाक्षरमंत्र का जप कर रहे थे ॥ ३४ ॥ उनकी शिष्यमण्डली उनके साथ थी और सब शिष्यों ने भी भस्म व रुद्राक्ष धारण किया था तथा पंचाक्षरी का मंद उच्चारण कर रहे थे । अपने गुरु सत्यवतीपुत्र श्री व्यासदेव को देखकर रोमहर्षण बड़े प्रसन्न हुए और अपने शिष्य सब मुनियों समेत उन्होंने उन्हे दण्डवत् प्रणाम किया । उनके चरणकमल को क्रमशः अपने सिर, चक्षु व हृदय से स्पर्श कराया । हर्ष से गद्गद स्वर वाले हो सूतजी ने व्यास जी के पैर धोये और चरणामृत पान किया और गुरु की यथायोग्य पूजा की । वेद की तरह हमेशा सत्य होने वाले व्यासवचन सूतजी ने गुरुजी से प्रार्थना कर अपने शिष्यों को सुनवाये–सूत के अनुरोध पर व्यास जी ने प्रवचन किया जिसे सभी ने सुना । फिर सब मुनियों समेत सूतजी व्यास जी के साथ व्याघ्रपुर को गये जो पुरुषार्थसिद्धि का उत्तम व दिव्य स्थान है ॥ ३५–३९ ॥

पीत्वा यथार्हं संपूज्य व्यासं शिष्यगणावृतम् ।

तद्वाक्यं वेदवत्सत्यं स्वशिष्यान्वेदवित्तमान् ॥ ३८ ॥

श्रावयित्वा महाधीमान्सह तेनाखिलैरपि । श्रीमद्व्याघ्रपुरं दिव्यमवाप पुरुषार्थदम् ॥ ३९ ॥

पुनः सर्वे मुनिश्रेष्ठा वेदव्यासपुरोगमाः । चापे सूर्ये स्थिते रौद्रे नक्षत्रे श्रद्धया सह ॥ ४० ॥

स्नानं कृत्वा महातीर्थे शिवगङ्गाभिदे वरे ।

यथाशक्ति धनं दत्त्वा ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ४१ ॥

उपोष्यैकं दिनं दृष्ट्वा श्रीमूलस्थाननायकम् । प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा प्रणम्य धरणीतले ॥ ४२ ॥

षडक्षरेण मन्त्रेण श्रीमूलस्थाननायकम् । समाराध्यायुतं नित्यं जपित्वा मन्त्रमुत्तमम् ॥ ४३ ॥

वत्सरान्ते च तीर्थेऽस्मिन्स्नानं कृत्वा महत्तरे ।

प्रदत्त्वाऽऽपूज्य देवेशं श्रीमूलस्थाननायकम् ॥ ४४ ॥

ततः सभापतिं नित्यं प्रणम्य भुवि दण्डवत् ।

मन्त्रं षडक्षरं नित्यं जपित्वाऽयुतमादरात् ॥ ४५ ॥

वत्सरान्ते धनं दत्त्वा ब्राह्मणानां यथाबलम् । श्रीमत्पञ्चाक्षरेणैव सतारेण महेश्वरम् ॥

पूजयामासुरत्यन्तं श्रद्धयैव सभापतिम् ॥ ४६ ॥

तद्वाक्यं व्यासवाक्यम् ॥ ३८ ॥ व्याघ्रपुरप्रभावेऽ(वा)तिशयनक्षत्र(येनेद)म् । रौद्रे नक्षत्र आर्द्रायाम् ॥ ३९-५६ ॥

वेदव्यास प्रमुख सभी मुनियों ने सूर्य के धनुराशि में स्थित रहते आर्द्रानक्षत्र के समय में श्रद्धासहित शिवगंगानामक श्रेष्ठ महान् तीर्थ में स्नान कर, मनीषी ब्राह्मणों को यथाशक्ति धनदान कर, एक दिन व्रत रख, मुख्य देवता (नटराज) का दर्शन किया और पृथ्वी पर प्रणाम कर उनकी तीन परिक्रमायें की । प्रणव सहित पंचाक्षर मंत्र से भगवान् की पूजा की और प्रतिदिन उस मंत्र का दस हजार बार जप करते हुए वहाँ एक वर्ष तक यथानियम वास किया ॥ ४०–४३ ॥ साल की समाप्ति पर पुनः पूर्ववत् स्नान, दान व पूजन किया तथा एक और वर्ष तक पूर्वोक्त नियम से शिवाराधन किया और वर्षांत में फिर स्नान, दान व पूजन किया ॥ ४४–४६ ॥

भगवान् महेश्वर मुनियों की सेवा से प्रसन्न हो गये और नृत्य करते हुए उनकी दृष्टि के विषय बने । सारी उपनिषद्रूप सभाओं के अध्यक्ष–प्रधान प्रतिपाद्य–अम्बिकानाथ के नृत्य का मुनियों ने दर्शन किया ॥ ४७ ॥ वेदज्ञोत्तम व्यासादि ने हर की कृपा से ही हरदर्शन किया । करोड़ो सूर्यों की तरह वे तेजस्वी

ततः प्रसन्नो भगवान्महेश्वरो मुनीश्वराणामपि दृष्टिगोचरः ।

प्रनृत्यमानोऽभवदम्बिकापतिः समस्तवेदान्तसभापतिः शिवः ॥ ४७ ॥

व्यासादयो वेदविदां [1]बरा हरं दिवाकराणां शतकोटिकोटिभिः ।

समानतेजस्कमतीव निर्मलं विशालवक्षस्थलमार्तिहारिणम् ॥ ४८ ॥

दृष्ट्वा प्रसादेन महत्तरेण ते प्रणम्य सर्वे भुवि दण्डवत्पुनः ।

प्रजल्प्य भक्त्या विवशा विचेष्टिता निवृत्तबन्धा अभवन्प्रसादतः ॥ ४९ ॥

पुष्पवृष्टिरभवन्महत्तरा स्वस्तिमङ्गलपुरःसराऽपि च ।

काहलादिरवपूरितं[2] जगत्तोषिता अपि सुरासुरा जनाः ॥ ५० ॥

आगता अपि सुरासुरा जना अप्सरोभिरखिलैरनुत्तमैः ।

शंकरश्च भगवान्सभापतिः सर्वलोकहितकाम्ययाऽम्बया ॥ ५१ ॥

सह परिकरबन्धं वेदमन्त्रेण कृत्वा निखिलभुवननाथो नीलकण्ठस्त्रिनेत्रः ।

सकलजनसमूहैः सेव्यमानः स्वभक्तैस्तनययुगलयुक्तो नन्दिनाऽऽनन्दितेन ॥ ५२ ॥

महोत्सवविनोदेन भगवान्परमेश्वरः । पुण्डरीकपुरं दिव्यं प्रादक्षिण्यक्रमेण सः ॥ ५३ ॥

चरित्वा शिवगङ्गायां शंभुस्ताण्डवमण्डितः ।

स्नानं कृत्वा ददौ तीर्थं सर्वेषां प्राणिनां हरः ॥ ५४ ॥

थे तथा अतीव निर्मल उनका गात्र था । दुःखहारी हर का सीना विशाल था, कटि सिंह की तरह तनु थी ॥ ४८ ॥ भगवान् की परमकृपा से उनका दर्शन कर सबने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और प्रेम से परवश हो उनकी प्रशंसा करने लगे । शिवकृपा से उन मुनियों के सब बंधन समाप्त हो गये ॥ ४९ ॥ स्वस्तिवाचन व मंगल ध्वनियों समेत बहुत दिव्य पुष्पों की वर्षा हुई । काहला आदि वाद्यों की आवाज़ से जगत् गूँजने लगा । सुर, असुर व मनुष्य वहाँ पहुँच गये थे । सब लोगों का हित चाहकर भगवती समेत भगवान् शंकर स्वयं उस सभा के अध्यक्ष थे ॥ ५१ ॥ वेदमंत्रों सहित तैयारी कर सारे संसार के मालिक त्रिनेत्र, नीलकण्ठ, भगवान् परमेश्वर ने महान् उत्सव के आनंद सहित दिव्य पुण्डरीकपुर में प्रदक्षिणा के क्रम से भ्रमण किया । सारा जनसमूह, उनके भक्त, उनके दोनों पुत्र व प्रसन्न नन्दी उनकी सेवा में उपस्थित थे ॥ ५२–५३ ॥ फिर, ताण्डव को (अपने से सम्बद्ध कर) शोभित बनाने वाले शंभु ने शिवगंगा में स्नान किया तथा उस तीर्थ को सब प्राणियों के लिये समर्पित कर दिया ॥ ५४ ॥ भगवान् के सामने

---

१. ङ. वरं । २. 'वाद्यभाण्डविशेषे तु काहला काहलः खले'–इति विश्वः ।

सुरासुरादयो यस्मिञ्छिवगङ्गाभिधे वरे ।
श्रद्धया संनिधौ तस्य स्नानं कृत्वा यथाबलम् ॥ ५५ ॥
धनं धान्यं च वस्त्रं च तिलं गां भूमिमुत्तमाम् ।
प्रदत्त्वा शिवभक्तेभ्यः शंकरं शशिभूषणम् ॥ ५६ ॥
नीलकण्ठं विरूपाक्षं तुष्टुवुश्च सुरादयः । नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः ॥ ५७ ॥
नमस्ते अस्तु धन्वने कराभ्यां ते नमो नमः ।
याते रुद्र शिवा तनूः शान्ता तस्यै नमो नमः ॥ ५८ ॥
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय ते नमः । सहस्रपाणये तुभ्यं नमो मीढुष्टमाय ते ॥ ५९ ॥
कपर्दिने नमस्तुभ्यं कालरूपाय ते नमः । नमस्ते चाऽऽत्तशस्त्राय नमस्ते शूलपाणये ॥ ६० ॥
हिरण्यपाणये तुभ्यं हिरण्यपतये नमः । नमस्ते वृक्षरूपाय हरिकेशाय ते नमः ॥ ६१ ॥
पशूनां पतये तुभ्यं पथीनां पतये नमः । पुष्टानां पतये तुभ्यं क्षेत्राणां पतये नमः ॥ ६२ ॥
आततताविस्वरूपाय वनानां पतये नमः । रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमः ॥ ६३ ॥

नमस्ते रुद्र मन्यव इति । रक्षायां साक्षादुपकरणत्वेन रुद्रसंबन्धिभ्यो मन्युधनुर्बाणहस्तेभ्यो नमस्कारः । मन्युरिह स्वपरिपन्थिविषयः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ मीढुष्टमाय श्रेष्ठतमाय ॥ ५९ ॥ ६० ॥ हरिकेशाय हरितवर्णकेशाय ॥ ६१ ॥ पुष्यनामिति । भावे निष्ठा । पुष्टानां वाक्पुष्टिज्ञानपुष्ट्यादीनां दशपुष्टीनां[1] पतये ॥ ६२ ॥ आततताविस्वरूपायाऽऽततेनाधिज्येन धनुषा जगदवतीत्याततायी । अवतेर्णिनिः । तस्मै । तिष्ठति पातीति स्थपतिस्तस्मै ॥ ६३ ॥

ही सुर, असुर आदि ने वहाँ स्नान किया और शिवभक्तों को धन, धान्य, वस्त्र, तिल, गायें, भूमि आदि दान की । तदनन्तर सब देवतादि ने शशिशेखर नीलकण्ठ त्रिलोचन की स्तुति की ॥ ५५–५६¹/₂ ॥

हे रुद्र ! आपके क्रोध, बाण, धनुष और दोनों भुजाओं को प्रणाम है । जो आपकी कल्याणकारी शान्त मूर्ति है उसे बारम्बार प्रणाम है ॥ ५७–५८ ॥ नीले कण्ठ वाले, हजारों आँखों व हाथों वाले तथा श्रेष्ठतम आपको नमस्कार है ॥ ५९ ॥ जटाधारी, कालात्मक, शस्त्रधारी और हाथ में शूल लिये आपको प्रणाम है ॥ ६० ॥ जिनके हाथ से हित व रमणीय कार्य ही होता है उन आपको प्रणाम है । संसार के समस्त हिरण्य के–स्वर्ण के–मालिक आपको प्रणाम है । बाधयोग्य उपाधियों से निरूपित होने वाले आपको नमस्कार है । (काटा जाने योग्य ही वृक्ष कहलाता है । उससे जिसका रूपण, निरूपण हो वह वृक्षरूप है ।) हरे रंग के बालों वाले आपको नमस्कार है (या हरि और क-नामक ब्रह्मा के भी ईश आपको नमस्कार है) ॥ ६१ ॥ जीवाख्य पशुओं के त्राता, उत्तरादि मार्गत्रय के विधाता, पुष्टियों के नियन्ता और सब क्षेत्रों के क्षेत्रज्ञरूप पति आपको प्रणाम है ॥ ६२ ॥ प्रत्यंचा चढ़े धनुष से जगद्-रक्षा करने वाले आपको नमस्कार है । सभी सेव्यों के अधीश्वर आपको प्रणाम है । महावाक्यादिघटकशब्दों के लक्ष्य रूप

1. वाक्पुष्टिर्ज्ञानपुष्टिः शरीरेन्द्रियपुष्टिर्धनधान्यपुष्टिः प्रजापुष्टिः पशुपुष्टिः ग्रामपुष्टिर्धर्मपुष्टिरणिमादिपुष्टिरिति दश पुष्टयः । शरीरेन्द्रियेति पुष्टिद्वयम् ।

नमस्ते मन्त्रिणे साक्षात्कक्षाणां पतये नमः ।
ओषधीनां च पतये नमः साक्षात्परात्मने ॥ ६४ ॥
उच्चैर्घोषाय देवाय पत्तीनां पतये नमः ।
सत्त्वानां पतये तुभ्यं धनानां पतये नमः ॥ ६५ ॥
सहमानाय शान्ताय शंकराय नमो नमः ।
आधीनां पतये तुभ्यं व्याधीनां पतेय नमः ॥ ६६ ॥
ककुभाय नमस्तुभ्यं नमस्तेऽस्तु निषङ्गिणे ।
स्तेनानां पतये तुभ्यं कृत्रिमाय नमो नमः ॥ ६७ ॥
तस्कराणां नमस्तुभ्यं पतये पापहारिणे । वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमः ॥ ६८ ॥

कक्षाणां कक्षा गहना देशगहना भाषागहना धर्माधर्मादिगहनास्तेषां पतये । यद्वा गिरिनदीगह्वरगुल्मादयश्च कक्षास्तेषां स्वामिने तत्र स्थितानां वा रक्षकाय ॥ ६४ ॥ उच्चैर्घोषाय । उच्छ्रितशब्दायोच्छ्रितस्तोत्राय । पत्तीनाम् 'एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः' इत्यमरः । तासां पतये । सत्त्वानां सह सीदतां महाप्रमथगणानां पतये ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ककुभाय । ककुभो दिशो वासस्त्वेनास्य सन्तीत्यर्शआदित्वादच्, तस्मै ॥ ६७ ॥ वञ्चते गच्छते, वचिर्गत्यर्थः । परिवञ्चते परितः सर्वत्र गच्छते । स्तायूनाम् । छद्मचारिणो ये वस्त्रादीनपहरन्ति कपटसाधुवेषास्ते तायवः 'उतस्मैनं वस्त्रमथिं न तायुम्' इत्यादौ दर्शनात् । तत्र वा सकारलोपः, अत्र वा सकारोपजनः,तेषां पतये ॥ ६८ ॥

से निहित आपको प्रणाम है । ('रौ हितः' यों असमस्त शब्द मानकर वृद्धि की जगह गुणप्रयोग आर्ष समझना चाहिये । अथवा 'लाल वर्ण वाले आपको नमस्कार है' यह अर्थ है । क्षत्रिय लाल वर्ण के माने गये हैं और रुद्र का क्षत्रियों में गणन है 'देवत्रा क्षत्राणि–इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः' (बृ. १.४.११) ।) स्थित होने मात्र से रक्षा करने वाले आपको प्रणाम है । जो स्वभाव से नित्य नाशरूप है उसे प्रतीति काल में सत्ता देकर पालन करने वाले आपको नमस्कार है ॥ ६३ ॥ मन्त्र प्रतिपाद्य तथा अव्यवहित आपको प्रणाम है । सभी गहन विषयों के जानकार होने से उनके पति आपको प्रणाम है । व्रीहि यव आदि ओषधियों के उत्पादक (अतः अन्नादि द्वारा सृष्टि संचालन करने वाले) आपको प्रणाम है । प्रत्यगात्मा व परमात्मा आपको प्रणाम है ॥ ६४ ॥ जिनके स्तोत्रादि का उच्चस्वर से घोष होता है उन आप स्वयंप्रकाश देव को प्रणाम है । जीवन-रण करते हुए सब पदातियों के एकमात्र सेनानायक आपको प्रणाम है । सात्त्विक प्रमथ गणों के संसेव्य आपको प्रणाम है । समस्त धनों के अध्यक्ष आपको प्रणाम है ॥ ६५ ॥ अपने प्रति किये अपराधों को सहन कर लेने वाले शान्त व कल्याणकारी आपको प्रणाम है । मन व देह के विकारों के नियन्त्रणकर्ता आपको नमस्कार है । (यद्वा आधि अर्थात् उपाधि और व्याधि अर्थात् उपाधि-विरोधी ब्रह्मधी । आधि और व्याधि दोनों के पति –धव,विषय–शिव ही हैं, उन्हें नमस्कार है) ॥ ६६ ॥ दिगम्बर रहने वाले आपको प्रणाम है । भक्तों पर निरन्तर सक्ति–प्रेम–रखने वाले आपको प्रणाम है । गुप्त रहते हुए चोरी करने वालों के भी पालक आपको प्रणाम है । (जिस करुणावान् पिता के

नमो निचेरवे तुभ्यमरण्यपतये नमः । उष्णीषिणे नमस्तुभ्यं नमस्ते परमात्मने ॥ ६९ ॥
विस्तृताय नमस्तुभ्यमासीनाय नमो नमः । शयानाय नमस्तुभ्यं सुषुप्ताय नमो नमः ॥ ७०॥
प्रबुद्धाय नमस्तुभ्यं स्थिराय परमात्मने । सभारूपाय ते नित्यं सभायाः पतये नमः ॥ ७१ ॥
नमः शिवाय साम्बाय ब्रह्मणे सर्वसाक्षिणे ॥ ७२ ॥
सूत उवाच– एवं सुरासुरैरन्यैः शंकरोऽभिष्टुतः पुनः ।
कृत्वा प्रसादं सर्वेषां तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ७३ ॥
अस्य तीर्थस्य माहात्म्यं स्थानस्यास्य सभापतेः ।
यो वेत्ति श्रद्धया मुक्तिः सिद्धा तस्य महात्मनः ॥ ७४ ॥
यः पठेच्छृणुयाद्वाऽपि मुक्तिखण्डमिमं सदा । स साक्षान्मुक्तिमाप्नोति प्रसादेन सभापतेः ॥ ७५ ॥
नमो व्यासाय गुरवे मम विज्ञानदायिने ॥ नमः शिवाय सोमाय साक्षिणे प्रत्यगात्मने ॥ ७६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां मुक्तिखण्ड ईश्वरनृत्यदर्शनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

निचेरवे निभृतं नितरां चरणशीलाय ॥ ६९-७६ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासश्रीक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपदाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन श्रीमाधवाचार्येण विरचितायां सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां मुक्तिखण्ड ईश्वरनृत्यदर्शनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

—समाप्तमिदं मुक्तिखण्डम्—

पुत्र की आदत बिगड़ गयी हो और वह चोरी आदि करने लग गया हो उसका भी पालन उसका पिता तो करता ही रहता है, इस आशा से कि कभी तो यह सुधरेगा ।) बनाये गये रूप वाले आपको नमस्कार है । (जो कुछ बनाया गया है वह शिव का ही रूप है) ॥ ६७ ॥ तसकरी करने वालों के पालक व पाप-निवारक आपको नमस्कार है । कम्पन करने वाले (स्पन्दित होने वाले) व सर्वत्र घूमने वाले आपको नमस्कार है । (कृत्रिम से परिणाम तथा यहाँ अन्य दो प्रकार की क्रियायें बताकर समस्त क्रियाशक्ति वाले परमशिव को प्रणाम निवेदित कर दिया ।) साधुवेश में जो कपट करते हैं उनके पालक आपको नमस्कार है । (मिथ्यात्व का परिवेश लेकर वेदान्तवाक्य वस्तुतः भेद का सार्वत्रिक त्रैकालिक अभाव ही स्थापित करते हैं अतः स्तायु हैं । उन्हें यह कर पाने का साहस जिस शून्यविलक्षण परमसत् के सहारे मिलता है वह शिव ही है ।) ॥ ६८ ॥ सब जगह पहुँच जाने वाले (व्यापक) आपको प्रणाम है । जंगली डाकुओं के पालक आपको प्रणाम है । शिरस्त्राणधारी आप परमात्मा को प्रणाम है ॥ ६९ ॥ विस्तृत, बैठे, लेटे व सोये हुए आपको प्रणाम है ॥ ७० ॥ जगे हुए व अचंचल आपको प्रणाम है । सभारूप व सभापतिरूप आपको प्रणाम है । साम्ब, सर्वसाक्षी, सदाशिव आप ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ७१-७२ ॥

सूत जी बोले—इस प्रकार देव, दानव आदि द्वारा प्रशंसित हो कर भगवान् वहीं अंतर्धान हो गये ॥ ७३ ॥ इस तीर्थ के और इस स्थान के सभापति महादेव के माहात्म्य को जो श्रद्धापूर्वक समझता है उस महात्मा को मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है ॥ ७४ ॥ जो इस मुक्तिखण्ड का सदा पाठ या श्रवण करता है वह भी शिवकृपा से मुक्त हो जाता है ॥ ७५ ॥

अथ सूतसंहितायाश्चतुर्थं यज्ञवैभवखण्डम्

प्रथमोऽध्यायः

ऐशमाद्यन्तनिर्मुक्तमतिशोभनमादरात् । नमामि विग्रहं साम्बं संसारविषभेषजम् ॥ १ ॥

सत्रावसाने संनद्धाः सर्ववेदार्थवेदने[1] । सर्वलोकहिते युक्ताः सारासारविवेकिनः ॥ २ ॥

स्वाध्यायाध्ययने युक्ताः स्वस्थचित्ताः सुनिश्चलाः । सर्वोपद्रवनिर्मुक्ताः सर्वशत्रुविवर्जिताः ॥ ३ ॥

अभ्यागतानामार्तानामतिथीनां प्रियंवदाः । मैत्र्या करुणया युक्ताः कुमतावप्युपेक्षकाः ॥ ४ ॥

यद्यपि गतखण्डे ज्ञानस्य स्वरूपं मुक्तिसाधनता चोक्ता तथाऽपि–"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम" इत्यादिभगवद्वचनाद्यज्ञशब्दस्य क्रियाभेदे केवलप्रसिद्धिदर्शनात्तद्विरोधेन ज्ञाने मा भूदनादर इति ज्ञानस्य यज्ञरूपता[2] कर्मयज्ञेभ्यः श्रेयोरूपता च वक्तव्या । उक्ता च संग्रहेण भगवता–"श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप" इति । साऽपि निरूपयितव्येति यज्ञवैभवखण्डं चतुर्थमारभमाणो भगवान् वादरायणः प्रथमतः परापरशिवप्रणिधानमुपनिवध्नाति–**ऐशमिति** । अत्र प्रथमार्धे नित्यनिरतिशयानन्दरूपत्वेन निष्कलस्य प्रणिधानं द्वितीये च परमपुरुषार्थप्रदत्वेन सकलस्य प्रणिधानं, नमामीति त्रिकरणव्यापारस्य[3] तत्र समर्पणं चोपनिवध्यते । **यदैशं** निष्कलं शरीरं स्वरूपं तदेव लोकानुग्रहाय स्वीकृतलीलावतारं सत्साम्बं नमामीति संवन्धः ॥ १ ॥ **सवेदार्थेति** । परवेदार्थवदपरवेदार्थस्यापि वेदने सूतमुखादुक्तक्रमेण परवेदार्थं ज्ञात्वा कृतकृत्यानामपि मुनीनां पुनरपरवेदार्थप्रश्ने प्रयोजनं परविद्यानधिकारिणां कर्मयज्ञद्वारा तदधिकारप्रसिद्धिर्यथा स्यादिति लोकानुग्रह एव प्रयोजनमित्याह–**सर्वलोकहित** इति । निगदव्याख्यातोऽध्यायशेषः ॥ २ ॥

चतुर्थ–यज्ञवैभवखण्ड (पूर्वभाग)

सर्ववेदार्थप्रश्न नामक पहला अध्याय

परमेश्वर के निःसीम ज्ञानानन्दैकविग्रह को मैं आदर-पूर्वक अभेदानुसन्धानात्मक प्रणाम करता हूँ । संसारगरल के उपशमार्थ गृहीत उनके अतिशोभान्वित साम्ब लीलाविग्रह को भी मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

सत्र की समाप्ति पर मुनियों ने भक्तिपूर्वक सूतजी का स्मरण कर उनकी स्तुति की । वे सभी मुनि समस्त वेदार्थ समझने के लिए कृतसंकल्प थे । सार और असार को पृथक्-पृथक् समझने वाले वे सब लोगों के हित में लगे रहते थे ॥ २ ॥ वेदग्रहण कर नित्य वे ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान किया करते थे । निश्चलवृत्ति से रहने वाले वे मुनि स्वस्थ मन वाले थे–कुण्ठा, भय आदि रहित थे । उनके निकट कोई उपद्रव नहीं था और न उनका कोई शत्रु ही था ॥ ३ ॥ अभ्यागत दुःखी अतिथियों से वे प्रेमपूर्ण व्यवहार करते थे ।

---

१ घ. "वेदिनः । स॰ २ ङ. "ज्ञस्वरू" । ३ आद्ययोजनायां त्रिकरणैः स एव विश्वनाथो व्याप्रियत इति स्वात्मनाऽभेदानुसन्धान तें प्रणाम उत्तरस्यां मनआदेः प्रह्वीभाव इति विशेषः । नचाद्यसिद्धावपरवैयर्थ्यम्, मंगलस्य प्रायः सर्वत्र शिष्यशिक्षार्यै ग्रन्थरूढत्वातेषाञ्च वहुविधत्वान्निष्कले धियमाधातुमसमर्थेभ्यः सकलप्रणिधानस्यैवोपायतावुवोधयिषया साफल्यात् । तदुक्तं कल्पद्रुमे 'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः । ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥' इति । न च ब्रह्मणी द्वे, एकस्यैव वास्तवस्वरूपं मायिकं च स्वरूपमिति वोध्यम् ।

परपुष्टौ महाप्रीताः प्रज्ञामानविवर्जिताः । गवां शुश्रूषणे युक्ता गुरुशुश्रूषणे रताः ॥ ५ ॥
वृद्धसेवाभिसंपन्ना वेदवित्पूजने रताः । ऋजवो मृदवः स्वस्थाः सर्वद्वंद्वविवर्जिताः ॥ ६ ॥
रुद्राक्षमालाभरणाः सितभस्मावगुण्ठिताः । त्रिपुंड्रावलिभिर्दीप्ता जटावल्कलसंयुताः ॥ ७ ॥
लिङ्गार्चनपरा नित्यं शिवस्यामिततेजसः । शिवाभिमानसंपन्नाः शिवभक्तिपरायणाः ॥ ८ ॥
शिवशब्दजपध्वस्तपापपञ्जरसुन्दराः । संसारविषवृक्षस्य मूलच्छेदनतत्पराः ॥ ९ ॥
श्रौतस्मार्तसदाचाराः सर्वगोत्रर्षयो वराः । व्यासप्रसादसंपन्नं विश्वज्ञानमहोदधिम् ॥ १० ॥
विश्वात्मवेदिनं साक्षाद्विध्वस्तभवकाननम् । स्मृत्वा भक्त्या महात्मानं तुष्टुवुः सूतमुत्तमम् ॥ ११ ॥
एतस्मिन्नन्तरे श्रीमान्महाकारुणिकोत्तमः । सर्वज्ञः सर्वभूतानामभीष्टफलदः प्रभुः ॥ १२ ॥
प्रादुरासीन्महातेजा रात्रौ सूर्य इव स्वयम् ।
तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे विस्मिता गद्गदस्वराः ॥ १३ ॥

॥ ३-१३ ॥

मुनि मैत्री व करुणा से युक्त थे । दुष्ट मतवादों के प्रति वे उपेक्षाभाव रखते थे ॥ ४ ॥ अन्यों के पुष्ट होने पर उनमें मुदिता का उद्भव होता था । अपनी विद्वत्ता के निमित्त से उनमें कोई अभिमान नहीं था । गायों व गुरुओं की वे तत्परता से सेवा करते थे ॥ ५ ॥ वृद्धों की देखभाल और वेदज्ञों का पूजन उनसे होता रहता था । कुटिलता से रहति तथा कोमल स्वभाव वाले वे मुनि रागादि द्वन्द्वों से निर्मुक्त अतः मन व शरीर से स्वस्थ थे ॥ ६ ॥ रुद्राक्षमालाओं से भूषित एवं भस्म से उद्धूलित उनकी देह त्रिपुण्ड्ररेखाओं से दीप्तिमान होती थी । जटिल मुनि वल्कल (पेड़ की छाल) धारण किया करते थे ॥ ७ ॥ प्रतिदिन वे निःसीम तेज वाले महादेव के लिंग की अर्चना किया करते थे । उन्हें निश्चय था कि वे शिव ही हैं । शिवभक्ति में वे निरत रहते थे । ॥ ८ ॥ शिवशब्द के जप से उनके सारे पाप कट चुके थे अतः वे अतिसुंदर थे । संसाररूप विषवृक्ष को जड़ से समाप्त करने के लिए वे तत्पर थे ॥ ९ ॥ श्रौत-स्मार्त सदाचार से वे कभी विचलित नहीं होते थे । सभी गोत्रप्रवर्तक ऋषियों में वे श्रेष्ठ थे । उन सबने सूतजी का स्मरण किया । वे सूतजी व्यासदेव के कृपापात्र, सर्वज्ञान के निधान, व्यापक आत्मतत्त्व के ज्ञाता थे व उन्होंने संसार के विषाक्त जंगल को समूल समाप्त कर लिया था । ऐसे उत्तम श्रीरोमहर्षण को याद कर मुनियों ने उनकी स्तुति की ॥ १०-११ ॥

इसी समय करुणा करने वालों में श्रेष्ठ, सब लोगों को अभीष्ट फल देने वाले, सर्वज्ञ प्रभु सूत जी वहाँ आ गये । वे इतने तेजस्वी थे कि ऐसा लगा मानो रात में स्वयं सूर्य उग आये हों ॥ १२१/२ ॥ उन्हें देख सब मुनि चकित हो गये व गद्गदस्वर से सबने उन्हें प्रणाम कर श्रेष्ठ आसन दिया ।

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ दत्त्वा तस्याऽऽसनं वरम् । पादप्रक्षालनं कृत्वा श्रद्धया परया सह ॥ १४ ॥
गन्धपुष्पादिभिर्दिव्यैः पूज्य[1] पुण्यवतां वरम् । समाश्वास्य चिरं कालं प्रसन्नमुखपङ्कजम् ॥ १५ ॥
पप्रच्छुः सर्ववेदार्थं प्रसन्ना भाग्यगौरवात् ।
सोऽपि सूतः स्वमाचार्यं समृत्वा शंभुं जगद्गुरुम् ॥ १६ ॥
सर्वविद्यामयीमीशां साक्षाद्विघ्नविनायकम् ।
षण्मुखं च सदा शुद्धं प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ १७ ॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा मुनीनालोक्य सुव्रतान् । वक्तुमारभते सूतः सर्ववेदार्थमुत्तमम् ॥ १८ ॥
महेश्वरं सर्वजगद्विभासकं दिवाकरादिप्रथितौजसामपि ।
अगोचरं भक्तिपुरःसरं सदा नमामि संसारमहाविषौषधम् ॥ १९ ॥
परानुभूतिं भवपाशनाशनीं सदाशिवस्याप्यतिशोभनप्रदाम् ।
उमाभिधामुत्तमचित्तवृत्तिदां नमामि नानाविधलोकवैभवाम् ॥ २० ॥

इति श्रीस्कन्दापुराणे सूतसंहिताया चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सर्ववेदार्थप्रश्नो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

॥ १४–२० ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सर्ववेदार्थप्रश्नो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

उनके चरण धोये तथा चंदन, पुष्पादि से उनकी पूजा की । जब सूत जी कुछ देर सुस्ता लिए और थकावट आदि दूर हो उनका मुख प्रसन्न हो गया तब मुनियों ने सारे वेद का अर्थ उनसे पूछा ॥ १३–१५$^{1}/_{2}$ ॥ सूत जी ने उपने गुरु और जगद्गुरु शंकर का स्मरण किया, सर्वविद्यास्वरूपिणी भगवती उमा, विघ्नों को विशेषतः हटाने वाले गणेश, तथा सदा शुद्ध षण्मुख स्कंद को दण्डवत् प्रणाम किया ॥ १६–१७ ॥ सब मुनियों की ओर देखकर सारे वेद का अर्थ बताना प्रारम्भ करते हुए अंजलि बाँधकर उन्होंने कहा— ॥ १८ ॥ मैं परमेश्वर को भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ । वे ही सारे जगत् के प्रकाशक हैं । सूर्यादि प्रसिद्ध तेज भी उन्हें विषय करने में असमर्थ हैं । संसारनामक महाघोर विष के वे ही दवा हैं ॥ १९ ॥ मैं भगवती उमा को प्रणाम करता हूँ । वे शिवानुभवात्मिका हैं । जन्महेतुक पापों को वे निवृत्त कर देती हैं । उनके कारण सदाशिव और भी अधिक शोभा पाते हैं । अंतिम अर्थात् अखण्डाकार वृत्ति प्रदान करने वाली विद्याशक्ति वे ही हैं । विविध लोक सब उन्हीं के वैभवरूप हैं (अतः ज्ञानाधिकारी को उत्तमोत्तम फल वे देती हैं) ॥ २० ॥

---

१. ग. पूज्यं ।

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीसूत उवाच—अथ वक्ष्यामि वेदार्थं शृणुत श्रद्धया द्विजाः ।

श्रद्धया रहितं सर्वं फलाय न कदाचन ॥ १ ॥

परापरविभागेन वेदार्थो द्विविधः स्मृतः । वेदार्थः परमः साक्षात्परात्परतरं परम् ॥ २ ॥

अपरो धर्मसंज्ञः स्यात्तत्परप्राप्तिसाधनम् । अधर्मः परिहाराय वेदार्थत्वेन भक्तितः ॥

गीयते मुनिशार्दूलैः कदाचिन्न तु मुख्यतः ॥ ३ ॥

अधर्मपरिहारेण धर्मस्त्वव्याकुलो भवेत् ॥ ४ ॥

अव्याकुलेन धर्मेण श्रद्धयाऽनुष्ठितेन तु । वेदार्थः परमः साक्षात्सिध्यत्येव न संशयः ॥ ५ ॥

मुनिप्रश्नानन्तर्यमथशब्दार्थः ॥ १ ॥ परापरविभागेनेति । उपनिषदर्थः परः । इतरस्त्वपरः । श्रूयते हि मुण्डकोपनिषदि 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि । तदेवाऽऽह—वेदार्थः परम इति । परात्सकलादतिशयेन यत्परं निष्कलं तदुक्तद्वितयमध्ये परमो वेदार्थ इत्यर्थः ॥ २ ॥ अपरोऽपि द्विविधः । विहितो यज्ञादिधर्मः । प्रतिषिद्धो हिंसादिरधर्मश्च । तत्राऽऽद्यस्य प्रयोजनमाह—अपर इति । तत्परेति । 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । अननुष्ठेयस्याधर्मस्य किमुपदेशेन ? तत्राऽऽह—परिहारायेति । उक्तं हि शावरभाष्ये—'अधर्मोऽपि जिज्ञास्यः परिहाराय' इति । न तु मुख्यत इति । मुखमिव प्रथमः श्रेयःसाधनत्वेनानुष्ठेयो धर्मो मुख्यः । तत्परिपन्थित्वेन तु हानाय जिज्ञास्यः सन्नधर्मो जघन्य इत्यर्थः ॥ ३ ॥ अधर्मपरिहारेणेति । तदपरिहारे धर्मस्य व्याकुलता कृष्णं प्रत्यर्जुनेन प्रपञ्चिता गीतासु—"अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः" इत्यादि ॥ ४–५ ॥

पर-अपर वेदार्थविभाग नामक द्वितीय अध्याय

सूतजी बोले—हे द्विजो ! मैं वेदार्थ समझाता हूँ, श्रद्धा से सुनो । श्रद्धा के बिना सभी निष्फल होता है ॥ १ ॥

पर और अपर भेद से वेदार्थ दो प्रकार का है । पर वेदार्थ तो अपने से अत्यन्त अव्यवहित आत्मतत्त्व ही है जो उत्तमों में श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतम है ॥ २ ॥ अपर वेदार्थ है धर्म जो पर की प्राप्ति का साधन है । अधर्म गौणरूप से वेदार्थ है जिसे इसलिए जानना चाहिये कि उससे बचा जा सके । अधर्म पर अपर दोनों वेदार्थों में नहीं आता ॥ ३ ॥ अधर्म न करते हुए किया हुआ धर्म अनभिभूत रहता है ॥ ४ ॥ श्रद्धापूर्वक किया गया पाप..।भिभूत धर्म परम वेदार्थ के साक्षात्कार का साधन अवश्य बनता है ॥ ५ ॥

सोऽयं [1]स्वापरया[2] शक्त्या बद्धवत्प्रतिभासते ।

एकैव परमा शक्तिर्माया दुर्घटकारिणी ॥ ६ ॥

शिवस्यानन्तरूपा सा विद्यया तस्य नश्यति ।

या विनश्यति सा माया चिन्मात्रे परिकल्पिता ॥ ७ ॥

परमस्य वेदार्थस्य स्वप्रकाशस्य कथमसिद्धिः, येन धर्मानुष्ठानेन तत्सिद्धिरुक्ता ? इत्यत आह–**सोऽयं [3]स्वापरयेति** नित्यमुक्तोऽपि ह्यात्मा स्वाश्रितया[4] मायाशक्त्या बद्ध इव भासते । बद्धानां संसारिणामसंख्यत्वाद्बन्धहेतुर्मायाऽप्यसंख्यातेति[5] मतं वारयति–**एकैवेति** । एकयैवानन्तजीवनिर्भासस्येन्द्रजालवदुपपत्तौ नानेका सा कल्पनीयेति ॥ ६ ॥ तस्या मायात्वं ज्ञानविनाश्यत्वेन समर्थयते–**शिवस्येति** ●(यथा ।) आश्रयाश्रयिभावे विषयविषयिभावे वा षष्ठी । शिवाश्रया शिवविषया च माया जगदुपादानम्[6] । आश्रयत्वोपाधिना तस्य जीवत्वम् । विषयत्वोपाधिना च परत्वमिति हि [7]स्थिति ननु सर्वज्ञे निरवद्ये शिवे नाज्ञानं संभवति, न चाज्ञे जीवे, मायाधीनो जीवविभागो जीवाश्रया च मायेत्यन्योन्याश्रयादिप्रसङ्गादित्यत आह–चिन्मात्रेति । 'इह भूतले घट' इति हि, निर्घटस्य भूतलस्य घटसंबन्धव्यापारात्स्वात्मनैव घटवति तस्मिंस्तत्संबन्ध आत्माश्रयाद्;तीद्धि, घटवत्यन्योन्याश्रयात् तृतीयादिस्वीकारे चक्रकाद्यापत्तेतृ घटतदभावसाधारणभूतलमात्रे घटस्य संबन्धः । एवं मायातदभावसाधारणे चिन्मात्रे मायाऽऽश्रितेति ॥ ७ ॥ ननु विद्यया माया नश्यति चेन्माययाऽविद्वानिव तन्नाशेन मुक्तो विद्वानपि सद्वितीयः

ईश्वरभिन्न जो यह प्रत्यगात्मा है वह अपनी ही शक्ति से मानो बँधा हुआ–कर्ता, भोक्ता–प्रतीत होता है । एक माया ही परम शक्ति है जो असंभव को संभूत की तरह प्रतीत करा देती है ॥ ६ ॥ यह अनन्त रूपों वाली माया शक्ति शिव की–शिवाश्रित व शिवविषयक–ही है और शिवज्ञान से ही वह निवृत्त होती है । जो विनष्ट होती है उसी का नाम माया है और वह केवल चेतन में परिकल्पित है । (परब्रह्म ही अविद्या से स्वयं को कर्ता-भोक्ता माने हुए संसरण कर रहा है व विद्या से मुक्त होगा यह वेदान्त-सिद्धान्त है) ॥ ७ ॥ कल्पित वस्तु के नाश का अर्थ है केवल अधिष्ठान का रह जाना । भ्रमदशा में कल्पना सहित अधिष्ठान होता है, भ्रमनिवृत्ति दशा में कल्पना नहीं रह जाती, अधिष्ठान ही रहता है । यही कल्पित वस्तु का नाश है । भावात्मक वस्तु का नाश अभावरूप होता है और अभावात्मक वस्तु का नाश भावरूप होता है अर्थात् प्रविलीन वस्तु ही व्यक्त हो जाती है । किन्तु कल्पित वस्तु तो भाव और अभाव दोनों से विलक्षण होती है, अतः न विलीन होती है , न व्यक्त । केवल अविद्या से प्रतीत होती है और विद्या से सर्वथा असत् हो जाती है ॥ ८ ॥

● सर्वपुस्तकेषु यथेति वर्तते परं त्वनपेक्षितम् ।

१ अनुग्रहशक्तिः परा, विग्रहशक्तिरपरा । 'स्वपरये'ति पाठान्तरन्तु स्पष्टम् । २ घ. स्वपरया । ३ घ. स्वपरयेति । ४ ग. "श्रिततया । ५ घ. ङ. संख्येति । ६ कार्यस्य परिणाम्युपादानेन भाव्यमित्याग्रहवत उपलालनाय मायाया उपादानत्वमुक्तं, स्वमते अज्ञातं ब्रह्मैव जगद्धेतुः विवर्तस्यैव व्यवहारभूमौ स्वीकारादिति । ७ भामत्यां त्वेवमेव । विवरणानुयायिनापि जीवत्वस्याश्रयत्वाभिव्यंजकत्वमुपेयमहमज्ञइत्यनुभवाद् ब्रह्माज्ञमिति चाननुभवादित्यालोच्य स्थितमियुक्तम् ।

अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः । भावस्यैव ह्यभावत्वं नाशोऽभावस्य [1]भावतः ॥

भावाभावस्वभावाभ्यामन्य एव हि [2]कल्पितः ॥ ८ ॥

अधिष्ठानस्य नाशो न सत्यत्वादेव सर्वदा । सर्वाधिष्ठानमीशानं पश्यन्नेव विमुच्यते ॥ ९ ॥

ईशानविषयं ज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना । जायते परहंसस्य यतेर्मुख्याधिकारिणः ॥ १० ॥

नाऽऽश्रमान्तरनिष्ठस्य क्रमात्तस्यापि जायते ॥ ११ ॥

ब्रह्मलोकमवाप्नोति वनस्थो नैष्ठिकोऽपि च ।

गृहस्थः पितृलोकं च शिवज्ञानं तु भिक्षुकः ॥ १२ ॥

तत्रापि प्रथमो भिक्षुर्ज्ञानेच्छोदयबाधकात् । महापापादयत्नेन मुच्यते मुनिपुङ्गवाः ॥ १३ ॥

स्यादित्यत आह–**अधिष्ठानेति** । मायायाः कल्पितत्वेन तन्नाशस्तदधिष्ठानान्न व्यतिरिच्यत इत्यर्थः । ननु प्रागसतो घटस्य नाशो नाम जातः सन्घट एव । सतश्च घटस्य प्रध्वंसो नाम प्रध्वंसत्वेनासन्घट एव । तत्रैव हि लोकस्य तत्प्रतीतिव्यवहारौ दृश्येते, नाधिष्ठानमात्रे । तत्कथं नाशस्याधिष्ठानावशेषतेत्यत आह–**भावस्यैवेति** । सदसतोर्हि परस्परोपमर्दकत्वेन तन्नाशयोरन्योन्यासद्रूपता । सदसद्विलक्षणत्वात्तु मायायास्तन्नाशस्य नाधिष्ठानादतिरेकः । न हि शुक्तिं साक्षात्कुर्वन्तस्तद्रूपातिरेकेण तत्र कल्पितरजतस्य नाशं प्रतियन्ति व्यवहरन्ति वेत्यर्थः । कल्पितनाशमधिष्ठानव्यतिरेकेण व्यवहरन्तमुपहसन्ति कवयः– 'एतस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो यो मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्नमुष्मादपि । अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविरलेत्यादीयमाने[3] शनैः कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा' इति । संप्रदायविदोऽप्याहुः 'आत्मैवाज्ञानहानिर्वा' इति । तथा 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य [4]ज्ञानत्वेनोपलक्षितः' इति ॥ ८ ॥ कल्पितवस्तुनो नाशश्चेदधिष्ठानावशेषः, अधिष्ठानस्य नाशस्तर्हि किमवशेषः ? न हि तस्याधिष्ठानान्तरमस्त्यनवस्थापातादु; इत्यत आह–**अधिष्ठानस्येति** । प्रातीतिकं हि सत्यत्वं शुक्तिरूप्यादेः सत्येव प्रमातरि वाध्यमानस्य । सति प्रमातर्यवाध्यमानस्य घटादेस्तु व्यावहारिकं सत्यत्वम् । इहाधिष्ठानत्वेनाभिमतस्य ब्रह्मणस्तु पारमार्थिकं सत्यत्वमित्यभिप्रेत्य **सर्वदेत्युक्तम्** । यत ईशान एवैकः स्वेतरसमस्तकल्पितवस्तुजाताधिष्ठानम् अतस्तज्ज्ञानात्तदज्ञानविलासकल्पितस्य निवृत्तिरिति । यदुक्तम्–'विद्यया तस्य नश्यति' इति तत्फलतीत्याह–**सर्वाधिष्ठानमिति** । उक्तस्य परमपुरुषार्थज्ञानस्य करणमधिकारिणं चाऽऽह–**ईशानविषयमिति** ॥ ९-११ ॥ क्रमादित्युक्तं क्रममेवाऽऽह–**ब्रह्मलोकमिति** । [5]क्रमाननुप्रविष्टस्यापि पितृलोकस्य वनस्थत्वानन्तरभाविगार्हस्थ्यफलत्वादत्रोपन्यासः । **शिवज्ञानं तु भिक्षुक** इति साक्षात्पारम्पर्याभ्याम् ॥ १२ ॥ चतुर्विधा हि भिक्षुकाः । कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाः । तत्राऽऽद्यस्य पारम्पर्यप्रकारमाह–**तत्रापि प्रथमो भिक्षुरिति** । जिज्ञासाप्रतिबन्धकपापनिवृत्तिः कुटीचकाश्रमधर्मानुष्ठानफलम् ॥ १३ ॥

अधिष्ठान का कभी नाश नहीं होता । सर्वाधिष्ठान परमात्मा के ज्ञान से ही मोक्ष होता है । आत्मा को स्वस्वरूप के ज्ञान से यह पता चल जाना कि कर्तव्य-भोक्तृत्व कल्पित है, बस यही मोक्ष है ॥ ९ ॥ परमेश्वर निजात्मा का ज्ञान वेदान्त-श्रवण आदि से परमहंसों को होता है । वे ही इसके मुख्य अधिकारी

---

१ क. ख. घ. भावता । २ घ. कल्पिता । ३ ङ. "विलसन्त्यादीय" । ४ क ग. ज्ञातत्वे" । ५ मोक्षक्रमेत्यर्थः ।

द्वितीयः शान्तिदान्त्यादिज्ञानाङ्गेच्छामवाप्नुयात् । तृतीयोऽखिलवेदान्तश्रवणेच्छामवाप्नुयात् ॥ १४ ॥

चतुर्थो ज्ञानमाप्नोति वेदान्तश्रवणेन तु । स एव कर्मसंन्यासी परहंससमाश्रयः ॥

अन्ये काम्यपरित्यागाद्भिक्षुका इति कीर्तिताः ॥ १५ ॥

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं[1] शाब्दं देशिकपूर्वकम् । बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥ १६ ॥

शाब्दं ब्रह्मात्मविज्ञानमपरोक्षं महत्तरम् । संसारनाशकं प्रोक्तं तमसश्चण्डभानुवत् ॥ १७ ॥

अतो विज्ञानलाभाय [2]परहंसो भवेद् द्विजः ॥ १८ ॥

कुटीचकाश्च हंसाश्च तथाऽन्ये च बहूदकाः ।

ये भविष्यन्ति ते कुर्युः प्राजापत्येष्टिसंज्ञिताम् ॥ १९ ॥

वहूदकधर्मानुष्ठानफलस्य तु शमदमादिलाभः फलम् । हंसधर्मस्य तु वेदान्तशुश्रूषा ॥ १४ ॥ श्रवणपुरःसरतत्त्वज्ञानाप्तिश्चतुर्थाश्रमफलमित्यर्थः ॥ १५ ॥ श्रवणस्याप्यधिकारिभेदेन परोक्षापरोक्षज्ञानलक्षणफलविभागमाह–परोक्षं ब्रह्मेति ॥ १६–१८ ॥ **प्राजापत्येष्टीति** । कुटीचकादिसंन्यासत्रयारम्भे प्राजापत्येष्टिः कार्या । स्मर्यते हि– "प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं [3]सर्ववेदसदक्षिणाम् । आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्" ॥ इति । [4]परहंसस्त्वाग्नेयीम् । केचित्तु सोऽपि प्राजापत्यामेवेत्याहुस्तन्निरस्तं जाबालोपनिषदि–"[5]तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति [6]तदु तथा न कुर्यादाग्नेयीमेव कुर्यादग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति' इति । **त्रैधातवीमिति** । चतुर्विधैरपि यथोक्तेष्ट्यनन्तरं त्रैधातवीयेष्टिः कार्या ।

हैं ॥ १० ॥ अन्याश्रम में स्थित व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं हो सकता, हाँ क्रम से उसे भी हो सकता है । क्रम यही है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और वानप्रस्थाश्रमी ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं (और वहाँ ज्ञान पा लेते हैं) । गृहस्थ तो केवल पितृलोक पाकर पुनः लौटता है । भिक्षुकों को ही दोनों तरह से ज्ञान हो सकता है–चाहे यहीं हो या ब्रह्मलोक प्राप्ति कर वहाँ हो ॥ ११–१२ ॥ पहला भिक्षुक अर्थात् कुटीचक जिज्ञासा के प्रतिबंधक पापों से छूटकर श्रवणादि द्वारा आराम से मोक्ष पा लेता है ॥ १३ ॥ द्वितीय अर्थात् बहूदक अपने आश्रमधर्म के अनुष्ठान से ज्ञान के अंगभूत शम, दम आदि तथा विविदिषा प्राप्त कर श्रवणादि द्वारा मुक्त होता है । तृतीय अर्थात् हंस को स्वधर्म करने से वेदान्त सुनने की उत्कट अभिलाषा होती है जिससे प्रेरित हो श्रवणादि द्वारा वह मोक्षलाभ करता है ॥ १४ ॥ चतुर्थ अर्थात् परमहंस का तो आश्रमधर्म ही है श्रवणादिपूर्वक ब्रह्मसंस्थता अतः स्वधर्मानुष्ठान से वह सीधे ही ज्ञान प्राप्त कर मुक्त होता है । पारमहंस्य का आश्रयण लेने वाला ही सर्वकर्मसंन्यासी है । अन्यों को काम्यकर्मत्यागी होने से संन्यासी कह दिया जाता है ॥ १५ ॥ गुरु के उपदेश से प्राप्त ब्रह्म के परोक्ष विज्ञान का फल है कि जानबूझ कर किये पाप भी पूरी तरह निवृत्त हो जाते हैं जैसे आग से तिनके आदि जल जाते हैं ॥ १६ ॥ वेदान्तों से उत्पन्न ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार तो और महान् है–वह सारे संसार का वैसे ही नाश कर देता है जैसे सूर्य अंधेरे को समाप्त कर देता है ॥ १७ ॥ अतः द्विज को चाहिये कि आत्मानुभव प्राप्ति के लिए परमहंस बने ॥ १८ ॥

---

१ शुद्धत्वमर्थस्य दृढतरो निश्चय इति भावः । अत्र सन्तमेनमित्यादितैत्तिरीयवचोभाष्यादि द्रष्टव्यम् । २ ख. पगे हंसो । ३ ङ. सवेदसर्वद" । ४ ख. ग. "रमहं" । ५ क. ग. घ. तथैक । ६ घ. ङ. दुत्थानं कु" ।

आग्नेयेष्टिं द्विजाः कुर्युः परहंसाभिलाषिणः । पश्चात्त्रैधातवीं कुर्युः सर्वे संयतमानसाः ॥ २० ॥

येऽनाहिताग्नयो विप्रास्तेषां नेष्टिर्विधीयते । स्वस्वमग्नौ तु होमं ते कुर्युः श्रद्धापुरःसरम् ।

विरजाख्यैर्महामन्त्रैराज्येन चरुणाऽपि च ॥ २१ ॥

हुतशेषं चरुं साज्यं प्राश्याऽऽचम्यैव सर्पिषा । पूर्णाहुतिं पुनःकुर्युः प्रणवेनाग्निजायया ॥ २२ ॥

सहाग्निं पुनराघ्राय अयं ते योनिर्ऋत्विजः[1] । इति मन्त्रेण कुर्युस्ते प्रैषोच्चारणमादरात् ॥ २३ ॥

संन्यासाध्वर्युणा दत्तं दण्डं काषायमेव च ॥ २४ ॥

परिगृह्य गुरोः पादं प्रणम्य श्रद्धया सह । वेदान्तश्रवणं कुर्युर्ज्ञानार्थं भिक्षुकोत्तमाः ॥ २५ ॥

काम्यकर्मफले दोषं विदित्वा प्रतिषिद्धवत् ।

काम्यकर्म त्यजंस्तुल्यो भिक्षुणा फलतो भवेत् ॥ २६ ॥

तत्स्वरूपमुक्तं तैत्तिरीयके–'तस्मा एतं त्रिधातुं निर्वपेदिन्द्राय राज्ञे [2]पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे' इति । उत्कृष्टयनन्तरं त्रैधातवीया जाबालेऽप्युक्ता । त्रैधातवीयामेव कुर्यादिति कुर्यादेवेत्यर्थः ॥ १९–२० ॥ **अग्निजायया** स्वाहाकारेण ॥ २१–२५ ॥ **काम्यकर्मफले दोषमिति** । फलभोगेन हि तज्जातीये रागस्तेन तादृशस्य कर्मणः पुनरम्भस्ततः फलं ततो राग इति संसारादनिर्मोक्षलक्षणो दोषः । तत्त्यागिनस्तु नूतनफलानुदयात्पूर्वकृतस्य च भोगेन क्षयान्नित्यनैमित्तिककरणेन प्रत्यवायानुदयात्तत एव सत्त्वशुद्ध्या जिज्ञासाश्रवणमननादिज्ञानसाधनसंपत्त्या भिक्षुतुल्यतैषामित्यर्थः ॥ २६ ॥

कुटीचक, वहूदक और हंस वनने के लिए प्राजापत्य इष्टि करनी पड़ती है ॥ १९ ॥ परमहंस वनने के लिए आग्नेय इष्टि करनी पड़ती है । इनके अनंतर त्रैधातवी इष्टि तो सभी को करनी पड़ती है ॥ २० ॥ जो ब्राह्मण आहिताग्नि नहीं हैं–जिन्होंने अग्न्याधान नहीं किया है, अग्निहोत्री नहीं हैं–उनके लिए इष्टि का विधान नहीं है । उन्हें तो घी और चरु से श्रद्धापूर्वक अपनी-अपनी अग्नि में विरजामंत्रों से होम करना चाहिये । ॥ २१ ॥ होम किये से वचे चरु और घी को खाकर, आचमन कर प्रणव और स्वाहाकारपूर्वक घी से पूर्णाहुति करनी चाहिये ॥ २२ ॥ फिर अग्नि का आघ्राण कर 'अयं ते योनिर्ऋत्विजः' आदि मंत्र से वे श्रद्धापूर्वक प्रैषोच्चारण करें ॥ २३ ॥ संन्यासकर्म कराने वाले ऋत्विक् द्वारा दिये दण्ड और काषाय को ग्रहण कर गुरु के पास जायें और उन्हें प्रणाम कर उनसे वेदान्तश्रवण करें ॥ २५ ॥ जो व्यक्ति काम्यकर्म के फलों को सदोष समझ काम्यकर्म भी प्रतिषिद्ध की तरह छोड़ देता है–केवल नित्य-नैमित्तिक करता है–वह भी फलतः संन्यासी के समान होता है क्योंकि वैसा करने से उसका चित्त शुद्ध होकर ज्ञान हो जाता है ॥ २६ ॥ परमहंस के लिए जप के योग्य और कोई मंत्र नहीं है, केवल वेदों के सारभूत

१ क. ग. घ. "निर्ऋत्वि" । २ ग. "शमप्टाद" ।

न सन्ति जप्या मन्त्राश्च परहंसस्य सर्वदा । त्रयीसारमिमं मन्त्रं [1]जपेन्नित्यं समाहितः ॥

प्रणवादपरं जप्त्वा कदा मुक्तो भविष्यति ॥ २७ ॥

ओङ्कारः सर्वमन्त्राणामुत्तमः परिकीर्तितः । ओङ्कारेण प्लवेनैव संसाराब्धिं तरिष्यति ॥ २८ ॥

उमार्धविग्रहो देवो रुद्रः सत्यादिलक्षणः । संसारतारकस्यास्य प्रणवस्यार्थ उच्यते ॥ २९ ॥

विष्ण्वादयोऽपि देवाश्च रुद्रस्यास्यान्वयेन[2] तु ।

कथंचित्प्रणवस्यार्था भविष्यन्ति न मुख्यतः ॥ ३० ॥

यतिभिर्ज्ञानसिद्ध्यर्थमविमुक्तं महत्तरम् । स्थानं संसेवनीयं स्याच्चिन्तनीयं[3] तथैव च ॥ ३१ ॥

अविमुक्ते महादेवः साक्षाद्विश्वेश्वरः प्रभुः ।

उपास्यमानः सुप्रीतो ज्ञानं साक्षात्प्रयच्छति ॥ ३२ ॥

अविमुक्ते महादेवमनुपास्य विमुक्तये । नरः किंचिद्विषं भुक्त्वा क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति ॥ ३३ ॥

त्रयीसारमिति । 'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्' इत्यत्र हि लोकत्रयसारा अग्निवाय्वादित्यास्तत्सारा ऋग्यजुःसामवेदास्तत्सारा भूर्भुवः स्वरिति तिस्रो व्याहृतयस्तत्सारा अकारोकारमकारास्ते [4]मिलित्वा प्रणव इत्युक्तम् 'अकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदोमिति'[5] इति ॥ २७–२८ ॥ उमार्धेति । द्विविधं हि शिवस्य[6] स्वरूपं, निष्कलं सकलं च । तत्र यन्निष्कलं सत्यादिलक्षणं स प्रणवस्य मुख्योऽर्थ इत्यर्थः ॥ २९ ॥ कथंचित्प्रणवस्येति । विष्ण्वादिमूर्तयः सकला अपि निष्कलरूपानुगत्वेनानुसंधीयमाना निष्कलपरस्य प्रणवस्य लक्षणया भवन्त्यर्थाः ॥ ३०–३३ ॥

प्रणव का उसे जप करना चाहिये । अन्य जप से तो वह कब मुक्ति पायेगा ? (अर्थात् नहीं पायेगा) । ॥ २७ ॥ ओंकार सब मंत्रों में उत्तम है । ओंकाररूप जहाज से ही परमहंस संसारसागर तर जायेगा ॥ २८ ॥ संसार से तरा देने वाले इस प्रणव का अर्थ सत्यादिस्वरूप उमार्धशरीर भगवान् रुद्र ही हैं ॥ २९ ॥ विष्णु आदि देवता रुद्रसम्बन्ध से भले ही प्रणव के लाक्षणिक अर्थ हों, मुख्य अर्थ नहीं हैं ॥ ३० ॥ ज्ञानलाभ के लिए संन्यासियों को सबसे महान् स्थान अविमुक्त (काशी) का सेवन करना चाहिये तथा निरन्तर उस सबसे महान् आत्मतत्त्व का चिन्तन करते रहना चाहिये जो कभी हमें छोड़ता नहीं है ॥ ३१ ॥ अविमुक्त में उपास्यमान विश्वनाथ प्रसन्न होकर ज्ञान दे देते हैं ॥ ३२ ॥ जो व्यक्ति अविमुक्त क्षेत्र में महादेव की उपासना किये बिना मोक्ष चाहे वह उसी तरह है जैसे थोड़ा जहर खाकर भूख मिटाने की कोशिश । (जैसे जहर मार देगा, भूख नहीं मिटायेगा ऐसे वहाँ शिवोपासना न करने से जीवन भले ही बीत जाये, मोक्ष नहीं होगा ।) ॥ ३३ ॥ अतः मुमुक्षुओं को चाहिये ज्ञानप्राप्ति के लिए भक्तिपूर्वक अधिभूत और अध्यात्म में अविमुक्त का सेवन करें । (अधिभूत अर्थात् काशी क्षेत्र वहाँ नियमपूर्वक गंगास्नान, विश्वनाथ पूजन

---

१. ग. घ. जपन्नित्यं । २ "स्यावयवेन तु । ३ नास्माभिः कदाचनापि त्यक्तं यद्व्यापकमधिष्ठानं तदविमुक्तं महत्तरं स्थानं चिन्तनीयं चेत्यर्थः । शिवाभ्यां कदापि न त्यज्यतेऽतएव काशीसंज्ञकस्थानमविमुक्तनाम्ना प्रसिद्धम् । ४ ङ मिलिताः । ५ ङ."भात्त" । ६ ग. "वरू" ।

तस्मान्मुमुक्षुभिर्भक्त्या ज्ञानार्थमविमुक्तकम् । अधिभूते तथाऽध्यात्मे सेवनीयं तथैव च ॥ ३४ ॥

चिन्तनीयो महादेवस्तत्रोपास्यो न संशयः । गृहस्थैश्च वनस्थैश्च [1]तथा वै ब्रह्मचारिभिः ॥ ३५ ॥

शतरुद्रियसंज्ञस्तु मन्त्रो जप्यो महत्तरः । रुद्रजापी विमुच्येत महापातकपञ्जरात् ॥ ३६ ॥

सम्यग्ज्ञानं च लभते तेन मुच्येत बन्धनात् । अनेन सदृशं जप्यं नास्ति सत्यं श्रुतौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥

एषा पञ्चाक्षरी विद्या शतरुद्रीयमध्यगा । पञ्चाक्षरे महादेवः सर्वदा सुप्रतिष्ठितः ॥ ३८ ॥

महादेवस्य सांनिध्याद्व्यष्टिभूताश्च देवताः ।

तत्र प्रतिष्ठिता एव वृक्षे शाखा यथा स्थिताः ॥ ३९ ॥

वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा ॥ ४० ॥

शिवे रुद्रजपात्प्रीते प्रीता एवान्यदेवताः । अतो रुद्रजपादेव भुक्तिमुक्ती प्रसिध्यतः ॥ ४१ ॥

अधिभूते प्रतिमाब्राह्मणादौ । अध्यात्मे स्वस्वरूपे च ॥ ३४–३८ ॥ व्यष्टिभूता इति । निरस्तसमस्तोपाधिकः परमात्मा [2]सर्वसाधारण्यात्समष्टिः । तस्यैवोपाधिपरिकल्पितभागा व्यष्टयः । समष्टिव्यष्टिरूपे[3] निदर्शनमुक्तम्–वृक्ष इति ॥ ३९ ॥ समष्टिसेवया व्यष्टिफललाभे निदर्शनमाह-वृक्षस्य मूलेति ॥ ४०–४१ ॥ माया माहेश्वरीति । यदत्र वक्तव्यं

अन्नपूर्णादि का दर्शन करते हुए महात्माओं से वेदान्तश्रवण कर रहना चाहिये । अध्यात्म अर्थात् शरीर में नाक और भौंहें जहाँ मिलती हैं वहाँ अनन्त अव्यक्त आत्मा का ध्यान करना चाहिये । यह आध्यात्मिक अविमुक्त जाबालोपनिषत् में (खण्ड 2) बताया है । अथवा आत्मा ही काशी है ऐसी उपासना करनी चाहिये । अथवा शरीर को काशी, ज्ञान को गंगा और साक्षी को विश्वनाथ समझकर ध्यान करना चाहिये । ये दोनों प्रकार 'काशीपंचक' से स्पष्ट होते हैं ।) ॥ ३४ ॥ काशी में रहते हुए महादेव ही पूज्य व ध्येय हैं । गृहस्थ, वानप्रस्थी व ब्रह्मचारियों को चाहिये शतरुद्रिय का नित्य जप किया करें । रुद्रजाप करने वाला महापापों से छूट जाता है । सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है व मुक्त हो जाता है । इसके तुल्य कोई जपनीय मंत्र नहीं है । इस विषय में श्रुति व स्मृति दोनों प्रमाण हैं । (श्रुति से कैवल्योपनिषत् समझनी चाहिये । स्मृतियाँ भी अनेक हैं । शातातप ने कहा है, 'स्तेयं कृत्वा गुरुदारांश्च गत्वा मद्यं पीत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा । भस्मच्छन्नो भस्मशय्याशयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः ॥' याज्ञवल्क्य का भी वचन है 'सुरापः स्वर्णहारी च रुद्रजापी जले स्थितः । सहस्रशीर्षाजापी च मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥' शंखस्मृति में बताया है कि छिपकर किये महापापों का भी शतरुद्रीय प्रायश्चित्त है । पुराणों में व महाभारतादि में रुद्राध्याय की भूरिभूरि प्रशंसा

१. ख. तथैव ब्र॰ । २ ग. सर्वाधारत्वात्स॰ । ३ ग ॰रूपेण । नि॰ । घ. ॰रूपेति द॰ ।

माया माहेश्वरी शक्तिः सत्त्वादिगुणभेदतः । जीवमाक्रम्य संसारे भ्रामयत्यनिशं द्विजाः ॥ ४२ ॥

सत्त्वात्सुखं च ज्ञानं च वैराग्यं शौक्ल्यमेव च ॥ ४३ ॥

दुःखप्रवृत्तिः[1] कामश्च लौहित्यं रजसो भवेत् ।

मोहो भ्रान्तिस्तथाऽऽलस्यं कार्ष्ण्यं च तमसो भवेत् ॥ ४४ ॥

एवमुत्तमरूपाश्च पदार्थाः सत्त्वसंभवाः । तथा मध्यमरूपाश्च पदार्था राजसाः स्मृताः ॥

विहीनास्तामसा एव पदार्थाः संग्रहेण तु ॥ ४५ ॥

अतो मायामयः साक्षात्संसारः सर्वदेहिनाम् । स शिवज्ञानमात्रेण सद्य एव निवर्तते ॥ ४६ ॥

तत्प्रथमखण्डे द्वितीयाध्याये "मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तम्" इत्यत्रोक्तम् । सत्त्वादिगुणभेदतो गुणवैचित्र्येण रजस्तमोमलिनसत्त्वप्राधान्येनेत्यर्थः । आक्रम्येति । मायाक्रान्तो हि जीव इत्युक्तम् ॥ ४२ ॥ सत्त्वादिगुणत्रयं कार्यद्वारा व्यवच्छिनत्ति–सत्त्वात्सुखं चेति ॥ ४३–४५ ॥ अतो मायामय इति । यतो मायागुणैः सत्त्वरजस्तमोभिरनुगतोऽत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

देखी जा सकती है ।) ॥ ३५–३७ ॥ यह प्रसिद्ध पंचाक्षर मंत्र शतरुद्रिय के मध्य ही आया है । पंचाक्षर में महादेव सदैव स्थित रहते हैं ॥ ३८ ॥ महादेव की संनिधि होने पर अन्य देवताओं की उपस्थिति अनिवार्य है क्योंकि उनका महादेव से वही सम्बन्ध है जो वृक्ष से शाखाओं का ॥ ३९ ॥ (उपाधि निर्मुक्त महादेव हैं । वे ही उपाधियों की अपेक्षा से जब समझे जाते हैं तो विविध देवता हैं ।) जैसे वृक्ष के मूल में पानी सींचने से शाखायें पुष्ट होती हैं, ऐसे रुद्रजप से शिव के प्रसन्न होने पर सब देवता तृप्त हो जाते हैं, अतः रुद्रजप से ही भोग-मोक्ष मिलते हैं ॥ ४०–४१ ॥

महेश्वर की मायानामक शक्ति सत्त्वादिगुणों के वैचित्र्य से जीव को नियंत्रित कर उसे संसार में भ्रमण कराती रहती है ॥ ४२ ॥ (जैसे प्रतिबिम्ब ही दर्पण का अनुविधान करता है ऐसे ही माया से स्वयं को अज्ञ मानने वाला जीवरूप ब्रह्म ही संसरण करता है और उसकी उच्चावचतादि में कारण है दर्पणस्थानीय माया व उसका गुणवैषम्य ।) सत्त्ववृद्धि से सुख, ज्ञान, वैराग्य और शुक्लता होती है । रजोवृद्धि से दुःख, प्रवृत्ति, कामना और रक्तता होती है । तमआधिक्य से मोह, भ्रान्ति, आलस्य और कालापन होता है ॥ ४३–४४ ॥ इसी प्रकार उत्तमरूप पदार्थ सत्त्व से उत्पन्न होते हैं, मध्यमरूप रज से व हीन पदार्थ तम से उत्पन्न होते हैं ॥ ४५ ॥ अतः देहधारियों को अनुभूयमान संसार मायामय ही है । वह शिवज्ञान से तत्काल निवृत्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ निरभिमानी आस्तिक ब्राह्मणों को ज्ञानयज्ञ से ही परमज्ञान होता

---

१. दुःखेन फलेन सह प्रवृत्ति र्भवेत्, दुःखं प्रवृत्तिश्च भवेतामित्यर्थः ।

ज्ञानयज्ञेन विप्राणामास्तिकानाममानिनाम् । जायते परमं ज्ञानं नान्यथा मुनिपुंगवाः ॥ ४७ ॥

यज्ञश्च द्विविधः प्रोक्तः स्थूलसूक्ष्मविभेदतः[1] । कर्मयज्ञः समाख्यातः स्थूलः सर्वार्थवित्तमैः ॥

ज्ञानयज्ञो भवेत्सूक्ष्मः साक्षात्संसारबाधकः ॥ ४८ ॥

कर्मयज्ञाभिधः स्थूलस्त्रि प्रकारो व्यवस्थितः । कायिको वाचिकश्चैव मानसश्चेति सुव्रताः ॥ ४९॥

नित्यनैमित्तिकाद्यस्तु कायिकः परिकीर्तितः । मन्त्राणां जपरूपस्तु वाचिको वेदवित्तमाः ॥ ५० ॥

देवताध्यानरूपस्तु मानसः परिकीर्तितः । कायिकादधिकः प्रोक्तो वाचिको मतिमत्तमैः ॥ ५१ ॥

मानसो वाचिकाच्छ्रेष्ठो मानसो बहुधा स्मृतः । ध्येयभेदेन सोऽप्येवमुत्तमाधमभेदतः ॥ ५२ ॥

द्विविधस्तत्र देवस्य शिवस्य ध्यानमुत्तमम् ।

विष्ण्वादीनां तु देवानां ध्यानं चाधममिष्यते ॥ ५३ ॥

अतो मोक्षार्थिभिः प्राज्ञैः शिव एकः[2] शिवंकरः ।

ध्येयः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यं तु दैवतम् ॥ ५४ ॥

अस्मिन्नर्थे श्रुतिः साध्वी समाप्ता वेदवित्तमाः ॥ ५५ ॥

ज्ञानयज्ञेनेति । ज्ञानयज्ञेन परं ब्रह्मज्ञानं साक्षाज्जायते । अन्यथा तु शब्दत एव बुध्यत इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ परमवेदार्थप्रसङ्गेन कथितस्य ज्ञानयज्ञस्योत्कर्षसूचनाय यज्ञान्तराणि विभागेनानुक्रामति–यज्ञश्च द्विविध इति । स्थूलफलत्वेन कर्मयज्ञस्य स्थौल्यम् । सूक्ष्मविषयत्वेन ज्ञानयज्ञस्य सौक्ष्म्यम् ॥ ४८–५४ ॥

है । अन्य कोई साधन उसके लिए नहीं है ॥ ४७ ॥

यज्ञ दो प्रकार का बताया गया है–स्थूल और सूक्ष्म । कर्मयज्ञ स्थूल है । संसार का बाध करने वाला ज्ञानयज्ञ सूक्ष्म है ॥ ४८ ॥ स्थूल कर्मयज्ञ पुनः तीन प्रकार का है–कायिक, वाचिक और मानस ॥ ४९ ॥ नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान कायिक कर्मयज्ञ है । मंत्रजप वाचिक और देवताध्यान मानस कर्मयज्ञ है ॥ ५०१/२ ॥ कायिक से वाचिक श्रेष्ठ है और वाचिक से मानस श्रेष्ठ है । मानसकर्मयज्ञ अनेक प्रकार का है । ध्येयभेद से यह उत्तम व अधम हुआ करता है । शिव का ध्यान उत्तम और विष्णु आदि देवताओं का ध्यान अधम है ॥ ५१–५३ ॥ अतः मोक्ष चाहने वाले बुद्धिमानों को चाहिये बाकी सब छोड़कर कल्याणकारी एक शिव का ही ध्यान करें, अथर्वशिखोपनिषत् के अंत में यही कहा है ॥ ५४ ॥ (चारों वेदों में आखिरी है अथर्ववेद और उसमें भी आखिरी हिस्सा है उपनिषत् । अतः) श्रुति भी इसी बात को बताकर उपसंहृत हुई है । (सारे उपदेश के अन्त में शिवध्यान का विधान कर श्रुति ने इसके प्रति आदरातिशय दिखा दिया है ।) ॥ ५५ ॥

---

१ ख. ०क्ष्मप्रभे० । २ म. एव शि० ।

अपक्वचित्तैर्मोक्षार्थं देवा विष्ण्वादयोऽपि च । ध्येयाः पक्वैः शिवो ध्येयः साक्षात्संसारमोचकः ॥ ५६ ॥

रुद्रं विश्वाधिकं विष्णुं ब्रह्माणं चान्यमेव वा । समं संचिन्तयन्साक्षात्संसारे परिवर्तते ॥ ५७ ॥

महापापवतां पुंसां पूर्वजन्मसु सुव्रताः ।
विष्णुः सर्वाधिको भाति न साक्षात्परमेश्वरः ॥ ५८ ॥
विष्णुः सर्वाधिको भाति नारकी स न संशयः ।[1]
विष्णुः सर्वाधिको नान्य इति चिन्तयतां नृणाम् ॥ ५९ ॥
नास्ति संसारविच्छित्तिः कल्पकोटिशतैरपि ।
तेषां नैव च मोक्षाशा कल्पकोटिशतैरपि ॥ ६० ॥
ब्रह्मादिदेवतानां च विश्वाधिक्यं वदन्ति ये ।
अधोमुखोर्ध्वपादास्ते यास्यन्ति नरकार्णवम् ॥ ६१ ॥
विष्णोर्वा ब्रह्मणो वाऽपि तथैवान्यस्य कस्यचित् ।
साम्यं वदन्ति ये तेषां न [2]संसाराद्विमोक्षणम् ॥ ६२ ॥

अस्मिन्नर्थे श्रुतिरिति । समाप्ता पर्यवसिता 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' ॥ इति श्रुतिः शिवज्ञानमेव वदन्ती ध्यानमन्तरेण ज्ञानासंभवात्, ज्ञानस्य ध्यानद्वारस्य मुक्तिसाधनत्वे पर्यवसितेत्यर्थः ॥ ५५–५६ ॥ रुद्रमिति । 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः' इति श्रुतिः । अनया श्रुत्या रुद्रस्य सर्वेभ्योऽप्याधिक्यस्योद्घोष्यमाणस्यापि कैश्चिदज्ञाने कारणमाह–महापापेति । सर्वाधिको न भातीत्यन्वयः ॥ ५७–६२ ॥

जिनके चित्त पक न चुके हों वे मोक्ष के उद्देश्य से विष्णु आदि का ध्यान करें, किन्तु जिनके चित्त पक चुके हैं उन्हें तो संसार से सीधे ही मुक्त करने वाले शिव का ही ध्यान करना उचित है । (चित्त के पकने का मतलब है शिव का माहात्म्य समझ आ जाना ।) ॥ ५६ ॥ समस्त संसार से परे होने के कारण निरवधिक श्रेष्ठ रुद्र को और विष्णु या ब्रह्मा को जो एकसमान मानता है वह संसारचक्र में भ्रमण करता रह जाता है । (विष्णु उपादानशक्ति व ब्रह्मा सूक्ष्म-स्थूलोपाधिक हैं अतः अधिष्ठान शिव से उनकी समसत्ताकता कल्पनीय है । यहाँ नाम का झगड़ा नहीं है । अधिष्ठान की विशेषता जाननी चाहिये यह आवश्यक है, नाम उसका चाहे जो समझें । हाँ, श्रुतियों व पुराणों में उस परतत्त्व को शिव, रुद्र आदि कहा है इसमें संदेह नहीं । अतः वेदानुसतो स्मार्त महादेव की श्रेष्ठता का बखान करते हैं, अन्य नामों से द्वेष के कारण नहीं ।) ॥ ५७ ॥ जिन्होंने पूर्वजन्मों में पाप किये हैं उन्हें तादृश संस्कारों से यहाँ विष्णु ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होते हैं ॥ ५८ ॥ जिसे ऐसा लगे उसका नरकगमन निश्चित है । (स्वर्ग भी क्षयादि से दुःखी करने वाला होने से नरक ही है । यहाँ मोक्षलाभ के लिए प्रेरित करने के लिए स्वर्गति को भी हेय बताने

---

१ इयं पंक्तिः वाल. पाठे नास्ति । २ ङ. मोचनम् ॥ ६२ ॥

विष्णुप्रजापतीन्द्रादिदेवतासु मुनीश्वराः । [1]विहीनासु शिवं पश्यन्मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ६३ ॥

शिवरुद्रमहादेवब्रह्मेशानादिनामतः । विष्ण्वादिदेवताः पश्यन्क्रमान्मुच्येत बन्धनात् ॥ ६४ ॥

शिवं सर्वोत्तमं विप्रा हरिविष्ण्वादिनामतः । चिन्तयन्घोरसंसारे पतत्येव न संशयः ॥ ६५ ॥

यथाऽमात्यादिबुद्धिस्तु राज्ञि बाधाय देहिनाम् ।
तथा विष्ण्वादिबुद्धिस्तु शिवे बाधाय देहिनाम् ॥ ६६ ॥

अतः शिवः सदा ध्येयः प्राधान्येन मनीषिभिः ।
ज्ञानयज्ञात्परो यज्ञो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ॥ ६७ ॥

ज्ञानयज्ञैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम् । महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते ॥ ६८ ॥

प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः ।
विशुद्धं ज्ञानमुत्पन्नं यस्य तस्य महात्मनः ॥ ६९ ॥

में तात्पर्य है ।) जो लोग यह समझते हैं कि विष्णु ही सर्वश्रेष्ठ हैं, अन्य नहीं, करोड़ों कल्पों में भी उनकी संसार-अर्गलायें नहीं टूटतीं । अतः करोड़ों कल्पों में भी उनके मोक्ष की कोई आशा नहीं ॥ ५९–६० ॥ जो ब्रह्मादि अन्यान्य देवताओं को ही परम मानते हैं वे सीधे मुँह के बल नरक में जा पड़ते हैं ॥ ६१ ॥ जो विष्णु, ब्रह्मा आदि को शिवसमान भी मानते हैं उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं होता ॥ ६२ ॥ बल्कि विष्णु, प्रजापति, इन्द्र आदि अपरम देवताओं में भी शिवदृष्टि करते हैं वे भवबंधन से छूट जाते हैं ॥ ६३ ॥ (पहले उनका प्रसंग था जो अन्यों की शिवापेक्षया श्रेष्ठता अर्थात् शिव की कनिष्ठता मानते हैं या अन्यों से उन्हें समान अर्थात् परमश्रेष्ठ की अपेक्षा साधारण श्रेष्ठ मानते हैं । अब उन्हें कह रहे हैं जो शिवश्रेष्ठतमता स्वीकारते हुए अन्यों को भी शिव मानते हैं । स्वरूपतः उत्तम वस्तु को अधम या साधारण समझना उसका अनादर है । स्वरूपतः अपकृष्ट को उत्तम समझना उसका आदर है । यही लोकमर्यादा है । अफसर को चपरासी समझना अनिष्ट का और चपरासी को अफसर समझना इष्ट का साधन बनता है । इसी न्याय से गुरु आदि में ईश्वरदृष्टि जाननी चाहिये ।) जो लोग विष्णु आदि देवताओं को शिव, रुद्र, महादेव, ब्रह्म, ईशान आदि नामों का विषय समझते हैं वे क्रममोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ६४ ॥ सर्वोत्तम शिव को हरि, विष्णु आदि नामों का विषय समझने वाले तो घोर संसार में भटकते रहते हैं ॥ ६५ ॥ जैसे राजा को मंत्री आदि समझने से राजकोप के कारण कष्ट होता है वैसे शिव को विष्णु आदि समझने से कष्ट होता है ॥ ६६ ॥ अतः मनीषियों को चाहिये कि प्रधानतः शिव का ही सदा ध्यान करें ।

श्रुति-स्मृति के अनुसार ज्ञानयज्ञ से श्रेष्ठ अन्य यज्ञ नहीं है ॥ ६७ ॥ जो ज्ञानयज्ञ में तत्परुष है उसके लिए कुछ दुर्लभ नहीं । महापापी लोगों को अवश्य ज्ञानयज्ञ

[1] क. ख. घ. निर्हीन सु ।

शिवरुद्रमहादेवब्रह्मेशानादिनामसु । रुद्रमूर्तिषु सर्वासु शान्तिदान्त्यादिसाधने ॥ ७० ॥

तिर्यक्त्रिपुण्ड्रे रुद्राक्षे तथा भस्मावगुण्ठने । शिवलिङ्गस्य पूजायां शिवस्थानेषु सुव्रताः ॥ ७१ ॥

प्रियबुद्धिः प्रजायेत स्वभावादेव सर्वदा । यस्य विज्ञानिनस्तेषु [1]प्रद्वेषो वाऽपि जायते ।

उपेक्षा वा न स ज्ञानी पशुर्विज्ञानवञ्चकः ॥ ७२ ॥

सर्वत्र नास्ति विद्वेषः साध्यसाधनपूर्वके[2] । साक्षाद्विज्ञानिनो विप्रा उपेक्षाबुद्धिरेव हि ॥ ७३ ॥

तथाऽप्युक्तेषु सर्वेषु शैवेषु द्विजपुंगवाः । प्रियबुद्धिः स्वतो भाति बाधिताकाररूपतः ॥ ७४ ॥

बाधिताकारतो वाऽपि यस्य बुद्धिः स्वतो न हि ।

एष्वसौ नैव विज्ञानी भ्रान्त एव न संशयः ॥ ७५ ॥

उत्कृष्टेऽपकृष्टबुद्धिरनर्थाय । अपकृष्टे पुनरुत्कर्षबुद्धिः श्रेयसे च, 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षाद्' इत्यतो विष्ण्वादिषु शिवबुद्धिर्युक्तेत्याह–**विष्णुप्रजापतीति** ॥ ६३–७२ ॥ लौकिकक्रियाकलापवत्पूजाप्रपञ्चोऽपि चित्तैकाग्र्यविरोधेन ज्ञानप्रतिबन्धक इति तत्प्रद्वेषिणः कथं विज्ञानवञ्चकतेत्यत आह–**सर्वत्र नास्तीति** । लौकिकेऽपि हि क्रियाकलापे, उपयोगमपश्यतो ज्ञानिन उपेक्षैव न त्वभियोगेनानुष्ठानमित्येतावन्न तु प्रद्वेषः । न हि शिवः सर्वं जगदिति पश्यन् क्वचिदपि कथं[3] प्रद्विष्यात्[4] । अतो द्विषाणो विज्ञानवञ्चक एवेत्यर्थः ॥ ७३ ॥ तत्किं शिवपूजास्तुत्यादावपि विदुष उपेक्षैव । नह्युपेक्षेत्याह–**तथाऽपीति** । उक्तेषु भस्मावगुण्ठनरुद्राक्षधारणशिवपूजातन्मन्त्रजपादिषु तत्प्रसादबलादेव लब्धविज्ञानस्याकृतघ्नस्य तत्र कथं प्रियबुद्धिर्न जायत इत्यर्थः । न[5] हि शिवाद्वैतविज्ञानाविरोधः स्याद्द्वैतस्फुरणादिति चेत्तत्राऽऽह–**बाधिताकारेति** । रज्जुरियं नायं सर्प इति रज्जुतत्त्वं साक्षात्कुर्वन्तं सर्पभ्रमनिवृत्तावपि संस्कारबलाद्दग्धपटन्यायेन बाधितसर्पावभानानुवृत्तिर्यथा तत्त्वावबोधं न प्रतिबध्नाति, एवं प्राक्तनसंस्कारबलादनुवर्तमानस्यापि शिवपूजादेः शिवसाक्षात्कारं प्रति न प्रतिकूलतेत्यर्थः ॥ ७४ ॥ शिवपूजादौ यस्य बाधिताकारानुवृत्तिस्तस्य विद्यां प्रति न केवलं न प्रातिकूल्यं प्रत्युताऽऽनुकूल्यमित्याह–**बाधिताकारतो वाऽपीति** । एषु शिवपूजादिषु ॥ ७५ ॥

रुचिकर नहीं होता ॥ ६८ ॥ उल्टा उन्हें ज्ञानयज्ञ से द्वेष होता है । जिस महात्मा को ज्ञान हो जाता है उसे शिव, रुद्र, महादेव, ब्रह्म ईशान आदि नामों से, सभी रुद्रमूर्तियों से, शमदम आदि साधनों से, त्रिपुण्ड्र रुद्राक्ष धारण करने से, भस्मोद्धूलन से, शिवलिंग के पूजन से और शिवस्थानों से प्रेम हो जाता है और वह भी बनावटी नहीं, सहज ॥ ६८–७१½ ॥ जो स्वयं को आत्मज्ञानी बताये किंतु शिवनामादि से उसे द्वेष हो, उनकी उपेक्षा करे, वह ज्ञानी नहीं केवल वंचना करने वाला पशु है ॥ ७२ ॥ जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया उसे साध्य-साधनरूप किसी भी क्रियाकलाप से द्वेष नहीं होता । सर्वत्र एक महादेव को देखने वाला क्योंकर कहीं द्वेष रखेगा ? वह केवल उन नाम-रूपों की उपेक्षा करता है जो शिव को छिपाने का प्रयास करते हैं ॥ ७३ ॥ फिर भी उक्त सभी शिवनामादि से उसे स्वाभाविक प्रेम रहता है क्योंकि ये सभी शिव को छिपाने की अपेक्षा प्रकट करने

---

१ क. प्रद्वेषश्प्रदेश्चापि २ घ. °पूर्वकैः । ३ कथमपीत्यन्वयोऽपिशब्दस्तन्त्रेणोभयान्वयी । ४ ग. प्रद्वेषात् । ५ अविरोधो न स्यात् किं तु विरोध एव स्यादित्यर्थः ।

कर्मावलम्बनेनैव केचिज्जीवन्ति मानवाः । ज्ञानावलम्बनेनैव जीवन्त्यन्ये विमोहिताः ॥ ७६ ॥

अनेककोटिभिः कल्पैर्ज्ञानयज्ञस्य वैभवम् ।

मया मद्गुरुणाऽन्यैर्वा न शक्यं परिभाषितुम् ॥ ७७ ॥

तथाऽपि मुनयः श्रद्धामात्रमासाद्य केवलम् । प्रशंसन्ति महाभाग्याज्ज्ञानयज्ञस्य वैभवम् ॥ ७८ ॥

अशक्ता अपि विज्ञातुं ज्ञानयज्ञस्य वैभवम् ।

श्रद्धया स्वाधिकारेण वदन्ति ज्ञानवैभवम् ॥ ७९ ॥

पुनः कणादकपिलप्रभृतीनामपि स्वतः । दोषो न विद्यते ज्ञाने विरोधेऽपि परस्परम् ॥ ८० ॥

केचिदिति । अविदितज्ञानमार्गा **जीवन्ति** जन्मपरंपरासु, न तु कदाचिन्मुच्यन्ते । श्रूयते हि—"अविद्यायां वहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति वालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते" इति । **ज्ञानावलम्बनेनेति** । ज्ञानपरिपाकात्प्रागपरिपक्वमपि ज्ञानमेव पर्याप्तमिति मोहेन कर्म [1]त्यक्तवन्त इत्यर्थः । श्रूयते हि——"ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः" इति । तेषां हि काम्यकर्मत्यागान्न स्वर्गादिभोगः । नित्याद्यकरणनिमित्तप्रत्यवायप्रतिवन्धाद्विद्यापरिपाकानुदयाद्भोगमोक्षमार्गद्वयभ्रष्टास्ते भवन्तीत्यर्थः ॥ ७६–७९ ॥ अशक्तानपि श्रद्धया स्वाधिकारेण[2] ज्ञानवैभवं वदतः पुरुषानुदाहरति—**पुनः कणादेति** । वस्तुनि विकल्पानुपपत्त्या परस्परविरोधिनोरुभयोः प्रामाण्यासंभवादन्यथाप्रमाऽवश्यंभाविन्यपि तद्वादिनां श्रद्धापूर्वमभिधानादेव न दोष इत्यर्थः ॥ ८० ॥

के उपाय हैं व स्वयं उसने इनके द्वारा ही परमार्थलाभ किया है । हाँ यह जरूर है कि ये नाम रूप कर्म भी उसे ज्ञानानन्तर वाधितरूप से ही प्रतीत होते हैं । इन्हें भी वह सत्य नहीं, व्यावहारिकमात्र समझता है ॥ ७४ ॥ जो इन्हें वाधित रूप से जानते हुए इनमें उपादेय बुद्धि नहीं रखता वह ज्ञानी नहीं भ्रांत ही है ॥ ७५ ॥

कुछ लोग केवल कर्म के सहारे जन्मप्रवाह में बहते रहते हैं । कुछ अन्य लोग यह समझकर कि हमें ज्ञान हो गया, मोहवश ही कर्मत्याग कर बैठते हैं । (प्रथम कोटि वाले तो इष्टानिष्ट फलानुभव करते रहते हैं किन्तु द्वितीय कोटि वालों को कोई सद्गति नहीं मिलती । अपने अकर्तृत्व का दृढ निश्चय हुए विना सर्वकर्मत्याग असंभव है । उसके पूर्व कर्मत्यागी केवल विहितत्यागी और निषिद्धसेवी बनता है । अतः तादृश निश्चयपर्यन्त स्वकीय वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए ही विद्याभ्यास उचित है । वैराग्य से पूर्व प्रवृत्तिकर्म व वैराग्य के अनंतर शमादि पूर्वक श्रवणादि निवृत्ति कर्म ज्ञानदार्ढ्यपर्यन्त अवश्य करने चाहिये । स्थितप्रज्ञ गुणातीत ही सर्वकर्मसंन्यासी हुआ करता है ।) ॥ ७६ ॥

करोड़ों कल्पों में भी मैं या मेरे गुरु व्यास जी ज्ञानयज्ञ के वैभव को पूरा नहीं वता सकते ॥ ७७ ॥ एवमपि मुनि लोग श्रद्धापूर्वक उसकी महत्ता की प्रशंसा किया करते हैं ॥ ७८ ॥ जिनमें उसके वैभव को समझने की शक्ति भी नहीं, वे भी श्रद्धा के कारण अपनी योग्यतानुसार उसकी उत्तमता के

१ स्वाश्रमादिविहितं कर्मेत्यर्थः । अतः संन्यासिनां श्रवणादित्यागे पातित्यस्मरणम् । २ क. ख. घ. "ण व" ।

तैस्तैर्निरूपितं ज्ञानं वस्तुतो नैव दर्शनम् । उपचारेण विज्ञानं श्रद्धापूततया द्विजाः ॥ ८१ ॥

व्यासः साक्षाच्छिवज्ञानी शिवस्यैव प्रसादतः ॥ ८२ ॥

तत्प्रसादादहं साक्षाच्छिवज्ञानी न संशयः । मया तत्संग्रहेणैव प्रोक्तं युष्माकमादरात् ॥ ८३ ॥

मत्प्रसादेन विज्ञानयज्ञवैभवमास्तिकाः । ज्ञातवन्तः कृतार्थाश्च यूयं सत्यमिदं वचः ॥ ८४ ॥

इतः पूर्वं मयाऽन्येषां नायमर्थोऽभिभाषितः ।

व्यासो मम गुरुः पूर्वं रहस्यं मेऽभ्यभाषत ॥ ८५ ॥

सारात्सारतरः साक्षादयमर्थः [1]प्रभाषितः । गोपनीयस्त्वयं नित्यं भवद्भिः परमास्तिकैः ॥ ८६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे परापरवेदार्थविभागो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तर्हि किं तदपि तत्त्वदर्शनं ? नेत्याह–तैस्तैरिति । विज्ञानमात्रं तु भवति, न पुनरपवर्गोपयोगि ज्ञानमित्यर्थः । "मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" इत्यमरः ॥ ८१ ॥ कस्तर्हि ज्ञानवान्कथं वा तदीयज्ञानस्य कणादादिवन्न विज्ञानमात्रता ? तत्राऽऽह–व्यास इति ॥ ८२–८५ ॥ अतत्त्वभूतः श्रद्धामात्रेणोक्तोऽपि न सारः । अयं तु तत्त्वभूतोऽपि सार इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे परापरवेदार्थविभागो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

बारे में कहते जरूर हैं ॥ ७९ ॥ अतः कणाद, कपिल आदि के ज्ञान में आपसी विरोध होने पर भी उनका स्वतः दोष नहीं है (क्योंकि उन्होंने ज्ञान से मोक्ष प्रतिपादित किया है जो उनकी ज्ञानश्रद्धा प्रकट करता है । ज्ञान के विषय में उनका मत जरूर गलत है) ॥ ८० ॥ उनके द्वारा निरूपित ज्ञान वस्तुतः मोक्षसाधन न होने से दर्शन नहीं है फिर भी गौणीवृत्ति से उसे विज्ञान कह देते हैं क्योंकि वे प्रतिपादन ज्ञान के प्रति श्रद्धालु होने से पवित्र हैं ॥ ८१–८२ ॥

शिवकृपा से व्यास जी शिवज्ञानी हैं और उनकी कृपा से मैं रोमहर्षण भी शिवज्ञानी हूँ ॥ ८३ ॥ मैंने संक्षेप में आप लोगों को शिवज्ञान ही बताया है । मुझे प्रसन्न कर आपने विज्ञानयज्ञ के वैभव को समझ लिया है । अतः आप सभी कृतार्थ हैं यह निश्चित है ॥ ८४ ॥ इससे पूर्व यह विषय मैंने किसी को नहीं बताया था । प्राचीन काल में व्यासजी ने मुझे इसका उपदेश दिया था ॥ ८५ ॥ यह प्रसंग सार का भी सार है अतः अनधिकारियों से इसे बचा कर रखना चाहिये । ॥ ८६ ॥

---

१. ङ प्रकाशितः ।

तृतीयोऽध्यायः

सूत उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि कर्मयज्ञस्य वैभवम् ।

कर्मयज्ञस्त्रिधा प्रोक्तो मुनिभिः सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १ ॥

एकः काम्योऽपरो नित्यस्तथा नैमित्तिकोऽपरः ।

प्राधान्येन फलं शुद्धिरार्थिकी काम्यकर्मणः ॥ २ ॥

प्राधान्येन फलं[1] शुद्धिर्नित्यस्य, फलमार्थिकम् ।

केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरितरस्य तु ॥ ३ ॥

काम्यरूपेषु यज्ञेषु यतन्ते श्रद्धया सह । मन्दभाग्या नरा विप्रा नित्यनैमित्तिकात्मके ॥

महाभाग्याः प्रवर्तन्ते तेषां मुक्तिरयत्नतः ॥ ४ ॥

उद्देशानन्तरं तत्क्रमेण यतः कर्मयज्ञो जिज्ञासितः, अतस्तद्वैभवं वक्तुं प्रतिजानीते—**अथात** इति ॥ १ ॥ काम्यकर्मनिमित्तफलप्राप्तिः[2] प्रधानम् । अर्थाच्चित्तशुद्धिरपि भवति । यदाहुः[3]—"विड्वराहादिदेहेषु न ह्यैन्द्रं भुज्यते पदम्" इति । नित्यस्य तु सत्त्वशुद्धिरेव प्राधान्येन फलम् । नैमित्तिकस्य प्रायश्चित्तादेरुपात्तदुरितक्षयः फलमित्यर्थः ॥ २–३ ॥ परम्परयाऽप्यपवर्गानुपयोगिषु प्रत्युत तत्प्रतिबन्धकेषु काम्ययज्ञेषु ये प्रवृत्तास्ते मन्दभाग्या इत्याह—**काम्यरूपेष्विति** । ये तु नित्यनैमित्तिकेषु परम्परयाऽपवर्गयोगित्वमभिसंधाय प्रवर्तन्ते ते क्रमेण मुच्यन्त इत्याह-**नित्यनैमित्तिकेति** ॥ ४ ॥

कर्मयज्ञ का वैभवनिरूपण नामक तीसरा अध्याय

सूतजी बोले—अब मैं कर्मयज्ञ का वैशिष्ट्य बताता हूँ । कर्मयज्ञ तीन प्रकार के बताये गये हैं—काम्य, नित्य और नैमित्तिक । काम्य वह कर्म है जो प्रधानतः इष्ट फल प्रदान करता है व उसके लिए आवश्यक शुद्धि आनुषंगिक रूप से देता है । नित्य वह कर्म है जो प्रधानतः मनःशुद्धि देता है, आनुषंगिकरूप से फल भी दे देता है । नैमित्तिक कर्म वह है जिससे केवल दुरितनिवृत्ति होती है, न फल मिलता है और न शुद्धि ॥ १–३ ॥ मन्दभाग्य लोग काम्यकर्मों में ही श्रद्धा वाले होते हैं । नित्यनैमित्तिक में श्रद्धालु हो उनके अनुष्ठाता महाभाग्यशाली होते हैं, उन्हें अनायास ही मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ४ ॥ जो इन यज्ञों को केवल यह सोचकर करते हैं कि क्योंकि ये विहित हैं इसलिए करने चाहिये, उन्हें इनसे कम ही लाभ होता है ॥ ५ ॥ जो इन्हें श्रद्धासहित इस दृष्टि से करते हैं कि इनसे हम शिव की आराधना कर

---

१ नित्यस्याफलत्वमसिद्धमिति भावः । नैमित्तिकतया प्रसिद्धमिहोपलक्षणीयम् । अत्र परं निमित्तेन पापेन स्वक्षयाय प्रयुक्तं नैमित्तिकमिति कृत्वा प्रायश्चित्तस्यैव नैमित्तिकत्वमिति विशेषः । २ ख. "स्यकर्मणः फ" । ग. "स्य कर्मणो निमित्तफ" । घ. "म्यकर्मणि फ" । भ" ३ काम्यजन्यशुद्धे मोक्षानौपयिकत्वं स्पष्टयितुं सुरेश्वरोक्तिं प्रमाणयति ।

विध्युक्तमिति बुद्ध्या ये वर्तन्ते श्रद्धया सह ।

एषु यज्ञेषु सर्वेषु तेषां मन्दफलं भवेत् ॥ ५ ॥

शिवाराधनबुद्ध्या ये यतन्ते श्रद्धया सह । [1]एषु यज्ञेषु ते शीघ्रं विमुक्तिफलमाप्नुयुः ॥ ६ ॥

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमसङ्गोऽहमहं शिवः । इति विज्ञाय मानेन स्वात्मानं तर्कतोऽपि च[2] ॥ ७ ॥

कर्मयज्ञेषु ये नित्यं यतन्ते श्रद्धयाऽन्विताः । ते महादेवविज्ञानमपरोक्षमवाप्नुयुः ॥ ८ ॥

यज्ञरूपं महाविष्णुं यज्ञे पश्यन्ति ये द्विजाः । ते तु विज्ञानमासाद्य कैवल्यं ज्ञानमाप्नुयुः ॥ ९ ॥

प्राधान्येन महादेवो यज्ञैरिज्यो न चापरः ।

इति ज्ञात्वा यजन्ते ये तेऽपि विज्ञानमाप्नुयुः ॥ १० ॥

विष्णुं ब्रह्माणमिन्द्रं वा देवतान्तरमेव वा ॥ ११ ॥

प्रधानबुद्ध्या ये यज्ञैर्यजन्ते मोहतोऽपि वा ।

ते यान्ति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ १२ ॥

ये तु तेष्वेवाभिसंधिमात्ररहिता विध्युक्तमित्येव प्रवर्तन्ते ते मन्दफलभागिन इत्याह–विध्युक्तमिति ॥ ५ ॥ ये तु तान्ये(ने)वेश्वराराधनबुद्ध्या कुर्वन्ति तेऽत्यन्तनिष्कामतया बुद्धिशुद्ध्यतिशयवन्तस्त्वरया मुच्यन्त इत्याह–शिवाराधनेति ॥ ६ ॥ अकर्तादिरूपमौपनिषदमात्मतत्त्वं मानेन तदनुग्राहकतर्केण च विज्ञाय कर्मयज्ञं कुर्वतः शिवसाक्षात्कारः फलमित्याह–अकर्ताऽहमिति ॥ ७–१० ॥ अथवा यज्ञात्मको विष्णुरित्यभिसंधाने विज्ञानं भवति । प्राधान्येन शिव एव यष्टव्यस्तदङ्गत्वेन ब्रह्मविष्ण्वादयः । शिवादन्ययस्य तु प्राधान्येन यष्टव्यत्वाभिसंधाने नरक एवेत्याह–विष्णुमित्यादि । मोहतोऽपि वेति । मोहतः प्रमादादिना । प्रमादात्तुच्छं[3] कृत्व [4]झटिति तत्त्यागे न दोष इत्यर्थः ॥ ११–१२ ॥

रहे हैं, उन्हीं को मोक्षरूप फल शीघ्र प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ जो लोग प्रमाणभूत वेदांतों व तर्कों से निजात्मा को अकर्ता, अभोक्ता, असंग, शिव समझकर कर्मयज्ञों का अनुष्ठान श्रद्धा से करते हैं उन्हें महादेव का अपरोक्ष अनुभव होता है ॥ ७–८ ॥ यज्ञ में जो यज्ञरूप महाविष्णु दृष्टि करते हैं वे भी विज्ञान द्वारा कैवल्यभाक् होते हैं ॥ ९ ॥ यज्ञों से प्रधानतः महादेव ही पूज्य हैं, अन्य नहीं–ऐसा जानकर यज्ञ करने वाले भी परमार्थानुभव प्राप्त कर लेते हैं ॥ १० ॥ विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र या अन्य किसी देवता को प्रधान मानकर–चाहे समझ-बूझ कर यह गलत निश्चय किया हो या बिना विचारे ही कर लिया हो–

१ क. ख. ङ. येषु । २ च. वा । ३ क. ख. ग. ङ. च. ०तु क्क० । ४ क. ग. झडिति ।

नामतश्चार्थतो यस्तु महादेवो महेश्वरः ।

स एव साम्बः सर्वज्ञ इज्यः सर्वमहामखैः ॥ १३ ॥

यानि लोकेऽनिषिद्धानि [1]कर्माण्यविहितानि च ।

तानि शंभोर्महापूजेत्येतज्ज्ञानं महामखः ॥ १४ ॥

यानि कर्माणि सर्वाणि निषिद्धानि श्रुतौ स्मृतौ ।

तानि चाऽऽराधनं शंभोरिति ज्ञानं महामखः ॥ १५ ॥

ईश्वरार्थधिया[2] पापान्यपि कर्माणि सुव्रताः ।

भवन्ति पूतान्यत्यन्तं सत्यमेव न संशयः ॥ १६ ॥

आर्द्रकाष्ठं महानग्निः शुष्कं कृत्वा दहेद्यथा ।

तथेश्वरधिया पापं शुद्धविज्ञानदं भवेत् ॥ १७ ॥

इत्थंभावे कारणमाह–नामत इति ॥ १३ ॥ यानि लोकेऽनिषिद्धानीति । अनिषिद्धान्यविहितानि च निमेषकण्डूयनादीन्यपि शिवाराधनबुद्ध्या कृतानि फलन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥ किंच निषिद्धान्यप्येवमाह–यानि कर्माणीति ॥ १५ ॥ तत्र कारणमाह–ईश्वरार्थेति[4] ॥ १६ ॥ तत्रोदाहरणमाह–आर्द्रकाष्ठमिति ॥ १७ ॥

यज्ञ करने वालों को लम्बे समय तक घोर नरक ही मिलता है । (भेददृष्टि से कर्मठ बनने पर भेदनिश्चय दृढतर होगा और द्वितीयमात्र भयहेतु होने से भेदधी दुःखव्याप्त है, वही नरक है । एवं च भेददृष्ट्या किया विहित कर्म यद्यपि स्वर्गादि भूमियों में ले जायेगा व अनेक भोग भी देगा या यहीं पुत्र,पशु आदि देगा तथापि वह सब सदुःख ही होने से यहाँ नरक कहा गया है ।) ॥ ११–१२ ॥ नाम से तथा नाम के अनुरूप ही जो महादेव महेश्वर हैं वे सर्वज्ञ साम्ब ही सब यज्ञों से पूज्य हैं ॥ १३ ॥ जितने लौकिक भी अनिषिद्ध व अविहित कर्म हैं–जिनके बारे में शास्त्र ने कुछ नहीं कहा है– वे भी यदि शिवपूजा की दृष्टि से किये जायें तो महायज्ञ ही हैं ॥ १४ ॥ निषिद्ध कर्म भी यदि शिवाराधना के रूप में किये जायें तो वे भी मयायज्ञ ही हैं ॥ १५ ॥ ईश्वरार्पणबुद्धि से किये गये पाप भी पवित्र ही हैं ॥ १६ ॥ जैसे दावानल आदि जाज्वल्यमान अग्नि गीली लकड़ी को सुखाकर जला देती है वैसे ही परमेश्वर-प्रीत्यर्थ किया पाप भी शुद्ध विज्ञान देता है ॥ १७ ॥ विहित कर्मों को करने में श्रद्धालु लोग जो शास्त्रानुकूल कर्म करते हैं वह महायज्ञ है और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति का कारण बनता है ॥ १८ वे लोग जो शास्त्रविरुद्ध

---

१ ख. °र्माणि वि° । २ च. °रार्थे धि° । ३ च. °नि नि° । ४ ङ. °रार्थमिति ।

[1]विध्युक्तकर्मनिष्ठानामिष्टस्य करणं तु यत् ।
सोऽपि साक्षान्महायज्ञः सम्यग्ज्ञानस्य कारणम् ॥ १८ ॥

विध्युक्तकर्मनिष्ठानामनिष्टकरणं तु यत् ।
तन्महापातकं प्रोक्तं संसारस्य प्रवर्तकम् ॥ १९ ॥

दुराचारिषु सर्वेषु विना दोषस्य दर्शनम् ।
उपेक्षाबुद्धिरुत्पन्ना[2] सा[3] तस्यायं महामखः ॥ २० ॥

बुद्धार्हतादिमार्गस्थे देवताप्रतिमासु च । देवताबुद्धिमात्रं यत्सोऽपि यज्ञः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

वैदिकं तान्त्रिकं हित्वा मार्गं स्वप्रज्ञया द्विजाः ।
यत्र यो देवताबुद्धिं करोति श्रद्धया सह ॥ २२ ॥

सोऽपि यज्ञ इति प्रोक्तो मया वेदार्थवित्तमाः ।
श्रद्धया सहितं सर्वं श्रेयसे भूयसे भवेत् ॥ २३ ॥

यत्पुनर्वैधं कर्म तत्र किमु वक्तव्यमित्याह–विध्युक्तेति । विध्युक्तकर्मनिष्ठानां यदनिष्टं तत्करणकर्तॄणां संसारापादनमित्यर्थः ॥ १८–१९ ॥ दुराचारिष्वपि दोषदर्शनमकृत्वोपेक्षैव कार्या । उक्तं हि पतञ्जलिना 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इति । तदाह–दुराचारिष्विति । यस्य[4] यादृश्युपेक्षाबुद्धिः सा तस्य महामख इत्यर्थः ॥ २० ॥ बुद्धार्हतादिमार्गस्थे पुरुषे तदीयदेवताप्रतिमास्वप्यादरमकृत्वा देवताबुद्धिमात्रं समबुद्धित्वादविरुद्धं 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इति न्यायेनेत्याह–बुद्धेति ॥ २१ ॥ वेदेष्वागमेषु[5] चाऽनुक्तमपि यत्किंचिदाराधनं [illegible]ः किमुत[6] तन्त्रोक्तमित्याह – वैदिकं तान्त्रिकमिति ॥ २२–२३ ॥

आचरण करते हैं वही महापाप है और उन्हें संसारप्रवाह में बहाता है ॥ १९ ॥ दुराचारियों में दोष-दृष्टि न कर उपेक्षाबुद्धि रखना महायज्ञ है । (साधक उनमें दोषदृष्टि कर स्वयं विक्षिप्त होगा और उनके सुधार के लिए यत्नशील हो मार्गभ्रष्ट होगा । अतः मुमुक्षु के लिए पापियों की उपेक्षा ही करनी आवश्यक है । जो मोक्षपथिक न हो धर्मरक्षार्थ कृतप्रतिज्ञ हों उन्हें अवश्य पापियों को शिक्षित करना चाहिये ।) ॥ २० ॥ बुद्ध जैन आदि मार्गों को मानने वालों को व उनकी पूज्य मूर्तियों को भी देवता समझना यज्ञ बताया गया है । (यहाँ भी पूर्वोक्त ही न्याय है । इतर धार्मिकों से झगड़ा करना सामाजिक या दर्शनशास्त्रियों की शोभा बढ़ाता है, मुमुक्षु के लिए शोभनीय नहीं । जो कुत्ते व चाण्डाल में सामदर्शन का अभ्यासी

१ ज. "कर्मानुष्ठा" । २ क. ग. ङ. न्न या यस्य" । ३ च. सा यस्या" । ४ ग. "स्य ईदृ" । ५ क. ग. ङ. च "ष्वाश्रम" । ६ ग. "त मन्त्रो" ।

स्वबुद्ध्या वेदशास्त्रोक्ते तन्त्रोक्तेऽपि द्विजोत्तमाः ।

आस्तिक्यं देवताबुद्धिरपि लाभाय देहिनाम् ॥ २४ ॥

फलेषु तारतम्यं तु विद्यते सूक्ष्मदर्शने ॥ २५ ॥

कायिकः कर्मयज्ञस्तु कथितः संग्रहेण तु ।

भवन्तोऽपि महायज्ञं कायिकं कुरुत द्विजाः ॥ २६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे कर्मयज्ञवैभवनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

स्वबुद्ध्यधीने प्रतिमादौ शास्त्रोक्ते च श्रद्धया विहिते श्रेयसे भवति ॥ २४ ॥ [1]तावन्मात्रमपि पर्याप्तं चेत्किमिति प्रागुक्तनियमविशेषादेरित्यत आह–फलेष्विति ॥ २५–२६ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे कर्मयज्ञवैभवनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

है वह बौद्ध जैन आदि मनुष्यों को क्यों असमान दृष्टि से देखे ।) ॥ २१ ॥ वैदिक व तांत्रिक मार्ग को छोड़कर अपनी बुद्धि से ही जिस किसी को श्रद्धापूर्वक देवता मान लेना भी यज्ञ ही है क्योंकि श्रद्धा से किया सभी कुछ कल्याणकारी हो जाता है ॥ २३ ॥ चाहे अपनी बुद्धि से करे, चाहे वेद, शास्त्र या तंत्र में बताये अनुसार करे, श्रद्धापूर्वक देवताबुद्धि लाभ ही करती है ॥ २४ ॥ यह अवश्य है कि फलों में श्रेष्टता-कनिष्ठता होती है : वैदिक अनुसरण श्रेष्ठ है, तांत्रिक उससे निकृष्ट है, अपनी मति से ही चलना सबसे निकृष्ट है । इसी तरह सूक्ष्म आत्मतत्त्व के दर्शन में भी तारतम्य है–वैदिक दृष्टि सर्वोत्कृष्ट है, तांत्रिक आत्मप्रतिपादन सदोष है, स्वमतिप्रभव आत्मनिर्णय स्थविष्ठ है ॥ २५ ॥ (इस प्रकार समस्त धर्मों का समन्वय पुराणकार ने स्थापित कर दिया है । अतः 'त्रयी सांख्यं योगः' इत्यादि महिम्नस्तोत्र में (श्लो. ७) परिगणन समझना व्यर्थ है । ईसाई मुसलमान भी कुटिल मार्गों में गिने जा सकते हैं । जैसे अधिकारियों की अपेक्षा से, निषिद्ध कर्मों के भी विधायक तंत्र आगम आदि को कुटिल मार्गों के रूप में स्वीकारा जाता है वैसे म्लेच्छादि अधिकारियों के लिए वे पथ हैं । सेवा, एकेश्वर-निश्चय आदि द्वारा उनकी भी उपकारकता है । यह मुमुक्षु की दृष्टि से समन्वय है, समाजसंरक्षक आदि कार्यों में व्यापृत लोग क्या मानें, उसका यहाँ प्रसंग नहीं । आगे (४.२०.१६) भी यह विचार आयेगा ।)

इस प्रकार कायिक कर्मयज्ञ मैने संक्षेप में बता दिया । आप लोग भी प्रेम से कायिक महायज्ञों का अनुष्ठान कीजिये ॥ २६ ॥

---

1 ग. "तत्र ताव° ।

चतुर्थोऽध्यायः

श्री सूत उवाच–अथाहं वाचिकं यज्ञं वक्ष्यामि श्रद्धया सह ।

परात्परतरात्तस्माच्छिवाच्चैतन्यलक्षणात् ॥ १ ॥

स्वशक्तिसहितादेव[1]. द्विजा ज्योतिर्मयः[2] परः ।

शब्द सूक्ष्मः स्वभावेन प्रादुरासीदखण्डितः ॥ २ ॥

उद्देशक्रमानुसारेण कायिकयज्ञनन्तरं वाचिकयज्ञं वक्तुं प्रतिजानीते–**अथाहमिति** । तत्र प्रथमतो वागुत्पत्तिमाह–**परात्परेति** । यदस्मिन्नध्याये वक्तव्यं तत्सर्वं प्रथमस्य शिवमाहात्म्यखण्डस्य पञ्चमे शक्तिपूजाध्याये 'मातृका च त्रिधा प्रोक्ता' इत्यस्य श्लोकस्य[3] व्याख्याने प्रपञ्चितं तदेवेह तत्र तत्र प्रत्यभिज्ञाप्यते । अधिकश्चांशो विवरिष्यते । विमर्शरूपतमोविषयभावनिरन्तरश्चिदंशः परो विन्दुः स एवेश्वरः । तस्मात्परतरो मायातीतो निष्कलस्तस्मान्निष्कलात्परतराद्यथोदीरितरूपः स्वमायाशक्तिविशिष्टचैतन्यजयोतीरूपो[4] विन्दुपदाभिधेयः पर ईश्वरो जात इत्यर्थः । तदुक्तमागमे–'अथोत्पत्तिं प्रवक्ष्यामि जातायां सर्वसंहृतौ । एक एव शिवस्त्वास्ते परमानन्दलक्षणः ॥ जगदुत्पत्तिहेत्वर्थं निष्कलात्परमाच्छिवात् । समुद्भूतः परस्तस्मात्' इति । तस्मात्परविन्दुशब्दाभिधेयादचिदंशो बीजं चिदचिन्मिश्रांशो नादश्चिदंशोऽपरो विन्दुरिति त्रिधा विभागसमये सूक्ष्मः शव्दो जात इत्याह–**शब्दः सूक्ष्म** इति । **अखण्डित** इति मूलकारणस्य विभज्यमानस्य विन्दोः सर्वगतत्वात्तदात्मकतया सर्वत्रानुस्यूत इत्यर्थः । तथा सर्वगतस्यापि वैखरीरूपशव्दवाक्ये श्रोत्राग्राह्यत्वमेव सूक्ष्मत्वम् । इन्द्रियागोचरत्वे कथं तदवभास इत्यत आह–**स्वभावेन प्रादुरासीदिति** । स्वप्रकाशविन्दुकार्यतया तदात्मकत्वेन स्वयमपि स्वप्रकाशत्वस्वभावेन[5] प्रादुर्भावः । एष एव शब्दः स्वप्रकाशत्वात्सर्वगतत्वाज्जगत्कारणतादात्म्याच्च शब्दब्रह्मेत्युच्यते ॥ १–२ ॥

वाचिक यज्ञ का विवरण नामक चौथा अध्याय

सूत जी वोले–अब मैं वाचिकयज्ञ के विषय में बताऊँगा । चैतन्यरूप उस सवसे परम शक्तिसहित शिव से प्रकाशकस्वभाव सूक्ष्म व्यापक परमशब्द प्रादुर्भूत हुआ ॥ १–२ ॥ वही शब्द प्राणियों के मूलाधार में उपस्थित है जो वायुसम्बन्ध से क्रमशः मुखादि से निकलकर श्रूयमाण वनता है । मूलाधार में स्थित वह शब्द तपे सोने की तरह पर प्रकाशन-समर्थ नहीं है ॥ ३ ॥ वह प्राणवायु

---

१ घ. "हितो द्वे" । २ च. "तिर्महेश्वरः । ३ १. ५. ९. तत्र 'प्रोक्ता' इति नास्ति । ४ क. ख. ग. घ. च. ज्योतिरूपो । ५ ङ. "शवत्त्वस्व" ।

स शब्दः पुनराधारे प्राणिनामास्तिकोत्तमाः । पिण्डीभूततयाऽऽभाति तप्तजाम्बूनदप्रभः ॥ ३ ॥

स पुनर्ब्रह्मनाड्या तु प्रविश्य हृदयाम्बुजम् । विभक्तः सूक्ष्मरूपेण भाति वह्निप्रभः स्वतः ॥ ४ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं पुनः साक्षाच्छिवस्य स्थानमुत्तमम् । पिण्डीभूततया प्राप्य प्रकाशानन्दलक्षणे ॥ ५ ॥

तत्र संनिहिते शंभौ विश्रान्तिं लभते स्वतः ।
आधारे परशक्तेस्तु स्थाने शब्दः प्रकाशितः ॥ ६ ॥

तस्यैव शब्दब्रह्मणः परावाग्रूपलक्षणदशा[1]-विशेषमाह[2] **स शब्द** इति[3] ॥ तस्य सर्वगतस्यापि प्राणिनामर्थविवक्षाहेतुकप्रयत्नजनितपवनसंवन्धनिवन्धना मूलाधारलक्षणप्रदेशविशेष[4] ग्राऽभिव्यक्तिः सा पिण्डीभावः[5] तयैवाभिव्यक्तस्वप्रकाशस्यापि[6] तस्य यो [7]वैशद्यातिशयोऽस्वप्रकाशरूपतासाम्याज्जडप्रकाशेन प्रसिद्धेन तप्तजाम्वूनदःरूपेणोपमीयते–**तप्तेति** । तत्र [8]पिण्डीभावदशोपहितो[9] मूलाधारस्थस्वप्रकाशो निस्पन्दः शब्दः परा वागित्युच्यते । स वा[10] मूलाधारादानाभि विमर्शरूपेण मनसाऽभिव्यक्तो [11]वैशद्यातिशयदशापन्नसामान्यस्पन्दनरूपः पश्यन्ती वागित्युच्यते । एते परापश्यन्त्यौ स्वप्रकाशत्वमनोविषयत्वाभ्यां निस्पन्दत्वसामान्यस्पन्दत्वाभ्यां वा पृथक्त्वेन क्वचिन्निर्दिश्येते । इह तु विशेषस्पन्दविरहसाम्येनैकीकृत्य पिण्डीभावजाम्वूनदप्रभाभावाभ्यां[12] विशिष्टैकस्वरूपतया निर्दिश्येते इति मन्तव्यम् । अनेनैवाभिप्रायेण 'मातृका च त्रिधा स्थूला' इत्यत्र परापश्यन्त्यौ [13]सूक्ष्मतररूपत्वेनैकीकृत्य त्रैविध्यं वर्णितमिति ॥ ३ ॥ तस्यैवेदानीं नाभेर्हृदयं प्राप्तस्य निश्चयात्मिकया वुद्ध्या विषयीकृतस्य विशेषस्पन्दरूपस्य मध्यमावाग्रूपतामाह–**स पुनर्ब्रह्मेति ब्रह्मनाड्या** सुषुम्नया । **विभक्त** इति तत्तदर्थविशेषविषयशब्दरूपविशेषोल्लेखिन्या वुद्ध्या निश्चित्य विकल्पिते विशेषस्पन्दरूप इत्यर्थः । अनेन मध्यमायाः परापश्यन्तीभ्यां विशेषो वर्णितः । वैखरीतो विशेषमाह–**सूक्ष्मरूपेणेति** । परश्रोत्रग्रहणायोग्यत्वं सूक्ष्मत्वम् । **स्वत** इति स्वगोचरया निश्चयात्मिकया वुद्ध्येत्यर्थः । आत्मीयवाचकात्स्वशब्दात्टावन्तात्तृतीयार्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः। 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति पुंवद्भावः । **वह्निप्रभ** इति । पश्यन्तीवाग्रूपातदपि वैशद्यातिशयो मध्यमाया वाच उच्यते । वह्निप्रभा हि बाह्यतमोपहरणसमर्था । तदसमर्थं जाम्वूनदप्रभत्वमिति[14] विशेषः ॥ ४ ॥ वैखरीं वक्तुमारभते–**ब्रह्मरन्ध्रमिति** । **प्रविश्येत्यनुषङ्गः** । **पुनरिति** तुशब्दार्थे । मध्यमास्थानाद्धृदयाद्वैखरीस्थानस्य ब्रह्मरन्ध्रस्य भेदमाह–**शिवस्येति** । शिवस्य **साक्षात्स्थानम**परोक्ष्यस्थानम् । शिवो हि परमानन्दरूपे जगदुपादानतया सर्वगतोऽपि ब्रह्मरन्ध्र उपास्यमानोऽचिरादपरोक्षो भवति, हृदयभ्रूमध्यादिषूपासनास्थानान्तरेषु संभवत्यपि ब्रह्मरन्ध्रेऽचिरादानन्दाभिव्यक्त्यतिशयादुत्तममित्युक्तम् । तथात्वे चाभ्यासवतामनुभवः श्रुतिस्मृती च प्रमाणम् । श्रूयते हि–'सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्' इति । स्मर्यते–'मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः

से प्रेरित हो सुषुम्ना नाडी से हृदय में प्रविष्ट हो विभिन्न वाचकरूपों से स्पन्दित होता है किन्तु दूसरे व्यक्ति को सुनायी नहीं देता अतः सूक्ष्म ही है । अपनी वुद्धि से उसका पता चलता है । इस अवस्था में वह वह्नि के समान विषयप्रकाशन में समर्थ होता है ॥ ४ ॥ तदनन्तर वह शब्द शिवाधिष्ठित उत्तम स्थान

---

१ ख. "णदृशा । २ क. "पणमा" । ३ क. ग. घ. ङ. च. "ति । पिण्डीभूततयेति । त" । ४ ङ. "विषया" । ५ ङ. "स्तस्यैवा" । ६ क. ख. ग. घ. ट. च. "स्य वै" । ७ क. ग. ङ "शद्यालयो" । ८ च. पिण्ड भा । ९ घ. "वदृशो" । १० एवेत्यर्थः । ११ घ शयं दर्शयन्सामा" । १२ घ. "भावा" । १३ ख. क्ष्मतारूप" । १४ ख. "ति शे" ।

परमेकाक्षरं साक्षाद्भवत्यत्यन्तशोभनम् । आज्ञासंज्ञान्महास्थानादूर्ध्वं यत्स्थानमुत्तमम् ॥ ७ ॥

तत्रस्थोऽहं द्विजाः शब्दः सूक्ष्मैकाक्षरतामियात् ।

तृतीये परमाधारे पूरके पुण्यभाजने । एकाकारत्वमाप्नोति [1]स्वभावेनाक्षरद्वयम् ॥ ८ ॥

प्राणमास्थितो योगधारणाम् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ॥ यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः' इति ॥ ५–७ ॥ प्रविष्टस्य कृत्यमाह–**तत्रस्थ** इति । द्विविधं ह्यक्षराणां स्वरूपं–स्थूलं सूक्ष्मं च । स्थूलं परश्रोत्रग्रहणयोग्यं वैखरीरूपतामापन्नमकारादिक्षकारान्तवर्णतत्समभिव्याहारपदावाक्यमन्त्राद्यात्मकमनेकम् । सूक्ष्मं तु मध्यमारूपपरित्यागेन [2]वैखरीरूपप्राप्तामुख्यलक्षणमेकं[3] नादात्मकं प्रणवरूपम् । प्रणवो हि कण्ठोष्ठाद्यभिव्यङ्ग्यो बाह्यः स्थूलो नादात्मकश्च । सकलशब्दोपादानभूतो मूर्धन्यभिव्यज्यमान आन्तरः सूक्ष्ममक्षरम् । तस्य चाक्षररूपप्राप्ताभिमुख्यस्य नादात्मकता **शब्द** इत्यनेनोक्ता । उक्तं हि साम्बेन–'ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणशब्दो वाणी यस्मात्प्रभवति परा शब्दतन्मात्रगर्भा' इति । तस्य मूर्धनि प्राणेनाभिव्यज्यमानस्य सकलवर्णोपादानत्वं शवरस्वामिभिरुक्तम्–'नाभेरुत्थितः प्राण उरसि विस्तीर्णः कण्ठे परिवृत्तो मूर्धानमाहत्य परावृत्तो विविधाञ्शब्दान्व्यनक्ति' इति । [4]अत्र च प्राणस्य नादाभिव्यञ्जकत्वम् । तदभिव्यक्तस्य तु नादस्यैव परापश्यन्तीमध्यमारूपस्य वर्णोपादानता । अत एव प्राणः शब्दान्व्यनक्तीत्युक्तं[5] न पुनः प्रस्थित इति । उक्तो नादः प्रसूत[6] इत्युक्तं साम्बेनैव–"या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं वर्णानन्तः प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात्प्रसूते ॥ तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये" इति ॥ पश्यन्तीमध्यमयोर्वैखरीकारणे[7] नादात्मके प्रणवेऽनुगतिमाह–**तृतीय** इति । पश्यन्तीमध्यमास्थाननाभिहृदयापेक्षयोक्ताक्षरस्थानस्य ब्रह्मरन्ध्रस्य **तृतीयत्वम्** । भ्रूमध्याद्यपेक्षया वर्णितादुत्कर्षात्परमाधारत्वम् । वैखरीकारणभावस्य तत्र परिपूर्णत्वात्पूरकत्वम् । सकलपुण्यफलपरमानन्दाभिव्यक्तिस्थानत्वेन च **पुण्यभाजनत्वम्** । अक्षरद्वयस्य तत्रै**काकारता** नाम पश्यन्तीमध्यमयोरनुगतिरेव । **स्वभावेन** तदात्मकतया । अथवा नादात्मकस्य प्रणवस्य प्रभावोऽयमुपवर्ण्यते । इत्थं नामायं प्रणवो महाप्रभावो यदिहैवोत्तरत्र वर्णयिष्यमाणमहिम्नोऽजपामन्त्रस्यावयवभूतं हमिति स इति चाक्षरद्वयमत्रैकाकारतामापन्नम् । तत्र हेतुः **स्वभावेनेति** । स्वस्मादुक्ताक्षरद्वयाद्भावेन[8] स्वभावेनोत्पाद्येत्यर्थः[9] । तथा हि–लीलया परिगृहीतार्धनारीश्वरावतारस्य[10] परशिवस्य पुंभागोऽहमित्युच्यते। प्रकृतिभागः स इति । सा च प्रकृतिः पुंसा तादात्म्यमात्मनो यदाऽनुसंधत्ते तदाऽजपातः[11] सोऽहमिति परमात्ममन्त्रो जातः । तत्र च सकारहकारयोर्लोपे संधौ च कृते प्रणवो जात इति वर्णितं प्रपञ्चसारे–'हकारश्चः पुमान्प्रोक्तः स इति प्रकृतिर्मता । अजपेयं मता शक्तिस्तथा दक्षिणवामतः ॥ विन्दुर्दक्षिणभागस्थो वामभागो विसर्गकः । तेन दक्षिणवामाख्यौ भागौ स्त्रीपुंससंज्ञितौ । विन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिर्मता । पुंस्प्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत् ॥ पुंरूपं सा विदित्वा स्वं सोऽहंभागमुपागता । स एष [12]परमात्माख्यो मनुरस्य महामनोः ॥ सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत् । संधिं च पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत् ॥ इति ॥ ८ ॥

ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है । उस प्रकाश व आनन्द स्वरूप स्थान में वह शब्द पिण्ड की तरह पूरा ही पहुँच जाता है और शिवसंनिधि में विश्राम पाता है । पराशक्ति के आधार में प्रथमतः प्रकाशित शब्द शिवस्थान को प्राप्त कर ही विश्रान्त होता है । वहीं वह शब्द अत्यन्त शोभन परम एकाक्षर (प्रणव) रूप को प्राप्त

---

१ ङ. "भावे त्वक्ष" । २ घ. "प्राप्त्यभि" । ३ च. "मुखल" । ४ ग. अन्यच । ५ ग. "ध्वर्दीन्वय" । ६ घ. प्रसृत । ७ ग. ङ. च "खरीकर" । ८ क. ख. ग. च."यात्प्रभावस्व" । ङ "याभावेनो" । ९ ङ "त्यात इत्य" । १० च. "श्वरस्य । ११ क. ग."दाऽक्षपा" । घ. "दाक्षरत्यात्सोऽह" । ङ. "दाव्यस्ताक्षरपा" । १२ ग. ट. एव ।

अयमाद्यः परो मन्त्रः सुप्रसिद्धः स्वभावतः । मननत्राणरूपत्वान्मन्त्र [1]इत्यभिशब्दितः ॥ ९ ॥

मातृका परमा देवी मन्त्रमाता महेश्वरी । अस्मादाद्यान्महामन्त्रादाविर्भूता स्वभावतः ॥ १० ॥

अधोमुखी भवेदेका एका[2] ऊर्ध्वमुखी भवेत् ।

तस्माच्छ्रीमातृका शुद्धा [3]चाऽऽद्यमन्त्रात्मिकी भवेत् ॥ ११ ॥

इत उत्पत्त्या मातृकायास्यतदुत्पत्त्या चान्येषां मन्त्राणां तदनुसंधानार्थमस्य तावदाद्यमन्त्रतामाह—**अयमाद्य** इति । सर्वकारणत्वात्परः । ताल्वादिव्यञ्जकस्थानापेक्षत्वात्स्वभावतः **सुप्रसिद्धः** । अत्र मन्त्रपदं व्युत्पादयति—**मननेति** । तत्त्वस्य प्रबोधनेनैव संसारभयात्परित्राणे च शूरत्वान्मुख्यत्वात् । उक्तं हि—''मननात्तत्त्वपदस्य[4] त्रायते[5] महतो भयात्'' इति मन्त्र[6]त्यमुच्यत इति ॥ ९ ॥ यदर्थमस्य मन्त्रत्वमुक्तमिदानीं ततो मातृकाया उत्पत्तिमाह—**मातृकेति** । मातृकातो हि सर्वे मन्त्रा उद्ध्रियन्त इति सा मन्त्रमाता । सा कथमस्मान्नोत्पद्येत यद्येष महामन्त्रो न स्यादित्यर्थः ॥ १० ॥ ननूदाहृतशवरस्वामिग्रन्थे प्राणाभिव्यक्तस्यैव नादस्य वैखरीरूपवर्णोत्पादकतोक्ता । साम्बस्तोत्रे च—प्राणसङ्गात्प्रसूत इति । वैखरीरूपशब्दोत्पत्तिसमये च श्वासप्रश्वासात्मकस्य प्राणस्योपरमे व्यञ्जकप्राणाभावादनभिव्यक्तो नादः कथं वैखरीमुत्पादयेदित्यत आह—**अधोमुखीति** । त्रिविधं हि प्राणस्य स्वरूपम् । **एकमधोमुखी** भवेत्पूरकरूपमयानवृत्त्यात्मकम् । **एकमूर्ध्वमुखी** भवेद्रेचकरूपं प्राणात्मकम् । अनयोः प्राणापानयोः संधिः कुम्भकरूपं व्यानवृत्त्यात्मकं तृतीयम् । तत्र प्रथमद्वितीययोरभावेऽपि तृतीयेन व्यानवृत्त्यात्मकेन प्राणेनाभिव्यक्तो नादो वैखरीं वाचं जनयति । तदुक्तं छान्दोग्ये—''यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानः सा वाक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति' इति । अक्षरार्थस्तु—एकं रूपमधोमुखी भवेत् । एकमूर्ध्वमुखी भवेत् । यत्तु नाधोमुखं नोर्ध्वमुखं व्यानात्मकं प्राणस्य रूपं तद्वैखरीं जनयतो नादस्याभिव्यञ्जकमिति हृदयम् । न मुख्यत्वमुभयोः । तदभिव्यक्तनादात्मकप्रणवस्य मूलमन्त्रस्यातिरहस्यत्वेन गुरुप्रसादैकलभ्यत्वाभिप्रायेणाऽऽद्येति । तथा चाग्रे विवरिष्यति । **मन्त्रात्मिकीति** च्व्यन्तम् । 'अस्यच्वौ' इतीकारः । **शुद्धा** चेति । उक्तप्रणवकारणतया तदात्मकत्वेन ज्ञातैव सती मातृका सर्वात्मना ज्ञातत्वेन परिशुद्धा नान्यथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

होता है ॥ ५—६ 1/2 ॥ आज्ञा नामक श्रेष्ठ स्थान से जो उत्तम स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, वहाँ स्थित यह शब्द—जो मुझसे संजात होने से मुझसे अनतिरिक्त है—सूक्ष्म नादरूप प्रणव का आकार पाता है । वह स्थान नाभि और हृदय की अपेक्षा तीसरा है । परम शिव की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ आधार है । शब्द को व्यक्त होने की पूरी व्यवस्था करता है अतः पूरक है । ध्यानादि से परमानन्दप्रद होने से पुण्यभाजन है । वहाँ 'अहम्' और 'सः' ये दो अक्षर स्वभावतः एक ओंकाररूप से रहते हैं ॥ ७—८ ॥ यही पहला मंत्र है जो सब मंत्रों का कारण होने से परम है और स्वभाव से ही सुप्रसिद्ध है । इसका मनन करने से व्यक्ति भवभीति से रक्षित हो जाता है अतएव इसे मंत्र कहते हैं ॥ ९ ॥ अन्य मन्त्रों की जननी मातृका देवी

१ ङ. भिर्संज्ञितः । २ टीकानुसारी पाठ एकमिति भाति । ३ ग. चाद्या म" ४ च "त्तस्य प" । ५ ग. "यत इति मन्त्रमुच्यते त इति । च. "यते भयत इति मन्त्रमु" । ६ घ."न्त्र उच्य" । ७ ख. ग. "स्मादुत्प" ।

आद्योऽयं परमो मन्त्रः सुप्रसिद्धोऽपि सुव्रताः ।

गुरूपदेशतो ज्ञेयो नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ॥ १२ ॥

सर्वेषामादिभूतस्य शिवस्य परमात्मनः । स्वप्रकाशस्वरूपस्य वाचकोऽयं परो मनुः ॥ १३ ॥

नास्त्यतः परमो मन्त्रो न [1]समश्चास्य सुव्रताः ।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुद्धृत्य भुजमुच्यते ॥ १४ ॥

त्रिचतुर्वत्सरं शिष्यं परीक्ष्य सततं पुनः । ईश्वरादेशतो देयो मन्त्रोऽयं मन्त्रिसत्तमैः ॥ १५ ॥

अपरीक्ष्य प्रदानेन शीघ्रं मृत्युमवाप्नुयात् ।

अर्जितः पुरुषार्थोऽपि वृथा भवति तस्य तु ॥ १६ ॥

अस्य मन्त्रस्य वैशिष्ट्यं मया वक्तुं न शक्यते ।

मुनिभिश्च तथा देवैः सर्वज्ञेन शिवेन च ॥ १७ ॥

[2]उक्तेनातिरहस्यत्वेन वैभवमेवास्य मन्त्रस्य ज्ञेयमित्याह–आद्य इति । न केवलं रहस्य एव किंतु **सुप्रसिद्धोऽपि** 'ओमिति ब्रह्म, ओमितीद ँ्सर्वं सर्वे वेदाः प्रणवादिका ओमिति प्रतिपद्यन्ते इति । 'एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्याम् । वाक्संतृण्णा, ओंकार एवेदं सर्वम्' इत्यादिषु सर्वासु शाखास्वसकृद्व्यवहारात्सुप्रसिद्धः । तर्हीत्थं प्रसिद्धस्य कथं रहस्यत्वमिति चेत् । यथोदीरितशब्दब्रह्मदशाभूतपरापश्यन्तीमध्यमारूपतयाऽवतीर्य व्यानाभिव्यङ्ग्यतया सकलवर्णपदवाक्यात्मकशब्दोपादानभावेनाविद्वद्भिर(र)तिदुरधिगमत्वादिति ब्रूमः । श्रूयते हि–'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' ॥ इति ॥ १२–१४ ॥ प्रसिद्धस्याप्यस्य मन्त्रस्य यदुक्तरीत्याऽतिरहस्यत्वं तदिदानीमाविष्करोति–त्रिचतुर्वत्सरमित्यादिशिवेन चेत्यन्तेन ॥ १५–१७ ॥

(अकारादि सब अक्षर) इस प्रथम महामंत्र से ही आविर्भूत हुई है । ॥ १० ॥ सूक्ष्म शब्द को व्यक्त करने वाले प्राण का एक पूरकात्मक अधोमुखी रूप है और एक रेचकात्मक ऊर्ध्वमुखी रूप है । जो रूप ऊर्ध्वमुखी या अधोमुखी नहीं है वह व्यानात्मक रूप ही शब्द को स्थूलतया प्रकट करता है । मातृका को प्रणवात्मक समझने से ही वह पूरी तरह ज्ञात और परिशुद्ध होती है ॥ १०–११ ॥ यह आद्य मंत्र सुप्रसिद्ध होने पर भी गुरु के उपदेश से ही समझा जा सकता है । सबके कारणभूत स्वप्रकाश परमात्मा शिव का यह (प्रणव) वाचक है । अतः यह परम मंत्र है । इससे श्रेष्ठ या इसके समान कोई मन्त्र नहीं है ॥ १२–१४ ॥ तीन-चार वर्ष शिष्य की परीक्षा कर शिवप्रेरणा पाकर ही इस मंत्र की दीक्षा देनी उचित है ॥ १५ ॥

---

१ घ. समः स्याच्च सु" । २ घ. उक्तो ना" ।

मन्त्राणां मातृभूता च मातृका परमेश्वरी ॥ १८ ॥

बुद्धिस्था मध्यमा भूत्वा विभक्ता बहुधा भवेत् ।

सा पुनः क्रमभेदेन महामन्त्रात्मना तथा ॥ १९ ॥

मन्त्रात्मना च वेदादिशब्दाकारेण च स्वतः । सत्येतरेण शब्देनाप्याविर्भवति सुव्रताः ॥ २० ॥

यथा परतरः शंभुर्द्विधा शक्तिशिवात्मना ।

तथैव मातृका देवी द्विधाभूता भवेत्स्वयम् ॥ २१ ॥

एकाकारेण शक्तेस्तु वाचकश्चेतरेण तु । शिवस्य वाचकः साक्षाद्विद्येयं पदगामिनी ॥ २२ ॥

परापश्यन्तीदशयोरैकरूप्येण स्थिताया मातृकाया बुद्धौ मध्यमादशायां बहुधा विभागप्राप्तिमाह—बुद्धिस्थेति । **क्रमभेदेनेति** । प्रथमतो नादात्मकप्रणवरूपेण पश्चाद्ध्यानरूपप्राणाभिव्यक्त्या कण्ठताल्वादिस्थानविशेषेषु वर्णपदवाक्याद्यात्मनाऽनुक्रमभेदः । **महामन्त्रात्मना** नादरूपप्रणवात्मना, **मन्त्रात्मना** ऋग्यजुःसामादिरूपेण च । ऋगादिकं च मुख्यो मन्त्रः 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय । यमृषयस्त्रैविदा विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि' इति श्रुतेः । स्वतः स्वेनैव रूपेण शब्दो हि वर्णपदवाक्यात्मकः । वस्त्ववस्तुविषयाश्रिता तदितरथा भवत्युक्तरूपा वागेव तेनापि ॥ १८–२० ॥ नन्वकाराद्यात्मिकाया मद्मातृकाया एकरूपाया एव कथं श्रीकण्ठादिशिवमूर्तिप्रतिपादकत्वं पूर्णोदर्यादिशिवशक्तिमूर्तिप्रतिपादकत्वं च ? तत्राऽऽह—**यथा परतर** इति । उक्तात्परादपि परो निष्कलो यः स परतरः । स यथा स्वप्रतिष्ठेन रूपेण निष्कलः शिवः । कार्याभिमुखेन तु शक्यप्रतियोगिनिरूप्येण रूपेण शक्तिरिति द्विरूपो जातः । एवमियमक्षरात्मिका मातृकाऽपि स्वकारणतया स्वानुगतशिवप्राधान्येन शिवमूर्तीनां तथाविधशक्तिप्राधान्येन च शक्तिमूर्तीनामपि प्रतिपादिका किं न स्यादित्यर्थः ॥ २१–२२ ॥

शिष्य-परीक्षा विना किये प्रणवदीक्षा से दाता की शीघ्र मृत्यु होती है और अर्जित पुण्य भी व्यर्थ जाता है ॥ १६ ॥ मैं, मुनि, देवता या सर्वज्ञ शिव भी इस मंत्र का वैशिष्ट्य पूरा नहीं बता सकते ॥ १७ ॥ मन्त्रों की माता मातृका बुद्धि में स्थित रहने पर मध्यमा रूप से वाचकरूपों में बँटी रहती है । वही नादात्मक प्रणव तथा व्यक्त वर्ण, पद आदि क्रम से सबके सुनने योग्य अवस्था में प्रकट होती है । स्थूल प्रणवरूप महामन्त्र, अन्य मंत्र, वेदादि शब्द तथा अन्य शब्दों का भी आकार मातृका ही स्वतः लेती है ॥ १८–२० ॥ जैसे सर्वश्रेष्ठ शंभु शक्ति व शिव दो प्रकार से स्थित हैं, उसी तरह मातृका देवी भी दो प्रकार से स्थित है ॥ २१ ॥ एक रूप से वह शक्ति की वाचक है और दूसरे से शिव की । अतः पदरूप से प्रवृत्त होने वाली परमपदप्रापिका यही साक्षात् विद्या है ॥ २२ ॥ मन-वाणी का अविषय अपद परमशिव ही

---

१ घ. दिपञ्च मुख्या मन्त्राः "अ" ।

अपदं पदमापन्नं पदं चाप्यपदं भवेत् । पदापदविभागं च यः पश्यति स पश्यति ॥ २३ ॥
पदस्थस्य जिता मन्त्रा भवेयुः पण्डितोत्तमाः । पदाभ्यासपराणां तु न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ २४ ॥
अंश एकः पदस्यायमुपकाराय देहिनाम् । भवेत्षोडशधा पूर्वं पञ्चधा च द्विधा पुनः ॥ २५ ॥
पदस्यांशोऽपरः पूर्वो[1] द्वात्रिंशद्भेदमाप्नुयात् । त्रयस्त्रिंशत्पुनर्भेदं तथैव द्विविधं भवेत् ॥ २६ ॥
एवं लोकोपकाराय पदं बहुविधं भवेत् ॥ २७ ॥

ननु सा मातृका वाङ्मनसातीतं शिवशक्त्यात्मकं परमशिवस्वरूपं कथं प्रतिपादयेदित्यत आह–**अपदं पदमापन्नमिति** । पद्यते प्राप्यत इति पदमिन्द्रियगोचरं वस्तु । अपदमविषयं वाङ्मनसातीतं सच्चिदानन्दाखण्डैकरसं प्रागुदीरितं परशिवस्वरूपम् 'अपदस्य पदैषिणः, अपि तर्हि पद्यते' इति श्रुतेः । तदेव स्वशक्तिमहिम्ना प्रागुक्तरीत्या परबिन्दुनादादिक्रमेण परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीत्येवमात्मकं **पदं** जातम् । पद्यते प्राप्यतेऽनेन परं तत्त्वमिति परमन्त्रात्मिका[2] मातृकाविद्या परापश्यन्त्यात्मिका सा मातृका परशिवस्वरूपं विदुषः पुरुषस्या**पदं भवेत्** । अपदस्यापदनीयस्य वाङ्मनसागोचरस्य प्रागुक्तपरशिवस्वरूपस्य दात्री प्रतिपादयित्री भवतीत्यर्थः । अविषयमपि तत्स्वरूपमविद्योपाधिं विषयीकृत्य प्रकाशयन्ती मातृकाविद्या स्वविषयावरणभूतामविद्यां समूलमुन्मूलयन्ती यथोदीरितपरशिवस्वरूपं विदुषः स्वात्मतया प्रापयतीत्यर्थः । यद्वा, अपदं पदमिति, नादात्मकं शब्दब्रह्म परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीत्येवंरूपं सत्पदं जातम् । अस्ति हि परापश्यन्त्याद्यवस्थस्यापि पदाभिधेयता । श्रूयते हि–"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि" इति । तत्पदं सम्यग्ज्ञातं सन्मूलभूतं शब्दब्रह्म स्वकारणत्वेनावगमयत्तत्प्राप्तिहेतुर्भवतीत्यर्थः । इत्थमुक्तं **पदापदविभागं यो** जानाति स एव परशिवस्वरूपं साक्षात्करोति ॥ २३ ॥ उक्तलक्षणे मातृकात्मके पदे तात्पर्येण परिशीलयन्यो वर्तते तस्यैव तत्प्रभेदा मन्त्राः सिध्यन्तीत्याह–**पदस्थस्येति** ॥ २४ ॥ परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीत्येवं चतुरवस्थस्य पदस्य यस्तुरीयोंऽशो वैखर्यात्मकः स एव शरीरिणां प्रेषणाध्येषणादिव्यवहारहेतुरित्याह–**अंश एक** इति । परश्रोत्रग्राह्यात्मकं वैखर्यात्मकमेव पदांशं मनुष्यादयोऽभिवदन्तीत्यर्थः । 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इति श्रुतेः । स च वैखर्यात्मकः शब्दः स्वत एवैकरूपोऽपि कण्ठताल्वाद्यभिव्यक्तिस्थानभेदात्स्वरव्यञ्जनादिभेदेन नानात्वं भजत इत्याह–**भवेत्षोडशधे**त्यादिना **बहुविधं भवेदि**त्यन्तेन । अकारादिविसर्गान्तषोडशस्वरात्मना प्रथमं **षोडशधा** भवति । कचटतपादिपञ्चवर्गात्मना **पञ्चधा** भवति । पुनरन्तःस्थोष्मभेदेन **द्वेधा** । षोडशस्वरात्मको यः पूर्वोंऽशः स एव सानुनासिकनिरनुनासिकभेदेन द्विगुणितः सन्द्वात्रिंशद्भेदवान्भवति । पुनश्च काद्या पञ्चविंशतिर्यादयो हकारान्ता अष्टाविति । एवं च त्रयस्त्रिंशद्भेदवान्भवति । एवं स्वरव्यञ्जनभेदेनोक्तं वर्णजातं द्विविधं भवेदित्यर्थः ॥ २५–२७ ॥

अपनी शक्ति से पद (शब्द) रूप को प्राप्त हुए हैं और पद ही उस अपद की प्राप्ति कराता है । जो पद व अपद के इस विभाजन को समझता है वह सच्चा समझदार है । (विभाजन अर्थात् व्यक्तशब्द उक्त क्रम से शिवानतिरिक्त है और भिन्न प्रतीत होकर शिवबोधक है–इस प्रकार शब्द की मायिकता और तत्त्व का अद्वैत ।) ॥ २३ ॥ मातृकात्मक पद का तत्परतापूर्वक परिशीलन करने वाले के लिए सभी मंत्र विजित

---

१ क. ग. च. पूर्वे । २ च. "मन्त्रामातृकावि" ।

एकैकाकारतश्चैके[1] कार्यसिद्धिर्भवेत्स्वतः । वैदिकान्केचनाऽऽकारानुपजीवन्ति सिद्धये ॥ २८ ॥

तान्त्रिकांश्च तथाऽऽकारानुपजीवन्ति केचन ।

लौकिकानपि चाऽऽकारानुपजीवन्ति केचन ॥ २९ ॥

यथा सर्वे महादेवमुपजीवन्ति सर्वदा ।

यथा वा शक्तिमीशस्य यथा वा भूतपञ्चकम् ॥

तथा सर्वे पदाकारानुपजीवन्ति सर्वदा ॥ ३० ॥

मातृका परमा देवी स्वपदाकारभेदिता । वैखरीरूपतामेति करणैर्विशदा स्वयम् ॥ ३१ ॥

स्थूला सूक्ष्मा सुसूक्ष्मा च त्रिविधा मातृकेश्वरी ।

सा देवी शक्तिसंभिन्ना शिवस्यामिततेजसः ॥ ३२ ॥

इत्थं स्वरव्यञ्जनात्मना ये पदस्याऽऽकारास्ते प्रत्येकं मन्त्रास्तेष्वेकैकस्य जपात्साधकस्याभिलषितसिद्धिर्भवतीत्याह–**एकैकाकारतश्चेति** । अधिकारिभेदेन तानेवाऽऽकारभेदान्विभज्य विनियुङ्क्ते–**वैदिकानि**त्यादिना । वेदार्थाभिज्ञाः केचिद्विद्वांसः, ऋग्यजुः सामात्मकानाकारान्स्वानुष्ठानसिद्धय उपजीवन्ति । आगमाभिज्ञास्त्वन्ये हुंफडादिलक्षणानागमैकसमधिगम्यान्स्वानुष्ठानसिद्धये व्यवहरन्ति ॥ २८–२९ ॥ न केवलं यथोदीरितैः कैश्चिदेव पदाकारा उपजीव्या अपि तु सर्वप्राणिभिरपीत्याह–**यथा सर्व इति** । शिवशक्त्यात्मकं परशिवस्वरूपमुत्पत्तिस्थितिलयाधिष्ठानत्वेन यथोपजीव्यते कार्यप्रपञ्चेन, यथा वा पृथिव्यादिभूतपञ्चकं देहाद्युपादानतयाऽवश्यमाश्रियते, एवमेव देवतिर्यङ्मनुष्यादयः पदाकारान्स्वस्वभाषानुरूपेण सर्वदोपजीवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥ नन्वेते पदाकारा वैखर्यात्मिका एव परश्रोत्रेण गृह्यन्ते वैखर्यात्मकत्वं तु कुतो मातृकाया इत्यत आह–**मातृका परमेति** । परापश्यन्त्याद्यात्मनोद्गता नानावर्णात्मिका मातृका ताल्वादिस्थानेषु करणविशेषैरभिव्यज्यमाना विस्पष्टरूपा सती वैखर्यात्मकतां प्रतिपद्यत[2] इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ वैखरीव्यतिरेकेण परापश्यन्त्याद्यात्मिका मातृका नैवास्तीति न भ्रमितव्यमिति प्रागुक्तं मातृकात्रैविध्यं स्मारयति–**स्थूला सूक्ष्मेति** । एतच्छक्तिपूजाविधौ 'मातृका च त्रिधा स्थूला' इत्यत्र सम्यक्प्रपञ्चितम् । एवं त्रिविधाऽपि मातृका शक्त्यवस्थस्य शिवस्य प्रतिपादिकेत्याह–**सा देवीति** । शक्यप्रतियोगिकं परशिवस्वरूपमेव शक्तिरिति प्राक्प्रतिपादितं तत्संभिन्ना प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावेन तत्स्वरूपाविष्टेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

हो जाते हैं और कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता ॥ २४ ॥ मातृका का एक अंश ही शरीराधारियों का व्यवहारात्मक उपकार करता है । ('व्यक्त' शब्द से ही आपसी व्यवहार होता है वह यहाँ 'एक अंश' कहा है । व्यक्त होने से पूर्व की स्थितियाँ अन्य अंश हैं । वह पहले अकार से विसर्ग तक सोलह प्रकार से बँटता है । (ह्रस्व-दीर्घ भेद से संख्या समझनी चाहिये) । तदनन्तर कवर्ग आदि पाँच प्रकार से बँटता है । फिर अन्तःस्थ व ऊष्म इन दो प्रकारों से बँटता है ॥ २५ ॥ मातृका का सोलह प्रकार से बँटा पहला रूप सानुनासिक निरनुनासिक भेद से बत्तीस प्रकार का हो जाता है । (स्वरों में ये भेद होने से उनके सहशिष्ट अनुस्वार-विसर्ग में भी इनका उपचार जानना चाहिये ।) स्पर्श आदि बाकी प्रकार मिलकर तेंतीस व्यंजन हो जाते हैं । इस प्रकार समस्त वर्ण स्वर-व्यंजन भेद से दो प्रकार के हैं ॥ २६ ॥ एक ही

१ एकैकाकारभूतश्चैकार्थसिद्धिर्भ° इति बालपाठः । २ ग. °तिपाद्य° ।

वाचामगोचराकारो मातृकायास्तथा परः ॥ ३३ ॥

ब्रह्मविष्ण्वादिदेवानामचिन्त्यः सूक्ष्मतावधिः[१] ।

चिन्मयः परचिद्रूपः शिवासंभिन्न एव हि ॥ ३४ ॥

बुद्ध्वा मन्त्रजपं कुर्यादेवं मन्त्रस्य वैभवम् । आचार्यमुखतः [२]प्राज्ञाः सिध्यत्येवाचिरेण तु ॥

आचार्यरहितो मन्त्रः पुंसोऽनर्थस्य कारणम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे वाचिकयज्ञविवरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

परापश्यन्त्याद्यवस्थातः प्राक्, विन्दुनादाद्यात्मकं यन्मातृकायाः सूक्ष्मं रूपं तत्स्वप्रतिष्ठस्य[३] परशिवस्वरूपस्य प्रतिपादकं सत्तदात्मकमेव भवतीत्याह–वाचामगोचरेति । वाङ्मनसयोरगोचरं ब्रह्मविष्ण्वादिभिरप्यचिन्तनीयं [४]विन्दुनादात्मकं यत्सूक्ष्मतरं रूपं मातृकायास्तत्स्वप्रकाशे परशिवस्वरूपचैतन्येऽध्यस्तत्वाच्चिन्मयं चिद्व्याप्तं [५]परमार्थतस्तत्स्वरूपानतिरेकाच्चिद्रूप एवंभूतः सूक्ष्मो मातृकाकारः शिवासंभिन्नः स्वप्रतिष्ठस्य निष्कलपरशिवस्वरूपस्य प्रत्यायक इत्यर्थः ॥ ३३–३४ ॥ इत्थमुक्तमाचार्यमुखाद्यो वेद तस्यैव मन्त्रः पुरुषार्थसाधको नान्यस्येति ब्रुवन्नु संहरति–बुद्ध्वेति ॥ ३५ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे वाचिकयज्ञविवरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

मातृका इस तरह लोकोपकार के लिए बहुत तरह की हो गयी ॥ २७ ॥ मातृका का प्रत्येक वर्णरूप आकार एक एक मंत्र है और उसके जप से इष्टसिद्धि हो जाती है । कुछ साधक वर्णरूप मंत्रों का ही सहारा लेते हैं । अन्य अधिकारी वैदिक मंत्रों का जपादि किया करते हैं ॥ २८ ॥ अन्य लोग तात्त्विक या लौकिक मंत्रों का प्रयोग करते हैं ॥ २९ ॥ जैसे सभी महादेव का, उनकी शक्ति का या पंचमहाभूतों का सहारा अवश्य लेते हैं ऐसे सभी मातृका के किसी न किसी आकार का समाश्रयण करते ही है ॥ ३० ॥ मातृका परा देवी है जो कण्ठ, तालु आदि के द्वारा स्थूल होकर स्वघटित पदों के रूप में बँटी हुई वैखरी बन जाती है । (हमारे बोले-सुनने के शब्द वैखरी वाणी कहलाते हैं । ये अपनी अव्यक्त अवस्था में सूक्ष्मताक्रम से मध्यमा, पश्यन्ती और परा कहे जाते हैं ।) ॥ ३१ ॥ मातृका स्थूल, सूक्ष्म और सुसूक्ष्म भेद से तीन प्रकार की है । (इन्हे वैखरी आदि रूप से समझाया जा चुका है : वैखरी स्थूल, मध्यमा सूक्ष्म तथा अन्य दोनों सुसूक्ष्म हैं ।) वह मातृका देवी शक्तियुक्त हुई शिवप्रतिपादिका है ॥ ३२ ॥ मातृका का जो अवाङ्मनसगोचर परमस्वरूप है वह सूक्ष्मता की सीमा है । उसे ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता भी अपने चिन्तन का विषय नहीं बना सकते । वह स्वरूप चिन्मय, चिद्रूप, शिव से अभिन्न है ॥ ३३–३४ ॥ यों मंत्रमाहात्म्य समझकर मंत्र-जप करना चाहिये । आचार्यमुख से ग्रहण किया मंत्र शीघ्र सिद्ध होता है । विना गुरुमुख से गृहीत मंत्र अनर्थ का ही जनक होता है ॥ ३५ ॥

---

१ क. ख. ग. तावधिः । २ क. ख. ङ. प्राज्ञः । ग प्राप्तः । ३ ङ. तिष्ठितस्य । ४ क. ख. ग. "दाद्यात्म" । ५ क. ख. मार्थतत्स्व" । घ. "मार्थस्तत्स्व" ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

सूत उवाच—प्रणवं संप्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।

परापरविभागेन प्रणवस्तु द्विधा मतः ॥ १ ॥

परः परतरं ब्रह्म प्रज्ञानन्दादिलक्षणम् ।

प्रकर्षेण नवं यस्मात्परं ब्रह्म स्वभावतः ॥ २ ॥

अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दरूपः सुनिर्मलः । प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात्प्रणवः स्मृतः ॥

परमप्रणवप्राप्तिहेतुत्वात्प्रणवोऽथ वा ॥ ३ ॥

पुरा प्रजापतिः साक्षाच्छ्रद्धया परया सह ॥ ४ ॥

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गस्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकः । जितेन्द्रियो जितक्रोधो जटावल्कलसंयुतः ॥ ५ ॥

इत्थं सकलमन्त्रमूलभूतपञ्चाशद्वर्णात्मिकां प्रणवावयवेभ्यश्चाकारोकारमकारविन्दुनादेभ्यः पञ्चभ्यः पञ्चाशत्कलारूपेणोत्थितां मातृकामभिधायाथ तत्कारणभूतं परापरब्रह्मात्मकं प्रणवं वक्तुमारभते—प्रणवमिति । "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः" इति श्रुतौ यदुक्तं द्वैविध्यं तदभिप्रेत्याऽऽह—परापरविभागेनेति ॥ १ ॥ तत्र कोऽसौ परः प्रणव इति तमाह—परः परतरमिति । सत्यज्ञानानन्दैकरसं मायातत्कार्यासंस्पृष्टं यत्परशिवस्वरूपं स परः प्रणवः । कुतस्तस्य प्रणवशब्दाभिधेयतेत्याशङ्क्य निर्वक्ति—प्रकर्षेणेति । यस्मात्तत्परशिवस्वरूपं कारणान्तरमनपेक्ष्य प्रकर्षेण नवमशेषविक्रियाविरहेण कूटस्थनित्यं सत्परमानन्दप्रकाशनात्सर्वदाऽभिनवमतस्तथाविधस्वरूपस्य प्रणवशब्दाभिधेयतेत्यर्थः ॥ २ ॥ अपरप्रणवमाह—अपर इति । अस्यापि नामधेयानि ब्रूते—प्रकर्षेणेति । अनेन मन्त्रेण यथोक्तपरशिवस्वरूपं स्वात्मतया विदुषः पुंसोऽभिनवत्वप्राप्तिहेतुस्तत्प्रकर्षेण नवो भवत्यनेनेति व्युत्पत्त्या तत्प्रणवः । यद्वा यः प्रागुक्तः परमः प्रणवस्तद्वाचकत्वेन तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छब्दात्मकस्यास्य प्रणवाभिधेयता ॥ ३ ॥

प्रणवविचार नामक पाँचवा अध्याय

सूत जी ने कहा—अब मैं संक्षेप में प्रणवविषयक ज्ञातव्य बताता हूँ । पर और अपर भेद से प्रणव दो प्रकार का है ॥ १ ॥ पर प्रणव तो ज्ञान आनन्द आदि रूप परब्रह्म ही है । क्योंकि नित्य अविकारी होने से उसकी नवीनता प्रकृष्ट है इसलिये परमात्मा को प्रणव कहते हैं ॥ २ ॥ अपर प्रणव ॐ—यह निर्मल शब्द है । पूर्वोक्त प्रकृष्ट नवीनता का बोधक होने से या परप्रणवरूप शिव का प्रापक होने से यह भी प्रणव कहा जाता है ॥ ३ ॥

सदा पञ्चाग्निमध्यस्थः साम्बध्यानपरायणः । तताप परमं घोरं तपः संवत्सरत्रयम् ॥ ६ ॥

स पुनः शंकरस्यास्य प्रसादादम्बिकापतेः । पृथिवीमन्तरिक्षं च दिवं चासृजदास्तिकाः ॥ ७ ॥

स तानभ्यतपल्लोकांस्तेभ्यो वेदविदां वराः ।

त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त पृथिव्या एव तत्र तु ॥ ८ ॥

अजायताग्निर्वायुश्च ब्राह्मणाश्चान्तरिक्षतः[1] *। दिवो दिवाकरः साक्षाज्जगच्चक्षुरजायत ॥ ९ ॥*

तानि चाभ्यतपज्ज्योतींष्यजस्तेभ्यो महाद्विजाः ।

त्रयो वेदा अजायन्त वेदानां प्रथमोऽनलात् ॥ १० ॥

यजुर्वेदस्तथा वायोरादित्यात्सामसंज्ञितः । वेदानभ्यतपत्तांश्च ब्रह्मा तेभ्यो महाद्विजाः ॥ ११ ॥

त्रीणी शुक्लान्यजायन्त तत्र ब्रह्मविदां वराः । ऋग्वेदादेव भूस्तद्वद्यजुर्वेदाद्भुवस्तथा ॥ १२ ॥

सामवेदात्सुवस्तानि शुक्लान्यभ्यतपत्प्रभुः ।

तथा तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा द्विजोत्तमाः ॥ १३ ॥

अजायन्त क्रमेणैव कोटिसूर्यसमप्रभाः । अकारश्च तथोकारो मकारश्चेति सुव्रताः ॥ १४ ॥

अथास्य सकलवेदसारात्मकत्वमाविष्कर्तुमैतरेयके–'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयं भूयान्स्याम्' इत्यत्र पृथिव्यादीनामुत्तरोत्तरसारात्मना या सृष्टिरुक्ता तामत्र सुखावबोधाय श्लोकैः संगृह्णाति–पुरा प्रजापतिरित्यादिना सुव्रता इत्यन्तेन । पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानामग्न्यादयः सारात्मकाः । तेषामृग्वेदादयः । तेषां च व्याहृतयः । ताभ्यश्चाकारोकारमकाराः सर्वसारत्वेन लौकिकप्रकाशाः प्रजापतिना निःसारिता इत्यर्थः ॥ ४–१४ ॥

प्राचीन काल में स्वयं प्रजापति ने परम श्रद्धा से तीन साल तक घोर तप किया । सारे शरीर पर भस्मोद्धूलन और मस्तक पर त्रिपुण्ड्र धारण कर जितेन्द्रिय व जितक्रोध रहते हुए, जटा रख कर, वल्कल पहनकर वे साम्ब का ध्यान करते हुए पंचाग्नि तपते थे ॥ ४–६ ॥ यों तप से प्रसन्न हुए शंकर की कृपा से उन्होंने पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्युलोक की सृष्टि की ॥ ७ ॥ प्रजापति ने उन तीनों के सार की प्राप्ति के लिए तप किया जिससे तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुई जो पृथ्वी आदि के सार हैं–पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्युलोक से सूर्य ॥ ८–९ ॥ उनका भी सार निकाला तो अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद प्रकट हुआ । वेदों का भी सार ये तीन शुक्ल निकले–ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद

---

१ घ. °न्तरीक्ष° ।

तानेकधा समभरदज ओमित्यतिप्रभुः । तस्मिन्नेव शिवः साम्बः सर्ववस्त्ववभासकः ।

प्रतिबिम्बितवांस्तेन प्रणवस्तस्य वाचकः ॥ १५ ॥

तप्तलोहादिवच्छंभोरभेदात्प्रणवोऽपि सः । सर्वावभासको नित्यमभवत्पण्डितोत्तमाः ॥ १६ ॥

ज्ञातार्थे ज्ञातमित्येवं वक्तव्ये सति तद्विना ।

ओमिति प्राह लोकोऽयं तेन ज्ञातस्य वाचकः ॥ १७ ॥

अज्ञातार्थे तथाऽज्ञातमिति प्राप्ते तु वाचके ।

ओमिति प्राह लोकोऽयं तेनाज्ञातस्य वाचकः ॥ १८ ॥

संदिग्धार्थे तु संदिग्धमिति प्राप्ते तु वाचके ।

ओमिति प्राह लोकोऽयं तेन संदिग्धवाचकः ॥ १९ ॥

आकाशादिपदार्थानां ये शब्दा वाचका भुवि ।

विना तानखिलाञ्शब्दाँल्लोक ओमिति भाषते ॥ २० ॥

किमेतावता ? प्रणवस्य सर्वसारतेत्याह—तानेकधेति । प्रजापतिस्तानेवाकारादीनेकत्वेन संयोजितवान् । तस्मात् 'आद्गुणः' इति गुणे कृते, ओमिति मन्त्ररूपं निष्पद्यते । अथास्य मन्त्रस्य मन्त्रान्तराद्वैशिष्ट्यमाह—तस्मिन्नेवेति । यदुक्तरीत्या पृथिव्यादिसर्वसारत्वेन निर्मलः प्रणवस्तस्मिन्नेव मन्त्रे, आदर्शे मुखमिव स्वप्रकाशचिद्रूपः परशिवः प्रतिविम्वतया भासते । अतस्तस्य स प्रणवो वाचको जातः । तथा च पारमर्षं सूत्रम् 'तस्य वाचकः प्रणवः' इति ॥ १५ ॥ तप्तायःपिण्डवत्प्रतिविम्वितस्वप्रकाशपरशिवचैतन्येन सहैकीभावादतस्तत्प्रणवोऽपि सर्ववस्त्ववभासको जात इत्याह—तप्तलोहादिवदिति ॥ १६ ॥ इदमेव सर्वावभासकत्वमुपपादयति—ज्ञातार्थ इत्यादिना ब्रह्मणा सदृशः स्मृत इत्यन्तेन ।

से भुवः और सामवेद से सुवः । इनका भी सार क्रमशः अकार, उकार और मकार प्राप्त हुए ॥ १०—१४ ॥ उन तीनों को प्रजापति ने मिला दिया तो 'ओम्' बन गया । उसी मंत्र में सब वस्तुओं के प्रकाशक साम्ब शिव प्रतिबिम्बित हुए जिससे प्रणव उनका वाचक हो गया ॥ १५ ॥ (सारिष्ठ ओङ्कार का वाच्य बनना ही प्रतिबिम्बित होना है । वाच्य-वाचक का तादात्म्य स्वीकृत है । प्रतिबिम्ब और उपाधि का भी तादात्म्य है—दर्पण से प्रतिविम्ब भिन्न हो तो दर्पण के विना भी उपलब्ध हो, अभिन्न हो तो प्रकाश, विम्बादि के विना भी उपलब्ध हो ।) जैसे तपा हुआ लोहा आदि अग्नि से अभिन्न होता है उसी प्रकार वह प्रणव भी महादेव से अभिन्न हो सबका अवभासक बन गया ॥ १६ ॥ ज्ञात अर्थ के विषय में कोई पूछे, 'तुम्हें यह ज्ञात है ?' तो यह उत्तर देने की जगह कि 'मुझे ज्ञात है', यही उत्तर दिया जाता है 'ओम् (हाँ)' । इसलिये प्रणव ज्ञात का अवभासक या वाचक है ॥ १७ ॥ ऐसे ही अज्ञात वस्तु के विषय

अतः प्रयोगाबाहुल्याद् घटकुड्यादिशब्दवत् । आकाशादिपदार्थानां वाचकः प्रणवः स्मृतः ॥ २१ ॥

सर्वावभासकत्वेन ब्रह्मणा सदृशः स्मृतः ॥ २२ ॥

सर्वावभासकं मन्त्रमिमं जपति यो द्विजः । सर्वमन्त्रजपस्योक्तं फलं स लभतेऽचिरात् ॥

अतः सर्वं परित्यज्य सदा मन्त्रमिमं जपेत् ॥ २३ ॥

ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मन्त्रस्य गायत्रं[1] छन्द उच्यते ।

परमात्माभिधः शंभुर्देवता परिकीर्तिता ॥ २४ ॥

अकारो बिन्दुसंयुक्तः शक्तिरस्य द्विजोत्तमाः ॥ २५ ॥

उकारश्च मकारश्च द्वयं बीजं प्रकीर्तितम् ।

मोक्षार्थे विनियोगोऽस्य प्रोक्तो वेदान्तवेदिभिः ॥ २६ ॥

ज्ञाताज्ञातसंदिग्धेष्वर्थेष्वाकाशादिषुचपृष्टःसर्वोजनःकिमिदंभवताज्ञातमित्यादिप्रश्नस्य ज्ञातमित्यादिप्रतिवचनपरिहारेण यस्मादोमित्येव प्रतिब्रूते तस्माज्ज्ञाताज्ञातादिपदवदयमपि तत्तदर्थस्य पर्यायतया वाचकः । यथा घटकुड्यादिशब्दानां पृथुबुध्नोदराकारलक्षणोऽर्थः प्रातिस्विको वाच्य एवमस्याप्युक्तरीत्या सर्वेष्वर्थेषु प्रयोगस्य रूढत्वात्सर्वावभासकत्वम् । अत एव छन्दोगाः प्रणवस्यानुज्ञाक्षरत्वमामनन्ति "तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाह" इति ॥ १७–२२ ॥ इत्थं प्रणवस्य सर्वावभासकत्वमुपपाद्य तद्धेतुकं प्रणवजपातिशयं दर्शयति–**सर्वावभासकं मन्त्रमिति** । [2]एतद्व्यतिरिक्तसकलमन्त्रजपाद्यत्फलं तत्प्रणवजपेनैवाऽऽप्नोतीत्यर्थः । प्रणवस्य सर्वमन्त्रात्मकत्वात्सर्ववेदसारत्वाच्च । श्रूयते हि–'यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते' इति । 'ओमिति प्रतिपद्यत एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येति' इति च ॥ २३ ॥ ऋष्यादिज्ञानपुरःसर एव मन्त्रो जपार्ह इत्यभिप्रेत्य तदाह–**ऋषिर्ब्रह्मेत्यादि** । अस्य मन्त्रस्य सर्वावभासकत्वात्स्वेतरसकलमन्त्रफलसाधनत्वमुक्तम्[3] । न केवलं तावदेव, मोक्ष एवास्यासाधारणं फलमित्याह–**मोक्षार्थ** इति ॥ २४–२६ ॥

में यह पूछे जाने पर 'क्या तुम्हें यह अज्ञात है ?' यही उत्तर दिया जाता है 'ओम्' । अतः प्रणव अज्ञात का भी वाचक है ॥ १८ ॥ एवं संदिग्धविषयक प्रश्न का भी 'ओम्' यही उत्तर होने से प्रणव संदिग्ध का भी वाचक है ॥ १९ ॥ इसी प्रकार 'क्या यह आकाश है ?' इत्यादि प्रश्न का 'यह आकाश है' ऐसा उत्तर न दे 'ओम्' ऐसा ही कहा जाता है । अतः क्योंकि आकाशादि के वाचक शब्दों के प्रयोग के बिना उन अर्थों के ज्ञापन के लिए ओम् का प्रयोग होता है इसलिये यह सभी का वाचक है । एवं च सर्वावभासक होने से यह ब्रह्मसदृश माना गया है ॥ २०–२२ ॥ जो ब्राह्मण इस सर्वावभासक मंत्र का जप करता है उसे शीघ्र सब मंत्रों के जप का फल मिल जाता है । अतः सब कुछ छोड़कर इस

---

१ ग. गायत्री । २ घ. °तद्रूपाति° । ३. °न्त्रसा° ।

अग्निश्च वायुः सूर्यश्च वर्णानां मुनयः क्रमात् ।
गायत्री च तथा त्रिष्टुब्बृहती च यथाक्रमम् ॥ २७ ॥
छन्दांसि ब्रह्मविच्छ्रेष्ठा वर्णानां च यथाक्रमम् ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च वर्णानां देवताः क्रमात् ॥ २८ ॥
रक्तं शुक्लं च कृष्णं च क्रमाद्वर्णा उदाहृताः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिश्चावस्थाः प्रोक्ता यथाक्रमम् ॥ २९ ॥
भूम्यन्तरिक्षस्वर्गाश्च स्थानानि क्रमशो विदुः ।
उदात्तप्रमुखा विप्राः स्वराः प्रोक्ता मनीषिभिः ।
ऋग्यजुःसामसंज्ञाश्च वेदाः प्रोक्ता यथाक्रमम् ॥ ३० ॥
अग्नयो गार्हपत्याग्निर्दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
प्रोक्तश्चाऽऽहवनीयाग्निर्वर्णानां क्रमशो द्विजाः ॥ ३१ ॥
प्रातर्मध्यंदिनं सायं काला उक्ता यथाक्रमम् ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव गुणा उक्ता यथाक्रमम् ॥ ३२ ॥
सृष्टिः स्थितिश्च संहारः क्रियाः प्रोक्ता यथाक्रमम् ।
उत्पत्तौ च स्थितौ नाशे विनियोगा उदाहृताः ॥ ३३ ॥

अथैतस्यावयवानामकारोकारमकाराणां जपकाले स्मर्तव्यानृष्याद्यानाह–अग्निश्चेत्यादिना विनियोगा उदाहृता इत्यन्तेन ॥ २७–३३ ॥

मंत्र का सदा जप करना चाहिये ॥ २३ ॥

ॐ मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द और परमात्मा नामक शम्भु देवता हैं । 'अ' शक्ति है, 'उ' और 'म्' बीज हैं । इस मंत्र का मोक्ष के लिए विनियोग है ॥ २४–२६ ॥ अकार के मुनि (अर्थात् ऋषि) अग्नि, उकार के वायु और मकार के सूर्य हैं । ऐसे ही क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् और बृहती छंद हैं ॥ २७१/२ ॥ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन अक्षरों के क्रमशः देवता हैं । रक्त शुक्ल और कृष्ण इनके वर्ण हैं । जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति इनकी यथाक्रम अवस्थायें हैं । भूमि, अंतरिक्ष व स्वर्ग इनके स्थान हैं । उदात्तादि इनके स्वर हैं । ऋक् यजु और साम इनके वेद हैं ॥ २८–३० ॥ गार्हपत्यादि इनकी क्रमशः अग्नियाँ हैं । प्रातः, मध्याह्न और सायं इनके काल हैं । रजः, सत्त्व और तम इनके गुण हैं, सृष्टि, स्थिति, संहार इनकी क्रियायें हैं और उत्पत्ति, स्थिति, नाश में इनका विनियोग है ॥ ३१–३३ ॥ (जपकाल में स्मर्तव्य ऋषि आदि का यह संग्रह है–अकार के–अग्नि ऋषि, गायत्री छंद, ब्रह्मा देवता, रक्त वर्ण, जाग्रद् अवस्था

अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तमङ्गुलीनां च संधिषु । क्रमाद्वर्णत्रयन्यासः कर्तव्यः सिद्धिमिच्छता ॥ ३४ ॥

अङ्गुलीषु च सर्वासु प्रणवन्यास ईरितः ॥ ३५ ॥

भूरग्न्यात्मन इत्यादिमन्त्राश्च क्रमशो द्विजाः ।

विन्यस्तव्याश्च सिद्ध्यर्थमङ्गुलीषु द्विजन्मना ॥ ३६ ॥

क्रमाद्वर्णत्रयन्यासो नाभौ हृदि च मूर्धनि । कर्तव्यः सर्वयत्नेन प्रणवेन तथैव च ॥ ३७ ॥

हृदयादिप्रदेशेषु क्रमेणैव द्विजोत्तमाः । भूरग्न्यात्मन इत्यादिमन्त्राणां न्यास ईरितः ॥ ३८ ॥

एवं न्यस्य विधानेन ध्यात्वा साम्बं त्रियम्बकम्[1] ।

जपेन्मन्त्रवरं भक्त्या लक्षाणां दशकं द्विजाः ॥ ३९ ॥

ततः सिध्यति मन्त्रोऽयं सत्यमेव न संशयः ।

षट्कर्माणि प्रसिध्यन्ति[2] तथैवाष्ट विभूतयः ॥ ४० ॥

अङ्गुष्ठादीति । अकारादीन्यक्षराण्यङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीनां त्रिषु संधिष्वङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं प्रत्येकं न्यस्तव्यानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ एवं वर्णन्यासं कृत्वा तास्वेवाङ्गुलीषु तत्समुदायात्मकः प्रणवोऽपि न्यस्तव्य इत्याह—अङ्गुलीष्विति । 'भूरग्न्यात्मन' इत्यादयोऽङ्गमन्त्रास्तेऽङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु न्यस्तव्या इत्यर्थः ॥ ३५–३६ ॥ पुनरकारादिवर्णत्रयं विभज्य नाभिहृन्मूर्धसु प्रत्येकं न्यस्तव्यं[3] ततस्तेष्वेव स्थानेषु तत्समुदायस्य प्रणवस्य न्यासः कर्तव्य इत्याह—क्रमाद्वर्णेति ॥ ३७ ॥

भूमि स्थान, उदात्त स्वर, ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, प्रातःकाल, रजो गुण, सृष्टि क्रिया और उत्पत्ति में विनियोग है । उकार के—वायु ऋषि, त्रिष्टुप् छंद, विष्णु देवता, शुक्ल वर्ण, स्वप्न अवस्था, अंतरिक्ष स्थान, अनुदात्त स्वर, यजुर्वेद, दक्षिणाग्नि, मध्याह्न काल, सत्त्व गुण, स्थिति क्रिया और स्थिति में विनियोग है । मकार के—सूर्य ऋषि, बृहती छन्द, रुद्र देवता, कृष्ण वर्ण, सुषुप्ति अवस्था, स्वर्ग लोक, स्वरित स्वर, साम वेद, आहवनीय अग्नि, सायंकाल, तमोगुण, संहार क्रिया और नाश में विनियोग है ।) अंगूठे से कनिष्ठिका पर्यंत सभी अंगुलियों की तीनों संधियों में इन तीन वर्णों का न्यास करना चाहिये ॥ ३४ ॥ समग्र अंगुलियों पर प्रणव का न्यास करना चाहिये । 'भूरग्न्यात्मने' आदि अंगमंत्रों का भी अंगुलियों पर न्यास कर लेना चाहिये ॥ ३५–३६ ॥ नाभि, हृदय और मूर्धा में पहले क्रमशः अकारादि वर्णों का व फिर तीनों स्थानों पर प्रणव का न्यास करना चाहिये ॥ ३७ ॥ हृदयादि में ही 'भूरग्न्यात्मने' आदि मंत्रों का भी न्यास

१ ङ. सदाशिवम् । २ जपपरो ब्राह्मणोऽन्यानि कर्माणि माऽपि कार्षीन्न तस्य दोष इत्यर्थः । मनुरपि विदधौ—'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।' (२.८७) इति । ३ क. न्यासः ।

अपवर्गः स्वतःसिद्धः पापैः सर्वैः प्रमुच्यते । सर्वविद्यालयो भूत्वा यथेष्टं फलमाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रणवविचारो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ततो हृदयादिदेशेषु 'भूरग्न्यात्मन' इत्यङ्गमन्त्रान्यर्थोदित्याह-हृदयादीनि । शेषं स्पष्टम् । ३८-४१ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रणवविचारो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

सूत उवाच—सावित्रीमथ वक्ष्यामि व्याहृत्या शिरसा सह ।

भूरादिव्याहृतीनां तु मुनयः परिकीर्तिताः ॥ १ ॥

अत्रिर्भृगुश्च कुत्सश्च वसिष्ठो गौतमस्तथा[1] । कश्यपश्चाङ्गिराश्चेति क्रमेण मुनिपुंगवाः ॥ २ ॥

व्याहृतीनां क्रमेणैव छन्दांसि कथितानि तु । देवीगायत्रमाद्यं स्यादुष्णिहा तदनन्तरम् ॥ ३ ॥

अनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुप्[2] च जगती तथा ।

अग्निर्वायुस्तथाऽर्कश्च वागीशो वरुणस्तथा ॥ ४ ॥

कर्तव्य है । इस प्रकार यथाविधि न्यास कर, साम्ब त्र्यम्बक का ध्यान कर भक्तिपूर्वक दस लाख बार प्रणव का जप करना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥ तब यह मंत्र सिद्ध होता है । षट्कर्म, आठ विभूतियाँ और मोक्ष प्राप्त होता है । सब पाप निवृत्त होते हैं । जप करने वाला सब विद्याओं में निष्णात हो यथेष्ट फल पाता है ॥ ४०-४१ ॥ (ब्राह्मण के लिए अध्ययनादि छह कर्म मनु. (१.८८) आदि ने बताये हैं । प्रणवजपी ब्राह्मण उन्हें न भी करे तो दोषी नहीं यह अर्थ है । स्वयं मनु ने ब्राह्मण के लिए कहा है कि उसे जप से ही सब सिद्ध हो जाता है । अणिमादि आठ विभूतियाँ मानसोल्लासादि में (१०.७-१८) स्पष्ट हैं ।)

गायत्रीविवरण नामक छठा अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं व्याहृतियों और शिर सहित गायत्री के विषय में बताता हूँ ।

व्याहृतियों के ऋषि आदि इस प्रकार हैं : भूः के—अत्रि ऋषि, देवी गायत्री छन्द, अग्नि देवता । भुवः के—भृगु ऋषि, उष्णिहा छंद, वायु देवता । स्वः के—कुत्स ऋषि, अनुष्टुप् छंद, सूर्य देवता । महः के वसिष्ठ ऋषि, बृहती छंद, बृहस्पति देवता । जनः के—गौतम ऋषि, पंक्ति छंद, वरुण देवता । तपः के—कश्यप ऋषि,

---

१ ख. ग. "था । काश्य" । २ घ. च "ङ्क्तिस्त्रिष्टु" ।

इन्द्रश्च विश्वेदेवाश्च क्रमेणैव तु देवताः ।

व्याहृतीनां तु सर्वत्र विनियोगः प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥

विश्वामित्रो मुनिश्छन्दो गायत्रं देवता रविः ।

सावित्र्या वेदविच्छ्रेष्ठाः शिव एवाधिदेवता ॥ ६ ॥

त्रिपदा सा तु सावित्री षड्भिर्वर्णैश्चतुष्पदा ॥ ७ ॥

ओमापो ज्योतिरित्येतद्गायत्र्याः शिर उत्तमम्[1] ।

ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मन्त्रस्य च्छन्दोऽनुष्टुप्प्रकीर्तितः ॥ ८ ॥

इत्थं त्रयीसारं प्रणवमभिधाय प्रकृत्यादिचतुर्विंशतितत्त्वात्मिकां द्विजातीनां भुक्तिमुक्तिकरीं त्रयीमातरं सावित्रीं प्रस्तौति–**सावित्रीमर्थेति** । व्याहृतयो भूराद्याः सप्त । ओमापो ज्योतिरिति शिरः । अथैतासां व्याहृतीनामृष्याद्यानाह–**भूरादिव्याहृतीनामित्यादि क्रमेणैव तु देवता** इत्यन्तेन । **वागीशो** बृहस्पतिः । [2]"यद्यविज्ञाता[3] सर्वव्यापद्या[4] भूर्भुवः सुवरिति सर्वा अनुसृत्याऽऽहवनीय[4] एव जुहवीथ[5]" इत्यैतरेयकश्रुतेः 'सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह' इत्यादिस्मरणाच्च यज्ञकर्मणि सर्वत्र प्राणायामादौ चाऽऽसां विनियोगः स्पष्ट इत्याह–**व्याहृतीनां त्विति** ॥ १–५ ॥ अथ गायत्र्या ऋष्याद्यानाह–**विश्वामित्र इति** । जन्मान्तरकृतोपासनामहिम्ना यः सूर्यपदं प्राप्तस्तन्मण्डलाभिमानी जीवात्मना वर्तमानस्तत्रत्यां विभूतिमनुभुङ्क्ते स सूर्योऽस्या देवता । अन्तर्यामिरूपेण तस्यान्तर्वर्तमानस्तत्प्रेरको यः परशिवः सोऽस्य मन्त्रस्याधिदेवतेत्यर्थः ॥ ६ ॥ अस्याः पादक्लृप्तिमाह–**त्रिपदेति** । सावित्री सवितृदेवताका 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' एषा ऋगित्यादिरूपेणेति स्मरणात् । ण्यमित्येतस्याक्षरस्य णियमिति विभागे सति चतुर्विंशत्यक्षरा । अष्टाभिरक्षरैः पादत्रयात्मिका । षड्भिः पादचतुष्टयात्मिका । 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति श्रुतेः ॥ ७ ॥

त्रिष्टुप् छंद, इंद्र देवता । सत्यम् के–अंगिरा ऋषि, जगती छंद, विश्वेदेव देवता । व्याहृतियों का विनियोग तो यज्ञ, प्राणायामादि सर्वत्र ही है ॥ १–५ ॥

गायत्री के विश्वामित्र ऋषि हैं, गायत्री छंद है, सूर्य देवता है और शिव अधिदेवता हैं ॥ ६ ॥ (आठ-आठ अक्षरों के टुकड़े किये जायें तो) गायत्री तीन पादों वाली है । छह-छह अक्षरों के टुकड़े करें तो चार पादों वाली है । जप में गायत्री को तीन पादों वाली और पूजा में चार पादों वाली समझना चाहिये (पाठ में 'ण्यं' को जप में 'णियम्' मानकर अक्षर चौबीस होते हैं ।)॥ ७ ॥

'ॐ आपो ज्योतिः' गायत्री का शिर है । इसके ब्रह्मा ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है, परमात्मा ही देवता

---

१ घ. उच्यते । २ ङ. "द्यपि ज्ञा" । ३ क. "ता भू" । ४ ङ. "पकाद्या । ५ ख. "नुद्रुत्या" । ६ क. ख. ङ. च. "जुहावी" ।

देवता परमात्मैव[1] प्रोक्तो वेदार्थवेदिभिः । यथेष्टसाधने चास्य विनियोग उदाहृतः ॥ ९ ॥

सावित्री त्रिपदा ज्ञेया षट्कुक्षिः पञ्चशीर्षका । अग्निवर्णमुखा शुक्ला पुण्डरीकदलेक्षणा ॥ १० ॥

ऋग्यजुःसामरूपाश्च पादा अस्याः प्रकीर्तिताः । पूर्वा दिक्प्रथमा कुक्षिर्द्वितीया दक्षिणा मता ॥ ११ ॥

पश्चिमा दिक्तृतीया च चतुर्थी चोत्तरा मता ।

ऊर्ध्वा दिक्पञ्चमी कुक्षिः षष्ठ्यधो दिक्प्रकीर्तिता ॥ १२ ॥

अष्टादश पुराणानि नाभिरस्या मुनीश्वराः । जगच्छरीरं सावित्र्या आकाशमुदरान्तरम् ॥ १३ ॥

शिरसा सहेति पूर्वं यदुक्तं तस्य शिरसः स्वरूपमाह—**ओमाप** इति । अस्यर्ष्यादीनाह—**ऋषिर्ब्रह्मे**ति । वेदार्थाभिज्ञैरस्य मन्त्रस्यार्थं न्यायतोऽवधार्य तदात्मकः **परमात्मैव देवते**ति निर्णीतं 'या तेनोच्यते सा देवता' इति न्यायात् । सोऽर्थ आचार्यैरित्थं निरूपितः—'आपो ज्योति रस इति सोमाग्न्योस्तेज उच्यते । तदात्मकं जगत्सर्वं रसस्तेजोऽद्वयात्मकम् ॥ अमृतं तदनाशित्वाद् बृहत्वाद् ब्रह्म उच्यते । यदानन्दात्मकं ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणम् ॥ तद्भूर्भुवः स्वरित्युक्तं सोऽहमित्योमुदाहृतम् । एतत्तु वेदसारस्य शिरस्त्वाच्छिर उच्यते' इति ॥ ८–९ ॥ अथास्याः सावित्र्या जपकाले ध्यातव्यां विराडात्मिकां मूर्तिमाह—**सावित्री त्रिपदे**ति । त्रयः पादा अस्याः सा तथा । एवं **षट्कुक्षिः पञ्चशीर्षके**त्यत्रापि बहुव्रीहिः ॥ १० ॥ के पुनस्ते पादा इत्याह—**ऋग्यजुरि**ति । त्रयो वेदाः सावित्रीमूर्तेः पादत्रयात्मना वर्तन्त इत्यर्थः । उक्तं हि सावित्रीहृदये—'ऋग्वेदोऽस्याः प्रथमः पादो भवति यजुर्वेदो द्वितीयः सामवेदस्तृतीयः' इति । कुक्षिषट्कमप्येवं विभज्य दर्शयति—**पूर्वा दिगि**त्यादिना ॥ ११–१२ ॥

है तथा विनियोग यथेष्ट साधन में है ॥ ८–१० ॥

जपकाल में गायत्री का ध्येयरूप है : गायत्री के तीन पैर, छह पेट और पाँच सिर हैं । मुँह का रंग अग्नि की तरह है, सारा शरीर शुक्ल है तथा आँखें कमल के दल की तरह हैं ॥ १० ॥ ऋक् यजुः और साम इसके पैर बताये गये हैं । पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर और नीचे—ये छहों दिशायें उसके पेट हैं ॥ ११–१२ ॥ अठारह पुराण गायत्री की नाभि हैं । पृथिवी आदि भूत-भौतिक जगत् उसका स्थूल शरीर है । पेट की भीतरी जगह आकाश है । गायत्री आदि छंद स्तन हैं । मनु आदि प्रणीत निर्दुष्ट धर्मशास्त्र हृदय है । न्यायशास्त्र भुजाये हैं । सेश्वर व निरीश्वर दोनों सांख्यशास्त्र कान हैं । शिक्षा, कल्प आदि वेदांग सिर हैं । महातेजस्वी अग्नि मुख है । मीमांसा उसका असाधारण चिह्न है । अथर्वा ऋषि द्वारा दृष्ट वेद गायत्री की चेष्टायें हैं । ब्रह्मा मूर्धा हैं, रुद्र शिखा हैं (केश हैं) और विष्णु गायत्र्यभिमानी

---

१ ङ. "त्मैष प्रो" ।

स्तनौ छन्दांसि हृदयं धर्मशास्त्रमकल्मषम् । बाहवो न्यायशास्त्रं तु कर्णौ सांख्यद्वयं तथा ॥ १४ ॥

शिक्षाद्यङ्गानि शीर्षाणि वक्त्रमग्निर्महाद्युतिः । मीमांसा लक्षणं तस्याश्चेष्टा चाऽऽथर्वणी श्रुतिः ॥ १५ ॥

ब्रह्मा मूर्धा शिखा रुद्रो विष्णुरात्मा प्रकीर्तितः ।
तस्याः सूक्ष्मशरीरं च शास्त्रं वेदान्तसंज्ञितम् ॥ १६ ॥

अन्तर्यामी शिवः साक्षात्साम्बश्चन्द्रार्धशेखरः । स्वशरीरे तु सावित्रीं विन्यसेदक्षरक्रमात् ॥ १७ ॥

पादाङ्गुष्ठे तु गुल्फे तु जङ्घे जानुप्रदेशके ।
ऊरुदेशे च गुह्ये च वृषणे च तथैव च ॥ १८ ॥

किं वहुना नामरूपात्मकं सर्वमपि जगद्विराडात्मिकायास्तन्मूर्तेरवयवत्वेन परिकल्पयति–**अष्टादशेत्यादिना वेदान्तसंज्ञितमित्यन्तेन** । **जगत्पृथिव्यादिभूतभौतिकात्मकं तस्याः स्थूलशरीरम्** । **छन्दांसि** गायत्र्यादीनि सप्त । **धर्मशास्त्रं** मन्वादिप्रणीतम् । **सांख्यद्वयं** निरीश्वरं सेश्वरं च । शिक्षादीनि पञ्चाङ्गान्यस्याः शिरांसि । उक्तं हि सावित्रीहृदये–'व्याकरणमस्याः प्रथमं शिरो भवति शिक्षा द्वितीयं कल्पस्तृतीयं निरुक्तं चतुर्थं ज्योतिषामयनं पञ्चमम्' इति । लक्ष्यतेऽनेनेति **लक्षणं** व्यावर्तकोऽसाधारणो धर्मः 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादिकं मीमांसाशास्त्रमस्यास्तल्लक्षणम् । अथर्वणा दृष्टा श्रुतिर्वेदोऽस्याश्चेष्टात्मकः । उक्तं हि–'लक्षणं मीमांसा । अथर्ववेदो विचेष्टितम्' इति । पञ्चस्वपि शिरःसु **ब्रह्मैव** शिरःकपालात्मनाऽवस्थितः । **रुद्रः** केशात्मना । हृन्मध्येऽवस्थितो जीवात्मा **विष्णुरेव** । 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिकं वेदान्तशास्त्रमस्याः **सूक्ष्मशरीरम्** ॥ १३–१६ ॥ एतावदीदृशं सर्वं नामरूपात्मकं भोक्तृभोग्यरूपं जगदस्या मूर्तित्वेन परिकल्पितं दृग्रूपः परशिव एवैवंविधायाः सावित्रीमूर्तेरन्तर्यामित्वेन प्रेरक इत्याह–**अन्तर्यामीति** । उक्तप्रकारेण ऋष्यादिन्यासपुरःसरं सावित्रीमूर्तिं ध्यात्वा मन्त्रवर्णान्स्वशरीरे वक्ष्यमाणस्थानेषु न्यसेदित्याह–**स्वशरीरे त्विति** ॥ १७ ॥

आत्मा हैं । वेदान्तशास्त्र उसका सूक्ष्म शरीर है ॥ १३–१६ ॥ अन्तर्यामीरूप से गायत्री के प्रेरक साक्षात् चन्द्रमौलि शिव हैं ।

अक्षरक्रम से गायत्री का निजशरीर में न्यास करना चाहिये । 'तत्' आदि प्रत्येक वर्ण का इन एक-एक स्थान में न्यास करे–पैर के अंगूठे में, टखने में, पिण्डली में, घुटने में, जंघा में, लिंग में, अण्डकोष में, कटि में, नाभि में, उदर में, स्तनों में, हृदय में, कण्ठ में, मुँह में, तालु में, नाक में, आँखों में, भ्रूमध्य में, ललाट में, मुख में पूर्व की ओर, मुख में दक्षिण की ओर, मुख में पश्चिम की ओर, मुख

कटिप्रदेशे नाभौ च जठरे स्तनयोर्हृदि । कण्ठे च वदने तालौ नासिकायां च चक्षुषोः ॥ १९ ॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च पूर्ववक्त्रे तथैव च । दक्षिणे पश्चिमे चैव तथैव ब्राह्मणोत्तमाः ॥

उत्तरे च तथा मूर्ध्नि न्यासः सम्यक्प्रकीर्तितः ॥ २० ॥

प्रथमश्चम्पकाकारो द्वितीयः श्याम एव हि । तृतीयः पिङ्गलः प्रोक्तश्चतुर्थो मुनिसत्तमाः ॥ २१ ॥

इन्द्रनीलसमप्रख्यः पञ्चमः पावकप्रभः । षष्ठो वह्निप्रभस्तद्वत्सप्तमश्चाग्निवर्णकः ॥ २२ ॥

विद्युद्वर्णनिभः साक्षादष्टमः परिभाषितः । नवमस्तारकावर्णो दशमः कृष्णवर्णकः ॥ २३ ॥

तत्परो रक्तगौराभः श्यामस्तत्परमः स्मृतः ।

शुक्लवर्णः[1] पीतवर्णो रक्तवर्णः परः स्मृतः ॥ २४ ॥

शुक्लवर्णः परो वर्णः पद्मरागप्रभः परः ॥ २५ ॥

तत्परः शशिसंकाशः पाण्डुरः परमो मतः । तत्परो रत्नगौराभ इन्द्रनीलसमोऽथ वा ॥ २६ ॥

गोरक्तसदृशश्चान्यस्तत्परः सूर्यसंनिभः । नीलोत्पलदलप्रख्यो वर्णस्तत्परमस्तथा ॥ २७ ॥

शङ्खकुन्देन्दुवर्णाभः साक्षाद्वर्णः परः स्मृतः ।

तत्परो दीपसंकाशः क्रमाद्वर्णाः प्रकीर्तिताः ॥ २८ ॥

तान्येव चतुर्विंशतिस्थानानि दर्शयति—पादाङ्गुष्ठे त्वित्यादिना ॥ १८–२० ॥ अथैषामक्षराणां जपविधौ ध्यातव्यान्वर्णानाह—प्रथमश्चम्पकाकार इत्यादिना क्रमाद्वर्णाः प्रकीर्तिता इत्यन्तेन ॥ २१–२८ ॥

में उत्तर की ओर और मूर्धा में । इन चौबीस स्थानों में क्रमशः चौबीस अक्षरों का न्यास करना चाहिये ॥ १७–२० ॥

अक्षरों के रंग ये हैं—प्रथम अक्षर चम्पा के फूल की तरह सुनहरा है । दूसरा श्याम वर्ण का है । तीसरा खाकी (ललाई लिये भूरा) रंग का है । चौथे का रंग इन्द्रनीलमणि की तरह है । पाँचवाँ पावक के रंग का, छठा वह्नि के रंग का और सातवाँ अग्नि के रंग का है । (आग की विभिन्न आभाओं वाले ये वर्ण हैं ।) आठवाँ अक्षर विजली (मेघों में चमकने वाली) के रंग का है । नवें का रंग तारों

---

१ क. ख. ग. घ. "र्णः परो वर्णः पीतव" । बालमनोरमापाठोऽप्येवम् ।

केचिद्वर्णास्तु सावित्र्या महापातकनाशनाः । उपपातकपापानां वर्णाः केचन बाधकाः ।

केचन क्षुद्रपापानां नाशकाः स्युर्न संशयः ॥ २९ ॥

नान्नतोयसमं दानं न चाहिंसापरं तपः ।

न सावित्रीसमं जप्यं न व्याहृतिसमं हुतम् ॥ ३० ॥

यो नोऽस्माकं धियश्चित्तान्यन्तर्यामिस्वरूपतः । प्रचोदयात्प्रेरयेच्च तस्य देवस्य सुव्रताः ॥ ३१ ॥

दीप्तस्य सर्वजन्तूनां प्रत्यक्षस्य स्वभावतः ।

सवितुः स्वात्मभूतं तु वरेण्यं सर्वजन्तुभिः ॥ ३२ ॥

एवंविधस्य वर्णज्ञानस्य प्रयोजनमाह-केचिद्वर्णास्त्विति । महापातकोपपातकानुपातकरूपाणि[1] त्रिविधानि पातकानि तान्यक्षरवर्णज्ञानान्नश्यन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ कथमस्य गायत्रीजपस्य महापातकादिसर्वपापप्रणाशहेतुतेत्याशङ्क्याऽऽह-नान्नतोयेति ॥ ३० ॥

जैसा है । दसवाँ काले रंग का है । ग्यारहवाँ ललाई के लिए गोरे रंग का है । बारहवाँ श्याम (हरे) रंग का है । तेरहवाँ शुक्ल, चौदहवाँ पीला, पंद्रहवाँ लाल, सोलहवाँ शुक्ल (चाँदी की तरह), सत्रहवाँ माणिक्य के रंग का, अठारहवाँ चंद्र के रंग का, उन्नीसवाँ पीलापन लिए सफेद, बीसवाँ मोती की तरह सफेद या इन्द्रनील की तरह है, इक्कीसवाँ गाय की ललाई की तरह के रंग वाला होता है, बाइसवाँ सूर्य के रंग का, तेइसवाँ नीलकमल के दल के समान वर्ण का और चौबीसवाँ शंख, कुंदपुष्प या चंद्र के वर्ण का है । अगला वर्ण दीपक की तरह है । (यहाँ पाठ में असमीचीनता प्रतीत होती है । अक्षर चौबस ही हैं । चौबीसवें श्लोक का पाठ 'शुक्लवर्णः परो वर्णः पीतवर्णः परः स्मृतः' मानें तो 'रक्तवर्णः' के हट जाने से संख्या ठीक हो जाती है । तब पंद्रहवाँ अक्षर चाँदी के रंग का, सोलहवाँ माणिक्य के रंग का, सत्रहवाँ चंद्र के रंग का, अठारहवाँ पीलापन लिए सफेद, उन्नीसवाँ मोती के या इंद्रनील के रंग का, बीसवाँ गाय की ललाई के रंग का, इक्कीसवाँ सूर्य के रंग का, बाइसवाँ नीलकमल के रंग का, तेइसवाँ शंखादि के रंग का और चौबीसवाँ दीपक के वर्ण का होगा) ॥ २१-२८ ॥

गायत्री के कुछ वर्ण महापातकों के, कुछ उपपातकों के और कुछ क्षुद्रपातकों के नाशक हैं ॥ २९ ॥ अन्नदान व जलदान के समान अन्य कोई दान नहीं, अहिंसा से श्रेष्ठ तप नहीं है, गायत्री के तुल्य कोई जपनीय मंत्र नहीं है तथा व्याहृतियों के समान होममंत्र नहीं है ॥ ३० ॥

गायत्री का अर्थ यों समझना चाहिये-अन्तर्यामीरूप से जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है उस

---

१ घ. "तकक्षुद्रपा" ।

भजनीयं द्विजा भर्गस्तेजश्चैतन्यलक्षणम् । तच्छब्दवाच्यं सर्वज्ञं जगत्सर्गादिकारणम् ॥ ३३ ॥

स्वमायाशक्तिसंभिन्नं शिवरुद्रादिसंज्ञितम् । नीलग्रीवं विरूपाक्षं साम्बमूर्त्युपलक्षितम् ॥ ३४ ॥

आदित्यदेवतायास्तु प्रेरकं परमेश्वरम् ॥ ३५ ॥

आदित्येनापरिज्ञातं वयं धीमह्युपास्महे । सावित्र्याः कथितो ह्यर्थः संग्रहेण मयाऽऽदरात् ॥ ३६ ॥

एवमर्थं गुरोर्लब्ध्वा दत्त्वा तस्मै च दक्षिणाम् ।

चतुर्विंशतिकं लक्षं जपेदव्यग्रतः सुधीः ॥ ३७ ॥

महापातकयुक्तोऽपि सिद्धमन्त्रो भवेद् द्विजः । आज्येन जुहुयान्मन्त्री सहस्राणां चतुष्टयम् ॥ ३८ ॥

यतो जपविधौ जप्यमन्त्रार्थभूतदेवताप्रतिपत्त्यर्थमवश्यं मन्त्रार्थो ज्ञातव्योऽतस्तत्प्रतिपत्तये सावित्रीमन्त्रं संगृह्य व्याचष्टे—**यो नोऽस्माकमित्यादिना मयाऽऽदरादित्यन्तेन** । तृतीयपादे यच्छब्दश्रवणात्प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं तं पादं विवृणोति । अन्तर्यामितया स्थितो **यो** देवः स **नोऽस्माकं धियो** बुद्धीर्धर्मज्ञानादिषु **प्रचोदयात्**प्रेरयेत् । 'चुद प्रेरणे' इत्येतस्माल्लेट्याडागमः[1] । तस्य **देवस्य** द्योतमानस्य स्वयंप्रकाशचिद्रूपस्य सर्वप्राणिहृदम्बुजमध्यवर्त्यन्तःकरणादिसाक्षित्वेन वर्तमानस्य **सवितुः** प्रेरकस्य शिवस्वरूपभूतं तत्सृष्टिस्थितिसंहारकारणतया प्रसिद्धं **वरेण्यं** सर्वप्राणिसेव्यं **भर्गो** भर्जनात्पापस्य भर्जकं सत्यज्ञानादिलक्षणं स्वमायाशक्तिवशेन शिवरुद्रादिसंज्ञामापन्नं सूर्यमण्डलमध्ये तत्प्रेरकत्वेनावस्थितं वाङ्मनसातीतमीदृग्विधं यत्परं ब्रह्म **तद्वयं धीमहि** ध्यायेम । तदेवाहमस्मीति जानीयामित्यर्थः । 'ध्यै चिन्तायाम्' इत्यस्माल्लिङि छान्दसं रूपम् । तदुक्तमाचार्यैः—'ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुर्निष्पन्नं धीमहीत्यतः' इति ॥ ३१–३६ ॥ एतादृशमर्थं गुरुमुखाज्ज्ञातवत[2] एव पुरश्चरणादिक्रियास्वधिकार इत्याह—**एवमिति** ॥ ३७ ॥ उक्तार्थज्ञानमहिम्ना महापातकादिलक्षणमपि पापं नश्यतीत्याह—**महापातकेति** ॥ ३८ ॥

प्रकाशमान स्वभावतः प्रत्यक्ष प्रेरक देव के स्वरूपभूत तथा सभी द्वारा सेवित चैतन्यात्मक उस तेज का हम स्वाऽभेदेन ध्यान करते हैं जो महावाक्य में तत्-शब्द का वाच्य है, सर्वज्ञ है, जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण है, स्वकीय मायाशक्ति से सम्बद्ध है, शिव रुद्र आदि नामों वाला है, नीलकण्ठ है, त्रिनेत्र है, साम्ब मूर्ति से समझा जा सकता है, आदित्य देवता का भी प्रेरक है, परमेश्वर है, आदित्य भी जिसे नहीं जानता है (किंतु जो आदित्य को जानता है) ॥ ३१–३६ ॥ यह अर्थ गुरु से समझ कर उन्हें दक्षिणा निवेदित करनी चाहिये । तदनन्तर चौबीस लाख जप करने से मंत्र सिद्ध हो जाता है । चार हजार घृताहुतियाँ भी इस मंत्र से दे देनी चाहिये ॥ ३८ ॥

---

१ लेट्प्रयोग लडर्थः—प्रेरयतीत्यभिप्रायः । चकारस्य—इतः पूर्वमुत्तरं चासावेव प्रेरयिता—इत्यर्थः । यदा, ईरण-प्रेरणयोः केनप्रसिद्धो भेदो विवक्षितः । २ क. ख. ग. घ. ङ. च. "तस्यैव ।

विनियोगानथानेन मन्त्रेणैव प्रसाधयेत् । स्नात्वा प्रातर्जपेन्नित्यं सहस्रं श्रद्धया सह ॥ ३९ ॥

अपेक्षितार्थं सकलं लभते नात्र संशयः । हुत्वा तु खादिरं सम्यग्घृताक्तं हव्यवाहने ॥ ४० ॥

राहुग्रस्ते रवौ विप्रा लभते धनमुत्तमम् । राहुसूर्यसमावाये[1] तर्पयेद्भास्करं जलैः ॥ ४१ ॥

सर्वकामसमृद्धिः स्यान्नात्र कार्या विचारणा ।

करीषचूर्णतो हुत्वा सर्पिषा सह मानवः ॥ ४२ ॥

गवां गोष्ठे सहस्रं तु बहुक्षीरां लभेत गाम् ।

शाल्यास्तण्डुलहोमेन कन्यासिद्धिर्भविष्यति ॥ ४३ ॥

[2]शालीबीजस्य होमेन प्रजामिष्टामवाप्नुयात् ।

सावित्र्या जलमादाय जप्त्वा चाष्टसहस्रकम् ॥ ४४ ॥

अभिषेकं द्विजः कुर्याद् दुःस्वप्नादिनिवृत्तये । क्षीराहारो जपेल्लक्षमपमृत्युविनाशने ॥ ४५ ॥

घृताहारो जपेद्विद्यां लभते नात्र संशयः ।

नाभिमात्रे जले स्थित्वा जपेल्लक्षं समाहितः ॥ ४६ ॥

अकण्टकं महाराज्यं लभते नात्र संशयः । पलाशपुष्पहोमेन महतीं श्रियमश्नुते ॥ ४७ ॥

इस मंत्र के कई विनियोग हैं । स्नान कर प्रातः श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन एक हजार जप करने से अपेक्षित सभी कुछ प्राप्त हो जाता है ॥ ३९¹/₂ ॥ सूर्यग्रहण के समय कत्थे को घी में मिला कर अग्नि में आहुति इस मंत्र से देने से श्रेष्ठ धन प्राप्त होता है ॥ ४०¹/₂ ॥ सूर्यग्रहण के ही समय जल से सूर्य को तर्पण देने से सभी कामित वस्तुओं से व्यक्ति समृद्ध हो जाता है ॥ ४१¹/₂ ॥ घी सहित सूखे गोबर के चूरे से गौशाला में होम करने से बहुत दूध देने वाली गाय मिलती है ॥ ४२¹/₂ ॥ उत्कृष्ट प्रकार के चावल से इस मंत्र से होम करने से कन्याप्राप्ति हो जायेगी ॥ ४३ ॥ चावल के बीज से होम करने से इच्छित औलाद प्राप्त हो जाती है ॥ ४३¹/₂ ॥ गायत्री से जलग्रहण कर और आठ हजार जप कर अभिषेक करने से दुःस्वप्न नहीं आते ॥ ४४¹/₂ ॥ दूध का ही आहार करते हुए एक लाख जप करने से अपमृत्यु नहीं होती ॥ ४५ ॥ घी का ही आहार करते हुए जप करने से विद्याप्राप्ति हो जाती है ॥ ४५¹/₂ ॥ नाभि तक गहरे जल में खड़े होकर एकाग्रता से एक लाख जप करने से निरुपद्रव महान् राज्य मिलता है ॥ ४६¹/₂ ॥ पलाश के फूल से होम करने से बहुत श्री (धन-धान्यादि) मिलती है ॥ ४७ ॥

---

१ °समावाप्तौ–इति बालपाठः । २ घ. °शालिबी° ।

वेतसैर्जुहुयादग्नौ वृष्टिं शीघ्रमवाप्नुयात् । मधुहोमेन विप्रेन्द्रा राजानं वशमाप्नुयात् ॥ ४८ ॥

पायसं मधुना हुत्वा स्त्रीवश्यं लभतेऽचिरात् ।

केवलं घृतहोमेन सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

अन्नस्य होमतश्चान्नं प्राप्नुयादचिरेण तु ।

पञ्चगव्याशनो लक्षं जप्त्वा जातिस्मरो भवेत् ॥ ५० ॥

जानुमात्रे जले स्थित्वा जपेत्प्रत्यर्थिदिङ्मुखः । युद्धे विजयमाप्नोति सहस्रं क्रोधसंयुतः ॥ ५१ ॥

अर्कस्य समिधो हुत्वा तीक्ष्णतैलेन सादरम् । सप्ताहान्मारयेच्छत्रुमृते विप्रं न संशयः ॥ ५२ ॥

शत्रोः प्रतिकृतिं भूमावालिख्याऽऽख्यां च तद्धृदि ।

समाक्रम्य[१] तु पादेन जपेच्छत्रुर्विनश्यति ॥ ५३ ॥

सावित्री प्रतिलोमा स्यादभिचारेषु कर्मसु । मारणे वर्णशः [२]शत्रोर्ब्रह्मास्त्रं प्रतिलोमतः ॥ ५४ ॥

ऐहिकामुष्मिकेषु सर्वेषु फलेष्वस्य मन्त्रस्य विनियोगानाह–विनियोगानथानेनेत्यादिना **जपेच्छत्रुर्विनश्यतीत्यन्तेन** ॥ ३९–५१ ॥ **ऋते विप्रम्** । ब्राह्मणं शत्रुमृत[३] इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ तद्धृदीति । तस्याः प्रतिकृतेर्हृदय आख्यां शत्रोर्नामाक्षराणि लिखेदित्यर्थः ॥ ५३ ॥ अथ मारणविधानस्य मन्त्रास्त्रक्लृप्तिमाह–**सावित्री प्रतिलोमेति** । मन्त्रवर्णानां प्रातिलोम्येन पाठोऽस्त्रम् । तदुक्तमाचार्यैः–'प्रतिलोमपाठो वर्णानामस्त्रमाहुर्मनीषिणः' इति । वर्णशः प्रातिलोम्येन पठितोऽयं मन्त्रो ब्रह्मास्त्रं तदभिचारकर्मसु प्रयोक्तव्यमित्यर्थः[४] ॥ ५४ ॥

बेंत से आग में आहुति देने से वर्षा होती है ॥ ४७ ॥ मधु से होम करे तो राजा वश में हो जता है ॥ ४७१/२ ॥ मधुयुक्त खीर से होम करने से स्त्री वश में हो जाती है ॥ ४८ ॥ केवल घी से होम करने से सब कामनायें सिद्ध हो जाती हैं ॥ ४९ ॥ अन्न (चावल) से होम करने से शीघ्र अन्नप्राप्ति होती है ॥ ४९१/२ ॥ पंचगव्य खाते हुए एक लाख जप करने से व्यक्ति जातिस्मर (अपने पूर्वजन्म की स्मृतिवाला) हो जाता है ॥ ५० ॥ घुटने तक गहरे जल में खड़े होकर शत्रु की दिशा में मुँहकर क्रोध सहित एक हजार जप करने से युद्ध में विजय प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥ कडुवे तेल सहित आक की समिधा से सात दिन होम करने से ब्राह्मणातिरिक्त शत्रु मर जाता है ॥ ५२ ॥ शत्रु का चित्र भूमि पर बनाकर, उस चित्र के हृदय में उसका नाम लिखे तथा उस पर पैर रखे हुए गायत्री जाप करे तो भी शत्रु मर जाता है ॥ ५३ ॥ अभिचार कर्मों में शत्रु को मारने के निमित्त गायत्री के अक्षरों का विपरीत

---

१ क. घ. ङ. च. तमाक्रम्य । २ क. त्रोर्महास्त्रं । ३ क. ख. घ. शत्रुं हित्वेत्य" । ४ घ. च. "त्ययमर्थः ।

गुरुप्रसादतो ज्ञेयमनर्थकरमन्यथा । शान्तये जुहुयादग्नौ घृतेन पयसाऽपि वा ॥

पञ्चगव्येन वा हुत्वा तिलैर्वा शान्तिमाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

आम्रपर्णस्य होमेन सर्वज्वरविनाशनम् । उदुम्बरभवाश्वत्थैर्गोगजाश्वामयक्षयः ॥ ५६ ॥

पयसाऽऽज्येन वा हुत्वा शान्तिः सर्वचतुष्पदाम् ।

शान्तये सर्वदोषाणां जानुमात्रे जले जपेत् ॥ ५७ ॥

अभिमन्त्र्य सितं भस्म न्यसेद्भूतादिशान्तये ॥ ५८ ॥

बहुनोक्तेन किं विप्रा जपेनास्याश्च होमतः ।

अभीष्टं सर्वमाप्नोति नात्र सन्देहकारणम् ॥ ५९ ॥

ज्ञानेच्छां तत्प्रसादेन लभते च द्विजोत्तमाः । सावित्रीजपयज्ञेन ज्ञानयज्ञमवाप्नुयात् ॥ ६० ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे गायत्रीविवरणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

एतच्च गुरूपदेशव्यतिरेकेण प्रयोक्तुरनर्थावहमित्याह–**गुरुप्रसादत** इति । अस्य चास्त्रप्रयोगस्योपसंहारविधिमाह–**शान्तय** इति ॥ ५५ ॥ द्रव्यविशेषहोमाज्ज्वरस्योपशममाह–**आम्रेति** । स्पष्टमन्यत् ॥ ५६–५९ ॥ **ज्ञानेच्छामिति** । 'तमेतं[1] वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुतेर्वेदानुवचनादिभिः परतत्त्वस्वरूपगोचरा विविदिषोत्पादनीया तां सावित्र्याः प्रसादादेव लभते । संततजपेन निर्मलचित्तः सन्परशिवस्वरूपगोचरं साक्षात्कारज्ञानमपि प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ६० ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे गायत्रीविवरणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

क्रम से पाठ करना पड़ता है तभी यह मंत्र ब्रह्मास्त्र होकर शत्रुनाश में समर्थ होता है ॥ ५४ ॥ ब्रह्मास्त्र का ज्ञान गुरुकृपा से उनके उपदेश से प्राप्त होता है, अन्यथा हानिकारक है ॥ ५४१/२ ॥ शान्ति प्राप्ति के लिए घी, दूध, पंचगव्य या तिल से आहुति डालकर होम करना चाहिये ॥ ५५ ॥ आम के पत्ते से होम करने से सभी ज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥ ५५१/२ ॥ गूलर और पीपल के पत्तों से होम करने से गाय, हाथी और घोड़े के रोग ठीक हो जाते हैं ॥ ५६ ॥ दूध से होम करने से सभी चौपायों की शान्ति हो जाती है ॥ ५६१/२ ॥ सभी दोषों के उपशम के लिए घुटने तक गहरे जल में स्थित हो जप करना चाहिये ॥ ५७ ॥ गायत्री से अभिमंत्रित भस्म से भूत आदि शान्त हो जाते हैं ॥ ५८ ॥ अधिक क्या कहें ! गायत्री के जप व होम से सभी अभीष्ट मिल जाते हैं ॥ ५९ ॥ गायत्री की कृपा से आत्मज्ञान की इच्छा हो जाती है । एवं च गायत्री के जपयज्ञ से ज्ञानयज्ञ में अधिकार व सफलता प्राप्त होती है ॥ ६० ॥

---

१ ङ. तमेवं ।

सप्तमोऽध्यायः

सूत उवाच–आत्ममन्त्रं प्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।
ऋषिर्ब्रह्माऽस्य गायत्रं छन्द आत्मैव देवता ॥
शान्तान्तं शक्तिरस्योक्ता [1]तदन्तं बीजमुच्यते ॥ १ ॥
विद्या शक्तिर्भवेद् बीजं शिव एव न चान्यथा ।
तेनायं परमो मन्त्रः शिवशक्त्यात्मकः स्मृतः ॥ २ ॥
एतद् बुद्ध्वा जपेन्मन्त्रं बीजशक्त्यात्मना बुधः । ध्यायेत्साम्बं महादेवं संसारामयभेषजम् ॥ ३ ॥

इत्थंसांविद्युपासनेनोत्पन्नविविदिषस्यपरशिवरूपगोचरविद्योत्पत्तिसाधनमन्त्रमाह[2]–आत्ममन्त्रमिति । जाग्रदाद्य- वस्थासाक्षिणो जीवात्मनः परमात्मरूपताप्रतिपादकत्वादात्ममन्त्र इत्यजपाऽभिधीयते । एतदुपरिष्टात्स्वयमेव प्रतिपादयिष्यति । अस्य मन्त्रस्य ऋष्याद्यानाह–**ऋषिर्ब्रह्मेत्यादिनोच्यत** इत्यन्तेन । **शान्तान्तमिति** । शकारस्यान्तः षकारस्तस्यान्तः सकारः स इति शक्तिरित्यर्थः । **तदन्तमिति** तच्छब्देन सकारः परामृश्यते । तस्यान्तो हकारः । हमित्यस्य मन्त्रस्य वीजमित्यर्थः ॥ १ ॥ एवं वीजशक्त्यात्मना विभक्तस्य मन्त्रस्य शिवशक्तिवाचकत्वेन तदात्मकतां प्रतिपादयितुमर्थात्मिके वीजशक्ती आह–**विद्या शक्तिरिति** । या[3] परशिवस्वरूपसंविद्रूपिणी सैव शक्तिस्तत्प्रतिपाद्यं निष्कलं[4] परशिवस्वरूपं वीजमर्थस्वरूपमेतदुभयं[5] शब्दात्मकेन शक्तिवीजरूपभागद्वयेन प्रतिपाद्यते । तथा हि–सत्यज्ञानादिलक्षणं निरस्तसमस्तोपाधिकं स्वप्रतिष्ठं सर्वप्रत्यग्भूतं[6] चैतन्यं हि परशिवस्वरूपं तत्प्रत्यगर्थवाचिनाऽहंशब्देन प्रतिपादयितुं शक्यते । तदेव शिवस्वरूपं स्वमायावशाच्छक्यप्रतियोगित्वेन निरूप्यमाणं तत्पराग्भूतं शक्तिः । साऽपि परागर्थवाचिना स इति पदेन प्रतिपाद्यते, इत्युक्तं वीजशक्त्योः शिवशक्तिस्वरूपप्रतिपादकत्वम् । तस्मादयं वीजशक्तिसमुदायरूपो मन्त्रः शिवशक्त्यात्मक इत्यर्थः । तदुक्तमाचार्यैः–'हकारः[7] पुरुषः प्रोक्तः स इति प्रकृतिर्मता । पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्' इति ॥ २ ॥ इत्थं मन्त्रस्यार्थमभिधाय जपसमयेऽस्य ध्यानं विधत्ते–एतद्बुद्ध्वेति । उक्तलक्षणं शिवशक्त्यात्मकं निष्कलपरशिवस्वरूपं स्वीकृतलीलाविग्रहमर्धनारीश्वरं ध्येयमित्यर्थः । तदुक्तमाचार्यैः–'अरुणकनकवर्णं पद्मसंस्थं च गौरीहरनियमितचिह्नं सौम्यतानूनपातम् । भवतु भवदभीष्टप्राप्तये पाशटङ्काभयवरदविचित्रं रूपमर्धाम्विकेशम्' इति ॥ ३ ॥

हंसविद्या का विवरण नामक सातवाँ अध्याय

सूत जी ने कहा–अब मैं आत्ममन्त्र नामक अजपामंत्र के विषय में संक्षेप में बताऊँगा । आत्ममत्र के ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द और आत्मा देवता है । 'सः' शक्ति है 'हम्' बीज है ॥ १ ॥ शब्दात्मक शक्ति और बीज के अर्थ हैं संवित्-शक्ति और शिव । अतः शिव-शक्तिरूप होने से यह मंत्र परमोत्तम है ॥ २ ॥ यह समझकर बीज और शक्तिरूप से अम्बा सहित महादेव का अर्थात् अर्धनारीश्वर का ध्यान कर इस मंत्र का जप करना चाहिये । महादेव ही संसाररोग की दवा हैं ॥ ३ ॥ जो इसका प्रतिदिन बारह

---

१ ङ. त्वदन्तं । २ ङ. च. "धनं म" । ३ ङ. या तु पर" । ४ ग. घ. ङ. "ष्कलप" । ५ ख. च. "र्थरूप" । ६ ग. "त्यग्रूपं चै" । ७ क. ङ. च. अहंकारः पुमान्प्रोक्तः ।

यस्तु द्वादशसाहस्रमिमं जपति नित्यशः । तस्य सर्वाणि पापानि विनश्यन्ति न संशयः ॥ ४ ॥

अथवा प्राणसंचारः सकारः परिकीर्तितः । हकारोऽपानसंचारो देहे [1]देहभृतां सदा ॥ ५ ॥

एवं यस्तु विजानाति मन्त्रमाचार्यपूर्वकम् । सोऽजपन्नपि हंसाख्यं जपत्येव न संशयः ॥ ६ ॥

ईदृशीमजपां विद्यामास्तिक्याद्गुरुभक्तितः ॥ ७ ॥

यो विजानाति पापानि बुद्धिपूर्वकृतानि च ।

तस्य नश्यन्ति सर्वाणि नात्र कार्या विचारणा ॥ ८ ॥

[2]अथवा जीवमन्त्रोऽयं जीवात्मप्रतिपादकः ।

अहंशब्दस्य रूढत्वाल्लोके जीवात्मवस्तुनि ।

शक्तिमन्त्रः सकाराख्यः परमेश्वरवाचकः ॥ ९ ॥

इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारमनुसंधातुमशक्तस्य[3] मन्दप्रज्ञस्य तात्वोष्ठपुटादिव्यापारनिर्वर्त्यं जपविधिमभिधाय ततोऽपि संस्कृतचित्तस्य मध्यमाधिकारिणस्ताल्वोष्ठपुटव्यापारनैरपेक्ष्येण जपविधिं वक्तुं पूर्वोक्तयोर्वीजशक्त्यात्मनोर्मन्त्रभागयोरनुसंधाने प्रकारान्तरमाह–**अथवेति** । मुख्यप्राणस्य पराङ्मुखवृत्तिः प्राणः, अन्तर्मुखवृत्तिरपानस्तथा सति स इत्येतत्पदं परागर्थवाचकम् । तस्य प्राणवृत्तेश्च पराक्त्वसंबन्धात्प्राणवृत्त्यात्मक एव स इति मन्त्रभागः । हंशशब्दस्य च प्रत्यगर्थत्वादपानवृत्तेश्च प्रत्यङ्मुखत्वात्प्रत्यक्त्वसाम्येनापानवृत्त्यात्मक एव हमिति मन्त्रभागः । एवमेतौ मन्त्रभागौ प्राणापानवृत्त्यात्मना स्वदेहे सर्वदाऽनुवर्तेते इत्यनुसंधेयमित्यर्थः ॥ ५ ॥ अस्त्वेवं मन्त्रभागयोः प्राणापानात्मकता तदनुसंधानस्य कोऽतिशयः ? इत्यत आह**एवं यस्त्विति** । एवमुक्तप्रकारेण प्राणापानात्मना वर्तमानं मन्त्रमाचार्यमुखाद्यो वेद स साधकोऽजपन्नपि ताल्वोष्ठपुटव्यापारनिर्वर्त्यं जपमकुर्वन्नपि प्राणापानवृत्त्यात्मना मन्त्रस्यानुवृत्तेर्जपत्येव सर्वदा । अत[4] एवेयं विद्याऽजपेत्याख्यायते ॥ ६ ॥ भक्तिश्रद्धापुरःसरमुक्तमर्थमतिनैशित्येनानुसंधानस्य[5] वाचिकजपादतिशयितं फलमाह–**ईदृशीमजपामित्यादिना विचारणेत्यन्तेन** । अत्र बुद्धिपूर्वकृतानीति विशेषितत्वाद्यथोदीरितद्वादशसहस्रजपविधावज्ञानकृतस्य पापमात्रस्य क्षयः । अत्र तु ज्ञानकृतस्यापीति विशेषः ॥ ७–८ ॥ इत्थमधिकारिणां मन्त्रानुसंधाने विशेषमभिधायाथ ततोऽप्युत्कृष्टस्य श्रवणमननादिसंस्कृतचित्तस्योत्तमाधिकारिणो हंसमन्त्रानुसंधाने विशेषं वक्तुमारभते–अथवा[6] जीवेति । मन्त्रस्य पूर्वभागोऽहंशब्दो जाग्रदाद्यवस्थासाक्षिणो जीवात्मनोऽभिधायकः । यतस्तत्राहं सुख्यहं[7] दुखीत्यहंशब्दो रूढ्या लोके प्रयुज्यते । वेदे च "सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽयमहमित्येवाग्र उक्त्वाऽन्यन्नाम प्रब्रूते" इति । तस्मान्मन्त्रस्य पूर्वभागो जीवात्मप्रतिपादक इत्यर्थः पूर्वं शक्तिप्रतिपादकतया व्याख्यातो यः स इति मन्त्रभागः सोऽपि सर्वशक्तिजगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं यत्पारमेश्वरं तत्त्वं तद्वाचक इत्यर्थः ॥ ९ ॥

हजार जप करता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥

अथवा प्राणसंचार सकार और अपानसंचार हकार है । शरीरधारियों के देह में ये सदा चलते रहते हैं । (यहाँ श्वास-प्रश्वास ही प्राणापान हैं, अपान से अधोवायु नहीं समझ लेना चाहिये ।) ॥ ५ ॥ इस बात को गुरुमुख से जो जान लेता है वह मंत्रोच्चारण न करता हुआ भी हंस नामक जप करता ही

---

१ क.ख.घ.च. देहवतां । २ घ. "वा वीजम" । ३ ग. "संदधा" । ४ क. अतश्चेयं । ५ घ. नैश्चित्ये" । ६ घ. "वा वीजेति । ७ क. ग. घ. ङ. सुखी दुः" ।

प्रकृतार्थे प्रसिद्धत्वात्प्रसिद्धः परमेश्वरः ॥ १० ॥

महदाद्यणुपर्यन्तं जगत्सर्वं चराचरम् । जायते वर्तते चैव लीयते परमेश्वरे ॥ ११ ॥

संसारित्वेन भातोऽहं स एव परमेश्वरः । सोऽहमेव न संदेहः स्वानुभूतिप्रमाणतः ॥ १२ ॥

कुत इत्यत आह–**प्रकृतार्थ** इति । [1]प्रसद्धिप्रक्रान्तानुभूतास्तच्छब्दार्थाः । परमेश्वरश्च प्रसिद्धत्वादत्र प्रकृतोऽर्थः । सा पुनः प्रसिद्धिर्वियदादिपरमाण्वन्तस्य चराचरात्मकस्य जगतः सृष्टिस्थितिलयाधिकरणतयाऽधिगन्तव्या । तदधिकरणत्वं चैवमाम्नायते–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति । 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि च । तस्मात्कार्यप्रपञ्चस्य कारणतया प्रसिद्धः परमेश्वरस्तच्छब्देन स इति मन्त्रभागेनाभिधीयत इत्यर्थः ॥ १०–११ ॥ इत्थं पदार्थावभिधाय वाक्यार्थमाह–**संसारित्वेने**ति । गृहीतसंगतिकैः पदैरभिहितानां पदार्थानां पश्चादाकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावशाद्यः संसर्गः स एव वाक्यार्थ इत्यभिहितान्वयवादिनो, योग्येतरपदार्थान्वितस्वार्थाभिधायकानि पदानीत्यन्विताभिधानवादिनो[2] विशिष्टो वाक्यार्थः । तदुभयमत्र न संभवति । [3]ईश्वरस्वरूपव्यतिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याभावात् । तस्माद् भ्रान्त्या भेदेन प्रतिपन्नस्य जीवस्य परमार्थतो यत्परशिवतादात्म्यं स एव वाक्यार्थः । **ननु** तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरनयोः कथं तादात्म्यं घटते । तथा हि–अहंशब्दस्य मलिनसत्त्वप्रधानमायाकार्यान्तःकरणावच्छिन्नं कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिविशिष्टं किंचिज्ज्ञं प्रत्यक्चैतन्यं वाच्योऽर्थः । स इत्यस्य च विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकं कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिसकलसंसारव्यवहारातीतं सर्वज्ञं जगज्जन्मादिकारणं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुत्या परोक्षेण निर्दिष्टं चैतन्यं वाच्योऽर्थः । ईदृग्विधयोः कथमेकत्वसंभव इति । **सत्यम्** । अत एव लक्षणा प्रवर्तते । सा च वाच्यार्थद्वयविरुद्धांशपरित्यागेनाविरुद्धांशस्वीकाररूपभागत्यागलक्षणा । तथा हि–ब्रह्मणस्तावत्सच्चिदानन्दैकरसात्मकत्वं श्रुत्या प्रतिपादितम् । जीवस्य च जाग्रदाद्यवस्थासु व्यावर्तमानास्वैक्यरूपेणानुवृत्तेः सद्रूपत्वं, तत्साक्षित्वेन चिद्रूपत्वं परप्रेमास्पदत्वेनाऽऽनन्दरूपत्वं च स्वानुभवसिद्धम् । एवं च [4]किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वप्रत्यक्त्वपरोक्षत्वादिविरुद्धांशमुभयत्र परित्यज्याविरुद्धयोः सच्चिदानन्दादिलक्षणयोर्जीवेश्वरस्वरूपयोः परस्परतादात्म्यं भागत्यागलक्षणया हंसमन्त्रः प्रतिपादयति । उक्तं हि–'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे । मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते' ॥ एतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तम् **'संसारित्वेन-भातोऽहं स एव परमेश्वरः'** इति ।

रहता है ॥ ६ ॥ जान-बूझकर किये पाप भी इस जानकार के निवृत्त हो जाते हैं ॥ ७–८ ॥

अथवा यह जीवमंत्र है जो जीव की आत्ममात्रता का प्रतिपादक है । इसका प्रथम भाग जीववाचक है क्योंकि 'अहम्' शब्द जीव के लिए रूढ है । सकाररूप शक्तिमन्त्र परमेश्वर का वाचक है क्योंकि 'सः' ऐसा प्रकृत (जिसका प्रकरण चल रहा हो) के लिए कहा जाता है और प्रसिद्ध होने से परमेश्वर का ही

---

१ घ. "द्धप्रकृतानु" । २ तदुक्तं वाक्यार्थमातृकायाम् 'एकयैवाकांक्षितसन्निहितयोग्यार्थान्वितस्वार्थाभिधानशक्त्या प्रतियोगिभेदेन कार्यभेदोपपत्तेश्चक्षुरादीनामिवे'ति (पृ. ३९४ का .हि. विश्व.) । विवरणाचार्या अपि विस्तरेण नयमवर्णकिऽन्विताभिधानं समर्थयामासुः 'तस्मादन्यसंसृष्टस्वार्थे शब्दसामर्थ्यं सिद्धम्' (पृ. १२०६ कल.) इत्यनेन संदर्भेण । सर्वज्ञगुरुश्च 'योग्येतरान्वितपदार्थनिवेदने तु शब्दस्य शक्तिरिह वृद्धजनप्रयोगे' (१-३४४) इत्यादिना प्रतिपादयाम्बभूव । ३ घ. "रव्य" । ४ क. ख. ग. घ. च. "ज्ञत्वप" ।

हंसयोः शबलं हित्वा पदयोः सद्वितीययोः । पूर्णोऽहमेवं जानीयाद् बोधमात्रस्वभावतः ॥ १३ ॥
श्रुतिरप्येवमेवाऽऽह परमार्थप्रकाशिनी । सत्यसंपूर्णविज्ञानसुखरूपो महेश्वरः ॥ १४ ॥

'अहं स एवेति' शब्दशक्त्या जीवस्याखण्डब्रह्मतादात्म्ये प्रतिपादिते, [1]अर्थाद् यद् ब्रह्मणः शोधिताहमर्थतादात्म्यं [2]तद्व्यतिहारेण निर्दिशति–**सोऽहमेवेति** । एतदेव तादात्म्यलक्षण[3] एव [4]वाक्यार्थोऽत्रेत्यस्य ज्ञापकम् । तथा चोक्तम्–'संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः । अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः' ॥ इति । इत्थं जीवेश्वरयोः परस्परतादात्म्येनाखण्डैकरसत्वे[5] सिद्धे जीवस्याब्रह्मात्वसद्वितीयत्वादिभ्रमोऽपसरति । ईश्वरस्य च परोक्षत्वानात्मत्वादि निवर्तते । तदप्युक्तम्–'प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः । अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥ इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् । अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥ तदर्थस्य च पारोक्ष्यम्' इति । उक्तलक्षणे च हंसमन्त्रार्थे प्रमाणाभावादसंगतिमाशङ्क्य तत्र विद्वदनुभवं प्रमाणयति-**स्वानुभूतिरिति** ॥ १२–१३ ॥ सोऽप्यनुभवो विधुरपरिभावितकामिनीसाक्षात्कारवदर्थव्यवस्थापको नेत्याशङ्क्य श्रुतिं संवादयति–**श्रुतिरपीति** । साऽप्युक्तार्थाविरुद्धमेव, 'द्वा सुपर्णे'त्यादौ प्रतिपादयतीति विशिनष्टि–**परमार्थेति** । तत्र हि पारमार्थिकं जीवब्रह्मतादात्म्यं 'समाने वृक्ष' इत्युत्तरमन्त्रेण प्रतिपादयितुमविद्याकल्पितजीवेश्वरभेदप्रतिपादनाद् 'द्वा सुपर्णे'त्यादिकमपारमार्थिकप्रकाशकम् । अतः 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिकैव श्रुतिः परमार्थप्रकाशिनी । साऽप्युक्तमर्थं प्रतिपादयतीत्यर्थः । उक्तं जीवेश्वरतादात्म्यमुपपादयितुमीश्वरस्य निरुपाधिकं रूपमाह–**सत्यसंपूर्णेति** । ननु 'अस्थूलमनण्व-ह्रस्वमदीर्घमशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादिश्रवणाच्च परशिवस्वरूपं स्थूलत्वादिसकलधर्मरहितं सत्यत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तकैः सत्यादिशब्दैः कथं प्रतिपादयितुं शक्यत इति ? उच्यते । चन्द्रस्यैकत्वेऽपि वीचीतरङ्गाद्युपाधिबहुत्वेन बहुषु चन्द्रेषु कल्पितेष्वयं चन्द्रोऽयं चन्द्र इत्यनुवृत्तिप्रत्ययबलाच्चन्द्रत्वं सामान्यं यथा कल्प्यते,[6] एवं सद्रूपस्य परशिवस्यैकत्वेऽपि स्वमायावशेन स्वस्मिन्परिकल्पितासु महदादिव्यक्तिषु सन्घटः सन्पट इत्याद्यनुवृत्तव्यवहारबलात्सत्यत्वज्ञानत्वानन्दत्वादीनि परापरसामान्यानि परिकल्प्यन्ते । अत एवोक्तमाचार्यैः–'आनन्दो विषयानुभवो[7] नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः' इति । एवं च सत्यादिशब्दाः [8]'परापरसामान्यवाचिनस्तदाश्रयमखण्डं परशिवस्वरूपं लक्षणया प्रतिपादयन्ति । अत एवोक्त[7] लौकिकान्येव[9] सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि' इति । संपूर्णशब्देन देशकालवस्तुकृतत्रिविधपरिच्छेदराहित्यरूपमानन्त्यमभिधीयते । अनेन च सामान्यव्यक्तिभेदोऽपि वस्तुकृतो निषिद्धो भवति । न च सत्यादिपदेष्वेकेनैव परशिवस्वरूपे लक्षिते तदतिरिक्तस्य प्रमेयस्याभावात्पदान्तरानर्थक्यमिति शङ्कनीयम् । असत्यत्वजडत्वदुःखरूपत्वादयो यावन्तो भ्रान्त्या परशिवस्वरूपेऽध्यस्तास्तद्व्यावृत्तिपरत्वात्सत्याद्यनेकपदोपादानस्य । तदुक्तम्–'मिथ्यात्वादि यदध्यस्तं ब्रह्मण्येतस्य बाधनम् । नानापदैर्विना नेति ब्रह्म तैरुपलक्ष्यते' ॥ इति । श्रुतिरपि सत्यज्ञानादिरूपतां परशिवस्य दर्शयति–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति ॥ १४ ॥

यहाँ प्रकरण है ॥ ९–१० ॥ महत्तत्त्व से अणुपर्यन्त सारा चराचर जगत् परमेश्वर से (या में) ही उत्पत्ति, स्थिति व लय वाला है । वही परमेश्वर मैं हूँ जो संसारीरूप से प्रतीत हो रहा हूँ । वह मैं ही हूँ यह असंदिग्ध है और इसमें विद्वानों का स्वानुभव प्रमाण है । (विरुद्धधर्मक पदार्थों की एकता धर्मत्यागपूर्वक अविरुद्धांशग्रहण से 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि स्थलों में जैसे प्रसिद्ध है वैसे प्रकृत में सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्वादि विशेषताओं का त्यागकर अविरुद्ध चेतन का ग्रहण कर एकता समझनी चाहिये ।) ॥ ११–१२ ॥ 'हम् और 'सः' इनके वाच्यार्थनिष्ठ शबल (उपाधिसंयुक्त) अंश का त्याग कर इनके परस्पर सद्वितीय अर्थात् समानाधिकरण होने के निमित्त से 'मैं पूर्ण हूँ' ऐसा अखण्ड बोध करना चाहिये । दोनों वाच्यों में ज्ञानमात्रस्वभाव एक ही है अतः उसका ग्रहण कर उक्त ज्ञान हो जायेगा ॥ १३ ॥ पारमार्थिकत्त्व का प्रकाशन करने वाली

---

१ घ. °र्थाद् ब्र° । २ ङ. °तिरेकेण । ३ घ. °दात्मिकल° । ४ ङ. क्यार्थो वाक्यवृत्तावत्रे° । ५ घ. °त्वेन वाक्यार्थे ति° । ६ तदुक्तं 'कल्पतरुकृन्द्भिः' सत्तादीनां तु जातीनां व्यक्तितादात्म्यकारणात् । लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्यत्वं न जहाति नः ॥ इति कल्पितचन्द्रभेदावलम्बनचन्द्रत्ववत् कल्पितात्मभेदादात्मत्वमपि स्वीकर्तुं शक्यमिति य आत्मेत्यादौ परबोधोऽविरुद्धः । ७ घ. °नुभावो । ८ ग. °साम्यसामा° । ९ घ.° कादेव ।

अहं चाव्यभिचारित्वात्सत्स्वभावो न संशयः । अहमव्यभिचार्येव साक्षित्वाद् व्यभिचारिणाम् ॥ १५ ॥

ज्ञातमज्ञातमप्यर्थं सदाऽहं वेद केवलः । सोऽर्थो मां न विजानाति [1]ततोऽविच्छिन्नचेतनः ॥ १६ ॥

इत्थं परशिवस्य नैजं रूपमभिधाय जीवस्यापि तादृग्रूपत्वं प्रतिपादयितुं तावत्सद्रूपतामाह—**अहं चेति** । जाग्रदादिषु व्यावर्तमानेष्वहमर्थस्य [2]चैतन्यस्यैकरूपतयाऽनुवृत्तेरव्यभिचारित्वात्सद्रूपतेत्यर्थः । असिद्धो हेतुरित्यत आह—**अहमव्यभिचार्येवेति** । व्यभिचारिणां व्यावर्तमानानां जाग्रदादिसाक्ष्याणां साक्षित्वात्स्वरूपाननुप्रवेशेन साक्षादीक्षितृत्वादहमर्थस्याव्यभिचारिता । यथैकस्यैव दीपस्य घटपटादिषु बहुषु परस्परव्यभिचारिषु प्रकाश्येषु प्रकाशकस्य तस्य भेदाभावादव्यभिचारित्वं तद्वदित्यर्थः । एतदव्यभिचारित्वं तापनीयोपनिषद्येवमाम्नातम्—'तं वा एतमात्मानं जाग्रत्यस्वप्नमसुषुप्तं[3] स्वप्नेऽजाग्रतमसुषुप्तं सुषुप्तेऽजाग्रतमस्वप्नम् । तुरीयेऽजाग्रतमस्वप्नमसुषुप्तमव्यभिचारिणम्' इति ॥ १५ ॥ इत्थमव्यभिचारित्वेनाहमर्थस्य सद्रूपत्वं निर्धार्य चिद्रूपतामुपपादयति—**ज्ञातमिति** । ज्ञायतेऽनेनेति **ज्ञातम**न्तःकरणवृत्तिः, तया चक्षुरादिसंप्रयोगवशाद्बाह्यो घटादिविषयो यदा व्याप्यते तदा साक्षिचैतन्यं ज्ञानविषयीकृतं विषयं ज्ञातत्वेन प्रकाशयति तस्मिन्नेव समयेऽतिरिक्तं सर्वमज्ञानक्रोडीकृतमज्ञातत्वेनैव प्रकाशयति । तदुक्तमाचार्यैः—'सर्वं वस्तु ज्ञाततया वाऽज्ञाततया साक्षिचैतन्यस्य विषयः' इति । तदिदमुच्यते—**ज्ञातमज्ञातमप्यर्थं सदाऽहं वेदेति** । 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतेर्ज्ञानस्य सनातनत्वम् । ननु वेदेति तिङा प्रमाश्रयः कर्ताऽभिधीयते । स च द्रव्यरूपः, ज्ञानं तस्य गुणः । अतः कुतोऽहमर्थस्य ज्ञानात्मकतेत्यत आह—**केवल** इति । अयो दहतीत्यत्र यथाग्नेरेव दग्धृत्वमेवमत्रापि[4] प्राप्ताप्राप्तविवेकेन ज्ञानस्यैव प्रकाशकत्वम् । घटज्ञानं पटज्ञानमिति भेदप्रतीतिस्तु तत्तदन्तःकरणवृत्त्युपाधिकृता । अतस्तद्विषयविशिष्टान्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षित्वेनावस्थित आत्मा केवलं[5] चिद्रूप एव । एतदेवोपपादयति—**सोऽर्थ** इति । यदि ज्ञानात्मको द्रव्यरूप आत्मा ज्ञाताज्ञातत्वाभ्यां विषयं प्रकाशयेत्तर्हि घटादिलक्षणपरागर्थोऽपि स्वप्रतियोगिभूतं प्रत्यगर्थं जानीयान्न च जानाति । तस्मादहमर्थः केवलं[6] चिदात्मक एव ॥ १६ ॥

श्रुति ने भी नाना स्थलों पर इस अभेद का तात्पर्यतः प्रतिपादन किया है । महेश्वर सत्यरूप, अपरिच्छिन्नरूप, विज्ञानरूप व सुखरूप हैं—यह उनका स्वरूप है ॥ १४ ॥ मैं भी जाग्रद् आदि अवस्थाओं में बदलने वाला न होने से (तथा कभी 'नहीं हूँ' ऐसा ज्ञात न होने से) सत्यस्वरूप हूँ । बदलने वाली सब वस्तुओं का साक्षी होने से मैं कभी बदलने वाला नहीं ॥ १५ ॥ अकेला मैं ही ज्ञात तथा अज्ञात सब विषयों को जानता हूँ । वे पदार्थ मुझे कभी नहीं जानते । अतः मैं अद्वितीय चेतन हूँ । (अज्ञान आश्रय-विषयसापेक्ष ही होता है । अज्ञातविषयों को विषय करने वाला अज्ञान मुझ में होने से वे विषय अज्ञातरूप से मेरे विषय हो गये । यही अज्ञात विषय को जानना है । इस जानने को न मानने से जिज्ञासादि की अनुपपत्ति होगी) ॥ १६ ॥ ज्ञान किसी अन्य के लिए नहीं होता है । अगर अन्य के लिए होना ज्ञान में रह

---

१ ततोऽहं छिन्न' । २ च. "पताया" । ३ क. घ. "षुप्तेऽजाग्रतमस्वप्नं सु" । ४ क. घ. "मन्यत्रापि । ५ ग. घ. ङ. च. "वलश्चिद्रू । ६ "वलंच" इति बाल पाठः ।

चितोऽन्यशेषताभावाच्चितोऽचिच्छेषता न हि । शरावादिपदार्थानां चेतनत्वप्रसक्तितः ॥ १७ ॥

चिच्छेषत्वं च नास्त्येव चितश्चिन्न हि भिद्यते । भिद्यते चेदचिच्चित्स्याच्चितोऽचित्त्वं विरुध्यते ॥ १८ ॥

तथा चिच्चेतनस्यापि न शेषत्वमवाप्नुयात् । शेषत्वे सति तत्सिद्धिस्तत्सिद्धौ शेषता चितः ॥ १९ ॥

ननु चिदाधारो द्रव्यरूपः कुत इत्यत आह—**चित** इति । अव्यभिचारिसाक्षिचैतन्यस्य व्यभिचारिसाक्ष्यशेषतानुपपत्तेरित्यर्थः । तथा हि—द्रव्यरूपस्याऽऽत्मनः शेषश्चिदिति वदन्वादी प्रष्टव्यः किमसावात्माऽचिदात्मकोऽथवा चिद्रूप आहोस्विच्चेतन[1] इति त्रेधा विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—**चितोऽचिच्छेषतेति** । न हि प्रतिज्ञामात्रेण वस्तुसिद्धिरित्यत आह—**शरावादीति** । यदीयं चिज्जडस्याऽऽत्मनः[2] शेषः स्याज्जडत्वाविशेषाच्छरावादीनामपि चिच्छेषत्वेन चेतनत्वप्रसङ्गः । तस्माज्जडस्याऽऽत्मनश्चिच्छेष इति तावन्न युक्तम् ॥ १७ ॥ नापि द्वितीय इत्याह—**चिच्छेषत्वं चेति** । अस्मिन्पक्षे चिद्रूपस्याऽऽत्मनश्चिच्छेष इत्युक्तं स्यात् । तच्च न युक्तम् । शेषशेषिभावो हि भेदसव्यपेक्षः[3] । यतोऽत्र चितः सकाशाच्चिदन्तरस्य भेदो नास्ति । औपाधिकभेदव्यतिरेकेण प्रकाशात्मतयैकत्वावगमात् । ननु चितश्चिदन्तरस्य पारमार्थिको भेदो दृश्यत एवेत्यत आह—**भिद्यते चेदिति** । यद्युपाधिसंपर्कव्यतिरेकेण चित्स्वत एव भिन्ना स्याद्घटादिवच्चितो भिन्नत्वेन तस्या अचित्त्वमापतेत्[4] । इष्टापत्तिशङ्कां वारयति—**चितोऽचित्त्वं विरुध्यत इति** ॥ १८ ॥ नापि तृतीयोऽन्योन्याश्रयप्रसक्तेरित्याह—**तथा चिच्चेतनस्यापीति** । यस्य चिच्छेषः स चेतनः । यश्चेतनस्तस्य चिच्छेष इत्यन्योन्याधीननिरूपणत्वेनैकतरस्याप्यसिद्धिरित्यर्थः । इत्थं चितोऽन्यशेषत्वानिरूपणात्स्वप्राधान्येन केवलं चिदेवाहमर्थः ॥ १९ ॥

तब तो इस समानता से घट आदि भी ज्ञानात्मक हो जायेंगे ! ॥ १७ ॥ ज्ञान ज्ञान के लिए हो यह भी संभव नहीं क्योंकि ज्ञान एक ही वस्तु है, ज्ञान से भिन्न ज्ञान कुछ है ही नहीं । यदि ज्ञान भी भिन्न-भिन्न होंगे तो अज्ञान ही हो जायेंगे । ज्ञान का ज्ञानभिन्न होना विरुद्ध ही है । ॥ १८ ॥ यह भी नहीं मान सकते कि ज्ञान अपने से भिन्न किसी चेतन के लिए है क्योंकि ज्ञान से भिन्न चेतन है नहीं । जिनके मत में दोनों का भेद है वे जिस तरह से ज्ञानभिन्न चेतन सिद्ध करते हैं वह ढंग कितना गलत है ! — जिसके लिए ज्ञान है वह चेतन है, जो चेतन है उसके लिए ज्ञान है—यह उनकी प्रक्रिया है जिसमें दोनों बातें एक दूसरे पर आधारित होने से सारी बात यथापूर्व असिद्ध ही रहती है । (ज्ञान अन्यार्थ होना ही चाहिये किंतु अन्य हो तब ज्ञान तदर्थ बने और ज्ञान की अन्यार्थता से ही अन्य सिद्ध होता है । इस प्रकार तार्किकादि की उक्तियाँ सदोष सिद्ध होती हैं) ॥ १९ ॥ अतः लोक में जो 'ज्ञान अन्य के लिए

---

१ परमतमनुसृत्य ज्ञानवानत्र चेतनो विकल्प्यते । नासौ चितो भिन्न इत्यनुपदं (श्लो. १९) वक्ष्यति । २ च. 'चिदात्म' । ३ ग. 'सत्यापे' । ४ क. 'पद्येत ।

अतोऽन्यशेषता लोके चितो भ्रान्त्या प्रतीयते । सुखस्वभाव एवाहं सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥ २० ॥
असुखस्य न हि प्रेमास्पदत्वं परिदृश्यते । नाहमन्यस्य शेषो हि शेषी सर्वस्य सर्वदा ॥ २१ ॥

ननु ज्ञातो घटः, अहं जानामीत्यादौ चितोऽन्यशेषत्वप्रतीतिः कथमित्याशङ्क्य भ्रान्तिरेवेत्याह[1]–**अतोऽन्यशेषतेति** । इत्थं जीवस्य चिद्रूपत्वमुपपाद्याऽऽनन्दरूपत्वमाह[2]–**सुखस्वभाव** इति । सदा भूतभविष्यद्वर्तमानलक्षणकालत्रयेऽपि परप्रेमास्पदत्वान्निरतिशयानन्दात्मक एवाहमर्थः । उक्तं हि–'परप्रेमास्पदतया मा न भूवमहं सदा । भूयासमिति यो द्रष्टा सोऽहमित्यवधारय' इति । परप्रेमास्पदत्वं चैवमाम्नायते 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादिना 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यन्तेन । तथा हि लोके यो यच्छेषत्वेन प्रियः स ततोऽपि प्रियतमो दृश्यते । यथा पुत्रस्य भार्यादयः पुत्रशेषतया पितुः प्रियास्तेभ्योऽपि पुत्रः पितुः प्रियतमो भवति । एवमेव पतिजायापुत्रादयो यस्याऽऽत्मनः शेषतया प्रियाः स आत्मा सर्वस्मादपि प्रियतम इति गम्यते । तथा चोक्तम्–'पुत्रवित्तादयो भावा यस्य शेषतया प्रियाः । द्रष्टा सर्वप्रियतमः सोऽहमित्यवधारय' ॥ इति । तस्मान्निरतिशयप्रेमास्पदत्वादहमर्थस्य परमानन्दरूपत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ २० ॥ हेतुरस्तु साध्यं मा भूदित्यं विपक्षे बाधकमित्याशङ्क्य हेतूच्छित्तिप्रसङ्ग एक बाधक इत्याह–**असुखस्य न हीति** । ननु सुखानात्मकस्य सुखसाधनस्य दुःखाभावस्य च प्रेमास्पदत्वं दृश्यते, कथमनेनाऽऽनन्दरूपतासिद्धिरित्यत आह–**नाहमन्यस्येति** । सुखसाधनदुःखाभावौ हि सुखशेषतया प्रियौ, अहमर्थस्त्वनन्यशेषत्वेन स्वप्रधानतया प्रेमास्पदत्वात्परानन्दरूपः किं न स्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥

है' ऐसा प्रतीत होता है वह भ्रम से ही होता है । ('मुझे ज्ञान है' आदि प्रतीति से लगता है मानो ज्ञान मेरे लिए है । यह भ्रम है । ज्ञान तो मैं ही हूँ । वृत्तिसम्बन्ध से उसे अपने से भिन्न मानकर 'वह मेरे लिए है' ऐसा समझता हूँ ।) सत्यस्वरूप व ज्ञानस्वरूप की तरह मैं सुखस्वरूप भी हूँ क्योंकि मैं सदा अपने प्रेम का विषय बना रहता हूँ ॥ २० ॥ जो चीज़ सुखरूप नहीं होती वह कभी प्रिय हो यह नहीं देखा जाता । सुखरूप न होने पर भी सुख के साधन प्रिय होते हैं पर वे सुख के लिए हैं–इस कारण से प्रिय होते हैं' ऐसे मैं तो किसी के लिए हूँ नहीं अतः वैसी प्रियता मेरी नहीं । (किंच सुखसाधन में तभी तक प्रेम होता है जब तक वे सुखसाधन बने रहें । अन्यथा 'धत्ते पौण्ड्रकशर्कराऽपि कटुतां कण्ठे चिरं चर्विता' (ईख भी लम्बे समय तक चबाने पर कड़वी लगती है) न्याय से उनमें प्रेम नहीं रहता । इससे विपरीत स्वयं से सदा प्रेम बना रहता है । अतः मैं सुखसाधन होने से नहीं स्वयं सुख होने से प्रिय हूँ ॥ २१ ॥ मैं सर्वदा सब वस्तुओं का बाह्य-आभ्यंतरभेद किये बिना साक्षी होने से पूर्ण हूँ–देशादि

---

१ क ग. घ. च. "रेवं चेत्या" । २ च. "पतामा" ।

पूर्णोऽहं सर्वसाक्षित्वात्सर्वदा परमार्थतः । अपूर्णो युगपत्सर्वं न विजानाति कश्चन ॥ २२ ॥

संसारवर्जितः साक्षात्सर्वदा परमेश्वरः । अहं संसारसाक्षित्वात्तथा [1]संसारवर्जितः ॥ २३ ॥

एवं वाक्यानुसारिण्या युक्त्याऽऽचार्यपुरःसरम् । अहं स सोऽहमेवेति विजानीयाद्विचक्षणः ॥ २४ ॥

पूर्णत्वमप्यैश्वररूपमहमर्थे योजयति–**पूर्णोऽहमिति** । **सर्वदा** भूतभविष्यद्वर्तमानेषु कालेषु सर्वासु[1] जाग्रदाद्यवस्थासु सर्वदेशे वर्तमानस्य घटपटादिपदार्थस्य **परमार्थतो** बाह्याभ्यन्तरभेदराहित्येन स्वाविद्यापरिकल्पिततया [2]साक्षादीक्षितृत्वादहमर्थः **पूर्णः** देशकालवस्तुकृतावच्छेदरहित इत्यर्थः । उक्तप्रकारं साक्षित्वं परिच्छिन्नस्य न संभवतीत्याह–**अपूर्ण** इति । युगपत्समसमयमेव सर्वं वस्तु ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन च यस्मात्साक्षिचैतन्यं गोचरयति तस्मात्सर्वगतम् । अतथाविधं चेद्युगपत्सर्वं ज्ञातुं न शक्नुयादित्यर्थः ॥ २२ ॥ एवं पूर्वोक्तं पारमेश्वरं सत्यज्ञानादिलक्षणं रूपमहमर्थे योजयित्वा संसार्यसंसारित्वलक्षणो यो भेदभ्रमस्तमपि व्युदस्यति–**संसारवर्जित** इति । विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकत्वादप्रतिहतज्ञानवैराग्यादिसंपन्नो जगत्कर्ता परमेश्वरः संसारवर्जितः । स्वमायाविजृम्भितस्य संसारस्य मिथ्यात्वावगतेः । 'असङ्गो न हि सज्जते' इत्यादिश्रुतेश्च । ननु विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकत्वाद्युक्तं परमेश्वरस्य संसारवर्जितत्वं, मलिनसत्त्वप्रधानमायाक्रान्तस्य जीवस्य कथं तद्राहित्यमित्यत आह–**अहं संसारेति** । यः साक्षी स साक्ष्याद्भिन्नो दृष्टः । यथा घटात्साक्ष्याद् घटसाक्षी । तथा संसारोऽपीतरवस्तुवत्साक्षिभास्यत्वात्साक्ष्यः तस्मात्संसारात्साक्षी विविक्त एवेत्यहमर्थोऽपि संसारवर्जित एव । यथा लोके विवदमानयोरेव जयपराजयौ । साक्षिणस्तु तटस्थतैव केवलम् । यस्तु कूटसाक्षी तयोर्मध्ये पुरुषविशेषं [3]स्वात्मतया पक्षी करोति स तदीयजयपराजयभागपि भवति । एवमेवान्तःकरणं स्वात्मतयाऽभिमन्यमानस्यैव चैतन्यस्य तदीयसंसारः, न तु तदनुपहितस्याविक्रियस्य साक्षिचैतन्यस्येत्यर्थः ॥ २३ ॥ इत्थं मन्त्रपदार्थयोर्जीवेश्वरयोः सारूप्यमुपपाद्य प्रागुक्तमेकत्वविज्ञानमुपसंहरति–**एवमिति** । वाक्यं प्रमाणत्वेन प्रागुदाहृतं तत्त्वमस्यादिकं हंसमन्त्रप्रतिपाद्यस्यार्थस्यान्यथात्वनिराकरणं युक्तेरनुसरणं नाम । उक्तं हि–'प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य तर्कोऽनुग्राहको भवेत् । पक्षे विपक्षजिज्ञासाविच्छेदस्तदनुग्रहः ॥' इति । एवं युक्तिपुरःसरमाचार्यमुखाद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं हंसमन्त्रार्थं जानीयादित्यर्थः ॥ २४ ॥

त्रिविध से परिच्छेद रहित हूँ । कोई अपूर्ण वस्तु युगपत् सब को विषय नहीं कर सकती । मैं युगपत् सबको विषय करता हूँ अतः पूर्ण हूँ । (ज्ञानासम्बद्ध देश न होने से ज्ञान व्यापक है । ज्ञानासम्बद्ध देश अप्रामाणिक होने से नृशृंगवत् है । विषय-विषयी–ज्ञेय व ज्ञान–का एक ही संबंध संभव है : अध्यस्त-अधिष्ठानभाव । अतः ज्ञेय मुझ ज्ञान में अध्यस्त है । अपने में अध्यस्त से खुद ज्ञान परिच्छिन्न क्योंकर होगा । अतः मुझ ज्ञान की पूर्णता असंदिग्ध है ।) ॥ २२ ॥ परमेश्वर जैसे सदा संसारधर्मरहित है वैसे मैं भी संसार का साक्षी होने से संसारधर्मरहित ही हूँ । साक्षी साक्ष्य से भिन्न ही होता है ॥ २३ ॥ इस प्रकार शास्त्रवचन का अनुसरण करने वाली युक्ति से व गुरु के उपदेश से 'मैं वह हूँ, वह मैं हूँ' इस प्रकार अपना ईश्वर से अभेद समझना चाहिये ॥ २४ ॥ जो इस प्रकार आत्ममंत्र से जीव-ईश्वर की वास्तविक

---

१ क. ग. घ. च. सर्वस्य । २ घ. °क्षितत्वाद्देश° । ३ ग. स्वात्मात्मतया ।

य एवमात्ममन्त्रेण जीवात्मपरमात्मनोः । पारमार्थिकमेकत्वं सुदृढं[1] परिपश्यति ।

स एव ब्रह्मविन्मुख्यो नेतरोऽज्ञानमोहितः ॥ २५ ॥

[2]एवंभूतं परिज्ञानं यस्य जातं यदा भुवि ।

तदैव[3] तस्य संसारविनाशो नास्ति संशयः ॥ २६ ॥

इत्थं श्रवणमननाभ्यामर्थं निश्चित्य कृतनिदिध्यासनः सुदृढमसंभावनाविपरीतभावनाविरहितं यथा भवति तथा जीवपरमात्मनोर्वास्तवमेकत्वमनेन मन्त्रेण यः साक्षात्करोति स एव ब्रह्मविदां श्रेष्ठः । यस्त्वितरस्तद्विलक्षणोऽहमन्यः सोऽन्य इति जानाति नासौ ब्रह्मविदपि त्वज्ञानमोहितः । उक्तं हि भगवता–'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इति । श्रुतिश्च–'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' इति ॥ २५ ॥ अथैतस्य साक्षात्कारज्ञानस्य फलमाह–एवमिति । ब्रह्मात्मैकत्वगोचरः साक्षात्कारो यदा जायते तदनन्तरक्षण एव सर्वानर्थमूलाविद्याया निवृत्तेस्तत्कार्यभूतः संसारोऽपि विदुषो निवर्तते । न तु स्वर्गादिफलवद्देशान्तरे कालान्तरे वा प्राप्तव्या मुक्तिः । यस्मात्प्रत्यगात्मनः स्वभाविकं ब्रह्मात्मत्वं तदविद्यातिरोधानवशादप्राप्तमिव स्वरूपसाक्षात्कारपर्यन्तमासीत् । तत्साक्षात्कारे च ब्रह्माकारमनोवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन तस्यामविद्यायां समूलं निवर्तितायामावरणापगमेन स्वाभाविकं ब्रह्मात्मत्वं तस्मिन्नेव क्षणे तत्रैव देशे विदुषा प्राप्यते । श्रूयते हि–'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' ॥ इति । 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' इति च ॥ २६ ॥

एकता को दृढता से जान लेता है वही ब्रह्मवेत्ताओं में मुख्य है ॥ २५ ॥ ऐसा दृढ ज्ञान जिसको जब हो जाये तभी उसका संसरण समाप्त हो जाता है, देर नहीं लगती ॥ २६ ॥ जो व्यक्ति हंसविद्या को समझे विना मुक्ति-प्राप्ति का प्रयत्न करता है वह तो शायद आकाश खाकर अपनी भूख भी मिटा लेगा ॥ २७ ॥

हंसविद्या अतिश्रेष्ठ है । इसके अभ्यासी पर यदि अभिचारादि का प्रयोग किया हो तो यह विद्या उसे निष्फल बना देती है । समस्त ऐश्वर्य की प्राप्ति और सब देवताओं की तृप्ति इससे हो जाती है ॥ २८ ॥ इसका केवल जप भी करें तो दीर्घ आयु मिलती है । आरोग्य, विजय और विद्या की प्राप्ति में तो कोई संदेह ही नहीं ॥ २९ ॥ अधिक क्या कहें, सभी कामनायें इस विद्या से पूरी हो जाती हैं । हंस-हंस

---

१ घ. सुदृढं पश्यति द्विजाः । २ घ. ङ. च. "भूतप" । ३ तत्त्वज्ञानाधिकरणक्षणस्य दृश्याधिकरणक्षणपूर्वत्वानधिकरणत्वनियमात्तदैवेति ज्ञानकाल एवेत्यर्थः । अत्राप्रामाण्यज्ञानाद्यनास्कन्दितत्वेन तत्त्वज्ञानविशेषणीयत्वादि न्यायरत्नावल्यादौ (पृ. १७५-१७७ प्र. द्वा.) द्रष्टव्यम् ।

हंसविद्यामविज्ञाय मुक्तौ यत्नं करोति यः ।
स नभोभक्षणेनैव क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति ॥ २७ ॥
हंसविद्या परा चैषा परमन्त्रप्रभेदिनी ।
सर्वैश्वर्यप्रदा सर्वदेवतातृप्तिकारिणी ॥ २८ ॥
अस्याश्च जपमात्रेण दीर्घायुष्यमवाप्नुयात् ।
आरोग्यं विजयं विद्यामवाप्नोति न संशयः ॥ २९ ॥
बहुनोक्तेन किं विद्या हंसाख्या सर्वकामदा ।
हंस हंसेति यो ब्रूयात्सर्वदा शिव एव सः ॥ ३० ॥
शिवेन विष्णुना चैव ब्रह्मणा सर्वदैवतैः । आदृता हंसविद्येयम्चिरादेव सिद्धिदा ॥ ३१ ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भके सुस्थितः सुधीः ।
नाभिकन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः ॥ ३२ ॥
मस्तकस्थामृतस्वादं[1] पीत्वा[1] ध्यानेन सादरम् ।
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे ॥ ३३ ॥

ईदृशीमजपां विद्यां जानत एव मुक्तावधिकारो नान्यस्येति दर्शयति—**हंस विद्यामिति** ॥ २७ ॥ इत्थं मुमुक्षून्प्रत्यात्ममन्त्रस्य मुक्तिसाधनत्वमभिधाय, ऐहिकफलसाधनत्वमपि दर्शयति—**हंसविद्या परेत्यादिना सर्वकामदेत्यन्तेन** । **परमन्त्रप्रभेदिनी** । अभिचारार्थं परैः शत्रुभिः प्रयुक्ता ये मारणमन्त्रास्तानपि सम्यग्भिनत्त्येषा हंसविद्या । प्राणापानात्मकत्वादस्य मन्त्रस्याऽऽयुर्वृद्धिहेतुत्वम् । **हंस हंसेति** । यस्तूक्तमर्थमनुसंधातुमशक्तः सर्वदा हंस हंसेति यो ब्रूयात्सोऽपि कालक्रमेण शिव एव भवेदित्यर्थः ॥ २८–३० ॥

ऐसा जो कहता है वह साक्षात् शिव ही है ॥ ३० ॥ शिव, विष्णु, ब्रह्मा व अन्य सभी देवता इस शीघ्रफलदायिनी हंसविद्या का आदर करते हैं ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान् को चाहिये कि रेचक और पूरक को छोड़ कुम्भक का अभ्यास करे । नाभिचक्र में प्राण-अपान का निरोध कर एकाग्र हो जाना चाहिये । ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अमृत को श्रद्धा सहित ध्यान से पीना चाहिये । (टीकोक्त प्रकार से तथाविध ध्यान करना चाहिये ।) नाभिचक्र के बीच से उठे कमल पर स्थित दीप

---

१ "तस्यन्दं पी" इति वाल" पाठः ।

अभिषिच्यामृतेनैव हंस हंसेति यो जपेत् ।

जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते ॥ ३४ ॥

एवं दिने दिने कुर्यादणिमादिविभूतये । ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाऽभ्यासपरः पुमान् ॥ ३५ ॥

अथ नित्यसाधनयोगं दर्शयति–**रेचकमित्यादि** । **नाभिकन्द** इति । नाभिमूले वर्तमानः कन्दो नाभिकन्दः । नाभिचक्रमिति यावत् । तस्य वामदक्षिणभागयोर्द्वे नाड्याविडापिङ्गलाख्ये । तयोर्मध्ये नाभिकन्दस्य मध्यादुत्थिता ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं प्रसृताऽधोवक्त्रा नाडी सुषुम्ना नाम । ततोऽधस्तान्मूलाधारादुत्थितः पवनः सुषुम्नावक्त्रस्य पिहितत्वात्पार्श्वनाडीभ्यामेव प्राणात्मना निर्गच्छति । तदाहुराचार्याः–'उभयात्मिक्यधोवृत्ता नाडी दीर्घा भवेदृजुः । अवाङ्मुखी सा तस्याश्च भवेत्पक्षद्वये द्वयम् ॥ तत्र या प्रथमा नाडी सा सुषुम्नेति कथ्यते । या वामेडेति सा प्रोक्ता दक्षिणा पिङ्गला मता ॥ देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुद्यति समीरणः । नाडीभ्यामस्तमभ्येति घ्राणतो द्विपडङ्गुले ॥' इति । एवं च रेचकपूरककुम्भकेषु प्राणायामेषु पिङ्गलेडासुषुम्नाख्या एतास्तिस्रो नाड्यः क्रमेण विनियुक्ताः । उक्तं हि–'रेचयेन्मारुतं दक्षया दक्षिणं पूरयेद्वामया मध्यनाड्या पुनः । धारयेदीरितं रेचकादित्रयं[1] स्यात्कलादन्तविद्याख्यमात्रात्मकम् ॥'[2] इति । तथा रेचकपूरकाख्यं प्राणायामद्वयं मुक्त्वा पवनाभ्यासपाटवेन सुषुम्नामुखस्याऽऽवरणमुद्घाट्य मूलाधारादुत्थितं पवनं तस्यां प्रवेश्य कुम्भकप्राणायामे सुदृढमवस्थित इडापिङ्गलाभ्यां मूर्ध्नोऽधोमुखभेदेन संचरन्तौ **प्राणापानौ** नाभिकन्दे **समौ कृत्वा** प्रवेशनिर्गमादिवैषम्यं यथा न भवति तथा तत्रैव निरोध्य **समाहित** एकाग्रचित्तः **सुधीर्ध्येय**गोचरशोभनज्ञानः सन्सुषुम्नाया ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं प्रसृतपवनप्रेरणेन द्रवीभूतद्वादशान्तस्थितचन्द्रमण्डलात्सृतं सुषुम्नान्तर्गतममृतप्रवाहमेवंगुणविशिष्टध्यानेन स्वयं सादरं पीत्वाऽमृतमयदेहः **सन्नाभिमध्यमे** नाभिकन्दस्य मध्यादुत्थिते हृत्पद्मे स्थितं[3] **ज्वलन्तं** प्रकाशयन्तं **दीपाकारं** दीपवत्स्वयंप्रकाशम् । अथ वा नाभिचक्रमध्यदेशवर्तिनो जाठराग्नेः शिखा हृदयकमलस्याग्रतो यत्सुषिरं तन्मध्ये दीपशिखावदवतिष्ठते तदवच्छिन्नत्वात्परशिवोऽपि दीपाकारः । श्रूयते हि–'तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः ॥ सोऽग्रभुग्विभजंस्तिष्ठन्नाहारमजरः कविः । संतापयति स्वं देहमापादतलमस्तकम् । तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ॥ नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा । नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ॥ तस्याः शिखाया मध्ये तु परमात्मा व्यवस्थितः' ॥ इति । एवंभूतं हंसमन्त्रप्रतिपाद्यं परशिवमुक्तरीत्या हृदम्बुजमध्येऽमृतेनाऽऽप्लाव्य यो हंसमन्त्रं जपेत्तस्याजरामरत्वं भवति । आचार्यैरप्ययं योग उक्तः–'हंसाण्डाकारमेनं स्रुतपरमसुधं मूर्धचन्द्राद्गलन्तं नीत्वा सौषुम्नमार्गं निशितमतिरथव्याप्तदेहोपगात्रम् । स्मृत्वा संजप्य मन्त्रं [4]पलितविषशिरोरुग्ज्वरोन्मादभूतापस्माराादींश्च मन्त्री हरति दुरितदौर्भाग्यदारिद्र्यदोषान्' ॥ इति ॥ ३२–३४ ॥ उक्तप्रकारेणेमं[5] योगं प्रतिदिनं युञ्जानस्याणिमादिविभूतयोऽपि न दूर[6] इत्याह–**एवमिति** । सर्वदाऽभ्यस्यत ईश्वरत्वप्राप्तिमाह–**ईश्वरेति** ॥ ३५ ॥

के आकार वाले प्रकाशित होते हुए महादेव का अमृत से ही अभिषेक कर जो हंस हंस ऐसा जप करता है उसे संसार में जरा, मरण, रोग आदि नहीं होते ॥ ३२–३४ ॥ प्रतिदिन ऐसा करने से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । सदा ऐसा अभ्यास करने से तो स्वयं ईश्वर ही बन जाता है ॥ ३५ ॥ कई

---

१ कलाः षोडश १६, द्वात्रिंशद्दन्ताः ३२, तथा विद्या रदद्वयी ६४ इति ज्ञेयम् । २ ङ, °ला हंसविद्याख्यमन्त्रात्म° । ३ ख. संस्थितं । ४ ङ. °रोन्मादभूतादिवाधाप° । ५ ग. घ. °रेण मन्त्रयो° । ६ ख. घ. च. दूरत ।

बहवोऽनेन मार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमास्तिकाः ।
हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् ॥ ३६ ॥
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम्[1] ।
तस्य दास्यं सदा कुर्याच्छ्रद्धया परया सह ॥ ३७ ॥
शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि । तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः संतोषसंयुतः ॥ ३८ ॥
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरोः शुश्रूषया नरः ।
आत्मानमात्मना साक्षाद् ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलः ॥ ३९ ॥
देहजात्यादिसंबन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥ ४० ॥
वेदाञ्शास्त्राणि चान्यानि पादपांसुमिव त्यजेत् ।
न गुरुं संत्यजेन्नित्यं जानन्नस्य कृतं नरः[2] । ४१ ॥

किं बहुनाऽनेनैव योगेन नित्यत्वं प्राप्यत इतोऽन्यन्नित्यत्वसाधनं नास्तीत्याह–**बहवोऽनेनेति** ॥ ३६ ॥ गुरुशुश्रूषार्जनितादृष्टसंहकृतैवैषा हंसविद्याफलप्रदेत्यभिप्रेत्याऽऽह–**यो ददातीति** ॥ ३७ ॥ गुरुवाक्यमपि सर्वदा न लङ्घनीयमित्याह–**शुभमिति** ॥ ३८ ॥ एवं गुरुशुश्रूषापरोऽनयैव विद्यया ब्रह्मभूयं[3] प्राप्नोतीत्याह–**हंसविद्यामिति** । आत्मानमन्तःकरणाद्युपाधिविविक्तं प्रत्यक्चैतन्यमात्मना ब्रह्मात्मैकत्वविषयेणान्तःकरणेन ॥ ३९ ॥ इत्थमनया विद्यया प्रत्यगात्मनो ब्रह्मत्वं साक्षात्कृतवतो जगत्यन्यदुपादेयं नास्तीत्याह–**देहजात्यादीति** । वर्णा [4]ब्राह्मणजात्यादयः । **जात्यादीति** जातिग्रहणेन तत्तद्देशोपाधिकावन्तरजातिर्विवक्षिता । **शास्त्राणि चान्यानीति** । अन्यशास्त्राणीत्यर्थः । इत्थं सर्वपरित्यागस्योक्तत्वात्तन्मध्यपातितत्वेन[5] गुरोस्तदुपदिष्टस्य च ज्ञानस्य त्यागप्रसक्तौ तन्निवारयति–**न गुरुमिति** ॥ ४०–४१ ॥

साधकों ने इस उपाय से नित्य मोक्ष पाया है । हंसविद्या को छोड़कर संसार में कोई साधन नहीं जो अमरता प्रदान करे ॥ ३६ ॥ जो इसका उपदेश दे उस गुरु की श्रद्धापूर्वक सनातन दासता स्वीकारनी चाहिये ॥ ३७ ॥ गुरु शुभ, अशुभ या अन्य जैसी भी आज्ञा दे, उसे विचलित हुए बिना पूरा करना चाहिये ॥ ३८ ॥

गुरुसेवा से हंसविद्या पाकर अखण्डचित्तवृत्ति से अपनी ब्रह्मता समझकर सुस्थिर हो जाता है ॥ ३९ ॥ वर्ण, आश्रम आदि समेत देह, प्रजाति आदि के सम्बन्धों को, वेद, शास्त्र तथा अन्य सभी को वैसे ही छोड़ देता है जैसे चलता हुआ व्यक्ति पूर्व-पूर्व कदम पर संबद्ध होने वाली धूल को छोड़ता चलता है । किन्तु गुरु को कभी नहीं छोड़ना चाहिये । उनके उपकार को हमेशा याद रखना चाहिये ॥ ४०–४१ ॥

---

१ घ. ङ. परमेश्वरीं । २ आचार्या अपि तत्त्वोपदेशाख्यप्रकरणे 'गुरु ब्रह्मा स्वयं साक्षात् सेव्यो वन्द्यो मुमुक्षुभिः ।''''अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाऽद्वैतं गुरुणा सह ॥ ८५–८७ ॥ इति जगदुः । ३ क. ग. च. "भूतं प्रा" । ४ ङ. व्राह्माद" । ५ ङ. "ध्यपाति" ।

गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः । गुरुरेव शिवस्तस्य नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः[1] ॥ ४२ ॥

श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेतन्नसंशयोऽन्यच्च ततः समस्तम् ।

श्रुत्याऽविरोधे च भवेत्प्रमाणं नो चेदनर्थाय न च प्रमाणम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे हंसविद्याविवरणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

सूत उवाच—षडक्षरं प्रवक्ष्यामि समासेन सुशोभनम् ।

येन संसारविच्छित्तिर्ब्रह्मेन्द्रादिविभूतयः ॥ १ ॥

ऋषिर्ब्रह्माऽस्य मन्त्रस्य गायत्रं छन्द उच्यते ।

देवताऽस्य शिवः साक्षात्सत्यज्ञानसुखाद्वयः ॥ २ ॥

मुक्तिसाधनेषु गुरुर्भक्तिरत्यन्तमन्तरङ्गमित्याह—**गुरुभक्तिमिति** । भूयसे श्रेयसे बहुतराय श्रेयसे' निःश्रेयसायेति यावत् ॥ ४२ ॥ अत्र निःश्रेयसस्वरूपे बहवो विप्रतिपद्यन्ते[2] । प्रमाणप्रमेयादि षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति नैयायिकाः । द्रव्यगुणादिषट्पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगम इति **वैशेषिकाः** । प्रकृतिपुरुषविवेकख्यातेः संसारविलय इति **सांख्याः** । एवमन्येऽपि स्वमतानुसारेणान्यथैव प्रतिपद्यन्ते, तत्कुतो ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणो मोक्षः ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**श्रुत्येति** । **श्रुत्या** वेदान्तवाक्येन [3]यद् ब्रह्मात्मैकत्वमुपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गसद्भावात्तात्पर्येण प्रतिपादितं तत्परमार्थमेव । तस्यान्यथाभावो न शङ्कनीयः । नाप्यस्मिन्नर्थे संशयः । यत एवं ततः सर्वशास्त्रं श्रुत्या सहाविरुद्धं चेत्**प्रमाणं नो** चेत्तच्छास्त्रमप्रमाणमत एवानर्थहेतुश्च भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमाधवाचार्येण विरचितायां सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे हंसविद्याविवरणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इत्थं शिवशक्त्यात्मकं मुक्तिसाधनमात्ममन्त्रमभिधाय तथाविधं षडक्षरमन्त्रं वक्तुमारभते—**षडक्षरमिति** । न केवलमेतन्मुक्तिसाधनं, ब्रह्मत्वादिपदमप्येतेनैव प्राप्यत इत्याह—**येनेति** ॥ १ ॥ अथ ऋष्याद्यानाह—**ऋषिर्ब्रह्मेति** ॥ २ ॥

बहुतेरे कल्याण की प्राप्ति के लिये सदा गुरुभक्ति करनी चाहिये । शिष्य के लिए गुरु ही शिव है, गुरु से अन्य कोई शिव नहीं—ऐसा श्रुति ने बताया है ॥ ४२ ॥ श्रुति ने जो कहा है वही निःसन्दिग्ध वास्तविक सत्य है । उससे भिन्न ग्रंथ जो कुछ कहते हैं वह श्रुति के विरुद्ध न हो तो प्रमाण और विरुद्ध होने पर अप्रमाण ही है ॥ ४३ ॥

षडक्षरविवरण नामक आठवाँ अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं उस षडक्षर मंत्र को बताता हूँ जिससे मोक्ष तथा ब्रह्मा, इन्द्र आदि पद प्राप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

---

१ भवाख्यसंसारमभवतामवन्धकतां नयतीति भवाभवकरो गुरुः स एव शिव इति 'भवाभवकरं शिवम्' (५.१४) इति श्वेताश्वतरे श्रूयते । आगमेष्वपि परतत्त्वयोजकः शिवएवाचार्यमूर्तिस्थ इत्यगादि । २ ग. घ. ङ. च "न्ते । प्रमेयप्रमाणादि" । ३ क. "द्ब्रह्मैक" ।

शक्तिर्महेश्वरी सा च भुवनेशाक्षरं भवेत् ।
बीजं मायाविशिष्टस्तु शिवः पूर्वोक्तलक्षणः ॥ ३ ॥
सोऽपि तच्छब्द एव स्यान्न्यासः पञ्चाक्षरैः क्रमात् ।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं विन्यसेदक्षरैः[1] क्रमात् ॥ ४ ॥
मस्तके च ललाटे च हृदि नाभौ पदद्वये । पुनः पञ्चाक्षरेणैव पञ्चाङ्गं विन्यसेत्क्रमात् ॥ ५ ॥
प्रणवं प्रथमं विद्याद् द्वितीयं तु नकारकम् ।
मकारं तत्परं विद्याच्छिकारं तु ततः परम् ॥ ६ ॥
वकारं पञ्चमं विद्याद्यकारं षष्ठमेव च । इत्थं षडक्षरं विद्याज्जाबालोपनिषद्गतम् ॥ ७ ॥

शक्तिर्माहेश्वरीति । अस्य मन्त्रस्यार्थरूपा शक्तिरात्ममन्त्रवत्संविद्रूपिण्याद्याशक्तिरेव । सा च प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदात्स्ववाचकशिवशब्दात्मकः सञ्छब्दात्मकबीजं भवेदित्यर्थः । इत्थं बीजशक्ती[2] संस्मृत्याङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु देहावयवेषु प्रणवसहितानि पञ्चाक्षराणि न्यसेदित्याह–**न्यासः पञ्चाक्षरैरित्यादिना** । पुनरेभिरेवाक्षरैर्नेत्रवर्जितानि पञ्चाङ्गानि हृदयादिषु न्यसेदित्याह–**पुनः पञ्चेति** ॥ ३–५ ॥ अथ स्वरूपपरिज्ञानार्थमक्षराण्यनुक्रामति–**प्रणवमिति** । न केवलमेतत्षडक्षरं मन्त्रमात्रमपि त्वौपनिषदमात्मतत्त्वं प्रतिपादयितुमौपनिषत्स्वेवाऽऽम्नातम्[3] । अतोऽस्य मन्त्रस्य प्रभावो निरवधिरित्यभिप्रेत्याऽऽह–**जाबालोपनिषद्गतमिति** । तत्र हि जाबालोपनिषद्येवमाम्नायते–'अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः शतरुद्रियेणेत्येतानि ह वा अमृतनामधेयान्येतैर्ह व अमृतो भवति' इति । शतरुद्रियनाम्नां जपस्यामृतत्वसाधनत्वमाम्नातम् । तेषु च नामसु नमः शिवाय च शिवतराय चेत्याम्नायते । वस्ततस्तु[4] बृहज्जाबालोपनिषदि प्रणवसहित एव षडक्षरो मन्त्रः पठित इति तत्त्वम् ॥ ६–७ ॥

इस मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और अपरोक्ष सच्चिदानन्द शिव देवता हैं ॥ २ ॥ 'शिव' शब्द शक्ति तथा बीज है । संविद्वाचकतया वह माहेश्वरी शक्ति का सूचक है और मायाविशिष्टवाचकतया वही बीजभूत महादेव का सूचक है । पाँच अक्षरों का अंगूठे से कनिष्ठिका तक सब अंगुलियों पर क्रमशः न्यास करना चाहिये । फिर सिर, ललाट, हृदय, नाभि और दोनों पैरों में पाँचों अक्षरों का न्यास करना चाहिये ॥ ३–५ ॥ इस मंत्र का प्रथम अक्षर ॐ है तदनन्तर क्रमशः ये वर्ण हैं न मः शि वा य । जाबालोपनिषत् के आधार पर इस मंत्र की जपनीयता निश्चित होती है ॥ ६–७ ॥ इस प्रकार अंगों सहित मंत्र बता दिया । अब मंत्र का अर्थ बताता हूँ ।

---

१ क. ख. च. "क्षरक्र" । घ. "क्षरैः क्र" । २ क. ख. "शक्तिं सं" । ३ उपनिषत्स्विति सुवचम् । ४ वस्तुतस्त्वित्यादि वाक्यं बहुषु पुस्तकेषु नास्त्यनपेक्षितं च ।

मन्त्रः साङ्गः समाख्यातो मन्त्रार्थः कथ्यतेऽधुना । सत्यज्ञानपरानन्दस्वरूपस्य शिवस्य तु ॥ ८ ॥

असंपृक्त्या शिवस्यायं शिवशब्दस्तु वाचकः । नमःशब्दो नमस्कारवाचकः परिकीर्तितः ॥ ९ ॥

प्रह्वतालक्षणः प्रोक्तो नमस्कारः पुरातनैः । प्रह्वता नाम जीवस्य शिवात्सत्यादिलक्षणात् ॥ १० ॥

भेदेन भासमानस्य मायया न स्वरूपतः । संबन्ध एव तेनैव सोऽपि तादात्म्यलक्षणः ॥ ११ ॥

नित्यसिद्धः शिवः साक्षात्स्वरूपः सर्वदेहिनाम् । तस्माद् बुभुत्सोर्जीवस्य नोपादेयं हितं सदा ॥ १२ ॥

इत्थं मन्त्रस्वरूपमभिधाय तदर्थं वक्तुं प्रस्तौति—**मन्त्रः साङ्ग** इति । तत्र मन्त्रावयवस्य शिवपदस्यार्थमाह—**सत्यज्ञाने**ति ॥ ८ ॥ ननु यथोदीरितं सत्यज्ञानादिलक्षणं परशिवस्वरूपं वाङ्मनसागोचरं 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेस्तत्कथं शिवपदेनाभिधीयत इति ? तत्राऽऽह—**असंपृक्त्ये**ति । असंपृक्त्याऽसंपर्केण तादृक्स्वरूपमस्पृष्ट्वैव शिवपदं लक्षणया प्रतिपादयतीत्यर्थः । अथ नमःपदार्थमाह—**नमःशब्द** इति ॥ ९ ॥ नमस्कारस्वरूपमाह—**प्रह्वते**ति । 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' इत्यस्मादसुनि नमःशब्दस्य निष्पत्तेरित्यर्थः । अस्य च प्रह्वीभावस्य पर्यवसानभूमिमाह—**प्रह्वता नामे**ति । न्यग्भावेन नमस्कर्तव्यप्रत्यासत्तिः प्रह्वत्वम् । तच्च मायया परशिवस्वरूपाद्भेदेन परिकल्पितस्य जीवस्य पुनस्तत्स्वरूपेण तादात्म्यलक्षणे संबन्धे विश्राम्यतीत्यर्थः ॥ १०–११ ॥ इत्थं पदद्वयस्यार्थमभिधाय वाक्यार्थमाह—**नित्यसिद्ध** इति । उक्तविधं परशिवस्वरूपमुद्दिश्याहं जीवः प्रह्वो भवामि तत्स्वरूपेणैकीभूय तदात्मनाऽखण्डैकरसो भवामीत्यर्थः । तस्मात्सर्वेषां जीवानां नित्योदितं परशिवचैतन्यमेव साक्षात्स्वरूपम् । [1]एतमेव वाक्यार्थमनुसंधानसौकर्याय प्रणवोऽभिधत्ते । जीवेश्वरतादात्म्यप्रतिपादकस्य सोऽहमिति परमात्ममन्त्रस्य सकारहकारयोर्लोपेन प्रणवोत्पत्त्यभिधानात् । तदुक्तमाचार्यैः—'सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत् । संधिं वै पूर्वरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्' इति । एवंरूपस्यार्थस्योक्तप्रायत्वात्पुनरत्र नोक्तः । उक्तमर्थं हेतूकृत्य प्रकारान्तरेण मन्त्रं व्याख्यास्यन्नमःपदावयवस्य

सत्य ज्ञान और परमानन्दरूप शिव का शक्तिवृत्ति से स्पर्श किये बिना ही 'शिव' शब्द उसका सूचक है । 'नमः' शब्द नमस्कार का वाचक बताया गया है ॥ ८–९ ॥ नमस्कार प्रह्वता को कहते हैं । सत्यादिस्वरूप शिव से जीव का तादात्म्य, अभेद, प्रह्वता है । यद्यपि जीव शिव से भिन्न प्रतीत होता है तथापि वह प्रतीति केवल मायिक है, वास्तविक भेद है नहीं ॥ १०–११ ॥ वास्तव में तो शिव सब देहधारियों का नित्यसिद्ध अपरोक्ष स्वरूप है । अथवा 'न' शब्द का अर्थ है कि जिज्ञासु जीव के लिए हमेशा ही परमार्थतः न

१ ङ एवमेव ।

न हेयमहितं[१] तद्वद्वस्तुतो न प्रतीतितः । एवं विद्यान्नकारार्थं मकारार्थ उदीर्यते ॥ १३ ॥

मकारो ममशब्दार्थो लुप्तस्त्वेको मकारकः । व्यावहारिकदृष्ट्याऽयं नमस्कारः प्रकीर्त्यते ॥ १४ ॥

तस्माच्चतुर्थीशब्दस्तु प्रोच्यते न हि वस्तुतः ।

ओंकारशब्दः सर्वार्थवाचकः परिकीर्तितः ॥ १५ ॥

प्रयोगादेव सर्वत्र सर्वार्थः शिव एव हि ।

तस्माच्छिवस्य पूर्णस्य प्रणवो वाचकः स्मृतः ॥ १६ ॥

नकारस्यार्थमाह–**तस्मादिति** । यस्मात्परमार्थतो जीवः शिवस्वरूपानतिरिक्तस्तस्मात्स्वरूपजिज्ञासो**र्जीवस्य** सर्वदा **वस्तुतः** परमार्थत **उपादेयं हितमपि** नास्ति । हातव्यम**हितमपि नास्ति** । परशिवस्वरूपातिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वाद्धेयोपादेयविभागो नास्तीति । यत एव तत् प्रतीतितो[२] न भवति प्रातीतिकस्याविद्यमानत्वात्, तस्मात्परमार्थोपाधौ हेयोपादेयौ सर्वदा न स्त इत्यर्थः । एतावता दृश्यप्रपञ्चनिषेधो नकारार्थ इत्युक्तो भवति । उपसंहरति–**एवं विद्यादिति** ॥ १२–१३ ॥ मकारार्थमाह–**मकार** इति । एकस्य मकारस्य च्छान्दसो लोपः । अतो ममेति शब्दस्य योऽर्थः स एव मकारस्याप्यर्थः । ननु नमःशब्दो नमस्कारप्रतिपादकमव्ययं तद्योगात् 'नमःस्वस्तिस्वाहा' इति शिवशब्दाच्चतुर्थी, तत्कथमुक्तोऽर्थः संगच्छ इति ? तत्राऽऽह–**व्यावहारिकेति** । **न हि वस्तुत** इति । न खलु परमार्थतो नमःशब्दस्य नमस्कारोऽर्थः । अपि तर्ह्यस्मदुक्त एवेत्यर्थः । ज्ञाताज्ञातादिसर्ववस्त्ववभासकत्वस्य प्रागेवोपपादितत्वात्प्रणवेनात्र दृश्यप्रपञ्चलक्षणः सर्वोऽर्थः प्रतिपाद्यत इत्याह–**ओंकारशब्द** इति ॥ १४–१५ ॥ कुत इत्यत आह–**प्रयोगादिति** । उक्तमेतद् 'ज्ञातार्थे ज्ञातम्'इत्यादिना[३] । इत्थं पदार्थानुक्त्वा वाक्यार्थमाह–**सर्वार्थः शिव एव हीति** । प्रणवप्रतिपादितो यः सर्वोऽर्थोऽसौ शिव एव हि यस्मादेवं **तस्मान्मम** हेयमुपादेयं वा किमपि नास्तीत्यर्थः । अयमभिप्रायः–यद्यदनुविद्धं भासते तत्तत्र परिकल्पितम् । यथा सर्पधारादयो रज्ज्वा इदमंशे तथैव सदनुविद्धं सर्वं दृश्यं भासते । तस्मात्सद्रूपे ब्रह्मणि परिकल्पितस्य च भोक्तृभोग्यात्मकस्याऽऽरोप्यस्य प्रपञ्चस्याधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेन विलये सति स्वप्रतिष्ठमद्वितीयं परशिवस्वरूपमेवावतिष्ठत इति । श्रुतिश्च 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'इदमं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिका परशिवस्य सार्वात्म्यमाह । यस्मादसौ सर्वार्थात्मकस्तस्मादेव सर्ववस्त्ववभासकः प्रणवः परिपूर्णस्य[४] वाचको जात इत्याह–**तस्मादिति** ॥ १६ ॥

कुछ ग्राह्य हित है और न त्याज्य अहित । वे प्रतीतिविषय होने से ही वास्तविक नहीं, मिथ्या हैं ॥ १२–१३ ॥ 'म' शब्द यहाँ 'मम' (मेरा) शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, एक मकार का छान्दस प्रक्रिया से लोप हो गया है । क्योंकि नकार संगत एक मकार का प्रयोग प्रणाम के अर्थ में करना शिष्ट व्यवहार

---

१ ख. "तं यद्व" । २ प्रतीतिविषयताहेतोस्तद्धेयमुपादेयं च न भवति न वर्तते यतस्तस्मादिति सम्बन्धः । ३. ४. ५. १७ इत्यर्थः । ४ क. ख. "स्य तस्य वा" ।

वाच्यवाचकभावश्च लक्ष्यलक्षणताऽपि च । अन्योन्यताऽपि नास्त्येव परमार्थनिरूपणे[1] ॥ १७ ॥

अभावादेव सर्वस्य शिवादन्यस्य सर्वदा । अस्ति नास्ति मृषा भाति न भातीत्यादि मायया ॥ १८ ॥

कल्पितं चित्सुखानन्तपरमात्मशिवात्मनि । मायातत्कार्यमप्यस्माच्छिवात्सत्यादिलक्षणात् ।

प्रत्यक्षसिद्धान्नास्त्येव परमार्थनिरूपणे ॥ १९ ॥

अथ किं बहुनोक्तेन शिवादन्यन्न विद्यते ॥ २० ॥

शिवस्वरूपमेवाऽऽहुरिदं[2] सर्वं विचक्षणाः । सर्वस्वरूपमज्ञानाद् दृश्यते न तु वस्तुतः ॥ २१ ॥

ननु तत्स्वरूपस्य च वाङ्मनसातीतत्वात्प्रणवस्य कथं तद्वाचकत्वं लक्षकत्वं च, तस्य वा कथं वाच्यत्वलक्ष्यत्वादयो धर्मा इति ? तत्राऽऽह–वाच्येति । वाच्यवाचकत्वादयो व्यवहारदृष्ट्यैव परमार्थतो न सन्तीत्यर्थः ॥ १७–१९ ॥ किं बहुना, शिवस्वरूपातिरेकेण किमपि नास्तीत्याह–अथेति । श्रूयते हि–'नेह नानाऽस्ति किंचन' इति । ननु प्रतीयमानमिदं जगत्कथमपलपितुं शक्यत इत्यत आह–शिवस्वरूपमेवेति । इत्थमद्वितीये परशिवस्वरूपे यस्य जगत आरोपादन्यत्राभाव उक्तस्तत्रापि शिवादन्यन्न विद्यत इत्यपोदितत्वात्सर्वस्य जगतो मिथ्यात्वमुक्तं भवति । तदुक्तम्–'नान्यत्र कारणात्कार्यं न चेत्तत्र क्व तद्भवेत्' इति । एवं चाविद्यावशादेव दृश्यप्रपञ्चस्यानुभवो, न परमार्थत इति ॥ २०–२१ ॥

है इसलिये यहाँ भी उसका नमस्कार अर्थ मानकर 'शिव' शब्द का व्याकरणानुकूल चतुर्थीविभक्त्यन्त प्रयोग कर दिया है किन्तु वस्तुतः यहाँ प्रणामार्थक 'नमः' शब्द विवक्षित नहीं, 'न मम' यही विवक्षित है । (मुझ सहित सभी कुछ शिव है अतः मैं व मेरा कुछ भी नहीं ।) ॥ १४½ ॥ सारा दृश्य प्रपंच ओंकार का अर्थ है क्योंकि सभी वस्तुओं के लिए इसका प्रयोग होता है । (यह पञ्चमाध्याय में बताया जा चुका है ।) समस्त वस्तुएँ शिवरूप ही हैं । अतः पूर्ण शिव का ही वाचक प्रणव है ॥ १५–१६ ॥

शब्दों की वाचकता व शिव की वाच्यता या शब्दों की लक्षकता और शिव की लक्ष्यता तथा जिनका तादात्म्य स्थापित करना है उनकी भिन्नता भी वास्तविकता की दृष्टि से नहीं हैं ॥ १७ ॥ वस्तुतः तो शिव से अन्य कुछ कभी नहीं है । 'है', 'नहीं है', 'प्रतीत होता है,' 'नहीं प्रतीत होता' इत्यादि सब ज्ञान आनन्द अनन्त परमात्मा शिव में माया से मिथ्या ही कल्पित हैं । सत्यादि स्वरूप शिव से भिन्न माया और उसका कार्य वास्तविकता की दृष्टि से है ही नहीं ॥ १८–१९ ॥ अधिक क्या कहें, शिव से अन्य कुछ नहीं है । जो कुछ विषय होता है उसे विद्वान् शिवस्वरूप ही बताते हैं । उससे भिन्न हुआ तो अज्ञान से प्रतीत होता है । वस्तुतः नहीं है ॥ २०–२१ ॥

---

१ अजात्याश्रयण इत्यर्थः । २ ख. °हुर्जगदेतद्विच° ।

एष एव हि मन्त्रार्थः सत्यं सत्यं न चान्यथा । वेदाः सर्वे पुराणानि स्मृतयो भारतं तथा ॥ २२ ॥
अन्यान्यपि च शास्त्राणि तथा तर्काश्च सर्वशः । शैवागमाश्च विविधा आगमा वैष्णवा अपि ॥ २३ ॥
अन्यागमाश्च विदुषामनुभूतिस्तथैव च । अस्मिन्नर्थे स्वसंवेद्ये पर्यवस्यन्ति नान्यथा ॥ २४ ॥

षडक्षरवाक्यार्थमुपसंहरन्नुक्तस्यार्थस्यान्यथात्वशङ्कां निवारयति–**एष एवेति** । श्रुतिस्मृतिपुराणादयोऽप्यस्मिन्नर्थे पर्यवस्यन्ति । इतोऽन्यथात्वं न शङ्कनीयमित्याह–**वेदा इत्यादिना** ।

अत्र हि प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं जीवपरमात्मनोरेकत्वं तस्य चाऽऽत्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वमद्वितीयं चेत्येतावन्मन्त्रार्थत्वेन प्रतिपादितमेतस्मिन्नर्थे तावद्वेदान्तानां तदनुसारिणां स्मृतीतिहासपुराणानां चैदंपर्यमविवादम्[१] । अन्येषामपि तैर्थिकानामीदृग्विधव्यवहारमकुर्वतां प्रायेणैतदभिमतमेव[२] । तथा हि–तत्र सांख्यपातञ्जलशैवास्तावदात्मनः सच्चिद्रूपत्वमङ्गीकुर्वते । यद्यपि व्यवहारदशायां प्रकृतिप्राकृतलक्षणप्रपञ्चस्य सत्यत्वमात्मनानात्वं[३] च व्यवहरन्ति तथाऽपि कैवल्यदशायां स्वरूपप्रकाशव्यतिरेकेण तस्य सर्वस्यानवभानं वर्णयन्ति । आत्मयाथात्म्यज्ञानलक्षणायाः प्रकृतिपुरुषविवेकख्यातेर्हि कैवल्यम् । तथाविधज्ञानोत्तरकालं प्रकृतिप्राकृतार्थात्मकं जगत्सर्वथा न भातं चेत्तदस्तित्वं कथं निश्चीयेत । ज्ञेयसिद्धेर्ज्ञानाधीनत्वात् । अत आत्मयाथात्म्यज्ञानेन निवर्तितमेव तत्तस्मात्प्रपञ्चस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेन मिथ्यात्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । ज्ञाननिवर्त्यानां शुक्तिरूप्यादीनां मिथ्यात्वदर्शनात् । किंच[४] 'कृतार्थं तं प्रति नष्टमप्यनष्टं तत्साधारणत्वात्' इति पातञ्जलं सूत्रम् । अनेन च प्रकृतिप्राकृतिकात्मकं जगन्मुक्तापेक्षया नष्टं तदितरापेक्षया विद्यमानमेवेति पुरुषविशेषापेक्षया तस्याभावसद्भावौ प्रतिपाद्येते । तच्च तन्मिथ्यात्वेऽवकल्पते[५] । पुरुषविशेषमपेक्ष्यैकस्यैव वस्तुनः सद्भावाभावयोः शुक्तिरूप्यादौ दर्शनात् । तत्र हि काचकामलादिदोषदूषितनेत्रः पुरुषः शुक्तौ रूप्यसद्भावं प्रतिपद्यते । तदितरस्तु शुक्तिस्वरूपमेव जानंस्तत्र रूप्याभावमवगच्छति । न हि पारमार्थिकं घटादि पुरुषविशेषं प्रति सद्भावासद्भावौ युगपत्प्राप्नोति । तस्मात्स्वरूपज्ञानपर्यन्तमनुवर्तमानस्य तत ऊर्ध्वमप्रतिभासमानस्य प्रपञ्चस्य वेदान्तिनामिव सांख्यादीनामप्यविशेषान्मिथ्यात्वं सिद्धम् । अथापि कस्मान्न व्यवहरन्तीति चेत् ? श्रोतुर्बुद्धिसमाधानार्थमिति ब्रूमः । स खलु प्रथमत एव सर्वं मिथ्येत्युक्ते, कथमेतद् घटत इति व्याकुलितमनस्को भवेत् । तन्मा भूदिति सत्यत्वव्यवहार एव केवलम् । आत्मनानात्वस्य जीवेश्वरभेदस्य च मुक्तावनवभातत्वेनैव प्रपञ्चवन्मिथ्यात्वं; यदि व्यवहारदशायामेक एवाऽऽत्मेत्यभिधीयते[६] तदा तत्तदुपाधिपरिकल्पनेन जीवेश्वरव्यवस्था सुखदुःखादिव्यवस्था च प्रयाससमर्थनीया स्यादित्यभिप्रायेणैव तन्नानात्ववर्णनम् । मुक्तौ तु वेदान्तिनामिव सांख्यादीनामपि केवलात्मस्वरूपप्रतिभास एव संमत इति परमार्थतोऽद्वितीयत्वमात्मनः सिद्धम् । व्यवहारमात्र औपाधिकं स्वाभाविकमिति केवलं विवादः । आनन्दरूपत्वं च पातञ्जलसूत्रभाष्यकारोदाहृतत्वाज्जैगीषव्योपाख्यानादवगम्यते । जैगीषव्यो हि परमयोगीश्वरो योगमहिम्नाऽणिमाद्यष्टैश्वर्यं प्राप्य बहून्ब्रह्मसर्गान्संस्मृत्य तत्र सर्वत्रोपरतो दिव्यज्ञानेन साक्षात्कृते स्वात्मतत्त्वे कृतप्रणिधानः परमर्षियोगैश्वर्यप्राप्तास्वणिमादिषु किं सुखमनुभूतं त्वयेति पृष्टे, न किंचिदिति प्रत्युक्तवान् । अणिमाद्या

इस मंत्र का यही अर्थ है । वेद, पुराण, स्मृतियाँ, महाभारत, अन्य शास्त्र, तर्क, शैवागम, वैष्णवागम, अन्य आगम तथा विद्वानों का अनुभव इस स्वसंवेद्य शिवरूप अर्थ में ही समाप्त होता है, अन्य कहीं नहीं ।

---

१ घ. चैदमर्थ्यम॰ । छ. चेदं तात्पर्यम" । २ यद्यपि भाष्यादौ मतान्तराणां भ्रान्तत्वमगादि, सूक्ष्मशरीरमेवात्मेति तार्किकाणां भ्रम इति मूर्तामूर्तब्राह्मणे स्पष्टमुक्तं, तथापि तत्तन्मतमपि विचार्यमाणमस्मदविरोध्येव सिद्ध्यतीति तेषामाग्रहाणां निःसारतां दर्शयितुं समन्वयमाह–तथा हीत्यादिना । ३ ङ. त्मनो ना" । ४ घ. किंत्वकृता" । ५ ङ. "थ्यात्वे क" । ६ ग. घ."धीयेत त" । ७ वाल. पाठे–"धीयत" ।

विभूतिः केवलसुखात्मिका कथमेवं वदसीति पृष्टः सन्नवोचत्–सत्यम् । सांसारिकसुखापेक्षयाऽणिमाद्यैश्वर्यमधिकसुखावहम् । कैवल्यापेक्षया तु दुःखात्मकमेवेति । एवं चात्यन्तानुकूलवेद्यत्वमात्मन उक्तं भवति । एतदेवाऽऽत्मन अनान्दरूपत्वं नाम । तथाऽप्यानन्दरूप इति न व्यवहरन्ति । सुखेष्वेवाऽऽनन्दशब्दस्य व्युत्पत्तेः ।

इत्थं नैयायिकवैशेषिकादीनामपि मते ज्ञानान्मोक्षः, मुक्तस्य [1]स्वव्यतिरिक्तानात्मलक्षणजगतोऽप्रतिपत्तिः समानैवेति तैरपि सांख्यादिवदात्माद्वितीयत्वं प्रपञ्चमिथ्यात्वं चावश्यमङ्गीकार्यम् । ब्रह्मेन्द्रादिपदादपि श्रेयस्त्वेन मुक्तेः प्रार्थ्यमानत्वादत्यन्तानुकूलवेद्यत्वं च । ननु ते नवगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्ष इति मुक्तौ ज्ञानस्याप्यभावमिच्छन्ति ? सत्यम् । आत्मस्वरूपचैतन्यस्यात्यन्तनिर्विकल्पत्वात्तेषामनवभानाभिमानः । अत एव शून्यवादिनोऽनवभानमात्मैव[2] नास्तीति प्रतिपन्नाः शास्त्रज्ञदृष्ट्या प्रातर्गजाभावज्ञाने सत्येव यथा लौकिकजनस्यादर्शनाभिमानो[3] ग्राहकविज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वात्, एवमेवाऽऽत्मस्वरूपचैतन्यस्यात्यन्तनिर्विकल्पकत्वाल्लौकिकज्ञानाभावविषयमेव मुक्तौ ज्ञानराहित्यवर्णनम् ।

शून्यवादेऽप्ययमेवाभिप्रायो योज्यः । विज्ञानवादिनस्तु क्षणिकज्ञानप्रवाह आत्मेति वर्णयन्ति । तेषां मतेऽपि सांवृतस्य विषयोपप्लवस्य विद्यया विनिवृत्तौ विशुद्धज्ञानसंतानोदयो मुक्तिः । उक्तं हि–'धीसंततिः स्फुरति निर्विषयोपरागे'ति । संतानो नाम नानाव्यक्तीनां नैरन्तर्येण वर्तनम् । तच्चानुभवदशायां सैवेयं दीपज्वालेतिवदेकत्वेनानुभूयमानत्वम् । तथा चानुभवत आत्मन ऐक्ये सिद्धे युक्त्या यत्तस्य क्षणभङ्गसमर्थनं तद् बाह्यार्थक्षणिकत्वसाधनाय यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेरनैकान्तिकत्वपरिहारेण समर्थनार्थम् । न च प्रयोजनवशाद्वस्तुनोऽन्यथात्वं शास्त्रकर्ता कथं प्रतिपादयेदिति शङ्कनीयम् । यतो भाट्टाः स्वप्रकाशविज्ञानाकार एव घटादिर्न तु बाह्य इति बाह्यार्थास्तित्वमपलपतो बौद्धान्निराकर्तुं स्वानुभवसिद्धं ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वं परित्यज्य नित्यानुमेयतामाहुः । तथा सति ह्ययं घट इत्यादिज्ञानेषु ज्ञानव्यक्तेरप्रत्यक्षत्वात् प्रत्यक्षत्वेन प्रतीयमानो घटाद्याकारो बाह्यार्थस्तस्यैवेति तेषामभिप्रायः । एवं विज्ञानवादिनोऽपि योऽहमद्राक्षं स एवेदानीं स्पृशामीति पूर्वोत्तरक्षणयोरेकत्वप्रतिसंधानेनाऽऽत्मनः स्थायित्वे स्वानुभवसिद्धे यत्क्षणभङ्गसमर्थनं तदुक्तप्रयोजनायैवेति । अस्मदुक्तार्थतात्पर्यं नैव व्याहन्यते ।

मीमांसकानां शास्त्रं तु भिन्नविषयत्वाद्यथोदीरितमात्मस्वरूपं न विरुणद्धि । तथा हि–वेदाप्रामाण्यवादिनो बौद्धान्निराकृत्य तत्प्रामाण्यं समर्थयमाना भाट्टाः प्राभाकराश्च वेदोक्तं निर्वर्त्य स्वर्गादौ तत्फलमुपभोक्तुं देहातिरिक्तः कश्चिदात्मा कर्ता भोक्ताऽस्तीति तन्नास्तित्ववादिनश्चार्वाकादीन्निराचक्रुः । कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टात्मस्वरूपप्रतिपादनस्यैव स्वशास्त्रप्रतिपाद्ययागदानाद्यौपयिकत्वात्तावन्मात्रस्वरूपमात्मनस्तैः प्रतिपादितम्, न त्वौपनिषदं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसर्वविक्रियारहितं रूपम्, तदवगमस्य स्वशास्त्रे प्रयोजनाभावात् । प्रत्युताकर्त्रात्मज्ञाने सति कर्मस्वधिकारभङ्गप्रसङ्गाच्च । तदुक्तं भगवद्भिर्भाष्यकारैः–'अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च'

(स्वयं का अपलाप कोई नहीं कर सकता अतः वही अविवादास्पद सर्वसंमत नित्य अविकारी शिव तत्त्व है । उसी को स्वीकारना चाहिये । अन्य सबके विषय में विवाद होने से उनका परित्याग कर देना चाहिये ।

---

१ च. "तोऽशरीराभावाज्ज्ञानाद्यभावात्समा" । २ अनवभानवेमेवास्ति, आत्मा नास्त्येवेति प्रतिपन्ना इति संबंधः । यद्वा अनवभानं तेन हेतुनाऽऽत्मैव नास्तीति साध्याहारं योज्यम् । ३ शास्त्रसंस्कारिणो ह्यभावस्य ज्ञानं जायते, लौकिकस्य ज्ञानस्य अभावमात्रं यथेति दृष्टान्तार्थः ।

बाध्यबाधकतां यान्ति व्यवहारे परस्परम् । समुद्र इव कल्लोला इति वेदार्थसंग्रहः ॥ २५ ॥

इति । ननु कर्त्रात्मस्वरूपप्रतिपादनं तदतिरिक्तस्वरूपास्तित्वनिषेधपरं कस्मान्न भवति । तदस्तित्वाङ्गीकारादिति ब्रूमः । तत्र तावद्भट्टाचार्याः–'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या । दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन' ॥ इति । गुरुमतानुसारिणा[2] भवनाथेनाप्युक्तमर्थवादाधिकरणे–'अथवा न वेदान्तानां चोदनैकवाक्यता । अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति शास्त्रान्तरस्थितेरि'ति । तस्मान्मीमांसकानामप्युपनिषदेकसमधिगम्यमद्वितीयब्रह्मात्मैकत्वमभिमतमेवेति तच्छास्त्रमप्यस्मदुक्तेऽर्थे पर्यवस्यति[3] । एवं शास्त्रान्तरमागमान्तरं चास्मिन्नेवार्थे योजनीयम् । किंच । सर्वेषामपि[4] वादिनामात्मानात्मविवेकबोधो मुक्तिसाधनत्वेनाभिमतः । स च बोधः सत्येव चित्तैकाग्र्य इति तत्सर्वथाऽभ्युपेयम् । तस्मिंश्च सति यथाभूतं प्रत्यगात्मस्वरूपं स्वप्रकाशत्वेनावश्यमाविर्भवतीति न तत्र यतनीयमित्याह–**अस्मिन्नर्थे स्वसंवेद्य** इति । श्रुतेः प्रबलतरप्रमाणत्वात्तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्यान्यथात्वं न संभावनीयमित्याह–**नान्यथेति** ॥ २२–२४ ॥ ननु प्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्था इति नैयायिकाः । द्रव्यगुणादयः षट्पदार्था इति वैशेषिकाः । अव्यक्तमहदहंकृतिप्रभृतीनि चतुर्विंशतिस्तत्त्वानीति सांख्याः । शिवशक्तिसदाशिवेश्वरविद्यातत्त्वप्रभृतीनि षट्त्रिंशत्तत्त्वानीति शैवाः । एवं बहुधा विप्रतिपन्नानां कथमेकस्मिन्नेवार्थे पर्यवसानमित्याशङ्क्याऽऽह–**बाध्य बाधकतामिति** । एकस्यैव दृश्यप्रञ्चस्य प्रमाणप्रमेयादिबहुविधकल्पनया व्यवहार एव वादिनां परस्परं विप्रतिपत्तिः । जगत्कारणभूते परमेश्वरस्वरूपे सा नास्तीतीममर्थं प्रत्याययितुं समुद्र इव **कल्लोला** इति दृष्टान्तोपादानम् । यथा 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति तैत्तिरीयके वियत्प्रमुखा सृष्टिरुक्ता । छान्दोग्ये तु 'तत्तेजोऽसृजत' इति तेजआदिका । 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' इति क्वचित्सृष्टौ प्राणप्राथम्यम् । एवं स्रष्टव्यविषयायां विप्रतिपत्तौ सत्यामपि स्रष्टुः परमेश्वरस्यैकरूपत्वात्तस्मिन्विप्रतिपत्तिर्नास्ति । उक्तं हि–'कारणत्वेन वाऽऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्ते' इत्यत्र 'सर्गक्रमविवादेऽपि नासौ स्रष्टरि विद्यते' इति । एवमत्रापि दृश्यप्रपञ्चव्यवहारविषये यद्यपि[4] वैमत्यमस्ति तथाऽपि तत्कारणभूते यथोदीरितस्वरूपे परशिवे विवादो नास्तीति युक्तं तत्र सर्वेषां शास्त्राणां शैवाद्यागमानां च पर्यवसानमित्यर्थः ॥ २५ ॥

उपदेशसाहस्री के पार्थिव प्रकरण में (३१–३८) इस विषय को देखना चाहिये ।) ॥ २२–२४ ॥ जैसे समुद्र की लहरें एक दूसरे को काटती हैं ऐसे शिवेतर पदार्थ व्यवहार भूमि में ही एक दूसरे के बाधक बनते रहते हैं, अतः उनकी वास्तविकता की संभावना नहीं । यही वेदार्थ का संक्षेप है ॥ २५ ॥ (सब वादी आपस में विवाद कर प्रपंच के हर स्वरूप का खण्डन कर देते हैं–नैयायिक सांख्य का, सांख्य नैयायिक

---

१ ङ. स्वसंवेद्यः पर्यवस्यति ना" । २ स्वयं प्रभाकरोप्याह 'आत्मा निष्प्रपंचं ब्रह्मैव तथापि कर्मप्रसंगिने न तथा वाच्यम्' इति । ३ न चैवं भाष्यवार्तिकादौ तत्तन्मतखण्डनवैयर्थ्यं, इहोक्तरहस्यस्य पूर्ववादिभिरस्वीकारात्, युक्तिवशात्तैः स्वीकार्यमित्यत्रैवास्य प्रसंगस्य तात्पर्यात् । ४ तदुक्तं वार्तिकामृते–'सर्ववादिविरोधेऽपि सम्वादोऽनुभवे यथा । वादिनामविसंवादस्तथाऽज्ञानेप्यसंशयः ॥ तद्बद्धाधोप्यबोधस्य बोधेनाभ्युगम्यते । एतावतैव पर्याप्तमस्मद्राद्धान्तसिद्धये ॥ '१.४.१३६५-६ ॥

मन्त्रार्थः कथितः कृत्स्नः पौरश्चर्याऽधुनोच्यते ।
आचार्यमुखतो मन्त्रं ज्ञात्वा सार्थं समाहितः ॥ २६ ॥
यथाशक्ति धनं तस्मै प्रदत्त्वा तदनुज्ञया । स्नानं त्रिषवणं कृत्वा भस्मना शाकभोजनः ॥ २७ ॥
फलमूलाशनो वाऽपि हविष्याशी यथाबलम् । पर्वताग्रे नदीतीरे सागरान्ते शिवालये ॥ २८ ॥
वने वा निर्भये शुद्धे प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
समाहितमना भूत्वा सुखमासनमास्थितः ॥ २९ ॥
प्राणायामत्रयं कृत्वा मुनिं च्छन्दस्तथैव च ।
देवतां च[1] तथा शक्तिं बीजं स्मृत्वा मनोरपि ॥ ३० ॥
करन्यासं पुनः कृत्वा तथाऽङ्गन्यासमेव च । पञ्चाङ्गमपि विन्यस्य गुरुं स्मृत्वाभिवन्द्य च ॥ ३१ ॥
हृत्पुण्डरीकमध्ये तु सोमसूर्याग्निमण्डले । विद्युल्लेखेव कल्याणं ज्वलन्तं वह्निरूपिणम् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थः कथित इत्यादि स्पष्टम् ॥ २६–३१ ॥

का इत्यादि । अतः जगत्स्वरूप व्यवहार में ही स्वयं बाधित है । शिव स्वयं होने से न विवादगोचर है और न बाध्य । जो शिवनिषेध में या आत्मनिषेध में प्रवृत्त होते भी हैं वे वस्तुतः अशिव या अनात्मा का ही निषेध कर पाते हैं । उसे शिव या आत्मा भ्रम से मान चुकने के कारण वे निषेध का विषय शिव या आत्मा है ऐसा कहते भर हैं ।)

मंत्रार्थ पूरा बता दिया । जप से पूर्व का कर्तव्य अब बताता हूँ । गुरुमुख से एकाग्रतापूर्वक मंत्रग्रहण करना चाहिये ॥ २६ ॥ गुरु को यथाशक्ति धन निवेदित करना चाहिये और उनकी अनुज्ञा से मंत्रजप प्रारम्भ करने का निश्चय करना चाहिये । प्रतिदिन तीन बार भस्म से स्नान करे और केवल शाक, फल-मूल या हविष्यान्न खावे । (सामर्थ्य हो तो शाकमात्र खाये, न सहन हो तो फल-मूल भी खावे, उतने से भी निर्विघ्न साधना न चल पाये तो हविष्यान्न का आहार करे ।) पर्वत की चोटी पर, नदी के या समुद्र के किनारे पर, शिवालय में या निर्भय वन में अथवा अन्य किसी शुद्ध स्थान पर पूर्व या उत्तर को मुँह कर एकाग्रतापूर्वक आराम से बैठ जाये । तीन बार प्राणायाम करे व ऋषि, छंद, देवता, शक्ति और बीज का स्मरण कर मंत्र का करन्यास व अंगन्यास करे । पाँचों अंगों में न्यास कर गुरु का स्मरण और उन्हें प्रणाम करना चाहिये ॥ २७–३१ ॥ हृदयकमल के बीच पीठ की कल्पना कर उस

---

१ ङ. च यथाशक्ति बी० ।

शिवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रं लक्षाणां षट् समाहितः ।
तर्पयेल्लक्षमेकं तु जुहुयात्तु सहस्रकम् ॥ ३३ ॥
आज्येन पयसा वाऽपि पलाशकुसुमेन वा ।
ततः सिध्यति मन्त्रोऽस्य भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥ ३४ ॥
अथवा साम्बमीशानं श्रीसदाशिवमेव च ।
नृत्यमानं तथा देवं ध्यात्वा मन्त्रं तु साधयेत् ॥ ३५ ॥
अथवा प्राकृतं भावं स्वीयमुत्सृज्य सर्वदा ।
शिवोऽहमिति संचिन्त्य साधयेदिदमुत्तमम् ॥ ३६ ॥
मन्त्रस्य साधनं प्रोक्तं विनियोगः प्रकीर्त्यते ।
नित्यं द्वादशसाहस्रं जपेद्भक्त्या समाहितः ॥ ३७ ॥
सम्यग्ज्ञानप्लवं लब्ध्वा संसाराब्धिं तरिष्यति ।
लक्षपञ्चाशतं जप्त्वा कारणेश्वरमाप्नुयात् ॥ ३८ ॥
लक्षाणां तु शतं जप्त्वा साक्षाद्रुद्रत्वमाप्नुयात् ।
अशीतिलक्षं जप्त्वा तु नरो विष्णुत्वमाप्नुयात् ॥ ३९ ॥

हृत्पुण्डरीकेति । हृदम्बुजमध्ये पीठं परिकल्प्य तन्मध्ये सूर्यसोमाग्निमण्डलानि यथाक्रमं [1]द्वादशषोडशदशकलात्मकान्युत्तरोत्तरमान्तरत्वेन संचिन्तनीयानीत्यर्थः । अत्र तु **सोमसूर्याग्निमण्डल** इति पाठक्रमो न विवक्षितः । अस्मदुक्तक्रमस्यैवाऽऽगमैः प्रतिपादनात् । यदाहुरागमिकाः–'दलाग्रं व्यापकं पूर्वं पूजयेत्सूर्यमण्डलम् । किञ्जल्कव्यापकं दक्षे पूजयेत्सोममण्डलम् । प्रतीच्यां कर्णिकाव्याप्तं पूजयेदग्निमण्डलम्' ॥ इति । प्रपञ्चसारेऽप्युक्तम्–'मध्येऽनन्तं पद्ममस्मिंश्च सूर्यं सोमं वह्निं तारवर्णैर्विभक्तैः' इति ॥ ३२–३५ ॥

पर सूर्य, चन्द्र व अग्नि के मण्डलों का चिंतन करे । सूर्य के भीतर चंद्रमण्डल व उसके भीतर अग्निमण्डल का विचार करना चाहिये । सबसे अंदर विद्युद् रेखा की तरह जलती वह्नि के रूप वाले कल्याणरूप शिव का ध्यान कर छह लाख जप करना चाहिये । एक लाख से तर्पण और एक हजार से आहुति देनी चाहिये । आहुति घी, दूध या पलाश के फूलों से देनी चाहिये । तब यह मंत्र सिद्ध होता है तथा भोग-मोक्ष प्रदाता बनता है ॥ ३२–३४ ॥ अथवा नृत्य करते हुए सदाशिव का ध्यान कर मंत्र को सिद्ध करना चाहिये ॥ ३५ ॥ अथवा अपने सहज परिच्छिन्न भाव को छोड़कर 'शिवोऽहम्' (मैं शिव हूँ) ऐसा सोचते हुए मंत्र की सिद्धि करे ॥ ३६ ॥

---

१ च. "षोडशकला" ।

षष्टिलक्षजपेनैव[1] लभते ब्रह्मणः पदम् । चत्वारिंशतिभिर्लक्षैर्विराडात्मानमाप्नुयात् ॥ ४० ॥

विंशल्लक्षजपेनैव दीर्घमायुरवाप्नुयात् । षट्कर्माणि प्रसिध्यन्ति दशलक्षजपेन तु ।

विनियोगः समाख्यातः पूजा देवस्य कीर्त्यते ॥ ४१ ॥

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये मन्त्रेणानेन पूजयेत् ॥ ४२ ॥

अथवा मण्डले सौरे चन्द्रमण्डलकेऽथवा । अग्नौ वा प्रतिमायां वा शिवं नित्यं प्रपूजयेत् ॥ ४३ ॥

आसनं प्रथमं दद्यादावाहनमनन्तरम् । अर्घ्यं ततः परं दद्यात्पाद्यं चैव ततः परम् ॥ ४४ ॥

पुनराचमनं दद्यात्स्नापयेत्तु ततः परम् । वासो दद्यात्पुनर्यज्ञोपवीतं भूषणानि च ॥ ४५ ॥

गन्धं पुष्पं तथा धूपं दीपमोदनमेव च । माल्यमालेपनं दद्यान्नमस्कृत्य विसर्जयेत् ।

षडक्षरेण मन्त्रेण सर्वं कुर्याद्विचक्षणः ॥ ४६ ॥

हृत्पद्मकर्णिकामध्यात्कुर्यादावाहनं बुधः ॥ ४७ ॥

उद्वासनं च तत्रैव नरः कुर्यात्समाहितः । सर्वमुक्तं समासेन नृराणां भुक्तिमुक्तये ॥ ४८ ॥

अथवा प्राकृतमिति । प्रकृतिरव्यक्तं तदुत्पन्नं प्राकृतमन्तःकरणादि तादात्म्यलक्षणं भावं परित्यज्यानवच्छिन्नस्य स्वप्रकाशचिदात्मनः शिवोऽहमित्यहंग्रहेण परशिवस्वरूपत्वं ध्यायन्मन्त्रं जपेदित्यर्थः ॥ ३६–४१ ॥ उत्तमाधिकारिणो बाह्यपूजातो मानसपूजैव श्रेयसीत्यभिप्रेत्य पूर्वं तामाह–**हृत्पद्मेति** । तत्रासमर्थस्य मध्यमाधिकारिणः शिवपूजाविधावाधारभेदमाह–**अथ वेति** । तत्राप्यसंस्कृतचित्तस्याऽऽह–**प्रतिमायां वेति** ॥ ४२–४६ ॥ ननु सर्वगतस्येश्वरस्य कथमावाहनोद्वासने संभवत इत्यत आह–**हृत्पद्मेति** । यद्यपि पारमेश्वरं स्वरूपमाकाशवत्सर्वगतं तथाऽप्यन्यत्रानभिव्यक्तं हृदम्बुजमध्ये विशेषतोऽभिव्यक्तिमद्भवति । उक्तं हि भगवता–'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि

मन्त्रसिद्धि का उपया बता दिया । अब विनियोग बताता हूँ । रोज़ भक्ति से बारह हजार जप करने से ज्ञानप्राप्ति द्वारा मोक्षलाभ हो जाता है ॥ ३७ $^1/_2$ ॥ पचास लाख जप करने से कारणेश्वरता की प्राप्ति होती है । सौ लाख जप करने से रुद्ररूपता की प्राप्ति होती है । अस्सी लाख जप करने से विराट्पद की प्राप्ति होती है । बीस लाख जप करने से दीर्घायु मिलती है । दस लाख जप करने से षट्कर्म निर्वर्तित हो जाते हैं ॥ ३८–४० $^1/_2$ ॥

विनियोग बता दिया । अब देवपूजा बताता हूँ ॥ ४१ ॥ हृदयकमल पर विराजमान महादेव की इसी मंत्र से पूजा करे ॥ ४२ ॥ अथवा सूर्य, चंद्र या अग्निमण्डल में पूजा करे । अथवा लिंगादि प्रतिमा में ही नित्य शिवपूजन करे ॥ ४३ ॥ इस क्रम से उपचार समर्पण करना चहिये–आसन, आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, चंदन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, माला, आलेपन, नमस्कार और विसर्जन । यह सब षडक्षर मंत्र से करना चाहिये ॥ ४४–४६ ॥ हृदय से ही भगवान् का आवाहन करे और वहीं के लिए उनका विसर्जन करे ॥ ४७ $^1/_2$ ॥

---

[1] ङ. °लक्षं जपन्नेव ।

तस्मात्सर्वं परित्यज्य षडक्षरपरो भवेत् । षडक्षरेण सर्वाणि सिध्यन्त्येव न संशयः ॥ ४९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे षडक्षरविवरणं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

सूत उवाच–ध्यानयज्ञमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः ।

शृणुत श्रद्धया यूयं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ १ ॥

परात्परतरं तत्त्वं ध्येयं मूर्त्यात्मनैव तु । न स्वरूपेण साक्षित्वादात्मत्वाद्विषयित्वतः ॥ २ ॥

यन्त्राङ्गानि मायया' इति । अत एवाभिव्यक्त्यननुसंधानाननुसंधाने एवाऽऽवाहनोद्वासने इत्याहुरागमिकाः– 'आवाहनमभिव्यक्तिव्यर्यक्त्यभावो विसर्जनम्' इति । शेषं सुगमम् ॥ ४७–४९ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे षडक्षरविवरणं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इत्थं वाचिकयज्ञमभिधाय ततोऽप्युत्कृष्टं मानसक्रियानिर्वर्त्यमुपासनारूपं ध्यानयज्ञं वक्तुं प्रक्रमते–**ध्यानयज्ञमिति** ॥ १ ॥ ध्येयस्वरूपापरिज्ञाने ध्यानस्य निर्विषयत्वेनानिष्पत्तेस्तत्स्वरूपं निर्धारयति–**परात्परेति** । नामरूपात्मकप्रपञ्चस्याङ्कुरावस्थो विन्दुः परस्ततः परा तदुपादानभूता माया ततोऽपि परः परतरः स्वप्रतिष्ठोऽद्वितीयः परशिवः । एतच्च वाचिकयज्ञप्रस्तावे 'परात्परतरादस्मादित्यु'पपादितम्[1] । ईदृग्विधं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं स्वप्रतिष्ठं मायातीतं यत्परशिवस्वरूपं तत्त्वं तत्स्वरूपेण ध्यातुमशक्यं ततः केनचिदुपाधिना विशेष्य तद्विशिष्टमेव **ध्येयमित्यर्थः**[2] । ननु निरुपाधिकरूपस्य स्वरूपेण कस्मान्न ध्येयतेत्यत आह–**साक्षित्वादित्यादिना** । विजातीयमनोवृत्त्यव्यवहितध्येयाकारसजातीयमनोवृत्तिप्रवाहो ध्यानम् । तथा च पातञ्जलसूत्रम्–'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इति । अतो ध्येयस्यान्तःकरणवृत्तिव्याप्यत्वमेष्टव्यं तच्चाज्ञानावृतस्य विशेषस्याऽऽवरणनिर्हरणार्थमिति निरावरणमद्वितीयं स्वप्रतिष्ठं स्वरूपप्रकाशेनान्तःकरणतद्वृत्त्यादिसर्ववस्त्ववभासकत्वात्साक्षिभूतमीदृग्विधं निरुपाधिकं परशिवस्वरूपं कथमन्तःकरणवृत्तिर्व्याप्नुयात्तद्व्याप्तौ वा सैव वृत्तिरुपाधिरिति तस्य सोपाधिकत्वं स्यात् । तस्मात्सर्वसाक्षित्वेनान्तःकरणवृत्त्यविषयत्वान्निरुपाधिकरूपस्य न ध्येयत्वम् । किंच सर्वप्रत्यक्त्वादपि ध्यानाविषयत्वमाह–**आत्मत्वादिति** । यथोदीरितनिरुपाधिकपरशिवस्वरूपं सर्वप्राणिहृदयेऽन्तःकरणादिभ्यः सर्वेभ्यः प्रत्यग्भूतं 'य आत्मा सर्वान्तरः', 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति श्रुतेः । अन्तःकरणं च स्वभावतो वहिर्मुखं 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्' इति श्रवणात् । अतः परागर्थैकविषयेणान्तःकरणेन सर्वप्रत्यग्भूतं निरुपाधिकं परशिवस्वरूपं कथं विषयीक्रियेत । तस्मादात्मत्वादपि तत्स्वरूपं न ध्यानगम्यमित्यर्थः । किंच कर्मकर्तृभावविरोधादपि न ध्येयत्वमित्याह–**विषयित्व इति** । विषयिणो ज्ञानस्य विषयत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । ध्यानविषयो हि ध्येयं तच्चात्र ध्यातृस्वरूपभूतज्ञानानतिरिक्तम् । तथाचैकस्यैव कर्मकर्तृभावलक्षणो विरोध आपद्येत । न चान्तःकरणाद्युपाधिविशिष्टस्य ध्यातृत्वं निरुपाधिकस्वरूपस्य ध्येयत्वमिति सांप्रतम् । [4]विशेष्यांशे कर्मकर्तृभावविरोधस्य तादवस्थ्यात् ॥ २ ॥

मनुष्यों के भोग व मोक्ष के लिए आवश्यक सभी कुछ संक्षेप से समझा दिया । अतः अन्य सब छोड़ कर षडक्षर साधना में तत्पर हो जाना चाहिये । षडक्षर से ही सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ४८–४९ ॥

ध्यानयज्ञ-विवरण नामक नवाँ अध्याय

सूतजी ने आगे उपदेश दिया–अब मैं भोग व मोक्ष प्रदान करने वाले ध्यानयज्ञ का विवरण करता हूँ । आप लोग श्रद्धापूर्वक सुनें ॥ १ ॥

---

१ ४.४.१ । २ 'शुद्धं हि ब्रह्म न द्रष्टव्यं, यत्तदद्रेश्यमिति श्रुतेः, किन्तूपहितमेवे'त्यद्वैतसिद्धावुक्तम् (पृ. २३९ वंबई) । तदपि शुद्धन्वास्तएव तस्य तदाप्युपहितत्वाभावादिति तत्रैव चन्द्रिकायामुपपादितम् । ज्ञानवृत्तिः शुद्धं विषयीकुरुते न वेत्यत्र विवादेऽपि ध्यानवृत्तिर्न तद्विषयीकर्तुमलमित्यत्राविवादः । यच्च ध्यानदीपादौ शुद्धस्य ध्यानं प्रत्यपीपदत्तत्तदा तस्य वस्तुतः शुद्धताभिप्रायेणेति दिक् ।

भेदाभावाच्च भेदस्य भ्रमत्वादेव वस्तुतः । उमार्धविग्रहा शुक्ला चन्द्रार्धकृतशेखरा ॥ ३ ॥

नीलग्रीवा त्रिनेत्रा च प्रसन्नवदना शुभा । वरदाभयहस्ता च विचित्रमुकुटोज्ज्वला ॥ ४ ॥

सर्वलक्षणसंपन्ना सर्वाभरणभूषिता । स्वस्वरूपानुसंधानुप्रमोदादेव केवलात् ॥ ५ ॥

महाताण्डवसंयुक्ता ब्रह्मविष्णुशिवादिभिः । ध्येयाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्ता या मूर्तिः श्रुतिदर्शिता ॥ ६ ॥

सैवासाधारणा मूर्तिः परात्परतरस्य तु ।

ये सदा परमां मूर्तिं ध्यायन्ति हृदयाम्बुजे । इमां ते परमां मुक्तिं भुक्तिं च प्राप्नुवन्ति हि ॥ ७ ॥

ननु ध्यातुर्जीवाद्ध्येय ईश्वरोऽन्य एव । तथा चोक्तदोषपरिहार इत्यत आह–**भेदाभावादिति** । 'अयमात्मा ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' इति वाक्यादैक्यप्रतिपत्तेरित्यर्थः । ननु प्रबलतरेण प्रत्यक्षेण भेदोऽनुभूयत एवेत्यत आह–**भेदस्येति** । भेदावगाहिनो ज्ञानस्य सैवेयं ज्वालेतिज्ञानवद् भ्रमत्वमुपरितनेऽध्याये प्रतिपादयिष्यते । तस्मान्निरुपाधिकं परशिवस्वरूपं मूर्त्यात्मनैव ध्येयं न तु स्वरूपेणेति सिद्धम् । तां सर्वजनसाधारणामुत्कृष्टां परशिवमूर्तिं दर्शयति–उमार्धेत्यादिना । **श्रुतिदर्शितेति** । 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्'इति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति च श्रुतिः ॥ ३–७ ॥

पर अव्यक्त की अपेक्षा परात्पर माया से भी पर जो परशिवस्वरूप है उसका किसी मूर्तिरूप से ही–उपाधिविशिष्टरूप से ही–ध्यान किया जा सकता है, उसके वास्तविक स्वरूप से नहीं । वह स्वरूप साक्षी होने से स्वसाक्ष्य चित्त का अविषय है । प्रत्यग् होने से पराग्दर्शी मन का विषय नहीं तथा सबका विषयी होने से नित्य अविषय है ॥ २ ॥ ध्याता से ध्येय–जीव से ईश्वर – भिन्न नहीं है अतः स्वविषयतापत्ति के कारण ईश्वरस्वरूप ध्येय हो नहीं सकता । जो हमें ईश्वर से अपना भेद प्रतीत होता है वह भ्रममात्र है । भेद वास्तविक नहीं है ॥ २$^{१}/_{२}$ ॥

भगवान् की श्रुत्युक्त असाधारण ध्येय मूर्ति का यह रूप है–उस मूर्ति में आधा विग्रह भगवती उमा का और आधा शिव का है । पूरा शरीर कर्पूर की तरह गौर है । मस्तक पर चन्द्रकला विराजमान है । कण्ठ में नीलिमा है । नेत्र तीन हैं । मुख प्रसन्न है । सब शुभ लक्षणों से शरीर युक्त है । हाथों से वर और अभय प्रदान किया जा रहा है । विभिन्न वर्णों के रत्नों वाले मुकुट से शरीर शोभित हो रहा है । सभी सौभाग्यचिह्न तथा अलङ्कार धारण किये गये हैं । स्वस्वरूप के अनुसन्धान के प्रमोद के कारण ही वह मूर्ति महाताण्डव कर रही है । ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सब देवता उस महादेवतनु का ध्यान करते हैं । उसका आदि-अंत दीखता नहीं क्योंकि है ही नहीं । जो सदा इस परममूर्ति का हृदयकमल में ध्यान करते हैं उन्हें सब भोग व परम मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ३–७ ॥

ज्ञानाज्ञानमहामायालक्षणाविद्यया सह । अभेदेन स्थितं विप्राः परात्परतरं पदम् ॥ ८ ॥

स्वप्रधानतयोपास्यं तथैवास्वप्रधानतः । समप्रधानरूपेणाप्यादरेण मनीषिभिः ॥ ९ ॥

स्वप्रधानतया तत्त्वमुपास्ते शुद्धमानसः । तथैवापक्वचित्तस्तु परतत्त्वं द्विजोत्तमाः ॥ १० ॥

अस्वप्रधानरूपेण तथा मर्त्यस्तु मध्यमः । समप्रधानरूपेण तत्त्वं ध्यायन्ति[1] सादरम् ॥ ११ ॥

जाड्याकारस्तु यः शक्तेस्तेनाभिन्नं परं पदम् ।
स्वप्रधानादिरूपेण त्रिधोपास्यं विचक्षणैः ॥ १२ ॥

तथा शक्तेस्तु यो ज्ञानाकारस्तेनैकतां गतम् ।
परतत्त्वं त्रिधोपास्यं परिज्ञानवतां वराः ॥ १३ ॥
मायाकारैकतापन्नमपि तत्त्वं मनीषिभिः ॥ १४ ॥

उपास्यं त्रिविधं प्रोक्तं तथैवाविद्ययैव तु ।
अभेदेन स्थितं ब्रह्म त्रिधोपास्यं मनीषिभिः ॥ १५ ॥

इत्थं करचरणादिविशिष्टमूर्त्यात्मनः परशिवरूपस्य ध्येयत्वमभिधाय मूर्तिव्यतिरिक्तैरुपाध्यन्तरैरपि विशिष्टं तद्ध्येयमित्याह–**ज्ञानाज्ञानेति** । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं मायायाः सत्त्वपरिणामरूपाऽन्तःकरणवृत्तिः । तथा तमःपरिणामरूपो जाड्याकारोऽज्ञानम् । स्वाश्रयाव्यामोहकरी दुर्घटकारिणी माया । सैव स्वाश्रयव्यामोहनसामर्थ्ययुक्ता चेदविद्या । एते चत्वारः परशिवस्वरूपस्योपाधयः । एतेष्वेकेन विशिष्टं परतत्त्वमुत्तममध्यमाधमाधिकारिभिः स्वप्रधानसमप्रधानास्वप्रधानरूपेण त्रिधोपास्यमित्याह–**स्वप्रधानतयेत्यादिना** ॥ ८–९ ॥ **स्वप्रधानतयेति** । उपधेयपरशिवस्वरूपप्राधान्येनेत्यर्थः ॥ १० ॥ **अस्वप्रधानरूपेणेति** । उपधेयपरशिवस्वरूपमुपसर्जनीकृत्य ज्ञानाज्ञानाद्युपाधिप्राधान्येनेत्यर्थः ॥ ११ ॥ तानेवोपाधीन्विभज्य दर्शयति–**जाड्याकार इत्यादिना मनीषिभिरित्यन्तेन** ॥ १२–१५ ॥

अथवा ज्ञान, अज्ञान, महामाया और अविद्या–ये चार परशिव की उपाधियाँ हैं । तत्त्वज्ञान पर्यन्त आत्मा इनसे तादात्म्यापन्न हुआ ही स्थित है । इनमें एक-एक से विशिष्ट परतत्त्व का ध्यान करना चाहिये । ध्यान में शिव की प्रधानता व उपाधि की गौणता हो सकती है, या दोनों को तुल्य प्रधान रख सकते हैं, या उपाधि को ही प्रधान कर सकते हैं । शुद्धचित्त व्यक्ति शिवप्राधान्येन उपासना कर सकता है । जिसका मन उतना शुद्ध नहीं वह दोनों की समान प्रधानता समझता है । जो साधक सर्वथा अनिर्मलचेतस्क है वह उपाधि को ही प्रधान मान लेता है । (यहाँ सात्त्विक अंतःकरणवृत्ति ज्ञान, तामस अंतःकरणवृत्ति अज्ञान, स्वाश्रय में मोह उत्पादिका शक्ति महामाया और वही शक्ति मोह उत्पन्न करने की सामर्थ्य वाली होने पर (अर्थात् मोह की कारणावस्था में) अविद्या कही गयी है ।) ॥ ८–११ ॥ (इन्हें स्वयं स्पष्ट करते हैं–) शक्ति का जो जाड्य आकार है–न जानना रूप तामस आकार है–उससे अभिन्न, अर्थात् तत्तादात्म्यापन्न, परमशिव का उक्त

---

१ ध्यायतीति वाच्ये बहुवचनं छान्दसम् ।

अन्ये च शक्तेराकारा ये विद्यन्ते विचक्षणाः ।

तैरप्येकत्वमापन्नं तत्त्वं तद्वन्मनीषिभिः ॥ १६ ॥

उपास्यं त्रिविधं नित्यमतीव श्रद्धया सह । ईक्षणोपाधिसंपन्नं परतत्त्वमपि द्विजाः ।

स्वप्रधानादिरूपेण त्रिधोपास्यमतिप्रियात् ॥ १७ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा ये ब्रह्मशक्तिजाः । तैरप्येकत्वमापन्नं परं ब्रह्म यथाक्रमम् ॥ १८ ॥

रुद्रः प्रजापतिर्विष्णुरिति भेदमुपैति च ॥ १९ ॥

ते जगन्नाशसर्गादेः कर्तारः कार्यरूपिणः ।

उपास्यास्त्रिविधा नित्यं तेऽपि स्वं स्वमुपाधिभिः ॥ २० ॥

तानेवोपाधीन्विभज्य दर्शयति—**जाड्याकार** इत्यादिना **मनीषिभि**रित्यन्तेन ॥ १२–१५ ॥ किंच ज्ञानाज्ञानादिव्यतिरिक्ता इच्छाक्रियाद्या[1] ये शक्तेराकारविशेषास्तदुपाधिकमपि परशिवस्वरूपं यथोदीरितैरधिकारिभिर्यथाक्रमं स्वप्रधानादिरूपेण त्रिधोपास्यमित्याह—**अन्ये चे**ति । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि सोपाधिकरूपेषु मति[2]नैशित्यानुसारेणाधिकारित्रैविध्यात्स्वप्रधानादिरूपेणोपाधित्रैविध्यं सर्वत्रावगन्तव्यम् । 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजै' इति 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रवणात्स्वप्रतिष्ठस्य परशिवस्य प्राणिकर्मवशात्स्रष्टव्यपर्यालोचनात्मकमीक्षणं सिसृक्षापरपर्यायं तदुपाधिकमपि तत्त्वं ध्येयमित्याह—**ईक्षणे**ति । ॥ १६–१७ ॥ सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका या परशिवस्वरूपाश्रिता माया तस्याः प्रलयदशायामत्यन्तनिर्विकल्पकत्वात्तदीयगुणा अप्यविभागापन्ना एव भवन्ति । अतएव सांख्यैरुच्यते—'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था मूलप्रकृतिः' इति । परमेश्वरस्य सिसृक्षायां जातायां तत्परतन्त्रमायाया अपि विचिकीर्षा जायते । तदवयवभूताश्च सत्त्वाद्या गुणा अन्योन्यं प्रविभक्ताः सन्तः प्रकटीभवन्ति । तैस्त्रिभिरुपाधिभिर्विशिष्टं परशिवस्वरूपं ब्रह्मविष्ण्वादिसंज्ञां लभते । अतस्तदुपाधिकमपि पूर्ववत्त्रिधोपास्यमित्याह—**सत्त्वमि**ति । किं बहुना ब्रह्मादिस्तम्बान्तं[3] चराचरात्मकं जगत्सच्चिदानन्दे परशिवस्वरूपे परिकल्पितम् । तथा हि—यदनुविद्धं यद् दृश्यते तत्तत्र परिकल्पितं यथा[4] सर्पधारादयो रज्ज्वा इदमंशे । सच्चिदनुविद्धं चेदमनुभूयते तस्मात्सच्चिदानन्दात्मके परशिवस्वरूपे परिकल्पितम् । आम्नायते च—'सद्धीदं सर्वं सत्सदिति । चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च' इति ॥ १८–२० ॥

तीन तरह से ध्यान कर सकते हैं ॥ १२ ॥ इसी प्रकार शक्ति का जो ज्ञान-आकार है—जाननारूप सात्त्विक आकार है—उससे अभिन्न शिव का उक्त तीन ढंगों से ध्यान कर सकते हैं ॥ १३ ॥ इसी तरह माया से और अविद्या से अभिन्न महादेव का त्रिविध ध्यान संभव है ॥ १४–१५ ॥ शक्ति के अन्य भी जो इच्छा आदि आकार हैं उनसे अभिन्न शिव का उक्तविधया ध्यान संभव है ॥ १६ ॥ स्वाधिकारानुरूप श्रद्धा सहित नित्य ही परमात्मध्यान करना अवश्य चाहिये । ईक्षण—स्रष्टव्य प्रपंच का विचार—भी शिव की उपाधि है । उससे अभिन्न हुए शिव का भी उक्त त्रिविध उपासन किया जा सकता है ॥ १७ ॥ ब्रह्मशक्ति माया

१ घ. "याया ये । २ ख. "नैर्मल्यानु" । ३ घ. "स्तम्वपर्यन्त" । ४ क. "यथा रज्जुसर्पाद" । ख. "था सर्पसूत्रधारा" ।

तैर्गृहीतास्तथा विप्रा मूर्तयस्त्रिप्रकारतः । चित्तपाकानुगुण्येन चिन्तनीया मनीषिभिः ॥ २१ ॥

अग्न्यादित्यादिदेवा ये निहीना[1] मध्यमाः पराः ।

ते च ब्रह्मात्मना नित्यमुपास्या एव सादरम् ॥ २२ ॥

शब्दस्पर्शादिसंज्ञा ये पदार्थाः पञ्च तेऽपि च । उपास्या ब्रह्मरूपेण महाप्राज्ञैर्मनीषिभिः ॥ २३ ॥

आकाशादीनि भूतानि यानि तानि मनीषिभिः ।

ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्यानि महात्मभिः ॥ २४ ॥

भौतिका अण्डभेदाश्च ब्रह्मरूपेण सादरम् । चिन्तनीयाश्च विद्वद्भिर्वेदवेदान्तपारगाः[2] ॥ २५ ॥

अण्डमध्ये स्थिता लोका एतेऽपि ब्रह्मवित्तमाः ।

ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्या एव सूरिभिः ॥ २६ ॥

लोकान्तर्वर्तिनो देशा एतेऽपि द्विजपुंगवाः । ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्या मुनिसत्तमैः ॥ २७ ॥

मेरुमन्दारपूर्वाश्च पर्वता विविधा द्विजाः । ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्या वेदवित्तमाः ॥ २८ ॥

नदीनदादयः सर्वे देवर्ष्यादिविनिर्मिताः । ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्या पुरुषोत्तमैः ॥ २९ ॥

वापीकूपतडागाद्या अपि वेदपरायणाः । ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्याः पुरुषाधिकैः ॥ ३० ॥

वनानि यानि लोके तु विविधानि महत्तमाः ।

तानि ब्रह्मतया नित्यमुपास्यानि तपोधनैः ॥ ३१ ॥

समुद्राश्च सदा विप्राः समुन्द्रान्तर्गता अपि ।

संगमा अपि सब्रह्म ध्यातव्या एव केवलम् ॥ ३२ ॥

एवं चाधिष्ठानभूतसच्चिदादिलक्षणब्रह्मात्मनाऽविभागापन्नं [3]ब्रह्मरुद्रादिचेतनाचेतनात्मकं सर्वं जगत्पूर्ववत्स्वप्रधानादिरूपेण त्रिधोपास्यमित्याह–**तैर्गृहीता** इत्यादिना **वाक्यवेदिभिरित्यन्तेन** ॥ २१ ॥ **अग्न्यादित्यादीति** । मनुष्यादीनामिवाग्न्यादिदेवानामप्यधिकारतारतम्याधीनाधममध्यमोत्तमभावेन त्रैविध्यमवगन्तव्यम् ॥ २२ ॥ **शब्दस्पर्शादीति** । आकाशादिभूतपञ्चकस्य कारणभूताः पञ्च तन्मात्राः शब्दस्पर्शादिनोच्यन्ते ॥ २३–४० ॥

के जो सत्त्व, रजः और तमः गुण हैं उनसे भी अभिन्न होकर परमात्मा क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु रूपों को प्राप्त होता है । इस प्रकार उद्रिक्त गुण रूप कार्योपाधि वाले वे जगत् के नाश, सर्ग व स्थिति के कारण हैं । उनका भी उनकी उपाधियों सहित मुख्य, समप्रधान या गौण भाव से ध्यान किया जा सकता है ॥ १८–२० ॥ उन तीनों ने तीन प्रकार की–पंचमुखी, चतुर्मुखी, चतुर्भुजी आदि–मूर्तियाँ ग्रहण की हैं । अपना मन जिसमें रम जाये उसी मूर्ति का ध्यान कर लेना चाहिये ॥ २१ ॥ अग्नि, आदित्य आदि हीन,

---

१ घ. विहीना । २ ग. ङ. च. "दाङ्गपा" । ३."ह्मविष्णुरु" इति क्वचित् ।

दिशश्च विदिशश्चैव दिवारात्रं तथैव च । अनागतादयः काला उपास्या ब्रह्मरूपतः ॥ ३३ ॥

अण्डजं जारजं चैव स्वेदजं चोद्भिजं तथा । ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्या मोहवर्जितैः ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा अपि च संकराः ।
ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्या एव सूरिभिः ॥ ३५ ॥

आश्रमा ब्रह्मचर्याद्यास्तदाचारा अपि द्विजाः । ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्याः परमास्तिकैः ॥ ३६ ॥

महापातकपूर्वाणि पापानि सुबहूनि च । ब्रह्मरूपतया नित्यमुपास्यानि महत्तमैः ॥ ३७ ॥

धर्मसंज्ञाश्च ये विप्रा उत्तमाधममध्यमाः । तेऽपि ब्रह्मतया नित्यमुपास्याः[1] पण्डितोत्तमैः ॥ ३८ ॥

सुखं दुःखं तयोर्भोगः साधनं तस्य सुव्रताः । ब्रह्मरूपतया सर्वमुपास्यं सत्यवादिभिः ॥ ३९ ॥

कर्ता कारयिता कर्म करणं कार्यमेव च । ब्रह्मरूपतया सर्वमुपास्यं चेतनोत्तमैः ॥ ४० ॥

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं [2]प्रमितिस्तथा । ब्रह्मरूपतया सर्वमुपास्यं मानमानिभिः ॥ ४१ ॥

विधयश्च निषेधाश्च विद्याविद्ये तथैव च । ब्रह्मरूपतया सर्वमुपास्यं [3]वेदवेदिभिः ॥ ४२ ॥

मानमानिभिरिति । मानं प्रमाणं मन्तुं निर्णेतुं शीलमेषां तैः, प्रमाणवेदिभिरित्यर्थः ॥ ४१–४२ ॥

मध्यम च श्रेष्ठ देवों का भी ब्रह्मरूप से ध्यान कर सकते हैं । (अधिकार के आधिक्य से देवताओं की श्रेष्ठता पुराणादि से समझनी चाहिये ।) ॥ २२ ॥ शब्द, स्पर्श आदि पाँचों विषयों की भी ब्रह्मरूपता से पूर्वोक्त त्रैविध्यानुसार उपासना कर सकते हैं ॥ २३ ॥ इसी प्रकार आकाश आदि महाभूतों का ध्यान किया जा सकता है ॥ २४ ॥ भौतिक ब्रह्माण्डभेदों का (आकाशगंगा को एक ब्रह्माण्ड मान सकते हैं । ऐसे अन्य भी हैं) शिवरूप से ध्यान हो सकता है ॥ २५ ॥ ब्रह्माण्ड-अन्तर्वर्ती लोकों को शिवरूप से पूर्ववत् ध्या सकते हैं ॥ २६ ॥ ऐसे ही लोकान्तर्वर्ती देशों का; मेरु मंदार आदि विविध पर्वतों का; देव ऋषि आदि द्वारा निर्मित नदियों का; नदों का; अन्य जलाशयों का; वावड़ी, कुए, तालाब आदि का; विविध वनों का; समुद्रों का; समुद्र-संगमों का, दिशाओं का; अन्तर्दिशाओं का; अहोरात्र का; भविष्यादि कालों का; अण्डज जरायुज स्वेदज व उद्भिज प्राणियों का; ब्राह्मणादि का; ब्रह्मचारी आदि का; महापाप आदि नानाविध पापों का; उत्तम मध्यम आदि धर्मों का; सुख-दुःख का; उनके भोगों का; उनके साधनों का; करने वाले का, कराने वाले का; कर्म का; उपाय का; कार्य (फल) का; प्रमाता का प्रमाण का; प्रमेय का; प्रमिति का; विधियों का; निषेधों का; विद्याओं का; अविद्याओं का (कुत्सित विद्याओं का); सफल तथा निरर्थकवादों का; किम्बहुना ! जो कुछ भी 'है' या 'नहीं है' रूप से प्रतीत होता है उस सबका उक्त त्रैविध्यानुसार ब्रह्मरूप से ध्यान

---

१ ङ. "म्याः सुमहत्त" । २ आत्मनोऽन्तःकरणावस्थाविशेषोपजनितो विशेषः प्रमातेत्यादिना पंचपादिकायामयमर्थो व्यक्तः (पृ ३६१ कल.) । सिद्धान्तविन्दौ निष्कर्षः—कर्तृभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमाता । देहविषयमध्यवृत्तिदण्डायमानान्तःकरणावच्छिन्नचिदंशः प्रमाणम् । विषयगतमज्ञातं ब्रह्मचैतन्यं प्रमेयम् । विषयगतोऽभिव्यक्तियोग्यत्वभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमितिः । ज्ञातं ब्रह्मचैतन्यं फलमिति ।(पृ. २७४ प्र.द्या.) । ३ घ"दवादि" ।

अवन्ध्याश्च तथा वन्ध्या वादाश्च विविधा अपि । ब्रह्मरूपतया सर्वमुपास्यं वाक्यवेदिभिः ॥ ४३ ॥
यद्यदस्तितया भाति यद्यन्नास्तितयाऽपि च । तत्तद् ब्रह्मतया नित्यमुपास्यं ब्रह्मवित्तमैः ॥ ४४ ॥

इत्थं सर्वत्र यः साक्षाद् ब्रह्मोपास्ते सनातनम् ।
स याति ध्यानयज्ञेन साक्षाद्विज्ञानमैश्वरम् ॥ ४५ ॥

ध्यानयज्ञस्य माहात्म्यं कल्पानां कोटिकोटिभिः ।
मया मत्तोऽधिकैरन्यैरपि वक्तुं न शक्यते ॥ ४६ ॥

ध्यानयज्ञं विना मुक्तौ यतन्ते मोहिता जनाः ।
पायसान्नं परित्यज्य भक्षयन्ति महाविषम् ॥ ४७ ॥

ध्यानयज्ञं विना किंचित्कुर्वाणो मुक्तिसिद्धये ।
अक्ष्णाऽपि शब्दं गृह्णाति विना श्रोत्रेण केवलम् ॥ ४८ ॥

अश्वमेधादयो यज्ञा अशेषा वेददर्शिताः ।
मुनीन्द्रा ध्यानयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ४९ ॥

अवन्ध्याः सफलाः । वन्ध्या निरर्थकाः ॥ ४३ ॥ इत्थं भूतभौतिकात्मकं सर्वं जगद् ब्रह्मात्मनोपास्यमित्यभिधायानुक्तसंग्रहायाऽऽह–यद्यदस्तितयेति । अस्तिप्रत्ययविषयत्वेन नास्तिप्रत्ययविषयत्वेन च यद्यद् भासते तत्सर्वं ब्रह्मात्मत्वेन ध्येयमित्यर्थः । भावाभावानात्मकस्य[1] कस्यचिदपि वस्तुनोऽसत्त्वादुक्तव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य भावाभावात्मकस्य संग्रहः ॥ ४४ ॥ सर्वात्मकत्वेनोक्तं ब्रह्मोपासनमुपसंहरंस्तत्फलमाह–इत्थमित्यादिना । आरोपितस्य सर्वस्याधिष्ठानब्रह्मरूपताध्यानेन समासादितैकाग्र्येण मनसा सर्वाधिष्ठानरूपं तत्परशिवस्वरूपं साक्षात्कुर्यादित्यर्थः ॥ ४५–४७ ॥

किया जा सकता है ॥ २७–४४ ॥ इस प्रकार जो सभी उपाधियों में शिव का ही दर्शन करता है वह इस ध्यानयज्ञ के फलस्वरूप अधिष्ठान परशिवस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है ॥ ४५ ॥ ध्यानयज्ञ का माहात्म्य मैं या मुझसे श्रेष्ठ अनुभवी महात्मा भी करोड़ों कल्पों में भी पूरा नहीं बता सकते ॥ ४६ ॥ जो ध्यानयज्ञ किये बिना मोक्षार्थ प्रयास करते हैं वे मानो खीर छोड़कर घोर विष खाते हैं ॥ ४७ ॥ जो समझता है कि ध्यानयज्ञ के बिना मोक्ष मिल जायेगा वह तो शायद कान के बिना आँख से ही शब्द भी सुन लेगा ॥ ४८ ॥ (वेदान्तों में जो ध्यानज निश्चय की निन्दा है वह इसलिये कि अज्ञाननिवृत्त्यर्थ प्रमा ही अपेक्षित है जो तत्साधनभूत उपनिषत्-श्रवण से ही उत्पन्न हो सकती है । ध्यान प्रमाण न हो से प्रमोत्पादक नहीं । किन्तु प्रमा स्वोत्पत्त्यर्थ ध्यानसंस्कृत मन की अपेक्षा रखती ही है । अत एव 'समाधान' शब्द से साधनसम्पत्ति में उसका परिगणन है । यहाँ भी उसी तात्पर्य से ध्यान की अनिवार्यता ख्यापित है । अत एव ध्यान का फल अधिष्ठान-

---

१ ग. न. "वात्मक" ।

ध्यानयज्ञपरो मर्त्यः शिव एव न चापरः । ध्यानयज्ञैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम् । ५० ॥

ध्यानयज्ञपराणां तु प्रसादं कुरुते शिवः । शिवोऽपि[1] साक्षात्सर्वज्ञः संसारविनिवर्तकः ॥ ५१ ॥

बहुनोक्तेन किं सर्वं समासेन मयोदितम् । कुरुध्वं वेदविन्मुख्या ध्यानयज्ञमशङ्किताः ॥ ५२ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ध्यानयज्ञविवरणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

यथा शब्दाद्युपलब्धौ श्रोत्रादीन्द्रियसाधारणं कारणमेवं ज्ञानयज्ञं प्रति ध्यानयज्ञोऽसाधारणकारणमित्याह–ध्यानयज्ञमिति । सुगममन्यत् ॥ ४८–५२ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ध्यानयज्ञविवरणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

साक्षात्कार–'ऐश्वरविज्ञानम्'–बताया है । ध्यान से संस्कृत बुद्धि से श्रवण द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है यह तात्पर्य है । जो तो कुछ एकदेशी निदिध्यासन से ध्यान समझकर श्रुतमयी प्रज्ञा का उससे अपरोक्षीकरण मानते हैं वह शांब्दापरोक्ष की यौक्तिकता से तथा परोक्ष के अपरोक्षीकरण के अदृष्टचर होने से ही प्रत्याख्यात हो जाता है । निदिध्यासन का अर्थ है वाक्यार्थविषयक निश्चय की स्थिरता–'निदिध्यासनं मननोपबृंहित-वाक्यार्थ-विषये स्थिरीभावः' (पंचपादिका पृ. ११७० कल.) । जैसे नवविवाहिता को 'मैं विवाहिता हूँ' ऐसा निश्चय होने पर भी प्रारम्भ में कदाचित् विस्मृति हो जाती है जिससे 'श्रीमती अमुक' सुनकर 'मुझे पुकारा जा रहा है' ऐसी प्रतीति नहीं होती किंतु शनैः शनैः अपने विवाहितत्व का निश्चय स्थिर हो जाता है वैसे ही श्रवण से निश्चय होने पर भी प्रारम्भ में वह बना नहीं रह पाता, उसे बनाये रखना ही निदिध्यासन है । यह चाहे ध्यान से हो, चाहे विचार से, जिस भी तरह हो निश्चय का स्थिरीकरण ही निदिध्यासन है जो वेदन का साधन है '.....विज्ञानेनेदँ सर्वं विदितम्' (बृ २.४.५) । अतः ध्यान की अनिवार्यता साधनसम्पत्ति में उसके ग्रहण से शास्त्रसिद्ध है।) हे मुनिश्रेष्ठो ! शास्त्रोक्त अश्वमेधादि समस्त यज्ञ ध्यानयज्ञ के सोलहवें अंश की भी महत्ता वाले नहीं हैं ॥ ४९ ॥ ध्यानयज्ञ में तत्पर मनुष्य शिव ही है, उसके लिए दुर्लभ कुछ नहीं है ॥ ५० ॥ ध्यानयज्ञ में लगे रहने वालों पर भगवान् शंकर की कृपा अवश्य होती है । संसारसमापक सर्वज्ञ स्वयं महादेव भी (जीव को मुक्त करने के लिए उससे जिस ध्यानयज्ञ की अपेक्षा रखते हैं उस यज्ञ की महत्ता का क्या कहना !) ॥ ५१ ॥

अधिक क्या कहूँ ? संक्षेप में सब बता ही दिया । आप सब निःशङ्क हो ध्यानयज्ञ कीजिये ॥ ५२ ॥

---

१ प्रसादाय यमपेक्षते तस्य ध्यानयज्ञस्य माहात्म्यं निरवधीत्यत्र किमु वाच्यमितिशेषः ।

दशमोऽध्यायः

सूत उवाच—अथेदानीं प्रवक्ष्यामि ज्ञानयज्ञस्य वैभवम् ।

ज्ञानयज्ञात्परो यज्ञो नास्ति विप्राः श्रुतौ स्मृतौ ॥ १ ॥

ज्ञानं बहुविधं प्रोक्तं वेदार्थज्ञानपारगैः ॥ २ ॥

स्वरूपमेकं विज्ञानं शिवस्य परमात्मनः । तदेव मायातत्कार्यभेदेन बहुधा भवेत् ॥ ३ ॥

इत्थं कायिकवाचिकमानसैः कर्मभिः प्रक्षीणकल्मषस्य मुमुक्षोः परशिवस्वरूपावगमाय ज्ञानयज्ञं प्रस्तौति—**अथेति** । यज्ञान्तरादस्य वैलक्षण्यमाह—**ज्ञानयज्ञादिति** । श्रुतौ तावत् 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'तमेवं विदित्वाऽपि मृत्युमेति', 'तस्यैवाऽऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन' इति ज्ञानस्यान्यनैरपेक्ष्येणैव साक्षादपवर्गसाधनत्वमाम्नातम् । स्मृतावपि—'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति ॥ 'क्षेत्रस्याऽऽत्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता' इति मनुस्मृतौ ॥ १ ॥ सृष्टेः प्राक्स्वप्रतिष्ठि मद्वितीयं परशिवस्वरूपभूतं स्वप्रकाशज्ञानं तदेव सृष्ट्युत्तरकालं मायातत्कार्योपाधिवशाज्जीवेश्वरादिभेदं भजत इत्याह—**ज्ञानं बहुविधमित्यादिना** ॥ २–३ ॥

सूत जी बोले—अब मैं ज्ञानयज्ञ का वैशिष्ट्य बताता हूँ । श्रुति-स्मृति में ज्ञानयज्ञ से श्रेष्ठ कोई यज्ञ नहीं माना है ॥ १ ॥ शास्त्र के तात्पर्य को हर तरह से समझना ज्ञानयज्ञ है । ('ज्ञानयज्ञा ज्ञानं शास्त्रार्थपरिज्ञानं येषान्ते'—ऐसा गीताभाष्य (४.२८) है । 'हर तरह' का अर्थ है श्रवणादित्रितय साधनों से । ज्ञानयज्ञ में सभी वर्ण व आश्रम वालों का अधिकार है । अतः व्यापक क्षेत्र वाला होने से अतिशय माहात्म्य वाला है । पिंगला, सुलभादि स्त्रियों का, धर्मव्याधादि शूद्रों का तथा तुलाधारादि वैश्यों का अधिकार महाभारत में वर्णित ही है । वेदानधिकारी स्वाधिकारानुसार स्मृति, पुराण, आचार्यप्रणीत प्रकरण, भाषाग्रन्थ आदि से इस यज्ञ को कर सकते हैं । वस्त्वधीन होने से प्रमाणमात्र की आवश्यकता है, आगे वह सापेक्ष हो, चाहे निरपेक्ष, कोई अन्तर नहीं पड़ता । जैसे यज्ञदत्त अपना धन घर में किसी स्थान पर गाड़ कर भूल गया । देवदत्त ने गाड़ते हुए देखा था अतः वह उसमें निरपेक्ष प्रमाण है । देवदत्त ने ब्रह्मदत्त को बता रखा है कि यज्ञदत्त ने अमुक स्थान पर धन गाड़ा है, अतः ब्रह्मदत्त सापेक्ष प्रमाण है । अब यज्ञदत्त को चाहे देवदत्त बताये चाहे ब्रह्मदत्त, धन मिलने में कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि धन तो पूर्व से ही मिला हुआ था, केवल विस्मृति हो गयी थी, स्मृति की आवश्यकता थी । इसी प्रकार चाहे श्रौतवाक्य सुनें, चाहे श्रुति समझ कर लिखा पौरुषेयादि वाक्य सुनें, क्योंकि प्रत्यक्स्वरूप नित्यसिद्ध है इसलिये ज्ञान में कोई अंतर नहीं पड़ता । होना चाहिये प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान का उपाय । वस्तु-अनुसारी ज्ञान ही प्रमा है 'यथावस्तु हि या बुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तदेव नः' यह बृहद्वार्तिक में (१.४.८९०) कहा है । ऐसे सफल और निश्चित ज्ञान की उत्पादकता ही प्रमाणरूपता है 'फलवन्निश्चितज्ञानजन्यं प्रामाण्यकारणम्' (वहीं श्लो. ९०५) । अपने प्रमेय के विषय में प्रमा का उत्पादक होना मात्र प्रमाण के लिए आवश्यक है, इससे भिन्न पौरुषेयता आदि के राहित्य आदि से उसमें क्यों वैशिष्ट्य होगा ? वार्तिक में ही कहा है 'स्वप्रमे प्रमोत्पत्त्यनुत्पत्त्येकहेतुके ।

मायाकारेण संबद्धं जडशक्तेः शिवस्य तु । ज्ञानमीश्वरसंज्ञं च नियन्तृ जगतो भवेत् ॥ ४ ॥

शक्तेरविद्याकारेण[1] संबद्धं जीवसंज्ञितम् । जीवसंज्ञं तु विज्ञानं द्विधा लोके व्यवस्थितम् ।

अर्थतो मुख्यमेकं तु ज्ञानमन्यत्प्रतीतितः ॥ ५ ॥

अविद्याबद्धविज्ञानमर्थतो मुख्यमुच्यते । स्थूलसूक्ष्मशरीराभ्यामवच्छिन्नं प्रतीतितः ॥ ६ ॥

स्वप्रचाराश्रयं चित्तं जीवरूपप्रकाशकम् । ज्ञातृत्वहेतुर्जीवस्य दुःखित्वादेश्च कारणम् ॥ ७ ॥

तत्र जगन्नियन्तुरीश्वरस्य स्वरूपमाह—**मायाकारेणेति** । शक्यप्रतियोगिकं परशिवस्वरूपमेव संविद्रूपिणी परशक्तिरित्युक्तं, ततो व्यावर्तयति—**जडशक्तेरिति** । वेदान्तिभिर्मायेति या गीयते सांख्यैरव्यक्तं प्रकृतिरिति साऽत्र परशिवस्य जडशक्तिः । सा च गुणसाम्यं विहाय रजस्तमसोरत्यन्ताभिभवेन विशुद्धसत्त्वप्रधानमायाकारेण यदा परिणमते तदा तदुपाधिकं चैतन्यं सर्वज्ञो जगत्कर्तेश्वरो भवेदित्यर्थः ॥ ४ ॥ मलिनसत्त्वप्रधानमाया स्वाश्रयव्यामोहकत्वादविद्येत्युच्यते । तदुपाधिकं तज्ज्ञानं जीवसंज्ञां लभत इत्याह—**शक्तेरविद्येति** । तस्यैव जीवसंज्ञस्य द्वैविध्यमाह—**जीवसंज्ञमिति** । तत्रैकमर्थतो **मुख्यमन्यत्प्रतीतितो** मुख्यम् ॥ ५ ॥ एतदुभयं दर्शयति—**अविद्याबद्धेति** । जीवस्योपाधिभूता मलिनसत्त्वप्रधाना या मायाऽविद्यापरपर्याया सा स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयकारणत्वेन जीवस्य कारणशरीरमित्युच्यते । तत्संबद्धं तदुपहितं स्वरूपचैतन्यं परमार्थतः स्वपरव्यवहार-हेतुः प्रकाशचिदात्मकत्वादर्थतो मुख्यम् । अविद्याकार्यभूतं यत्स्थूलसूक्ष्मात्मकं शरीरद्वयं तेनावच्छिन्नं तत्र शरीरद्वये कारणत्वेनानुगतमायावयवभूतं स्वप्रकाशचैतन्याध्यासेन तदात्मकेनैवंभूतं यदन्तःकरणं तद्वृत्त्युपादानभूतं सत्त्वं तदनुभवतश्चित्प्रकाशरूपत्वात्प्रतीतितो मुख्यम् । परमार्थतस्तु तस्य सत्त्वस्य जडत्वमेवाग्निनाऽयः पिण्डवत्स्वरूपचैतन्येनैकीभूतत्वात्तस्य ज्ञानत्वव्यपदेशः ॥ ६ ॥ एवंविधसत्त्वपरिणामरूपान्तःकरणतद्वृत्तिसंबन्धादेवाविद्योपहितजीव-चैतन्यस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलव्यवहारसंबन्ध इत्याह—**स्वप्रचाराश्रयमिति** । स्वशब्देन चित्तं परामृश्यते । स्वस्य प्रचारा विषयाकारवृत्तयस्तत्संघातात्मकमित्यर्थः । तथाविधान्तःकरणतादात्म्याध्यासेन तदीयकर्तृत्त्वभोक्तृत्वादेश्चैतन्येऽध्यासादस्य जीवप्रकाशकत्वम् । सकलः संसारोऽन्तःकरणस्यैव नाऽऽत्मनः पारमार्थिक इति श्रूयते 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति ॥ ७ ॥

प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे नान्यथा ते प्रसिद्ध्यतः ॥' (२.१.५४३) । एवं च अधिकारी श्रुतिमीमांसा करे व अनधिकारी अन्य अध्यात्मशास्त्रों की मीमांसा करें यही ज्ञानयज्ञ है । इसमें आत्मज्ञान ही ज्ञानशब्दित समझना चाहिये, कर्म या उपासना के ज्ञान का यहाँ प्रसंग नहीं है । कर्मयज्ञ व ध्यानयज्ञ के शेषरूप से उनका ज्ञान तो पूर्व से ही गतार्थ है ।) वेदार्थवेत्ताओं ने अनेक तरह का ज्ञान बताया है । परमार्थतः परमात्मा शिव का स्वरूप ही एकमात्र विज्ञान है । माया व उसके कार्यरूप उपाधियों से वही एक विज्ञान बहुत प्रकार का प्रतीत हो जाता है ॥ २–३ ॥ शिव की जडशक्ति के माया आकार से—विक्षेपाकार से—सम्बद्ध वही ज्ञान ईश्वररूप हो जाता है और जगत् का नियन्ता बनता है । माया त्रिगुणात्मिका है । जब रजः व तमः को अभिभूत कर वह माया शुद्धसत्त्वप्रधान हो जाती है तब उस उपाधि वाला चैतन्य (ज्ञान) सर्वज्ञ, जगत्कर्ता ईश्वर कहा जाता है ॥ ४ ॥ उसी शक्ति के अविद्याकार से—आवरणविक्षेपोभयाकार से अथवा मलिन सत्त्वप्रधान

---

१ मायैकदेशोऽविद्या तदुक्तं प्रकटार्थे 'तस्याएव परिच्छिन्नानिर्वाच्यानन्तप्रदेशेऽप्यज्ञानाभिधानेष्वावरणविक्षेपशक्तिमत्सु प्रतिविम्बितं तदेव चैतन्यमनन्तजीवव्यवहार स्पदम्' (पृ. ३) इति । सत्त्वप्राधान्यादिभेदेन व्यवस्था पंचदश्यादौ निपुणतरमदर्शि। मतभेदाः सिद्धान्तलेशसंग्रहे दर्शनीयाः ।

प्रमाणभ्रान्तिसंदेहाद्याकारेण मुनीश्वराः । बहुरूपं भवेच्चित्तं कालकर्मविपाकतः ॥ ८ ॥

तत्तदाकारसंभिन्नं विज्ञानं मुनिपुंगवाः । प्रमाणभ्रान्तिसंदेहाज्ञानमित्युच्यतेऽनघाः ॥ ९ ॥

अदुष्टकरणोत्पन्नं विज्ञानं मुनिपुंगवाः । प्रमाणज्ञानमित्युक्तं मुनिभिः सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १० ॥

कथमन्तःकरणस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकारणत्वमित्याशङ्क्य तदुपपादयितुं प्रमाणादिवृत्त्यात्मना नानारूपतामाह–**प्रमाणे**ति । **कालकर्मविपाकत** इति । कालो हि कर्मपरिपाकस्य हेतुः । कालवशात्सुखदुःखहेतुभूतानां पुण्यपापात्मनां प्राणिकर्मणां यः परिपाकः फलप्रदानोन्मुखत्वं तस्मादित्यर्थः ॥ ८ ॥ तत्तद्विषयाकारवैचित्र्यादेव प्रमाणादिभेदव्यपदेश इत्याह–**तत्तदि**ति । **विज्ञानमि**ति । स्वरूपचैतन्यतादात्म्याध्यासेनैकीभूतमन्तःकरणवृत्तिज्ञानमित्यर्थः ॥ ९ ॥ तत्र प्रमाणस्य[1] स्वरूपमाह–**अदुष्टे**ति । काचकामलादिदोषदूषितं चक्षुरादिकरणं शुक्तिरूप्यादिविभ्रमस्यानवधारणरूपस्य[2] संशयस्य च जनकमिति ततो व्यावर्तयति–**अदुष्टे**ति ॥ १० ॥

आकार से–संबद्ध वही ज्ञान जीव नाम प्राप्त कर लेता है । (रज आदि गुणान्तर का मन्द अभिभव प्रधानभूत भी सत्त्व का मालिन्य है ।) जीवनामक आत्मा दो प्रकार से स्थित है–एक अर्थतः मुख्य है व दूसरा प्रतीतितः मुख्य है ॥ ५ ॥ अविद्या से बँधा–अविद्योपहित अर्थात् अविद्या वाला–आत्मा अर्थतः मुख्य है । स्थूल व सूक्ष्म शरीर से अवच्छिन्न–उनमें तादात्म्यनिश्चय वाला–प्रतीतितः मुख्य है । (साक्षी अर्थतः मुख्य और प्रमाता प्रतीतितः मुख्य है । हमें जीव का–अपना–अनुभव अधिकांश प्रमातृरूप से ही होता है जबकि प्रमाता है आत्माभास अतः वह वस्तुतः मुख्य आत्मशब्दार्थ नहीं फिर भी प्रतीति से वही प्रधान है । साक्षी तो चिद्रूप है, चिदाभास नहीं, अतः वही वस्तुतः मुख्य आत्मशब्दार्थ है । याद रखना चाहिये कि साक्षी व प्रमाता कोई पदार्थान्तर नहीं हैं, वही विज्ञान तत्तद् उपाधि से तत्तद्रूप प्रतीत होता है ।) विषयाकार वृत्तियों का संघातरूप चित्त ही जीवरूपता की अभिव्यक्ति में कारण है । जीव में–आत्मा में–ज्ञातृता, दुःखिता आदि का यह चित्त ही स्वतादात्म्याध्यास द्वारा कारण है ॥ ७ ॥ कालप्रेरित कर्मविपाक के अनुसार चित्त ही प्रमाण (प्रमा), भ्रम, सन्देह आदि विविध आकार ग्रहण करता है ॥ ८ ॥ उस उस चित्ताकार से अविविक्त आत्मविज्ञान प्रमाणज्ञान, भ्रान्तिज्ञान, सन्देहज्ञान आदि कहा जाता है । (वस्तुतः प्रमा आदि चित्तांश हैं, उनसे आत्मा में कोई अंतर नहीं; किन्तु दोनों को–चित्त व आत्मा को–एकमेक कर जानने से हमें ज्ञान में ही अंतर प्रतीत होता है ।) ॥ ९ ॥

निर्दुष्ट साधनों से उत्पन्न ज्ञान प्रमाणज्ञान कहा जाता है । ('सर्वप्रमाणानामनधिगतार्थगन्तृत्वात्' इस विवरण वाक्य के (वर्णक ८ पृ. १०१४ कल.) अनुसार अज्ञातार्थ-विषयक निश्चय ही प्रमा है । भ्रमविषय अज्ञात न होने से भ्रमनिश्चय प्रमा नहीं है । अत एव स्मृति भी प्रमा नहीं है । किं च ज्ञान ही प्रमा हो सकता है और ज्ञान वही होता है जो अज्ञाननिवर्तक हो जैसा कि अद्वैतसिद्धि में कहा है 'ज्ञानत्वस्य अज्ञाननिवर्तकमात्रवृत्तित्वात्' (पृ. ६५४ बम्बई) । अतः स्मृति व भ्रम ज्ञान ही नहीं तो प्रमा होने की सम्भावना ही कहाँ ? पूर्वोक्त नियमवशात् वेदान्त में चैतन्य ही प्रमा है क्योंकि वह अज्ञाननिवर्तक है । चित्तवृत्ति तो उसका साधन होने से प्रमाण है । अतएव न्यायरत्नावली में (पृ. २६८ प्र. द्वा.) ज्ञान का यह स्वरूप बताया है 'ज्ञानत्वं तु असत्त्वापादकत्वरूपजातिविशेषाश्रयाऽज्ञानविषयत्वाऽभावप्रयोजक-विशिष्टचित्त्वम्' । प्रयोजक वृत्ति को माना जा सकता है । यद्यपि प्रमाण भी चेतन ही है व प्रमा भी, तथापि विशेषण या उपाधि के भेद से अंतर है ।

---

१ प्रमितेरित्यर्थः । २ ग. घ. °स्य च सं° ।

दुष्टकारणविज्ञानं भ्रान्तिज्ञानं प्रचक्षते । कोटिद्वयावलम्बि स्यात्संदेहज्ञानमास्तिकाः ॥ ११ ॥
इत्थमेवेदमित्येवंरूपं यत्स्फुरणं बुधाः । स एव निश्चयः प्रोक्तः सम्यग्दर्शनतत्परैः ॥ १२ ॥

भ्रान्तेर्लक्षणमाह–दुष्टेति । दुष्टकारणवशादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिरित्यर्थः । संशयं लक्षयति–कोटिद्वयेति । स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विरुद्धानेककोटिद्वयावलम्बि ज्ञानं संशय इत्यर्थः ॥ ११ ॥ प्रमाणफलभूतस्य निश्चयस्य स्वरूपमाह–इत्थमिति । प्रमाणवृत्त्या व्याप्तस्य विषयस्य स्वाधिष्ठानचैतन्येन वा स्वस्वानुकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन वा यत् स्फुरणं तद् निश्चय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

यह भी रत्नावलीकारने बताया है 'विषयसंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नरूपेण प्रमात्वम् । विषयशरीराभ्यामसंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नरूपेण प्रमाणत्वम्' (पृ. २७५ प्र.द्वा.) । एवं च सिद्धान्तबिन्दु में चिदंशों को ही जो प्रमाता आदि कहा है वह संगत है पुराणोक्तलक्षण आराम से समझा जा सकता है किन्तु अनुगत दोष का निरूपण न किया जा सकने से इसे तार्किक समाज समझने में अक्षम है ।) ॥ १० ॥ सदोष साधनों से उत्पन्न हुआ ज्ञान भ्रान्तिज्ञान कहा जाता है । (बाध्याकार-अविद्यावृत्ति-प्रतिविम्बित चेतन भ्रमज्ञान है । न्यायरत्नावली की उक्ति है 'प्रातिभासिकरजताद्यवच्छेदेन रजताकारायामविद्यावृत्तौ प्रतिबिम्बिते प्रतिविम्बाश्रयवृत्त्यवच्छेदकत्वेन सम्बन्धेन प्रातिभासिके सम्बन्धत्वाज्जीवस्य...रजतादिभानम्' (पृ. २८१ प्र. द्वा.) । पूर्ववत् तादृश अविद्यावृत्ति को भी भ्रमज्ञान कह सकते हैं । किन्तु क्योंकि अविद्यावृत्ति अज्ञाननाशिका या अज्ञाननाशप्रयोजिका नहीं होती इसलिए उसका ज्ञानत्व गौण ही है । सिद्धिवाक्य है 'अविद्यावृत्तौ यत्र ज्ञानपदप्रयोगस्तत्रौपचारिक एव' (पृ. ६५४ बंबई) । इच्छाजनक वृत्तिमात्र ज्ञान कह दिया जाता है अतः रजतादि ग्रहण की इच्छा का जनक रजतानुभव भी ज्ञान कहा जाये तो आपत्ति नहीं । पुराणोक्त लक्षण सरल है । किन्तु अनुगत दोष या दोषों की इयंत्ता बतायी न जा सकने से तथा मूल भ्रम में दोष-सहितता न होने से विचारकों ने अन्य प्रकार से लक्षण बनाने का प्रयास किया है । निरुक्त लक्षण में अविद्यापद स्पष्टीकरणार्थ है । बाध्याकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचेतन–इतना ही पर्याप्त है । व्यावहारिक स्थल में वह वृत्ति मन की तथा प्रातिभासिक स्थल में अविद्या की होगी । प्रकृत भ्रम प्रातीतिक विषयक मानकर अविद्यापद रखा है । एवं च मूलभ्रम का भी संग्रह संभव है । बाध्याकारवृत्ति का अर्थ है बाध्य जो रजतादि उनके आकार की वृत्ति ।) 'है' और 'नहीं है' यों दो कोटियों को विषय करने वाला ज्ञान सन्देहज्ञान कहा जाता है । (वेदान्ततत्त्वविवेक के (पृ. २६-२७) अनुसार सन्देह का लक्षण है–'एकविशेष्यकत्वावच्छिन्नस्वविशेष्ये स्वस्वविरुद्धाकारद्वय-वैशिष्ट्यावगाह्यविद्यावृत्तिविशेषः' । 'स्व' से लिलक्षयिषित 'स्थाणु र्वा न वा' या 'स्थाणु र्वा पुरुषो वा' आदि अनुभव समझना चाहिये । समूहालम्बन ज्ञान में अतिव्याप्तिवारणार्थ 'एकविशेष्यकत्वावच्छिन्न' विशेषण है । स्वेत्यादि में स्वाकार और स्वविरुद्धाकार–ये आकारद्वय समझने चाहिये । विरोध भी यह विवक्षित है– 'स्वप्रयोज्यैकप्रवृत्तिविषयताऽनवच्छेदकत्वम्' । अर्थात् स्वप्रकारकज्ञानप्रयुक्तप्रवृत्ति-विषयता का जो अवच्छेदक न बन सके वह स्वविरुद्ध होगा । स्व से स्थाणुत्व समझें तो स्थाणुत्वप्रकारकज्ञान होगा 'यह स्थाणु है' यह ज्ञान तत्प्रयुक्त प्रवृत्ति छेदनादि होगी उसकी विषयता जिस स्थाणुव्यक्ति में रहेगी उसमें पुरुषता न रहने से पुरुषता तादृश विषयता का अवच्छेदक नहीं बनेगी । अतः स्थाणुत्व का पुरुषत्व से विरोध है । भाव-अभाव में ही विरोध मानने पर भी यही व्यवस्था है । संदेह भी है अविद्यावृत्ति ही । यहाँ भी तादृशवृत्ति से अवच्छिन्न चित् ही संदेहज्ञान है व ज्ञानपद औपचारिक है । पुराणोक्त लक्षण का भी तात्पर्य यही है ।) ॥ ११ ॥ 'ऐसा ही है'–इस तरह का अनुभव निश्चय कहा गया है । (नृसिंहाश्रमस्वामी ने पूर्वोक्त विवेकग्रंथ में ही निश्चय का भी लक्षण बताया है 'यज्ज्ञानं यत्संशयनिवृत्त्यनुकूलस्वरूपविशेषवत् तत् तन्निश्चयः' (पृ २९) । यहाँ भी प्रमात्मक निश्चय मनोवृत्त्यवच्छिन्न चित् तथा भ्रमात्मक निश्चय तादृश अविद्यावृत्त्यवच्छिन्न चित् समझनी चाहिये । शंका हो सकती है कि मानसोल्लास में 'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ।

ज्ञानस्य तेन संबन्धः प्रामाण्यं कथितं मया ।

प्रमाणज्ञानसामग्र्यः षण्मयाऽभिहिता बुधाः ॥ १३ ॥

तत्रैकाऽभावविज्ञानसामग्री कथिता द्विजाः । अन्या तु भावविज्ञानसामग्री परिकीर्तिता ॥ १४ ॥

ईदृक् स्फुरणं यस्मिन्बुद्धिवृत्तिविशेषे तस्यैव प्रामाण्यमित्याह–ज्ञानस्येति । एवं चायं घट इत्यादिवृत्तिज्ञानेषु स्वाकारसमर्पकघटादिविषयस्फुरणसद्भावात्तेषां प्रामाण्यम् । इदं रजतमित्यादिविभ्रमज्ञाने त्विदमाकारगोचरा मनोवृत्तिरेका, तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थमायापरिणामरूपा[1] शुक्त्यधिष्ठानचैतन्यस्थमायाविवर्तरजतगोचरापरा वृत्तिरिति वृत्तिद्वयम् । तदुभयमपि शुक्त्यधिष्ठानभाक्त्वेन वृत्त्यवच्छिन्नत्वेन चोभयत्रानुगतमेकमेतच्चैतन्यमभिव्यनक्ति । तच्च वृत्तिद्वयाभिव्यक्तत्वादारोप्याधिष्ठानलक्षणं विषयद्वयं संसृष्टत्वेन स्फोरयति । तथा च विशिष्टस्फुरणस्येदमाकारविषयमनोवृत्तेश्च संबन्धाभावात्तत्राप्रामाण्यम् । इदमाकारमात्रस्फुरणस्य च संबन्धात्तस्मिन्नंशे प्रामाण्यम् । उक्तं हि–'सर्वं[2] वस्तुज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' इति । तच्च [3]प्रमाणं षड्विधमित्याह–प्रमाणज्ञानेति ॥ १३ ॥ भावाभावलक्षणविषयद्वैविध्येन तेषां प्रमाणानां [4]द्वैविध्यमाह–तत्रैकेति ॥ १४ ॥

(२.३५-३६) कहकर सूचित किया है कि संशय व स्मृति मनोवृत्तियाँ हैं । श्रुति में भी विचिकित्साशब्दित संशय को मन ही बताया है । तब इनकी अविद्यावृत्तिता कैसे ? इसका निराकरण यों समझना चाहिये कि क्योंकि संशय भी विशेष्याकार मनोवृत्तिघटित होता है–पुरोवर्ती आदि विशेष्यविषयक प्रत्यक्षाद्यात्मक मनोवृत्ति बनती है–इसलिये उसे मनोवृत्ति कह दिया गया है । स्मृति का मूल कारण क्योंकि अनुभवरूप मनोवृत्ति होती है इसलिये उसे भी मनोवृत्ति कह देते हैं । भ्रम की स्मृति को इसलिए मनोवृत्ति कहते हैं कि तज्जातीय प्रमास्मृति मनोवृत्तिरूप अनुभवमूलक होती है । अथवा भ्रम भी अधिष्ठानज्ञानपूर्वक होने से मनोवृत्तिमूलक है ही अतः उसे मानकर भ्रमस्मृति को भी मनोवृत्ति कह देते हैं । संशय की अविद्यावृत्तिता में नृसिंहाश्रमोक्ति प्रमाण है (वेदान्ततत्त्वविवेक-दीपन दृ. २६) । स्मृति को गौडब्रह्मानन्दस्वामी ने अविद्यावृत्तिरूप बताया ही है (न्या. रत्न. पृ. २६६ पृ. द्वा.) । निश्चयको यों भी समझा जा सकता है–'असत्त्वापादकावरण-निवृत्त्युपलक्षितचित्त्वं निश्चयत्वम् ।' एवं च निवर्तकोपाधि वृत्ति न रह जाने पर भी निश्चय बना रहने में विरोध नहीं ।) ॥ १२ ॥ पूर्वोक्त निश्चय में ज्ञानत्व रहना ही तादृश निश्चय की प्रमाणता है । ('ज्ञानस्य' यह भावप्रधाननिर्देश है । निश्चय भ्रमरूप भी होता है और प्रमारूप भी । भ्रमरूपनिश्चय अविद्यावृत्ति होने से ज्ञान नहीं होता क्योंकि ज्ञान वही होता है जो अज्ञान का निवर्तक हो और भ्रम किसी अज्ञान का निवर्तक नहीं । एवं च जिस निश्चय में ज्ञानत्व होगा वह अवश्य प्रमा होगा । निश्चय के द्वितीय लक्षण को भ्रमनिश्चय में संगत करने के लिए अभिमतपद का निवेश करना चाहिये–असत्त्वापादकावरणनिवृत्तित्वेनाभिमतोपलक्षितचित्त्वम् । प्रामाण्य के पुराणोक्त लक्षण से ज्ञानत्व को ही प्रमात्व कह सकते हैं जो स्वतःप्रामाण्यसिद्धान्त के अनुकूल है ।) प्रमा की छह सामग्रियाँ बतायी गयी हैं । (कारणसमुदाय की समग्रता 'सामग्री' शब्द का अर्थ है ।) ॥ १३ ॥ एक अभावानुभव की सामग्री है व अन्य भावानुभव की ॥ १४ ॥ जो अनुभव योग्यानुपलब्धि से होता है उसे अभावानुभव कहते हैं अर्थात् अभावानुभव की सामग्री है योग्यानुपलब्धि । (जो योग्य होते हुए अनुपलब्धि हो उसे योग्यानुपलब्धि कहते हैं । अनुपलब्धि की योग्यता का अर्थ है कि प्रतियोगिभिन्न वह सम्पूर्ण सामग्री हो जो प्रतियोगिग्रहण के लिए चाहिये और प्रतियोगिसत्त्व का आपादन किया गया हो किन्तु उपलब्धि न हो ।

---

१ घ. ङ. "न्यस्य मा° । २ ख. ग. घ. च. "वं ज्ञा" । ३ ङ. प्रामाण्यं । ४ ग. घ. ङ. द्वैराश्यमाह ।

यद्योग्यानुपलब्ध्यैव जन्यं विज्ञानमास्तिकाः । तत्स्यादभावविज्ञानं धार्मिका वेदवित्तमाः ॥ १५ ॥

इन्द्रियोत्पन्नविज्ञानं प्रत्यक्षं परिभाषितम् । व्याप्तिजन्यपरिज्ञानमनुमानमितीष्यते ॥ १६ ॥

सादृश्यहेतुजं ज्ञानमुपमानमुदाहृतम् । अर्थापत्तिरिति प्रोक्तं विप्रा अनुपपत्तिजम् ॥ १७ ॥

तत्राभावग्राहकप्रमाणमाह–**यद्योग्येति** । अनुपलम्भमात्रस्याभावज्ञानजनकत्वमतिप्रसक्तमिति विशिनष्टि–**योग्येति** । प्रतियोगिव्यतिरिक्तप्रतियोगिग्रहणसामग्रीसत्त्वमनुपलब्धेर्योग्यत्वम् । तथाविधयाऽनुपलब्ध्या यत्प्रमेयाभावगोचरं ज्ञानं जन्यते तदभावग्राहकं प्रमाणमित्यर्थः । तदुक्तं–'प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपेण जायते । वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्र भावः प्रमाणता' ॥ इति ॥ १५ ॥ भावग्राहकाणां मध्ये प्रत्यक्षं लक्षयति–**इन्द्रियोत्पन्नेति** । उक्तं हि–'इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमि'ति । अनुमानस्वरूपमाह–**व्याप्तीति** । नियतसंबन्धयोर्व्याप्यव्यापकयोर्धूमाग्न्योर्मध्ये व्याप्यदर्शनबलाद्व्यापकगोचरज्ञानं तदनुमानं, व्याप्यदर्शनाद्व्यापके बुद्धिरनुमानमिति तत्त्वविदः ॥ १६ ॥ उपमानं लक्षयति–**सादृश्येति** । नगरे पूर्वमनुभूतगोपिण्डस्य वनमुपेयुषस्तत्र गवयं साक्षात्कुर्वतो नागरिकस्यानेन सदृशी मदीया गौरिति गवयनिष्ठसादृश्यहेतुकमसंनिहितगोगतसादृश्यविषयं यज्ज्ञानं तदुपमानमित्यर्थः । अर्थापत्तिस्वरूपमाह–**अर्थापत्तिरिति** । अनुपपद्यमानार्थदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः । यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहाभावो बहिःसत्तामन्तरेण नावकल्पत इति तत्सत्तामन्यत्र कल्पयति । बहिस्तद्भावगोचरं[1] ज्ञानमर्थापत्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रतियोगी के उपलब्ध्यभाव से प्रतियोग्यभाव की प्रमा होती है–यह संक्षेप है । इससे अभाव से भावजनि का प्रसंग नहीं । उपलब्ध्यभाव अज्ञान से अनुमेय है क्योंकि अज्ञान ज्ञानाभावव्याप्य है । और अज्ञान साक्षिप्रत्यक्ष भाववस्तु है । इस प्रकार ज्ञात उपलब्ध्यभाव ही अभावप्रमा का साधन होता है, न कि अज्ञात । यदि अज्ञात अनुपलब्धि को ही कारण मानते तो अभाव का प्रत्यक्ष होने लगता क्योंकि ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्ष होता है । तैत्तिरीयभाष्यटीका में कहा गया है 'ज्ञातस्य योग्यानुपलम्भस्य अभावप्रमितिहेतुत्वं, सत्तया तु प्रमितिहेतुत्वेऽभावप्रमायाः प्रत्यक्षत्वापातः' (शीक्षा-१) । उपलब्ध्यभावज्ञान भाववस्तु है ही । यह ज्ञान पुनः अनुपलब्धि से होता तो अनवस्था हो जाती । साक्षिगम्य अज्ञान से अनुमेय मानने से यह आपत्ति नहीं है ।) ॥ १५ ॥ अन्य पाँच भावानुभव की सामग्रियाँ हैं । इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभव प्रत्यक्ष कहा जाता है । (सामान्यतः यह लक्षण संगत है । अन्य दार्शनिकों ने यही स्वीकारा है । गौतम महर्षि ने 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इत्यादि सूत्र से यही कहा है । मीमांसक भी 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' (जै. सू. १.१.४) कहकर इस लक्षण को मान्यता देते हैं । कौमुदी में मिश्र जी ने बताया है 'उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते, इदं तावत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्' (कारिका ५); एवं च सांख्याभिमत भी यही है । योगवार्तिक (१.७) भी इन्द्रियप्रणाली से गये चित्त की वृत्ति की प्रमाणता प्रतिपादित कर इसे मान्यता देता है । प्रशस्तपाद का भी यही अभिप्राय है क्योंकि वे कहते हैं 'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यत इति प्रत्यक्षम्' । किन्तु मन को इन्द्रिय न मानने से तथा मनोवृत्तिरूप सुखादि का भी प्रत्यक्ष स्वीकारने से वेदान्त में इतना लक्षण पर्याप्त नहीं । अतः वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याऽभिन्नविषयावच्छिन्न चैतन्य ही सिद्धान्ताभिमत प्रत्यक्षानुभव है ।) व्याप्ति से उत्पन्न हुआ ज्ञान अनुमान कहा जाता है । (हेतु के सभी आश्रयों में साध्य रहता है ऐसा निश्चय या हेतु साध्याभाव वाले में कभी नहीं रहता ऐसा निश्चय व्याप्ति कहलाता है । 'व्याप्ति से उत्पन्न' का तात्पर्य है कि व्याप्तिप्रकारक हेतुविशेष्यक ज्ञान के फलस्वरूप जो साध्यनिश्चय होता है वह अनुमिति है । 'मान' शब्द मितिपरक है ।) ॥ १६ ॥ सादृश्य

---

१ ग. व. "स्तत्सत्ता" ।

तात्पर्योपेतशब्दोत्थज्ञानं शाब्दमुदाहृतम् । शब्दस्तु ब्रह्मविच्छ्रेष्ठास्त्रिविधिः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

अक्षराणि तथा विप्राः पदानि च तथैव च । वाक्यानि चेति तत्रापि केषांचिद् द्विजपुगाः ॥ १९ ॥

अथाऽऽगमं[1] लक्षयति–**तात्पर्योपेतेति** । 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिश्चये'। इत्येवंभूततात्पर्यलिङ्गोपेताच्छब्दाद्यदभिधेयगोचरं ज्ञानं तच्छाब्दं प्रमाणमित्यर्थः । तस्याक्षरपदवाक्यभेदेन त्रैविध्यमाह–**शब्दस्त्विति** । केषांचिदाचार्याणां मते वर्णानामेवार्थवाचकत्वमित्याह–**केषांचिदिति** । यदाहुर्भाष्यकाराः–'वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः' इति । एकार्थप्रतिपादकत्वोपाधिपरिगृहीतानां वर्णानामेवार्थवाचकत्वं, ततोऽतिरिक्तः स्फोटापरपर्यायः शब्दो नास्तीत्येवकारार्थः ॥ १८–१९ ॥

के कारण उपजे ज्ञान को उपमान कहते हैं । (सादृश्य का अर्थ है–तदसाधारणधर्मरहितत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वम् । जिन वस्तुओं में परस्पर सादृश्य होता है उनके असाधारण धर्म विभिन्न होते हैं–या कम से कम वे व्यक्ति विभिन्न होते हैं, तथा उनमें कोई या कुछ धर्म समान होते हैं । सादृश्यज्ञान उपमिति है और उसका साधन भी सादृश्यज्ञान ही है । प्रत्यक्ष सादृश्यज्ञान साधन व परोक्षसादृश्यज्ञान फल है । प्रत्यक्ष गवय में रहने वाले गोसादृश्य से परोक्ष गाय में रहने वाला जो गवयसादृश्य का ज्ञान होता है वह उपमिति कहा जाता है । इस प्रमाण की विशेष आवश्यकता मीमांसा में है । जैसे सौर्यादि विकृतियों में जो आग्नेय धर्मों की प्राप्ति होती है वह सौर्य व आग्नेय में समान द्रव्य-देवता आदि के ज्ञान से ही संभव है । आग्नेय में सौर्यसादृश्य के ज्ञान से सौर्य में आग्नेयसादृश्य का उपमित्यात्मक निश्चय होता है जिससे सौर्य का अनुष्ठान आग्नेय के अवयवों से–अर्थात् आग्नेय के ढंग–से कर लिया जाता है । प्रतिनिधिनिर्णय में भी यह काम देता है । कमलाकरभट्ट ने 'मीमांसाकुतूहल' में यह स्पष्ट किया है । मिथ्या नील गगनादि के दर्शन से घटगत मिथ्यात्व का उपमित्यात्मक निश्चय होता है ।) अनुपपत्ति के कारण होने वाला निश्चय अर्थापत्ति है । (उपपाद्य ज्ञान से जो उपपादक की कल्पना की जाती है वही अर्थापत्ति कहलाती है । दृष्ट व श्रुत भेद से यह दो प्रकार की है । शब्द से अतिरिक्त प्रमाण से ज्ञात उपपाद्यवश उपपादक कल्पना दृष्टार्थापत्ति है । शब्दप्रमाण से उत्पन्न ज्ञान के उपपादक की कल्पना श्रुतार्थापत्ति है । श्रुतार्थापत्ति पुनः द्विविध है–एक में पदकल्पना होती है व दूसरी में अर्थकल्पना । जैसे 'दरवाजा' इतना ही सुनने पर 'बिना क्रिया से अन्वित हुए इस शब्द का बोधकत्व संगत नहीं' अतः 'बन्द करो' या 'खोलो' आदि पद की कल्पना होती है । तथा 'आत्मज्ञान से शोकनिवृत्ति होती है' यह श्रुतिवाक्य शोकसत्यत्व होने पर संगत नहीं, अतः शोकमिथ्यात्व की कल्पना होती है । अपूर्व, माया आदि अर्थ ऐसे ही सिद्ध होते हैं । क्योंकि व्याप्तिस्मृति, लिंगदर्शन आदि के बिना यह निश्चय होता है अतः इसे अनुमान के अंतर्गत मानने का प्रयास क्लिष्ट कल्पना है ।) ॥ १७ ॥ तात्पर्ययुक्त शब्द से हुआ ज्ञान शाब्दबोध कहा जाता है । जिस तात्पर्य से शब्द का प्रयोग हुआ है उसे समझना शाब्दी प्रमा है । तात्पर्य से भिन्न अर्थ समझना शाब्दभ्रम है । शाब्दीप्रमा में तात्पर्य सत्तया ही कारण

---

१ प्रत्यक्षादीनामनात्मविषयत्वध्रौव्यात्तत्साजात्यं शब्दस्यात्मविषयोनात्मविषयश्चेति वैजात्यमभिप्रेत्यानात्मानप्रतिपादनानन्तर्यमथशब्दार्थः । तदेतन्मूल एव (श्लो. ३३) स्पष्टीस्यात् ।

अर्थानामक्षराण्येव वाचकानि तथैव च । अर्थानामपि केषांचित्पदान्येव द्विजोत्तमाः ॥ २० ॥

ततः स्फोटवादिमतमाह–अर्थानामिति । केषांचिन्मतेऽर्थानां पदान्येव वाचकानि बहुषु वर्णेषूच्चारितेष्विदमेकं पदमिति या बुद्धिर्जायते तद्विषयभूतो वर्णाभिव्यङ्ग्यः पदस्फोटः । तदुक्तं वाक्यपदीये–'नादैराहितबीजायां मध्येन ध्वनिना सह । आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दो व्यवस्थितः' ॥ इति । स एवार्थस्य वाचकः । वर्णास्तु केवलं तदभिव्यक्तिहेतवो नार्थाभिधायका इत्यवधारणार्थः ॥ २० ॥

है अन्यथा शाब्दबोध ही व्यर्थ हो जायेगा । एवं च शब्दजन्य शब्दतात्पर्यज्ञान शाब्दी प्रमा है । यह ज्ञान शक्ति से भी हो सकता है, लक्षणा से भी तथा शब्दविषयक ऊहापोह से भी । अर्थनिश्चय तक का काम शब्द करता है । बृहद्वार्तिकटीका में कहा गया है 'अर्थनिश्चयपर्यन्तं प्रवृत्ता वाक्' (१.५.१३२) । शब्द भी तीन प्रकार का माना गया है ॥ १८ ॥ कुछ आचार्य अक्षरों को ही शब्द मानते हैं । अन्य लोग पदों को व कोई तो वाक्य को ही शब्द मानते हैं ॥ १९ ॥ प्रथम मान्यता वालों का कहना है कि अक्षर ही अर्थ के वाचक हैं ('गौः' शब्द से गाय अर्थ प्रतीत होता है । यहाँ वह कौन वस्तु है जिससे अर्थप्रतीति होती है ? यह शंका होने पर गकार, औकार और विसर्ग से अतिरिक्त कुछ उपलब्ध न होने से वे ही–गकारादि अक्षर ही–अर्थप्रत्यायक हैं, ऐसा उनका अभिप्राय है । जिन क्रमविशिष्ट वर्णों में एक वस्तु के ज्ञान की कारणता वृद्ध-व्यवहार से गृहीत है वे वर्ण ही अर्थबोधक हैं । पद व वाक्य दोनों रूपों में उपस्थित अक्षर शाब्दबोध करा देते हैं । इस विषय का निपुणतर उपपादन देवताधिकरण के (१.३.९.२८) शंकरभाष्यादि में देखना चाहिये । अन्यों ने भी कहा है 'यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादकाः । वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्याः ते तथैवावबोधकाः ॥' (श्लोकवार्तिक स्फोट. ६९) । द्वितीय मान्यता वालों का अभिप्राय है कि क्रमविशिष्ट नाना वर्णों को सुनकर जो यह ज्ञान होता है कि 'यह एक शब्द है, उस ज्ञान का विषय कोई एक शब्दरूप वस्तु होनी चाहिये । यदि वर्णातिरिक्त वह वस्तु न होती तो यही ज्ञान होता कि 'ये कुछ अक्षर हैं' । अथवा 'यह एक शब्द है' इस ज्ञान का कभी बाध होता किंतु ऐसा होता नहीं । अबाधित ज्ञान यही होता है कि यह एक शब्द है । वस्तु के विना ज्ञान माना नहीं जा सकता अन्यथा सौगतमतप्रवेश हो जायेगा । अतः वर्णों से अतिरिक्त एक पद नामक वस्तु माननी पड़ेगी । वह वस्तु ही अर्थवाचक है ।) ॥ २० ॥ तृतीय मतावलम्बियों का कथन है कि अर्थों के वाचक वाक्य हैं जो दीपक की तरह अज्ञातज्ञापक होने से प्रमाण हैं । (इनका तात्पर्य है कि पद तो केवल स्मृति कराते हैं अतः प्रमोत्पादक या अज्ञातज्ञापक हो नहीं सकते । शब्दप्रयोग होता है अज्ञातज्ञापन के लिए । अज्ञात का ज्ञान वाक्य से ही होता है । 'यह एक वाक्य हुआ' इस अनुभव से पद की ही तरह वाक्य नामक वस्तु सिद्ध होती है । जो स्थान पद में वर्णों का है वह वाक्य में पदों का या वर्णों का समझ सकते हैं–जैसे वर्णों से पद नामक वस्तु अभिव्यक्त होती है वैसे वर्णों या पदों से वाक्य नामक वस्तु अभिव्यक्ति होती है और वही अज्ञात अर्थ की ज्ञापक या वाचक है । शब्द को उत्पादक नहीं प्रकाशक समझना चाहिये, इसके लिए दीप का दृष्टान्त दिया । शास्त्र ज्ञापक है यही सिद्धान्त है । वार्तिक में भी कहा गया है 'प्रकाशिकैव चात्यन्तं वाग्रूपस्येति निश्चितिः' (बृ. वा. १.५.१४०) ॥ २१ ॥ कुछ पद एक अक्षर वाले होते हैं व कुछ पद अनेक अक्षरों वाले होते हैं । ('अशब्दः स्यादभावेऽपि' इत्यादि मेदिनी तथा अन्यत्र अनेक एकाक्षर शब्द प्रसिद्ध हैं ।

वाचकानि च वाक्यानि तथैव ब्रह्मवित्तमाः । अर्थानामपि केषांचित्प्रमाणानि प्रदीपवत् ॥ २१ ॥

भवन्त्येकाक्षराण्येव पदानि द्विजपुंगवाः । अक्षराणि च संभूय पदानि स्युस्तथैव च ॥ २२ ॥

पदानां समुदायस्तु भवेद्वाक्यं द्विजोत्तमाः । प्रधानं गुणभूतं च द्विविधं वाक्यमीरितम् ॥ २३ ॥

वाक्यस्फोटमाह–वाचकानीति । केषांचिन्मते वाक्यस्फोट एव शब्दः स एवार्थस्याभिधायकः । पदानि तु तद्व्यञ्जकत्वेन तत्स्वरूपे परिकल्पितानीत्यर्थः । तदुक्तं कैयटकारेण–'वाक्यमेव वाचकम् । वाक्यार्थ एव वाच्यः । पदानि तु वर्णवदनर्थकान्येव' इति । वाक्यपदीयेऽप्युक्तम्–'द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा । अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्' ॥ इति ॥ २१ ॥ एकाक्षरानेकाक्षरभेदेन पदानां द्वैविध्यमाह–भवन्त्येकेति ॥ २२ ॥ अथ क्रियाकारकपदसमुदायात्मकं वाक्यमाह–पदानामिति । एकार्थावच्छेदकमाकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावत्पदकदम्बकं वाक्यमित्यर्थः[1] । तदुक्तं जैमिनिना–'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यादि'ति । तस्य प्रधानगुणभावेन द्वैविध्यमाह–प्रधानमिति ॥ २३ ॥

अनेकाक्षर तो प्रायः सभी पद हैं ही ।) ॥ २२ ॥ पदों का समुदाय वाक्य होता है (आकांक्षा, योग्यता व संनिधि वाले उन पदों का समुदाय जो एक अर्थ प्रतिपादित करते हों, वाक्य होता है । जो शब्द अपना अर्थ यों बताये कि यह भी पता चले कि उस अर्थ का किसी अन्य अर्थ से सम्बन्ध होना चाहिये, आकांक्षा वाला कहा जाता है । ऐसे ही शब्द आपस में सम्बद्ध होकर वाक्य बनाते हैं । शब्दों से ज्ञात अर्थसम्बन्ध बाध्य न हो, यह शब्दों की योग्यता है । एवं च आकांक्षा व योग्यता अर्थद्वारक हैं । मीमांसाकुतूहल में भट्ट कमलाकर ने कहा है–'पदानामपि ह्यर्थद्वारैवाकांक्षादिमत्त्वम् ।' व्यवधान के बिना पदों से पदार्थज्ञान हो जाना शब्दों की संनिधि कही जाती है । इसे आसत्ति-शब्द से कहा जाता है । निरुक्त ज्ञानरूप आसत्ति स्वरूपसती ही शाब्दबोध में हेतु है । इन तीनों विशेषताओंवाले शब्द एक अर्थ के प्रतिपादक होने चाहिये और वह अर्थ उनमें से किसी शब्द का होना नहीं चाहिये । शब्द अपने-अपने अर्थों को बताने के लिए वाक्य के अंशरूप में रहने की ज़रूरत नहीं रखते । किंतु जब वे वाक्यघटक बने रहते हैं तब स्वार्थ और वाक्यार्थ दोनों का अनुभव कराते हैं । पदार्थसम्बन्ध, सम्बन्धविशिष्ट पदार्थ, इतरव्यावृत्ति या निर्विशेष वस्तु–ये वे एक अर्थ हो सकते हैं जो प्रतिपादित करने के लिए शब्द आपस में मिलकर वाक्यरूप में उपस्थित होते हैं । यद्यपि प्रातिपदिकार्थ भी वाक्यार्थ माना गया है–'यद्वा तत् प्रातिपदिकार्थता'–तथापि केवल प्रकृति प्रयोगयोग्य न होने से तथा प्रयुक्त प्रकृति साकांक्ष होने से प्रातिपादिकार्थ का निराकांक्ष निश्चय किसी पद से नहीं हो पाता अतः वह वाक्यार्थ है । अतः वार्तिकटीका में कहा गया है 'ब्रह्म वाक्यीयमित्यंगीकारात्' (बृ. १.३.८०) । जो तो वार्तिकोक्ति है 'न वाक्यपदयोरर्थो भेदसामान्यवर्जनात्' (बृ. २.३.१२) वह वाच्यताविषयक है । वाक्यार्थ लक्ष्य ही होता है ऐसा स्वीकारना अनावश्यक है । समानाधिकरण पदों से विशेष्यविशेषणभाव से सम्बद्ध पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह वाच्य वाक्यार्थ है । उस ज्ञान के विना किसमें अनुपपत्ति होने से पदों में लक्षणा की जायेगी ? पहले वैसा अर्थ प्रतीत होता है जो असंगत है तभी संगति के लिए लक्षणा करते हैं । वह असंगत अर्थ वाच्य ही समझना चाहिये । उसका वाचक शब्द है, ऐसा मानने में कोई

---

१ वाचस्पतिमिश्रा : 'यावति पदसमूहे पदाहिताः पदार्थस्मृतयः पर्यवस्यन्ति तावदेकं वाक्यम्' (१.३.३३) इति भामतीनिवन्ध आहुः ।

महावाक्यमिति प्रोक्तं प्रधानं मुनिपुंगवैः । गुणभूतं तु यद्वाक्यं तदवान्तरसंज्ञितम् ॥ २४ ॥
उभयं चैकवाक्यं स्यादर्थैकत्वविवक्षया । पदानि शक्त्या स्वार्थानां वाचकानि तथैव च ॥ २५ ॥

ते एव विभज्य दर्शयति–**महावाक्यमिति** । यत्फलवदर्थाववोधकत्वात्प्रधानमनन्यशेषं वाक्यं तन्महावाक्यम् । यत्तु तच्छेपभूतार्थप्रतिपादकत्वेन गुणभूतं तदवान्तरवाक्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥

हानि भी नहीं । एवं च वाक्यवाच्य रूप से ब्रह्म को न स्वीकारा जाये यह उक्त वार्तिक का अर्थ है । लक्ष्यार्थ रूप से उसे स्वीकारना तो औपनिषदसमाख्या के अनुकूल होने से सम्मत ही है ।) वाक्य दो प्रकार का होता है–प्रधान और गौण ॥ २३ ॥ महावाक्य प्रधान तथा अवान्तरवाक्य गौण कहा जाता है । (जो वाक्य सफल अर्थ का ज्ञान कराता है तथा स्वकीय अर्थ बताने से भिन्न किसी प्रयोजन वाला नहीं होता, वह महावाक्य कहा जाता है । महावाक्य के घटक पदों के अर्थ बताने वाले वाक्य जो स्वकीय अर्थ बताने मात्र के लिए नहीं बल्कि महावाक्य स्पष्ट करने के प्रयोजन वाले होते हैं, अवान्तर वाक्य कहे जाते हैं ।) ॥ २४ ॥ महावाक्य व अवान्तरवाक्य मिलकर क्योंकि एक तात्पर्यार्थ का बोध कराते हैं, इसलिए उनको मिलाकर भी एक वाक्य समझा जाता है । (वाक्यों का आपस में मिलना दो तरह से होता है । एक ढंग तो है कि अवान्तरवाक्य लक्षणा से प्राशस्त्यादि किसी पद का बोध करायें जिसका संबंध महावाक्य से हो । इसे पदैकवाक्यता कहते हैं । दूसरा ढंग है कि वाक्य अपना अर्थ बताने के पश्चात् अंगता-अंगिता आदि की दृष्टि से पुनः मिलकर एक सम्पूर्ण अर्थ प्रतिपादित करें । इसे वाक्यैकवाक्यता कहते हैं ।) पद अपनी स्वाभाविक शक्ति से स्वीय अर्थों के वाचक होते हैं । (यह शक्ति माया ही है । इच्छादिरूप से इसे अन्य विचारक समझाते हैं किन्तु वार्तिककार ने स्पष्ट कहा है 'आत्माविद्यैव नः शक्तिः सर्वशक्यस्य सर्जने', अतः उसी से यहाँ भी व्यवस्था समझनी चाहिये) ॥ २५ ॥ वाक्य अपने अर्थ का बोध तात्पर्यवशात् कराते हैं । (होता यों है कि क्रमशः पदों को सुनने पर क्रमशः ही उनके अव्यभिचरित अर्थरूप पदार्थों का ज्ञान होता चलता है । अन्तिम पद सुनने के बाद पूर्व में सुने सभी पद (अंतिम पद समेत) इकट्ठे ही स्मृतिपटल पर उपस्थित होकर पूर्व में बोधित अपने-अपने पदार्थों को ही सम्बद्ध रूप से प्रतिपादित कर देते हैं । अतः पद ही पदार्थस्मृति द्वारा संसर्ग (वाक्यार्थ) का बोध भी कराते हैं । विवरणाचार्य (पृ. १२०७ कल.), संक्षेपशारीरककार (१.३८४-३८५) आदि ने इसी प्रक्रिया को अपनाया है और अनुभवानुसारी भी यह है । पारिभाषिक शब्दों में इसे कहते हैं अन्वितामिधान । पुराण का अभिप्राय भी यही है कि वाक्य अर्थात् तद्घटक पद स्वार्थ का अर्थात् स्वप्रतिपिपादयिषित अर्थ का बोध तात्पर्यवशात् कराते हैं । पदार्थस्मरण तो शक्तिमात्र से होता है अर्थात् तटतात्पर्यक गंगापद प्रवाहपदार्थ का स्मरण तो कराता ही है, किन्तु पूरा वाक्य सुनने पर वाक्यतात्पर्यवशात् वही शब्द घोषान्वित तट का बोध करा देता है ।) तात्पर्य दो प्रकार का बताया गया है । एक महातात्पर्य है व दूसरा अवान्तरतात्पर्य । प्रधानवाक्यों में महातात्पर्य और उनके लिए आये अवान्तरवाक्यों में अवान्तरतात्पर्य ॥ २६–२७ ॥ कुछ वाक्य निषेधरूप होते हैं तथा कुछ विधिरूप । (कुछ न करना अथवा न होना बताने वाले निषेधरूप वाक्य हैं तथा कुछ करना या होना बताने वाले विधि रूप ।) ॥ २८ ॥

तात्पर्यादेव वाक्यानि स्वार्थानां बोधकानि च ।

तात्पर्यं तु द्विधा विप्राः प्रोक्तं वाक्यविशारदैः ॥ २६ ॥

महातात्पर्यमेकं स्यादवान्तरमथेतरत् । महातात्पर्यशेषं स्यादवान्तरसमाह्वयम् ॥ २७ ॥

एवं पदैकवाक्यस्वरूपमभिधाय वाक्यैकवाक्यमपि[1] लक्षयति–**उभयमिति** । प्रधानगुणभावेन वर्तमानं वाक्यद्वयमपि पुनरेकप्रोजनपरिगृहीतत्वेनैकवाक्यतां प्रतिपद्यते । तथा हि–'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति प्रधानवाक्यम् । 'समिधो यजति' इत्याद्यवान्तरवाक्यानि । तानि [2]फलभावनापेक्षितकरणेतिकर्तव्यताप्रतिपादनेन दर्शपूर्णमासवाक्येन[3] कैमर्थक्यवशात्सम्बध्यन्ते तदेतद्वाक्यैकवाक्यम् । तदुक्तं भट्टाचार्यैः–'स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया । वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते' इति ॥ पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्य[4] तदर्थप्रतिपादनपुरःसरमभिहितान्वयवादिमतमाश्रित्य वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रकारमाह–**पदानीति** । पदानि तावज्जातिगुणादिप्रवृत्तिनिमित्तकेष्वर्थेषु गृहीतसंगतिकान्येवार्थं प्रतिपादयन्ति । तेषां तत्तदर्थप्रतिपादने यत्सामर्थ्यं सा पदशक्तिस्तया शक्त्या गामानयेत्यादिवाक्येषु [5]गवानयनाद्यर्थानामभिधावृत्त्या प्रतिपादकानि गवादिपदानीत्यर्थः । तत्प्रतिपादकत्वं नाम संगतिग्रहणसमये सहचरितस्यार्थविशेषस्य स्मारकत्वम् । उक्तं हि–'पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकान्न विशिष्यते' इति । तादृक्पदसमुदायात्मकानि वाक्यानि संगतिग्रहणमन्तरेणैव तात्पर्यतः स्वार्थस्य विशिष्टरूपस्य प्रतिपादकानि । तथा हि–वाक्यं तावत्पदकदम्बकम् । तच्च गवानयनादिकर्तव्यतादिरूपस्य विशिष्टार्थस्य प्रत्यायनाय प्रयुज्यते । 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जने' इति न्यायात् । तस्मात्तत्समभिव्याहारान्यथानुपपत्त्या पदस्मारितानामर्थानां संसर्गरूपो विशिष्टो वाक्यार्थः पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्ष्यते । तादृक्पदार्थप्रत्यायनात्पदानामप्येतस्मिन्विशिष्टे सामर्थ्यमस्ति तदिदं तात्पर्यमुच्यते । यदाहुर्भट्टपादाः–'न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः । वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः' इति । तथाच विशिष्टस्य वाक्यार्थस्यैवावगमाय पदकदम्बके प्रयुक्ते तत्रत्यैः पदैरभिधावृत्त्या यत्स्वार्थप्रतिपादनं [6]तदवान्तरव्यापार एव पर्यवसानवृत्त्या तात्पर्यापरपर्यायया[7] तत्सर्वं पदकदम्बकमुक्तलक्षणवाक्यार्थस्यैव बोधकम् । तदुक्तं मीमांसावार्तिककारैः–'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् । वर्णास्तथाऽपि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥ वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्त्या नान्तरीयकम् । पाके[9] ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्' इति ॥ तदिदमुच्यते–**तात्पर्यादेव वाक्यानि स्वार्थानां बोधकानि** च इति । उक्तप्रकारेण पदकदम्बकस्य वाक्यार्थं प्रत्यभिधायकत्वाभावाद् बोधकत्वमेवेत्यर्थः । गुणप्रधानभावेन वाक्यस्य द्वैविध्यात्तदर्थाववोधोपायभूतं तात्पर्यमपि द्वेधा भिद्यत इत्याह–**तात्पर्यं त्विति** । प्रधानवाक्येषु महातात्पर्यमवान्तरवाक्येष्वान्तरतात्पर्यमित्यर्थः ॥ २५–२७ ॥

विधिरूप कुछ वाक्य यथास्थित वस्तु के बोधक होते हैं । अन्य विधिरूप वाक्य कर्तव्य को विषय करते हैं–कुछ करना बताते हैं । निषेध वाक्य भी प्रायशः कुछ न करना बताते हैं, अतः उनका भी कर्तव्य से ही सम्बन्ध है । ('नेत नेति', 'अस्थूलम्' आदि सिद्धार्थबोधक निषेध भी हुआ करते हैं ।) ॥ २९ $^1/_2$ ॥

---

१ घ. °मभिल° । २ घ. °तकार° । ३ ङ. °न कमर्थव° । ४ घ. °क्यार्थप्रज्ञा° । ५ क. ग. घ. वाद्य° । ६ ग. °र ए° । ७ क. ख. °यतया । ८ °क्यार्थावगमायैषां । ९ क. ख. पाकज्वालेव ।

तत्रैवं सति वाक्यानि कानिचित् पण्डितोत्तमाः । निषेधरूपाण्येव स्युस्तथा विप्रास्तु कानिचित् ॥ २८ ॥

विधिरूपाणि चान्यानि कानिचिद् द्विजपुंगवाः । सिद्धार्थबोधकान्येव तत्रैवं सति वाडवाः ॥ २९ ॥

कर्तव्यविषया एव निषेधा[1] विधयोऽपि च ।

सिद्धार्थबोधकं वाक्यं लौकिकं वैदिकं तु वा ॥ ३० ॥

द्विप्रकारमिति प्रोक्तं मुनिभिः सूक्ष्मदर्शिभिः ।

प्राप्तप्राप्तिपरं चैकमपरं पण्डितोत्तमाः । निवृत्तस्य स्वतः साक्षाद्दोषस्यैव निवर्तकम् ॥ ३१ ॥

इत्थं वाक्यं तदर्थप्रतिपादनप्रकारं च निरूप्य विधिनिषेधसिद्धार्थबोधकत्वेन तस्य वाक्यस्य त्रैविध्यमाह–**तत्रैवमिति** । 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादीनि **निषेधरूपाणि** वाक्यानि । 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादीनि विधिरूपाणि । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादीनि **सिद्धार्थबोधकानि** । **वाडवा** इति ब्राह्मणा इत्यर्थः । तथा चामरः–'आश्रमोऽस्त्री द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः' इति ॥ २८–२९ ॥ तत्र विधिनिषेधप्रतिपादकं वाक्यद्वयं क्रियाविषयमेव न तु वस्तुयाथात्म्य-प्रतिपादनपरमित्याह–**कर्तव्येति** । सिद्धार्थबोधकमपि लौकिकवैदिकभेदेन द्विविधम् । तदपि पुनर्द्वेधा भवतीत्याह–**सिद्धार्थबोधकमिति** । हारे कण्टदेशस्थे सत्यपि हारो नष्ट इति यस्तदन्वेषणाय प्रयतते तं प्रति कण्ठे हार इति यद्वाक्यं तत्पूर्वं प्राप्तस्यैव हारस्य पुनः प्रापकत्वात्प्राप्तप्राप्तिपरं वाक्यम् । बाल्यात्प्रभृति गृहान्निर्गतस्याऽऽत्मनो द्विजत्वमजानानस्य शूद्रोऽहमिति शूद्रत्वमभिमन्यमानस्य शूद्रस्त्वं न भवसीति यच्छूद्रत्वनिवारकं वाक्यं तन्निवृत्तस्यैव दोषस्य पुनर्निवर्तनान्निवृत्तनिवर्तकम् ॥ ३०–३१ ॥

सिद्धार्थ–अर्थात् यथास्थित वस्तु–के बोधक वाक्य लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार के होते हैं । पुनरपि वे दो प्रकार के होते हैं–प्राप्तप्राप्तिपरक और निवृत्तनिवर्तक । (प्राप्त वस्तु अज्ञात हो तो उसे बताने वाला वाक्य प्राप्तप्राप्तिपरक कहा जाता है क्योंकि उस वस्तु का ज्ञान उसकी प्राप्तिरूप से उपचरित हो जाता है तथा ज्ञान उक्त वाक्य कराता ही है । इसी तरह वस्तुतः अप्राप्त वस्तु को भ्रमवश प्राप्त समझने वाले को कहा जो वाक्य उस वस्तु का या उसकी प्राप्ति का निषेध करता है वह निवृत्तनिवर्तक है क्योंकि तादृशवस्तुप्राप्तिभ्रम की निवृत्ति ही उस वस्तु की निवृत्तिरूप से उपचरित होती है तथा भ्रमनिवृत्ति वाक्य से होती ही है । प्रथम के लिए दृष्टान्त है कर्ण को उसका कौन्तेयत्व बताने वाला वाक्य और द्वितीय के लिए दृष्टान्त है उसी के राधेयत्व का निषेध करने वाला वाक्य ।) ॥ ३०–३१ ॥ हे उत्तम ब्राह्मणो ! प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाण और कर्तव्यसम्बन्धित वाक्य–ये सब अनात्मविषयक हैं ॥ ३२ ॥

---

१ आत्मबोधने व्यापृततया निषेधगतौ मीमांसामतमभ्युपगमवादेनोक्तं ज्ञेयम् । विधिवत्सिद्धार्थबोधका निषेधा अपि वर्तन्त इत्यपि बोध्यम् ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणानि पञ्च च ब्राह्मणोत्तमाः ॥ ३२ ॥

कर्तव्यविषयं वाक्यमनात्मविषयाणि तु । परागर्थैकनिष्ठत्वात्प्रत्यक्त्वादात्मवस्तुनः ॥ ३३ ॥

अतः प्रत्यक्षपूर्वैस्तु प्रमाणैरखिलैरपि । प्रत्यग्भूतः शिवो ज्ञातुं न शक्यः सर्वजन्तुभिः ॥ ३४ ॥

प्रत्यगात्मा शिवः साक्षान्न परागर्थ आस्तिकाः ।

पराचीनस्य सर्वस्य ह्यनात्मत्वप्रदर्शनात् ॥ ३५ ॥

सिद्धार्थबोधकं वाक्यं लौकिकं किंचिदास्तिकाः ।

अनात्मविषयं तेन शिवो ज्ञातुं न शक्यते ॥ ३६ ॥

इत्थं प्रत्यक्षादिप्रमाणानि सप्रपञ्चं निरूप्य सिद्धार्थबोधकोपनिषद्वाक्यैरेव वेद्यं यत्परशिवस्वरूपं तत्र तद्व्यतिरिक्तानां[1] तेषां प्रामाण्यं नास्तीत्युपपादयति–प्रत्यक्षादीति । प्रत्यक्षादीनि हि प्रमाणानि परागर्थैकविषयाणि । तत्र प्रत्यक्षस्य तावत् 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' इति परार्थैकविषयत्वं श्रुतम् । अनुमानादीनामपि बाधितविषयत्वेन परागर्थविषयत्वम् । 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इति परागर्थस्यैव बाधात्[2] । तस्मादात्मतया सर्वप्रत्यग्भूतः परशिवस्तैर्ज्ञातुं न शक्यत इत्यर्थः । 'य आत्मा सर्वान्तरः' 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति च श्रुतेः ॥ ३२–३४ ॥ तस्य परशिवस्वरूपस्य सर्वप्रत्यक्त्वमिति ब्रुवन्विपक्षेऽनात्मत्वप्रसङ्गो बाधक इत्याह–प्रत्यगात्मेति ॥ ३५ ॥ सिद्धार्थायबोधकानामपि मध्ये यत्पुत्रस्ते जात इत्यादिकं तदपि परशिवस्वरूपप्रत्यायकं प्रमाणं न भवतीत्याह–सिद्धार्थेति ॥ ३६ ॥

इसमें कारण है कि वे सब इदन्तया विषय होने वाली वस्तुओं को ही ज्ञात कराते हैं और आत्मा का कभी 'यह' ऐसे पता नहीं चलता । जिसका पता तो चले किंतु 'यह' ऐसे नहीं, वह वस्तु प्रत्यक् कही जाती है । अतः प्रत्यक्ष व उसी पर आधारित सब प्रमाणों से कोई भी जन्तु शिव को नहीं जान सकता क्योंकि वे प्रत्यग्रूप हैं ॥ ३३–३४ ॥ शिव प्रत्यक् आत्मा हैं, पराक् (प्रत्यक् से विपरीत–इदंतया प्रतीत होने वाला) पदार्थ नहीं हैं । जो कुछ भी पराक् होता है वह अनात्मा ही देखा गया है तथा शास्त्र व युक्ति से भी यही निश्चित होता है । शिव जड अनात्मा हों यह असंभव है । अतः वे पराक् नहीं हैं ॥ ३५ ॥ वाक्य भी यदि अनात्मा के प्रतिपादनार्थ प्रयुक्त होता है तो चाहे वह सिद्धार्थबोधक हो, उससे शिव नहीं जाने जा सकते ॥ ३६ ॥ जो वाक्य आत्मयाथात्म्य बताने के लिए प्रयुक्त होते हैं वे वैदिक हों या उसके अनुसार कहे गये लौकिक हों, प्रत्यगात्मा शिव के विषय में वे वाक्य ही प्रमा के उत्पादक हैं । वेदान्तप्रसिद्ध महावाक्य

---

१ घ. व्यतिरेकाणां । ग. ङ. तद्व्यतिरेकेण । २ च. बाधत्वात् ।

किंचित्सिद्धार्थकं वाक्यं लौकिकं श्रुतिपूर्वकम् । प्रत्यग्रूपे शिवे साक्षात्प्रमाणं भवति द्विजाः ।

वेदान्तानां महावाक्यं प्रत्यग्ब्रह्मैकतार्थगम् ॥ ३७ ॥

भूमानन्दशिवप्राप्तिसाधनं परिकीर्तितम् । तदेव भ्रान्तिसिद्धस्य संसारस्य निवर्तकम् ॥ ३८ ॥

आत्मा स्वभावतो बद्धो यदि स्याद्वेदवित्तमाः । नैव मुच्येत संसाराज्जन्मान्तरशतैरपि ॥ ३९ ॥

यत्तु ब्रह्मात्मैक्यबोधकं तत्त्वमस्यादिवेदान्तवाक्यं तदनुसारि स्मृतिपुराणादिवाक्यं च तेनैव प्रमाणेन यथोदीरितमद्वितीयं परशिवस्वरूपमवगम्यत इत्याह—**किंचिदिति** । सर्वप्रत्यग्भूते निष्प्रपञ्चे परशिवस्वरूप उपनिषद्वाक्यमेवाव्यवधानेन प्रमाणम् । स्मृतिपुराणादिवाक्यं तु मूलभूतश्रुतिसापेक्षत्वाद् व्यवधानेन प्रमाणम् । अतस्तत्र साक्षात्प्रामाण्यमुपनिषद्वाक्यस्यैवेत्यर्थः । श्रूयते हि—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' । 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं सर्वानुभूमात्मानं संपराये' इति । उपनिषत्स्वेवाधिगत औपनिषदः, अत एव परस्मिन्ब्रह्मण्युपनिषद्वाक्यस्यैव प्रामाण्यमिति भगवान्व्यासः सूत्रयामास—'शास्त्रयोनित्वात्' इति । अस्य सूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमर्थतस्तदेतत्संगृह्योक्तम्—'अस्त्यन्यमेयताऽप्यस्य किंवा वेदैकमेयता । घटवत्सिद्धवस्तुत्वाद् ब्रह्मान्येनापि मीयते ॥ [1]रूपलिङ्गादिराहित्यादस्यामान्तरयोग्यता । तं त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता' इति । 'सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते । प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते'[2] इति यद्ब्रह्मणः सर्वप्रमाणवेद्यत्वं तत्प्रपञ्चस्यैव न निष्प्रपञ्चस्येत्यविरोधः ॥ ३७ ॥ प्राप्तप्राप्तिपरं निवृत्तनिवर्तकमिति यत्सिद्धार्थबोधकवाक्यस्य भेदद्वयं तदुभयरूपं वेदान्तवाक्यं भवतीत्याह—**भूमानन्देति** । निरतिशयानन्दपरशिवस्वरूपं मुमुक्षुणा पूर्वमात्मतया प्राप्तमेव पुनरविद्यावशात्तिरोहितमभूत । प्राप्तस्यैव तस्य प्राप्तिः कण्ठगतचामीकरवद् 'ब्रह्मविदाप्नोती'ति प्रतिपाद्यते । तस्मिन्परशिवस्वरूपे स्वभावतो निवृत्तस्य संसारस्य भ्रान्त्या प्रसक्तस्य तत्स्वरूपयाथात्म्यप्रतिपादनेन निवर्तकत्वात्तत्त्वमस्यादिवाक्यं निवृत्तनिवर्तकमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ भवेदेवं यद्यात्मनः संसारः कल्पितः स्यात्स तु तस्य स्वभावसिद्ध एवेत्यत आह—**आत्मेति** । वस्तुस्वभावसिद्धस्योपायशतेनाप्यपनेतुमशक्यत्वादनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इसे ही समझाते हैं कि प्रत्यक् रूप से सर्वप्रसिद्ध आत्मा ब्रह्म ही है ॥ ३७ ॥ क्योंकि नित्यमुक्त ब्रह्मरूपता हम सब की है, संसरण भ्रम मात्र है इसलिये अनन्त आनन्दरूप शिव की प्राप्ति का साधन व भ्रमसिद्ध संसरण की निवृत्ति का साधन अपनी वास्तविक शिवरूपता का ज्ञान ही है, अत एव तादृश ज्ञान के उत्पादक वाक्य को उक्त लाभ व निवृत्ति का साधन कह दिया जाता है ॥ ३८ ॥ आत्मा यदि स्वभाव से—अर्थात् वस्तुतः—बद्ध होता, संसरणशील होता, तो कभी भी उसका मोक्ष हो नहीं सकता था (आचार्य ने सूत्ररूप से कह दिया है—'नान्यदन्यद्भवेद्यस्मात्' (उप. सा. पद्य १५.१) ॥ ३९ ॥ जिस वस्तु का जो धर्म होता

---

१ ख. °त्यान्नास्ति मा । २ ब्रह्मसिद्धिग्रन्थे (४.३) उक्तमिति शेषः ।

यस्य यो वेदविच्छ्रेष्ठाः स्वतो धर्मो न चान्यथा ।
धर्मिणा सह तन्नाशो भवत्येव न चान्यथा ॥ ४० ॥
आत्मनो नैव नाशोऽस्ति कदाचिदपि सुव्रताः । यतो घटादेर्नाशस्तु दृष्टो विप्रा अनात्मनः ॥ ४१ ॥
आत्मभेदस्तथैवाऽऽत्मब्रह्मभेदश्च सुव्रताः । उपाधिनैव क्रियते न स्वतो मुनिपुंगवाः ॥ ४२ ॥

ये त्वेवमात्मनः संसारः स्वाभाविक इत्याहुस्तेषां घटादिधर्मस्य रूपादेर्धर्मिणा घटादिना सहैव नाशो दृष्ट इति धर्मभूतसंसारनिवृत्तौ धर्मिभूत आत्माऽप्युच्छिद्येतेत्याह–यस्येति ॥ ४० ॥ इष्टापत्तिरित्यत आह–आत्मन इति । न खलु स्वानुभवसिद्धस्याऽऽत्मस्वरूपस्य नाशः संभवति । 'असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इत्यसत्त्वं निराकृत्य 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद संतमेनं ततो विदुः' इति श्रुत्या तत्स्वरूपस्य सर्वदाऽस्तित्वप्रतिपादनादत एव 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इति तस्य नित्यत्वव्यपदेशः । 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्' । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादिश्रुतिभिस्तस्य सर्वविक्रियारहितत्वं प्रतिपाद्यते । अतश्च तस्य नाशो न संभवति । यस्माद्विकारप्रपञ्चस्यैव घटपटादेर्नाशो दृश्यत इत्यर्थः । एवं ह्यात्मनो नाशस्यासंभावनीयत्वात्तद्धर्मतया प्रतिपन्नस्य संसारस्य पारमार्थिकत्वे विद्ययाऽपनेतुमशक्यत्वादनिर्मोक्षप्रसक्तेरात्मनः[1] संसारो भ्रान्तिपरिकल्पित एवेत्यभ्युपगन्तव्यः ॥ ४१ ॥ इत्थं परमशिवस्वरूपस्य प्रत्यगात्मनो बोधकं प्रमाणं परमार्थतः संसाराराहित्यं चोपपाद्य तन्नानात्वव्यवहारो जीवेश्वरभेदश्च न पारमार्थिक इत्याह–आत्मभेद इति । उपाधिनैवेति । उपाधिरीश्वरस्य विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया । जीवानां तु मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या तत्कार्याण्यन्तःकरणानि । एवमुपाधिनानात्वादेकस्यैव परशिवचैतन्यस्य नानात्वभ्रम इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

है–जो स्वभाव होता है–वह कभी अन्यथा नहीं होता, बदलता नहीं । वस्तु के नष्ट होने पर ही उसका नाश होता है, अन्य किसी तरह नहीं । (अध्याय ३९ में इस पर और विचार आयेगा ।) ॥ ४० ॥ आत्मा का कभी नाश होता नहीं । घट आदि जड (अनात्मा) वस्तुओं का ही नाश प्रमाणसिद्ध होने से अदृष्टचर आत्मनाश अस्वीकार्य है । (जब आत्मा नष्ट होगा नहीं तो उसका स्वाभाविक धर्म होने पर संसार भी निवृत्त होगा नहीं जबकि शास्त्र संसारनिवृत्ति बताता है, अतः संसार वस्तुतः आत्मधर्म नहीं है केवल भ्रमसिद्ध है यह तात्पर्य है) ॥ ४१ ॥ जीवों का परस्पर भेद और परमेश्वर से जीवों का भेद उपाधिप्रयुक्त ही है, स्वरूपतः नहीं ॥ ४२ ॥ जैसे घट आदि उपाधि के सम्बन्ध से घटाकाश शरावाकाशादि का आपसी तथा महाकाश से भेद होता है जबकि वस्तुतः आकाश में कोई भेद नहीं, ऐसे ही आत्मा वेदान्तों के तात्पर्यतः एक अखण्ड चिद्रूप ही प्रमित होने से उसके प्रतीयमान भेद औपाधिक ही हैं । (वस्तुतः

---

१ न चेष्टापत्तिर्वाच्या, सुप्त्यादौ स्वस्य संसारिताया अनुपलब्धे र्युक्त्या चात्मसंसारिताऽसिद्धेरिति भावः ।

घटाद्युपाधिसंपर्कादाकाशस्य भिदा यथा ॥ ४३ ॥

एकमेवेति वेदान्तास्तात्पर्येण महेश्वरम् । आहुश्चिद्रूपतो[1] भेदश्चितो नास्त्येव सर्वथा ॥ ४४ ॥

[2]चैत्यरूपेण भेदस्तु चैत्यस्यैव चितो न हि ।

आत्मभूतः शिवः साक्षाच्चिन्मात्रज्योतिरेव हि ॥ ४५ ॥

घटादीनां तु चैत्यानामनात्मत्वस्य दर्शनात् ।

आत्मनोऽपि स्वतो भेदमाहुः केचिन्मुनीश्वराः ॥ ४६ ॥

एकस्यैवौपाधिवशान्नानात्वं दृष्टान्तेन द्रढयन्स्वाभाविकमेकत्वं निगमयति–**घटादीति** । यथैकस्यैवाऽऽकाशस्य घटगृहाद्युपाधिसंवन्धवशाद् घटाकाशो गृहाकाश इति नानात्वपरिकल्पनं तद्वदेव जीवेश्वरनानात्वमित्यर्थः । श्रूयते हि–'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' । 'एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा[3] वहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' ॥ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादिश्रुतिभिः स्वगतसजातीयविजातीयरहितस्य चिदात्मनस्तात्पर्येणैकत्वप्रतिपादनादित्यर्थः । किंचाऽऽत्मनानात्वं वदन्वादी प्रष्टव्यः किमात्मनः स्वप्रकाशचिद्रूपेण नानात्वमुताहंप्रत्ययविषयान्तःकरणविशिष्टचैत्यरूपेणेति । नाऽऽद्य इत्याह–**चिद्रूपतो भेद** इति । देवदत्तादिप्रमातृविशेषेष्वहंप्रत्ययविषयतया चैत्येषु च व्यावर्तमानेषु निकृष्टचिन्मात्रस्यैकरूप्येण सर्वत्रानुवृत्तेर्न तद्भेदकल्पनावकाश इत्यर्थः ॥ ४३–४४ ॥ अस्तु तर्हि प्रमातृलक्षणेन चैत्यरूपेण भेद इति द्वितीयः कल्प ? इत्यत आह–**चैत्यरूपेणेति** । प्रमातृरूपेषु चैत्येषु व्यावर्तमानेषु चित्सर्वत्रानुवृत्तेस्ततो भिन्ना । अनुवृत्तं व्यावृत्तादन्यदिति जातिव्यक्त्यादौ दृष्टत्वादतश्चैत्यरूपेणोच्यमानो भेदश्चैत्यस्यैव न चितः । न हि घटपटयोर्भेदो नभसो नानात्वमावहतीत्यर्थः । तर्हि तथाविधचैतन्यरूप एवाऽऽत्मेत्याशङ्क्याऽऽह–**आत्मभूत** इति । **चिन्मात्रज्योतिरिति** । **मात्रशब्देन** सर्वप्रमातृषु चित्संवलितो नानाकारश्चेत्यांशोऽन्तःकरणपरिणामोऽहंकारो व्यावर्त्यते । अतस्तस्य नानात्वेऽप्यनुगतचिदेकशरीरस्याऽऽत्मनो भेदो नाऽऽशङ्कनीय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥ विमतोऽहंकारो नाऽऽत्मा चिद्भास्यत्वाद् घटादिवदित्यभिप्रेत्याऽऽह–**घटादीनामिति** । इत्थं स्वमते चिद्रूपस्याऽऽत्मन एकत्वमुपपाद्य परमतं दूषयितुमुपन्यस्यति–**आत्मनोऽपीति** । **स्वत** इति । स्वभावत एव नोपाधिवशादित्यर्थः । तथा च काणादं सूत्रम्–'नानात्मानो व्यवस्थातः' इति । सांख्याश्चाऽऽहुः–'जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च, पुरुषवहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' इति । आत्मन एकत्वे चैत्रमैत्रादिगात्रेषु सुखदुःखव्यवस्थाया अनुपपत्तेर्जननमरणादिप्रतिनियमादेश्चानुपपन्नत्वात्प्रतिशरीरं नानैवाऽऽत्मान इति तेषामभिप्रायः ॥ ४६ ॥

परिवर्तन या भेद किये बिना परिवर्तन या भेद की प्रतीति जिस हेतु से होती है वह उपाधि है ।) ॥ ४३–४४ ॥ चेतन अर्थात् ज्ञानरूप से कोई भेद नहीं है । भेद सारा ज्ञेय उपाधिरूप से है । अतः भेद

---

१ च. "तो भद्रश्च" । २ ख. ग. घ. चेत्यरू" । ३ ङ. वहुधा चैकधा चै" । ४ घ. "ति व्य" ।

तत्र संगतमेव स्यादात्मा भेदस्य साधकः ।

भेदसाक्षी शिवो ह्यात्मा कथं भिन्नो भवेद् द्विजाः ॥ ४७ ॥

अत आत्मनि भेदस्तु भ्रान्तिसिद्धो न वस्तुतः ।

एकस्य नभसो भेदो यथा भ्रान्त्या प्रतीयते ॥ ४८ ॥

यस्य यत्स्वत एव स्यात्तदन्यत्तस्य सुव्रताः ।

अन्योपाधिप्रयुक्तं स्यादिति लोके व्यवस्थितम् ।

अतः स्वतोऽद्वितीयस्य भेदो भ्रान्तः परात्मनः ॥ ४९ ॥

आत्मन ऐक्येऽप्यौपाधिकभेदस्वीकारादप्येतत्सर्वमनुपपद्यत इत्यभिप्रेत्य दूषयति–**तदिति** । आत्मनो भेदः स्वाभाविक इति यत्तत्र **संगतमित्यर्थः** । कुत इत्यत आह–**आत्मेति** । वियदादिभूतभौतिकप्रपञ्चस्तावदात्मनः सकाशान्निष्पद्यते 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिश्रुतेः । भेदोऽपि प्रपञ्चान्तःपातित्वात्तस्मादेवोत्पद्यत इति वक्तव्यम् । तस्मादुत्पत्त्युत्तरकालीनो भेदस्ततः पूर्वमवस्थितस्यानादेरात्मनः कथं धर्मः स्याद्यद्योगादात्मा भिद्येत । तस्माद्भेदसाधकत्वादात्मनो नानात्वं न युक्तमित्यर्थः । विमतो भेद आत्मनः स्वाभाविको धर्मो न भवति चिद्भास्यत्वाद् घटादिवदित्यभिप्रेत्याऽऽह–**भेदसाक्षीति** ॥ ४७ ॥ विपक्षे चित्स्वरूपवत्तस्य साक्षिभास्यत्वं[1] हीयेतेत्यभिप्रेत्यौपाधिक एवाऽऽत्मगतो भेद इति स्वमतं सदृष्टान्तमुपसंहरति–**अत** इति ॥ ४८ ॥ उक्तभेदस्यौपाधिकत्वं लौकिकन्यायप्रदर्शनेनोपपादयति–**यस्येति** । **यस्य** खलु स्फटिकादेर्यच्छौक्ल्यादिकं स्वाभाविकं रूपं तस्य तद्विरुद्धरक्तिमादिरूपं जपाकुसुमाद्युपाधिप्रयुक्तमेव । यस्मादेवं लौकिकी व्यवस्थाऽतः कारणादात्मनः स्वाभाविकाद्वितीयत्वविरोधी भेदोऽप्यन्योपाधिप्रयुक्त एवेत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । ननु रक्तस्फटिक इत्यत्र जपाकुसुमसंनिधानासंनिधानाभ्यां स्फटिकस्य रक्तिम्न औपाधिकत्वमवगन्तुं शक्यते, न तथाऽऽत्मनो भेदस्येति ? तत्राऽऽह–**भ्रान्त** इति । अयमर्थः–आत्मचैतन्यस्याविद्यातत्कार्यान्तःकरणाद्युपाधिसंबन्धस्यानादिसिद्धत्वादुपाधिव्यतिरेको नास्तीति तद्भेदस्यौपाधिकत्वं न ज्ञायते । अतः पीतः शङ्ख इतिवदन्यदीयधर्मस्यान्यत्राऽऽरोपादात्मगतो भेदो भ्रान्तिसिद्ध एवेत्यर्थः[2] ॥ ४९ ॥

अनात्मनिष्ठ है, साक्षात् ज्ञानरूप शिवात्मतत्त्व में कोई भेद नहीं ॥ ४५ ॥ घटादि ज्ञेयों का स्वाभाविक भेद देखकर कुछ लोग कह देते हैं कि आत्मा में भी भेद है (–नाना जीवात्मायें हैं और सबसे भिन्न एक ईश्वरात्मा है) ॥ ४६ ॥ किन्तु वह बात सर्वथा ग़लत है । आत्मा तो भेद का जनक और साक्षी है । वह भेदवाला हो ही नहीं सकता । (भेद प्रपंचान्तर्गत होने से आत्मोत्पाद्य है । भेदोत्पत्ति से पूर्वस्थित आत्मा स्वाभाविक भेद वाला क्योंकर होगा ? साक्ष्य साक्षी का स्वरूप कभी होता देखा नहीं गया है । वैसा होने पर साक्षिविषयतारूप साक्ष्यता ही असिद्ध हो जायेगी । अतः भी भेद आत्मा का स्वभाव हो यह

---

१ घ. °क्षित्वं भा° । च °क्षिणा भा° । २ अयमर्थ इत्यनेन गतत्वादिहार्थपदमनावश्यकम् ।

अङ्गीकृत्य घटादीनां भेदं [1]वेदार्थपारगाः ॥ ५० ॥

निरस्तश्चाऽऽत्मभेदस्तु घटादीनां भिदाऽपि च । भ्रान्तिसिद्धा न सत्योक्ता तर्कतश्च प्रमाणतः ॥ ५१ ॥

घटादीनां भिदा तावन्न[2] भ्रान्त्यैव प्रतीतितः । प्रतीत्या सत्यरूपैव व्यवहारे मुनीश्वराः ॥ ५२ ॥

नन्वात्मनो भेद औपाधिक इति वदतोपाधिभूतस्यानात्मनो भेदः पारमार्थिक इत्यभ्युपगतं स्यात्तथा चाऽऽत्मनोऽद्वितीयत्वं स्वाभाविकमित्येतत्कथं सिध्येदित्यत आह–**अङ्गीकृत्येति** । घटात्पटो भिन्न इति योऽयमनात्मगतो भेदावभासः सोऽपि भ्रान्त एव न पारमार्थिकः, प्रमाणतर्काभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वादित्यर्थः । प्रमाणतर्कौ चाग्रे दर्शयिष्येते ॥ ५०–५१ ॥ ननु घटपटादिगतो भेदो भ्रान्तिसिद्धश्चेत्तर्हि तत्र प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य व्यवहारे विसंवादः स्यात् । न हि भ्रान्तिसिद्धे शुक्तिरजतादौ प्रवृत्तो व्यवहारे संवाद्यत[3] इति ? अत आह–**घटादीनामिति** । घटादीनां परस्परं यो भेदः नासौ शुक्तिरूप्यादिवद्व्यवहारदशायां भ्रान्तः, सति प्रमातर्यबाधितानुभवसिद्धत्वात् । शुक्तिरूप्यादिकं तु सत्येव प्रमातरि बाध्यत इति युक्तस्तत्र [4]विसंवाद इत्यर्थः । सत्त्वं हि त्रिविधम् । प्रातीतिकं शुक्तिरूप्यादौ । व्यावहारिकं सत्त्वं घटपटादौ । सर्वदा बाधवैधुर्यलक्षणं पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः । तत्र पारमार्थिकसत्त्वाभावाभिप्रायेणानात्मप्रपञ्चभेदस्य भ्रान्तिसिद्धत्वमुक्तम् । व्यवहारतस्तु सत्यरूप एवेत्याह–**प्रतीत्येति** ॥ ५२ ॥

असंगत है ।) ॥ ४७ ॥ अतः आत्मा में भेद केवल भ्रमसिद्ध है, वस्तुतः नहीं है । जैसे एक ही आकाश है, भ्रम से उसमें भेदप्रतीति होती है, वैसे एक ही आत्मा है भ्रम से भेदप्रतीति होती है । (न तो नाना जीव ही हैं और न ही ईश्वरात्मा व जीवात्मा यों दो आत्मा हैं । एक ही शिव किसी उपाधि के औपाधिक सम्बन्ध से ईश्वर व अन्य उपाधियों के तादृश सम्बन्ध से नाना जीवरूप से प्रतीत हो रहा है ।) ॥ ४९ ॥ जो अपने स्वाभाविक रूप से विपरीत प्रतीत होता है उसका वह विपरीत प्रतीयमानरूप उपाधिप्रयुक्त होता है–यही अनुभवसिद्ध है । (स्फटिक शुद्ध है । इससे विपरीत लाल आदि रूप वाला जब वह प्रतीत होता है तब यही पाया जाता है कि उसका यह रूप लाल फूल आदि उपाधि के कारण है । वस्तुतः वह लाल नहीं है ।) अतः स्वयं अद्वितीय परमात्मा की जो भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीति हो रही है–जीव परस्पर भिन्न हैं, ईश्वर जीवों से भिन्न है–यह उपाधिप्रयुक्त भ्रम से ही हो सकती है ॥ ४९ ॥ और यह तो इस बात को मानकर कहा है कि उपाधियों में वस्तुतः भेद होता है, केवल आत्मा में वह काल्पनिक है । किन्तु स्थिति तो यह है कि घट आदि उपाधियों में भी भेद प्रमाण व तर्क से सिद्ध न होने के कारण काल्पनिक ही है । (भेदमात्र काल्पनिक होने से आत्मभेद की काल्पनिकता का क्या कहना !) ॥ ५०–५१ ॥ घट

---

१ घ. °दान्तपा° । २ भिदा नेति । किन्तर्हि ? भ्रान्त्यैव भिदा । कुतः ? प्रतीतितः, यत्प्रतीतिर्विषयस्तत्र सत्यमित्यर्थः । ३ घ. विसंवाद्यत । ४ ग. संवाद ।

स्वरूपत्वेन वा विप्रा धर्मत्वेनैव वा भिदा । अपि वर्षशतेनापि वस्तुतो न निरूप्यते ॥ ५३ ॥

अन्यतोऽन्यस्य भेदः स्यान्नैकस्यैव सदा खलु ।

अन्यत्वं वस्तुनो भेदे सिद्धे सिध्यति यौक्तिकम् ॥ ५४ ॥

स च व्यावहारिको भेदो वस्तुरूपत्वेन ततोऽतिरिक्तधर्मत्वेन च वादिभिरङ्गीकृत इत्याह–**स्वरूपत्वेनेति** । तत्र तावत्**प्राभाकरा** घटात्पटो भिन्न इत्यत्र घटप्रतियोगिघटितं पटस्वरूपमेव भेदो न ततोऽतिरिक्त इत्यङ्गीकुर्वते । ततश्च स्वरूपस्यैव भेदत्वे तद्ग्रहणवद्भेदग्रहणस्यापि प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्ग इति । निर्विकल्पके वस्तुस्वरूपात्मना दृष्टस्य भेदस्य सविकल्पकव्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षतोपपत्तेरयमनयोर्भेद इति प्रतिपत्तेर्वस्तुस्वरूपातिरिक्तो धर्म एव भेद इति **वैशेषिकादयः** । ननु व्यवहाराविसंवादाभावाद्भेदः सत्य एव चेत्कृतमद्वितीयत्ववार्तयेत्यत आह–**अपि वर्षेति** । भेदस्य यत्सत्यत्वं ब्रह्मण इव न तत्पारमार्थिकम् । वस्तुतो निरूपयितुमशक्यत्वात् । तथा हि–स्वरूपभेदपक्षस्तावन्न युज्यते । निर्विकल्पकवत्सविकल्पकेऽपि प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गात् । न हि वस्तुस्वरूपग्रहणं प्रतियोगिग्रहणमपेक्षते । किंच प्रतियोगिघटितभेदस्य स्वरूपत्वे भेदविशेषणतया[1] प्रतियोगिनोऽपि स्वरूपेऽन्तर्भावात्प्रपञ्चादात्मा भिन्न इत्यादावात्माद्वैतमापतेत् । किंच विदारणात्मको भेदो वस्तुनः स्वरूपं चेदभेदैकार्थसमवायिन एकत्वस्य विनाशात्स्वरूपभेदवादिनः किमप्येकं वस्तु न सिध्येत् । तदुक्तं चित्सुखाचार्यैः–'सापेक्षत्वात्सावधेश्च तत्त्वे द्वैतप्रसङ्गतः । एकाभावादसंदेहान्न रूपं वस्तुनो भिदा' इति ॥ ५३ ॥ नाऽपि धर्मभेदपक्षो[2] युक्त इत्याह–**अन्यत इति** । घटात्पटो भिन्नोऽयमनयोर्भेद इत्यादिविशिष्टज्ञानेनैव हि धर्मिप्रतियोगिघटितो भेदो गृह्यते । नैतद्युक्तं, विकल्पासहत्वात् । तत्किं भेदमेव गोचरयेदुत वस्त्वपि । यदि वस्त्वपि, तदाऽपि भेदपूर्वकं तद् गोचरयेत्तत्पूर्वकं वा भेदमाहोस्विद्युगपदेवोभयम् । नाऽऽद्यः । धर्मिप्रतियोगिवस्तुप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदमात्रस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् । अत एव भेदपूर्वको वस्तुग्रह इत्यपि परास्तः । प्रथमतो धर्मिप्रतियोगिलक्षणं वस्तु गृहीत्वा पश्चाद्भेदं गृह्णातीति तृतीयोऽपि न युक्तः । शब्दबुद्धिकर्मणां त्रिक्षणावस्थायित्वाद्विरम्यव्यापाराभावात् । नापि चतुर्थः । भेदज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानं हि कारणम् । तस्य च नियतपूर्वक्षणसत्त्वनियमेन यौगपद्यायोगात् । किंचास्मादिदं भिन्नमिति भेदगोचरं विशिष्टज्ञानं विशेषणभूतधर्मिप्रतियोगिपुरःसरमेवेष्टव्यम् । दण्डी देवदत्त इत्यादेः सर्वस्यापि विशिष्टज्ञानस्य विशेषणविशेष्यतत्संबन्धिज्ञानपूर्वकत्वनियमात् । तदुक्तम्–'विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकीं स्थितिम् । गृहीत्वा संकलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा' इति ॥ किंच विशेषणविशेष्यभावश्च भिन्नयोरेव । न ह्येकं वस्तु स्वयमेव विशेषणं विशेष्यं च भवति । तथा च येन भेदेन तौ विशेषणभूतौ धर्मिप्रतियोगिनौ भिन्नौ स किमयेव भेदो भेदान्तरं वा । अयमेव चेदात्माश्रयः । भेदान्तरमपि भिन्नयोरेव धर्मिप्रतियोगिनोरिति तस्यापि भेदपुरःसरत्वम् । स चेत्प्रथम एव तदाऽन्योन्याश्रयता । अथ तृतीयस्त्वन्यो भेदस्तदा चक्रकापत्तिः । यदि भेदव्यक्तिपरम्परा स्वीक्रियते तदाऽन्तिमस्यापि भेदस्यैवमेवेति तदसिद्ध्या मूलभूतभेदपर्यन्तमसिद्धेरनवस्था मूलक्षयकरी स्यात् । तदुक्तं चित्सुखाचार्यैः–'युगपद् ग्रहणायोगादनवस्थाप्रसङ्गतः । परस्पराश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधीः' इति । एतत्सर्वमभिप्रेत्याऽऽह–**अन्यतोऽन्यस्येति** । अक्षरार्थस्त्वन्यस्मात्खल्वन्यस्य भेदो घटात्पटो भिन्न इत्यादिना निरूप्यते । न ह्येकस्यैव भेदो निरूपयितुं शक्यते, भेदग्रहणस्य प्रतियोगिग्रहणपूर्वकत्वनियमात् । अन्यत्वं च भेदे सिद्धे सिध्यति । भेदश्च धर्मिप्रतियोगिनोरन्यत्वे सिद्धे [3]पश्चाद्भेदः सिध्यतीत्यात्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकाद्यापत्तिरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

आदि के भेद सत्य नहीं किंतु भ्रमसिद्ध ही हैं क्योंकि दृश्य हैं । फिर भी व्यवहार में उन्हें प्रतीति के अनुसार सत्य ही मान लिया जाता है । (व्यवहार में घटाकाश पटाकाशादि का भेद भी सत्य मानते हैं । अत एव नाम, प्रयोग आदि की व्यवस्था है । ऐसे ही घट पट आदि का भेद भी माना हुआ सत्य है, वास्तविक सत्य नहीं) ॥ ५२ ॥ यदि भेद वास्तविक होता तो या वह पदार्थों का स्वरूप होता, या उनका धर्म और इस प्रकार उसका निरूपण संभव होता । किंतु विचार करने पर वह न स्वरूप सिद्ध होता है,

---

१ विशेषणं न मुक्त्वाऽऽस्ते विशेष्यमिति हि स्थितिरिति न्यायेन । अन्यथा तद्विशेषणमेव न स्यादुपाधिरुपलक्षणं वाभवेदित्यर्थः । न च तथा संभवति, सदा तद्वत्त्वेन भानादिति भावः । २ क. धर्मपक्षो । ३ पश्चाद्भेद इति पदद्वयमनावश्यकम् ।

एकमेवाद्वितीयं सदित्याह श्रुतिरादरात् । मायामात्रमिदं द्वैतमिति चाऽऽह परा श्रुतिः ॥ ५५ ॥

इत्थं तर्कतो भेदं निरस्य तर्कानुग्राह्यं भेदाभावबोधकं प्रमाणमप्याह—**एकमेवे**त्यादिना । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इति । 'एकमेवाद्वितीयम्' इति छान्दोग्योपनिषत् । तत्रैकमिति स्वगतभेदो निवार्यते । एकमखण्डैकरसमित्यर्थः । एवकारेण सजातीयभेदनिरासः । **अद्वितीय**मिति विजातीयभेदोऽपि निरस्यते । परमार्थतः सद्रूपस्य परशिवस्वरूपस्याद्वितीयत्वे प्रमाणमुपन्यस्यानात्मनो भेदप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽपि श्रुतिः प्रमाणमित्याह—**मायामात्र**मिति । 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' इति माण्डूक्योपनिषदि श्लोकरूपं वाक्यम् । अयमर्थः—यदिदं पराग्रूपं दृश्यं जगत्तत्सर्वं **मायामात्रं** केवलं मायामयमेव । स्वप्रतिष्ठे ब्रह्मणि मायया परिकल्पितत्वात्, अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेन मायायां निवर्तितायां तत्कार्यस्यापि निवृत्तेः परमार्थतोऽद्वितीयं ब्रह्म परिशिष्यत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥ एवं मायया स्वस्मिन्परिकल्पितस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं निश्चित्य प्रत्यगात्मनः

न धर्म । अतः दोनों संभव प्रकारों से अनिरूपणीय होने से वह अनिर्वचनीय ही स्वीकारना पड़ता है । (स्वरूप होने पर स्पष्ट आपत्ति है कि वह प्रतियोगिसापेक्ष न होता । जैसे घटस्वरूप के ग्रहण के लिए पटादि प्रतियोगियों का ज्ञान अनपेक्षित है वैसे घटस्वरूपभूत भेदग्रह के लिए भी भेदप्रतियोगी पटादि का ज्ञान अनावश्यक होता । किंतु होता आवश्यक है । भेद किसका ?—यह प्रश्न बना रहने से जिसका भेद दीखता है उस पटादि को जाने विना भेद जाना नहीं जाता । अतः उसे घटादि का स्वरूप नहीं मान सकते ।) ॥ ५३ ॥ (भेद को धर्म भी नहीं सिद्ध किया जा सकता ।—) किसी भी वस्तु में अपने से भिन्न वस्तु का ही भेद रहता है । स्वयं अपना भेद अपने में ही रहा नहीं करता । पहले भेद सिद्ध हो, तव भिन्न वस्तु की सिद्धि हो व भिन्न वस्तु की सिद्धि होने पर उसका भेद प्रथम वस्तु में सिद्ध हो । इस प्रकार भेद की सिद्धि भेद की ही अपेक्षा रखती है अतः उसे सिद्ध करना असंभव है ॥ ५४ ॥ (तर्क से असिद्ध है इतना ही नहीं, शास्त्र से भी भेद विरुद्ध है—) श्रुति तात्पर्यतः प्रतिपादित करती है कि एकमात्र अद्वितीय सद् ब्रह्म ही है तथा यह द्वैत (दोपना या भेद) केवल माया ही है, भ्रममात्र है । (अतः श्रुतिविरुद्ध भेदसत्यत्व अस्वीकार्य है । किंच भेद किसी प्रमाण से सिद्ध भी नहीं होता । रूप, रस आदि वाला न होने से चक्षु आदि का वह विषय नहीं हो सकता । वाह्य होने से मन उसे स्वातन्त्र्येण नहीं जान सकता । न यह अनुपलब्धिगम्य है कारण कि ऐसी प्रसक्ति ही नहीं होती 'यदि घट पट होता तो दीखता', क्योंकि विरुद्ध वस्तुओं की एकता प्राप्त ही नहीं है । अप्रत्यक्ष होने से तन्मूलक अनुमान की तो गति ही नहीं । भेद के बिना कुछ अनुपपन्न न होने से वह अर्थापत्तिसिद्ध भी नहीं है । व्यवहार तो घट से किया जाता है, वह पटभिन्न है या नहीं इससे क्या अंतर पड़ता है ? उपादानादि घट का

एकत्वं पश्यतो मोहः कः शोक इति चाऽऽह हि ।
द्वितीयाद्वै भयं नाल्पे सुखमित्यपि चाऽऽह हि ॥ ५६ ॥
अतस्तर्कप्रमाणाभ्यां वस्त्वेकत्वं सुनिश्चितम् ।
विदुषामनुभूत्या च वस्त्वेकत्वं सुनिश्चितम् ॥ ५७ ॥
वस्त्वेकत्वं महावाक्यादेव जानन्ति ये जनाः ।
ते मुच्यन्ते हि संसाराद्यथा स्वप्नप्रबोधनात् ॥ ५८ ॥

सर्वात्मकपरशिवस्वरूपज्ञाने यत्फलं तत्रापि श्रुतिं प्रमाणयति–**एकत्वं पश्यत** इति । वाजसनेयकमन्त्रोपनिषद्येवमाम्नायते–'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति । अधिष्ठानब्रह्मयाथात्म्यज्ञानेनाविद्यातत्कार्यभूतप्रपञ्चस्य विलयान्निरतिशयानन्दब्रह्मात्मैक्यं साक्षात्कुर्वतो विदुषः शोकमोहयोः प्रसक्तिरपि नास्तीत्यर्थः । जगन्मिथ्यात्वानङ्गीकारेणाऽऽत्मनः सद्वितीयत्वस्वीकारे श्रुतिरेव बाधं प्रतिपादयतीत्याह–**द्वितीयादिति** । 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति वाजसनेयकम् । द्वैताङ्गीकारे ह्यन्यस्मादन्यस्य भीरवश्यं स्यात् । अतो द्वैतमेव भयावहमित्यर्थः । तैत्तिरीयके च ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्याभयसाधनत्वं, भेददर्शनस्य[2] भयसाधनत्वं चाऽऽम्नायते–'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति' इति । एवं द्वैताङ्गीकारे श्रुत्यैवानिष्टापत्तिं दर्शयित्वेष्टहानिरपि श्रुत्यैव प्रतिपादितेति तामुदाहरति–**नाल्पे सुखमिति** । छान्दोग्योपनिषदि सप्तमेऽध्याये सनत्कुमारेण नारदायोपदिष्टं वाक्यम्–'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यो यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' इति । यदपरिच्छिन्नं परशिवस्वरूपमद्वितीयं तदेव सुखं निरतिशयत्वात् । सार्वभौमप्रभृतिब्रह्मलोकान्ते परिच्छिन्ने यत्सुखमुत्तरोत्तरशतगुणितमवस्थितं तस्य सातिशयत्वात्क्षयिष्णुत्वाच्च सुखत्वमेव नास्ति । अतो नित्यनिरतिशयसुखात्मको भूमैव ज्ञेय इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

इत्थं श्रुतिभिरात्मनस्तात्पर्येणाद्वितीयत्वप्रतिपादनात्पूर्वोक्ततर्कबलात्तदर्थान्यथात्वशङ्काया अप्यनुदयादद्वितीयं परशिवस्वरूपमुपनिषदेकवेद्यमिति सिद्धमित्युपसंहरति–**अत इति** ॥ ५७ ॥ **वस्त्वेकत्वमिति** । यथा स्वप्नप्रपञ्चो बोधमात्रान्निवर्तते न त्वन्यत्कर्मापेक्षते, एवमेव वेदान्तमहावाक्यजनिताद् ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारज्ञानादेवाविद्यामयप्रपञ्चोऽनायासेनैव निवर्तत इत्यर्थः ॥ ५८ ॥ प्रमाणतर्काभ्यां निर्णीतमभेदं परित्यज्य भेदमेव स्वीकुर्वतो बाधमाह–**भेदेति** । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति

ही करना है । अतः भेद प्रमाणसिद्ध नहीं । भेद प्रत्यक्ष होने पर संदेह का तो उच्छेद ही हो जायेगा । कभी किसी को संशय हुआ ही नहीं करेगा । विस्तार चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि आदि में देखना चाहिये ।) ॥ ५५ ॥ (अद्वैतप्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य है यह इसी से सिद्ध है कि उसे ही उसने सफल और विपरीत को निन्द्य बताया है–) 'जो एकत्व देखता है उसे शोक मोह नहीं होता' यों ईशोपनिषत् में एकत्वज्ञान को महत्फल वाला बताया है । 'दूसरा हो तो उससे भय होता ही है', 'देश, काल या वस्तुतः परिच्छिन्न वस्तु में कोई सुख नहीं'–यों क्रमशः बृहदारण्यक और छांदोग्य में कह कर भेद की निन्दा की है । (अतः भेद श्रुतिविरुद्ध है ।) ॥ ५६ ॥ इसलिये युक्ति और शास्त्रप्रमाण से यह निश्चित है कि वस्तु एक शिव ही है । यही बात विद्वानों के अनुभव से भी सिद्ध है ॥ ५६ ॥ जो लोग वस्तु की एकता को–त्रिविध परिच्छेद राहित्य को–महावाक्य से समझ लेते हैं, वे संसार से उसी तरह मुक्त हो जाते हैं जैसे जगने पर स्वप्न से । (यहाँ महावाक्य का अर्थ है जीव-ब्रह्म की एकता प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य) ॥

भेददर्शनमास्थाय मुक्तिं वाञ्छन्ति ये नराः । ते महाघोरसंसारे पतन्त्येव न संशयः ॥ ५९ ॥
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि । संपश्यन्नात्मयाजी स्यात्स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ६० ॥
सर्वभूतानि संपश्यन्नात्मन्येव मुनीश्वराः । संसारसागरादस्मादुत्तीर्णः स्यान्न संशयः ॥ ६१ ॥
बहवोऽद्वैतविज्ञानाद्विमुक्ता भवबन्धनात् । अद्वैतज्ञानयज्ञेन[1] न तुल्यो विद्यते क्वचित् ॥ ६२ ॥
द्वैतविज्ञानमासाद्य मुक्तिं वाञ्छन्ति ये नराः । ते महामोहसंसारसर्पदष्टा न संशयः ॥ ६३ ॥
आत्मयाथात्म्यविज्ञानयज्ञं मुक्त्वा नराधमाः । क्रियारूपेषु यज्ञेषु यतन्ते माययाऽऽवृताः ॥ ६४ ॥
ये लङ्घयन्ति संसारसमुद्रं कर्मयज्ञतः । ते महातमसा सर्वं पश्यन्त्येव रविं विना ॥ ६५ ॥
ज्ञानयज्ञोडुपेनैव ब्राह्मणो वाऽन्त्यजोऽपि वा । संसारसागरं तीर्त्वा मुक्तिपारं हि गच्छति ॥ ६६ ॥

य इह नानेव पश्यति' इतिश्रुतेरित्यर्थः ॥ ५९ ॥ प्रतीत[2] सर्वात्मानुभव एव ज्ञानयज्ञो न ततोऽतिरिक्तः कश्चिदित्याह– सर्वभूतेष्विति । श्रूयते हि–'यस्तुः सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते' इति ॥ ६० ॥ अथान्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तविज्ञानस्यैव मुक्तिसाधनत्वं कर्मणस्तदसाधकत्वं चाऽऽह–सर्वभूतानीत्यादिना । अध्यायशेषः स्पष्टः ॥ ६१-७३ ॥

५८ ॥ जो भेददर्शन के सहारे मोक्ष चाहते हैं उनका महाघोर संसार में ही पतन होता है (मोक्ष की संभावना ही नहीं है) ॥ ५९ ॥ सब प्राणियों में स्वयं को और स्वयं में सब प्राणियों को देखते हुए जो आत्मयज्ञ करने वाला होता है वही मोक्षसाम्राज्य पाता है । (सभी शरीरों में प्रतीयमान एक चेतन मैं ही हूँ तथा प्रतीयमान सब शरीर मुझ एक आत्मा पर कल्पित हैं यह ज्ञान विवक्षित है) ॥ ६० ॥ सब भूतों को स्वयं में देखने से निश्चित ही मुक्ति होती है ॥ ६१ ॥ अनेक साधक अद्वैतानुभव पाकर मुक्त हुए हैं । अद्वैतज्ञानयज्ञ के समान कहीं कुछ नहीं है ॥ ६२ ॥ महामोहरूप संसारसर्प से डँसे (अत एव मुमूर्षु) लोग ही द्वैतानुभव के सहारे मोक्ष चाहते हैं, (मुमुक्षु नहीं) ॥ ६३ ॥ आत्मा की यथार्थता समझने का प्रयासरूप यज्ञ छोड़ कर नीच पुरुष क्रियारूप यज्ञों में निरत इसीलिये होते हैं कि वे माया से मुग्ध हैं ॥ ६४ ॥ जो कर्मयज्ञ से समझते हैं कि मोक्ष मिल जायेगा, वे वैसे ही हैं जो सूर्य के बिना अंधेरे से ही सब कुछ देख लेना चाहते हैं ! ॥ ६५ ॥ ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज, ज्ञानयज्ञरूप नौका से ही संसार सागर पार कर मोक्ष पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ६६ ॥ अहो ! खेद है कि शिवज्ञानरूप यज्ञ के

---

१ ज्ञानमेव यज्ञो ज्ञानयज्ञः । ज्ञानं च साक्षात्कारस्तदुपायानुष्ठानं च, एतज्ज्ञानमिति स्मृतेः । २ ख. "तीचः सार्वात्म्यानु" । क. ग. घ. ङ. च. छ. "तीतस ।

अहो माहेश्वरज्ञानं यज्ञवैभवमास्तिकाः । अविज्ञाय नरा लोके यतन्ते सारवर्जिते ॥ ६७ ॥

अपि देवा न जानन्ति ज्ञानयज्ञस्य वैभवम् ।

किं पुनर्मानवा विप्राः शिवो जानाति सर्ववित् ॥ ६८ ॥

सर्वधर्मसमोपेताः शिवभक्तिपरायणाः । प्रसादादेव रुद्रस्य जानन्ति ज्ञानवैभवम् ॥ ६९ ॥

प्रसादहीनैः पापिष्ठैर्मनुष्ठैर्ब्राह्मणोत्तमाः । ज्ञानयज्ञः परिज्ञातुं न शक्यः सर्वसाधनैः ॥ ७० ॥

ज्ञानयज्ञैकनिष्ठानां नावाप्यं विद्यते क्वचित् । न हेयं विद्यते सर्वं ब्रह्मरूपेण भाति हि ॥ ७१ ॥

न मया शक्यते वक्तुं ज्ञानयज्ञस्य वैभवम् ।

मुनिभिश्च तथा देवैस्तथाऽन्यैरपि जन्तुभिः ॥ ७२ ॥

श्रुत्या शिवेन वा विप्रा ज्ञानयज्ञस्य वैभवम् । कथंचिच्छक्यते वक्तुं सत्यमेव न संशयः ॥ ७३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविवरणं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविवरणं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

माहात्म्य को न समझकर लोग निःसार कार्यों में लगे रहते हैं ॥ ६७ ॥ देवता भी इस ज्ञानयज्ञ का वैशिष्ट्य नहीं जानते तो मनुष्यों के जानने का प्रश्न ही कहाँ ? सर्वज्ञ शिव ही इसका वैभव समझते हैं ॥ ६८ ॥ जो शिवभक्त स्वधर्मानुष्ठान से क्षीणकल्मष हो जाते हैं वे ही शिवकृपा से ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता समझ पाते हैं ॥ ६९ ॥ जिन पर महादेव की कृपा नहीं वे घोर पापी ज्ञानयज्ञ को ठीक तरह समझ नहीं सकते ॥ ७० ॥ जो उत्तम साधक केवल ज्ञानयज्ञ में ही तत्पर रहते हैं उनके लिए कुछ प्राप्य या त्याज्य नहीं क्योंकि सभी उन्हें शिवरूप ही प्रतीत होता है ॥ (शिव इसलिये प्राप्य नहीं कि वे स्वरूप हैं, संसार इसलिये त्याज्य नहीं कि वह है ही नहीं—तीनों कालों में उसका होना संभव ही नहीं ।) ॥ ७१ ॥ मैं, मुनि, देवता, श्रुति या शिव भी किसी भी तरह ज्ञानयज्ञ का पूरा वैभव बता नहीं सकते । (अथवा मैं, मुनि, देवता, तथा अन्य जंतु तो इसे नहीं बता सकते पर श्रुति और शिव किसी तरह अपनी अचिन्त्य सामर्थ्य से इसे अवश्य बता सकते हैं ।) ॥ ७२—७३ ॥

एकादशोऽध्यायः

सूत उवाच—भूयोऽपि ज्ञानयज्ञं तु प्रवक्ष्यामि समासतः ।
महाप्रीत्या मुनिश्रेष्ठाः शृणुताऽऽनन्दसिद्धये ॥ १ ॥
धर्माधर्मास्तिताबुद्धिर्येषामस्ति मुनीश्वराः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना[1] इति मे निश्चिता मतिः ॥ २ ॥
धर्माधर्मफलास्तित्वज्ञानं येषां हृदि स्थितम् ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३ ॥
श्रुतिस्मृत्यादिविश्वासो येषामस्ति सदा हृदि ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ४ ॥
परलोकास्तित्वबुद्धिर्येषामस्ति मुनीश्वराः । तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ५ ॥
यमतत्किंकरास्तित्वज्ञानं येषां हृदि स्थितम् ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ६ ॥
भूतप्रेतादिसद्भावज्ञानं येषां हृदि स्थितम् ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ७ ॥

इत्थं प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपत्वज्ञानमेव मुक्तिसाधनं तत्र वेदान्तवाक्यमेव प्रमाणं न तु मानान्तरमित्येतावत्प्रतिपादितम् । संसारित्वासंसारित्वादिविरुद्धस्वभावयोः कथमेकत्वं संगच्छत इति तत्प्रतिपादयितुमध्याय आरभ्यतेभूयोऽपीति ॥ १ ॥

ज्ञानयज्ञविशेष नामक ग्यारहवाँ अध्याय

सूत जी बोले—मैं पुनः ज्ञानयज्ञ के विषय में संक्षेप से कुछ बताता हूँ, आप लोग आनंद प्राप्ति के लिए प्रेमपूर्वक सुनिये ॥ १ ॥ जो लोग धर्म व अधर्म में विश्वास रखते (और विश्वासानुसार प्रवृत्ति करते) हैं वे भी विज्ञानसाधन से संपन्न हैं ऐसा मैं मानता हूँ । (धर्म करने से चित्तशुद्धि द्वारा वैराग्य व तदनन्तर कर्मत्यागपूर्वक विज्ञान लभ्य होने से तथा धर्म करना उसमें विश्वासपूर्वक ही संभव होने से धर्मश्रद्धालु भी साधनसंपन्न समझा जाना चाहिये ।) ॥ २ ॥ जिन्हें यह निश्चय है कि धर्म व अधर्म का फल मिलता है वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न ही हैं ॥ ३ ॥ श्रुति, स्मृति आदि सद्ग्रन्थों पर श्रद्धालु लोग विज्ञानसाधन

---

१ अत्र सर्वत्र विज्ञानसाधनसम्पन्ना इति मध्यमपदलोपिसमासो ज्ञेयः ।

यक्षरक्षादिसद्भावो येषां भाति प्रमाणतः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ८ ॥
मुनीनामस्तिताबुद्धिर्येषामस्ति मुनीश्वराः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ९ ॥
इन्द्रादिदेवतास्तित्वं येषां चित्ते प्रकाशते ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १० ॥
ब्रह्मा विशिष्टो देवानामिति जानन्ति ये जनाः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ११ ॥
ब्रह्मणो विष्णुमुत्कृष्टं ये जानन्ति प्रमाणतः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १२ ॥
विष्णोर्विशिष्टं रुद्रं ये विजानन्ति प्रमाणतः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १३ ॥

तत्र प्रथमं पुरुषार्थसाधनं ब्रह्मात्मविज्ञानमास्तिक्ययुक्तस्यैवेति दर्शयति–धर्माधर्मास्तितेत्यादिना । व्यवहारतत्सिद्धप्रमाणभावाच्छास्त्रान्तराद्धर्मादीनामस्तित्वज्ञानं येषामस्ति तेषां यथोक्तपरतत्त्वज्ञानात्परम्परया तत्साधनभूतविज्ञानसंपत्तिरस्त्येवेत्यर्थः ॥ २–१० ॥

वाले हैं यह निश्चित है ॥ ४ ॥ 'परलोक है' ऐसा जिन्हें निश्चय है, वे भी विज्ञानसाधन से संपन्न ही समझे जा सकते हैं ॥ ५ ॥ जिन्हें यह याद रहता है कि यमराज और उनके दूत वस्तुतः हैं (और एक दिन मुझे यहाँ से ले जायेंगे), वे भी (स्थूल शरीर से भिन्न आत्मा समझने से यत्किंचिद् विवेकी होने के कारण) विज्ञानसाधनसम्पन्न अवश्य हैं ॥ ६ ॥ जो लोग भूत, प्रेत आदि के अस्तित्व को स्वीकारते हैं वे भी (कर्मफल, जगद्वैचित्र्यादि के स्वीकर्ता होने से) ज्ञानसाधनों से सम्पन्न हैं ॥ ७ ॥ यक्ष, राक्षस आदि की सत्ता मानने वाले भी ज्ञानसाधनसंपन्न हैं ॥ ८ ॥ मुनियों की विद्यमानता स्वीकारने वाले भी ज्ञानसाधन-सम्पन्न हैं । (व्यास, मार्कण्डेय आदि चिरंजीवी तथा देववर से अनेक मुनि कल्पान्त तक की आयु वाले हैं । उन्हें विद्यमान वही स्वीकार सकता है जिसे शास्त्र पर श्रद्धा है । अतएव वह साधन वाला है ।) ॥ ९ ॥ जिनके मन में इन्द्र आदि देवताओं का अस्तित्व निःसंदिग्ध है वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न ही हैं ॥ १० ॥ जो 'देवताओं में ब्रह्मा का विशिष्ट स्थान है' ऐसा जानते हैं वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न हैं ॥ ११ ॥ ब्रह्मा से विष्णु को जो उत्कृष्ट समझते हैं वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न हैं ॥ १२ ॥ जो रुद्र का वैशिष्ट्य विष्णु की अपेक्षा अधिक समझते हैं वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न हैं ॥ १३ ॥ जो रुद्र से ईश्वर की व ईश्वर से सदाशिव की अधिक महत्ता समझते हैं वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न हैं । (पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों

रुद्रादीश्वरमुत्कृष्टं ये जानन्ति सुनिश्चितम् ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १४ ॥
ईश्वरादधिको भाति येषां चित्ते सदाशिवः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १५ ॥
सदाशिवादपि श्रेष्ठं ब्रह्माणं ये जना विदुः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १६ ॥
ब्रह्मणः परमं साक्षाद्विष्णुं जानन्ति ये जनाः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १७ ॥

अथ ब्रह्मादीनामप्युत्तरोत्तरसूक्ष्मत्वेनोत्कर्षप्रतिपादनद्वारा परशिवस्वरूपस्य निरतिशयोत्कर्षप्रतिपादनव्याजेन तत्पदार्थं शोधयति—ब्रह्मा विशिष्ट इति । पृथिव्यादीनि पञ्च भूतान्युत्तरोत्तरं कारणत्वेनोत्कृष्टानि तेषामधिपा ब्रह्माविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवाः पञ्चब्रह्ममूर्तयस्तेऽप्युत्तरोत्तरमुत्कृष्टा[1] इत्यर्थः । पृथिव्यादीनां ब्रह्मादयोऽधिपतय इत्यागमैरुक्तम्—[2]'पृथिव्यर्वनिलाकाशांस्तेषामप्यधिपान्यसेत् । ब्रह्माणं च हरिं रुद्रमीश्वरं च सदाशिवम्' इति । स्वयमपि पञ्चब्रह्माध्याये दर्शयिष्यति 'सदाशिवेश्वर' (४.१४.६) इत्यादिना ॥ ११–१५ ॥ सदाशिवादपि श्रेष्ठमिति । आकाशाधिपात्सदाशिवादपि रजःसत्त्वतमोगुणोपाधिका महाभूतसृष्टिस्थितिसंहृतिव्यापारा ब्रह्मविष्णुरुद्रा उत्तरोत्तरं श्रेयांस इत्यर्थः । पूर्वोक्तास्तु ब्रह्माद्या भौतिकसृष्ट्यादिहेतव इत्येषां भेदेनोपादानम् । एतदेव मूर्त्यष्टकं वायवीयसंहितायां नामाष्टकेनोपदिष्टम्—'शिवो महेश्वरश्चैव रुद्रो विष्णुः पितामहः । संसारवैद्यः सर्वज्ञः परमात्मेत्युदाहृतः' इति ॥ १६–१८ ॥

के अधिपति क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु आदि हैं ।) ॥ १४–१५ ॥ सदाशिव से भी जो ब्रह्मा को अधिक उत्कृष्ट मानते हैं वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न हैं । (यहाँ रजउपाधिक को ब्रह्मा कहा गया है । एवं आगे भी सत्त्वोपाधिक और तमउपाधिक का प्रसंग है) ॥ १६ ॥ जो साक्षात् विष्णु को ब्रह्मा से परे समझते हैं वे भी ज्ञानसाधन वाले हैं ॥ १७ ॥ जो नर विष्णु से भी परम स्वयं रुद्र को जानते हैं वे भी वास्तविक ज्ञान के साधन से उपेत हैं ॥ १८ ॥ रुद्र की अपेक्षा ईक्षिता को श्रेष्ठ समझने वाले भी विज्ञान के साधनों से संपन्न हैं । (थोड़े से रजोगुण से विचलित सत्त्वगुण का परिणाम है स्रष्टव्य का विचार जिसे ईक्षण कहते हैं । उस उपाधि वाले को ईक्षिता कहते हैं । वृत्तिरूप ईक्षण माया में होने पर भी चिदप्रकाशित वह ज्ञानात्मक नहीं हो सकता । अतएव ईक्षण से सिद्ध होता है कि चेतन अवश्य है । वृत्त्यात्मक ईक्षण तो मायिक ही है ।) ॥ १९ ॥ जो लोग ईक्षिता से भी परे सर्वज्ञ है ऐसा समझते हैं वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न हैं । (ईक्षण से पूर्व जो विशुद्धसत्त्वप्रधान माया रहती है, तदुपाधिक चेतन सर्वज्ञ है ।) ॥ २० ॥

---

१ क. "प्युत्कृष्टा उत्तरोत्तरमित्य" । २ घ. "व्यम्ब्वनि" ।

विष्णोस्तु परमं साक्षाद् रुद्रं जानन्ति ये जनाः ।

तेऽपि विज्ञानसम्पन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १८ ॥

ईक्षितारं परं रुद्राद्ये विजानन्ति मानवाः । तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ १९ ॥

ईक्षितुर्ये विजानन्ति सर्वज्ञं नितरां परम् ।

तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २० ॥

कारणं ब्रह्म सर्वेषां विशिष्टमिति ये विदुः । तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २१ ॥

कारणत्वोपलक्ष्यं ये सर्वोत्कृष्टं शिवं विदुः ।

तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २२ ॥

अस्ति जीवो न नास्तीति ये जानन्ति प्रमाणतः ।

तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २३ ॥

ईक्षितारमिति ·। तमोगुणोपाधिकाद्रुद्रादपि ततः प्रागवस्थं 'स ईक्षत लोकान्नु सृजै' इतीक्षणोपाधिविशिष्टं परशिवचैतन्यं श्रेष्ठमित्यर्थः । ईक्षणं[1] हीषद्रजः संस्पृष्टसत्त्वपरिणामरूपं स्रष्टव्यपर्यालोचनम् । ततः प्राक्कालीनं (लिकं) विशुद्ध-सत्त्वप्रधानमायोपाधिकं परशिवचैतन्यमेव सर्वज्ञः । स हि ब्रह्मविष्ण्वाद्यपेक्षया नितरां परः जगदाकारेण विवर्तिष्यमाणमायाधिष्ठानत्वेन तत्कारणं यत्स्वप्रतिष्ठं परशिवस्वरूपं प्रागुक्तानां ब्रह्मादीनां सर्वेषामपि कारणत्वाच्छ्रेष्ठमित्यर्थः । तस्यापि कारणत्वोपाधिविशिष्टात्ततोऽपि कारणत्वोपलक्षितं सच्चिदानन्दैकरसं यत्परशिवस्वरूपं तत्सोपाधिकात्सर्वस्मादप्युत्कृष्टमित्यर्थः ॥ १९–२२ ॥ इत्थं सर्वोत्कृष्टप्रतिपादनव्याजेन 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादिश्रुतिभिः सर्वधर्मराहित्येनावगमितं निरुपाधिकं परं ब्रह्म 'तत्त्वमसि' इति महावाक्ये तत्पदेन लक्ष्यं तद् व्युत्पादितम् । अथ त्वंपदलक्ष्यमपि ·स्वरूपं दर्शयति–अस्ति जीव इत्यादिना । [2]नास्ति जीव इति .शून्यवादी हि प्रपञ्चवदात्मनोऽपि शून्यत्वं मनुते । तस्याप्यात्मनानात्वोपाधिजगत्प्रतीतिर्भ्रान्तिसिद्धेति मतम् । तथाच निरधिष्ठानभ्रमस्य निरवधिकबाधस्यासंभवात्तदधिष्ठानावधित्वेन किंचित्तत्त्वमेष्टव्यम् । जगत्प्रतीतिबाधयोरधिष्ठानत्वेनावधित्वेन च यद्वस्तु परिशिष्यते तदस्माभिरात्मेत्युच्यते । अतो भ्रमबाधान्यथानुपपत्त्या शून्यवादिनाऽप्यात्मास्तित्वमङ्गीकार्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

कारणब्रह्म सबसे परे है ऐसा जिनका निश्चय है वे भी विज्ञानसाधनों से युक्त हैं । (जो मायाधीश सर्वज्ञ आदि बनने वाला है वह कारणब्रह्म है ।) ॥ २१ ॥ सर्वोत्तम तो कारणत्व से उपलक्ष्य शिव है ऐसा जो समझ चुके हैं वे भी विज्ञानसाधनसंपन्न हैं । (कारण ब्रह्म में कारणता है ऐसा पूर्व अधिकारी मानता है । उसमें वह नहीं है ऐसा. इसका निश्चय है । जैसे विस्मृत वस्तु में अज्ञातता न होने पर भी वह अज्ञात हो जाती है, ऐसे ब्रह्म में कारणता न होने पर भी वह कारण हो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं) ॥ २२ ॥

---

१ क. घ. च. ज. "णं हि विशुद्धस" । २ क. ग. घ. अस्ति ।

देहादन्यतया जीवं ये जानन्ति प्रमाणतः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २४ ॥
प्राणादन्यतयाऽऽत्मानं ये जानन्ति प्रमाणतः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २५ ॥
इन्द्रियेभ्यः परं जीवं ये जानन्ति प्रमाणतः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २६ ॥
मनसोऽन्यतयाऽऽत्मानं ये जानन्ति प्रमाणतः ।
तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २७ ॥

अस्तु नाम यः कश्चिज्जीवात्मा, स तु देहातिरिक्तो नास्ति । अचेतनानामपि भूतानां देहाकारेण मेलनवशाच्चैतन्याभिव्यक्तिरिति ये विप्रतिपन्ना लोकायतिकास्तान्निराकरोति[1]–देहादन्यतयेति । अयमभिप्रायः–सुखित्वदुःखित्वादिजगद्वैचित्र्यस्य पुण्यपापमूलत्वात्कर्तुर्देहातिरिक्तस्य स्वर्गनरकादिसंचारिणोऽनङ्गीकारे तदसंभवाद्भौतिकाद् दृश्याद्देहाद् दृष्टुर्जीवस्य व्यतिरेकावश्यंभावाद्देहातिरिक्तः परलोकभाक्कश्चिदात्मा विद्यत इति प्रतिपत्तव्यम् । श्रुतिश्च–'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इति तस्यास्तित्वं प्रतिपादयति । किंच जननमरणादियुक्तो देहः कथं तद्रहित आत्मा स्यात्तद्राहित्यं चाऽऽत्मनः श्रूयते–'न जायते म्रियते वा कदाचित्[2]' 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' इति । अत एव भगवान्वादरायणोऽपि 'एक आत्मनः शरीरे भावात्' इत्यधिकरणेन देहातिरिक्तात्मसद्भावं प्रतिपादयामास ॥ २४ ॥ प्राणादिति । प्राणापानादिपञ्चवृत्त्यात्मकस्य प्राणस्य सुषुप्तौ सद्भावेऽपि विशेषोपलब्ध्यभावात्तदतिरिक्त एवोपलब्धव्य इत्यर्थः ॥ २५ ॥ इन्द्रियेभ्य इति । चक्षुरादीनां करणत्वात्तत्प्रेरकः कर्ताऽन्य एवेत्यर्थः ॥ २६–२७ ॥

जिन्होंने यह प्रामाणिक निश्चय कर लिया है कि जीव है, वे भी विज्ञानप्राप्ति के उपाय से संपन्न हैं । (बौद्धादि नास्तिक जीव आदि आत्मा नमक कुछ नहीं है ऐसा मानते हैं । उनकी अयुक्तताज्ञानपूर्वक शास्त्रादि प्रमाणों से जीव की विद्यमानता समझनी चाहिये । जीवविषयक संदेह कठोपनिषत् में (१.२०) प्रसिद्धवत् प्रोक्त हैं ।) ॥ २३ ॥ लोग प्रमाणपूर्वक समझ लेते हैं कि जीव शरीर से अन्य है, वे भी विज्ञानसाधन से संपन्न हैं । (शरीर तो मौत के बाद भी रहता है पर जीव नहीं, अतः जीव शरीरातिरिक्त है यह तो सुस्पष्ट है । तथापि चार्वाक तथा इदानीं युग में मुसलमान ईसाई आदि शरीरघटित ही जीव स्वीकारते हैं । दार्शनिक मत छोड़ दें तो जीवित काल में प्रायः हम सभी शरीर को ही अपना स्वरूप मानते हैं । हम ही जीव हैं । अतः शरीर को ही जीवस्वरूप मानना सर्वसुलभ है । अत्यधिक विवेक से किसी धीर को ही यह निश्चय बना रह सकता है कि मैं शरीर नहीं हूँ । अपनी संकल्पना ही हम शरीरघटित करते हैं । मरने के बाद की कल्पना में भी हम अपने को शरीर वाला ही देखते है । अतएव इस

१ क. ख. घ. च. छ. ज. "यतास्ता" । २ क. ख. ग. ङ. च. छ. ज. विपश्चित् ।

क्षणप्रध्वंसिविज्ञानादात्मानं ये परं विदुः । तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २८ ॥

बुद्ध्यहंकारतो जीवं ये विदुर्भिन्नमास्तिकाः ।

तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ २९ ॥

चित्तादन्यतयाऽऽत्मानं ये जानन्ति प्रमाणतः । तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३० ॥

बुद्ध्यहंकारादीनामपि करणत्वादेव नाऽऽत्मत्वमित्याह—क्षणप्रध्वंसीत्यादिना । आत्मस्वरूपभूतविज्ञानाद्व्यावर्तयितुं क्षणप्रध्वंसीति विशेषणम् । अत्र विज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या निश्चयरूपा मनोवृत्तिः क्षणप्रध्वंसिनी विज्ञानशब्दार्थः । आत्मविषया तदविविक्ता मनोवृत्तिरहंकारस्तन्मूलत्वात्संसारानर्थस्य तस्य दुःखरूपत्वम् । संशयितमर्थं निश्चेतुं तल्लीना या मनोवृत्तिस्तच्चित्तम् । एतच्च संकल्पविकल्पात्मकस्य मनसोऽप्युपलक्षणम् ॥ २८–३० ॥

निश्चय की दुर्लभता जानकर ही साधनसोपान में आचार्य ने गृहत्याग, सत्संग, भगवद्भक्ति, शमादि, कर्मत्याग, गुरूपसत्ति, श्रवण, मनन, अपनी ब्रह्मता की विभावना अर्थात् निदिध्यासन आदि के बाद कहा है 'देहेऽहं मतिरुज्झ्यताम्' (श्लो. ३) । अतः जिसे यह निश्चय हो चुका उसे विज्ञानसंपन्न कहना अत्यंत संगत है ।) ॥ २४ ॥ जो लोग आत्मा को प्राण से भिन्न जान लेते हैं वे विज्ञानसाधनसम्पन्न हैं । (भौतिक विकारविशेष प्राण है जिसे जीवनशक्ति आदि नामों से कहा जाता है । उसकी समाप्ति से मरना उपपन्न होने से तदतिरिक्त आत्मा मानना व्यर्थ समझकर बहुतेरे विचारक प्राण को ही आत्मा समझ बैठते हैं । प्राणसंबद्ध शरीर ही कर्ता-भोक्ता है । प्राणयुक्त दिमाग के व्यापार ही ज्ञान हैं । संस्कार आदि वहीं रहते हैं । इत्यादि उनकी मान्यतायें हैं । संघातपारार्थ्य न्याय से इन मतवादों का खण्डन हो जाता है । किं च सुख, दुःख, आयु आदि के विषय में यादृच्छिकता का अवलंबन लेना इनके मत में स्फुट दोष है । अतः प्राणभिन्न आत्मा स्वीकार्य है ।) ॥ २५ ॥ इन्द्रियों से भिन्न जो आत्मा की विद्यमानता का प्रामाणिक निश्चय करते हैं वे भी विज्ञानप्राप्ति के अधिकारी हैं ॥ २६ ॥ जो लोग मन से भिन्न आत्मा को प्रमाण से समझ लेते हैं उनके पास भी विज्ञानप्राप्ति का उपाय है इसमें संदेह नहीं । (मन भी है भौतिक वस्तु ही अतः जड होने से अन्यार्थ ही कार्य करे यही उचित होने से मन से अतिरिक्त आत्मा सिद्ध होता है ।) ॥ २७ ॥ प्रतिक्षण नष्ट होने वाले विज्ञान से भिन्न आत्मा को जो समझ लेते हैं वे भी विज्ञान-साधन-संपन्न हैं । (बौद्धों की एक शाखा—योगाचार—हर क्षण समाप्त होने वाला विज्ञानतत्त्व स्वीकारती है । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी आकार वह क्षणिकविज्ञान ही ग्रहण कर लेता है ऐसी उनकी कल्पना है । किंतु अबाधित प्रत्यभिज्ञा और ज्ञान की प्रतिकर्मव्यवस्था की अन्यथा अनुपपत्ति से यह मत अनायास भ्रान्त सिद्ध हो जाता है और स्थायी आत्मा की सिद्धि होती है ।) ॥ २८ ॥ जो जीव को बुद्धि और अहंकार से भिन्न जानते हैं वे भी विज्ञान-साधनसंपन्न हैं । (पूर्व में कहे मनोभेद का ही यह विस्तार है) ॥ २९ ॥ जो प्रमाणपूर्वक यह जान

[1]सर्वप्रत्ययिनो जीवं विभक्तं ये विदुर्बुधाः । तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३१ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यं वेद धामत्रयं तु यः ।

स एवाऽऽत्मा न तद् दृश्यं दृश्यं तस्मिन्प्रकल्पितम् ॥ ३२ ॥

सर्वप्रत्ययिन इति । बुद्ध्यहंकाराद्याः कामसंकल्पाद्याश्च प्रत्यया वृत्तयो यस्मिन्नन्तःकरणे तत्सर्वप्रत्ययीत्यर्थः । अन्तःकरणचतुष्टयस्वरूपमुक्तं[2] प्रपञ्चसारे–'परेण धाम्ना समनुप्रवुद्धा मनस्तदा सा च महानुभावा । यदा तु संकल्पविकल्पकृत्या यदा पुनर्निर्श्चिनुते तदा सा ॥ स्याद् बुद्धिसंज्ञा च यदा प्रवेत्ति ज्ञातारमात्मानमहंकृतिः स्यात् । तदा यदा सा त्वभिलीयते तच्चित्तं च निर्धारितमर्थमेषा' इति ॥ ३१ ॥ **जाग्रदिति** । एवं देहादिव्यतिरिक्तो यश्चिदात्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यान्स्थानविशेषान्साक्षितया जानाति स एवाऽऽत्मा । तस्य च जाग्रदादिस्थानविशेषसाक्षित्वमेवाऽऽम्नायते–'सोऽयमात्मा चतुष्पाज्जागरितस्थानो बहिः प्र(ष्प्र)ज्ञः स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सुषुप्तिस्थान एकीभूत' इति । [3]तस्य प्रतिपादकोऽयं श्लोक आचार्यकृतः–'त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः । वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते' इति ॥ ननु तस्याऽऽत्मनः सद्भावे प्रमाणमस्ति न वा ? न चेच्छशविषाणतुल्यता । अस्ति [4]चेद्विषयत्वाद् घटादिवद् दृश्यत्वापत्तिरित्यत आह–न **तद्दृश्यमिति** । उपनिषद्वाक्यजनितमनोवृत्तिविषयत्वेन वृत्तिव्याप्यत्वे सत्यपि स्वयंप्रकाशस्य साक्षिचैतन्यस्य फलव्याप्यत्वाभावान्न घटादिवद्दृश्यत्वमित्यर्थः । जगत्तु तत्स्वरूपे मायया परिकल्पितत्वादधिष्ठानप्रकाशेनैव [5]प्रकाशत इति फलव्याप्यत्वस्यापि सद्भावाद्दृशा व्याप्यं दृश्यमिति व्युत्पत्त्या दृश्यं भवेदित्यर्थः ॥ ३२ ॥

लेते हैं कि आत्मा चित्त से भिन्न है वे भी विज्ञानसाधनसम्पन्न हैं । (अनुभव अंतःकरण में होता है अतः उसका नाश भी वहीं होगा, उपादान कारण में ही नाश होता है । अनुभव का नाश ही उसका संस्कार कहा जाता है तथा अनुभवध्वंसाधिकरणतया कहा गया अंतःकरण 'चित्त' शब्द का अर्थ है । क्योंकि चित्त अविद्या में ही है इसलिये वह संस्कार भी अविद्या में है जैसे यदि कपड़ा रंगते हैं तो वह रंग धागे में आ ही आ जाता है । एवं च अविद्या की स्मृतिवृत्ति बनने में कोई अनौचित्य नहीं ।) ॥ ३० ॥ काम, संकल्प आदि सब वृत्तियों वाले अंतःकरण से जो आत्मा को भिन्न समझ लेते हैं वे भी विज्ञानसाधन संपन्न हैं ॥ ३१ ॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन धामों का–अवस्थाओं का–जो अनुभव करता है वही जीवात्मा है । वह कभी दृश्य नहीं होता–इदन्तया ज्ञात नहीं होता । बल्कि उसी आत्मा के अधिष्ठान स्वरूप में समस्त दृश्य प्रपंच कल्पित है ॥ ३२ ॥ तीनों धामों का–अवस्थाओं का–साक्षी सत्य, ज्ञान, आनन्द आदि स्वरूप वाला है । 'तू', 'मैं' आदि शब्दों का लक्ष्य अर्थ वही है । उसका किसी दोष से सम्बन्ध

---

१ घ. °त्ययतो जी° । २ च. यस्य स्व° । ३ क. ग. च. तस्यायं प्र° । प. तस्यापि प्र° । ४ च. चेत्तद्वि° । ५ च. °प्रकाश्यत ।

त्रिधामसाक्षिणं [1]सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम् । त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थमसक्तं सर्वदोषतः ॥ ३३ ॥

ज्ञाताज्ञातद्वयादन्यं ज्ञाताज्ञातस्य भासकम् । प्रमाणभ्रान्तिवृत्तीनामगम्यं तत्प्रकाशकम् ॥ ३४ ॥

[2]स्वयंभातं निराधारं ये जानन्ति सुनिश्चितम् ।

तेऽपि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३५ ॥

उक्तलक्षणमात्मानमुक्तलक्षणमीश्वरम् । एकं पश्यन्ति ये विप्रास्तर्कतश्च प्रमाणतः ॥ ३६ ॥

तथा स्वानुभवेनैव गुरूक्त्या च प्रसादतः । त एव ज्ञानसंपन्नास्त्रिवर्वः शपथयाम्यहम् ॥ ३७ ॥

त्रिधामसाक्षिणमिति । साक्षिचैतन्यस्यापि सत्यादिस्वरूपत्वमात्ममन्त्रार्थकथनप्रस्तावे 'अहं चाव्यभिचारित्वात्तत्सद्भावान्न संशयः' इत्यादिना सम्यङ्निरूपितम् । ईदृग्विधं यच्चैतन्यं तदेव महावाक्येषु 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादावन्तःकरणादिविशिष्टं चैतन्यवाचकैस्त्वमहमादिपदैर्लक्ष्यं, वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः । उक्तं हि–'वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे संवन्धानुपपत्तितः । तत्संवन्धवशात्प्राप्तादन्वयाल्लक्षणोच्यते' इति ॥ तच्च सर्वेष्वपि दोपेषु न सक्तम् । 'असङ्गो न हि सज्जते' इति श्रुतेः ॥ ३३ ॥ **ज्ञाताज्ञातेति** । ज्ञातमन्तःकरणवृत्त्या विषयीकृतम् । अज्ञातं भावरूपाज्ञानेन क्रोडीकृतम् । तदुभयस्माद्विलक्षणम् । परमार्थतो निरविद्यस्य निरुपाधिकस्य स्वप्रकाशस्य तदुभयविषयत्वासंभवात् । अत एवमाम्नायते तलवकारोपनिषदि–'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इति । स्वप्रकाशचिदात्मकत्वादेव तस्य ज्ञाताज्ञातद्वयस्य भासकम् । उक्तं हि–'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव' इति । **प्रमाणभ्रान्तीति** । केनचिदुपहितस्यैवाऽऽत्मस्वरूपस्य[3] प्रमाणविषयत्वान्निरुपाधिकस्य तदविषयत्वम् । 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा' इति श्रुतेः । प्रत्युत तत्प्रकाशकं तासां प्रमाणादिवृत्तीनां साक्षित्वेन भासकम् । तदुक्तम्–'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रहः' इति ॥ ३४ ॥ **स्वयंभातमिति** । 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः स्वयंप्रकाशमानमित्यर्थः । **निराधारमाधाररहितम्** । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' इति श्रुतेः । एवं सम्यङ्निश्चितं देहान्तर्वर्तिनमात्मानं ये जानन्ति तेऽपीत्यादि पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

नहीं है ॥ ३३ ॥ वही आत्मतत्त्व ज्ञात व अज्ञात दोनों से भिन्न है । ज्ञात व अज्ञात दोनों को वही प्रकाशित करता है–एक को ज्ञानसम्बन्ध से व दूसरे को अज्ञानसम्बन्ध से ॥ प्रमाण, भ्रान्ति आदि वृत्तियों का वह अविषय है क्योंकि वही उनको विषय करता है । (यद्यपि समस्त भ्रान्ति का विषय और महावाक्यजनित अखण्ड ज्ञान का विषय आत्मा ही है तथाऽपि क्योंकि भ्रान्ति व प्रमिति काल्पनिक हैं इसलिये वस्तुतः आत्मा उसका विषय नहीं है ।) ॥ ३४ ॥ स्वयं भासने वाले और किसी का सहारा न लेने वाले उक्त प्रत्यगात्मा का जो उत्तम साधक निश्चय कर लेते हैं वे परमात्मानुभव के निकटतम साधन से उपेत हैं ॥ ३५ ॥

अभी बताये स्वरूप वाले जीवात्मा को और पूर्व में बताये स्वरूप वाले ईश्वर को जो भगवत्कृपा, गुरूपदेश, प्रमाण, युक्ति व स्वानुभव द्वारा एक समझ लेते हैं वे ही ज्ञानी हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ३५ ॥

---

१ ध. सत्यं सत्यज्ञानादि । २ क. स्वयं भान्तं" । ३ केनचिदिति प्रमाणेनेत्यर्थः । तदेतत्पूर्वमाचार्यैः (४.९.२) स्पष्टीकृतम् ।

अतिरहस्यमिदं कथितं मया गुरुपरम्परया च समागतम् ।
श्रुतिभिरीरितमात्मविशुद्धये न पठितव्यमसज्जनसंसदि ॥ ३८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविशेषो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

सूत उवाच–भूयोऽपि ज्ञानयज्ञं तु प्रवक्ष्यामि समासतः ।
मुनयः परया भक्त्या शृणुतातीव शोभनम् ॥ १ ॥

ब्रह्म सत्यपरानन्दप्रकाशानन्तलक्षणम् । अप्रच्युतात्मभावेन संस्थितं सर्वदैव तु ॥ २ ॥

इत्थं शोधितौ तत्त्वंपदार्थौ दर्शयित्वा तयोरैक्यं वेदान्तमहावाक्यैः प्रमाणैस्तदनुकूलैस्तर्कैश्चावगन्तव्यमित्याह–उक्तलक्षणमिति । सुगममन्यत् ॥ ३६–३८ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्ड एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये 'दृश्यं तस्मिन्प्रकल्पितमि'ति दृश्यप्रपञ्चस्य यत्कल्पितत्वेन मिथ्यात्वं सूचितं तदिदानीमद्वितीये परमशिवरूपे प्रपञ्चस्याध्यारोपापवादाभ्यां प्रतिपादयितुमुपक्रमते–भूयोऽपीति ॥ १ ॥ अधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणस्तावन्निरुपाधिकं रूपमाह–ब्रह्मेति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतेः । अखण्डैकरसस्य ब्रह्मणः सत्यादिपदान्यनृतजडदुःखान्तवत्त्वनिरासेन लक्षकाणीति प्राक्प्रतिपादितम् । अप्रच्युतात्मभावेनेति । अपरिप्लुतप्रत्यगात्मत्वेनेत्यर्थः । अनेन च ब्रह्मणोऽनात्मत्वनिरासः । सर्वदैव त्विति । न केवलं तत्त्वज्ञानादूर्ध्वमेव ब्रह्मण आत्मभावः किंतु ततः प्रागपीत्यर्थः ॥ २ ॥

गुरुपरंपरा से प्राप्त अतिरहस्यभूत यह विषय मैंने आप लोगों को सुनाया है । अपने दीप्तिमत्स्वरूप में स्थित होने के लिए पर्याप्त होने से यही विज्ञान श्रुति ने तात्पर्यः उपदिष्ट किया है । असज्जनों के बीच इसे नहीं पढ़ना चाहिये ॥ ३८ ॥

ज्ञानयज्ञविशेष नामक बारहवाँ अध्याय

सूत जी वोले–ज्ञानयज्ञ के सम्बन्ध में ही और भी आप लोगों को वताता हूँ । इस परम शुभ विषय को पूर्ण भक्ति से सुनिये ॥ १ ॥

ब्रह्म सदा ही अपने स्वभाव को छोड़े बिना रहता है । सत्य, परमानंद, ज्ञान व अनन्त–ये ही ब्रह्म के स्वभाव हैं । (सत्य आदि शब्दों के वाच्य अर्थ तो विशिष्ट सत्यादि हैं किंतु लक्षणा से वे स्ववाच्यैकदेश सत्यमात्र का वोध करा देते हैं । सर्वज्ञगुरु ने कहा है 'सत्यादिशव्दविषयाः शवलास्तदर्थभागेषु लाक्षणिकवृत्तिरिहापि तुल्या' (सं. शा. १.१७७) ।) ॥ २ ॥ आत्मा की माया शक्ति के अनादि, अनन्त तथा अनिर्वाच्य सम्बन्ध

आत्मशक्तिसमायोगादनाद्यन्तादतर्कितात् । अप्रतीतमिवाऽऽभाति स्वयंभातमपि द्विजाः ॥ ३ ॥

सदप्यसदिव प्राज्ञः सदैकमपि भिन्नवत् । तादृशाकारमापन्नः संसारीवावभासते ॥ ४ ॥

ब्रह्मणोऽभिन्नरूपे तु चेतनाचेतनात्मकः ।

विभागः कल्पितः शक्त्या न स्वतः पण्डितोत्तमाः ॥ ५ ॥

ब्रह्मणश्चेतनाकारे कल्पिता चेतनाभिदा । सर्वज्ञत्वादिका स्तम्बपर्यन्ता[1] माययैव तु ॥ ६ ॥

उत्कर्षश्चापकर्षश्च मायया तेषु कल्पितः । नियन्तृत्वनियम्यत्वाद्याकाराश्च प्रकल्पिताः ॥ ७ ॥

ननु सितभास्वराकारेण सामान्यतो ज्ञातं नीलपृष्ठत्रिकोणत्वादिविशेषाकारेणाज्ञातं वस्तु रजताद्यारोप्यस्याधिष्ठानत्वेन दृष्टम् । ब्रह्म तु स्वप्रकाशत्वेन सर्वात्मना भातमिति कथं तस्याधिष्ठानत्वमित्यत आह– **आत्मशक्तीति** । आत्मनः शक्तिः स्वस्मिंश्चैतन्यमात्र आश्रिता माया, न तु सांख्याभिमतप्रकृतिवत्स्वतन्त्रेत्यर्थः । **अनाद्यन्तादिति** । तथाविधमायाया आत्मनश्चानादित्वात्तदुभयाश्रितसंबन्धोऽप्यनादिः । तत्त्वज्ञानव्यतिरेकेण मायाया अप्यन्तवत्त्वराहित्यात्तत्संबन्धोऽनन्तश्च । कथमीदृङ्माया, तत्संबन्धश्च कथं स्वप्रकाशे परशिवस्वरूपे संभवतीति ? तत्राऽऽह–**अतर्कितादिति** । विचारासहादित्यर्थः । तथाविधमायासंबन्धवशात्स्वप्रकाशमपि तद् ब्रह्माभातमिव भवति, आवरणशक्त्याऽऽवृतत्वात् । अत एव सद्रूपमप्यविद्यमानमिव भवत्यद्वितीयमपि नानाविधोपाधिसंबन्धवशान्नानाकारवद्भवति । स्वतोऽसंसारित्वेऽपि तत्तदन्तःकरणतादात्म्याध्यासात्तादृक्त्वमापन्नं चिन्मात्रं **संसारीव** भवति । अत उक्तं हि वार्तिककारैः–'अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने । किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्' इति ॥ ३–४ ॥ एवं च स्वप्रकाशेऽपि तस्मिन्मायावशक्तिवशात्सर्वमपि संभावयितुं शक्यमिति तस्याधिष्ठानत्वसंभवं प्रतिपाद्य चेतनाचेतनात्मकं द्विविधं जगदारोपयितुं तस्याधिष्ठानस्य मायावशाद् द्वैविध्यमाह–**ब्रह्मण** इति । अभिन्नेऽखण्ड एव ब्रह्मणो रूपे मायाशक्त्या सत्त्वगुणोपधानेन रजस्तमोगुणोपधानेन च चेतनाचेतनात्मकं भागद्वयं परिकल्पितम् न स्वत इति । यत एतन्माययैवातो न स्वाभाविक इत्यर्थः ॥ ५ ॥

से स्वयं भासता हुआ भी आत्मा लगता है मानो अप्रतीयमान हो । (ज्ञानेतर उपाय से असमाप्यता अनन्तता है ।) ॥ ३ ॥ उसी माया के कारण विद्यमान भी आत्मा लगता है मानो हो ही नहीं, सदा एक होते हुए भी विभिन्न की तरह प्रतीत होता है । स्वयं अस्पृष्टसंसार होता हुआ भी प्रातिस्विक अंतःकरण से अभेदाध्यास के कारण अंतःकरण की तरह ही सीमित आदि हुआ संसरण करता हुआ सा प्रतीत होता है ॥ ४ ॥ अभिन्न स्वरूप वाले चिन्मात्र ब्रह्म में माया शक्ति से चेतन व अचेतन विभाग कल्पित है । स्वभाव से परमशिव इस (या किसी) विभाग वाला नहीं है ॥ ५ ॥ सर्वज्ञ से लेकर वृक्षादिपर्यन्त विभिन्न चेतन ब्रह्म के चेतन आकार में कल्पित हैं । (सत्त्वगुणोपाधिक ब्रह्म ही चेतनाकार है । सत्त्व की उच्चावचता से कल्पित चेतनों में भी उत्तमाधमभाव है ।) ॥ ६ ॥ माया से ही कल्पित चेतनों में उत्कर्ष, नियन्तृत्व,

---

१ 'उलपस्तम्बगुल्माश्चे'ति हलायुधः । 'स्तम्बोऽप्रकाण्डद्रुमगुच्छयोः'–मेदिनी ।

ब्रह्मणोऽचेतनाकारे महामायाबलेन तु । महदादिजगच्छून्यपर्यन्तं परिकल्पितम् ॥ ८ ॥

उत्कर्षश्चापकर्षश्च जगत्यपि मुनीश्वराः । कल्पितः सर्वतोद्रिक्तं व्यवहारे तु मायया ॥ ९ ॥

वर्णाश्रमास्तथा विप्रा वर्णसांकर्यमेव च । तद्धर्माश्च विभागेन माययैव प्रकल्पिताः ॥ १० ॥

नियोज्यत्वं च कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च तथैव च ।
वर्णाश्रमादिनिष्ठानां माययैव प्रकल्पितम् ॥ ११ ॥

विधयश्च निषेधाश्च श्रुतिस्मृत्यादिरूपिणः । मायया देवदेवस्य सत्यवत्परिकल्पिताः ॥ १२ ॥

धर्माधर्मौ तयोर्विप्राः फले तत्साधनान्यपि । कल्पितानि महामोहाद् ब्रह्मणो न स्वभावतः ॥ १३ ॥

रागद्वेषादयो दोषाः शान्तिदान्त्यादयो गुणाः ।
अपि माहेश्वरं ज्ञानं माययैव प्रकल्पितम् ॥ १४ ॥

अथैतयोर्ब्रह्माकारयोः कुत्र कस्य परिकल्पनमिति तदुभयं विभज्य दर्शयति–**ब्रह्मणश्चेतनाकार** इत्यादिना । सत्त्वगुणस्य प्रकाशात्मकत्वात्तदुपाधिक आकारश्चेतनाकारो रजस्तमसोस्तद्विपरीतत्वात्तदुपाधिक आकारोऽचेतनाकारः । तत्र **चेतनाकारे** विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकमीश्वरं सर्वज्ञमारभ्य स्तम्बपर्यन्तो भोक्तृप्रपञ्चो मायया परिकल्पितः । तत्र भोक्तृषु कर्मवशात्सुखित्व-दुःखित्वादितारतम्यमीश्वरस्य च तेषां च नियन्तृत्वनियम्यत्वादयश्च धर्माः । एतत्सर्वं माययैव प्रकल्पितमित्यर्थः । **अचेतनाकारे** तु वियदादिभूतभौतिकं जगदभावपर्यन्तं भोग्यरूपं परिकल्पितम् । उक्तं हि–'तमःप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ॥ परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः' इति । **जगत्यपीति** । यथा भोक्तृप्रपञ्चे तद्वज्जडप्रपञ्चेऽप्युत्कर्षापकर्षादिकं सर्वं व्यवहारविषये मायया परिकल्पितमित्यर्थः ॥ ६–९ ॥ एवं प्रपञ्चान्तर्गतानां वर्णाश्रमादीनामपि मायया परिकल्पितत्वेन मिथ्यात्वं साधयति–**वर्णाश्रमास्तथे**त्यादिना । **तद्धर्मा** इति वर्णधर्मा आश्रमधर्माश्चेत्यर्थः ॥ १० ॥ **नियोज्यत्वं** चेति । 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इतिवाक्यश्रवणसमनन्तरमधिकारिणः पुरुषस्य मयेदं कर्तव्यमिति यन्नियोगबोद्धृत्वं **तन्नियोज्यत्वम्** । तदुक्तं शालिकनाथेन–'नियोज्यः स च कार्यं यः स्वकीयत्वेन बुध्यते' इति । गुरुमतेऽप्यपूर्वं लिङ्‌र्थः तदेव कृत्युद्देश्यत्वे सति कृतिसाध्यत्वात्कार्यं स्वात्मिन[1] पुरुषस्य नियोजनान्नियोग इति च व्यपदिश्यते । 'कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते । कार्यत्वेन नियोज्यं यः स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ ॥ नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते' ॥ इति शालिकनाथेनोक्तत्वात् । **कर्तृत्वं** तु विषयाकारभावापन्नस्य धात्वर्थस्य निष्पादनद्वाराऽपूर्वनिर्वर्तकत्वम् । तज्जन्यफलभागित्वं **भोक्तृत्वम्** । **अपि माहेश्वरमिति**[2] । महेश्वरो विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकः सर्वज्ञस्तस्य यत्सर्वगोचरं निरतिशयं **ज्ञानं** तदपि **माययैव** परिकल्पितं सतत्त्वपरिणामित्वादित्यर्थः । अथवा महेश्वरो निरुपाधिकः परशिवस्तद्विषयं वेदान्तमहावाक्यजनितं यद् वृत्तिज्ञानं तदपि मायया परिकल्पितं, तद्धि परिकल्पितमपि स्वविषयावरणाविद्यां निवर्तयत्स्वयमपि कतकरजोन्यायेन निवर्तते ॥ ११–१४ ॥

अपकर्ष, नियम्यत्व आदि सब आकार कल्पित हैं ॥ ७ ॥ महामाया के कारण ही ब्रह्म के अचेतनाकार में (रजस्तम उपाधिक ब्रह्म में) महत् से अभावपर्यंत सारा जगत् कल्पित है ॥ ८ ॥ भोग्य जगत् में भी व्यवहार में हर तरह व्यक्त होने वाले उत्कर्ष-अपकर्ष माया से ही परिकल्पित हैं ॥ ९ ॥ वर्ण, आश्रम, उनके धर्म, वर्णसंकरता आदि ढंगों से बँटी हर वस्तु माया से ही कल्पित है ॥ १० ॥ वर्णाश्रम धर्म

---

१ कार्य इत्यर्थः । २ स्वरूपज्ञानस्याविवक्षां द्योतयितुं षष्ठ्यर्थसूचकं तद्धितं योजयामास । महेश्वरो ज्ञानमेव परमिह न तज्ज्ञानमुच्यते । किन्तर्हि ? तत्सम्बन्धिज्ञानं मायावृत्तिरूपमित्यर्थः ।

वैदिकास्तान्त्रिका मार्गा अपभ्रंशास्तथैव च । स्वतन्त्रस्याम्बिकाभर्तुर्माययैव प्रकल्पिताः ॥ १५ ॥

यद्यदस्तितया भाति यद्यन्नास्तितया तथा । तत्तत्सर्वं महादेवमायया परिकल्पितम् ॥ १६ ॥

चेतनाचेतनाकारौ ब्रह्मणो यौ प्रकल्पितौ । तौ शिवादन्यतो न स्तः सम्यगर्थनिरूपणे ॥ १७ ॥

सर्वज्ञत्वादिका भेदाः स्तम्बान्ता ये प्रकल्पिताः ।
ते शिवादन्यतो नित्यं न सन्त्येव निरूपणे ॥ १८ ॥

अपभ्रंशाः कापालादयः ॥ १५ ॥ यद्यदस्तीति । अवशिष्टं भावाभावात्मकं सर्वं जगदपि परशिवस्वरूपे माययैव परिकल्पितं न तु पारमार्थिकं सदित्यर्थः ॥ १६ ॥ इत्थमद्वितीये परशिवस्वरूपे मायावशाच्चेतनाचेतनात्मकस्य प्रपञ्चस्य परिकल्पितत्वोक्तेः परशिवस्वरूपव्यतिरिक्ते कारणे तत्सत्ता निरस्ता । तत्रापि परिकल्पितत्वाभिधानाच्छुक्तिरूप्यादिवदपारमार्थिकत्वमप्युक्तम् । अथ त्ववाधितव्यवहारविषयत्वात्तस्य मायाकल्पितत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याधिष्ठानपरशिवस्वरूपयाथात्म्यज्ञानोत्तरकालं वाधदर्शनसाम्येन शुक्तिरूप्यादिवत्तस्यापि मायापरिकल्पितत्वमारोपक्रमेणैव समर्थयते–चेतनाचेतनेत्यादिना । सम्यगर्थनिरूपण इति । परमार्थपर्यालोचनायाम् 'एकमेवाद्वितीयम्', 'मायामात्रमिदं द्वैतम्', 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादिश्रुतिबलात्परशिवस्वरूपस्याद्वितीयत्वेऽवगते तत्र चेतनाचेतनविभागो मायापरिकल्पित एवेष्टव्यो न शिवस्वरूपादन्यत्वेन युक्त इत्यर्थः । एवं सर्वज्ञत्वादिका इत्यादौ सर्वत्र बाधदर्शनवलेन शिवस्वरूपान्यतया पारमार्थिकसत्त्वायोगात्सर्वज्ञत्वादिकमपि सर्वं चेतनाचेतनात्मकं जगत्तत्स्वरूपे मायया परिकल्पितमेवेत्यर्थः ॥ १७–२८ ॥

में निष्ठा वाले लोगों को जो ऐसे निश्चय होते हैं–'यह मेरा कर्तव्य है', 'मैं ऐसा करने वाला हूँ', 'मैं फल भोग रहा हूँ' आदि, वे भी सब मायाकल्पित हैं ॥ ११ ॥ श्रुति-स्मृति आदि के वचनरूप विधि-निषेध भी महादेव की माया से सत्यवत् कल्पित हैं ॥ १२ ॥ धर्म, अधर्म, उनके फल (सुख, दुःख) और उनके साधन–सभी ब्रह्मविषयक महामोह से ही कल्पित हैं । ये सभी स्वतः सत्य नहीं हैं ॥ १३ ॥ राग, द्वेष आदि दोष शम, दम आदि गुण और यहाँ तक कि महेश्वर का सृष्टिसम्बन्धी ज्ञान भी माया से ही कल्पित है ॥ १४ ॥ वैदिक, तान्त्रिक तथा कापालादि अपभ्रंश मार्ग सर्वस्वतंत्र अम्बिकानाथ की माया से ही प्रकल्पित हैं ॥ १५ ॥ जो भी कुछ 'है' इस तरह प्रतीत होता है व जो कुछ भी 'नहीं है' इस तरह प्रतीत होता है वह सब महादेव की माया से कल्पित है ॥ १६ ॥ परमार्थतः विचार करने पर ब्रह्म में कल्पित चेतन व अचेतन आकार शिव से अन्य नहीं हैं । (जैसे सर्प रस्सी से अन्य नहीं है वैसे यहाँ भी समझना चाहिये ।) ॥ १७ ॥ सर्वज्ञ से तृणपर्यंत जितने कल्पित चेतन हैं वे कभी शिव से भिन्न हुए सत्तावान् हैं ही नहीं ॥ १८ ॥ उनमें कल्पित उत्कर्ष-अपकर्ष भी शिव से अन्य नहीं है ॥ १९ ॥ ब्रह्म के अचेतनाकार में जो जड जगत् कल्पित है वह भी शिव से भिन्न नहीं है ॥ २० ॥ ऐसे ही जगत् में कल्पित उच्चावचता

उत्कर्षश्चापकर्षश्च यस्तेषु परिकल्पितः । सोऽपि नैवास्ति भेदेन शिवात्सम्यङ्निरूपणे ॥ १९ ॥

ब्रह्मणोऽचेतनाकारे कल्पितं यज्जगद् बुधाः । तच्च नैवास्ति भेदेन शिवात्सम्यङ्निरूपणे ॥ २० ॥

उत्कर्षश्चापकर्षश्च यो जगत्यपि कल्पितः । सोऽपि नैवास्ति भेदेन शिवात्सम्यङ्निरूपणे ॥ २१ ॥

वर्णाश्रमादयो भावा मायया ये प्रकल्पिताः । तेऽपि शंभोर्न भेदेन सन्ति सम्यङ्निरूपणे ॥ २२ ॥

नियोज्यत्वादयो भावा मायया ये प्रकल्पिताः ।
तेऽपि शंभोर्न भेदेन सन्ति सम्यङ्निरूपणे ॥ २३ ॥

विधयश्च निषेधाश्च मायया ये प्रकल्पिताः ।
तेऽपि शंभोर्न भेदेन सन्ति सम्यङ्निरूपणे ॥ २४ ॥

धर्माधर्मादिरूपेण मायया ये प्रकल्पिताः । तेऽपि शंभोर्न भेदेन सन्ति सम्यङ्निरूपणे ॥ २५ ॥

रागद्वेषादिरूपाश्च मायया ये प्रकल्पिताः । तेऽपि शंभोर्न भेदेन सन्ति सम्यङ्निरूपणे ॥ २६ ॥

वैदिकास्तान्त्रिका मार्गा अपभ्रंशाश्च ये द्विजाः । तेऽपि शंभोर्न भेदेन सन्ति सम्यङ्निरूपणे ॥ २७ ॥

यद्यदस्तितया यद्यन्नास्ति वस्तु मुनीश्वराः । तत्तच्छंभोर्न भेदेन विद्यते सूक्ष्मदर्शने ॥ २८ ॥

शिव से अतिरिक्त नहीं है ॥ २१ ॥ वास्तविकता का निरूपण करें तो यह स्पष्ट है कि वर्ण, आश्रम आदि वस्तुयें शिवेतर कुछ नहीं हैं ॥ २२ ॥ 'मेरा यह कर्तव्य है' आदि निश्चय भी शिव से भिन्न कुछ नहीं है ॥ २३ ॥ विधि, निषेध, धर्म, अधर्म, राग, द्वेष वैदिकादि मार्ग, किम्बहुना—जो कुछ है व जो कुछ नहीं है सभी एकमात्र शिव से अतिरिक्त हुआ कोई सत्ता नहीं रखता । (वेदान्तमर्यादा में अभाव कोई पदार्थांतर नहीं है । वस्तु व्यक्त और अव्यक्त होती है । व्यक्तदशा में उसका सद्भाव माना जाता है व अव्यक्त दशा में उसका अभाव । अव्यक्त का भी मतलब है अन्य नाम-रूप से आवृत हो जाना । यह विषय घटभाष्य में (बृ. १.२.१) विस्तार से प्रतिपादित है । वहाँ समाप्ति में कहा है 'घटस्य प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावानामपि घटादन्यत्वं स्यात् घटेन व्यपदिश्यमानत्वाद्, घटस्येतरेतराभाववत्, तथैव भावात्मकताऽभावानाम् ।' (पृ. २०) । अत्यन्त असत् को भी स्वीकारा नहीं गया है । असत् को सत् से भिन्न मानें तो भेदाश्रय होने से घटादि की तरह वह भी सत् ही हो जायेगा और सत् से अभिन्न मानें तब तो मुखतः ही उसे सत् कहा जायेगा ।

अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं जगत्समस्तं चिदचित्प्रभिन्नम् ।

स्वशक्तिक्लृप्तं शिवमात्रमेव न देवदेवात्पृथगस्ति किंचित् ॥ २९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविशेषो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

सूत उवाच—भूयोऽपि ज्ञानयज्ञं तु प्रवक्ष्यामि समासतः ।

गुह्याद्गुह्यतमं सूक्ष्मं शृणुत श्रद्धया द्विजाः ॥ १ ॥

एवं पारमार्थिकसत्त्वस्यापवादेन प्रपञ्चस्य मायामयत्वसिद्धेर्मिथ्यात्वं सिद्धमतः परशिवस्वरूपनदन्यन्नास्तीत्यद्वितीयत्वं सिद्धमित्युपसंहरति—अतश्चेति । स्वस्मिन्नाश्रिता माया स्वशक्तिः ॥ २९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविशेषो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

एवं मायातत्कार्यरूपप्रपञ्चस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेन मिथ्यात्वं प्रसाध्य संविद्रूपायाः परशक्तेरपि परशिवादन्यत्वशङ्कया प्रसक्तं मिथ्यात्वं निरूपयितुमुपक्रमते—भूयोऽपीति ॥ १ ॥

वार्तिकाचार्य ने यही बताय है 'असत्सदतिरेकेण यदि वाऽव्यतिरेकतः । व्यतिरेके सदेवासदसद्वा तत्किमुच्यते ॥ बृ. १.२.११ ॥ अतः 'जो कुछ नहीं है' से असत् या अभाव नहीं समझना चाहिये किंतु जो व्यक्त नहीं है उसे कहा गया है । व्यवहारसिद्ध अभाव तो स्वीकार्य है, जैसा कि कहा है 'लोकप्रसिद्धभावाभावव्यवहारिणं मायावादिनम्' (चित्सु. पृ. ४४७) । वैशेषिक आदि की तरह भावों की अपेक्षा वस्तवन्तर उसे नहीं स्वीकारते । यह भी वहीं कहा है 'अवधीरितभावाभावभूतलादेरुपलम्भादेवाऽभावव्यवहारसम्भवे तदतिरिक्ताभावाभ्युपगमो निष्प्रमाणक एव ।' इस प्रकार व्यक्त-अव्यक्त समस्त जड-चेतन संसार की अपनी कोई सत्ता नहीं, शिवसत्ता से ही सत्तान्वित है अतः रज्जुसत्ता से सत्तान्वित सर्प की तरह मिथ्या है यह तात्पर्य है ।) ॥ २४–२८ ॥ अतः आप लोग यह संक्षेप में सुन लीजिये—चेतन व अचेतन रूप से बँटा यह सारा जगत् आत्मा की मायाशक्ति से कल्पित है अतः वस्तु केवल शिव ही है । महादेव से भिन्न कोई वस्तु नहीं है ॥ २९ ॥

ज्ञानयज्ञविशेष नामक तेरहवाँ अध्याय

सूत जी बोले—ज्ञानयज्ञ सम्बन्धी और गूढ सूक्ष्म रहस्य आप लोगों को सुनाता हूँ ॥ १ ॥

चैतन्यमात्र पर आश्रित माया के शक्ति-आकार में अनुप्रविष्ट जो निर्विकल्प स्वप्रकाश सद्रूप परमानन्दात्मिका, संसार का उच्छेद करने वाली संवित् (ज्ञान) है वही शिवा नामक परा देवी है जो शिव से अभिन्न तथा

चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः । अनुप्रविष्टा या संविन्निर्विकल्पा स्वयंप्रभा ॥ २ ॥
सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी । सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवंकरी ॥ ३ ॥

मायैवास्य परा शक्तिरिति भ्रमं व्युदसितुं परस्याः शक्तेः स्वरूपं दर्शयति–**चिन्मात्रे**त्यादिना । भोक्तृभोग्यात्मकस्य प्रपञ्चस्य सनियन्तृकस्य सृष्टेः प्राक्प्रलीनावस्थायां विकल्पहेतूनामभावात्परशिवस्वरूपमत्यन्तं निर्विकल्पकं स्वप्रतिष्ठं[1] भवति, तत्स्वरूपेऽध्यस्ता मायाऽपि विकल्परहितैवावतिष्ठते । सा च प्राणिकर्मपरिपाकवशादीषद्विकल्पिता सती शिवशक्तिविभागस्यापि तदानीमभावात्तदुभयसाधारणं चिन्मात्रमेवाऽऽश्रयतया स्वीकरोति । चिन्मात्ररूपः परशिवोऽपि तत्संबन्धवशात्किंचित्स्वप्रतिष्ठतां[2] विहाय तदभिमुखो भवति । नन्वसङ्गोदासीनस्य परानन्दस्वरूपस्याविक्रियस्य परशिवस्य मायावष्टम्भेन कुतो जगत्सृष्ट्यादिहेतुत्वम् ? प्राणिकर्मणां परिपाकवशादिति चेन्न । तस्य स्वतन्त्रस्यतत्पारतन्त्र्यायोगात् । स्वभोगार्थमित्यपि न युज्यते । तस्याऽऽप्तकामत्वात् । न च लीलार्थमित्यपि युक्तम् । तथात्वे गिरिनदीसमुद्रादिवैचित्र्यस्य सुखित्वादिवैचित्र्यस्य च प्रतिनियमायोगात् । नैष दोषः । प्रतिनियमस्य परिपक्वप्राणिकर्मतारतम्यहेतुत्वात् । न चैतावता परशिवस्य कर्मपारतन्त्र्यापत्तिः । स्वसंकल्पनिमित्तत्वात् । जगत्सृष्ट्यादिलीलोपक्रमावसरे निर्हेतुकार्योत्पत्तिरतिप्रसङ्गहेतुरिति पुण्यपापादीनां[3] सुखदुःखादिहेतुत्वं तदुपभोगहेतुत्वे प्रतिनियतप्रपञ्चनिर्माणं च संकल्प्य परशिवः स्वमायावशाल्लीलायां [4]प्रववृते । तस्य च स्वसंकल्पस्य सत्यत्वाविघाताय सर्वेष्वपि ब्रह्मकल्पेषु समानाकारा एव सृष्ट्यादिलीलाः करोति । अतो जगद्वैचित्र्यनिमित्तस्य पुण्यपापादेरपि स्वसंकल्पहेतुत्वाज्जगत्सर्गादिलीलायां प्रवृत्तस्य परशिवस्य न स्वातन्त्र्यभङ्गः । अत एव भगवान्बादरायणः परेश्वरस्य सृष्ट्यादिप्रवृत्तौ राजादिवत्केवलं लीलैव कारणमिति सूत्रयामास–'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इति । तथा च शिवशक्त्युभयरूपसाधारणं चिन्मात्रमाश्रिता सा माया पुनर्द्विधा भवति । शक्यप्रतियोग्यनधीननिरूपणविषयत्वाकारेण तदधीननिरूपणविषयत्वाकारेण च । एवमुपाधिद्वैविध्यादुपधेयचिन्मात्रमपि द्विधा भिद्यते । तत्र शक्यप्रतियोग्यधीननिरूपणा माया सा शक्तिः सलिलपवनादिसमायोगपरवशादुच्छूनावस्थस्य बीजस्य यथाऽङ्कुरावस्था तथैव प्राणिकर्मपरिपाकवशादुपचितरूपाया[5] मायाया जगत्कार्यहेतुभूताङ्कुरावस्था सेत्यर्थः । शक्यप्रतियोग्यनधीननिरूपणो यो मायाया आकारस्तदुपहितं चैतन्यं शिवः । जगदङ्कुररूपिण्या शक्त्या यदवच्छिन्नं चैतन्यं तस्य या संविद्रूपिणी सा परा शक्तिरित्युच्यते । अतश्चोपाधिपरिच्छेदादेवैकस्यैव चिन्मात्रस्य शिवशक्त्यात्मना विभागः । परमार्थतस्तु चिन्मात्रतयैकत्वमेवेत्यर्थः । तदुक्तमागमिकैः–'चिदचिदनुग्रहहेतोरस्य सिसृक्षोर्य आद्य उन्मेषः । तच्छक्तित्वमभिहितमविभागापन्नमस्यैव' ॥ इति । तदिदमुच्यते–**चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारेऽनुप्रविष्टा** इति । शिवमाहात्म्यखण्डे तच्छक्तिपूजाविधौ विस्तरेण प्रपञ्चितम् । यतः परशिवस्वरूपमेव शक्यप्रतियोगिनिरूपणोपाध्यवच्छिन्नतया परा शक्तिस्तस्मात्साऽपि सच्चिदानन्दादिरूपैवेत्याह–**निर्विकल्पे**त्यादिना । विकल्पहेतुविशेषाणां निर्विशेषे वस्तुनि स्वभावतो विरहान्**निर्विकल्पा** । **स्वयंप्रभा**ऽपराधीनप्रकाशा सच्चिदानन्दाखण्डैकरसेत्यर्थः ॥ २ ॥ **संसारोच्छेदकारिणी**ति । संसारस्योच्छेद उन्मूलनं तद्धेतुभूता । परमेश्वरः स्वशक्तिवशात्खलु मुमुक्षून्संसारान्मोचयति 'शक्तो यया स शंभुर्भुक्तौ मुक्तौ च पशुगणस्यास्य' इत्युक्तत्वात् । यद्वा ब्रह्माकारमनोवृत्त्यवच्छिन्नैव संवित्संसारनिवर्तिकेत्यर्थः । एवंगुणविशिष्टा संवित्सैव **शिवंकरी** सर्वप्राणिनां सुखकारिणी । अत एव **शिवा** शिवशब्दाभिधेया । वक्ष्यमाणानां शक्तीनामुपादानभूतत्वात्**परमा** सर्वोत्कृष्टा । **देवी** शक्यप्रपञ्चस्येश्वरी । **शिवाभिन्ने**ति । अस्याः शिवस्य च परमार्थतः पूर्वोक्तचिन्मात्ररूपत्वाद्भेदो नास्तीत्यर्थः । तथाच शिवशक्त्योर्भेदावभास एव मिथ्या न तु प्रपञ्चवत्स्वरूपमपीत्यर्थः ॥ ३ ॥

कल्याणकारिणी है । (अनुप्रविष्ट अर्थात् तदुपहित । यहाँ ज्ञानशक्ति कही जा रही है जो स्वरूपतः सत्य है, केवल उसका शिव से पार्थक्येन अवभास मिथ्या है । जडशक्ति माया तो स्वरूपतः मिथ्या है यह वैलक्षण्य

---

१ घ. "तिष्ठितं भ" । २ क. घ. ज. "तिष्ठितं वि" । ३ च. "सङ्गे हे" । ४ ख. ङ. प्रवर्तते । ५ घ. "तदशाया ।

जगत्कारणमापन्नः शिवो यो मुनिसत्तमाः ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ ४ ॥
सर्वज्ञत्वं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ ५ ॥
ईक्षितृत्वं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ ६ ॥

इत्थं सामान्यरूपिणीं परां शक्तिं निरूप्य सैव शक्यविशेषप्रतियोगिनिरूपिता सती तत्तद्विशेषशक्त्यात्मिका भवतीत्याह– **जगदित्यादिना** । **जगत्कारणमिति** भावपरो निर्देशः । **यः शिवो** जगत्कारणत्व**मापन्नो** जगदङ्कुररूपशक्त्यवस्थाया ऊर्ध्वं जगदाकारविवर्तिष्यमाणमायाधिष्ठानत्वात्**तस्यापि** शिवस्य **सा** पूर्वोक्ता परा **शक्तिरेव** जगन्निर्माणशक्तिरूपा **भवेत्** । तया शक्त्या रहितः शिवो निःशक्तित्वाज्जगन्निर्माणासमर्थ इत्यर्थः । एवमुत्तरत्र सर्वत्र योज्यम् ॥ ४ ॥ शिवस्य जगत्कारणत्वावस्थायामुपाधिभूता माया ज्ञानक्रियाशक्तिसाम्यवती सा यदि विशुद्धसत्त्वप्रधाना ज्ञानशक्त्याऽधिका स्यात्तदा तदुपाधिकः शिवः सर्वज्ञो भवति । यदा तु क्रियाशक्त्याऽधिका तदा तदुपाधिकः साक्षाच्छिव एव स्रष्टव्यपर्यालोचनात्मकस्येक्षणस्य कर्ता भवति । एतदुक्तं भवति–एक एव परशिवः साक्षादुपाधिवशात्पञ्चधा भवति । अनुद्भूतज्ञानक्रियाशक्तिका या माया तदुपहितः शिव इत्युच्यते । तस्याः शक्यप्रतियोग्यधीननिरूपणो य आकारस्तदुपाधिकः शिवः शक्तिः । यदा सा मायोद्भूतसमप्रधानज्ञानक्रियाशक्तिका तदुपाधिकं परशिवस्वरूपं जगत्कारणम् । ज्ञानशक्त्याधिक्यात्सर्वज्ञः । क्रियाशक्त्याधिक्यादीक्षितेति । एवं च शिवस्यावस्थाभेदा आगमिकैः शुद्धतत्त्वानीति व्यवह्रियन्ते । तदुक्तम्–'शुद्धानि पञ्च तत्त्वान्याद्यं तेषां वदन्ति शिवतत्त्वम् । शक्तिसदाशिवतत्त्वे ईश्वरविद्याख्यतत्त्वे च' इति ॥ तेषां लक्षणमपि तैरेवोक्तम्–'शिवतत्त्वमथो वक्ष्ये सर्वाद्यप्रभवं परम् ॥ अप्रमेयमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम् ॥ सूक्ष्मं सर्वगतं नित्यं ध्रुवमव्ययमीश्वरम् । शक्तितत्त्वं ततो जातं सिसृक्षोः परमात्मनः ॥ उन्मेषः प्रथमस्तस्मादभिन्नं शिवतत्त्वतः । सदाशिवं ततस्तत्त्वं क्रियाज्ञानसमांशकम् ॥ तत्त्वमीश्वरसंज्ञं स्यात्सर्वैश्वर्यसमावृतम् ।[1]क्रियाशक्त्या परिक्षीणं[2] ज्ञानशक्त्याऽधिकावृतम् ॥ विद्यातत्त्वमतश्चेशात्सर्वज्ञं मन्त्रनायकम्[3] । क्रियाशक्त्यंशशबलं ज्ञानशक्त्यंशहीनकम्' ॥ इति । ईक्षितृत्वं परशिवस्याऽऽम्नातम् 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति । ॥ ५–६ ॥

है ।) ॥ २–३ ॥ शिव जो जगत्कारणता को प्राप्त हुए हैं उसमें भी वह पराशक्ति ही जगत् का निर्माण करने की शक्ति बनी है । उस शक्ति के बिना शिव में कारणता नहीं हो सकती । (मायामात्रोपहित शिव हैं । जगदङ्कुररूप ग्रहण की हुई माया से उपहित वे शक्ति हैं । तदनन्तर जगत् का आकार लेने वाली माया से उपहित वे कारण हैं । एवं च शक्ति-अवस्था के बिना कारण-अवस्था नहीं हो सकती । शक्ति से ज्ञानशक्ति विक्षित है जो शिव से अत्यन्त अभिन्न है । उसका भेदावभास कल्पित है ।) ॥ ४ ॥ साक्षात्

१ क. ख. ज्ञानशक्त्या । २ क. ख. °णं क्रियाश° । ३ क. ख. °म् । ज्ञानश° ।

यस्तु रुद्रत्वमापन्नः शिवः साक्षादुपाधिना । सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ ७ ॥

यस्तु विष्णुत्वमापन्नः शिवः साक्षादुपाधिना । सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ ८ ॥

यस्तु ब्रह्मत्वमापन्नः शिवः साक्षादुपाधिना ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ ९ ॥

सदाशिवत्वं यः प्राप्तः शिवः साक्षादुपाधिना ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १० ॥

ईश्वरत्वं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना । सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ ११ ॥

तदीक्षणोत्तरकालं विचिकीर्षोर्मायायाः सत्त्वरजस्तमोगुणा विभक्ता भवन्ति तदुपाधिकः शिवो ब्रह्मविष्णुरुद्रसंज्ञा लभते । तत्र रुद्रस्य वहिस्तमोयुक्तसत्त्वगुण उपाधिः । सत्त्वेनाऽऽवृतं तमो विष्णोः । ब्रह्मणस्तु केवलं रजः । तत्तदुपाध्याधिक्याद्रुद्रः परः । सत्त्वमात्ररहिताद् ब्रह्मणः सकाशाद् वहिः सत्त्वोपाधिको विष्णुः श्रेष्ठः । एवमीदृग्रूपमुपाध्याधिक्यत्वं स्वयमेवोपदिष्टं सूतगीतायां प्रतिपादयिष्यति 'यस्य मायागतं सत्त्वम्' इत्यादिना ॥ ७–९ ॥ **सदाशिवत्वमिति** । गुणप्रविभागानन्तरं शब्दस्पर्शतन्मात्ररूपाणि सूक्ष्मभूतानि क्रमेणोत्पद्यन्ते । तत्र शब्दतन्मात्रोपाधिकः सदाशिवः । स्पर्शतन्मात्रोपाधिकः शिव ईश्वरः । रूपरसगन्धतन्मात्रोपाधिका रुद्रविष्णुब्रह्माणः । रुद्रविष्णुब्रह्मणामेव भौतिकसृष्टावुपाधय इत्यत्र पृथङ्नोक्तम् । एकरूपाणामप्युपाधिवैचित्र्याद्भेदो विद्यत एवेत्यभिप्रेत्यैकादशाध्याय उत्कर्षप्रतिपादनसमये ब्रह्मादयो द्विरुपात्ता इत्युक्तम् ॥ १०–११ ॥

शिव जो सर्वज्ञ वने हैं उसमें भी वही परा शक्ति सर्वज्ञता की सामर्थ्य वनी है । उस शक्ति के बिना शिव में सर्वज्ञता नहीं हो सकती । (ज्ञानशक्ति की अनुगति सब स्थितियों में है । माया जब ज्ञानाभिव्यंजक अधिक होती है तब उस उपाधि वाले शिव सर्वज्ञ कहे जाते हैं ।) ॥ ५ ॥ जो महादेव ईक्षितारूप को प्राप्त हुए हैं उसमें भी वही पराशक्ति उनकी ईक्षणसामर्थ्य है जिसके बिना उनमें ईक्षितारूप नहीं हो सकता । (क्रियाशक्ति की अधिकता वाली माया से उपहित शिव ईक्षिता कहलाते हैं ।) ॥ ६ ॥ स्वयं शिव ही जो रुद्ररूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना वे उस रूप वाले नहीं हो सकते । (गुणवैषम्य वाली माया से उपहित शिव ही रुद्रादि बनते हैं । वाहरी तमोयुक्त सत्त्वगुण की उपाधि वाले शिव रुद्र कहे जाते हैं ।) ॥ ७ ॥ शिव जो विष्णुरूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही पराशक्ति है जिसके विना वे उस रूप वाले नहीं हो सकते । (सत्त्व से छिपा तमोगुण जब उपाधि बनता है तव शिव को विष्णु कहते हैं ।) ॥ ८ ॥ शिव जो ब्रह्मरूप को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही पराशक्ति है जिसके बिना वे उक्त रूप नहीं हो सकते (रजोमात्रोपाधि शिव ब्रह्मा हैं ।) ॥ ९ ॥ जो शिव सदाशिव-

हिरण्यगर्भत्वं यस्तु शिवः प्राप्त उपाधिना ॥
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १२ ॥
सूत्रात्मत्वं तथा यस्तु शिवः प्राप्त उपाधिना ॥
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १३ ॥
विराड्रूपं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना ॥
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १४ ॥
स्वराड्रूपं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना ॥
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १५ ॥
सम्राड्रूपं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना ॥
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १६ ॥

हिरण्यगर्भत्वमिति । वियदादिसूक्ष्मभूतगतैः पञ्चभिः सत्त्वांशैरारब्धं समष्ट्यन्तःकरणं हिरण्यगर्भस्योपाधिः । तत्रत्यै रजोंशैरारब्धः समष्टिरूपः प्राणः सूत्रात्मन उपाधिः ॥ १२–१३ ॥ **विराड्रूपमिति** । पञ्चभूतेषु जातेषु तदारब्धो ब्रह्माण्डादिलक्षणः स्थूलप्रपञ्चो विराज उपाधिः ॥ १४ ॥ तदन्तर्गतलिङ्गशरीरसमष्टिः स्वराजः । कारणत्वेन शरीरद्वयानुगतमव्याकृतं सम्राज उपाधिः । एतच्च शिवमाहात्म्यखण्ड एकादशेऽध्याये विस्तरेण प्रतिपादितम् ॥ १५–१६ ॥

रूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके बिना वे उक्त रूप वाले नहीं हो सकते । (शब्दतन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्माकाश उपाधि वाले शिव को सदाशिव कहते हैं ।) ॥ १० ॥ जो शिव ईश्वररूप को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके बिना वे उस रूप को नहीं पा सकते । (सूक्ष्म वायु उपाधि वाले को ईश्वर कहते हैं ।) ॥ ११ ॥ जो शिव हिरण्यगर्भरूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी भी शक्ति वही परा शक्ति है जिसके बिना वे उस रूप वाले नहीं हो सकते । समष्टि अंतःकरण से उपहित शिव हिरण्यगर्भ हैं ।) ॥ १२ ॥ जो शिव सूत्रात्मारूप को प्राप्त हुए हैं उनकी भी शक्ति वही परा शक्ति है जिसके बिना उनका यह रूप भी संभव नहीं (समष्टि प्राण से उपहित शिव सूत्रात्मा हैं ।) ॥ १३ ॥ जो शिव विराट् रूप को प्राप्त हुए हैं उनकी भी शक्ति वही पराशक्ति है जिसके बिना उनका यह रूप उनका नहीं हो सकता । (स्थूल प्रपंच रूप उपाधि वाले शिव विराट् हैं ।) ॥ १४ ॥ जो शिव ब्रह्माण्डान्तर्गत लिंगशरीरों की समष्टि रूप उपाधि से स्वराट्रूपता को प्राप्त हुऐ हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके बिना वे उस रूप को नहीं पा सकते ॥ १५ ॥ स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में कारणरूप से अनुगत अव्याकृत (अज्ञान) रूप उपाधि से जो शिव सम्राट्रूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही पराशक्ति है जिसके बिना वे उस रूपता की प्राप्ति नहीं कर सकते ॥ १६ ॥ जो शिव तत्तद् उपाधि से इन्द्र आदि लोकपालरूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी भी शक्ति वही पराशक्ति है जिसके बिना वे उन रूपों को प्राप्त नहीं कर सकते ॥ १७ ॥ जो शिव नाना उपाधियों से देवता आदि रूपों को प्राप्त

इन्द्रादिलोकपालानां रूपं यः प्राप्तवाञ्शिवः ॥ सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १७ ॥

देवादीनां गतो यस्तु रूपं शंभुरुपाधिना । सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १८ ॥

मनुष्यत्वं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ १९ ॥

तिर्यगादिस्वरूपं यः शिवः प्राप्त उपाधिना ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २० ॥

ओषधीनां स्वरूपं यः शिवः प्राप्त उपाधिना ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २१ ॥

वनस्पतीनां रूपं यः शिवः प्राप्त उपाधिना ।
सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २२ ॥

भक्ष्यभोज्यादिरूपं यः शिवः[1] प्राप्त उपाधिना । सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २३ ॥

इन्द्रादिलोकपालानामित्याद्या उपाधयः स्पष्टाः ॥ १७ ॥ देवादीनामिति । आदिशब्दादसुरगन्धर्वादयः ॥ १८–१९ ॥

हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना शिव उन रूपों को प्राप्त नहीं हो सकते ॥ १८ ॥ जो शिव मनुष्यरूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना वे इस रूप को प्राप्त नहीं हो सकते । (सर्वत्र यह भी समझते रहना चाहिये कि उस उस रूप में प्रतीयमान शक्ति पराशक्ति ही है । उपाधि वाले को अर्थात् जिसकी वह उपाधि बनी है उसे शिव कहा है । उपाधिगत शक्ति में अनुगत संवित् को ही उनकी शक्ति कहा है । एवं च उपाधिमात्र की दृष्टि से उन्हीं को शिव और औपाधिक सामर्थ्य की दृष्टि से उन्हें ही शक्ति कहा है ।) ॥ १९ ॥ जो शिव उपाधिवश जानवर आदिरूपों को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना वे उन रूपों को नहीं पा सकते ॥ २० ॥ जो शिव गेहूँ, चावल आदि ओषधिरूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना वे उन रूपों वाले नहीं हो सकते । (एक वार फल कर क्षीणायु पौधे ओषधि कहे जाते हैं । जंगम उपाधियों की तरह स्थावर उपाधियाँ तथा सर्वथा जड उपाधियाँ भी सामर्थ्यशाली हैं । उपाधियों की सामर्थ्य मायारूप

१ क. ज. "यः साक्षाद्रुपा" ।

नदीनदादिरूपं यः शिवः प्राप्त उपाधिना ।

सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २४ ॥

पर्वतादिस्वरूपं यः शिवः[1] प्राप्त उपाधिना ।

सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २५ ॥

समुद्ररूपं यः प्राप्तः शिवः साक्षादुपाधिना ।

सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २६ ॥

विद्युद्रूपं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना ।

सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २७ ॥

सर्वाकारं गतो यस्तु शिवः साक्षादुपाधिना ।

सा तस्यापि भवेच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः ॥ २८ ॥

तिर्यगादीति । आदिशब्देन पक्षिसरीसृपादयः ॥ २०–२८ ॥

है तथा उपहितों की संविद्रूप ।) ॥ २१ ॥ जो शिव उपाधिवश वनस्पतिरूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना वे उक्त रूप को प्राप्त नहीं हो सकते । (जो पेड़-पौधे फूल के विना ही फल देते हैं उन्हें वनस्पति कहते हैं । अमरसिंह ने कहा है 'तैरपुष्पाद्वनस्पतिः' । मनु ने (१.४७) भी बताया है 'अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' ।) ॥ १२२ ॥ जो शिव उपाधि से भक्ष्य व भोज्य बने हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना वे उस रूपता को सफलतापूर्वक पा नहीं सकते ॥ २३ ॥ जो शिव नदी व नदरूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही पराशक्ति है जिसके विना वे उन रूपों को भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ २४ ॥ जो शिव पर्वत आदि रूपों को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही पराशक्ति है । उसके विना वे न उन रूपों को प्राप्त करते हैं न उन रूपों की सामर्थ्य वाले बनते हैं । ॥ २५ ॥ जो शिव समुद्ररूपता को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना वे उन रूपों को नहीं प्राप्त होते ॥ २६ ॥ जो स्वयं शिव उपाधि से बिजलीरूप बने हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके विना वे तद्रूपता को प्राप्त होते नहीं ॥ २७ ॥ किम्बहुना ! जो शिव उपाधियों के कारण सभी आकारों को प्राप्त हुए हैं उनकी शक्ति भी वही परा शक्ति है जिसके बिना न वे उन उपाधियों वाले होते हैं और न उन उपाधियों की सामर्थ्य वाले ॥ २८ ॥ यह वह साक्षिभूत शक्ति है जो तत्तत् निर्माण का कारण बनने से शिव को भी सुख देने वाली है । यह वस्तुतः शिव से सर्वथा अभिन्न है । उससे रहित होने पर तो शिव निःस्वरूप हो जायेंगे अतः अशिव ही हो जाने से उनके वैसे –पराशक्तिरहित– रूप की कल्पना ही निरर्थक है ।

---

१ ज. "वः साक्षादुपा" ।

एषा सा साक्षिणी शक्तिः शंकरस्यापि शंकरी ।

शिवाभिन्ना तया हीनः शिवः साक्षान्निरर्थकः ॥ २९ ॥

न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।

उमाशंकरयोरैक्यं यः पश्यति स पश्यति ॥ ३० ॥

उमाशंकरयोर्भेदं ये पश्यन्ति नराधमाः । अधोमुखोर्ध्वपादास्ते यास्यन्ति नरकार्णवम् ॥ ३१ ॥

यथा मातापितृभ्यां तु वर्धन्ते मानवा भुवि ।

तथैवाऽऽभ्यामिदं कृत्स्नं वर्धते नात्र संशयः ॥ ३२ ॥

उपासते ये परमां सर्वलोकैकमातरम् । तेऽभीष्टं सकलं यान्ति विद्यां मुक्तिप्रदामपि ॥ ३३ ॥

इत्थमेकस्या एव परशक्तेर्नानाविधशक्यप्रतियोगिवैचित्र्यवशात्तत्तद्विशेषशक्त्यात्मना नानात्वमभिधाय परमार्थतोऽद्वितीयसच्चिदानन्दादिलक्षणैवेत्युपसंहरति—**एषा सेत्यादिना** । **एषा** शक्तिर्जगत्कारणत्वाद्यात्मना[1] **शंकरस्य** परशिवस्यापि तत्तन्निर्माणहेतुतया सुखकरी । यद्वा स्वीकृतलीलावतारस्य पार्वत्यात्मना सुखकरी । शिवशक्त्योरुभयोरपि परमार्थतश्चिन्मात्ररूपत्वाच्छिवस्वरूपादनतिरिक्ता । चिन्मात्ररूपिण्या **तया** यदि **शिवो हीनः** स्यात्तदा चिन्मात्रातिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वात्तदतिरिक्तस्वरूपान्तराभावेन शिवो निःस्वरूपो भवेदित्यर्थः ॥ २९ ॥ अतः शिवशक्त्योश्चिन्मात्रैकशरीरत्वात्परस्परमविनाभावमाह—**न शिवेनेति** । एवं शिवशक्त्योश्चिन्मात्ररूपेणैकत्वं यः साक्षात्करोति स एव ज्ञानीत्यर्थः । ॥ ३० ॥ एतदेव व्यतिरेकमुखेण द्रढयति—**उमाशंकरयोरिति** ॥ ३१ ॥ **तथैवाऽऽभ्यामिति** । जगत्कारणत्वादिरूपेण सर्वत्रानुस्यूताभ्यां[2] शिवशक्तिभ्यामित्यर्थः ॥ ३२ ॥ **तेऽभीष्टमिति** । शक्तिप्रसादादेवैहिकफलोपभोगेन प्रतिबन्धककर्मक्षये सति मुक्त्युपायभूतां ब्रह्मविद्यामपि तत्प्रसादतो लभन्त इत्यर्थः । तदुक्तमागमिकैः—'भोगेन कर्मपाकं विधाय दीक्षां शिवः शक्त्या । मोचयति पशूनखिलान्करुणैकनिधिः सदा शंभुः' इति ॥ ३३ ॥

॥ २९ ॥ शिव से भिन्न शक्ति या शक्ति से भिन्न शिव कुछ नहीं हैं । उमा व शंकर की एकता का जानकार ही वस्तुतः जानकारी वाला व्यक्ति है ॥ ३० ॥ जो नीच मनुष्य उमा व शंकर में भेद देखते हैं वे सिर के बल नरक में गिरते हैं ॥ ३१ ॥ जैसे माता-पिता द्वारा संसार में मनुष्य बढ़ते हैं वैसे जगत्कारणत्व आदि रूप से सर्वत्र अनुस्यूत शिव-शक्ति द्वारा सब कुछ बढ़ता है ॥ ३२ ॥ समस्त संसार की एकमात्र माता की जो उपासना करते हैं उन्हें सब अभीष्ट तथा मुक्तिप्रद विद्या प्राप्त हो जाती है ॥ ३३ ॥ परा देवी पार्वती ही ब्रह्मविद्या देने वाली हैं । विशेषतः वे ही सब जन्तुओं को मोक्षोपयोगी ज्ञान देती हैं इसमें संदेह नहीं । (चरमवृत्ति की सामर्थ्य से उपहित शिव ही मोचकशक्ति हैं ।) ॥ ३४ ॥ यह शिवा ही लक्ष्मी,

---

१ "ना नानाविधानुक्रान्ता एषा परमार्थतः साक्षिणी संविद्रूपिणी परा शक्तिरेव । यद्वा 'साक्षी साक्ष्यं नानुप्रविशति' एवमियमपि साक्ष्यभूतविकारप्रपञ्चानन्तर्गतत्वात् साक्षिणी । उक्तरीत्या तत्तदुपाधिवशाज्जगत्कारणत्वाद्यापन्नस्य शं°–इति वालमनोरमापाठेऽधिकम् ।

२ उपाधिपरामृष्टः शिवः । उपाधिसामर्थ्योपहितः स एव शक्तिः । उपाधिपरामृष्टत्वं च परशक्त्यैव, उपहितशक्तिश्च सैव । तथा चाभेदेप्यनयोरुपाधितत्सामर्थ्योपहिततया भेदनिरूपणाद् द्विवचनम् ।

पार्वती परमा देवी ब्रह्मविद्याप्रदायिनी । विशेषेणैव जन्तूनां नात्र संदेहकारणम् ॥ ३४ ॥

लक्ष्मीवागादिरूपैषा शिवा खलु मुनीश्वराः । नर्तकीवानया सर्वमचिरादेव सिध्यति ॥ ३५ ॥

अस्या एव प्रसादेन ब्रह्मेन्द्रादिविभूतयः । अनया रहितं सर्वमसदेव न सद्भवेत् ॥ ३६ ॥

एतामेव समाराध्य श्रद्धया सह वैदिकाः ।
लभन्ते काङ्क्षितं सर्वं नान्यथा मुनिपुङ्गवाः ॥ ३७ ॥

शैवा भागवतास्तेषामुपभेदावलम्बिनः । अस्या आराधनेनैव लभन्तेऽभीप्सितं फलम् ॥ ३८ ॥

दैगम्बरास्तथा बौद्धा अपभ्रंशावलम्बिनः । अस्या आराधनेनैव लभन्तेऽभीप्सितं फलम् ॥ ३९॥

यथा यथा शिवामेतां यो वा को वाऽऽदरेण तु ।
आराधयति सोऽभीष्टं लभते फलमास्तिकाः ॥ ४० ॥

करुणासागरामेतां यः पूजयति शांकरीम् ।
किं न सिध्यति तस्येष्टं तस्या एव प्रसादतः ॥ ४१ ॥

ब्रह्मविद्याप्रदायिनीति । वयं सर्वोत्कृष्टा इति कृताहंकाराणामग्न्यादिदेवानां गर्वमपनेतुमाविर्भूतस्य परब्रह्मणः स्वरूपं यया देव्योपदिष्टं तस्मादेषा ब्रह्मविद्याप्रदायिनी । श्रूयते हि तलवकारोपनिषदि–'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इत्युपक्रम्य 'स तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति', 'ब्रह्मेति होवाच' इति ॥ ३४ ॥ स्वरूपाविरोधेन लक्ष्मीवागादिनानारूपत्वस्वीकारस्योचितं निदर्शनमाह–नर्तकीवेति ॥ ३५ ॥ अनया रहितमिति । परमार्थसद्रूपिण्याऽनया यदि सर्वं जगद्रहितं स्यात्तदा सर्वमसदेव भवेत्तुच्छवत्स्वतःसत्त्वाभावात् । श्रुतिश्च सद्वस्तुविरहेऽसत्त्वं प्रतिपादयति 'असन्नेव स भवति', 'असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इति ॥ ३६–३७ ॥ उपभेदावलम्बिन इति । शैवोपभेदाः पाशुपतादयः । भागवतोपभेदाः पाञ्चरात्रवैखानसादयः ॥ ३८–३९ ॥ यथा यथेति । यद्यदुपाधिविशिष्टामेतां शक्तिं यः कोऽप्याराधयति तस्य [1]तत्तदुपाधियोग्यं तत्तत्फलं सिध्यतीत्यर्थः । 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः । भगवताऽप्युक्तम्–'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति' इत्यादिना 'लभते च ततः कामान्' इत्यन्तेन ॥ ४०–४१ ॥

सरस्वती आदि रूपों वाली है । नर्तकी की तरह ये अपना स्वरूप बदले विना सभी कुछ बन जाती हैं ॥ ३५ ॥ ब्रह्मा, इन्द्र आदि की विभूतियाँ इनकी कृपा से ही प्राप्त हैं । सद्रूपिणी शिवा के विना सब कुछ असत् ही हो जाता, सत् नहीं रह सकता था ॥ ३६ ॥ वैदिक लोग उमा की ही श्रद्धापूर्वक आराधना कर सब इष्ट फल पा लेते हैं ॥ ३७ ॥ शैव, भागवत व उनके अवान्तर भेद वाले सभी साधक पार्वती की ही आराधना से अभीप्सित फल प्राप्त करते हैं ॥ ३८ ॥ जैन, बौद्ध तथा कापाल आदि अपभ्रंश मतों के अनुयायी भी इन्हीं की पूजा से वांछित-प्राप्ति करते हैं ॥ ३९ ॥ जो कोई भी व्यक्ति जिस किसी प्रकार

१ क. तदु° ।

शिवामेतामुमामेनां जडशक्तिं तथैव च । जडकार्यं जगज्जीवं तेषां भेदं तथैव च ॥ ४२ ॥

अन्यच्चास्तितया भातं तथा नास्तीतिशब्दितम् ।

सर्वं पूर्णं शिवं पश्यन्स्वयं पूर्णः शिवो भवेत् ॥ ४३ ॥

पूर्णमेव स्वकं रूपमपूर्णं भाति मायया । पूर्णरूपतया मायां पश्यन्पूर्णो भवेत्स्वयम् ॥ ४४ ॥

स्वपूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादयः । न सन्ति नास्ति माया च तद्विशुद्धात्मेत्मवेदनम् ॥ ४५ ॥

एवं परशक्तेर्महिमानं प्रदर्श्य परिपूर्णपरशिवस्वरूपेणैव सर्वमनुसंधेयं मुमुक्षुणेति प्रतिपादयति–**शिवामेतामित्यादिना** । चिन्मात्राश्रयमायाशक्त्यनुप्रविष्टा[1] सांवच्छिवा सैव लीलाविग्रहधारिण्युमा जडवर्गस्य सर्वस्योपादानभूता चिन्मात्राश्रया या माया सा जडशक्तिः ॥ ४२ ॥ **सर्वमिति** । प्रागुक्तं मायातत्कार्यरूपं चेतनाचेतनात्मकं यत्सर्वं जगत्परिपूर्णे परशिवस्वरूपे शुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं रजतस्येव तस्य सर्वस्याधिष्ठानव्यतिरेकेणासत्त्वात्तदधिष्ठानमात्रमवशिष्यते । तथा चायमर्थः–यदिदं सर्वं न तत्सर्वमपि त्वनवच्छिन्नः परशिव एवेति वेदान्तमहावाक्यजनितज्ञानेन साक्षात्कुर्वंस्तदानीमेव स्वयमप्यनवच्छिन्नः शिवो भवति । ज्ञानसमकालमेव मुक्तिरिति पश्यन्निति वर्तमानापदेशार्थः । श्रुतावपि विद्योदयसमकालमेव परब्रह्मप्राप्तिराम्नाता 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति' इति ॥ ४३ ॥ एतदेवोपपादयति-**पूर्णमेवेति** । सच्चिदानन्दैकरसमाकाशवत्सर्वगतं परशिवस्वरूपमेव सर्वेषां जीवानां नैजं रूपम् । तदेव घटाद्युपाधिवशादाकाशमिव सत्त्वप्रधानमायया शक्त्याऽवच्छिन्नं सदसर्वगतमिव दृश्यते । यदा तु मुमुक्षुः स्वात्मनो नैजं रूपं गुरूपदेशतो वेदान्तमहावाक्यलक्षणात्प्रमाणादवगच्छति तदा भेदहेतुभूतां मायामप्यनवच्छिन्नात्मस्वरूपतयैव साक्षात्कुर्वन्नवच्छेदहेतोरभावान्मुमुक्षोः स्वकीयमपि रूपं परिपूर्णमेव भवेदित्यर्थः । श्रुतिरपि चराचरात्मकस्य सर्वस्य जगतः पूर्णाविशेषत्वं दर्शयति–'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इति ॥ ४४ ॥ ननु सन्घटः सन्पट इत्यादिभेदेन प्रतिपन्नस्य भेदस्य जगतो मायायाश्च कथं परिपूर्णशिवात्मकत्वं येन स्वयमपि परिपूर्णः सञ्शिवो भवेदिति ? तत्राऽऽह–**स्वपूर्णेति** । तद्रूपस्य स्वात्मनः कारणतयाऽनुप्रवेशात्स्वकीयमेव सत्त्वमचेतने जगति जीवेश्वरादिभेदभिन्नेऽचेतनप्रपञ्चे मायायां चावभासते न ततोऽतिरिक्ता तेषां सत्ताऽस्तीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

से आदरपूर्वक इन शिवा की आराधना करता है वह अभीष्ट फल पा लेता है ॥ ४० ॥ कल्याण करने वाली इन करुणासागर भगवती की पूजा से उनकी कृपा द्वारा क्या नहीं मिल सकता ? ॥ ४१ ॥

इन उमा शिवा को, जडशक्ति को, जडकार्य को, जगत् को, जीव को, इनके अवांतर भेदों को तथा अन्य जो कुछ भी 'है' इस रूप से या 'नहीं है' इस रूप से कहा या समझा जाता है उस सबको पूर्ण शिव ही जानना चाहिये । वैसा जानने से जानने वाला स्वयं पूर्ण शिवरूप ही हो जाता है ॥ ४२–४३ ॥ अपना पूर्णरूप ही माया के कारण अपूर्ण (परिच्छिन्न) प्रतीत होता है । माया को भी पूर्णात्मा से अतिरिक्त कुछ न समझने वाला स्वयं पूर्ण ब्रह्म हो जाता है । (जैसे सर्प रज्जु से अतिरिक्त कुछ नहीं है ऐसे माया आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है ।) ॥ ४४ ॥ अपने पूर्ण आत्मरूप से अतिरिक्त जगत्, जीव, ईश्वर आदि तथा माया हैं ही नहीं–यह विशुद्ध आत्मा का ज्ञान है ॥ ४५ ॥ अपने पूर्ण स्वरूप

१ क. °ष्टा । शिवा ।

स्वपूर्णात्मशिवानन्दनिष्ठामासाद्य मानवः । तदैव लभते मुक्तिं स्वपूर्णात्मशिवात्मिकाम् ॥ ४६ ॥

स्वपूर्णात्मशिवानन्दप्रकाशबलतः पुमान् ।
स्वच्छन्दं वर्तते लोके को वा तस्य निवारकः ॥ ४७ ॥

सार्वभौमो यथा राजा स्वच्छन्दं वर्तते भुवि ।
स्वपूर्णात्मशिवज्ञानी स्वच्छन्दं वर्तते तथा ॥ ४८ ॥

प्रतीतमखिलं यस्य स्वात्मना भासते स्वयम् ।
संसारस्तस्य मुक्तिर्वा कथं सिध्यति योगिनः ॥ ४९ ॥

संसारो वा विमुक्तिर्वा यस्य भाति मुनीश्वराः ।
तस्यैव हि निषेधाश्च विधयश्च न योगिनः ॥ ५० ॥

स्पृश्यते मृत्तिका विप्रैश्चण्डालैरपि केवला । सैव कुम्भादिरूपेण नीचैर्न स्पृश्यते यथा ॥ ५१ ॥

तथा ब्रह्मात्मना सर्वमनिन्द्यमपि योगिनः । निन्द्यानिन्द्यतयाऽज्ञस्य भाति सर्वं स्वरूपतः ॥ ५२॥

वैदिको लौकिकश्चापि व्यवहारस्तु कल्पितः । भेदविज्ञानिनो मोहाद्भासने स न योगिनः ॥ ५३ ॥

आत्मविज्ञानिनो विप्रा लौकिको न हि वैदिकः ।
व्यवहारः स्वतः सर्वः स्वात्मना भाति केवलम् ॥ ५४ ॥

निष्ठामिति । अन्यत्सर्वं परित्यज्य तत्स्वरूपानुसंधाने नितरामवस्थितिः ॥ ४६ ॥ एवमद्वितीयपरिपूर्णशिवात्मैक्यनिष्ठस्य जीवन्मुक्तस्य स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन भेदप्रपञ्चस्य विलीनत्वात्तदाश्रितो बद्धमुक्तादिव्यवहारो विधिनिषेधादिव्यवहारश्च नास्तीत्याह— स्वपूर्णात्मेत्यादिना । आनन्दप्रकाशबलत इति । निरतिशयानन्दस्वरूपाविर्भावस्तेन बलेन ब्रह्मेन्द्रादिपदमपि न गणयतीत्यर्थः ॥ ४७—५० ॥

आनन्दात्मक शिव में प्रतिष्ठा पाते ही मोक्ष पा जाता है जो शिवात्मक अपनी पूर्णरूपता ही है ॥ ४६ ॥ अपने पूर्ण स्वरूप आनन्दात्मक शिव के स्वरूपभूत प्रकाश के बल पर मुक्त पुरुष लोक में सर्वस्वतन्त्र हो जाता है ॥ ४७ ॥ जैसे सार्वभौम राजा पृथ्वी पर स्वच्छंद होता है ऐसे ही अपनी पूर्ण शिवात्मता का जानकार सारे संसार में स्वच्छन्द होता है ॥ ४८ ॥ प्रतीत होने वाली समस्त वस्तुएँ जिसे स्वरूप से भासती हैं उसके लिए न संसार है, न मोक्ष ॥ ४९ ॥ जिसे संसार की प्रतीति और मोक्ष की इच्छा होती है उसे ही सब विधि व निषेध विषय करते हैं, लब्धबोध शिवयोगी को नहीं ॥ ५० ॥ जैसे मिट्टी को चाहे चाण्डाल छू ले कोई दोष नहीं होता किंतु वही मिट्टी यदि घड़ा आदि बन चुकी है तो चाण्डाल छू लेने पर सदोष हो जाती है, वैसे ही योगी के लिए सब कुछ ब्रह्मरूप होने से अनिन्दनीय है जबकि अज्ञानी को सब वस्तुएँ स्वरूप से ही निंदनीय या प्रशंसनीय लगती हैं । (ज्ञानी को विधि-निषेध विषय नहीं करते क्योंकि वह भेददर्शी नहीं है । जैसे मिट्टी में घटादि नामरूप का भेद नहीं तो वह दोष वाली भी नहीं होती वैसे यहाँ भी समझना चाहिये । जब तक भेददृष्टि है तब तक गुण-दोष अत एव विधि-निषेध हैं ।) ॥ ५१—५२ ॥

---

१ च. सिद्धः ।

आत्मविज्ञानसंज्ञस्य महायज्ञस्य वैभवम् । कल्पकोटिशतेनापि मया वक्तुं न शक्यते ॥ ५५ ॥
भवन्तोऽपि महाभाग्यान्महादेवप्रसादतः । मत्तो लब्धपरिज्ञानाः कृतार्थाश्च न संशयः ॥ ५६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविशेषो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

सूत उवाच—भूयोऽपि ज्ञानयज्ञं तु प्रवक्ष्यामि समासतः ।
इतः पूर्वं मया नोक्तमपि कस्यचिदास्तिकाः ॥ १ ॥
एक एव शिवः साक्षात्सत्यज्ञानादिलक्षणः ।
विकाररहितः शुद्धः स्वशक्त्या पञ्चधा स्थितः ॥ २ ॥

भेददर्शनादेव विधिनिषेधादिव्यवहारो न तु जीवन्मुक्तस्येत्यत्र सदृष्टान्तमुपपादयति—स्पृश्यत इत्यादिना । यथा घटशरावाद्युपादानभूताया मृत्तिकाया यथा[१] नीचस्पर्शाद्दोषाभावो घटशरावादिरूपेण विभक्तस्य तत्कार्यवर्गस्य स्पर्शे च दोष एवं कारणब्रह्मात्मनैकरूपं सर्वं वस्तु तस्यानिन्द्यमपि, तत्त्वज्ञानरहितस्य भेददर्शिनो निन्द्यानिन्द्यात्मना भासत इत्यर्थः । निगदव्याख्यातमन्यत् ॥ ५१–५६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविशेषो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इत्थं शक्तेः परशिवस्वरूपानतिरिक्तत्वमुपपाद्य सद्योजातादिपञ्चब्रह्मरूपेण यो भेदावभासः सोऽपि न पारमार्थिक इति प्रतिपादयितुमुपक्रमते—**भूयोऽपीति** ॥ १ ॥ **एक** इति स्वगतस्वातिरिक्तभेदयोर्निरासः । **सत्यज्ञानादीति** । आदिशब्देनाऽऽनन्त्यं सुखरूपता च विवक्षिता । **विकाररहित** इति । उत्पत्तिपरिणामादिसर्वविक्रियारहितः कूटस्थनित्य इत्यर्थः । अत एव **शुद्धो** निर्मलः । य एवंलक्षणः साक्षात्परशिवः पर एवैकः सन्प्रागुदीरितस्वशक्त्याऽवस्थाभेदेनेशानाद्यात्मना **पञ्चधा**ऽवस्थितः । तथा हि—सर्वशक्तिसामान्यरूपा या परा शक्तिः प्रागुदीरिता सृष्टिस्थितिसंहृतितिरोभावानुग्रहलक्षणैः शक्यविशेषैर्निरूप्यमाणा स्वयमपि सर्जनादिविशेषशक्त्यात्मना पञ्चधा विभक्ता भवति । अतः सर्जनशक्त्युपाधिकं परशिवस्वरूपं चिन्मात्रमेव सद्योजातः । पालनशक्त्युपाधिकं वामदेवः । संहरणशक्त्युपाधिकमघोरः । तिरोभावशक्त्युपाधिकं तत्पुरुषः । अनुग्रहशक्त्युपाधिकं चिन्मात्रमीशानः । एवमेक एव परशिवः पञ्चभिरुपाधिभिः पञ्चधा विभज्य स्थित इत्यर्थः । तदुक्तमागमिकैः—'सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः । पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहृतितिरोभावाः ॥ तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य' ॥ इति ॥ २ ॥

वैदिक व लौकिक व्यवहार सारा ही कल्पित है । हम भेदज्ञानियों को ही वह प्रतीत होता है, परमार्थज्ञानी को वह प्रतीत ही नहीं होता ॥ ५३ ॥ आत्मानुभव वाले को स्वात्मातिरिक्त किसी का भान नहीं है क्योंकि आत्मेतर कुछ है ही नहीं । जिसने स्थाणु देख लिया वह कोशिश करके भी पुरुष नहीं देख सकता । भ्रमदृष्टि वालों को पुरुष स्पष्ट दीखता रहता है ॥ ५४ ॥

आत्मविज्ञान नामक महायज्ञ का वैभव अनंत कल्पों में भी मैं पूरा नहीं बता सकता ॥ ५५ ॥ आप लोग महाभाग्य वाले हैं जो शिवकृपावश मुझसे आपने यह ज्ञान प्राप्त किया है । आप सभी कृतार्थ हो गये हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ५५ ॥

ज्ञानयज्ञविशेष नामक चौदहवाँ अध्याय

सूत जी ने कहा—हे आस्तिको ! पुनः ज्ञानयज्ञविषयक रहस्य उपस्थापित करता हूँ । ये सब बातें इससे पहले मैंने किसी को नहीं बतायीं थीं ॥ १ ॥

स्वयं शिव सर्वभेदशून्य हैं, सत्य ज्ञान आदि स्वरूप वाले हैं, सब परिवर्तनों से रहित हैं, निर्मल हैं

१ प्रायः सर्वेष्वप्यादर्शपुस्तकेषु यथाशब्दोऽयमधिको दृश्यते । ४ ङ. तत्कार्यभूतस्य ।

ईशानश्चेति तत्पूर्वपुरुषश्चेति सुव्रताः । अघोरश्चेति विप्रेन्द्रा वामदेव इति द्विजाः ॥ ३ ॥

सद्योजात इति प्राज्ञा न स्वरूपेण भेदिनः । तत्रैवं सति शब्दस्तु साक्षादीशानसंज्ञितः ॥ ४ ॥

स्पर्शस्तत्पुरुषो रूपमघोरः[1] परिकीर्तितः । वामदेवो रसः प्रोक्तो गन्धः सद्य उदाहृतः ॥ ५ ॥

[2]सदाशिवेश्वरौ रुद्रो विष्णुर्ब्रह्मा च सुव्रताः । क्रमाच्छब्दादिभूतानां देवताश्च प्रकीर्तिताः ॥ ६ ॥

ताश्चेशानादयः प्रोक्ताः क्रमेणैव मुनीश्वराः ॥

सर्वाण्येतानि विप्रेन्द्राः शिव एव न संशयः ॥ ७ ॥

पञ्चधाऽवस्थितस्य परशिवस्य सृष्टिक्रमेण नामोद्देशः क्रियते–ईशानश्चेत्यादिना । सर्वभूतानामीशितृत्वादीशानः । तदुक्तमागमे–'ईशे येन जगत्सर्वं गुणेनोपरिवर्तिना' इति । तत्पूर्वपुरुषश्चेति । तदिति पदं पूर्वं यस्य पुरुषपदस्य तत्तथा । तथा तस्य तस्य पूर्षु शरीरेषु वसतीति तत्पुरुषाभिधेय इत्यर्थः । तदुक्तम्–'तस्य तस्य वपुर्या पूस्तस्यामुर्षति येन सः' इति । घोरो न भवतीत्यघोरः । उक्तं च–'तथाऽघोरः प्रशान्तोऽपि पापनिर्दाहकारकः' इति । यद्वा–अघौघं हरतीत्यघोरः । तदप्युक्तम्–'अर्चयेद्भुक्तिमुक्त्यर्थं दक्षेऽघौघहरे स्थितः' इति । धर्मार्थकामेभ्यः प्रशस्तत्वाद्वामः स चासौ देवश्च । तदप्युक्तम्–'वामं त्रिवर्गवामत्वाद्रहस्यं च स्वभावतः' इति ॥ ३ ॥ यस्मात्परमेश्वराद्देवतिर्यङ्मनुष्याद्याः सद्य एव स्मरणमात्राज्जायन्ते स तथोक्तः । तदप्युक्तम्–'सद्योऽणूनां मूर्तयः संभवन्ति यस्येच्छातस्तेन सद्योभिधानः' इति । न स्वरूपेणेति । तस्याविक्रियस्वभावत्वादित्यर्थः । यस्मादेवं परशिवो यः शक्तिवशात्पञ्चधा विभज्य स्थितस्तस्मात्कार्यभूते प्रपञ्चे शब्दतन्मात्रादीनि यानि पञ्चसंख्यया विभक्तानि तानि सर्वाणि पञ्चब्रह्मात्मकान्येवेत्याह–तत्रैवमित्यादिना ॥ ४–५ ॥ शब्दादिभूतानामिति । तन्मात्ररूपाणामुदाहृतानां वियदादिसूक्ष्मभूतानां सदाशिवादयः क्रमेण देवता इत्यर्थः ॥ ६ ॥ तेऽपीशानाद्यात्मका एवेत्याह–ताश्चेति । सर्वाण्येतानीति । सदाशिवाद्यधिष्ठानशब्दतन्मात्राद्यात्मकानीशानादिपञ्चब्रह्माणि शिव एव तत्स्वरूपे मायाशक्तिवशात्परिकल्पितत्वान्न ततोऽतिरिक्तानीत्यर्थः ॥ ७ ॥

तथा अपनी ही शक्ति से पाँच प्रकार के हुए स्थित हैं ॥ २ ॥ ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात–इन पाँच प्रकारों से शिव स्थित हैं । यह प्रकारभेद औपाधिक है, स्वरूपतः शिव में कोई अन्तर नहीं है । (सर्जनशक्तिवाला शिवरूप सद्योजात है । पालनशक्तिरूप उपाधि वाला वामदेव । संहारशक्ति वाला अघोर । तिरोभावशक्ति वाला तत्पुरुष और अनुग्रहशक्तिरूप उपाधि वाला शिवरूप ईशान है ।) ॥ ३ $^1/_2$ ॥ क्योंकि शिव ही निज शक्ति से पाँच प्रकार के होकर स्थित हैं इसलिये संसार में पांच संख्या में बँटी वस्तुएँ ईशान आदि पञ्चब्रह्मात्मक ही हैं । शब्द (सूक्ष्म आकाश) ईशान है, स्पर्श तत्पुरुष है, रूप अघोर है, रस वामदेव और गंध सद्योजात है ॥ ४–५ ॥ सूक्ष्माकाश के देवता सदाशिव, सूक्ष्म वायु के ईश्वर, सूक्ष्म तेज के रुद्र, सूक्ष्म जल के विष्णु और सूक्ष्म पृथ्वी के ब्रह्मा देवता हैं ॥ ६ ॥ ये सदाशिव देवता भी

१ क. "पः सोऽघो" । २ क. ग. ध. ङ. च. छ. ज. "श्वरो रु" ।

एतानि शिवरूपेण पश्यन्मुच्येत बन्धनात् । आकाशाख्यं महाभूतमीशानः परिकीर्तितः ॥ ८ ॥

वायुस्तत्पुरुषो ज्ञेयो वह्निश्चाघोर ईरितः ॥

अम्भो वामस्तथा भूमिः सद्योजातः प्रकीर्तितः ॥ ९ ॥

अनन्तशिवसंज्ञश्च तथाऽनन्तेश्वराभिधः । कालाग्निरुद्रो विप्रेन्द्रास्तथा नारायणाभिधः ॥ १० ॥

ब्रह्मा चतुर्मुखः साक्षादाकाशादेस्तु देवताः । एतानि शिवरूपेण पश्यन्मुच्येत बन्धनात् ॥ ११ ॥

श्रोत्रमीशान एव स्यात्त्वक्च तत्पुरुषः स्मृतः ।

चक्षुश्चाघोर एव स्याज्जिह्वा वामः समीरितः ॥ १२ ॥

घ्राणं सद्यः समाख्यातः क्रमात्खानां मुनीश्वराः ॥

दिग्वाय्वादित्यवरुणपृथिव्याख्यास्तु देवताः । एतानि शिवरूपेण पश्यन्मुच्येत बन्धनात् ॥ १३ ॥

एवमेतानि शिवात्मना साक्षात्कुर्वन्सद्य एव संसारान्मुक्तो भवेदित्यर्थः । एवमुत्तरत्र सर्वत्र योज्यम् । **महाभूतमिति** । स्वेतरपृथिव्यादिभूतापेक्षयाऽऽऽकाशस्य विस्तृतत्वात्तन्महाभूतत्वम् । उक्तं हि–'सूक्ष्मताव्यापिते ज्ञेये भूम्यादेरुत्तरोत्तरम्' इति ॥ ८–९ ॥ **अनन्तशिवेति** । अनन्तशिवोऽपरिच्छिन्नशिवः सदाशिव इत्यर्थः । अनन्तशिवादयश्च स्थूलभूतानामधिष्ठातृदेवताः । तदुक्तं सर्वज्ञानोत्तरे–'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्चानन्तेशश्च सदाशिवः । पृथिव्यादिषु तत्त्वेषु क्रमात्तत्त्वाधिपाः स्थिताः' इति । **एतानीति** । सर्वत्र पूर्ववद्योज्यम् ॥ १०–११ ॥ **श्रोत्रमीशान** इति । वियदादिभूतपञ्चकगतसत्त्वांशैरारब्धानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, तेषामधिपा दिगादयः । 'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' इत्यादि । अत एव तत्त्वसारेऽप्युक्तम्– 'श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतम् । त्वगध्यात्मं स्प्रष्टव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतम् । चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् । जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतम् । प्राणमध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतम्' इति ॥ १२–१३ ॥

ईशानदिरूप ही हैं अतः ये सब शिव ही हैं । इन्हें शिवरूप जानने से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ७½ ॥ आकाश नामक स्थूल महाभूत ईशान है, वायु तत्पुरुष है, तेज अघोर है, जल वामदेव और पृथ्वी सद्योजात है । क्रमशः इन स्थूलभूतों के देवता हैं अनन्तशिव, अनन्तेश्वर, कालाग्निरुद्र, नारायण और ब्रह्मा । इन सबको शिवरूप जान लेने से मोक्ष हो जाता है ॥ ८–११ ॥ श्रोत्र ईशान है, त्वगिन्द्रिय तत्पुरुष है, चक्षु अघोर है, जिह्वा वामदेव है और घ्राण सद्योजात है । क्रमशः इनके देवता हैं दिक्, वायु, आदित्य, वरुण और पृथ्वी । इन सबको शिवरूप जानने से मोक्षलाभ होता है ॥ १२–१३ ॥ पाद ईशान है, पाणि (हाथ-इन्द्रिय) तत्पुरुष है, वाक् अघोर है, उपस्थ वामदेव है और वायु सद्योजात है । इन कर्मेंद्रियों के देवता क्रमशः हैं त्रिविक्रम, इन्द्र, अग्नि, प्रजापति और मित्र । इन सबको शिवरूप समझ लेने से मुक्ति

पाद ईशान एव स्यात्पाणिस्तत्पुरुषः स्मृतः ॥ १४ ॥

वागघोर इति प्रोक्ता ह्युपस्थो वाम ईरितः ।

पायुः सद्य इति प्रोक्तः साक्षाद्वेदान्तपारगैः ॥ १५ ॥

त्रिविक्रमस्तथा चेन्द्रो वह्निश्चैव प्रजापतिः ।

मित्रश्च मुनिशार्दूलाः क्रमात्स्वानां च देवताः ॥ १६ ॥

एतानि शिवरूपेण पश्यन्मुच्येत बन्धनात् ॥ १७ ॥

मन ईशान एव स्याद् बुद्धिस्तत्पुरुषः स्मृतः ।

अहंकारस्त्वघोरः स्याच्चित्तं वामः समीरितः ॥ १८ ॥

एषां च कारणं विप्रा अन्तःकरणसंज्ञितम् । सद्योजात इति प्रोक्तं सर्ववेदार्थपारगैः ॥ १९ ॥

मनसो देवता चन्द्रो बुद्धेर्वाचस्पतिस्तथा । अहंकारस्य कालाग्निरुद्रः कालहरोऽपि वा ॥

चित्तस्य देवता देवी शिवो (वा)ऽन्तःकरणस्य तु ॥ २० ॥

हिरण्यगर्भो भगवान्देवता मुनिपुंगवाः । एतानि शिवरूपेण पश्यन्मुच्येत बन्धनात् ॥ २१ ॥

पाद ईशान इति । पादपाणिवागुपस्थपायुरूपाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाण्याकाशादिभूतपञ्चकगतरजोंशैः क्रमेणाऽऽरब्धत्वादीशानाद्यात्मकानीत्यर्थः । त्रिविक्रमादयस्तेषामधिदेवताः 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादिश्रुतेः । तत्त्वोपदेशसारेऽप्युक्तम्–'पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् । हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतम् । वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतम् । गुह्यमध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतम् । पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मित्रस्तत्राधिदैवतम्' इति ॥ १४–१७ ॥

हो जाती है ॥ १४–१७ ॥ मन ईशान है, बुद्धि तत्पुरुष है, अहंकार अघोर है, चित्त वामदेव है तथा ये जिसकी वृत्तियाँ हैं वह अंतःकरण सद्योजात है । इनके क्रमशः देवता हैं चन्द्र, याचस्पति (बृहस्पति), कालाग्निरुद्र या कालहर, देवी शिवा तथा हिरण्यगर्भ । इन सबको शिवरूप जानने से मोक्षप्राप्ति होती है ॥ १८–२१ ॥ प्राण ईशान है, अपान तत्पुरुष है, व्यान अघोर है, उदान वामदेव है और समान सद्योजात है । पाँचों वृत्तियों वाला वायुविकाररूप प्राण सूत्रात्मा का एकदेश होने से उसका कार्य समझा जा सकता है । प्राण के देवता का नाम है विशिष्ट, अपान के देवता हैं विश्वसृष्टि, व्यान के विश्वयोनि, उदान की अजा और समान की जया । इन सबको शिवरूप समझने से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २२–२४ ॥ पृथिवी आदि महाभूतों में जो सत्त्वगुण है वह आगमों में कला नाम से प्रसिद्ध है । भूमि में निवृत्ति कला है । जल में प्रतिष्ठा कला है । वह्नि में विद्या कला है । वायु में शान्ति कला है और आकाश में शान्त्यतीता कला है । इनके क्रमशः देवता हैं सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान । इसी प्रकार पाँचों भूतों में स्थित रजोगुण के ये नाम हैं–आकाश में स्थित रजोगुण का नाम स्पन्द, वायु वाले का

प्राण ईशान एव स्यादपानः पुरुषः स्मृतः । व्यानोऽघोरस्तथोदानो वामदेवः समीरितः ॥ २२ ॥

समानः सद्य एव स्यात्सूत्रात्मा कारणोऽनिलः[1] ।

विशिष्टो विश्वसृष्टिश्च विश्वयोनिरजा जया ॥ २३ ॥

क्रमेण देवताः प्रोक्ताः प्राणादीनां मुनीश्वराः । एतानि शिवरूपेण पश्यन्मुच्येत बन्धनात् ॥ २४ ॥

पृथिव्यादिषु भूतेषु यो गुणः सत्त्वसंज्ञितः । स क्रमेण निवृत्त्यादिकलासंज्ञामुपैति च ॥ २५ ॥

भूमौ निवृत्तिर्विप्रेन्द्राः प्रतिष्ठा पयसि स्थिता ।

विद्या वह्नौ तथा शान्तिर्वायौ व्योम्नि मुनीश्वराः ॥ २६ ॥

शान्त्यतीता कलाश्चैता व्युत्क्रमेण मुनीश्वराः । भवन्ति पञ्च ब्रह्माणि तथा भूतेषु पञ्चसु ॥ २७ ॥

मन ईशान इत्यादि । मनआद्याश्चतस्रोऽन्तःकरणवृत्तयो वृत्तिमदन्तःकरणं चेत्येतान्यपीशानाद्यात्मकानि । तेषां चन्द्रादयोऽधिदेवताः 'चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्' इत्यादिश्रुतेः । तत्त्वोपदेशसारेऽप्युक्तम्–'मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् । बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् । अहंकारोऽध्यात्ममहंकर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतम्' इत्यादि ॥ १८–२५ ॥ भूमौ निवृत्तिरिति । कर्मभोगो निवर्त्यतेऽनयेति निवृत्तिः । अचेतनानि तत्त्वान्यतिलघूनि पुरुषतत्त्वे प्रकर्षेण स्थाप्यन्तेऽनयेति प्रतिष्ठा । मायातत्कार्याद्विविक्तमात्मानं यया वेत्ति सा विद्या । मलमायाकर्मलक्षणस्य पाशजालस्योपशमो यया सा शान्तिः । ईदृशीं शान्तिमप्यतिक्रम्याद्वितीयसच्चिदानन्दैक रसपरशिवस्वरूपबोधहेतुत्वाच्छान्त्यतीता । तथा चोक्तमागमिकैः– 'ययाऽऽदौ पार्थिवे तत्त्वे कर्मभोगो निवर्त्यते । निवृत्तिः सा कला ज्ञेया प्रतिष्ठा कथ्यतेऽधुना ॥ शिवरागानुरक्तात्मा स्थाप्यते पौरुषे यया । सा प्रतिष्ठा कला ज्ञेया ततो विद्या निगद्यते ॥ मायाकार्यविवेकेन वेत्ति विद्यापदं यया । सा कला परमा ज्ञेया विद्या ज्ञानक्रियात्मिका ॥ मलमायाविकारौघशान्तिः पुंसः पुनर्यया । सा कला शान्तिरित्युक्ता साधिकारास्पदं पदम् ॥ शान्त्यतीतकलाऽद्वैतनिर्वाणानन्दबोधदा' ॥ इति । व्युत्क्रमेणेति । शान्त्यतीतादिक्रमेणेशानाद्यात्मिका इत्यर्थः ॥ २६–२७ ॥

परिस्पन्द, तेज वाले का प्रक्रम, जल वाले का परिशीलन और पृथ्वी वाले का प्रचार । ये ही इन भूतों की पाँच क्रियायें कही जाती हैं । इन्हें ईशानादि क्रम से पंचब्रह्मात्मक समझना चाहिये । इसी प्रकार सभी भूतों में स्थित तमोगुण के ये नाम हैं–आकाशीय तमोगुण का छादक, वायवीय का बाधक, तैजस का मुग्ध, जलीय का नोदक और पार्थिव का भंजक । ये भी क्रमशः ईशानादि पंचब्रह्मदैवत हैं । इन सब को–भूतस्थ

---

१ लिंगव्यत्ययआर्षः । यद्वा सूत्रात्मा आ समन्तात् कारणं यस्य सोऽनिलः सूत्रात्माकारणः प्राण इत्यर्थः ।

स्थितो रजोगुणो विप्रा आकाशादिक्रमेण च ॥
स्पन्दश्चैव परिस्पन्दः प्रक्रमः परिशीलनः ॥ २८ ॥
प्रचार इति विद्वद्भिः कथिताः पञ्च च क्रियाः ॥
एतानि पञ्च ब्रह्माणि भवन्ति मुनिसत्तमाः ॥ २९ ॥
तथा भूतेषु सर्वेषु संस्थितस्तु तमोगुणः ॥
छादकं बाधकं मुग्धं नोदकं भञ्जकं भवेत् ॥ ३० ॥
एतानि च तथा पञ्च ब्रह्माणि मुनिसत्तमाः ॥
एतानि शिवरूपेण पश्यन्मुच्येत बन्धनात् ॥ ३१ ॥
अन्यानि[1] यानि विप्रेन्द्राः पञ्चधा संस्थितानि च ।
तानि च ब्राह्मणाः पञ्च ब्रह्माणि स्युर्न संशयः ॥ ३२ ॥
पञ्चब्रह्मतया भिन्नं जगत्सर्वं चराचरम् । शिवरूपेण संपश्यन्मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ३३ ॥
माययैव शिवः साक्षात्पञ्चधा समवस्थितः ॥
सा शिवस्य सदा माया सर्वदुर्घटकारिणी ॥ ३४ ॥

स्पन्दश्चैवेति । स्पन्दश्चलनमात्रमुत्तरोत्तरमुपचितास्तदवस्थाविशेषाः परिस्पन्दादयः ॥ २८–२९ ॥ **छादकमिति** । दृष्टिप्रतिवन्धमात्रं छादकं तस्यैव क्रमेणोपचितावस्था वाधकादयः ॥ ३०–३१ ॥ **अन्यानि यानीति** । प्राणगत्यादीनि । एवं पञ्चधाऽवस्थितस्य सर्वस्य जगतः पञ्चब्रह्मात्मकत्वादेकस्यैव परशिवस्य स्वमायया पञ्चब्रह्मात्मनाऽवस्थानान्मायासहितं तत्सर्वं शिवस्वरूपानतिरेकेण साक्षात्कुर्वन्मुक्तो भवेदित्यर्थः ॥ ३२–३३ ॥ नन्वविक्रियासङ्गोदासीनः परशिवः स कथं मायावशात्पञ्चब्रह्मात्मना जगदात्मकः स्यादिति ? तत्राऽऽह–सेति । **सर्वदुर्घटकारिणीति** । यत्सर्वप्रकारेण दुर्घटं तद्घटनमेवास्याः शीलमतो नोक्तदोष इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

त्रिगुण, उनके भेद व देवताओं को–शिवरूप जानने से मोक्षप्राप्ति होती है ॥ २५–३१ ॥ हे विप्रश्रेष्ठो ! संसार में अन्य भी जो वस्तुएँ पाँच प्रकार से स्थित हैं उन सबको पंचब्रह्मरूप समझ लेना चाहिये । फिर पंच ब्रह्मरूप से बँटा जगत् शिव ही है ऐसा जानना चाहिये । यह ज्ञान मोक्षहेतु है ॥ ३२–३३ ॥ (प्रपंच का शिवरूप से चिन्तन करने का यहाँ उपाय बताया है । हर वस्तु पंचब्रह्मों के द्वारा शिवरूप समझी जा सकती है ।) माया से ही स्वयं शिव विभिन्न पंचकों के रूप में अवस्थित हैं । जो कुछ भी घट पाना असंभव है उसे घटा हुआ सा दिखा देने में शिवमाया चतुर है ॥ ३४ ॥ इस प्रकार की अघटितघटनापटीयसी माया द्वारा ही ब्रह्म कारण बनता है । पूर्वोक्त सब आकार वाले तथा अन्यों के नियन्ता माया द्वारा ही महादेव बन जाते हैं, वास्तविकता का निरूपण करें तो यत्किंचिद् भी भेद नहीं है ॥ ३५ ॥ शम्भु वस्तुतः

---

१ अन्यानीति सर्वं जगदुक्तं, तस्य पंचधा स्थितत्वात् 'पाङ्क्तमिदँ सर्वम्' इति (बृ. १.४.१७) श्रुतेः ।

एवमात्मिकया ब्रह्म मायया[1] कारणं भवेत् ॥

तत्सर्वं च तथाऽन्येषां नियन्तृ न निरूपणे ॥ ३५ ॥

वस्तुतः शंभुरानन्दः सत्यसूंपर्णचिद्घनः । मायया मोहिता मर्त्यास्तं भेदेन विदुर्बुधाः ॥ ३६ ॥

दासोऽहमिति संमोहस्ततः सोऽहमिति भ्रमः ॥

अहं स इति संमोहस्तथा त्रीणि परित्यजेत् ॥ ३७ ॥

निर्भेदे निर्मले नित्ये निराधारे निरञ्जने ॥

दासः सोऽहमहं सोऽपीत्यात्मन्येतत्कथं भवेत् ॥ ३८ ॥

एवमात्मिकयेति । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति परशिवस्वरूपस्य यज्जगत्कारणत्वं 'वहु स्यां प्रजायेय' इति सर्वस्योपादानत्वेन यत्सर्वजगदात्मकत्वं विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिवशाद्यज्जगन्नियन्तृत्वं तत्सर्वमघटितघटनसामर्थ्याया मायायाः संवन्धवलादेव । परमार्थनिरूपणे तु नैव किंचिदित्यर्थः ॥ ३५ ॥ कुतो नेत्यत आह—**वस्तुत** इति । शंभुरानन्दैकरस इत्यर्थः ॥ ३६ ॥ **दासोऽहमिति** । भेदस्य मायामयत्वान्निवर्त्यतया तमपेक्षमाणः सोऽहमहं स इति जीवब्रह्मैक्यानुभवस्वरूपो यो मुमुक्षुव्यवहारः सोऽपि दासोऽहमितिवदज्ञानपरिकल्पित एव । तस्मात्सर्वं परित्यज्य केवलं स्वात्माऽनुसंधेय इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ कुत इत्यत आह—**निर्भेद** इति । निर्गतो यस्माद्भेदः स निर्भेदः परशिवः । अतस्तस्मिन्भेदाश्रितव्यवहारो न युक्त इत्यर्थः । कुतो निर्भेद इत्यत आह—**निर्मल** इति । कुतश्चिद्धर्मिणो हि कश्चिद्धर्मी भिद्यते । यथा घटात्पटो भिन्न इति । नैवं तस्मिन्भेदहेतुर्मालिन्यापादको धर्मोऽस्ति 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इति सर्वधर्मनिषेधश्रुतेः । अतस्तस्मिन्हेतुरुक्त इत्यर्थः । भवेदेवं यद्यसौ निर्धर्मकः स्यात्तत्तु न युज्यत इत्यत आह—**नित्य** इति । सधर्मकत्वं हि नित्यत्वे नोपपद्यते 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायात् । उपयदपयद्धर्मवतां घटपटादीनामनित्यदर्शनात् । अत एव भगवान्वादरायण आकाशादीनामनित्यत्वं प्रतिपादयन्सूत्रयामास—'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इति । नित्यत्वं वा कथमित्यत आह—**निराधार** इति । यस्मात्परमेश्वरस्याऽऽधारान्तरं नास्ति 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इति स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वश्रुतेः । तस्मान्नित्यः[2] । मृत्तन्त्वादिसमवायिकारणलक्षण आधारान्तरे समवेतानामेव घटपटादीनामनित्यत्वदर्शनात् । यथैतत्सर्वं प्रपञ्चजातं मायावशात्स्वीक्रियत एवं परमेश्वरेऽपि स्वी क्रियतामिति ? तत्राऽऽह—**निरञ्जन** इति । अञ्जनं मायातत्कार्यं यस्मात्परमार्थतस्तद्रहितः परशिवस्तस्मात्तस्मिन्कश्चिदपि व्यवहारो न युक्त इत्यर्थः । श्रूयते हि—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इति ॥ ३८ ॥

तो आनंदरूप तथा सत् से संपूर्ण चैतन्यघन हैं । (जिसका यदतिरिक्त कोई स्वरूप न हो उस निस्तारतम्य वस्तु को तद्घन कहा जाता है ।) माया से मोह को प्राप्त हुए जीव उन्हें भेददृष्टि से देखते हैं ॥ ३६ ॥ 'मैं दास हूँ', 'वह मैं हूँ,' 'मैं वह हूँ' ये तीनों भ्रमव्यवहार हैं, अतः तीनों को छोड़ना चाहिये । ('सोऽहम्' आदि में भी अहम् बैठा है जो संसारारंभ का मूल विकार है, अतः ये विचार भी अविद्याक्षेत्र के हैं । वस्तुतः तो निरोध, उत्पत्ति, बन्ध, साधना व मोक्ष है ही नहीं ऐसा आचार्यों ने स्पष्ट किया है । भ्रम

---

१ 'मायादीनां भवति जगति द्वारभावः फलेऽस्मिन्नि'ति (सं. शा. । २१२-१-.३३२) २ मालावदेषां विशेषणानां परस्परं हेतुतयाऽन्वयसम्भवस्तस्मादित्युक्तम् ।

तस्मादज्ञानमायोत्थमिदं सर्वं जगद् बुधाः । तद्विवेकप्रदीपेन शिवं पश्यन्विमुच्यते ॥ ३९ ॥

विवेकालोकहस्तस्य ज्ञानमार्गेण गच्छतः । स्वात्ममुक्तिगृहप्राप्तिः सिध्यत्येवाचिरेण तु[1] ॥ ४० ॥

संसारार्णवमग्नानां जन्तूनामविवेकिनाम् । अगतीनां गतिः साक्षाज्ज्ञानमेव हि केवलम् ॥ ४१ ॥

स्वशक्तेः शत्रुभूतानां रागादीनां दुरात्मनाम् । छेदने वेदनं शस्त्रं केवलं खलु नेतरत् ॥ ४२ ॥

संसारदुःखतप्तानामात्मज्ञानामृताम्भसा । तापशान्तिर्न चान्येन सत्यमेव न संशयः ॥ ४३ ॥

स्वतः सिद्धं स्वयं सर्वं जगत्स्वेन प्रकाशितम् ।
स्वस्वरूपतया बुद्ध्वा तदत्ति स्वात्मना स्वयम् ॥ ४४ ॥

अज्ञानमायोत्थमिति । स्वरूपाज्ञानात्मिका या माया तस्याः सकाशादुत्थितमित्यर्थः ॥ ३९–४१ ॥ **स्वशक्ते**रिति । स्वकीया चिच्छक्तिः स्वशक्तिः । हृन्मध्यवर्तिसाक्षिचैतन्यमिति यावत् । असङ्गोदासीने तस्मिन्संसारापादकत्वाद्दुरात्मानः शत्रवो रागादयस्तेषां छेदने वेदान्तवाक्यजनितं ज्ञानमेव केवलमायुधमित्यर्थः ॥ ४२–४३ ॥ **स्वत** इति । सर्वं जगत्स्वतः स्वात्मन एवोपादानकारणात् । निमित्तकारणमपि नान्यदित्याह–**स्वय**मिति । स्वात्मनेत्यर्थः । मायावशात्स्वयमेव स्वात्मनैव विभज्य सिद्धं निष्पन्नम् । परमेश्वरो हि सर्वस्य जगतो निमित्तमुपादानं च । 'सोऽकामयत' इति स्रष्टव्यपर्यालोचनस्य श्रुतत्वात्कुलालवन्निमित्तकारणत्वम् । 'वहु स्यां प्रजायेय' इति स्वात्मन एव वहुवचनस्य श्रुतेरुपादानत्वम् । 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति च श्रूयते । वादरायणोऽप्यभिन्ननिमित्तोपादानरूपत्वं व्रह्मणः सूत्रयामास–'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इति । तथा च स्वनिमित्तकं स्वोपादानकं जगत्प्रतीतिसमयेऽपि स्वरूपचैतन्येनैव प्रकाशितम् । एवं मायावशाच्चिन्मात्रस्वरूपे परमात्मनि प्रकल्प्यमानं जगत्स्वरूपतया बुद्ध्वा स्वस्याऽऽत्मनः स्वरूपमेव सर्वं जगन्न ततोऽतिरिक्तमस्ति मायामयत्वादित्यवगम्य **स्वयमेव स्वात्मना** तत्सर्वमत्त्युपसंहरति । अयमर्थः–स्वात्मनः स्वस्मात्स्वस्मिन्नेवाधिष्ठाने स्वाविद्यया सृष्टिसमये परिकल्पितं स्थितिसमयेऽपि स्वरूपप्रकाशेनैव प्रकाशितं सर्वं जगत्स्वस्वरूपतया स्वरूपयाथात्म्यज्ञानेन तदविद्यानिवृत्तावारोप्यस्य[2] जगतोऽधिष्ठानावशेषोऽस्य स्वात्मना स्वयमेव ग्रसत इति व्यपदेशः ॥ ४४ ॥

होने पर भी स्वाप्न व्याघ्रदर्शन की तरह भ्रमनिवृत्ति का उपाय होने से प्रारम्भ में इन सब विचारों की उपयोगिता है । पारमार्थिक स्थिति में इनमें से या अन्य भी कोई विचार नहीं रहता ।) ॥ ३७ ॥ भेदरहति, भेदापादक धर्मरहति, सनातन, अनाश्रित तथा माया व तत्कार्य से अस्पृष्ट शिवात्मतत्त्व में 'मैं दास हूँ' 'वह मैं हूँ', 'मैं वह हूँ' ये वृत्तियाँ क्योंकर रहेंगी ॥ ३८ ॥ अतः सारा जगत् अज्ञानरूप माया से ही उत्पन्न हुआ है । (असाधारण कारण अज्ञान है क्योंकि उसी से प्रपंच का अन्वय व्यतिरेक है ।) विवेकरूप दीपक से शिवदर्शन हो तो संसार निवृत्त हो जाता है ॥ ३९ ॥ ज्ञानमार्ग पर चलता हुआ जो व्यक्ति विवेकरूप प्रकाश हाथ में लिए है वह अतिशीघ्र ही निजमुक्तिरूप घर पहुँच जाता है ॥ ४० ॥ संसारसमुद्र में डूबते हुए अविवेकी अतः अगतिक जीवों के लिए केवल ज्ञान ही एक सहारा है जो उन्हें उबार सकता है ॥ ४१ ॥ अपनी पूरी सामर्थ्य से शत्रुता करने वाले दुरात्मा रागादि के नाश में समर्थ शस्त्र केवल ज्ञान ही है, और कोई नहीं । (अथवा, अपनी स्वरूपभूत चिच्छक्ति के शत्रु दुरात्मां इत्यादि श्लोकार्थ है ।) ॥ ४२ ॥

१ 'आरूढस्य विवेकाश्वं तीव्रवैराग्यखड्गिनः । तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न विद्यते ॥' इत्याचार्याः (स. सर्ववे.-९०)
२ ख "रोपितस्य ।

यथा सुवर्णं रुचकं सृजति ग्रसते स्वयम् ।

तथा शंभुरिदं सर्वं सृजति ग्रसते स्वयम् ॥ ४५ ॥

यथोर्णनाभिः सृजति तन्तुं गृह्णाति च स्वयम् ।

तथा शंभुरिदं सर्वं सृष्ट्वा च ग्रसते स्वयम् ॥ ४६ ॥

भूमिः सृजति गृह्णाति यथौषधिवनस्पतीन् ।

तथा शंभुरिदं सर्वं सृष्ट्वा च ग्रसते स्वयम् ॥ ४७ ॥

स्वयमेव यथा स्वप्नं सृष्ट्वा गृह्णाति चेतनः ।

तथा शंभुरिदं सर्वं सृष्ट्वा च ग्रसते स्वयम् ॥ ४८ ॥

स्वस्वप्नः स्वप्रबोधेन[1] *स्वात्ममात्रं यथा भवेत् ।*

तथैव स्वप्रपञ्चोऽपि स्वयं स्यात्स्वप्रबोधतः ॥ ४९ ॥

तत्र दृष्टान्तः--**यथा सुवर्णमिति** । सुवर्णेनाऽऽरब्धस्य रुचककटकादेः पुनर्विलापने सति कारणभूतं सुवर्णमात्रमेव यथाऽवशिष्यते तद्वत्परमेश्वरोऽपि स्वस्माच्चेतनाचेतनात्मकमिदं सर्वं जगत्स्वयमेव सृजति स्वस्वरूपानतिरिक्तत्वेन विलापयति च ॥ ४५ ॥ कारणान्तरनिरपेक्षात्परमेश्वराज्जगदुत्पत्तौ निदर्शनमाह--**यथोर्णनाभिरिति** ॥ ४६ ॥ एकरूपात्परमात्मनो नानारूपकार्योत्पत्तौ दृष्टान्तः--**भूमिः सृजतीति** । श्रुतिश्च भवति--'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति ॥ ४७ ॥ एवं सृष्टस्य जगतः स्वाविद्यामात्रमूलत्वेन मिथ्यात्वं प्रतिपादयति--**स्वयमेव यथा स्वप्नमिति** ॥ ४८ ॥ तत्र निदर्शनम्--**स्वस्वप्न** इति । निद्रादोषेण स्वस्मिन्परिकल्पितः स्वप्नप्रपञ्चः **स्वस्वप्नः स्वप्रबोधेना**ऽऽत्मनः प्रबोधे निद्रानिवृत्तौ **स्वात्ममात्रमेव** भवति न ततोऽतिरेकेण दृश्यते । एवमेव स्वस्मिन्सच्चिदानन्दरूपेऽविद्याकल्पितप्रपञ्चोऽपि स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन स्वाविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्येव लीयते, न ततोऽतिरिक्त इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

संसाररूप दुःख से तपे हुए जीवों की तापशान्ति ज्ञानामृतरूप जल से ही संभव है अन्य किसी तरह नहीं ॥ ४३ ॥ आत्मनिमित्तक व आत्मोपादानक समस्त जगत् आत्मा से ही स्फुरण वाला भी है । इसे जब आत्मरूप ही समझ लिया जाता है तब आत्मा ही इसे आत्मरूप से मानो खा जाता है । (प्रपंच का बाध हो जाने पर आत्मेतर कुछ रहता नहीं । जैसे खा चुकने पर अन्न बचा नहीं रहता वैसे संसार बचा न रहने से कहा मानो खा लिया गया हो । 'मानो' इसलिये कि अन्न तो फिर पेट में रहता है किन्तु संसार तो सर्वथा रहता नहीं क्योंकि कभी रहा नहीं । भ्रमरहित अधिष्ठान का रहना ही कल्पित वस्तु का नाश (या समाप्ति) कहा जाता है ।) ॥ ४४ ॥ जैसे सोना स्वयं कण्ठाभरणादि बनाता है और स्वयं

---

१ मनोऽवच्छिन्नं जीवचैतन्यं स्वप्नाध्यासस्याधिष्ठानमिति पक्षमादृत्योक्तं स्वप्रबोधेनेति । अस्य पक्षस्योपपादनं च विन्दावटमश्लोकप्रपञ्चे दर्शनीयम् ।

स्वस्वरूपतया सर्वं वेद स्वानुभवेन यः ।

स धीरः स तु सर्वज्ञः स शिवः स तु दुर्लभः ॥ ५० ॥

प्रत्यक्षभ्रमसिद्धः प्रपञ्च प्रत्यक्षवाधकज्ञानान्निवर्तते, न हीदं रजतमिति भ्रमोऽधिष्ठानशुक्तियाथात्म्यसाक्षात्कारमन्तरेण वाक्यशतेनाप्यपनेतुं शक्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽह–स्वानुभवेनेति । स्वात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारेणेत्यर्थः ॥ ५० ॥

उसे खा लेता है ऐसे शंभु इस सारे संसार को स्वयं उत्पन्न करते हैं और स्वयं खा जाते हैं । (जैसे दृष्टांत में सोना ही वस्तु सदा बनी रही, नाम-रूप की कल्पना आयी और निवृत्त हो गयी वैसे ही दार्ष्टान्त में शंभु ही सदा है, संसार की कल्पना होती और समाप्त होती है । अतः जैसे यह प्रश्न नहीं उठता कि गहना कहाँ गया, क्योंकि सदा ही सोने से अतिरिक्त गहना कोई वस्तु थी ही नहीं वैसे यह प्रश्न नहीं पूछ सकते कि मोक्ष होने पर संसार कहाँ चला जाता है क्योंकि शिव से अतिरिक्त संसार नामक कोई वस्तु हुई ही नहीं जो वह कहीं जाये या पड़ी रहे ।) ॥ ४५ ॥ जैसे मकड़ी विना किसी बाह्य सहायता के जाला बनाती और सिमेट लेती है ऐसे ही महादेव इस सब को विना किसी अन्य सहायता के उत्पन्न और विनष्ट कर देते हैं । (यद्यपि पूर्व में द्वारविधया माया की कारणता कही थी तथापि वह शिव से भिन्न नहीं अतः अपने से अन्य की सहायता उन्हें नहीं चाहिये । अज्ञान का अर्थ केवल अज्ञात आत्मा ही है इससे भिन्न अज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं । वार्तिकाचार्य ने कहा है–'अज्ञानं च तदुत्थं च ह्यात्मैवाज्ञाततत्त्वकः' (बृ. वा. २.१.१७४) । अतः वेदान्त जगत्कारण अज्ञान को नहीं अज्ञातात्मा को मानता है । अत एव जन्मादिसूत्र संगत है ।) ॥ ४६ ॥ जैसे एकरूप पृथ्वी नानाविध ओषधि-वनस्पतियों को उत्पन्न व लीन करती है ऐसे शंभु इस सब उत्पन्न व नष्ट स्वयं ही कर लेते हैं । (वैविध्य में कर्म हेतु है यही समझा जाता है । वह कर्म भी ईश्वरज्ञान या ईश्वरेच्छा से अतिरिक्त कुछ नहीं । वे दोनों भी ईश्वर से भिन्न क्योंकर होंगे ? कहीं भी ज्ञान या इच्छा ज्ञाता व इच्छुक से भिन्न देखे नहीं जाते । अतः वैविध्य में भी महादेव ही कारण है ।) ॥ ४७ ॥ जैसे जीव स्वयं ही मिथ्या स्वप्न को बनाता व समाप्त करता है ऐसे ही शंभु इस सब मिथ्या प्रपंच को बनाते व समाप्त करते हैं ॥ ४८ ॥ जिस प्रकार जब हम जग कर अपना भान करते हैं तो अपना देखा सपना केवल हम-रूप ही बचता है (हम ही बचते हैं, सपना नहीं), इसी प्रकार अपनी यथार्थता का निश्चय होने पर हमें उपलब्ध यह प्रपंच हम-रूप ही रह जाता है–हम ही रह जाते हैं, प्रपंच नहीं ॥ ४९ ॥ जो व्यक्ति इस सारे संसार का स्वस्वरूप से अनुभव करता है (अर्थात् स्वस्वरूप से अतिरिक्त किसी विषय का अनुभव नहीं करता) वह दुर्लभ धीर ही सर्वज्ञ शिव है । (मुक्त को आत्मातिरिक्त किसी का भान नहीं । मिथ्यावस्तु की बाधितप्रतीति अधिष्ठानव्यतिरेकेण नहीं होती यह नियम है । दृष्टरज्जु पुरुष जब परबोधनादि के लिए सर्प 'देखता' है, उसके अवयवादि का निर्देश करते हुए प्रबोध करने का प्रयास करता है, तब वह उसे रज्जुभिन्न नहीं देख पाता । एवमेव तत्त्वज्ञ की संसारप्रतीति आत्मातिरेकेण संभव नहीं । जैसे इच्छादि उपाधिवश साँप देखा जा सकता है ऐसे प्रारब्धादि उपाधिवश संसार भी देखा जा सकता है । इसे ही अविद्यालेशादि शब्दों से कहते हैं–'स्वाऽविद्यायाः बाधितायाः प्रतीतिः' (सं.शा. ४.४२) । स्वानुभवसिद्ध इस बाधित प्रतीति और

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च । देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥ ५१ ॥

जायते पूर्णविज्ञानं केषांचित्पुण्यगौरवात् । तथाऽपि प्रतिबद्धं स्यात्प्रसादेन विना कृतम् ॥ ५२ ॥

प्रसादादेव रुद्रस्य ज्ञानं वेदान्तवाक्यजम् । प्रतिबन्धविनिर्मुक्तं भवेत्तद्धि विमुक्तिदम् ॥ ५३ ॥

शिवशंकररुद्राख्यः साम्बः सत्यादिलक्षणः । परमात्मा हि विज्ञानप्रसादं कुरुते सदा ॥ ५४ ॥

ज्ञानप्रसादं कुरुते न विष्णुर्न पितामहः ।
न चेन्द्रो न च तिग्मांशुर्न चन्द्रो नान्यदेवताः ॥ ५५ ॥

विशुद्धमनसां नृणां विष्णुपूर्वाश्च देवताः । यथाधिकारं कुर्वन्ति प्रणाड्या सत्यमीरितम् ॥ ५६॥

कलुषीकृतचित्तानां विष्णुब्रह्मपुरोगमाः । यथाधिकारं कुर्वन्ति प्रसादं भुक्तिसिद्धये ॥ ५७ ॥

अतो ज्ञानप्रसादार्थं शिवः साम्बः सनातनः । उपासितव्यो मन्तव्यः श्रोतव्यश्च मुमुक्षुभिः ॥ ५८ ॥

लोकवासनयेति । स्वर्गादिलोकविषया पुण्यपापप्रयुक्ता वासना लोकवासना । श्रुतशास्त्रेष्वभिनिवेशः शास्त्रवासना । देहपोषणार्थं स्त्र्यन्नपानादिवासना देहवासनेति । उत्पन्नेऽपि तत्त्वज्ञाने मुक्तिः कुतश्चित् कारणात् प्रतिबध्यते । अत आह भगवान् बादरायणः 'अप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनाद् इति । स च प्रतिबन्धः परमेश्वरप्रसादराहित्ये कुतस्तत्सिंस्तु सति तत्त्वज्ञानेन निष्प्रत्यूहं मुक्तिः प्राप्यत इत्यर्थः । उक्तं हि–'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना । महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामुपजायते' ॥ इति ५१–५३ ॥ **विज्ञानप्रसादमिति** । विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानमन्तःकरणं तस्य प्रसादो रागद्वेषादिकृतकालुष्यापनयेन नैर्मल्यापादनं तच्चाऽऽराधितः परमेश्वर एव करोति न विष्ण्वाद्याः सोपाधिका इत्यर्थः । श्रूयते हि–'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति ॥ ५४–५५ ॥ ननु तर्हि विष्ण्वाद्युपासनं निरर्थकमेवेति ? तत्राऽऽह-**विशुद्धमनसामिति** । द्विविधा ह्यधिकारिणः । यज्ञदानादिभिः परमेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितैः शुद्धान्तःकरणाः, फलरागानुष्ठितैस्तैरेव कलुषीकृतचित्ताश्चेति । तत्र विशुद्धमनसां विष्ण्वादयः परमेश्वरप्रणाड्यैवोक्तं ज्ञानप्रसादं कुर्वन्ति न तु साक्षादित्यर्थः ॥ ५६ ॥ **कलुषीकृतचित्तानां** तु भुक्त्यर्थं[1] प्रसादं कुर्वन्ति । अतो न तदाराधनवैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

द्रढिष्ठ आत्मनिष्ठा के सहभाव के विषय में विवाद करना व्यर्थ है जैसा कि स्वयं आचार्यों ने कहा है 'अपि च नैवात्र विवदितत्यम्...... कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत ? (ब्र. सू. भा. ४.१.१५) । वही मुक्त सर्वज्ञ शिव है ।) ॥ ५० ॥

लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना के कारण जन्तु को आत्मा का सही ज्ञान नहीं हो पाता । (लोकादिविषयक अभिलाषा व आग्रह तत्तद्वासनायें हैं ।) ॥ ५१ ॥ किन्हीं साधकों को पूर्णात्मा का ज्ञान हो तो जाता है किन्तु शिवकृपा के विना वह प्रतिबद्ध बना रहता है । (संशय व विपर्यय रह जाना प्रतिबन्ध है ।) ॥ ५२ ॥ वेदान्तवाक्य से हुआ ज्ञान रुद्रकृपा से ही प्रतिबन्धरहित होता है । अप्रतिबद्ध ज्ञान ही मोक्ष देता है ॥ ५३ ॥ शिव, शंकर, रुद्र नामक सत्य आदि स्वरूप साम्ब सदाशिव ही कृपा द्वारा मनोनैर्मल्य करते हैं जिससे ज्ञानप्रतिबंधक हटते हैं ॥ ५४ ॥ विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र अग्नि, चंद्र आदि अन्यान्य देवता स्वतन्त्र हो मनःशुद्धि नहीं कर पाते ॥ ५५ ॥ जिन साधकों ने परमेश्वरार्पण दृष्टि से कर्म कर रखे हैं उन्हें ये देवता प्रतिवंधक निवृत्त्यनुकूल नैर्मल्य देते तो हैं किन्तु शिव के द्वारा ही ॥ ५६ ॥ जिन अधिकारियों ने वैसी दृष्टि से कर्म किये नहीं हैं उनके द्वारा आराधित होने पर विष्णु आदि देवता कृपाकर भोगप्राप्ति कराते हैं व उत्तम भोग के अनुकूल मनोविशुद्धि भी देते हैं (श्रेष्ठ भोग भी सूक्ष्म होने से मनश्चांचल्यादि होने पर सुखदायी नहीं हो पाते । अतः भोगार्थ भी चित्तशुद्धि अपेक्षित है ।) ॥ ५७ ॥ अतः तत्त्वज्ञान के प्रतिवंधकों की निवृत्ति के लिये आवश्यक मनोनैर्मल्य-प्राप्ति

---

१ ग. भूत्यर्थं ।

शिवप्रसादेन हि भुक्तिरुत्तमा शिवप्रसादेन हि मुक्तिरुत्तमा ।
शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः ॥ ५९ ॥
शिवप्रसादेन गुरुप्रसादतः शिवप्रसादेन च शंभुभक्तितः ।
विशुद्धविज्ञानदिवाकरः स्वयं प्रदग्धपापस्य तमोविनाशकृत् ॥ ६० ॥
शिवः समस्तं परमार्थतस्तथा शिवः समस्तं व्यवहारतोऽपि च ।
इति प्रजातं यदि वेदनं नृणां तरन्ति संसारमहोदधिं तु ते ॥ ६१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविशेषो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

यस्मादेवं तस्मान्मुमुक्षुभिः साक्षाज्ज्ञानप्रदः परमेश्वर एव सेव्य इत्याह–**अत** इति । **उपासितव्य** इति । सच्चिदानन्दादिरूपस्याद्वितीयस्य परशिवस्य स्वात्मैक्यज्ञानं हि परमपुरुषार्थसाधनं तच्च वेदान्तश्रवणादेव जायते । श्रवणं नाम वेदान्तमहावाक्यानां शब्दशक्तितात्पर्यावधारणं न्यायानुसंधानं च ।[1] ततः परमेश्वरः श्रोतव्यः । श्रुतस्यार्थस्यासंभावनाविपरीतभावनानिरासेन मिथ्यात्वव्यवस्थापकन्यायानुसंधानं मननम् । युक्तिभिस्तथात्वेनावधृतस्य चित्तैकाग्र्येण साक्षात्करणार्थं विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहेण मनसा विषयीकरणमुपासनम् । एवं श्रवणोत्तरकालीनयोरपि मननोपासनयोरत्र प्रथमतः उपादानमेतदुभयसहकृतादेव वेदान्तमहावाक्यश्रवणात्परशिवात्मैकत्वसाक्षात्कारो जायते न तु केवलश्रवणमात्रादितिज्ञापनार्थम्[2] । अत एव–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यात्मदर्शनमुद्दिश्य श्रवणादिकं तत्साधनत्वेन श्रुतिरुपादिशति । तत्र श्रवणमेव फलोद्देशेनाऽऽग्नेयादिवत्प्रधानत्वेन विधीयते । प्रयाजादिवन्मननादिकं तदनन्तरम् । उक्तं ह्याचार्यैः–'मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां श्रवणं नामाङ्गि विधीयते' इति ॥ ५८–५९ ॥ **शिवप्रसादेनेति** । ईश्वरानुग्रहाद् गुर्वनुग्रहस्तस्माच्च् त्यर्थावगतिस्ततश्च शंभुभक्तिः । शं सुखमस्माद् भवतीति शंभुः परमानन्दरूपः परशिवः 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । तद्भक्तिः सोऽहमस्मीति तत्तादात्म्यग्राहिणी ब्रह्माकारा मनोवृत्तिस्ततः सकाशादविद्यानिवृत्तिसमर्थं ज्ञानमाविर्भवतीत्यर्थः ॥ ६०–६१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानयज्ञविशेषो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

के लिए नित्य साम्ब शिव की उपासना करनी चाहिये तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ॥ ५८ ॥ उत्तम मोक्ष और उत्तम भोग शिवकृपा से ही मिलते हैं, उसके बिना नहीं ॥ ५९ ॥ शिवकृपा से, गुरुकृपा से तथा शिवकृपा से की गयी शिवभक्ति से जिस साधक के पाप नष्ट हो चुके हैं उसे अप्रतिवद्ध ज्ञानरूप सूर्य की प्राप्ति होती है जो अज्ञानान्धकार नष्ट करता है । (शिवभक्ति भी शिवकृपा से ही होती है अन्यथा नहीं ।) ६० ॥ परमार्थतः और व्यवहारतः शिव ही सब कुछ है–ऐसा यदि अनुभव हो जाये तो मनुष्य भवसागर तर जाये ॥ ६१ ॥

---

१ 'श्रवणं नाम आत्मावगतये वेदान्तवाक्यविचारः शारीरकश्रवणं च । मननं–वस्तुनिष्ठवाक्यापेक्षित-दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तजन्मस्थितिलयवाचारम्भणत्वादियुक्तार्थवादानुसन्धानं वाक्यार्थाविरोध्यनुमानानुसन्धानं च । निदिध्यासनं–मननोपवृंहितवाक्यार्थविषय स्थिरीभावः' इति पञ्चपादिकायाम् (पृ ११७० कल.)। २ तदुक्तमाचार्यै 'एवं ह्यसौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितैः । यदैकत्वमेतान्युपगतानि तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्वविषयं प्रसीदति, नान्यथा श्रवणमात्रेणे' ति (वृ. भा. २.४.५) ।

पञ्चदशोऽध्यायः

सूत उवाच—भूयोऽपि ज्ञानयज्ञं तु प्रवक्ष्यामि समासतः । शृणुत श्रेयसे विप्राः श्रद्धया परया सह ॥ १ ॥

घटकुड्यकुसूलादिपदार्थेषु मुनीश्वराः । सत्ताया भासते सैका सत्ताकारतयैव तु ।

सा विशेषेण रूपेण विभिन्नेति च केचन ॥ २ ॥ तदसंगतमेवेति प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३ ॥

विशेषरूपस्याभावाद्भेदाभावेन हेतुना । सति भेदे विशेषः स्यान्नाभेदे हि मुनीश्वराः ॥ ४ ॥

[1] नन्वखण्डसच्चिदानन्दैकरसस्य मायावशात्सर्वात्मभावेन यदद्वितीयत्वमुपपादितं तदनुपपन्नम् । यत आत्मवद् घटपटादीनामपि सत्तासमावेशात्पारमार्थिकं सत्यत्वमस्तीति प्रत्यवतिष्ठमानान्निराकृत्याद्वितीयत्वमेव सिद्धान्तयितुमध्याय आरभ्यते—**भूयोऽपीति** ॥ १ ॥ तत्रानिर्ज्ञातस्वरूपस्य परपक्षस्य निवारयितुमशक्यत्वात्तं दर्शयति—**घटेति** । सन्घटः सन्पटः सत्कुड्यमित्यनुवृत्तसद्व्यवहारास्पदत्वेन घटपटादिषु सर्वासु विशेषव्यक्तिष्वनुगतैकशरीरा काचित्सत्ताख्या जातिरङ्गीकार्या । यद्यपि सा सामान्याकारेणैका तथाऽपि घटपटादिविशेषाकारेण नानाकारा भवति । अत एव भाट्टा जातिव्यक्त्योस्तादात्म्यमेव संवन्धो न समवाय इति ब्रुवते ॥ २ ॥ तदेतद्दूषयति—**तदसंगतमित्यादिना** । **मनीषिण** इति तत्त्वविद इत्यर्थः । कुत इत्यत आह—**विशेषेति** । सत्ताया भेदहेतोर्घटपटादिलक्षणस्य विशेषरूपस्यैवाभावात् । ननु विशेषरूपो घटपटादिरनुभूयत एवेत्यत आह—**भेदाभावेनेति** । यस्माद्दशमेऽध्याये पारमार्थिको भेदः सर्वत्र प्रपञ्चे निरस्तोऽतः कारणाद् भेदैकार्थसमवायिनो विशेषरूपस्यासंभव इत्यर्थः । एतदेवोपपादयति—**सति भेद इति** । यदि क्वचिदपि घटपटादेः कुतश्चिद् भेदः स्याद्भेदव्याप्तविशेषत्वमपि तदैव तस्य स्यात् । न ह्येकं वस्तु स्वस्मादेव स्वयं विशिष्यते । अन्यस्मात्स्वत्वेन नास्य विशेषः । अतो भेदस्य निरस्तत्वाद्भेदेऽसति घटादिविशेषरूपत्वं परमार्थतो न घटत इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

ज्ञानविशेषयोग नामक पन्द्रहवा अध्याय

श्रीरोमहर्षण जी ने कहा—हे विप्रो! ज्ञानयज्ञ के सम्बन्ध में मैं और भी कुछ बताने जा रहा हूँ । परम श्रद्धापूर्वक ज्ञानप्राप्त्यर्थ आप लोग सुनें ॥ १ ॥ घट, दीवार, गोदाम आदि पदार्थों में जो सत्ता प्रतीत होती है वह एक ही है । कुछ विचारक मानते हैं कि वह सत्तासामान्यरूप से एक है तथा विशेष आकारों से विभिन्न है । (सामान्यरूप सत्ता से विशेषरूप व्यक्तियों का तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकारने वाले मीमांसक दूसरे शब्दों में सत्ता को ही व्यक्ति भी मान लेते हैं क्योंकि तादात्म्य भेदाभेदात्मक होने से व्यक्ति का सामान्य से अभेद भी है । एवं च सत्तारूप होने से व्यक्ति भी पारमार्थिक हैं, यह उनका अभिप्राय है ।) ॥ २ ॥ किन्तु तत्त्ववेत्ता इस दर्शन को असंगत ही बताते हैं । इसमें कारण यह है कि विशेष आकार ही नहीं सिद्ध होते क्योंकि भेद नामक वस्तु ही नहीं है (जैसा दसवें अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है) । भेद होने पर ही विशेष हो सकते हैं, अभेद होने पर नहीं । (सत्ता तो सद्रूप ब्रह्म है । विशेषाकार या व्यक्तियों की पारमार्थिकता का निषेध करना है । व्यावहारिक व्यक्तिभेद से कोई आपत्ति नहीं । जो आपस में भिन्न-भिन्न हों उन्हें ही विशेष या व्यक्ति कहा जाता है । अतः भेदनिराकरण से उससे नियत विशेष ही सिद्ध नहीं होगा तो उसके पारमार्थिकत्व का प्रश्न ही नहीं, यह तात्पर्य है ।) ॥ ३ ॥ ४ ॥

---

१ कं. ग. घ. ङ. °ननु सच्चिदानन्दैकाखण्डर° ।

भेदाकारस्तु सत्ताया विद्यते यदि वस्तुतः । भेदाकारस्तु सत्ताया भिन्नश्चेच्छून्यतत्त्ववत् ॥
शून्यमेव भवेन्नैव भेदाकारो भवेद्द्विजाः ॥ ५ ॥
भेदाकारः स सत्ताया अभिन्नश्चेत्स सैव हि ॥ ६ ॥
भिन्नाभिन्नौ यदि स्यातां दोषद्वयसमागमः । तस्मात्सत्तातिरेकेण विशेषार्थो न विद्यते ॥ ७ ॥

अथ सत्ताया भेदरूपं विकल्पासहत्वेनापि दूषयितुमनुवदति–भेदाकार इत्यादिना । भिद्यत इति भेदो विशेषस्तथाविध आकारो यस्मिन्घटपटादौ स भेदाकारः । स किं सत्तायाः सकाशाद् भिन्नोऽभिन्नो वा ? नाऽऽद्य इत्याह–भेदेति। याऽनुस्यूता सत्ता तस्याः सकाशाद्यदि भेदाकारो घटपटादिर्भिन्नः स्यात्तदा शशविषाणवदसन्नेव भवेत् । सत्तानात्मकत्वाविशेषात् । स्यादेतद्–भिन्नस्यापि घटपटादेर्विषयस्य सत्तासंबन्धात्सत्त्वं न तु तत्संबन्धः शशविषाणस्यास्तीति; तत्राऽऽह–नैवेति। सत्तासंबन्धात्प्रागपि किमिदं [1]घटादिकमसत्सद्वा । असच्चेदसत्त्वाविशेषाच्छशविषाणेऽपि सा संबध्नीयात् । द्वितीयेऽपि तस्य सत्तावैशिष्ट्यादेव वक्तव्यम् । तत्रापि किं सत्ता स्वात्मना विशिष्टे संबध्नीयात्सत्तान्तरेण वा । आद्ये स्वात्माश्रयत्वम् । द्वितीयेऽप्यतिप्रसङ्गवारणाय[2] तत्सत्तान्तरमपि सत्ताविशिष्ट एवाऽऽधारे वर्तत इति वक्तव्यम् । सा चेद्विशेषणभूता सत्ता प्रथमैव, तदाऽन्योन्याश्रयत्वम् । अन्यैव चेच्चक्रकापत्तिः । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सत्तापरम्परा स्वीक्रियेत तदा मूलक्षयकार्यनवस्था स्यादित्येवमादिदोषग्रस्तत्वाद्भेदाकारः सत्तायाः सकाशाद्भिन्नः शशविषाणवन्नैव भवेदित्यर्थः ॥ ५ ॥ न द्वितीय इत्याह–भेदाकार इति । यदि विशेषाकारो घटः सत्तायाः सकाशादभिन्नः स्यात्तदा तत्स्वरूपान्तर्भावात्सत्ताऽद्वैतमेव पर्यवस्येदित्यस्माकं समीहितसिद्धिरित्यर्थः । नन्वनयोर्भेदाभेदौ स्वीक्रियेते; तत्र भेदसद्भावान्न विशेषाकारस्य सत्तान्तर्भावः । अभेदसद्भावान्न विशेषाकारस्य शशविषाणवदसत्त्वमिति भेदाभेदवादी प्रत्यवतिष्ठते, तं प्रत्याह–भिन्नाभिन्नाविति । यदि सत्ताविशेषाकारौ भिन्नाभिन्नौ स्यातां तदा भेदपक्षोक्तशून्यत्वमभेदपक्षोक्तं सत्ताद्वैतं चोभयमपि तस्याऽऽपतेदित्यर्थः । तस्मादिति । यस्मादुक्तरीत्या भेदाकारो विचारासहस्तस्माद् घटपटादिरूपो विशेषार्थः सत्तातिरेकेण नैव विद्यते ॥ ६ ॥ ७ ॥

यदि सत्ता के विशेषाकार–अर्थात् घटादि व्यक्ति–वस्तुतः हैं तो यह बताओ कि ये सत्ता से भिन्न हैं या नहीं ? यदि कहो हाँ, भिन्न हैं; तब तो वे सत्ता से भिन्न होने के कारण अत्यन्त असत् ही मानने पड़ेंगे । तब विशेषाकार पारमार्थिक हैं, ऐसा क्योंकर कहा जा सकेगा ! (वन्ध्यापुत्र पारमार्थिक है यों कौन अमुग्ध कह सकता है ?) ॥ ५ ॥ यदि कहो कि विशेषाकार सत्ता से भिन्न नहीं है तब तो वह सत्ता ही है एवं च सत्ता से अतिरिक्त कुछ नहीं है यह मानने से अद्वैत में ही पर्यवसान हो गया । (दृश्यमानभेद अर्थात् मिथ्या सिद्ध हो गया) ॥ ६ ॥ यदि कहो कि विशेषाकार सत्ता से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी तो (प्रथमतः ऐसा होना ही असंभव है कि किन्हीं में वास्तविक भेद व अभेद दोनों रहें । यदि मान भी लें, तो) पूर्वोक्त दोनों ही दूषण युगपत् प्राप्त हो जायेंगे । इसलिये यही निश्चय करना चाहिये कि सत्ता से अतिरिक्त कोई विशेषाकार या व्यक्ति वस्तुतः है ही नहीं ॥ ७ ॥ विशेषाकार वाले घटादि पदार्थों

---

१ ख. °घटपटा° । २. क. ख. ग. घ. °ङ्गपरिहाराय° ।

विशेषार्थप्रतीतिस्तु भ्रान्तिसिद्धा न संशयः । अत एका सदा सत्ता सैव ब्रह्म परात्परम् ॥
सत्ताया यदि भिन्नं चेद् ब्रह्मासत्स्यान्नृशृङ्गवत् ॥ ८ ॥

कथं तर्हि तस्य सत्त्वप्रतीतिरित्यत आह–विशेषार्थेति । अपरिच्छिन्ने सद्रूपे ब्रह्मणि मायया परिकल्पितत्वादधिष्ठानसत्त्वमेवाऽऽरोप्ये घटपटादिलक्षणे विशेषार्थेऽपि प्रतीयते सन्घटः सन्पटः सत्कुड्यमिति । यथा सर्पधारादिदोषारोपेष्वयं सर्प इयं धारेतीदमंशोऽवभासते तद्वच्छ्रुतिरपि यदनुविद्धं यद्भासते तत्तत्र परिकल्पितमिति न्यायेन सदनुविद्धमिदं सर्वं सद्रूपे ब्रह्मणि परिकल्पितमिति दर्शयति 'सद्धीदं सर्वं सत्सदिति चिद्धीदं सर्वं काशते काशते च' इति । अतो जगत्सत्यत्वप्रतीतिर्भ्रान्तिसिद्धैवेत्यर्थः । अत इति । यत एवं विशेषार्थः पारमार्थिको नास्त्यतः कारणात्सा सत्ता सर्वदैकैव भवति न तु विशेषाद्भिद्यत इत्यर्थः । ननु सत्ता नाम बह्वीषु सद्व्यक्तिष्वनुवृत्तसद्व्यवहारास्पदतयाऽवस्थितो जातिलक्षणो धर्मविशेषः, यदि धर्मिभूताः सद्व्यक्तयो न स्युः स कथं निराश्रयोऽवतिष्ठत इति ? तत्राऽऽह–सैव ब्रह्मेति । भवेदेवं यदि सत्ता जातिः स्यान्न तु सा जातिः । विशेषार्थाभावेन तस्या जातित्वायोगात् । 'निर्विशेषं न सामान्यमिति' हि तत्त्वविदः । अतः सा सत्ता परात्परं ब्रह्मैव 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेस्तद् ब्रह्म सदेव । ननु सत्ता हि सतो धर्मः, यस्य गुणस्य हि भावद्रव्ये शब्दनिवेश 'तस्य भावस्त्वतलावि'ति स्मृतत्वादिति ? नैष दोषः, सद्रूपं परं ब्रह्मैव सदेव स्वस्मिन्परिकल्पितासु बह्वीषु व्यक्तिष्वधिष्ठानतयाऽनुवृत्तत्वात्सत्तेत्युच्यते । यथैकस्यैव चन्द्रस्य जलतरङ्गोपाधिषु नानात्वे परिकल्पिते तत्र सर्वत्रानुव्यवहारबलेनानुवृत्तं चन्द्रस्वरूपमेव चन्द्रत्वं तद्वदित्यर्थः । यदा तु ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारेण तदविद्यानिवृत्तौ तत्कार्यस्यापि दृश्यप्रपञ्चस्य निवृत्तिस्तदा तद् ब्रह्म सदित्युच्यते न सत्ता । अनुगन्तव्याभावेन, स्वरूपस्यानुगमाभावात् । न च तद् ब्रह्मानुवृत्तम् व्यावृत्त्यवधेरन्यस्याभावात् । तदुक्तं वार्तिककारैः–'अव्यावृत्ताननुगतंवस्तु ब्रह्मगिरोच्यते' इति । ननु धर्मवाचकः सत्ताशब्दः कथमेवमन्यथा[1] क्रियते, 'सदेव सोम्य' इत्यत्रापि सत्तायोगि सदिति धर्मिधर्मवाचक एव स्वीकर्तव्यः ? इत्यत आह–सत्ताया इति । यदि सत्तायाः सकाशाद्धर्मिभूतं तद् ब्रह्म भिन्नं स्यात्तदा पूर्वोक्तभेदाकारन्यायेन तद् ब्रह्मापि नरविषाणवदसदेव भवेत्तस्मात्तत्सत्तात्मकमेव परं ब्रह्म न धर्मिधर्मभावो युक्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥

की प्रतीति तो भ्रांतिसिद्ध है । (जो है नहीं किंतु प्रतीत होता है उसे ही भ्रांतिसिद्ध और उसकी प्रतीति को भ्रांति कहते हैं ।) अतः एक ही परात्पर ब्रह्मरूप सत्ता है । ब्रह्म यदि सत्ता से अतिरिक्त कुछ हो तो नरशृंग की तरह असत् हो जायेगा । (यद्यपि सत्ताशब्द अनेकों में अनुगत किसी विशेषता को बताता है तथापि क्योंकि अनेकादि सिद्ध नहीं होते, इसलिये यही समझना चाहिये कि जैसे जल, दर्पण, कृपाण आदि नाना उपाधियों में प्रतीत होने वाला अनुगत चन्द्रस्वरूप ही चन्द्रत्व कह दिया जाता है वैसे स्वयं में कल्पित समस्त नानात्वेन अनुभूयमान व्यक्तियों में अधिष्ठानरूप से अनुवृत्त सद्ब्रह्म ही सत्ता कह दिया जाता है । वार्तिक में कहा भी है 'प्रकृत्यर्थातिरेकेण प्रत्ययार्थो न विद्यते । सत्तेत्यत्र ततः स्वार्थस्तद्वितोत्र भवन् भवेत् ॥'. यह अनुगति या अनुवेध व्यावहारिकमात्र है । स्वरूपतः तो ब्रह्म सन्मात्र होने से प्रपंच है ही नहीं जहाँ वह अनुविद्ध हो । अत एव सुरेश्वराचार्य ने अनेकत्र स्पष्ट किया है कि ब्रह्म वह वस्तु है जो न किसी से भिन्न है और न किसी में अनुस्यूत) ॥ ८ ॥ क्योंकि यह स्थिति है, इसलिये घट

---

१. घ. °व सत्वं न क्रि° ।

तत्रैवं सति विप्रेन्द्रा ये पदार्था घटादयः । ते तु सत्तातिरेकेण न विद्यन्ते कथंचन ॥ ९ ॥
ब्रह्मैवेदमिति प्राह श्रुतिरप्यतिनिर्मला ॥ १० ॥
विदुषामनुभूतिश्च तथैव हि न संशयः ।
अतः सर्वमिदं शंभुरिति वित्त[1] विचक्षणाः ॥ ११ ॥
मृच्छरावादिरूपेण यथा भाति स्वभावतः ।
तथा सर्वतया भाति शिवः सर्वावभासकः ॥ १२ ॥
कटकादिविभेदन यथा हेम प्रकाशते । तथा सर्वतया भाति शिवः सर्वावभासकः ॥ १३ ॥

एवं विशेषार्थसत्त्वनिरूपणेन ब्रह्मणः सिद्धमद्वितीयत्वमुपसंहरति–तत्रैवमिति । यस्मात्सद्रूपे ब्रह्मणि घटपटादयोऽध्यस्तास्तस्मात्तद्व्यतिरेकेण ते न सन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥ इत्थं प्रतिपादिते सर्वस्य जगतो ब्रह्मात्मकत्वे श्रुतिं संवादयति–ब्रह्मैवेदमिति । 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इति । प्रागादिषु सर्वदिक्षु पराग्रूपं यदिदं जगत्प्रसृतं भासते तत्सर्वं वरिष्ठं गुरुतमं विस्तीर्णतमं ब्रह्मैव । कारणभूतात्तस्मादतिरिक्तं किमपि नास्तीत्यर्थः । अत इति । यतः सद्रूपाद् ब्रह्मणोऽतिरिक्तं किमपि वस्तु नास्ति तत्स्वरूपे परिकल्पितत्वादतो यदिदं कार्यभूतं दृश्यं जगत्तत्सर्वं कारणभूतपरशिवस्वरूपतो न व्यतिरिच्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥ एतदेव कार्यप्रपञ्चस्य कारणब्रह्मात्मकत्वं दृष्टान्तैरुपपादयति– मृच्छरावेत्यादिना । यथा मृद् घटशरावादिनानाकार्यात्मनाऽवभासते तथा परशिवोऽपि मायोपाधिवशात्सर्वजगदात्मना भासते । श्रुतावपि सर्वकारणब्रह्मविज्ञानात्सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तदुपपादनार्थं मृदादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ताः 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादयः । बादरायणोऽपि कार्यस्य जगतः कारणब्रह्मानतिरिक्तत्वं सूत्रयामास–'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इति ॥ १२ ॥ १३ ॥

आदि पदार्थ सद्ब्रह्म–या सत्ता–से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं ॥ ९ ॥ अति निर्मल श्रुति ने भी कहा है कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है ॥ १० ॥ विद्वानों का अनुभव भी यही है । अतः आप लोग भी यह समझ लीजिये कि यह सब एकमात्र शंभु ही है । (ऐसी समझ वाले को ही श्रीकृष्ण ने दुर्लभ महात्मा बताया है ।) ॥ ११ ॥ जैसे मृत्तिका स्वभावतः ही शरावादि रूप से प्रतीत होती है वैसे ही सबकी प्रतीति कराने वाले शिव ही सब रूपों में प्रतीत होते हैं । (जब भी मिट्टी उपलब्ध होती है किसी न किसी नाम-रूप वाली ही मिलती है । भुरभुरा (चूर्ण), पिण्ड आदि तो आकार हैं । मिट्टी तो उनसे पृथक् तत्त्व है जिसके ये सब आकार हैं । किंतु मिलती वह किसी आकार में ही है । इसीलिये कहा 'स्वभावतः' । दार्ष्टांत में अविद्या ही स्वभाव है ।) जैसे विभिन्न अलंकारों के रूप में स्वर्ण प्रतीत होता है वैसे ही सर्वोपलब्धा शिव समस्त प्रपंचरूप से प्रतीत होते हैं । (श्रौत दृष्टान्त परिणामपरक नहीं हैं यह स्पष्ट करना इष्ट है ।) ॥ १२ ॥ १३ ॥ जैसे सीप स्वभावतः–अज्ञानसे–चाँदी के आकार की प्रतीत होती है वैसे

---

१. विद्धुरित्यर्थः ।

शुक्तिका रजताकारा[1] यथा भाति स्वभावतः ।
तथा सर्वतया भाति शिवः सर्वावभासकः ॥ १४ ॥
स्वप्नदृक्स्वप्नरूपेण यथा भाति स्वभावतः ।
तथा सर्वतया भाति शिवः सर्वावभासकः ॥ १५ ॥
अन्धकारः प्रकाशश्च यथाऽऽकाशे प्रकाशते ।
जडाजडमिदं सर्वं तथा भाति परात्मनि ॥ १६ ॥
वीचीतरङ्गपूर्वास्तु यथा भान्ति महोदधौ । महदादिविशेषान्तं जगद्भाति तथाऽऽत्मनि ॥ १७ ॥
भूतानि शंभुर्भुवनानि शंभुर्वनानि शंभुर्गिरयश्च शंभुः ।
स एव सर्वं न ततोऽतिरिक्तं ततः स एकः परमार्थमेतत् ॥ १८ ॥
इज्यश्च यज्ञैरयमेव शंभुर्लभ्यश्च दानैरखिलैस्तथैव ।
जप्यश्च मन्त्रैरखिलैर्विशिष्टैर्मृग्यश्च देवैरमरेन्द्रपूर्वैः ॥ १९ ॥
तपोभिरुग्रैः सततं विशिष्टा महेशमेनं परमप्रियेण[2] ।
प्रपूजयन्त्येव मुनीन्द्रवृन्दा नमन्ति नित्यं वचसा स्तुवन्ति ॥ २० ॥

ननु मृल्लोहादिषु शरावादिकार्यं नाऽऽरोप्यते किंतु तैरारभ्यते । तच्च कारणमृदादिद्रव्याद् द्रव्यान्तरं भवतीति तार्किका विप्रतिपद्यन्ते । तान्प्रति दृष्टान्तान्तरमाह–**शुक्तिकेति** । यथा शुक्तिका स्वाधिष्ठानचैतन्यस्य मायावशादारोप्यरजताकारेण भासते तथा परशिवोऽपि स्वाश्रितमायावशात्सर्वजगदात्मना भासत इत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु शुक्तिरजतादावन्यस्मिन्नन्येनाऽऽरोप्यतेऽद्वितीये ब्रह्मणि तादृश आरोपः कथं संभवतीत्याशङ्क्य निदर्शनान्तरेणोपपादयति–**स्वप्नदृगिति** । यथा स्वप्नद्रष्टा तैजस आत्मोपाधिवशान्नानाविधस्वप्नपदार्थाकारो भवति तथाऽद्वितीय ईश्वरोऽपि स्वमायावशान्नानाकारजगदात्मको भवतीत्यर्थः । स्वप्नद्रष्टुः स्वप्नपदार्थात्मकत्वमाम्नायते 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि' इति ॥ १५ ॥ ननु निरवयवेऽद्वितीये ब्रह्मणि चेतनाचेतनलक्षणं विरुद्धस्वभावं जगत्कथमारोपयितुं शक्यत इत्याशङ्क्य निदर्शनान्तरेणोपपादयति–**अन्धकार इति** । यथैकस्मिन्नेव[3] निरवयव आकाश उपाधिवशात्परिकल्पितभेदे विरुद्धस्वभावावपि तमःप्रकाशौ युगपद्भासेते तद्वदुपाधिपरिकल्पिते परशिवस्वरूपे चेतनाचेतनविभागात्मकः प्रपञ्चोऽपि व्यवस्थितः सन्प्रकाशत इत्यर्थः ॥ १६ ॥ सर्वस्यापि कार्यप्रपञ्चस्य कारणमात्रावशेषे स्पष्टं निदर्शनान्तरमाह–**वीचीति** । महानूर्मिर्वीचिः स एव वायुवशाद्भग्नकणो[4] यथैकस्मिन्नेव समुद्रे वीचीतरङ्गबुद्बुदाद्याकारविशेषाः प्रतीतिसमय एव भासन्ते पुनस्तत्रैव लीयन्त एवं परशिवस्वरूपेऽप्याकाशादिभूतभौतिकाद्यात्मका आकारविशेषाः स्वमायावशाद्भासन्ते

ही प्रपंच को स्फुरत्ता प्रदान करने वाले महादेव प्रपंच के आकार में प्रतीत होते हैं ॥ १४ ॥ जैसे स्वप्नद्रष्टा स्वभाव से ही स्वप्नरूप से प्रतीत होता है वैसे सर्वद्रष्टा शिव ही सर्वरूप से प्रतीत होता है ॥ १५ ॥ जैसे निरंश आकाश में अँधेरा और रोशनी दोनों दीखते हैं वैसे ही निरवयव परमात्मा में जड व चेतन दोनों उपलब्ध होते हैं ॥ १६ ॥ जैसे सागर में बड़ी-छोटी लहरें आदि प्रतीत होती हैं वैसे ही महत्तत्व से घटादि विशेष पर्यन्त (अथवा वैशेषिक संमत परमाणुभेदक पदार्थ पर्यन्त) समस्त जगत् आत्मा में प्रतीत होता है (लहर आदि स्पष्ट ही प्रतीतिवेला में ही जल से भिन्न कुछ नहीं है ऐसे ही जड-चेतन प्रपंच प्रतीति काल में ही शिवसे अतिरिक्त कुछ नहीं है ।) ॥ १७ ॥ भूत, भुवन, जंगल, पहाड़ आदि सब शंभुरूप ही हैं । शंभु ही सब कुछ हैं । उनसे अतिरिक्त कुछ नहीं है । अतः वे अद्वितीय हैं । यही वास्तविकता है ॥ १८ ॥ सब यज्ञों से इन शंभु की ही पूजा की जाती है ।

---

१. ननु श्रौतवादेषु परिणामानुरूपाएव दृष्टान्ता दृश्यन्ते न तु रज्जुसर्पादयस्तत्कुतोऽयं दृष्टान्त इति चेत् ? नैष दोषः । वाचारम्भणश्रुतेरेव विवर्तस्य दर्शितत्वात्तदनुगुणतयैव श्रौतदृष्टान्ता न परिणामतया, प्रक्रमविरोधात्, दृष्टान्तस्य चार्थवादत्वेन वाचारंभणविधानमन्यथयितुमसामर्थ्यात्, परिणामस्य च विचारासहत्वादिति दिक् । तदेतामाशंकामपाकर्तुमेवायं दृष्टान्त इति भावः । २. भावप्रधानो निर्देशः परमप्रियतयेत्यर्थः । यद्वा परप्रेम्णेत्यर्थः । ३. घ. "स्मिन्निर" । ४. ख. घ. "द्भग्नकरणो" ।

यतीन्द्रवृन्दा हृदि संनिविष्टं गुरुप्रसादाच्च शिवप्रसादात् ।
अहंपदप्रत्ययसाक्षिभूतं चिदात्मरूपं विदुरेनमेव ॥ २१ ॥
शिवमशेषमिदं परिपश्यतः सकलजन्मजरामरणादयः ।
निखिललोकगतिश्च निरङ्कुशं परमरूपतयैव विभाति हि ॥ २२ ॥
अमलबोधतया परमेश्वरं सकलवेदवचोभिरयत्नतः ।
परमयोगबलेन च पश्यतः कथमशेषजगत्प्रतिभा भवेत् ॥ २३ ॥
परमशिवमशेषं पश्यतामादिभूतं हृदयकुहरमध्ये संचितं कर्मवृन्दम् ।
झटिति भवति दग्धं तूलवद्वह्नियुक्तं न फलनिकरभोगप्राप्तये तद्भवेच्च ॥ २४ ॥
कर्मभिः सकलैरपि लिप्यते ब्रह्मवित्प्रवरश्च न सर्वथा ।
पद्मपत्रमिवाद्भिरहो परब्रह्मवित्प्रवरस्य तु वैभवम् ॥ २५ ॥
पुण्यपापतया यदि भासते कर्मजातमनात्ममतिस्तदा ।
ब्रह्मरूपतयैव हि भाति चेद् ब्रह्मवेदनमेव तदुत्तमम् ॥ २६ ॥

तत्रैव लीयन्ते चेत्यर्थः ॥ १७ ॥ यस्मादेवं परशिवस्वरूपे चेतनाचेतनात्मकस्य प्रपञ्चस्य मायया परिकल्पितत्वात्तस्य सर्वस्याधिष्ठानपरशिवस्वरूपानतिरिक्तत्वं तस्मात्तस्य सर्वजगदात्मकत्वमुक्तमेव प्रपञ्चयति–भूतानि शंभुरित्यादिना । न ततोऽतिरिक्तमिति । आरोप्यस्याधिष्ठानादन्यत्वासंभवादित्यर्थः ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

हृदि संनिविष्टमिति । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदि संनिविष्टः' इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । **अहंपदप्रत्ययसाक्षिभूतमिति** । अहमिति पदमहंपदं तस्माद्यः प्रत्यय आत्मगोचरान्तःकरणवृत्तिरहङ्काराख्या तस्याः

सारे दान इन्हीं की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं । समस्त जपों से इन्हीं का जप किया जाता है, देवेन्द्र आदि सब विशिष्ट देवता इनकी ही गवेषणा करते हैं ॥ १९ ॥ विशिष्ट व श्रेष्ठ मुनिगण निरन्तर किये जाने वाले घोर तपों द्वारा परमप्रियरूप से इन महेश की ही पूजा करते हैं, (शरीर से) प्रणाम करते हैं और वाणी से स्तुति करते हैं ॥ २० ॥ गुरु तथा शिव की कृपा से उत्तम संन्यासीवृन्द हृदय में स्थित 'मैं' इस अनुभव के भी साक्षी चिन्मात्र आत्मरूप इन शिव का ही ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥ जो कुछ भी (मैं या यह रूप से) प्रतीयमान है उस सबको जो यों समझ लेता है कि यह शिव ही है उसे जन्म, जरा, मरण आदि सकल कष्ट तथा निखिल लोकों में निरंकुश गति (अर्थात् सकल सुख) परमशिवरूप ही लगते हैं (हेयोपादेयादि बुद्धि उठती नहीं) ॥ २२ ॥ जिस पुरुषधौरेय ने समस्त वेदवचनों द्वारा यत्न के बिना ही परमेश्वर को निर्मल ज्ञानरूप समझ लिया है और परा भक्तिरूप योग से उसका दृढसाक्षात्कार कर लिया है उसे सारा जगत् प्रतीत ही क्यों होगा ? (पदार्थशोधन से पहले वेदान्तवाक्य समझना अतियत्नपूर्वक भी असंभव है । पदार्थशोधन कर चुकने पर उसे समझना अत्यंत सरल है । अतः 'यत्न के बिना' अर्थात् पदार्थों का भलीभाँति शोधन कर चुकने पर । विद्वान् को वस्तुतः जगत् प्रतीत नहीं होता । उसकी प्रतीति उपचारमात्र है । जैसे बहुरूपिया जब डाकू बनता है तो यद्यपि स्वयं को डाकू ही देखता है तथापि वह देखना कहने भर को है, ऐसे ही तत्त्ववेत्ता का संसारदर्शन नाममात्र का दर्शन है यह अभिप्राय है ।) ॥ २३ ॥ जगत् के कारणभूत परमशिव को सर्वरूप तथा निज हृदय में स्थित

सर्पादिभावेन विभासमाना रज्जुर्न सर्पादि सदैव रज्जुः ।
तद्वत्प्रपञ्चात्मतया विभाति शिवो न विश्वं शिव एव तत्स्वयम् ॥ २७ ॥
यथैव तोयात्मतया महीमिमां नरो विजानन्नपि वेद मेदिनीम् ।
तथैव विश्वात्मतयाऽभिपश्यन्नपि प्रपश्यत्यमलप्रबोधम् ॥ २८ ॥

साक्षितयाऽवगतमित्यर्थः ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ परमशिवमिति । हृत्पुण्डरीकमध्ये सच्चिदानन्दरूपं परशिवं स्वात्मतया साक्षात्कुर्वतां सकलानर्थमूलभूताविद्याविनाशात्तत्कार्यभूतमनेकभवपरम्पराप्रापकं संचितं पुण्यपापरूपं धर्माधर्मादि निवृत्तं सज्ज्ञानाग्निना दग्धं भवतीत्यर्थः । श्रूयते च–'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवँ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' इति । भगवताऽप्युक्तम्–'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' इति ॥

बादरायणोऽपि परतत्त्वज्ञानात्संचितागामिकर्मणोर्विनाशाश्लेषौ सूत्रयामास 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' इति । एष च दाहः प्रारब्धव्यतिरिक्तस्य कर्मणः । प्रारब्धं तु भोगेन निवृत्तं स्यात् । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इति श्रुतौ ज्ञानोत्तरकालमपि शरीरपातावधिपर्यन्तं विलम्बप्रतिपादनेन प्रारब्धकर्मणो भोगैकनिवर्त्यत्वप्रतिपादनात् । 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' इति तेनैव विशेषितत्वाच्च । अतः प्रारब्धकर्मणो भोगसमये यद्यत्पुण्यपापादिकं कर्मोपार्ज्यते तस्याश्लेषमाह–कर्मभिरिति । श्रूयते हि–'तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इति ॥ २४-२६ ॥

सर्पेति । सर्पधाराद्यात्मना मायया भासमाना रज्जुः स्वयाथात्म्यज्ञानोत्तरकालं न सर्पाद्यात्मना भासते किंतु पूर्वमपीयं रज्जुरेव कदाचिदपि न सर्पादीत्येवं प्रतीयते । यथैवं तद्वत्परशिवोऽप्यविद्यावशात्पूर्वं प्रपञ्चात्मतया भासमानोऽपि ज्ञानोत्तरकालं प्रागप्यसौ परशिव एव सत्यो न प्रपञ्च इति प्रतीयते । तथा च नाभूदस्ति भविष्यतीति दृश्यप्रपञ्चस्य कालत्रयेऽप्यसत्त्वसिद्धेः सिद्धं मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥ यथैवेति । 'अद्भ्यः पृथिवी' इति श्रुत्या पृथिव्या आपः कारणम् । यथा कार्यभूतां पृथिवीं कारणभूतादेकात्मना जानन्नपि तां पृथिवीं वेदैव तथा कारणभूतं परशिवं कार्यप्रपञ्चात्मतया जानन्नपि निरुपाधिकं तं पश्यत्येवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

प्रत्यगात्मरूप देखने वालों के संचित कर्म तुरंत वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे तिनके आग में पड़ने से । ये कर्म फलभोगप्राप्ति में कारण नहीं बन पाते ॥ २४ ॥ उत्तम ब्रह्मज्ञानी का कर्मों से कोई लेप नहीं होता जैसे कमलपत्र का जल से लेप नहीं होता । अहो ! ब्रह्मवेत्ता का वैभव कितना आश्चर्यजनक है ! (उसमें प्रतीत होता हुआ भी कर्म उससे सर्वथा अस्पृष्ट रहता है ।) ॥ २५ ॥ यदि कर्म पुण्य व पाप रूप से प्रतीत होते हों तो समझ लेना चाहिये अभी हमें ज्ञान नहीं हुआ । यदि कर्म ब्रह्मरूप से ही प्रतीत हो तभी समझना चाहिये कि उत्तम ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है ॥ २६ ॥ सर्प आदि रूपों से प्रतीत होती हुई रस्सी कभी सर्पादि नहीं होती, सदा रस्सी ही रहती है । इसी तरह प्रपंच रूप से प्रतीत होने पर भी हैं शिव ही, प्रपञ्च है ही नहीं ॥ २७ ॥ जैसे जो व्यक्ति जलरूप से पृथ्वी को जानता है वह भी पृथ्वी को तो जानता ही है । (पृथ्वी का कारण जल है । अतः जैसे स्वर्णरूप से गहनों को जानते हैं ऐसे जल रूप से पृथ्वी को जान सकते हैं ।) ऐसे ही प्रपंचरूपसे परमशिव को जानते हुए भी निर्मल ज्ञानरूप शिव को जाना ही जाता है । (शिव ही जगत्कारण हैं । अतः गहनेरूप से स्वर्ण की तरह प्रपंचरूप से शिव को जानते हैं । किंतु जिसे गहने की स्वर्णरूपता पता है उसे ही तद्रूप से स्वर्ण

अतः प्रपञ्चानुभवः सदा न हि स्वरूपबोधानुभवः सदा खलु ।
इतीव पश्यन्परिपूर्णवेदनो न बद्धमुक्तो न च बद्ध एव तु ॥ २९ ॥
स्वस्वरूपतया स्वयमेव स प्रस्फुरत्यमलः परमेश्वरः ।
न प्रपञ्चविभासनमस्त्यतः कस्यचिच्च न बन्धनमोचने ॥ ३० ॥
इयं हि वेदस्य परा हि निष्ठा मुनीश्वराणामपि शंकरस्य तु ।
इतोऽन्यथा ये विदुरन्धकूपे पतन्ति ते मोहफणीन्द्रदष्टाः ॥ ३१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानविशेषयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

न बद्धमुक्त इति । एवं सर्वत्र प्रपञ्चे परिपूर्णं तत्त्वमेव साक्षात्कुर्वन्न बद्धमुक्तः परशिवस्वरूपातिरिक्तस्य बन्धस्यैवाभावात् । अत एव न बद्धश्च; भेददृष्टौ सत्यामेव हि बन्धमोक्षव्यवहार इत्यर्थः । तथा चोक्तम्–'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' इति ॥ २९ ॥ स्वस्वरूपतयेति । निरवद्यः स्वप्रकाशकः परशिवः प्रत्यगात्मनः स्वरूपत्वेन स्फुरति यदा तदानीमविद्यानिवृत्त्या तत्कार्यप्रपञ्चस्य बन्धहेतुत्वा[1]भावान्न बन्धमोचनमित्यर्थः ॥ ३० ॥ एवमुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य सच्चिदानन्दाखण्डैकरसब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमेव मुक्तिः । सा च ज्ञानादेव लभ्या । तच्च ज्ञानं वेदान्तश्रवणादेवेत्येतावत्प्रतिपादितम् । तत्र विद्याफलस्य मुक्तिस्वरूपस्य स्वर्गादिफलवदतिशयित्वमाशङ्क्य निरस्यति–इयं हीति । यत्प्रत्यगात्मनोऽद्वितीयब्रह्मरूपेणावस्थानमेषैव वेदस्याभिमतोत्कृष्टाऽऽत्मनिष्ठा । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्', 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिश्रुतेर्निर्विकारब्रह्मभवनरूपा मुक्तिरर्वाचीनानां मनुष्यादीनामुत्कृष्टानामृषीणां ततोऽप्युत्कृष्टस्येश्वरस्यापि समानैवेत्यर्थः । बादरायणोऽपि मुक्तेरेकरूपत्वं सूत्रयामास–'एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः' इति । तच्चाधिकरणमेवं संगृहीतम्–'मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद् ब्रह्मलोकवत् । स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्तिः सातिशयैव हि ॥ ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं स्मृतम् । अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य च' इति ॥ एवं मुक्तिस्वरूपमनङ्गीकुर्वतो बाधमाह–इतोऽन्यथेति । श्रूयते हि–'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः । जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः' इति ॥ ३१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकाख्यटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानविशेषयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

एवं वेदान्तवाक्यजनितात्परशिवस्वरूपसाक्षात्कारज्ञानादेव मुक्तिर्न कारणान्तरादिति प्रतिपादितम् । तच्च ज्ञानं

प्रतीत होता है । सामान्य जन तो गहने को भिन्न पदार्थ ही मानते हैं । अतः उन्हें ऐसा भान नहीं होता कि वे सोना देख रहे हैं । ऐसे ही हम लोगों को यह भान नहीं होता कि हम शिव को देख रहे हैं, जिसने अधिष्ठानसाक्षात्कार कर लिया उसे तो स्पष्ट प्रतीत होता रहता है कि शिव ही दीख रहा है ।) ॥ २८ ॥ अतः कभी भी प्रपंच का अनुभव नहीं, स्वरूपज्ञान का ही हमेशा अनुभव है । ऐसा समझने वाला व्यक्ति ही पूर्णज्ञानी है । उसका न कभी बंधन हुआ है और न मोक्ष ॥ २९ ॥ निर्मल परमेश्वर प्रत्यग्रूप से स्वयं प्रस्फुरित होते रहते हैं । अतः किसी को भी प्रपंच-प्रतीति नहीं है और न ही किसी का बंधन या मोक्ष है ॥ ३० ॥ यही वेद का परम सिद्धान्त है । मुनीश्वरों का और शंकर का भी यह अनुभव है । जो दुर्विदग्ध इससे अन्य प्रकार से सोचते हैं वे मोहनामक साँप से डँसे होने से अज्ञानान्धकार के कुँए में ही पड़े रहते हैं ॥ ३१ ॥

---

१. छ. ज. °न्धमोक्षयोश्चानवमान° ।

षोडशोऽध्यायः

सूत उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि ज्ञानोत्पत्तेस्तु कारणम् । विना येन शिवज्ञानं न जायेत कथंचन ॥ १ ॥
मुमुक्षुरतिसंतुष्टः सिध्यत्येव गतिर्मम । इति निश्चयबुद्धिस्तु प्रतिबन्धनिवृत्तये ॥
देवताः सकला नित्यं प्रार्थयेन्मतिमत्तमः[1] ॥ २ ॥
शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवतु चार्यमा ॥ ३ ॥
शं न इन्द्रश्च वागीशः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।
नमोऽस्तु ब्रह्मणे वायो नमोऽस्तु तव शोभनम् ॥ ४ ॥
त्वमेव साक्षाद् ब्रह्मासि त्वां वदिष्यामि शंकरम् ।
ऋतं च सत्यं चाहं त्वा वदिष्यामि विशेषतः ॥ ५ ॥
तन्मामवतु कल्याणं तद्वक्तारं च शोभनम् ।
मां भूयोऽवतु वक्तारमपि चावतु शोभनम् ॥ ६ ॥

कथमुत्पद्यत इति · तदुत्पत्तेः कारणं वक्तुमुपक्रमते—अथात इति । परशिवज्ञानस्य परमपुरुषार्थत्वात्तत्र च प्रतिबन्धकपापनिमित्तप्रत्यूहबाहुल्यात्तन्निवृत्त्यर्थं वक्ष्यमाणमित्रादिदेवताप्रार्थनं मुमुक्षुणा नित्यं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ उक्तविधप्रतिबन्धोपशमाय तैत्तिरीयोपनिषदि देवताप्रार्थनरूपमन्त्रात्मको योऽनुवाक आम्नातस्तदर्थप्रतिपत्तिसौकर्याय श्लोकेन निबध्नाति – **शं नो मित्र** इत्यादिना । मित्रादयोऽस्माकं विद्याप्रतिबन्धापनयनेन **शं** सुखहेतवो भवन्तु । **वागीशो** बृहस्पतिः 'वागीशो बृहस्पतिः' इति श्रुतेः । **उरुक्रम** इति । उरु विस्तीर्णं क्रमत इत्युरुक्रमः सर्वव्यापीत्यर्थः । मित्रादीनामन्तर्यामित्वेनावस्थितं ब्रह्म तस्मै **नमोऽस्तु** । वायुः क्रियाशक्त्युपाधिकः सूत्रात्मा 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' इति श्रुतेः । हे **वायो** यदपरोक्षं परं ब्रह्म तदेव **त्वमसि** । तस्यैव जगद्धारणसमर्थक्रियाशक्त्या च सर्वान्तरत्वात् । अतः साक्षात्परशिवस्वरूपं **त्वामेव वदिष्यामि** । मनसा यथार्थसंकल्पनमृतं तथाविधस्यार्थस्य वाचोच्चारणं सत्यमुभयात्मकं त्वामेव **वदिष्यामि** । तद्वायूपाधिकं परं ब्रह्म **मामवतु** रक्षतु । चकारादाचार्यं च तद्रक्षतु । **मां भूय** इत्यादिकमुक्तस्यैवार्थस्य दार्ढ्यार्थम् । श्रुतावपि 'अवतु माम् । अवतु वक्तारम्' इत्यनेनैवाभिप्रायेण व्यतिहारेणाऽऽम्नातम् ॥ ३–६ ॥

ज्ञानोत्पत्ति के कारणों का वर्णन नामक सोलहवाँ अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं आपको ज्ञान की उत्पत्ति के वे कारण बताता हूँ जिनके बिना किसी तरह शिवज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता ॥ १ ॥ बुद्धिमान् मुमुक्षु 'मुझे गति प्राप्त हो ही जायेगी' ऐसा निश्चय रख सर्वदा सन्तोष रखे और प्रतिबंधकों की निवृत्ति के लिये नित्य सब देवताओं से प्रार्थना करे ॥ २ ॥ (यों प्रार्थना करनी चाहिये—) मित्र (प्राणवृत्ति व दिन के अभिमानी देवता), वरुण (अपानवृत्ति और रात्रि के अभिमानी देवता), अर्यमा (चक्षु और आदित्य के अभिमानी देवता), इन्द्र (बाहुबल के अभिमानी देवता), बृहस्पति (वाक् और बुद्धि के अभिमानी देवता) तथा लम्बे कदमों वाले या सर्वव्यापी विष्णु (पैरों के अभिमानी देवता) हमारा कल्याण करें । (त्रिविक्रम अवतार में विष्णु के लम्बे कदम प्रसिद्ध हैं) ॥ ३½ ॥ ब्रह्मारूप सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) को नमस्कार है । यह शुभ प्रणाम आपके लिये है ॥ ४ ॥ आप ही अपरोक्ष ब्रह्म हैं । अतः मैं तो आपको ही शंकर कहूँगा । ऋत और सत्य भी आप ही हैं यह कहूँगा । (बुद्धि में निश्चित किया शास्त्रानुसारी कर्तव्य ऋत कहा जाता है तथा वही कर्तव्य जब क्रियारूप में परिणत हो जाता है तब सत्य कहा जाता है ।) ॥ ५ ॥ वे हिरण्यगर्भरूपसे स्थित महादेव मेरा कल्याणमय रक्षण करें तथा शुभस्वरूप आचार्य की भी वे रक्षा करें । प्रत्येक आपत्ति से मेरी व आचार्य की हितकारी

---

१. तदुक्तमाचार्यैः 'मुमुक्षुर्देवाराधनपरः श्रद्धाभक्तिपरः प्रणेयोऽप्रमादी स्यदि' ति (बृ. भा. १.४.१०) ।

शान्तिः शान्तिः पुनः शान्तिर्दोषत्रयनिन्वृत्तये । कृत्वैवं प्रार्थनामात्मज्ञानार्थं पुनरास्तिकाः ॥ ७ ॥
जपेन्नित्यं गुरोर्लब्ध्वा मन्त्रं यश्छन्दसामिति । मे गोपायेतिपर्यन्तम् [1]अत्यन्तश्रद्धया सह ॥ ८ ॥
संकोचो देहयात्रायां यदि ज्ञानार्थिनो भवेत् ।
उपक्षीणा भवेद्बुद्धिस्तत्र तस्य न संशयः ॥ ९ ॥
अतः संकोचहानाय विद्यार्थं[2] तु दिने दिने ।
आज्येनान्नेन चोभाभ्यामावहन्तीति मन्त्रतः ॥ १० ॥
जुहुयाच्छ्रद्धया सार्धं ब्रह्मचारी गृही वनी ।
भिक्षुकस्तु जपेन्मन्त्रमनग्निः श्रद्धया सह ॥ ११ ॥
नित्यमाचार्यशुश्रूषां प्रकुर्याद्भक्तिपूर्वकम् ।
उत्थायोत्थाय षट् त्रीणि प्रणामं द्वादशाथ वा ॥ १२ ॥
कृत्वाऽऽचार्यं यथाशक्ति मुमुक्षुर्भुवि दण्डवत् ।
वेदान्तश्रवणं कुर्यान्मननं च समाहितः ॥ १३ ॥
नित्यं लिङ्गे महादेवं पूजयेद्भक्तिपूर्वकम् ।
शान्तो दान्तो भवेन्नित्यं विरक्तो भिक्षुको भवेत् ॥ १४ ॥

दोषत्रयनिवृत्तय इति । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकदोषत्रितयनिवृत्त्यर्थं शान्तिशब्दस्य त्रिरुच्चारणं कर्तव्यमित्यर्थः । **मे गोपायेतिपर्यन्तमिति** । यश्छन्दसामित्यारभ्य मे गोपायेतिपर्यन्तं जपेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥ **संकोच** इति । ज्ञानार्थिनः शुश्रूषोर्यदि दारिद्र्यं स्यात्तदा देहयात्रायां तस्य बुद्धिस्तत्र परिक्षीणा स्यात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमावहन्तीत्यनुवाकशेषेण प्रतिदिनमाज्येनान्नेन वा साग्निश्चेदग्नौ जुहुयादनग्निस्तु तान्मन्त्रान्प्रतिदिनं जपेदित्यर्थः ॥ ९–१५ ॥

रक्षा शिव ही करें ॥ ६ ॥ आध्यात्मिकादि तीनों दोषों की निवृत्ति के अनुकूल शांति हो ॥ ६½ ॥ इस प्रकार आत्मज्ञानप्राप्त्यर्थ प्रार्थना कर 'यश्छन्दसाम्' से 'मे गोपाय' तक के मंत्र का (तै. उ. १.४.१) जप करना चाहिये । इस मंत्र को पहले गुरुमुख से सुनकर ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ ७ ॥ ८ ॥ ज्ञानेच्छुक साधक की देहयात्रा में यदि दारिद्र्यादिवशात् कठिनाई होती है तो उन कठिनाइयों को हटाने में ही बुद्धि लग जाती है, श्रवणादि में एकाग्रता हो पाना असंभव हो जाता है ॥ ९ ॥ अतः विद्यालाभ के उद्देश्य से जीवनयापन में अक्लिष्टता के लिये प्रतिदिन घी व चावल की आहुतियाँ 'आवहन्ती' इत्यादि मंत्रों से (तै. उ. १.४.१-३) देनी चाहिये । ब्रह्मचारी, गृहस्थ व वानप्रस्थी तो अग्नि में आहुति प्रक्षेप करे किंतु अग्नित्यागी संन्यासी श्रद्धापूर्वक केवल उनका जप करे ॥ १० ॥ ११ ॥ प्रतिदिन गुरुसेवा करनी चाहिये । अठारह बार, बारह बार या यथाशक्ति दण्डवत् प्रणाम कर गुरु से वेदान्त का श्रवण तथा एकाग्रतापूर्वक मनन करना चाहिये । (गुरु की अनुपस्थिति में मानस प्रणाम कर स्वयं श्रवणादि करना चाहिये ।) ॥ १२ ॥ १३ ॥ प्रतिदिन शिवलिंग की भक्ति-सहित पूजा करनी चाहिये । संन्यासी को गुरुसेवा करनी चाहिये । अठारह बार, बारह बार या यथाशक्ति दण्डवत् प्रणाम कर गुरु से वेदान्त का श्रवण तथा एकाग्रतापूर्वक मनन करना चाहिये । (गुरु की अनुपस्थिति में मानस प्रणाम कर स्वयं श्रवणादि करना चाहिये ।) ॥ १२ ॥ १३ ॥ प्रतिदिन शिवलिंग की भक्ति-सहित पूजा करनी चाहिये । संन्यासी को

---

१. क. ख. ज. °त्यन्तं श्र° । २. ख. °द्यार्थी तु° ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः । सहिष्णुश्च भवेन्नित्यं तथैकाग्रमना भवेत् ॥ १५ ॥
रुद्राक्षधारणं कुर्याद् रुद्रो रुद्राक्षधारणात् । प्रतिबन्धकबाहुल्याल्लज्जा नित्यं प्रजायते ॥ १६ ॥
आलप्य च क्षुते चैव तथाऽभक्ष्यस्य भक्षणे । अदृश्यदर्शनादौ च जपेत्प्राज्ञः षडक्षरम् ॥ १७ ॥
षडक्षराणि वर्तन्ते जिह्वाग्रे यस्य संततम् । संभाषणादिकं तेन कुर्यादेवाविचारतः ॥ १८ ॥

संभाषणादिकं नीचैर्न कुर्यान्मोहतोऽपि वा ।
यदि कुर्यात्प्रमादेन प्रायश्चित्ती भवेद्द्विजः ॥ १९ ॥
[1]स्वजातिविहिताचारैरन्याचारैस्तथैव च ।
विशिष्टा अपि नीचाः स्युर्न संभाष्या द्विजोत्तमैः ॥ २० ॥

अग्निहोत्रादिजं भस्म सितमादाय सादरम् । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालोक्तैश्च सप्तभिः ॥ २१ ॥

अभिमन्त्र्य महादेवं भावयित्वा समाहितः[2] ।
भस्मना तेन सर्वाङ्गं समुद्धूल्य ततः परम् ॥ २२ ॥
तिर्यक्त्रिपुण्ड्रमुक्तेन[3] वर्त्मना मतिमत्तमः ।
ललाटे च तथा स्कन्धे तथैवोरसि धारयेत् ॥ २३ ॥

चिरंतनानि स्थानानि शिवस्यामिततेजसः । प्रतिमासं विशेषेण सेवनीयानि भक्तितः ॥ २४ ॥
शिवस्योत्सवसेवार्थं गच्छेच्छ्रद्धापुरःसरम् । उत्सवं सेवमानस्य मुक्तिर्हस्तस्थिता भवेत् ॥ २५ ॥

रुद्रो रुद्राक्षधारणादिति । रुद्रस्याक्षिपरिणामी हि रुद्राक्षस्तस्यापि धारणात्स्वयमपि रुद्रो भवेदित्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ अग्निरित्यादिभिरिति । तथाऽथर्वशिरसि श्रूयते—"अग्निरिति भस्म । वायुरिति भस्म । जलमिति भस्म । स्थलमिति भस्म । व्योमेति भस्म । सर्वं ँ ह वा इदं भस्म । मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि । अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा निमृज्याङ्गानि संस्पृशेत्" इति ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

चाहिये कि मन व इंद्रियों पर नियंत्रण रखे तथा वैराग्यभावना दृढ करे ॥ १४ ॥ सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करने की आदत बनाये और चित्त को यथासंभव एकाग्र रखे, चांचल्य-हेतुओं से दूर रहे ॥ १५ ॥ रुद्राक्ष पहनना चाहिये । रुद्राक्षधारण करने से साधक स्वयं रुद्र बन जाता है । अत्यधिक प्रतिबंधक होने पर ही रुद्राक्षधारण करने में लोगों को लज्जा आती है ॥ १६ ॥ सांसारिक वार्ता के बाद, छींक आने पर, अभक्ष्य खा लेने पर, अदर्शनीय देख लेने पर तथा ऐसे अन्य मौकों पर षडक्षर मन्त्र (ॐ नमः शिवाय) का जप कर लेना चाहिये ॥ १७ ॥ जिसके मुख में सदा षडक्षर मंत्र का उच्चारण होता हो उससे निःसंकोच हो वार्ता कर लेनी चाहिये ॥ १८ ॥ नीच लोगों से कभी बात न करे । नीचों से बात करने पर द्विज को प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ १९ ॥ कुछ स्वजाति के लिये अनुमोदित किंतु नीच आचार वाले होने से नीच होते हैं जैसे चिकित्सक, देवल आदि, कुछ अन्य जाति के आचार कर लेने से नीच होते हैं, जैसे व्यापार आदि करने वाले शूद्र, इस प्रकार जन्मना उत्तम आदि जाति वाले रहते हुए ही आचारदृष्टि से अनेक लोग नीच होते हैं । श्रेष्ठ द्विजों को ऐसे नीचों से वार्ता नहीं करनी चाहिये ॥ २० ॥ अग्निहोत्रदि से निष्पन्न श्वेत भस्म लेकर 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों से उसे अभिमंत्रित कर महादेव को याद कर सारे शरीर पर भस्मोद्धूलन करना चाहिये । तदनंतर ललाट, कन्धे व वक्ष पर त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिये ॥ २१—२३ ॥ निःसीम तेजस्वी महादेव के सनातन तीर्थस्थानों

१. घ. °जात्यवि° । २. घ. समासतः । ३. घ. °पुण्ड्रयुक्ते° ।

विशिष्टमन्नं भुञ्जीत चित्तशुद्ध्यर्थमात्मनः ।
निर्माल्यं च निवेद्यं च विशेषेण विवर्जयेत् ॥ २६ ॥

निर्माल्यं च निवेद्यं चेति । तदुक्तमागमे सर्वज्ञानोत्तरे–"विसर्जितस्य देवस्य गन्धपुष्पनिवेदनम् । निर्माल्यं तद्विजानीयाद्वर्ज्यं वस्त्रविभूषणम् ॥ अर्पयित्वा तु तं भूयश्चण्डेशाय निवेदयेत्" इति । तथा कालोत्तरेऽप्युक्तम्–"स्थिरे चले तथा रत्ने सिद्धलिङ्गे स्वयंभुवि । लोहे चित्रमये वाणे स्थितखण्डे नियामकः ॥ सिद्धान्ते नोत्तरे तन्त्रे न वामे न च दक्षिणे । चण्डद्रव्यं गुरुद्रव्यं देवद्रव्यं तथैव च । रौरवे ते तु पच्यन्ते मनसा ये तु भुञ्जते" इति ॥ एवमादिसिद्धान्तमतवचनपर्यालोचनया गन्धपुष्पादेर्नैवेद्यस्य चण्डद्रव्यत्वेन सर्वथा वर्ज्यत्वावगतेस्तं न भुञ्जीतेत्यर्थः । सिद्धान्तव्यतिरिक्तवामदक्षिणादितन्त्रान्तरमते तु यत्र चण्डाधिकारो नास्ति तत्र निर्माल्यस्वीकारेऽपि दोषो नास्तीति । तथा चोक्तम्–"वाणलिङ्गे चरे लोहे सिद्धलिङ्गे स्वयंभुवि । प्रतिमासु च सर्वासु न चण्डोऽधिकृतो भवेत् ॥ अद्वैतभावनायुक्ते स्थण्डिलेऽथ विधावपि" इति । तत्र शैवागमे तु सिद्धान्तस्यैव प्राबल्यात्तन्मतानुसारेण सर्वेष्वपि लिङ्गेषु सर्वथा वर्जनीयमित्यभिप्रेत्याऽऽह–**विशेषेणेति** ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

पर प्रतिमास जाना चाहिये व भक्तिपूर्वक वहाँ दर्शनादिपूर्वक कुछ समय रहना चाहिये ॥ २४ ॥ शिवोत्सवों के मौके पर सेवा करने के लिये श्रद्धा से जाना चाहिये । उत्सव में भाग लेने वालों को विना प्रयत्न मोक्ष मिलता है । ॥ २५ ॥ अपनी चित्तशुद्धि के लिये विशिष्ट (अर्थात् सात्त्विकादिरूप से शास्त्राभ्यनुज्ञात) अन्न ही खाना चाहिये । विशेषतः निर्माल्य और निवेद्य का भक्षण नहीं करे । यहाँ 'निर्माल्य' शब्द से उसे कह रहे हैं जिसका भोग रुद्र ने कर लिया है (अर्तात् जो रुद्र को अर्पित हो चुका है), अन्य देवताओं के भोगे को यहाँ निर्माल्य नहीं कह रहे तथा विष्णुद्वारा भोग लिये गये को निवेद्य कह रहे हैं । अन्य देवता जो विष्णु को अर्पित करते हैं व विष्णु उसका भोग कर लेते हैं वह निवेद्य है । ('अन्य देवता' का अर्थ है कि भक्तों की इंद्रियों के अभिमानी देवता भक्तों द्वारा अर्पण करते हैं । अथवा 'आदृतम्' ऐसा पाठान्तर है । उसका अर्थ है कि अन्य देवता विष्णु द्वारा भोगे गये का आदर करते हैं व उसका सेवन नहीं करते, अतः साधक को भी नहीं करना चाहिये । यहाँ शिवनिर्माल्य के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि पुराण, आगम व निबन्धों में नाना वाक्य मिलते हैं जिनके अनुसार कहीं या किन्हीं के लिये ग्राह्यता है व अन्यत्र नहीं । शिवपुराण की विद्येश्वरसंहिता में एक पूरे अध्याय में (अध्य.-२२) इसी पर विचार किया है । उसके आधार पर यही शिष्टाचार प्रचलित है कि जो शिवदीक्षा वाले हैं वे शिवनिर्माल्य का ग्रहण करते हैं, चरणोदक आदि का पान करते हैं तथा जो अन्य वैष्णवादि दीक्षा वाले हैं वे उसका वर्जन रखते हैं–मस्तक पर लगा कर छोड़ देते हैं । अन्य दीक्षा वाले भी ज्योतिर्लिंग, नर्मदेश्वर आदि का निर्माल्य ग्रहण कर सकते हैं ऐसा उक्त पुराण में कहा है । जहाँ चण्डेश्वर का अधिकार है वहाँ उन्हें अर्पित किये विना ग्रहण किसी को नहीं करना चाहिये । नर्मदेश्वरादि लिंगों के निर्माल्य में चण्डेश्वर का अधिकार नहीं है अतः वहाँ उन्हें अर्पण का प्रश्न ही नहीं । फलतः वहाँ निर्माल्यग्रहण साक्षात् किया जा सकता है । आचार्यों का तो कहना है कि स्वाद आदि के लोभ से किसी को भी ग्रहण नहीं करना चाहिये तथा भक्तिभाव से कोई भी कहीं भी कहीं भी ग्रहण करे तो दोष का भागी नहीं । प्रकृत पुराण उत्सवप्रसंग में है और इसके ठीक पूर्व भोजन की बात आयी है । अतः इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है कि साधक उत्सवादि में भाग लेते समय वहाँ अवश्य बने स्वादु पक्वान्नों को लोलुपता से तथा अधिक मात्रा में न खाये जिससे चित्त में लाघव की जगह गौरव हो । अतएव 'विशेषेण' पद सार्थक है । इस प्रकार अर्थ है कि मुमुक्षु उत्सवादि में जाने पर चरणामृत आदि यत्किंचित् प्रसाद भले ही लेले किंतु प्रसाद से ही पेट भरने का विचार न रखे । मुख्य भोजन जैसा अपने लिये शास्त्रद्वारा स्वीकृत व हितकारी हो वही खाये ।) ॥ २६ ॥ २७ ॥ गुरु का उच्छिष्ट तो निःसंशय ही पुरोडाश की तरह पवित्र

रुद्रेण भुक्तं निर्माल्यं न तथा देवतान्तरैः ।
निवेद्यं विष्णुता भुक्तमाहृतं चान्यदैवतैः ॥ २७ ॥
गुरूच्छिष्टं पुरोडाशं भवत्येव न संशयः ।
निर्माल्यं च निवेद्यं च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ २८ ॥
वर्णाश्रमादिहीनानां कुर्यात्सेवां न मानवः ।
सह वासं न तैः कुर्यात्सह संभाषणं तथा ॥ २९ ॥
सह प्रमोदं संसृष्टिं सह पङ्क्तौ तु भोजनम् ।
सहैव गमनं सख्यं सह संबन्धमेव च ॥ ३० ॥
देवानां च मनुष्याणां तथाऽन्येषां च लाञ्छनम् ।
न कुर्यान्मोहतो वाऽपि यदि कुर्यात्पतत्यधः ॥ ३१ ॥
कस्यचिल्लाञ्छितो मर्त्यो न साक्षी सर्वथा भवेत् ।
श्रौतस्मार्तसदाचारे नाधिकारी च लाञ्छितः ॥ ३२ ॥
लाञ्छिताश्च न संभाष्या न स्पृश्याश्च तथैव च ।
न दर्शनीयास्तान् राजा देशाच्छीघ्रं प्रवासयेत् ॥ ३३ ॥

है । पूर्वोक्त निर्माल्य या निवेद्य खा ले तो चान्द्रायण व्रत से प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ २८ ॥ जो लोग वर्णाश्रम मर्यादा से बहिर्भूत हों उनकी सेवा नहीं करे । न उनके साथ रहना चाहिये और न उनसे बातचीत करनी चाहिये ॥ २९ ॥ न उनके साथ खेल-कूद आदि प्रमोद करे, न अन्य संसर्ग करे, न उनकी पंक्ति में भोजन करे, न उनके साथ यात्रा करे, न मैत्री करे और न कोई लांछन ही लगाना चाहिये । यदि अविवेकवश कोई लगाता है तो निश्चय ही उसका पतन होता है । (स्मृतियों में बताया है कि यदि निर्दोष पर कोई उस दोष का लांछन लगाता है तो निर्दोष व्यक्ति का पाप धुल जाता है—'अनेना अभिशंसति' । अर्थात् जैसे कपड़ा धोने से मैल कपड़े से निकल कर पानी में आ जाता है वैसे निर्दोष का पाप उससे छूट कर झूठा लांछन लगाने वाले पर आ जाता है । तात्पर्य है कि ऐसा लांछन नहीं लगाना चाहिये) ॥ ३१ ॥ जो लाँछित व्यक्ति होता है वह व्यवहार में साक्षी बनने योग्य नहीं । श्रौत व स्मार्त सदाचार में भी उसे अधिकार नहीं । लाँछित से न वार्ता करनी चाहिये, न उसका स्पर्श । उनका तो दर्शन भी नहीं करना उचित है । राजा को चाहिये कि उन्हें शीघ्र ही देश से निष्कासित कर दे । (एवं च लांछन लगाने से पूर्व सोच लेना चाहिये कि हम उस व्यक्ति पर कितनी गंभीर आपत्ति डालने वाले हैं । इससे वृथा लांछन लगाने पर प्रतिबंध रहेगा) ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ काम्यादि विहित कर्म न भी करे तो भी निषिद्ध तो सर्वथा नहीं ही करने चाहिये । निषिद्ध न करने से शनैः शनैः विहित का आचरण करने की इच्छा

अकुर्वन्नपि विध्युक्तं निषिद्धं परिवर्जयेत् । निषिद्धपरिहारेण विहिते लभते मतिम् ॥ ३४ ॥
सत्याद्धर्माच्च कुशलाद्भस्मनोद्धूलनादपि । त्रिपुण्ड्रधारणाच्चपि स्वाध्यायाध्ययनादपि ॥ ३५ ॥
दैवाच्च पित्र्यात्कार्याच्च मातापित्रादिपूजनात् ।
तथाऽन्येभ्यश्च कर्मभ्यः श्रौतेभ्यश्च तथैव च ॥ ३६ ॥
स्मार्तेभ्यश्च मुमुक्षुश्चेत्सदा न प्रच्युतो भवेत् । उक्तसाधनसंपन्नो ज्ञानाद्भस्माधिगच्छति ॥ ३७ ॥
शिवस्वरूपं परमं भासनाद्भस्म संमतम् । तदेव स्वीयमायोत्थप्रपञ्चे जलसूर्यवत् ॥ ३८ ॥
अनुप्रविष्टं तद्रूपं भस्मलेशमुदाहृतम्[1] । तेन लेपेन[2] देवेशः प्रतिबिम्बेन भस्मना ॥ ३९ ॥
स्वतन्त्रो बिम्बभूतस्तु सदैवोद्धूलितः शिवः । स एव पूजनीयस्तु ब्रह्मविष्णुसुरोत्तमैः ॥ ४० ॥

अकुर्वन्नपीति । फलरागाभावान्मुमुक्षुः "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिर्विधिवाक्योक्तं यागादिकम्[1] कुर्वन्नपि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यो, न कलञ्जं भक्षयेदि'त्यादिवाक्यैर्निषिद्धं सर्वथा परिवर्जयेदित्यर्थः । तद्वर्जनस्य फलरागप्रयुक्तत्वाभावात् । प्रत्युत [2]निषिद्धचरणे दोष एव रागतः प्रवृत्तिः । एवं निषिद्धपरिवर्जनेन प्रत्यवायानुदयाद्विरुद्धवासनानिरासाच्च फलप्रेप्सुनैव निर्वर्त्ये विहिते नित्यकर्मणि विषये बुद्धिं लभत इत्यर्थः । एवं विहितानुष्ठानान्निषिद्धपरिहरणाच्चान्तःकरणमालिन्यापादकं पापं नोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ तैत्तिरीयके–"सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यम्" इत्यादिना यानि सत्यादीनि नित्यं मुमुक्षुभिः सेव्यानीत्याम्नातं तानि दर्शयति–सत्यादित्यादिना न प्रच्युतो भवेदित्यन्तेन । कुशलादिति । कुशलं योगक्षेमः ॥ ३५ ॥ मातापित्रादिपूजनादिति । आदिशब्देनाऽऽचार्यातिथिसंग्रहः । मातापितृपूजनानन्तरम् 'आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव' इति तत्पूजाया उक्तत्वात् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

शिवस्वरूपमित्यादि । स्वप्रकाशचिदात्मतया भासमानं परशिवस्वरूपं मुख्यं भस्म । तज्जलसूर्यप्रतिबिम्बवत्प्रपञ्चेऽनुप्रविष्टं सत्प्रतिबिम्बात्मनोपेयार्थं भस्म संजातम् । प्रतिबिम्बस्य च बिम्बनिरूप्यत्वेन तत्संबन्धात् । यस्मात्सर्वदा बिम्बभूतः परशिवः प्रतिबिम्बरूपेण भस्मना लेपित एव वर्तत इत्यर्थः ॥ ३८-४५ ॥

होती है ॥ ३४ ॥ यदि मुमुक्षु हो तो इनसे कभी च्युत नहीं होना चाहिये–सत्य, धर्म, योग-क्षेम, भस्मोद्धूलन, त्रिपुण्ड्रधारण, स्वाध्यायाध्ययन, देवपूजादि, पितरतर्पणादि, माता-पिता आदि की सेवा, तथा अन्य श्रौत व स्मार्त कर्म ॥ ३६½ ॥ उक्त साधनों वाला व्यक्ति ज्ञान से भस्म की प्राप्ति करता है ॥ ३७ ॥ शिवस्वरूप ही परम भस्म है क्योंकि वही भासता है (स्वप्रकाश है) । स्वकीय माया से उत्पन्न प्रपंच में वही परम भस्म उसी तरह अनुप्रविष्ट है जैसे जल में सूर्य । (सूर्य–तेज–का कार्य जल है और उसमें वह प्रतिबिम्बित भी होता है । ऐसे शिव का कार्य जगत् है व उसमें वे प्रतिबिम्बित भी हैं ।) परमभस्म का ही अनुप्रविष्ट रूप भस्मकण कहे जाते हैं । अपने प्रतिबिम्बभूत उन भस्मकणों से बिम्बरूप महादेव सदा स्वतंत्र होने पर भी सदा उद्धूलित भी हैं (क्योंकि बिम्ब व प्रतिबिम्ब सदा यों सम्बद्ध ही रहते हैं ।) ब्रह्मा, विष्णु तथा अन्य देवताओं के वे ही पूज्य है । (बिम्बरूप से भी पूज्य हैं व प्रतिबिम्ब भस्मरूप से भी आदरणीय हैं) ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ उनकी कृपा से ही सबकी देवरूपता है, स्वभाव

---

१. ङ. °लेपमु° । २. क. ख. ग. घ. लेशेन ।

तत्प्रसादेन सर्वेषां देवत्वं न स्वभावतः । स्वभावादेव देवत्वं देवदेवस्य शूलिनः ॥ ४१ ॥

तं विदित्वा विमुच्यन्ते शान्ता दान्ता यतीश्वराः ।
गृहस्थाश्च तथैवान्ये सत्यधर्मपरायणाः ॥ ४२ ॥

भस्मसंछन्नसर्वाङ्गास्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकाः । रुद्राक्षमालाभरणाः श्रीमत्पञ्चाक्षरप्रियाः ॥ ४३ ॥

नित्यं लिङ्गार्चनपरा यज्ञाद्यैर्दग्धकल्मषाः । अतो ज्ञानार्थिभिर्ज्ञानसाधनानि मनीषिभिः ॥ ४४ ॥

संपाद्यानि महायासाज्ज्ञानान्मुच्येत बन्धनात् । ज्ञानं वेदान्तविज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् ॥ ४५ ॥

तस्मा[1]ज्ज्ञातं विजानाति विमुक्तश्च विमुच्यते ।
निवर्तते निवृत्तश्च[2] श्रुत्यर्थस्यैष संग्रहः ॥ ४६ ॥

अयमर्थो महादेवप्रसादरहितैर्नृभिः । जात्यन्धगजदृष्ट्यैव कोटिशः परिकल्प्यते ॥ ४७ ॥

तस्[3]माज्ज्ञा[4]तमिति । स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्यात्मना पूर्वमवगतमेवाऽऽत्मस्वरूपं वेदान्तवाक्यजनितेन विज्ञानेनोपाधिप्रतिहानद्वारा पुनर्विजानातीत्यर्थः । उक्तं[5] हि–

"सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते । प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते" इति ॥

विमुक्तश्चेति । नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं हि परशिवस्वरूपं तदेव प्रागात्मनो नैजं रूपमतः स्वभावतो विमुक्त एव पश्चादप्यविद्यावशाद्बद्ध इव भासमानः स्वस्वरूपयाथात्म्यज्ञानेन पुनर्विमुच्यत इत्यर्थः । श्रुतिश्च "अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते" इति । स्वभावतो निवृत्तोऽपि संसार उपाधिवशाद्भासमानः पुनर्विद्योदयेनोपाधिप्रलयान्निवर्तत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥ जात्यन्धगजदृष्ट्येति । यथा बहवो जात्यन्धाः संभूय गजस्य हस्तपादाद्यवयवविशेषान्स्पृशन्तस्तन्मात्र एव गजस्य साकल्यबुद्धिमासादयन्तः शूर्पस्तम्भाद्याकारतां कल्पयन्ति तथैवमुक्तविधमात्मस्वरूपमज्ञानमोहितास्तार्किकादयो बहुप्रकारं कल्पयन्तीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

से नहीं । स्वभाव से तो त्रिशूलधारी महादेव की ही देवरूपता है ॥ ४१ ॥ शम-दमोपेत उत्तम संन्यासी, गृहस्थ तथा सत्य व धर्मपरायण अन्य लोग उन शंभु को जानकर ही मोक्ष पाते हैं ॥ ४२ ॥ सब मुक्त होने वाले निज शरीरों को भस्म से उद्धूलित रखते हैं व मस्तक पर त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं । रुद्राक्षमाला से सज्जित रहते हैं व पंचाक्षर मंत्र से प्रेम रखते हैं । प्रतिदिन शिवलिंगार्चन करते हैं तथा यज्ञादि से अपने पाप नष्ट कर चुके होते हैं । साधनावस्था में यह सब करने से ही वे शिवज्ञान पाकर मुक्त होते हैं । अतः जो समझदार लोग ज्ञान चाहते हों उन्हें प्रयत्नपूर्वक ज्ञान के साधनों को अर्जित करना चाहिये । सारी सामग्री हो जाने पर ज्ञान मिल जायेगा व समस्त बंधन निवृत्त हो जायेंगे ॥ ४३ ॥ ४४½ ॥ ज्ञान वही है जो ब्रह्म और प्रत्यगात्मा के अभेद को विषय करता है तथा वेदान्तश्रवण से उत्पन्न होता है ॥ ४५ ॥ उस ज्ञान से वही आत्मतत्त्व जाना जाता है जो वस्तुतः कभी अज्ञात नहीं किंतु भ्रम से सदा ही अन्यथा ज्ञात है । प्राणी वस्तुतः नित्यमुक्त है, उक्त ज्ञान से भ्रांति निवृत्त हो जाने से 'मुक्त हो गया' ऐसा व्यवहार मात्र है (जैसे व्यवहार होता है कि आकाश साफ हो गया) । स्वभावतः जो सदा निवृत्त ही है वही संसार तत्त्वज्ञान से निवृत्त होता है (क्योंकि निवृत्त हो ही वह सकता है जो निवृत्त है अन्यथा आरंभादि की आपत्ति है) । यह श्रौतार्थ का संक्षेप है ॥ ४६ ॥ यह विषय शिवकृपारहित लोग उसी तरह करोड़ों काल्पनिक ढंगों से समझते हैं जैसे जन्मान्ध लोग हाथी कह ! ॥ ४७ ॥

---

१. ख. घ. च. ज. ज्ज्ञानं वि° । २. अभयत्र निष्ठादर्शनाद् ज्ञातमित्येव युक्तम् । ३. ङ °स्माद्धात° । ४. ख. च. °ज्ज्ञानमि । ५. टीकायामेव (४.१०.३७) ब्रह्मसिद्धेरयं श्लोक उदाहृतः ।

ब्राह्मणो वाऽन्त्यजो वाऽपि तथा गर्भस्थितोऽपि वा ।
महादेवप्रसादेन मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ४८ ॥
महादेवे महानन्दे महाकारुणिकोत्तमे ।
प्रसन्ने सति कीटो वा पतङ्गो वा विमुच्यते ॥ ४९ ॥
गुरूपदिष्टो वेदार्थः संग्रहेण मयोदितः ।
मदुक्तार्थे तु विश्वासं कुरुध्वं यत्नतो द्विजाः ॥ ५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां यज्ञवैभवखण्डे ज्ञानोत्पत्तिकारणवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि वैराग्यं दुःखनाशनम् ।
येन साक्षाच्छिवज्ञानं जायते मोक्षसाधनम् ॥ १ ॥

गर्भस्थितो वेति । अत एवैतरेयके 'गर्भे नु सन्नन्वेषाम्' इति मन्त्रवाक्यतात्पर्यप्रतिपादकं वाक्यमाम्नायते "गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" इति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां ज्ञानोत्पत्तिकारणविशेषवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

उक्तविधं परशिवस्वरूपविषयं वेदान्तजनितज्ञानं साधनचतुष्टयसंपन्नस्यैवेति तत्संपत्तिरादौ मुमुक्षुभिरेष्टव्या । तत्र ज्ञानयोगखण्डे दशमेऽध्याये पिण्डोत्पत्तिकथनेन देहधारणस्य दुःखात्म[1]कत्वप्रतिपादनार्थं यद्वैराग्यं सूचितं तदिदानीं विस्तरेण प्रतिपादयितुमध्याय आरभ्यते—अथात इति ॥ १ ॥

ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज, (वृद्ध हो चाहे) गर्भस्थ; जो कोई भी हो, शिवकृपा से सभी मुक्त हो जाते हैं ॥ ४८ ॥ महान् आनंदरूप तथा अव्याज करुणा करने वालों में श्रेष्ठ महादेव के प्रसन्न हो जाने पर कीट पतंग भी मुक्त हो जाते हैं ॥ ४९ ॥ इस प्रकार मैंने आपको यह वेदार्थ सुना दिया है जिसका मुझे मेरे गुरु श्रीव्यासदेव ने उपदेश दिया था । मैंने जो कुछ बताया है उस पर आप लोग विश्वास रखिये ॥ ५० ॥

वैराग्यविचार नामक सत्रहवाँ अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं दुःखनाशक वैराग्य के विषय में बताता हूँ जिससे साक्षात् मोक्षदायक शिवज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १ ॥ प्रत्यगात्मा व परमशिव की एकता के अज्ञान से द्वैत प्रपंच उत्पन्न हुआ है । पूर्व संस्कारों से तथा शिवाज्ञावश कालक्रमानुसार कर्मों के फलोन्मुख होने पर लोगों को द्वैतप्रपंच में शोभनाध्यास और अशोभनाध्यास ऐसा हो गया है मानो वही वास्तविक हो ॥ २ ॥ ३ ॥ यों मुग्ध चित्त वाले लोगों

---

१. घ. "कस्य प्र" ।

प्रत्यग्ब्रह्मैकताज्ञानाद् द्वैतवस्तु समुद्गतम् । द्वैतवस्तुनि विप्रेन्द्राः पूर्ववासनया तथा ॥ २ ॥
आज्ञया देवदेवस्य कालपाकेन कर्मणाम् । शोभनाशोभनभ्रान्तिः कल्पिता परमार्थवत् ॥ ३ ॥
शोभनत्वेन संक्लृप्ते विषये वासनाबलात् । इच्छा नित्यं प्रजायेत नराणां मूढचेतसाम् ॥ ४ ॥
शोभनत्वेन संक्लृप्तः पदार्थो द्विविधः स्मृतः ।
एक ऐहिक आख्यात इतरः पारलौकिकः ॥ ५ ॥
ऐहिकानिन्द्रियैरर्थान्भुङ्क्ते देही निरन्तरम् । पुनर्भुक्तेषु चार्थेषु तत्समानेषु मानवः ॥ ६ ॥
करोति वाञ्छामवशः कल्पनाम[1]तिमोहितः ।
शोभनत्वेन यः क्लृप्तः पदार्थः पारलौकिकः ॥ ७ ॥

ननु विगतो विषयगोचरो रागो यस्माद्विरागस्तस्य भावो वैराग्यं तस्य प्रतिपादनं विषयसद्भावासद्भावयोर्दुर्निरूपम् । विषयस्य पारमार्थिकत्वे हि वचनशतादपि कथं ततः पुरुषो विरज्यते । अपारमार्थिकत्वे तु विषयाभावादेवायत्नसंपन्नं वैराग्यमिति न प्रतिपादनार्हमित्याशङ्क्याऽऽह–प्रत्यगित्यादिना । जीवब्रह्मणोरेकत्वाच्छादकभावरूपाज्ञानान्मायाविद्यापरपर्यायाद्द्वैतवस्त्वात्मकं[2] जगत्समुत्पन्नम् । अविद्यापरिकल्पिते तस्मिन्द्वैतवस्तुनि जन्मान्तरशतेषु विषयोपभोगजनितया वासनया सुखदुःखफलहेतुभूतं पुण्यपापात्मकं परिपक्वं यत्कर्मेत्थमेवेति परमेश्वरस्याऽऽज्ञावशेन हेतुना किंचिद्धि शोभनं किंचिदशोभनमिति भ्रान्त्या परमार्थवत्कल्प्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ एक इति । इह लोके विद्यमानोऽनुकूलवेदनीयः शब्दस्पर्शादिरैहिको विषयः । स एव स्वर्गादिलोकान्तरोपभोग्यः पारलौकिक इति ॥ ५ ॥ पुनर्भुक्तेष्विति "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते" इति ॥ ६ ॥ ७ ॥

को वासना के कारण उस चीज की सदा इच्छा होती रहती है जिसे वे शोभन समझते हैं ॥ ४ ॥ शोभन समझे गये पदार्थ दो प्रकार के हैं–इहलौकिक और पारलौकिक ॥ ५ ॥ इहलौकिक पदार्थों का तो इंद्रियों द्वारा सदा भोग करते रहते हैं । भोग से उनके संस्कार बनते हैं जिनसे उस जाति की अन्य वस्तुओं की भी कामना हो जाती है । कल्पनात्मक ज्ञान के सहारे मनुष्य अभुक्त ऐहिक भोगों के लिये भी उत्कण्ठित बना रहता है । (क्योंकि भोग केवल तत्काल हीं सुखादि नहीं देते, आगे के लिये अपनी छाप–संस्कार–भी छोड़ जाते हैं, इसलिये भोग से कभी तृप्ति नहीं हो सकती । अपनी तथा अपने पुत्र की लम्बी जवानी समस्त साधनों समेत भोग कर महाराजा ययाति ने यही उद्‌गार व्यक्त किये हैं–'कामभोग से इच्छाशांति कभी नहीं होती, बल्कि आग में घी की तरह भोग काम को और उद्दीप्त करता है । पृथ्वी के समस्त अन्नभण्डार, धनागार, पशु तथा स्त्रीरत्न यदि एक व्यक्ति को मिल जायें तो भी उसके लिये पर्याप्त नहीं हैं । अतः शम ही एकमात्र उपाय है ।' (मत्स्यपु. ३४.१०-११) । अतः काल्पनिक सुख के ही उद्देश्यसे हम विषयोत्सुक बनते हैं, व्यावहारिक वास्तविकता का भी विचार नहीं करते, पारमार्थिक का तो प्रश्न ही नहीं ।) ॥ ६½ ॥ जो पारलौकिक पदार्थ शोभनरूप माने जाते हैं, लोगों को उनकी इच्छा शास्त्र उत्पन्न करा देता है । उन भोगों की भी अभिलाषा भ्रममात्र से ही सबको हो जाती है । (इन्द्र को समस्त अप्सरादि से संतोष नहीं, अतः अहल्या आदि का रिरंसु हुआ था । अग्नि को स्ववैभव से पूर्णता का अनुभव नहीं अतएव देवताओं का धन चुराने की उसने कोशिश की जिसके पता चलने पर देवों ने उसे पीटा और वह रोया तथा रुद्र नाम वाला हुआ । अतः स्वर्ग पाकर हम सुखी होंगे, यह

---

१. ग. "मधिमो" । २. घ. "कंसमु" ।

तत्र बुद्धिं नृणां शास्त्रमुत्पादयति निश्चितम्[1] ।
भ्रमात्तद्भोगवाञ्छा च जायते सर्वदेहिनाम् ॥ ८ ॥
दृष्टानुश्रविकद्वारा बुद्धिसंततिरात्मनः । कल्पिते विषये नित्यं जायते वेदवित्तमाः ॥ ९ ॥
तथा योऽशोभनत्वेन पदार्थः परिकल्पितः ।
इह लोके परत्रापि द्वेषस्तत्र हि जायते ॥ १० ॥
रागद्वेषार्गलाबद्धा धर्माधर्मवशंगताः । देवतिर्यङ्मनुष्यादिनिरयं यान्ति मानवाः ॥ ११ ॥
शुक्रं च शोणितं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा स्मृत्वा तु मानवः ।
उद्गारं कुरुते तद्धि शरीरं चेतनस्य तु ॥ १२ ॥
तस्मिञ्शरीरेऽहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः । मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति विग्रहम् ॥ १३ ॥
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा चर्म भूमितले स्थितम् ॥
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥ १४ ॥

ननु पारलौकिकस्य विषयस्येन्द्रियैरननुभूयमानत्वात्कथं तत्र रागसंभव इति? तत्राऽऽह–तत्र बुद्धिमिति ॥ ८ ॥ दृष्टानुश्राविकेति । दृष्टं प्रत्यक्षेणानुभूतं सुखम् । आनुश्राविकं श्रुतिबलादवगतं सुखम् । उभयद्वारेहलोकपरलोकयोरविद्यापरिकल्पिते[2] साधनजाते विषये च बुद्धेरुत्पत्तिर्जायत इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं वैराग्यप्रतिपादनोपयोगित्वेन पुरुषस्यैहिकामुष्मिकविषयेषु भ्रमाद्रागसंभवमुप[3]पाद्याशोभनत्वेन परिकल्पिते वस्तुनि विभ्रमवशादेव द्वेषोऽप्युत्पद्यत इत्याह–तथा य इति ॥ १० ॥ रागद्वेषावेवार्गला तस्यां बद्धाः पुण्यपापात्मककर्मपारवश्यं गताः सर्वे जन्तवो देवतिर्यङ्मनुष्यादियोनिषु जन्मरूपं नरकमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥ नन्वधर्मादेव नरकप्राप्तिर्धर्मात्तु स्वर्गादिलोकसुखानुभव इत्याशङ्क्य, परशिवस्वरूपभूतसुखातिरिक्तस्य सर्वस्य वैषयिकसुखस्य दुःखात्मकत्वं प्रतिपादयितुं भोगायतनदेहादौ जुगुप्सितत्वं प्रतिपादयति–शुक्रं च शोणितमित्यादिना । पितुः शुक्रं मातुः शोणितं तदुभयं हि शरीरस्योपादानम् । तज्जातीययोः स्वदेहादन्यत्र दर्शनस्पर्शनादौ यथा जुगुप्सैवं स्वशरीरेऽपि विवेकिनो जुगुप्सैव भवति न त्वहंबुद्धिरुदेति । अविद्यावशान्मूढो जनस्त्वहं मनुष्यो ममेदं शरीरमिति चाभिमन्यत इत्यर्थः । एवमुत्तरत्र सर्वत्र योज्यम् ॥ १२ १३ ॥ १४ ॥

भ्रम नहीं तो क्या है ?) ॥ ७ ॥ ८ ॥ इस प्रकार अनुभूत तथा केवल पारोक्ष्येण कथंचिद् अवगत कल्पित विषयों की इच्छायें निरंतर हमारी बनती रहती हैं ॥ ९ ॥ ऐसे ही जो इहलोक या परलोक की वस्तु अशोभन समझी जाती है उसके प्रति द्वेष हो जाता है ॥ १० ॥ राग-द्वेष की रस्सी से बँधे मानव धर्म-अधर्म के परतंत्र हुए देवयोनि, पशुयोनि, मनुष्ययोनि आदि आदि नरकों को जाते रहते हैं ॥ ११ ॥ शुक्र या शोणित को देख, छू या याद कर भी मनुष्य घृणा से थू-थू करता है किंतु वही तो प्राणी के शरीर का उपादान है, (फिर भी शरीर से घृणा नहीं करता) ॥ १२ ॥ घृणास्पद शुक्रशोणितात्मक शरीर को हम सदा अपना स्वरूप ही समझते हैं । 'यह मैं हूँ' तथा 'यह मेरा है' इन निश्चयों से अविवेकी जन शरीर से चिपटे रहते हैं ॥ १३ ॥ ज़मीन पर चमड़ा पड़ा हो तो उसे देख, छू या याद कर भी उसके दोष को समझ कर व्यक्ति थूक देता है, किन्तु जिसे हम अपना स्वरूप समझे हुए हैं उस शरीर

१. शास्त्रमुत्पादयतीति निश्चितमित्यर्थः । नचैवं तदानर्थक्यं, तस्य तत्रातात्पर्यान्मिनो दोषत एव तस्य वास्तवं तात्पर्यमवधीर्यास्माकं भ्रमो नियोज्यता चेति । २. क. ग. घ. ङ. च. छ ज. °ल्पितत्वे सा° । ३. क. ग. ङ. च. छ. ज. °पाद्य शो° ।

तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्ये शरीरे चर्म यद्भवेत् । तस्मिंश्चर्मण्यहंबुद्धिं सदा कः कुरुते नरः ॥ १५ ॥

मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ।

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा मांसं भूमितले स्थितम् ॥ १६ ॥

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ।

तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्ये देहे मांसं तु यद्भवेत् ॥ १७ ॥

तस्मिन्मांसे त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः ।

मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ॥ १८ ॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा शिरां[1] भूमितले स्थिताम्[2] ।

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥ १९ ॥

तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्या शरीरस्था च या शिरा ।

तस्यामेव त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः ॥ २० ॥

मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ।

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा चास्थि भूमितले स्थितम् ॥ २१ ॥

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ।

तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्यं शरीरस्यास्थि यद्भवेत् ॥ २२ ॥

पर जो वैसा ही चमड़ा है उसके प्रति प्रेमपूर्वक हम निश्चय रखते हैं कि 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है ।' इन निश्चयों से हम हमेशा उससे चिपटे रहते हैं (जबकि विवेक से हमें उससे घृणा ही करना उचित है) ॥ १४–१५½ ॥ पृथ्वी पर पड़े मांस को देख, छू या याद कर स्वयं उसकी गंदगी का भान होने से हम थूक देते हैं किंतु शरीरस्थ मांस के प्रति 'मैं' और 'मेरा' भाव रखकर हम उसे पकड़े रहते हैं ॥ १६–१८ ॥ ज़मीन पर पड़ी नाड़ी को देख, छू या याद कर खुद उसकी खराबी समझ कर मनुष्य थूक देता है पर शरीर की अनन्त नाडियों को 'मैं' व 'मेरी' दृष्टि से अपनाये रखता है । (अहो ! गर्हित गात्र घृणा के योग्य है, स्वस्वरूप समझ कर प्रेम के योग्य नहीं ।) ॥ १९ ॥ २०½ ॥ हड्डी को भी बाहर पड़ी देख कर, छूकर या याद कर उसकी अशुचितावश मानव तुरंत थूकता है किंतु आत्मा समझे गये शरीर में स्थित वैसी ही अनेक हड्डियों को सदा 'मैं' व 'मेरी' समझते हुए उन्हें छोड़ना नहीं चाहता ॥ २१–२३ ॥ ऐसे ही कहीं बाल पड़े हों तो देखना आदि भी बुरा लगता है किंतु शरीर पर स्थित वैसे ही बालों को 'मैं' व 'मेरे' समझते हुए हम बहुत गर्वित होते हैं 'अहा ! कितने सुन्दर बाल वाला हूँ ।' ॥ २४–२५½ ॥ भूमि पर पड़े खून को देख कर, छू कर

---

[1] घ. शिरो । [2] घ. स्थितम् ।

तस्मिन्नेव त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः । मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा रोमपुञ्जं भुवि स्थितम् ।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥ २४ ॥

तथा देहस्थितं रोमनिचयं यद् द्विजोत्तमाः ।
तस्मिन्नेव त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः ॥ २५ ॥

मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा रक्तं भूमितले स्थितम् ॥ २६ ॥

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ।
तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्यं रक्तं यद्देहसंस्थितम् ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेव त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः । मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा पूयं भूमितले स्थितम् ।
उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥ २९ ॥

तथैवाऽऽत्मतयाऽग्राह्यं पूयं यद्देहसंस्थितम् । तस्मिन्नेव त्वहंबुद्धिं सदा कः कुरुते जनः ॥ ३० ॥

मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा श्लेष्मराशिं भुवि स्थितम् ॥ ३१ ॥

या याद कर किसे घृणा नहीं होती । किन्तु उसी खून को हम 'मैं' व 'मेरा' समझ कर मोहवश उसका वियोग सहन नहीं कर पाते ॥ २६—२८ ॥ पीप पर तो सदा ही घृणा आती है, किन्तु शरीरस्थ पीप से हम घृणा नहीं कर पाते क्योंकि शरीर को आत्मा समझने से पीप में भी हमें 'मैं' व 'मेरी' ऐसी बुद्धि बनती है । (अतएव यदि दूसरा व्यक्ति हमारे फोड़े आदि से घृणा व्यक्त करता है तो हमें बुरा लगता है और यही सोचते हैं कि यदि उसे ऐसा फोड़ा होता तो क्या वह यों नाक-भौं सिकोड़ता !) ॥ २९—३०½ ॥ जमीन पर पड़े कफ (खखार) को यदि देख, छू या याद कर लिया जाये तो स्वयं थूकने की इच्छा होती है किन्तु जिसे हम अपना आत्मा माने हुए हैं उस शरीर में भी तो वही भरा है तथापि उससे हम 'मैं', 'मेरा' निश्चयवश सदा चिपटे रहते हैं । हे उत्तम पण्डितो ! यह न पूछियेगा कि कफ जैसी वस्तु को कौन 'यह मैं हूँ' ऐसा समझता है, क्योंकि अविवेकी सभी जन्तु 'मैं' व 'मेरा' समझ कर उसका ग्रहण किये ही रहते हैं । (सबके शरीर में कमोबेश कफ तो रहता ही है । जब सारे शरीर को हम 'मैं' समझ रहे हैं तो क्या उसमें स्थित कफ को भी 'मैं' नहीं समझ रहे ?) ॥ ३१—३३ ॥

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् । तथैव पुरमध्यस्थे श्लेष्मराशौ विचक्षणः ॥ ३२ ॥

कः करोति त्वहंबुद्धिं मनुष्यः पण्डितोत्तमाः[1] ।

मूढोऽहंममबुद्धिभ्यामिदं गृह्णाति संततम् ॥ ३३ ॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा पित्तं भूमितले स्थितम् ।

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥ ३४ ॥

तथा देहस्थिते पित्ते हेये वेदान्तपारगाः । कः करोति त्वहंबुद्धिं मूढ एव करोति हि ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा मूत्रं भूमितले स्थितम् ।

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥ ३६ ॥

तथा देहस्थिते मूत्रे हेये वेदान्तपारगाः । कः करोति त्वहंबुद्धिं मूढ एव करोति हि ॥ ३७॥

दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तथा स्मृत्वा पुरीषं भूतले स्थितम् ।

उद्गारं कुरुते मर्त्यः स्वयं तद्दोषदर्शनात् ॥ ३८ ॥

तथा देहस्थिते हेये पुरीषे मतिमत्तमाः ।

कः करोति त्वहंबुद्धिं मूढ एव करोति हि ॥ ३९ ॥

इसी तरह बाहर पड़े पित्त पर तो हम थूक देते हैं पर देहस्थ पित्त तो हमें 'मैं' और 'मेरा' ही लगता है ॥ ३४–३५ ॥ एवं मूत्र भी दीख जाये, छू लिया जाये या स्मृति में भी आ जाये तो ग्लानि होती है, किंतु देहस्थ मूत्र को कौन अपना स्वरूप समझता है ? शरीरात्मदर्शी हम सभी समझते हैं ॥ ३६–३७ ॥ ऐसे ही विष्ठा बाहर पड़ी हो तो सदा उद्वेग ही उत्पन्न करती है पर जब तक शरीर में है तब तक उसे हम अपना स्वरूप ही मानते हैं, उससे अपने को अशुद्ध हुआ कभी नहीं मानते । (उल्टा उससे तो इतना प्रेम है कि जब वह निकल जाती है तब हम अपने को अशुद्ध हुआ मानते हैं !) ॥ ३८–३९ ॥

जिसके स्पर्श से चंदन, अगरु, कर्पूर आदि स्वच्छ सुगन्धि वस्तुएँ भी मल बन जाती हैं वह शरीर अच्छा कैसे माना जाये, (पर मोहवश हम उसे पृथ्वीतल की सबसे उत्तम चीज़ ही मानते हैं) ॥ ४० ॥

---

१. ग. ङ. च छ. ज. °त्तमः ॥ मू° ।

चन्दनागरुकर्पूरप्रमुखा अपि शोभनाः । मलं भवन्ति यत्स्पर्शात्तत्कथं शोभनं वपुः ॥ ४० ॥

भक्ष्यभोज्यादयः सर्वे पदार्थाश्चातिशोभनाः ।
मलं भवन्ति यत्स्पर्शात्तत्कथं शोभनं वपुः ॥ ४१ ॥
सुगन्धिशीतलं तोयं मूत्रं यत्संगमाद्भवेत् ।
तत्कथं शोभनं पिण्डं भवेद् ब्रूत द्विजोत्तमाः ॥ ४२ ॥
अतीव धवलाः शुद्धाः पटा यत्संगमेन तु ।
भवन्ति मलिना वर्ष्म कथं तच्छोभनं भवेत् ॥ ४३ ॥
रक्तजाः क्रिमयोऽनन्ता मांसजाः क्रिमयस्तथा ।
क्रिमिकोशमिदं वर्ष्म दुःखाय न सुखाय हि ॥ ४४ ॥
गर्भं तु कललावस्थं कृमिभिर्भक्षितं भवेत् ।
दुःखमेव तदा सौख्यं न किंचिदपि विद्यते[1] ॥ ४५ ॥
बुद्बुदाकारतापन्नं भक्षयन्ति कलेवरम् ।
क्रिमयो दुःखमेव स्यात्तदा सौख्यं न किंचन ॥ ४६ ॥

कललावस्थमिति । मातुर्गर्भाशय एकरात्रोषितं शुक्रशोणितं कललम् ॥ ४५ ॥ बुद्बुदाकारतापन्नमिति । तदेव सप्तरात्रोषितं बुद्बुदाकारम् ॥ ४६–४९ ॥ जरायुमध्य इति । जरायुर्गर्भवेष्टनम् ॥ ५०–५२ ॥गणपीडेति । बालग्रहपीडेत्यर्थः

जिसके स्पर्श से रसगुल्ला, गुलाबजामुन आदि खाद्यपदार्थ भी मल बन जाते हैं वह शरीर शोभन क्योंकर होगा ? (फिर भी हम शुद्ध घी-दूध को शरीरपुष्ट्यर्थ प्रतिदिन मल बनाते रहते हैं !) ॥ ४१ ॥ सुगंध वाला शीतल निर्मल जल जिससे संबद्ध हो दुर्गन्ध वाला खारा पेशाब बन जाता है उस शरीर को अच्छा कैसे कहा जाये, यह आप द्विजोत्तम ही बतायें ॥ ४२ ॥ धुले, साफ किये कपड़े जिसके संपर्क से मलिन हो जाते हैं वह देह तो नितरां अशुद्ध ही है ॥ ४३ ॥ रक्त व मांस न जाने कितने कीटाणुओं को उत्पन्न करता रहता है । अतः कीटाणुओं का भण्डार यह देह दुःख का ही कारण है, सुख देने वाला कभी नहीं है ॥ ४४ ॥

कलल अवस्था का गर्भ गर्भाशयस्थ कीटाणुओं द्वारा आक्रान्त रहता है । तब भी दुःख ही है, सुख कहाँ ? (गर्भाशय में एक रात तक पड़ा रह चुका शुक्रशोणित कललशब्द से कहा जाता है । तात्पर्य है

---

१. ननु तत्र न दुःखमप्रामाण्यादिति चेत् ? वैराग्यस्य विवक्षणादर्थवादतयाऽदोषः । शास्त्रस्य च तत्र मानत्वात्सर्वमनाकुलम् ।

जठराग्नौ भवेत्तप्तं गर्भं मातुः सदैव तु ।

दुःखमेव तदा तस्य सुखं किंचिन्न विद्यते ॥ ४७ ॥

जठरे वायुसंचारघूर्णिते गर्भतां गतः । दुःखमेव तदा तस्य सुखं किंचिन्न विद्यते ॥ ४८ ॥

पुरीषमूत्रसंपूर्णे जठरे गर्भतां गतः । दुःखमेव सदा याति न किंचित्सुखमाप्नुयात् ॥ ४९ ॥

जरायुमध्ये निश्छिद्रे निमग्नो गर्भतां गतः ।

दुःखमेव सदा याति न किंचित्सुखमाप्नुयात् ॥ ५० ॥

रौरवादिषु यद्दुःखं नरकेषु निरन्तरम् । गर्भे तत्कोटिगुणितं भवेद् दुःखं न संशयः ॥ ५१ ॥

गर्भे तु जायमानस्य दुःखं वक्तुं न शक्यते ।

अहो दुर्वास एवास्य गर्भवासो मुनीश्वराः ॥ ५२ ॥

बाल्ये पीडा महातीव्रा गणपीडा महत्तरा । पिपीलिकादिपीडा च परिहर्तुं न शक्यते ॥ ५३ ॥

॥ ५३–६७ ॥

कि जन्म के आदिकाल से ही शरीर दुःख का ही निमित्त बना हुआ है ।) ॥ ४५ ॥ बुद्बुद बने भ्रूण पर भी कृमियों का आक्रमण चलता रहता है । तब भी दुःख ही होता है, सुख नहीं । (सात दिन तक रह चुका कलल बुद्बुद कहा जाता है ।) ॥ ४६ ॥ गर्भ माता की जठराग्नि की गर्मी से तपता रहता है । तब कौन सुख होता है ? दुःख ही होता है ॥ ४७ ॥ पेट की वायु से टक्कर खाकर जब गर्भ चक्कर खाता है तब दुःख ही होता है, कोई सुख नहीं ॥ ४८ ॥ गर्भाशय के आस-पास मल-मूत्र ही पड़ा रहता है । उस घृणित वातावरण में पड़ा गर्भशरीर कोई सुख नहीं दे पाता, दुःख का ही जनक होता है ॥ ४९ ॥ बिना छेद वाले जरायु (गर्भवेष्टन) से घिरा शरीर (ताज़ी वायु आदि के अभाव में) दुःख ही देता है, सुख नहीं ॥ ५० ॥ रौरवादि नरकों में जो दुःख होता है उससे करोड़ गुणा अधिक दुःख गर्भ में होता है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ५१ ॥ गर्भावस्था का दुःख तो इतना भीषण होता है कि उसे बताना असंभव है । अतः गर्भवास दुर्वास ही है ॥ ५२ ॥

उत्पन्न हो जाने पर महातीव्र नाना पीडायें होती हैं । सच्चे या काल्पनिक पिशाच आदि से भय आदि पीडा बहुत अधिक होती है। चींटी आदि का कष्ट तो बच्चा हटा भी नहीं सकता ॥ ५३ ॥ रोग, भूख

व्याधिपीडा महातीव्रा क्षुत्पीडा च दिने दिने ।
पिपासा च महापीडा कथं याति[1] सुखं नरः[2] ॥ ५४ ॥
अक्षरग्रहणे पीडा पीडा च पठने तथा । शब्दजालस्य दुःखाब्धेर्न पारो दृश्यते मया ॥ ५५ ॥
श्रौतस्मार्तसदाचारे महापीडा च दारुणा । निषिद्धपरिहारे च कथं याति सुखं नरः ॥ ५६ ॥
यौवने च महादुःखं स्त्रीसंसर्गे महत्तरम्[3] । स्त्रीभोगात्मकता दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥ ५७ ॥

और प्यास से परेशान बच्चा क्योंकर सुखी रहेगा ? ॥ ५४ ॥ कुछ बड़ा होने पर विद्यालय जाना पड़ता है । पहले तो घर छोड़कर अनजान लोगों में जाना ही महान् कष्ट है । किसी तरह वहाँ पहुँच जायें तो अक्षरों को समझना बड़ा भारी झमेला है । फिर पढ़ना; उसके कष्ट का तो क्या कहा जाये ! हर उच्चारण गलत ही निकलता है । राक्षसों के सींग और जानवरों की पूँछ जैसी मात्राओं से युक्त लम्बे लम्बे शब्द देखकर वैसा ही भय लगता है जैसा अकेले किसी हिंस्रजन्तुसमाकुल बन में फँस जाने पर । शब्दजाल तो समुद्र की तरह अथाह है । चाहे जितना कोष रटें, हर दूसरे वाक्य में कोई न कोई अज्ञातार्थ पद उपस्थित हो ही जाता है । अध्ययन तो महान् कष्ट का काल है ॥ ५५ ॥ श्रौत व स्मार्त सदाचार हृदयविदारक पीडा देता है । प्रातः ठण्ड में उठना, स्नान करना, सन्ध्या करना, अध्ययन करना, समय-समय पर धुआँ उगलती आग के सामने बैठकर आहुतियाँ डालना, लकड़ी आदि काट कर लाना, आफत आने पर भी सच बोलना, अस्पृश्यस्पर्श आदि अनंत निमित्त हो जाने पर स्नान करना, शाम को खेलने के समय पुनः संध्या करना आदि अनगिनत कर्म दुःख ही दुःख देते हैं । फिर निषेध उपस्थित रहते हैं । नहाये बिना खाना नहीं, बासी मत खाना, जूठा न खाना, बाजार का बना न खाना, यों कपड़ा न पहनना, यों सिर न खुजाना, इस दिशा में विष्ठादि न छोड़ना, इधर न थूकना, दिन में न सोना, बड़ों से ऐसे मत बोलना, गाली न देना, अमुक का दर्शन न करना, अमुक बातें न सुनना, न जाने कितने निषेधों से घिरे रहते हैं हम सब । कहाँ इस परम बंधन में सुख की संभावना है ? ॥ ५६ ॥

यौवन के दुःख और अधिक परेशान करते हैं । पहले तो स्त्रियों की वांछा दुःख देती है । पुरुष निर्णय नहीं कर पाता कि कौन-सी स्त्री मेरे अनुकूल होगी । ऐसे ही स्त्रियों को अपने योग्य वर नहीं मिल पाते । सब परेशान रहते हैं । कथंचित् स्त्री-पुरुष का संबंध हो जाये तो आरम्भ में ही महान् आपत्ति होती है । स्त्री को तो पति समेत सभी नये व पराये दीखते हैं, वह सहमी ही रहती है । पुरुष भी न तो पूरा विश्वास ही कर पाता है न अविश्वास करने की हिम्मत करता है । बल्कि हर चेष्टा में अत्यधिक सावधान रहता है कि कहीं उसकी पत्नी उसे फूहड़ न समझ ले । स्त्री का भोग करने के

१ ग. यान्ति । २ ग. नराः । ३ 'स्त्रीवियोगान्महादुःखं दुःखमेव विचारतः' इति श्लोकार्धमधिकं कुत्रचिद् दृश्यते ।

स्त्रीणामाराधने दुःखं तासां संरक्षणेऽपि च ।

तासां परिभवे दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥ ५८ ॥

वस्त्रसंपादने दुःखं भूषणानां तथैव च । रक्षणे च तथा तेषां दुःखमेव विचारतः ॥ ५९ ॥

गृहक्षेत्रधनादीनां दुःखं संपादने तथा ।

रक्षणे च तथा दुःखं तेषामेव विचारतः ॥ ६० ॥

पुत्रमित्रादिजन्तूनां दुःखे दुःखं तथैव च ।

अनन्तर भी शिरःपीडा आदि बहुत दुःख होते हैं । विचार कर देखें तो यौवन का आरम्भ ही दुःखपूर्ण है ॥ ५७ ॥ स्त्रियों को खुश करने में बहुत कष्ट होता है । बहुधा अपने प्रिय माता, पिता, भाई आदि से विरोध कर लेना पड़ता है जिसकी ग्लानि अलग सालती है और समाज में अलग बेइज्जती होती है । स्त्रीरक्षा भी अत्यन्त यत्नसाध्य कार्य है । स्वभावतः चंचल स्त्रियाँ बिना विचारे ऐसा व्यवहार, पहनावा आदि रखती हैं कि उन पर आफत आये । तब पतियों को उनकी रक्षा के लिये परेशान होते रहना पड़ता है । किसी प्रसंग में स्त्री का परिभव हो तो भी पति को दुःख होता है । पत्नी के रूप की या उसकी पाककला आदि की निंदा सुनकर पतियों को लज्जा आती है । अतः विचार करें तो स्पष्ट है स्त्री-प्राप्ति दुःखव्याप्त है । (वैपरीत्येन स्त्रियों के लिये पुंलाभ भी दुःख ही है । पति के परिवार वालों के निर्देश में रहना कष्ट । पति कमाता हो तो उसके वियोग का कष्ट । निठल्ला हो तो दारिद्र्यादि कष्ट । उसकी सेवा चाहे जितनी करें सदा असन्तुष्ट रहता है इसका कष्ट । यदि हर बात पूछे तो उसकी नादानगी का कष्ट । यदि बिना पूछे ही सब करे तो अपनी उपेक्षा का कष्ट । पुंसंसर्ग में तदिच्छानुविधानादि का कष्ट । आहारादि में कुछ अनिष्ट न हो जाये इसका ख्याल रखने का कष्ट । पति के परिभव से तो स्त्री को कष्ट स्वाभाविक है । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।) ॥ ५८ ॥ वस्त्र व आभूषण खरीदने आदि में कमाई आदि का कष्ट । फिर उनकी चोर आदि से रक्षा करने का कष्ट । अतः शौक की वस्तुओं से चाहे हम सुखाशा करें, वे तो आदि, मध्य और अवसान में दुःख ही देती हैं ॥ ५९ ॥ घर, खेत, धन आदि आवश्यक सामग्री को भी इकट्ठा करने, बनाने आदि में महान् दुःख होता है । घर का निर्माण करने में तो बड़े धैर्यवान् लोग भी झट बूढ़े हो जाते हैं । खेती करो तब तो दिन-रात का भेद ही नहीं रहता । पानी देने, रोपने आदि के समय भोजन की भी फुरसत नहीं मिलती । बँटाई पर दो तो सदा घाटा ही लगता है । यही स्थिति व्यापार व नौकरी की है । एवं च ये आवश्यक वस्तुएँ भी दुःखैकहेतु हैं ॥ ६० ॥ पुत्र, मित्र आदि अन्य प्राणियों से भी सनातन दुःख है । पुत्र पैदा न हो

जन्मनाशभयाद् दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥ ६१ ॥

राज्यभारे महद् दुःखममात्यत्वे महत्तरम् ।

दासभावे महद् दुःखं दुःखमेव विचारतः ॥ ६२ ॥

वेदमार्गेतरे मार्गे निष्ठा दुःखं तथैव च । मार्गोत्कर्षपरिज्ञाने दुःखमेव विचारतः ॥ ६३ ॥

स्वदारिद्र्ये महद्दुःखं परस्त्रीदर्शने तथा । परैः साम्ये महद्दुःखं दुःखमेव विचारातः ॥ ६४ ॥

तो इसी का दुःख । पैदा हो गया तो रोगादि से बचाने का दुःख । पढ़ने में फिसड्डी हो तो उसके भविष्य का दुःख । यदि अव्वल हो तो नज़र लगने का भय । मर जाये तब तो दुःख का क्या ठिकाना ! ऐसे ही मित्र प्रतिदिन आते रहें तो खर्चे का दुःख । न आयें तो मैत्री-समाप्ति का दुःख । घर में घुल-मिल जायें तो उनकी निर्लज्जता का कष्ट । तटस्थ रहें तो उनकी औपचारिकता से कष्ट । एवं अन्यान्य प्रकारों की परेशानियाँ भी समझनी चाहिये । अन्य प्राणियों से भृत्यादि जानने चाहिये ॥ ६१ ॥ राज्य मिल जाये तब बड़ा भारी कष्ट है ही । अपनी सुरक्षा का भय । प्रजा की सुरक्षा का कष्ट । प्रजा से बगावत का डर । पड़ोसी देशों के आक्रमण का डर । कोष खाली होने का भय । कोष भरने के उपायों से बदनामी का भय, आदि अनेक दुःख राजा को होते हैं । मंत्री बन जायें तो दुःखों की सीमा नहीं । कोई कार्य खराब हो तो प्रजा व राजा दोनों मंत्री के ही पीछे पड़ते हैं । प्रजा उस पर यों विश्वास नहीं करती कि वह राजपक्षपाती है और राजा उस पर सशंक बना रहता है कि वह स्वयं राज्य चाहता है । चाहे जितनी ईमानदारी करे चोरी का लांछन अवश्य लगता है । कार्य ठीक होने पर राजा की प्रशंसा होती है और बिगड़ने पर मंत्री की निंदा । एवं च मंत्रित्व भी परम कष्ट का कारण है । दास बनना तो साक्षत् नरक है, इसमें कहना ही क्या ? अतः उत्तम अधम चाहे जो स्थिति हो, कष्ट की सीमा नहीं ॥ ६२ ॥ यदि अवैदिक मार्ग पर निष्ठा हो गयी तो भी दुःख ही है । मरकर नरकप्राप्ति आदि दुःख तो है ही, यहाँ भी दुःख है । किसी पंथ में भूख से मरना पड़ता है, मैला रहना पड़ता है, केश-लुंचन करना पड़ता है । किसी मत में आदिपुरुष के दाँत, बाल आदि का दर्शन, परिक्रमा आदि करते रहना पड़ता है । किसी मज़हब में दिन में पाँच बार नाना आसनों के अभ्यासपूर्वक अज्ञात भाषा में प्रार्थनायें करनी पड़ती हैं, रेगिस्तान होते हुए तीर्थ करने पड़ते हैं, दार्शनिक या वैचारिक स्वातंत्र्य नहीं मिलता । किसी मार्ग में आततायी का अत्याचार सहन करना पड़ता है, मठाधीश का वचन शास्त्र मानना पड़ता है अन्यथा जला दिये जाते हैं । इस प्रकार अवैदिक-मत-निष्ठा ऐहिक आमुष्मिक द्विविध दुःखों का निदान है । और यदि पता चले कि हम जिस मत में दीक्षित हैं उससे अन्य मत उत्कृष्ट है तब तो यावज्जीवन कष्ट बना ही रहता है । अगर मतपरिवर्तन कर लिया तो पितृपैतामहमतत्याग का कष्ट होता है तथा नवीन

वायुपीडाऽग्निपीडा च तोयपीडा तथैव च ।
सर्पादिदंशने[1] पीडा दुःखमेव विचारतः ॥ ६५ ॥

भूतप्रेतपिशाचानां यक्षादीनां तथैव च । पदप्राप्तौ महादुःखं दुःखमेव विचारतः ॥ ६६ ॥

इन्द्रलोके महादुःखं प्राजापत्ये महत्तरम् ।
विष्णुलोके च रौद्रे च दुःखमेव विचारतः ॥ ६७ ॥

मत वालों के दुराव का दुःख होता है ॥ ६३ ॥ खुद दरिद्र हैं तब तो मानो सारी आफतें घनीभूत होकर अपने ही सिर पड़ जाती हैं । पराई स्त्री को देखना परम कष्टप्रद है । उसका पति तथा अपनी पत्नी दोनों शंकालु हो जाते हैं । खुद कामवेदना होती है । उस स्त्री से संपर्क करने का प्रयास करें और वह डाँट दे तो निःसीम ग्लानि होती है । अवैध संबंध हो जायें तब तो जीवनभर भय ही बना रहता है । मनःशांति का व धन का क्षय अलग है । यदि परस्त्री कुरूप आदि है तब तो देखना ही दुःख है । समाज के अन्य लोगों से यदि अपनी समानता है तो दुःख होता है कि हम में कोई वैशिष्ट्य नहीं । यदि कोई वैशिष्ट्य हो तो बाकी लोगों की ईर्ष्या का कष्ट । अतः विचार करें तो संसार कष्टमय ही है ॥ ६४ ॥ आँधी-तूफान, आग, बाढ़ आदि दैव प्रकोप पीडा देते हैं । साँप आदि जन्तु हमेशा पीडा देते हैं । और नहीं तो मच्छर, खटमल, तिलचट्टे, चूहे आदि ही रोज़ तंग करते रहते हैं ॥ ६५ ॥ भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष आदि का आवेश हो जाये तो परेशानी की इति नहीं । आजकल इनकी कुछ कमी है तो नाना प्रकार के मनोरोग, कुण्ठायें आदि दुःख देने को तैयार हैं । छोटे बच्चों को भी तनाव हो जाता है । जवानी में नैराश्य हो जाता है । प्रौढावस्था में दिशाहीनता का कष्ट उपस्थित होता है । बुढ़ापे में उपेक्षा का दुःख होता है ॥ ६६ ॥ इन्द्रलोक पहुँच जायें तब भी छुटकारा नहीं । रंभा तो एक ही है, चाहेंगे उसे सब अतः कष्ट स्वाभाविक है । किसी का अधिकार अधिक व अन्य का कम है, इससे भी कष्ट । असुरों का तथा पुण्य क्षीण होने का भय अलग । यदि कथंचित् प्रजापति बन गये तब तो आफत ही आ गयी । देव-दानव लड़ेंगे ही और हैं दोनों अपनी ही प्रजा । किसका पक्ष लें और किसे मरने दें । महादेव जी यथेच्छ वर दे देंगे, फिर प्रजापति बेचारे किसी तरह व्यवस्था बनायेंगे । विष्णुलोक में पहुँच जायें तब भी दुःख से पिण्ड नहीं छूटना । वहाँ तो वैभव का साम्राज्य है अतः तारतम्य ध्रुव है जिससे सभी कष्ट हो जाते हैं । किंच वहाँ भोगपरायण हो जायें तो अधोगति निश्चित है । यदि भोग न करें तो लगता है व्यर्थ ही यहाँ आये । ऐसे ही रुद्रलोक दुःखालय है । वहाँ तो भूत, प्रेत, पिशाच आदि का ही समाज है । उन्हें तो देखने से ही डर लगता है । फिर कभी गणेशादि स्वयं अपने पिता से लड़ बैठते हैं तो गणों को व्यर्थ ही मार खानी पड़ती है । कभी रावण आ जाये तो हिला ही डालता है । नीच राक्षसों को गणाध्यक्ष पद मिल जाता है, पुराने अनुचर देखते ही रह जाते हैं । महादेव के प्रसाद

1. घ. °दिदर्शने° ।

बहुनोक्तेन किं देहेऽहंममज्ञानवान्यदि । दुःखमेव सदा याति सुखं याति न किंचन ॥ ६८ ॥

दुःखं दुःखात्मना किंचिज्जानाति विवशः पुमान् ।
सुखात्मना च जानाति भ्रमाद् दुःखं कदाचन ॥ ६९ ॥

आत्मनस्तु स्वरूपं हि सुखं नान्यद्विचारतः[1] ।
तदज्ञानबलेनैव सुखप्रेप्सा[2] नृणां बुधाः ॥ ७० ॥

तदज्ञाने निवृत्ते तु प्राप्तमेति सुखं स्वतः ।
जहाति दुःखमप्राप्तं स्वतः सत्यं मयोदितम् ॥ ७१ ॥

दुःखमेव सदेति । उक्तरीत्या देहेऽहंममाभिमानवतः पुरुषस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रलोकान्ते संसारमण्डले सुखलेशोऽपि नास्ति । विचारतस्तु सर्वं दुःखात्मकमेवेत्यर्थः ॥ ६८ ॥ ननु वैषयिकं सुखमपि दुःखं चेद्दुःख[3]मिति किमर्थं न जानातीत्यत आह–**दुःखं दुःखात्मनेति** । वस्तुतो दुःखमपि भ्रमवशात्सुखात्मना जानातीत्यर्थः ॥ ६९ ॥ ननु रुद्रलोकावधि सर्वं दुःखात्मकं चेत् किं तर्हि सुखमित्यत आह–**आत्मनस्त्विति** । नन्वात्मनः स्वरूपमेव स्वप्रकाशसुखात्मकं चेत्तत्परित्यज्य विषयसुखलिप्सा पुरुषस्य कुत इत्यत आह–**तदज्ञानबलेनेति** ॥ ७० ॥ **तदज्ञान इति** । तस्मिन्नज्ञाने **निवृत्ते** स्वस्वरूपत्वेन पूर्वप्राप्तमेव सुखं पुनः प्राप्नोति । अज्ञानावरणेनाप्राप्तप्रायत्वात् । शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वेन प्रागप्यप्राप्तमेव दुःखमज्ञानबलात्प्राप्तमिव प्रतिभासमानं[4] पुनर्जहाति । ज्ञानेनाज्ञानस्य निवर्तनादित्यर्थः ॥ ७१ ॥

पर चण्डेश्वर आदि पहले अपना ही अधिकार रखते हैं । उन सब से बचे तो कुछ मिले । गलती से शिव-पार्वती का कोई रहस्य-संवाद सुन लिया तो झट शाप मिल जाता है । अतः उत्तमरूप से प्रसिद्ध लोक भी दुःखमय ही हैं ॥ ६७ ॥

बहुत विस्तार करने से क्या लाभ ? सार बात तो यही है कि यदि शरीर को 'मैं' और 'मेरा' समझते हैं तो सदा दुःख ही पाते हैं, कुछ भी सुख प्राप्त नहीं होता ॥ ६८ ॥

कुछ दुःखों को तो मनुष्य दुःखरूप से समझता है और उनसे दूर रहने की कोशिश करता है किंतु बहुधा भ्रमवश दुःखों को सुख समझता है और स्वभावतः उनकी ओर बढ़ता है तथा कष्ट पाता रहता है ॥ ६९ ॥

विचार कर देखें तो यह निश्चित है कि केवल आत्मा का स्वरूप ही सुख है, उससे अतिरिक्त कुछ सुख नहीं है । उसे न जानने से ही लोगों को सुख पाने की इच्छा होती है ॥ ७० ॥ आत्मा का अज्ञान निवृत्त हो जाने पर स्वतः प्राप्त सुख की ही प्राप्ति और स्वतः अप्राप्त दुःख की ही निवृत्ति हो जाती है । यह सत्य बात मैंने कही है ॥ ७१ ॥ अज्ञान की समाप्ति ज्ञान से ही संभव है, कर्म से नहीं । और ज्ञान भी वेदान्तवाक्यों से होने वाला शिवात्मैक्यज्ञान ही है । वह ज्ञान उसे ही होता है जिसे सारे संसार से वैराग्य है । रागी

---

१. सोऽयं विचारो मैत्रेयीब्राह्मणे व्यक्तः । २ ङ. "प्सावशः पुमान् ॥ ७० ॥ ३ ङ. "खमपि कि" । ४ ग. "तिभाति न पु" ।

अज्ञानस्य निवृत्तिश्च ज्ञानादेव न कर्मणा । ज्ञानं नाम महादेवज्ञानं वेदान्तवाक्यजम् ॥

विरक्तस्य हि संसाराज्ज्ञानं नान्यस्य कस्यचित् ॥ ७२ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।

तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ७३ ॥

वैराग्यहीनस्य न सत्यवेदनं न मुक्तिसिद्धिर्न च बन्धनच्छिदा ।

न धर्मसिद्धिश्च ततः पुरातनैरिदं विशिष्टं कथितं कृपाबलात् ॥ ७४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे वैराग्यविचारो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

सूत उवाच—अथानित्यं प्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।

यज्ज्ञानेनैव संसाराद्वैराग्यं जायते हृदि ॥ १ ॥

इत्थं वैराग्यं सप्रपञ्चं निरूप्य तस्य वेदान्तवाक्यजनितज्ञानं प्रति साधनत्वमाह—**विरक्तस्ये**ति । उक्तविधवैराग्यसंपन्नस्य सर्वविषयविक्षेपोपशमनान्निर्वातनिष्कम्पदीपसदृशेनैकाग्र्येण मनसा सूक्ष्मतत्त्वं साक्षात्क्रियते नान्यस्य विक्षिप्तचित्तस्येत्यर्थः ॥ ७२ ॥ अस्मिन्नर्थे प्रमाणभूतां श्रुतिमपि संगृह्णाति—**यदा सर्व** इति । श्रूयते हि—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः[१] । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति ॥ पुरुषस्यान्तःकरणावस्थितस्य स्वर्गादिसर्वभोगविषयस्य रागजातस्य प्रविलयो यदा भवत्यनन्तरमेव स मर्त्यो मरणधर्मकाद्देहाद्विरक्तः संस्तस्मिन्नेव देहे ब्रह्म भवतीत्यर्थः ॥ ७३ ॥ **न च बन्धनच्छिदे**ति । छिदा छेदः । भिदादित्वादङ् ॥ ७४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकाख्यटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे वैराग्यविचारो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

एवं वैराग्यस्य ज्ञानसाधनत्वं निरूप्य नित्यानित्यवस्तुविवेकस्यापि वैराग्यजननद्वारा ज्ञानोत्पत्तिसाधनत्वं प्रतिपादयितुं तावदनित्यं वस्तु विभजति—**अथानित्यमि**त्यादिना । **यज्ज्ञानेने**ति । ऐहिकामुष्मिकस्य विषयस्य नश्वरत्वेऽवगते हि नित्यनिरतिशयं स्वरूपसुखं प्राप्तुकामः पुरुषस्ततो विरज्यते[२] । ततोऽनित्यत्वज्ञानात्तत्र वैराग्यं जायत इत्यर्थः ॥ १ ॥

को स्वप्न में भी ज्ञान होना असंभव है ॥ ७२ ॥ जब मन की सब कामनायें समाप्त हो जाती हैं तभी पुरुष ज्ञान पाकर अमर बनता है और जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ७३ ॥ जिसे वैराग्य नहीं है उसे न सत्य का ज्ञान होता है, न मोक्ष मिलता है, न बंधननिवृत्ति होती है और न ही धर्मप्राप्ति होती है । अतः प्राचीन आचार्यों ने कृपापूर्वक वैराग्य की विशेषता प्रकाशित की है ॥ ७४ ॥

अनित्यवस्तु-विचार नामक अठारहवाँ अध्याय

सूत जी ने आगे कहा—अब मैं संक्षेप में आपको अनित्यता के सम्बन्ध में बताता हूँ । अनित्यता समझ लेने से ही संसार से वैराग्य हो जाता है ॥ १ ॥

---

१ ख. स्थिताः । २ ङ. ते । अतोऽ° ।

अनात्मा जडरूपो यः स एवानित्यमुच्यते । अनात्मनामनित्यत्वं घटादीनां जडात्मनाम् ।
आबालपण्डितं दृष्टं यतोऽतः पण्डितोत्तमाः ॥ २ ॥
कार्यस्यैव ह्यनित्यत्वं वर्णयन्तीह केचन । न तद्युक्तमकार्यस्याप्यनित्यत्वप्रसिद्धितः ॥ ३ ॥
अकार्यस्य घटादीनां प्रागभावस्य जन्तुभिः । दृष्टमेव ह्यनित्यत्वं नादृष्टं पण्डितोत्तमाः ॥ ४ ॥
भावरूपस्य कार्यत्वमनित्यत्वे प्रयोजकम् ॥ ५ ॥

विमतो जडवर्गोऽनित्योऽनात्मत्वाद् घटवदित्यभिप्रेत्याऽऽह–अनात्मेति । यो जडरूपो वियदादिभूतभौतिकोऽनात्मप्रपञ्चः (स एव) घटपटादिवदनात्मत्वसाम्यादनित्य इत्यर्थः । अनात्मत्वानित्यत्वयोर्व्याप्तिमुपपादयति–आबालेति ॥ २ ॥ उक्तानुमान उपाधिमाशङ्कते–कार्यस्येति । घटपटादेः कृतकत्वादनित्यत्वं न त्वनात्मत्वात् । अतो वियदादेरनित्यत्वं कथं स्यादित्यर्थः । अयमाशयः – अनित्यत्वलक्षणे साध्ये कृतकत्वमुपाधिः । यत्रानात्मत्वं तत्र कृतकत्वमिति साधनव्याप्तिर्नास्ति । मायायां प्रागभावादिष्वनात्मत्वमस्ति कृतकत्वाभावात्[1] । अतः साधनाव्यापकत्वम् । दृष्टान्ते सर्वत्र यत्रानित्यत्वं तत्र कृतकत्वमिति व्याप्तिसद्भावात्साध्यव्यापकत्वम् । साधनाव्यापकत्वे सति साध्यस्य व्यापकत्वमिति हि तल्लक्षणम् । तस्मादनात्मकत्वादनित्यत्वं न भवतीत्यर्थः । साध्यव्यापकत्वाभावेनोपाधिं दूषयति– न तद्युक्तमिति । घटप्रागभावस्यानित्यत्वे सत्यपि तस्यानादित्वेन कृतकत्वाभावात्साध्याव्यापकत्वमित्यर्थः । अक्षरार्थस्तु कार्यत्वादेवानित्यत्वमिति यत्तन्न युक्तम् । अकार्यस्यापि क्वचिदनित्यत्वदर्शनात् । घटप्रागभावस्य हि घटोत्पत्तिनिवर्त्यस्यानित्यत्वं सर्वैरप्यनुभूयते । न चासौ कृतकस्तस्यानादित्वादिति ॥ ३–४ ॥

जो जड अनात्मा है वह अनित्य है क्योंकि जड अनात्मा घट आदि अनित्य ही देखे गये हैं । बच्चों से पण्डितों तक सब इसमें साक्षी हैं कि अनात्मा घट आदि सब वस्तुएँ अनित्य हैं ॥ २ ॥ कुछ विचारक कहते हैं कि केवल कार्य ही अनित्य होते हैं (सब जड वस्तुएँ नहीं) । किन्तु यह मान्यता गलत है क्योंकि जो कार्य नहीं हैं वे भी अनित्य देखे गये हैं । घट आदि का प्रागभाव अनादि होने से कार्य तो नहीं है किन्तु घटोत्पत्ति से नष्ट हो जाने के कारण अनित्य है ही ॥ ३–४ ॥ यह भी नहीं कहना चाहिये कि भावरूप वस्तु वही अनित्य होती है जो कार्य हो; क्योंकि भाव हो या अभाव, वस्तु की अनित्यता में जडता ही पर्याप्त हेतु है । (किं च कार्य कहते हैं प्रागभावप्रतियोगी को जो अनित्यताविशेष ही है । अतः अनित्यता सिद्ध करने में कार्यता को हेतु बनाने पर हेतु साध्यसम होगा । जब जडता अर्थात् अनात्मता इस एक हेतु से भाव-अभाव साधारण सब की अनित्यता सिद्ध हो जाती है तब भाव और अभाव के लिये पृथक्-पृथक् हेतु मानने में गौरव है ।) दिक्, काल, आकाश आदि अनात्मवस्तुजात की अनित्यता इनकी उत्पत्ति बताने वाली श्रुति ने स्पष्ट कर दी है । तर्क वही उचित होता है जो श्रुति का (प्रमाण

---

१ कृतकत्वाभावेऽपीत्यर्थः ।

अपि सर्वस्य पूर्वोक्तमनात्मत्वं प्रयोजकम् । दिक्कालाकाशपूर्वाणामनित्यत्वमनात्मनाम् ॥ ६ ॥

श्रुतयोऽनित्यतामेषां प्रवदन्ति हि सादरम् ।

श्रुत्यनुग्राहकस्तर्को न स्वतन्त्र इति स्थितिः ॥ ७ ॥

दृष्टसाम्येन वेदज्ञाः खलु तर्कोऽर्थसाधकः । श्रुतिरन्यानपेक्षा हि द्विजेन्द्रा अर्थसाधिका ॥ ८ ॥

अथ [1]साध्यविशिष्टोपाधेः[2] साध्यव्यापकत्वमुपपादयति– भावरूपस्येति । भावत्वे सत्यनित्यत्वं तत्कृतकत्वं न व्यभिचरतीति साध्यव्यापकं कृतकत्वमेवानित्यत्वे प्रयोजकमित्यर्थः । एवमपि साधनाव्यापकत्वाभावेनोपाधिं दूषयति– अपि सर्वस्येति । भावत्वे सत्यनित्यत्वस्य यद्यपि कार्यत्वं प्रयोजकम् (तथाऽपि) भावाभावात्मकस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्यानात्मत्वादेवानित्यत्वं सेत्स्यतीत्यर्थः । [3]अयमभिप्रायः–न तावत्कृतकत्वोपाधेः साधनाव्यापकत्वमुपपादयितुं शक्यम् । ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तघटादिप्रागभावविय‍दादिषु[4] ब्रह्मकार्यत्वश्रवणान्मायायाश्चोपाधि[5]वादिनाऽनङ्गीकारादतोऽनात्मत्वलक्षणसाधनवतो हेतोः सर्वत्र व्याप्यवृत्तेर्न साधनाव्यापकत्वमित्यर्थः । एषां ब्रह्मकार्यत्वमेवोपपादयति– दिक्कालेति । एषां दिक्कालादीनामनात्मनामेव श्रुतयो ब्रह्मकार्यत्वप्रतिपादनेनानित्यत्वं प्रकटयन्ति तस्मान्नित्यत्वं नोपपद्यत इत्यर्थः । श्रूयते हि–'पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्', 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि', 'कला मुहूर्ताः काष्ठाश्च[6], अहोरात्राश्च सर्वशः', 'आत्मन आकाशः संभूतः', 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' इति । एवमादीनि वाक्यानि ब्रह्मणः सकाशाद्दिगादीनामुत्पत्तिं प्रतिपादयन्ति । ननु यद्याकाशादिकं घटादिवदनित्यं स्यात्तर्हि तदेव स्वसमान्यूनपरिमाणेन सजातीयद्रव्यान्तरेण स्थितं च स्यान्न च तथाविधमारम्भकम्[7] । सजातीयद्रव्यान्तरेणाऽऽरब्धमपि च स्यान्न च तथाविधमारम्भकं द्रव्यान्तरमस्ति । तस्मादनित्यं न भवतीत्यनित्यत्वाभावस्तर्कबलादवगम्यत इत्याशङ्क्याऽऽह– श्रुत्यनुग्राहक इति । श्रुत्यर्थानुसार्येव तर्कः प्रमाणम् । उक्तश्च तर्कस्तद्विरुद्धमेवार्थं स्वातन्त्र्येण प्रतिपादयतीति प्रमाणं न भवतीत्यर्थः ॥ ५–७ ॥ ननु तर्कस्यापि श्रुतिवत्स्वातन्त्र्येण प्रमेयव्यवस्थापकत्वं किं न स्यादित्यत आह– दृष्टसाम्येनेति । आपाद्यापादकयोर्बहुशोऽनुभूतत्वात्तत्साम्येन तर्को विप्रतिपन्नविषयेऽप्यापादको बलादापाद्यमर्थमुपस्थापयति । श्रुतिस्तु दृष्टसाम्यं विनाऽपि मानान्तरानधिगतमर्थं स्वातन्त्र्येण प्रतिपादयति । अतोऽन्यसापेक्षात्तर्कादन्यानपेक्षा श्रुतिरेवार्थव्यवस्थापिका ॥ ८ ॥ ननु श्रुतेरपि संगतिग्रहणादौ

का) अनुग्राहक हो । श्रुतिनिरपेक्ष तर्क कुछ सिद्ध नहीं कर सकता यह सभी तांत्रिकों को संमत है ॥ ५–७ ॥ हे वेदवेत्ताओ ! तर्क तो अनुभूत वस्तुओं की समानता के आधार पर ही अर्थ की संभावना कराता है जबकि श्रुति बिना किसी के सहारे ही अर्थ का प्रतिपादन करती है । अतः श्रुति तर्क से बलवती है । (मीमांसा में बादरायणसंमत नियम बताया गया है : शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है । धर्म का ज्ञान शास्त्र से होता है तथा शास्त्रप्रोक्त अर्थ का बाध होता नहीं और वह विषय अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता नहीं । साथ ही शास्त्र किसी ज्ञान या पुरुष की अपेक्षा करता नहीं है । अतः शास्त्र निर्दोष प्रमाण है । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (जै. सू. १.१.५) । एवं च निरपेक्ष होने से ही शास्त्र की बलवत्तम प्रमाणता है ।) ॥ ८ ॥ ब्रह्म, धर्म और अधर्म प्रत्यक्षादि

---

१ क. ग. ङ. छ. ज. °साध्यं वि° । २ क. ग. घ. ङ. च. छ. ज. °शिष्टमुपा° । ३ ख. ङ. अथ साधनव्यापकत्वमाह–न । ४ ङ. °षु सर्वस्य ब्र° । ५ घ. °धित्वे तत्त्ववा° । ६ ख. घ. ङ. च. ङ. ज. °काष्ठाः, अ° । ७ ख. घ. ङ. च. छ. ज. °म्भकं द्र° ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां पञ्चानां पण्डितोत्तमाः । अगम्यं ब्रह्म धर्मश्चाधर्मः श्रुत्यैव गम्यते ॥ ९ ॥
अन्तरेण श्रुतिं बोद्धुं यतन्तेऽतीन्द्रियं पदम् ॥
ते करेणापि माधुर्यं जानन्त्येव सुनिश्चितम् ॥ १० ॥
पुरा कश्चिन्महामूर्खः संगिरो नाम वाडवः । पूर्वजन्मकृतात्पापाद्वेदश्रद्धाविवर्जितः ॥ ११ ॥
तर्कशास्त्ररतः साक्षाद् ब्रह्मातीन्द्रियमव्ययम् । धर्माधर्मौ च तर्केण केवलेन मुनीश्वराः ॥ १२ ॥
अक्लेशेन परिज्ञातुमकरोद्यत्नमुत्तमम् । तर्को नानाविधस्तस्य प्रतिभातो मुनीश्वराः ॥ १३ ॥
तेन मोहावृतः सद्यः संगिरो मुनिपुंगवाः । चकार दीक्षां पाषण्डमार्गे श्रद्धापुरःसरम् ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरसापेक्षत्वादन्यानपेक्षत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह–प्रत्यक्षादीति । श्रुतिर्यद्यपि संगतिग्रहणादौ प्रत्यक्षादिकं प्रमाणान्तरमपेक्षते[1] । 'शब्दो वृद्धान्विधेयांश्च प्रत्यक्षेणानुपश्यति । श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टयेत्' ॥ इत्यादिना संगतिग्रहणसमये शब्दस्य तत्सापेक्षत्वस्य भट्टाचार्यैरुक्तत्वात् । तथाऽपि पदानामेव पदार्थैः संगतिग्रहणं न तु वाक्यानां वाक्यार्थे तेषामानन्त्याद्व्यभिचाराच्च[2] । अतः श्रुतिवाक्यं प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनधिगतं ब्रह्म धर्माधर्मादिकं च स्वातन्त्र्येणैव वाक्यार्थत्वेन प्रतिपादयति । न हि तादृशोऽर्थस्तर्कशतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यः ॥ ९ ॥ ईदृग्विधे विषयेऽपि श्रुतिं विहाय प्रमाणान्तरैर्ये जिज्ञासन्ते तानुपहसति–अन्तरेणेति ॥ १० ॥ इत्थं श्रुत्यर्थविरोधिस्वतन्त्रतर्कस्य पुरुषार्थव्यवस्थापकत्वाभावमभिधायाथ तस्य प्रत्युतानर्थहेतुत्वज्ञापकमितिहासमुपपादयति–पुरा कश्चिदित्यादिना ॥ ११–१४ ॥

पाँचों प्रमाणों के विषय नहीं किन्तु श्रुति के ही विषय हैं । (जो तो जन्मादिसूत्र में भाष्य है 'श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्' वह भी श्रुत्यनुकूल ही अनुमानादि का अनुमोदक है । समन्वयभाष्य में कहा है 'न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्' । सिद्धान्त यह है कि प्रमाण विरोधी नहीं हो सकते 'न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुद्ध्यते' (बृ. भाष्य २.१.२०) । श्रुति प्रमाण है इसमें कोई संदेह नहीं । अब अनुमान आदि वे ही प्रमाण हो सकते हैं जो श्रुति के अविरुद्ध हों । विरुद्ध होने पर वे अनुमानाबाभास ही होंगे । श्रुत्युक्तार्थबोधकतया उनमें अनुवादकता भी आ जाती है । अतः यहाँ सीधे ही ब्रह्म को धर्म की तरह श्रुत्येकविषय कह दिया है ।) ॥ ९ ॥ जो दुर्विदग्ध श्रुति का आलंबन लिये बिना अतीन्द्रिय विषयों को (ब्रह्म व धर्म को) समझना चाहते हैं वे शायद जीभ के बिना हाथ से ही मिठास भी जान लेते होंगे ! ॥ १० ॥

प्राचीन काल में एक संगिर नाम का महामूर्ख ब्राह्मण था । पूर्व जन्म में किये पापसंस्कारों के फलस्वरूप उसे वेद में कतई श्रद्धा नहीं थी ॥ ११ ॥ वह तर्कशास्त्र में मेहनत करता था । अतीन्द्रिय अव्यय ब्रह्म को तथा धर्माधर्म को वह अध्ययन के परिश्रम के बिना केवल तर्क से समझने की कोशिश करता था । नाना प्रकार के तर्क उसकी बुद्धि में आते रहते थे । अतः वह विवेकभ्रष्ट हो गया और उसने श्रद्धापूर्वक पाखण्ड मार्ग में (अवैदिक मत में) दीक्षा ग्रहण की ॥ १२–१४ ॥ किन्तु तर्क तो चंचल होता

१ ख. ग. ०माणम० । २ प्रतिवाक्यं शक्तिर्ग्रहीतव्या भवेत्तच्चासंभवि वाक्यानामानन्त्यात् । वाक्यार्थश्च विशिष्ट इति प्रत्येकं घटमानयेति वाक्यस्यान्य एवार्थ इति वाक्यार्थस्य व्यभिचाराद् भेदादित्यर्थः ।

पुनस्तर्काप्रतिष्ठानात्संगिरोऽतीव मोहितः । चकार दीक्षां पाषण्डविशेषेषु यथारुचि ॥ १५ ॥

पुनस्तर्काप्रतिष्ठानान्मायया परिमोहितः । त्यक्त्वा पाषण्डमार्गं च चचार च यथारुचि ॥ १६ ॥

पुनर्मोहावृतः साक्षात्स्वसारं मातरं तथा ।

गत्वा ममार कालेन संगिरः [1]साहसी[2] द्विजः ॥ १७ ॥

अत्युग्रा अतिसंनद्धा यमदूता भयंकराः । संगिरं तु समादाय शीघ्रं विप्रा यमं ययुः ॥ १८ ॥

यमस्तं संगिरं क्रुद्धो विलोक्याऽऽह भयंकरम् ।

यथाशक्ति भटा एष पीड्यतां मम संनिधौ ॥ १९ ॥

इति प्राह यमः सोऽपि संगिरो यमकिंकरैः ।

अतीव पीडितो विप्रा अभवच्च विचेष्टितः ॥ २० ॥

पुनश्च तीक्ष्णया वाचा यमः प्राह सुदारुणम् ।

भिद्यतां संगिरो दुष्टश्छिद्यतां दह्यतामयम् ॥ २१ ॥

इक्षुयन्त्रादिषु ह्येष पीड्यतामनिशं भटाः । अन्यैर्नानाविधैः क्रूरैरुपायैः पीड्यतामिति ॥ २२ ॥

पुनस्तर्काप्रतिष्ठानादिति । आगमनिरपेक्षस्य शुष्कतर्कस्य पुरुषोत्प्रेक्षामूलत्वात्तस्याश्चानवस्थितत्वात्तन्मूलस्तर्कोऽप्यनवस्थित इत्यर्थः । उक्तं हि–'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः । अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते' इति ॥ १५–६४ ॥

है । संगिर को उस मार्ग में भी अनुपपत्तियाँ सूझने लगीं । तब उसने अन्यान्य पाखण्ड मार्ग अपनाये । वह अपनी रुचि अर्थात् ऊहा के अनुसार सिद्धान्त स्वीकार लेता था ॥ १५ ॥ शनैः शनैः उसकी तर्ककुशल बुद्धि ने सभी मार्गों से अश्रद्धा करा दी और उसने पाखण्ड मार्ग भी छोड़ दिये व केवल अपनी इच्छा का अनुसरण करने लगा ॥ १६ ॥ अत्यन्त अविवेक ने उस पर अधिकार कर लिया । उसने जाकर अपनी सगी माँ व बहन की भी (धन आदि के लोभ से) हत्या कर दी और साहसी वृत्ति से (डकैती आदि करते हुए) रहने लगा ॥ १७ ॥ यथाकाल उग्रतर यमदूत उसे लेकर यमराज के सम्मुख ले गये ॥ १८ ॥ यम ने सक्रोध संगिर का अवलोकन किया और यह भयंकर आदेश दिया 'हे भटो ! इस संगिर को जितनी अधिक से अधिक पीडा तुम पहुँचा सकते हो उतनी पीडा मेरे सामने इसे पहुँचाओ ।' ॥ १९ ॥ इस प्रकार आज्ञा पाकर यमसेवकों ने उसे अत्यधिक पीडित किया और वह निश्चेष्ट हो गया ॥ २० ॥ यमराज ने पुनः उसे पीटने, काटने और जलाने की आज्ञा दी और कहा कि अन्य भी विविध तरीकों से इसे कष्ट दो ॥ २१–२२ ॥ अतः संगिर नाना यातनाओं को नरक में भोगने लगा ॥ २३ ॥ एक करोड़ सालों तक वह इसी प्रकार अत्यन्त पीडा पाता रहा । तदनन्तर किसी पूर्वपुण्योदय और

---

१ घ. सहसा । २ घ. °हसाद् द्विजः° ।

संगिरो यमदूतैश्च क्रमेण नरकार्णवे । यन्त्रैर्नानाविधैरन्यैरुपायैरतिदारुणैः ॥ २३ ॥
अतीव पीडितो विप्रा अभवत्कोटिवत्सरम् । पुराकृतमहापुण्यपरिपाकबलेन च ॥ २४ ॥
प्रसादादेव रुद्रस्य शिवस्य परमात्मनः । अकस्मादागतस्तत्र महातेजा महामतिः ॥ २५ ॥
शंभुभक्तः शतानन्दो नाम्ना शंभुरिवापरः ।
स पुनः पीड्यमानं तं विलोक्य करुणाबलात् ॥ २६ ॥
प्राहों नमः शिवायेति मन्त्रराजं षडक्षरम् ।
तदैव नरकः साक्षात्स्वर्गलोकोऽभवद् द्विजाः ॥ २७ ॥
पुष्पवृष्टिरभवत्सुमङ्गला[1] सिद्धयक्षमुनयः सनातनाः ।
तत्र नृत्तमतिशोभनं मुदा चक्रुरग्निविमला विचक्षणाः ॥ २८ ॥
नृत्तगीतमुखरा अपि द्विजा अप्सरोभिरतिशोभनाः सह ।
यक्षकिंनरपुरःसरा भृशं नृत्तगीतसुखभोगिनोऽभवन् ॥ २९ ॥
देवैरशेषैरमराधिपः स्वयं सह प्रमोदेन ननर्त शोभनम् ।
प्रजापतिश्चापि ननर्त भार्यया श्रिया च विष्णुः सह मोदसंयुतः ॥ ३० ॥
यमोऽतिभीतः परमेश्वराज्ञया प्रवर्तमानश्च कृताञ्जलिर्द्विजाः ।
सह स्वकीयैरपि कम्पितः स्वयं बहुप्रणामं शिवशङ्कयाऽकरोत् ॥ ३१ ॥
यमं शतानन्दसमाह्वयो मुनिर्विलोक्य भीतं कृपयैव केवलम् ।
विमुञ्च भीतिं यम शंकराज्ञया प्रवर्तमानेति वचः सुखावहम् ॥ ३२ ॥

रुद्रकृपा से वहाँ अकस्मात् शतानन्द नामक शिवभक्त मुनि पधारे । उन्होंने संगिर की पीडा देख करुणावश 'ॐ नमः शिवाय' इस षडक्षर मन्त्रराज का उच्चारण किया । उसी क्षण वह नरक साक्षात् स्वर्ग ही बन गया ॥ २४–२७ ॥

सुमंगल फूल बरसने लगे । सिद्ध, यक्ष तथा मुनि लोग आनंद से नृत्य करने लगे । अन्य द्विज भी नाच-गान कर रहे थे । अति सुंदर यक्ष, किन्नर आदि सब अप्सराओं सहित नृत्यादि का आनंद ले रहे थे ॥ २८–२९ ॥ अन्य देवताओं समेत इंद्र तथा अपनी-अपनी पत्नियों सहित ब्रह्मा व विष्णु भी प्रमोदातिरेक से नाचने लगे ॥ ३० ॥ परमेश्वर की ही आज्ञा से सब कार्य करने वाले यमराज और उनके सेवक अत्यन्त भयभीत हो उठे और शतानंद को शंकर मानकर उन्हें बार-बार प्रणाम करने लगे ॥ ३१ ॥ शतानंद ने यम से कहा 'शिवाज्ञा से स्वकार्य करने वाले यमराज ! भय मत करिये ।'–इस प्रकार के

---

१ ङ. ०ला यक्षसिद्धमु० ।

अब्रवीदशुभप्रतिभापहः शुद्धबोधसुखवस्तुनि स्थितः ।
तद्वचः श्रवणभग्नसंशयो निर्भयश्च तरसाऽभवद्यमः ॥ ३३ ॥
पुनः शतानन्दसमाह्वयो मुनिर्यमं समाहूय समस्तसंनिधौ ।
इदं बभाषे वचनं सुखावहं समस्तलोकस्य मुनीश्वरेश्वरः ॥ ३४ ॥
शतानन्द उवाच— विष्णुप्रजापतीन्द्रादिदेवताभ्यो महेश्वरम् ।
विशिष्टं यो विजानाति तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ३५ ॥
शिवरुद्रादिशब्दं यो विशिष्टं वेद मानवः । नारायणादिशब्देभ्यस्तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ३६ ॥
उमया सहितां शुद्धां त्रिनेत्रां चन्द्रशेखराम् ।
परस्य मूर्तिं यो वेद तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ३७ ॥
समस्तजगतो मूलं समस्तस्यावभासकम् ।
यो वेदाऽऽत्मतया नित्यं तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ३८ ॥
त्रिपुण्ड्रं भस्मना स्कन्धे ललाटे च तथा हृदि ।
यो दधाति महाप्रीत्या तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ३९ ॥
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मनैवावगुण्ठितम् । यः करोति स्वकं देहं तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ४०॥
नित्यं लिङ्गे महादेवं साक्षात्संसारमोचकम् ।
आराधयति यो मर्त्यस्तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ४१ ॥

वचन से जो यम को अपने अशुभ की आशंका हो गयी थी वह निवृत्त हो गयी । (यम ने सोचा था कि संभवतः मेरी किसी गलती का दण्ड देने महादेव आये हों । किंतु शतानंद के वचन सुनकर उनकी भीति जाती रही ।) शतानंद तो शुद्ध ज्ञान व सुखरूप परम तत्त्व में ही स्थित थे, उन्हें किसी से क्या शिकायत ? अतः यम निर्भय हो प्रकृतिस्थ हुए ॥ ३२–३३ ॥ शतानंद महामुनि ने सभी के समक्ष सारे संसार को सुख पहुँचाने वाले ये वचन यम को सुनाये ॥ ३४ ॥

शतानन्द बोले—हे यमराज ! जो कोई भी व्यक्ति विष्णु, प्रजापति, इंद्र आदि देवताओं की अपेक्षा महेश्वर को स्वतंत्र प्रभु समझता है, उसे तुम अपने साम्राज्य में मत रखना, (उसकी गति रुद्रलोक है) ॥ ३५ ॥ नारायणादि शब्दों की अपेक्षा जो शिव, रुद्र आदि शब्दों को श्रेष्ठ समझता है और यह निश्चय रखता है कि वे शब्द ही फल देने में समर्थ हैं, उसे तुम अपना वश्य मत समझना ॥ ३६ ॥ उमासहित शुद्ध त्रिनेत्र चन्द्रभूषण मूर्ति को जो साक्षात् प्रभु समझता है उसे तुम अपने शासनक्षेत्र से बाहर ही रखना ॥ ३७ ॥

रुद्राक्षं त्रीणि[1] षड्वैकं[2] परया श्रद्धया सह ।
दधाति नित्यं यो मर्त्यस्तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ४२ ॥
शान्तिदान्त्यादिसंयुक्तः शंकरे भक्तिसंयुतः ।
यः सर्वकर्मसंन्यासी तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ४३ ॥
वेदान्तश्रवणं नित्यं मननं चिन्तनं तथा ।
यः करोति महाप्रीत्या तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ४४ ॥
वेदवेदान्तनिष्ठस्य गुरोः शुश्रूषणे रतः ।
यः करोतीह शुश्रूषां[3] तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ४५ ॥
यज्ञदानतपो[4] होमस्वाध्यायाध्ययनादिभिः[5] ।
यो रुद्रं यजते प्रीत्या तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ४६ ॥
श्रौतस्मार्तसदाचारैरन्यैरपि शिवार्चनम् । यः करोति महाप्रीत्या तं त्वं परिहर प्रभुम् ॥ ४७ ॥

जो व्यक्ति सारे संसार के कारण, सबके प्रकाशक प्रभु को अपना आत्मा मानता है, उसे तुम छोड़ देना ॥ ३८ ॥ जो व्यक्ति उत्कृष्ट फल देने में समर्थ त्रिपुण्ड्र भस्म से हृदय, कंधे व माथे पर लगाता है, वह तुम्हारा विषय नहीं यह याद रखना ॥ ३९ ॥ जो व्यक्ति 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों से अपने शरीर को भस्मोद्धूलित करता है उसे तुम अपना प्रभु ही समझना और छोड़ देना ॥ ४० ॥ जो प्रतिदिन स्वयं संसारसमापंक प्रभु महादेव का पूजन शिवलिंग पर करता है उसे अपने पाश से कभी न बाँधना ॥ ४१ ॥ जो व्यक्ति अत्यन्त शक्तिशाली तीन, छह या एक भी रुद्राक्ष को धारण करता है उसे तुम छोड़ देना ॥ ४२ ॥ जो सर्वकर्मसंन्यासी शम, दम आदि का अभ्यासी और शंकर में प्रेम रखता हो उसे तुम अपना आदरणीय मानना और उसे अपनी शासित कोटि में न समझना ॥ ४३ ॥ जो कोई भी व्यक्ति प्रतिदिन परम श्रद्धापूर्वक वेदान्त का श्रवण, मनन और विचार करता हो उसे तुम श्रेष्ठ समझ कर छोड़ देना ॥ ४४ ॥ वेद व वेदान्त के ज्ञाता गुरु की सेवा-शुश्रूषा में जो तत्पर हो उसे भी तुम उत्तम मानकर छोड़ देना ॥ ४५ ॥ जो व्यक्ति यज्ञ, दान, तप, होम, स्वाध्याय (वेदजप), अध्ययन (सच्छास्त्र पढ़ना) आदि द्वारा प्रभु रुद्र की पूजा प्रेम से करता हो (अर्थात् इन सबको शिवपूजा मानकर इनका प्रेमपूर्वक अनुष्ठान करता हो) उसे तुम अपने वशों में मत समझना ॥ ४६ ॥ अन्य श्रौत व स्मार्त सदाचारों द्वारा भी जो भक्तिवश शिवार्चन करता हो उसे तुम स्वयं प्रभु समझ कर छोड़ देना ॥ ४७ ॥

जो व्यक्ति प्रेम से सदा यह न कहता हो कि सब देवों से महादेव उत्कृष्ट हैं उस दुर्जन को तुम

---

१ य. °णि वा चैक° । २ च. छ. षट्कैकं । ३ प्रथमः शुश्रूषाशब्दः सेवापरः । द्वितीयस्तूपदेशश्रवणश्रद्धां ब्रूते । ४ ख. °तपः कर्मस्वा° । ५ ज. °याध्यापना° ।

उत्कर्षं सर्वदेवेभ्यः शिवस्य परमात्मनः ।
यो न वक्ति सदा प्रीत्या तं त्वं घातय दुर्जनम् ॥ ४८ ॥
महादेवसमं विष्णुं ब्रह्माणं चान्यमेव वा ।
मनुते यः स्वमोहेन तं त्वं घातय दुर्जनम् ॥ ४९ ॥
श्रौतस्मार्तसदाचाराञ्श्रद्धयैव दिने दिने ।
यो नाऽऽचरति मोहेन तं त्वं घातय दुर्जनम् ॥ ५० ॥
मानुषं दैविकं चान्यत्स्वशरीरेऽङ्कनं नरः ।
यः करोति प्रमादाद्वाऽपि तं त्वं घातय दुर्जनम् ॥ ५१ ॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिशूलं वा वर्तुलं यस्तु वैदिकः ।
दधाति मोहतो वाऽपि तं त्वं घातय दुर्जनम् ॥ ५२ ॥
अश्रौताचारसंपन्नः श्रौताचारपराङ्मुखः ।
गुरुद्रोही च यो मर्त्यस्तं त्वं घातय दुर्जनम् ॥ ५३ ॥
उत्कर्षं वेदमार्गस्य यो न जानाति मानवः ।
वेदादन्यस्य चोत्कर्षं तं त्वं घातय दुर्जनम् ॥ ५४ ॥
सूत उवाच– एवमुक्त्वा मुनिः श्रीमाञ्शतानन्दसमाह्वयः ।
कैलासमगमद्रुद्रं [1]तत्र स्तोतुं कुतूहलात् ॥ ५५ ॥

अवश्य मारना ॥ ४८ ॥ जो व्यक्ति अपने अविवेकवश विष्णु, ब्रह्मा या अन्य किसी को महादेव के समान मानता हो उस दुर्जन को तुम अवश्य मारना ॥ ४९ ॥ जो दुष्ट मनुष्य प्रतिदिन श्रद्धा सहित श्रौत व स्मार्त सदाचारों का पालन न करता हो उसे तुम अवश्य मारना ॥ ५० ॥ जो व्यक्ति अपने शरीर पर किसी मानुष या दैवीय (शंखादि) चिह्न तपी मोहर आदि द्वारा लगवा ले उस दुर्जन को तुम अवश्य मार देना ॥ ५१ ॥ जो वैदिक होते हुए ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिशूल या गोलाकार तिलक धारण करे उस दुर्जन को तुम जरूर मारना ॥ ५२ ॥ जो दुष्ट पुरुष अश्रौत आचार में लगा रहे, श्रौत आचरण न करे और गुरुद्रोही हो, उसे तुम अपना विषय बनाना ॥ ५३ ॥ उस दुर्जन को भी अवश्य मार देना जो वेदमार्ग की उत्तमता न समझता हो तथा वेद से भिन्न (पाञ्चरात्रादि आगम) मार्गों को श्रेष्ठ समझता हो ॥ ५४ ॥

सूत जी बोले–ऐसा कहकर श्रीमान् शतानन्द मुनि श्री रुद्र की स्तुति करने के लिये कैलास चले गये ॥ ५५ ॥

---

१ ज. ततः ।

यमोऽपि संगिरं विप्राः समाहूयाऽऽदरेण च ।
विनैव वेदं तर्कस्य केवलस्य परिग्रहात् ॥ ५६ ॥
त्वया भुक्तं महादुःखमप्रसह्यमनेकशः । पुराकृतेन पुण्येन महादेवप्रसादतः ॥ ५७ ॥
षडक्षरमहामन्त्रश्रवणाच्च तथैव च । दुःखादपि विनिर्मुक्तस्त्वं महात्मन्सुखप्रदम् ॥ ५८ ॥
ब्राह्मण्यं प्राप्य वेदस्य विदित्वा वैभवं पुनः ।
तदुक्तं धर्ममास्थाय पुनर्वेदान्तवाक्यजम् ॥ ५९ ॥
शिवज्ञानमवाप्याऽऽशु विमुक्तो भव बन्धनात् ।
इत्युक्त्वाऽऽशु यमः श्रीमानगमत्स्वपुरं प्रति ॥ ६० ॥
अतो वेदोदितो ह्यर्थः सम्यगर्थः सुनिश्चितः ।
तर्कसिद्धोऽतिदुःस्थोऽर्थः प्रत्यवायस्य कारणम् ॥ ६१ ॥
बहवः केवलं तर्कं समाश्रित्य विना श्रुतिम् । रौरवादिषु संतप्ता अभवन्वेदवित्तमाः ॥ ६२ ॥
हैतुकैः सह वासश्च सह पङ्क्तौ तु भोजनम् ॥
स्पृष्टिस्तेषां नराणां तु नरकाय न संशयः ॥ ६३ ॥
हैतुकस्तु महापापी महापातकिना समः ।
न तस्य निष्कृतिस्तस्माद्धैतुकं परिवर्जयेत् ॥ ६४ ॥

यमराज ने संगिर को बुलाकर कहा–'तुमने जो वेद का परित्याग कर केवल तर्क का सहारा लिया उसी के फलस्वरूप तुम्हें यहाँ अनेक तरह के कष्ट इतने समय तक सहने पड़े । तुम्हारे पूर्वपुण्य व महादेव की कृपा से अब तुम षडक्षर महामन्त्र सुन चुके हो, अतः तुम यहाँ की पीडा से मुक्त हो चुके हो । अब तुम कल्याणप्रद ब्राह्मण वर्ण में जन्म लो और वेद का माहात्म्य समझ कर उसकी आज्ञाओं का पालन करो । उससे चित्त शुद्ध हो जाने पर वेदान्तों के श्रवणादि से शिवज्ञान पाकर संसारचक्र से मोक्ष पाओ ।' ॥ ५६–५९½ ॥

इतना कहकर यमराज अपने महल को चले गये ॥ ६० ॥ अतः वेदोक्त अर्थ ही समीचीन है । तर्कमात्र से उत्प्रेक्षित अर्थ अति चंचल होता है और उसी का अनुसरण करना पाप का कारण बनता है ॥ ६१ ॥ हे वेदज्ञश्रेष्ठो ! ऐसे अनेक हुए हैं जिन्होंने श्रुति का आदर नहीं किया और केवल तर्क का सहारा लिया जिसके फलस्वरूप वे रौरव आदि नरकों को प्राप्त हुए ॥ ६२ ॥ ऐसे शास्त्ररहित केवल हेतुजाल फैलाने वालों के साथ रहना, उनके साथ एक पंक्ति में भोजन करना और उनका स्पर्श करना अवश्य ही नरक जाने का कारण है ॥ ६३ ॥ श्रुतिविरुद्ध तर्कों का आदर करने वाला घोर पापी महापापी के समान है । उसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं । उसका सर्वथा बहिष्कार करना चाहिये ॥ ६४ ॥ अतः

तस्माद् वेदोदितेनैव प्रकारेण विचक्षणः । विजानीयादनात्मानमनित्यमिति निश्चितम् ॥ ६५ ॥

आत्मनोऽन्यस्य सर्वस्य यदनित्यत्ववेदनम् । तद्धि संसारवैराग्यजनकं नापरं द्विजाः ॥ ६६ ॥

विरक्तस्य हि संसारात्किमन्यत्[1] काङ्क्षितं भवेत् ।
वैराग्ये सति संसारात्सर्वदुःखं न विद्यते ॥ ६७ ॥

रागेणैव हि संसारमहादुःखं तु देहिनाम् ।
विरक्तस्य न रागोऽस्ति ततो वैराग्यतः सुखम् ॥ ६८ ॥

तस्माद्वैराग्यलाभाय चराचरमिदं जगत् । अनित्यमिति जानीयादनात्मानमशेषतः ॥ ६९ ॥

घटादीनामनित्यत्वं स्वत एव प्रकाशते । गृह[2]प्रासादपूर्वाणामपि वेदविदां वराः ॥ ७० ॥

पुत्रमित्रकलत्रादिभोगो विद्युदिव स्वतः[3] । विनश्यति महामोहान्नित्यं तं मनुते जनः ॥ ७१ ॥

मण्डलाधिपतिर्मर्त्यो महाभोगसमन्वितः । विनाऽऽधिपत्यं तत्तूर्ष्णीभूतो दृष्टः स्वभावतः ॥ ७२ ॥

तथा राजा महाभूमेः स्वयमेकोऽधिपः सुखी ।
विना राज्यसुखं दुःखी दृष्टः सर्वजनैरपि ॥ ७३ ॥

एवं सत्यपि मोहान्धतमसा परिवेष्टितः । ईहते सुखभोगाय त्वहो मोहस्य वैभवम् ॥ ७४ ॥

तस्मादिति । यस्माच्छुष्कतर्केणावधृतोऽर्थ उक्तरीत्या महादुःखहेतुस्तस्मादेव वाक्योक्तप्रकारेणैव वियदादिकं सर्वमनात्मप्रपञ्चमनित्यमिति विजानीयात् ॥ ६५ ॥ तस्य चानित्यत्ववेदनस्य वैराग्यजननद्वारा निःशेषदुःखनिवृत्तिनिरतिशयानन्दाभिव्यक्तिलक्षणहेतुत्वमाह— आत्मनोऽन्यस्येत्यादिना ॥ ६६–६९ ॥ इत्थमनात्मत्वहेतुना जडप्रपञ्चस्य सामान्येनानित्यत्वं प्रतिपाद्य विशेषतोऽपि प्रतिपादयति—घटादीनामित्यादिना ॥ ७०–७४ ॥

वेदप्रोक्त तरीके से यह समझना चाहिये कि अनात्मा अनित्य है ॥ ६५ ॥ अनात्मा की अनित्यता का निश्चय ही संसार में वैराग्य उत्पन्न कर सकता है, अन्य कुछ उसे उत्पन्न नहीं कर सकता । (दुःखादि से जो वैराग्य होता है वह केवल उस विषय से होता है, संसार-भर से नहीं । जो विवेकपूर्वक वैराग्य होता है वह किसी विषयविशेष से नहीं किन्तु सामान्यतः सभी चीज़ों से होता है और वही प्रकृत में उपयोगी है । कुछ आचार्यों ने अनित्य का अर्थ असत्य या मिथ्या माना है । अतः नित्यानित्यविवेक को वे सत्य-मिथ्या का विवेक मानते हैं । किन्तु यह तो फलभूत विवेक है । जो साधक को प्रथमतः उपदिष्ट विवेक है उसमें संसारमिथ्यात्व का निश्चय अन्तर्भुक्त नहीं हो सकता । प्रारम्भिक साधक तो इतना ही समझ सकता है कि अनात्म वस्तुएँ सदा बनी नहीं रहतीं अतः महान् आयास से उन्हें पा भी लिया तो उनका हमारे पास बना रहना नामुकिन

---

१ आत्मन इति शेषः । जिज्ञासाद्यभावे वैराग्यस्य वैयर्थ्यात् । अनात्मनि रागवैपरीत्यमात्मनि च तद्वैशिष्ट्यमेव व्युपसर्गद्योत्योऽर्थइत्याचार्याः । वक्ष्यति च 'निःस्पृहा स्वात्मनोऽन्यत्रे'ति (२१.४८) । २ ग. घ. °हप्रसा° । ३ ख. घ. ङ. स्थितः ।

परलोकसुखं चापि कर्मणा साध्यते यतः । अतस्तदपि विप्रेन्द्रा नश्यत्येव न संशयः ॥ ७५ ॥

ऐहिकसुखवत्स्वर्गादिब्रह्मलोकान्तस्य पारलौकिकसुखस्याप्यनित्यत्वं प्रतिपादयति–परलोकेति । यागहोमादि-क्रियासाध्यत्वात्स्वर्गलोकादिसुखमपि लौकिकक्रियासाध्यस्त्र्यन्नपानाद्युपभोगसुखवदनित्यमेवेत्यर्थः । श्रूयते हि–'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति ॥ ७५ ॥

है इसलिये उनके पीछे दौड़ना व्यर्थ है । अतः यहाँ पुराण में अनित्य का ही विवेक कहा है। पंचपादिका में भी 'यावद्......विनाशित्वादनित्यत्वं नावैति' (पृ. ७३८ कल.) यों व्याख्यान किया है । सर्वज्ञमुनि ने अनित्यत्व दोष के दर्शन से वैराग्य माना है : 'संसारदोषमवधारयतो यथावद्वैराग्यमुद्भवति चेतसि निष्प्रकंपम्' । (सं. शा. ३.४) । अनुभूतिस्वरूपाचार्य प्रकटार्थविवरण में अनित्यता में कार्यता हेतु देकर यही स्पष्ट करते हैं कि यहाँ मिथ्यात्व ज्ञान को समझना अनावश्यक है 'आत्मव्यतिरिक्तं सर्वं कार्यत्वादनित्यं, नित्यमात्मैव कृतकत्वाद्य-भावादित्यव धारणम् ।') ॥ ६६ ॥ जो व्यक्ति संसार से विरक्त हो गया है उसे आत्मातिरिक्त और क्या अभीष्ट रह सकता है ? संसार से वैराग्य हो जाने पर कुछ दुःख नहीं रहता । संसार जो महान् दुःख सांसारिकों को देता है वह राग के कारण ही । विरक्त को राग तो है नहीं, अतः उसे दुःख नहीं हो पाता । (वैराग्य का दार्ढ्य शनैःशनै होता है । प्रकटार्थकार ने वैराग्य का लक्षण किया है 'वर्तमानशरीरस्थितिहेतुभूताऽप्रतिषिद्धान्नपान-व्यतिरिक्तविषयप्रवृत्तिकारणेच्छाविरुद्धो निश्चलश्चेतोवृत्तिविशेषः' । किन्तु विवरणाचार्य शरीरस्थिति की हेतुभूत वस्तुओं में भी इच्छा की अनुमति नहीं देते–'कियत्पुनरत्र परित्यज्यते ? स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वम्' (पृ. ६९६) । एवं च साधक की श्रेष्ठता से ही यह क्रम संभव है । जैसे-जैसे वैराग्य का क्षेत्र बढ़ता जाता है, संसार से हो सकने वाले दुःख घटते जाते हैं । पूर्ण वैराग्य हो जाने पर सर्वथा दुःख रहता नहीं) ॥ ६७–६८ ॥ अतः वैराग्य की उत्पत्ति के लिये चराचर इस समस्त अनात्मजगत् की अनित्यता का पुनः पुनः विचार करना चाहिये ॥ ६९ ॥ घट आदि वस्तुओं की अनित्यता तो स्वयं ही सबको दीख जाती है । घर, महल आदि की अनित्यता भी प्रायः सभी को ज्ञात रहती है ॥ ७० ॥ जिस पुत्र, मित्र, पत्नी आदि के सम्बन्ध को हम नित्य मानते हैं वह भी बिजली की चमक की तरह झट समाप्त हो जाता है । (मृत्यु से तो होता ही है, बहुधा साधारण मन-मुटाव ही ऐसे दृढ सम्बन्धों को नष्ट, और नष्ट ही नहीं विपरीत कर देता है, यह व्यवहार में स्पष्ट है । जब हमारा सम्बन्ध मधुर लग रहा हो उसी समय उसकी चंचलता का विचार करना चाहिये ।) ॥ ७१ ॥ महान् भोगों से संपन्न राजाओं के राज्य देखते-देखते समाप्त हो जाते हैं और वे सामान्य जनता की तरह चुप हो बैठते हैं ॥ ७२ ॥ वे नष्टराज्य महीपाल महान् दुःखी मिलते हैं (क्योंकि रागी हैं) ॥ ७३ ॥ यों देखकर भी हम सुखभोग चाहते हैं, यह अविवेक की ही परा-काष्ठा है ॥ ७४ ॥ परलोक का सुख भी कर्म से प्राप्त होता है, अतः वह भी नाशवान् है क्योंकि नियम है कि कर्म से जो कुछ मिलता है वह सब छूट भी जाता है ॥ ७५ ॥

प्रलयकाल में पृथ्वी नष्ट होती है, अर्थात् अपने कारणभूत जल में विलीन हो जाती है । सभी पार्थिव लोक यों ही समाप्त हो जाते हैं ॥ ७६ ॥ सातों समुद्र वडवाग्नि में लीन होकर नष्ट होते हैं और वह भी अग्नितत्त्व में लीन हो जाती है । अग्नि पुनः वायु में विलीन होती है ॥ ७७ ॥ वायु का नाश

महाभूमिरियं नष्टा भविष्यति महोदधौ ।
प्रलये तद्गता लोका अपि नश्यन्ति सर्वथा ॥ ७६ ॥
समुद्राः सप्त विप्रेन्द्रा नश्यन्ति वडवानले ।
वडवा च महावह्नौ वह्निर्वायौ विनश्यति ॥ ७७ ॥
वायुर्नश्यति चाऽऽकाशे तथाऽऽकाशः स्वकारणे ।
शब्दादीनि च भूतानि नश्यन्त्येव न संशयः ॥ ७८ ॥
भूतानामपि नाशेन भौतिकान्यखिलान्यपि ।
नश्यन्त्येव स्वभावेन किं नित्यं गम्यतेऽनघाः ॥ ७९ ॥
ब्रह्मान्ताः स्तम्बपूर्वाश्च चेतना विविधा अपि ।
नश्यन्त्येव स्वभावेन किं नित्यं गम्यतेऽनघाः ॥ ८० ॥
विष्णुर्विश्वजगद्योनिः प्रादुर्भावैः स्वकैः सह ।
विनाशं प्रलये याति किं नित्यं गम्यतेऽनघाः[1] ॥ ८१ ॥

अथ वियदादिक्रमेण सृष्टानां भूतानां विपरीतक्रमेण स्वस्वकारणेषु लयमाह– महाभूमिरित्यादिना । विद्यमान एव कारणे भोक्तॄणामदृष्टवशात्कार्यस्य तत्र लयात् । न तु कारणद्रव्यनाशात्कार्यद्रव्यनाश इति वैशेषिकाद्यभिमतक्रमो युक्त इत्यर्थः । कारणप्राप्तिर्हि कार्यस्य नाशो नाम, मृत्कार्यस्य घटादेर्ध्वंसे पुनर्मृद्भावापत्तेर्दृष्टत्वात् । अतो विपरीतक्रमेणैव लयो न तु सृष्टिक्रमेणेत्यर्थः । स्मर्यते च–'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । आपो ज्योतिषि[2] लीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते ॥ वायुः प्रलीयते व्योम्नि तदव्यक्ते प्रलीयते । अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्म निष्कले संप्रलीयते' इति ॥ बादरायणोऽपीममर्थमसूत्रयत्–'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च' इति । शब्दादीनां कारणानि शब्दतन्मात्राद्यात्मकान्याकाशादिसूक्ष्मभूतान्यपि विपरीतक्रमेण प्रलीयन्त इत्यर्थः ॥ ७६–७९ ॥

आकाश में लीन होने पर होता है । आकाश भी अपने कारण अव्यक्त में विलीन हो समाप्त होता है । इसी प्रकार शब्दतन्मात्रादि सूक्ष्म महाभूत स्वकीय कारणों में क्रमशः लीन होकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ७८ ॥ जब महाभूत ही नष्ट हो गये तब उनके कार्यों के नष्ट होने में क्या शंका ? एवं च भूत-भौतिक समस्त प्रपंच नाशवान् है, इसमें क्या नित्य मिलता है ?–कुछ नहीं ॥ ७९ ॥ घास आदि से ब्रह्मापर्यंत जितने चेतन हैं वे भी अपनी उपाधियों के विलय के कारण नष्ट हो ही जाते हैं, इनमें भी कोई नित्य नहीं ॥ ८० ॥ सारे जगत् के उपादान विष्णु प्रलय में अपने अवतार आदि समेत नष्ट हो जाते हैं । वे भी नित्य नहीं ॥ ८१ ॥

---

१ ज. "ते बुधाः ॥ ८१ ॥ अ" । २ घ. "तिर्विली" ।

अतः साक्षात्स्वयंज्योतिःस्वभावः परमेश्वरः ।
एक एव द्विजा नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा ॥ ८२ ॥
अनात्मभूतं सकलं जडात्मकं मृषेति पश्यञ्श्रुतितश्च युक्तितः ।
क्रमेण शंभुं सततोदितं प्रभुं प्रयाति सत्यं परिभाषितं मया ॥ ८३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽनित्यवस्तुविचारो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि नित्यं वस्तु समासतः ।
यज्ज्ञानेन शिवज्ञानं जायते सुदृढं द्विजाः ॥ १ ॥

ब्रह्मान्ता इति । स्तम्बप्रभृतिचतुर्मुखान्ता ये जीवास्तेऽपि भूतकार्यस्वस्वोपाधिविलयेन लीयन्त इति नाऽऽत्यन्तिको विलयस्तथा सत्यागामिनि कल्पे पुनरन्येषामुत्पत्तौ कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । अतो वासनाशेष[1] एव जीवोपाधिप्रलय इत्यभिप्रायः । **एक एवेति** । निरुपाधिकः परशिव एक एव परमार्थः । ब्रह्मविष्ण्वादिकः सर्वोऽपि सोपाधिकत्वान्मृषैवेत्यर्थः ॥ ८०–८३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽनित्यवस्तुविचारो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

आत्मव्यतिरिक्तस्य भोक्तृभोग्यात्मकप्रपञ्चस्यानित्यत्वं प्रतिपाद्य संभवच्छङ्कानिरासेन नित्यत्वमात्मनः प्रतिपादयितुमध्याय आरभ्यते–**अथात इति** । **यज्ज्ञानेनेति** । यस्य नित्यवस्तुनो ज्ञानाच्छिवज्ञानं जायते तदनन्यत्वाद्[2] इत्यर्थः ॥ १ ॥

अतः अपरोक्ष, विषय न हो सकने वाले ज्ञानस्वरूप, समस्त के अधिष्ठान परशिव ही एकमात्र नित्य हैं, उनसे अन्य सभी कुछ मिथ्या (अतः अनित्य) है । (यहाँ पंचमुखादि रूपविशिष्ट न समझ लिया जाये अतः सब विशेषण हैं ।) ॥ ८२ ॥

जो साधक श्रुति व युक्ति के आधार पर अनात्मरूप सारे जड-चेतन जगत् को मिथ्या समझ लेता है वह सनातन ज्ञानरूप शंभु को क्रमशः प्राप्त हो जाता है, यह निश्चित सत्य मैंने आप लोगों को बताया है ॥ ८३ ॥

नित्यवस्तु का विचार नामक उन्नीसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं संक्षेप में नित्यवस्तु के विषय में बताता हूँ, जिसके ज्ञान से सुदृढ शिवज्ञान उत्पन्न होता है (वह आत्मतत्त्व ही एकमात्र नित्यवस्तु है । क्योंकि अन्य के ज्ञान से अन्य का ज्ञान असंभव है, इसलिये आत्मज्ञान से शिवज्ञान कहकर आत्मा और शिव का अत्यन्त अभेद कह दिया है ।

---

१ ज. "षजी" । २ शिवस्येति शेषः ।

य आत्मा केवलः शुद्धो निर्विकारो निरञ्जनः ।
स एव नित्यश्चिन्मात्रः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥ २ ॥
अनित्यता जडस्यैव न चिद्रूपस्य वस्तुनः ।
अनित्यता चितः कैश्चिन्न दृष्टा खलु सुव्रताः ॥ ३ ॥

किं तन्नित्यवस्तु ? तदाह– य आत्मेति । निरञ्जनः । अञ्जनं मायातत्कार्यजातम् । यतस्तद्रहितोऽतो निर्विकारः सर्वविक्रियारहितः । अत एव शुद्धो निर्मलः । आत्मा सर्वप्रत्यग्भूतः[1] । य एवंलक्षणः स एव नित्यः । एवंभूतस्य तस्य पारोक्ष्यं व्यावर्तयति–साक्षीति । यतः स आत्मा चिन्मात्रस्वरूपोऽतः सर्वदाऽतीतानागतादिसर्वेष्वपि कालेषु सर्वस्यापि साक्ष्यजातस्य साक्षी साक्षाद् द्रष्टा । उक्तरीत्याऽनित्यत्वं जडप्रपञ्चस्यैव न तु तत्साक्षिचैतन्यस्येत्यर्थः । ॥ २ ॥ कुत इत्यत आह– अनित्यतेति । कैश्चिदपि साक्षिचैतन्यस्यानित्यत्वं च न दृष्टं, तद्दर्शनसमयेऽपि तद्द्रष्टृत्वेन साक्षिणः सद्भावावश्यंभावादित्यर्थः । एतत्स्वयमेवाग्रे प्रतिपादयिष्यति ॥ ३ ॥

नित्यानित्यवस्तुविवेक में नित्यवस्तु एक आत्मा ही है बाकी सब अनित्य वस्तु हैं यही निश्चय विवक्षित है । पूर्वाध्याय से यह भ्रम हो सकता था कि जैसे अनात्मा अनित्य है वैसे है आत्मा भी अनित्य होगा । अनुभव भी होता है 'जन्म से पूर्व मैं नहीं था, मृत्यु के अनन्तर मैं नहीं रहूँगा' । एवं च विवेक असंभव है । कुछ नित्य हो तब उससे पृथक् कर अनित्य को जानना विवेक है । जब सभी अनित्य है तब विवेक किससे किसका ? और वैराग्यादि घोर आयास भी व्यर्थ है क्योंकि आत्मा भी अनित्य होने से खुद-ब-खुद नष्ट हो ही जायेगा तो मोक्ष के लिये कोशिश क्या करनी ? एवमादि शंकाओं के निवारणार्थ अनित्य अनात्मवस्तु का विस्तृत वर्णन कर अब नित्य आत्मवस्तु का वर्णन करते हैं ।) ॥ १ ॥

जो माया और उसके कार्य से अलिप्त, अपरिवर्तनीय, निर्मल, अद्वय प्रत्यक्तत्त्व है वह चेतन ही सदा सबका साक्षी है, वही नित्य है ॥ २ ॥ जड की ही अनित्यता है, चेतन रूप वस्तु की नहीं । किसी ने भी चेतन की अनित्यता का अनुभव नहीं किया है । ('मैं नहीं था, नहीं रहूँगा' इत्यादि ज्ञानों के सम्यक्त्व का विचार करें तो पता चलता है कि वे केवल स्थूल शरीर को मैं मानकर प्रवृत्त हुए हैं । मैं नहीं था यह स्मृति तो आत्मा के अभाव में असंभव है । सब स्मृतियाँ अनुभूत विषय की होती हैं । आत्मा था ही नहीं तो अनुभव किसे होता ? और अनुभव नहीं हुआ तो स्मृति कैसे होगी ? अतः यह स्मृति नहीं । पूर्वकाल अभी न होने से अपना तात्कालिक अभाव प्रत्यक्ष या अनुपलब्धिगम्य भी नहीं हो सकता क्योंकि विद्यमान का ही प्रत्यक्ष होता है । अनुमान के लिये आत्माभाव का सामानाधिकरण्य किसी लिंग के साथ ज्ञात होना पड़ेगा । वह ऐसा ही मिलेगा – जहाँ मैं नहीं होता वहाँ की वस्तुएँ मुझे ज्ञात नहीं होती, अतः तत्रत्य विषयों के ज्ञान के अभाव से आत्मा का अभाव समझ सकते हैं । यहाँ स्पष्ट ही 'मैं' शब्द कार्यकरणसंघात को कह रहा है । जहाँ मैं अर्थात् मेरा देहादि नहीं होता वहीं की बात है । देहादि तो अनित्य है ही । किं च ज्ञान के अभाव में भी विकल्प होता है–क्या ज्ञानसामान्य का अभाव

---

१ ग. र्वप्राग्भू० ।

घटादिप्रत्ययस्यापि नानित्यत्वं विचारतः । चित्तवृत्तिनिमित्ता हि प्रतीतिः प्रत्ययस्य तु ॥ ४ ॥
प्रत्यये तु चिदाकारो वृत्त्याकारश्च सुव्रताः । विद्यते मोहमाहात्म्यादेकाकारावभासनम् ॥ ५ ॥

ननु मा भूत्साक्षिचैतन्यस्यानित्यत्वं, [1]तज्जातीयस्यायं घट इत्यादिविषयगोचरज्ञानस्यानित्यत्वं दृश्यत इत्याशङ्क्याऽऽह– घटादीति । विचारतः [2]परमार्थतो निरूपणे घटादिगोचरस्य विज्ञानस्यानित्यत्वं नास्त्येवेत्यर्थः । नन्वयं घट इत्यादिज्ञानोदयसमये तत्पूर्वभावि घटगोचरं ज्ञानं नानुवर्तते, कथं तस्य नित्यत्वमित्यत आह– चित्तवृत्तीति । चित्तं सत्त्वपरिणामरूपम् [3]अन्तःकरणं तस्यार्थेन्द्रियसंप्रयोगवशाद्या घटादिविषयाकारा वृत्तिस्तस्या[4] यदनित्यत्वं तदेव तदभिव्यक्ते चैतन्येऽपि प्रतीयते स्फटिके जपाकुसुमलौहित्यवन्न तु परमार्थत इत्यर्थः ॥ ४ ॥ भवेदेवं यद्ययं घट इत्यादौ[5] ज्ञाने स्फटिकजपाकुसुमादिवद् वृत्त्याकारश्चिदाकारश्चेति विविक्तमाकारद्वयमनुभूयेत, न तथाऽनुभूयत इत्यत आह–प्रत्यय इति । यद्यपि परमार्थतो विविक्तमेवाऽऽकारद्वयं तथाऽप्यविद्यावशादग्न्ययःपिण्डवदेकाकारमेवावभासत इति तत्रैकाकारो भ्रम इत्यर्थः ॥ ५ ॥

लिंग है या ज्ञानविशेष का ? ज्ञानसामान्य का अभाव अप्रामाणिक और ज्ञानविशेषका अभाव अतिप्रसंगी है । इससे अर्थापत्ति का भी प्रत्याख्यान हो गया । शब्द जो कोई भी हमें कहता है 'तुम नहीं थे' आदि वह शरीर को विषय कर ही रहा है । इसी रीति से देशिकादि अभावों को समझना चाहिये । अतः अनित्य से तादात्म्य होने के कारण अनित्य के अभाव को ही हम नित्य आत्मा का अभाव मान लेते हैं । आत्मा के अभाव का सम्यग् ज्ञान किसी को नहीं होता ।) ॥ ३ ॥ परमार्थतः घटादि का ज्ञान भी अनित्य नहीं, उसके अनित्यत्व की प्रतीति वृत्ति की अनित्यता के कारण होती है । (ज्ञान का चित्तवृत्ति से तादात्म्य सम्बंध अनित्य है क्योंकि चित्तवृत्ति अनित्य है । इससे ज्ञान क्योंकर अनित्य होने लगा ? घट आदि के अनित्य होने से लगता भले रहे कि घटाकाश आदि अनित्य हैं पर वस्तुतः क्या आकाश अनित्य हो जायेगा ? चित्त स्वच्छ द्रव्य है क्योंकि महाभूतों के सत्त्वांश से निर्मित है । वह मूर्तवस्तु है । विषयों से उसका सम्पर्क होता है जिससे उसके एकदेश में कुछ परिवर्तन आ जाता है जिसका नाम वृत्ति है । आत्मा का चित्त से तादात्म्याध्यास है, अतः चेतोवृत्तियाँ भी अध्यास वाली होती हैं । अन्योन्याध्यास होने से आत्मा की ज्ञानरूपता चित्तवृत्ति में और चित्तवृत्ति की अनित्यता आत्मा में प्रतीत होती है । बिना चित्तादिवृत्ति से आत्मा विषयज्ञान कर सकता नहीं क्योंकि अज्ञानी है । अतः विषयज्ञान का वृत्ति से साहचर्य निश्चित होने से वृत्ति को ही ज्ञान समझना स्वाभाविक है । अन्य काम आदि चेतोवृत्तियाँ संस्कारोद्बोधवशात् चित्त में उठती हैं । 'मुझे यह चाहिये' यह अनुभव जिस आगन्तुक कारण से होता है उसका ही नाम कामवृत्ति है । ऐसे ही द्वेष आदि वृत्तियों का लक्षण समझना चाहिये । चित्तचेष्टा ही वृत्ति है । वह उत्पत्ति-नाश वाली है । अतएव हमें ज्ञान, काम आदि का जन्म-नाश अनुभव में आता है । न यह आत्मा की अनित्यता के कारण है और न चित्त की । आत्मा तो कामादि की उत्पत्ति के पूर्व भी है अतः 'अभी मुझे इच्छा नहीं' यह

---

१ घ. ङ. च. °तज्जन्यस्या° । २ ग. °परं । ३ घ. च. ज. °णामस्तस्या° । ४ ख. घ. ङ. च. ज °स्या एवानि° । ५ घ. च. ज. °दौ ज° ।

भावांशः करणांशश्च विद्यते प्रत्ययेऽपि च ।
भावांशस्तु चिदाकारो वृत्त्यंशः करणांशकः ॥ ६ ॥
वृत्त्यंश एव नष्टस्तु जडत्वात्कुम्भवस्तुवत् ।
चिदंशो नैव नष्टः स्याददृष्टत्वात्तु केनचित् ॥ ७ ॥
अत्रापि ज्ञप्तिमात्रस्य विनाशो नैव दृश्यते ।
वृत्तिग्रस्तस्य भावस्य खलु नाशः प्रकाशते[1] ॥ ८ ॥

एतदेवाऽऽकारद्वयमुपपादयति— भावांश इति । प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययः । 'एरच्' इति करणार्थेऽच्प्रत्ययः । एवं प्रत्ययशब्दस्य प्रकृतिप्रत्ययात्मकत्वात्तदर्थोऽपि प्रत्ययार्थ इति द्विधा भिन्न इत्यर्थः । तत्र यो भावांशो धात्वर्थभागः स चिदाकारः । यस्तु प्रत्ययार्थः स करणांशः सोऽनित्योऽचिद्वृत्त्याकार[2] इत्यर्थः ॥ ६ ॥ अस्त्येवं प्रत्ययस्याऽऽकारद्वैविध्यम् । तत्र करणांशस्यानित्यत्वं न तु प्रतीतेरित्यत्र किं विनिगमनकारणमित्यत आह— वृत्त्यंश इति । अन्तःकरणपरिणामरूपो वृत्त्यंशो जडत्वाद् घटवदनित्यः । न तु चिदंशः । तन्नाशस्य केनापि द्रष्टुमशक्यत्वान्नाशसाक्षितयाऽपि चितोऽवगतेरित्यर्थः ॥ ७ ॥ नन्वयं घट इति ज्ञानं पटज्ञानसमये नास्ति यतस्तन्नाशोऽनुभूयत एवेत्यत आह— अत्रापीति । विषयाकारवृत्तिविशिष्टज्ञानस्यैव विशेषणभूतवृत्तिनाशान्नाशः प्रतीयते तथा[3] विशेषणभूतदण्डनाशे दण्डित्वनाशः । विशेष्यभूतज्ञप्तिमात्रस्य तु देवदत्तस्वरूपवन्नाशो नैव भवेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

अनुभव होता है । चित्त भी उक्त दोनों अवस्थाओं में है ही । अतः ज्ञान, काम आदि की अनित्यताका कारण वृत्ति ही संभव है । इस प्रकार विवेक करना चाहिये ।) ॥ ४ ॥ घटज्ञान आदि प्रतीतियों में दो हिस्से हैं— चित्तवृत्ति और आत्मरूप ज्ञान । अज्ञानवश हम उन्हें एक समझ लेते हैं ॥ ५ ॥ प्रत्ययशब्द प्रतीति और उसके साधन दोनों को कहता है (जैसे ज्ञानशब्द जानना और उसके साधन दोनों को कहता है) । (प्रति उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक इण् (अ.प.अ.) धातु से करणार्थक अच्प्रत्यय (३.३.५६) हो प्रत्यय शब्द बना है । सब गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी हैं । एवं च 'प्रत्यय' शब्द का प्रकृति भाग धातु है । धात्वर्थ को क्रिया कहते हैं । व्याकरणशास्त्र में 'भाव' शब्द भी क्रिया का वाचक है । यहाँ क्रिया हिलना-डुलना आदि हो ऐसा नियम नहीं । जो कुछ भी धातु का अर्थ होगा उसे क्रिया या भाव कहेंगे । प्रत्यय का अर्थ है करण या साधन क्योंकि कर्तृभिन्न कारक अर्थ में प्रत्ययों का विधान प्रारम्भ कर (३.३.१९) इकारान्त धातुओं से अच् प्रत्यय बताया गया है । 'प्रत्यय' शब्द के अनुरूप ही) प्रत्यय—इस पदार्थ में भी भावांश (क्रियांश) और करणांश (साधनांश) हैं । भावांश चेतन आत्मा ही है और करणांश चित्तवृत्ति है ॥ ६ ॥ वृत्तिरूप अंश नाशवान् है क्योंकि घट आदि की तरह अनात्मा है । चेतन रूप प्रत्ययांश कभी नष्ट नहीं होता क्योंकि उसका नाश किसी के द्वारा अनुभूत नहीं है ॥ ७ ॥ व्यवहार में जो यह अनुभव होता है कि इस समय पटज्ञान हो रहा है, पहले वाला घटज्ञान नष्ट हो गया, उस अनुभव में भी भावांश ज्ञप्ति का नाश विषय नहीं होता । केवल वृत्तिविशिष्ट भाव का (ज्ञप्ति का) नाश उस प्रतीति का विषय है । वह तो

१ च. प्रवर्तते । ज. प्रतीयते । २ ग. घ. ज. °चिदाका° । ३ यथेति युक्तं पठितुम् ।

अतो नाशप्रतीतिस्तु भ्रमो भावांशकस्य तु ।
चित्तवृत्तावभिव्यक्तं चिदाकारं विमोहिताः ॥ ९ ॥
जातमित्यभिमन्यन्ते न विद्वांसः कदाचन ।
वृत्तिनाशेन वृत्तिस्थं चिदाकारं मुनीश्वराः ॥ १० ॥
अनभिव्यक्ततोऽज्ञानान्नष्टमेवेति मन्वते । अतश्चैतन्यमात्रस्य नास्त्यनित्यत्वमास्तिकाः ॥ ११ ॥

यस्मादेवं विचारतो धात्वर्थस्य प्रतीत्यंशस्य विनाशो नास्त्यतः कारणात्तत्र विनाशप्रतीतिर्नाशवद्वृत्तितादात्म्याध्यासादेवेत्यर्थः । नन्वात्ममनःसंयोगादसमवायिकारणादात्मनि समवायिकारणे ज्ञानं जन्यते तच्चाऽऽशुतरविनाशीति वैशेषिकादयः संगिरन्ते, तेषां किं मूलमित्याशङ्क्याऽऽह– चित्तवृत्ताविति । विषयसंप्रयोगानन्तरं तदाकारान्तःकरणवृत्तौ[1] जातायां तदभिव्यक्तं चैतन्यमप्यनाद्यविद्यापरिमोहिता जातमित्यभिमन्यन्ते न तु विशेषज्ञाः ॥ ९ ॥ १० ॥ एवं भ्रमवशादेव भावांशकरणांशयोर्विवेकापरिज्ञानात्करणांशवृत्तिनाशे तदवच्छिन्नचैतन्यस्यापि[2] तेषां नाशप्रतिभास इत्यर्थः ॥ ११ ॥

विशेषणनाशप्रयुक्त है ही । जैसे घटाकाश नष्ट हो गया यह अनुभव आकाशनाश को विषय नहीं करता वैसे समझना चाहिये । ज्ञप्तिरूप भावांशनाश को विषय इसीलिये नहीं किया जा सकता कि उसका विषयी पुनः कोई प्रत्यय होगा जिसमें भावांश मौजूद है । किं च वृत्ति से असंबद्ध केवल भावांश कभी विषय नहीं होता अतः उसका अभाव भी विषय नहीं हो सकता । योग्य प्रतियोगी का अभाव ही ज्ञात होता है ।) अतः यह मानना कि भावांश (ज्ञप्ति) भी नष्ट हो जाता है केवल भ्रम है ॥ ८½ ॥ इसी तरह चित्तवृत्ति में अभिव्यक्त चेतन को मोहवश लोग उत्पन्न हुआ समझ लेते हैं । वृत्तिनाश से उसी अभिव्यक्त चेतन की अनभिव्यक्ति हो जाने पर वह नष्ट हो गया यों समझ लेते हैं । जानकार तो कभी ऐसा नहीं समझते क्योंकि उन्हें दोनों का भेद स्फुट रहता है । (अभिव्यक्त का अर्थ है अविविक्त– अन्योन्याध्यस्त । अभिव्यंजक-निवृत्ति से वह अविविक्तता ध्वस्त हो जाती है, बाधित नहीं । दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है व दर्पणनाश से नष्ट हो जाता है । जिसे बिम्ब का पता नहीं वह प्रतिबिंब को वास्तविक तथा उत्पत्ति-नाशशील समझता है । जानकार को तो स्पष्ट भान रहता है कि दर्पण-संनिधि में मुख ही प्रतिबिम्बरूप से कल्पित था । दर्पण न रहने से कल्पना नष्ट हो गयी । मुख में कोई अंतर नहीं आया । ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ।) अतः हे आस्तिको ! चिन्मात्र आत्मतत्त्व का कभी नाश नहीं होता ॥ ९–११ ॥

ज्ञान और अज्ञान के विषयभूत पदार्थों का जो साक्षी है वह स्वयं ही भासता है, उसका भान किसी के अधीन नहीं । वह चेतनस्वभाव वाला साक्षी आत्मा है, अन्य कोई नहीं ॥ १२ ॥ विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि उसका न जन्म है, न विनाश । उसका जन्म मानें तो उस जन्म का कोई साक्षी

१ ख. ग. °वृत्त्यभिव्यक्तौ चैतन्यावभासादवि° । २ घ. ङ. °स्यानवभा° ।

ज्ञाताज्ञातार्थजातस्य यः साक्षी भासते स्वयम् ।
स एव साक्षाच्चिन्मात्रस्वभावात्मा न चापरः ॥ १२ ॥
तस्य जन्मविनाशौ तु न विद्येते विचारतः ।
जन्मकाले तु साक्षित्वाज्जन्मनो जनिरस्य न ॥ १३ ॥
विनाशे[1] साक्षिणो नाशस्तथा नैव भविष्यति ।
सत्ताकाले तु सत्त्वाच्च विनाशः सुतरां न हि ॥ १४ ॥
जन्मनाशप्रतीतिस्तु नान्तरेणैव साक्षिणम् ।
जन्मनाशौ मुनिश्रेष्ठाः स्वत एव न सिध्यतः ॥ १५ ॥
दृश्यत्वेन जडत्वाच्च घटकुड्यादिवस्तुवत् ।
साक्षिणो जन्मनाशौ तु न चान्येनैव सिध्यतः ॥ १६ ॥
साक्षिरूपेण चान्येन जन्मनाशौ न सिध्यतः ।
अभावादेव चान्यस्य साक्षिरूपस्य सुव्रताः ॥ १७ ॥

यद्येवमयं घट इत्यादिप्रत्ययेषु चिन्मात्रस्य नाशो नास्ति तर्हि तेनैवाऽऽत्मनोऽद्वितीयत्वं विहन्यत इत्यत आह—ज्ञाताज्ञातेति । ज्ञातं ज्ञानेन विषयीकृतम् । अज्ञातमज्ञानक्रोडीकृतम् । तदुभयविधस्यार्थजातस्य यः साक्षी । 'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवे'त्युक्तत्वात् । स एव साक्षाच्चिन्मात्रस्वभावात्मा घटपटाद्याकारवृत्तिविशेषेषु यदनुवृत्तं नित्यं निर्विशेषं चैतन्यं तच्च साक्षिस्वरूपं न ततोऽतिरिक्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥ अथ साक्षिचैतन्यस्यापि जन्मनाशौ न स्त इति प्रतिपादयितुमुपक्रमते— तस्य जन्मेत्यादिना । साक्षिचैतन्यस्य जन्मसमये स्वजन्मनो भासकत्वेनावस्थानाभावे तदप्रतीतमेव स्यात् । प्रतीयते यस्मात्तदा तत्साक्षिसद्भावोऽङ्गीकर्तव्यः । तथा चास्याजनिरनुत्पत्तिरेवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ एवं विनाशसमयेऽपि तत्प्रकाशनाय साक्षित्वेनावस्थाननियमान्नाशोऽप्यस्य नास्तीत्यर्थः । प्रतीतिसमये तु विद्यमानत्वादेवास्य न नाश इत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु जन्मनाशसमये साक्ष्यवस्थानाभावेऽपि[2] तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येनैव स्फुरणं संभाव्यत इत्यत आह—जन्मनाशेति । तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमेव साक्षीति जन्मनाशौ साक्षिणैव भास्येते[3] इत्यर्थः । साक्षिणमन्तरेण प्रकाशमानौ जन्मनाशौ किं स्वप्रकाशत्वेन भासेते किंवाऽन्येन ? तदाऽपि किं जडरूपेण, साक्षिरूपेणेति ? विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—जन्मनाशाविति । साक्षिणमन्तरेण न सिध्यतः । घटादिवद् दृश्यत्वेन जडत्वनिर्धारणात् । नापि द्वितीये प्रथम इत्याह—जडरूपेणेति । न हि जडौ जन्मनाशौ जडेनान्येन प्रकाश्येते इति वक्तुं युक्तम् । जडत्वाविशेषात् । नापि द्वितीय इत्याह—साक्षिरूपेणेति । एतत्साक्षिव्यतिरिक्तस्य साक्षिणोऽभावादित्यर्थः ॥ १५–१७ ॥

मानना ही होगा । असाक्षिक जन्म निष्प्रमाण हो असिद्ध ही हो जायेगा । वह दूसरा साक्षी पुनः जन्मवाला मानें तो अनवस्था है । किञ्च आत्मोत्पत्ति का साक्षी अप्रसिद्ध है । अतः साक्षी का जन्म माना नहीं जा सकता ॥ १३ ॥ इसी तरह साक्षी का विनाश भी निःसाक्षिक अस्वीकार्य होने से व ससाक्षिक साक्षिनाश वदतोव्याघात होने से साक्षी का नाश भी असंभव है ॥ १४ ॥ जन्म-नाश की प्रतीति साक्षी के बिना स्वयं तो हो सकती नहीं । जैसे घटादि जड दृश्य है तो स्वतःसिद्ध नहीं, वैसे जन्म-नाश भी जड व दृश्य होने से स्वतःसिद्ध नहीं । कोई उनसे भिन्न हो तभी उसके विषय हुए ये सिद्ध हो सकते हैं । भिन्न यदि जड हो तब भी इनका साधक नहीं हो सकता । जो स्वयं सिद्ध नहीं वह भला अन्य को क्या सिद्ध करेगा ? कोई दूसरा चेतन है नहीं जो चेतन के जन्मनाश का साक्षी बने । साक्षी एक ही है वही आत्मा

१ ख. ग. घ. च. छ. ज. °नाशसा° । २ ग. घ. च. छ. °नाशगणः सा° । ३ ग. घ. च. छ. °भास्यत इ° ।

साक्ष्याकारेण चैकत्वात्साक्षिभेदो न सिध्यति ॥ १८ ॥
साक्ष्यरूपेण भेदस्तु साक्ष्यस्यैव न साक्षिणः ।
साक्षिमात्रतया भेदाभावेऽप्यस्यैव साक्षिणः ॥ १९ ॥
विशेषाकारतो भेदं वदन्ति भुवि केचन ।
ते महामोहसर्पेण दष्टा एव न संशयः ॥ २० ॥
विशेषरूपं चिद्रूपं जडरूपं तु[1] वा भवेत् ।
न रूपान्तरमेव स्यात्तादृशस्यानिरूपणात् ॥ २१ ॥
चिद्रूपं साक्षिमात्रं स्यान्न चान्यत्परमार्थतः ।
जडरूपं च नास्त्येव साक्षिणः परमार्थतः ॥ २२ ॥
चिद्रूपस्य जडाकारो विरोधान्नैव सिध्यति ।
प्रकाशस्य तमोरूपं यथा लोके न सिध्यति ॥ २३ ॥

ननु घटसाक्षी पटसाक्षीति साक्षिभेदोऽनुभूयत एवेत्यत आह– **साक्ष्याकारेणेति** । साक्षित्वाकारेण सर्वत्रैक्यावगतेर्न तद्भेदशङ्कावकाश इत्यर्थः । ननु मा भूत्साक्षित्वाकारेण भेदः साक्ष्यरूपेण तद्भेदः किं न स्यादित्यत आह– **साक्ष्यरूपेणेति** । घटपटादिसाक्ष्यप्रयुक्तो भेदस्तु साक्ष्याणामेव न तु तत्साक्षिण इत्यर्थः । **विशेषाकारत इति** । घटपटाद्याकारास्ते ज्ञानगता एवेति वदन्तो विज्ञानवादिनस्तत्तदाकारवशेनाऽऽत्मस्वरूपभूतस्यापि विज्ञानस्य नानात्वमिच्छन्तीत्यर्थः । तदेतन्निरस्यति– **ते महामोहेति** ॥ १८–२० ॥ किं तत्साक्षिणो विशेषरूपं चिदात्मकं, जडं वेति विकल्पयति–**विशेषरूपमिति** । आद्यं निरस्यति– **चिद्रूपमिति** । यदि विशेषरूपमपि चिदात्मकं स्यात्तदा साक्षिचैतन्यान्न व्यतिरिच्यत इत्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह– **जडरूपमिति** । साक्षिणो जडाकारो विशेषरूपोऽपि न युज्यते । तमःप्रकाशयोरिव चिज्जडयोरेकत्वविरोधादित्यर्थः ॥ २१–२३ ॥

है ॥ १५–१७ ॥ साक्षी का आकार एक ही रहता है, साक्ष्य में चाहे जितना परिवर्तन आता रहे । अतः साक्षी में कोई भेद नहीं । सारा भेद साक्ष्य में ही है । जैसे प्रकाश्यनानात्व से प्रकाशक सूर्य में नानात्व नहीं वैसे देहादि साक्ष्यों के भेद से साक्षी में भेद नहीं ॥ १८$^1/_2$ ॥ यद्यपि केवल साक्षिरूप से किसी भेद का निरूपण नहीं हो पाता तथापि कुछ लोग ऐसा कहते पाये जाते हैं कि साक्षी ही साक्ष्यरूपों से भी स्थित होने से उस रूप से विभिन्न है । किंतु इसमें संशय नहीं कि उन्हें महामोहनामक साँप ने डँसा है जिससे उन्हें अज्ञानरूप जहर चढ़ गया है और वे ऐसी अनर्गल बात बोलते हैं ॥ २० ॥ उनकी मान्यता असंगत इसलिये है कि वे जिस विशेषाकार से (साक्ष्यरूप से) साक्षी का भेद बताते हैं वह विशेषाकार चेतनात्मक है या जडात्मक ? इससे भिन्न तो कोई रूप हो नहीं सकता ॥ २१ ॥ यदि कहो चेतनात्मक है तब तो साक्षी ही हुआ, आकार में विशेषता क्या हुई ? बिना किसी भेद का उल्लेख किये चेतन का

[1] घ. तु भावयेत् ।

अतो विशेषाकारेण भेदं ये सर्वसाक्षिणः ।
वदन्ति ते महाभ्रान्ता निमग्नाश्च भवार्णवे ॥ २४ ॥
आत्मनः सर्वसाक्षित्वमेकत्वं च तथैव च ।
नित्यत्वं चैव शुद्धत्वं भूमानन्दत्वमेव च ।
ब्रह्मत्वं च द्विजा वेदा वदन्ति श्रद्धया सह ॥ २५ ॥
स्मृतयश्च पुराणानि भारतादीनि चाऽऽस्तिकाः ॥ २६ ॥
महादेवश्च विष्णुश्च ब्रह्मा च मुनयस्तथा ।
नित्यत्वं शुद्धबुद्धत्वमात्मनः प्रवदन्ति हि ॥ २७ ॥

अतो विशेषाकारेण साक्षिभेदवर्णनं भ्रान्तप्रलपितमित्युपसंहरति– अत इति ॥ २४ ॥ यथोदीरितसाक्षिसद्भावे श्रुतिं संवादयति– वेदा वदन्तीत्यादिना । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यात्मनः सर्वसाक्षित्वम् । तत्र हि साक्ष्यविशेषस्यानुपादानात्सर्वसाक्ष्यप्रतियोगित्वं साक्षिणोऽवगम्यते । 'एकमेवाद्वितीयम्' 'एको देवः सर्वभूतेषु[1] गूढः' इत्येकत्वम् । 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इति नित्यत्वम् । 'आस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्' इति शुद्धत्वम् । 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति भूमात्मकत्वम् । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यानन्दब्रह्मात्मकत्वं[2] च श्रुतयः प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ न केवलं श्रुतय एव तदर्थानुसारिस्मृतिपुराणेतिहासादयोऽपि साक्षिण उक्तरूपं प्रतिपादयन्तीत्याह–स्मृतयश्चेति ॥ २६–२८ ॥

चेतन से भेद बताने पर तो बच्चे भी हँसेंगे । यदि कहो जडात्मक है, तब तो असंभव ही है । चिद्रूप साक्षी का विशेषाकार (आकारविशेष) जड है–यह सर्वथा असंगत है । जैसे प्रकाश का विशेषाकार अंधकार नहीं हो सकता वैसे ही चेतन का विशेषाकार जड नहीं हो सकता ॥ २२–२३ ॥ अतः जो कह देते हैं कि साक्ष्य रूप से भी साक्षी स्थित है वे परम भ्रांत है तथा संसारसमुद्र में डूबने वाले हैं । (याद रखना चाहिये कि ये वादी साक्षी वस्तुतः साक्ष्याकार भी है ऐसा मानते हैं । यदि यों मानते कि भ्रम से साक्ष्य रूप से दीखता है तब तो सिद्धान्त के अनुयायी हो जाते ।) ॥ २४ ॥

आत्मा ही सर्वसाक्षी है, एक है, नित्य है, शुद्ध है, व्यापक आनंदरूप है, अद्वितीय ब्रह्मरूप है–ऐसा केवल वेद ही तात्पर्यतः प्रतिपादित करते हैं ॥ २५ ॥ स्मृतियाँ, पुराण तथा महाभारत आदि सद्ग्रन्थ भी यही कहते हैं ॥ २६ ॥ महादेव, विष्णु, ब्रह्मा तथा सब मुनि आत्मा की नित्यता, शुद्धता, ज्ञानरूपता व मुक्तता की घोषणा किया करते हैं ॥ २७ ॥

अतः हे ब्राह्मणोत्तमो ! मैं जीभ पर तपा फरसा रखकर निःसंशय कहता हूँ– आत्मा ही नित्य वस्तु है, अन्य कोई नहीं । (जीभ पर तपा फरसा रखना अपनी बात के सत्यापनार्थ है । मिथ्याभाषी यदि ऐसा करे तो उसकी जीभ जल जाये । सत्यभाषी यों करता है तो उसकी हानि नहीं होती । प्राचीन

---

१ घ. सर्वदेहेषु । २ घ. ङ. च. °नन्दं ब्र° ।

तस्मादात्मैव विप्रेन्द्रा नित्यं वस्तु न चापरम् ।
जिह्वायां परशुं तप्तं धारयामि न संशयः ॥ २८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे नित्यवस्तुविचारो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि विशिष्टं धर्ममादरात् ।
शृणुतात्यन्तकल्याणं मुनयः परया मुदा ॥ १ ॥

पुरा वेदविदां मुख्याः कावषेया महर्षयः । सत्रावसाने संभूय श्रद्धया परया सह ॥ २ ॥

विचार्य सुचिरं कालं विशिष्टं धर्ममास्तिकाः ।
पुनः संशयमापन्ना विषण्णा विवशाश्च ते ॥ ३ ॥

गत्वा हिमवतः पार्श्वं त्रिकालस्नानसंयुताः ।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गास्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकाः ॥ ४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकाख्यटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे नित्यवस्तुविचारो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

यस्मादुक्तरीत्याऽऽत्मस्वरूपमेव नित्यमतस्तद्गोचरं वेदान्तवाक्यमेव मुख्यं प्रमाणं तज्जनितं परशिवात्मविषयं ज्ञानमेव परमो धर्म इति प्रतिपादयितुमध्याय आरभ्यते—अथात इति ॥ १-२ ॥

काल में मंत्रादि के द्वारा ऐसी सामर्थ्य होती थी कि सत्यवादी को तपा लोहा जला नहीं पाता था । अथवा यों समझना चाहिये कि यदि तपा लोहा भी मेरी जीभ पर रखो तो भी मैं अपना बयान बदलूँगा नहीं क्योंकि मुझे इसके सत्यत्व का अपरोक्ष निश्चय है ।) ॥ २८ ॥

विशिष्ट धर्म का विचार नामक बीसवा अध्याय

सूतजी बोले—अब मैं श्रद्धापूर्वक ज्ञान नामक विशिष्ट धर्म के विषय में बताता हूँ । परम प्रसन्नता से आप सुनें क्योंकि यह अत्यन्त कल्याण देने वाला धर्म है ॥ १ ॥

प्राचीन काल में कावषे नामक उत्तम वेदवेत्ता महर्षियों ने सत्र की समाप्ति पर एकत्र हो विशिष्ट धर्म के विषय में भक्तिपूर्वक विचार किया, किन्तु वे निर्णीत न कर पाये कि सबसे विशिष्ट धर्म कौन-सा है ॥ २-३ ॥ वे हिमालय के निकट गये और तीन साल तक तपस्या करते रहे । प्रतिदिन तीन बार स्नान करते थे, सारी देह पर भस्म का उद्धूलन करते थे और मस्तक पर त्रिपुण्ड्र लगाते थे । जटायें रखी थीं । रुद्राक्ष और वल्कल (वृक्षों की छाल का आवरण) धारण करते थे । निःसीम तेजस्वी शंभु

रुद्राक्षमालाभरणा जटावल्कलसंयुताः । लिङ्गार्चनपरा नित्यं शंभोरमिततेजसः ॥ ५ ॥

तप्तवन्तस्तपः सर्वे वत्सराणां त्रयं महत् । महादेवप्रसादेन महाकारुणिकोत्तमः ॥ ६ ॥

शक्तिपाणिर्महातेजा द्वितीय इव शंकरः । स्कन्दः सर्वजगत्स्वामी प्रत्यक्षमभवत्स्वयम् ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे प्रसन्नेन्द्रियमानसाः ।
भक्त्या परमया युक्ता विवशा गद्गदस्वराः ॥ ८ ॥

प्रणम्य दण्डवद्भूमावुत्थायोत्थाय सादरम् । स्तोत्रैः स्तुत्वा महात्मानं समभ्यर्च्य यथाबलम् ॥ ९ ॥

कृताञ्जलिपुटा भूत्वा पप्रच्छुर्धर्ममुत्तमम् । सोऽपि सर्वजगत्स्वामी तारकारिर्महाद्युतिः ॥ १० ॥

सर्वविज्ञानरत्नानामाकरः करुणाकरः । सुप्रसन्नः स्वयं प्राह मुनीनां धर्ममुत्तमम् ॥ ११ ॥

स्कन्द उवाच— शृणुध्वं मुनयः सर्वे महाभाग्यसमन्विताः ।
वदामि संग्रहेणाहं युष्माकं धर्ममुत्तमम् ॥ १२ ॥

पुनः संशयमापन्ना इति । ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितैर्यागहोमादिभिः प्रक्षीणकल्मषाः कावषेयाः पुनः प्रतिबन्धकदुरितलेशावशेषेण[1] नानाविधैरागमैर्बहुधोच्यमानं तत्त्वमिदमीदृगिति विचार्य निश्चेतुमशक्ताः सन्तः संशयाविष्टा

के लिंग की नित्य अर्चना करते थे ॥ ४–५$^1/_2$ ॥ महादेव की कृपा से दूसरे शिव की तरह, परम करुणावान्, सारे जगत् के मालिक, शक्ति नामक आयुध हाथ में लिये हुए स्कन्द उन महर्षियों के सामने प्रकट हुए ॥ ६–७ ॥ उन्हें देख कावषेय मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए । सबने गद्गद हो उनका स्वागत किया, प्रणाम किया, पूजन किया और नाना स्तोत्रों से उनकी स्तुति की ॥ ८–९ ॥ तदनन्तर अंजलि बाँधकर उनसे पूछा 'सर्वोत्तम धर्म क्या है ?' सब विद्याओं की निधिरूप उन तारकासुर के हन्ता करुणालय कुमार स्कन्द ने प्रसन्नतापूर्वक यह उत्तर दिया : ॥ १०–११ ॥

स्कन्द बोले—हे महाभाग्यशाली मुनियो ! मैं संक्षेप में सर्वोत्तम धर्म के विषय में बताता हूँ, आप सब सुनें ॥ १२ ॥

बिना किसी शास्त्र के आधार पर केवल अपनी बुद्धि से कल्पित कर जो तप किया जाता है उसे निर्मूल धर्म कहते हैं, किन्तु श्रद्धा से किया जाये तो वह भी धर्म तो है ही, हाँ निकृष्ट व अत्यल्पफलक

---

१ ग. घ. च. छ. ज °लेपाव° ।

स्वमनीषिकयोत्पन्नो निर्मूलो धर्मसंज्ञितः ।
श्रद्धया सहितो यस्तु सोऽपि धर्म उदाहृतः ॥ १३ ॥
निर्मूलोऽपि स्वबुद्ध्यैव कल्पितोऽपि महर्षयः ।
देवताराधनाकारो धर्मः पूर्वोदितावरः ॥ १४ ॥
देवताराधनाकारान्निर्मूलाद् बुद्धिकल्पितात् ।
धर्माच्छ्रेष्ठः समाख्यातः समूलो धर्म आस्तिकाः ॥ १५ ॥
समूलेषु च धर्मेषु बुद्धागमसमन्वितः । धर्मः श्रेष्ठ इति प्रोक्तो मया वेदार्थपारगाः ॥ १६ ॥

एवाभयन्नित्यर्थः ॥ ३–१२ ॥ वेदान्तवाक्यजनितस्य च ज्ञानस्य परमधर्मत्वं सत्स्वेवापरधर्मेषु[1] इत्यभिप्रेत्य तानुत्तरोत्तरमुत्कृष्टत्वेन प्रतिपादयति–स्वमनीषिकयेत्यादिना । शास्त्रादनवगम्यैव बुद्ध्युत्प्रेक्षामात्रेण यत्तपः क्रियते स धर्मो भवति । निर्मूलो मूलागमरहितः ॥ १३ ॥ पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनो धर्मो देवताराधनरूपश्चेत्तदा पूर्वोक्ताद्धर्माद्देवताराधनविलक्षणाच्छ्रेष्ठः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ १४ ॥ समूल इति । मूलसहित[2] इत्यर्थः ॥ १५ ॥ बुद्धागमेति । बुद्धप्रोक्ता आगमा बुद्धागमाः ॥ १६ ॥

है, यह बात दूसरी है ॥ १३ ॥ ऐसा निर्मूल व निज कल्पनामात्र पर आधारित भी धर्म यदि देवता की आराधना रूप हो तो पूर्वोक्त निर्मूल तप से श्रेष्ठ है । (उदाहरणार्थ, शास्त्रादि विधि का पता लगाये बिना खुद ही या अपनी ही तरह के किसी शास्त्र-अनभिज्ञ से सुनकर किसी विशिष्ट दिन किसी विशिष्ट तरह का व्रत रखना– यह प्रथम प्रकार का धर्म है । देवपूजा का विधान जाने बिना अपनी इच्छा आदि से मनमाने क्रम आदि से चाहे जो उपचार चाहे जिस मंत्रादि का उच्चारण कर यथेच्छ मौके पर चढ़ाना द्वितीय प्रकार का धर्म है ।) ॥ १४ ॥ निर्मूल देवताराधन रूप धर्म से समूल धर्म श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥ समूल धर्मों में बुद्धप्रोक्त आगमों में प्रतिपादित धर्म श्रेष्ठ है (इससे अर्थ निकलता है कि अन्य नास्तिक मत–मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि–भी धर्मरूप से स्वीकार्य हैं । वे निर्मूल से बेहतर किंतु बौद्धधर्म से बदतर हैं । यह समन्वय दृष्टि वेदान्तसंप्रदाय की है । किसी तरह अदृष्ट न मानने से उसे मानना अच्छा । मनमाने ढंग की अपेक्षा किसी निश्चित मार्ग पर श्रद्धापूर्वक चलना अच्छा । जो किसी पंथ को मानता है वह संभवतः कभी किसी बेहतर पंथ को भी मान लेगा । जो किसी को नहीं मानता वह तो सर्वथा हेय है । इसी दृष्टि से कहा करते हैं कि वेदान्त हिंदू को बेहतर हिंदू, मुसलमान को बेहतर मुसलमान, ईसाई को बेहतर ईसाई आदि बना सकता है । धर्म-परिवर्तन वेदान्त को स्वरस प्रतीत नहीं होता । जहाँ भगवदिच्छा से जन्म मिला है वहीं अपना अधिकार है । अन्यथा परमेश्वर वहाँ जन्म ही क्यों देते ? जैसे सिंह योनि वाले का मृगादि-भक्षण में अधिकार है । यदि उसे घास आदि खाना उचित होता तो शिव

---

१ ग. घ. च °रमध° । २ घ मूलभूत ।

धर्मः श्रेष्ठ इति प्रोक्तो धर्मतत्त्वविशारदैः ॥ १७ ॥
बुद्धागमोदिताद्धर्मादर्हागमसमीरितः । धर्मः श्रेष्ठ इति प्रोक्तः सर्वधर्मार्थवेदिभिः ॥ १८ ॥
अर्हागमोदिताद्धर्मात्प्राजापत्यागमोदितः ।
प्राजापत्यागमप्रोक्ताद्धर्माद्वेदविदां वराः ।
मया श्रेष्ठ इति प्रोक्तो धर्मो विष्ण्वागमोदितः ॥ १९ ॥
विष्ण्वागमोदिताद्धर्मादशेषादास्तिकोत्तमाः ।
शैवागमोदितो धर्मो वरिष्ठो नैव संशयः ।
शैवागमोदितो धर्मो द्विधा पूर्वमुदीरितः ॥ २० ॥

अर्हागमेति । क्षपणकागम इत्यर्थः ॥ १७ ॥ प्राजापत्यागमेति । ब्रह्मणा प्रोक्तो ब्रह्मविषयो वाऽऽगमः । विष्ण्वागमशैवागम-

ने उसे हाथी आदि योनि दी होती । सर्वज्ञ महेश्वर ने जिसको जिस योग्य समझा उसे वैसी योनि दी । अपनी स्थिति के अनुसार हम समुचित कर्मादि करें यही हमारा कर्तव्य है । उसे बदलने का प्रयास शेर को बकरी या मच्छर को गेंडा बनाने जैसा है । जो मुसलमान आदि पैदा हुआ है वह भी ईश्वरेच्छा से ही हुआ है अतः भगवान् उसे मुसलमान बनाना चाहते हैं । उसका यही कर्तव्य है कि वह अच्छे से अच्छा मुसलमान बने । ऐसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिये । सामाजिक संगठनों की दृष्टि से यह सिद्धान्त अस्वीकार्य हो तो हुआ करे । प्रकृत पुराण की दृष्टि से तो यही उचित प्रतीत होता है ।) ॥ १६ ॥ बौद्ध धर्म से क्षपणकों के (जैनों के) आगमों में प्रोक्त धर्म श्रेष्ठ है । (भक्ष्याभक्ष्य का विचार, दान, तप आदि आचारों की दृष्टि से जैनों की श्रेष्ठता है । दार्शनिक भूमि में स्याद्वाद लगभग अनिर्वचनीयवाद का निकटवर्ती है ही । यद्यपि बौद्धदर्शन मिथ्यात्व स्वीकारक है तथापि सत्य को या क्षणिक या शून्य स्वीकारता है जबकि जैन आत्मा को सत्य और स्थायी मानते हैं । मुक्तावस्था में आत्मा की व्यापकता भी स्वीकार लेते हैं । जैनागमों में आत्मा को विज्ञान से अभिन्न भी कहा है । एवं च बौद्धापेक्षया श्रेष्ठता स्वीकार्य है ।) ॥ १७ ॥ जैनधर्म की अपेक्षा ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त आगमों में कहा धर्म श्रेष्ठ है ॥ १८ ॥ उसकी अपेक्षा वैष्णवागमों का अनुसरण श्रेष्ठ है ॥ १९ ॥ उसकी भी अपेक्षा शैवागमोक्त धर्म की निःसंशय श्रेष्ठता है । (वैष्णव पूर्णतः या अंशतः भेदसत्यवादी हैं । इसके विपरीत शैवैकदेशी अभेदसत्यत्ववादी हैं । यह तो दार्शनिक श्रेष्ठता का बीज है । आचारदृष्ट्या वैष्णव शिवासहिष्णु हैं जबकि शैव विष्णु का देवत्व स्वीकारते हैं । श्रौत मार्ग में वैष्णव अपनी अहिंसादि मान्यताओं के अनुसार हेर-फेर करते हैं । शैवों का ऐसा आग्रह नहीं । इन सब कारणों से शैवों की श्रेष्ठता में कोई संशय नहीं ।) ॥ १९½ ॥ शैवागमों में बताया धर्म दो प्रकार है—अधःस्रोतोद्भव और ऊर्ध्वस्रोतोद्भव । (शैवागमों की उत्पत्ति शिव से बतायी गयी है । शिव के मायिक शरीर में नाभि से नीचे के हिस्सों से जो आगम उद्भूत माने गये हैं वे

अधःस्रोतोद्भवस्त्वेक ऊर्ध्वस्रोतोद्भवोऽपरः[1] ॥ २१ ॥
अधःस्रोतोद्भवाद्धर्मादूर्ध्वस्रोतोद्भवः परः ।
कामिकादिप्रभेदेन स भिन्नोऽनेकधा द्विजाः ॥ २२ ॥
अधःस्रोतोद्भवो धर्मो बहुधा भेदितस्तथा ।
ऊर्ध्वस्रोतोद्भवाद्धर्मात्स्मार्ता धर्मा महत्तराः ॥ २३ ॥
स्मार्तेभ्यः श्रौतधर्माश्च वरिष्ठा मुनिसत्तमाः ।
तेषां[2] शान्त्यादयः श्रेष्ठास्तेषां भस्मावगुण्ठनम् ॥ २४ ॥
रुद्राक्षधारणं चापि शिवाधाख्याभिभाषणम् ।
शिवलिङ्गार्चनं भक्त्या शिवोऽहमिति भावना ॥ २५ ॥
शिवज्ञानैकनिष्ठस्य शुश्रूषा च विशिष्यते ।
तेषां वेदान्तवाक्यानां तात्पर्यस्य निरूपणम्[3] ॥ २६ ॥

शब्दयोरप्येवमेवार्थः ॥ १८–२० ॥ उक्तधर्मस्य द्वैविध्यमाह–अधःस्रोतोद्भव इति । अधःस्रोतांसि लीलाविग्रहधारिणः परशिवस्य[4] नाभेरधोभागस्तदुद्भवो[5] धर्मोऽधःस्रोतोद्भवः । ऊर्ध्वस्रोतांसीशानतत्पुरुषादिपञ्च वक्त्राणि तदुद्भवो धर्म ऊर्ध्वस्रोतोद्भवः कामिकादिभेदेन बहुधा भिन्नः । उक्तं ह्यागमिकैः –'सद्योजातमुखाज्जाताः पञ्चाऽऽद्याः कामिकादयः । वामदेवमुखाज्जाता दीप्ताद्याः पञ्च संहिताः ॥ अघोरवक्त्रादुद्भूताः पञ्चाऽऽप्तिविजयादयः । पुंवक्त्रादपि चोद्भूताः पञ्च वै रौ(भै)रवादयः ॥ ईशानवदनाज्जाताः प्रोद्गीताद्यष्ट संहिताः' इति ॥ २१ ॥ २२ ॥ अधःस्रोतोद्भव इति । अधःस्रोतोद्भवोऽपि धर्मः कापालादिमतभेदेन बहुधाभेदित इत्यर्थः । स्मार्ता धर्मा इति । मन्वादिस्मृतिपुराणस्था इत्यर्थः ॥ २३ ॥ तेषामिति । श्रौतधर्माणां मध्ये ये प्रवृत्तिहेतवो यागहोमाद्यास्तेभ्योऽपि निवृत्तिहेतवः शान्तिदान्त्यादयः श्रेयांस इत्यर्थः ॥ २४–२६ ॥

अधःस्रोतोद्भव हैं । जो उनके पाँच मुखों से उत्पन्न माने गये हैं वे ऊर्ध्वस्रोतोद्भव हैं ।) अधःस्रोतोद्भव भी कापाल आदि मतभेद से विविध हैं । इनकी अपेक्षा ऊर्ध्वस्रोतोद्भव आगम श्रेष्ठ हैं । वे भी कामिक आदि भेद से अनेक प्रकार के हैं ॥ २०–२२½ ॥ ऊर्ध्वस्रोतोद्भव शैवागमों में प्रतिपादित धर्म की अपेक्षा मनु आदि स्मृतियों में विहित धर्म श्रेष्ठ हैं ॥ २३ ॥ स्मार्तधर्मों की अपेक्षा श्रौत धर्म श्रेष्ठ हैं । उनमें भी शम दम आदि निवृत्तिधर्म श्रेष्ठ हैं । उनमें भी भस्मधारण उत्तम है ॥ २४ ॥ रुद्राक्ष पहनना, शिव आदि नामों का जप, शिवलिंगार्चन, 'शिवोऽहम्' (मैं शिव हूँ) ऐसी भावना करना तथा शिवविज्ञानी महात्मा की सेवा करना– ये सब विशिष्ट उत्तम धर्म है ॥ २५½ ॥ इन सब में सब धर्मों से श्रेष्ठ तथा मोक्ष का अचूक साधन है वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य का निर्धारण रूप श्रवणात्मक ज्ञान । ज्ञान से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है । यही वेद का निर्णय है ॥ २६–२७ ॥ पूर्वोक्त ज्ञानांग शमादि में सबसे उत्तम है भस्मधारण । जैसे

---

१ ख. ग. घ. ज. °द्भवः प° । २ श्रौतो धर्मो द्विविधः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च । उभावपि श्रेयोहेतू । तयोश्चक्रमो यावद्वैराग्योदयस्तावदाद्योनुष्ठेयस्ततश्चापर इत्यादि गीताभाष्यादौ प्रपंचितमिहानुसन्धेयम् । ३ स्वचित्ते निर्धारणमित्यर्थः तदेव ज्ञानं मोक्षैकसाधनमित्युत्तरश्लोक उक्तम् । मननादीनामङ्गत्वात्पृथगनुक्तिः । श्रवणादेरंगत्वमते निरूपणं निदिध्यासनं तदेव चोत्तरोक्तं ज्ञानम्, तन्मते निदिध्यासनादेव ज्ञान आपरोक्ष्याभ्युपगमादपरोक्षस्यैव च तस्य मोक्षैकसाधनत्वसंभवादिति दिक् ॥ ४ ग. च. छ. ज. °वस्याऽऽना° । ५ ख. ग. घ. ङ. च. ङ. ज. भागोऽधःस्रोतस्त° ।

वरिष्ठं सर्वधर्मेभ्यो ज्ञानं मोक्षैकसाधनम् ।
ज्ञानान्नास्ति परो धर्म इति वेदार्थनिर्णयः[1] ॥ २७ ॥
पूर्वोदितेभ्यः सर्वेभ्यः सत्यधर्मपरायणाः । ज्ञानाङ्गेभ्यः समासेन भस्मैकं परमं मतम् ॥ २८ ॥
भस्मसाधननिष्ठानां साक्षाद्भस्म शिवाभिधम् ।
प्रकाशते यथा शान्त्या शान्तं वस्तु परात्परम् ॥ २९ ॥
ज्ञानस्य कारणेभ्यस्तु श्रुतिरेव महत्तरा । ज्ञानानां शंभुविज्ञानं वरिष्ठं[2] नेतरद्भवेत् ॥ ३० ॥
वेदवाक्यसमुत्पन्नं शिवज्ञानं निरूपणे । सम्यग्ज्ञानं मयाऽऽख्यातमितरद्व्यवहारतः ॥ ३१ ॥
चोदनालक्षणो धर्मो धर्मः साक्षान्निरूपणे । इतरो व्यवहारे तु धर्म इत्यभिशब्द्यते ॥ ३२ ॥
आस्तिक्यान्वयमात्रेण धर्माभासेऽपि सुव्रताः ।
प्रयुक्तो धर्मशब्दस्तु मुख्यो धर्मस्तु वेदजः ॥ ३३ ॥

उक्तानां[3] धर्माणां पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरोत्तरो धर्मो यथोत्कृष्यत एवं वेदान्तवाक्यजनिताज्ज्ञानादपि[4] कश्चिदुत्कृष्टो धर्मोऽस्तित्यत आह– ज्ञानान्नास्तीति ॥ २७ ॥ शान्तिदान्त्यादिभ्योऽपि भस्मावगुण्ठनस्य वैशिष्ट्यमाह– पूर्वोदितेभ्य इति ॥ २८ ॥ साक्षाद्भस्म शिवाभिधमिति । तदुक्तं प्राक्–'शिवस्वरूपं परमं भासनाद्भस्म संमतम्' इति ॥ २९ ॥ श्रुतिरेव महत्तरेति । ज्ञानसाधनं सर्वाधिकेत्यर्थः । शंभुविज्ञानमिति । वेदान्तवाक्यजनितं यत्परशिवस्वरूपविषयं ज्ञानं तदेव विषययाथार्थ्यात्प्रत्यक्षादिप्रमाणजनितज्ञानानां मध्ये प्रशस्ततरमित्यर्थः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ चोदनालक्षण इति । चोदना वेदवाक्यं तत्प्रतिपादितो धर्मः । तथा च जैमिनिसूत्रम्–'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति । यद्येवं तदतिरिक्तेष्वागमादिसिद्धेषु पूर्वोक्तेष्वर्थेषु धर्मशब्दप्रयोगः कथमित्यत आह– इतरो व्यवहार इत्यादि ॥ ३२ ॥ आस्तिक्यान्वयमात्रेणेति । यथा श्रौतधर्मेष्वास्तिक्यं[5] तथैव[6] तदितरधर्माभासेऽपि तद्दर्शनात्तत्र धर्मशब्दप्रयोगो गौण इत्यर्थः ॥ ३३ ॥ अथ बहुभिर्निदर्शनैः श्रुतिप्रमाणस्योत्कर्षं प्रतिपादयति– यथा शंभुसम इत्यादिना ॥ ३४–४७ ॥

शान्ति के अभ्यास से परात्पर परम शांत आत्मवस्तु प्रकाशित होती है, वैसे ही जो भस्मरूप साधन में निष्ठा वाले हैं उन्हें शिवनामक परम भस्म का साक्षात्कार हो जाता है । (सोलहवें अध्याय में (श्लो. ३८) यह बताया जा चुका है कि परमभस्म शिव है ।) ॥ २९ ॥ ज्ञानोत्पादक साधनों में श्रुति ही सबसे महान् है । (अन्य साधन मन आदि या स्मृत्यादि प्रमाणांतर हैं जिनकी अपेक्षा वेद की श्रेष्ठता है) । श्रुति से होने वाले सब ज्ञानों में श्रेष्ठ है शिवानुभव । (अन्य श्रौतज्ञान हैं कर्म ज्ञान, उपासना ज्ञान, ज्ञानसाधनों का ज्ञान, त्वमर्थ का ज्ञान आदि) ॥ ३० ॥ वास्तविकता का निरूपण करने पर मैं वेदवाक्यों से उत्पन्न अखण्ड शिवज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहता हूँ । अन्य ज्ञान वेदवाक्य से उत्पन्न होने पर भी केवल व्यवहारभूमि में ही सम्यक् हैं ॥ ३१ ॥ इसी प्रकार वेदप्रतिपादित धर्म ही वस्तुतः धर्म है । 'धर्म' शब्द का मुख्य अर्थ तो वही है । अन्य (शैवागम से स्वमनीषा तक के) धर्म तो केवल कहने भर के धर्म हैं । परलोक स्वीकारना – इतनी समानता होने से उन्हें गौणी वृत्ति से धर्म कह देते हैं । (हैं वे अधर्म ही । एवमपि अनधिकारियों के कल्याण के उपाय वे ही हैं ।) ॥ ३२–३३ ॥ जैसे शंभु के समान कोई देवता नहीं वैसे वेद के

१ घ. °दान्तनि° । २ व. °ष्ठं तेन तद्ध° । ३ ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. अनुक्ताना । ४ ख. घ. °दन्यध° । ५ परलोकस्वीकार इहास्तिक्यम् । ६ ख. घ.°तास्वपि तद्द° ।

यथा शंभुसमो देवो नास्ति पुण्यवतां वराः ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३४ ॥
यथा विप्रसमो मर्त्यो नास्ति वेदविदां वराः ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३५ ॥
यथैवान्नसमं भोज्यं नास्ति लोके विचक्षणाः ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३६ ॥
यथा गङ्गासमा पुण्या नदी लोके न विद्यते ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३७ ॥
यथा वाराणसीतुल्या पुरी लोके न विद्यते ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३८ ॥
यथा [1]दभ्रसभातुल्यं स्थानं लोके न विद्यते ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ३९ ॥
षडक्षरसमो मन्त्रो यथा लोके न विद्यते ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ४० ॥
यथा गुरुसमस्त्राता नास्ति संसारसागरात् ।
तथा वेदसमं मानं नास्ति तत्र न संशयः ॥ ४१ ॥
अतश्च संक्षेपमिमं वदामि वः श्रुतिः प्रमाणं शिव एव केवलः ।
वरिष्ठ उक्तः सितभस्मगुण्ठनं विशुद्धविद्या च न चेतरत्परम् ॥ ४२ ॥

समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३४ ॥ जैसे वेदज्ञ ब्राह्मण के समान कोई जीव नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३५ ॥ जैसे चावल के समान कोई खाद्य नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३६ ॥ जैसे गंगा के समान कोई पुण्य नदी नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३७ ॥ जैसे वाराणसी के समान कोई पुरी नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३८ ॥ जैसे दभ्रसभा के (जहाँ शिव नृत्य करते हैं वह सभा या चिदम्बर मंदिर) तुल्य कोई स्थान नहीं वैसे वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ३९ ॥ जैसे षडक्षर की (ॐ नमः शिवाय) तरह कोई मंत्र नहीं वैसे वेद की तरह कोई प्रमाण नहीं ॥ ४० ॥ जैसे गुरु के समान दूसरा कोई नहीं जो संसार सागर से बचा सके वैसे ही वेद के समान कोई प्रमाण नहीं ॥ ४१ ॥

अतः आप लोगों को यह सार बताता हूँ–श्रुति ही प्रमाण है, शिव ही एकमात्र परम सत्य हैं, सित भस्म को धारण करना ही उत्तम साधना है और शिवात्मैक्य का अखण्डानुभव ही मोक्ष का साक्षात् उपाय

---

१ क. छ. °दस्रस° ।

सूत उवाच— एवमुक्त्वा मुनीन्द्रेभ्यः श्रीमान्बर्हिणवाहनः ।

जगत्स्वामी महातेजास्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ४३ ॥

कावषेया अपि श्रेष्ठाः प्रसादात्तारकारिणः । महादेवं महात्मानं ददृशुः स्वयमागतम् ॥ ४४ ॥

तं प्रणम्य महादेवं सर्वज्ञमपराजितम् । श्रीमत्पञ्चाक्षरेणैव पूजयामासुरादरात् ॥ ४५ ॥

देवदेवो महादेवो देवानामपि देशिकः । मुनिभ्यः कावषेयेभ्यः स्वात्मज्ञानं ददौ मुदा ॥ ४६ ॥

मुनीन्द्रा अपि ते सर्वे विशुद्धज्ञानिनां वराः ।

प्रणम्य देवमीशानं साम्बं संसारभेषजम् ॥ ४७ ॥

प्रसादयित्वा देवेशं कृतार्था आत्मवेदनात् ।

निःस्पृहाः स्वात्मनोऽन्यत्र ययुर्हिमवतो गुहाम् ॥ ४८ ॥

विशिष्टधर्मः कथितः समासतो मयैव वेदार्थविचारणक्षमः[2] ।

इतोऽतिरिक्तं सकलं पलालवद्वृथा न लाभाय विशुद्धचेतसाम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे विशिष्टधर्मविचारो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

निःस्पृहाः स्वात्मनोऽन्यत्रेति । सच्चिदानन्दैकरसस्वस्वरूपानुसंधानादन्यस्मिन्धर्मे निःस्पृहाः । श्रूयते ह्यैतरेयके–'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं [3]यक्ष्यामहे' इति ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे विशिष्टधर्मविचारो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

है । इससे अतिरिक्त कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है । (एवं च श्रुत्यनुसार भस्मधारण करते हुए शिवात्मभावप्राप्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है ।) ॥ ४२ ॥

सूत जी बोले—यों उपदेश देकर, मुनियों का संशय समाप्त कर स्कन्द वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ४३ ॥ कावषेय महर्षियों ने भी कार्तिककृपा से वहीं पधारे महादेव का दर्शन किया ॥ ४४ ॥ सबने प्रणामपूर्वक उनकी पंचाक्षर मंत्र से सप्रेम पूजा की ॥ ४५ ॥ महादेव ने उन्हें दयावश शिवात्मैक्य ज्ञान का उपदेश दिया ॥ ४६ ॥ ज्ञान पाकर वे भी कृतार्थ हो गये और महादेव को प्रणाम कर हिमालय की गुफाओं में चले गये ॥ ४७–४८ ॥

इस प्रकार मैंने विशिष्ट धर्म संक्षेप में बता दिया है । वेदान्तविचार ही विशिष्ट धर्म है । इससे भिन्न सब कुछ भूसे की तरह है । वह शुद्ध मन वालों का कोई लाभ नहीं करता ॥ ४९ ॥

---

१ ग. °ष्ठमुक्तं सि° । २ ग. °रलक्षणः । इ° । ३ यक्ष्यामहे ।

एकविंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि मुक्तिसाधनमास्तिकाः ।
शृणुत श्रद्धया सार्धं साक्षाद्वेदान्तदर्शितम् ॥ १ ॥

पुरा श्वेतादिऋष्यन्ता मुनयो मुनिसत्तमाः ।
संख्या च शतमेतेषां सह द्वादशसंख्यया ॥ २ ॥

त एते भस्मदिग्धाङ्गास्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकाः । रुद्राक्षमालाभरणा रुद्राराधनतत्पराः ॥ ३ ॥

तपश्चेरुर्महातीव्रं परया श्रद्धया सह । श्रीमद्दक्षिणकैलासे साक्षात्संसारनाशके ॥ ४ ॥

यस्य दर्शनमात्रेण पापानि सकलानि तु । नश्यन्ति वह्निसंयुक्तं यथा तूलं प्रदह्यते ॥ ५ ॥

यस्मिन्निवसतां नृणामशेषाणां महेश्वरः । ददाति परमां मुक्तिमचिरेण द्विजोत्तमाः ॥ ६ ॥

यत्र भस्मरतानां तु द्विजानां प्रतिवत्सरम् ।
यथाशक्ति धनं दत्त्वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ७ ॥

अथ मुक्तेरन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनप्रतिपादनव्याजेन शमदमादिसाधनसंपन्नस्यैव तत्राधिकारो नान्यस्येति प्रतिपादयितुमुपक्रमते— अथात इति । वेदान्तदर्शितमिति । 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्' इतिवेदान्तवाक्यप्रतिपादितमित्यर्थः ॥ १ ॥ तच्चोक्तसाधनमीश्वरानुग्रहेणैव लभ्यमिति ज्ञापयितुं पुरावृत्तमुदाहरति— **पुरेति** ॥ २ ॥ ३ ॥ पुण्यक्षेत्रवासोऽपि मुक्तावुपाय इत्यभिप्रेत्याऽऽह— **श्रीमद्दक्षिणकैलास** इत्यादिना ॥ ४–१४ ॥

मुक्तिसाधन-विचार नामक इक्कीसवाँ अध्याय

सूत जी ने कहा—अब मैं उपनिषदों में प्रदर्शित मुक्तिसाधनों का परिचय कराता हूँ ॥ १ ॥ श्वेत मुनि से ऋषि नामक मुनि तक के एक सौ बारह श्रेष्ठ मुनियों ने दक्षिण कैलास में (श्रीकालहस्तीश्वर में) प्राचीन काल में तपस्या की । उनके शरीर भस्मोद्धूलित रहते थे व माथे पर त्रिपुण्ड्र शोभित होता था । रुद्राक्ष माला से अलंकृत वे रुद्र की आराधना में तत्पर रहते थे । परम श्रद्धापूर्वक वे उस मोचक स्थान पर तपोरत थे ॥ २–४ ॥ जैसे वह्नि से संयुक्त होने पर तिनका जल जाता है वैसे ही दक्षिण कैलास के दर्शन से पाप ध्वस्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥ वहाँ के निवासी सभी मनुष्यों को महेश्वर मोक्ष देने में विलम्ब नहीं करते ॥ ६ ॥ वहाँ रहने वाले भस्मच्छन्न तपस्वियों को यदि प्रतिवर्ष यथाशक्ति धन दान दिया जाये

यत्र प्रतिदिनं पुंसां भक्तानामीश्वरस्य तु । मुष्टिमात्रप्रदानेन महापापाद्विमुच्यते ॥ ८ ॥

यत्र साक्षाच्छिवज्ञाननिष्ठस्यातिप्रियेण तु ।

भोजनं च तथा वस्त्रं दत्त्वा मुच्येत बन्धनात् ॥ ९ ॥

यत्र जप्तं हुतं दत्तं चिन्तितं च दिने दिने ।

ब्राह्मणानां तथाऽन्येषामनन्तं भवति ध्रुवम् ॥ १० ॥

तपसा शंकरस्तेषां प्रसन्नः करुणानिधिः । सांनिध्यमकरोत्तत्र शक्त्या परमया सह ॥ ११ ॥

तं दृष्ट्वा साम्बमीशानं साक्षात्संसारभेषजम् । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ पप्रच्छुर्मुक्तिसाधनम् ॥ १२ ॥

देवोऽपि करुणाविष्टः साक्षात्संसारमोचकः । मुनीनामुग्रतपसां बभाषे मुक्तिसाधनम् ॥ १३ ॥

ईश्वर उवाच— वक्ष्यामि परमं गुह्यं मुक्तिसाधनमादरात् ।

वर्णाश्रमसमाचारदेव मुक्तिर्न चान्यतः ॥ १४ ॥

स्वजातिविहितं धर्मं यः करोति प्रियेण तु ।

स जायते कुले मुख्ये विप्राणामीश्वराज्ञया ॥ १५ ॥

स्वजातिविहितमिति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां मध्ये यस्य यो धर्मो विहितः स स्वजातिविहितः ब्राह्मणस्य यजनादिकं, क्षत्रियस्य राज्यपरिपालनादिकं, वैश्यस्य कृषिगोर[1]क्षादिकं, शुद्रस्य द्विजशुश्रूषेत्येते स्वजातिविहिता धर्माः ॥ १५ ॥

तो दाता मुक्ति पा जाता है ॥ ७ ॥ प्रतिदिन वहाँ शिवभक्तों को मुट्ठीभर भी दान देने से महापापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ८ ॥ वहाँ रहने वाले शिवज्ञाननिष्ठ को भोजन व वस्त्र समर्पित करने से मोक्षलाभ निश्चित है ॥ ९ ॥ ब्राह्मण तथा अन्य भी वहाँ जो जप, होम, दान या विचार करता है, उसका अनंत फल मिलता है ॥ १० ॥ ऐसे महत्त्वपूर्ण उस स्थान पर तपस्या करने वाले उन मुनियों पर कृपा कर शिव ने उन्हें दर्शन दिया । भगवती उमा उनके साथ थी ॥ ११ ॥ उनका दर्शन पाकर मुनियों ने साम्ब सदाशिव को दण्डवत् प्रणाम किया तथा उनसे मोक्षसाधनविषयक प्रश्न किया ॥ १२ ॥ भगवान् भी उनके तप से प्रसन्न थे ही । उन्होंने कृपावश उन्हें मोक्षसाधन का उपदेश दिया ॥ १३ ॥

भगवान् बोले—मैं तात्पर्यपूर्वक मोक्ष के गोप्य साधनों को प्रकाशित करता हूँ । (इतने विद्वान् मुनि जिसे अब तक समझ नहीं पाये वह गुप्त है इसमें क्या संदेह ? वस्तुतः साधन स्वरूप से गुप्त नहीं हैं, उनकी मुक्तिसाधनता गुप्त है । वर्णाश्रम धर्म तो सर्वप्रसिद्ध हैं । केवल यह पता नहीं है कि वे ही ईश्वराराधन-बुद्धि से किये जायें तो मोक्षौपयिक हो जाते हैं । इसी रहस्य को आचार्य ने गीता के उपोद्घात

१ च. °रक्षणादि° ।

स पुनर्जातकर्मादिसंस्कारैरपि संस्कृतः । उपनीतो गुरोर्वेदानधीत्य विधिवत्पुनः ॥ १६ ॥

दारानाहृत्य यज्ञं च दानं च विविधं तथा ।
तपश्च विविधं घोरं कृत्वा कामनया विना ॥ १७ ॥

प्रनष्टपापः शुद्धान्तःकरणो ज्ञानवाञ्छया ।
विरक्तः सर्वलोकेभ्यो दोषाणां तु निरूपणात् ॥ १८ ॥

चित्तपाकानुगुण्येन प्रव्रज्यां कुरुते पुनः । तत्रामुमुक्षुः संन्यासी प्रेरितः परमेश्वरात् ॥ १९ ॥

कुटीचकाभिधां वृत्तिं वृत्तिं वाऽथ बहूदकाम् ।
हंसवृत्तिं तु वा नित्यं वाञ्छते मुनिसत्तमाः ॥ २० ॥

वेदानधीत्य विधिवदिति । अनेनैव ब्रह्मचारिणामनुष्ठानमुक्तम् ॥ १६ ॥ दारानाहृत्येत्यादिना गार्हस्थ्याश्रमधर्मप्रतिपादनम्। तपश्च विविधमिति वानप्रस्थाश्रमधर्माः । कामनया विनेति । फलसंधानविरहेण केवलमीश्वरार्पणबुद्ध्यैवानुष्ठिता वर्णाश्रमधर्मा अध्ययनादयः पापप्रणाशनेन चित्तशुद्धिद्वारा परम्परया मुक्तिसाधनत्वं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । श्रूयते हि–'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति ॥ १७ ॥ एवमाश्रमत्रयानुष्ठितैः कर्मभिश्चित्तशुद्धौ जातायां संसारदोषदर्शनात्ततो वैराग्यं जायत इत्याह– विरक्त इति ॥ १८ ॥ प्रव्रज्यां कुरुत इति । 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति श्रुतेः ॥ १९ ॥ २० ॥

में व्यक्त किया है 'अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः ·····सः·····ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानः·····ज्ञान-निष्ठायोग्यताप्राप्ति-द्वारेण····· निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते ।') वर्णाश्रमधर्म के अनुष्ठान से ही मोक्ष मिलता है, अन्य हेतु से नहीं ॥ १४ ॥ जो व्यक्ति प्रेम से अपनी जाति के लिये विहित कर्म करता है वह ईश्वराज्ञा से ब्राह्मणों के श्रेष्ठ कुल में पैदा होता है ॥ १५ ॥ जातकर्मादि संस्कारों से संस्कृत हुए उस ब्राह्मण बालक का उपनयन होता है व तदनन्तर वह विधि के अनुसार वेद का अध्ययन करता है ॥ १६ ॥ अध्ययन समाप्ति के अनन्तर वह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है–विवाह करता है तथा विविध यज्ञ व दान करता है । (यहाँ जिस प्रयोजन से इन आश्रमादि का वर्णन है वह है मोक्ष । अतः उन कर्तव्यों का मुख्यतः उल्लेख है जो उसके उपाय बनेंगे । गृहस्थ को यज्ञ व दान अवश्य करने चाहिये । संस्कृत के तो वैयाकरणाचार्यों ने भी इस तथ्य को स्वीकारा है कि क्योंकि पति द्वारा किये यज्ञ का फल वह भी पाती है इसीलिये उसे पत्नी कहते हैं । अतः गृहस्थ का कर्तव्य है यज्ञ करे । इतर तीन आश्रम गृहस्थाश्रित हैं, अतः दान भी उसका आवश्यक धर्म है । अतएव गीता में यज्ञ, दान व तप का वैशिष्ट्य कहा है ।) गार्हस्थ्य समाप्त कर वह ब्राह्मण वानप्रस्थ बनता है और नाना प्रकार के घोर तप करता है । अध्ययनादि सब कर्म फलेच्छारहित हो केवल इस दृष्टि से किये जायें कि इनसे परमशिव प्रसन्न हों, तभी ये मोक्षसाधन बनते हैं ॥ १७ ॥ उक्त बुद्धि से आश्रमादि कर्म करने से अंतःकरण शुद्ध हो जाता है तथा तत्त्वज्ञान की इच्छा हो जाती है, साथ ही संसार के दोषों का विचार कर तीनों लोकों से वैराग्य हो जाता है ॥ १८ ॥ वैराग्य की

मुमुक्षुर्भिक्षुको नित्यं परहंसाभिधां शुभाम् । वृत्तिमिच्छति देवेशप्रसादेन द्विजोत्तमाः ॥ २१ ॥
कुटीचकादिवृत्तिस्थो मुक्तिमिच्छति चेद्द्विजाः ।
परहंसाभिधां वृत्तिं प्राप्नुयाच्छङ्कराज्ञया ॥ २२ ॥
सर्वेषामेव भिक्षूणां शान्तिर्दान्तिस्तितिक्षुता । स्नानं शौचमहिंसा च मिथ्याभाषणवर्जनम् ॥ २३ ॥
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मनोद्धूलनं तथा । त्रिपुण्ड्रधारणं साक्षाद्ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥ २४ ॥
लिङ्गे शिवार्चनं नित्यं धर्मः प्रोक्तः सनातनैः ।
साक्षाद्वेदान्तवाक्यानां श्रवणं मननं तथा ॥ २५ ॥
निदिध्यासनमाचार्यपरिचर्या प्रियेण तु । परहंसस्य धर्मोऽयं विशेषेण समीरितः ॥ २६ ॥
पूर्वपुण्यबलात्साक्षात्प्रसादाच्च शिवस्य तु । ब्रह्मात्मविषयं ज्ञानं लभते भिक्षुकोऽचिरात् ॥ २७ ॥

वैराग्यजननानन्तरं चित्तैकाग्र्यलाभाय संन्यास एव कर्तव्य इत्याह– भिक्षुक इति । साधनचतुष्टयान्तर्वर्ति यन्मुमुक्षुत्वं तदीश्वरप्रसादन परमहंसस्यैव जायते नान्येषां कुटीचकादीनामित्यर्थः ॥ २१ ॥ कुटीचकादिभिरपि यदा मुक्तिरन्विष्यते तदा तैरपि परमहंसाश्रम एव कर्तव्य इत्याह– कुटीचकादीति ॥ २२ ॥ अथ वेदान्तज्ञानोत्पत्तावन्तरङ्गसाधनभूतांस्तुरीयाश्रमधर्मानाह–सर्वेषामित्यादिना । शान्तिर्ज्ञानेन्द्रियाणाम् । तितिक्षुता शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वम् । शान्त्यादीनि द्वंद्वाद्युपघातकत्वेन परम्परया मुक्तिसाधनानि । वेदान्तवाक्यश्रवणादिकमव्यवधानेन मुक्तिसाधनमित्यर्थः । तत्र श्रवणं नाम वेदान्तवाक्यानामद्वितीये परशिवरूपे तात्पर्येण प्रतिपादनसामर्थ्यावधारणम् । श्रुतस्यार्थस्यासंभावनाविपरीतभावनानिरासाय युक्तिभिरनुचिन्तनं मननम् । एवं श्रवणमननाभ्यामवधृतस्यार्थस्य साक्षात्कारोपयोगिचित्तैकाग्र्यलाभाय विजातीयप्रत्ययान्तरित[1] सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपेण ध्यानं निदिध्यासनम् । एतेषां तत्साधनत्वं श्रूयते–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति ॥ २३–२७ ॥

तीव्रता के अनुसार वह ब्राह्मण संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होता है । यदि मुमुक्षा नहीं है तो ईश्वर-प्रेरणा से वह कुटीचक, बहूदक या हंस संन्यास ग्रहण करता है ॥ १९–२० ॥ कुटीचकादि भी मुमुक्षु हो जायें तो परमहंस बन जाता है । जो वानप्रस्थ अवस्था में ही मुमुक्षु हो उसे कुटीचकादि बनने की आवश्यकता नहीं, सीधे ही परमहंस बनना चाहिये । (यदि ब्रह्मचर्य या गृहस्थ दशा में ही वैराग्य व मुमुक्षा हो जाये तो तभी पारमहंस्य स्वीकार लेना चाहिये ।) ॥ २१–२२ ॥ सभी संन्यासियों के ये कर्तव्य हैं– इन्द्रियों व मन पर नियन्त्रण रखना, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों का सहिष्णु होना, प्रतिदिन स्नान करना (या रोज़ तीन बार स्नान करना), सफाई रखना (या अष्टगुण शौच का अनुष्ठान करना), मन, वाणी या देह से किसी को पीडा न पहुँचाना, झूठ न बोलना, 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों से भस्मोद्धूलन करना तथा ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रात्मक त्रिपुण्ड्र धारण करना, प्रतिदिन शिवलिंग की पूजा करना, प्रेम से उपनिषदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना । श्रवणादि परमहंस का तो विशेष धर्म है । पूर्वकृत पुण्यों से व शिवकृपा से संन्यासी शीघ्र ही ब्रह्म व आत्मा के अभेद का ज्ञान पा लेता है ॥ २३–२७ ॥ वेदान्तवाक्य से उत्पन्न उक्त ज्ञान से यति मोक्ष प्राप्त करता है । ज्ञान के विना मोक्ष किसी तरह नहीं हो सकता । यों आप मुनियों को मुक्तिसाधन

[1] अनन्तरितेति बाल. पाठ एव युक्तः ।

ज्ञानाद्वेदान्तवाक्योत्थान्मुक्तिं भिक्षुरवाप्नुयात् ।
विना ज्ञानेन मुक्तिस्तु न सिध्यति न सिध्यति ॥ २८ ॥
मुक्तिसाधनमाख्यातं संग्रहेण मुनीश्वराः ।
ज्ञाने यूयमपि श्रद्धां कुरुध्वं यत्नतः सदा ॥ २९ ॥

सूत उवाच— इत्युक्त्वा भगवान्रुद्रः साक्षात्संसारमोचकः ।
आगमान्तैकसंवेद्यस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ३० ॥
भवन्तोऽपि प्रसादेन शिवस्य परमात्मनः ।
मत्तो लब्धपरिज्ञाना अभवन्नचिरेण तु ॥ ३१ ॥
श्रीमद्दक्षिणकैलासं सर्वस्थानोत्तमोत्तमम् ।
वाञ्छितार्थप्रदं नृणामिति वित्त विचक्षणाः ॥ ३२ ॥
श्रीमद्दक्षिणकैलासमदृष्ट्वा मुक्तिमिच्छतः ।
नास्ति संसारविच्छित्तिः सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ३३ ॥
वर्णाश्रमसमाचारं विना कैवल्यमिच्छतः ।
नास्ति कैवल्यसंसिद्धिः सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ३४ ॥
विष्णुप्रजापतीन्द्रेभ्यः शिवस्याऽऽधिक्यमादरात् ।
अविज्ञाय न संसारान्मुच्यते जन्मकोटिभिः ॥ ३५ ॥
प्रत्यग्ब्रह्मैकताज्ञानं विना कैवल्यमिच्छताम् ।
नास्ति कैवल्यमित्येषा शाश्वती श्रुतिराह हि ॥ ३६ ॥

[1]ज्ञानादिति । इत्थमध्ययनयजनशमदमाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनकलापसहकृताद्वेदान्तवाक्यश्रवणाद्यद्वाक्यजं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं ज्ञानं जायते तदेव मुक्तिसाधनं नान्यदित्यर्थः ॥ २८–२९ ॥ इति. वित्त विचक्षणा इति । उक्तप्रकारेण वित्त जानीतेत्यर्थः ॥ ३२ ॥ पुण्यक्षेत्रवासवर्णाश्रमधर्मादीनामुक्तं मुक्तिसाधनत्वं व्यतिरेकमुखेण द्रढयति–श्रीमद्दक्षिणकैलासमिति ॥ ३३–३५ ॥

बता दिये । आप लोग सायास ज्ञान पर श्रद्धा रखिये ॥ २८–२९ ॥

सूतजी बोले–इतना कहकर उपनिषद्गम्य संसार से मोक्ष दिलाने वाले साक्षाद् भगवान् रुद्र वहीं अंतर्धान हो गये ॥ ३० ॥ शिवकृपा से आपको भी मुझसे ज्ञान प्राप्त हो गया है ॥ ३१ ॥ सब शिवस्थानों में उत्तम है दक्षिणकैलास । लोगों के अभीष्ट का वह साधक है यह आप समझ लीजिये ॥ ३२ ॥ दक्षिणकैलास का दर्शन किये बिना मोक्षप्राप्ति दुर्लभ है ॥ ३३ ॥ वर्णाश्रम धर्मों का अनुष्ठान किये बिना मोक्ष मिलना असंभव है ॥ ३४ ॥ विष्णु, प्रजापति, इन्द्र आदि की अपेक्षा शिव के वैशिष्ट्य के निश्चय के बिना करोड़ों जन्मों में भी संसारचक्र से छूटा नहीं जा सकता ॥ ३५ ॥ यह नित्य श्रुति की घोषणा है कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्म से एकता के ज्ञान के बिना कथमपि मोक्ष नहीं होता ॥ ३६ ॥ सर्वज्ञ भगवान् शंकर ने भी

1 ग. °ज्ञानम° ।

भगवानपि सर्वज्ञः शिवः कारुणिकोत्तमाः ।

विना वेदान्तविज्ञानं न मुक्तिरिति चाऽऽह हि ॥ ३७ ॥

विष्णुप्रजापतीन्द्रादिदेवताश्च तथैव च । विना ज्ञानं न कैवल्यमित्याहुर्वेदवित्तमाः[1] ॥ ३८ ॥

मुनयश्च महात्मानः सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ।

विना ज्ञानं न कैवल्यमित्याहुर्वेदवित्तमाः ॥ ३९ ॥

अथ किं बहुनोक्तेन मुनीन्द्रा वेदवित्तमाः । मुक्तिसाधनविज्ञानं वेदादेव न चान्यतः ॥ ४० ॥

वेदमार्गजनितं तु वेदनं दोषहीनमतिशोभनं सदा ।

अन्यमार्गजनितं विचारतो वेदमार्गरुचिकारणं क्रमात् ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्तिसाधनविचारो नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

शाश्वती श्रुतिराह हीति । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्' इति ब्रह्मात्मैकत्वविदुष एव मुक्तिं ब्रूते, भेददर्शिनस्तु 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' इत्यज्ञत्वं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ ३६–४० ॥ अन्यमार्गेति । वेदव्यतिरिक्तैरागमान्तरैः प्रतिपादितमर्थजातमुक्तरूपवेदान्तविज्ञाने परमपुरुषार्थे रुचिजननद्वारोपयुज्यते न तु स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसाधनमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकाख्यायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्तिसाधनविचारो नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१॥

यह कहा ही है कि वेदान्तविज्ञान के बिना मोक्ष होना असंभव है ॥ ३७ ॥ विष्णु आदि अन्य देवताओं की भी इसमें संमति है कि तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष असंभव है । (विष्णुवचन गीता में, प्रजापतिवचन छान्दोग्याष्टम में व इन्द्रवचन कौषीतक्युपनिषत् में प्रसिद्ध हैं ।) ॥ ३८ ॥ सत्य पर दृढ रहने वाले जितेन्द्रिय महात्मा मुनियों ने भी इसका सत्यापन किया है । (याज्ञवल्क्य, वरुण, दधीचि, पिप्पलाद, उद्दालक आरुणि, सनत्कुमार, श्वेताश्वतर, व्यास, वसिष्ठ, वाल्मीकि, शुक, शंकराचार्य आदि सैकड़ों महात्मा मुनियों ने सोपपत्ति इस बात का प्रतिपादन विस्तार से किया है ।) ॥ ३९ ॥ बहुत कहने से क्या लाभ ? मोक्ष का उपयाभूत तत्त्वविज्ञान वेद से ही होता है, उसका अन्य कोई उपाय नहीं है । (शास्त्र ही प्रमाण है, मन आदि नहीं) ॥ ४० ॥ वेदमार्ग से–अर्थात् वेद द्वारा–उत्पादित अनुभव निर्दोष है व अत्यन्त शुभ है । अन्य मार्गों से जो ज्ञान होता है वह विचार द्वारा वेदमार्ग में रुचि-उत्पादन के क्रम से ही उपकारक है, साक्षात् नहीं ॥ ४१ ॥

---

१ ख. ग. ङ. °त्याहुः पुरुषाधिकाः° ॥ ३८ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि मार्गप्रामाण्यनिर्णयम्

श्रद्धया सहिता यूयं शृणुध्वं मुनिपुंगवाः ॥ १ ॥

वेदांश्च धर्मशास्त्राणि पुराणं भारतं तथा ।

वेदाङ्गान्युपवेदांश्च कामिकाद्यागमानपि ॥ २ ॥

कापालं लाकुलं[1] चैव तयोर्भेदान्द्विजर्षभाः ।

तथा पाशुपतं सोमं भैरवप्रमुखागमान् ॥ ३ ॥

तेषामेवोपभेदांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।

विष्ण्वागमांस्तथा ब्राह्मान्बुद्धार्हाद्यागमानपि ॥ ४ ॥

लोकायतं तर्कशास्त्रं बहुविस्तरसंयुतम् । मीमांसामतिगम्भीरां सांख्ययोगौ तथैव च ॥ ५ ॥

अनेकभेदभिन्नानि तथा शास्त्रान्तराणि च । निर्ममे शंकरः साक्षात्सर्वज्ञः संग्रहेण तु ॥ ६ ॥

ननु बौद्धार्हताद्यागमानां वेदविरुद्धार्थप्रतिपादकानां वेदैकसमधिगम्ये ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाने रुचिजनकत्वं नोपपद्यतेऽतो वैदिकमार्गव्यतिरिक्तानां सर्वेषामप्रामाण्यमेवेत्याशङ्क्य तत्प्रामाण्यं समर्थयितुमारभते– अथात इति । श्रुतिस्मृत्यादिभिः शैवपाशुपतबुद्धाद्यागमैः समये नानाविधा मार्गाः प्रतिपादितास्तेषामधिकारिभेदेन [2]प्रामाण्यनिर्णयः[3] क्रियत इत्यर्थः ॥ १ ॥ उपवेदांश्चेति । आयुर्वेदधनुर्वेदादय उपवेदाः[4] ॥ २–५ ॥ निर्ममे शंकर इति । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादीनि वैदिकानि शास्त्राणि तदर्थानुसारिशैवपाशुपताद्यागमान्बुद्धार्हतादिबहुभेदभिन्नान्वेदविरुद्धांश्च सर्वज्ञः शिव एव स्वशक्त्या निर्मितवानित्यर्थः । अतः सर्वज्ञेन शिवेनैव प्रणीतत्वादेषां मध्ये कस्यचिदप्यप्रामाण्यं न युक्तमिति भावः ॥ ६ ॥

मार्गों की प्रामाणिकता का वर्णन नामक बाइसवाँ अध्याय

सूतजी ने आगे कहा–अब मैं मार्गों की प्रामाणिकता का निर्णय सुनाता हूँ, आप लोग श्रद्धापूर्वक सुनें ॥ १ ॥

वेद, (मन्वादि) धर्मशास्त्र, पुराण, महाभारत, (ज्योतिष आदि) वेदांग, (आयुर्वेदादि) उपवेद, कामिक आदि आगम, कापाल लाकुल आदि आगम व उनके भेद, पाशुपत, सोम, भैरव आदि आगम तथा उनके सैकड़ों भेद-प्रभेद, वैष्णवागम, ब्राह्मागम, बौद्धागम, जैनागम, लोकायत शास्त्र, बहुत विस्तृत तर्कशास्त्र, अति गंभीर मीमांसा, सांख्य व योगशास्त्र तथा नाना भेदों वाले अन्य अनेक शास्त्र सब साक्षात् महादेव ने ही बनाये हैं ॥ २–६ ॥ श्री रुद्र की कृपा से ही ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता, सिद्ध, विद्याधर (गंधर्व), यक्ष, राक्षस

---

१ ख. नाकुलं । २ छ. "र्ण्यमित्य" । ३ ख. ग. घ. "र्णयमित्य" । ४ ऋग्वेदस्यायुर्वेदः, यजुषो धनुर्वेदः, सामवेदस्य गान्धर्ववेदः, आथर्वणस्य अर्थशास्त्रमुपवेदाः ।

प्रसादादेव रुद्रस्य ब्रह्मविष्ण्वादयः सुराः । सिद्धविद्याधरा यक्षा राक्षसाद्यास्तथैव च ॥ ७ ॥

मुनयश्च मनुष्याश्च यथाभाग्यं द्विजोत्तमाः । तान्येव विस्तरेणैव संग्रहेणैव वा पुनः ॥ ८ ॥

कुर्वन्ति तानि नामानि कथितानि मनीषिभिः ।

अधिकारिविभेदेन नैकस्यैव सदा द्विजाः ।

तर्कैरेते हि मार्गास्तु न हन्तव्या मनीषिभिः ॥ ९ ॥

यथा तोयप्रवाहाणां समुद्रः परमावधिः । तथैव सर्वमार्गाणां साक्षान्निष्ठा महेश्वरः ॥ १० ॥

ननु ब्राह्मवैष्णवबुद्धाद्यागमेषु ब्रह्मविष्ण्वादितत्तदागमप्रणेतारः[1] पुरुषविशेषाः स्मर्यन्ते । तथा सांख्यतर्कादिशास्त्रेषु कपिलकणादजैमिनिप्रभृतयो निर्मातारः प्रसिद्धाः । अतः शिवस्यैव निर्माणमनुपपन्नमित्यत आह— प्रसादादेवेति । परमेश्वरानुग्रहादेव ब्रह्मविष्ण्वादयस्तन्निर्मितानागमान्स्वस्वव्यवहारसिद्धये पुनः संग्रहविस्तराभ्यां कुर्वन्ति । कपिलकणभुग्जैमिनिप्रभृतयो मुनयश्च स्वशिष्यबुद्धिगुणानुसारेण परमेश्वरनिर्मितान्येव शास्त्राणि तत्प्रसादादेव पुनः संग्रहविस्तराभ्यां कुर्वन्तीत्यविरोधः । यद्यप्येवमीश्वरनिर्मितत्वात्सर्वेषां प्रामाण्यं[2] तथाऽपि परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वादप्रामाण्यमपि स्यादित्यत आह— अधिकारीति । यथा 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति' इत्यादिविरुद्धार्थप्रतिपादकानां वाक्यानामधिकारिभेदाद्विरोधाभावेन प्रामाण्यमेवमत्रापीत्यर्थः । एवमेते मार्गाः शुष्कतर्कबलान्न बाध्या इत्यर्थः ॥ ७–९ ॥ साक्षान्निष्ठेति । सर्वेष्वपि मार्गेष्वस्ति कश्चिद्देव इति संमतत्वात्तस्य च परमेश्वरव्यतिरिक्तस्याभावात्तत्तदागमोक्तगुणवैशिष्ट्येन शिवः प्रतिपाद्यत इति भवति तस्मिन्सर्वेषां मार्गाणां पर्यवसानमित्यर्थः ॥ १० ॥

आदि (मनुष्येतर प्राणी), मुनि तथा अन्य मनुष्य शिवनिर्मित उन शास्त्रों का ही संक्षेप या विस्तार करते रहते हैं और इसी से मनीषियों द्वारा बताये तत्तन्नाम वाले तत्तच्छास्त्र तत्तद्व्यक्तियों से सम्बद्ध हो प्रसिद्धि पा चुके हैं । (अर्थात् जैमिनी मीमांसा के रचयिता नहीं हैं । रचयिता तो महेश्वर हैं । जैमिनी ने केवल उसे एक विशिष्ट ढंग से उपनिबद्ध कर दिया है । इतने से ही वे उसके जनक मान लिये गये हैं । किया यह भी शिवकृपा से ही है ।) ॥ ७–८ ॥ अधिकारियों के भेद से इनका उपयोग है, एक ही अधिकारी के लिये सबका उपयोग नहीं । अतः बुद्धिमानों को तर्क के सहारे इनका खण्डन नहीं करना चाहिये । सभी अपने क्षेत्र में प्रमाण हैं । (कल्याण का उपाय बताना शास्त्र का कार्य है । यदि वह उसे बताता है तो प्रमाण है । कल्याण का निर्णय साधक की स्थिति से होता है । सर्वभक्षी को पाँच पंचनखों के भक्षण में सीमित करना उसके कल्याण का हेतु है । किंतु मेध्याहारी यदि उसी पंचनखभक्षण में प्रेरित होता है तो उसका अकल्याण हो रहा है । एवं च अधिकारी की दृष्टि से कल्याणोपाय का उपदेश आवश्यक है । केवल उत्तम अधिकारियों के लिये उपदेश होगा तो अधिकतम जनता की उन्नति का कोई मार्ग रहेगा

---

१ ख. घ. °रः सां° । २ 'इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानी' ति (बृ. २.४.१०) श्रुतेः वार्तिककारीयं व्याख्यानमिह भवत्यनुसन्धेयम् ।

येन येन प्रकारेण जनैरेभिरुपासितः ॥ ११ ॥
तत्तन्मार्गानुगुण्येन साधकत्वं ह्युपैति सः । तत्प्रसादात्क्रमान्मार्गान्विशिष्टानेति मानवः ॥ १२ ॥
तत्र तत्र स्थितो देवः प्रसादं कुरुतेऽस्य तु ।
सोपानक्रमतो[1] देवा वेदमार्गस्य हेतवः ।
वेदमार्गस्थितो देवः साक्षान्मुक्तेस्तु कारणम् ॥ १३ ॥

येन येनेति । नानाविधागमोक्तेन येन येनोपाधिना परमेश्वर उपास्यते तत्तदागमानुसारेण तत्तदुपाधियुक्तः परमेश्वरो भवतीत्यर्थः । **तत्प्रसादादिति** । तत्तदागमप्रतिपाद्यतयाऽवस्थितस्य शिवस्य प्रसादादेवोत्तरोत्तरमुत्कृष्टान्मार्गान्साधको लभत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥ **सोपानक्रमत इति** । तत्र तत्राऽऽगमेषु तत्तद्देवतारूपो देवः सोपानक्रमेण वेदमार्गप्राप्तौ कारणम् । स एव वेदमार्गप्रतिपादितः सन्मुक्तिहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

ही नहीं । शिव ने अपनी समस्त प्रजा के हित को दृष्टि में रख नाना प्रकार के लोगों के लिये नाना प्रकार के शास्त्र बनाये और आज तक बना रहे हैं । सर्वज्ञ सर्वशक्ति महेश्वर ही अन्त्यकार्यपर्यन्त एकमात्र कारण हैं । अतएव सभी मार्ग अपने क्षेत्र में – अपने अधिकारियों के लिये – कल्याण का उपाय बताने वाले अतएव प्रमाण हैं । इसलिये बुद्धिमान् को मार्गों की प्रामाणिकता के खण्डन का प्रयास करना शोभा नहीं देता । तत्त्वदृष्टि से तो मार्गमात्र अप्रमाण है । अब जब रस्सी में कुछ और देखना ही है तो साँप देखें, दण्ड देखें, जलधारा देखें, क्या अंतर पड़ना है ? हाँ यह अवश्य है कि साँप देखने वाला भयभीत होगा, अन्य नहीं । इसी प्रकार इन मार्गों में भी कोई मार्ग मोक्ष का नैकटिक उपाय है, कोई आरात् । कोई अनुष्ठानकाल में भी सुखद है, कोई दुःखद । इस दृष्टि से इनका तारतम्य तो स्पष्ट करना चाहिये जिससे सबको बेहतर मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिले, किंतु किसी मार्ग को गलत घोषित कर देना व्यर्थ ही है । यद्यपि यही सर्वोत्तम समन्वय है तथापि अविचारशील लोग मानना चाहते हैं कि सबकी साधनता भी एकसी है । किंतु वे यह भूल जाते हैं कि लोक में भी मार्गों का यही स्वभाव है कि यदि एक स्थान के लिये दो रास्ते होते हैं तो दोनों में या लम्बाई का, या सफाई का या अन्य कोई न कोई भेद रहता ही है । अतः सबको मार्ग मानने पर तारतम्य को मानना अनिवार्य है । यह प्रश्न हो सकता है कि लम्बे, छोटे आदि का निर्णायक क्या ? जो मार्ग मोक्ष देने में जितना अधिक सहायक है वह उतना छोटा है— यही निर्णायक है । मार्ग का कार्य ही है मार्ग की समाप्ति तक पहुँचा देना । प्रकृत में मार्गों की समाप्ति ही मोक्ष है । अतः मोक्षौपयिकता को ही श्रेष्ठता का नियामक माना जायेगा । जो मार्ग मोक्ष स्वीकारते ही नहीं उन्हें मोक्ष का साक्षात् उपाय मूर्ख ही मान सकता है । चार्वक, मुसलमान, ईसाई आदि मोक्ष न मानने वाले मार्ग हैं । चार्वक तो इस जन्म से अतिरिक्त ही कुछ नहीं मानता । मुसलमान आदि मत स्वर्ग-नरक में ही रुक जाते हैं, मोक्ष तक जाते नहीं । उन शास्त्रों में मोक्ष की संकल्पना ही नहीं । ऐसी स्थिति में उन्हें उन मार्गों के तुल्य मोक्षसाधन क्योंकर कहा जा सकता है ? हाँ, अपने अधिकारियों के लिये ये प्रमाण अवश्य माने जा सकते हैं । पुराण की इस सर्वधर्मसमन्वयदृष्टि में झगड़े को कोई स्थान नहीं ।

१ अतएव 'त्रयी सांख्यमि' त्यादिमहिम्नस्तोत्रव्याख्यायां प्रस्थानभेदं निरूपयामासुः सरस्वतीस्वामिनः ।

तत्रापि कर्मभागस्थो ज्ञानश्रद्धाप्रदो हरः ।

ज्ञानभागस्थितः शंभुर्ज्ञानद्वारेण मोक्षदः ॥ १४ ॥

एकरूपा परा मुक्तिस्ततस्तद्विषया मतिः ॥ १५ ॥

एकरूपा भवेन्नैव नानारूपा भविष्यति । वेदान्तः शंकरं साक्षान्निर्विशेषाद्वयात्मना ॥ १६ ॥

वक्ति मार्गान्तरान्नैवं ततो विद्या तु वेदजा ।

अतो मार्गान्तराज्जाता मतयो मुनिसत्तमाः ।

अविद्या नैव विद्याः स्युरिति सम्यङ्निरूपणम् ॥ १७ ॥

कर्ममार्गस्थ इति । कर्मकाण्डे स्थितो विविदिषाप्रद इत्यर्थः । उपनिषत्सु प्रतिपाद्यतया स्थितः शिवः स्वयाथात्म्यज्ञानजननेन मुक्तिप्रद इत्यर्थः ॥ १४ ॥ ननु मार्गान्तरज्ञानैरपि साक्षान्मुक्तिः किं न स्यादित्याशङ्क्य तेषामवस्तुविषयत्वेनाविद्यात्वं प्रतिपादयन्नौपनिषदज्ञानस्य विद्यारूपतामाह– एकरूपेत्यादिना । मुक्तिस्वरूपस्य सर्वेष्वपि मार्गेषु परमपुरुषार्थत्वेन संमतत्वात्तस्य नित्यत्वमेष्टव्यम् । तच्च निर्विशेषस्यैव घटते । सविशेषस्य भेदसव्यपेक्षत्वाद्भेदस्य च निर्वक्तुमशक्यत्वात्तस्य प्रागुपपादितत्वात्कल्पितत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वे[1] सति भेदसापेक्षं सविशेषं मुक्तिस्वरूपमपि निवर्तेत[2] । तथा च तन्मुक्तिस्वरूपं सविशेषकं स्वर्गादिवदनित्यमेव स्यात् । अतो निर्विशेषमेव तदिति तद्गोचरं ज्ञानमपि तथाविधम् । तदिदमुक्तं निर्विशेषाद्वयात्मनेति । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिरेव निर्विशेषं मुक्तिस्वरूपं प्रतिपादयति । ततश्चाबाधित-विषयत्वादुपनिषद्वाक्यजनितं ज्ञानमेव विद्या, मार्गान्तरात्तु नैवं निर्विशेषमुक्तिस्वरूपमवगम्यते । जीवेश्वरादि भेदादिविशेषमेव भवति । तज्जनितज्ञानानां[3] बाधितविषयत्वादविद्यात्वमतो न तेषां मुक्तिसाधनत्वमित्यर्थः ॥ १५–१७ ॥

प्रामाण्य सबका है, साधनता में तारतम्य है– यही निश्चय रखना चाहिये ।) ॥ ९ ॥ जैसे सब जलप्रवाहों का (नाली, नाला, तुच्छ नदी, महानदी, पुण्यनदी आदि का) परम गन्तव्य समुद्र है, वैसे सब मार्गों की परम समाप्ति शिव में है ॥ १० ॥ इन मार्गों द्वारा जिस-जिस प्रकार से लोग परमेश्वर की उपासना करते हैं, उस मार्ग के अनुरूप ही परमेश्वर उनकी इष्टसिद्धि कर देते हैं और उनकी कृपा से ही क्रमशः श्रेष्ठ मार्गों पर व्यक्ति चलने लगता है ॥ ११–१२ ॥ सब मार्गों के अध्यक्ष रूप से स्थित परमशिव ही साधक पर कृपा कर उसे फल देते हैं'। अन्यान्य देवता तो सीढ़ी के कदमों की जगह हैं : हर कदम अगले कदम तक पहुँचा कर कृतकार्य हो जाता है, मंज़िल तक पहुँचाना उसका काम नहीं । ऐसे ही देवता क्रमशः वेदमार्ग तक पहुँचा देते हैं । आखिरी कदम तो वही है । साथ ही फलप्रदान के लिये वे देवता द्वार पड़ते हैं : फल देते तो महादेव हैं किन्तु उनके द्वारा । जैसे तत्तद् अधिकारी द्वारा राष्ट्रपति सब सरकारी कर्मचारियों को वेतन देता है वैसे ही देवताओं द्वारा शिव फल देते हैं । वेदमार्ग पर चलने वालों के मोक्ष में केवल महेश्वर कारण पड़ते हैं, किसी देवता-द्वार की ज़रूरत नहीं पड़ती ॥ १३ ॥ वेदमार्ग में भी कर्मभाग के अध्यक्ष शिव ज्ञान में श्रद्धा उत्पन्न करा कर मोक्ष के निकट पहुँचाते हैं और ज्ञानभाग के अध्यक्ष वे ही ज्ञानद्वारा साक्षात् मोक्ष दे देते हैं ॥ १४ ॥ क्योंकि मोक्ष एकरूप है इसलिये उसे विषय करने वाला प्रमाणज्ञान भी एकरूप ही हो सकता है । (घटरूप वस्तु की प्रमा घटरूप ही होगी ।) ऐसा एकरूप ज्ञान वेदान्त ही उत्पन्न करते हैं । अन्य मार्ग तो नानाविध ज्ञान के उत्पादक हैं । अतः मतान्तरों से उत्पन्न ज्ञान अविद्या ही हैं, विद्या नहीं– यही सम्यक् स्थिति है ॥ १५–१७ ॥ इसलिये मोक्ष से अतिरिक्त

---

१ ङ. च. ॰निर्वर्त्य॰ । २ ख. घ. छ. ज. निवर्त्येत । ङ. च. निर्वर्त्येत । ३ ग. ङ. ज. ॰ज्जन्मनि तज्ज्ञाना॰ ।

तस्मान्मार्गान्तराणां तु प्रामाण्यं वेदवित्तमाः ॥ १८ ॥

मुक्तेरन्यत्र नात्रैव क्रमेणैवात्र मानता । अतो वेदान्तभागस्थो महादेवोऽचिरेण तु ॥ १९ ॥

मुक्तिं ददाति नान्यत्र स्थितः सोऽपि क्रमेण तु ।

ददाति परमां मुक्तिमित्येषा शाश्वती श्रुतिः ॥ २० ॥

अतो वेदस्थितो मर्त्यो नान्यमार्गं समाश्रयेत् ।

वेदमार्गैकनिष्ठानां न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ २१ ॥

अत्रैव परमा मुक्तिर्भुक्तयश्चात्र पुष्कलाः ।

अतोऽधिकारिभेदेन मार्गा मानं न संशयः ॥ २२ ॥

यदि मार्गान्तरजनिता मतयोऽविद्यास्तर्हि तेषामप्रामाण्यमेवेत्याशङ्क्याऽऽह–तस्मादिति । मुक्तेरन्यत्रेति । मुक्तिव्यतिरिक्त एव विषये मार्गान्तरस्य प्रामाण्यं, न तु मुक्तौ । तत्रापि पूर्वोक्तसोपानक्रमेण वेदमार्गप्राप्तिद्वारा प्रामाण्यम् । नान्यत्रेति । वेदान्तवाक्यप्रतिपाद्यतया शिवः साक्षान्मुक्तिप्रदः । आगमान्तरे त्ववस्थितो[1] न साक्षान्मुक्तिं ददाति । किंतूत्तरोत्तरविशिष्टमार्गप्राप्त्येति । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादावुपनिषत्स्वेवाधिगत औपनिषद इत्युपनिषदेकवेद्यस्य परशिवस्य परमपुरुषार्थप्रदत्वेन श्रुतत्वादित्यर्थः ॥ १८–२० ॥ नान्यमार्गं समाश्रयेदिति । वेदमार्गस्य साक्षान्मुक्तिप्रदत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥ अतोऽधिकारिति । वेदमार्गानधिकृतान्बौद्धार्हताद्यधिकारिविशेषान्प्रति तत्तन्मार्गप्रामाण्यमस्त्येवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

विषयों में ही अन्य मार्गों का साफल्य-लक्षण प्रामाण्य है । मोक्ष के लिये उनका तथाविध प्रामाण्य क्रमशः ही है ॥ १८½ ॥ अतः उपनिषदों में प्रतिपादित महादेव ही शीघ्र मोक्ष देने वाले हैं । वे ही अन्य मार्गों द्वारा साक्षात् मोक्ष नहीं देते, क्रम से ही देते हैं । यह श्रौत निश्चय है ॥ १९–२० ॥ अतः वेदमार्ग पर स्थित व्यक्ति को कभी मार्गान्तर का आश्रयण नहीं करना चाहिये । जो केवल वेदमार्ग पर स्थिर रहते हैं उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ २१ ॥ इसी मार्ग से परम मोक्ष मिलता है और इसी पर चलने से पुष्कल भोग प्राप्त होते हैं । अन्य मार्ग अन्य अधिकारियों के लिये प्रामाणिक अवश्य हैं किंतु उत्तम मार्ग छोड़कर अधम मार्ग पर चलना मूर्खता ही है ॥ २२ ॥ इसी प्रकार ईश्वरस्वरूप के विषय में, बंधकारण के विषय में, जगत्कारण के विषय में, मोक्ष और उसके साधन के विषय में, ज्ञान के विषय में तथा अन्य विषयों में जो अन्यान्य मार्ग उपनिषद्विरुद्ध मत रखते हैं वे भी महामोह से आवृत मन्दमति वालों को समझाने मात्र के लिये हैं । यथार्थतः वे सब बातें सत्य हैं ऐसा उन शास्त्रों का भी अभिप्राय नहीं है ॥ २३–२४ ॥ जैसे दौड़ती हुई गाय को पकड़ने के लिये उसे घास दिखाना पड़ता है वैसे ही जीवपशुओं को तुच्छ इष्ट वस्तुएँ दिखाकर महादेव पहले उन्हें वश में करते हैं तथा बाद

---

१ ग. घ. ङ. च. छ. ०स्थितानां न ।

ईश्वरस्य स्वरूपं च बन्धहेतौ तथैव च ।
जगतः कारणे मुक्तौ ज्ञानादौ च तथैव च ॥ २३ ॥
मार्गाणां ये विरुद्धांशा वेदान्तेन विचक्षणाः ।
तेऽपि मन्दमतीनां च महामोहावृतात्मनाम् ।
वाञ्छामात्रानुगुण्येन प्रवृत्ता न यथार्थतः ॥ २४ ॥
दर्शयित्वा तृणं मर्त्यो धावन्तीं गां यथाऽग्रहीत् ॥ २५ ॥
दर्शयित्वा तथा क्षुद्रमिष्टं पूर्वं महेश्वरः ।
पश्चात्पाकानुगुण्येन ददाति ज्ञानमुत्तमम् ॥ २६ ॥
तस्मादुक्तेन मार्गेण शिवेन कथिता अमी ।
मार्गा मानं न चामानं मृषावादी कथं शिवः ॥ २७ ॥

नन्वेषां मार्गाणां परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकानां प्रामाण्यं नोपपद्यते, प्रबलतरश्रुतिप्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वादित्यत आह— ईश्वरस्येत्यादिना । तत्रेश्वररूपादौ मार्गाणां विप्रतिपत्तिरस्ति । तथा हि—तत्र 'ईश्वर एव नास्ति' इति सांख्या मीमांसकाश्च[1] । 'अस्ति पुण्यपापाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः' इति पातञ्जलाः । 'नित्यज्ञानाधारः' इति तार्किकाः । तथा 'प्रकृतिपुरुषयोरविवेकात्क्षेत्रज्ञस्य संसारः' इति सांख्यादयः । 'तस्य स्वार्जितपुण्यपापवशाद् बन्ध इति तत्कारणं प्रकृति[2]रिति[3] प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकज्ञानेन भ्रमापगमे स्वरूपेणावस्थानं मुक्तिः' इति सांख्यादयः । 'बुद्धिसुखदुःखादिनवगुणानामनात्मपदार्थेभ्यः पुरुषान्यथाख्यातिविरहादत्यन्तोच्छेदो मुक्तिः' इति तार्किकादयः । एवमन्येषामपि वादिनां मतेषु विषयेषु भूयस्यो विप्रतिपत्तयः । एवमाद्या वेदान्तविरुद्धा अन्यमार्गेषु दृश्यन्ते । तत्सर्वमर्थजातमनादिमायया मोहितानामत एवाल्पबुद्धीनां वेदानधिकृतानां बौद्धादीनां प्रथमत एवात्यन्तसूक्ष्मपरशिवस्वरूपग्रहणसामर्थ्याभावाद्वेदविरुद्धमपि प्रतिबन्धकपापक्षयार्थं तत्तल्लोकप्राप्तिरूपफलप्रदानेन वशीकरणार्थं च प्रथममीश्वरेणोपदिष्टं न परमार्थः इत्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥ तत्र दृष्टान्तः —दर्शयित्वेति । यथा गां जिघृक्षन्पुरुषः प्रथमं तृणादिकं दर्शयित्वा तां गृह्णात्येवं परमेश्वरोऽपि तत्तन्मार्गानुरूपमिष्टं प्रापयित्वा (य्य) वशीकृत्य तत्तन्मार्गोक्तज्ञानेन[4] प्रतिबन्धकपापक्षये सति तेषां चित्तपरिपाकानुसारेण निःश्रेयससाधनं परमपुरुषार्थभूतं ज्ञानमपि क्रमेण प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

में शनैः शनैः परम सत् का ग्रहण करा देते हैं ॥ २५–२६ ॥ अतः उक्त प्रकार से शिवप्रोक्त ये सभी मार्ग प्रमाण हैं, अप्रमाण नहीं । शिव मिथ्याभाषी कैसे होंगे ? ॥ २७ ॥ वे तो महाकरुणावान् सर्वज्ञ व निर्दोष देव हैं, गलती कर नहीं सकते । प्रमाण होने पर भी भोग-मोक्ष दोनों की सिद्धि करने वाला

---

१ मीमांसायां साक्षात्तन्निषेधाभावेऽपि सृष्टिजन्मनाशयोरनभ्युपगमात् कर्मण एव फलप्राप्त्यभ्युपगमात् सिद्धेऽर्थे शास्त्रप्रामाण्यानभ्युपगमाच्चार्थत ईश्वरनिषेधः कृतः । सांख्यैस्तु मुखतोमुष्यासिद्धिः सूत्रिता । २ ङ. °तिपु° । ३ ग. °ति पातञ्जलाः । प्रकृतिपुरुषविधे° । ४ ङ.° र्गोपयुक्त° ।

महाकारुणिको देवः सर्वज्ञो निर्मलः खलु ।
तथाऽपि वेदो मार्गाणामुत्तमः सर्वसाधकः ॥ २८ ॥
सर्वमुक्तं समासेन मार्गप्रामाण्यनिर्णयम् ।
एवं बुद्ध्वा श्रुतौ श्रद्धां कुरुध्वं यत्नतो द्विजाः ॥ २९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मार्गप्रामाण्यवर्णनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रसादक्रममादरात् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण प्रसादः शांकरो भवेत् ॥ १ ॥

पुरा सनत्कुमाराख्यो मुनिः सत्यपरायणः । ब्रह्माणं ब्रह्मसंपन्नमपृच्छदिदमादरात् ॥ २ ॥
सोऽपि सर्वजगद्धाता सह तेन मुनीश्वराः । नारायणमनाद्यन्तमपृच्छदिदमुत्तमम् ॥ ३ ॥
सोऽपि नारायणः श्रीमान्सह ताभ्यामुमापतिम् । कैलासशिखरे रम्ये समासीनमतिप्रभुम् ॥ ४ ॥
प्रणम्य दण्डवद्भक्त्या स्तुत्वा रुद्रेण सुव्रताः । अपृच्छद्देवदेवेशमिदं परमकारणम् ॥ ५ ॥

मार्गान्तराणामपि प्रतिपादितं प्रामाण्यमुपसंहरति–तस्मादिति । यस्मादुक्तप्रकारेण शिवेनैवोपदिष्टाः सर्वे मार्गास्तस्मात्तत्सर्वं प्रमाणमेव । अन्यथा मृषावादित्वप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ २७–२९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मार्गप्रामाण्यवर्णनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

उत्तम मार्ग तो वेद ही है, अन्य मार्ग निकृष्ट हैं ॥ २८ ॥ यों मैंने मार्गों की प्रामाणिकता के निर्णय के विषय में सब स्पष्ट कर दिया । इसे समझ कर आप लोग यत्नपूर्वक श्रुति पर श्रद्धा कीजिये ॥ २९ ॥

शङ्करप्रसाद का क्रम नामक तेईसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं श्रद्धापूर्वक प्रसाद का (कृपा का) क्रम बताता हूँ । इसे जान लेने मात्र से शिवकृपा हो जाती है ॥ १ ॥ प्राचीन काल में सनत्कुमार ने ब्रह्मा से इस विषय में जिज्ञासा की थी ॥ २ ॥ ब्रह्मा को इसका निश्चय न होने से सनत्कुमार को साथ ले वे विष्णु भगवान् के पास गये । उन्होंने भी इस पर प्रकाश डालना अपनी सामर्थ्य के बाहर समझा और वे तीनों कैलास पर स्थित उमापति महादेव के पास गये ॥ ३–४ ॥ वहाँ पहुँच उन्होंने शंभु से प्रसादक्रम पूछा ॥ ५ ॥ महादेव ने करुणा कर

देवदेवोऽपि सर्वज्ञः साम्बः सर्वफलप्रदः । प्राह गम्भीरया वाचा विष्णवे मुनिपुंगवाः ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान्व्यासः साक्षात्प्रत्यक्षशंकरात् । सनत्कुमारात्सर्वज्ञादुक्तवान्मम सादरम् ॥ ७ ॥

अहं भाग्यवतामद्य युष्माकं मुनिपुंगवाः ।

केवलं कृपया वक्ष्ये तदेव परया मुदा ॥ ८ ॥

नित्यकर्माद्यनुष्ठानात्पापनाशो भवत्यतः । चित्तशुद्धिर्भवेज्जन्तो रुद्रस्यैव प्रसादतः ॥ ९ ॥

तया संसारदोषस्य दर्शनं भवति स्वतः ।

ततो विरक्तिः संसारात्पुनस्त्यागश्च कर्मणाम् ॥ १० ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये 'तत्र तत्र स्थितो देवः प्रसादं कुरुत' इति तत्तदुपाधिविशिष्टस्येश्वरप्रसादकर्तृत्वप्रतिपादनात्तत्प्रसादोऽप्युपाधिवशान्नानाविध इति सूचितम् । ते च मुमुक्षुणा पुरुषेण क्रमेण संपादनीयाः । तत्र कीदृक्प्रसादानन्तरं कीदृक्प्रसाद इति क्रमजिज्ञासायां तन्निर्णयायाध्याय आरभ्यते– अथात इति ॥ १–८ ॥ नित्यकर्मादीति । आदिशब्देन नैमित्तिकसंग्रहः । फलादिविरहेणेश्वरार्पणबुद्ध्या वर्णाश्रमादिविहितयोर्नित्यनैमित्तिकयोर्यदनुष्ठानं तेन तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकपापक्षयो भवति । अयं प्रथमः प्रसादः । अत इति । अस्मादेव पापक्षयात्मकात्प्रसादाच्चित्तशुद्धिर्भवति । कालुष्यहेतोः पापस्य तदा प्रक्षीणत्वादित्यर्थः । रुद्रस्यैवेति । संहृतिव्यापारस्तमोगुणा(णोपा)धिकः शिवो रुद्रस्तत्प्रसादात्संहर्त्रीश्वरसाक्षात्कारेणात्र विरक्तिर्जायते । पुनस्तत्प्रसादादेव वैराग्यवशाद्यज्ञदानादिकर्मत्यागलक्षण उत्तमाश्रमस्वीकारो भवतीत्यर्थः । रुद्रो हि सर्वं संहरत्यतस्तत्प्रसादादस्यापि प्रवृत्तिमार्गनिवर्तकत्वं[1] युक्तम् ॥ ९ ॥ १० ॥

गंभीर आवाज़ में विष्णु आदि के लिये रहस्योद्घाटन किया ॥ ६ ॥ प्रत्यक्ष शंकर रूप सनत्कुमार से व्यास जी नें उसका ज्ञान पाया और स्नेहवश मुझे (सूत को) उसका उपदेश दिया ॥ ७ ॥ मैं भी केवल कृपा कर आज आपको वही बता रहा हूँ ॥ ८ ॥

नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से पाप नष्ट होते हैं । पाप निवृत्त होने से जन्तुओं का चित्त शुद्ध होता है । पापनाश व चित्तशुद्धि भी होती तभी है जब शिवार्पणबुद्धि से कर्म किये जायें । वैसे कर्म करने से प्रसन्न हुए शिव की कृपा से ही तत्त्वज्ञान को प्रतिबद्ध करने वाले पाप क्षीण होते हैं । अन्यथा नित्याद्यनुष्ठान भी कर्माधिकारमात्र देता है और भावी दुर्गति को होने नहीं देता । शिवार्पण रूप से न करें तो नित्यादि कर्म भी मोक्षोपाय नहीं बन पाते । अतः शिवप्रसाद ही पापक्षय का हेतु है, नित्यादि तो निमित्तमात्र हैं ॥ ९ ॥ चित्तशुद्धि होने पर शिवकृपा से संसार में दोषदृष्टि

---

१ घ. °तिभोगनि° ।

विरिञ्चस्य प्रसादेन ततः शान्त्यादिसाधनम् ।
प्रसादाद्वैष्णवात्साक्षान्मुमुक्षुत्वं पुनः स्वतः ॥ ११ ॥
विघ्नराजप्रसादेन गुरुपादपरिग्रहः । तेन योगाभिधं[1] ध्यानमैश्वरं ज्ञानसाधनम् ॥ १२ ॥
पुनः सांख्याभिधं ज्ञानं पार्वत्यास्तु प्रसादतः ।
सांख्यस्योत्पत्तिवेलायां मोचकस्य शिवस्य तु ॥ १३ ॥
प्रसादो जायते तेन संसारस्य विमर्दनम् ।
संसारमोचकः साक्षाच्छिव एव न चापरः ॥ १४ ॥

विरिञ्चस्येति । ततः कर्मत्यागानन्तरं सृष्टिव्यापारस्य रजोगुणोपाधिकस्य प्रसादेन शमादिकं ज्ञानोत्पत्तावन्तरङ्गत्वेनान्त्याश्रमधर्मत्वेन विहितं साधनकलापं लभत इत्यर्थः । ब्रह्मणो रजोगुणवशात्प्रवर्तकत्वात्तत्प्रसादस्यापि शान्त्यादिसाधनेषु प्रवृत्तिहेतुत्वं युक्तम् । **प्रसादाद्वैष्णवादिति** । सत्त्वगुणोपाधिको विष्णुस्तदीयप्रसादाद्भवति मुमुक्षुत्वम् । दग्धार्धकायः पुरषो विचारमन्तेरण झटिति जले निमज्जत्येवमेव संसारतप्तस्य पुरुषस्य या मोक्षविषया हठात्प्रवृत्तेरिच्छा सा मुमुक्षुत्वं तद्विष्णोः प्रसादाज्जायत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ एवं त्रिमूर्तिप्रसादेन साधनचतुष्टयसंपन्नस्य गुरूपसत्तिकरो विनायकप्रसाद इत्याह—**विघ्नराजेति** । **योगाभिधमिति** । गुरूपदिष्टेश्वरस्वरूपविषयं साक्षात्कारज्ञानसाधनं[2] योगाख्यं प्रत्यस्तमितविजातीयप्रत्ययसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपकं ध्यानं गुरुप्रसादाल्लभत इत्यर्थः ॥ १२ ॥ **सांख्याभिधमिति** । सम्यक् ख्यायते ज्ञायतेऽनयेति साक्षात्कारज्ञानजननी बुद्धिः संख्या, तज्जन्यं सांख्यं, तथाविधं ज्ञानं पार्वतीप्रसादाल्लभत इत्यर्थः । उक्तं हि— 'पार्वती परमा देवी ब्रह्मविद्याप्रदायिनी' इति (४.१३.३४) ॥ **संसारस्य विमर्दनमिति** । साक्षात्कारज्ञानोत्पत्तिसमये जायमानः परशिवप्रसाद एव साक्षात्संसारस्य निवृत्तिं करोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

होती है जिससे वैराग्य और सर्वकर्मत्याग होता है । सर्वत्र परमेश्वर-कृपा कारण है । अन्यथा संसार में दोष देखकर लोग उन्हें सुधारने में ही प्रवृत्त हो जाते हैं ॥ १० ॥ ब्रह्मा की कृपा से शमादि साधनों की प्राप्ति होती है । विष्णु के प्रसाद से मुमुक्षुता मिलती है ॥ ११ ॥ गणेश की कृपा से गुरुचरणों का लाभ होता है जिससे ज्ञानसाधनभूत योगनामक ईश्वरविषयक ध्यान संभव होता है ॥ १२ ॥ भगवती पार्वती की कृपा से शुद्धत्वमर्थ का ज्ञान होता है । जब यह ज्ञान होता है तब शिव की वह कृपा होती है जो संसार का बाध कर मुक्त कराने वाले अखण्डाकार ज्ञान को उत्पन्न करती है । संसार से मुक्त कराने वाले शिव ही हैं, अन्य नहीं ॥ १३–१४ ॥ अन्य देवता उक्त क्रम से ही मोक्षोपयोगी हैं, सीधे नहीं । अनेक जन्मों में श्रौत-स्मार्त मार्ग पर चलने वाला अप्रमादी साधक ही मोचक परमशिव की कृपा पा सकता है, यह वैदिक सिद्धान्त है ॥ १५–१६ ॥ कृपा-प्राप्ति के कारणों में प्रणव नामक महामंत्र

---

१ घ. °भिधं ज्ञान° । ङ. °भिसंधान° । २ घ. °रस्ततसाध° ।

अन्याश्च देवताः सर्वाः प्रणाड्यैव हि मोच(चि) काः ।
अनेकजन्मसंसिद्धः श्रौतस्मार्तपरायणः ॥ १५ ॥
क्रमेणैव महादेवं मोचकं परमेश्वरम् ।
प्राप्नुयादप्रमादेन मुमुक्षुरिति हि श्रुतिः ॥ १६ ॥
प्रसादहेतुभूतेषु प्रणवाख्यो महामनुः ।
वरिष्ठः[1] कथितः प्राज्ञैर्देवतासु विशेषतः ॥ १७ ॥
विष्णुर्मुख्य इति प्रोक्तस्तथा सकलधर्मतः ।
रुद्राराधनमेवोक्तं वरिष्ठमिति वैदिकैः ॥ १८ ॥
ओंकारस्य प्रसादेन विष्णोश्चैव प्रसादतः । रुद्राराधनवाञ्छा स्यात्तदाराधनतः पुनः ॥ १९ ॥
ज्ञानमानन्दमद्वैतं परं ब्रह्माधिगच्छति । प्रसादादेव रुद्रस्य ज्ञानं मोक्षैकसाधनम् ॥ २० ॥
देवयानाभिधा विष्णोर्गतिः स्रष्टुः प्रसादतः । ब्राह्मण्यं कीर्तिरिन्दोश्च रवेरारोग्यमेव तु ॥ २१ ॥
अग्नेरैश्वर्यमतुलं पितृयाणो[2] यमस्य तु । पुरंदरस्य सौभाग्यं बलं वायोः प्रसादतः ॥ २२ ॥

प्रणाड्यैवेति । उक्तरीत्या साक्षात्संसारमोचको निरुपाधिकः परशिव एव । सोपाधिकास्तु ब्रह्मविष्ण्वाद्या वैराग्यादिजननेन परम्परयैव मोचका इत्यर्थः । अप्रमादेनेति । 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्' इत्येषा श्रुतिः प्रमादरहितस्य सावधानस्य मुमुक्षोः परशिवप्राप्तिं प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ १६ ॥ वरिष्ठः कथित इति । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ १७–१९ ॥

वरिष्ठ है । देवताओं में विष्णु मुख्य हैं जो कृपप्राप्ति के हेतु बनते हैं । सब धर्माचरणों में रुद्र की आराधना मुख्य उपाय है कृपालाभ का ॥ १७–१८ ॥ ओंकार और विष्णु की प्रसन्नता से रुद्र की आराधना करने की इच्छा होती है । आराधना से रुद्रकृपा द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है जो आनंदरूप अद्वैत परब्रह्म को विषय करता है । ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् साधन है ॥ १९–२० ॥ विष्णु की प्रसन्नता से देवयान मार्ग से गति मिलती है । ब्रह्मा की कृपा से ब्राह्मण योनि मिलती है । चंद्र की कृपा से कीर्ति और सूर्य की कृपा से आरोग्य प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ अग्नि की प्रसन्नता से अतुल ऐश्वर्य तथा यमराज की कृपा से पितृयाण मार्ग मिलता है । इन्द्र का प्रसाद सौभाग्य और वायु की कृपा बल देने में कारण है ॥ २२ ॥ विघ्नराज विनायक की प्रसन्नता से निर्विघ्न कार्यसिद्धि हो जाती है । कार्तिकेय की कृपा से सब कुछ बिना प्रयत्न सिद्ध हो जाता है ॥ २३ ॥ सरस्वती के प्रसाद से आसानी से वाग्वैभव प्राप्त होता है । लक्ष्मी की कृपा से बिना यत्न ही समग्र ऐश्वर्य मिल जाता है ॥ २४ ॥ दुर्गा की कृपा से सर्वत्र विजय मिलती है । जो लोग कामना वाले होते हैं उन्हें सब देवता सांसारिक फल देते हैं ।

१ घ. ङ. वरिष्ठैः । २ ङ. पितृयाणं ।

विघ्नराजस्य देवस्य कार्यसिद्धिरविघ्नतः । षण्मुखस्य प्रसादेन सर्वसिद्धिरयत्नतः ॥ २३ ॥

भारत्याश्च प्रसादेन वाग्विभूतिरयत्नतः । श्रीदेव्यास्तु प्रसादेन सर्वैश्वर्यमयत्नतः ॥ २४ ॥

दुर्गादेव्याः प्रसादेन सर्वत्र विजयो भवेत् । कामिनां देवताः सर्वाः सांसारिकफलप्रदाः ॥ २५॥

कामनारहितानां तु शुद्धिद्वारेण देवताः । महादेवप्रसादस्य हेतुभूता भवन्ति हि ॥ २६ ॥

महादेवप्रसादस्तु न हेतुः कस्यचिद् द्विजाः । स्वयं भुक्तिकरः पुंसां कामिनामचिरेण तु ॥ २७॥

स्वयं मुक्तिकरः साक्षात्कामनारहतिस्य तु[1] *। चिरेणैव तु कालेन शिवस्यैव प्रसादतः ॥ २८ ॥*

देवता भुक्तिदा एव मुक्तिदा न स्वतन्त्रतः । महादेवप्रसादेन समः कश्चिन्न विद्यते ॥ २९ ॥

महादेवप्रसादेन खलु विष्णुपदं द्विजाः । ब्रह्मेन्द्रादिपदं चापि न स्वतः सर्वदेहिनाम् ॥ ३० ॥

प्रसादे सति देवस्य शिवस्य परमात्मनः ।
वैदिकानां तथाऽन्येषामपि मुक्तिर्हि सिध्यति ॥ ३१ ॥

ज्ञानमानन्दमिति । सत्यज्ञानानन्दैकरसमित्यर्थः ॥ २०–२४ ॥ **कामिनामिति** । फलकामनापुरःसरं देवताराधनं कुर्वतां विष्णवाद्या देवता यथोदीरितदेवयानप्राप्त्यादिरूपसांसारिकफलप्रदाः । निष्कामाणां तु प्रतिबन्धकपापनिर्हरणेन चित्तशुद्धिजननद्वारा परमेश्वरप्रसादहेतव इत्यर्थः ॥ २५–२६ ॥ एवं देवतान्तरप्रसादस्य परशिवप्रसादहेतुत्वमभिधाय तत्प्रसादस्य माहात्म्यं प्रपञ्चयति–**महादेवेत्यादिना** ॥ २७–३१ ॥

जो साधक कामना वाले नहीं होते, सब देवता उन्हे शुद्धि प्रदान कर महादेव की कृपा प्राप्ति में सहायक बन जाते हैं ॥ २५–२६ ॥ महादेव की कृपा स्वंय अमोघ है, उसे आगे किसी का शेष नहीं बनना पड़ता । कामना वालों को शिवकृपा झट भोग दे देती है । निष्काम साधकों को वह कृपा स्वयं ही मोक्ष दे देती है ॥ २७½ ॥ अन्य देवता भोग व मोक्ष शिवकृपा द्वारा ही दे पाते हैं अतः उन्हें विलम्ब लगता है । शिवकृपा को किसी की अपेक्षा नहीं अतः तुरन्त फललाभ होता है । अतः महादेव की कृपा के समान कुछ नही है ॥ २८–२९ ॥ विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि पद भी शिवकृपा से ही प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ३० ॥ वैदिक व अन्यों का मोक्ष शिवकृपा होने पर ही संभव है ॥ ३१ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, संकर तथा पाषण्डी–सभी शिवकृपा से मोक्ष पा लेते हैं । सब वैदिक एवं स्त्रियाँ भी महादेव प्रसाद से मुक्त होने योग्य हैं इसमें कहना ही क्या ? ॥ ३२–३३ ॥ गधे, ऊँट और पेड़ भी ईश कृपा से बिना प्रयत्न के ही मोक्ष पा जाते हैं ॥ ३४ ॥ कोई गर्भस्थ ही मुक्त हो जाता है,

---

१ छ. तु ॥ अचिरेण तु ।

ब्राह्मणाश्च विमुच्यन्ते प्रसादेन शिवस्य तु ।
क्षत्रियाश्च तथा वैश्याः शूद्रा अपि च संकराः ॥ ३२ ॥
[1]पाषण्डिनो विमुच्यन्ते प्रसादेन शिवस्य तु ।
किं पुनर्वैदिका विप्राः स्त्रियः सर्वा मुनीश्वराः ॥ ३३ ॥
खरोष्ट्रतरवोऽपीशप्रसादेनैव केवलम् । अयत्नेन विमुच्यन्ते[2] नात्र संदेहकारणम् ॥ ३४ ॥
गर्भस्थो मुच्यते कश्चिज्जातमात्रेण कश्चन । बाल्ययौवनवार्धक्याद्यवस्थासु च कश्चन ॥ ३५ ॥
पाषण्डाश्च विमुच्यन्ते प्रसादेन महेशितुः[3] । वैदिकाश्च खरोष्ट्रादिजातयश्च तथैव च ॥ ३६ ॥
पांसवः पर्वतायन्ते पांसूयन्ते च पर्वताः । शिवप्रसादयुक्तानामाज्ञयैव तु केवलम् ॥ ३७ ॥
ब्रह्मनारायणाद्यास्तु देवता[4] अखिला अपि ।
विजायन्ते च नश्यन्ति ह्याज्ञयैव प्रसादिनः ॥ ३८ ॥
प्रसादस्य च माहात्म्यं शिवस्य परमात्मनः ।
अपि देवा न जानन्ति श्रुतयश्च न संशयः ॥ ३९ ॥
शंकरोऽपि महातेजाः शांकरी वा मुनीश्वराः ।
शिवप्रसादमाहात्म्यं किंतु जानाति वा न वा ॥ ४० ॥

॥ ३२–४० ॥

कोई पैदा होते ही मोक्ष पाता है तथा अन्य लोग बाल्य, यौवन या वृद्ध अवस्थाओं में मुक्त होते हैं ॥ ३५ ॥ पाखण्डी तथा वैदिक एवं खर, उष्ट्र आदि जातियाँ सबी महादेवप्रसाद से मोक्षलाभ करते हैं ॥ ३६ ॥ जिन पर शिव की कृपा है उनकी आज्ञा से पहाड़ तिल जितने और तिल पहाड़ जितने हो जाते हैं ॥ ३७ ॥ ब्रह्मा, नारायण आदि सब देवता महेश्वर-आज्ञा से ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं ॥ ३८ ॥ देवता व श्रुतियाँ भी शिव की कृपा की महत्ता निःसन्देह नहीं जानते ॥ ३९ ॥ शिव व पार्वती भी शिवप्रसाद का पूरा माहात्म्य जानते हैं या नहीं, कहा नहीं जा सकता ॥ ४० ॥ आप लोग भी महादेव कृपा की प्राप्ति के लिये नित्य यथाशक्ति गुरुचरणों का पूजन कीजिये ॥ ४१ ॥ सब देवताओं से सेवित व्याघ्रपुर में केवल अपने स्वरूप के अनुसंधान की प्रसन्नता से ही परमशिव दभ्रसभा में नृत्य करते हैं । अम्बिका

---

१ घ. छ. पखण्डिनो । २ छ. °न्ते प्रसादेन शिवस्य तु ॥ ३४ ॥ ग° । ३. ग. °न शिवस्य तु । वै° । घ. °न विनेशि° । ४ छ. °वताः सकला ।

भवन्तोऽपि महादेवप्रसादाय मुनीश्वराः । गुरुपादाम्बुजं नित्यं पूजयध्वं यथाबलम् ॥ ४१ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरे पुण्ये सर्वदेवसमावृते । स्वस्वरूपानुसंधानप्रमोदेनैव केवलम्[1] ॥ ४२ ॥

साक्षा[2]द्दभ्रसभामध्ये नृत्यन्तं देवनायकम् । अम्बिकासहितं नित्यं भजध्वं परया मुदा ॥ ४३ ॥

श्रीकालहस्तिनाथस्य प्रणामालोकनादयः । अपि शंभोः प्रसादाय भवन्ति द्विजपुंगवाः ॥ ४४ ॥

वाराणस्यां महादेवप्रणामालोकनादयः । अपि शंभोः प्रसादाय भवन्ति द्विजपुंगवाः ॥ ४५ ॥

प्रसादलाभाय हि [3]धर्मसंचयः प्रसादलाभाय हि देवतार्चनम् ॥

प्रसादलाभाय हि देवतास्मृतिः प्रसादलाभाय हि सर्वमीरितम् ॥ ४६ ॥

शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः ।

शिवप्रसादेन विना न देवताः शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिकाः ॥ ४७ ॥

शिवप्रसादेन समो न विद्यते शिवप्रसादादधिको न विद्यते ॥

शिवप्रसादेन शिवस्य संनिधिः शिवप्रसादेन विशुद्धताऽऽत्मनः ॥ ४८ ॥

शिवप्रसादेन युतस्य वैदिकं न विद्यते कर्म जनस्य सुव्रताः ।

शिवप्रसादेन युतस्य तान्त्रिकं न विद्यते कर्म तथैव किंचन ॥ ४९ ॥

तथाविधप्रसादलाभाय तत्साधनमुपदिशति—भवन्तोऽपीत्यादिना ॥ ४१—४५ ॥ न केवलं महादेवप्रसादलाभे गुरूपसत्तिपुरःसरं तदर्चनमेव कारणमपि तु वर्णाश्रमविहितं यज्ञदानादिकं देवतान्तरार्चनादिकं च यन्निष्कामेण क्रियते तत्सर्वमपि परम्परया शिवप्रसादसाधनमित्याह—प्रसादलाभायेत्यादिना ॥ ४६—४७ ॥

समेत उन देवनेता का आप लोग नित्य भजन कीजिये ॥ ४२—४३ ॥ श्रीकालहस्तीश्वर का दर्शन प्रणाम आदि भी शिवकृपा पाने का उपाय है ॥ ४४ ॥ बाराणसी में महादेव का दर्शन, प्रणाम आदि भी शिव-प्रसाद देता है ॥ ४५ ॥ महादेव का प्रसाद पाने के लिये ही धर्म एकत्र किया जाता है । देवाराधन, देवस्मृति आदि सबका उद्देश्य शिवकृपा पाना है ॥ ४६ ॥ शिवप्रसाद के बिना भोग व मोक्ष दोनों नहीं मिलते । देवता भी उसी से अनुकूल रहते हैं । सभी कुछ शिवकृपा से ही प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ शिवप्रसाद के समान या उससे अधिक कुछ नहीं है । शिवकृपा मिल गयी उसे कोई वैदिक तान्त्रिक आदि कर्म करने की आवश्यकता नहीं ॥ ४९ ॥ शिव के कृपापात्र का पुनः जन्म-मरण नहीं होता । यह तो

---

१ ङ. °म् ॥ ४२ ॥ तत्र साक्षादभ्रम° । २ ग. घ. छ. °क्षादभ्र° । ३ ग. च. छ. कर्मसंचय । घ. कार्यसंचयः ।

शिवप्रसादेन युतस्य सुव्रता न जन्मनाशौ भवतः सदैव तु ।
शिवप्रसादेन युतः स्वयं शिवः शिवप्रसादस्तु शिवप्रसादतः ॥ ५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शंकरप्रसादक्रमवर्णनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रसादस्य तु वैभवम् ।
अत्यन्तश्रद्धयोपेताः शृणुतातीव शोभनम् ॥ १ ॥

पुरा कश्चिन्महापापी दुर्घटो नाम नामतः ।
जात्या शूद्रो [1]महाक्रुद्धो महासाहसिकोत्तमः[2] ॥ २ ॥

अभूत्तेन महामोहाद् ब्राह्मणानां शतं हतम् । गवां शतं हतं तेन दग्धं गेहशतं तथा ॥ ३ ॥

अथ चौर्यं कृतं तेन नराणामविचारतः । बलात्परस्त्रियो भुक्ता बहुशो दृष्टिगोचराः ॥ ४ ॥

वापीकूपतडागादिजलं तेनैव दूषितम् । वर्णाश्रम[3]समाचारमर्यादा तेन भेदिता ॥ ५ ॥

सहस्रजन्मतः पूर्वं दुर्घटेन मुनीश्वराः । शिवयोगिकरे तेन सुवर्णं निष्कमुत्तमम् ॥ ६ ॥

॥ ४८–५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शंकरप्रसादक्रमवर्णनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीमद्व्याघ्रपुरादिस्थानेषु परमेश्वरमुपासीनानामुक्तप्रभावः पराशिवप्रसादो जायत इत्युक्तम् । तत्रापि श्रीमद्व्याघ्रपुरे परमेश्वरोपासनं महापातकादिदोषदूषितस्यापि शिवप्रसादहेतुर्भवतीति दर्शयितुमध्याय आरभ्यते—अथात इति ॥ १ ॥

स्वयं शिव ही हो जाता है । शिवप्रसाद का अपूर्व वैशिष्ट्य यह है कि वह स्वयं शिवप्रसाद से ही होता है ॥ ५० ॥

प्रसादवैभव नामक चौबीसवाँ अध्याय

सूतजी बोले—अब मैं प्रसाद का वैभव (माहात्म्य) सुनाता हूँ, श्रद्धासहित इस शुभ प्रसंग को सुनिये॥१॥

---

१ ज. महाक्रूरो । २ ङ. °कोऽधमः । ३ च. °सदाचा° ।

दत्तं तेन मतिस्तस्य जाता कालेन शोभना ।
अहो मोहेन पापनि कृतानि सुबहूनि च ॥ ७ ॥
मया तेषां न पश्यामि विनाशस्य तु कारणम् ॥
ब्राह्मणा वेदविद्वांसो वदन्ति नरकान्मम ॥ ८ ॥
इति व्याकुलचित्तस्य दुर्घटस्य दुरात्मनः ॥ मतिप्रदानं कृतावान्ब्राह्मणः कश्चिदा[1]स्तिकः ॥ ९ ॥
ब्राह्मण उवाच–श्रीमद्व्याघ्रपुरं नाम स्थानमस्ति महीतले ।
यत्र नृत्यति विश्वात्मा[2] शिवः संसारमोचकः ॥ १० ॥
यस्य माहात्म्यविज्ञानाद्विष्णुर्विश्वजगन्मयः । तताप परमं घोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ ११ ॥
यस्य माहात्म्यविज्ञानाद् ब्रह्मा विश्वामराधिपः । तताप परमं घोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ १२ ॥
यस्य माहात्म्यविज्ञानादिन्द्रः शस्त्रभृतां वरः । तताप परमं घोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ १३ ॥
यस्य माहात्म्यविज्ञानाद्देवा यक्षाश्च किंनराः । तप्तवन्तो महाघोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ १४ ॥
यस्य माहात्म्यविज्ञानान्मुनयो मुनिसत्तमाः । तप्तवन्तो महाघोरं तपस्तत्रेश्वरं प्रति ॥ १५ ॥

॥ २–२१ ॥ नमोन्तं शिवमन्त्रमिति । उक्तं हि शिवमाहात्म्यखण्डे चतुर्थेऽध्याये शिवपूजाविधौ–"नमोन्तेन शिवेनैव

प्राचीन काल में एक दुर्घट नाम का शूद्र था । वह महाक्रोधी था और डकैती आदि करने में परम निपुण था ॥ २ ॥ उसने अपने अपराधी जीवन में कम से कम सौ ब्राह्मण और सौ गायें अवश्य मारी थीं व सौ घर अवश्य जलाये थे ॥ ३ ॥ बिना विचरे उसने चोरियाँ की थी और पराई स्त्रियों से बलात्कार किया था ॥ ४ ॥ बावड़ी, कुए, तालाव आदि के जल को उसने दूषित किया था और वर्णाश्रम मर्यादा यथासंभव भंग की थी ॥ ५ ॥ एक हज़ार जन्म पूर्व उस दुर्घट ने किसी शिवयोगी को एक स्वर्णमुद्रा का दान किया था ॥ ६ ॥ उस पुण्य के फलस्वरूप इस जन्म में उसे अचानक विचार आया 'अहो ! खेद है कि मैंने धनादि के लोभ में बहुतेरे पाप कर लिये हैं, उनका प्रायश्चित्त क्या होगा, समझ नहीं आता । ब्राह्मण लोग, जो वेदादि के ज्ञाता हैं, मुझे नाना नरकों की प्राप्ति होगी यही बताते हैं ।' यो व्याकुल मन वाले उस दुर्घट को किसी आस्तिक ब्राह्मण ने यह उपदेश दिया ॥ ६–९ ॥

ब्राह्मण बोला–पृथ्वी पर श्रीमद् व्याघ्रपुर नामक स्थान है जहाँ संसार बंधन से छुड़ाने वाले साक्षाद्

१ घ. ज. दास्तिकाः । २ ख. ग. घ. ज. सर्वात्मा ।

यत्र सर्वेश्वरं दृष्ट्वा प्रसादं लब्धवान्हरिः । तत्र देवमुपास्स्व त्वं प्रनृत्यन्तमुमापतिम् ॥ १६ ॥
यत्र सर्वेश्वरं दृष्ट्वा प्रसादं लब्धवानजः । तत्र देवमुपास्स्व त्वं प्रनृत्यन्तमुमापतिम् ॥ १७ ॥
यत्र वज्री हरं दृष्ट्वा प्रसादं लब्धवान् द्विजाः ।
तत्र देवमुपास्स्व त्वं प्रनृत्यन्तमुमापतिम् ॥ १८ ॥
यत्र दृष्ट्वा हरं देवा अशेषा आस्तिकोत्तमाः । यक्षराक्षसगन्धर्वसिद्धविद्याधरादयः ॥ १९ ॥
प्रसादं लब्धवन्तस्तु स्वाधिकारानुरूपतः । तत्र देवमुपास्स्व त्वं प्रनृत्यन्तमुमापतिम् ॥ २० ॥
सूत उवाच— इत्येवं ब्राह्मणेनोक्तो दुर्घटः पुण्यगौरवात् ।
श्रीमद्व्याघ्रपुरं गत्वा श्रद्धया परया सह ॥ २१ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा स्नात्वा नित्यमतन्द्रिताः ।
नमोन्तं शिवमन्त्रं तु जपित्वाऽष्टोत्तरं शतम् ॥ २२ ॥

स्त्रीणां पूजा विधीयते । विरक्तानां च शूद्राणामेवं पूजा प्रकीर्तिता" इति । एवं चास्मिन्पुराणे शूद्रस्य शिवाय नम इत्येवं पञ्चाक्षरमन्त्रः पूजादौ प्रयोक्तव्यत्वेनाभिमतः । पुराणान्तरे तु षडक्षरमन्त्रेण प्रणवं विहायावशिष्टेन पञ्चाक्षरेण शूद्रादीनामपि पूजादि कार्यमित्युक्तम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः । सदों नमः शिवायेति शिवमन्त्रं समाश्रयेत् ॥ पञ्चाक्षरः सप्रणवो द्विजराज्ञोर्विधीयते । विट्शूद्रजन्मनां वाऽपि स्त्रीणां निर्बीज एव हि ॥ सबीजः सस्वरः सौम्यो विप्रक्षत्रिययोर्द्वयोः । नेतरेषामितीशानः स्वयमेवाऽऽह शंकरः ॥ दुर्वृत्तो वृत्तहीनो वा पतितोऽप्यन्त्यजोऽपि वा । जपेत्पञ्चाक्षरीं विद्यां जपेनैवाऽऽप्नुयाच्छिवम्" इति ॥ २२–२६ ॥

महादेव आनन्दोल्लास से नृत्य किया करते हैं. ॥ १० ॥ उस स्थान के माहात्म्य को समझने के कारण जगन्मय महाविष्णु ने वहाँ घोर तप किया था । उससे वे ईश्वर को प्रसन्न करना चाहते थे ॥ ११ ॥ इसी प्रकार वहाँ की महत्ता समझकर भगवान् की प्रीति के लिये ब्रह्मा, इंद्र, देव, यक्ष, किन्नर व मुनियों ने वहाँ घोर तपस्या की ॥ १२–१५ ॥ वहीं नृत्य करते हुए उमापति का दर्शन कर परमेश्वरप्रसाद श्रीहरि ने पाया था । ब्रह्मा, इंद्र व सब तपोरत आस्तिकों ने अपने-अपने अधिकारानुसार वहीं भगवद्दर्शन और उनका प्रसाद प्राप्त किया था । वहाँ जाकर तुम भगवान् की उपासना करो ॥ १६–२० ॥

सूत जी बोले—यों ब्राह्मण की बात सुनकर पुण्यवश दुर्घट को उस पर श्रद्धा हो गयी और वह व्याघ्रपुर चला गया ॥ २१ ॥ वह प्रतिदिन स्नान कर तीन प्रदक्षिणायें करता और एक सौ आठ बार 'शिवाय नमः' इस मंत्र का जप किया करता था ॥ २२ ॥ दभ्रसभा में नाचती शिवमूर्ति का दर्शन तथा उसे प्रणाम कर भस्मधारी रुद्रभक्त ब्राह्मण को धन-धान्य देता था ॥ २४ ॥ वह केवल सत्य बोलता, हर तरह की

श्रीमद्दभ्रसभामध्ये प्रनृत्यन्तमुमापतिम् । दृष्ट्वा भूमौ महाभक्त्या दण्डवत्प्रणिपत्य च ॥ २३ ॥
रुद्रभक्ताय विप्राय भस्मनोद्धूलिताय च । शिवज्ञानैकनिष्ठाय दत्त्वा धान्यं धनं मुदा ॥ २४ ॥
सत्यवाक् शौचसंपन्नः कामक्रोधादिवर्जितः । वत्सराणां त्रयं तत्र उवासातिप्रियेण सः ॥ २५ ॥
देवदेवो महादेवो महाकारुणिकोत्तमः । प्रसादमकरोत्तस्य दुर्घटस्य दुरात्मनः ॥ २६ ॥
शिवप्रसादेन स दुर्घटः पुनः समस्तलोकाधिपतिर्बभूव ।
विमुक्तिमप्याप महत्तरामिमां परप्रमातृप्रथनैकलक्षणाम् ॥ २७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रसादवैभवं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

सूत उवाच–भूयोऽपि देवदेवस्य प्रसादस्य तु वैभवम् ।
प्रवक्ष्यामि समासेन शृणुत श्रद्धया सह ॥ १ ॥

परप्रमातृप्रथनैकलक्षणामिति । प्रमाताऽन्तःकरणोपहितः साक्षी, परं निरतिशयं प्रमातुरुपाधिविलयेन यत्प्रथनं ख्यापनं तदेकमेव लक्षणं यस्यास्तामित्यर्थः ॥ २७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रसादवैभवं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

त्रयोविंशेऽध्याये–"संसारमोचकः साक्षाच्छिव एव न चापरः । अन्याश्च देवताः सर्वाः प्रणाड्यैव हि मोचिकाः ॥" इति यदुक्तं तद्विष्णुना स्ववचनेनैव प्रतिपादितमिति समर्थयितुमध्याय आरभ्यते–**भूयोऽपीति** ॥ १–१२ ॥

स्वच्छता रखता और काम क्रोध आदि नहीं करता था । इस तरह तीन साल वह प्रेमपूर्वक रहा ॥ २५ ॥ तदनंतर करुणामय महादेव ने उस पर कृपा की ॥ २६ ॥ भगवान् के प्रसाद से वह समस्त लोकों का अधिपति बन गया तथा उस कैवल्य मोक्ष को प्राप्त हुआ जहाँ जीव की निरतिशय ब्रह्मरूपता स्फुट रहती है ॥ २७ ॥

प्रसादवैभव नामक पचीसवाँ अध्याय

सूत जी ने कहा–पुनः आप लोगों को महादेव के प्रसाद की महत्ता संक्षेप में बताता हूँ, श्रद्धा सहित सुनिये ॥ १ ॥

प्राचीन काल में एक सत्यसन्ध नाम का ब्राह्मण था । शुभ आचार व शुद्ध चित्त वाला वह उत्तम विप्र शास्त्रोक्त कर्म भक्तिभावसे करता था । उसने भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा की तथा प्रतिदिन पुष्पादि से उनकी आराधना किया करता था ॥ ३–४ ॥ नाना

पुरा कश्चिद् द्विजश्रेष्ठः सर्वलक्षणसंयुतः । सत्यसंधाभिधः शुद्धो विष्णुभक्तो विशेषतः ॥ २ ॥

अभूत्तेन कृतं सर्वं श्रुतिस्मृत्युदितं मुदा । प्रतिष्ठा च कृता विष्णोर्बहुशः पण्डितोत्तमाः ॥ ३ ॥

आराधितश्च भगवान्विष्णुर्विश्वजगन्मयः । दिने दिने महाभक्त्या सुगन्धकुसुमादिभिः ॥ ४ ॥

वैष्णवा विविधा मन्त्रास्तेन जप्ता दिने दिने ।

चिरंतनानि स्थानानि विष्णोर्दृष्टानि सादरम् ॥ ५ ॥

वैष्णवा मनुजास्तेनं पूजिताश्च दिने दिने । सर्वस्वं वैष्णवे दत्तं सत्यसंधेन सादरम् ॥ ६ ॥

पुनर्नारायणः श्रीमाञ्शङ्खचक्रगदाधरः । प्रत्यक्षमभवत्तस्य प्रसन्नः पङ्कजेक्षणः ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वा सत्यसन्धस्तु प्रसन्नेदिन्द्रियमानसः । प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भक्त्या परमया सह ॥ ८ ॥

गन्धपुष्पादिभिर्दिव्यैः समाराध्य यथाबलम् । स्तोतुमारभते विष्णुं विश्वलोकैककारणम् ॥ ९ ॥

सत्यसंध उवाच—विष्णवे विश्वलोकानां हेतवे विविधात्मने ।

वेदवेदान्तनिष्ठानामात्मभूताय ते नमः ॥ १० ॥

कृष्णाय क्लेशहन्त्रे च मम केनापि हेतुना । प्रत्यक्षाय प्रबोधाय विदुषामात्मने नमः ॥ ११ ॥

केशवायातिशुद्धाय केवलाय परात्मने । केषांचिच्छुद्धचित्तानां प्रसन्नाय नमो नमः ॥ १२ ॥

वैष्णव मंत्रो का जप करता था । श्रद्धापूर्वक वैष्णव तीर्थों का दर्शन उसने किया था ॥ ५ ॥ वैष्णव मनुष्यों की पूजा वह करता था तथा उसने अपना सर्वस्व विष्णु के कार्य में ही समर्पित कर दिया था ॥ ६ ॥ उस प्रसन्न हो शंख-चक्र-गदाधारी नारायण ने उसे दर्शन दिया ॥ ७ ॥ उन्हें देख सत्यसन्ध परम आनन्दित हुआ । उन्हें प्रणाम किया व उनकी स्वसामर्थ्यानुसार पूजा कर सत्यसंध ने उनकी स्तुति की ॥ ८–९ ॥

सत्यसंध बोला—समस्त संसार के कारण, नान रूप धारण करने वाले, वेद-वेदान्तों में प्रतिपादित, आत्मरूप विष्णु को प्रणाम है ॥ १० ॥ क्लेशों को समाप्त करने वाले, ज्ञानरूप, विद्वानों के आत्मा, किसी कारण मेरे सामने प्रत्यक्ष हुए आप कृष्ण को प्रणाम है ॥ ११ ॥ अतिशुद्ध, अद्वितीय, परमात्मा, कुछेक शुद्ध चित्त वालों पर प्रसन्न होने वाले आप केशव को नमस्कार है ॥ १२ ॥ मूँज की तरह चमकदार बालों वाले, (अवतार विशेषों में) मुण्डित सिर वाले, संन्यासियों के दुःख समाप्त करने वाले, केवल मौन का अभ्यास करने वाले मूर्ख को भी मोक्ष प्रदान करने वाले आपको प्रणाम है ॥ १३ ॥ श्रीवत्स से चिह्नित, श्रेष्ठ,

मुञ्जकेशाय[1] मुण्डाय[2] मुण्डिनामार्तिहारिणे ।
मौननिष्ठस्य मूर्खस्य मुक्तिदाय नमो नमः ॥ १३ ॥

श्रीवत्साङ्काय वर्याय वरदाय परात्मने । वञ्चकानामगम्याय वस्तुभूता[3]य ते नमः ॥ १४ ॥

श्रीपते भूपते तुभ्यं गोपते ममरूपिणे । ममकारमहामोहविनाशाय नमो नमः ॥ १५ ॥

पीतवासाय पीताय पापपञ्जरहारिणे । पापकर्मपराणां तु भञ्जकाय नमो नमः ॥ १६ ॥

विष्वक्सेनाय[4] विश्वाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
विश्वविज्ञानरूपाय निर्मलाय नमो नमः ॥ १७ ॥

विश्वरूपाय विश्वासलभ्याय विदितात्मने ।
विश्वोत्तीर्णाय विश्वस्य साक्षिरूपाय ते नमः ॥ १८ ॥

मुरारिणे मुहूर्ताय मुहूर्तस्य विधायिने । मुहूर्तं भजतां नृणां मुक्तिदाय नमो नमः ॥ १९ ॥

शौरिणे[5] शार्ङ्गिणे तुभ्यं शङ्खकुन्देन्दुरूपिणे ।
शाकमूलपराणां तु शान्तिदाय नमो नमः ॥ २० ॥

पद्मनाभाय पद्मायाः पतये पद्मचक्षुषे । हृत्पद्मकणिकामध्ये समासीनाय ते नमः ॥ २१ ॥

मुकुन्दाय मुकुन्दस्य महामूर्खस्य रक्षसः । हर्त्रे भर्त्रे विशिष्टानामात्मने विदुषां नमः ॥ २२ ॥

मुञ्जा इवात्यायताः केशा यस्य स तथोक्तः । **मुण्डिनामिति** । यतीनामित्यर्थः ॥ १३–१५ ॥ **भञ्जकायेति** । हिंसकायेत्यर्थः । "भञ्ज नाशने" इति धातुः ॥ १६–२१ ॥ **मुकुन्दस्येति** । मुकुन्दो नाम कश्चिद्राक्षसोऽप्यपास्ति । तस्य हन्त्र इत्यर्थः ॥ २२ ॥

वर-प्रदाता आप वास्तविक परमात्मा को नमस्कार है जो वंचकों को कभी प्राप्त नहीं होते । (विष्णु के वक्षस्थल पर बालों के घूंघट का नाम श्रीवत्स है ।) ॥ १४ ॥ श्रीदेवी व भूदेवी के पति, गोपालक, मेरे निजरूप आपको बारंबार प्रणाम है जो आप ममतारूप महामोह का विनाश कर देते हैं ॥ १५ ॥ पीताम्बर धारण करने वाले, हिरण्यवर्ण वाले, पाप-निवारक तथा पापियों के हिंसक आपको पुनःपुनः प्रणाम

---

१ मुंजतेश्चौरादिकस्य मार्जनमर्थः । मुज्ज्यते मृज्यतेऽनेनेति मुञ्जस्तृणविशेषः । मुञ्जाइव केशा यस्य इति विग्रहः । हैमे तु इन्यन्तो मुञ्जकेशी इति विष्णो र्नामोक्तम् । २ अवतारविशेषेष्वेवर्मिति योज्यम् । यद्वा मुण्डोपनिषदस्यास्ति तत्प्रतिपादकतयेति मुण्डोऽयं तस्मै–इत्यर्थः । ३ ङ. "तात्मने न" । ४ विश्वगिति समन्ततोभावेऽव्ययम् । 'कयाचितौ विश्वगिवागजौ गजा' विति किराते (१.३६) । विश्वक् सेना अस्येति विश्वक्सेनो विष्णुः । ५ कृष्णपितामहस्य नाम शूर इति । अपत्यार्थ इञि शौरिः सिद्ध्यति । शूरस्यायं शौरः कृष्णः स रूपमस्येति शौरी विष्णुस्तस्मा इति व्याख्ययम् ।

गोविन्दाय गवां नित्यं पालकाय परात्मने । नन्दगोपाय गुप्ताय नमः सर्वस्य गुप्तये ॥ २३ ॥

भूधराय भुजंगस्य महाकोपच्छिदेऽचिरात् । भूतनाथाय भूतानामाधाराय नमो नमः ॥ २४ ॥

वैकुण्ठाय विशिष्टानां विशिष्टज्ञानदायिने । विशिष्टाय विरिञ्चादिदेवेभ्यश्च नमो नमः ॥ २५ ॥

क्षीरोदशायिने साक्षात्क्षीरोदस्यापि हेतवे । निराधाराय नित्याय नित्यानन्दाय ते नमः ॥ २६ ॥

यज्ञरूपाय यज्ञस्य फलप्राप्त्येकहेतवे । यज्ञानां पतये तुभ्यं यज्ञगम्याय ते नमः ॥ २७ ॥

जनार्दनाय दैत्यानां शत्रवे शक्तिदायिने । स्वभक्तानां विशुद्धानां विशेषेण नमो नमः ॥ २८ ॥

वासुदेवाय वस्वादिदायिने वासवादिभिः । पूजिताय पुराणाय पुंसे पूर्णात्मने नमः ॥ २९ ॥

दामोदराय[1] देवानां शत्रुनाशैकहेतवे । दान्तचित्तजनस्यास्य रक्षकाय नमो नमः ॥ ३० ॥

अच्युतायाखिलस्यास्य साक्षिणेऽच्युतवस्तुभिः ।
असक्ताय सुसक्ताय [2]स्वसंवेद्याय ते नमः ॥ ३१ ॥

हरये हारकेयूरकटकादिविभूषणैः । अलंकृताय कल्याणशरीराय नमो नमः ॥ ३२ ॥

हृषीकेशाय हेमादिधनधान्यप्रदायिने । हृदि चिन्तयतां नित्यं नमः सत्यपरात्मने ॥ ३३ ॥

नारायणाय नरकार्णवतारणाय नानाविधस्य जगतः स्थितिकारणाय ।
मोहावृतस्य निखिलस्य जनस्य सद्यः श्रेयस्कराय पुरुषाय नमः परस्मै ॥ ३४ ॥

नन्दगोपायेति । भीमसेनो भीम इति वत् नन्दगोप एव नन्दः, तं गोपायतीति नन्दगोपः श्रीकृष्णः ॥ २३ ॥ भुजङ्गस्येति । यमुनामध्यवर्तिनः कालियाख्यस्येत्यर्थः ॥ २४–४० ॥

है ॥ १६ ॥ चारों ओर जिनकी सेनायें उपस्थित हैं, सर्वरूप, जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण, सर्वज्ञान रूप उन निर्मल आपको नमस्कार है ॥ १७ ॥ जगद्रूप से उपलब्ध होने वाले, विश्वास से मिलने वाले, अज्ञात स्वरूप वाले, संसार से अतीत, समस्त-साक्षी आपको नमस्कार है ॥ १८ ॥ मुहूर्त आदि काल रूप व मुहूर्तादि के कारण, मुहूर्त भर भी भजन करने वालों को मोक्ष देने वाले आप मुरारी को प्रणाम है ॥ १९ ॥ शूरसेन के वंश में अवतरित होने वाले, शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करने वाले, शंख, कुंद या इन्दु जैसे धवल वर्ण वाले, शाकाहार व्रत रखने वालों को मोक्ष देन वाले आपको नमस्कार है ॥ २० ॥ जिनकी नाभि से पद्म निकला है, जिनके नेत्र पद्मपत्र के समान हैं, जो हृदयपद्म की नोक पर विराजते

---

१ दमेन उदारा उत्कृष्टा मतिः दमोदारा तस्या विषयो दामोदरः । सहस्रनामभाष्ये तु 'दामानि लोकनामानि तानि यस्योदरान्तरे । तेन दामोदरो देवः श्रीधरस्तु रमाश्रितः ॥' इति दर्शितम् । हरिवंशादौ तु मात्रा दाम्ना बद्धत्वाद् दामोदर इत्युक्तम्, तत्र दाम रज्जुरुदरे यस्येति विग्रहः । २ ग. स्वयंवे" ।

सूत उवाच–एवं भक्त्या हरिं स्तुत्वा सत्यसंधो महाद्विजः ।
प्रसादं कुरु मे देव मुच्येयं येन बन्धनात् ॥ ३५ ॥
इति तं प्रार्थयामास सत्यसंधो जनार्दनम् । जनार्दनोऽपि भगवान्सर्वभूतहिते रतः ॥ ३६ ॥
सत्यवागनसूयश्च सम्यग्ज्ञानमहोदधिः । प्राह गम्भीरया वाचा सत्यसंधं प्रति द्विजाः ॥ ३७ ॥
सत्यसंध महाभक्त मम सत्यपरायण । श्रौतस्मार्तैकनिष्ठानामुत्तमोत्तम सुव्रत ॥ ३८ ॥
नाहं संसारमग्नानां साक्षात्संसारमोचकः । ब्रह्मादिदेवताश्चान्या नैव संसारमोच(चि)काः ॥ ३९ ॥

हैं उन आप पद्मापतिको (लक्ष्मीपतिको) प्रणाम है ॥ २१ ॥ मुकुन्द नामक महामूर्ख राक्षस का विनाश करने वाले, विशिष्ट भक्तों का स्वयं भरण-पोषण करने वाले तथा विद्वानों को आत्मतया ज्ञात आप मुकुन्द को प्रणाम है ॥ २२ ॥ सदा गायों का पालन करने वाले, नन्द-रक्षक, गुप्त, सबका बचाव करने वाले गोविंद को नमस्कार है ॥ २३ ॥ धरा को (शेषरूप से, या गोवर्द्धन को कृष्ण रूप से) धारण करने वाले, कालिय नाग के घोर क्रोध को तुरंत समाप्त करने वाले, भूतनाथ व भूतों के आधार आपको नमस्कार है ॥ २४ ॥ सब कुण्ठाओं से रहित, विशिष्ट साधकों को विशिष्ट ज्ञान देने वाले, ब्रह्मा आदि देवताओं की अपेक्षा विशिष्ट आप महाविष्णु को प्रणाम है ॥ २५ ॥ क्षीरसागर में शयन करने वाले, क्षीरसागर के भी कारणरूप, निराधार, नित्य व नित्य-आनन्द रूप आपको प्रणाम है ॥ २६ ॥ यज्ञरूप, यज्ञ का फल देन वाले, यज्ञेश्वर व यज्ञप्राप्य आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ दैत्यों के शत्रु एवं अपने विशुद्ध भक्तों को विशेषतः शक्ति देने वाले आप जनार्दन को प्रणाम है ॥ २८ ॥ इन्द्र आदि द्वारा पूजित, धन आदि देन वाले पूर्णस्वरूप, पुराण पुरुष आप वासुदेव को नमस्कार है ॥ २९ ॥ देवताओं के शत्रुओं का नाश करने वाले तथा इस (सत्यसन्ध नामक) नियन्त्रित चित्त वाले की रक्षा करने वाले आप दामोदर को प्रणाम है ॥ ३० ॥ सर्वसाक्षी, अपने में सदा रहने वाले गुणों के कारण भी कहीं आसक्ति न रखने वाले, संसार की हर वस्तु में सद् आदि रूप से सदा संश्लिष्ट रहने वाले, स्वसंवेद्य आप अच्युत को प्रणाम है ॥ ३१ ॥ हार, केयूर (मुकुट), कटक (कड़ा) आदि भूषणों से विभूषित शुभ शरीर वाले आप श्रीहरि को प्रणाम है ॥ ३२ ॥ जो हृदय में नित्य आपका चिंतन करते हैं उन्हें सुवर्ण आदि धन-धान्य देने वाले हृषीकेश नामक परमात्मा को प्रणाम है ॥ ३३ ॥ नरक समुद्र से उबारने वाले, नाना प्रकार के संसार के एकमात्र स्थितिकारण, अज्ञान से आवृत सब लोगों का तुरंत कल्याण करने वाले परम पुरुष नारायण को नमस्कार है ॥ ३४ ॥

सूतजी बोले–सत्यसन्ध ने यों विष्णु की स्तुति कर उनसे प्रार्थना की, 'हे देव ! मुझ पर कृपा कर भवबन्धन से मुक्ति दिलाइये ।' ॥ ३५ ॥ भगवान् जनार्दन, जो मानो सम्यग्-ज्ञान के अथाह सागर हैं,

शि[1]व एव हि जन्तूनां महासंसारवर्तिनाम् ।
संसारमोचकः साक्षात्सर्वज्ञः साम्ब ईश्वरः ॥ ४० ॥
न तस्य कार्यं करणं वस्तुतो विद्यतेऽनघ ।
न तत्समश्चाभ्यधिकश्चेतनो विद्यते क्वचित् ॥ ४१ ॥
तथाऽपि परमा शक्तिर्विविधा तस्य शूलिनः । श्रूयते सर्ववेदेषु स्व[2]ज्ञानं च बलं स्वकम् ।
स्वव्यापारश्च तस्यास्य स्वतःसिद्धो न चान्यतः ॥ ४२ ॥

एवं विष्णुः स्वस्य ब्रह्माद्यन्यदेवतानां च साक्षात्संसारमोचकत्वाभावं परमेश्वरस्य च साक्षात्संसारमोचकत्वमभिधाय तदुपपादयितुं परमेश्वरस्य स्वस्मादतिशयं दर्शयति—न तस्य कार्यमित्यादिना । तस्य परशिवस्य वस्तुतः परमार्थतो भूतारब्धत्वात्कार्यं शरीरं रूपग्रहणादौ करणं चक्षुरादीन्द्रियं तदुभयमपि नास्ति । एवं स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयनिषेधेन तदुपादानभूतमूलाविद्याऽपि परमार्थतस्तस्मिन्नास्तीत्युक्तं भवति । किंच तत्सदृशस्तदधिको वा पुरुषः कुत्रापि परमार्थतो नैव विद्यते । यद्यप्येवमेव परमार्थदृष्टौ तथाऽपि तस्य परशिवस्य [3]परानिरतिशया सच्चिद्रूपिण्येकैव शक्तिर्विविधशक्यप्रतियोगिवशान्नानाविधैव सर्वेषु वेदेषु श्रूयते । अत एव त्रयोदशेऽध्याय एकस्याः परशक्तेरुपाधिवशान्नानाभावोऽधस्तात्प्रतिपादितः 'जगत्कारणमापन्नम्' इत्यादिना । तथा निरतिशयं ज्ञानं कृत्स्नजगन्निर्माणादिसामर्थ्यलक्षणं बलं तन्निष्पाद्याक्रिया चैतत्त्रितयमपि तस्य स्वभावसिद्धं न त्वन्यापेक्षमित्यर्थः । अयमेवार्थः श्वेताश्वतरशाखायामाम्नायते—"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च" ॥ इति ॥ ४१–४२ ॥

गंभीर वाणी में सत्यन्ध को मार्गनिर्देश करने के लिये बोले—॥ ३६–३७ ॥

विष्णु ने कहा—हे सत्यसन्ध ! तुम मेरे श्रेष्ठ भक्त हो, सत्यपरायण हो, श्रौत-स्मार्त धर्माचरण पर दृढ निष्ठा वाले हो तथा उत्तम निश्चय वाले हो ॥ ३८ ॥ यह समझ लो कि संसारसागर में डूबते हुए लोगों को मैं सीधे ही बचा नहीं सकता । ब्रह्मा आदि अन्य देवता भी अकेले ही यह कार्य कर नहीं सकते ॥ ३९ ॥ इसे करने के लिये हम सब को जिनका सहारा लेना पड़ता है वे शिव ही संसार के सब जन्तुओं को सीधे ही बिना किसी अन्य की अपेक्षा के—मुक्त करने वाले हैं ॥ ४० ॥ वस्तुतः उन साम्ब ईश्वर का स्थूल या सूक्ष्म कोई शरीर नहीं । न उनके समान कोई है और न उनसे अधिक ॥ ४१ ॥ एवमपि त्रिशूलधारी उन महादेव की शक्ति विविध आकार वाली है । उनका ज्ञान, बल और क्रिया तीनों सर्वथा स्वतंत्र हैं ॥ ४२ ॥ मेरा व ब्रह्मा आदि का ज्ञान आदि भी उन्हीं की कृपा से है । अतः वे ही भवमोचक हैं ॥ ४३ ॥ मैं व ब्रह्मा आदि देव उनकी कृपा-प्रापकतारूप द्वार से ही मोक्षप्रद हैं ॥ ४४ ॥ शिव से प्राप्त प्रसाद ही साक्षात् मोक्षहेतु है । वे सत्य

---

१ ख. शिवो हि सर्वज° । २ ग. °ज्ञानस्य व° । ३ परमा ।

मम ब्रह्मादिदेवानामपि तस्य प्रसादतः । विज्ञानादित्रयं यस्मात्स एव भवमोचकः ॥ ४३ ॥
अहं ब्रह्मादिदेवाश्च प्रसादात्तस्य शूलिनः । प्रणाड्यैव हि संसारमोचका नात्र संशयः ॥ ४४ ॥
प्रसादो मुक्तिदः साक्षाच्छिवात्सत्यादिलक्षणात् ॥ ४५ ॥
अप्रसक्तभवाच्छुद्धादसङ्गात्सर्वसाक्षिणः । अम्बिकासहितादस्मात्सर्वज्ञादेव नान्यतः ॥ ४६ ॥
मम ब्रह्मादिदेवानामपि साक्षाच्छिवेच्छया । भोगमोक्षप्रदः पुंसां प्रसादो जायतेऽनघ ॥ ४७ ॥
तस्मात्प्रसादश्चान्येषां मम चाऽऽश्रित्य शूलिनः ।
प्रसादं भोगमोक्षाय न स्वयं नात्र संशयः ॥ ४८ ॥
पुनः पूर्णप्रसादाय सत्यसंध मम प्रिय । महादेवं महात्मानं भज कारुणिकोत्तमम् ॥ ४९ ॥
महादेवं समाश्रित्य वाञ्छितं[1] नाऽऽप्नुयाद्यदि ॥
महादेवो महादेवं कथमन्यं समाश्रयेत् ॥ ५० ॥
नामतश्चार्थतश्चापि महादेवो महेश्वरः । तदन्ये केवलं देवा महादेवा न तेऽनघ ॥ ५१ ॥

एवं विष्णुः शिवस्य ज्ञानबलक्रियाणां स्वाभाविकत्वेनातिशयमुपपाद्य स्वस्यान्येषां च ज्ञानादित्रितयं तत्प्रसादलभ्यमिति दर्शयति–**मम ब्रह्मेति** । **स एवेति** । यस्माच्छिवस्य ज्ञानादित्रितयं स्वभावसिद्धं तस्मात्स एव साक्षात्संसारमोचकः । वयं तु परम्परयैवेत्यर्थः ॥ ४३–४४ ॥ यदीयप्रसादः साक्षान्मुक्तिप्रदस्तस्य परशिवस्य नैजं रूपमाह–**शिवात्सत्यादिलक्षणादित्यादिना** । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्युक्तस्वरूपादित्यर्थः । **अप्रसक्तभवादिति** । अप्रसक्तोऽप्राप्त एव संसारो यस्मिन्स तथोक्तः । अत एव शुद्धः । एतदुभयमपि कुत इत्यत आह–**असङ्गादिति** । मायातत्कार्येषु क्वचिदपि न सज्जत इत्यत आह–**असङ्गादिति** । मायातत्कार्येषु क्वचिदपि न सज्जत इत्यसङ्गः "असङ्गो न हि सज्जते" इति श्रुतेः । असङ्गत्वमपि कुत इत्यत आह–**सर्वसाक्षिण** इति । यस्मात्सर्वस्य मायातत्कार्यप्रपञ्चस्यासौ साक्षी ताटस्थ्येन द्रष्टा, ततस्तत्स्वरूपानुप्रवेशादसङ्ग इत्यर्थः ॥ ४५–४७ ॥ **तस्मात्प्रसाद** इति । अन्येषां ब्रह्मादीनां मम च यः प्रसादोऽसौ परमेश्वरस्य प्रसादमाश्रित्यैव पुंसां भोगमोक्षप्रदो न स्वतन्त्र इत्यर्थः ॥ ४८–४९ ॥ **महादेवं समाश्रित्येति** । **महादेवमाश्रितेनेष्टफलानवाप्तौ** तस्य साधकस्य तत्फलप्रापणाय स **महादेवः कथमन्यं महादेवं समाश्रयेत्** । स्वस्मादन्यस्य महतो देवस्याभावादित्यर्थः ॥ ५० ॥

आदि स्वरूप वाले हैं । संसार का उनसे कभी संस्पर्श नहीं हुआ । अतः वे शुद्ध हैं, आसक्तिरहित हैं व सबके साक्षिमात्र हैं । अम्बिका समेत इन सर्वज्ञ देव से मिला प्रसाद ही मोचक है, अन्य का प्रसाद नहीं ॥ ४५–४६ ॥ मेरा व ब्रह्मा आदि का भी प्रसाद जो भोग या मोक्ष देता है वह भी इन्हीं की इच्छा

१ घ. "तं प्राप्नु" ।

महादेवं विना यो मां भजते श्रद्धया सह ।

नास्ति तस्य विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥ ५२ ॥

सर्वमुक्तं समासेन मम भक्तस्य तेऽनघ ।

शिवादन्यं परित्यज्य शिवं साम्बं सदा भज ॥ ५३ ॥

सूत उवाच—एवमुक्त्वा हरिः श्रीमान्किरीटी गरुडध्वजः ।

सर्वविज्ञानसंपन्नस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ५४ ॥

सत्यसंधो महाधीमान्महाविष्णोः प्रसादतः । परित्यज्याखिलान्देवानाश्रितोऽभवदीश्वरम् ॥ ५५ ॥

ईश्वरस्य प्रसादेन सत्यसंधो महाद्विजः ।

ज्ञानं वेदान्तजं लब्ध्वा विमुक्तो भवबन्धनात् ॥ ५६ ॥

भवन्तोऽपि द्विजश्रेष्ठाः शिवादन्यत्तु दैवतम् । परित्यज्य प्रसादाय भजध्वं शिवमव्ययम् ॥ ५७ ॥

एतदेवोपपादयति—नामत इति । महांश्चासौ देवश्चेतियो महादेवशब्दार्थस्तदर्थपर्यालोचनादपि परमेश्वर एव महादेवस्तथा नामतोऽपि स एव महादेवस्तदन्ये तु केवलं देवा एव । अतः परमेश्वरादन्यो महादेवो नास्तीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ महादेवं विनेति । महादेवेन सहैव मम विष्णोर्मूर्तिराराधनीयेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ५२–५४ ॥

से ॥ ४७ ॥ अतः मुझ समेत अन्य सबकी कृपा शिवकृपा के आधार पर ही भोग या मोक्ष देने में समर्थ है ॥ ४८ ॥ अतः प्रिय सत्यसन्ध ! शिव की पूरी कृपा पाने के लिये तुम करुणामय महादेव का भजन करो ॥ ४–९ ॥ महादेव का सहारा लेने पर तुम्हारा इष्ट अवश्य सिद्ध होगा क्योंकि उन्हें मेरी तरह किसी अन्य के आलंबन की आवश्यकता नहीं ॥ ५० ॥ महेश्वर नामतः और अर्थतः, दोनों तरह महान् देव हैं । अन्य हम सब देव तो हैं पर महान् नहीं ॥ ५१ ॥ जो महादेव की आराधना बिना किये केवल मेरी उपासना करता है उसे करोड़ों जन्मों में भी संसार से मोक्ष नहीं मिल सकता ॥ ५२ ॥ यों मैंने तुम्हारे मोक्ष का उपाय बता दिया । अब तुम अन्य सब छोड़कर साम्ब सदाशिव का ही भजन करो ॥ ५३ ॥

सूतजी बोले—इस प्रकार सत्यसन्ध को मार्गनिर्देश कर सर्वज्ञ गरुडध्वज हरि वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५४ ॥ विष्णुकृपा से सत्यसंध ने भी अन्य देवताओं को छोड़ ईश्वर की शरण ली ॥ ५५ ॥ ईश्वरप्रसाद

सर्वमुक्तं समासेन युष्माकं मुनिपुंगवाः ।
मम वाक्येऽतिविश्वासं कुरुध्वं यत्नतो द्विजाः ॥ ५८ ॥
अतिरहस्यमिदं कथितं मया श्रुतिपरम्परया च समागतम् ।
मुनिपरम्परया च समागतं न कथितव्यमशिष्टजनस्य तु ॥ ५९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रसादवैभवं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अथातः संप्रवक्ष्यामि शिवभक्तिं समासतः ।
यया भुक्तिर्विमुक्तिश्च मुनीन्द्राः सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥
भक्तिर्बहुविधा ज्ञेया भवानीसहितस्य तु । एका शंकरसायुज्यश्रद्धा सारतरा परा ॥ २ ॥
अन्या शंकरसारूप्यश्रद्धाऽतीव शिवप्रिया । अपरा शिवसामीप्यश्रद्धा वेदविदां वराः ।
इतरा शिवसालोक्यश्रद्धाऽभीष्टफलप्रदा ॥ ३ ॥

॥ ५६–५९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रसादवैभवं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अथास्य परशिवप्रसादस्य हेतुभूता भक्तिविशेषाः प्रदर्श्यन्ते– अथात इति । यया भुक्तिर्विमुक्तिरिति । यया शिवभक्त्या ईश्वरप्रसाद[1] हेतुभूतयेत्यर्थः ॥ १ ॥ शंकरसायुज्येति । सायुज्यसारूप्यसामीप्यसालोक्यरूपा मुक्तिविशेषाः । तत्र सायुज्यं नाम प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपसाक्षात्कारेण[2] तदात्मनाऽवस्थानम् । अतस्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वात्तद्विषया श्रद्धा मुख्या शिवभक्तिः । सारूप्यं नाम रुद्रलोकादौ शिवसमानरूपतयाऽवस्थानम् । विभिन्नरूपस्यैव जीवस्य समीपदेशवर्तित्वं सामीप्यम् । तल्लोकमात्रे वर्तनं सालोक्यम् । एते चोत्तरोत्तरं निकृष्टाः । एतद्विषया श्रद्धा च शिवभक्तिरित्यर्थः ॥ २–३ ॥

से उसे वेदान्त-ज्ञान प्राप्त हुआ और वह भवबंधन से मुक्त हो गया ॥ ५६ ॥ आप लोग भी अन्य देवताओं को छोड़ अव्यय शिव का ही प्रसाद-प्राप्ति के लिये भजन करिये ॥ ५७ ॥ प्रसाद के सम्बन्ध में सार्थवाद सभी कुछ बता दिया है । आप मेरी बात पर विश्वास कीजिये और शिवप्रसाद पाने का प्रयत्न कीजिये ॥ ५८ ॥ श्रुति व मुनियों की परम्परा से प्राप्त यह अतिगुप्त विषय आज मैंने आपको स्पष्ट किया है । किसी अशिष्ट व्यक्ति को इसका उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ ५९ ॥

शिवभक्तिविचार नामक छब्बीसवाँ अध्याय

अब मैं संक्षेप में शिवभक्ति के सम्बन्ध में बताऊँगा । सभी देहधारियों को शिवभक्ति से ही भोग

---

१ क. ध. "दभू" । २ घ. "ण तादात्म्येना" ।

अपरा च शिवज्ञानश्रद्धा पाशनिकृन्तनी ॥ ४ ॥

अन्या वेदशिरःश्रद्धा साक्षाद्विज्ञानदायिनी । अपरा श्रवणश्रद्धा प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥ ५ ॥

इतरा मननश्रद्धा नृणां संभावनाप्रदा । अन्या देवेश्वरध्यानश्रद्धारूपा महत्तरा ॥ ६ ॥

अपरोद्धूलनश्रद्धा भस्मना पापनाशिनी । त्रिपुण्ड्रधारणश्रद्धा तदन्या तत्त्वदायिनी ॥ ७ ॥

रुद्राक्षधारणश्रद्धा चापि भक्तिरुदीरिता । षडक्षरजपश्रद्धा चापि भक्तिर्महत्तरा ॥ ८ ॥

शिवलिङ्गार्चनश्रद्धा चापि भक्तिरनुत्तमा । लिङ्गार्चनदिदृक्षा च महाभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ९ ॥

अनुमोदनमीशस्य पूजायां भक्तिरुच्यते । पूजोपकरणश्रद्धा चापि भक्तिरुदीर्यते ॥ १० ॥

शिवोत्सवदिदृक्षा च शिवभक्तिर्महत्तरा । तथैवोत्सवसेवा च भक्तिरुक्ताऽतिशोभना ॥ ११ ॥

तथैवोत्सवसेवार्थमागतानां महात्मनाम् । अन्नपानप्रदानं च शिवभक्तिरुदीरिता ॥ १२ ॥

शिवज्ञानश्रद्धेति । शिवस्वरूपविषयं यद्वेदान्तर्जनितं ज्ञानं तच्छ्रद्धेत्यर्थः ॥ ४–५ ॥ संभावनाप्रदेति । गुरुशास्त्रेणानुमतेऽपि परतत्त्वेऽसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां संदेहो जायते । ते [1]चानुकूलयुक्त्यनुसंधानात्मके मननेन निरस्येते । अतो मननश्रद्धा संभावनाप्रदेत्यर्थः ॥ ६–९ ॥

व मोक्ष प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ (शरीर, मन और वाणी से सेव्य के सन्तोष के लिये जो कुछ किया जाये वह भक्ति है : 'भक्ति र्भजनं कायेन मनसा वाचा वा निष्पाद्यो भजनीयस्य तुष्टिहेतुर्व्यापारः भजव्यामानपुरुषनिष्ठः' (न्या. रत्न. पृ ३१३ प्र. द्वा.) । कुछ संप्रदाय प्रेम को ही भक्ति कहते हैं । किंतु प्रेम भक्ति का फल है । कोटिरुद्रसंहिता में कहा है 'भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्तम्' (४३.३४)—भक्ति से प्रेम होता है । एवं च प्रेम भक्ति नहीं उसका कार्य है । अतः पूर्वोक्त व्यापार जब प्रेमलाभार्थ हो तब भक्ति कहा जायेगा । भक्ति के ही साधन व साध्य दो रूप मानना व्यर्थ है । साधन भक्ति और साध्य प्रेम है ।) भवानी समेत शंकर की भक्ति बहुत प्रकार की है । शंकर के सायुज्य में श्रद्धा सारिष्ठ भक्ति है (यहाँ श्रद्धा का अर्थ तादृश उपासना है) । शंकर के सारूप्य में श्रद्धा अन्य भक्ति है । ऐसे ही शिवसामीप्य और शिवसालोक्य में श्रद्धा (अर्थात् तत्तन्मोक्षफलक उपासनायें) भी शिवभक्ति के प्रकार हैं ॥ २–३ ॥ सब पाशों को काटने वाली शिवज्ञानश्रद्धा भी शिवभक्ति है (शिवविषयक उपनिषज्जनित ज्ञान में निष्ठा रखना या उसे पाने की कोशिश करना शिवज्ञानश्रद्धा है) ॥ ४ ॥ वेदान्तश्रद्धा ज्ञानप्रद भक्ति है । (वेदान्त सत्यबोधक हैं इस निश्चय से उनका अभ्यास वेदांतश्रद्धा है) । श्रवणश्रद्धा, मननश्रद्धा और निदिध्यासनश्रद्धा भी शिवभक्ति के भेद हैं ॥ ५–६ ॥ भस्मोद्धूलन में श्रद्धा पापों को नष्ट करती है । (सर्वत्र श्रद्धा अनुष्ठान पर्यंत समझनी चाहिये) ।

[1] अनुकूलेति सन्देहानुकूलेत्यर्थः ।

महादेव[1] कथादीनां श्रवणेच्छा महर्षयः । महाभक्तिरिति प्रोक्ता महामाहेश्वरैर्जनैः ॥ १३ ॥
कथाश्रवणकाले तु शिवस्य परमात्मनः । विकारः स्वरनेत्रादेर्भक्तिरुक्ता महात्मभिः ॥ १४ ॥
उद्यानकरणं शंभोः शिवभक्तिरुदाहृता[2] । वापीकूपत[3]डागादिकरणं च मनीषिभिः ॥ १५ ॥
प्राकारगोपुरादीनां शिवस्यामिततेजसः । इष्टकाद्यैश्च निर्माणं शिवभक्तिरु[4]दीरिता ॥ १६ ॥
शिवशासनयुक्तस्य पूजा श्रद्धापुरःसरम् । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवभक्तिपरायणैः ॥ १७ ॥

शिवाराधनबुद्ध्यैव नित्यानामपि कर्मणाम् ।
नैमित्तिकानां करणमपि भक्तिः शिवस्य तु ॥ १८ ॥

अभ्यासः शिवविद्यायास्तस्या अध्यापनं तथा ।
शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिव[5]दृष्टिपरायणैः ॥ १९ ॥

लेखनं शिवविद्यायाः प्रदानं पुस्तकस्य तु । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवशास्त्रविशारदैः ॥ २० ॥
॥ १०–२० ॥

त्रिपुण्ड्रधारण करने में श्रद्धा तत्त्वप्रदायिका है ॥ ७ ॥ रुद्राक्षधारण में श्रद्धा भी भक्ति कही जाती है । षडक्षरमंत्र के जप में श्रद्धा बहुत महान् भक्ति है ॥ ८ ॥ शिवलिंग के पूजन में श्रद्धा श्रेष्ठ भक्ति है । लिंग की पूजा का दर्शन करने की इच्छा भी महान् भक्ति है ॥ ९ ॥ ईश्वरपूजा का अनुमोदन करना भी भक्ति है । (कोई पूछे 'पूजा कर लें ?' तो यह उत्तर देना 'हाँ, अवश्य करो ।' अनुमोदन कहलाता है । अथवा शिवपूजा से प्रसन्न होना अनुमोदन है) । पूजा के साधनों में श्रद्धा को भी भक्ति कह दिया जाता है ॥ १० ॥ शिवसम्बन्धी उत्सव देखने की इच्छा भक्ति कही जाती है । उन उत्सवों में सेवा करना भी अतिशोभन भक्ति है ॥ ११ ॥ उत्सवार्थ आये महात्माओं को अन्न-पान प्रदान करना शिवभक्ति है ॥ १२ ॥ महादेव की कथा आदि सुनने की इच्छा महान् भक्ति है ॥ १३ ॥ परमात्मा शिव की कथा सुनते हुए गद्गद, पुलकित आदि हो जाना भी भक्ति है ॥ १४ ॥ शिव के निमित्त बगीचा बनाना भक्ति है । उनके उद्देश्य से बावडी, कुआ, तालाब आदि बनाना भक्ति है ॥ १५ ॥ मंदिर आदि की दीवारों को, गोपुरों को तथा अन्य अंगों को ईंट आदि से बनाना भी भक्ति है ॥ १६ ॥ जो शिवोक्त नियमों का पालन करते हैं उनकी सेवा करना शिवभक्ति है ॥ १७ ॥ नित्य व नैमित्तिक कर्मों को इस निश्चय से करना कि उनसे महादेव प्रसन्न हों, शिवभक्ति है ॥ १८ ॥ शिवविद्या का अभ्यास व अध्यापन शिवभक्ति

---

१ ख. घ. °वपदा दी । २ छ. °रुदीरिता । ३ ग. °तटाकादि° । ४ ज. °रुदाहृता । ५ ज. °वभक्तिप° ।

शिव्पुस्तकनिक्षेपस्थाननिर्माणमास्तिकाः । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवदृष्टिपरायणैः ॥ २१ ॥

शिवज्ञानैकनिष्ठस्य मठिकादानमेव च । अन्नपानादिदानं च शिवभक्तिरुदीरिता ॥ २२ ॥

शिवज्ञानैकनिष्ठस्य शुश्रूषा श्रद्धया सह । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवभक्तिपरायणैः ॥ २३ ॥

जापिनां शिवमन्त्रस्य शुश्रूषा च महात्मनाम् ।

शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवतत्त्वविचिन्तकैः ॥ २४ ॥

शिवयात्रापराणां तु शुश्रूषा च तथैव च ।

शिवयात्रा च विद्वद्भिः शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ २५ ॥

शिवयात्रापराणां तु बाधकानां तु बाधनम् । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवयात्रापरायणैः ॥ २६ ॥

शिवापराधनिष्ठानां छेदनं परया मुदा । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता शिवाराधनतत्परैः ॥ २७ ॥

शिवज्ञानैकनिष्ठानां शिवज्ञानस्य सुव्रताः । दूषकस्य शिरश्छेदः शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ २८ ॥

भस्मसाधननिष्ठानां दूषकस्य मुनीश्वराः । छेदनं शिरसः साक्षाच्छिवभक्तिरुदीरिता ॥ २९ ॥

विष्ण्वादीनां तु देवानां दूषकस्य दुरात्मनः ।

बाधनं शिवभक्तिस्तु प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥ ३० ॥

विष्ण्वादिदेवताभक्तस्यैव दूषणकारिणः । बाधनं च महाप्राज्ञैः शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ३१ ॥

॥ २१–३१ ॥

है ॥ १९ ॥ शिवविद्या के ग्रंथ को लिखना (रचना या नकल करना, छापना इत्यादि) तथा पुस्तक का दान करना भी शिवभक्ति है ॥ २० ॥ शिवसम्बन्धी ग्रंथों के लिये पुस्तकालय बनाना शिवभक्ति है ॥ २१ ॥ जो केवल शिवज्ञान में निष्ठा वाला संत हो उसे मठ बनवा कर देना या अन्न-पान आदि देना शिवभक्ति है ॥ २२॥ तादृश सन्त की सेवा करना भी शिवभक्ति है ॥ २३ ॥ शिवमंत्र का जप करने वाले महात्माओं की सेवा को एवं जो शिवतीर्थादि यात्रायें कर रहे हों उनकी सेवा करना तथा विद्वानों सहित स्वयं शिवसम्बन्धी यात्रायें करना शिवभक्ति है ॥ २४–२५ ॥ शिवयात्रियों को बाधा पहुँचाने वाले डाकू आदि को दण्डित करना भी शिवभक्ति है ॥ २६ ॥ शिव के प्रति अनुचित भाषण आदि द्वारा अपराध करने वालों को पूर्ण उत्साह से दण्डित करना शिवभक्ति है ॥ २७ ॥ एकमात्र शिवज्ञान में निष्ठा वाले पर या शिवज्ञान पर ही जो दोषारोपण करे उसका सिर काट देना शिवभक्ति है ॥ २८ ॥ भस्मनामक शिवप्रसादसाधन में तत्पर रहने वालों को दोषारोपण आदि से पीडित करने वाले का सिर काट देना शिवभक्ति है ॥ २९ ॥ जो दुष्ट

देवद्रव्यस्य भोक्तुश्च ब्राह्मणद्रव्यहारिणः । बाधनं च महाप्राज्ञैः शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ३२ ॥

आतुराणां नृणां रक्षा रक्षकाणां च रक्षणम् ।

भीतस्याभयदानं च शिवभक्तिः प्रकीर्तिता ॥ ३३ ॥

सर्वभूतेषु कारुण्यं प्रियभाषणमेव च । सर्वभूतहिते[1] श्रद्धा साक्षाद्भक्तिः शिवस्य तु[2] ॥ ३४ ॥

सर्वभूतेषु दोषस्यादर्शनं गुणदर्शनम् । सर्वभूतेषु मैत्री च शिवभक्तिरुदीरिता ॥ ३५ ॥

महादेवेऽतिविश्वासो विश्वासः शिववेदने । वेदान्तेषु च विश्वासः शिवभक्तिरुदीरिता ॥ ३६ ॥

गुरूक्तार्थेषु विश्वासो गुरुशुश्रूणं तथा । साऽपि भक्तिरिति प्रोक्ता वेदवेदान्तवेदिभिः ॥ ३७ ॥

भक्तिरेव परमार्थदायिनी भक्तिरेव भवरोगनाशिनी ।

भक्तिरेव परवेदनप्रदा भक्तिरेव परमुक्तिकारिणी ॥ ३८ ॥

भक्तियुक्तजनचित्तपङ्कजे भुक्तिमुक्तिफलदः पुरातनः ।

शक्तियुक्तपरविग्रहः शिवः सत्यमेव सततं प्रकाशते ॥ ३९ ॥

भक्तियुक्तजनपरितुष्टः परमेशः सत्यसुखबोधपरमं वपुरनन्तम् । स्वस्य मुनयः परमकारुणिक ईशः शक्तिसहितस्त्रिनयनः खलु ददाति ॥ ४० ॥

॥ ३२–३४ ॥ **सर्वभूतेषु मैत्री चेति** । तथाच पातञ्जलं सूत्रम्– 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इति ॥ ३५–३८ ॥ **सत्यमेव प्रकाशत** इति । श्रूयते हि– 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' ॥ इति ॥ ३९–४० ॥

हृदय वाला व्यक्ति विष्णु आदि अन्य देवताओं पर दोषारोपण करता हो उसे वैसा करने से रोकना शिवभक्ति है । (शैव या स्मार्त सम्प्रदाय तथा माध्ववैष्णव सम्प्रदाय में कितना भेद है इसका यह एक उदाहरण है । माध्व मानते हैं कि अन्य देवताओं की निंदा करना विष्णुभक्ति का अंग है जबकि हमारी भक्ति में अन्य देवताओं की निंदा सुनना भी असह्य है !) ॥ ३० ॥ विष्णु आदि देवतान्तरभक्तों को किसी तरह कष्ट पहुँचाने वालों को दण्डादिद्वारा वैसा करने से रोकना शिवभक्ति है ॥ ३१ ॥ देवताओं के धन का स्वयं उपभोग करने वालों को तथा ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वालों को वैसा करने से रोकना शिवभक्ति है । (जो पुजारी आदि देवाश्रित हैं उन्हें अपने निर्वाह मात्र के लिये धन लेकर बाकी सारे देवधन को देवकार्य में ही विनियुक्त करना चाहिये ।) ॥ ३२ ॥ आतुर लोगों की रक्षा करना, अन्यों की रक्षा करने वालों की रक्षा करना तथा डरे हुए को अभयदान करना शिवभक्ति है ॥ ३३ ॥ सब प्राणियों पर करुणा

---

१ च. छ. ज. °हितश्र° । २ वायुसंहितायामुत्तरभागे (३.३०) परमेश्वराराधनमेवमुक्तम्–'सर्वाभयप्रदानं च सर्वानुग्रहणन्तथा । सर्वोपकारकरणं शिवस्याराधनं विदुः ।' एवं च ये मूर्तिपूजादावश्रद्धालवोऽथ चेश्वरमारिराधयिषवस्तेपि यथा शिवभक्तिं कर्तुं शक्नुवन्ति तथेहान्यत्र च प्रतिपादितमिति ज्ञेयम् ।

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवभक्तिविचारो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि परात्परतरं पदम् ।

यत्सत्तायोगतः सर्वं सत्यवद्भवति द्विजाः ॥ १ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवभक्तिविचारो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

करना मीठा बोलना तथा सब के हित को ही उचित मानते हुए उसके लिये प्रयास करना शिवभक्ति है ॥ ३४ ॥ किसी भी व्यक्ति में दोषदर्शन न कर गुणदर्शन ही करना और सबसे मित्रता रखना शिवभक्ति है ॥ ३५ ॥ महादेव में, महादेव के ज्ञान में और वेदान्त में विश्वास शिवभक्ति है ॥ ३६ ॥ गुरु द्वारा उपदिष्ट विषयों पर विश्वास और गुरु की सेवा करना भी शिवभक्ति कही जाती है ॥ ३७ ॥ पारमार्थिक मोक्ष भक्ति ही देती है । संसाररोग की निवृत्ति भक्ति से ही होती है । परमेश्वर का ज्ञान भक्ति ही देती है । परम मोक्ष (कैवल्य) भक्ति से ही प्राप्य है ॥ ३८ ॥ भक्ति वाले व्यक्ति के हृदयकमल में अव्यय शिव प्रकाशित होते हैं । भोग व मोक्ष, दोनों फल वे ही देते हैं । शिव ही सबसे प्राचीन हैं । शक्ति से सम्बद्ध श्रेष्ठ शरीर (अर्धनारीश्वर देह) उन्हीं का है ॥ ३९ ॥ भक्तियुक्त साधक पर संतुष्ट हुए परमेश्वर उसे अपना सच्चिदानंद रूप परम अनंत शरीर प्रदान करते हैं क्योंकि त्रिनेत्रधारी, शक्तिसमेत ईश्वर परमकरुणामय हैं ॥ ४० ॥

परम पद के स्वरूप का विचार नामक सत्ताइसवाँ अध्याय

सूतजी बोले—इस प्रकार उपायों का सांगोपांग वर्णन समाप्त कर अब मैं निरुपाधिक परम पद के विषय में बताता हूँ । उसकी स्वरूपभूतसत्ता के अध्यासात्मक सम्बन्ध से सभी कुछ सत्य की तरह प्रतीत होता है ॥ १ ॥ सारा जगत् उस परतत्त्व के स्वरूपभूत ज्ञानात्मक प्रकाश से ही भासित होता है तथा उसके स्वरूपभूत आनन्द के सम्बन्ध से सब कुछ प्रेम का विषय बनता है । (परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है । उस पर कल्पित जगत् भी सद् आदि रूप प्रतीत होता है । जैसे कल्पित सर्प की लम्बाई अपनी नहीं होती, रस्सी की लम्बाई ही सर्प की लम्बाई के रूप में प्रतीत होती है, वैसे जगत् की अपनी कोई सत्ता नहीं, ब्रह्मसत्ता ही जगत्सत्ता के रूप में प्रतीत होती है । पृथक् सत्ता में प्रमाण नहीं और गौरव दोष भी है । इसी प्रकार संसार में सब चीजें ज्ञान से सम्बद्ध मिलती हैं । वह ज्ञान भी परमात्मरूप ज्ञान ही है, पूर्ववत् पार्थक्य निष्प्रामाणिक है तथा प्रपंच की हर वस्तु किसी न किसी को प्रिय लगती है । प्रिय वही होता है जो सुख हो । अतः हर वस्तु किसी न किसी को प्रिय लगती है । प्रिय वही होता है

यस्यैव चित्प्रकाशेन सर्वं चेतयते जगत् । यस्याऽऽनन्दाभिसंबन्धात्सर्वं प्रेमास्पदं भवेत् ॥ २ ॥

प्रतीताद्भौतिकादस्माद्भूतानि मुनिपुंगवाः ।
[1]उत्कृष्टानि तथा तेभ्यो जीवात्मा चेतनः प्रभुः ॥ ३ ॥
समष्टिव्यष्टिभावेन सोऽपि भिन्नः परस्परम् ।
व्यष्टयश्च तथा भिन्नाः स्वस्वभावानुरूपतः ॥ ४ ॥

एवं परतत्त्वज्ञानोपायत्वेन शिवप्रसादतद्भक्ती प्रपञ्च्यैकं परशिवस्वरूपमुपदिशति–**परात्परतरमिति** । प्रागुदीरितशक्तितत्त्वोपाधिकः परस्ततोऽपि परः शिवतत्त्वोपाधिकस्ततोऽपि परं निरुपाधिकं सच्चिदानन्दलक्षणं स्वप्रतिष्ठं परशिवस्वरूपं **तत्परात्परतरम्** । अथास्य तत्त्वस्य सर्वप्रमाणाविषयत्वाच्छशविषाणवद[2]वस्तुत्वमाशङ्क्य निरस्यति–**यत्सत्तायोगत** इत्यादिना । यथैकस्मिन्नेव रज्ज्वा इदमंशे सर्पधारादयो वहव अकारा अविद्यावशादारोप्यन्ते तथैवाद्वितीये सच्चिदानन्दरूपे परशिवस्वरूपे स्वमायावशेन भूतभौतिकात्मकं नानाविधं जगदारोप्यते, यथा सर्पधारादिष्वारोप्येष्वयं सर्प इयं धारेत्यधिष्ठान[3] इदमाकारानुवृत्तिरेवमारोपिते जगत्यधिष्ठानसच्चिदानन्दरूपत्वमनुवृत्तं भासते । तथा चायमर्थः–यस्याधिष्ठानभूतस्य परतत्त्वस्य स्वरूपभूतसत्तासंवन्धवशात्तत्स्वरूपे परिकल्पितं सर्वं जगत्स्वतो मायामयत्वेन सदसद्विलक्षणमपि सन्घटः सन्पट इत्यादिव्यवहाररूपेण सत्यवदवभासते, तथा यस्यैवाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः स्वरूपभूतचित्प्रकाशेन तत्स्वरूपे परिकल्पितं सर्वं जडं जगच्चेतयते चैतन्यविशिष्टं भासते, तथा यस्यैवाधिष्ठानस्य स्वरूपभूतानन्दसम्बन्धवशादनानन्दमप्यानन्दरूप आरोपितं सर्वं जगत्प्रेमास्पदमनुकूलवेदनीयं भवति । तथाविधं सच्चिदानन्दरूपं परतत्त्वं संप्रवक्ष्यामीति संबन्धः ॥ १–२ ॥ अस्य च तत्त्वस्य परात्परतरत्वोपपादनाय निरतिशयोत्कर्षावधित्वं वक्तुमारभते–**प्रतीतादित्यादिना** । भूतकार्यं जगद्भौतिकं तस्मात्तत्कारणान्याकाशादिभूतान्युत्कृष्टानि । तदायत्तत्वाद्भौतिकस्वरूपलाभस्येत्यर्थः । भूतेभ्योऽपि तदुपादानत्वेन तत्स्वरूपानुप्रविष्टमायासत्त्वगुणोपाधिकश्चेतनो **जीवात्मोत्कृष्टः** आविर्भूतचैतन्यत्वात् ॥ ३ ॥ **समष्टिव्यष्टिभावेनेति** ।

जो सुख हो । अतः हर वस्तु में सुखरूपता भी प्रेम की अन्यथानुपपत्ति से स्वीकार्य है । वह सुखरूपता भी ब्रह्मस्वरूप ही है, पृथक् नहीं । जिसकी स्वरूपभूत सत्ता, चित्ता और आनन्दरूपता प्रपंच में प्रतीत होती है वह पर ब्रह्म है ।) ॥ २ ॥ प्रतीयमान भौतिक जगत् से इसके कारण महाभूत उत्कृष्ट हैं और उनसे भी जीवात्मा उत्कृष्ट है क्योंकि वह चेतन और वस्तुतः प्रभुरूप है ॥ ३ ॥ जीव भी समष्टि और व्यष्टि रूप से विभिन्न है । ('सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अश' व्याप्तौ धातु से कर्ता अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर समष्टि शब्द बना है जिसका अर्थ है 'पूरी तरह व्याप्त करने वाला' । तथा 'वि' उपसर्ग पूर्वक उक्त प्रक्रिया से व्यष्टिशब्द बना है । क्षीरस्वामी ने 'वि' उपसर्ग के कई अर्थ बताये हैं जिनमें वण्टन और नानात्व भी है । वण्टन विभाग को कहते हैं । 'विभजति' आदि में 'वि' के कारण ही विभाजन अर्थ प्रतीत होता है । ऐसे ही 'विचित्र' आदि में 'वि' के कारण ही नानात्व प्रतीत होता है । एवं च 'नाना उपाधियों में बँटे हुए किसी एक विभाग को ही व्याप्त करने वाला'–यह व्यष्टि शब्द का अर्थ है । इसी तात्पर्य से तत्त्वविवेकप्रकरण में (श्लो. २५) पंचदशीकार ने कहा है 'समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् । तदभावात्ततोऽन्ये

---

१ छ. प्रकृष्टानि । २ ङ. च. छ. "दव्यक्तत्व" । ३ अधिष्ठाने य इदमाकारस्तस्यानुवृत्तिरित्यर्थः ।

देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरं प्राप्नुवन्ति च । आसां समष्टिभूतस्तु श्रेष्ठः सर्वात्मना बुधाः ॥ ५ ॥

ततो विशिष्टाः सकला ब्रह्मणस्तु विभूतयः ।
ताश्चान्योन्यं विशिष्टाः स्युर्यथा जीवा मुनीश्वराः ॥ ६ ॥
तासां ब्रह्माऽधिकस्तस्माद्विष्णुर्मुख्यः प्रकीर्तितः ।
सोऽपि स्वव्यष्टिभूतेभ्यो वरिष्ठः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
ततो रुद्रोऽधिकः सोऽपि स्वव्यष्टिभ्योऽधिकः स्मृतः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च परतत्त्वविभूतयः[1] ॥ ८ ॥

तत्र निर्मलसत्त्वोपाधेरप्रतिहतज्ञानत्वात्स्वात्मानं स्वेतरसकलं च समश्नुते व्याप्नोतीति समष्टिर्हिरण्यगर्भः । मलिनसत्त्वोपाधेः परिच्छिन्नज्ञानत्वान्मालिन्यतारतम्येन नानाविधत्वात्तदुपाधिका जीवा विभक्तं स्वात्ममात्रमेवाश्नुवते व्याप्नुवन्तीति व्यष्टयः । **स्वस्वभावानुरूपत** इति । उत्क्रान्तिसमये परिपक्वपुण्यपापजनितो भाविजन्मगोचरः संकल्पविशेषो भावस्तदनुसारेणेत्यर्थः । **आसां** समष्टिव्यष्टीनां मध्ये **समष्टिभूतो** हिरण्यगर्भः **श्रेष्ठो**ऽप्रतिहतज्ञानत्वात् ॥ ४–६ ॥ **ततो विशिष्टा** इति । तस्माद्धिरण्यगर्भादपि रजोगुणोपाधिकस्य ब्रह्मणः संकल्पमात्रसिद्धा या **विभूतयो**ऽवतारविशेषास्ता विभूतय उत्कृष्टाः । अन्योन्यं **विशिष्टाः स्युरि**ति । संकल्पस्योच्चावचत्वात्तन्मात्रसिद्धानां विभूतीनामपि परस्परमुत्कर्षापकर्षौ विद्येते इत्यर्थः ॥ ६ ॥ **तासां ब्रह्माऽधिक** इति । तथाविधसंकल्पाश्रयो ब्रह्मा स्वविभूतिभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । **तस्माद्विष्णुरि**ति । रजोगुणोपाधिकाद्ब्रह्मणोऽपि सत्त्वगुणोपाधिर्विष्णुः श्रेष्ठः । सत्त्वस्य सुखप्रकाशात्मकत्वेन रजोगुणादुत्कृष्टत्वात् । **स्वव्यष्टिभूतेभ्यो वरिष्ठ इति** । तस्य विष्णोरपि संकल्पमात्रसिद्धा व्यष्टिभूता येऽवतारविशेषास्तेभ्योऽपि समष्टिभूतो विष्णुरुत्कृष्टः ॥ ७ ॥ **ततो रुद्रोऽधिक** इति विष्णोरुपाधिर्हि वहिःसत्त्वविशिष्टं तमः । रुद्रस्य तु वहिस्तमोयुक्तं सत्त्वम् । एतच्चाग्रे स्वयमेव सूतगीतायां प्रतिपादयिष्यति । तथा च तस्माद्विष्णोरपि **रुद्रोऽधिकः** । तथा तस्य रुद्रस्यापि संकल्पमात्रसिद्धा या व्यष्टयस्ताभ्योऽपियस एवोत्कृष्टः । **परतत्त्वविभूतय** इति । यद्वक्ष्यमाणं सच्चिदानन्दैकरसं निर्गुणं परं तत्त्वं तदेव स्वीकृतमायागुणोपाधिवशेन ब्रह्मविष्ण्वादिरूपेणावस्थितमिति भवन्ति ब्रह्माद्यास्तस्य विभूतय इत्यर्थः ॥ ८ ॥

तु कथ्यन्ते व्यष्टि संज्ञया ॥' हिरण्यगर्भ आदि जीव होने पर भी समष्टि हैं क्योंकि सब सूक्ष्मदेहों को अपना समझते हैं । हम लोग जीव होने पर भी व्यष्टि हैं क्योंकि एक ही शरीर को अपना समझते हैं ।) व्यष्टि जीव भी नाना होने से आपस में भिन्न-भिन्न हैं । वे अपने कर्म और संस्कारों के अनुसार देव, पशु, मनुष्य आदि योनियाँ प्राप्त करते रहते हैं । समष्टि और व्यष्टि उभयविध जीवों में समष्टि जीव ही श्रेष्ठ है ॥ ४–५ ॥ उससे भी उत्कृष्ट वे अवतार हैं जो ब्रह्म के संकल्पमात्र से सिद्ध हुए हैं । उन अवतारों में भी तारतम्य है जैसे जीवों में होता है ॥ ६ ॥ उक्त अवतारों में ब्रह्मा उत्तम हैं । उनसे भू मुख्य

---

[1] अतएव 'एकस्यैव चतुर्भुजचतुर्मुखपञ्चमुखाद्याः पुमाकाराः श्रीभारतीभवान्याद्याश्च स्त्र्याकाराअन्ये च मत्स्यकूर्मादयोऽनन्तावतारा लीलयैवाविर्भवन्ति भक्तानुग्रहार्थम्' इत्येकस्यैवेश्वरस्य सर्वाणीमानि रूपाणि इति विन्दावष्टमपद्ये सरस्वत्युक्तिः ।

एषां त्रयाणामधिकः सर्वकारणमीश्वरः । ततोऽधिकं परं तत्त्वं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
इयमेव हि सर्वेषां काष्ठा प्रोक्ता श्रुतौ स्मृतौ ॥ ९ ॥

योऽयं मानुष आनन्दस्ततः शतगुणोत्तरः । मनुष्यगन्धर्वादीनामानन्द इति गम्यते ॥ १० ॥

एषामिति । गुणविभागरहितमायोपाधिकं तदेव परतत्त्वं जगत्कारणं सदीश्वरः । सोऽपि प्रविभक्तगुणोपाधिकानामेषां ब्रह्मादीनामुत्कृष्टस्ततसमष्ट्यात्मकत्वादित्यर्थः । यस्य निरतिशयोत्कर्षप्रतिपादनायैतदुत्कर्षतारतम्यमनुक्रान्तं तद्दर्शयति–**ततोऽधिकमिति** । कारणत्वोपलक्ष्यं सच्चिदानन्दाखण्डैकरसं यत्परं तत्त्वं तत्सोपाधिकाज्जगत्कारणादधिकमुत्कृष्टम् । एतदीयोत्कर्षस्य निरतिशयत्वमुपपादयति–**इयमेवेति** । यदेतदुक्तं परतत्त्वमेतदेव सर्वेषां पूर्वोक्तानां सातिशयोत्कर्षभाजां विश्रान्तिभूमित्वेन श्रुतिस्मृत्या प्रतिपादितम् । **हि**शब्दो हेत्वर्थः । यस्मादेवं तस्मादितरदुत्कृष्टं किमपि नास्तीत्यर्थः । तत्र श्रुतिस्तावत्सर्वस्यापि भोक्तृभोग्यात्मकस्य प्रपञ्चस्य सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि विश्रान्तिं प्रतिपादयति "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण" इत्यादि । स्मृतिश्च–"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" इत्यादिका सर्वस्य जगतः कारणे ब्रह्मणि विश्रान्तिमवगमयति । युक्तं चैतत् । सच्चिदानन्दरूपेऽधिष्ठाने मायावशात्प्रतीतं जगदधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेन शुक्तौ रजतवत्तत्रैव लीयते । अधिष्ठानादन्यत्राऽऽरोप्यस्य लयासंभवात् । अतोऽधिष्ठानस्य परब्रह्मणो यो निरतिशयोत्कर्षः स एव परिकल्पिते जगति सच्चिदानन्दरूपादनुगतः संस्तत्तदुपाधितारतम्यात्सातिशयो नानाविध इव प्रतिभासत इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवमीश्वरस्वरूपमेव परमार्थं सदन्यत्सर्वं परिकल्पितमित्युपपाद्य तत्स्वरूपभूतयोर्ज्ञानानन्दयोरपि निरवधित्वं प्रतिपादयति–**योऽयं मानुष** इत्यादिना । सार्वभौमस्य भोक्तृशक्तिसंपन्नस्य धनधान्यादिसमृद्धपृथिव्युपभोगाद्योऽयं **मानुष आनन्दस्तस्माच्छतगुणोत्तर** आनन्दो मनुष्यगन्धर्वाणाम् । तथाच श्रूयते–'युवा स्यात्साधुयुवाऽध्यायकः । आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः । स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः ।' इति । अत्र श्रुतौ मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दादनन्तरं देवगन्धर्वादीनां ब्रह्मान्तानां योऽयमुत्तरोत्तरंशतगुणित आनन्दस्तत्सर्वस्य संग्रहायाऽऽदिशब्दं प्रयुङ्क्ते–**मनुष्यगन्धर्वादीनामिति** ॥ १० ॥

हैं विष्णु । विष्णु । के भी जो व्यष्टि अवतार हैं उनसे समष्टि विष्णु (जिनके वे सब अवतार हैं) श्रेष्ठ हैं ॥ ७ ॥ विष्णु से भी रुद्र उत्कृष्ट हैं ॥ रुद्र के भी व्यष्टि रूपों से उनका समष्टि रूप श्रेष्ठ है । ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र परमतत्त्व की ही विभूतियाँ हैं । (परमतत्त्व ही मायिक गुणरूप उपाधियों से ब्रह्मा आदि रूप धारण किये हुए है । श्रुति, स्मृति व पुराण बार बार इस रहस्य को स्पष्ट करते हैं कि परमात्मा एक है, उपाधिभेद से नाम रूप का भेद है । ब्रह्मा, विष्णु आदि व्यक्ति विभिन्न नहीं । एक ही के ये नाम रूप हैं । जैसे एक ही व्यक्ति किसी उपाधि से चाचा व किसी उपाधि से पति होता है वैसे ही एक परमशिव किसी उपाधि से ब्रह्मा और किसी से विष्णु आदि हैं । पाश्चात्य प्रचार से यह भ्रम कभी नहीं करना चाहिये कि हम नाना-देव-वादी हैं । व्यवहार में भी याद रखना चाहिये कि उपाधिभेद से पूजन, ध्यान, लीला, तारतम्य आदि का भेद होने पर भी तत्त्व एक ही है ।) ॥ ८ ॥ सबका कारण ईश्वर इन तीनों से भी उत्कृष्ट है । (गुणक्षोभ से रहित माया उपाधि वाला चैतन्य ईश्वर है) । उससे भी उत्कृष्ट अद्वितीय ज्ञान व आनंदरूप परम तत्त्व है । इसे ही श्रुति व स्मृति में सबकी चरम सीमा बताया है । (इससे

ब्रह्मानन्दशतं विष्णोरेक आनन्द उच्यते ॥ ११ ॥

तस्याऽऽनन्दशतं रुद्रस्यैक आनन्द एव हि ।

रुद्रानन्दशतं सर्वकारणस्य शिवस्य तु ॥ १२ ॥

कारणत्वोपलक्ष्यस्य शिवस्य परमात्मनः ।

सत्यचिन्मात्ररूपस्य भूमाऽऽनन्द उदाहृतः ॥ १३ ॥

एवं क्रमेण सर्वेषां ज्ञानाधिक्यमपीष्यते ।

स्कन्धशाखादिभेदेन यथा वृक्षो व्यवस्थितः ॥ १४ ॥

तथा रुद्रादिभेदेन शिव एको व्यवस्थितः । उत्कर्षश्चापकर्षश्च स्कन्धशाखादिवस्तुषु ॥ १५ ॥

'स एको ब्रह्मण आनन्द' इति रजोगुणोपाधिकस्य ब्रह्मणो य आनन्द आम्नातस्तमारभ्योत्तरोत्तरं शतगुणित आनन्दो विष्णुरुद्रजगत्कारणानामधिगन्तव्य इत्याह–**ब्रह्मानन्दशतमित्यादिना** ॥ ११–१२ ॥ **सत्यचिन्मात्ररूपस्येति** । मात्रशब्देन सकलोपाधिविरहो विवक्षितः । **सत्यचिन्मात्ररूपस्य कारणत्वोपलक्ष्यस्य** परशिवस्वरूपत्वेन **भूमाऽऽनन्द उदाहृतः** श्रुत्या दर्शितः । परिच्छेदकोपाध्यभावात्परशिवस्वरूपभूत आनन्दोनऽवच्छिन्नो निरतिशय इत्यर्थः । सा च श्रुतिः–'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यो यो वै भूमा तत्सुखम्' इत्यादिका ॥ १३ ॥ एवं परशिवस्वरूपानन्दस्य निरतिशयत्वमुपपाद्य

उत्कृष्ट कुछ नहीं है) ॥ ९ ॥ मनुष्यों के आनन्द से सौ गुणा अधिक मनुष्यगंधर्व आदि देवयोनियों का आनन्द है । (उनसे सैकड़ों गुणा अधिक ब्रह्मा का आनन्द है) ॥ १० ॥ ब्रह्मा के आनन्द से सौ गुणा अधिक सर्वकारण शिव का आनन्द है ॥ १२॥ कारणत्व से उपलक्षित सत्यचिन्मात्ररूप परमात्मा शिव का अनवच्छिन्न आनन्द है । (स्वरूप के अंदर निविष्ट हुआ तथा कार्य पर्यंत रहने वाला भेदक विशेषण कहलाता है । कार्यपद स्वान्वितविशेष्य समझना चाहिये और 'स्व' से भेदक जानना चाहिये । विशेषणत्व के प्रयोजक जो दो रूप हैं–स्वरूप में निविष्ट होना और कार्यपर्यंत रहना, वे दोनों न हों तो भेदक को उपलक्षण कहते हैं । यदि उनमें से एक न हो दूसरा हो तो भेदक को उपाधि कहते हैं । दृष्टांत के लिये, घर के स्वरूप में प्रविष्ट न होने वाला और कार्यपर्यन्त न रहने वाला कउआ घर का उपलक्षण या उपलक्षक होता है । 'कर्णच्छिद्र से अवच्छिन्न नभ श्रोत्र है'–इस स्थल में कर्णच्छिद्र उपाधि है । माया कारणब्रह्म

तथोत्कर्षोपकर्षश्च रुद्रविष्ण्वादिषु स्थितः । तरङ्गबुद्बुदादीनां यथा लोके व्यवस्थितः
उत्कर्षश्चापकर्षश्च तथा रुद्रादिषु स्थितः ॥ १६ ॥

विश्वाधिकत्वं रुद्रस्य कारणस्य शिवस्य च ।
न वदन्ति जना ये ते राक्षसाः स्युर्न संशयः ॥ १७ ॥

व्यावहारिकदृष्ट्याऽयं विभागः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

प्रमाणदृष्ट्या वस्त्वेकमेव नित्यं न संशयः ।
अनादृत्य महामोहात्प्रमाणं भुवि मानवाः ॥ १९ ॥

अयं परस्त्वयं नेति विवदन्ते परस्परम् । महापापवतां नृणां रुद्राधिक्यं न भासते ॥ २० ॥

अनेकजन्मसिद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम् । रुद्राधिक्यं स्वतो भाति प्रमाणैरपि तर्कतः ॥ २१ ॥

तत्स्वरूपभूतज्ञानस्याप्यनेनैव न्यायेन निरतिशयत्वमवगन्तव्यमित्यतिदिशति–**एवमिति** । एकस्यैव परशिवस्य रुद्रविष्ण्वादिनानाविधजगदाकारेणावस्थानं सदृष्टान्तमुपपादयति–**स्कन्धशाखेति** ॥ १४–१६ ॥ **विश्वाधिकत्वमिति** । उक्तरीत्या सर्वस्मादप्युत्कृष्टत्वात्परशिवो विश्वाधिकः । 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिरि'ति श्रुतेश्च शिवस्यैव विश्वाधिकत्वम् ॥ १७ ॥

की उपाधि है क्योंकि स्वरूपान्तर्निविष्ट न होने पर भी यावत्कार्यावस्थायी है किन्तु परतत्त्व का तो उपलक्षण मात्र है ।) ॥ १३ ॥ जैसे पूर्वोक्त क्रम से आनन्द की अधिकता है ऐसे ही इनमें क्रमशः ज्ञान की भी अधिकता है ॥ १३½ ॥ जैसे एक ही पेड़ तना, शाखा आदि विभिन्न रुपों में स्थित रहता है वैसे रुद्र आदि भेदों से एक ही शिव विद्यमान हैं । तने आदि में ऊँचा-नीचापन होता है । इसी तरह रुद्र, विष्णु आदि में उच्चावचता है । लहर, बुद्बुदा आदि में जैसे बड़प्पन आदि है वैसे ही रुद्र आदि में उत्कर्ष व अपकर्ष हैं ॥ १४–१६ ॥ जो लोग रुद्र की और कारण शिव की सबसे उत्तमता नहीं वताते वे निश्चय ही राक्षस हैं ॥ १७ ॥ यह सारा विभाग व्यावहारिक दृष्टि से है । प्रमाण की दृष्टि से परमार्थतः एक ही नित्य निरंतर वस्तु है ॥ १८½ ॥ महामोह के कारण प्रामाणिकता का अनादर कर लोग व्यर्थ विवाद करते हैं कि अमुक परम है अमुक नहीं (लहर श्रेष्ठ है या बुद्बुदा ? –इस झगड़े में कोई तत्त्व नहीं । हाँ लहर बड़ी होती है, बुद्बुदा छोटा । लहर जहाज को पलट सकती है, बुद्बुदा पत्ते से ही फूट जाता है । यों नाम-रूप-कर्म में भेद व तारतम्य रहे किन्तु तत्त्वदृष्टि से वे सब जलमात्र ही हैं । ऐसे ही ब्रह्मा, विष्णु आदि के नाम-रूप-कर्म विभिन्न हैं अतः उस दृष्टि से उच्चावचता हो किन्तु तत्त्वदृष्टि से परमशिवमात्र रूप हैं । अतः उनमें से किसी को परम मानना या अन्य किसी की परमता का निषेध करना मूर्खता ही है ।) ॥ १९½ ॥ जो लोग महापापी होते हैं उन्हें रुद्र की श्रेष्ठता जँचती ही नहीं । अनेक

[1]सोपानक्रमतो देवा नृणां संसारमोचकाः । रुद्रः संसारमग्नानां साक्षात्संसारमोचकः ॥ २२ ॥
अतः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम् । शिव एकः सदा ध्येयः साक्षात्संसारमोचकः ॥ २३ ॥
वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा । शिवध्यानेन देवाश्च तथा तृप्ता भवन्ति हि ॥ २४ ॥
विकल्परहितं तत्त्वं ज्ञानमानन्दमव्ययम् । ये पश्यन्ति विमुक्तास्ते जीवन्तोऽपि न संशयः ॥ २५ ॥
निर्विकल्पं परं तत्त्वं तर्कतो यस्य भासते । सोऽपि मुच्येत संसाराद्यथा स्वप्नप्रपञ्चतः ॥ २६ ॥
निर्विकल्पं परं तत्त्वं प्रमाणेनैव केवलम् । यस्य भाति स मुच्येत स्वसंसारमहोदधेः ॥ २७ ॥

ननु यथा वृक्षः स्कन्धशाखादिभेदेन नानाकारोऽवतिष्ठत एवं परशिवोऽपि रुद्रविष्ण्वादिजगदाकारेणावतिष्ठते चेत्तर्ह्यद्वैतव्याकोप इत्यत आह–व्यावहारिकदृष्ट्येति । निर्विकार एव परशिवस्वरूपे मायावशाद्विचित्रं जगदारोप्यते न परतत्त्वं स्कन्धशाखाद्यात्मना वृक्षवत्परिणमते । अतो नानाविधभावमात्रसाम्येनैव दृष्टान्तोपादानमित्यर्थः ॥ १८–२४ ॥ **विकल्परहितमिति** । निर्विशेषे ब्रह्मणि विकल्पहेतूनां विशेषणानाम् अभावात् तत्स्वरूपभूतं ज्ञानं विकल्परहितम् अत्यन्तनिर्विकल्पम् इत्यर्थः । सर्वदा बाधवैधुर्यात्तदेव तत्त्वं परमार्थम् । अपराधीनप्रकाशत्वाज्ज्ञानम् । अत्यन्तानुकूलवेदनीयत्वादानन्दम् । **अव्ययम्** । व्ययोऽपगमोऽन्तवत्त्वं, तद्रहितम् । देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितमित्यर्थः ॥ २५ ॥ **तर्कत इति** । प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्त्या दृश्यप्रपञ्चमिथ्यात्वेऽवगते प्रतीत्यधिष्ठानत्वेन च किंचित्पारमार्थिकं वस्त्वङ्गीकर्तव्यम् । इतरथा निरधिष्ठानभ्रमस्य निरवधिकबाधस्य च प्रसक्तेरित्यादिरूपस्तर्कः । श्रुतिरपि तर्कं दर्शयति–'असन्नेव स भवति' 'असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' 'को ह्येवान्यात्कः

जन्मों तक श्रौत-स्मार्त कर्म करते रहने पर प्रमाण और युक्ति से रुद्र की उत्तमता का स्वयं भान होता है ॥ २०–२१ ॥ अन्य देव भी जीवों को संसार-बंधन से मुक्त करते हैं किन्तु उन्हें क्रमशः शिवकृपा की अपेक्षा रहती है अर्थात् वे यथाक्रम शिवकृपा तक ले जा सकते हैं । बिना किसी की अपेक्षा से स्वयं स्वतंत्र हो मुक्त करने वाले तो रुद्र ही हैं ॥ २२ ॥ अतः शिवभिन्न सब देवताओं को छोड़ एकमात्र शिव का ही ध्यान करना चाहिये ॥ २३ ॥ जैसे वृक्ष की जड में पानी देने से शाखा आदि सब अवयव पुष्ट हो जाते हैं । ऐसे शिवध्यान से सभी देवता संतुष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥ अव्यय ज्ञान आनंदमय निर्विकल्प तत्त्व का जो दर्शन कर लेते हैं वे निश्चित ही जीवित रहते हुए भी मुक्त ही हैं ॥ २५ ॥ युक्ति से भी जिसने इस तत्त्व को समझ लिया वह भी संसार से वैसे ही मुक्त हो जाता है जैसे स्वप्न प्रपंच से । (स्वप्नदृष्ट वस्तु का निश्चय कुछ काल तक तदनुरूप प्रेरणा देता है किन्तु विचार से उसका बाध हो जाने पर प्रेरणा समाप्त हो जाती है । जैसे स्वप्न में चोर भागा हो और आँख खुल जाये तो एक बार उठकर भगाने की इच्छा होती है, पर फिर दरवाजा आदि देखने पर पता चलता है कि वह तो सपना था, और तब भागने आदि की इच्छा समाप्त हो जाती है । ऐसे ही युक्तितः परतत्त्व को समझ लेने पर संसार से छूट जाते हैं) ॥ २६ ॥ जिसे निर्विशेष परमात्मतत्त्व का प्रमाण से साक्षात्कार होता है वह स्वकीय संसरणप्रवाह से मुक्त हो ही जाता है ॥ २७ ॥ परमात्मा शिव के वस्तुतः कोई नाम या

---

१ ननु 'तत्त्वं नारायणः पर' 'ईश्वरीं सर्वदेवानाम्' 'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाये' त्यादिवचांसीतरेषां परत्वं ख्यापयन्तीति किमिति शिव एव पर इत्युच्यत इत्याशंक्य मोचकत्वेऽव्यवधानमिह तारतम्यनियामकं विवक्षितं, न नामरूपयोरभिनिवेश उक्तव-चसां चैक एव प्रतिपाद्यो बहूनां परत्वासंभवाच्छ्रुतौ च विरोधासंगते र्वस्तुनिविकल्पायोगात्स च प्रतिपाद्यइह शिव उच्यत इत्याह–सोपानेति ।

न च नामानि रूपाणि शिवस्य परमात्मनः । तथाऽपि मायया तस्य नामरूपे प्रकल्पिते ॥ २८ ॥

शिवो रुद्रो महादेवः शंकरो ब्रह्म सत्परम् ।
एवमादीनि नामानि विशिष्टानि परस्य तु ॥ २९ ॥

विष्णुनारायणादीनि नामानि परमेश्वरे । कथंचिद्योगवृत्त्या तु वर्तन्ते न तु मुख्यया ॥ ३० ॥

अरूपस्य शिवस्यापि मूर्तिर्ध्येया ह्युपासकैः । उमार्धविग्रहा शुक्ला त्रिनेत्रा चन्द्रशेखरा ॥ ३१ ॥

नीलग्रीवा परानन्दप्रमोदा ताण्डवप्रिया । ब्रह्मविष्णुमहादेवैरुपास्या गुणमूर्तिभिः ॥ ३२ ॥

सर्वमूर्तिविहीनस्य सर्वमूर्तेः शिवस्य तु ।
तथाऽप्येषा परा मूर्तिरित्येषा शाश्वती श्रुतिः ॥ ३३ ॥

प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इति ॥ २६ ॥ **प्रमाणेनैवेति** । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिवेदान्तवाक्यं प्रमाणम् ॥ २७ ॥ **न च नामानीति** । 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' इति श्रुतेः परमार्थतो नामरूपे न स्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥ **शिवो रुद्र इति** । मायापरिकल्पितनाम्नां मध्ये शिवरुद्रादिनामानि परशिवस्वरूपे रूढितो वर्णनान्मुख्यानि । शिवो रुद्र इत्यादि नामचतुष्टयं रुद्रमूर्तेरभिधायकम् । **ब्रह्म सत्परमिति** त्रितयं परशिवस्य साक्षाद्वाचकम् । परशिवमूर्त्या सह रुद्रमूर्तेस्तप्तायःपिण्डवदविभागापत्तिं स्वयमेवाग्रे वक्ष्यति । अतो मूर्तिद्वयस्यैकीभूतत्वात्तथाविधे तान्युभयविधनामानि रूढ्यैव वर्तन्त इति मुख्यानि ॥ २९ ॥ **विष्णुनारायणादीनीति** । विष्ण्वादिमूर्तीनां परशिवमूर्त्या वैलक्षण्याद्विविक्तत्वमपि वक्ष्यति । अतो विष्ण्वादिमूर्तिषु रूढा विष्ण्वादयः शब्दास्तस्मिन्परतत्त्वे न रूढ्या वर्तन्तेऽपि तु व्याप्नोतीति विष्णुरित्येवमाद्यवयवव्युत्पत्त्या वर्तन्ते ॥ ३० ॥ एवं मायापरिकल्पितनामानि दर्शयित्वा परिकल्पितं मूर्त्यात्मकं रूपमपि परशिवस्य ध्यानार्थं दर्शयति—**अरूपस्येत्यादिना** ॥ ३१ ॥ **गुणमूर्तिभिरिति** । सत्त्वरजस्तमोगुणोपाधिकैरित्यर्थः ॥ ३२ ॥ सर्वमूर्तेरिति परमार्थतः सर्वप्रकारमूर्तिरहितस्यापि मायापरिकल्पितं सर्वं जगदप्यस्या मूर्तिरित्यर्थः । **शाश्वती श्रुतिरिति** । परमार्थतो विग्रहरहितस्य शिवस्य तत्सद्भावं श्रुतिरपि दर्शयतीत्यर्थः । श्रूयते हि कैवल्योपनिषदि—'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् । ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्' इति ॥ ३३ ॥

रूप नहीं हैं । माया से ही उनके नाम-रूप कल्पित हैं ॥ २८ ॥ शिव, रुद्र, महादेव, शंकर, ब्रह्म, सत्, पर इत्यादि परमात्मा के विशिष्ट नाम हैं ॥ २९ ॥ विष्णु, नारायणादि नाम योगवृत्ति से परमेश्वर को विषय कर लेते हैं, मुख्यतः नहीं । (विष्णु आदि नाम उद्रिक्तगुणावस्थ मायोपाधि वाले स्वरूप को ही शक्ति से विषय करते हैं । निर्विशेष को वे कहते तो हैं किन्तु स्वरसतः नहीं । स्वारस्य उनका विशिष्टद्योतन में ही है ।) ॥ ३० ॥ यद्यपि शिव नीरूप हैं तथापि उपासकों को उनकी मायिक अर्धनारीश्वर मूर्ति का ध्यान करना चाहिये । वह मूर्ति कर्पूर-गौर है, उसमें तीन नेत्र हैं, मस्तक पर चंद्रकला है, कण्ठ में नीलिमा है तथा परमानंद के प्रमोद वाली हुई वह मूर्ति उपास्य है । (गुणमूर्ति अर्थात् सत्त्वादि गुणों वाली मूर्तियाँ) ॥ ३१—३२ ॥ सब मूर्त वस्तुएँ जिन पर अध्यस्त हैं वे शिव यद्यपि किसी मूर्ति वाले नहीं हैं तथापि शाश्वत श्रुति ने उनकी इस परामूर्ति का उपासनार्थ उपदेश दिया है ॥ ३३॥ विष्णु आदि अन्य

तप्तायः पिण्डवद्विप्रा रुद्रमूर्ति परस्य तु । मूर्त्या तुल्याऽन्यमूर्तिभ्यो लक्षणैर्मुनिसत्तमाः ॥ ३४ ॥

विष्वादीनां तु सर्वेषां मूर्तयो व्यवधानतः ।

न तुल्याः परतत्त्वस्य मूर्त्यां वेदान्तपारगाः ॥ ३५ ॥

परतत्त्वस्य नामानि प्रत्यासत्त्या मुनीश्वराः । त्रिमूर्तीनां तु रुद्रस्याव्यवधानानि सुव्रताः ॥ ३६ ॥

रुद्रमूर्तेः परशिवमूर्त्या सहैकत्वं वक्ष्यतीति यदवादिष्म (श्लो. २९) तदाह–**तप्तायःपिण्डवदित्यादिना** । विशुद्धसत्त्वगुणो हि रुद्रस्योपाधिस्तमस्तु संहरणाय तत्स्वरूपाद्बहिरेव वर्तते । अतो रुद्रमूर्तिर्विशुद्धसत्त्वात्मकत्वात्सत्त्वस्य च सुखप्रकाशस्वरूपत्वात्साक्षिचित्प्रकाशरूपया परशिवमूर्त्या प्रकाशसुखादिलक्षणैः सदृशी । अतो विष्ण्वादिमूर्तिभ्यो विलक्षणा च तप्तायःपिण्डवत्परशिवमूर्त्याऽविभागापन्नैवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥ **न तुल्याः परतत्त्वस्येति** । विष्ण्वादिमूर्तिषु रजस्तमसोः प्राचुर्यलक्षणेन व्यवधानेन सच्चिदानन्दरूपायाः परशिवमूर्तेः साकल्येन प्रतिफलनायोगात्परशिवमूर्त्या व तास्तुल्याः । अतस्ताद्विविक्ततयैव तासामुपलम्भात्तथाविधमूर्त्यभिधायकानि विष्ण्वादिनामानि परशिवस्वरूपमूर्त्यवयवप्रसिद्धिसव्यपेक्षत्वेन विलम्बितप्रतीतिजनकत्वान्न मुख्यानि । शिवरुद्रनामानि तूक्तरीत्या परशिवरुद्रमूर्त्योरेकीभूतत्वात्तदुभयात्मिकायां मूर्त्यामवयवप्रसिद्धिमन्तरेण समुदायप्रसिद्ध्यैव वर्तन्त इति शीघ्रप्रतीतिजनकत्वान्मुख्यानीत्यभिप्रायः ॥ ३५ ॥ एवं रुद्रमूर्त्यभिधायकानां शिवरुद्रादिनाम्नां परतत्त्वविषये मुख्यत्वमुपपाद्य निरुपाधिकपरशिवस्वरूपप्रतिपादकानां ब्रह्म सत्परमित्यादिनाम्नामपि रुद्रमूर्तौ मुख्यत्वं प्रतिपादयति–**परतत्त्वस्येत्यादिना** । ब्रह्म सत्परमित्यादीनि यानि निरुपाधिकतत्त्वस्य नामानि तानि त्रिमूर्तीनां मध्ये रुद्रस्य प्रत्यासत्त्याऽव्यवधानानि[1] नामानि, निरुपाधिकस्वरूपप्रतिपादनेन सोपाधिकाद्रुद्रात्परतत्त्वं व्यवधीयत एभिरिति करणव्युत्पत्त्या तानि नामानि व्यवधाननिमित्तानि; रुद्रस्योपाधेर्निरतिशयसत्त्वोत्कर्षवत्कात्स्न्र्ये विम्वग्रहलक्षणा प्रत्यासत्तिरस्ति, तया प्रत्यासत्त्याऽव्यवधायकानि तानि नामानीदृग्व्यवधानसद्भावबलादेव तयोर्मूर्त्योर्भेदेन व्यवहारः ॥ ३६ ॥

मूर्तियों की अपेक्षा रुद्रमूर्ति में परा मूर्ति की अधिक समानता है । जैसे तपे लोहे के पिण्ड का आकार ही अग्नि लिये रहती है वैसे परामूर्ति और रुद्रमूर्ति समान आकार वाली होती हैं । (रुद्र की उपाधि विशुद्ध सत्त्वगुण है अतः सबसे कम विकार उसी मूर्ति में होना स्वाभाविक है) ॥ ३४ ॥ विष्णु आदि सभी मूर्तियाँ परामूर्ति की क्रमशः कम समानता वाली हैं ॥ ३५ ॥ ऐसे ही परतत्त्व के ब्रह्म, सत् आदि नाम भी त्रिमूर्ति में रुद्र को स्वारस्य से विषय कर पाते हैं । (यद्यपि वे नाम निरुपाधिक के हैं तथापि उनसे यदि सोपाधिक को समझना हो तो रुद्र को सरलता से समझा जा सकता है ।) ॥ ३६ ॥ वे नाम आदि अन्य मूर्तियों को केवल इसलिये विषय कर पाते हैं कि विष्णु आदि भी वस्तुतः परम तत्त्व ही हैं । (उनके उपहित रूपों को ये नाम कह नहीं सकते । रुद्रात्मक उपहित रूप को इसलिये कह लेते हैं कि

---

१ ख. "धानेन ना" ।

विष्ण्वादीनां च देवानां तानि नामानि सुव्रताः ।
तत्त्वान्वयेन नामानि भवन्ति ब्रह्मवित्तमाः ॥ ३७ ॥
तथाऽपि रुद्रे तान्येव प्रत्यासत्त्या परेण तु ।
मुख्यानि न तथाऽन्येषु व्यवधानात्परेण तु ॥ ३८ ॥
परतत्त्वपरिज्ञानं तस्य मूर्तिप्रसादतः । तत्प्रसादश्च तद्ध्यानपूजाभ्यामेव नान्यथा ॥ ३९ ॥
अन्नादिभोजनान्नॄणां यथा क्षुद्विनिवर्तते । तथा मूर्तिप्रसादेन तत्तत्त्वं च प्रकाशते ॥ ४० ॥
परतत्त्वं तु सर्वेषां स्वरूपमपि सर्वदा । तस्य मूर्तिप्रसादेन विना नैव प्रकाशते ॥ ४१ ॥

विष्ण्वादीनामिति । विष्णुब्रह्महिरण्यगर्भादीनां तानि परतत्त्वनामानि परतत्त्वान्वयसद्भावमात्रेण प्रतिपादकानि । अयमर्थः- सच्चिदानन्दैकलक्षणोऽद्वितीयः सर्वगतः परशिव एव नानाविधोपाधिसंबन्धवशाद् ब्रह्मविष्णुरुद्रादिरूपेण नानेवावभासते । तत्र ब्रह्मविष्णुरुद्रहिरण्यगर्भसूत्रात्मादीनां स्वस्वव्यापारविषयेष्वप्रतिहतज्ञानत्वात्तेषां सर्वेषामुपाधिषु सत्त्वस्य निरतिशयोत्कर्ष एष्टव्यः । इतरथाऽस्मदादिजीववत्किंचिज्ज्ञत्वप्रसङ्गेन सकलसृष्टिस्थित्यादिव्यवहारविलोपप्रसङ्गात् । ननूपधेयवदुपाधीनामप्यैकरूप्ये ब्रह्मविष्ण्वादिभेदव्यवहारो नोपपद्यत इति चेत् ? मैवम् । ब्रह्माद्युपाधिषु वस्तुतः सत्त्वोत्कर्षस्यैकरूप्ये सत्यपि रुद्रोपाधिव्यतिरिक्तेषु तेष्वाहार्यरजस्तमःप्रयुक्तो नानाविधोऽपकर्षोऽप्यस्ति । अतस्तत्प्रयुक्तो ब्रह्मविष्ण्वादिभेदव्यपदेशो, न सोऽपकर्षस्तेषां वास्तव इति मन्तव्यम् । तथा सत्यस्मदादिवत्तेषामपि जीवत्वप्रसङ्गात् । एवं ब्रह्मविष्ण्वादिमूर्तिष्वाहार्यापकर्षसद्भावात्परतत्त्वप्रत्यासत्तिर्नास्तीति भवन्ति तानि व्यवधायकान्यमुख्यानीत्यर्थः ॥ ३७ ॥ नन्वेवमुभयत्राप्युपाधिव्यवधानेन साम्ये सत्यपि परतत्त्वनाम्नां क्वचिन्मुख्यत्वं क्वचिन्नेति वैलक्षण्यं कुतः ? इत्यत आह-**तथाऽपीति** । यद्यप्युक्तरीत्या रुद्रमूर्तावपि परतत्त्वाद् व्यवधानमस्ति, तथाऽपि परशिवस्वरूपेण रुद्रमूर्तेः पूर्वोक्ता या प्रत्यासत्तिस्तद्भावेन तत्र परतत्त्वनामानि मुख्यानीत्युच्यन्ते । अन्येषां तु ब्रह्मविष्ण्वाद्युपाधीनां च न तथा प्रत्यासत्तिरस्ति । आहार्यापकर्षसद्भावात् । अतो व्यवधानात्परतत्त्वनामानि तेषां न मुख्यानीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ एवं विष्ण्वादिमूर्तिभ्यो विलक्षणा 'उमार्धविग्रहा' इत्यादिना

उसमें ईषद्विकार है तथा सात्त्विक होने से परम तत्त्व से अत्यधिक समानता है) ॥ ३७ ॥ यद्यपि देवतांतरों को पूर्वोक्त रीति से ही ये नाम विषय करते हैं तथापि रुद्रमूर्ति में परतत्त्व की निकटता-समानता- होने से उसे मुख्यरूप से भी कह देते हैं । (शिवनाम परतत्त्व तथा रुद्रमूर्ति दोनों के लिये प्रयोग किया जाता है । विष्णु आदि नामों से ऐसे प्रयोग दुर्लभ हैं) ॥३८ ॥ परामूर्ति की कृपा से परमतत्त्व का ज्ञान होता है । उसकी कृपा भी उसका ध्यान, पूजन आदि करने से होती है ॥ ३९ ॥ जैसे अन्न आदि भोजन से लोगों की भूख मिटती है ऐसे परामूर्ति की कृपा से परतत्त्व प्रकाशित होता है ॥ ४० ॥ यद्यपि वह तत्त्व सदा सबका स्वरूप है तथापि मूर्ति की कृपा के बिना उसका ज्ञान नहीं होता ॥ ४१ ॥ अतः यह मूर्ति ही भोग-मोक्ष देने वाली है । इसलिये पूर्ण भक्ति से उसका भजन कीजिये ॥ ४२ ॥

तस्मान्मूर्तिर्हि सर्वेषां भोगमोक्षफलप्रदा । अतो मूर्तिं महाभक्त्या भजध्वं मुनिपुंगवाः ॥ ४२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे परपदस्वरूपविचारो नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि शिवलिङ्गं समासतः ।
यस्य विज्ञानमात्रेण विमुक्तो मानवो भवेत् ॥ १ ॥
शिव एव स्वयं लिङ्गं लिङ्गं गमकमेव हि ।
शिवेन गम्यते सर्वं शिवो नान्येन गम्यते ॥ २ ॥
जडं हि गम्यतेऽन्येन नाजडं मुनिपुंगवाः । शिवो नैव जडः साक्षात्स्वप्रकाशैकलक्षणः ॥ ३ ॥

या परतत्त्वमूर्तिरभिहिता तत्प्रसादादेव भोगमोक्षरूपफलप्राप्तिरिति सा सर्वैः सर्वदा सेव्येत्युपसंहरति–**परतत्त्वपरिज्ञानमित्यादिना** ॥ ३९–४२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे परपदस्वरूपविचारो नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

एवं परशिववस्य ध्यानपूजाद्यर्थं परिकल्पितां विशिष्टां मूर्तिं प्रतिपाद्य शिवलिङ्गस्वरूपमपि निर्णेतुं प्रतिजानीते–**अथात इति** ॥ १ ॥ शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गमिति भ्रमं व्युदसितुमाह–**शिव एव स्वयं लिङ्गमिति** । तदुपपादयति–**लिङ्गं गमकमित्यादिना** । लोके हि वह्न्यादिलक्षणस्यार्थान्तरस्य यद्गमकं ज्ञापकं धूमादि लिङ्गमित्युच्य । शिवोऽपि स्वप्रकाशचिद्रूपत्वेन सर्वस्य[1] जडवर्गस्य गमको न त्वन्येन गम्यः । अतो गमकत्वात्स्वयमेव लिङ्गम् ॥ २ ॥ एतदेव गमकत्वमुपपादयति–**जडं हीत्यादिना** । घटपटाद्यात्मकं जडं जगदेव स्वव्यतिरिक्ते चित्प्रकाशेन ज्ञाप्यते । जडविलक्षणं चैतन्यं नान्येन गम्यते किन्तु स्वयं प्रकाशते । अतः स्वप्रकाशचिद्रूपः परशिवो नैव जडः । यतो न जडोऽतो न गम्यः । अपि तु स्वप्रकाश[2] चिद्रूपत्वाद्गमकः । अतः स्वयमेव लिङ्गमित्यर्थः ॥ ३ ॥ भवेदेवं यदि शिवः

शिवलिंग के स्वरूप का कथन नामक अट्ठाइसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं संक्षेप में शिवलिंग के सन्दर्भ में बताता हूँ । शिवलिंग को सही तरह से समझ लेने से मनुष्य मुक्ति पा जाता है ॥ १ ॥ शिव स्वयं ही लिंग है । ज्ञापक को ही लिंग कहते हैं । शिव से ही सब ज्ञात होता है । शिव किसी अन्य से ज्ञात होते नहीं । (अतः शिव का लिंग, ज्ञापक, शिवलिंग नहीं । मेदिनी में लिंगशब्द का अर्थ 'शिवमूर्तिविशेषेऽपि' भी दिया है । हैमकोश में भी 'शिवमूर्तौ' अर्थ कहा है । विश्वकोष भी बताता है 'शिवमूर्तिविशेषेऽपि' । त्रिकाण्डशेष 'लिंग स्थाणौ' इस प्रकार लिंग शब्द महादेवपरक बताता है । एवं च लिंग शब्द शक्तिवश ही शिवके मूर्तामूर्त प्रतीक का वाचक है । अतः इसे मेहनपरक ही मुख्य मानना भाषा के अज्ञान से ही कुछ आधुनिकों का आग्रह बना हुआ है । किन्तु प्रकृत प्रसंग तो शिवलिंग शब्द का यह अर्थ ही उचित नहीं मान रहा है कि शिव के ज्ञापक प्रतीकादि को शिवलिंग कहा जाये । यह अर्थ तो समझाने मात्र के लिये है ऐसा आगे स्पष्ट होगा । मुख्य अर्थ में तो शिव स्वयं अपने तथा बाकी सबके लिंग–ज्ञापक हैं । अन्यों के लिंग हैं प्रकाशक होने से व अपने लिंग हैं प्रकाश होंने से ।) ॥ २ ॥ जड़ वस्तु ही किसी स्वभिन्न चेतन द्वारा जानी जाती है चेतन कभी किसी अन्य द्वारा जाना नहीं जाता । स्वप्रकाशरूप साक्षात् शिव जड़ तो हैं नहीं कि उन्हें किसी अन्य से जाना जाये । (अतः शिव का कोई लिंग नहीं, वे स्वय ही लिंग हैं) ॥ ३ ॥ यदि शिव स्वप्रकाश न हो तो वे शिव ही नहीं रह जायेंगे क्योंकि दीवाल इत्यादि जो कुछ भी अस्वप्रकाश होता है वह शिव नहीं है यह निश्चित है ॥ ४ ॥ यदि शिव स्वप्रकाशस्वरूप न हों तो किसी भी वस्तु की प्रतीति न हो और

---

१ घ. "र्वजडाज" । २ ङ. "शरूप" ।

अस्वप्रकाशश्चेत्साक्षाच्छिवो नैव शिवो भवेत् ।
अस्वप्रकाशं कुड्यादि न शिवः संमतं खलु ॥ ४ ॥
शिवेऽसति मुनिश्रेष्ठाः स्वप्रकाशैकलक्षणे । अप्रतीतं भवेत्सर्वं ततः शून्यमशेषतः ॥ ५ ॥
शून्यसिद्धिरपि श्रेष्ठाः शून्येनैव न सिध्यति ।
खलु सर्वात्मना भानविहीनं शून्यलक्षणम् ॥ ६ ॥

स्वप्रकाशचिद्रूपः स्यात्तथात्त्वे तु सर्वदा सर्वथा भावत्वेन तद्गोचरप्रमाणनैरपेक्ष्यादुपनिषदेकसमधिगम्यत्वभङ्गप्रसक्तेरस्वप्रकाश एव स इत्यत आह–अस्वप्रकाशश्चेदिति । यदि शिवः स्वप्रकाशचिदात्मको न स्यात्तर्हि तस्य शिवत्वमेव हीयेत । पराधीनप्रकाशानां घटकुड्यादीनामशिवत्वदर्शनात् । विमतः शिवः स्वप्रकाशो भवितुमर्हति शिवत्वात्, यो न स्वप्रकाशो नासौ शिवो यथा घटपटादिः शिवश्चायं तस्मात् स्वप्रकाश एवेत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ विपक्षे बाधकमाह–शिव इति । जडं सर्वं जगत्तावच्छिवस्वरूपचैतन्यबलादेव प्रतीयते तदपि चैतन्यं प्रतीयमानमेवार्थं प्रत्याययतीत्यङ्गीकार्यम् । दीपादौ तथा दृष्टत्वात् । तच्चेज्ज्ञानान्तरेण प्रतीयेत तदप्येवमिति तस्यापि स्वप्रकाश एष्टव्यः । तथाच तज्ज्ञानान्तरं स्वयं प्रकाशते चेत्प्रथमज्ञानमेव तथा भवतु पराधीनप्रकाशं चेत्किं तत्परं प्रथमज्ञानमेव, तदाऽन्योन्याश्रयादेकमपि न सिध्येत् । अथ तृतीयं ज्ञानान्तरं तस्यापि प्रकाशावश्यंभावाज्ज्ञानान्तरं वक्तव्यं स्यात्तथाऽप्येवमित्यनवस्था मूलक्षयकरी स्यात् । एवं च परशिवस्वरूपस्य स्वप्रकाशतानङ्गीकारे ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वमप्रतिभातं सच्छून्यमेव भवेदित्यर्थः ॥ ५ ॥ सिद्धं नः समीहितमिति यदि शून्यवादी प्रत्यवतिष्ठेत तं प्रत्याह–शून्यसिद्धिरिति । शून्यवादिनाऽपि सर्वशून्यत्वं केनचित्प्रमाणज्ञानेनैव प्रतिपादनीयं न तु शून्येनैव । मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वात् । तथाच तज्ज्ञानस्य सत्त्वात्सर्वशून्यत्वं न सिध्येत् । सर्वप्रकारेणापि प्रतिभानराहित्यस्यैव शून्यलक्षणत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

सब कुछ शून्य रूप हो जाये । (स्वप्रकाश का तात्पर्य उस वस्तु से है जो स्वयं प्रकाश का (ज्ञान का) विषय न बने तथा स्वभिन्न को प्रकाशित कर दे । क्षणिक विज्ञान यद्यपि प्रकाश का विषय नहीं बनता तथापि स्वभिन्न को प्रकाशित भी नहीं करता–क्योंकि क्षणिकविज्ञानातिरिक्त प्रकाश्य विषय है ही नहीं, अतः सिद्धान्ताभिप्रेत स्वप्रकाशता उसमें नहीं है । स्वभिन्न वास्तविक होना चाहिये ऐसी बात नहीं तथा स्वभिन्न को प्रकाशित किया हो इतना ही आवश्यक है, प्रकाशित करता रहे यह जरूरी नहीं । अतः प्रकाशकत्वोपलक्षित होते हुए अप्रकाश्य होना स्वप्रकाश होना है । न्यायरत्नावली के अनुसार तो ऐसी विद्यमान वस्तु जो न ज्ञान का और न संशय आदि का विषय बने, स्वप्रकाश कही जाती है : 'ज्ञानविषयत्वं विनैव संशयादिविषयत्वाऽयोग्य विद्यमानस्वरूपकत्वम्' (पृ. २२९ प्र. द्वा.) । ज्ञानात्मक शिव यदि स्वप्रकाश न हों तो निरन्तर परप्रकाश अपेक्षित होने से मूलहानि करने वाली अनवस्था हो जायेगी और प्राथमिक घट ज्ञान ही अनंत काल तक हो न पायेगा जिससे अन्य कोई व्यवहार होगा नहीं । एवं च जब कुछ ज्ञात न होगा तो अप्रामाणिक होने से कुछ भी वास्तविक नहीं सिद्ध होगा । फलतः कुछ वास्तविक नहीं है ऐसा शून्यवाद स्वीकारना पड़ेगा ।) ॥ ५ ॥ किन्तु शून्य भी स्वयं तो सिद्ध होता नहीं (क्योंकि वैसा होने पर वही स्वप्रकाश शिव

अतः साक्षी शिवः साम्बः स्वप्रकाशैकलक्षणः ।
तेन सर्वमिदं गम्यं गम्यतेऽसौ न गम्यते ॥ ७ ॥
स्वयं ज्योतिरिति प्राह श्रुतिः साध्वी महेश्वरम् ।
तस्य भासा सर्वमिदं विभातीत्यपि चाऽऽह हि ॥ ८ ॥
अतः शिवः सर्वजगद्विभासकः स्वयंप्रकाशः स्वयमेव केवलम् ।
मर्यादितं[1] लिङ्गमिति द्विजर्षभास्तदेव पूज्यं श्रुतिमस्तकस्थितम् ॥ ९ ॥
शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गमन्ये मुनीश्वरा वेदविदो वदन्ति ।
स्वयम्प्रकाशस्य न युज्यते तत् ततश्च शम्भुः स्वयमेव लिङ्गम् ॥ १० ॥
विवेकहीनमर्त्यस्य चित्तवृत्त्याद्यपेक्षया
शिवस्य लिङ्गमित्ययं रवः समस्तजन्तुभिः ।
निगद्यते शिवः स्वतः प्रसिद्ध एव सर्वदा । ततः शिवस्य लिङ्गमित्ययं रवो न सङ्गतः ॥ ११ ॥
स्वत एव प्रगमोऽपि शङ्करो न विभातीव विभाति मायया ।
स्वत एव श्रुतिकोविदाः शिवः स्वकलिङ्गेन निगम्यते स्फुटम् ॥ १२ ॥

एवं सर्वशून्यमतेऽपि ज्ञानसद्भावावश्यंभावात्तस्य च पराधीनप्रकाशत्वाङ्गीकारेऽनवस्थायां ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वाभावेन सर्वजगदान्ध्यप्रसङ्गात्स्वप्रकाशमेव तदित्यङ्गीकर्तव्यम् । घटज्ञानं पटज्ञानमिति नानात्वप्रतीतेरप्युपाधिकृतत्वाददिद्वतीयं स्वप्रकाशचैतन्यमेव परशिवस्वरूपमिति निगमयति–अत इति । तेन स्वप्रकाशपरशिवस्वरूपचैतन्येन सर्वमिदं पराग्भूतं जगद्गम्यते । अतस्तत्स्वरूपं गमकम् । यतः स्वप्रकाशत्वादन्येन न गम्यतेऽतो न गम्यत इत्यर्थः । अयमभिप्रायः । यद्यपि परशिवस्वरूपचैतन्यं स्वप्रकाशं तथाऽप्यनाद्यविद्याविलासवशेनाऽऽवृतमिव भवति । तच्चाऽऽवरणमुपनिषद्वाक्यजनितया परशिवस्वरूपविषयान्तःकरणवृत्त्याऽपनीयते । तस्मिंश्चापनीते तत्तत्त्वं स्वरूपप्रकाशेनैव प्रकाशते न तु घटादिवत्स्वातिरिक्त-चैतन्यमपेक्षते । अतः फलव्याप्यत्वाभावात्स्वयंप्रकाशत्वं वृत्तिव्याप्यत्वसद्भावाच्चोपनिषदेकसमधिगम्यत्वं च न विरुध्यते ॥ ७ ॥ इत्थं स्वप्रकाशत्वं तर्कतो निरूप्य तदनुग्राह्यं स्वप्रकाशत्वगमकं प्रमाणमप्युपन्यस्यति–**स्वयंज्योतिरिति** । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्येतद्वाक्यमित्यर्थः । तथा शिवस्वरूपातिरिक्तस्य सर्वस्य मायापरिकल्पितस्य तदधीनप्रकाशत्वमित्यत्रापि श्रुतिं प्रमाणयति–**तस्य भासा सर्वमिति** । श्रूयते हि– 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति ॥ ८ ॥ शिव एव लिङ्गमिति प्रतिज्ञातं सिद्धमिति निगमयति–**अत इति** । **श्रुतिमस्तकस्थितमिति** । वेदान्तैः प्रतिपादितं सच्चिदानन्दैकरसमद्वितीयं परशिवस्वरूपमित्यर्थः ॥ ९ ॥ स्वयंप्रकाशस्य न युज्यत इति । स्वप्रकाशचैतन्यस्य गमकान्तरनैरपेक्ष्येणावस्थितस्य लिङ्गं गमकमित्येतन्नोपपद्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥ ननु शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गम् इति लोके पूज्यत्वेन प्रसिद्धम्, तत् कथं शिव एव लिङ्गम् ? इत्यत आह–**विवेकेति** । परशिवस्वरूपं विविच्य ज्ञातुमशक्तस्य मर्त्यस्य चित्तवृत्तिम् अपेक्ष्य तदनुसारेणैव शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गमिति लोकव्यपदेशः । विवेकदृष्ट्या तु स्वप्रकाशपरशिवस्वरूपस्य गमकाभावाच्चासौ न युक्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥ ननु विवेकरहितस्यापि परशिवः स्वप्रकाश एव, न हि वस्तु पुरुषविशेषमपेक्ष्य अन्यथा भवति, अतः तच्चित्तानुसारेणापि शिवस्य लिङ्गमित्येतद् न युज्यत इति ? अत आह–**स्वत एवेति** । प्रगमयति प्रकर्षेण सर्वं प्रकाशयतीति प्रगमः । गमयतेः पचाद्यच् । सर्वस्य गमकत्वेन स्वयं प्रकाशमानोऽपि शिवो, 'न भाति, न प्रकाशत' इत्यज्ञानत्वेन मायावशाद् अविवेकिनां न प्रकाशते । अतः तैः मायावद्धदृष्टिभिः अज्ञायमानः स्वयं प्रकाशमानः शिवः स्वरूपावगमकेन अन्येन लिङ्गेन स्पष्टं तैर्ज्ञायत इति भवति विवेकहीन चित्तवृत्त्यपेक्षयैव 'शिवस्य लिङ्गम्' इत्यपि व्यवहार इत्यर्थः ॥ १२ ॥

हो जायेगा) । शून्य का परिचय ही यह है कि उसका कैसा भी भान होता नहीं ॥ ६ ॥ इसलिये स्वप्रकाश साम्ब सदाशिव रूप साक्षी ही हैं जिनसे यह सारा जगत् भासता है जबकि वे किसी के विषय बनते नहीं ॥ ७ ॥ वेद ने महेश्वर को 'स्वयं ज्योति' शब्द से कहा ही है । यह भी बताया है कि उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित है ॥ ८ ॥ वेदान्तप्रसिद्ध इस शिवरूप लिंग का ही मैंने प्रतिपादन किया, वही आप लोगों के लिए पूज्य है ॥ ९ ॥ कुछ लोग 'शिव का लिंग' यह व्याख्या करते हैं किन्तु स्वयंप्रकाश का उनसे अन्य गमक होना संभव नहीं अतः वह व्याख्या मुख्य नहीं है ॥ १० ॥ अविवेकी की बुद्धि मुख्य अर्थ नहीं समझ सकती इसीलिये 'शिव का लिंग' यों प्रारंभ में समझाते हैं लेकिन हमेशा खुद ही प्रकाशमान शिव का उनसे भिन्न लिंग हो यह युक्ति व प्रमाण से विरुद्ध है ॥ ११ ॥ यद्यपि शंकर स्वयं ही सबको प्रकाशित करते हैं तथापि मायावश लगता है मानो वे भास न रहे हों ! हे वेदवेत्ताओ ! शिव स्वयं स्वरूपभूत लिङ्ग रूप से स्पष्ट समझे जाते हैं । (या शिव का समझा जाने वाला लिंग ही आराधना आदि द्वारा शिवस्वरूप के स्पष्ट ज्ञान का उपाय बनता है) ॥ १२ ॥

१ ग. घ. च. छ. ज. मर्यादितो ।

शिवस्य लिङ्गं कथयन्ति केचिद् बहुप्रकारं व्यवहारदृष्ट्या ।
न तत्त्वदृष्ट्या परमेश्वरस्य स्वयंप्रभस्यास्य न चास्ति लिङ्गम् ॥ १३ ॥
वेदान्तवाक्योत्थपरात्मविद्यां शिवस्य लिङ्गं कथयन्ति केचित् ।
विचारजन्यामपि सत्यविद्यां ब्रुवन्ति चान्ये परमस्य लिङ्गम् ॥ १४ ॥
स्मृतिजामितिहासजामिमां परविद्यामपि लिङ्गमीशितुः ।
अतिशुद्धामपि तां पुराणजां प्रवदन्ति श्रुतिवित्तमोत्तमाः ॥ १५ ॥
शिवस्य लिङ्गं कथयन्ति मायां शिवस्य दृश्यां शिववस्तुनिष्ठाम् ।
वदन्ति केचिज्जनचित्तमन्ये[1] त्वहंकृतिं चापि मनश्च बुद्धिम् ॥ १६ ॥

एवं स्वप्रकाशस्यापि शिवस्य मायावशादज्ञायमानस्य गमकानि लिङ्गानि व्यवहारदशायां विद्वद्भिः प्रतिपाद्यन्त इति दर्शयति—शिवस्य लिङ्गमिति । तत्सर्वं व्यवहारदृष्ट्यैव लिङ्गं न तु परमार्थविषयया दृष्ट्या परशिवस्वरूपस्य स्वयंप्रभत्वेन गमकान्तरनिरपेक्षत्वात्स्वयमेव सर्वस्य गमकत्वाच्छिवस्वरूपमेव लिङ्गं न तु शिवस्य लिङ्गं किंचिदित्यर्थः ॥ १३ ॥ तान्येव बहुविधानि लिङ्गानि क्रमेणाऽऽचष्टे—वेदान्तेत्यादिना । वेदान्तवाक्यजनिता या परशिवस्वरूपविषया मनोवृत्तिः सा तत्स्वरूपावरणाविद्यापनयनद्वारा स्वयंप्रकाशस्यापि तस्य व्यवहारदृष्ट्या गमकत्वाल्लिङ्गमित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । विचारजन्यामिति । विचारो मीमांसा सा चात्रोपनिषद्वाक्यनिर्णायकवेदान्तशास्त्रं तत्परिशीलनजन्यामित्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ एवं शास्त्रस्मृतीतिहासपुराणजन्याद्वितीयपरशिवस्वरूपविषया मनोवृत्तयो लिङ्गत्वेनोक्ताः । अथ तत्स्वरूपे परिकल्पितं मायातत्कार्यं सर्वमपि स्वाधिष्ठानस्य परशिवस्वरूपस्य गमकत्वाल्लिङ्गत्वेन व्यवह्रियत इति दर्शयति—शिवस्येति । शिवस्य दृश्यामिति । शिवेन प्रकाश्याम् । शिववस्तुनिष्ठां वस्तुभूते परशिवस्वरूपे समाश्रितामित्यर्थः । ईदृशी माया हि प्रत्यगात्मनः कारणशरीरं तदुपाधिवशादुपहितं प्रत्यग्भूतं परशिवस्वरूपमवगम्यत इति मायाया लिङ्गत्वम् । जनचित्तमिति । जनानां प्राणिनां मायासत्त्वपरिणामरूपमन्तःकरणं तद्वृत्तयोऽहंकारादयः पूर्वोक्तस्वरूपाः ॥ १६ ॥

व्यवहारदृष्टि से ही कुछ विचारक शिव के बहुत तरह के लिंगों का वर्णन करते हैं । यद्यपि स्वयंप्रभ परमेश्वर का वस्तुतः कोई लिंग नहीं है तथापि साधकानुग्रहार्थ विभिन्न लिंगों का वर्णन किया जाता है ॥ १३ ॥ कुछ लोग वेदान्तवाक्यों से उत्पन्न परशिवस्वरूपविषयक वृत्ति को शिव का लिंग (बोधक) बताते हैं । शारीरकीय मीमांसा के परिशीलन से उत्पन्न तादृश वृत्ति को अन्य लोग शिव का लिंग बताते हैं ॥ १४ ॥ स्मृति से, इतिहास से या पुराण से उत्पादित परमेश्वरविषयक अतिशुद्ध वृत्ति को भी शिव का लिंग बताया जाता है ॥ १५ ॥ शिव के द्वारा प्रकाश्य तथा शिव में ही आश्रित माया को शिव का लिंग कुछ विचारक कहते हैं । (माया से मायी का पता चलने से वह उसका लिंग है ।) अन्य विचारक

---

१ तदस्य रूपं प्रतिचक्षणायेति बार्हदारण्यकं वचनमिह मूलमनुसन्धातव्यम् ।

प्राणं च लिङ्गं प्रवदन्ति केचिच्छरीरमन्ये प्रवदन्ति लिङ्गम् ।
त्वगादिखानि प्रवदन्ति केचित्समूहमन्ये परमेश्वरस्य ॥ १७ ॥
शब्दादिभूतानि महेश्वरस्य स्थूलानि भूतानि च संगिरन्ते ।
पाताललोकादि समस्तमेतल्लिङ्गं महेशस्य वदन्ति केचित् ॥ १८ ॥
यदस्ति यन्नास्ति महेश्वरस्य समस्तमेतत्प्रवदन्ति लिङ्गम् ।
विशुद्धविद्याः परयोगिणोऽस्य स्वयंप्रभस्यैव न लिङ्गमूचुः ॥ १९ ॥
यद्यल्लिङ्गतया शिवस्य कथितं तत्तज्जडं वस्तुतो लिङ्गं नैव भवेद्विशुद्धमतयो ज्ञानं हि लिङ्गं भवेत्।
तस्मादेव महेश्वरः परतरस्तत्तज्जडोपाधिकश्चिद्रूपः प्रथितः प्रभोर्गमकमित्यर्थस्थितिः स्वस्य तु ॥ २०॥

प्राणस्य च लिङ्गत्वं श्रुतौ दर्शितम्–'कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इति 'स प्राणमसृजत' इति श्रुतत्वात् । **शरीरमन्य** इति । मनोबुद्धिप्राणादिसमुदायरूपं यत्सूक्ष्मशरीरं तदपि स्वोपहितस्य गमकत्वाल्लिङ्गमित्यर्थः । **त्वगादिखानीति** । त्वगसृङ्मांसाद्या ये सप्त धातवस्तेऽपि प्रत्येकं चेतनस्य गमकत्वाल्लिङ्गम् । **समूहमन्य** इति । त्वगादीनां समुदायरूपं स्थूलशरीरमित्यर्थः ॥ १७ ॥ एवं शरीरत्रयात्मकस्य[1] दृश्यस्य लिङ्गत्वमभिधाय भूतभौतिकस्यापि दृश्यवर्गस्य तल्लिङ्गत्वमाचष्टे–**शब्दादी**त्यादिना । शब्दतन्मात्राद्यात्मकानि सूक्ष्मभूतानि **शब्दादिभूतानि** । **पाताललोकादी**ति । आदिशब्देनान्ये त्रयोदश लोका गृह्यन्ते ॥ १८ ॥ इत्थं व्यवहारदृष्टिमाश्रित्य वादिभिर्बहुधाऽभिधीयमानं लिङ्गजातमभिधाय परमार्थदर्शिनां मतमाह–**विशुद्धविद्या** इति । विशुद्धा संशयविपर्[2]यासादिरहिता वेदान्तमहावाक्यजनिता प्रत्यग्ब्रह्मैक्यविषया विद्या येषां ते तथोक्ताः । अत एव **परयोगिणस्तेऽस्य** परशिवस्य स्वरूपातिरिक्तं किमपि **लिङ्गं न** प्रतिपादयन्ति । अपि[3] तु स्वयमेव लिङ्गं भवतीति ब्रुवते ॥ १९ ॥ किंचोक्तेषु सर्वेष्वपि लिङ्गेषु स्वरूपेण ज्ञायमानस्यैव परशिवस्वरूपगमकत्वात्प्राप्ताप्राप्तविवेकेन सोपाधिकश्चिद्रूपः शिव एव निरुपाधिकस्य स्वस्य गमक इति स्वयमेव लिङ्गमित्येतदेव युक्तमित्याह–**यद्यल्लिङ्गतये**ति । अतीतेन ग्रन्थसंदर्भेण **यद्यज्जडं वस्तु शिवस्य** लिङ्गत्वेनानुक्रान्तं **तत्तद्वस्तुतः** स्वसत्तामात्रेण न लिङ्गम्, अपि तु ज्ञायमानमेव । यतः पण्डिता लोके ज्ञातमेव धूमादिकं लिङ्गमिति ब्रुवते । तस्मात्कारणात्तत्तज्जडाधिष्ठानत्वेन तत्तद्भासकस्तदुपाधिपरिच्छिन्नश्चिद्रूपः शिव एव **प्रभो**र्व्यापकस्यानवच्छिन्नस्य स्वस्वरूपस्य **गमकं** लिङ्गं भवतीत्येवा**र्थस्थिति**र्वस्तुस्थितिः । अतः परशिवः स्वयमेव लिङ्गमित्यस्मिन्नेवार्थे सर्वेषां पर्यवसानमित्यर्थः ॥ २० ॥

जीवों के चित्तों को (अंतःकरणों को) या उनकी अहंकारादिवृत्तियों को शिव का लिंग कहते हैं । ॥ १६ ॥ कुछ आचार्य प्राण को ही शिव का लिंग मानते हैं । अन्यों ने शरीर को ही लिंग कहा है । त्वग् आदि इंद्रियों को तथा इनके समूह को कुछेक ने लिंग माना है ॥ १७ ॥ सूक्ष्म महाभूतों को, स्थूल महाभूतों को तथा पातालादि सब लोकों को अन्यान्य विचारकों ने शिव का लिंग बताया है ॥ १८ ॥ व्यक्त तथा अव्यक्त इस सारे प्रपंच को शिव का लिंग तत्तत् लोगों ने माना है । किंतु अत्यंत शुद्ध विद्या वाले परमार्थदर्शी योगी कहते हैं कि स्वप्रकाश शिव का कोई लिंग नहीं है ॥ १९ ॥ जो कोई भी वस्तु शिव का लिंग समझी जा सकती है वह जड है तथा स्वसत्तामात्र से (केवल है इसलिये) तो लिंग बनती नहीं किंतु ज्ञायमान (जानी जाती हुई) ही लिंग बनती है । उन-उन वस्तुओं का जब हमें ज्ञान होता है तभी वे शिव का बोध कराती हुई उनका लिंग बनती हैं । अतः वस्तुस्थिति तो यह है कि तत्तत् जड वस्तु का प्रकाशक ज्ञानरूप चेतन ही शिव का लिंग है । चेतन स्वयं शिव है । एवं च सोपाधिक शिव ही निरुपाधिक स्वस्वरूप का लिंग होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शिव ही शिव का लिंग है अर्थात् शिव ही लिंग है, तदतिरिक्त कुछ उसका लिंग नहीं ॥ २० ॥ कुछ लोग आलय को (लिंगमूर्ति आदि को) शिव का लिंग मानते हैं । तब भी साक्षात् शंकर ही लिंग सिद्ध होते हैं अन्य शिलाखण्ड आदि नहीं ॥ २१ ॥

---

१ ग. घ. "त्र्यं लि" । २ छ. "पर्ययादि" । ३. छ. किंतु ।

आलयं लिङ्गमित्याहुरपरे वेदवित्तमाः । तदाऽपि शंकरः साक्षाल्लिङ्गं नान्यन्मुनीश्वराः ॥ २१ ॥

आलयो नाम चाऽऽधारः सर्वाधारः शिवः खलु ।

सदा सत्यस्वभावत्वात्सत्य एव शिवः खलु ॥ २२ ॥

चिद्रूपं हि सदा सत्यं नाचिद्रूपं कथंचन । असत्यत्वस्य दृष्टत्वादचिद्रूपस्य वस्तुनः ॥ २३ ॥

एवं गमकं लिङ्गमिति पक्षे शिवस्वरूपस्यैव सर्वगमकत्वाल्लिङ्गत्वमुपपाद्य मतान्तरेऽपि तथात्वमुपपादयितुमनुभाषते–**आलयमिति** । स्वस्वरूपस्य शिवस्य ध्यानपूजाद्यर्थं लिङ्गप्रतिमादिकं यदालम्बनं तल्लिङ्गमित्यर्थः । तस्मिन्नपि मते शिव एव लिङ्गमित्ययमेवार्थः पर्यवस्यतीत्याह–**तदाऽपीति** ॥ २१ ॥ तदेवमुपपादयितुमालयशब्दार्थमाह–**आलयो नामेति** । आधारोऽधिकरणमधिष्ठानमिति यावत् । तच्चाऽऽधारत्वं निरूप्यमाणे परशिवस्यैव घटते नान्यस्येत्युपपादयति–**सर्वाधार इति** । सच्चिदानन्दलक्षणेऽद्वितीये परशिवस्वरूपे हि मायावशाद्भूतभौतिकात्मकं सर्वं जगत्परिकल्पितमित्याधारत्वं शिवस्यैव पारमार्थिकं न तु मायाकार्यस्यान्यस्येत्यर्थः । कुत इत्यत आह–**सदेति** । सत्यरूपं हि वस्तुनि शुक्तिकाशकलादौ मायामयरजतादिकं परिकल्पितं दृष्टं, शिवश्च सत्यस्वभावः, अतस्तत्स्वरूपे मिथ्याभूतस्य [1]दृश्यप्रपञ्चस्य परिकल्पितत्वमङ्गीकार्यमिति भवत्यस्य सर्वाधारत्वमित्यर्थः । भवेदेवं यद्यसौ शिवः सत्यः स्यात्, सत्तायोगि हि सत्यं, निर्धर्मकस्य सत्तासंबन्धलक्षणधर्माङ्गीकारानुपपत्तेरित्यत आह–**सत्य एवेति** ॥ २२ ॥ यदि घटपटादेरपि सत्तायोगात्सत्त्वमङ्गी कुर्मस्तदा स्यादयमप्यु[2]पालम्भः । सद्रूपे ब्रह्मणि परिकल्पितत्वादधिष्ठानसत्त्वमेवाऽऽरोप्येषु प्रतीयते, स[3]र्पधारादौ रज्ज्वा इदमंशवत् । अस्त्वेवमारोप्येषु सत्त्वप्रतीतिः; अधिष्ठानभूतस्य निर्धर्मकस्य ब्रह्मणः कथं सत्यत्वम् ? सर्वदा बाधवैधुर्यादिति ब्रूमः । तदपि कुत इत्यत आह–**चिद्रूपं हीति** । नानाविधेषु चेत्यरूपेषु व्यावर्तमानेषु तद्भावाभावसाक्षितयाऽनुवर्तमानं चिद्रूपमेव सत्यं जडरूपं तु मायामयत्वादनृतमतश्चिद्रूपत्वाच्छिवः[4] सत्यः । ननु जडस्यापि सत्यत्वं कस्मान्न भवतीत्यत आह–**असत्यत्वस्येति** ॥ २३ ॥

आलय कहते हैं आधार को । (मूर्ति को भी आलय इसलिये कहते हैं कि उसमें शिव का आवाहन आदि किया जाता है अतः वह उनका आधार बनती है ।) सबका आधार तो शिव ही है । सदा सत्य स्वभाव वाला होने से शिवस्वरूप ही सबका आधार है । शिव ही एकमात्र सत्यरूप है । (मूर्ति भी सत्ता में टिकी है। अतः उसका भी आधार शिव ही है ।) ॥ २२ ॥ सदा सत्य रहने वाली चेतनवस्तु ही है, जड नहीं क्योंकि जड वस्तु की असत्यता देखी गयी है । (जिसका जिस रूप से प्रमाणतः निर्णय हो जाये वह उस रूप को कभी न छोड़े तभी उस वस्तु को सत्य कहते हैं । जड वस्तुओं का है रूप से प्रामाणिक निश्चय होने पर भी कालान्तर में वे उस रूप का परित्याग कर 'नहीं है' रूप की हो जाती हैं अतः असत्य हैं ।) ॥ २३ ॥ सीप में दीखने वाली जड चाँदी असत्य

---

१ छ. जडप्रपञ्चस्य । २ ख. ङ. च. "प्युपल" । ३ ग. सर्पाधारादौ । ४ ख. "च्छिव एव स" ।

शुक्तिकारजतादीनामसत्यत्वं हि संमतम् । अचेतनानामन्येषामसत्यत्वे निदर्शनम् ॥ २४ ॥

शुक्तिकारजतं[1], विप्राः सत्य एव ततः शिवः ।

अतः कल्पितरूपाणामाधारो भगवाञ्शिवः ॥ २५ ॥

अनाधारो महादेवः सत्यचैतन्यलक्षणः । सर्वाधारस्य नाऽऽधारो विद्यते हि द्विजोत्तमाः ।

आकाशस्य यथा कश्चिन्नाऽऽधारो विद्यते द्विजाः ॥ २६ ॥

जडस्यासत्यत्वं कुत्र दृष्टमित्यत आह–**शुक्तिके**ति । शुक्तिरज्ज्वाद्यधिष्ठानेषु ये रजतसर्पादय आरोप्या जडास्तेषामसत्यत्वं तावदुभयवादिसंमतमित्यर्थः । अस्त्वेवमसत्येव प्रमातरि वाध्यमानत्वात्; सति प्रमातर्यवाध्यमानानां घटपटादीनां तु कुतोऽसत्यत्वमित्यत आह–**अचेतनाना**मिति । अचेतनत्वाच्छुक्तिरूप्यवदित्येतद्दृष्टान्तवलेन सर्वस्याप्यसत्यत्वं सेत्स्यतीत्यर्थः । एवं मायापरिकल्पितस्य दृश्यप्रपञ्चस्य व्यावहारिकसत्यत्वे सत्यपि 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादिका श्रुतिरपि पारमार्थिकसत्यत्वं निवारयति । तस्मात्परशिव एव परमार्थतः सत्यः । इत्थं परशिवस्य सत्यत्वं तदतिरिक्तस्यासत्यत्वं चोपपाद्योक्तं सर्वाधारत्वं निगमयति–**अत** इति ॥ २४-२५ ॥ ननु यथा [2]रजताद्यधिष्टानस्य शुक्तिशकलादेरप्यन्यद्भूम्यादिकमधिकरणं दृश्यत एवं मायापरिकल्पितजगदधिष्ठानस्यापि शिवस्यान्यदधिष्ठानं किं न स्यादित्यत आह–**अनाधार** इति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति हि परशिवस्य स्वरूपलक्षणम् । प्रत्यस्तमितसकलविशेषं तत्स्वरूपं सर्वथा वाधरहितत्वात्सत्यमित्युच्यते; स्वपरव्यवहारे तु प्रकाशत्वाज्ज्ञानम्[3] । ईदृग्रूपो यः परशिवः स महादेवः । ब्रह्मविष्ण्वादीनां सोपाधिकानां परिच्छिन्नत्वादस्य च तथाविधोपाधिपरिच्छेदाभावान्महत्त्वम् । ईदृग्विधस्य तस्याऽऽधारान्तरं नोपपद्यत इत्यर्थः । एतदेव सदृष्टान्तमुपपादयति–**सर्वाधारस्ये**ति । सर्वाधारो हि परशिवः स्वातिरिक्तस्य सर्वस्य मायया तत्स्वरूपे परिकल्पितत्वात्तस्य चाधिष्टानादन्यत्रासंभवादधिष्टानभूतस्य सर्वगतस्य परशिवस्याऽऽकाशस्येवाधिष्ठानान्तरं नोपपद्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

देखी गयी है । जडता सामान्य से अन्य सभी जड वस्तुओं को असत्य समझा जा सकता है ॥ २४ ॥ अतः शिव ही सत्य होने से सब कल्पित रूपों का वही आधार हो सकता है ॥ २५ ॥ स्वयं श्रीमहेश्वर निराधार हैं—उनका कोई आधार नहीं । जैसे सब चीजें किसी न किसी जगह में—आकाश में—रहती हैं किन्तु जगह कहाँ रहती है ? अनवस्थादि से बचने के लिए यही स्वीकारना पड़ता है कि जगह कहीं—किसी में—नहीं रहती । ऐसे ही सबके आधार महादेव हैं । आगे उनका आधार क्या हो ? वह भी तो सब में आ गया अतः उसका तो आधार स्वयं शिव हैं ।

१ शुक्तिकारजतमन्येषामचेतनानामसत्यत्वे निदर्शनं दृष्टान्त इति पूर्वेण सम्बन्धः । २ ग. रज्ज्वाद्य" । ३ ङ. च. छ. "ज्ज्ञातम् ।

व्यावर्तयति चाऽऽधारं शिवस्य परमात्मनः ॥ २७ ॥
स्वे महिम्नीति वेदान्तः सत्यवादी स्वतः प्रमा ।
वेदान्तवाक्यं मानानामतिमानमिति स्थितिः ॥ २८ ॥
अतः सत्यचिदानन्दलक्षणः परमेश्वरः । स्वयमेव सदा लिङ्गं न लिङ्गं तस्य विद्यते ॥ २९ ॥
संसारार्णवमग्नानामज्ञानान्धीकृतात्मनाम् । चित्तपाकानुगुण्येन भावनार्थं द्विजर्षभाः ॥ ३० ॥
अनाधारस्य देवस्य शिवस्य परमात्मनः । आधारो मन्त्रसंस्कारात्कल्पितः सत्यवद् बुधाः ॥ ३१ ॥

एवं परशिवस्याऽऽधारान्तरराहित्यं प्रतिपाद्य तत्र श्रुतिं प्रमाणयति–**व्यावर्तयतीति** । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इत्यादिकः स वेदान्तस्तस्य चार्थान्यथात्वशङ्कां निवर्तयति–**सत्यवादीति** । सत्यमबाधितं तत्स्वरूपं वदितुं शीलमस्येति तथोक्तः । ननु श्रुतिजन्यज्ञानमपि स्वार्थनिश्चयाय प्रमाणान्तरसंवादमपेक्षतेऽतः सापेक्षत्वादप्रामाण्यमित्यत आह–**स्वतःप्रमेति** । श्रुतिजन्या धीः स्वत एव प्रमा । अपौरुषेये वेदे पुरुषबुद्धिप्रभवाणां दोषाणामसंभवेन तज्जन्यप्रमाया विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वलक्षणस्य स्वतःप्रामाण्यस्य विद्यमानत्वात् । अबाधितार्थविषयत्वादपि वेदान्तस्यैव तत्त्वावेदकलक्षणं प्रामाण्यमित्याह–**वेदान्तेति** । उक्तं हि 'प्रत्यक्षादिप्रमाणानां प्रामाण्यं व्यावहारिकम् । आर्थित्वायं प्रपञ्चः स्यादलीकोऽपि प्रमाणवान् ॥ अद्वैतागमवाक्यं तु तत्त्वावेदनलक्षणम् । प्रमाणभावं भजतां बाधवैधुर्यहेतुनः' इति ॥ २७-२८ ॥ शिवः स्वयमेव लिङ्गमिति यत्प्रतिज्ञातं तत्सुर्थामत्युपसंहरति–**अत** इति । उक्तरीत्या सदानन्दरूपः परशिव एव सर्वस्याऽऽधार इति स एव लिङ्गमित्यर्थः ॥ २९ ॥ नन्वेवं ध्यानपूजार्थं शिवस्याऽऽधारतया प्रतिष्ठादिसंस्कारैः संस्कृतं बाणलिङ्गादिकं न पूजनीयमेवेत्यत आह–**संसारेति** । **अज्ञानान्धीकृतात्मनामिति** । अज्ञानं मूलाविद्या तया कलुषीकृतचित्तानामित्यर्थः । उक्तलक्षणाद्वितीयपरशिवस्वरूपज्ञानरहितानां संसारिणां तच्चित्तपरिपाकानुसारेण प्रतिबन्धकपापक्षयार्थं ध्यानपूजादिकं कर्तव्यम् । अतस्तदर्थं निराधारस्यापि परशिवस्य बाणलिङ्गादिलक्षण आधारः[1] प्रासादपञ्चब्रह्मादिमन्त्रयुक्तसंस्कारैः प्रतिष्ठाद्यात्मकैः परमार्थवदागमैः परिकल्पित इत्यर्थः । अतः पूर्वोक्तपरशिवस्वरूपज्ञानवतां शिवस्वरूपमेव लिङ्गं तदनुसंधानमेव तस्य यजनम् । तद्रहितानां तु मृच्छिला[2]दिकृतं शिवस्याऽऽधारत्वेन परिकल्पितं बाह्यलिङ्गं पूजनीयमित्यर्थः । तदुक्तमागमिकैः– 'यतीनां योगिनां चैव बाह्योपरतिसक्तिषु । अन्तर्यागस्तु विहितो बाह्यपूजापरेषु च' ॥ अन्यत्रापि ज्ञानमधिकृत्योक्तम्– 'सर्वमन्यत्परित्यज्य चित्तमत्र निवेशय । मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत्' इति ॥ ३०-३१ ॥

इसलिये शिव का कोई आधार नहीं ॥ २६ ॥ श्रुति यह कहकर कि यदि परमेश्वर का कोई आधार बताना ही हो तो उसका स्वरूप ही उसका आधार है यही बताया जा सकता है, यह स्पष्ट करती है कि शिव का शिव से अतिरिक्त कोई आधार नहीं है । श्रुति सत्य का ही स्थापन करने वाली और स्वतः प्रमाण है । उसमें भी उपनिषद्-वाक्य सर्वप्रबल प्रमाण हैं ॥ २७-२८ ॥ अतः सच्चिदानंद परमेश्वर स्वयं ही लिंग हैं, अन्य कोई लिंग उनका नहीं है ॥ २९ ॥ संसार समुद्र में डूबते लोगों की मनोवस्था के अनुसार ध्यानादि के लिये निराधार महादेव के भी आधारों की कल्पना की गयी है । उन आधारों को मंत्रादि से संस्कृत कर उन्हें शिव का आलय या आधार समझा जाता है जिससे उसके द्वारा शिव को समझने का

---

१ ग. छ. ज. °रः प्रसा° । २ ख. छ. ज. °दिमयं शि° ।

लयनाल्लिङ्गमित्याहुरपरे वेदवित्तमाः । तदाऽपि लिङ्गं भगवान्स्वयमेव महेश्वरः ॥ ३२ ॥
लीयमानमिदं सर्वं ब्रह्मण्येव हि लीयते । न लीयते परं ब्रह्म सदा सत्यस्वभावतः ॥ ३३ ॥
शुक्तिकारजतादीनामसत्यानां द्विजर्षभाः ।
लयो दृष्टो न सत्यस्य शुक्तिकाशकलस्य च ॥ ३४ ॥
लीयते हि शिवादन्यदशेषमशिवं शिवे ।
अतो लिङ्गं द्विजश्रेष्ठा अविनाशी हरः[1] स्वयम् ॥ ३५ ॥
अन्ये च योगिनो विप्रा आमनन्ति शिवस्य तु ।
आधारेषु शरीरेऽस्मिंल्लिँङ्गानि परमात्मनः ॥ ३६ ॥

एवं तावल्लिगि गत्यर्थ इत्यस्माद्धातोर्णिजन्तात्पचाद्यचि लिङ्गयति गमयतीति लिङ्गमिति व्युत्पादयतां मते परशिवस्यैव लिङ्गत्तामुक्त्वा लीयतेऽस्मिंल्लिँङ्गमिति लीङ् संश्लेषण इत्यस्माद्धातोर्व्युत्पादयतामपि मते तथात्वमाह—लयनादिति ॥ ३२ ॥ तत्र हेतुः— लीयमानमिति । 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतेः । यथाऽन्यद् ब्रह्मणि लीयत इति ब्रह्म लिङ्गमेव । ब्रह्म यत्र यत्र लीयते तदपि कुतो न तल्लिङ्गमिति भ्रमं वारयति—न लीयत इति ॥ ३३-३४ ॥ शुक्तिकाशकल इव लयो न दृष्टश्चेत्सोऽपि तर्हि ब्रह्मवत्परं लिङ्गमित्यत आह—लीयते हीति । व्यवहारदशायां कल्पितं रजतं यथा ज्ञानेन शुक्तिकाशकले लीयते नैवं शुक्तिकाशकलमन्यत्र, तत्त्वदृष्ट्या तु शुक्त्यादिशकलं ब्रह्मण्येव लीयते, न ब्रह्मान्यत्रेति ब्रह्मैव लिङ्गमित्यर्थः ॥ ३५ ॥ विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वाधिष्ठानत्वेन वा परशिव एव मुख्यं लिङ्गमित्युक्तं, तस्य परशिवस्योपासनार्थमौपाधिकानि रूपाणि श्रुत्यनुसारादागमानुसाराद्वा लिङ्गतया व्यवहरतां मतमाह—अन्ये चेति । मूलाधारो मणिपूरकोऽनाहत आज्ञा द्वादशान्तः षोडशान्तश्चेत्यस्मिञ्शरीरे षडाधाराः शिवस्योपासनास्थानानि । अष्टवितस्तिपरिमितस्य शरीरस्य वितस्तिचतुष्टयानन्तरं मूलाधारस्तत्र गुणसामान्योपाधिकं परतत्त्वं लिङ्गमुपासनीयम् । नाभौ मणिपूरकस्तत्र तदेव परतत्त्वं जगत्सर्गव्यापारं ब्रह्मसंज्ञितं लिङ्गमुपासनीयम् । हृदयेऽनाहतं तत्र सत्त्वगुणोपाधिकं तदेव तत्त्वं जगत्पालनव्यापारं विष्णुसंज्ञितम् । भ्रूमध्य आज्ञा तत्र तमोगुणोपाधिकं तदेव तत्त्वं संहारव्यापारं रुद्रसंज्ञितम् । ब्रह्मरन्ध्रे द्वादशान्ते तदेव तत्त्वं साक्षिरूपम् । ततः पश्चाच्चतुरङ्गुलानन्तरं षोडशान्तं तदेव तत्त्वं स्वप्रतिष्ठं लिङ्गरूपमुपासनीयमिति । उक्तमुत्तरतापनीयोपनिषदि—'मूलाग्नावग्निरूपं प्रणवं संदध्यात्' इत्यादि 'लिङ्गरूपानेव च संपूज्य' इत्यन्तम् । अतस्तामुपनिषदमनुसरन्तस्तच्छायानुसारिण आगमाननुसरन्तश्च योगिनोऽस्मिञ्शरीर उक्तेष्वाधारेषु यथोदीरितलिङ्गान्यामनन्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

प्रयास तथा पूजा आदि साधनों का अनुष्टान किया जा सके ॥ ३०--३१ ॥

अन्य विचारक कहते हैं कि सब कुछ जिसमें लीन होता है वह लिंग है । इस अर्थ में भी शिव ही लिंग हैं क्योंकि सारा प्रपंच उन्हीं में लीन होता है ॥ ३२ ॥ लीन होता हुआ सारा जगत् परब्रह्म में बिलीन होता है । परब्रह्म क्योंकि सत्य स्वभाव वाला है, इसलिये कभी लीन नहीं होता ॥ ३३ ॥ शुक्तिका में कल्पित रजत का ही लय देखा गया है, सत्य शुक्ति का तो लय व्यावहारिक रूप में देखा नहीं गया । अतः अधिष्ठान का कहीं लय नहीं होता ॥ ३४ ॥ शिव से भिन्न जो कुछ भी अशिव है वह सब शिव में लीन होता है, अतः अविनाशी हर ही अपना लिंग स्वयं ही हैं ॥ ३५ ॥

कुछ अन्य योगी लोग इस शरीर में ही कुछ स्थानों पर शिव के लिंग हैं ऐसा मानते हैं ॥ ३६ ॥

---

१ ख. शिवः ।

अधोमुखमनाद्यन्तमपिण्डं पिण्डसंज्ञितम् । ज्वलत्कालानलप्रख्यं स्वयंभु ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ ३७ ॥
मध्यमस्थं महामन्त्रैरर्चनीयं तु योगिभिः । गुरूपदेशतो ज्ञेयं लिङ्गमेकं प्रकीर्तितम् ॥ ३८ ॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशं कोमलं द्विजपुंगवाः ॥ ३९ ॥
अपदं पदमव्यक्तमबाणं बाणमद्भुतम् । तृतीयस्थं सदैवोर्ध्वमुखं संसारनाशकम् ॥ ४० ॥

मणिपूरक उपासनीयस्य ब्रह्मलिङ्गस्य स्वरूपमाह–अधोमुखमिति । यदनाद्यन्तं स्वयंभु स्वप्रतिष्ठमपिण्डमशरीरं ब्रह्मसंज्ञितं परं तत्त्वं तदेव पिण्डसंज्ञितं पिण्डेन स्थूलशरीरेण समष्टिरूपेणोपाधिना संबन्धात्प्राप्तप्राजापत्यादिनामकम् । संज्ञा जाता अस्येति संज्ञितम् । तारकादित्यादितच् । अत एवोपाधिसंबन्धाज्ज्वलत्कालानलप्रख्यं सुवर्णवर्णम् । अधोमुखं स्रष्टव्यजगल्लक्षणकार्याभिमुखम् । कारणकार्ययोरूर्ध्वाधःशब्दौ प्रसिद्धौ गीतासु–'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' इति ॥ ३७ ॥ मध्यमस्थमुदरमध्ये हि नाभिस्थाने स्थितं मणिपूरकं चक्रं मध्यमं तत्र स्थितमित्यर्थः । महामन्त्रैः । प्रणवप्रथमावयवभूतोऽकार एको महामन्त्रः । स ह्येकाक्षरमात्रत्वेन परिमाणतोऽल्पोऽपि परापरपुरुषार्थप्राप्तिसाधनत्वेन फलतो महत्त्वान्महामन्त्रः । श्रूयते ह्यकारस्य महाफलत्वम् 'जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा । आप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद' इति । प्रणवसमानार्थस्य हृल्लेखाप्रणवस्य प्रथमावयवो हकारोऽप्यकारसमानरीत्या द्वितीयो महामन्त्रः । अपरे बहवो मन्त्रा उत्तरतापनीयोपनिषद्भाष्ये प्रपञ्चिताः । अकारादिमन्त्राणां ब्रह्मात्मकता च श्रुत्यैवोक्ता–'अकारं ब्रह्माणं नाभौ । उकारं विष्णुं हृदये । मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये । ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते' इति । बाह्योपकरणनिरपेक्ष-मनोमात्रसाधन उक्तलिङ्गार्चने योगिनामेवाधिकार इत्याशयेनोक्तं योगिभिरिति । ब्रह्मलिङ्गस्य सरस्वतीशक्तिसाहित्यं परिवारान्महामन्त्रांश्च सांप्रदायिकानाभिसंधायोक्तं गुरूपदेशत इति ॥ ३८ ॥

जगद्रूप कार्य की उत्पत्ति के लिये अभिमुख अनादि अनंत परमात्मा, जो निर्देह होने पर भी ब्रह्माण्डसम्बन्ध से प्रजापति आदि नाम पा जाते हैं, वे ब्रह्म नामक स्वप्रतिष्ठ महादेव उदरस्थित मणिपूर चक्र में स्वर्ण वर्ण के होकर स्थित हैं । योगियों को चाहिये कि श्रेष्ठमंत्रों से उनकी अर्चना करें । इसके बारे में अन्य जानकारी गुरु से प्राप्त करनी चाहिये । यह एक लिंग है ॥ ३७–३८ ॥ अन्य लिंग तीसरे अर्थात् अनाहत चक्र में स्थित है । यह करोड़ों सूर्यों की चमक वाला किन्तु शीतल है । सूक्ष्म व स्थूल शरीर वाले न होने पर भी इन्द्रियातीत परमात्मा ने यह शरीर (इस लिंग का रूप) धारण किया है यह आश्चर्य है । क्योंकि यह लिंग कारण परमात्मा के स्वरूप का बोधक है इसलिये संसार को निवृत्त करता है । इसकी अर्चना भी महामंत्रों से योगियों को करनी चाहिये । इसकी विशेषतायें गुरु से जाननी चाहिये ॥ ३९–४१ ॥

---

१ ख. शिवः ।

अर्चनीयं महामन्त्रैरात्मनिष्ठैस्तु योगिभिः । गुरूपदेशतो ज्ञेयं द्वितीयं लिङ्गमीरितम् ॥ ४१ ॥

चन्द्रकोटिप्रतीकाशं शांकरं शक्तिवल्लभम् ॥ ४२ ॥

अरूपं[1] रूपमव्यक्तमपरं परमाद्भुतम् । विसर्गाधिष्ठितं विश्वं[2] विश्वविज्ञानसाधकम् ॥ ४३ ॥

अर्चनीयं महामन्त्रैरतिशुद्धैस्तु योगिभिः । गुरूपदेशतो ज्ञेयं तृतीयं लिङ्गमीरितम् ॥ ४४ ॥

अथ हृदयस्थेऽनाहत उपास्यस्यापि द्वितीयस्य विष्णुलिङ्गस्य स्वरूपमाह–कोटिसूर्येति । आत्मा नानायोनिषु कर्मफलभोगाय पद्यते गच्छत्यनेन करणेनेति पदं लिङ्गशरीरम् । श्रूयते हि–'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इति । तेन पदेन रहितं परं तत्त्वम् । बाणमिति स्थूलशरीरम् । तथा हि प्रश्नोपनिषदि वागादीन्प्रति मुख्यस्य प्राणस्य वाक्यम्–'मा मोहमापद्यथा-हमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति । तेन स्थूलशरीरेण रहितमबाणम् । श्रूयते हि पदस्य शरीरद्वयराहित्यं काठके–'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इति । अत एव सकलकरणागोचरत्वादव्यक्तम् । तथाऽप्युपासनाय पदं बाणं सूक्ष्मस्थूलशरीरद्वयात्मकम् । अशरीरस्यैव शरीरद्वयात्मकत्वादद्भुतम् । **कोटिसूर्यप्रतीकाशं कोमलम्** । यतो रूपेणैवात्र सूर्यसादृश्यं न स्पर्शेनातः कोमलता । तृतीयमनाहतम् । यद्यप्युक्तमणिपूरकापेक्षया तदनाहतं द्वितीयं तथाऽपि मूलाधारापेक्षया तस्य तृतीयत्वमुक्तम् । मूलाधारेऽपि हि गुणसामान्योपाधिविशिष्टं परं तत्त्वं लिङ्गमुपास्यत्वेनोक्तमुत्तरतापनीये । इह चानाहतस्य तृतीयत्वाभिधानेन मूलाधारलिङ्गस्यापि संग्रहः सूचितः । यद्यपि तदपेक्षया विष्णुलिङ्गं तृतीयं तथाऽपि तस्येह साक्षा[3]दनुपन्यासादुपन्यस्तब्रह्मलिङ्गापेक्षया द्वितीयत्वमुक्तम् । एतच्च विष्णुलिङ्गमुपासकस्य मोक्षप्रदम् । यदाहुः–'मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्' इति । तदुक्तं संसारनाशकमिति । तथात्वं च प्रागुक्तकारणा-भिमुख्यात्तदाह–ऊर्ध्वमुखमिति । **महामन्त्रैरिति** । प्रणवद्वितीयमात्रोकारोऽत्र महामन्त्रः । अस्यापि हि महाफलत्वं श्रूयते 'स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीय मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद' इति । हृल्लेखाद्वितीयाक्षरं रेफो द्वितीयो महामन्त्रः । पूर्ववदन्ये महामन्त्राः । अत्र गुरूपदेशत इति लक्ष्मीसाहित्यं परिवारयोगश्च ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

विसर्ग अर्थात् भ्रूमध्य में (आज्ञाचक्र में) स्थित एक और लिंग है । यह करोड़ों चंद्रों की तरह चमकदार है । उमाशक्ति सहित शंकर का यह लिंग है । वस्तुतः नीरूप होते हुए भी कृपा कर यह रूप महादेव ने लिया है । वे कभी व्यक्त नहीं होते किंतु भक्तों पर अनुग्रह कर व्यक्त हुए से प्रतीत हो जाते हैं । उनसे श्रेष्ठ कोई नहीं, वे ही सबसे श्रेष्ठ हैं । उनका वास्तव और प्रातीतिक रूप इतना भिन्न है, यह अद्भुतता है । यह सर्वात्मक रुद्र का वह लिंग है जो शिवज्ञान देता है । अतिशुद्ध योगियों को चाहिये कि महामंत्रों

---

१ ग. ङ. च. छ. ज. °रूपरू° । २ ङ. विश्वविज्ञानं ज्ञा° । ३ ग. ङ. च. छ. ज. °क्षात्तदुप° । घ. क्षादुपं° ।

एतेषु लिङ्गेषु शिवः पुराणः स्वशक्तियुक्तः स्वजनप्रियाय ।
प्रकाशते संततमात्मविद्याप्लवाभिलाषैरभिपूजनीयः ॥ ४५ ॥
अन्तर्लिङ्गं यो विजानाति शश्वद्बन्धच्छेदं शंकरस्य प्रसादात् ।
कुर्यादाशु ब्रह्मविद्ब्रह्मनिष्ठाः सत्यं प्रोक्तं सर्वलोकप्रियाय ॥ ४६ ॥
निस्तरङ्गशिवे परमात्मनि प्रत्ययस्य लयः परयोगिणः ।
मुख्यमर्चनमित्यभिपद्यते पुष्पतोयफलप्रमुखाः कृशाः ॥ ४७ ॥
मन्त्रेण पूजा मतिमत्तमानामबोधमूलस्य महाद्रुमस्य ।
संसारसंज्ञस्य मुनीन्द्रमुख्या नालं सदा मूलविमूलनाय ॥ ४८ ॥

अथ भ्रूमध्य आज्ञायामुपास्यस्य रुद्रलिङ्गस्य स्वरूपमाह–चन्द्रकोटीति । शिवस्य वास्तवस्वरूपं हि सर्वा[1]तिशयित्वात्परम्[2] । 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इति श्रुतत्वेन रूपादिविरहादरूपम् । अत एवाव्यक्तं सदपि रूपमुपासकानुग्रहेण स्वीकृतदिव्यावतारं सगुणं ब्रह्म । अरूपस्य परस्यैव रूपत्वापरत्वसत्त्वादद्भुतत्वम् । किं तदुपासनीयं रूपमिति तदाह–चन्द्रकोटिप्रतीकाशमिति । आज्ञायामुपासनीयस्य रुद्रात्मकतामाह–शांकरमिति । उमाशक्तिसाहित्यं शक्तिवल्लभमिति । विसर्गाधिष्ठितमिति । सर्गः संसारश्च व्यपयात्यस्मिन्स्थान इति विसर्गः । अविमुक्तोपासनेन संसारनिवृत्तिर्जाबालोपनिषदादिषु प्रसिद्धा तस्मिन्विसर्गे भ्रूमध्येऽधिष्ठितम् । विश्वं सर्वात्मकम् । 'सर्वो वै रुद्रः' इति श्रुतेः । विश्वविज्ञानसाधकं तमेव विश्वात्मकं रुद्रं गोचरयति यज्ज्ञानं तद्विश्वविज्ञानं तत्साधयतीदं लिङ्गम् 'ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेत्' इति श्रुतेः । महामन्त्रैरिति । प्रणवस्य तृतीया मात्रा मकार एको महामन्त्रः । तस्यापि महाफलत्वं श्रूयते–'सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद' इति । हृल्लेखातृतीयाक्षरमोंकारो द्वितीयो[3] महामन्त्रः । अन्येऽपि बहवो महामन्त्राः पूर्ववत्तत्रैव द्रष्टव्याः । तृतीयस्य पदसूचितस्य मूलाधारस्थस्य गुणसामान्योपाधिकलिङ्गस्य तु कृत्स्नः प्रणव एको महामन्त्रः । तस्य च महाफलत्वम् । श्रूयते हि–'एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽमानं य एवं वेद' इति । द्वितीयः सर्वो हृल्लेखामन्त्रः । अन्ये तु पूर्ववत् ॥ ४२–४४ ॥ उक्तलिङ्गोपासनस्य फलमाह–एतेष्विति । उक्तरूपः शिव एतेषु प्रकाशत इति कृत्वा संसारसागरोत्तरणायाऽऽत्मविद्यालक्षणं प्लवमपेक्षमाणैः पूजनीय इत्यर्थः ॥ ४५ ॥ उक्ततत्तल्लिङ्गपूजनाद् ब्रह्मविद्भूत्वा बन्धच्छेदं करोत्यतस्तत्कर्तव्यमित्याह–अन्तर्लिङ्गमिति ॥ ४६–४८ ॥

से इसकी अर्चना करें और गुरु के उपदेश से इसके बारे में समझें ॥ ४२–४४ ॥ जो लोग सदा आत्मज्ञान के इच्छुक हैं उन्हें इन लिंगों में सनातन शिव की पूजा करनी चाहिये । अपनी शक्ति उमादेवी समेत महादेव अपने प्रिय भक्तों पर प्रसन्न होकर उनके सम्मुख आविर्भूत हो जाते हैं ॥ ४५ ॥ शरीर के अंदर स्थित लिंगों की जो उपासना करता है वह शिवकृपा से अनादिकाल से स्थित संसार-बंधन को काट देता है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता बन जाता है । सब लोगों के कल्याण के लिये यह सच्ची बात शास्त्र में बतायी है ॥ ४६ ॥ निर्विशेष परमात्मा शिव के रहते बुद्धिवृत्ति का विलीन हो जाना श्रेष्ठ योगी द्वारा किया मुख्य अर्चन है । फूल, जल, फल आदि तो तुच्छ वस्तुएँ हैं । (इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का अभिप्राय समझने

---

१ घ. ङ. ज. °तिशायि° । २ 'परमद्भुतम्' इति टीकासंमतः पाठः । ३ तृतीय इत्यर्थः ।

ज्ञानमेव शिवार्चनमिष्यते स्थूलमेव बहिर्भजनं नृणाम् ।

वेद एव सदा मितिकारणं बोध एव परमं पदमास्तिकाः ॥ ४९ ॥

गुह्यमेव तु वः कथितं मया मह्यमाह महेश्वरवल्लभः ।

व्यास आमरणान्तिकमास्तिकाः पूजयध्वमसत्यनिवृत्तये ॥ ५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवलिङ्गस्वरूपकथनं नामाष्टाविंशोध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि शिवस्थानं समासतः ।

यत्र संचिन्त्य देवेशं कैवल्यं लभते नरः ॥ १ ॥

पुरा नारायणः श्रीमान्किरीटी गरुडध्वजः । श्रीमत्कैलासपर्यन्ते ततापं परमं तपः ॥ २ ॥

भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गस्त्रिपुण्ड्राङ्कितमस्तकः । रुद्राक्षमालाभरणो जटावल्कलसंयुतः ॥ ३ ॥

ज्ञानमेवेति । मानसोपासनाज्ज्ञानरूपमर्चनं प्रशस्तम् । केवलविशुद्धसत्त्वस्य सकलवेदसारः प्रणवस्तत्साक्षात्कारलक्षणस्य बोधस्य हेतुरित्यर्थः ॥ ४९–५० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवलिङ्गस्वरूपकथनं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

उक्तलिङ्गोपासकानां प्रतिवन्धक[1]पापकलापनिरासने सत्त्वशोधने चोपकारकाणि स्थानानि वक्तुं प्रतिजानीते—अथात इति ॥ १ ॥

के लिए गीताभाष्य (१८.५०) दर्शनीय है ।) ॥ ४७ ॥ अज्ञान जिसका मूल है उस संसार नामक महान् वृक्ष के उन्मूलन के लिए बुद्धिमान् द्वारा भी किया मंत्रजपमात्र पर्याप्त नहीं है (पूर्वश्लोकोक्त मुख्य अर्चना ही वह कर सकती है) ॥ ४८ ॥ ज्ञान ही वस्तुतः शिवपूजा है । बाह्य भजन तो स्थूल अर्चना है । वेद ही प्रमा का अव्यभिचारी कारण है । आत्मज्ञान ही परम पद–मोक्ष है ॥ ४९ ॥ यह गुह्य रहस्य मैंने आप लोगों को बताया है । इसे मुझे शिवप्रिय व्यासदेव ने बताया था । मरणपर्यन्त आप सब आस्तिकों को एतदनुसार पूजा करनी चाहिये । उसी से असत्य संसार की निवृत्ति होगी ॥ ५० ॥

शिवस्थानविचार नामक उन्तीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं संक्षेप से शिवस्थान बताऊँगा जहाँ महादेव का चिंतन कर मनुष्य कैवल्य प्राप्त करता है ॥ १ ॥ प्राचीन काल में गरुडध्वज नारायण ने कैलास पर तप किया था ॥ २ ॥ सारे शरीर

---

१ ख. घ. "कला" ।

तपसा तस्य देवस्य केशवस्य महात्मनः । प्रादुरासीन्महादेवः शंकरः करुणाकरः ॥ ४ ॥
तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षो महादेवं घृणानिधिम् ।
अम्बिकासहितं रुद्रं चन्द्रमौलिं सनातनम् ॥ ५ ॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ भक्त्या परमया सह । [1]स्तोत्रमारभते विष्णुः सर्वभूतहितावहम् ॥ ६ ॥
अकाराय नमः साक्षादनन्तानन्दमूर्तये । आत्मभूताय सर्वेषामतिशुद्धाय शूलिने ॥ ७ ॥

महद्भिरपि महता प्रयासेन ज्ञातानीति कथ्यमानस्थानविशेषेष्वादरातिशयजननाय नारायणकथोपन्यासः ॥ २–६ ॥ अकारायेत्यादिस्तोत्रे मातृकापञ्चाशदक्षररूपमन्त्रतादात्म्येन शिवमनुसंधत्ते विष्णुः । शिवोऽनन्तानन्दमू[2]र्तिशब्दार्थात्मकः । स चार्थः स्ववाचकशब्दानु[3]वेधेनैव प्रतिभासनात्तद्विवर्ततया तच्छब्दात्मकः । यदाहुः–'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते' इति ॥ आहुश्च शब्दविवर्तितत्वमर्थस्य–'शब्दब्रह्म यदेकं यच्चैतन्यं च सर्वभूतानाम् । यत्परि[4]णामस्त्रिभुवनमखिलमिदं जयति सा वाणी' इति । हरिरप्याह वाक्यपदीयादौ–'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः' इति । अत्रानन्तानन्दमूर्तिशब्दस्यावर्णः प्रथमावयव इति तदनुसंधानजनितसंस्कारसंस्कृतायां बुद्धौ भासमानः स शब्दः सर्वोऽप्यवर्णात्मकः । यदाहुः–'नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह । आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दो व्यवस्थितः' इति ॥ इत्थमकारात्मकशब्दप्रतिपादितार्थात्मकतया शिवस्याकारमन्त्रात्मकत्वमिति तादात्म्यमनुसंधेयम् । यदाहुः–'गुरुदेवतात्म[6]नूनामैक्यं संभावयेत्समाहितधीः' इति । इत्थं मन्त्रस्तोत्रे[7] सर्वेषु तत्तदक्षरादिशब्दान्प्रयुञ्जानस्य विष्णोरभिप्रायो द्रष्टव्यः[8] । अकारवाच्यतया वाऽकारादिशब्दवाच्यतया वोपचारादकार[9]मन्त्ररूपतयाऽभिधानमिह न भवति किन्तु प्रागुक्तरीत्याऽकारमन्त्रतादात्म्यादेवेति विवक्षया साक्षादित्युक्तम् । शिवस्वभावभूतो हि परम आनन्दः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतेः । स च शुभकर्मोपस्थापितविषयेन्द्रियसंप्रयोगजनितवृत्त्यवच्छेदादनेक इव तारतम्यवानिवोत्पन्न इवान्तवानिव च लक्ष्यते । सर्वोपाधिविरहात्तु निरतिशयो नित्यः शिवस्याऽऽनन्दः । स च तस्य न गुणः किंतु मूर्तिः स्वरूपमेवेति विवक्षयोक्तम्–**अनन्तानन्दमूर्तये** इति । स चापि विशुद्धसत्त्वात्मकाविद्योपाधिसंबन्धादसंख्यजीवभावेन विशुद्धसत्त्वात्मकमायोपाधिसंबन्धादीश्वररूपेण च भेदेन भासमानोऽपि मायाविद्योपाधिसंबन्धपरित्यागादतिशुद्धः । अत

पर भस्म का उद्धूलन और मस्तक पर त्रिपुण्ड्र धारण कर रुद्राक्षमाला से विभूषित हो वल्कल पहन और जटाधारी होकर वे तपस्या करते थे ॥ ३ ॥ उनके तप से प्रसन्न हो करुणानिधि महादेव ने उन्हें दर्शन दिया ॥ ४॥ अम्बिकासमेत चन्द्रशेखर सनातन भगवान् रुद्र को देख विष्णु ने भक्ति सहित दण्डवत् प्रणाम किया और उनकी स्तुति की । विष्णु-विरचित यह स्तोत्र सभी लोगों का हित करने वाला है (अतः मुख्य प्रसंग शिवस्थानों का होने पर भी उस स्तोत्र को ही पहले बताता हूँ) ॥ ५–६ ॥ (इस स्तोत्र में पचास

१ ख. स्तोतुमा० । २ ङ. ०मूर्तिः श० । ३ ग. छ. ०नुबन्धेनै० । ४ ग. घ. ङ. च. छ. ०रिमाणस्त्रि० । ५ ग. घ. च. छ. निवर्तते० । ज. निर्वर्तते । ६ ग. घ. च. छ. ज. ०मनुमायैक्यं । ७ ङ. ०त्रेषु स० । ८ घ. ङ. ०व्यः । आं । ९. छ. ०ररूपमन्त्रत० ।

आकारायातिशुद्धाय साक्षिणे सर्ववस्तुनः । अम्बिकापतये तुभ्यमसङ्गाय नमो नमः ॥ ८ ॥
इकारायेश्वराख्याय सर्वसिद्धिकराय च । इन्द्रादिलोकपालानामियत्ताकारिणे नमः ॥ ९ ॥
ईकाराय वरिष्ठाय वाञ्छितार्थप्रदाय च । वञ्चकानामलभ्याय वसुदाय नमो नमः ॥ १० ॥
उकारायोग्रजन्तूनामुग्ररूपाय शूलिने । उत्तमानां तु जन्तूनामुपास्याय नमो नमः ॥ ११ ॥
ऊकारायोपवीताय ह्यूर्जितायोत्तमात्मने । उत्तमज्ञानगम्याय नमस्ते परमात्मने ॥ १२ ॥
ऋकारायाऽऽदिभूताय रामपूर्वार्चिताय च । ऋचामर्थस्वरूपाय नमः सत्यपरात्मने ॥ १३ ॥

एव तदुपाधिकस्य भेदस्यापि प्रविलयात्सर्वेषामात्मेत्याह–**अतिशुद्धायाऽऽत्मभूतायेति** । उक्तरूपस्य शिवतत्त्वस्य मन्दाधिकारिबुद्धिगोचरत्वासंभवात्तदनुग्रहाय स्वीकृतानेकदिव्याभरणं लीलावतारं सूचयति–**शूलिन** इति । शूलमिह्रानेकदिव्यायुधदिव्याभरणस्रक्चन्दनवाहनपरिवारादियोगोपलक्षणम् । इत्थं तत्र तत्र नामनि संभवदर्थजातमनुसंधेयमिति दिङ्मात्रं दर्शितं विस्तरपरिहाराय तु संदिग्धपदविवरणमात्रमत्र क्रियत इति । **आत्मभूतायेत्यकारमन्त्र** आकार उक्तः । आकारमन्त्रेऽप्यतिशुद्धायाम्बिकापतयेऽसङ्गायेत्यकार उक्तः 'तदभेदका गुणा' इति मतमनुसृत्यावर्णस्यैकत्वाभिप्रायेण । उक्तं हि कात्यायनेन–'एकत्वादकारस्य सिद्धम्' इति । 'भेदका गुणा' इतिमतसूचनाय तु ह्रस्वदीर्घमन्त्रयोः पृथगुदाहरणोपन्यास इति । **साक्षिण** इति तु विशेष्यस्वरूपोपन्यासो न त्वाकारमन्त्रोदाहरणत्वेनेति । इत्थ[1]मुत्तरत्र द्रष्टव्यम् ॥ ७-८ ॥ **इयत्ताकारिण** इति । तत्तत्कृतसुकृतपरिपाकानुरूपपरिमितपदप्रदायिन इत्यर्थः ॥ ९–११ ॥ **उपवीताय** भोगमोक्षार्थिभिः सकललोकैरुपगताय ॥ १२ ॥ ऋकारमन्त्रे **रामपूर्वेति** पदं रश्रुतिसामान्यादेकत्वाभिप्रायेण । **सत्यपरात्मन** इति विशेष्यस्वरूपोपन्यासेनेति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

अक्षर रूप मंत्रों से अभिन्न रूप से शिव का अनुसंधान है । तत्तत् शब्दों के अर्थरूप से महादेव विद्यमान हैं । जैसे अनन्त शब्द का अर्थ महादेवरूप है । उस अर्थ की स्मृति आदि जब होती है तो उसके वाचक शब्द के साथ ही होती है यह अनुभवसिद्ध है । अतः अर्थ को शब्दात्मक समझा जा सकता है । उस शब्द में अवर्ण है । (प्रायशः प्रथम वर्ण ही ग्रहण किया जायेगा ।) अतः अवर्ण याद आते ही वह पूरा शब्द याद आ जाता है । जिसे उस वर्ण और उस शब्द के साहचर्य का दृढ संस्कार है उसे यह अनुभवसिद्ध है । व्यवहार में भी नामाक्षरों से पूर्ण नाम की स्मृति होती ही है । वैसे ही यहाँ समझना चाहिये । एवं च अनंत यह शब्द अकाररूप ही है । जैसे नियमतः शब्द से उपस्थित होने के कारण अर्थ को शब्दात्मक माना था वैसे नियमतः अक्षर से उपस्थित होने वाले शब्द को अक्षरात्मक मानना चाहिये । यों अनंत-अर्थ अनंत-शब्द से और वह अ-अक्षर से अभिन्न होने के कारण अनंत-अर्थ अ-अक्षर से अभिन्न समझा जा सकता है । यों तत्तत् अक्षरों को ही शिवरूप बताते हुए यह स्तोत्र है ।) साक्षाद् अकाररूप आपको नमस्कार है जो आप अनन्त आनन्दस्वरूप हैं । सभी के आत्मरूप हैं, अतिशुद्ध हैं व शूल आदि आयुध धारण किये हुए हैं ॥ ७ ॥ आकाररूप आपको प्रणाम है जो आप अतितेजस्वी तथा सब वस्तुओं के साक्षी हैं । अम्बिकापति (तथापि) असंग आपको बारंबार प्रणाम है ॥ ८ ॥ इकाररूप आपको नमस्कार है जो आप ईश्वर कहे जाते हैं । आप सबकी सिद्धि करने वाले हैं । इन्द्र आदि लोकपालों को परिमित पद प्रदान करने वाले आप ही हैं ॥ ९ ॥ ईकाररूप आपको नमस्कार है जो आप सर्वश्रेष्ठ हैं व सब अभीष्ट वस्तुओं के प्रदाता हैं । वंचकों को प्राप्त न होने वाले तथा (भक्तों को) धन देने वाले आपको प्रणाम है ॥ १० ॥ उकाररूप आपको प्रणाम है । उग्र जंतुओं के दमनार्थ आप उग्ररूप धारण करते हैं । उत्तम जन्तुओं के आप उपास्य हैं ॥ ११ ॥ ऊकाररूप आपको नमस्कार है । भोग व मोक्ष चाहने वाले सभी लोग आपके ही निकट जाते हैं । आप शक्तिशाली तथा उत्तम गुणों वाले हैं । उत्तम ज्ञान के विषय बनने वाले आप परमात्मा को नमस्कार है ॥ १२ ॥ ऋकाररूप आपको नमस्कार है । आप सबके कारण हैं । राम के द्वारा पहले आपकी अर्चना की गयी थी । आप ही सब ऋचाओं का अर्थ हैं । सत्य तथा परमात्मा आपको नमस्कार है ॥ १३ ॥ ॠकाररूप आप शंभु को प्रणाम है । आप सब वस्तुओं के स्वभाव हैं तथा नित्य तृप्त हैं ।

---

१ मन्त्रानुदाहरणतयापि क्वचित्पदविन्यास इत्यर्थः ।

ॠकाराय निसर्गाय नित्यतृप्ताय शंभवे । रसादिभूतरूपाय नमः शुद्धचिदात्मने ॥ १४ ॥

ऌकाराय लसद्गण्डमण्डिताभरणाय च । लिङ्गलिङ्ग्यादिहीनाय लिङ्गरूपाय ते नमः ॥ १५ ॥

ॡकाराय लयस्थाय ध्वंसकायाऽऽदिहेतवे । लाक्षारुणशरीराय लाभस्थानाय वै नमः ॥ १६ ॥

एकाराय नमः शश्वदिदंतासाक्षिणे तथा । अहंतासाक्षिणे साक्षात्प्रत्यगद्वयवस्तुने ॥ १७ ॥

निसर्गाय समस्तवस्तूनां स्वाभाविकरूपाय । रसादीति रश्रुतिसामान्यं विशेषनिर्देशो वा द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥ लिङ्गरूपाय । लिगिर्गत्यर्थः । गत्यर्था ज्ञानार्थाः । ज्ञानरूपाय तस्य स्वप्रकाशत्वेन मानमेयमातृविभागविरहमाह–लिङ्गलिङ्ग्यादिहीनायेति ॥ १५ ॥ लयस्थाय लये प्रलयसमयेऽपि स्थिताय । लभ्यत इति लाभः कर्मफलं तत्तिष्ठत्यस्मिन्निति लाभस्थानं तस्मै 'एष एव साधु कर्म कारयति तं यमूर्ध्वमुन्निनीषते' इति वाजसनेयश्रुतिः । 'लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्' इति स्मृतिः । 'फलमत उपपत्तेः' इति बादरायणीयं सूत्रम् ॥ १६ ॥ एकारस्य कण्ठतालुभवस्य संध्यक्षरतयाऽवर्णेवर्णात्मकत्वेनाहंतेदंतेति तदुभयोदाहरणम् । अन्तःकरणस्य स्वप्रतिबिम्बितचैतन्याभिमुखा वृत्तिर्विषयाभिन्ना[1]ऽहंकारस्तद्रूपमात्रत्वाद्वस्तुत्वम् ॥ १७ ॥

शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा होते हुए भी रस (जल) आदि महाभूतों का रूप आप ही ने ग्रहण किया है ॥ १४ ॥ ऌकाररूप आपको नमस्कार है । आप शोभित होते हुए अलंकृत कपोलों वाले हैं । आप ज्ञानरूप हैं किन्तु प्रमाण, प्रमेय आदि के विभाजन से रहित हैं ॥ १५ ॥ ॡकाररूप आपको नमस्कार है आप प्रलय में भी बने रहने वाले हैं । सबका ध्वंस करने वाले तथा सबके आदिकारण आप ही हैं । लाख की तरह अरुणवर्ण का आपका गात्र है । आपसे ही सबको कर्मफल प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ एकाररूप आपको प्रणाम है । आप सनातन हैं तथा 'यह' इस रूप से और 'मैं' इस रूप से जो कुछ भी प्रतीत होता है उस सबके आप साक्षी हैं । आप ही साक्षात् अपरोक्ष हैं, कभी विषय रूप से प्रतीत न होने वाले हैं, अद्वितीय तथा वास्तविक हैं ॥ १७ ॥ ऐकाररूप आपको प्रणाम है । निर्मल ज्ञान के माहात्म्य का विचार करने वालों के आप ही आत्मा हैं । प्रत्यक् रूप से भासित होने वाले आपको प्रणाम है ॥ १८ ॥ ओकार रूप आपको नमस्कार है । ब्रह्मा, विष्णु भी आप रुद्र

---

१ स्वविषयः प्रतिविम्बितचैतन्यं तदभिन्ना तदाकारेत्यर्थः । बालमनोरमापाठेऽयमधिकोंशः–°अहङ्कारस्तद्रूपताऽहन्ता; चिदवभास्यं पराग्रूपं सर्वमिदं तद्भावम् इदन्ता; तदुभयं स्वात्मन्यध्यस्तं स्वरूपप्रकाशेनैव साक्षादीक्षत इति तदुभयसाक्षी । प्रत्यगद्वयवस्तुनो (°ने ?)– विषयविषयिप्रातिकूल्येन अन्तरमञ्चति गच्छतीति प्रत्यङ् स्वप्रतिष्ठ आत्मा । अत एव स्वेतरानवभासाद् अद्वयम् । बाधाभावेन परमार्थत्वाद् वस्तुत्वं च ।

ऐकारायामलज्ञानप्रभावपरिशीलिनाम् । आत्मरूपतया नित्यं प्रतीताय नमो नमः ॥ १८ ॥

ओकाराय विरिञ्चाय विष्णवे रुद्रमूर्तये । वाच्यवाचकहीनाय स्वयंभानाय वै नमः ॥ १९ ॥

औकाराय महेशाय महामन्त्रार्थरूपिणे । महादेवाय मात्रादिप्रपञ्चाय नमो नमः ॥ २० ॥

अकारैकारयोर्योगादैकारः । तत्राकारांशस्योदाहरणम् **अमलेति** । अन्तर्वर्तिन एकारस्यावर्णवर्णात्मकत्वादात्मरूपतयेत्य-वर्णस्य **इतायेतीवर्णस्य** । **प्रतीति** हि पृथक्पदम् । 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इति वीप्सायां कर्मप्रवचनीयः । तत्र तत्र वस्तुन्यात्मरूपतया स्वरूपतया वा प्रतीयत इत्यैकारोदाहरणम् ॥ १८ ॥ 'अकारं ब्रह्माणं नाभौ' इति श्रुतिः । विष्णोरुकारात्मकत्वाद्विष्णव इत्युकारोदाहरणम् । 'उकारं विष्णुं हृदये' इति श्रुतिः । तयोश्च विष्णुब्रह्मणोरिह न स्वातन्त्र्येण निर्देशस्तथा सति प्रकृताननुगुणत्वाद्रुद्ररूपत्वेनैवेति दर्शयितुमुक्तं–**रुद्रमूर्तय** इति । **रुद्रमूर्तये विरिञ्चाय रुद्रमूर्तये विष्णव** इत्युभयत्र योज्यम् । विष्णुब्रह्माणावपि हि रुद्रात्मकौ 'सर्वो वै रुद्रः' इति तैत्तिरीयकश्रुतिः । 'यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः' 'यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमो नमः' इति चाऽऽथर्वणी श्रुतिः । उक्तमुच्यमानं वक्ष्यमाणं च[1] यन्मन्त्रतदर्थात्मकं शिवस्य न तत्स्वाभाविकं किंतु लीलयोपासकानुग्रहेण स्वेच्छया स्वीकृतमेव । स्वाभाविकं तु निष्कलं स्वप्रकाशमित्याह–**वाच्येत्यादिना** ॥ १९ ॥ शिवस्यौकारमन्त्रतादात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्याय तयोः समानं धर्ममाह–**महेशाय महामन्त्रार्थरूपिण** इति । शिवस्तावन्निरतिशयैश्वर्ययोगाद्भजतां तत्प्रदातृत्वाच्च महेशः । महतः प्रणवप्रसादरुद्राध्यायादेर्मन्त्रस्य योऽर्थस्तद्रूपी तेन मन्त्रेण प्रतिपाद्यत्वाद्वाचकस्य वाच्यादभेदान्महामन्त्ररूपी च यथैवमौकारो[2]पि सोऽपि हि स्वयं महामन्त्रत्वात्स्वार्थाभेदाच्च महामन्त्रार्थरूपी स्वात्मानं परिशीलयतां निरतिशयज्ञानैश्वर्यप्रदानेन महेश्वर एवमौकारमन्त्रस्य शिवस्य च सारूप्यात्तन्मन्त्रात्मना शिवोऽनुसंधेय । [3]औकारस्य यथोक्तप्रभावोपेतत्वं लघुनाम्ना स्वयंकृते सरस्वतीस्तोत्रे विशदीकृतम्–'यत्सद्यो वचसां प्रवृत्तिकरणे दृष्टप्रभावं बुधैस्तार्तीयं तदहं नमामि शिरसा त्वद्बीजमिन्दुप्रभम् । अस्त्वौर्वोऽपि सरस्वतीमनुगतो जाड्याम्बुविच्छित्तये गौःशब्दो गिरि वर्तते स नियतं यो गं विना सिद्धिदः' ॥ इति । जमदग्निना स्वकोपाग्निः सरस्वत्यां महानद्यां मुक्तः सन्सदा समुद्रं संहरत्येवमौरिति स्वर्गा (?) न्त[4]स्थत्वादौकारमन्त्रोऽपि सरस्वतीप्रतिपादकतया[5] वाऽनुगतो जाड्याम्बुविच्छित्तये सकलसंसारकारणाविद्यासमुद्रसंहारायास्तु । गौरिति यः शब्दो गिरि–वाचि नित्यं वर्तत इत्यभिधानेषु प्रसिद्धं च स गकारं विनौरित्येतावन्महामन्त्रात्मकः सिद्धिदो भवतीति । किंच शिवो मानमेयमहादेवादिप्रपञ्चात्मकः । ते च शब्दा मकारादित्यादकारादिन्यायेन मकारात्मकाः । अतस्तदर्थद्वारा शिवोऽपि मकरात्मकः । औकारोऽप्युक्तरीत्या महेशत्वान्मकारात्मक इति मकारस्य साम्यदप्यौकारमन्त्रस्य शिवतादात्म्यं द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ २० ॥

की ही मूर्तियाँ हैं । शब्दशक्ति से आपका कोई सम्बन्ध नहीं । आपका भान स्वयं ही होता है ॥ १९ ॥ औकाररूप आप महेश को नमस्कार है । आप महान् मन्त्रों के अर्थरूप हैं । आप महादेव हैं व प्रमाता आदि संसाररूप हैं ॥ २० ॥ बिन्दु अर्थात् अनुस्वाररूप आपको नमस्कार है । आप ही जगत्

---

१. घ. °च यावन्म° । २. ख. ग. घ. °पि स्व° । ३ ग. च. छ. ज. अकारस्य । ४ ख. ग. घ. च. छ. ज. °न्तष्टत्वा° । ङ. °न्तर्दृष्टत्वा° । ५. घ. तदनुगतो ।

बिन्दुरूपाय बीजाय बीजाधिष्ठानरूपिणे । बीजनाशकरज्ञानस्वरूपाय नमो नमः ॥ २१ ॥

विसर्जनीयरूपाय विस्मयाय महात्मने । विसर्जनीयनिष्ठानां विशेषार्थाय वै नमः ॥ २२ ॥

ककाराय कपूर्वादिदेवतापूजिताय च । करणग्रामसंहर्त्रे कालातीताय वै नमः ॥ २३ ॥

चरमस्वरयोः केवलयोः स्वरूपेणोच्चारयितुमशक्यत्वात्तद्वाचकबिन्दुविसर्जनीयशब्दाभ्यामेव तौ निर्दिश्य तदात्मकतामाह– **बिन्दुरूपायेति** । शिवो हि सर्गादौ स्वमायाशक्तौ प्रतिबिम्बितस्तदवस्थया तयाऽवच्छेदाद्बिन्दुरिति, जगदङ्कुरयाऽवस्थया तयाऽवच्छेदाद्बीजमिति, तस्या एवाग्र एतद्बीजाधिष्ठानमित्युपनिषज्जनितचरमसाक्षात्काररूपान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितस्तन्नाशकतया **बीजनाशकरज्ञानस्वरूप** इति चोच्यते । बिन्द्वादिशब्दचतुष्टयस्य बकारादित्वेन बकारात्मकत्वात्तद्द्वारा तदर्थः शिवोऽपि बकारात्मक एवमनुस्वारोऽपि बिन्दुशब्दवाच्यतया बकारात्मक इति बकारमन्त्रतादात्म्येन शिवोऽनुसंधेयः ॥ २१ ॥ विविधत्वेन स्रष्टव्यतया विसर्जनीयं जगत्तद्रूपः शिवः । शिवः सर्वमिदं जगदित्याहुः । अखण्डैकरसो निष्कलः सन्नपि विविधजगदात्मको जात इत्याश्चर्यरूपत्वाद्विस्मयः । **विसर्जनीयनिष्ठानामिति** । 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इत्यनीयर्प्रत्ययः । विसर्जनं परित्यागस्तन्निष्ठाः सकलसंसारपरित्यागनिष्ठा ये मुमुक्षवस्तेषाम् । कर्तरि षष्ठी । ऐश्वर्यार्थिभिरपि शिव एव यथा प्रार्थनीयस्तथा मुमुक्षुभिरपि विशेषेणार्थनीय इत्यर्थः । अत्र विसर्जनीयविस्मयविशेषार्थशब्दा वकारादित्वात्तदात्मकाः । तद्द्वारा तदर्थः शिवोऽपि वकारात्मकः । चरमस्वरोऽपि विसर्जनीय इति प्रसिद्धेः स्ववाचकद्वारा वकारात्मकः । तेन वकारात्मकत्वसाम्याद्विसर्जनीयमन्त्रात्मकतया शिवोऽनुसंधेय इत्यर्थः ॥ २२ ॥ **ककारायेति** । को ब्रह्मा स पूर्व एषां ते कपूर्वा इन्द्रादयस्तदादिदेवताभिः पूजिताय । करणग्रामस्य जनकस्य कारणग्रामस्य शरीरस्य जन्यस्य[1] लिङ्गशरीरस्य तदाश्रयस्य स्थूलशरीरस्योपलक्षणं शरीरत्रयसंहर्त्रेऽशरीरत्वलक्षणमोक्षप्रदायेत्यर्थः । कालस्यापि स्रष्टृत्वेन तदनवच्छिन्नाय । अत्र कपूर्वादिशब्दत्रयं ककारादित्वेन तदात्मकं तदर्थतया शिवोऽपि तदात्मकः । अतः ककारमन्त्रतादात्म्येनानुसंधेयः ॥ २३ ॥

के बीज हैं—मूलकारण माया के अवच्छेद वाले आप ही संसार के उपादान व निमित्त हैं । बीज के अधिष्ठान—आधार—भी आप ही हैं और बीजत्वप्रयोजक माया के नाशक भी ज्ञानस्वरूप आप ही हैं । आपको बारम्बार प्रणाम है ॥ २१ ॥ विसर्गरूप आपको नमस्कार है । निष्कल रहते हुए ही आप सकल हो जाते हैं अतः आप विस्मय रूप हैं । आप में किसी तरह की क्षुद्रता नहीं । सकलत्यागी मुमुक्षु आपकी विशेषतः प्रार्थना करते हैं । ('ज्ञानमिच्छेन्महेश्वराद्' इत्यादि वचनानुसार मुमुक्षु-अभिलषित ज्ञान शिव से ही मिल सकता है ।)

---

१ घ. ङ. च. छ. °स्य च लि° ।

खकाराय खपूर्वादिभूतपञ्चकहेतवे । खमूर्ताय खलप्रज्ञागोचराय नमो नमः ॥ २४ ॥
गकाराय गणेशाय गणवृन्दार्चिताय च । गङ्गाधराय गुह्याय गुणातीताय ते नमः ॥ २५ ॥
घकाराय घनाकारघातकाय घनात्मने । घटादिजगदाकाररहिताय नमो नमः ॥ २६ ॥
ङकाराय ङमन्त्रार्थस्वरूपाय शिवात्मने । ङाङीङूसंज्ञितार्थानामगम्याय नमो नमः ॥ २७ ॥
चकाराय चमन्त्रार्थस्वरूपायामितात्मने । चमन्त्रार्थनिषण्णानाममृताय नमो नमः ॥ २८ ॥
छकाराय छलालस्यच्छादना[1] दिविशेषतः । छादनच्छन्दनच्छन्नविभागाय नमो नमः ॥ २९ ॥

खकारायेति । खमाकाशं पूर्वं यस्य तदादिभूतपञ्चकमपञ्चीकृतं सूक्ष्मभूतपञ्चकं तस्य हेतवे । **खमूर्ताय** । आकाशवन्निर्लेपं मूर्तं मूर्तिर्यस्य तस्मै ॥ २४ ॥ गणाः प्रमथगणाः । **गुह्याय** गुहायां बुद्धौ भवाय 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इति श्रुतेः ॥ २५ ॥ घनो निविडः प्रपञ्चः सर्गसमये तदात्मने । प्रलयसमये तदाकारस्य सहर्त्रे ॥ २६ ॥ ङमन्त्रार्थः श्रीकण्ठादिषु मन्त्रशक्तिसहित एकरुद्र आर्द्राद्युपलक्षितः । ङाङीङू इत्येते त्रयो वर्णा एतदुपलक्षिता वाऽन्येऽपि सर्वे वर्णाः कादिव्यञ्जनपञ्च[2]त्रिंशत्येकैकेनान्तरिताः संज्ञा जाता एषामर्थानां पार्वतीमूर्तीनां ते तत्संज्ञितार्थाः । तारकादित्वादितच् । तेषामप्यगम्याय । तत्त्वतस्तदभेदेन गन्तृगन्तव्यभावाभावात् । लीलया पृथग्भावेऽप्यवाङ्मनसगोचरत्वात् 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति ॥ २७ ॥ चमन्त्रार्थ आत्मशक्तियुक्तः कूर्मेशः[3] । उक्ते चमन्त्रार्थे निषण्णा निष्ठिता ये तेषाममृताय । अशरीरत्वरूपापवर्गप्रदानेन शरीरधर्मजरामृत्युनिषूदनादमृतस्वभावायेत्यर्थः ॥ २९ ॥ छन्नश्छादितः 'दस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः' इति निपातनात् । छन्नत्वं गुहानिहितत्वात् 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इति श्रुतेः । छन्दनं निरस्तनिखिलोपप्लवनिरतिशयपरानन्दत्वेन विषयव्यावृत्तचक्षुषां धीराणां तत्त्वात्मनीच्छाजननम् । छादनमिह तस्य समस्तस्या[4]पवरणम् । एतद्विभागत्रयात्मकायेत्यर्थः । किं तदित्थमनेनापवारणीयमित्यत आह—**छलेति** । छलं कौटिल्यं जिह्ममिति पर्यायाः । तद्विद्याफलब्रह्मलोकविरोधित्वादहितम् । श्रूयते हि—'येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् । तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया' इति ॥ आलस्यं ह्यध्ययनानुष्ठानविरोधित्वेन धियः प्रतिबन्धादहितम् । छादनशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्छलत्वच्छादनमालस्यच्छादनं च । आदिशब्दाद्व्याध्याद्यहितान्त[5]रं [6]तच्छादनभेदा गृह्यन्ते । **विशेषशब्दो** भेदपरः । व्याध्याद्यहितभेदाच्च छादनभेदा अपि बहवः सन्ति । **विशेषत** इति बहुवचनान्तात्तसिः । अहितच्छादनविशेषैरित्यर्थः । अहितभेदा हि पठ्यन्ते—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपा योगान्तरायाः' इति । अकारात्मकत्ववच्छकारात्मकत्वम् ॥ २९ ॥

॥ २२ ॥ ककाररूप आपको प्रणाम है । 'क' अर्थात् ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा आप पूजित हैं । लिंगशरीर का आप संहार करते हैं । (वेदान्तनुसार 'लिंगभङ्गो हि मोक्षः' कहा जा सकता है यदि भंगशब्द बाधपरक या आत्यन्तिक नाशपरक हो । अतः ज्ञान द्वारा लिंगबाध शिव ही कराते हैं ।) आप काल की सीमा से परे हैं ॥ २३ ॥ खकाररूप आपको प्रणाम है । 'ख' अर्थात् आकाश आदि पाँचों भूतों के आप ही कारण हैं । आकाश की तरह ही आपकी निर्लेप मूर्ति है । खल अर्थात् दुष्टों की बुद्धि आपको समझ नहीं पाती ॥ २४ ॥ गकाररूप आपको प्रणाम है । सभी समूहों के आप संचालक हैं । प्रमथादि गणों द्वारा आप नित्य सेवित हैं । आपने जटा में गंगा धारण की हुई है । सब प्रणियों की बुद्धिगुहा में आप साक्षी रूप से उपस्थित हैं । गुणों से असंबद्ध आपको नमस्कार है ॥ २५ ॥ घकाररूप आपको नमस्कार है । बादल के आकार वाले आच्छादक अज्ञान के आप घातक हैं । मूर्त प्रपंचरूप से आप ही स्थित हैं । तथापि आप घट आदि समस्त जगत् के आकार वाले हैं नहीं ॥ २६ ॥ ङकाररूप आपको नमस्कार है । कल्याण रूप आपका स्वरूप ही ङ-मंत्र का अर्थ है । ङा, ङी, ङू नाम वाले पार्वती आदि के लिये भी आप अगम्य ही हैं ॥ २७ ॥ चकाररूप आपको नमस्कार है । अज्ञात आत्मरूप आप ही च-मंत्र के अर्थ हैं । च-मंत्र में निष्ठा वालों को आप अमरता प्रदान करने वाले हैं ॥ २८ ॥ छकाररूप आपको नमस्कार है । आप सबकी बुद्धि रूप गुफा में छिपे हुए हैं । आप ही जीवों में मोक्ष की इच्छा उत्पन्न करते हैं तथा आप ही छल, आलस्य तथा अन्य आवरकों को छिन्न-भिन्न करने वाले हैं ॥ २९ ॥ जकाररूप

१ ग. घ. ङ. च. छ. ज. "नाय वि" । २ छ. ज. "ञ्चविंश" । ३ ङ. कर्मांशः । ४ ग. "स्याऽऽव" । ५ ङ. "न्तरच्छा" । ६ ङ. तत्साधन" ।

जकाराय जगच्छक्तिस्वरूपाय जयार्थिनाम् । जयप्रदाय देवाय जम्भमोहाय ते नमः ॥ ३० ॥
झकाराय झमन्त्रार्थस्वरूपायामृतात्मने । झमध्यचन्द्रबिम्बाय नमः साम्बाय शंभवे ॥ ३१ ॥
ञकाराय ञमन्त्रार्थस्वरूपाय ज्ञमूर्तये । ज्ञप्तिमात्रैकनिष्ठानां मुक्तिदाय नमो नमः ॥ ३२ ॥
टकाराय टटाटीटूपूर्वकैस्तु महारवैः । अर्चिताय सुरश्रेष्ठैरसुरैश्च नमो नमः ॥ ३३ ॥
ठकाराय ठमन्त्रार्थस्वरूपाय ठमन्त्रतः । ठंठादिगणपूज्याय ठमध्याय नमो नमः ॥ ३४ ॥

जगच्छक्तीति । जगत उत्पत्तिस्थितिसंहारविषया या शक्तिस्तदात्मकाय । शक्तिस्वरूपं तत्तादात्म्यं च वर्णितं प्राक् । जम्भयति पारवश्यमापादयति जीवान्निति जम्भस्तादृशो मोहो मूलाज्ञानं यस्मिंस्तद्धि परशिवाश्रितं परशिवाधीनं चेति तस्मिन्नित्युच्यते ॥ ३० ॥ झमन्त्रार्थः श्रीकण्ठादौ द्राविणीशक्तियुक्तः । अमृतात्मकतां समर्थयते–**झमध्येति** । झ इति निवृत्तिकलादशकमध्ये नवमी स्थितिरुच्यते सा चेह कलाविशेषानुपादानान्नित्यैव गृह्यते । तस्याश्च हेतुरमृतमिति तद्वाचिना झकारेण तद्धेतुरमृतं लक्ष्यते । तच्च झकारलक्षितममृतं मध्यं यस्य चन्द्रस्यासौ झमध्यचन्द्रः स विम्बं मूर्तिर्यस्याष्टमूर्तेः शिवस्य तस्मै । अनेन च विशेषणेन प्रकृतं झकारात्मकत्वमनन्तरोक्तममृतात्मकत्वं च मन्त्रार्थस्थितिकारिणी सुधामयचन्द्रात्मता प्रणिधानकर्तव्यता चेत्यर्थत्रयं समर्थितम् ॥ ३१ ॥ **ञमन्त्रार्थेति** । नागरीशक्तिसहितः शर्वो ञमन्त्रार्थः । जानातीति ज्ञा[1] मूर्तिः स्वरूपं यस्य तस्मै । ज्ञप्तिमात्रं परशिवस्वरूपम् । एतच्च विशेषणं यद्यपि पदद्वयात्मकं तथाऽपि ज्ञप्तिमात्रजकारादुत्तरो यो ञकारस्तद्बुद्धिर्विशेषणावसानपर्यन्तमनुवर्तत एवेति कृत्स्नं विशेषणं ञकारात्मकं तद्द्वारा तदर्थः शिवोऽपि तथेति ञकारात्मकत्वसमर्थनोपपत्तिः । नन्विह ञकारादपि प्रथमो झकारः[2] । अतस्तद्बुद्धिरप्यनुवर्तते । अनुवर्ततां नाम, तथाऽपि ञबुद्धेरनुवृत्त्या प्रकृते प्रयोजनं न वर्णान्तरबुद्धेरनुवृत्तेरिति न कश्चिद्विरोधः । श्लोकान्तरेष्वप्यनेकपदात्मकत्वविशेषणेष्वित्थमेव विवक्षिताक्षरबुद्ध्यनुवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥ ३२ ॥ **टटाटीटू**, इति मुरजादिवाद्यध्वन्यनुकरणवर्णाः । एतैर्महारवैः करणैः सुरासुरैः कर्तृभिरर्चितायेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ मञ्जरीशक्तिसहितो लाङ्गली ठमन्त्रार्थः । ठठांठठीठुठू, इत्यादयो वाद्यध्वन्यनुकरणा वर्णास्तन्निष्पादका गणाष्ठठादिगणाः । **ठमन्त्रतः** । तृतीयार्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः । तेन मञ्जरीशक्तिसहितलाङ्गलीयमन्त्रेण साधनेन ठाठादिगणैः कर्तृभिः पूज्याय । **ठमध्याय** ठबिन्दुनोपेतस्तथा ठमध्यः शिवः । ठकारवाच्यो योऽनुस्वारस्तेन समाननाम्ना 'विचिकीर्षुर्घनीभूतात्क्वचिदभ्येति विन्दुताम्' इत्यपरबिन्दुरहितशद्वेन लक्षितः ॥ ३४ ॥

आपको नमस्कार है । जगत् सम्बन्धिनी शक्ति आपका ही स्वरूप है । (शक्ति वस्तुतः शिव का ही सापेक्ष स्वरूप है । जैसे प्रकाश्य की अपेक्षा से प्रकाश की प्रकाशकता है ऐसे शक्य की अपेक्षा से शक्त की शक्तिरूपता है ।) जीत चाहने वालों को आप विजय दिला देते हैं । आप स्वप्रकाश हैं और परवश कर देने वाले मोह के भी आप ही आश्रय हैं ॥ ३० ॥ झकाररूप आपको प्रणाम है । झ-मंत्र का अर्थ आपका ही स्वरूप है । आपका स्वरूप अमृत है । अमृत से पूर्ण चन्द्रमण्डल आपकी ही मूर्ति है । ऐसे आप साम्ब शंभु को नमस्कार है ॥ ३१ ॥ ञकाररूप आपको प्रणाम है । ञमन्त्र के अर्थ का स्वरूप आप ही हैं । आप ज्ञप्तिमात्ररूप हैं । जानने वाले भी आप हैं । ज्ञान में ही निष्ठा रखने वालों को आप मोक्ष देते हैं ॥ ३२ ॥ टकाररूप आपको नमस्कार है । श्रेष्ठ देवता ट टा टी टू आदि ध्वनियों से महान् कोलाहल कर आपकी पूजा करते हैं । (ट आदि ध्वनियाँ नाना वाद्यों की हैं ।) ॥ ३३ ॥ ठकाररूप आपको नमस्कार है । आपका स्वरूप ठ-मंत्र का अर्थ है । ठ ठा आदि वाद्यध्वनियाँ करने वाले गण ठ-मंत्र से आपकी पूजा करते हैं । चन्द्र के अधिष्ठाता आपको प्रणाम है । ('ठो मण्डले चन्द्रबिम्बे शून्ये च लोकगोचरे' इति मेदिनी ।) ॥ ३४ ॥ डकाररूप आपको नमस्कार है । हुड़दंगी लोग ड डा डी डू डे डो

---

१ ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. ज्ञान । २ जकार इति वक्तव्यम् ।

डकाराय डडाडीडूडेडोडैश्च महारवैः । डामरैरभिपूज्याय नमो नृत्यप्रियाय च ॥ ३५ ॥

ढकाराय ढमन्त्रार्थपरिज्ञानवतां नृणाम् । ढसंज्ञितमहानन्दप्रदाय सततं नमः ॥ ३६ ॥

णकाराय णणाणीणूणेणैणोणौरवैः सदा । णाकि[1]नीगणपूज्याय णसंज्ञाय नमो नमः ॥ ३७ ॥

तकाराय तशब्दा(मन्त्रा)र्थस्वरूपाय तताय च ।

तत्त्वमित्यभिपूज्याय तत्त्वभूताय वै नमः ॥ ३८ ॥

थकाराय थमन्त्रार्थस्वरूपाय थसंज्ञितैः । महागणैश्च पूज्याय थमध्याय नमो नमः ॥ ३९ ॥

दकाराय दयारूपमहाशक्तिमयाय च । देशजातिविहीनाय दिवारात्राय वै नमः ॥ ४० ॥

डामरैर्भयंकरैर्महारवैः । यद्यपि सिंहव्याघ्रादिशब्दा भयजनकाः पूजाहेतवस्तथाऽपि ततोऽभेदेन ज्ञातास्तदनुकरणशब्दा भयानकाः सव्यञ्जनतया हर्षहेतव इति तैः पूज्यायेत्युक्तम् ॥ ३५ ॥ वीरिणीशक्तिसहितोऽर्धनारीश्वरो ढमन्त्रार्थः । ढकारैरनुक्रियमाणेनाट्टहासेन कार्येण व्यञ्जनीयतया लक्षणया ढसंज्ञितस्तत्कारणभूतो यो महानन्दस्तत्प्रदाय ॥ ३६ ॥ णाकिनीशब्दानुकार्यघण्टादिध्वनिकर्तृतया तच्छब्दलक्ष्या गणा णाकि[2]नीगणास्तैः कर्तृभिः । णणादिवर्णानुकार्यैर्मुरजादिभिर्ध्वनिभिः करणैः पूज्यायेत्यर्थः । कोटरीशक्तिसहित उमाकान्तो णमन्त्रार्थस्तया णसंज्ञस्तद्रूपाय ॥ ३७ ॥ पूतनासहित आषाढीशस्तमन्त्रार्थस्तद्रूपाय । तताय परिपूर्णतया विस्तृताय । आत्मनो निष्कलपरशिवस्वरूपतामनुसंधाय तयाऽवस्थानमेव हि पूजेत्युक्तं प्राक्तदाह–तत्त्वमित्यभिपूज्यायेति ॥ ३८ ॥ भद्रकालीशक्तिसहितो दण्डी थमन्त्रार्थः । थमित्यादिशब्दानुकृतमुरजध्वनिकर्तारो महागणास्तैरनुकरणशब्दैर्लक्षणया संज्ञिताः । थकारो मध्ये यस्य प्रमथेश्वरशब्दस्य स थमध्यस्तद्वाच्यतया तद्रूपाय ॥ ३९–४० ॥

डै आदि हल्ला मचाते हुए आपकी पूजा किया करते है । आपको नृत्य प्रिय है ॥ ३५ ॥ ढकाररूप आपको नमस्कार है । ढ-मंत्र के अर्थ को भलीभाँति जानने वालों को आप ढनामक महान् आनंद देते हैं । (आनंद का नाम इसलिये ढ है कि आनंद से जब हँसते हैं तो लगभग ढ जैसी ध्वनि निकलती है ।) ॥ ३६ ॥ णकाररूप आपको नमस्कार है । णाकिनी-णाकिनी ऐसी घण्टादिध्वनि करने वाले गण ण णा णी णू णे णै णो णौ आदि रव से आपको प्रसन्न करते हैं । ण-नामक आपको नमस्कार है । ('णः पुमान् बिन्दुदेवे स्यात्' मेदिनी ।) ॥ ३७ ॥ तकाररूप आपको प्रणाम है । आप तमन्त्र के अर्थस्वरूप हैं । आप सबसे अधिक विस्तृत हैं । 'तत् त्वम्' (वह परमात्मा तुम जीव हो) इस महावाक्य से आपकी परापूजा होती है । (शिवाभेदानुसंधान ही परापूजा है ।) आप ही वास्तविक हैं ॥ ३८ ॥ थकाररूप आपको प्रणाम है । थ-मंत्र का अर्थ आपका स्वरूप है । थ था आदि (मृदंग की) ध्वनियाँ करने वाले गण आपकी पूजा करते हैं । आपके 'प्रमथेश्वर' नाम के बीच में थ-अक्षर आता है ॥ ३९ ॥ दकाररूप आपको नमस्कार है । दयारूप श्रेष्ठ शक्ति आपमें पूर्ण है । देश व जाति का कोई भेद आपमें नहीं है । दिन व रात में आप ही व्याप्त हैं ॥ ४० ॥ धकाररूप आपको प्रणाम है । धरिणी आदि महाभूत आपका ही स्वरूप हैं ।

---

१ ग. घ. ङ. च. छ. °किणीग° । २ ग. च. °किणीग° ।

धकाराय धरण्यादिमहाभूतस्वरूपिणे । धराधरहृदिस्थाय धमध्याय नमो नमः ॥ ४१ ॥
नकाराय नगेन्द्राय नामजात्यादिहेतवे । नमः शिवाय नम्याय नानारूपाय शूलिने ॥ ४२ ॥
पकाराय परानन्दस्वरूपाय परात्मने । परापरविहीनाय पावनाय नमो नमः ॥ ४३ ॥
फकाराय फलाख्याय फलाख्यगणयोनये । फलाख्यगणपूज्याय नमः पूर्णस्वरूपिणे ॥ ४४ ॥
बकाराय बकाराख्यमहाबीजैकजापिनाम् । बन्धनागारनाशैकहेतवे वेधसे नमः ॥ ४५ ॥
भकाराय भवाब्धेस्तु तारकाय भवाय ते । भवशब्दैकवेद्याय भवानीपतये नमः ॥ ४६ ॥
मकाराय महामायापाशनाशैकहेतवे[1] । ममंकारविहीनानां महानन्दाय वै नमः ॥ ४७ ॥
यकाराय यथार्थाय यथार्थज्ञानिनां नृणाम् । यथार्थप्रत्यगद्वैतब्रह्मणे सततं नमः ॥ ४८ ॥
रकाराय रतिप्रीतिप्रियाय रतिहेतवे । रशब्दवपुषे रोगभवनाशाय वै नमः ॥ ४९ ॥

धराधरः कैलासस्तस्य हृदि मध्ये स्थिताय । मेधाप्रदशब्दो धमध्यस्तद्वाच्यतया तद्रूपाय ॥ ४१–४३ ॥

फलाख्याय । अष्टाङ्गयोगजन्यज्ञानेन प्राप्तव्यतया फलमित्याख्याय । बहुविधसत्कर्मसाध्यतया फलमित्याख्यायमानो यः प्रमथादिर्गणस्तस्य तदनुरूपफलप्रदानेन योनये कारणाय । तेन पूजनीयाय ॥ ४४ ॥ बकारस्य ब्रह्मपदप्रथमवर्णत्वादकारन्यायेन ब्रह्मपदात्मकत्वद्वारा तदर्थपरतत्त्वस्वरूपतया सकलजगदुपादानत्वान्महाबीजत्वम् । तज्जपश्च तदर्थप्रणिधानतत्साक्षात्कारद्वारा तदविद्यालक्षणस्य बन्धनागारस्य निवृत्तावुपकरणं भवति ॥ ४५ ॥ भवशब्दः सद्रूपत्वमाह । तथात्वं च मुख्यं नामाऽऽत्यन्तिकबाधविरहः । स च परशिवस्यैवेति स एक एव भवशब्देन वेद्य इत्यर्थः ॥ ४६–४७ ॥ जगद्येन जगदात्मना भासते न तत्सत्यं किंत्वधिष्ठानरूपेण । शिवस्तु येन सच्चिदानन्दप्रकारेण भासते तेनैव भूतः सत्य इति यथाभूतः स चासावर्थश्चेति यथार्थस्तस्मै, मध्यमपदलोपी समासः । यथाशब्दश्च सत्तावत्यर्थे वृत्तावेव वृद्धव्यवहारानुसंगतिक इति । प्रतीपमञ्चतीति प्रत्यक्सर्वान्तरम् 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इति तैत्तिरीयकश्रुतिः । तच्च तदद्वैतं ब्रह्म च ॥ ४८ ॥ रकारायेति । क्रियत इति कारः । रश्चासौ कारश्चेति रकारः । 'वर्णात्कारः' इति हि कारप्रत्ययः 'रादिफः' इत्यपवादेन बाधितः । रतिप्रीतीति । सर्वात्मको हि शिवो मन्मथरूपेणावतीर्णो रतिपतीतिनाम्ना योषितः प्रियो भर्ता लोकस्य रतिहेतुश्च भवति । रशब्देति रविशब्दो हि रेफादित्यादुक्तरीत्या स्वयं रशब्दस्तदर्थः सूर्योऽपि तथेति रशब्दवपुः स चाष्टमूर्तेः शिवस्यैका मूर्तिरिति शिवस्तदात्मना रशब्दवपुः सन्रोगं संसारं च नाशयतीति ॥ ४९ ॥

धराधर कैलास के मध्य आप विराजते हैं । आपके 'मेधाप्रद' नाम के बीच धकार आता है ॥ ४१ ॥ नकाररूप आपको प्रणाम है । आप सब पर्वतों के अध्यक्ष हैं । सबके नामों व जातियों के आप मूल कारण हैं । कल्याणरूप आप ही नमन करने योग्य हैं । आप शूलधारी ही नाना रूपों को धारण करते हैं ॥ ४२ ॥ पकाररूप आपको नमस्कार है । आप परमानंदरूप परमात्मा हैं । आप में पर-अपर का कोई विभाजन नहीं है । सबको पवित्र करने वाले आप ही हैं ॥ ४३ ॥ फकाररूप आपको प्रणाम है । अनावृत हुए आप ही फल कहे जाते हैं । बहुविध सत्कर्म के फलरूप से निष्पन्न होने वाले आपके गण ही फलनामक गण कहे जाते हैं । उन्हें वह फल देने वाले आप ही हैं । उन गणों द्वारा आप नित्य पूजित होते हैं । पूर्णस्वरूप आपको प्रणाम है ॥ ४४ ॥ बकाररूप आपको नमस्कार है । जो लोग केवल बकाररूप महाबीजमंत्र का ही जप करते हैं उनकी संसारबंधनरूप जेल को आप ही नष्ट करने वाले हैं । समग्र कार्यों के विधाता आप हैं ॥ ४५ ॥ भकाररूप आपको नमस्कार है । भवसागर से पार कराने वाले सद्रूप आप ही हैं । 'भव' शब्द के जप व विचार द्वारा आपको समझा जा सकता है । भवानीपति आपको नमस्कार है ॥ ४६ ॥ मकाररूप आपको प्रणाम है । महामाया के पाशों को समाप्त करने के एकमात्र कारण आप हैं । ममता-रहित साधकों के लिए आप ही परमानंदरूप हैं ॥ ४७ ॥ यकाररूप आपको नमस्कार है । आप यथाभूत (अर्थात् सत्य) और प्राप्तव्य हैं । यथार्थवेत्ता लोग आपको सत्य प्राप्य प्रत्यक् अद्वैत ब्रह्म कहते हैं । (जो विषय बने बिना ही हमेशा भासे वह प्रत्यक् कहा जाता है । जिसमें द्वैतशब्दित भेद नहीं है उसे अद्वैत कहते हैं । ब्रह्म व्यापक का नाम है ।) ॥ ४८ ॥ 'र' इस प्रकार जिसका उच्चारण किया जाता है उस रेफवर्णरूप आपको प्रणाम

---

[1] घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी । कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥ इति कुलार्णवतन्त्रे ।

लकाराय लतासोमस्वरूपाय लतात्मने । लाभालाभविहीनाय लब्धरूपाय वै नमः ॥ ५० ॥
वकाराय वरिष्ठाय वासुदेवादिहेतवे । वाञ्छावागुरविच्छित्तिहेतुभूताय वै नमः ॥ ५१ ॥
शकाराय शरण्याय शंभवे शरणार्थिनाम् । शरणाय शरच्चन्द्रधवलाय नमो नमः ॥ ५२ ॥
षकाराय षडाधारषट्चक्रादिस्वरूपिणे । षडक्षरनिषण्णाय नमः षण्मुखहेतवे ॥ ५३ ॥
सकाराय सशब्दार्थस्वरूपाय[1] सदात्मने । साक्षिणे[2]ऽसाक्षिरूपाणां नमः साधूपकारिणे ॥ ५४ ॥
हकारायाहमर्थाय सदाऽहंकारसाक्षिणे । हाहाहूहूकगीताय हंसरूपाय वै नमः ॥ ५५ ॥

लतेति । अष्टमूर्तेः शिवस्य चन्द्र एका मूर्तिस्तस्य च प्रतिपदादिपौर्णमास्यन्ततिथिषु नित्यमेकैककला वर्धते पुनः प्रतिपदादिदर्शान्तेष्वेकैककला हीयते यथा, तथा सोमलताया अपि पौर्णमासीपर्यन्तं नित्यमेकैकपत्रस्य वृद्धिः पुनर्दर्शपर्यन्तमेकैकपत्रस्य हानिः । अतः[3] शिवोऽपि चन्द्रात्मलतासोमस्वरूपः । चन्द्रकिरणाधीनत्वात्सर्वलतानां वृद्धेश्चन्द्रो लतानामात्मा । अतश्चन्द्ररूपः शिवोऽपि लतात्मा तस्मै । लाभेति । अप्राप्तकामस्य प्राप्तिर्लाभः । अप्राप्तिरलाभः । शिवस्तु नित्यमाप्तकामत्वेनावाप्तव्याभावात्तदुभयहीनः । लब्धेति । अज्ञानेनाऽऽवृतत्वाज्जीवाः स्वमपि रूपं न लभन्ते । शिवस्त्वनावृतचित्प्रकाशतया नित्यं लब्धरूपः ॥ ५०–५१ ॥ शकारायेति । शरण्याय रक्षाशीलत्वेन । रक्षाशक्तत्वेन च रक्षकत्वादाह शरणाय रक्षकाय ॥ ५२ ॥ षकारायेति । आधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्ध्याज्ञाः षडाधाराः । तत्रत्यानि चतुर्दलपद्मादीनि षट्चक्राणि । आदिशब्दात्तेषु ब्रह्मरन्ध्रादिषूपास्यमाना गणेशादयः षड्देवताः । सप्रणवः पञ्चाक्षरमन्त्रः षडक्षरस्तेन प्राप्यतया तत्र निषण्णः ॥ ५३ ॥ सशब्देति । सहजाशक्तिसहितो भृङ्गीशः सशब्दस्य सकारस्यार्थः । साक्षिणेऽसङ्गाय ।असाक्षिरूपाणां विषयसङ्गिनां संसारिणाम् । साधूपकारिणे भोगमोक्षप्रदानेन सम्यगुपकर्त्रे ॥ ५४ ॥ हकारायेति । अहंकारेण सह तादात्म्याध्यासात्स्वतो निष्कलरूपत्वेऽपि जीवत्वं प्राप्य तद्रूपिणे 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य' इति श्रुतेः । अत एवाहंशब्देनाभिधेयाय । हाहेति गायन्देयानां गन्धर्वो हाहा, हूहू इति गायन्हूहू, हीहीति गायन्नेतैस्त्रिविधैर्गीयते श्रूयत इति हाहाहूहूकः । 'गै शब्द' इत्यतः कर्मणि 'घञर्थे कविधानम्' इति कप्रत्ययः । हंसरूपाय । अजपामन्त्रप्रतिपाद्यतया तदात्मने ॥ ५५ ॥

है । रति में प्रेम रखने वालों को आप ही प्रिय हैं । (अत एव दम्पति को गौरी-शंकर की समानता पाने का आशीर्वाद दिया जाता है ।) जहाँ कहीं भी रति होती है (विषय-विषयिसम्बंध से सुख होता है), आप ही उसमें कारण हैं । रेफादि रविशब्दित आदित्य शरीर आपकी ही मूर्ति है । रोगरूप संसार के आप नाशक हैं ॥ ४९ ॥ लकाररूप आपको नमस्कार है । सोमलता आपकी विभूति है । लताओं के पोषक तत्त्व चंद्ररूप से स्थित आप ही हैं । आपको न कोई लाभ होता है न हानि । आप सबको सदा लब्ध (प्राप्त) ही हैं ॥ ५० ॥ वकाररूप आपको प्रणाम है । आप सबसे वृद्ध हैं, वासुदेव आदि के भी जनक हैं । वाञ्छा (कामना) नामक पिंजड़े को आप ही समाप्त करने वाले हैं ॥ ५१ ॥ शकाररूप आपको प्रणाम है । आपकी ही शरण ली जानी चाहिये । शरणागतों का आप कल्याण करते हैं । आप सबके रक्षक हैं तथा शरत्कालिक चंद्र की तरह धवल वर्ण वाले हैं ॥ ५२ ॥ षकाररूप आपको नमस्कार है । मनुष्य शरीर में छह विशिष्ट स्थान, उनमें स्थित छह चक्र व देवता आदि सब आप ही हैं । षडक्षरमन्त्र से आप प्राप्तव्य हैं । षण्मुख कार्तिकेय के पिता आपको नमस्कार है ॥ ५३ ॥ सकाररूप आपको नमस्कार है । 'स' शब्द का आप ही अर्थ हैं । आप सद्रूप हैं । विषयासक्त लोगों के प्रति आप असक्त रहते हैं किंतु साधुओं का (विरक्त लोगों का) उपकार करने के लिये तत्पर रहते हैं ॥ ५४ ॥ हकाररूप आपको प्रणाम हैं । अहम् (मैं) शब्द का मुख्य अर्थ आप ही हैं । अहंकार के आप साक्षी हैं । हाहा, हूहू आदि स्तोभों सहित गायन करने वालों द्वारा आपका ही गान किया जाता है । अजपामंत्र (हंसमंत्र) के प्रतिपाद्य आपको नमस्कार है ॥ ५५ ॥ लकाररूप आपको नमस्कार है ।

---

१ 'सः कोपे वारणे सः स्यात्तथा शूलिनि कीर्तितः । सा च लक्ष्मीर्बुधैः प्रोक्ता गौरी सा च स ईश्वरः ॥' इत्येकाक्षरकोशः । २ ग. घ. च. छ. ज. ⁰ णे साक्ष्यरूप⁰ । ३ ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. अतस्तस्याग्रं द्वादशभेदाच्छिवो⁰ ।

लकाराय लकाराख्यमहामन्त्रप्रियाय च । लोलाचञ्चलसंसारनाशनाय नमो नमः ॥ ५६ ॥

क्षकाराय क्षमन्त्रार्थस्वरूपाय क्षमावताम् । क्षेमदाय मम क्षेमस्वरूपाय नमो नमः ॥ ५७ ॥

मातृकावपुषे मातृमानमेयादिसाक्षिणे । मातृकामन्त्रलभ्याय महसे च नमो नमः ॥ ५८ ॥

मातृकाधारभूताय मातृकामूलरूपिणे । महामन्त्रैकवाच्याय महसे ब्रह्मणे नमः ॥ ५९ ॥

लकारायेति । व्यापिनीशक्तिसहितस्य शिवस्य प्रतिपादको मन्त्रो लकाराख्यस्तत्प्रतिपाद्यतया तत्प्रियः । लोलेति डलयोरभेदः । डोलावच्चञ्चलो यः संसारस्तन्नाशनाय ॥ ५६ ॥ क्षकारायेति । क्षकारार्थो मायाशक्तिरहितः संवर्तकियः । क्षमावतामित्यादि । शिवो हि वाग्रूपे प्रतीके क्षेमरूपेणोपास्यमानः क्षेमप्रद इत्युक्तं तैत्तिरीयके 'क्षेम इति वाचि' इति ॥ ५७ ॥ एकैकवर्णात्मकत्वोक्त्यैव सकलवर्णसमाहारस्वरूपमातृकामन्त्रात्मकत्वस्य सिद्धस्यापि मातृकावपुष इति पुनः स्वशब्देनाभिधानं तेनापि प्रकारेण प्रणिधानाय । न केवलमेकैकवर्णात्मकत्वेन तत्समष्टिमातृकामन्त्रात्मकत्वम्, किंतु मकारादिभिरनेकैः शब्दैरभिधेयम् । एतेषां च प्रागुक्तवन्मकारात्मकत्वात्तद्द्वारा तदर्थः शिवोऽपि मकारात्मकः । मातृकामन्त्रोऽपि तेनैव मकारादिशब्देनाभिहितत्वान्मकारात्मक इत्यपि मातृकामन्त्रवशामति दर्शयितुमाह—मातृमानेत्यादिना । मानानि प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावरूपाणि षडन्तःकरणवृत्तिविशेषात्मकानि तैर्मेयं व्यावहारिकसत्यं जगन्माता च मानानि च मेयं च मातृमानमेयानि । आदिशब्देन प्रातीतिकसत्यमविद्या तद्वृत्तिसंशयविपर्ययास्तद्विषया स्मृतिश्च गृह्यते । तस्य सर्वस्य साक्षिणे प्रकाशकाय स्वप्रकाशाय परमार्थसत्याय । महसे चित्प्रकाशाय 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः ॥ ५८ ॥ मातृकाधारेति । परशिवविवर्तरूपत्वान्मातृकायास्तां प्रति तस्य शिवस्याऽऽधारत्वम् । मातृकामूलेति । मातृकाया मूलं शब्दब्रह्म तदुपादानतया तद्रूपिणे । महामन्त्रेति । मातृकामन्त्राः प्रणवहृल्लेखाष्टाक्षरादयो महामन्त्राः । तेषां पृथक्पृथग्वाच्यास्तत्तद्देवतामूर्तयस्तद्द्वारा चिदानन्दैकरसः शिव एक एव तात्पर्येण प्रतिपाद्यः ॥ ५९ ॥

(वर्णसमाम्नाय के क्रम को मानकर हकारानन्तर लकार का ग्रहण कर लिया है । पूर्वत्र अन्तःस्थों में मानकर उसे कहा था ।) लकारनामक महामंत्र आपको प्रिय है । झूले की तरह निरंतर चलनशील (ऊँचा-नीचा होने वाले) संसार के समापक आपको प्रणाम है ॥ ५६ ॥ क्षकार रूप आपको नमस्कार है । 'क्ष' मंत्र का अर्थ आपका ही स्वरूप है । सहनशीलों के धन आदि की आप रक्षा करते हैं । मुझ विष्णु के भी आप ही रक्षक हैं । आपको पुनः पुनः प्रणाम है ॥ ५७ ॥ मातृकाशरीर वाले आपको नमस्कार है । (अकारादि क्षकारान्त सब अक्षरों का सामूहिक नाम है मातृका । सब अक्षर परमेश्वर के शरीर के घटक हैं । जैसे रूपप्रपंच शिवदेह है ऐसे नामप्रपंच भी । नाम सभी मातृकाघटित ही हैं । अतः शिवदेह की मातृकात्मकता निःसंदिग्ध है ।) प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि त्रिपुटियों के आप साक्षी हैं । मातृका मंत्र से आपकी प्राप्ति होती है । आप महान् हैं ॥ ५८ ॥ मातृका के आधार (अधिष्ठान) आप ही हैं । मातृका का मूल रूप शब्दब्रह्म (शब्दमात्र) भी आप हैं । प्रणवादि महामन्त्रों के प्रतिपाद्य आप ही हैं । महान् ब्रह्म आपको नमस्कार है ॥ ५९ ॥ स्वर व व्यंजन रूप से दो प्रकार बँटे महामंत्रों के आप ही वाच्य हैं ।

द्विधाभूतमहामन्त्रस्वरव्यञ्जनरूपतः । वाच्यायापदरूपाय पदाय महसे नमः ॥ ६० ॥

अष्टधा चाष्टवर्गैस्तु विभक्तायामलात्मने । अशेषशब्दभूताय तत्तदर्थाय वै नमः ॥ ६१ ॥

शब्दान्वयविहीनाय शब्दलभ्याय साक्षिणे । सर्वोपाधिविहीनाय स्वयंभानाय वै नमः ॥ ६२ ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणानामगम्यायापरोक्षतः । प्रतीताय स्वयं सर्वसाक्षिणे महसे नमः ॥ ६३ ॥

द्विधाभूतेति । द्विधा भूता हि महामन्त्रास्तैः स्वेन ध्वन्यात्मना तद्व्यङ्ग्येन स्फोटात्मना च । उक्तं हि महाभाष्ये– 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः । येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलखुरककुद्विषाणाद्यर्थरूपं प्रतीयते स शब्दः । अथवा प्रतीतिपदार्थो लोके ध्वनिः शब्द' इति । तत्र ह्युच्चारितेनेत्यभिव्यञ्जितेनेत्यर्थ इति व्याख्यातम् । तेन रूपेण स्फोटेन साक्षाद्वाच्यस्तद्द्वारा तद्व्यंजकेन स्वेन ध्वनिरूपेणेति । पदापदरूपत्वमुक्तं प्राक् ॥ ६० ॥ **अष्टधेति** । प्रथमममलात्मने निष्कलाय, ततो बिन्दुशब्दपरापश्यन्तीमध्यमावैखरीवागात्मकमातृकारूपतां प्राप्य, पुनरकचटतपयशादिभिरष्टाभिर्वर्गैरष्टधा विभक्ताय । तत्तद्वर्णसमाहारात्मकपदवाक्यतत्तदर्थतां प्राप्तायेत्यर्थः ॥ ६१ ॥ **शब्दान्वयेति** । **सर्वोपाधिविहीनाय** निरस्तसमस्तोपाधिकस्वरूपप्रतिष्ठाय । अत एव सकलशब्दप्रवृत्ति[1]निमित्तजात्यादिविरहाद्वाचकशब्दहीनाय । **स्वयंभानाय** स्वरूपप्रकाशेनैव भासमानाय । एवंरूपोऽपि यदा स्वमायातत्कार्यसाक्षी भवति तदा 'साक्षी चेता केवलः' इत्यादिशब्दलभ्याय ॥ ६२ ॥ **प्रत्यक्षेति** । स्वयं परमार्थवस्तुतयाऽवस्तुगोचरैः प्रत्यक्षादिभिरगम्याय । **प्रमाणानामिति** कर्तरि षष्ठी । तथाऽपि स्वयंस्वरूपप्रकाशेनैवापरोक्षतया प्रतीताय स्फुरते । स्वातिरिक्तस्य सर्वस्यापरोक्षहेतवे । **महसे** प्रकाशाय ॥ ६३ ॥

समस्त पदों का रूप आप ही ग्रहण करते हैं किन्तु रहते सदा अपदरूप ही हैं । ऐसे आप महान् कुशल परमेश्वर को नमस्कार है ॥ ६० ॥ निष्कल रहते हुए ही आप आठ वर्गों में आठ तरह से विभक्त हो गये हैं । (स्वरवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और शवर्ग–ये आठ वर्ग हैं ।) समस्त शब्द व उनेक अर्थ–सब आप ही बने हैं । ऐसे आपको प्रणाम है ॥ ६१ ॥ यद्यपि आप शब्द के सहारे प्राप्त होते हैं तथापि आपसे शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं होता । साक्षी होने से आप सब उपाधियों से (भेदकों से) रहित हैं । आप ही एकमात्र ऐसे हैं जो अपने स्वरूपभूत प्रकाश से ही भासते हैं । ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ६२ ॥ अपरोक्षतया स्फुरित होने वाले होने से आप प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविषय हैं । स्वयंरूप व सर्वसाक्षी आप महादेव को प्रणाम है । ॥ ६३ ॥ वास्तविक-अवास्तविक उभयविध अहंकार-ममकार

---

१ ङ. °त्तिनिवृत्तिजा° ।

स्वस्व[1]रू[2]पा[3]दिहीनाय वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ।
अर्थाय महते साक्षात्स्वयंभानाय वै नमः ॥ ६४ ॥
प्रसादलभ्याय शिवाय सत्यचिन्महासुखायापरवर्जिताय ।
अतीव शुद्धस्य हृदम्बुजालये विभासमानाय नमो नमस्ते ॥ ६५ ॥
सूत उवाच– नारायणेनैव शंकरोऽभिष्टुतः पुनः ।
प्राह गम्भीरया वाचा किमर्थं तप्तवांस्तपः ॥ ६६ ॥
इत्याकर्ण्य महाविष्णुः प्रणम्य परमेश्वरम् ।
तव स्थानानि[4] मे देव ब्रूहि साक्षात्कृपाकर ॥ ६७ ॥
इत्युक्तो विष्णुना शंभुः सर्वज्ञः करुणाकरः ।
प्राह सर्वेश्वरेशानः स्थानानि स्वस्य विष्णवे ॥ ६८ ॥
ईश्वर उवाच– मम स्थानानि वक्ष्यामि महामोहनिवृत्तये ।
अतीव श्रद्धया सार्धं शृणुष्व पुरुषोत्तम ॥ ६९ ॥
अध्यात्मे चाधिभूते च स्थानानि सुबहूनि मे ।
स्वर्गापवर्गसिद्ध्यर्थमुपास्यानि मनीषिभिः ॥ ७० ॥

स्वस्वरूपेति । अत्र प्रथमः स्वशब्द आत्मनि, द्वितीय आत्मीये । वस्तुभूतेनापि स्वेनाऽऽत्मना हीनाय स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । अवस्तुतोऽवस्तुभूतेन स्वीयेन रूपाद्येन हीनाय तस्यावस्तुत्वादेव । महते देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदविरहादपरिच्छिन्नाय । अर्थाय परमार्थाय । साक्षादपरोक्षतया स्वयमेव भानं यस्य तस्मै । अत्र स्तोत्रे महसे स्वयंभानायेत्यादयः शब्दा यद्यप्यसकृदावर्तन्ते तथाऽपि न पौनरुक्त्यं शङ्कनीयम् । निरर्थकं हि पुनर्वचनं पुनरुक्तम् । इदं तु स्तोत्रं न स्वरूपोपदेशपरं येन सकृदुक्त्या प्रतिपन्नस्य पुनरुपदेशोऽनर्थकः स्यात् । विष्णुना हि कृतमुपासनं तस्य तथैवाऽऽनुपूर्व्या तथैव बुद्धौ विनिवेशाय ग्रन्थनात्मकोपासने चाऽऽवृत्तिरलंकारो न दोषः । आवृत्त्येकशरीरत्वात्तस्येति ॥ ६४ ॥ **प्रसादलभ्यायेति** । प्रसीदति रजस्तमोभ्यामनभिभूतं बुद्धिसत्त्वमनेनेति प्रसाद ईश्वरस्यानुग्रहो निरतिशयभक्तिलभ्यः ॥ ६५–७० ॥

से आप रहित हैं । आप अपरिच्छिन्न व पारमार्थिक हैं । अपरोक्ष स्वयं रूप से भासने वाले आपको प्रणाम है ॥ ६४ ॥ आप अपनी कृपा से ही प्राप्त होते हैं । आप सत्यरूप, चिद्रूप व आनंदरूप हैं । आप से भिन्न कुछ नहीं है । अत्यंत शुद्धचित्त वाले के हृदयकमल में आपका अनुभव होता है । ऐसे आप शिव को पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ६५ ॥

सूतजी बोले—यों नारायण द्वारा स्तुत परमेश्वर ने गंभीर वाणी में उनसे पूछा कि उन्होंने किस उद्देश्य से तप किया था ॥ ६६ ॥ यह सुनकर विष्णु ने प्रणतिपूर्वक निवेदन किया 'हे देवाधिदेव ! आपके स्थान कौन-कौन से हैं यह मुझे कृपया बतायें ।' ॥ ६७ ॥ यों प्रार्थित हुए महादेव ने अपने स्थान बताये ॥ ६८ ॥

ईश्वर ने कहा—हे पुरुषोत्तम ! सब तरह की शंकाओं की निवृत्त्यर्थ मैं अपने स्थान बताता हूँ । पूर्ण श्रद्धा से सुनो ॥ ६९ ॥ शरीर में व शरीर से बाहर संसार में मेरे बहुतेरे स्थान हैं । बुद्धिमानों को चाहिये कि स्वर्ग व मोक्ष पाने के लिए उनका सेवन करें ॥ ७० ॥

---

१ स्वंस्वत्वमहंकृतिः । स्वीयमिति रूपं यस्यासौ स्वरूपो ममत्वम् । कामादिरादिशब्दार्थः । तद्रहितायेति वृत्त्यर्थः । २ घ. °रूपेण ही° । ३ ख. ग. ङ. छ. ज. °पादही° । ४ घ. °नि भेदेन ब्रू° ।

ब्रह्मरन्ध्राभिधं स्थानं विशिष्टं योगि[1]सेवितम् ॥

विमुक्तिसाधनं नृणामिति विद्धि विचक्षण ॥ ७१ ॥

मुखमण्डलमाश्चर्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् । मोहनाशकरं साक्षात्स्थानं विद्धि जनार्दन ॥ ७२ ॥

चक्षुषी च तथा श्रोत्रे नासिके च जनार्दन ।

गण्डोष्ठदन्तमूर्धा च स्थानान्यास्ये ममानघ ॥ ७३ ॥

हस्तपादगताः सर्वे संधयः पुरुषोत्तम ।

स्थानानि मम कल्याण तथा पार्श्वद्वयं मम ॥ ७४ ॥

पृष्ठश्च नाभिदेशश्च हृद्देशश्च जनार्दन ।

धातवः सप्त[2] मे साक्षात्स्थानानि पुरुषोत्तम ॥ ७५ ॥

स्थानविशेषेषु कृतस्योपासनस्य सकलपुरुषार्थसाधनत्वादुपासनस्थानान्येव विष्णुना पृष्टः शंभुस्तावदाध्यात्मिकानि स्थानान्याह- **ब्रह्मरन्ध्राभिधमित्यादिना** । ब्रह्मरन्ध्रादीन्यास्यान्तानि षोडश क्रमेण स्वरैरुपासनस्थानानि ॥ ७१–७३ ॥ हस्तपादद्वयसंधयः साग्राः कचटतपवर्गैरुपासनस्थानानीत्याह–**हस्तपादेति** । संधिग्रहणं समग्रस्याप्युपलक्षणम् । पवर्गस्थानपञ्चकमाह–**पार्श्वेति**[3] । नाभिग्रहणं कुक्षेरप्युपलक्षणम् । यादिदशकोपासनस्थानान्याह–**हृद्देशश्चेति** । आपादमस्तकं व्याप्तं त्वगादिधातुसप्तकं [4]प्राणजीवा [5]पानात्मलक्षण- मर्थत्रयं च हृदयेऽपि व्याप्य वर्तत इति हृद्येव तत्र स्थानदशकं यादिभिरुपासनीयमित्यर्थः । धातुग्रहणं प्राणादित्रयस्याप्युपलक्षणम् ॥ ७४–७५ ॥

योगियों द्वारा उपासित ब्रह्मरन्ध्र नाम का उत्तम स्थान मेरा है । वह स्थान लोगों को मोक्ष देने में समर्थ है ॥ ७१ ॥ मुखमण्डल भी मेरा अद्भुत स्थान है । भोग व मोक्ष दोनों प्रदान करने वाला वह स्थान है । अज्ञाननिवृत्ति करना उस स्थान के वश में है ॥ ७२ ॥ मुख में मेरे ये स्थान हैं–दोनों आँखें, दोनों कान, दोनों नासिकायें, गाल, ओठ, दाँत तथा मस्तक ॥ ७३ ॥ हाथों व पैरों में जितने जोड़ हैं सब मेरे स्थान हैं । दोनों पसवाड़े मेरे ही स्थान हैं ॥ ७४ ॥ पीठ, नाभि, हृदय व सातों धातु मेरे स्थान हैं ॥ ७५ ॥ मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सिद्धि (ब्रह्मरंध्र)–इन सबको

---

१. ज. °गिसंमत° । २ रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः । ३ घ. पार्श्वद्वयं । ४ ख. ङ. च. छ. ज. प्राणाजी° ५ ख. पानात्मकल° ।

मूलाधारमधिष्ठानं पूरकाख्यमनाहतम् । विशुद्धाख्यं च मत्स्थानं विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ७६ ॥

महाज्ञासिद्धिसंज्ञं च विष्णो वाराणसी पुरी ।

प्रणवांशत्रयं बिन्दुनादशक्तिसमाह्वयम् ॥ ७७ ॥

बीजस्थानं च मेढ्रं च रोमाणि विविधानि च ।

मम स्थानानि कल्याण विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ७८ ॥

यथाऽध्यात्मे महाविष्णो स्थानानि सुबहूनि मे ।

तथाऽधिभूते मे विष्णो स्थानानि सुबहूनि च ॥ ७९ ॥

कैलासपर्वतः साक्षात्स्थानं विष्णो ममानघ ।

श्रीमद्दक्षिणकैलासपर्वतश्च तथैव च ॥ ८० ॥

बहिरुपासनस्थानान्यभिधायऽऽन्तराण्यप्याह–मूलाधारमिति । देहमध्ये मूलाधारस्तत्र चतुर्दलपद्मे वर्णचतुष्टयेनोपास्य(सन)म् । लिङ्गमूलं स्वाधिष्ठानं तत्र पद्मदलषट्के वर्णषट्केनोपासनम् । नाभौ मणिपूरकं तत्रत्यपद्मदशके वर्णदशकेन । अनाहतं हृदि तत्रत्यपद्मदलद्वादशके वर्णद्वादशकेन । कण्ठे विशुद्धं तत्रत्यपद्मदलषोडशके वर्णषोडशकेन । भ्रूमध्य आज्ञा तत्रत्यपद्मदलद्वये वर्णद्वयेन । सिद्धिसंज्ञं ब्रह्मरन्ध्रं तत्रत्यसहस्रदलपद्म एकेन वर्णेन । इत्येकपञ्चाशता मातृकावर्णैरन्तरुपासनस्थानानि । वाराणसी भ्रूमध्यम् । श्रूयते हि–'भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः' इति । अकारोकारमकाराः । चकाराच्छान्तं च ॥ ७६–७८॥

मेरा स्थान समझो । भ्रूमध्य भी मेरा स्थान है, इसे शारीरिक वाराणसी कहते हैं । प्रणव के तीनों अंश (अकारादि से संबद्ध तीनों शरीर) मेरे स्थान हैं । इन्हीं तीनों अंशों के समूह को बिन्दुनाद की शक्ति कहते हैं ॥ ७७ ॥ अण्डकोष, शिश्न तथा विविध रोम–सब मेरे स्थान हैं ॥ ७८ ॥

अध्यात्म की तरह अधिभूत में भी मेरे कई स्थान हैं ॥ ७९ ॥ कैलास पर्वत साक्षात् मेरा निवासस्थान प्रसिद्ध है । दक्षिण कैलास पर्वत भी इसी तरह मेरा स्थान है ॥ ८० ॥ मोक्षफल देने वाली पुण्यमयी वाराणसी पुरी जहाँ मरने मात्र से सबको मोक्ष मिलता है, मेरा ही स्थान है ॥ ८१ ॥ सोमनाथ, केदारनाथ व श्रीशैल मेरे उत्तम स्थान हैं ॥ ८२ ॥ वृद्धाचल, गोपर्वत व हरतीर्थ मेरे स्थान हैं ॥ ८३ ॥ अधिग्राम,

वाराणसी पुरी पुण्या विमुक्तिफलदा नृणाम् ।

मरणादेव सर्वेषां तच्च स्थानं ममानघ ॥ ८१ ॥

श्रीसोमनाथसंज्ञं च तथा केदारमद्भुतम् । श्रीपर्वतं च मे स्थानं विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ८२ ॥

श्रीमद्वृद्धाचलं पुण्यं तथा गोपर्वतं हरे ।

तथा श्रीहरतीर्थं च विद्धि स्थानं ममाव्ययम् ॥ ८३ ॥

आधिग्रामसमाख्यं च श्वेतारण्यं महत्तरम् ।

[1]दन्तिस्थानं च मे विष्णो स्थानं विद्धि महत्तरम् ॥ ८४ ॥

त्रिकोटिहाख्यं गम्भीरं तथा [2]गोपुटतीर्थकम् ।

मध्यार्जुनं च मे स्थानं विद्धि पङ्कजलोचन ॥ ८५ ॥

श्रमन्मङ्गलवंशाख्यं कुम्भकोणसमाह्वयम् । तथा सव्येतरावर्तं विद्धि स्थानं ममानघ ॥ ८६ ॥

जप्येश्वरसमाख्यं च तथा वल्मीकमुत्तमम् ।

गजारण्यसमाख्यं मे विद्धि स्थानं विचक्षण ॥ ८७ ॥

वेदारण्यसमाख्यं च तथा हालास्यसंज्ञितम् ।

श्रीमद्रामेश्वराख्यं च स्थानं विद्धि ममाद्भुतम् ॥ ८८ ॥

पुण्डरीकपुरमुत्तमं मम स्थानमग्निसदृशं विशोधनम्[3] ।

योगनिष्ठमुनिसंघसेवितं भोगमुक्तिफलदं पुरातनम् ॥ ८९ ॥

इत्थमाध्यात्मिकान्युक्त्वाऽऽधिभौतिकान्याह–यथेति ॥ ७९–८९ ॥

श्वेतारण्य और दन्तिस्थानों को मेरे श्रेष्ठ स्थान समझो ॥ ८४ ॥ त्रिकोटिह, गोपुरतीर्थ और मध्यार्जुन मेरे स्थान हैं ॥ ८५ ॥ मंगलवंश, कुम्भकोण व दक्षिणावर्त मेरे स्थान हैं ॥ ८६ ॥ जप्येश्वर, वल्मीक और गजारण्य मेरे स्थान हैं ॥ ८७ ॥ वेदारण्य, हालास्य और रामेश्वर मेरे अद्भुत स्थान हैं ॥ ८८ ॥ पुण्डरीकपुर मेरा उत्तम स्थान है जो अग्नि की तरह सबको शुद्ध कर देता है । योगरत मुनिसमाज वहाँ निरंतर निवास करता है । भोग व मोक्ष देने वाला यह प्राचीन स्थान है ॥ ८९ ॥ तुम, मैं, इंद्र, नंदी, विनायक आदि सभी परम प्रेम से वहाँ रहते हैं । लिंग शरीर में हृदय का (मन का) जो स्थान है वही भूमि पर पुण्डरीकपुर का स्थान है । सभी आस्तिक उस शुभ स्थान

---

१ ग. दृष्टिस्थानं । छ. दृतिस्थानं । २ ख. ग. घ. गोपटुती० । ३ ख. ग. च झ. ज. विशोधने ।

त्वया मया वज्रधरेण नन्दिना विनायकाद्यैरखिलैरतिप्रियात् ।
निषेवितं संततमास्तिकैर्जनैः स्वराट्समाख्यस्य हृदि स्थितं शुभम् ॥ १० ॥
श्रुतिस्मृतिभ्यामपि सर्वशक्तिभिर्न गोचरीकर्तुमलं महत्तरम् ।
प्रसादिभिर्लभ्यमतीव शोभनं गुणाकरं गुह्यम्[1] शोभनापहम् ॥ ११ ॥
सदा परानन्दविकासकारणं दिवाकराणामपि कोटिभिः समम् ।
पुरातनानामपि पुण्यशीलिनां विमोहनाशाय मयैव निर्मितम् ॥ १२ ॥
स्थानमेतदतिप्रियमास्तिकैर्वेदविद्भिरतिप्रियकारिभिः ।
पूजितं पुरुषोत्तम मुक्तिदं सेवितं च सततं मयैव तु ॥ १३ ॥
अत्र नृत्तमतिशोभनं परं सत्यबोधसुखवस्तुबोधकम् ।
भक्तचित्तहृदयस्थितं[2] हरे व्यक्तमेव सततं करोम्यहम् ॥ १४ ॥
शंकरी च परमा विनायकः षण्मुखश्च सुयशाः पतिः प्रभुः ।
अन्तरङ्गजनमप्यतिप्रियं नृत्तमत्र परिपश्यति स्वयम् ॥ १५ ॥
त्वं च पद्मजनितः पुरंदरः पङ्कजाऽपि परमा सरस्वती ।
मत्प्रसादजनितेन चक्षुषा नृत्यमत्र ददृशुः समञ्जसम् ॥ १६ ॥

प्रकृतस्य पुण्डरीकपुरस्यात्यन्तवैशिष्ट्ये हेतमाह—त्वयेति । स्वराट्समाख्यस्येति । विराडात्मकं ब्रह्माण्डात्मकं समष्टिरूपस्य शिवस्य स्थूलशरीरं तदन्तर्वर्ति स्वराट्समाख्यं यल्लिङ्गशरीरं तस्य हृदयस्थानं तदित्यर्थः ॥ १० ॥ सर्वशक्तिभिरिति । सर्वा शक्तिः समग्रं सामर्थ्यमेषामस्ति तैर्महर्षिभिः श्रुतिस्मृतिभ्यामपि यद्गोचरीकर्तुमशक्यम् । किंतु शिवप्रसादवद्भिरेव लभ्यमित्यर्थः ॥ ११–१३ ॥ सत्येति । सत्यमनवच्छिन्नमबाध्यं सुखं ज्ञानानन्दघनं यद्वस्तु तस्य साधकम् ॥ १४ ॥

का सेवन करते हैं ॥ १० ॥ यह स्थान इतने माहात्म्य का है कि श्रुति-स्मृति भी इसका समग्र वैभव बता नहीं सकती । जिन पर मेरी कृपा है वे ही यहाँ पहुँच सकते हैं । यह शुभ स्थान गुणों की खान है, अशुभ का निवारक है और शिवपराङ्मुखों के लिये छिपा हुआ है ॥ ११ ॥ सदा परमानन्द के विकास का कारण बनने वाला यह स्थान करोड़ों सूर्यों की तरह देदीप्यमान है । प्राचीन जन्मों में भी जो स्वभावतः पुण्य करते रहे हैं उनके मोक्ष के लिये मैंने ही इस स्थान का निर्माण किया है ॥ १२ ॥ यह स्थान मुझे अति प्रिय है व मैं निरंतर यहाँ बना रहता हूँ । वेदवेत्ता तथा मेरी सेवा करने वाले आस्तिक इस

१ ङ. मतीव शोभनम् । २ हृदयस्य देहमध्यत्वात्तत्पदमिह मध्यपरम् । चित्तमध्य इत्यर्थः ।

शब्दजालपरिमोहिता जनास्तर्कजालपरिमोहिता अपि ।
अत्र नैव ददृशुश्च नर्तनं भक्तिहीनजनताऽप्यधोक्षज ॥ ९७ ॥
वेदबाह्यसरणिस्थिता जनाः केवलाश्च मनुजा अपि प्रियम् ।
अत्र भक्तिसहिता अपि स्वतः सत्यमेव ददृशुश्च नर्तनम् ॥ ९८ ॥
अत्र नृत्तमविलोक्य मानवः स्वर्गलोकमपि नैति चेज्यया ।
नित्यशुद्धसुखसत्यचिद्घनं ब्रह्म मुक्तिमपि नैति विद्यया ॥ ९९ ॥
नृत्तदर्शनविवर्जितः पुमानत्र कीटसदृशश्च केशव ।
तस्य पुण्यमपि दुष्कृतं भवेत्सत्यमेव कथितं मयाऽच्युत ॥ १०० ॥
नृत्तदर्शनविहीनवाडवः [1]सत्यमंत्र पुरुषोत्तमान्त्यजः ।
तस्य जन्म विफलं ह्यहो हरे कः स्वमोहमतिवर्तते नरः ॥ १०१ ॥
बहुप्रलापेन किमत्र लभ्यते विचित्रमेतत्पुरमादृतं मया ।
विमुक्तिभाजामपि पुण्यशीलिनां विमुक्तिहेतुः सकलोत्तमोत्तमम् ॥ १०२ ॥

शंकरीति । उक्तशंकर्यादिरन्तरङ्गजनः, आर्षं नपुंसकत्वम् । निगदव्याख्यानमन्यत् ॥ ९५–१०६ ॥

मोक्षप्रद स्थान का बहुत आदर करते हैं ॥ ९३ ॥ पुण्डरीकपुर में अतिशोभा वाला नृत्त व्यक्त करता हूँ । वह नृत्त परमार्थतः सच्चिदानंद वस्तु का बोधक है । भक्तों के चित्तों के बीच ही वह नृत्त अभिव्यक्त होता है (बाहर तो उसका प्रतीकमात्र दर्शनार्ह है) ॥ ९४ ॥ पार्वती, गणेश, स्कन्द तथा यशस्वी पशुपति सर्वप्रभु रुद्र— सभी अंतरंग लोग अत्यंत प्रेम से यहाँ स्वयं नृत्तदर्शन करते हैं ॥ ९५ ॥ तुमने, ब्रह्मा ने, इंद्र ने, लक्ष्मी ने व सरस्वती ने मेरी कृपा से प्राप्त दिव्य चक्षु से यहाँ सर्वोत्तम नृत्त का अवलोकन किया है ॥ ९६ ॥ शब्दजाल व तर्कजाल से मोहित भक्तिहीन लोग यहाँ भी परम नृत्त का दर्शन नहीं कर पाते ॥ ९७ ॥ भक्ति से परिपूर्ण मन वाले मनुष्य चाहे वैदिक सम्प्रदाय से बहिर्भूत भी हों, यहाँ स्वयं इस नृत्त का दर्शन कर चुके हैं ॥ ९८ ॥ यहाँ यदि परनृत्त को न देखा तो यागादि से स्वर्ग भी प्राप्त नहीं होता तथा विद्या से नित्य शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्मरूप मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता ॥ ९९ ॥ जिस पुरुष ने पुण्डरीकपुर में शिव के आनन्दताण्डव का स्वहृदय में दर्शन नहीं किया वह पृथ्वी पर कीट के समान ही है । उसका पुण्य भी पाप ही हो जाता है । इसमें संदेह न करो ॥ १०० ॥ जिस ब्राह्मण ने नृत्तदर्शन नहीं पाया उसे अन्त्यज ही समझो । उसका जन्म विफल है । अहो ! कौन हो सकता है जो (नृत्तदर्शन किये बिना)

---

[1] ख. सत्यमेव ।

सूत उवाच– एवमुक्त्वा महादेवः साम्बः संसारमोचकः ।
सत्यज्ञानपरानन्दस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १०३ ॥
विष्णुर्विश्वजगन्नाथो विश्वलोकहिते रतः ।
शिवस्थानानि चाऽऽकर्ण्य श्रीवैकुण्ठं गतोऽभवत् ॥ १०४ ॥
भवद्भिश्च महाभाग्याच्छिवस्थानानि सुव्रताः ।
श्रुतानि तानि मोक्षार्थं भजध्वं श्रद्धया सह ॥ १०५ ॥
स्थानानि सर्वाणि मयोदितानि द्विजेन्द्रवृन्दा अतिशोभनानि ।
भजेदविद्याविनिवृत्तिकामः प्रियेण चैकं परमेश्वरस्य ॥ १०६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवस्थानविचारो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि भस्मधारणवैभवम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण नरो मुच्येत बन्धनात् ॥ १ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे शिवस्थानविचारो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अपना अज्ञान निवृत्त कर पाये ! ॥ १०१ ॥ बहुत कहने से क्या लाभ ? यह विचित्र सर्वोत्तम पुर मेरा प्रिय बन चुका है । पुण्यवान् मुमुक्षुओं को यह स्थान मोक्ष देता है ॥ १०२ ॥

सूत जी बोले–यों कहकर संसार से मुक्त करने वाले सच्चिदानंद साम्ब सदाशिव वहीं अंतर्धान हो गये ॥ १०३ ॥ विश्वहितैषी विष्णु ने भी शिवस्थानों का श्रवण कर वैकुण्ठ के लिये प्रस्थान किया ॥ १०४ ॥ आप लोगों ने भी परम सौभाग्य से शिवस्थानों का ज्ञान पाया है । मोक्ष प्राप्ति के लिये आप सब श्रद्धापूर्वक उन स्थानों का सेवन कीजिये ॥ १०५ ॥ हे उत्तम ब्राह्मणो ! मैंने जितने स्थान बताये हैं सब अत्यंत शोभा वाले हैं । जो व्यक्ति अविद्या की निवृत्ति चाहे उसे प्रेमपूर्वक परमेश्वर के किसी एक स्थान का निष्ठा से सेवन करना चाहिये ॥ १०६ ॥

भस्मधारणवैभव नामक तीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं भस्मधारण करने का माहात्म्य कहता हूँ । इसे ठीक तरह समझने मात्र से जीव बंधविनिर्मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥ तत्त्वविचारक धार्मिकों ने भस्म को नाना प्रकार का बताया है । एक है महाभस्म तथा अन्य स्वल्प हैं ॥ २ ॥

भस्म नानाविधं प्रोक्तं धार्मिकैस्तत्त्वचिन्तकैः ।

एकं विप्रा महाभस्म स्वल्पमन्यत्रकीर्तितम् ॥ २ ॥

महाभस्म महादेवो महामायावभासकः ।

भर्त्सनात्सर्वपापानां [1]भासनं तस्य विद्यया ॥ ३ ॥

विद्या वेदोद्भवा साक्षान्मुनयः संशितव्रताः । अविद्या फलतश्चान्याः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ४ ॥

यस्य साक्षान्महाभस्म भाति स्वात्मतया स्वतः ।

न तस्य भस्मना कार्यं न जटाभिर्न चीवरैः ॥ ५ ॥

यस्य भस्म स्वतो भाति स्वात्मना मुनिपुंगवाः ।

न तस्य वर्णधर्मेण कार्यं नाऽऽश्रमधर्मतः ॥ ६ ॥

यस्या भस्माऽऽत्मरूपेण विभाति परयोगिणः ।

न तस्य तपसा कार्यं न दानेन न चेज्यया ॥ ७ ॥

शिवस्योपासनस्थानान्युक्त्वा तत्रोपासकानां भस्मधारणविधानाय त्रिंशमध्यायमारभते—अथात इति ॥ १–२ ॥ महत्त्वाल्पत्वाभ्यां द्विधा भस्माभिधाय महतः स्वरूपमाह—महाभस्मेति । मायातत्कार्यसाक्षित्वेन तदवभासनात्तत्त्वज्ञानप्रदानेन सर्वपापक्षयकरतया तद्भर्त्सनाद्वा महादेवो महाभस्म । तत्र भर्त्सनं तस्य महादेवस्य । कर्मणि षष्ठी । तद्विषयया विद्यया भवति ॥ ३ ॥ विद्येति । अन्या औपनिषदव्यतिरिक्ताः कलाशास्त्रादिविद्याः । फलस्य बन्धस्य हेतुत्वात्फलतोऽविद्या ॥ ४ ॥ महाभस्मतत्त्वविद्यावतोऽग्निहोत्राद्यल्पभस्मानपेक्षामाह—यस्य साक्षादिति । तत्साहचर्येण प्राप्तयोर्जटाचीवरयोरपि तद्वदेवानपेक्षामाह—नेति ॥ ५ ॥ अत्यल्पमिदमुच्यते, वर्णाश्रमधर्मैरपि न तस्योपकार इत्याह—यस्य भस्मेति । स्वतो भासकप्रमाणानपेक्षत्वेन यस्य स्वात्मना स्वतादात्म्येन भासत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ सामान्येनोक्तस्य वर्णादिधर्मस्य वैफल्यं विशेषतोऽप्याह—यस्य भस्मेति । तपसेति वनस्थादिधर्मेण । इज्ययेति गृहस्थधर्मेण । दानेनेति साधारणधर्मेण ॥ ७ ॥

महाभस्म तो स्वयं महादेव हैं जो महामाया के प्रकाशक हैं तथा जिनका ज्ञान सब पापों का समापक है ॥ ३ ॥ जो साक्षाद् वेद से उत्पन्न होता है वह अखण्ड ज्ञान ही विद्या है । बाकी सब ज्ञान बंधनात्मक फल देने वाले होने से अविद्या ही हैं ॥ ४ ॥ जिसे महाभस्म का निजरूप से साक्षात्कार हो चुका है उसे भस्म, जटा और वस्त्र से कोई प्रयोजन नहीं ॥ ५ ॥ जिसे महाभस्म स्वात्मरूप से भासमान है उसके लिये वर्णाश्रम धर्म कर्तव्य नहीं हैं ॥ ६ ॥ महाभस्म को स्व-रूप जानने वाले के लिए तप, दान व यज्ञों का कोई महत्त्व नहीं ॥ ७ ॥ स्वयम्प्रकाश महाभस्म को जो स्वरूपभूत साक्षी समझ चुका है, वेद स्मृति

१. भर्त्सनमिति पाठान्तरं टीकासंमतञ्च । भर्त्स तर्जने चौरादिकः । भर्त्सनाद्भस्म । कथम् ? तस्य विद्यया पापानां भर्त्सनं भवतीति योजना । यथाश्रुते विद्यया तस्य भासनं तेन पापानां भर्त्सनाद्भस्मेति साध्याहारं योज्यम् ।

यस्य साक्षिस्वरूपेण भस्म भाति स्वयंप्रभम् ।
न तस्य कार्यं वेदेन न च स्मृतिपुराणकैः ॥ ८ ॥
यस्य भस्म द्विजा भाति प्रत्यग्रूपेण संततम् ।
न तस्य कार्यं तीर्थेन नार्चनेन शिवस्य तु ॥ ९ ॥
भस्मविज्ञानसंपन्नो महायोगी महत्तरः ।
कृतकृत्यश्च मेधावी का कथा शिव एव सः ॥ १० ॥
भस्मविज्ञानलाभाय खलु वेदाः सनातनाः ।
प्रवृत्ताः स्मृतयः सर्वाः पुराणं भारतादि च ॥ ११ ॥
भस्मविज्ञाननिष्ठस्य न कर्तव्यं कथंचन ।
केवलं देहयात्रैव कार्याऽऽदेहान्तमास्तिकाः ॥ १२ ॥

वेदशास्त्राध्ययनरूपेण ब्रह्मचारिधर्मेणापि तस्य न प्रयोजनमित्याह—यस्येति ॥ ८ ॥ स्नातकबहूदकधर्मेण तीर्थयात्रादिनाऽपिनार्थ इत्याह—यस्य भस्म द्विजा इति । तद्ब्रह्म स्वयं तु प्रत्यगिति संज्ञामात्रेण भेदभानं न स्वरूपेणेत्यर्थः ॥ ९ ॥ उक्ततत्तद्धर्मविरहेऽपि तत्तत्फलविरहोऽपि स्यादिति चेन्न । तस्य परशिवतया परमैश्वर्यत्वेनार्वाचीनेषु निःस्पृहता स्यादित्याह—भस्मविज्ञानेति ॥ १०-११ ॥ प्रागुक्तवेदार्थवैफल्यं कथमिति चेत्तस्य ज्ञानसाधनत्वाद्विदुषस्तत्साध्यज्ञानस्य सिद्धत्वादित्याह—भस्मविज्ञानेति । न केवलं वेदशास्त्रस्य व्यवहारो, देहयात्रानुपयुक्तो लौकिकव्यवहारोऽपि तस्य निष्प्रयोजन इत्याह—केवलमिति । आदेहान्तमामरणम् ॥ १२ ॥

पुराण आदि की उसके लिये कोई कीमत नहीं ॥ ८ ॥ प्रत्यगात्मरूप से जिसे सदा महाभस्म का भान रहता है उसे तीर्थ और शिवपूजा से क्या प्रयोजन ? ॥ ९ ॥ महाभस्म के अनुभव से संपन्न महायोगी सबसे श्रेष्ठ है । वही कृतकृत्य और मेधावी है । उसके बारे में क्या कहें ? वह तो साक्षात् शिव ही है ॥ १० ॥ महाभस्म के ज्ञानार्थ ही सनातन वेद प्रवृत्त हुए हैं । स्मृति, पुराण, महाभारतादि सब इसी प्रयोजन से निर्मित हुए हैं ॥ ११ ॥ महाभस्म के जानकार के लिये किसी तरह का कोई कर्तव्य नहीं बचता । देह छूटने तक केवल वह देहयात्रा कर लेता है । (देहयात्रा अर्थात् देहस्थिति के लिये आवश्यक अशन, शौचादि व्यवहार ।) ॥ १२ ॥

स्वल्पं भस्म द्विजश्रेष्ठा बहुधा परिकीर्तितम् ।
श्रौतमेकं तथा स्मार्तमपरं पण्डितोत्तमाः ॥ १३ ॥
श्रौतं भस्म द्विजा मुख्यं स्मार्तं गौणं प्रकीर्तितम् ।
अन्यच्चास्ति द्विजा भस्म लौकिकं केवलं परम् ॥ १४ ॥

महाभस्मोक्त्वा स्वल्पभस्मनो वैदिकस्मार्तलौकिकभेदेन विभागमाह–**स्वल्पं भस्मेत्यादिना** । श्रुतिविहितेनाऽऽधानेन संस्कृताग्नावग्निहोत्राद्यनुष्ठानेन यन्निष्पन्नं तच्छ्रौतं भस्म । तदेव हि लिङ्गपुराणे भस्मस्नानाङ्गत्वेनोक्तम्–'भस्मस्नानं पुनः कुर्याद्विधिवद्देहशुद्धये । शोध्य भस्म यथान्यायं पुराणेनाग्निहोत्रजम् ॥ ईशानेन शिरोदेशं मुखं तत्पुरुषेण तु । उरोदेशमघोरेण गुह्यं वामेन सुव्रताः ॥ सद्येन पादौ सर्वाङ्गं प्रणवेनाभिषिञ्चयेत् । भस्मस्नानपरो विप्रो भस्मस्नायी जितेन्द्रियः ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् । यद्यकार्यसहस्राणि कृत्वा वै स्नाति भस्मना ॥ तत्सर्वं दहते भस्म यथाऽग्निस्तेजसा वनम्' ॥ इति । कल्पानुकल्पोपकल्पाकल्पभेदेन भस्मनश्चातुर्विध्यमभिधाय तस्य मुख्यं कल्पत्वमस्यैवोक्तं सिद्धान्तशेखरे– 'मूलेन शोधितं भस्म कल्पाख्यं परिकीर्तितम् । अग्निहोत्रसमुद्भूतमथवा भस्म कल्पकम्' ॥ इति ॥ बोधायनादिस्मृतिपुराणोक्तविधानेन संस्कृतं भस्म **स्मार्तम्** । यदाह बोधायनः–'सद्येन गोशकृद्ग्राह्यं वामात् पिण्डाभिमन्त्रणम् । अघोरेण दहेत्पिण्डं ग्राह्यं तत्पुरुषेण तु ॥ स्नानमीशानमन्त्रेण कुर्यान्मूर्धादिपादतः । आचम्य कूर्च आसीनः शिवो भूत्वा शिवं य[1]जेत्' ॥ इति । तथा शिवपुराणे– 'भस्मस्नानं तु कृत्वा तु विधिना पञ्चभिः क्रमात् । मन्त्रस्नानं पुनः कुर्यात्कृत्वाऽऽदौ वारुणं मुने ॥ प्रणवेन तु संशोध्य ततो हस्ततलं क्रमात् । गन्धादिभिश्च संमृज्य जपेदित्थं षडक्षरम् ॥ रुद्राग्नेर्यत्परं वीर्यं तद्भस्म परिकीर्तितम् । तस्मात्सर्वेषु लोकेषु वीर्यवान्भस्मसंयुतः ॥ भासकं भसितं चोक्तं भस्म कल्मषभक्षणात् । भूतिर्भूतिकरं पुंसां रक्षा रक्षाकरं परम्' । इति । तथा भविष्[2]यपुराणे–'यः स्नानमारभेन्नित्यमाग्नेयं संयतेन्द्रियः । कुलैकविंशमुत्तार्य स गच्छेत्परमां गतिम् ॥ महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः । भस्मस्नाननिषेवेण मुच्यते सर्वपातकैः' ॥ इति । श्रीमहाभारते–'आयुष्कामो नरो राजन्भूतिकामोऽथवा नरः । नित्यं वै धारयेद्भस्म मोक्षकामी च वै द्विजः' ॥ इति । कूर्मपुराणे–'ब्रह्मचारी मिताहारो भस्मनिष्ठः समाहितः । जपेदामरणं रुद्रं स याति परमां गतिम्' ॥ इति । शिवधर्मे–'भस्मस्नानं जलस्नानादसंख्येयगुणाधिकम् । तस्माद्वारुणमुत्सृज्य स्नानमाग्नेयमाचरेत् ॥ योऽश्नीयादन्नमस्नातः पापमत्ति च केवलम् । तस्मात् स्नात्वैव भुञ्जीत भस्मना सलिलेन च ॥ प्रातः स्नात्वाऽम्भसा गच्छेद्भस्मना च शिवं पदम् । पापकञ्चुकमुत्सृज्य कुलसप्तकमुद्धरेत् ॥ दुःशीलः शीलयुक्तो वा यो वा को वाऽथ लक्षितः । भूतिशासनसंयोगात्स पूज्यो राजपुत्रवत् ॥ वनस्पतिगते सोमे भस्मोद्धूलितदेहभृत् । अर्चितं शंकरं दृष्ट्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते' ॥ इति ॥ १३–१४ ॥

स्वल्प भस्म बहुत प्रकार की है । एक श्रौत है व अन्य स्मार्त (श्रुतिविहित अग्निहोत्र आदि से निष्पन्न भस्म श्रौत है । बौधायन आदि स्मृति व पुराणों में बताये ढंग से निर्मित स्मार्त है ।) ॥ १३ ॥ श्रौतभस्म मुख्य है और स्मार्त गौण है । इनसे भिन्न लौकिक भस्म भी होती है । (जो उक्त विधियों के अनुसार निर्मित नहीं होती है वह लौकिक भस्म है ।) ॥ १४ ॥ श्रौत व स्मार्त भस्म धारण करने

---

१ ख. ग. ङ. च. जपेत् । २ ख. घ. छ. ज. "ष्यत्पुरा" ।

श्रौतं भस्म तथा स्मार्तं द्विजानामेव कीर्तितम् ।
अन्येषामपि सर्वेषामपरं भस्म लौकिकम् ॥ १५ ॥
सर्वाङ्गोद्धूलनेनैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकैः ।
भस्म धार्यमिति प्रोक्तं द्विजानां मुनिपुंगवैः ॥ १६ ॥
धारणं मन्त्रतः प्रोक्तं द्विजानां मुनिपुंगवैः ।
केवलं धारणं विप्रा अन्येषामपि कीर्तितम् ॥ १७ ॥
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालोपनिषद्गतैः । सप्तभिर्धूलनं कार्यं भस्मना सजलेन च ॥ १८ ॥
त्रियायुषेण मन्त्रेण द्विजास्तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । धार्यं प्रोक्तं द्विजश्रेष्ठा धार्मिकैर्वेदपारगैः ॥ १९ ॥

उक्तभस्मनोऽधिकारिविभागमाह—**श्रौतं भस्म तथेति** । श्रौतस्मार्तभस्मद्वयस्य वेदमन्त्रैककरणकत्वेन तत्र शूद्रादेरनधिकारात् ॥ १५–१७ ॥ **अग्निरित्यादिभिरिति** । 'अग्निरिति भस्म । वायुरिति भस्म । जलमिति भस्म । स्थलमिति भस्म । व्योमेति भस्म सर्वं ँ ह वा इदं भस्म । मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि' इत्येते च सप्त मन्त्रा यद्यप्यथर्वशिरस्यधीयन्ते तत्र विनियुज्यन्ते तथाऽपि जावालोपनिषद्यपि विनियोग एतेषामस्तीति जावालोपनिषद्गतैरित्युक्तम् । श्रूयते हि तत्रापि—'अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा निमृज्याङ्गानि संस्पृशेत्' इति ॥ १८ ॥ भस्मस्नानानन्तरं त्रिपुण्ड्रधारणमाह—**त्रियायुषेणेति** । स च मन्त्र एवम्—'त्रियायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्रियायुषम् । अगस्त्यस्य त्रियायुषं यद्देवानां त्रियायुषम् । तन्मे अस्तु त्रियायुषम्' इति । त्रिपुण्ड्रधारणे[1] वृहज्जावालश्रुतिः 'तथोपरि तिर्यक्त्रिपुण्ड्रं धारयेत्' इति । तथा लौगाक्षिः—'मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैर्ललाटे भस्मना[2] कृतः । स त्रिपुण्ड्रो भवेच्छस्तो महापातकनाशनः ॥ त्रिपुण्ड्रं धारयेद्यस्तु शिवप्रणतमानसः । भूर्भुवःस्वस्त्रयो लोका धृतास्तेन महात्मना ॥ त्रिपुण्ड्रधृग्विप्रवरो यो रुद्राक्षधरः शुचिः । स हन्ति रोगदुरितव्याधिदुर्भिक्षतस्करान् ॥ स प्राप्नोति परं ब्रह्म यस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः । स पङ्क्तिपावनः श्राद्धेपूज्यो विप्रैः सुरैरपि ॥ श्राद्धे यज्ञे जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्चने । धृतत्रिपुण्ड्रः पूतात्मा मृत्युं जयति मानवः' ॥ इति । भविष्य[3]पुराणे—'शिवाग्निकार्यं यः कृत्वा कुर्यात्त्रियायुषाऽऽत्मवित् । मुच्यते सर्वपापैस्तु स्पृष्टेन भवभस्मना ॥ सितेन भस्मना कुर्यात्त्रिसंध्यं[4] यस्त्रिपुण्ड्रकम् । सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवेन सह मोदते' ॥ इति । कूर्मपुराणे—'सितेन भस्मना कुर्याल्लाटे तु त्रिपुण्ड्रकम् । योऽसावनादिर्भूतादिर्लोकात्मा स धृतो भवेत् । उपर्यधोभागयोगात्त्रिपुण्ड्रस्य तु धारणम्' ॥ इति । स्कन्दपुराणेऽपि—'शिरोललाटश्रुतिकण्ठबाहुरोमाभियुक्तानि षडङ्गुलानि । [5]स्थानेषु चैतेषु चतुर्ष्वपीह नक्षत्ररूपाणि सितानि विद्धि ॥ त्रियायुषं जमदग्नेरिति कुर्यात्त्रिपुण्ड्रकम् ॥

का अधिकार द्विजों को ही है । अन्य सबके लिये लौकिक भस्म है ॥ १५ ॥ द्विजों को चाहिये कि भस्म का दो प्रकार धारण करें—सारे शरीर में उद्धूलन तथा त्रिपुण्ड्र ॥ १६ ॥ भस्मधारण द्विजों को समंत्र करना उचित है तथा अन्यों को विना मंत्र के धारण करना चाहिये ॥ १७ ॥ जल से मिश्रित भस्म से उद्धूलन

---

१ ग. ङ. च. छ. ज. "णे जावा" । २ घ. "नाऽङ्कितः । ३ ङ. च. "ष्यपुरा" । ४ घ. "र्याल्ललाटे तु त्रिपु" । ५ ख. ग. घ. युक्तेषु ।

मेधावीत्यादिना वाऽपि ब्रह्मचारी दिने दिने ।
भस्मना सजलेनैव धारयेच्च त्रिपुण्ड्रकम् ॥ २० ॥

त्र्यैयम्बकेण मन्त्रेण प्रणवेन शिवेन वा । गृहस्थश्च वनस्थश्च धारयेच्च त्रिपुण्ड्रकम् ॥ २१ ॥
ओंकारेण निरुक्तेन सहंसेन त्रिपुण्ड्रकम् । धारयेद्भिक्षुको नित्यमिति जाबालिकी श्रुतिः ॥ २२ ॥
ललाटे चैव [1]दोर्द्वंद्वे तथैवोरसि बुद्धिमान् । त्रिपुण्ड्रं धारयेन्नित्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ २३ ॥
वर्णानामाश्रमाणां च मन्त्रतोऽमन्त्रतोऽपि च । त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं प्रोक्तं जाबालैरादरेण च ॥ २४ ॥
उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च ज्ञानाङ्गत्वेन सादरम् । आमनन्ति मुनिश्रेष्ठाः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥ २५ ॥
अयमत्याश्रमो धर्मो यैः समाचरितो मुदा । तेषामेव शिवज्ञानं [2]संसारच्छेदकारणम् ॥ २६ ॥

अथर्वसूत्रमन्त्रेण कुर्यात्तत्पुरुषेण वा । वर्तुलेन भवेद् व्याधिर्दीर्घेणैव तपःक्षयः ॥ नेत्रयुग्मप्रमाणेन त्रिपुण्ड्रं धारयेद्बुधः' इति । शिवपुराणे–'अकृत्वा भस्मना स्नानं न जपेद्वै षडक्षरम् । त्रिपुण्ड्रं च लिखित्वा तु विधिना भस्मना जपेत् । अन्त्यजो वाऽधमो वाऽपि मूर्खो वा पतितोऽपि वा ॥ यस्मिन्देशे वसेन्नित्यं भूतिशासनसंयुतः । तस्मिन्सदाशिवः सोमः सर्वभूतगणावृतः ॥ सर्वतीर्थैश्च तीर्थज्ञैः सांनिध्यं कुरुते सदा । सर्वाङ्गोद्धूलनं चैव न तु कल्पं त्रिपुण्ड्रकैः ॥ त्रिपुण्ड्रसहितो विप्रः पूज्यः सर्वैः सुरासुरैः । यस्मिन्देशे शिवज्ञानी भूतिशासनसंयुतः ॥ गतो यदृच्छया वाऽपि तस्मिंस्तीर्थाः समागताः । बहुनाऽत्र किमुक्तेन संपूज्याः शिवयोगिनः ॥ लिङ्गार्चनं सदा कार्यं जप्यो मन्त्रः षडक्षरः' ॥ इति ॥ १९ ॥ आश्रमभेदेन विकल्पितान्मन्त्रभेदानाह–मेधावीत्यादिनेति ॥ २०–२५ ॥ श्वेताश्वतरशाखिन आमनन्तीत्युक्तं, ते यदामनन्ति तदाह–अयमत्याश्रम इति ॥ २६ ॥

करते हुए 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों का उच्चारण कर्तव्य है ॥ १८ ॥ द्विजों को 'त्र्यायुषम्' इत्यादि मन्त्र से त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिये ॥ १९ ॥ ब्रह्मचारी 'मेधावी' इत्यादि मंत्रों से भी प्रतिदिन त्रिपुण्ड्र धारण कर सकता है ॥ २० ॥ गृहस्थ व वानप्रस्थ चाहें तो 'त्र्यम्बकम्' आदि मंत्र से या प्रणव से या शिवमंत्र से त्रिपुण्ड्र लगा सकते हैं ॥ २१ ॥ जाबालिकी श्रुति के अनुसार संन्यासी को ओङ्कार और हंस मंत्र से नित्य त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिये ॥ २२ ॥ भोग व मोक्ष रूप फल देने वाला त्रिपुण्ड्र ललाट पर, भुजाओं पर व वक्ष पर लगाना चाहिये ॥ २३ ॥ वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले यदि मंत्रपूर्वक कभी न कर पायें तो मंत्र के बिना ही कर लें किंतु त्रिपुण्ड्र और उद्धूलन करना अवश्य चाहिये ॥ २४ ॥ श्वेताश्वतर शाखा के अध्येताओं की मान्यता है कि त्रिपुण्ड्र तथा उद्धूलन ज्ञान का अंग है ॥ २५ ॥ सभी आश्रमों की सीमा लाँघ कर (अर्थात् सर्वसाधारण) विहित यह धर्म (भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण) जिनके द्वारा प्रेम से अनुष्ठित हो चुका है उन्हें ही संसार का छेदन करने वाला शिवात्मज्ञान प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

---

१ ख. दोर्दण्डे । २. ख. °सारोच्छे° ।

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च मायापाशनिवृत्तये । आमनन्ति मुनिश्रेष्ठा अथर्वशिरसि स्थिताः ॥ २७ ॥

तथाऽपि मायाविच्छेदो ज्ञानादेव तु केवलात् ।
अज्ञानस्य तु विज्ञानं बाधकं खलु नेतरत् ॥ २८ ॥

व्रतं पाशुपतं येन सम्यगाचरितं बुधाः ।
तस्य ज्ञानं विजायेत[1] तेन पाशविमोचनम् ॥ २९ ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च ज्ञानाङ्गत्वेन केवलम् ।
आमनन्ति मुनिश्रेष्ठाः साक्षात्कैवल्यशाखिनः ॥ ३० ॥

अतोऽपि पाशविच्छेदलाभाय ज्ञानसिद्धये ।
उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च मुमुक्षुः सम्यगाचरेत् ॥ ३१ ॥

अग्न्यादिभ्यः परा भूतिस्तया तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । धूलनं चाऽऽचरेदेव मुमुक्षुर्ज्ञानसिद्धये ॥ ३२ ॥

श्रुत्यन्तरेऽपि संवादमाह–**उद्धूलनमिति** ॥ २७ ॥ पाशनिवृत्तये चेदामनन्ति तर्हि ज्ञानाङ्गत्वेनाऽऽमनद्भिः सह विरोध इत्यत आह–**तथाऽपीति** । तत्र हेतुमाह–**ज्ञानादेवेति** । **केवलादिति** । न भस्मस्नानसहितादित्यर्थः । तत्रोपपत्तिमाह–**अज्ञानस्येति** । 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुत्या मायानिवृत्तिरूपेऽमृतत्वे ज्ञानातिरिक्तसाधननिरासादित्यर्थः ॥ २८ ॥ तर्हि व्रतवैयर्थ्यमित्यत आह–**व्रतं पाशुपतमिति** । व्रतक्षपितकल्मषस्यैवोपनिषज्ज्ञानान्मायापाशस्य निवृत्तिरिति व्रतात्तन्निवृत्तिरित्युच्यते । एवं हि श्रूयते 'व्रतमेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय' इति । अथर्वशिरसि साक्षान्मायापाशनिवृत्तिहेतुत्वेन श्रुतमपि व्रतमौपनिषदज्ञानद्वारेणैव, न साक्षादिति न्यायादुक्तम् ॥ २९ ॥ न केवलं न्यायात्प्रत्यक्षश्रुतावप्येवमाम्नायत इत्याह–**साक्षात्कैवल्यशाखिन** इति ॥ ३० ॥ ज्ञानद्वारेण साधनतामुक्तामुपसंहरति–**अतोऽपीति** । अस्मिन्परम्परासाधनत्वेऽपीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ उद्धूलनत्रिपुण्ड्रयोरुक्ते ज्ञानसाधनत्व उपपत्तिमाह–**अग्न्यादिभ्य** इति । अग्न्यम्बुपृथिवीलक्षणात्तत्त्वज्ञानसाधनाद्भूतत्रयादुत्पन्ना भूतिः । अतस्तया कृतमुद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च ज्ञानसाधनमित्यर्थः । भूतत्रयस्य च ज्ञानसाधनतोक्ता छन्दोगोपनिषदि–'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' इति ॥ ३२ ॥

अथर्वशिर के वचन कहते हैं कि उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र माया के पाशों को काटने में सहायक है ॥ २७ ॥ सहायता मिलने पर भी माया का नाश तो केवल ज्ञान से हो सकता है । अज्ञान रूप माया का बाध करने वाला शिवानुभव से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ २८ ॥ भस्मधारणप्रधान पाशुपतव्रत का जिन्होंने कायदे से पालन किया है उन्हें परम ज्ञान होता है और उससे पाशसमाप्ति होती है ॥ २९ ॥ कैवल्यशाखा वालों का भी कथन है कि उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र ज्ञान का अंग है ॥ ३० ॥ अतः मुमुक्षु को चाहिये कि पाशहानि के लिये व तत्साधनभूत ज्ञान की प्राप्ति के लिये भस्म से उद्धूलन करे और त्रिपुण्ड्र का धारण करे ॥ ३१ ॥ भस्म बनती है अग्नि, जल और पृथ्वी इन तीन महाभूतों से । ये तीनों परमात्मज्ञान के उपाय हैं क्योंकि छान्दोग्य में इन्हें ही ब्रह्म को समझने का लिंग बताया हैं । अतः भस्म से लगाया त्रिपुण्ड्र और उसी से किया उद्धूलन ज्ञान दिलाये यह संगत ही है ॥ ३२ ॥ प्रमादवश भी मोक्षार्थी को भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण कभी नहीं छोड़ना चाहिये । यह

१ ग. "त पशुपा" ।

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

प्रमादादपि मोक्षार्थी न त्यजेदिति हि श्रुतिः ॥ ३३ ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

महापापविनाशाय विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३४ ॥

उद्धूलनत्रिपुण्ड्रयोः कैवल्यसिद्धये कर्तव्यतोक्ता । अकरणे तदसिद्धिमाह–भस्मनोद्धूलनमिति । मुमुक्षोस्त्यागनिषेधादेव त्याग इष्यमाणमुक्तेरसिद्धिर्ज्ञायते । इत आरभ्याध्यायशेषेण भस्मोद्धूलनस्य त्रिपुण्ड्रधारणस्य च करणे याः सिद्धय उक्ता अकरणे च प्रत्यवायास्तत्सर्वं प्रपञ्चितं कालाग्निरुद्रोपनिषदि । अतः सा सर्वैवोदाह्रियते–'अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रविधिं[1] तत्त्वं किं द्रव्यं कियत्स्थानं कति प्रमाणं का रेखाः के मन्त्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्ता किं फलमिति । तं होवाच भगवान्यद्द्रव्यं तदाग्नेयं[2] भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति [3]भस्मेत्यनेन[4] मन्त्रेणाभिमन्त्र्य मा नस्तोक इति समुद्धृत्य[5] जलेन संसिच्य त्रियायुषमिति शिरोललाटवक्षस्कन्धेष्विति त्रिभिस्त्रियायुषैस्त्रियम्बकैस्तिर्यक्तिस्रो[6] रेखाः प्रकुर्वीत व्रतमेतच्छांभवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं तत्समाचरेन्मुमुक्षुरपुनर्भवाय । अथ सनत्कुमारः प्रमाणमस्य त्रिधा चाऽऽललाटादा चक्षुषश्चाऽऽभ्रुवोर्मध्यतो याऽस्य प्रथमा रेखा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकश्चाऽऽत्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः[7] प्रातः सवनं महेश्वरो [8]देवतेति । याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनं सवनं सदाशिवो देवतेति । याऽस्य तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदः सायंदिनं सवनं महादेवो देवतेति । यस्त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स समस्तमहापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति स संततं सर्वरुद्रजापी भवति स सर्वान्वेदानधीतो भवति स सकलभोगभुग्देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यमेति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान्कालाग्निरुद्रः । यस्त्वेतदधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत्' इति ॥ ३३-६३ ॥

वेदाज्ञा है ॥ ३३ ॥ भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण से महापाप निवृत्त होते हैं, ऐसा श्रौत विधान है ॥ ३४ ॥ उक्त उभयविध भस्मधारण का विधान इसलिये है कि उससे प्राणियों की रक्षा होती

---

१ ग. °धिं किं त° । २ ङ. च. छ. ज. °ग्नेयमग्नेयं । ३ छ. °त्यभि° । ४ घ. ङ. °नेन चाभि° । ५ ख. ग. घ. च. छ. °त्य त्रि° । ६ छ. °चैरिति त्र्यम्ब° । ७ ख. घ. ङ. °श्चाऽऽत्मकि° । ८ ग. घ. च. छ. ज. °वता याऽ° ।

भस्मनोद्द्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

रक्षार्थं सर्वजन्तूनां विधत्ते वैदिकी श्रुति ॥ ३५ ॥

भस्मनोद्द्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

मङ्गलार्थं च सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३६ ॥

भस्मनोद्द्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

पवित्रार्थं च सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३७ ॥

भस्मनोद्द्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

माहेश्वराणां लिङ्गार्थं विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३८ ॥

भस्मनोद्द्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

लिङ्गार्थं चैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ३९ ॥

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । स्नानत्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४० ॥

भस्मनोद्द्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।

व्रतत्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४१ ॥

है ॥ ३५ ॥ उद्धूलन करने व त्रिपुण्ड्र लगाने से सबका मंगल होता है, अतः श्रुति ने उनकी विधि की है ॥ ३६ ॥ भस्म लगाने से सब पवित्र हो जाते हैं, इसलिये वेद ने सबके लिये उसे लगाने की आज्ञा दी है ॥ ३७ ॥ उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र इस बात का चिह्न है कि व्यक्ति महेश्वर का भक्त है, अतः श्रुति ने उन्हें कर्तव्य कहा है ॥ ३८ ॥ सभी परमेश्वरभक्तों का चिह्न उद्धूलन व त्रिपुण्ड्र है अतः उनका श्रुति ने विधान किया है ॥ ३९ ॥ इन दोनों का विधान स्नानरूप से, व्रतरूप से, दानरूप से, तपरूप से, यज्ञरूप से, किम्बहुना ! सभी धर्मों के रूप से सब लोगों के लिए श्रुति ने कर दिया है ॥ ४०–४५ ॥ शिव, विष्णु, ब्रह्मा, इंद्र तथा अन्य देवताओं द्वारा त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन दोनों प्रकारों से भस्म का धारण किया जाता है ॥ ४६ ॥ उमा, लक्ष्मी, सरस्वती तथा अन्य दिव्य स्त्रियों द्वारा भी भस्म का उभयथा धारण

भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।
दानत्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४२ ॥
भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।
तपस्त्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४३ ॥
भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।
यज्ञत्वेनैव सर्वेषां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः ॥ ४४ ॥
भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ।
सर्वधर्मतया पुंसां विधत्ते वैदिकी श्रुतिः[१] ॥ ४५ ॥
शिवेन विष्णुना चैव ब्रह्मणा वज्रिणा तथा ।
देवताभिर्धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्धूलनात्मना ॥ ४६ ॥
उमादेव्या च लक्ष्म्या च वाचा चान्याभिरास्तिकाः ।
सर्वस्त्रीभिर्धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्धूलनात्मना ॥ ४७ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वसिद्धविद्याधरादिभिः । मुनिभिश्च धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्धूलनात्मना ॥ ४८ ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैरपि च संकरैः । अपभ्रंशैर्धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्धूलनात्मना ॥ ४९ ॥
उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च यैः समाचरितं मुदा ।
त एव शिष्टा विद्वांसो नेतरे मुनिपुंगवाः ॥ ५० ॥

किया जाता है ॥ ४७ ॥ यक्ष, राक्षस, गंधर्व, सिद्ध विद्याधर आदि अमानुषों द्वारा तथा मुनियों द्वारा भी दोनों तरह से भस्मधारण किया जाता है ॥ ४८ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, संकर तथा पतितों द्वारा भी उद्धूलन एवं त्रिपुण्ड्रधारण किया जाता है ॥ ४९ ॥ उद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण जो करते हैं उन्हें ही शिष्ट और विद्वान् समझना चाहिये, अन्यों को नहीं ॥ ५० ॥ जो श्रद्धापूर्वक इन दोनों का अनुष्ठान नहीं

---

१ एतदग्रे 'भस्मनोद्धूलनं चैव तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । मोक्षधर्मतया पुंसो विधत्ते वैदिकी श्रुतिः' इत्यधिकं कुत्रचिद् दृश्यते ।

उद्गधूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

तेषां नास्ति विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥ ५१ ॥

उद्गधूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

तेषां नास्ति शिवज्ञानं कल्पकोटिशतैरपि ॥ ५२ ॥

उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

तेषां नास्ति समाचारो वर्णाश्रमसमन्वितः ॥ ५३ ॥

उद्गधूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रस्य निर्णयः ॥ ५४ ॥

उद्गधूलनं त्रिपुण्ड्रं च श्रद्धया नाऽऽचरन्ति ये ।

तैः समाचरितं सर्वं विपरीतफलाय हि ॥ ५५ ॥

महापातकयुक्तानां जन्तूनां पूर्वजन्मसु । त्रिपुण्ड्रोद्गधूलनद्वेषो जायते सुदृढं बुधाः ॥ ५६ ॥

त्रिपुण्ड्रोद्गधूलने श्रद्धा येषां नैवोपजायते । उपपातकदोषेण दुष्टास्ते नात्र संशयः ॥ ५७ ॥

त्रिपुण्ड्रोद्गधूलनादौ न दर्शने श्रवणेऽपि च ।

वाञ्छा न जायते येषां ते महापापसंयुताः ॥ ५८ ॥

येषां क्रोधो भवेद्भस्मधारणे तत्प्रमाणके ।

ते महापातकैर्युक्ता इति मे निश्चिता मतिः ॥ ५९ ॥

करते उन्हें करोड़ों जन्मों में भी संसारबंधन से मोक्ष नहीं मिल सकता ॥ ५१ ॥ करोड़ों कल्पों में भी उन्हें शिवज्ञान प्राप्त होना असंभव है जो प्रेमपूर्वक उद्धूलन व त्रिपुण्ड्रधारण नहीं करते ॥ ५२ ॥ जो उक्त विधया भस्म नहीं लगाते उनका आचरण वर्णाश्रम धर्म के अनुसार नहीं है ॥ ५३ ॥ शास्त्र का यह निर्णय है कि श्रद्धा से भस्मधारण न करने वाले महापाप से युक्त हैं ॥ ५४ ॥ भस्म न लगाने वालों द्वारा जो कुछ किया जाता है सब विपरीत फल वाला ही होता है ॥ ५५ ॥ पूर्वजन्मों में जो लोग महापापी होते हैं उन्हें इस जन्म में भी त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन से घोर द्वेष होता है ॥ ५६ ॥ जिन्हें त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन

भस्मधारणमाहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ।

गुरुणा चापि मे विप्राः कल्पकोटिशतैरपि ॥ ६० ॥

ब्रह्मणा विष्णु चापि रुद्रेणापि मुनीश्वराः ।

भस्मधारणमाहात्म्यं न शक्यं परिभाषितुम्[1] ॥ ६१ ॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं मुनीन्द्रा ब्रह्मवादिनः ।

ये नरा भस्म संत्यज्य कुर्वन्त्यन्यत्समीहितम् ॥ ६२ ॥

अतिरहस्यमिदं मुनिपुंगवाः कथितमेव समस्तजगद्धितम् ।

यदि समाचरितं मनुजैर्मुदा सफलमेव हि जन्म न संशयः ॥ ६३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे भस्मधारणवैभवं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे भस्मधारणवैभवं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

में श्रद्धा नहीं हो पाती, वे निश्चय ही उपपातकों से युक्त हैं ॥ ५७ ॥ त्रिपुण्ड्र आदि धारण करने की, किसी त्रिपुण्ड्रधारी को देखने की या उसके विषय में सुनने की भी जिन्हें इच्छा नहीं होती वे महापापी हैं ॥ ५८ ॥ यह मेरा निश्चय है कि भस्मधारण से या तदर्थ प्रमाण सुनने से जिन्हें क्रोध होता है वे महापापी हैं ॥ ५९ ॥ भस्मधारण का पूरा माहात्म्य मैं या मेरे गुरु व्यासदेव भी अनंतकाल में भी नहीं बता सकते ॥ ६० ॥ ब्रह्मा, विष्णु या रुद्र भी भस्मधारण के वैभव की इयत्ता बताने में अक्षम हैं ॥ ६१ ॥ हे मुनीश्वरो ! यह अविवेक का ही प्रताप है कि लोग भस्म छोड़कर अन्य यथेच्छ वस्तुओं को धारण करते हैं ॥ ६२ ॥ यह अत्यंत रहस्य का विषय मैंने आप लोगों को बताया है । यदि उद्धूलन या त्रिपुण्ड्रधारण कर लिया जाये तभी निःसंशय जन्म सफल है ॥ ६३ ॥

---

१ माहात्म्यस्येयत्तां वक्तुमशक्तास्तदभावादेवेत्यर्थः ।

एकत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि शिवप्रीतिकरं मुदा ।
श्रद्धया सह विप्रेन्द्राः शृणुतातीव शोभनम् ॥ १ ॥
जीवब्रह्मैक्यविज्ञानं विशुद्धं वेदसंभवम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ २ ॥
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानं यत्तद्वेदान्तवाक्यजम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ ३ ॥
साम्बमूर्तिधरस्यास्य शिवस्य ध्यानमास्तिकाः । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ ४ ॥
नृत्यमानस्य देवस्य ध्यानं यत्तद् द्विजोत्तमाः । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ ५ ॥
शिवशंकररुद्रादिशब्दाभ्यासश्च सादरम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरः सदा ॥ ६ ॥
शिवभक्तिश्च विप्रेन्द्रा गुरुभक्तिस्तथैव च । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरी सदा ॥ ७ ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणेषु विश्वासो यः स आस्तिकाः ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरः सदा ॥ ८ ॥
अध्यापनं चाध्ययनं वेदवेदान्तयोरपि[1] । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ ९ ॥
वेदवेदान्तवाक्यानां तात्पर्यस्य निरूपणम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १० ॥
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनाचारो जाबालोक्तेन वर्त्मना । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरः सदा ॥ ११ ॥

भस्मोद्धूलनत्रिपुण्ड्रधारणवद्यदन्यच्छिवप्रीतिकरं तद्वक्तुं प्रतिजानीते—अथात इति ॥ १ ॥ जीवब्रह्मेति । तद्धि शिवपूजाभेदानां मध्य उत्तमा निराधारा पूजेति पूर्वमुक्तम् । निगदव्याख्यानमन्यत् ॥ २–३४ ॥

जीवब्रह्मैक्य-निरूपण नामक इकतीसवाँ अध्याय

सूत जी ने कहा—अब मैं वह बताऊँगा जो शिव को अत्यंत प्रसन्न करता है । श्रद्धापूर्वक आप लोग इस शुभ विषय को सुनिये ॥ १ ॥ जीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव, जो बिना किसी प्रकार वाला है और वेदश्रवण से उत्पन्न होता है, देवाधिदेव को सदा अत्यंत प्रसन्न करता है ॥ २ ॥ वेदान्तवाक्यों से उत्पन्न यह अनुभव कि सब ब्रह्म है, महादेव को अत्यधिक प्रसन्न करता है ॥ ३ ॥ अर्धनारीश्वर रूप धरने वाले शिव का ध्यान उन्हें बहुत प्रसन्न करता है ॥ ४ ॥ नृत्य करते हुए नटराज का ध्यान करना महादेव की प्रसन्नता का अचूक उपाय है ॥ ५ ॥ शिव, शंकर, रुद्र आदि शब्दों का पुनः पुनः उच्चारण शिव की प्रसन्नता का हेतु है ॥ ६ ॥ शिवभक्ति व गुरुभक्ति से महादेव अवश्य प्रसन्न होते हैं ॥ ७ ॥ श्रुति, स्मृति व पुराणों में विश्वास रखने से शिव प्रसन्न होते हैं ॥ ८ ॥ वेद तथा वेदान्तों को पढ़ाना व पढ़ना भी महादेव को प्रसन्न करने का उत्तम उपाय है ॥ ९ ॥ वेद व वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य का निरूपण करना (स्वयं तात्पर्य समझना और अन्यों को उसे समझाना) शिवप्रीति का हेतु होता है ॥ १० ॥ जाबालोपनिषत् में बताये ढंग से त्रिपुण्ड्र लगाना व उद्धूलन करना महादेव को प्रसन्न करता है ॥ ११ ॥ कण्ठ, सिर या हाथ में (भुजा में) रुद्राक्षधारण करना शिव की प्रसन्नता का कारण

---

१ वेदात्पृथग्वेदान्तोक्तिः पाराशर्यसूत्रप्रकरणादिग्रन्थपरा ।

कण्ठे शिरसि वा हस्ते रुद्राक्षाणां च धारणम् ।

देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १२ ॥

लिङ्गे शिवार्चनं नित्यं वेदोक्तेनैव वर्त्मना ।

देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १३ ॥

वाराणस्यादिके स्थाने यात्राकरणमादरात् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १४ ॥

शान्तिदान्त्यादिसंपत्तिर्मुमुक्षुत्वं मुनीश्वराः । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १५ ॥

नित्यानित्यार्थविज्ञानं वैराग्यं सुदृढं तथा । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १६ ॥

यज्ञदानतपःकर्मनिष्ठा चाऽऽश्रमरक्षणम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १७ ॥

स्वजातिविहिताचारस्तथाऽन्याचारवर्जनम् ।

देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १८ ॥

निषिद्धकर्मणां त्यागो दुर्वृत्तानामुपेक्षणम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ १९ ॥

दया सर्वेषु भूतेषु मार्गदूषणवर्जनम् । देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरं सदा ॥ २० ॥

है ॥ १२ ॥ शिवलिंग में प्रतिदिन शिवपूजा करना महेश्वर को सदा प्रिय है ॥ १३ ॥ वाराणसी आदि शिवस्थानों की यात्रा करना (तथा वहाँ अंतर्ग्रही आदि यात्रा करना) शिव को प्रसन्न करता है ॥ १४ ॥ शम, दम आदि षट्सम्पत्ति व मुमुक्षा होने से शिव बहुत प्रसन्न होते हैं ॥ १५ ॥ नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक और वैराग्य हो तो शिव की प्रसन्नता का क्या ठिकाना ॥ १६ ॥ यज्ञ, दान, तप व शास्त्रीय कर्मों में निष्ठा एवं आश्रमधर्मों का पालन परमेश्वर की प्रीति का उपाय है ॥ १७ ॥ अपने वर्ण के लिये विहित आचार करना व अन्य आचार न करना शिव को प्रसन्न करता है ॥ १८ ॥ निषिद्ध कर्मों का त्याग और दुश्चरित्र लोगों की उपेक्षा महेश्वर को प्रिय है ॥ १९ ॥ सब प्राणियों पर दया करना तथा किसी भी मार्ग को दूषित न करना (लांछित न करना या मिथ्योपदेश, गलत आचार आदि द्वारा दोषयुक्त न बनाना) भगवान् शंकर को प्रसन्न करता है ॥ २० ॥ ब्राह्मणों की व विशेषतः शिवतत्त्व के ज्ञाताओं

द्विजानामपि शुश्रूषा ज्ञानिनां च विशेषतः ।
देवदेवस्य विप्रेन्द्रा महाप्रीतिकरी सदा ॥ २१ ॥
शिवज्ञानैकनिष्ठस्य गुरोः शुश्रूषणं सदा ।
शिवप्रीतिकराणां तु विशिष्टं नात्र संशयः ॥ २२ ॥
पुरा काचित्कुलालस्त्री बभूवातीव सुन्दरी ।
सा सहस्रत्रयं हत्वा विप्राणामर्थवाञ्छया ॥ २३ ॥
महाधनवती भूत्वा मायया परिमोहिता ।
यथेष्टं भूतले विप्रा चचार परिगर्विता ॥ २४ ॥
कश्चिद्विज्ञानसंपन्नो महायोगी सुनिश्चलः ।
श्रीमद्दक्षिणकैलासं शिवस्थानोत्तमोत्तमम् ॥ २५ ॥
वर्तितुं श्रद्धयाऽगच्छद्विदित्वा देशवैभवम् ।
तं दृष्ट्वा सा स्वभोगार्थं प्रणिपत्य तपस्विनम् ॥ २६ ॥
परिगृह्यातिसंतुष्टा गृहे स्वीये विचक्षणा ।
स्नाप्य वस्त्रादिकं दत्त्वा भोजयित्वाऽनुमोदितः(ता) ॥ २७ ॥
चन्दनाद्यैरलंकृत्य दत्त्वा ताम्बूलपूर्वकम् । समाश्वास्य महात्मानं प्रियं भुक्तवती द्विजाः ॥ २८ ॥
सोऽपि विज्ञानसंपन्नो महायोगी निराकुलः । अतीव प्रीतिमापन्नस्तया सह मुनीश्वराः ॥ २९ ॥
श्रीमद्दक्षिणकैलासे शिवस्थानोत्तमोत्तमे । [1]अवर्तत चिरं कालमतीव प्रीतिसंयुतः ॥ ३० ॥
देवदेवो महाप्रीतस्तया शुश्रूषया द्विजाः । तस्यै परमकैवल्यं ददौ विज्ञानपूर्वकम् ॥ ३१ ॥
बहवो ज्ञाननिष्ठस्य शुश्रूषाबलतो द्विजाः । शिवप्रीतिमवाप्याऽऽशु विमुक्ता भवबन्धनात् ॥ ३२ ॥

की सेवा करने से महादेव प्रसन्न होते हैं ॥ २१ ॥ केवल शिवज्ञान में निष्ठा वाले गुरु की सदा तत्परता से सेवा करने से शिव प्रसन्न होते हैं ॥ २२ ॥

प्राचीन काल में एक कुम्हार जाति की अत्यन्त सुन्दर स्त्री थी । धन लोभ से उसने तीन हजार ब्राह्मणों का वध कर दिया ॥ २३ ॥ उनका धन हरण कर वह बहुत धनवती हो गयी । गर्व से मत्त हुए वह अविवेकपूर्ण आचरण करने लगी ॥ २४ ॥ एक बार कोई शिवज्ञानी योगी दक्षिणकैलास पहुँचा ॥ २५ ॥ उस स्थान की महत्ता की जानकारी पा वह वहीं रहने की दृष्टि से गया था । उसे देख उस स्त्री ने उससे भोग की इच्छा से उसे प्रणाम कर व अनुकूल कर अपने घर लाकर रखा । अति संतुष्ट हो उसने तपस्वी को स्नान कराया, वस्त्र दिये व भोजन कराया ॥ २६–२७ ॥ चंदनादि से उसे सज्जित किया व ताम्बूल निवेदित किया । यों उसे प्रसन्न कर उससे भोग किया ॥ २८ ॥ उस महायोगी को भी उस स्त्री से बड़ा सुख मिला । अतः वह उसके साथ ही दीर्घकाल तक उस स्थान में रहा ॥ २९–३०॥ महादेव यह देख बहुत प्रसन्न हुए कि उस स्त्री ने शिवज्ञानी की प्रचुर सेवा की है, अतः उन्होंने तत्त्वज्ञानपूर्वक उसे कैवल्य प्रदान किया ॥ ३१ ॥

---

१ ग. ङ. आवर्तत ।

अतः उक्तेषु सर्वेषु शुश्रूषा शिवयोगिनः । शिवप्रीतिकरी साक्षादिति वेदार्थसंग्रहः ॥ ३३ ॥

अतः शिवप्रीतिकरं विचार्य द्विजोत्तमा वेदविदां वरिष्ठाः ।

मदुक्तमार्गेण शिवप्रियेण सदाशिवप्रीतिकरं कुरुध्वम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे जीवब्रह्मैक्यनिरूपणं[1] नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथ वक्ष्ये महादेवश्रद्धाभावस्य कारणम् ।

मनुष्याणां मुनिश्रेष्ठाः शृणुत श्रद्धया सह ॥ १ ॥

पुरा कालविपाकेन प्राणिकर्मवशेन च । पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः ॥ २ ॥

अनावृष्ट्या द्विजा भूमिर्दुर्भिक्षाऽभवदास्तिकाः । क्षुत्पीडा च महातीव्रा विजाता सर्वदेहिनाम् ॥ ३ ॥

मनुष्याश्चासमाचारा अभवन्नन्नवाञ्छया । हत्वा केचिन्मनुष्यांश्च भुक्तवन्तो विमोहिताः ॥ ४ ॥

हत्वा केचित्पशून्मोहादजान्केचन मोहिताः । तुरंगाश्च गजान्केचिद्भुक्तवन्तो यथाबलम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणाः [2]केचिदालोड्य विशिष्टा मुनिसत्तमाः । गौतमस्याऽऽश्रमं पुण्यं ययुः सर्वे महत्तरम् ॥ ६ ॥

गौतमस्य तपोयोगात्प्रसादाच्छंकरस्य च । आश्रमस्तस्य विप्रेन्द्राः सुभिक्षस्त्वभवद् भृशम् ॥ ७ ॥

ते संभूय मुनिश्रेष्ठं गौतमं प्रणिपत्य च । प्रोचुः क्लेशेन संयुक्ता द्विजाः कारुणिकं प्रति ॥ ८ ॥

वयं क्षुत्पीडिताः सर्वे भगवन्भववल्लभ । केवलं कृपयैवास्मान्रक्ष रक्ष हिते रत ॥ ९ ॥

इति श्रीस्कान्दपुराणे श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे जीवब्रह्मैक्यनिरूपणं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

श्रद्धाविरोधिनस्तदभावस्य कारणं हेयतया ज्ञातव्यमिति तद्वक्तुं प्रतिजानीते—अथ वक्ष्य इति ॥ १ ॥ श्रेयोर्थिनामपि पुरुषाणां सकलश्रेयोहेतुभूतायाः श्रद्धाया अभावे गौतमशापः कारणमिति वक्तुमितिहासमारभते—पुरा कालेति ॥ २–४७ ॥

अन्य भी बहुतेरे लोग ज्ञानी महात्माओं की सेवा के बल पर शिवकृपा पाकर भवबंधन से मुक्त हुए हैं ॥ ३२ ॥ अतः उक्त सब साधनों में शिवयोगी की शुश्रूषा शिव की प्रसन्नता का साक्षात् साधन है, यह संक्षेप समझना चाहिये ॥ ३३ ॥ इस प्रकार शिवप्रसन्नता के उपायों का विचार कर मेरे कहे तरीके से सदा वैसा आचरण करें जिससे शिव प्रसन्न हों । आप सब उत्तम ब्राह्मण हैं तथा वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं । अतः इस ओर उपेक्षा नहीं करेंगे, यह निश्चित है ॥ ३४ ॥

भक्ति न होने के कारण का निरूपण नामक बत्तीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं वह कारण बताता हूँ जिससे मनुष्यों में महादेव के प्रति श्रद्धा नहीं होती ॥ १ ॥

प्राचीन काल में एक बार प्राणिकर्मों के अनुसार दुर्दैववश बारह वर्ष तक वृष्टि नहीं हुई ॥ २ ॥ अकाल के कारण सर्वत्र दुर्भिक्ष हो गया । सभी लोगों को भूख की घोर पीड़ा सताने लगी ॥ ३ ॥ अन्न के लिये मनुष्य दुराचार में भी प्रवृत्त होने लगे । कुछ लोग मनुष्यों को ही मार कर खा जाते थे ॥ ४ ॥ कुछ लोग भूख मिटाने के लिये बकरे, घोड़े, हाथी आदि पशुओं को खाने लगे ॥ ५ ॥ कुछ विशिष्ट ब्राह्मणों ने गौतम महर्षि के पुण्य आश्रम की ओर प्रस्थान किया ॥ ६ ॥ गौतम के तप के और महादेव की कृपा के बल से उस आश्रम में समग्र सुभिक्ष था, अकाल का कोई प्रभाव न था ॥ ७ ॥ उन सबने मिलकर गौतम को प्रणाम किया और उन करुणावान् मुनि से दुःखपूर्वक निवेदन किया—॥ ८ ॥ 'हे भगवन् ! हे शिव-प्रिय ! हम लोग भूख से पीडित हैं । कृपा कर हमारी रक्षा कीजिये' ॥ ९ ॥ गौतम ने यह करुण प्रार्थना सुन उन सबको

---

१ शिवप्रीतिकरनिरूपणमिति वक्तव्यम् । २ ख. °लोक्य वि° ।

इति विज्ञापितः श्रीमान्महाकारुणिकोत्तमः ।

गौतमः सर्वविप्राणामभयं दत्तवान्प्रभुः ॥ १० ॥

पुत्रभार्यादियुक्तानां विप्राणां गौतमो मुनिः ।

ददौ धान्यं धनं वस्त्रं तिलं तैलं च गामपि ॥ ११ ॥

अन्यानि यानि जन्तूनामिष्टानि सकलानि तु । तानि तेषां मुनिः श्रीमान्ददौ कारुणिकोत्तमः ॥ १२ ॥

आधिव्याध्यस्त्रशस्त्रादिपीडाश्च विविधा द्विजाः । निवारिता मुनीन्द्रेण गौतमेन [१] द्विजन्मनाम् ॥ १३ ॥

श्रौतस्मार्तसमाचारा उपदिष्टा द्विजन्मनाम् । गौतमेन मुनीन्द्रेण मुनीन्द्राः करुणाबलात् ॥ १४ ॥

एवं चिरगते काले गौतमस्य महात्मनः । तपसा केवलं भूमिः सुभिक्षाऽऽभवदास्तिकाः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणैश्च पुनः सर्वैर्गौतमेन सुरक्षितैः । विचार्य कार्यं संभूय स्वदेशगमनाय वै ॥ १६ ॥

गौर्हता गौतमेनेति निर्घृणैः पुरुषाधमैः । कृतो मिथ्याभिशापस्तु महामोहवशेन तु [२] ॥ १७ ॥

तज्ज्ञात्वा मुनिभिः श्रीमान्गौतमो मुनिसत्तमः । महाक्रोधेन संयुक्तः शशाप ब्राह्मणाधमान् ॥ १८ ॥

गौतम उवाच—महादेवस्वरूपे च महादेवस्य विग्रहे । महादेवस्य भक्तौ च महादेवस्य नाम्नि च ॥ १९ ॥

महादेवस्य विज्ञाने महादेवपरिग्रहे । महादेवस्य च स्थाने महादेवस्य कीर्तिषु ॥ २० ॥

तुरंत अभयदान दिया तथा सपरिवार सबके लिये धन, धान्य, वस्त्र, तिल, तेल गायें तथा अन्य आवश्यक सभी वस्तुएँ सुलभ करायीं ॥ १०–१२ ॥ उन सबकी मानसिक व शारीरिक सभी पीडायें गौतम ने दूर कर दीं ॥ १३ ॥ श्रुतिस्मृति-समंत आचारों का उन्हें उपदेश भी दिया ॥ १४ ॥ यों लम्बा समय व्यतीत हुआ और महात्मा गौतम के ही तप के प्रभाव से सर्वत्र सुभिक्ष हुआ ॥ १५ ॥ तब ब्राह्मणों ने अपने-अपने स्थानों को लौटने का विचार किया । (गौतम सदा अपना उपकार न जताते रहें ऐसा सोचकर) उन नीच पुरुषों ने गौतम पर मिथ्या ही आरोप लगाया कि उन्होंने गोहत्या कर दी है । (अतः यहाँ रहना अनुचित होने से वे उस स्थान को छोड़ रहे हैं, ऐसा कहने से गौतम लज्जित बने रहेंगे, यह उनका अभिप्राय था ।) ॥ १६–१७ ॥ किंतु गौतम को यह पता चल गया कि ब्राह्मणों ने उनसे कपट किया है । अतः क्रोधपूर्वक उन्होंने उन नीच ब्राह्मणों को शाप दिया – ॥ १८ ॥ गौतम ने कहा—महादेव के स्वरूप में, उनकी मूर्ति में, उनकी भक्ति में, उनके नाम में, उनेक ज्ञान में, उनके आयुधादि में, उनके स्थानों में, उनकी भक्ति में, उनकी कीर्ति में,

---

१ ङ. द्विजन्मना । २ कोटिरुद्रसंहितायां त्र्यम्बकेश्वरमाहात्म्ये विस्तरो द्रष्टव्यः तत्र परं मुनिना क्रोधो नाकारीति विशेषः । ३ घ. वमहादेवम॰ ।

महादेवाय दाने च महादेवाश्रयेषु च । महादेवस्य चोत्कर्षे त्रिपुण्ड्रोद्धूलनादिषु ॥ २१ ॥

रुद्राक्षधारणे रुद्रलिङ्गस्यैव तु पूजने । रुद्रालयदिदृक्षायां रुद्रयात्रादिकर्मसु ॥ २२ ॥

यद्यत्तु रुद्रसंबन्धि तत्र तत्रापि दुर्जनाः । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २३ ॥

नित्यकर्माद्यनुष्ठाने तथा काम्यविवर्जने । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २४ ॥

शान्तिदान्त्यादिविज्ञानसाधनेषु द्विजाधमाः । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २५ ॥

स्वाध्याये च जपे चैव तथा प्रवचनेऽपि च । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमा ॥ २६ ॥

नानाविधेषु दानेषु यज्ञेषु विविधेषु च । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २७ ॥

कृच्छ्रचान्द्रायणादौ च तथा मासोपवासके । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २८ ॥

वेदभक्तौ तथाऽऽस्तिक्ये योगाङ्गेषु यमादिषु । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ २९ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तेष्वर्थेषु सकलेषु च । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ ३० ॥

स्वदारगमने चैव परदारविवर्जने । भवतानुन्मुखा यूयं सर्वदा ब्राह्मणाधमाः ॥ ३१ ॥

विष्ण्वादिदेवताः सर्वा विशिष्टाः शंकरादिति । भ्रान्तिविज्ञानसंपन्ना भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३२ ॥

उनके निमित्त दान में, उनके मंदिरों में, उनके उत्कर्ष में, त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन आदि में, रुद्राक्षधारण में, रुद्र के लिंग के पूजन में, रुद्रमंदिर देखने की इच्छा में, रुद्रयात्रा आदि कर्मों में (उत्सवों में), किम्बहुना ! जो कुछ भी रुद्र-सम्बन्धी है उस सबमें तुम लोग कभी उन्मुख न होवो ॥ १९–२३ ॥ हे अधम ब्राह्मणो ! तुम्हें कभी नित्यादि आवश्यक कर्म करने की प्रेरणा न मिले और काम्यकर्मों का परित्याग तुम कभी न कर पाओ ॥ २४ ॥ तुम्हारी उन्मुखता शम, दम आदि ज्ञान साधनों की ओर कभी न हो ॥ २५ ॥ स्वाध्यायाध्ययन, जप और अध्यापन से तुम सब सदा विमुख रहो ॥ २६ ॥ नाना प्रकार के दानों का और विविध यज्ञों का तुम कभी अनुष्ठान न कर पाओ ॥ २७ ॥ कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तथा अन्य मासिक उपवासों के आचरण की ओर तुम्हे प्रेरणा न मिले ॥ २८ ॥ वेद में प्रेम, आस्तिकता और योगांगों से तुम विमुख बने रहो ॥ २९ ॥ श्रुति स्मृति व पुराणों में प्रतिपादित सभी अर्थों से (कार्य व ज्ञेय अर्थों से) तुम विमुख रहो ॥ ३० ॥ तुम ऋतुकालिक स्वदारगमन के प्रति उदासीन हो जाओ और यह भूल जाओ कि परदारगमन नहीं करना चाहिये । ३१ ॥ हे अधम ब्राह्मणो ! तुम्हे यह भ्रमनिश्चय हो जाये कि विष्णु आदि देवता शंकर से श्रेष्ठ हैं ॥ ३२ ॥ तुम लोग श्रद्धापूर्वक शंख, चक्र, गदा, पद्म, दण्ड, पाश, अंकुश आदि चिह्नों से अपना अंकन (दागना) कराओ । (अंकन शास्त्रनिषिद्ध कर्म है । उक्त आदि चिह्नों से देह को दगवाना नहीं चाहिये) ॥ ३३ ॥ तुम लोग प्रेम से स्वयं ही हीन जाति के नामों से अपनी प्रसिद्धि

शङ्खचक्रगदापद्मदण्डपाशाङ्कुशादिभिः । अङ्किताः श्रद्धया यूयं [1] भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३३ ॥

विहीनजातिनाम्ना तु रूपेण च तथैव च । अङ्किताः श्रद्धया यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३४ ॥

वर्तुलाश्वत्थपत्रार्धचन्द्रदीपादिलिङ्गिनः । भवत श्रद्धया सार्धं ललाटे ब्राह्मणाधमाः ॥ ३५ ॥

पितृमातृसुतभ्रातृभार्याविक्रयिणः सदा । बन्धुविक्रयिणस्तद्वद्भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३६ ॥

वेदविक्रयिणस्तद्वत्तीर्थविक्रयिणस्तथा । धर्मविक्रयिणस्तद्वद्भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३७ ॥

सुराविक्रयिणस्तद्वन्मांसविक्रयिणस्तथा । मत्स्यविक्रयिणस्तद्वद्भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३८ ॥

पाञ्चरात्रे च कापाले तथा कालमुखेऽपि च । शाक्ते (क्ये) च दीक्षिता यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ३९ ॥

बौद्धे चार्हन्मते चैव तथा पाशुपतेऽपि च । शांभवे दीक्षिता यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ४० ॥

पाषण्डेषु तथाऽन्येषु मार्गेष्वश्रौतकेषु च । श्रद्धया दीक्षिता यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥ ४१ ॥

युष्मांक वंशजाताश्च सर्वे स्त्रीभिः सह द्विजाः । मदुक्तार्थप्रकारेण भवन्तु ब्राह्मणाधमाः ॥ ४२ ॥

बहुनोक्तेन किं साक्षाच्छिवे संसारमोचके । तत्संबन्धिषु सर्वेषु श्रुतिस्मृत्यादिकेषु च ॥ ४३ ॥

युष्माकं वंशजातानां युष्माकं च तथैव च । श्रद्धाभावः सदैवास्तु शापस्तीव्रः कृतो मया ॥ ४४ ॥

कराओ और वैसा रूप धारण करो जैसा नीच जाति वाले किया करते हैं ॥ ३४ ॥ ललाट पर त्रिपुण्ड्र की जगह गोल, पीपल के पत्ते, अर्धचन्द्र, दीपक आदि आकार के चिह्न लगाने वाले बनो ॥ ३५ ॥ पिता, माता, पुत्र, भाई, पत्नी तथा बन्धुओं को बेचने वाले तुम लोग हो जाओ ॥ ३६ ॥ वेद, तीर्थ और धर्म बेचना तुम्हारा कार्य हो जाये । (धनलोभ से अनधिकारी को वेद सिखाना, अशुद्धादि निषिद्ध स्थान में दक्षिणार्थ वेदोच्चारण करना आदि वेद बेचना है । पैसे के लोभ से तीर्थ की मर्यादा भंग करना या करने देना, तीर्थ स्थल को ही बेच देना, वहाँ दुकान आदि खोल देना इत्यादि तीर्थविक्रय हैं । धन-लोभ से धर्मपरिवर्तन कर लेना, अपने व्रत छोड़ देना, अधर्म को धर्म घोषित कर देना आदि धर्मविक्रय है ।) ॥ ३७ ॥ तुम लोग सुरा, मांस और मछली बेचने वाले हो जाओ ॥ ३८ ॥ तुम सब पाञ्चरात्र, कापाल, कालामुख, शाक्त आदि अवैदिक संप्रदायों में दीक्षित हो जाओ ॥ ३९ ॥ बौद्ध, जैन, पाशुपत, शांभव आदि वेदेतर मार्गों के तुम अनुसर्ता हो जाओ ॥ ४० ॥ तुम्हें पाखण्ड तथा अश्रौत पंथों में ही श्रद्धा होवे और उन्हीं का तुम अनुगमन करो ॥ ४१ ॥ तुम्हारे वंश में उत्पन्न सब अपनी स्त्रियों समेत

---

१ ख भवेयुर्ब्रा० ।

सूत उवाच– एवं मुनीन्द्रेण कृते च शापे द्विजाधमाश्चापि तदाज्ञयैव ।

तथाऽभवंस्तत्कुलजाश्च सर्वे स्वभावजो ह्येष मुनेः प्रभावः ॥ ४५ ॥

श्रद्धाभावस्तेन जातो नराणां साक्षाद्रुद्रे तस्य धर्मे च विप्राः ।

तस्माद्विद्वांस्तद्विनाशाय साक्षाद्रुद्रं नित्यं पूजयेच्छ्रद्धयैव ॥ ४६ ॥

त्रिपुण्ड्रमुद्धूलनमास्तिकोत्तमाः समाचरेन्नित्यमतन्द्रितस्तथा ।

विशेषतः शांकरवेदने रतो भवेदशेषं कथितं मयाऽनघाः ॥ ४७ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे भक्त्यभावकारणनिरूपणं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथ नामानि वक्ष्यामि परतत्त्वस्य सुव्रताः ।

यानि संकीर्तयन्मर्त्यो विमुक्तिफलभाग्भवेत् ॥ १ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

अथ श्रद्धावतोऽपि विवेकज्ञानहेतुश्रवणाद्यधिकारविरहे किं कर्तव्यमित्याशङ्क्य तस्य परतत्त्वनामकीर्तनादेव श्रवणाधिकारविवेकज्ञानमज्ञाननिवृत्तिरूपा मुक्तिश्च सिध्येदित्यभिप्रेत्य तानि नामानि वक्तुं प्रतिजानीते–अथ नामानीति ॥ १ ॥

मेरे कहे प्रकार से नीच ब्राह्मण हो जायें ॥ ४२ ॥ बहुत क्या कहूँ ? यह मेरा घोर शाप है कि तुम्हे व तुम्हारे वंशजों को संसारमोचक शिव में तथा उनसे सम्बद्ध श्रुति स्मृति आदि में सदैव अश्रद्धा होवे ॥ ४३–४४ ॥

सूत जी बोले–यों गौतम मुनि के शाप देने पर वे ब्राह्मण स्वयं व उनके वंशज भी सब वैसे ही हो गये जैसा होने का शाप उन्हें दिया गया था। मुनि का यह सहज प्रभाव था कि उनका वचन अव्यर्थ हो ॥ ४५ ॥ इसलिये लोगों में रुद्र व रुद्रधर्मों के प्रति श्रद्धा का अभाव है। शिव में श्रद्धा पाने के लिये बुद्धिमान् को चाहिये कि प्रेमपूर्वक नित्य शिवपूजा किया करे ॥ ४६ ॥ प्रतिदिन उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये और शिवज्ञान के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिये। इस प्रकार इस विषय में सब ज्ञातव्य मैंने बता दिया ॥ ४७ ॥

परतत्त्वनाम-विचार नामक तेतीसवाँ अध्याय

(पूर्वोक्त हेतु से श्रौतविद्या में अनधिकार हो जाने पर शिवप्रसादनार्थ क्या साधन है ? यह प्रश्न उठने पर नामकीर्तन

शिवो रुद्रो महादेवः शंकरो ब्रह्म सत्परम् । शंभुरीशान ईशश्च शूली चन्द्रकलाधरः ॥ २ ॥

शर्वः पशुपतिः साक्षी हरः श्रीकण्ठ[1] अद्भुतः । उग्रः[2] कपर्दी गिरिशो भवः सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ ३ ॥

उमापतिः [3]कपर्दी च भूतेशस्त्रिपुरान्तकः । अन्तकारिस्त्रिनेत्रश्च[4] दक्षयज्ञविनाशकः ॥ ४ ॥

[5]धूर्जटिर्वामदेवश्च स्थाणुः सर्वविनाशकः । स्रष्ट च पालकश्चैव ततस्तत्पुरुषः प्रभुः ॥ ५ ॥

वामदेवः कपाली च सद्योजातः समः सुखी । अघोरश्च सुघोरश्च प्रशान्तः [6]पापनाशकः ॥ ६ ॥

भवारिर्भोगदः पुण्यः कामध्वंसी कपिञ्जरः[7] । व्योमकेशो विशालाक्षो वह्निरेता वरप्रदः ॥ ७ ॥

भीमो भर्गः पिनाकी च वृषाङ्कः कालकूटधृक् । कृत्तिवासाः किरातश्च भिक्षुको मूलकारणम् ॥ ८ ॥

तानन्यनुक्रामति—शिवो रुद्र इति । ब्रह्म सत्परमिति । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धेरित्यर्थः ॥ २—३ ॥ अन्तकारिरिति । मनुजपशुपक्षिमृगादेः संहर्ता वैवस्वतोऽन्तकस्तस्यापि संहर्ता परमेश्वरः । श्रूयते हि—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' इति ॥ ४—६ ॥ कपिञ्जर इति कं शिरस्तत्र पिङ्गलवर्णाभिर्जटाभिर्युक्त इत्यर्थः । यास्कस्त्वाह—'कपिञ्जरः क[8]पिवरवत्कीर्णः[9] । ईषत्पिञ्जरो वा कमनीयशब्दं पिञ्जरयतीति च' इति ॥ ७—८ ॥

में सर्वाधिकार शास्त्रसिद्ध होने से इस अध्याय में परमेश्वर के कुछ नामों का संग्रह बताया है।) सूतजी बोले—अब मैं परमतत्त्व के नाम बताता हूँ जिनका संकीर्तन करते रहने वाला व्यक्ति मोक्ष पा जाता है ॥ १ ॥

शिव (कल्याणरूप), रुद्र (दुःखनाशक), महादेव (व्यापक स्वप्रकाश), शंकर (कल्याणकारी), ब्रह्म (व्यापक), सत् (विद्यमानता रूप), पर (श्रेष्ठ), शंभु (कल्याणकारी), ईशान (शासक), ईश (अपनाने वाला), शूली (शूलधारी), चन्द्रकलाधर (द्वितीया के चंद्र को मस्तक पर रखने वाला) ॥ २ ॥ शर्व (प्रलय में सबको समाप्त करने वाला), पशुपति (जीवरूप पशुओं का मालिक), साक्षी (हर ज्ञान व कर्म को जानने वाला) , हर (पाप का हरण करने वाला), श्रीकण्ठ (शुभ्रकण्ठ वाला), अद्भुत (आश्चर्यजनक), उग्र (सर्वत्र अनुस्यूत), कपर्दी (जटाधारी), गिरिश (पर्वतवासी), भव (सब करने वाला), सर्वज्ञ (सब जानने वाला), ईश्वर (शासन-स्वभाव वाला) ॥ ३ ॥ उमापति (उमा के पालक), कपर्दी (गंगाजल की शुद्धि के हेतु), भूतेश (भूतों को स्वीकारने वाला), त्रिपुरान्तक (त्रिपुर को समाप्त करने वाला), अन्तकारि (मृत्यु-शत्रु), त्रिनेत्र (तीन नेत्रों वाले), दक्षयज्ञविनाशक (दक्ष द्वारा किये ईश्वर-असम्बद्ध यज्ञ के समापक) ॥ ४ ॥ धूर्जटि (गंगारूप जटा वाला), वामदेव (लोकविरुद्ध

१ आर्षो विसर्गलोपोऽसन्धिश्च । २ उच्यति सर्वत्र समवेतो भवतीत्युग्रः । ३ पर्वपूर्तौ, क्विप् । राल्लोपइतिवलोपः । कं जलम् । कस्य पर् कपर् जलप्रवाह औचित्याद् गांगः । तं दायति शोधयतीति दैप् शोधने धातोः कः । 'भवांगपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः' इति वाल्मीक्युक्तेः । गंगाशोधकरूपं कपर्दः, तद्धारी कपर्दी । ४ ख. °कारी त्रिन° । ५ धूर्गंगा, धुर्वी धातोः क्विपि । सा जटाऽस्येति । जटिर्जटेति द्विरूपकोशः । ६ घ. पाशनाशकः । ७ कपिरिव जवते, पृषोदरादित्वात्साधुः । ८ घ. कपिर° । छ. कपेवरिवरिवत्कीं । ९ ख. °पिरिव कीर्णः ।

अहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षो विरूपो विश्ववेषधृक् ।
शिपिविष्टो महादेवो गणेशः पार्वतीपतिः ॥ ९ ॥
मृडो मेरुधरो मेधा महामायी महेश्वरः ।
सर्वाधिष्ठानमाधारः[1] सर्वाधिकरणः स्वराट् ॥ १० ॥
सर्वेश्वरः [2]सर्वनिधिः सर्वात्मा सर्वसाधकः ।
सेतुः सीमा समुद्रश्च विशिष्टश्च विधारकः ॥ ११ ॥
जन्मादिकारणं हेतुः[3] शास्त्रयोनिः सुखासनः ।
तत्समो न्नाऽधिकोऽतन्न आत्मा चामलसाधनम् ॥ १२ ॥

अहिर्बुध्न्य इति ॥ 'अहि गतौ' अंहति गच्छतीत्यहिः । बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवो बुध्न्यः । यदाह यास्कः– 'अहिरयनादेत्यन्तरिक्षं योऽहिः स बुध्न्यो बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्' इति । शिपिविष्ट इति । शिपयो रश्मयस्तैराविष्टः शिपिविष्टः । 'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति' इति यास्कः ॥ ९–११ ॥ जन्मादिकारणमिति । जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमत इत्यादिभावविकारषट्कस्य कारणमित्यर्थः । शास्त्रयोनिरिति । प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिपादकं विधिनिषेधात्मकं वेदवाक्यं शास्त्रं, तस्य योनिः कारणम् । यद्वा प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपप्रतिपादकमुपनिषद्वाक्यं शास्त्रं तद्योनिर्ज्ञप्तिकारणमस्येति शास्त्रयोनिः । अत एव भगवान्बादरायणोऽपि सूत्रयामास– 'शास्त्रयोनित्वात्' इति । तत्सम इति । तस्य प्रसिद्धस्य परमेश्वरस्य सदृशोऽपि परमेश्वरः स्वयमेव नान्यो विद्यते । श्रूयते हि– 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति । तथाच परशिवस्योपमानान्तरनिरासाय तस्यैवोपमानोपमेयभावे सति तत्सम इति नाम संपन्नम् ॥ १२ ॥

व्यवहार वाला), स्थाणु (सदा रहने वाला), सर्वविनाशक (सब को नष्ट करने वाला), स्रष्टा (सबका उत्पादक), पालक (सब के योगक्षेम का साधक), तत्पुरुष (महावाक्य में 'तत्' शब्द से कहा गया चेतन), प्रभु (जिसका होना महान् है) ॥ ५ ॥ वामदेव (अपने वामार्ध से क्रीडा करने वाला), कपाली (कपाल को धारण करने वाला), सद्योजात (नित्य होने से मानो हर क्षण उत्पन्न होने वाला), सम (सदा एकरस), सुखी (दुःख से सदा असंबद्ध), अघोर (कभी हिंस्र न होने वाला), सुघोर (अत्यंत भयानक), प्रशान्त (अपने पर पूर्ण नियंत्रण वाला), पापनाशक (पाप का सकारण नाश करने वाला) ॥ ६ ॥ भवारि (संसारविरोधी), भोगद (फलभोग-प्रदाता), पुण्य (पुण्यरूप), कामध्वंसी (कामदेव का नाशक), कपिंजर (कपि की तरह वेग से सर्वत्र जाने वाला), व्योमकेश (आकाश की तरह विस्तृत केश वाला), विशालाक्ष (विशाल नेत्रों वाला), वह्निरेता (वह्नि जिसका शुक्र धारण करता है), वरप्रद (आशीर्वाद देने वाला) ॥ ७ ॥ भीम (जिससे सब डरते हैं), भर्ग (दोषों को भूँज देने वाला), पिनाकी (पिनाक नामक धनुष धारण करने वाला), वृषांक (साँड के चिह्न के ध्वज वाला), कालकूटधृक् (कालकूट विष को संभाल लेने वाला), कृत्तिवासा (चर्मपरिधान वाला), किरात (किरातरूप धारण करने वाला), भिक्षुक (हिमालय के घर भिक्षुक रूप से जाने वाला), मूलकारण (संसार का मौलिक कारण) ॥ ८ ॥ अहिर्बुध्न्य (अंतरिक्ष में रहने वाला पृथ्वी का आधारभूत सर्प–शेषनाग–जिसकी विभूति है), विरूपाक्ष (विरूप कर देने वाली आँखों वाला), विरूप (नीरूप), विश्ववेषधृक् (सब रूप धारण करने वाला), शिपिविष्ट (किरणों

१ भ्रमकालेऽपि सदादितया प्रतीयमान आधार इत्युक्तः । २ °र्वधारकः । ३ हिनोति व्याप्नोति कार्यमिति हेतुः । हि गतौवृद्धौ च (स्वा. प. अ.) । कमिमनीत्याद्यौणादिकस्तुः ।

पुराणः[1] पुरुषः पूर्णोऽनन्तरूपः पुरातनः ।
सत्यं ज्ञानं सुखं साक्षादाकाशः प्राण आस्तिकाः ॥ १३ ॥
ज्योतिः प्रकाशः [2]प्रथितः स्वयंभानः स्वयंप्रभुः ।
स्वप्रकाशः स्वतन्त्रश्च स्वस्थः स्वानुभवोऽगमः ॥ १४ ॥
अत्ता चानशनः शङ्कुः परमात्मा परात्परः ।
देवदेवश्च देवश्च जगन्नाथो निरञ्जनः ॥ १५ ॥

आकाश इति । आ समन्तात्काशते स्वरूपप्रकाशतद्रूपतया सर्वाधिष्ठानत्वेन स्फुरतीत्याकाशः परशिवः । 'अकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' 'आकाश इति होवाच' इत्यादिश्रुतिष्वप्याकाशशब्दः परशिवप्रतिपादक इति बादरायणेन निरणायि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादिना । प्राण इति । प्रकर्षेण चेष्टते नित्यं वर्तत इति प्राणः । 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' । 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्स्व' इति श्रुतिः ॥ १३–१४ ॥ अत्ता चानशन इति । 'यस्य ब्रह्म च' इति प्रागुदाहृतश्रुतेः । ब्रह्मक्षत्रादिसकलजगत्संहर्तृत्वमेवात्तृत्वम् । तथाच वैयासिकं सूत्रम्– 'अत्ता चराचरग्रहणात्' इति । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इतिश्रुतेरनशनः ॥ १५ ॥

से घिरा हुआ–चमत्कदार), महादेव (सर्वपूजित देवता), गणेश (सब समूहों का स्वामी), पार्वतीपति (पार्वती के स्वामी) ॥ ९ ॥ मृड (सुखी करने वाला), मेरुधर (मेरु पर्वत को धनुष बनाकर पकड़ने वाला), मेधा (बुद्धिशक्तिरूप), महामायी (महामाया का अधीश्वर), महेश्वर (सर्वविलक्षण ऐश्वर्य वाला), सर्वाधिष्ठान (सबका अधिष्ठान), आधार (सबका आधार), सर्वाधिकरण (सब जिसमें स्थित हैं), स्वराट् (जिसका कोई शासक नहीं) ॥ १० ॥ सर्वेश्वर (सब पर निर्बाध शासन चलाने वाला), सर्वनिधि (हर वस्तु का खजाना), सर्वात्मा (सबका आत्मरूप,) सर्वसाधक (सबकी सिद्धि करने वाला), सेतु (संसार को व्यवस्थित रखने वाला–जिसके कारण सांसारिक वस्तुएँ घुल-मिल नहीं जातीं), सीमा (जिससे परे कुछ नहीं), समुद्र (मुद्रा अर्थात् मर्यादा सहित रहने वाला, मर्यादा न लाँघने वाला), विशिष्ट (जिसके पास कुछ बचा नहीं है), विधारक (सबको सहारा देने वाला) ॥ ११ ॥ जन्मादिकारण (भावविकारों के कारण), हेतु (व्यापक), शास्त्रयोनि (शास्त्रोपदेष्टा), सुखासन (सुख से रहने वाला), तत्सम (स्वयं अपने ही समान), अधिक (सब तरह सबसे अधिक), असंग (आसक्तिरहित), आत्मा (सर्वग्राहक), अमलसाधन (निर्मल उपाय से प्राप्य) ॥ १२ ॥ पुराण (पहले भी नवीन बने रहने वाला), पुरुष (सब शरीरों में उपस्थित), पूर्ण (हर तरह से पूरा), अनन्त रूप (असंख्य रूपों वाला), पुरातन (पुराना), सत्य (कभी जिसका बाध न हो), ज्ञान (चेतन), सुख (अत्यन्त प्रिय), साक्षात् (अव्यवहित), आकाश (हर ओर प्रकाशित होने वाला), प्राण (प्रकर्ष गतियों वाला) ॥ १३ ॥ ज्योति (दीप्तिमान्), प्रकाश (व्यक्त), प्रथित (प्रसिद्ध), स्वयंभान (स्वप्रकाश), स्वयंप्रभु (अपरतंत्र प्रभाव वाला), स्वप्रकाश (परतः अप्रकाश्य), स्वतन्त्र (निरपेक्ष सत्ता वाला), स्वस्थ (स्वयं में स्थित), स्वनुभव (अच्छा अनुभव रूप), अगम (दुर्गम) ॥ १४ ॥ अत्ता (सबको खा जाने वाला), अनशन (कुछ न खाने वाला), शंकु (दिशा आदि का निर्णायक स्तंभ), परमात्मा (परे रहते हुए भी निजरूप),

---

१ ग. ङ. ०राणपु० । २ ख. कथितः ।

निर्भयो निर्गुणो नित्यो नित्यानन्दो निरामयः । विदो विदाधिर्वेदान्तो देवता परदेवता ॥ १६ ॥

पतिः पाशहरः पारः पारशून्यः प्रजापतिः । धाता धारयिता धृष्टो धाम धामविवर्जितः ॥ १७ ॥

भुवनेशः सभानाथः सभापतिरतिप्रभुः । सभ्यः स्तुत्यः समस्तात्मा साम्बः संसारवर्जितः ॥ १८ ॥

संसारवैद्यः सत्यार्थः सारः संसारभेषजम् । संसारमोचको मोच्यो मुक्तो मूलधनं मुनिः ॥ १९ ॥

महर्षिश्च[1] महाग्रासो महात्मा मधुरः सुरः[2] । सुरज्येष्ठो विरूपाक्षो[3] विश्वरूपो विनायकः ॥ २० ॥

विश्वाधिकश्च वेद्यश्च वेदार्थो विगतस्पृहः । अहमर्थोऽप्रमेयश्च तत्त्वं निर्वाणमुत्तमम् ॥ २१ ॥

विदो विदाधिरिति । वेत्तीति विदः । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । विज्ञानमतिशयात्सर्वगोचरमाधीयतेऽस्मिन्निति विदाधिः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्ययः । तथाच पातञ्जलं सूत्रम्–'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति ॥ १६–२१ ॥

परात्पर (परे से परे), देवदेव (देवताओं को देवत्व देने वाला), देव (स्वयं देवरूप), जगन्नाथ (संसार को नियंत्रित रखने वाला), निरंजन (निर्दोष) ॥ १५ ॥ निर्भय (भयहीन), निर्गुण (विशेषणहीन), नित्य (सनातन), नित्यानन्द (सदा सुखरूप), निरामय (रोगरहित), विद (जानकार), विदाधि (सर्वविषयक ज्ञान जिसमें अत्यधिक है), वेदान्त (उपनिषत्-प्रतिपाद्य), देवता (क्रीडाशील), परदेवता (दूसरों को क्रीडा कराने वाला) ॥ १६ ॥ पति (पालक), पाशहर (पाश खोलने वाला), पार (भवसागर का दूसरा किनारा), पारशून्य (जिससे परे कुछ नहीं है), प्रजापति (प्रजाओं का मालिक), धाता (धारण करने वाला), धारयिता (जिसके कारण अन्य लोग व वस्तुएँ कुछ भी धारण करते हैं), धृष्ट (दृढ), धाम (आश्रय), धामविवर्जित (अनाश्रित) ॥ १७ ॥ भुवनेश (त्रिभुवन संचालक), सभानाथ (सभ्य समाजों का नियंता), सभापति (सभ्य समाजों का अध्यक्ष), अतिप्रभु (सब प्रभुताओं को लाँघ कर विद्यमान), सभ्य (असभ्यता वर्जित), स्तुत्य (स्तुतियोग्य), समस्तात्मा (सर्वात्मरूप), साम्ब (अम्बा सहित रहने वाला), संसारवर्जित (जिसका कभी संसरण नहीं होता) ॥ १८ ॥ संसारवैद्य (संसाररोग का उपचार करने वाला), सत्यार्थ (सत्य वस्तु), सार (रसमय), संसारभेषज (भवरोग की दवा), संसारमोचक (संसरण प्रबंध से छुड़ाने वाला), मोच्य (मुक्त किया जाने योग्य; मुमुक्षुरूप से भी वही स्थित है अतः वही मुक्त किया जाने योग्य है), मुक्त (नित्य मुक्त ही रहने वाला), मूलधन (मूलधन की तरह; जैसे मूलधन बना रहता है, ब्याज से काम चलता है ऐसे शिव स्वरूपतः बने रहते हैं, वृत्तिज्ञान आदि ब्याजों से ही सारा व्यवहार चलता है ।), मुनि (मौनशील; दक्षिणामूर्तिरूप में शिव मौनशील हैं ।) ॥ १९ ॥ महर्षि (परम सूक्ष्मदृष्टि वाला), महाग्रास (बड़ा कौर खाने वाला), महात्मा (क्षुद्रतारहित), मधुर (माधुर्ययुक्त), सुर (मुक्तहस्त देने वाला), सुरज्येष्ठ (देवताओं में सबसे बड़ा), विरूपाक्ष (विविध रूप अर्थात् विविध शक्तियों वाले नेत्रों वाला), विश्वरूप (समस्त रूपों वाला), विनायक (जिसका कोई नेता नहीं है) ॥ २० ॥ विश्वाधिक (संसार से श्रेष्ठ), वेद्य (द्रष्टव्य),

१ रुद्रो महर्षिरिति श्रुतिः (श्वे. ४.१२) । एवं 'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा' (श्वे. ४.१७) २. सुष्ठु राति ददात्यभीष्टमिति कप्रत्यये सुरः । ३ विरूपाणीच्छाज्ञानक्रियात्मकत्वेन विविधशक्तीनि अक्षीणि यस्येत्यर्थः ।

कैवल्यं पदमव्यक्तं कालकालश्च कोमलः । अन्तर्यामी समाहारः सोमः सौख्यं सुहृत्सुधा[1] ॥ २२ ॥
अदृश्यो दृश्यनेता च नेत्रं दृष्टिश्च दर्शनम् ।
दृग्दृष्टिः पवमानश्च वशी वैश्वानरो नरः ॥ २३ ॥
मूलाचार्यो मुकुन्देशो[2] मूलमायतनं महान् । दहरो दिव्य अद्वैतमनाख्यं वस्तु वास्तवम् ॥ २४ ॥
भूमा भोजयिता भोक्ता रुचिर्भस्मानुभू रसः ।
हकारो[3] हुं फडग्रस्तो हार्दो हत्यावनोऽवधिः ॥ २५ ॥

कालोत्पादकत्वं चान्यत्र स्पष्टमाम्नायते–'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' इति । **समाहार** इति । समाह्रियन्ते संक्षिप्यन्त उपह्रियन्तेऽस्मिन्निति **समाहारः** । 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतेः ॥ २२–२३ ॥ **दहर** इति । उपलब्धिस्थानस्य दहराकाशस्याल्पपरिमाणत्वात्तदवच्छिन्नत्वेनोपलभ्यमानः शिवोऽपि **दहरः** । श्रूयते हि–'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' इति ॥ २४ ॥ **भूमेति** । 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यो भूमानं भगवो विजिज्ञासे' इति वाक्यस्य 'भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्' इति वादरायणेन ब्रह्मपरतया. निर्णीतत्वाद्भूमेति परशिवस्य मुख्यं नाम । **अनुभूः** । अनुभवज्ञानात्मक इत्यर्थः । श्रुतिश्च–'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्' इति । **रस** इति । निरतिशयानन्दरूपतया सर्वैरास्वादनीय इत्यर्थः । श्रूयते हि–'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' । **हकार** इति । भुवनेश्वर्यजपाप्रसादादिषु मन्त्रेषु हकारस्य प्रथमाक्षरत्वादाचार्यैरपि 'प्रकृतिः सा हसंज्ञा भवेद्व्याप्य विश्वम्' इति जगन्मूलकारणस्य हकारवाच्यत्वाभिधानाद्धकारः परशिवस्य नाम । **हुं फडिति** । हुंशब्दस्तेजोवाची 'हुं तेजस्तेजसा देहो गृह्यते कवचं ततः' इत्याचार्यैरुक्तत्वात् । अतस्तेजोरूपत्वात्परशिवो हुंकारवाच्यः । मन्त्रानुष्ठानप्रतिबन्धकभौमान्तरिक्षरक्षःपिशाचादिनिवारकमाग्नेयं तेजः फट्शब्दार्थः । उक्तं ह्याचार्यैः–'ताभ्यामनिष्टमाक्षिप्य चालयेत्फट्पदाग्निना' इति । तादृग्विधतेजोमयस्य. परशिवस्य फडिति नाम । **हार्द** इति । हृदये वर्तमानो हार्दः 'हृदि ह्येष आत्मा' इति श्रुतेः । **अवधिरिति** । निरधिष्ठानभ्रमस्य निरवधिकबाधस्य चानुपपत्तेः । 'अथात आदेशो नेति नेति' 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादिना बाध्यमानस्याऽऽरोपितसकलप्रपञ्चस्य बाधावधित्वेन परमार्थस्य परशिवस्यावस्थानात्तस्यावधिरिति व्यपदेशः ॥ २५ ॥

वेदार्थ (वेद का तात्पर्य), विगतस्पृह (इच्छायें जिसमें आने से पूर्व ही चली गयीं), अहमर्थ ('मैं' शब्द का अर्थ), अप्रमेय (किसी प्रमाण का विषय न बनने वाला), तत्त्व (तात्त्विक), निर्वाण (मोक्षरूप), उत्तम (सबसे ऊर्ध्व) ॥ २१ ॥ कैवल्य (अकेला), पद (गन्तव्य), अव्यक्त (सामने आकर स्पष्ट न होने वाला), कालकाल (काल का उत्पादक), कोमल (मृदु), अन्तर्यामी (अंदर रहते हुए शासन करने वाला), समाहार (जिसमें सब सिमट जाते हैं), सोम (गौरी के साथ नित्य विहार करने वाला), सौख्य (सुखरूप), सुहृत् (सबका मित्र), सुधा (सुधारूप) ॥ २२ ॥ अदृश्य (दृष्टि का विषय न बनने वाला), दृश्यनेता (सब दृश्यवस्तुओं को यथायोग्य अवस्थाओं पर पहुँचाने वाला), नेत्र (सबके देखने का साधन), दृष्टि (सबके देखने की क्रिया), दर्शन (सबकी दृष्टि का फल), दृग्दृष्टि (नेत्रों को भी देखने वाला), पवमान (बहने वाला), वशी (सब को वश में रखने वाला), वैश्वानर (सब की गति), नर (विषयों में रमण न करने वाला) ॥ २३ ॥ मूलाचार्य (प्रथमगुरु), मुकुन्देश (कृष्ण के आराध्य इष्ट),

---

१ ग. "त्सुधीः । २ मवते वध्नातीति 'मूशक्यविभ्यः क्लः,' मूङ् वन्धने (भ्वा. आ. से.) । ३ हः शिवे सलिले शून्ये धारणे मंगलेऽपि च । गगने नकुलीशे च रक्ते नाके च पर्वते ॥ मेदिनी ।

रूढ्यैवैतानि नामान्यनिशमतितरामादितत्त्वे महेशे
वर्तन्ते नैव नारायणहरिमुरजिद्वासुदेवादिशब्दाः ।
योगादस्मिन्कथंचित्परममुनिवरा वासुदेवादिशब्दा-
स्तस्मात्पूर्वोक्तनामान्यमलमतिरवश्यं सदा कीर्तयेच्च ॥ २६ ॥

रूढ्यैवैतानीति । अवयवप्रसिद्धिनैरपेक्ष्येण समुदायप्रसिद्ध्यैवैतानि नामानि परशिवे वर्तन्ते । अवयवव्युत्पत्तिसापेक्षत्वे नामोच्चारणसमनन्तरं तद्व्युत्पत्त्यनुसंधानव्याजेन विलम्बिता प्रतीतिः स्यात् । रूढौ तु नायं दोषः । अत एवोच्यते–'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति । यद्येवं महादेवः कपर्दी वामदेवो विरूपाक्ष इत्यादीनि नामानि पुनरुच्यन्ते तेषामानर्थक्यं स्यात् । भवेदेवं यदि केवला रूढिरश्वकर्णादिशब्दवदाश्रीयेत । अत्र तु पङ्कजादिवद्योगरूढिर्विवक्षिता । अतोऽवयवव्युत्पत्तेरपि विवक्षितत्वान्नानात्वप्रतिपादनेन प्रागुक्तदोषः परिहर्तुं शक्यते । तथाहि महच्छब्दस्य तावत्पूजितवचनत्वमधिकपरिमाणवाचित्वं चोभयं प्रसिद्धम् । तथा च पूजितो देवो **महादेव** इत्येकत्रार्थः । अन्यत्र तु सर्वव्यापी देवो **महादेव** इति । तथा–'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने' इति स्मरणात्कपर्दशब्दादेकत्र प्रशंसार्थ इत्यपरत्र नित्ययोग इत्यपौनरुक्त्यम् । तथा वामो वननीयो देवो **वामदेव** इत्येकत्रार्थः । श्रूयते ह्यैतरेयके– 'तं देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वामयति तस्माद्वामदेव' इति । अपरत्र तु वामेन भागेन दीव्यतीत्यर्धनारीश्वरप्रतिपादको वामदेवशब्दः । विपुलं ललाटमक्षि यस्येति **विरूपाक्ष** इत्येकत्र व्युत्पत्तिः । अपरत्र तु विशिष्टरूपाण्यक्षाणीन्द्रियाणि यस्येति । ऐन्द्रियकदेहस्येश्वरोपाधेर्विशुद्धसत्त्वपरिणामात्मकत्वादित्येषा दिक् । **योगादिति** । विष्णुमूर्तौ रूढा अपि नारायणादिशब्दा रुद्रमूर्तौ महता प्रयासेनावयवव्युत्पत्तिबलादेव कथंचिद्वर्तन्त इति विलम्बितप्रतीतिजनकत्वाच्छिवरुद्रादिशब्दवन्न मुख्याः ॥ २६ ॥

मूल (सबको बाँधने वाला), आयतन (आयाम रूप), महान् (पूज्य), दहर (अत्यल्प दहराकाश में प्रकाशित होने वाला), दिव्य (द्युलोक में रहने वाला), अद्वैत (दो तरह बँटा कुछ भी जिसमें नहीं है), अनाख्य (जिसका कोई नाम नहीं), वस्तु (सबमें वास करने वाला), वास्तव (जिसमें सब वास करते हैं) ॥ २४ ॥ भूमा (व्यापक), भोजयिता (भोग कराने वाला), भोक्ता (भोग करने वाला), रुचि (भोग की अभिलाषा रूप), भस्म (संसार में भस्मरूप से सबको उपलब्ध), अनुभू (प्रत्यक्ष ज्ञान रूप), रस (सब जिसका स्वाद लेते हैं), हकार (मंगलरूप), हुम् (तेजोरूप), फट् (राक्षस, पिशाच आदि से बचाने वाला तेजस्वरूप), अग्रस्त (अधर्षणीय), हार्द (हृदय में वर्तमान), हृत्पावन (हृदय पवित्र करने वाला), अवधि (बाध की सीमा–जिसका बाध नहीं होता) ॥ २५ ॥

ये नाम रूढिवश ही आदितत्त्व श्रीमहेश का बोध कराते रहते हैं । नारायण, हरि, मुरजित्, वासुदेव आदि शब्द इनकी तरह परमेश्वर अर्थ में रूढ़ नहीं (किंतु रूपविशेष में ही शक्त हैं) । योगवृत्ति से भले ही वे शब्द भी किसी तरह परमात्मा का बोध करा दें किंतु वासुदेव आदि शब्द निज सामर्थ्य से वैसा नहीं कर पाते । अतः पूर्वोक्त नामों का ही सदा कीर्तन करना शुद्ध बुद्धि वालों के लिये उचित है ॥ २६ ॥ जो मनुष्य शिव आदि शब्दों का परित्याग कर नारायण, विष्णु आदि शब्दों का ही उच्चारण करते हैं उन्हें मोक्ष सद्यः नहीं मिल सकता । हाँ सांसारिक ऐश्वर्य पाकर क्रममोक्ष के भागी वे भी बन ही सकते हैं ॥ २७ ॥

शिवादिशब्दं परिवर्ज्य मर्त्या वदन्ति नारायणविष्णुपूर्वम् ।
मुनीश्वरा नास्ति विमुक्तिरेषां विभूतिरेव क्रमशो विमुक्तिः ॥ २७ ॥

सद्य एव परमं पदं ययुः सद्य एव सकलं सुखं ययुः ।
मुख्यशब्दपरिकीर्तनेन ते सत्यमेव पठितं मयैव तु ॥ २८ ॥

नामानि सर्वाणि च कल्पितानि स्वमायया नित्यसुखात्मरूपे ।
तथाऽपि मुख्यास्तु[1] शिवादिशब्दा भवन्ति संकल्पनया शिवस्य ॥ २९ ॥

मुख्यशब्दजपतो मुनीश्वराः सत्यमेव परमेश्वरो भवेत् ।
तस्य वक्त्रकमले सदाशिवो नृत्यति स्म परमेशया सह ॥ ३० ॥

पापवह्निपरिदग्धमानसो देवरुद्रशिवशंकरादिषु ।
क्रोधमेति मुनयस्त्वहो नरः कीटपूर्वजनिरेव तस्य हि ॥ ३१ ॥

बहुप्रलापेन किमास्तिकोत्तमाः शिवादिनामानि परात्परस्य तु ।
अधोक्षजादेस्तु विशेषतः स्वतो भवन्ति नामानि परस्य चाऽऽज्ञया ॥ ३२ ॥

विभूतिरेवेति । ऐश्वर्यमेवेत्यर्थः ॥ २७–३३ ॥

मुख्य शब्दों का (शिवादि शब्दों का) कीर्तन करने वाले सद्यः ही मोक्ष व सकल सुख पा जाते हैं ॥ यह सत्य ही आपको मैंने सुनाया है ॥ २८ ॥ यद्यपि नित्य सुख आत्मा में सभी नाम कल्पित ही हैं तथापि शिव की ही कल्पनानुसार शिवादि नाम ही मुख्य हैं ॥ २९ ॥ मुख्य शब्दों के जप से साधक स्वयं परमेश्वर बन जाता है । उसके मुख में सदा पार्वती समेत शंकर नाचते रहते हैं (उन्हीं का कीर्तन वह करता रहता है) ॥ ३० ॥ पापाग्नि से जला व्यक्ति ही देव, रुद्र, शिव, शंकर आदि नामों पर क्रोध करता है । निश्चित समझ लेना चाहिये कि ऐसा व्यक्ति पूर्वजन्म में कीट आदि घोरपापयोनि वाला था ॥ ३१ ॥ बहुत क्या कहें ? शिवादि नाम परमेश्वर के हैं । विष्णु आदि के विशेष नाम परमेश्वर की ही आज्ञा से प्रसिद्ध होते हैं ॥ ३२ ॥ (क्योंकि वाच्यवाचकभाव का विभाजन महादेव ने ही यों बनाया है) इसलिये जो साधक नारायणादि शब्दों का परित्याग कर महादेव, शिव आदि शब्दों का प्रतिदिन प्रमाद किये बिना जप करता है, उसके समस्त अशुभ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

---

१ मुख्यत्वं मोक्ष उपयोगितरत्वम् । तुनाऽमुख्यत्वमितरेषामल्पोपयोगात्तेषां तत्र ।

अतो महादेवशिवादिशब्दं द्विजो मुदा नित्यमतन्द्रितो[1] यः ।

विहाय नारायणपूर्वशब्दं जपेदशेषाशुभनाशनाय ॥ ३३ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां यज्ञवैभवखण्डे परतत्त्वनामविचारो नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि संप्रदायसमन्वयम् ।

महादेवप्रसादस्य कारणं झटिति द्विजाः ॥ १ ॥

सत्यास्तेयदयापूर्वैः सर्वधर्मैः समन्वितः । कामक्रोधमहालोभपैशुन्यादिविवर्जितः[2] ॥ २ ॥

आचार्यं सत्यसंपन्नं[3] साक्षात्कारुणिकोत्तमम् । अभिगम्य महात्मानं प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥ ३ ॥

॥ ३२–३३ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां परतत्त्वनामविचारो नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

प्रागुक्तशिवस्वरूपसाक्षात्कारस्य परमपुरुषार्थत्वेन गुरूपसदनव्यतिरेकेणासंभवात्तत्प्रकारं वक्तुं प्रतिजानीते–अथात इति ॥ १–९ ॥

(इस प्रसंग में इतना याद रखना चाहिये कि शास्त्रीय मर्यादा है 'निन्दा इसलिये नहीं की जाती कि जिसकी निंदा कर रहे हैं उसका त्याग किया जाये, किन्तु इसलिये की जाती है कि जिसका विधान कर रहे हैं उसकी स्तुति हो और उसमें प्रवृत्ति हो' । अतः नारायणादि नामों के जप के निषेध में पुराण का तात्पर्य नहीं, किन्तु शिवादि शब्दों का जप करना चाहिये, यह अभिप्राय है ।)

महादेव के प्रसाद के कारण का कथन नामक चौंतीसवा अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं सम्प्रदाय से सम्बन्ध स्थापित करने के ढंग को बताऊँगा । साम्प्रदायिक बनने से शिव तुरंत प्रसन्न होते हैं । (जिस परम्परा में विद्या भली प्रकार से दी जाये उसे संप्रदाय कहते हैं । अध्यात्मशास्त्र अनुभवारूढ होने वाला ज्ञान है, परोक्षमात्र रहने वाला नहीं । साथ ही इसका विषय अत्यंत सूक्ष्म है । अतः इसकी सारी बातें शब्दों में बाँधी नहीं जा सकतीं । इसलिये गुरु से ही अध्यात्मविद्या ग्राह्य है । वह गुरु भी ऐसा होना चाहिये जिसने स्वयं किसी गुरु से ज्ञान लिया हो । एवं च गुरुओं की परम्परा होनी स्वाभाविक है । इसे ही सम्प्रदाय कहते हैं । साम्प्रदायिक ज्ञान पाये बिना वड़े से बड़ा

---

१ ख. ग. घ. °न्द्रितश्च ॥ वि° । २ अमानित्वमदम्भित्वमित्यादयः शास्त्रप्रसिद्धाः शिष्यगुणा इत्यानन्दगिरिस्वामी । ३ 'आचार्यश्चोहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसम्पंन्नो लव्धागमो दृष्टादृष्टयोगेष्वनासक्तस्त्यक्तसर्वकर्मसाधनो व्रह्मविद् व्रह्मणि स्थितोऽभिन्नवृत्तो दम्भदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोषवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी'- त्याचार्याः साहस्र्याम् ।

चन्दनागरुकर्पूरप्रमुखैः पूज्य[1] देशिकम् । त्रिसहस्रं सहस्रं वा द्विसहस्रमथापि वा ॥ ४ ॥

उत्तमं काञ्चनं दत्त्वा यथाशक्ति धनं तु वा ।

बहुशो दण्डवद्भूमौ प्रणम्य श्रद्धया सह ॥ ५ ॥

तस्य पादाम्बुजं मूर्ध्नि निधाय परयोगिनः । अधीहि[2] भगवो ब्रह्मेत्येवं विज्ञापयेत्सुधीः ॥ ६ ॥

सोऽपि कारुणिकः श्रीमान्गुरुः सर्वार्थवित्तमः । सुसमे सुप्रदेशे तु निर्जने निर्भये शुभे ॥ ७ ॥

गोमयेनोपलिप्ते तु पुष्पैरभ्यर्चिते तथा । पूर्णकुम्भैश्च संयुक्ते दीपैर्दिक्षु समन्विते ॥ ८ ॥

वितानतोरणैर्युक्ते धूपदीपादिवासिते । अपक्वैस्तण्डुलैः शुद्धैः शुद्धैर्वा शालितण्डुलैः ॥ ९ ॥

विलिख्य मण्डलं साक्षाद् गुरुक्तेनैव वर्त्मना । एतन्मन्त्रेण संपूज्य कुसुमैश्चन्दनादिभिः ॥ १० ॥

विद्वान् भी मूर्ख ही रह जाता है, ऐसा भगवान् शंकर ने गीताभाष्य में कहा है । कारण यही है कि केवल स्वमनीषा से सर्वांगीण परिशोध असंभव है । अपने कल्याण का उपाय कथंचित् सम्प्रदाय के बिना मिल भी सकता है किन्तु नानाविध अधिकारियों के अनुकूल निष्कण्टक पथ का बोध उसके बिना संभव नहीं । आस्तिक ही नहीं, नास्तिक अध्यात्मविद्या भी संप्रदाय के बिना ठीक से नहीं समझी जा सकती । इसमें कुमारिल भट्ट का इतिहास प्रमाण है । अतः गंभीरता से जिस किसी रास्ते साधना करनी हो उस मार्ग को साम्प्रदायिक ढंग से समझ लेना ही श्रेयस्कर है ।)

सत्य, चोरी न करना, दया आदि सब उत्तम गुणों से युक्त होकर तथा काम, क्रोध, अधिक लोभ, चुगलखोरी आदि से रहति होकर सत्यवस्तु को समझ चुके करुणावान् श्रेष्ठ आचार्य के पास जाकर उन महात्मा को दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये ॥ २–३ ॥ चन्दन, अगरु, कपूर आदि से गुरु की पूजा कर उन्हें तीन हज़ार, दो हज़ार, एक हज़ार या यथाशक्ति स्वर्णमुद्रायें या अन्य धन समर्पित करना उचित है ॥ ४½ ॥ अनेक बार श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम कर उनके चरणकमलों को सिर पर रख यों प्रार्थना करनी चाहिये 'हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश दें ।' ॥ ५–६ ॥

करुणाशील सर्वज्ञ श्रीगुरु को भी चाहिये कि निर्जन निर्भय शुभ समतल जगह को गोबर से लिप्त करा, पुष्पसज्जित करा, वहाँ पूर्णकुम्भ स्थापित कर तथा सब दिशाओं में दीपक रखवा कर, ऊपर वितान (तम्बू) तथा द्वारों पर तोरण लगवाकर, धूप-दीप आदि से सुवासित कर कच्चे साफ किये चावलों से या

१ आर्षो ल्यप् । २ अध्यापयेत्यर्थः । 'अन्तर्णीतणिजन्तस्य ह्यधीहीति भवेद्यतः' इति सुरेश्वरोक्तेः । इक् स्मरणे (अ.प.अ.) अयमप्यधिपूर्व इति भट्टोजी । तस्य लोण्मध्यमे रूपमधीहि ।

पारम्पर्यक्रमं बुद्ध्या संचिन्त्य श्रद्धया सह ।

स्थापयित्वा गुरुः शिष्यं मण्डलस्य तु मध्यमे ॥ ११ ॥

कृताञ्जलिपुटं पूर्णप्रकाशनिकरात्मके । शिवानन्दे समातीनमेवं भावनया युतम् ॥ १२ ॥

देशिकः स्वात्मनाऽऽत्मानमवलोक्य सुनिश्चलः ।

शिष्यं चाऽऽत्मतया साक्षाद् दृढं संचिन्त्य साक्षिणः ॥ १३ ॥

स्वात्मनोऽन्यतया भातं स्वात्ममात्रतया स्वयम् । चिन्तयेन्निश्चलो मन्त्रं जपित्वा पूर्वमेव तु ।

ग्रन्थिच्छेदं पुनः कुर्याद्गुरूक्तेनैव वर्त्मना ॥ १४ ॥

विलिख्य मण्डलमिति । अधिकारानुरूपेण कुण्डमण्डपादिनिरपेक्षा चाक्षुषी दीक्षा प्रागुक्ता । अधुना तु तत्सापेक्षा क्रियावती दीक्षा प्रतिपाद्यते । अतो मण्डपादिकं निर्माय तत्र दीक्षामण्डलं सर्वतोभद्रादिकं विलिखेदित्यर्थः । गुरूक्तेनेति । आचार्यैः प्रपञ्चसारादिषूक्तमार्गेण । 'ततो मण्डपमध्ये तु स्थण्डिलं गोमयाम्बुना' इत्यादिनेत्यर्थः ॥ १०–१२ ॥ स्वात्मनाऽऽत्मानमिति । स्वात्मभावेन परमात्मानं साक्षात्कृत्येत्यर्थः । साक्षिण इति । [१]साक्षिरूपेणावस्थितात्स्वात्मनोऽन्यत्वेनावगतं शिष्यं स्वात्ममात्रत्वेन गुरुश्चिन्तयेत् । उभयत्रानुगतस्य साक्षिचैतन्यस्यैकत्वादित्यर्थः । ग्रन्थिच्छेदमिति । उक्तं ह्यागमिकैर्निर्वाणदीक्षामधिकृत्य–'सूत्रं मूलेन बध्नीयान्मुमुक्षोस्तु [२]शिखाग्रके । तत्सूत्रं दक्षिणे भागे पादाङ्गुष्ठान्तमानयेत् ॥ मुमुक्षोर्विपरीतेन नारीणां वामभागके । मलाद्यन्तस्थपाशस्य निवृत्तिस्थानगस्य च । गुल्फान्तं वाञ्छितस्यास्य कुर्यात्पाशस्य च्छेदनम्' इति । ईदृग्विधेन गुरूपदिष्टमार्गेण षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकस्य पाशस्य यो ग्रन्थिस्तस्य छेदनं कुर्यादित्यर्थः ॥१३–१४ ॥

शालि-अन्न से वैसा मण्डल बनाये जैसा उसके गुरु ने उसे दीक्षा देते समय बनाना सिखाया हो । फिर उसका मंत्रपूर्वक चंदन पुष्पादि से पूजन करे ॥ ७–१० ॥ परम्परा के क्रम को समझकर श्रद्धासहित उसका स्मरण करे और मण्डल के मध्य शिष्य को स्थापित करे ॥ ११ ॥ शिष्य उस समय अंजलि बाँधे रहे और 'पूर्ण प्रकाशपुंजरूप शिवात्मक आनंद में मैं स्थित हूँ' ऐसी भावना करे ॥ १२ ॥ आचार्य स्थिर भाव से परमात्मा को निजात्मरूप समझते हुए शिष्य को भी निजात्मरूप से देखे । क्योंकि साक्षी अभिन्न है, इसलिये उस दृष्टि से ऐक्य-दर्शन आचार्य कर सकता है ॥ १३ ॥ यद्यपि शिष्यदेह अपने से भिन्न दीख रहा है तथापि 'शिष्यात्मा मैं ही हूँ' ऐसा दृढ चिंतन गुरु करे और पहले मंत्र का जप कर फिर गुरु प्रदर्शित प्रकार से ग्रंथिच्छेदन करे । (शिखा से पादांगुष्ठ तक सूत्र बाँध कर उसे काटा जाता है जिसे ग्रंथिच्छेदन कहते हैं ।) ॥ १४ ॥

---

१ ख. घ. ङ. च. छ. ज. साक्षिणा ॥ २ ङ. च. ज. शिवाग्र° ।

कृते कारुणिकेनैवमाचार्येण द्विजोत्तमाः ॥ १५ ॥

महादेवो महानन्दो महाकारुणिकोत्तमः । स्वात्मभूतां परां शक्तिं प्रेरयत्येव सुव्रताः ॥ १६ ॥

प्रसन्ना सा महादेवी महाकारुणिकोत्तमा ।
शिष्यस्याऽऽत्मनि चिद्रूपे स्वयं पतति निर्मला ॥ १७ ॥

शक्तिपाते तु संजाते शिष्यस्याऽऽत्मनि संस्थिता ।
माया दग्धा भवेत्किंचिन्नात्र संदेहकारणम् ॥ १८ ॥

सर्वसाधनसंयुक्तः साक्षादास्तिक्यसंयुतः । महादेवस्य भक्तश्चेच्छिष्यः सद्गुरुभक्तिमान् ॥ १९ ॥

तस्य शिष्यस्य विप्रेन्द्राः कर्मसाम्ये सति द्विजाः ।
शांभवी शक्तिरत्यर्थं तस्मिन्पतति चिद्घने ॥ २० ॥

तदा शिष्यस्य चिद्रूपे कल्पिता मोहरूपिणी ।
माया दग्धा भवेत्किंचित्तदा पतति विग्रहः ॥ २१ ॥

स्वात्मभूतां परामिति । सच्चिदानन्दरूपस्य[1] स्वप्रतिष्ठस्य[2] परशिवस्वरूपस्यैव शक्यप्रतियोगिकमायापरिणामरूपजगदङ्कुरात्मकशक्त्याकारानुप्रवेशेन शक्तित्वात्परा शक्तिः परशिवस्वरूपान्न व्यतिरिक्तेत्यर्थः । तदेतदुक्तं प्राक्–'चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारे द्विजोत्तमाः । अनुप्रविष्टा या संविन्निर्विकल्पा स्वयंप्रभा ॥ सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी । सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवंकरी' इति ॥ १५–१९ ॥ **कर्मसाम्ये सतीति** । परमेश्वरानुग्रहवशाद्दीक्षासंस्कारेण भाविजन्मापादककर्मक्षयाद्वर्तमानजन्मनि च सुखदुःखहेतुभूतयोः पुण्यपापयोरुपभोगेन क्षीणत्वादारब्धफलयोः संचितवर्तमानकर्मणोः । तदुक्तम्–'जन्तोरपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये [3]निःशेषपाशपटलच्छिदुरानिमेषात् । कल्याणदेशिककटाक्षसमाश्रयेण कारुण्यतो भवति शांभववेददीक्षा' इति ॥ आगमिका अप्याहुः–'अधर्मधर्मयोः साम्ये जाते शक्तिः पतत्यसौ । ज्ञानात्मिका परा शक्तिः शंभोर्यस्मिन्निपातिता' इति ॥ २० ॥

आचार्य द्वारा यों कर दिये जाने पर परम करुणावान् परमानन्दरूप महादेव स्वात्मभूत परा शक्ति को प्रेरित करते हैं ॥ १५–१६ ॥ वे महादेवी करुणा कर शिष्य की चिद्रूप आत्मा में स्वयं आ जाती

---

१ ग. ०न्दस्यरू० । २ ङ. ०तिष्ठितस्य । ३ ङ. ०पापप० ।

शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्रा धरण्यां पतिते सति ।
प्रसादः शांकरस्तस्य द्विजाः संजात एव हि ॥ २२ ॥
यस्य प्रसादः संजातो देहपातावसानकः ।
कृतार्थ एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥
तस्य प्रसादयुक्तस्य विद्या वेदान्तवाक्यजा ।
[1]दहत्यविद्यामखिलां तमः [2]सूर्योदयो यथा ॥ २४ ॥
शक्तिपातविहीनोऽपि सत्यवाग्गुरुभक्तिमान् ।
आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः क्रमान्मुच्येत[3] बन्धनात् ॥ २५ ॥

मोहरूपिणीति । शिष्यस्य चिद्रूपे स्वात्मनि चिच्छक्तितिरोधायिका हेयोपादेयविवेकज्ञानमावृण्वती मोहात्मिका या मायाऽऽश्रिता सा सच्चिद्रूपिण्याः शिष्यस्य स्वात्मन्यभिव्यक्तायाः परशक्तेः प्रसादेन किंचिदपसरतीत्यर्थः । तदा पतति विग्रह इति । मायासंबन्धनिबन्धनो ह्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंबन्धस्तथाविधस्याऽऽत्मनः स्वोपभोक्तव्यसुखदुःखहेतुभूतपुण्यपापात्मककर्मनिबन्धनो भोगायतनभूतदेहेन संबन्धस्तथा च शक्तिपातेन मायाया अपसरणादात्मनः

हैं ॥ १७ ॥ परा शक्ति का यों शिष्य में आपतन हो जाने पर निश्चय ही अज्ञान नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥ शिष्य यदि सब साधनों समेत होता है, श्रद्धालु होता है, महादेव तथा सद्गुरु में भक्ति वाला होता है और उसके पुण्य व पाप लगभग समान होते हैं तो शांभवी शक्ति का उसमें अवश्य संचार होता है ॥ १९–२० ॥ तब शिष्य का अज्ञान कुछ नष्ट होता है और उसका शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ता है (अर्थात् मैं देह हूँ ऐसा अभिमान हटता है फलतः देह को खड़ा रखने की चेष्टा वह करता नहीं जिससे शरीर गिर जाता है । शरीर अपनी सामर्थ्य से खड़ा रह भी जाये तो भी उसे वह वैसा ही लगता है जैसे पृथ्वी पर पड़ी कोई चीज़ ।) ॥ २१ ॥ जब यों शिष्य का शरीर ज़मीन पर गिर पड़ता है तब समझ लेना चाहिये कि शिष्य पर शिवकृपा हो चुकी है ॥ २२ ॥ जिस पर इतनी कृपा हो गयी कि उसका शरीर देहाध्यासनिवृत्ति के कारण गिर पड़ा, उसका पुनर्जन्म असंभव है ॥ २३ ॥ ऐसे शिष्य को जब वेदान्त श्रवण कराया जाता है तब उसका समस्त अज्ञान समाप्त हो जाता है । (शक्तिपात से उस तरह अज्ञान हटा था जैसे पौ फटने पर अंधेरा और अब) सूर्य का उदय होने पर अंधकार के समान अविद्या रह नहीं जाती ॥ २४ ॥

जिस शिष्य में शक्तिपात की योग्यता नहीं, वह भी यदि सदा सत्य बोले और गुरु में भक्ति रखे

---

१ ङ. दहेदवि° । २ ग. घ. ङ. च. छ. सूर्योदये । ३ विवेकः पदार्थशोधनं मननं निदिध्यासनं चात्र क्रमः । इतरस्तु कृतविवेकादिरिति श्रवणमात्रेणाप्रतिबद्धं ज्ञानं लभते ।

शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा ।

यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः ॥ २६ ॥

शक्तिपातप्रकारस्य[1] रहस्यांशश्च कश्चन । मया नोक्तो रहस्यत्वादाज्ञाभङ्गभयादपि ॥ २७ ॥

प्रसादकामी विप्रेन्द्राः प्रसन्नो गुरुभक्तिमान् ।

दिने दिने गुरोः पूजां कुर्यादर्थादिभिर्नरः ॥ २८ ॥

संप्रदायसमन्वयमुत्तमं गुह्यमेतदिदं कथितं मया ।

शंकरेण पुरा कथितं गुरोः शंकरः खलु सर्वहिते रतः ॥ २९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे महादेवप्रसादकारणकथनं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंवन्धशैवल्ये पुण्यमार्गनिमित्तस्य देहसंबन्धस्यापि गलितत्वात्तभिमानाभावेन तत्पात इत्यर्थः । तदुक्तमागमे– 'देहपातस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे । स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्' इति ॥ २१–२६ ॥ रहस्यांशश्च कश्चनेति । अयमत्र रहस्यांशः–परमेश्वरस्वरूपभूतेन सर्वगतायाः[2] संविद्रूपिण्याः परशक्तेः पतनासंभवाच्छिष्यस्याऽऽत्मनि प्रागेवावस्थिता सा पाशजालावृतत्वेन तिरोहिता सती पश्चाद्दीक्षासंस्कारेणाऽऽवरणापनये सत्यभिव्यक्तिमासादयन्ती पततीत्युपचर्यते । ऊर्ध्वदेशादधोदेशप्राप्तिर्हि पतनं न खलु तादृशमस्याः संभवतीति । आगमेऽप्युक्तम्–'व्यापिनी परमा शक्तिः पततीत्युच्यते कथम् । ऊर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगस्य च ॥ सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत्स्थिता । किं त्वियं मलकर्मादिपाशवन्धेषु संवृता ॥ पक्वपाकेषु सुव्यक्ता पततीत्युपचर्यते' इति ॥ २७–२९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे महादेवप्रसादकारणकथनं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

तो गुरु से वेदान्त का श्रवण करने के फलस्वरूप क्रमशः मोक्ष पा सकता है ॥ २५ ॥ शक्तिपात वाला तो वेदान्त श्रवणजन्य अखण्डबुद्धि के होते ही तत्क्षणमुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

शक्तिपात के प्रकार का कुछ गुह्य हिस्सा मैंने यहाँ नहीं बताया है क्योंकि वह है ही गुह्य (केवल अधिकारी को गुरुकृपा से अनुभूत हो सकता है) । उसका प्रकाशन करना गुरु की आज्ञा के विरुद्ध होगा क्योंकि मेरे गुरु ने उसका सर्वसामान्य को उपदेश देना मना कर रखा है ॥ २७ ॥ शिव की कृपा चाहने वाले को प्रतिदिन भक्तिपूर्वक गुरु की पूजा करनी चाहिये ॥ २८ ॥ सर्वलोकहित में निरत शंकर ने मेरे गुरु को जो संप्रदायदीक्षा की विधि बतायी थी उस रहस्यभूत विधान को मैंने यहाँ बता दिया है ॥ २९ ॥

---

१ ङ. काशस्य । २ छ. °तायाश्चिद्रू° ।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि संप्रदायपरम्पराम् ।

यज्ज्ञानेन द्विजश्रेष्ठो गुरुर्भवति सुव्रताः ॥ १ ॥

यः शिवः सर्वभूतानामीश्वरः स्वत एव तु ।

ईशानः सर्वविद्यानां स एवाऽऽदिगुरुर्बुधाः ॥ २ ॥

तस्य शिष्यो महाविष्णुः सर्वज्ञानमहोदधिः । तस्मादात्तपरिज्ञानो ब्रह्मा सर्वजगत्प्रभुः[1] ॥ ३ ॥

सनत्कुमारो भगवान्ब्रह्मणा श्रुतवेदनः । सनत्कुमारात्सर्वज्ञात्कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥ ४ ॥

अवाप्ताखिलविज्ञानस्तस्मादेव श्रुतं मया । मत्तो लब्धपरिज्ञाना यूयं सत्यपरायणाः ॥ ५ ॥

एवं बुद्ध्वा मुनिश्रेष्ठाः संप्रदायपरम्पराम् । तत्तन्नाम्न नमस्कृत्य श्रद्धया देशिकानिमान् ॥ ६ ॥

पूर्वोक्तेनैव मार्गेण कुर्यादज्ञाननाशनम् । आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः सत्यवाग्गुरुभक्तिमान् ॥ ७ ॥

गुरूपसत्तिवद्गुरुपरम्पराज्ञानमपि विद्याहेतुरिति तद्वक्तुं प्रतिजानीते–अथात इति ॥ १–७ ॥

सम्प्रदायपरम्परा-विचार नामक पैंतीसवा अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं संप्रदायपरम्परा बताता हूँ जिसे जानकर ही गुरु बना जा सकता है ॥ १ ॥ शिव ही आदि गुरु हैं । वे स्वयं सबके शासक हैं और सब विद्याओं के अधिपति हैं ॥ २ ॥ उनके शिष्य सर्वज्ञ महाविष्णु हैं । सारा संसार बनाने वाले ब्रह्मा ने विष्णु से ज्ञान पाया है ॥ ३ ॥ ब्रह्मा से सनत्कुमार ने विद्या ग्रहण की है । सनत्कुमार के शिष्य हैं मुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास ॥ ४ ॥ उनसे मैंने और मुझसे आप लोगों ने ज्ञानलाभ किया है ॥ ५ ॥ यों गुरुपरम्परा को जानकर उस-उस नाम से इन आचार्यों को प्रणाम करना चाहिये (शिवाय नमः, नारायणाय नमः इत्यादि) ॥ ६ ॥ तदनंतर पूर्वोक्त प्रकार से सत्य बोलने का नियम रखते हुए और प्रेम से गुरु की सेवा करते हुए उनसे वेन्दान्त श्रवण कर अज्ञाननाश करना चाहिये ॥ ७ ॥

जो व्यक्ति गुरुपरम्परा जाने बिना स्वयं गुरु बन जाता है वह निःसंदेह घोर नरक को जाता है ॥ ८ ॥

---

१ घ. "गद्गुरुः ॥ ३ ॥

यो विद्यासंततिज्ञानविहीनो देशिको भवेत् ।
स घोरं याति नरकं नास्ति संदेहकारणम् ॥ ८ ॥
यो विद्यासंततिज्ञानविहीनो देशिको भवेत् ।
स नभोभक्षणेनैव [1]क्षुद्व्याधिं [2]विनिवर्तयेत् ॥ ९ ॥
यो विद्यासंततिज्ञानविहिनो देशिको भवेत् ।
स विनैव तिलांस्तैलं लभते सिकतासु च ॥ १० ॥
यो विद्यासंततिज्ञानसहितो देशिको भवेत् । सोऽनायासेन संसाराज्जनानुत्तारको भवेत् ॥ ११ ॥
स्वगोत्रर्षिं नमस्कृत्य गुरूक्तेनैव वर्त्मना ।
स्वगुरुं च नमस्कृत्य श्रद्धया च गुरोर्गुरुम् ॥ १२ ॥
विघ्नेशं षण्मुखं चापि शिवां विद्यास्वरूपिणीम् ।
अन्यांश्च [3]सकलान्देवान्ब्रह्मविष्णुपुरोगमान् ॥ १३ ॥
पुनः शिष्यस्य मेधावी चित्तपाकं परीक्ष्य च ।
अविद्यापाशविच्छेदं कुर्यात्प्राज्ञस्तु देशिकः ॥ १४ ॥

गुरुपरम्पराऽवश्यं ज्ञातव्येत्यमुमर्थं व्यतिरेकमुखेण द्रढयति–यो वियासंततिज्ञानविहीन इति ॥ ८–१४ ॥

गुरुपरम्परा जाने बिना गुरु बनना वैसी ही मूर्खता है जैसे आकाश खाकर भूख मिटाना ! ॥ ९ ॥ जो परम्परा समझे बिना गुरु बन जाता है वह तो शायद तिलों के बिना ही तेल भी पा लेगा ! ॥ १० ॥

गुरुपरम्परा को जानकर गुरु बनने वाला अनायास ही लोगों को संसारसागर से पार करा देता है ॥ ११ ॥ निजगुरु द्वारा बताये ढंग से पहले अपने गोत्रप्रवर्तक ऋषि को प्रणाम करना चाहिये । फिर क्रमशः गुरु, परमगुरु, गणेश, कार्तिकेय, ब्रह्मविद्यारूपिणी उमा तथा ब्रह्मा, विष्णु आदि अन्य देवताओं को ननन करना चाहिये ॥ १२–१३ ॥ शिष्य की मेधा और मनःस्थिति की परीक्षा कर तदनुरूप उपदेश द्वारा

---

१ घ. क्षुधादि । २ क. ङ. विनिवर्तते । ३ छ. °ह्मरुद्रपु° ।

विवित्या शिष्यचित्तस्य विपाकं पुनरास्तिकाः । दद्यात्पाकानुरूपेण विद्यामेतां महेश्वरीम् ॥ १५ ॥

मुर्खशिष्योपदेशेन विद्यागर्वेण सुव्रताः । गुरुद्रोहेण सर्वज्ञोऽप्यन्धकूपे पतत्यधः ॥ १६ ॥

तस्मात्संवत्सरं शिष्यं परीक्ष्याकृत्रिमं पुनः । प्रदद्याद्वैदिकीं विद्यां गुरुर्विद्याभिवृद्धये ॥ १७ ॥

विद्यासंततिविज्ञानं शिष्यचित्तपरीक्षणम् । अवश्यंभावि विप्रेन्द्रा देशिकस्येश्वराज्ञया ॥ १८ ॥

संप्रदायविहीना या विद्या वेदान्तपारगाः ।

साऽविद्या नैव विद्या स्यादिति तत्त्वविदां स्थितिः ॥ १९ ॥

पारम्पर्यपरिज्ञानं परविद्याप्रवर्तकम् । पारम्पर्यावबोधेन विद्या सा वीर्यवत्तरा ॥ २० ॥

पारम्पर्यपरिज्ञानादेव पाशनिकृन्तनम् । तस्मात्प्राज्ञः स्वविद्यायाः संततिज्ञानवान्भवेत् ॥ २१ ॥

यथा गोत्रपरिज्ञानं विवाहस्योपकारकम्[1] । पारम्पर्यपरिज्ञानं तथा ज्ञानोपकारकम् ॥ २२ ॥

दद्यात्पाकानुरूपेणेति । शिष्यस्य चित्तं बुद्ध्वा परीक्ष्य तद्गतमलकर्मादिपाशजालपाकानुसारेण विद्यामुपदिशेदित्यर्थः । उक्तं हि तत्त्वप्रकाशे—'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन । योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः' इति ॥ १५-१६ ॥ तस्मात्संवत्सरमिति । 'भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ नासंवत्सरवासिने[2] प्रब्रूयात्' इति हि श्रुतिः ॥ १७–२० ॥ अतः स्वगुरुपरम्पराज्ञानस्य विद्याहेतुत्वेन श्रुत्यादिप्रतिपादितत्वात्तत्तत्स्वकीयगुरुपरम्पराज्ञानमवश्यमेष्टव्यमित्युपसंहरति—तस्मात्प्राज्ञ इत्यादिना ॥ २१–२२ ॥

उसके अविद्याबंधन को काटना प्रारम्भ करना चाहिये ॥ १४ ॥ इस माहेश्वरी विद्या का उपदेश शिष्य के मन की पक्वता को जानकर तद्नुरूप ही देना उचित है । (विवेक, वैराग्यादि का आधिक्य ही पक्वता है । जितना वे अधिक और उतना ही सूक्ष्म तत्त्व का उपदेश सार्थक है । जितना ये कम हों उतना ही साधनोपदेश अधिक और साध्यपरिचय कम हो सकता है ।) ॥ १५ ॥ मूर्ख शिष्य को सूक्ष्मतम उपदेश करने से, विद्या के बल पर गर्वित होने से और गुरुद्रोह से सर्वज्ञ का भी घोर अज्ञान में अधःपतन होता है । (गुरु के प्रति कृतज्ञता का भाव न रखना, आज्ञोल्लंघन करना व अन्य तरह से उन्हें कष्ट देना गुरु-द्रोह है ।) ॥१६ ॥ अतः गुरु को चाहिये कि विद्यावंश की उन्नति के लिये वैदिक ज्ञान का उपदेश देने से पूर्व (कम से कम) एक साल शिष्य की खरी परीक्षा कर ले ॥ १७ ॥ गुरुपरम्परा जानना और शिष्य की परीक्षा करना—ये आचार्य के आवश्यक कर्तव्य हैं ॥ १८ ॥ सम्प्रदायक्रम से जो प्राप्त नहीं हुई है वह विद्या नहीं अविद्या ही है ऐसा तत्त्ववेत्ताओं का निर्णय है ॥ १९ ॥ परा विद्या की प्रवृद्धि परम्परा-प्राप्त ज्ञान से ही होती है । परा विद्या तभी अतिशय सामर्थ्य वाली हो पाती है जब उसे परम्परापूर्वक ग्रहण किया हो ॥ २० ॥ गुरुपरम्परा जानने से ही पाश कटते हैं । अतः बुद्धिमान् को चाहिये कि जिस विद्या को ग्रहण कर रहा हो उसकी आचार्यपरम्परा को जाने ॥ २१ ॥ जैसे गोत्र की जानकारी विवाह कर्म में उपकार करती है (गोत्राचार विवाह का आवश्यक अंग है), वैसे ही गुरुपरम्परा का ज्ञान ज्ञान का उपकार करता है ॥ २२ ॥ श्रुति में नाना प्रकार की गुरुपरम्परायें बतायी गयी हैं । तत्तद् विद्या की

---

१ ग. °रणम् । २ ङ. °ने प्रब्रूयान्नैवासंवत्सरवासिने प्र° ।

विद्यासंततयो विप्रा बहुरूपाः श्रुतौ श्रुताः ।
तत्तत्संततिविज्ञानं विद्यासिद्धेस्तु कारणम् ॥ २३ ॥
यो गुरुर्भवति यस्य सुव्रताः सोऽपि तस्य परवेदनाय तु ।
स्वस्य देशिकपरम्परामिमां तस्य भक्तिसहितस्य बोधयेत् ॥ २४ ॥
शक्तिरस्य महती विजृम्भते यस्य देशिकपरम्परा धृता ।
मुक्तिसिद्धिरपि चास्ति सद्गुरोः शुद्धवंशपरवेदनेन तु ॥ २५ ॥
संतानविज्ञानविहीनदेशिकः पिशाचपूर्वैरतिपीडितो भवेत् ।
संतानविज्ञानवतः सदाशिवः स्वकं वपुस्तस्य ददाति चित्सुखम् ॥ २६ ॥
शृणुध्वमन्यत्प्रवदामि संततिप्रबोधहीनस्य नरस्य बाधनम् ।
न मुक्तिसिद्धिर्न च तस्य वेदनं न देशिकत्वं न सुखित्वमास्तिकाः ॥ २७ ॥

बहुरूपाः श्रुतौ श्रुता इति । वृहदारण्यकादिश्रुतिषु 'अथ वंशः पौतिमाष्यः' इत्यारभ्य 'ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः' इत्यन्तेन बहुधा गुरुपरम्परा समाम्नातेत्यर्थः ॥ २३–२९ ॥

वीर्यवत्ता के लिये तत्तत् परम्परा को जान लेना चाहिये ॥ २३ ॥ जो जिसका गुरु बने उसका भी कर्तव्य है कि परमात्मज्ञान की सिद्धि के लिये अपने शिष्य को अपनी गुरुपरम्परा का ज्ञान करावे ॥ २४ ॥ गुरुपरम्परा के जानकार में महान् शक्ति आ जाती है और मोक्ष भी उसी का हो सकता है ॥ २५ ॥ परम्पराज्ञानरहित गुरु को पिशाच आदि पीडित करते हैं जबकि परम्परा के ज्ञाता को शिव अपना सच्चिदानंदरूप स्पष्ट कर देते हैं ॥ २६ ॥ हे आस्तिको ! और भी सुन लो—परम्पराज्ञानशून्य व्यक्ति के सामने बाधायें ही आती हैं । उसे मोक्ष कभी नहीं मिलता । ज्ञान ही उसे नहीं हो पाता । वह न कभी सही अर्थ में गुरु बन सकता है और न कभी सुखी हो सकता है ॥ २७ ॥ ऐसे का शिष्य मोक्ष, परमात्मज्ञान,

१ ङ. °कं पुनस्त° ।

शिष्यस्तु मुक्तिं परवेदनं सुखं चित्तस्य शुद्धिं न च याति सुव्रताः ।
बद्धश्च कष्टश्च विमोहितश्च भ्रष्टश्च सत्यं परिभाषितं मया ॥ २८ ॥

किमिह बहुभिरुक्तैः संततिज्ञानहीनाः सकलदुरितराशिं [1]सत्यमुक्तं विशन्ति ।
परमपदसमाख्यं ब्रह्मरूपं न यान्ति स्फुरणसुखमनन्तं संततिज्ञानहीनाः ॥ २९ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे संप्रदायपरम्पराविचारो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि सद्योमुक्तिकरं परम् ।
आम्नायान्तैकसंसिद्धं सुकरं सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥

पुरा भगवती देवी भोगमोक्षफलप्रदा । पुराणी पूर्णविज्ञानस्वरूपा परमा शिवा ॥ २ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे संप्रदायपरम्पराविचारो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

गुरुपरम्पराज्ञानवत्कालहस्त्याख्यक्षेत्रविशेषे व्रतविशेषानुष्ठानमप्यनायासेन मुक्तिहेतुरिति तद्वक्तुं प्रतिजानीते—अथात इति ॥ १–२ ॥

सुख तथा चित्तनैर्मल्य कभी नहीं पाता । वह बद्ध ही बना रहता है और मोह में पड़ा कष्ट ही पाता है । वह मार्गभ्रष्ट बना रहता है यह निश्चित जानो ॥ २८ ॥ अधिक क्या कहें ? गुरुपरम्परा को जो नहीं जानते वे पापी ही हैं । वे परमपदनामक ब्रह्मरूप को कभी प्राप्त नहीं करते और अनंत चित् सुखरूप मोक्ष उन्हें कभी नहीं मिलता ॥ २९ ॥

सद्यः मुक्ति देने वाले क्षेत्र की महिमा का कथन नामक छत्तीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले—अब मैं सद्यः मोक्षप्राप्ति के उपाय के विषय में बताऊँगा । वेदान्तसिद्ध व सबके लिए सुकर उपाय अब बताऊँगा । (तप को विविदिषा की प्राप्ति का उपाय उपनिषत् में बताया गया है । तीर्थवास तपोविशेष है । अतः यह वेदांतसिद्ध है ।) ॥ १ ॥ प्राचीन काल में एक बार भोग व मोक्ष प्रदान करने वाली पूर्णज्ञानरूपिणी परमेश्वरी शिवा ने महादेव से प्रश्न किया । महादेव संसार के नाथ हैं । देवता, मनुष्य,

---

१ ग. ङ. सत्यमुक्ति ।

देवदेवं जगन्नाथं देवेषु च नरेषु च । क्रिमिकीटपतंगेषु समं सर्वेषु संस्थितम् ॥ ३ ॥
सत्यविज्ञानसंपूर्णं सुखलक्षणमव्ययम् । स्वप्रकाशैकसंसिद्धं स्वविलक्षणवर्जितम् ॥ ४ ॥
घृतकाठिन्यवद्विप्राः केवलं कृपयैव तु । आविर्भूतमहानन्दताण्डवं करुणालयम् ॥ ५ ॥
गुणातीतं गुरुं गुह्यमुपास्यं गुणमूर्तिभिः । प्रणम्य दण्डवद्देवी शिवाऽपृच्छदिदं बुधाः ॥ ६ ॥

समं सर्वेषु संस्थितमिति । 'तत्सृट्वा तदेवानुप्राविशत्[1]' 'एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिश्रुतेः । देवतिर्यङ्मनुष्यादिषु[2] क्रिमिकीटकादिषु तद्धि चैतन्यरूपेण साम्येनावस्थितमित्यर्थः । यद्वा प्राणरूपेण सर्वजन्तुषु [3]साम्येनावस्थितम् । तथा च बृहदारण्यके समाम्नायते '[4]यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' इति । गीतासु च स्मर्यते-'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ॥ विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इति ॥ ३ ॥ स्वविलक्षणवर्जितमिति । स्वस्मात्स्वप्रकाशचिद्रूपाद्विलक्षणो जडप्रपञ्चस्तस्य मायामयत्वेनापरमार्थत्वात्तद्रहितमित्यर्थः ॥ ४ ॥ अत्र दृष्टान्तो-घृतकाठिन्यवदित्यर्थः । यथा घृतस्य काठिन्यमग्निसंयोगाद्विलीनावस्थायां घृतस्वरूपातिरेकेण नोपलभ्यत एवमेवाद्वितीयपरशिवस्वरूप साक्षात्कारेण तदाश्रितायां मायायां विलापितायां तन्मयस्तत्स्वरूपे परिकल्पितः प्रपञ्चोऽपि तत्रैव[5] लीयत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ गुणातीतमिति । [6]प्रकृत्यवयवाः सत्त्वाद्या गुणास्तानतिक्रम्य वर्तमानमित्यर्थः । गुणमूर्तिभिरित । सृष्टिस्थितिसंहृतिव्यापारा ब्रह्मविष्णुरुद्रा गुणमूर्तय इत्यर्थः ॥ ६-२१ ॥

कृमि, कीट, पतंग आदि सबमें समान रूप से शिव अवस्थित हैं ॥ २-३ ॥ सत्य विज्ञान से वे भरे हुए हैं । उनका स्वरूप ही है अव्यय सुख । उनकी सिद्धि स्वयं उन्हीं के प्रकाश से होती है । वे कभी किसी की अपेक्षा 'दूसरे' नहीं हो पाते क्योंकि उनसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ॥ ४ ॥ जैसे घी का डलारूप (जमा हुआ खण्डरूप) पिघलने पर घृतमात्र बचता है ऐसे अद्वितीय परमशिव के स्वरूप के साक्षात्कार से उनकी माया उन-मात्ररूप बचती है । पृथग् उपलब्धि-दशा में भी डलारूप वस्तुतः घी से अतिरिक्त था नहीं, केवल लगता था । ऐसे ही माया शिव से अतिरिक्त कुछ नहीं है । शिव से भिन्न उसका जो स्वरूप है वह केवल 'लगना'-मात्र है । वे महादेव केवल कृपा से महानन्दताण्डव को व्यक्त करते हैं । करुणा के तो वे निधान हैं ॥ ५ ॥ सत्त्वादि सभी गुणों से शिव अतीत हैं । वे ही एकमात्र गुरु हैं । हृदय गुहा में स्थित वे ही शिष्य भी बनते हैं । गुणोद्रेकोपहित ब्रह्मा आदि मूर्तियों के वे ही उपासनीय हैं । उन शिव को प्रणाम कर देवी ने यों पूछा-॥ ६ ॥ श्री देवी ने कहा-'हे देवाधिदेव ! हे जगन्नाथ !

---

१ ख. °त्तू । स एतमे° । २ ग. °षु सिद्धिचै° । घ. °षु सह चे° । ३ ख. ग. घ. सामान्येना° । ४ ख. ग. घ. ङ. च. छं. यदेव । ५ ख. °व विली° । ६ ङ. प्रत्यगव° ।

श्रीदेव्युवाच– देवदेव जगन्नाथ जगतामार्तिभञ्जन ।

सद्योमुक्तिकरं पुंसां सुकरं ब्रूहि मे शिव ॥ ७ ॥

सूत उवाच– एवं पृष्टो महादेवो महादेव्या वृषध्वजः ।

हिताय जगतां तस्यै बभाषे तन्महेश्वरः ॥ ८ ॥

महेश्वर उवाच– साधु साधु महादेवि त्वया पृष्टं जगद्धितम् ।

इतः पूर्वं मया नोक्तं वदामि तव तच्छृणु ॥ ९ ॥

ब्राह्मणो वाऽन्त्यजो वाऽपि स्त्री पाखण्डोऽथवा बुधः ।

दरिद्रो वा [1]समृद्धो वा मूर्खो वा पण्डितोऽथ वा ॥ १० ॥

समर्थो वाऽसमर्थो वा बालो वा स्थविरोऽपि वा ।

आस्तिको वा महादेवि नास्तिक्येन युतोऽथवा ॥ ११ ॥

भूमौ दक्षिणकैलासे सर्वस्थानवरे शुभे । सुवर्णमुखरीतीरे सुस्थिते सर्वसेविते ॥ १२ ॥

हे जगत् के दुखों के समापक ! हे शिव ! मुझे वह सुकर उपाय बताइये जिससे सभी लोगों को सद्यः मोक्ष मिल जाये' ॥ ७ ॥ सूत जी बोले–महादेवी द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर परमेश्वर ने सबके हित के लिये यों उत्तर दिया–॥ ८ ॥

महेश्वर ने कहा–हे पार्वति ! तुमने संसार का हित करने वाला बहुत अच्छा प्रश्न किया है । इसका उत्तर अब से पहले मैंने कभी नहीं दिया था । अब तुम्हें इस के विषय में बताता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥ ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज, स्त्री, पाखण्डी, जानकार, दरिद्र, समृद्ध, मूर्ख, पण्डित, सामर्थ्यवान्, सामर्थ्यहीन, बाल, वृद्ध, आस्तिक, नास्तिक, चाहे कोई हो उसके सद्यः मोक्ष का सरल उपाय है कि वह सर्वश्रेष्ठ स्थान दक्षिण कैलास जाये । सुवर्णमुखरी नदी के किनारे वह स्थान है ॥ १०–१२ ॥ तुम, मैं, हमारे दोनों पुत्र, नन्दी, मेरे सब भक्त, विष्णु, इन्द्रादि लोकपाल, सोम-सूर्य आदि ग्रह, सब देवता, यक्ष व राक्षस सभी उस स्थान

१ ग. समर्थो ।

त्वया मया च पुत्राभ्यां नन्दिना वृषभेण च ।
मम भक्तैरशेषैश्च ब्रह्मणा विष्णुनाऽपि च ॥ १३ ॥
इन्द्रादिलोकपालैश्च सोमसूर्यादिभिस्तथा । देवताभिश्च सर्वाभिर्यक्षराक्षसपूर्वकैः ॥ १४ ॥
सर्वदा सेविते शुद्धे सर्वकामार्थसाधके । संवत्सरव्रतं कुर्यात्सद्योमुक्तिकरं तु तत् ॥ १५ ॥
आदित्ये मेषसंयुक्ते चित्रानक्षत्रके नरः । सुवर्णमुखरीतोये पवित्रे पापनाशने ॥ १६ ॥
प्रातः स्नात्वा यथाशक्ति धनं दत्त्वा प्रियेण तु ।
श्रीकालहस्तिनाथाख्यं देवि मामादरेण तु ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणं यथाशक्ति कृत्वा भूमौ तु दण्डवत् ।
प्रणम्य दृष्ट्वा देवेशि नक्तभोजनमाचरेत् ॥ १८ ॥
आदित्ये वृषभं प्राप्ते विशाखर्क्षे समाहितः ।
सुवर्णमुखरीतोये प्रातः स्नात्वा यथाबलम् ॥ १९ ॥
दत्त्वा प्रदक्षिणं कृत्वा देवं दृष्ट्वाऽभिवन्द्य च ।
समाहितमना भूत्वा नक्तभोजनमाचरेत् ॥ २० ॥
आदित्ये मिथुनं प्राप्ते मूलाख्ये तारके बुधः ।
सुवर्णमुखरीस्नानं कृत्वा प्रातः समाहितः ॥ २१ ॥

का सेवन करते हैं । सभी इच्छाओं को पूरा करने वाला वह स्थान है । वहाँ जाकर मुमुक्षु को संवत्सरव्रत करना चाहिये । वहाँ किया व्रत सद्यः मोक्ष देने वाला है ॥ १३–१५ ॥ सूर्य जब मेष राशि में स्थित हो तब चित्रानक्षत्रयुक्त दिन में सुवर्णमुखरी के पवित्र जल में स्नान करना चाहिये ॥ १६ ॥ प्रातः स्नान कर प्रेम से यथाशक्ति धनदान करे । 'श्रीकालहस्तिनाथ' नाम से स्थित मेरी यथासामर्थ्य प्रदक्षिणा करे व दण्डवत् प्रणाम कर मेरा दर्शन करे । उस दिन केवल रात को ही भोजन करे ॥ १७–१८ ॥ सूर्य जब वृष राशि में हो तब विशाखानक्षत्रयुक्त दिन में प्रातः सुवर्णमुखरी में स्नान कर यथाशक्ति दान और देवप्रक्षिणा कर, उनका दर्शन और अभिवादन कर एकाग्रचित्त से रात्रि के समय भोजन करे ॥ १९–२० ॥

प्रदत्त्वा धनमन्यद्वा यथाशक्ति महर्षयः[1] । देवं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य भुवि दण्डवत् ।

दृष्ट्वा तथैव मां देवि नक्तभोजनमाचरेत् ॥ २२ ॥

आदित्ये कर्कटं प्राप्ते गर्भर्क्षे सुसमाहितः ॥ २३ ॥

सुवर्णमुखरीस्नानं कृत्वा प्रातर्द्विजोत्तमाः । दृष्ट्वा तत्रैव मां देवि देवं भक्तिपुरःसरम् ॥ २४ ॥

प्रदक्षिणं यथाशक्ति कृत्वा दृष्ट्वाऽभिवन्द्य च ।

त्यक्त्वाऽहर्भोजनं धीमान्रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ २५ ॥

सिंहराशौ स्थिते सूर्ये वैष्णवे तारके नरः ।

प्रातरेव महानद्यामस्यां स्नात्वा यथाबलम् ॥ २६ ॥

दत्त्वा प्रदक्षिणं कृत्वा स्तुत्वा मामभिवन्द्य च ।

त्यक्त्वाऽहर्भोजनं मर्त्यो रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ २७ ॥

आदित्ये कन्यकायुक्ते तथाऽजैकपदे दिने ।

स्नात्वा चास्यां नरः प्रातर्दत्त्वा विप्राय भोजनम् ॥ २८ ॥

श्रीकालहस्तिनाथाख्यं देवं पूर्वोक्तवर्त्मना ।

दृष्ट्वाऽहर्भोजनं त्यक्त्वा रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ २९ ॥

प्रदत्त्वेति । छान्दसो ल्यबभावः । यद्वा प्रोपसर्गो व्यरतनिर्दिष्ट इति समासाभावाल्ल्यपो न प्रसक्तिः । महर्षय इति चतुर्थ्यन्तः पाठः ॥ २२ ॥ गर्भर्क्ष इति । गर्भर्क्षं पूर्वाषाढाख्यं नक्षत्रम् । तथा ज्योतिर्विदः—'पूर्वाषाढागते भानौ जीमूतैः परिवेष्टिते । आर्द्रादीनि प्रवर्ष्यन्ते(?)[2] त्येकैकस्य त्रयोदश' इति । ॥ २३–२५ ॥ वैष्णवं श्रवणनक्षत्रम् । 'विष्णुर्देवता' इति श्रुतेर्वैष्णवं श्रवणाख्यम् । ॥ २६–२७ ॥

सूर्य जब मिथुन राशि में हो तब मूल नक्षत्रयुक्त दिन में पुनः पूर्ववत् आचरण करे ॥ २१–२२ ॥ ऐसे ही जब सूर्य कर्क राशि में हो तब पूर्वाषाढा नक्षत्रयुक्त दिन में, जब सूर्य सिंह राशि में हो तब श्रवणनक्षत्रयुक्त दिन में पूर्ववत् करना चाहिये ॥ २३–२७ ॥ सूर्य जब कन्या राशि में हो तब पूर्वप्रोष्ठपदा नक्षत्र युक्त दिन में, जब तुला राशि में हो तब अश्विनी नक्षत्र युक्त दिन में, जब वृश्चिक राशि में हो तब कृत्तिका नक्षत्र

---

१ अत्र 'महर्षये'—इति पाठेन भाव्यमिति टीकाऽभिप्रायः । २ ख. °न्तेऽस्यैके° ।

तुलां प्राप्ते तु मार्तण्डे चाश्विन्यां प्रातरेव च ।
नद्यामस्यां नरः स्नात्वा दत्त्वा विप्राय भोजनम् ॥ ३० ॥
प्रदक्षिणप्रणामादि कृत्वा नक्तं समाचरेत् ।
सूर्ये वृश्चिकसंयुक्ते कृत्तिकायां द्विजर्षभाः ॥ ३१ ॥
पूर्वोक्तेनैव मार्गेण नरः कृत्वा समाहितः ।
त्यक्त्वाऽहर्भोजनं मर्त्यो रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ ३२ ॥
आदित्ये चापसंयुक्ते चान्द्रनक्षत्रके नरः । कृत्वा तु पूर्ववद्देवि नक्तभोजनमाचरेत् ॥ ३३ ॥
सूर्ये मकरसंयुक्ते पुष्यनक्षत्रके नरः । पूर्ववत्सकलं कृत्वा नक्तभोजनमाचरेत् ॥ ३४ ॥
माघे मासि मघर्क्षे तु कृत्वा पूर्ववदास्तिकाः ।
त्यक्त्वाऽहर्भोजनं विप्रो नक्तभोजनमारेत् ॥ ३५ ॥
मार्तण्डे कुम्भराशिस्थे मघानक्षत्रके नरः । पूर्ववत्सकलं कृत्वा नक्तभोजनमाचरेत् ॥ ३६ ॥
आदित्ये मीनराशिस्थे फल्गुन्यां देवि मानवः ।
पूर्ववत्सकलं कृत्वा रात्रौ भोजनमाचरेत् ॥ ३७ ॥

अजैकपद इति । 'अज एकपाद्देवता प्रोष्ठपदा न' इति श्रुतेः पूर्वप्रोष्ठपदाख्यमजैकपदम् ॥ २८–३२ ॥ चान्द्रेति । मृगशीर्षं नक्षत्रम् । 'सोमो देवता' इति श्रुतेश्चान्द्रं मृगशीर्षाख्यम् । पूर्ववदिति । सुवर्णमुखरीस्नानादिकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ३३–३७ ॥

युक्त दिन में, जब धनु राशि में हो तब मृगशीर्षनक्षत्र युक्त दिन में, जब मकर राशि में हो तब पुष्य नक्षत्र युक्त दिन में, माघ मास में मघानक्षत्र वाले दिन में, सूर्य जब कुंभ राशि में स्थित हो तब भी मघा नक्षत्र युक्त दिन में, जब मीन राशि में हो तब फल्गुनी नक्षत्र युक्त दिन में पूर्ववत् सब कुछ करे तथा (कन्याराशि में स्थित सूर्य के काल से अंत तक सभी उक्त दिनों में) एक ब्राह्मण को भोजन भी दे ॥ २८–३७ ॥ प्रसन्नतापूर्वक हर महीने ऐसा करने वाला जब मरने लगता है तब मैं उसे परम ज्ञान दे देता हूँ ॥ ३८ ॥ इस व्रत के पालन से मनुष्य मेरा परम पद अवश्य पा लेता है । यह सबके लिये सुकर उपाय मैंने बता दिया है ॥ ३९ ॥ दक्षिणकैलास में थोड़ा सा भी दान मेरुदान के तुल्य है । यहाँ नित्य निवास करना निःसंशय मोक्ष देता है ॥ ४० ॥ समस्त दोषों को तुरंत नष्ट करने की सामर्थ्य इस स्थान में है । कामनावान् को भोग प्रदान करना भी इस स्थान की विशेषता है ।

मासि मासि मनुजः समाचरेदेवमेव परया मुदा सह ।
देहनाशमवलोक्य [1]तत्क्षणे ज्ञानमस्य परमं ददाम्यहम् ॥ ३८ ॥
व्रतसमाचरणेन महेश्वरि ध्रुवमवाप पदं मम मानवः ।
इति समीरतिमीश्वरि ते मया सुकरमेतदशेषजनस्य तु ॥ ३९ ॥
अत्र दत्तमणुमात्रमप्युमे मेरुतुल्यमिति शास्त्रनिश्चयः ।
नित्यमत्र मनुजस्य वर्तनं मुक्तिसिद्धिकरमित्यसंशयः ॥ ४० ॥
स्थानमेतदमरेन्द्रवन्दिते दोषतूलनिकरस्य पावकः ।
भोगहेतुरपि कामिनां नृणां [2]भागधेयसहितस्य सिध्यति ॥ ४१ ॥
अस्य वैभवमशेषनायिके नैव वेद परिमोहितो जनः ।
मत्प्रसादमवलम्ब्य केवलं देवि वेद न च कारणान्तरैः ॥ ४२ ॥
पापराशिसहितोऽपि नास्तिकश्चाविवेकसहितोऽपि मानवः ।
कालहस्तिमवलम्ब्य केवलं देवि याति परमं पदं मम ॥ ४३ ॥

अत्र द्वादशस्वपि मासेषु तिथिविशेषस्यानुपादानात्पौर्णमासीयोगाभावेऽपि चित्रादितत्तन्नक्षत्रमेव प्राधान्यात्तद्व्रताङ्गत्वेन विवक्षितम् ॥ ३८–४३ ॥ परमेश्वरादन्यस्य परित्यागेन तस्यैव मुक्त्युपायत्वेनाऽऽश्रयणे श्रुतिं संवादयति–साध्वीति ।

यहाँ रहने वाले के वंशजों का भी कल्याण हो जाता है ॥ ४१ ॥ अज्ञानवश अविवेकग्रस्त लोग इस स्थान की महत्ता नहीं समझते । केवल मेरी कृपा से ही यह समझा जा सकता है ॥ ४२ ॥ पापराशियुक्त नास्तिक हो या अविवेकी पुरुष, कालहस्तीश्वर का अवलंबन लें ले तो परम पद पा जाता है ॥ ४३ ॥ सद्यः मोक्ष देने वाला, सकल अभीष्टप्रद, सम्यग् ज्ञान प्रदान करने वाला यह परम स्थान मेरे, हरि के, ब्रह्मा के व देवों के द्वारा भी प्रेम से प्राप्य है । बुद्धिमानों में श्रेष्ठ को अप्रमादी हो, सदा इसका सेवन करना चाहिये । अन्य सब छोड़कर परमेश्वर का ही सहारा लेना मोक्ष का एकमात्र उपाय है, ऐसा निर्दुष्ट श्रुति ने बताया है ॥ ४४ ॥

---

१ घ. °त्क्षणाज्ज्ञान° । २ भागधेयो दायादे हैमकोशे प्रसिद्धः ।

सद्योमुक्तिकरं[1] परं सकलदं सम्यक्परिज्ञानदं
भक्त्या लभ्यमिदं मयाऽपि हरिणा धात्राऽपि देवैरपि ।
स्थानं नित्यमतन्द्रितो मतिमतामग्रेसरश्चाऽऽश्रये[2]
त्यक्त्वा सर्वमशङ्कितः परतरा साध्वी श्रुतिश्चाऽऽह हि ॥ ४४ ॥

सूत उवाच— एवमुक्त्वा महादेव्यै महाताण्डवपण्डितः ।
आलिलिङ्गे शिवां शंभुः स्मरन्नैक्यं तयाऽऽत्मनः ॥ ४५ ॥

देवदेवी जगन्माता दयार्द्रहृदयाम्बुजा । प्रणम्य पूजयामास भवं भवहरं परम् ॥ ४६ ॥
यदुक्तं देवदेवेन देव्यै रहसि तद्द्विजाः । मयोक्तं परमप्रीत्या युष्माकं ब्रह्मवादिनाम् ॥ ४७ ॥
भवन्तोऽपि परित्यज्य समस्तं परया मुदा । सद्योमुक्तिकरं स्थानं भजध्वमिदमुत्तमम् ॥ ४८ ॥
सर्वमुक्तं समासेन सादरं मुनिपुंगवाः । एतदन्यन्मनुष्याणां कालक्षेपस्य कारणम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सद्योमुक्तिकरक्षेत्रमहिमकथनं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सा च 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' इत्यादिका ॥ ४४ ॥ स्मरन्नैक्यमिति । परशिवस्वरूपस्यैव शक्यप्रतियोगिशक्त्यनुप्रवेशेन शक्तित्वादुपाधिकृतं शिवशक्त्योर्भेदं परित्यज्य पारमार्थिकमेकत्वमनुसंदधान इत्यर्थः । प्रागप्युक्तम्— 'न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः । उमाशंकरयोरैक्यं यः पश्यति स पश्यति' ॥ ४५–४९ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सद्योमुक्तिकरक्षेत्रमहिमकथनं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सूत जी बोले—ऐसा कहकर महाताण्डव में कुशल महादेव ने देवी व अपने अभेद का स्मरण कर उनका आलिंगन कर लिया ॥ ४५ ॥ भगवती ने भी उन्हें प्रणाम कर उनकी अर्चना की ॥ ४६ ॥ यों मैंने आपको सुकर उपाय प्रेमपूर्वक समझा दिया है । आप लोग परम भक्तिपूर्वक अन्य सब कुछ छोड़कर सद्यः मोक्ष देने वाले उत्तम स्थान का सेवन कीजिये ॥ ४७–४८ ॥ इस प्रकार संक्षेप में मैंने सारी बात (साध्य-साधन दोनों के संबंध में) बता दी है । इससे अतिरिक्त वार्तायें तो लोगों का समय बिताने का साधन ही है, (उनसे तत्त्व की बात इतनी ही निकलती है कि अन्य सब काम छोड़कर शिव का भजन व गुरु की सेवा करते हुए वेदान्तविचार से मोक्ष पावे ।) ॥ ४९ ॥

---

१ ग °रं समस्तफल° । घ. °रं तथा सकल° । २ आश्रयेदित्यर्थः ।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि मुनयः शंसितव्रताः ।
मुक्त्युपायमयत्नेन मया नोक्तमितः पुरा ॥ १ ॥
पुरा जैमिनिरत्यन्तश्रद्धया सह सुव्रताः । स्वगुरुं वेदवेदान्तविशारदमनुत्तमम् ॥ २ ॥
तपसा दीप्तसर्वाङ्गं पराशरसुतं प्रभुम् । प्रणम्य परया प्रीत्या दण्डवत्पृथिवीतले ॥ ३ ॥
निधाय मूर्ध्नि तत्पादपङ्कजं भवभेषजम् । अपृच्छल्लोकरक्षार्थमतिगुह्यमनुत्तमम् ॥ ४ ॥
जैमिनिरुवाच— भगवन्सर्वजन्तूनामयत्नेन विमुक्तिदम् ।
वद कारुण्यतो नाथ मम मायाविषापहम् ॥ ५ ॥
व्यास उवाच— साधुसाधु मुनिश्रेष्ठ त्वया पृष्टं जगद्धितम् ।
पुरा पुराणं ब्रह्माणमिदं पृष्टं मयाऽपि च ॥ ६ ॥
ब्रह्मणा च महाविष्णुः पृष्टस्तेनापि शंकरः ।
स पुनः शंकरः श्रीमानम्बिकापतिरुत्तमः ॥ ७ ॥
स्वस्वरूपमहानन्दप्रमोदजलधिस्थितः । विष्णवे लोकरक्षार्थं बभाषे करुणानिधिः ॥ ८ ॥

श्रीकालहस्तिस्थानवद्व्याघ्रपुरादिस्थानविशेषेष्वनुष्ठितव्रतस्यापि मुक्त्युपायत्वमीश्वरप्रोक्तमिति तद्वक्तुं प्रतिजानीते—**अथात** इति ॥ १–५ ॥ **ब्रह्माणमिदं पृष्टमिति** । प्रष्टव्यार्थस्य सामान्यावगतत्वेन प्राधान्यविवक्षणाद् ब्रह्मणश्चोपदेष्टृत्वेन गुरुत्वात्प्राधान्यं विवक्षितमिति पृच्छेरप्रधाने कर्मणि निष्ठा । प्रधानकर्मणि त्वनभिहिताधिकारविहिता द्वितीयैव । स्मर्यते हि—'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति ॥ ६–८ ॥

मुक्ति के उपाय का विचार नामक सैंतीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले—बिना प्रयत्न के मोक्ष पाने का उपाय जो अभी तक मैंने नहीं बताया है, अब बताता हूँ ॥ १ ॥ पूर्वकाल में जैमिनि ने अत्यन्त श्रद्धा से अपने गुरु पराशर-सुत व्यासदेव से इस संबंध में पूछा था । व्यासजी वेद व उसके सिद्धान्त के मर्म के ज्ञाता हैं । उनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है जो वेदविद्या में पारंगत हो । तपस्या के तेज से उनका देह सदा दीप्तिमय रहता है । उन्हें दण्डवत् प्रणाम कर भवरोग की औषधिरूप उनके चरणकमल को अपने मस्तक पर रख लोकरक्षा के लिये यह रहस्य पूछा— ॥ २–४ ॥ जैमिनि बोले—'हे भगवन् ! हे नाथ ! मुझ पर करुणा कर वह उपाय बताइये जिससे विना प्रयत्न के सभी जन्तु मायाविष को निर्वीर्य कर मोक्ष पा जायें ॥ ५ ॥

व्यासजी ने कहा—हे श्रेष्ठ मुनि ! सबके हित की तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है । पहले मैंने भी ब्रह्मा जी से यह पूछा था ॥ ६ ॥ ब्रह्मा जी ने महाविष्णु से और उन्होंने शंकर से यही जिज्ञासा की। अम्बिकापति सर्वश्रेष्ठ श्रीमान् शंकर ने संसारी लोगों की रक्षा के लिये विष्णु को इस प्रश्न का उत्तर दिया था । महादेव निजस्वरूपात्मक परमानन्द के उद्रेकरूप समुद्र में ही स्थित रहते हैं और करुणा की अगाध खान हैं ॥ ७–८ ॥

ईश्वर उवाच– स्थाने पृष्टं त्वया विष्णो जगतः पालने रतः ।
वदामि संग्रहेणाहं मुक्त्युपायमयत्नतः ॥ ९ ॥
श्रीमद्व्याघ्रपुरं नाम स्थानमस्ति महीतले । सर्वदा परमप्रीत्या यत्र नृत्यं करोम्यहम् ॥ १० ॥
तत्र मामादरेणैव नृत्यमानं दिने दिने । दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं मन्त्रं सतारं सर्वसिद्धिदम् ॥ ११ ॥
यस्तु द्वादशसाहस्रं जपति श्रद्धया सह ।
तस्य सिद्धा परा मुक्तिर्विना विज्ञानमुत्तमम् ॥ १२ ॥
श्रीमद्दक्षिणकैलासे तथा वृद्धाचलाभिधे । तथा गोपर्वते शुद्धे तथा वल्मीकसंज्ञिते ॥ १३ ॥
अधिग्रामसमाख्ये च स्थाने सर्वफलप्रदे । सोमनाथे तु गोकर्णे तथा भीमेश्वराभिधे ॥ १४ ॥
वेदारण्ये विशिष्टे तु श्वेतारण्ये तु शोभने ।
हस्तिकाननसंज्ञे च तथा जप्येश्वराभिधे ॥ १५ ॥
कुम्भकोणे महास्थाने तथा मध्यार्जुनाभिधे ।
वाराणस्यां तु केदारे तथा रामेश्वराभिधे ॥ १६ ॥
हालास्ये च हरे नित्यं दृष्ट्वा मामादरेण च ।
जपित्वा पूर्ववन्मन्त्रं मुच्यते भवबन्धनात् ॥ १७ ॥

स्थाने पृष्टमिति । सतारं सप्रणवमित्यर्थः ॥ ९–१७ ॥ महापातकदूषितस्यापि स्थानविशेषमहिम्ना मुक्तिसिद्धिरितीतिहासमुखेन दर्शयति–पुरा कश्चिदित्यादिना ॥ १८-३२ ॥

ईश्वर ने कहा–हे विष्णु ! तुम जगत् का पालन करने में तत्पर हो, अतः तुमने सबके हित में उचित प्रश्न किया है । मैं संक्षेप में ही तुम्हे वह उपाय बताता हूँ जिससे यत्न के बिना ही मोक्ष मिलता है ॥ ९ ॥ पृथ्वी पर व्याघ्रपुर नामक स्थान है जहाँ मैं परम प्रसन्नता से नृत्य करता हूँ ॥ १० ॥ वहाँ रहकर श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन मेरा दर्शन (मेरी नटराज मूर्ति का दर्शन) और बारह हजार जप प्रणवयुक्त पंचाक्षर का जो करता है उसे अन्य साधनों से विज्ञान पाने का यत्न किये बिना ही मोक्ष मिल जाता है ॥ ११–१२ ॥ इसी प्रकार पूर्वोक्त जप तथा मेरा दर्शन करते हुए इन स्थानों पर रहने से भी भवबंधन से बिना अन्य आयास किये छूट जाता है–दक्षिण कैलास में, वृद्धाचल में, गोपर्वत में, वल्मीक में, सर्वफलप्रद अधिग्राम में, सोमनाथ में, गोकर्ण में, भीमेश्वर में, वेदारण्य में, श्वेतारण्य में, हस्तिकानन में, जप्येश्वर में, कुम्भकोण में, मध्यार्जुन में, वाराणसी में, केदारनाथ में, रामेश्वर में तथा हालास्य में ॥ १३–१७ ॥

पुरा कश्चिन्महापापी[1] द्विजः पुण्यविवर्जितः ।
महामोहावृतः साक्षान्मातरं तु पतिव्रताम् ॥ १८ ॥
गत्वा संवत्सरं हत्वा पितरं वृत्तसंयुतम् ।
निर्घृणो निर्भयो नित्यं चचार वसुधातले ॥ १९ ॥
चरतस्तस्य मूर्खस्य सदा तीव्रभयंकरः । मुसलोद्यतपाणिस्तु विभाति ब्रह्मराक्षसः ॥ २० ॥
तं दृष्ट्वा भीतिसंयुक्तः पूर्वपुण्यबलेन तु । हालास्याख्यं महास्थानमगमत्पुरुषोत्तम ॥ २१ ॥
अदृष्टस्तत्क्षणादेव तेनैव ब्रह्मराक्षसः । सोऽपि विस्मयमापन्नो विचार्य कमलेक्षण ॥ २२ ॥
अहो माहात्म्यमस्यैव स्थानस्यातिभयंकरः ।
अस्मिन्देशे न दृष्टस्तु मया स ब्रह्मराक्षसः ॥ २३ ॥
अतो देहविनाशान्तं मयैवात्रैव वर्तनम् । कार्यामित्यभिसंधिं च हरे कृत्वा सुनिश्चलः ॥ २४ ॥

महापातकदूषितस्यापि स्थानविशेषमहिम्ना मुक्तिसिद्धिरितीतिहासमुखेन दर्शयति–पुरा कश्चिदित्यादिना ॥ १८ ॥

प्राचीन काल में एक महापापी ब्राह्मण था । पुण्य की तो उसमें गंध भी नहीं थी । अत्यन्त अविवेकी उसने एक साल में ही अपनी पतिव्रता माता और धनी पिता को मार दिया । निष्करुण व निर्भय हो वह यथेष्टाचरण करने लगा ॥ १८–१९ ॥ यों इधर-उधर घूमते हुए उसे एक बार एक भयंकर ब्रह्मराक्षस दीखा जो हाथ में मूसल लिये था ॥ २० ॥ उसे देख डर के मारे तथा पूर्वकृत किसी पुण्य के कारण वह हालास्य नामक उत्तम स्थान पर गया ॥ २१ ॥ वहाँ पहुँचते ही उसे वह ब्रह्मराक्षस दीखना बंद हो गया । वह ब्राह्मण आश्चर्य चकित हो सोचने लगा–'अहो इस स्थान का कितना माहात्म्य होगा कि यहाँ वह अतिभयंकर ब्रह्मराक्षस दीख भी नहीं सकता ! अतः अब मरणपर्यंत मैं यहीं रहूँगा ।' ऐसा उसने निश्चय कर लिया ॥ २२–२४ ॥ उस स्थान के सेवन से उसके सब पाप नष्ट हो गये ॥ २५ ॥ मेरी कृपा से किसी पंडित से उसने मेरे दर्शन और षडक्षरमंत्र जप की महत्ता सुनी और उनका अनुष्ठान करने

---

१ ख. ग. घ. °पी पुण्यलेशवि° ।

अवर्तत महास्थाने सेवनेनैव तस्य तु । समस्तानि च पापानि विनष्टानि जनार्दन ॥ २५ ॥

मत्प्रसादेन विप्रस्य कस्यचिद्वचनं हरे ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा तु मां नित्यं हालास्याख्येऽतिशोभने ॥ २६ ॥

जपित्वा पूर्ववन्मन्त्रं षडक्षरसमाह्वयम् । अयत्नेन विमुक्तोऽभूत्संसारजलधेस्तु सः ॥ २७ ॥

अत्र दत्तं महादानं भवेत्स्थाने मम प्रिये । हुतमिष्टं तपश्चाल्पमप्यत्र सुमहद्भवेत् ॥ २८ ॥

अतो विशिष्टे मत्स्थाने चात्रैवान्यत्र वा नरः ।
दृष्ट्वा मामादरेणैव जपेन्मन्त्रं षडक्षरम् ॥ २९ ॥

एवमाचरतस्तस्य प्रसादादेव मे हरे । मुक्तिसिद्धिरयत्नेन भवत्येव न संशयः ॥ ३० ॥

इतोऽन्यत्सकलं विष्णो नराणां पापकर्मणाम् ।
अशक्यं कर्तुमत्यर्थं तस्मादुक्तं समाचरेत् ॥ ३१ ॥

सूत उवाच— एवं शिवेनैव समस्तदेहिनां विमुक्तिसिद्ध्यर्थमयत्नतः पुरा ।
सुभाषितं कारुणिकेन तन्मया प्रभाषितं वो मुनयः सुसाधनम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्त्युपायविचारो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इति श्रीसूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्त्युपायविचारो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

लगा । यों नित्य करते रहने से वह अनायास ही संसारसागर से तर गया ॥ २६—२७ ॥ हालास्य में जो कुछ दिया जाता है वह महादान ही हो जाता है । छोटा भी यज्ञादि व तप यहाँ किया जाये तो महान् फल वाला होता है ॥ २८ ॥ अतः इस या अन्य मेरे किसी स्थान पर रहते हुए प्रतिदिन मेरा दर्शन और बारह हज़ार षडक्षर जप करना चाहिये ॥ २९ ॥ ऐसा करने वाले को मेरी कृपा से बिना यत्नान्तर किये मोक्ष मिल जायेगा ॥ ३० ॥ हे विष्णु ! इससे अन्य सभी शास्त्रोक्त साधन पापयुक्त लोग कर नहीं सकते, अतः मैंने जितना बताया है उतना ही उन्हें कर लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

सूत जी ने कहा—इस प्रकार शिव ने ही सब देहधारियों को अनायास मुक्ति देने वाला उपाय पहले ही बता दिया था । उसे ही करुणावान् मैंने आप लोगों को सुना दिया है ॥ ३२ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

सूत उवाच— अथातः संप्रवक्ष्यामि सर्वसाधनमुत्तमम् । शृणुतातिप्रियेणैव द्विजाः सारतरोत्तमम् ॥ १ ॥
पुरा सत्यवतीसूनुः सर्वविज्ञानसागरः । सर्ववेदोदधेः पारो गुरुर्मे करुणानिधिः ॥ २ ॥
सर्वलोकोपकाराय साम्बं संसारभेषजम् । ध्यायमानो महाभक्त्या तताप परमं तपः ॥ ३ ॥
पुनः पुष्पादिभिर्देवं समाराध्य यथाबलम् । षडक्षरेण मन्त्रेण तुष्टाव[1] च महेश्वरम् ॥ ४ ॥
परतत्त्वाय तत्त्वानां तत्त्वभूताय वस्तुतः । स्वस्मादन्यविहीनाय नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥ ५ ॥

व्याघ्रपुरादिशिवक्षेत्रानुष्ठितव्रतच्छिवोपदिष्टं भुक्तिमुक्त्योरसाधारणं वक्तुं प्रतिजानीते–**अथात** इति । **सर्वसाधनमिति** । ऐहिकामुष्मिकभोगात्मिकाया भुक्तेः परापरमुक्त्योश्चायमसाधारण उपाय इत्यर्थः । **सारतरोत्तममिति** । सांख्यादिभिः श्रेयःसाधनतया प्रतिपदितोऽर्थः सारः । तदपेक्षया स्वतःप्रमाणत्वेन निर्दुष्टवेदवाक्यप्रतिपादितानि ज्ञानकर्माणि सारतराणि तेषूत्तममिति पुरुषोत्तमपदवत्सप्तमीसमासः । षष्ठीसमासस्तु न शक्यः 'न निर्धारणे' इति तन्निषेधात्[2] । न च 'सन्महत्परमोत्तम' इति प्रथमासमासोऽपि । सारतरशब्दस्य पूज्यमानवचनत्वाभावात् ॥ १–४ ॥ सच्चिदानन्दस्वप्रतिष्ठाद्वितीयसायुज्यरूपाया मुक्तेः साधनस्य प्राधान्येन बुभुत्सितत्वात्तदनुगुणैर्विशेषणैः परमेश्वरं स्तोतुमारभते–**परतत्त्वायेत्यादिना** । षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतत्वेन परतत्त्वात्परमार्थत्वाच्च सच्चिदानन्दैकरसं स्वप्रतिष्ठमद्वितीयं परशिवस्वरूपं परं तत्त्वम् । तस्य परतत्त्वत्वमुपपादयति– **तत्त्वानां तत्त्वभूतायेति** । आप्रलयस्थायीनि शिवतत्त्वशक्तितत्त्वशक्तितत्त्वादीनि [3]पृथिव्यन्तानि शुद्ध मिश्राविशुद्धादिभेदेनावस्थितानि षट्त्रिंशत्तत्त्वानि । तदुक्तम्–'आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम् । तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादितत्त्वमतः' इति ॥ यथा रज्ज्वामारोपितस्य मायामयस्य स्रक्सर्पादेर्बाधोत्तरकालं तत्रैव लयादधिष्ठानभूता रज्जुरेव तत्त्वम्, एवमुक्तानां तत्त्वानामपि प्रागुक्तपरशिवस्वरूपे परिकल्पितत्वात्तेषां वास्तवं रूपं सच्चिदानन्दात्मं सर्वाधिष्ठानं परशिवस्वरूपमेवेत्यर्थः । **स्वस्मादिति** । यतस्तत्परशिवस्वरूपं तत्त्वानामपि तत्त्वमतः परशिवः स्वस्मादन्यविहीनः । ननु वियदादिभूतभौतिकप्रपञ्चः परमेश्वररूपादन्यतयाऽनुभूयत एवेत्यत आह–**वस्तुत** इति । अनुभूयमानस्य सर्वस्य माया परिकल्पितस्यावस्तुत्वात् परमार्थतोऽन्यस्य विरहादन्यविहीनत्वम् । नमस्कारस्य नन्तृनन्तव्यसापेक्षत्वान्नन्तव्यात्परशिवस्वरूपादन्यो नन्ताऽवश्यमङ्गीकर्तव्यः । तथा च कथमन्यविहीनतेति तत्राऽऽह–**स्वस्मादिति** । 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेः । जीवभावेनानुप्रविश्य परशिवस्वरूपस्यैवावस्थानान्नन्तुः स्वात्माऽपि न ततोऽतिरिक्त इत्यर्थः । **स्वयंभुव** इति । स्वयमेव भवति सत्तां लभत इति स्वयंभूः स्वात्मनैव लब्धसत्ताको न वस्त्वन्तरवदन्याधीनसत्ताक इत्यर्थः । 'नेह नानाऽस्ति किंचन' 'अथात आदेशो नेति' 'अतोऽन्यदार्तम्' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'स्वयंभु ब्रह्म परमं तपो यद् ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः' इत्यादिश्रुतिषु परशिवस्वरूपस्यान्यविहीनत्वं स्वयंभुत्वं च बहुश आम्नातम् ॥ ५ ॥

मुक्तिसाधन-विचार नामक अड़तीसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–अब मैं भोग व मोक्ष का वह साधन बताता हूँ जो उत्तम उपायों में श्रेष्ठ है । अत्यंत प्रेम से सुनिये ॥ १ ॥ पूर्व काल मे सत्यवतीपुत्र, सब विज्ञानों के सागर, सब वेदों में पारंगत, करुणावान्, मेरे गुरु व्यास जी ने सब लोगों का उपकार करने के लिये भगवान् साम्ब सदाशिव का ध्यान करते हुए घोर तप किया था ॥ २–३ ॥ पुष्पादि से यथाशक्ति उनकी पूजा की, षडक्षर मंत्र का जप किया और महेश्वर की स्तुति की ॥ ४ ॥

स्वयं होने वाले परमशिव को नमस्कार है । वे छत्तीस तत्त्वों से परे हैं तथा वास्तविक हैं, (अविद्या, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच रूपादि विषय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, चार अंतःकरण, भोग, वासना, कामना, कर्म, जीव और ईश्वर–ये छत्तीस स्फुट तत्त्व हैं । दार्शनिक परिगणन अन्यत्र देखना चाहिये ।) अन्य सभी तत्त्व मानी गयी वस्तुयें उनमें ही परिकल्पित हैं । एवमपि वस्तुतः उनसे भिन्न तात्त्विक या अतात्त्विक कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥ सर्वात्मा महादेव को प्रणाम है । चिच्छक्ति, जडशक्ति व उनके भेद सभी वस्तुतः शिवरूप

---

१ च. "व परमश्व" । २ यस्मान्निर्धार्यते यश्चैकदेशो निर्धार्यते यश्च निर्धारणहेतुः–एतत्त्रितयसंविधाने सत्येवायं निषेध इति कैयटः (५.३.५७) इति ज्ञेयम् ३ घ. पृथिव्यादीनि. ।

चिच्छक्तिर्जडशक्तिश्च तद्भेदाश्च तथैव च । यदेव तत्त्वतो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ६ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।

विराडाद्याश्च देवाश्च यन्मात्रं तं नुमः शिवम् ॥ ७ ॥

महासत्त्वाश्च ये जीवा मध्यसत्त्वाश्च चेतनाः ।

विहीनाश्चैव यन्मात्रं तं नमामि महौजसम् ॥ ८ ॥

एतदेवान्यविहीनत्वमुपपादयति–**चिच्छक्तिरित्यादिना** । स्रष्टव्यजगदात्मकशक्यप्रतियोगिको मायापरिणामविशेषो जडशक्तिस्तदवच्छिन्ना परशिवस्वरूपभूता चिदेव **चिच्छक्तिः** । **तद्भेदा** इति । तयोः शक्त्योर्भेदा इच्छाज्ञानक्रियाद्याः । अखिलजगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्योपकरणभूतं चिच्छक्त्यादिकं सर्वं तत्त्वतः परमार्थतो निरूपणे तदेव वस्तु भवति । अयमभिप्रायः–येयं परमेश्वरस्य जडशक्तिर्ये च तद्भेदास्तस्य सर्वस्य मायामयत्वेन स्वरूपतोऽपि परतत्त्वेऽध्यासाद् यदिदं रजतं न तद्रजतं किंतु शुक्तिरिति तद्बाधायां सामानाधिकरण्यं यदिदं जडशक्त्यादिकं नैतदपि तु परतत्त्वमेवेति । अत एव पञ्चपादिकायां जडप्रपञ्चस्य स्वरूपतोऽप्यध्यस्तत्वेन मिथ्यात्वं सत्यानृते मिथुनीकृत्येतिभाष्यव्याख्यानावसरेऽभिहितम् 'सत्यमनिदं चैतन्यमनृतं युष्मादर्थस्तस्य स्वरूपतोऽप्यध्यस्तत्वाद्'इति । चिच्छक्तेस्तु परशिवस्वरूपत्वेन यथार्थत्वात् । द्वौ चन्द्रमसावित्यादौ भेद एव केवलं मायामयत्वेनाध्यस्तः अतस्तन्निवृत्तये संसर्गसामानाधिकरण्यम् येयं परशिवस्वरूपभूता चिद्या च चिच्छक्तिर्न ते भिन्ने अपि त्वेकैव चिदिति । एवमुत्तरत्रापि सामानाधिकरण्यविशेषो द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥ **ब्रह्मेति** । सृष्टिस्थितितिरोधानानुग्रहनिग्रह-व्यापाराः सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममूर्तयो ब्रह्माद्या विराडाद्या इत्याद्यपदेन स्वराट्सम्राजोः संग्रहः । ते च शिवमाहात्म्यखण्डे पूर्वमेवोक्ताः–'द्विधाकृत्य मुनिश्रेष्ठा अर्धेन पुरुषो भवेत् । अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत्पुनः' इति ॥ आदिशब्देनोक्तव्यतिरिक्ता इन्द्राद्या इत्यर्थः । **यन्मात्रमिति** । रज्ज्वा इदमंशे स्रक्सर्पादिवत्सर्वाधिष्ठानभूते सच्चिदानन्दात्मके परशिवस्वरूपे तदाश्रितमायावशेन ब्रह्मादीनां परिकल्पितत्वाद्वास्तवमेतेषामधिष्ठानादनन्यत्वं तन्मात्रमवधार्यते ॥ ७ ॥ **महासत्त्वा** इति । गजाद्या महासत्त्वाः । मध्यमसत्त्वा मनुष्याद्याः । **विहीनाः** कृमिकीटादयः । एवं प्रतीयमानस्य ब्रह्मादिस्तम्बान्तस्य मायामयप्रपञ्चाधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनापोह्यमानस्य बाधावधित्वेन परशिवस्वरूपं ताटस्थ्येन लक्षितम् ।

ही हैं अतः वे सब के आत्मा–सर्वात्मा हैं ॥ ६ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, विराट् आदि सभी देवता रज्जु में सर्प की तरह जिन पर अध्यस्त हैं उन शिव को नमस्कार है ॥ ७ ॥ महान् तेजस्वी (शक्तिशाली) उन परमेश्वर को नमस्कार है जिनका ही स्वरूप अत्यधिक बल वाले, मध्यम

यस्य सत्ता जगत्सत्तारूपेणैवावभासते[1] । यं विना न जगत्तस्मै सदा साक्षात्सते नमः ॥ ९ ॥

यस्य भानं जगद्भानस्वरूपेण विभासते । यमृते न जगद्भानं तस्मै भानात्मने नमः ॥ १० ॥

यदानन्दोऽखिलानन्दो विभाति स्वयमेव तु । तं नुमः परमानन्दं परापरविवर्जितम् ॥ ११ ॥

यद्देशकालदिग्भागैर्न भिन्नं सर्वदाऽद्वयम् । यदेव विश्वं तद् ब्रह्म यथार्थं प्रणमाम्यहम् ॥ १२ ॥

[2]अनन्तमद्वयं पूर्णमेकमित्यामनन्ति यत् । आगमा अखिला नित्यं वन्दे तद्ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ १३॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय सांख्ययोगौ विनिर्गतौ । तं तदज्ञानचित्रस्य भित्तिभूतं नुमः शिवम् ॥ १४ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय [3]शब्दशास्त्रं समुद्बभौ । तं तदज्ञानचित्रस्य भित्तिभूतं नुमः शिवम् ॥ १५ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय कारणं परमाणवः । कल्पिता जगतो विप्रास्तं नुमः परमेश्वरम् ॥ १६ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय क्रियां सर्वफलप्रदाम् । कल्पयन्ति विना देवं तं वन्दे सकलप्रदम् ॥ १७ ॥

अथ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं तत्स्वरूपं लक्षयन्नग्रतः पूर्वोक्तमधिष्ठानमात्रत्वं समर्थयते–यस्य सत्तेत्यादिना । प्रागुदीरितस्य सर्वजगदधिष्ठानस्य परशिवस्वरूपभूतं सत्त्वमेव तस्मिन् माययाऽऽरोपिते जगति स्रक्सर्पादिषु रज्ज्वा इदन्तानुगतिरिव ॥ ९–७५ ॥[4]

बल वाले और अत्यल्प बल वाले सब प्राणी हैं ॥ ८ ॥ उन साक्षात् सद्रूप शिव को प्रणाम है जिनका सद्रूप ही जगत् की सत्ता के रूप में प्रतीत होता है तथा जिनके बिना जगत् की कोई स्थिति नहीं है ॥ ९ ॥ भानरूप उन सदाशिव को नमस्कार है जिनका स्वरूपभूत भान ही जगत् के भानरूप से प्रतीत होता है तथा जिनके बिना जगत् का भान असंभव है ॥ १० ॥ पर-अपर विभाजन रहित परमानन्दरूप महेश्वर को प्रणाम है जिनका स्वरूपभूत आनन्द ही स्वयं सब विषयानंदों के रूप में प्रतीत हो रहा है ॥ ११ ॥ जो देश, काल, दिशा इत्यादि विभाजनों में बँटा नहीं है, हमेशा अद्वितीय है और सर्व है वही यथार्थ ब्रह्म है, उसे प्रणाम है ॥ १२ ॥ उस ब्रह्म नामक परमात्मा को नमस्कार है जिसे शास्त्र अनन्त, अद्वय, पूर्ण व एक बताते हैं ॥ १३ ॥ जिनके स्वरूप को न समझने से सांख्य व योग मत बने हैं उन शिव को हम प्रणाम करते हैं जो उन विचारकों के अज्ञानप्रसूत चित्र की आधारशिला बने हैं ॥ १४ ॥ जिन शिव के स्वरूप को न जाननें से शब्दशास्त्र की उत्पत्ति हुई और उस समग्र कल्पनामयचित्र का आधार जो बन गये, उन्हें हम नमस्कार करते हैं ॥ १५ ॥ जिसके स्वरूप को न जानने से जगत् के कारण रूप से परमाणु स्वीकार लिये गये हैं उन परमेश्वर को हम नमस्कार करते हैं ॥ १६ ॥ सकल-फल-प्रदाता जिन महादेव को समझे बिना ही यह मान्यता पनपी है कि कर्म बिना ईश्वरव्यापार के ही फल दे दिया करता है, उन्हें हम प्रणाम करते हैं ॥ १७ ॥ शरीररहित उस ईशान की हम वंदना करते हैं जिन्हें

---

१ ख. ग. ड. "णैर्वविभा" । २ ड. "आनन्दम" । ३ शब्दब्रह्मवादो व्याकरणशास्त्रमित्यर्थः । ४ बालमनोरमासंस्करणे ९–७८ श्लोकानां टीका 'बहुषु कोशेषु न दृश्यत' इत्युक्त्वाऽपि मुद्रिता ।

यत्स्वरूपमविज्ञाय देहमात्मेति मन्वते । तर्काभासैस्तमीशानं वन्दे देहविलक्षणम् ॥ १८ ॥
यत्स्वरूपमविज्ञाय देहजानीन्द्रियाणि तु । आत्मेति मन्वते वन्दे तमिन्द्रियविलक्षणम् ॥ १९ ॥
यत्स्वरूपमविज्ञाय प्राणमात्मेति मन्वते ।
वन्दे तं प्राणवेत्तारं प्राणं प्राणस्य सर्वदा ॥ २० ॥
यत्स्वरूपमविज्ञाय मनः संकल्पलक्षणम् ।
आत्मेति मन्वते भक्त्या वन्दे तं मनसः परम् ॥ २१ ॥
यत्स्वरूपमविज्ञाय बुद्धिमात्मेति मन्वते । तं वन्दे बुद्धिबोद्धारं बोधरूपमविक्रियम् ॥ २२ ॥
यत्स्वरूपमविज्ञाय सर्वप्रत्ययकारणम् । अन्तःकरणमात्मेति मन्वते तं नुमः शिवम् ॥ २३ ॥
यस्मिञ्जाग्रदवस्थैषा भातीव भवतीव च । तं तद्भ्रान्तेरधिष्ठानं वन्दे साक्षिणमीश्वरम् ॥ २४ ॥
यस्मिन्स्वप्नप्रपञ्चोऽयं भातीव भवतीव च । तं तद्भ्रान्तेरधिष्ठानं वन्दे साक्षिणमीश्वरम् ॥ २५ ॥
यस्मिन् सुषुप्त्यवस्थेयं भातीव भवतीव च । तं तद्भ्रान्तेरधिष्ठानं वन्दे साक्षिणमीश्वरम् ॥ २६ ॥
यस्मिन्क्लृप्तं तुरीयत्वं त्रिधामापेक्षयैव तु । तं तुरीयत्वनिर्मुक्तं वन्दे चिद्घनमीश्वरम् ॥ २७ ॥
यस्मिंस्तुरीयातीतत्वमध्यस्तं तदभावतः । तं वन्दे केवलं शुद्धं निर्विशेषं महेश्वरम् ॥ २८ ॥

न जानकर सदोष तर्कों से शरीर ही आत्मा मान लिया गया है ॥ १८ ॥ इंद्रियों से भिन्न उस आत्मतत्त्वरूप शिव को हम प्रणाम करते हैं जिनका स्वरूप गलत समझकर इंद्रियाँ चेतन मान ली गयी हैं ॥ १९ ॥ सदा सबके प्राण के भी प्राण, प्राण को जानने वाले जिस महेश्वर के विषय में ज्ञान न होने से प्राण को आत्मा मान लिया जाता है उन्हें हम नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥ भक्ति पूर्वक उन परमात्मा की वंदना करते हैं जिनके अज्ञान से ही संकल्प-रूप मन को हम आत्मा मान लेते हैं ॥ २१ ॥ ज्ञान रूप, अविकारी, निश्चयात्मिका बुद्धि के भी साक्षी उन शंभु को नमस्कार है जिनकी वास्तविकता न जानने से बुद्धि ही आत्मा समझ ली जाती है ॥ २२ ॥ उन शिव को हम नमन करते हैं जिनकी चिन्मात्ररूपता को न जानने के कारण सब ज्ञानों के कारणरूप अंतःकरण को आत्मा माना जाता है ॥ २३ ॥ उस ईश्वर को प्रणाम है जिसमें यह प्रत्यक्षानुभूत जाग्रदवस्था प्रतीत होती है और रहती भी है किंतु जो उस जाग्रदवस्था व उसकी प्रतीति इस द्विविध भ्रान्ति का अधिष्ठान और साक्षी है ॥ २४ ॥ जिसमें यह स्वप्नप्रपंच प्रतीत होता और रहता है तथा इस भ्रान्ति का जो अधिष्ठान साक्षी ईश्वर है उसे प्रणाम है ॥ २५ ॥ सुषुप्ति अवस्था जहाँ प्रतीत होती है, जिसमें रहती है, जो उसका अधिष्ठान है उस साक्षी से अभिन्न ईश्वर को नमस्कार है ॥ २६ ॥ चैतन्यातिरिक्त सभी स्वभावों से रहित उस ईश्वर की वन्दना करते हैं जो यद्यपि चौथेपन से रहति है तथापि तीन अवस्थाओं की दृष्टि से चौथा कहा जाता है ॥ २७ ॥ अद्वितीय, शुद्ध विशेषतारहित उस महेश्वर को प्रणाम करते हैं जिसमें वस्तुतः न होने पर भी तुरीयातीतता अध्यस्त है । (प्राप्तिपूर्वक प्रतिषेध का स्वारस्य होता है । तुरीयता ही अप्राप्त होने से तन्निषेधक अतीतता का विधान असंगत है, यह अभिप्राय है ।) ॥ २८ ॥ संख्या से असंबद्ध शिव को नमन है जिसमें एकत्व, द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि कल्पित है ॥ २९ ॥ किन्ही दुर्लभ महात्माओं को ही प्राप्त होने वाले उस ईश्वर का हम वन्दन करते हैं जिसे कुछ लोग जीव से

एकत्वं च तथा द्वित्वं त्रित्वं यस्मिन्प्रकल्पितम् ।
बहुत्वं च तमीशानमसंख्येयं नुमः शिवम् ॥ २९ ॥
अभिन्नं च तथा भिन्नं भिन्नाभिन्नं वदन्ति यम् ।
तं सदा केवलं वन्दे केषांचिल्लभ्यमीश्वरम् ॥ ३० ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३१ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः सदेश्वरसदाशिवौ[1] । यथार्थं ब्रह्म जानीतस्तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३२ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः सर्वदेवानशङ्किताः[2] । यथार्थं ब्रह्म जनन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३३ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना विभिन्नाञ्जीवचेतनान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३४ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः सर्ववेदानशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३५ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः स्मृतीः सर्वा अशङ्किताः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३६ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः पुराणानि च भारतम् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३७ ॥

अभिन्न कहते हैं, कुछ भिन्न कहते हैं व कुछ उभयथा कहते हैं । (सिद्धान्त की आद्यकोटि, माध्वादि की द्वितीय तथा निम्बार्कादिकी तृतीय कोटि है ।) ॥ ३० ॥ जिसका अनुभव पाकर ब्रह्मा विष्णु व रुद्र ब्रह्म को यथार्थ समझ पाये हैं उस अद्वय परम तत्त्व को प्रणाम है ॥ ३१ ॥ उस परम अद्वितीय वस्तु को नमस्कार है जिसे जानने से ही ईश्वर और सदाशिव को सदा ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान रहता है ॥ ३२ ॥ जिनके स्वरूप को समझ लेने से सब देवता निःशंक हो ब्रह्मयाथार्थ्य का ज्ञान रखते हैं उन अद्वितीय परमात्मा को प्रणाम है ॥ ३३ ॥ उस परमेश्वर को नमन करते हैं जिन्हे सही तरह जानने से परमार्थदर्शी लोग सभी जीव-चेतनों को यथार्थ ब्रह्म समझते हैं । (विद्वान् ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ऐसा कभी समझता नहीं । जो भी कुछ प्रतीत होता है वह ब्रह्ममात्र है । जैसे सर्प, जलधारा आदि जो भी कुछ प्रतीत होता है वह रज्जुमात्र है ऐसा रज्जुवेत्ता का अनुभव है वैसे समझना चाहिये ।) ॥ ३४ ॥ जिनके जानकार विद्वान् निःशंक हो समस्त वेदों को ब्रह्ममात्ररूप समझते हैं उन परमात्मा को नमस्कार हैं ॥ ३५ ॥ जिन अद्वितीय महेश्वर को जानने वाले महात्मा सब स्मृतियों को ब्रह्मरूप मानते हैं उन्हें प्रणाम है ॥ ३६ ॥ पुराण व महाभारत जिन्हें जान लेने पर ब्रह्म मात्र ही समझे जाते हैं उन परमशिव को नमस्कार है ॥ ३७ ॥ जिनको समझ चुके लोग सब शैवागमों को केवल ब्रह्म रूप जानते हैं उन शशिशेखर को प्रणाम है ॥ ३८ ॥ जिनको जानने वाले विद्वान् विविध वैष्णवागमों को, ब्राह्म आगमों को, बौद्ध व जैन आगमों को,

१ भूतानां देवतात्वेन पूर्वं (४.१४) पञ्चब्रह्माध्याये निर्गदितानामिह ग्रहणम् । २ ये विज्ञानसंपन्नास्ते देवान् ब्रह्म जानन्ति ब्रह्मव्यतिरिक्ता देवा न सन्तीत्यत्र ते निःशंका इत्यर्थः यद्वा देवाः न शङ्किताः—इति च्छेदः ।

यस्य विज्ञानसंपन्नाः सर्वाञ्शैवागमानपि । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३८ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना विविधान्वैष्णवागमान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ३९ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना ब्राह्मानेतांस्तथाऽऽगमान् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४० ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना बुद्धार्हतागमानिमान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४१ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः शब्दान्सत्येतरादिकान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४२॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः विद्याः सर्वा अशङ्किताः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४३ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नास्तर्कानन्योन्यबाधकान् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४४ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना मानमध्यक्षपूर्वकम् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४५ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना ब्राह्मणान्क्षत्रियान्विशः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४६ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्नाः शूद्रानपि च संकरान् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४७ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना आश्रमानखिलानपि । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४८ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना धर्माधर्मानशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ४९ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना वर्ज्यावर्ज्यानशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५० ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना विद्याविद्या[1] अशङ्किताः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५१ ॥
यस्य विज्ञानसंपन्ना देहादीनखिलानिमान् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५२ ॥

सत्य व मिथ्या शब्दों को, सभी विद्याओं को, परस्पर विरोधी तर्कों को, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को, ब्राह्मणों को, क्षत्रियों को, वैश्यों को, शूद्रों को, संकरजाति वालों को, ब्रह्मचर्यादि सब आश्रमों को, धर्मों व अधर्मों को,

---

१ उपासनकर्मणी विद्याविद्ये ता इत्यर्थः । ज्ञानार्थकविद्यापदस्य पूर्वं (श्लो ४३) गतत्वात् ।

यस्य विज्ञानसंपन्ना जाग्रदादित्रयं सदा । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५३ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नास्तुरीयत्वादिकल्पनाम् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५४ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना भूमिं तद्भेदमास्तिकाः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५५ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना जलं तद्भेदमास्तिकाः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५६ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना अग्निं तद्भेदमास्तिकाः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५७ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना वायुं तद्भेदमास्तिकाः ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५८ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना आकाशं तत्र कल्पितम् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ५९ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः शब्दस्पर्शादिकानिमान् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६० ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना महदाद्यखिलं जगत् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६१ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः सर्वमेतदशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६२ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्ना [1]महामायामशङ्किताः । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६३ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाश्चिच्छक्तिं विमलामिमाम् ।
यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६४ ॥

वर्जित व अवर्जित (खाद्य आदि) को, विद्या व अविद्याओं को, समस्त शरीरादि को, जाग्रद् आदि अवस्थात्रय को, तुरीयता आदि की कल्पनाओं को, भूमि और उसके (ऊषरादि) भेदों को, जल और उसके (मीठा हल्का आदि) भेदों को, अग्नि और उसके (लौकिक, शास्त्रीय आदि) भेदों को, वायु और उसके (प्रवह आदि) भेदों को, आकाश और उसमें कल्पित दिशा आदि को, शब्द स्पर्श आदि को, महत्तत्त्व आदि सारे जगत् को, किम्बहुना ! इस सभी को यथार्थतः ब्रह्मरूप ही समझते हैं उन परम अद्वितीय महादेव को पुनः पुनः प्रणाम है ॥ ३९–६२ ॥ जिनका ज्ञान पाये हुए लोग निःशंक हो महामाया को वस्तुतः ब्रह्मरूप जानते

1 नन्वज्ञानं कुतो ज्ञानरूपम् ? भ्रान्तोऽसि, बाधसामानाधिकरण्यस्येह प्रसंगे विवक्षणात् ।

यस्य विज्ञानसंपन्नाः प्रतीतमखिलं जगत् । यथार्थं ब्रह्म जानन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६५ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः फलावाप्त्यै कदाचन ।
न किंचिदपि कुर्वन्ति तं नुमः परमाद्वयम् ॥ ६६ ॥

यस्य विज्ञानसंपन्नाः प्रत्यग्ज्योतिषि संस्थिताः । तमेव प्रत्यगात्मानं वन्देऽहंतादिवर्जितम् ॥ ६७ ॥

इदंरूपमहंरूपं यस्य भाति तमीश्वरम् । वन्देऽलक्षणमद्वंद्वमनिर्देश्यं स्वयंप्रभम् ॥ ६८ ॥

स्तुतिमितिनिवहस्य नैव गोचरं भवभयजलधेः सदैव तारकम् ।
अहमहमिति सततोदितप्रभं निखिलजगद्रहितं नमामि शश्वत् ॥ ६९ ॥

सूत उवाच— एवं व्यासेन सर्वज्ञः साम्बः सर्वफलप्रदः ।
अभिष्टुतो महादेवः प्रत्यक्षमभवन्मुने ॥ ७० ॥

हैं उन शिव को नमस्कार है ॥ ६३ ॥ जिसे समझ लेने पर इस निर्मला चिच्छक्ति को ब्रह्म रूप ही जाना जाता है उसे प्रणाम है ॥ ६४ ॥ जिस अद्वितीय शिवतत्त्व को जानकर सन्त लोग प्रतीत होने वाले सारे जगत् को यों समझते हैं कि यह वस्तुतः ब्रह्म ही है, उसे हम प्रणाम करते हैं ॥ ६५ ॥ (स्मर्तव्य है कि सर्प वस्तुतः रस्सी है कहने का गम्यमान यही अर्थ है कि सर्प है ही नहीं, रस्सी है । इसी रीति से प्रकृत प्रसंग स्पष्ट समझा जा सकता है । चिच्छक्ति आदि स्थल में शक्तित्वेन स्वरूपः कल्पित ही मानकर इसी ढंग से समझ सकेत हैं । अन्यथा उक्त स्थल पर मुख्य अभेद समझ सकते हैं ।) जिन परमेश्वर के अनुभव को पा चुके लोग फलप्राप्ति के लिये कुछ नहीं करते उन्हें नमस्कार है ॥ ६६ ॥ 'मैं'पना आदि से रहित उसी प्रत्यग्-आत्मा की वन्दना करते हैं जिस प्रत्यक्-प्रकाश में उसके जानकार स्थित रहते हैं । (विषयत्वेन प्रकाशमान पराक्-शब्द का वाच्य होता है । परात्त्वका निषेध प्रत्यक्-शब्द का अर्थ है । वही आत्मा व प्रकाश शब्द का अर्थ है । उसे जानने वाला उससे अभिन्न ही है । अतः आत्मा क्योंकि कहीं—किसी पर—स्थित नहीं, कारण कि 'कुछ' है नहीं जहाँ वह स्थित हो व स्वयं में खुद स्थित होना संभव नहीं, इसलिये उसका जानकार अर्थात् वह खुद कहीं स्थित नहीं है ।) ॥ ६७ ॥ जिसका लक्षण 'यह' और 'मैं' रूप से प्रतीत होता है उस द्वन्द्वशून्य, अनिर्देश्य, स्वयम्प्रकाश ईश्वर की वंदना करते हैं । (ज्ञान कराने वाले को लक्षण कहते हैं—जिसके द्वारा लखाया जाये, दिखाया जाये, वह लक्षण है। 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' आदि से 'यह' अर्थात् विषयमात्र व 'मैं' अर्थात् विषयिमात्र परम शिव का ही ज्ञान कराते हैं । वे स्वयं 'यह-मैं' इस द्वन्द्व से रहित हैं । अत एव उनका 'यह' इस रूप से या 'मैं' इस रूप से निर्देश नहीं किया जा सकता फलतः उनका कोई निर्देश नहीं ।) ॥ ६८ ॥ स्तुतियों से व सभी बुद्धियों से जिसे विषय नहीं किया जा सकता, भव रूप भय के समुद्र से तारने वाला जो सदा विद्यमान है, 'मैं, मैं' यों जो हमेशा भासता रहता है, सारा संसार जिसमें शशशृंगवत् है ही नहीं उस नित्य महेश को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६९ ॥

तं दृष्ट्वा देवदेवेशं देव्या सहितमव्ययम् । प्रणम्य प्रार्थयामास सर्वसाधनवेदनम् ॥ ७१ ॥

देवदेवोऽपि सर्वज्ञः प्रसन्नः सर्वसाधनम् । प्राह गम्भीरया वाचा मुनये मुनिसत्तमाः ॥ ७२ ॥

ईश्वर उवाच— वक्ष्ये विप्र समासेन सर्वसाधनमुत्तमम् ।
शृणुष्व श्रद्धया सार्धं मया नोक्तमितः पुरा ॥ ७३ ॥

अपेक्षितार्थः सर्वेषां भुक्तिर्मुक्तिश्च सुव्रताः । मुक्तिर्नानाविधा प्रोक्ता मया वेदानुसारतः ॥ ७४ ॥

तत्र सायुज्यरूपाया मुक्तेः साक्षात्तु साधनम् ।
सम्यग्ज्ञानं न कर्मोक्तं न तयोश्च समुच्चयः ॥ ७५ ॥

नित्यसिद्धाऽथवा मुक्तिः साध्यरूपाऽद्वयी गतिः ।
नित्यसिद्धा तु सर्वेषामात्मरूपाऽथवाऽपरा ॥ ७६ ॥

आत्मरूपैव चेन्मुक्तिर्नित्यप्राप्ता हि साऽऽत्मनः ।
नित्यप्राप्तस्य चाप्राप्तिर्विभ्रमः खलु देहिनाम् ॥ ७७ ॥

विभ्रमस्य निवृत्त्या सा प्राप्तेति व्यपदिश्यते ।
विभ्रमस्य निवृत्तिस्तु सिध्यत्यज्ञाननाशतः ॥ ७८ ॥

अज्ञानस्य विनाशस्तु ज्ञानादेव न चान्यतः ।
ज्ञानादज्ञाननाशस्तु प्रसिद्धः सर्वदेहिनाम् ॥ ७९ ॥

[1]लौकिकर्विभ्रमे प्रसिद्धेति दर्शयति—ज्ञानादिति ॥ ७९ ॥ एवं सिद्धान्तमभिधाय पूर्वपक्षं दूषयितुमाद्यपक्षस्य द्वितीयं

सूत जी बोले—व्यासदेव द्वारा इस प्रकार प्रशंसित हो साम्ब सदाशिव उनके संमुख प्रत्यक्ष उपस्थित हुए ॥ ७० ॥ उमा देवी सहित परमेश्वर का दर्शन कर उन्हें प्रणाम कर उनसे सभी मुक्तियों के साधनों के विषय में प्रश्न किया ॥ ७१॥ गंभीर वाणी में देवाधिदेव ने उत्तर दिया ॥ ७२ ॥

ईश्वर ने कहा—हे वेदज्ञ ! मैं संक्षेप में तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ श्रद्धा से सुनो । इसको उपदेश अब से पहले मैंने कभी नहीं किया है ॥ ७३ ॥ सभी लोग (राग रहने तक) भोग और (वैराग्य हो जाने पर) मोक्ष चाहते हैं । (आनंदलक्षण मोक्ष सब को इष्ट है । रागी भी आनन्दाभिलाषी है । अतः मोक्ष की अव्यभिचरित पुमर्थता है ।) मुक्ति नाना प्रकार की है । इस मोक्षवैविध्य में श्रुति प्रमाण है ॥ ७४ ॥ उन मुक्तियों में जो परमसायुज्य मोक्ष है उसका साक्षात् साधन शिवात्मतत्त्व का सही ज्ञान है । कर्म या कर्मज्ञानसमुच्चय (सह-अनुष्ठान) परमसायुज्य का उपाय नहीं ॥ ७५ ॥ मोक्ष को या नित्यसिद्ध (सदा प्राप्त) मान सकते हैं या साध्य (प्राप्य) मान सकते हैं — ये दो ही संभावनाये हैं । नित्यसिद्ध मानने पर उसे आत्मरूप स्वीकार सकते हैं या आत्मा से भिन्न ॥ ७६ ॥ यदि नित्यसिद्ध मोक्ष को आत्मरूप मानें तब तो आत्मा को वह हमेशा प्राप्त ही है । फिर भी सदा प्राप्त मोक्ष को जो हम अप्राप्त समझते हैं वह देहधारियों का भ्रम है और वही उसकी अप्राप्ति है ॥ ७७ ॥ विभ्रम की निवृत्ति हो जाने से उस

१ ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिः शुक्तिरजतादिलै" इति बाल. अधिकोऽपेक्षितश्च ।

अपरा सा परा मुक्तिर्नाऽऽत्मरूपैव चेन्मतम् ।
तदाऽपि मुक्तिः प्राप्या वा न प्राप्या वाऽऽत्मनो भवेत् ॥ ८० ॥
प्राप्या चेदात्मनो मुक्तिरप्राप्तप्राप्तिरेव सा । अप्राप्तप्राप्तिरप्यस्य संबन्धो वैक्यमेव वा ॥ ८१ ॥
संबन्धश्चेत्स साध्यो वा नित्यो वा साध्य एव चेत् ।
अनित्यः स तु संबन्धो भवेन्नित्यो न सर्वथा ॥ ८२ ॥
साध्यानामपि भावानामनित्यत्वं व्यवस्थितम् ।
अभावस्य न साध्यत्वं प्रध्वंसाख्यस्य सर्वदा ॥ ८३ ॥

विकल्पमाशङ्कते–**अपरेति** । सा नित्यसिद्धा मुक्तिर्नाऽऽत्मरूपाऽपि त्वपराऽऽत्मनोऽन्यैव चेन्मतमित्यर्थः । विकल्पासहत्वेनेमं पक्षं दूषयितुं विकल्पयति–**तदेति** ॥ ८० ॥

आत्मव्यतिरिक्ता किंवा प्राप्या, न प्राप्या वाद्यं पुनर्विकल्पं दूषयितुं फलितमर्थमाह–**प्राप्यात चेदिति** । अथ तमाद्यं पक्षं विकल्पयति–**अप्राप्तप्राप्तिरिति** । अप्राप्तप्राप्तिरूपा प्राप्या मुक्तिः किं संबन्धिद्वयघटितसंबन्धात्मिकोत संबन्धिनोस्तादात्म्यरूपा ? प्रथमेऽपि किमसौ संबन्धः साध्यो नित्यो वेति ? विकल्पाऽऽद्यं प्रत्याह–**साध्य एव चेदिति** । साध्यसंबन्धात्मिका मुक्तिः सर्वप्रकारेणानित्या स्यान्न च नित्यत्वमासादयेत् । तथा च मुक्तानामपि पुनः संसारप्रसङ्गः ॥ ८१–८२ ॥ व्याप्तिं दर्शयति-**साध्यानामिति** । चक्रचीवरतुरीवेमादिसाध्यानां घटपटादीनां भावानामनित्यत्वं दृश्यते । अतः साध्यत्वमनित्यत्वेन व्याप्तमित्यर्थः । अनैकान्तिकत्वं परिहरति-**अभावस्येति** । प्रध्वंसाभावस्य भावरूपसाध्यत्वधर्मयोगो न घटते । तथाविधधर्मयोगे तस्य घटादिवद्भावत्वमेव स्यात् । केनचिदपि धर्मेण निरुपाख्यस्यैवाभावत्वात् । अङ्गीकृत्येदं

प्राप्त होने वाला कह ज़रूर दिया जाता है पर वह प्राप्ति कहने भर की है क्योंकि प्राप्त वह सदा है । भ्रम की निवृत्ति उसके हेतुभूत अज्ञान के नाश से ही हो सकती है और अज्ञान का विनाश ज्ञान से ही संभव है अन्य किसी तरह नहीं । सभी लोग यह जानते हैं कि ज्ञान से अज्ञाननाश होता है ॥ ७८–७९ ॥ यदि उस परम नित्यसिद्ध मोक्ष को, जिससे परे और कुछ नहीं है, आत्मरूप न मानें तो भी उसे या प्राप्य मानना होगा या अप्राप्य ॥ ८० ॥ यदि आत्मा का प्राप्य उसे मानेंगे तो वह अप्राप्त की प्राप्ति होगी । उस प्राप्ति को आत्मा से सम्बंधमात्र स्वीकारेंगे कि आत्मा से ऐक्य ? ॥ ८१॥ यदि सम्बन्ध हो तो वह साध्य है या नित्य ? यदि साध्य ही है तो अनित्य ही होगा । साध्य कभी नित्य हो नहीं सकता (मोक्ष-सम्बन्ध अनित्य होने पर मोक्ष अर्थतः अनित्य हो जायेगा जो कोई मोक्षवादी स्वीकारता नहीं) ॥ ८२ ॥ कहा जा सकता है कि साध्य होने पर अनित्यता केवल भाववस्तुओं में होती है, अभाव में नहीं । किन्तु यहाँ जानने योग्य बात यह है कि प्रध्वंस नामक अभाव कभी साध्य होता ही नहीं है । साध्यत्वरूप विशेषता का आश्रय अभाव क्योंकर हो सकेगा ? (अभाव को किसी भी धर्म से निरुपाख्य मानना आवश्यक है, अन्यथा सोपाख्य होने पर वह भाव ही हो जायेगा । 'न होना' ही अभाव है । न होने में कुछ हो, यह तो असंभव ही है ।) अतः यह नियम सिद्ध होता है कि जो साध्य होता है वह अनित्य ही होता है । मोक्ष सम्बन्ध द्वारा मोक्ष को साध्य मानने पर उसे अनित्य मानना रूप अनिष्ट प्रसंग होगा ॥ ८३$^1/_2$ ॥ यदि मुक्तिसम्बन्ध को नित्य ही मान लें तब तो नित्यसिद्ध मुक्ति नित्य सम्बन्ध

साध्यत्वाख्यस्तु धर्मश्च नैवाभावाश्रयो भवेत् ।
नित्यो यदि स संबन्धस्तर्हि संबन्धसंज्ञिता ॥ ८४ ॥
मुक्तिश्च नित्यसिद्धैव मुमुक्षोरात्मनो भवेत् । तदाऽपि नित्यप्राप्ताया मुक्तेः प्राप्तिस्तु पूर्ववत् ॥
विज्ञानेनैव नान्येन सत्यमुक्तं द्विजोत्तम ॥ ८५ ॥
अप्राप्तप्राप्तिरूपाया मुक्तेरैक्यं भवेद्यदि ॥ ८६ ॥
तन्न युक्तं द्वयोरैक्यं न सिध्यति कदाचन ।
भिन्नयोर्भेदनाशे वा मुक्तिर्भेदे स्थितेऽथवा ॥ ८७ ॥
भेदनाशे तयोरैक्यं घटते वेदवित्तम । भेदे सति[1] तयोरैक्यमिति चेत्तन्न संगतम् ॥ ८८ ॥
भेदस्य संनिधावैक्यं विरोधान्नैव सिध्यति ।
न प्राप्या ह्यात्मनो मुक्तिरिति चेत्तन्न संगतम् ॥ ८९ ॥

प्रध्वंसाभावस्य नित्यत्वमनेकान्तिकत्वं परिहृतम् । सोऽप्यनित्य इत्युपरिष्टात्प्रतिपादयिष्यते । अथाप्राप्तप्राप्तिर्नित्यः संवन्ध इति प्रथमस्य द्वितीयं कल्पं दूषयति-**नित्यो यदीति** । नित्यसंवन्धात्मिका मुक्तिरपि नित्यसिद्धैव न केनचित्साधनेन निष्पाद्या । तथा च नित्यप्राप्तैव सेति पूर्वोक्तं ज्ञानमात्रसाध्यत्वमावर्तत इत्यर्थः ॥ ८३–८५ ॥

अप्राप्तप्राप्तिस्तादात्म्यमिति द्वितीयं दूषयितुमनुभाषते–**अप्राप्तेति** । तं दूषयति–**तन्नेति** ॥ ८६–८७ ॥ तत्र वक्तव्यं किं भिन्नयोर्जीवेश्वरयोर्भेदनाशे तादात्म्यमुत भेदे सत्येव ? तत्राऽऽद्यो भवद्भिर्भेदस्यान्योन्याभावरूपत्वाङ्गीकारात्तस्य चानाद्यनन्तत्वादनङ्गीकारः[2] परास्त इत्याह–**भेदनाश इति** । नापि द्वितीय इत्याह–**भेदे सतीति** ॥ ८८ ॥ कुत इत्यत आह–**भेदस्येति** । अभेदैकार्थसमवायिन एकत्वस्य भेदेन सहावस्थानानुपपत्तेरित्यर्थः । एवमात्मस्वरूपव्यतिरिक्ताया मुक्तेः प्राप्यत्वपक्षं दूषयित्वाऽप्राप्येति द्वितीयपक्षमनूद्य दूषयति–**न प्राप्येति** । अप्राप्यस्वभावाया मुक्तेः साधनशतेऽप्यनुमितेऽप्यप्राप्यत्वमेव, स्वभावस्यानपायात् । अतः साधनापेक्षाभावादयत्नेन[3] सर्वे मुच्येरन्नित्यर्थः ॥ ८९–९० ॥

होगी जिससे उसे किसी उपाय से साध्य नहीं कहा जा सकेगा । इस तरह सदा प्राप्त मोक्ष की जो प्राप्ति होगी वह पूर्ववत् विज्ञान द्वारा भ्रमनिवृत्तिरूप ही माननी पड़ेगी । अन्य कोई 'साधन' सिद्ध नहीं होगा । ८४–८५ ॥ अप्राप्त की प्राप्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति यदि सम्बन्ध नहीं, आत्मा से ऐक्य है ऐसा कहें; तो वह कहना असंगत है । कारण कि दो वस्तुओं का कभी वास्तविक ऐक्य संभव नहीं ॥ ८६½ ॥ मोक्ष और आत्मा को भिन्न-भिन्न मानने पर और उनका ऐक्य होने से आत्मा का मोक्ष मानने पर प्रश्न उठता है कि उनका आपसी भेद नष्ट होने पर मुक्ति होगी, या भेद के रहते ? ॥ ८७ ॥ क्योंकि मुक्ति उनका ऐक्य माना गया है इसलिये भेद का नाश मानना लाजमी है । भेद न रहने पर ही ऐक्य संभव हो सकता है । दो वस्तुओं का भेद रहते हुए ही उनकी वास्तविक एकता हो जाये, यह असंगत है । भेद की संनिधि में ऐक्य नहीं रहा करता क्योंकि दोनों का विरोध है ॥ ८८½ ॥ (पूर्व में (श्लो. ८०) सूचित कल्पान्तर की परीक्षा करते हैं–) यदि स्वीकारें कि नित्यसिद्ध मोक्ष न आत्मरूप है और न उसका प्राप्य, तो यह स्वीकृति अनर्गल है क्योंकि अप्राप्य मुक्ति को कभी साधनों की अपेक्षा नहीं हो सकती–

१ घ. "ति भवेदैक्य" । २ आद्यः परास्तो यतस्त्वया तस्यानंगीकार इति योज्यम् । अनंगीकारपरास्त इति समस्तपाठोपलम्भश्चेदृजुः स्यात् । ३ यत्ने कृतेऽपि सर्वे न मुच्येरन्निति भावः । अयत्ने मोक्षाशा नास्ति । अयत्ने यत्ने चेति साध्याहारं योजनीयम् ।

अप्राप्यायास्तु मुक्तेश्च नास्त्यपेक्षा हि साधने ।
साधनेऽसति सा मुक्तिरप्राप्यैव सदा खलु ॥ ९० ॥
न नित्यसिद्धा सा मुक्तिः साध्यरूपैव चेन्मतम् ।
साध्यत्वे सत्यनित्यत्वं पूर्वमेवाभिभाषितम् ॥ ९१ ॥
प्रध्वंसस्य तु नित्यत्वं सर्वथा न भविष्यति ।
अचिद्रूपस्य सर्वस्य विनाशो गम्यते यतः ॥ ९२ ॥
भावत्वे सति साध्यत्वाद्विनाशोऽचेतनस्य तु ।
प्रध्वंसस्य तु साध्यत्वेऽप्यभावत्वेन हेतुना ॥ ९३ ॥
न सिध्यति विनाशस्तु, तच्च नैव सुसंगतम् ।
प्रागभावसमाख्यस्याप्यनित्यत्वस्य दर्शनात् ॥ ९४ ॥

एवं सायुज्यरूपा मुक्तिः किं नित्यसिद्धेत साध्यरूपेति ? विकल्प्याऽऽद्यपक्षसंभवच्छङ्कानिरासेन कर्मनैरपेक्ष्येण सम्यग्ज्ञानस्य मुक्तिसाधनत्वमुपपाद्योक्तदोषानुवृत्तेर्द्वितीयो न युक्त इत्याह–**न नित्यसिद्धेति** । मुक्तेः साध्यत्वे घटादिवदनित्यत्वं स्यादिति पूर्वमेवोक्तमित्यर्थः ॥ ९१ ॥ ननु साध्यत्वेऽपि प्रध्वंसाभाववन्मुक्तेर्नित्यत्वं किं न स्यादित्यत आह–**प्रध्वंसस्येति** । चिदात्मव्यतिरिक्तस्य सकलस्य चेत्यप्रपञ्चस्य नेह नानाऽस्तीत्यादिनिषेधकश्रुत्या बाधितत्वादनित्यत्वमवश्यमेष्टव्यमित्यर्थः ॥ ९२ ॥ ननु संगतिग्रहणादौ प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणान्तरसापेक्षशब्दस्य तद्विरोधे प्रामाण्यानुपपत्तेर्भावत्वे सति साध्यत्वमनित्यत्वसाधनम् । तथा च न प्रध्वंसे व्यभिचारः । तस्य साध्यत्वेऽपि भावत्वाभावादिति शङ्कते–**भावत्वे सतीति** ॥ ९३ ॥ तदेतदव्याप्त्या दूषयति–**तच्च नैवेति** । भवतु भावत्वे सति साध्यत्वादनित्यत्वं घटादिषु, प्रागभावस्यानित्यत्वेऽवश्यं कारणान्तरं वक्तव्यमुक्तहेत्वभावात् । [1]तच्चाभावत्वमेवाभावे[2] धर्मान्तरसमन्वयस्य[3] प्रागेव निरस्तत्वात् । तद्वत्प्रध्वंसस्यापि समानमिति तस्याप्यनित्यत्वमभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ९४–९५ ॥ एवं च भावत्वे सति साध्यत्वं घटादीनां भावानामनित्यत्वे

जिसे प्राप्त होना ही नहीं है उसे साधनों से क्या ? और साधनों के बिना भी वह अप्राप्त ही रहेगी । एवं च अप्राप्य मोक्ष मानने का मतलब है आत्मा की मुक्ति न मानना । और किसी की मुक्ति की तो संभावना नहीं, अत एव यह मत अनर्गल है ॥ ८९–९० ॥ (प्रथम विकल्प (श्लो. ७६) के द्वितीय पक्ष का विचार करते हैं–) यदि मानें कि मोक्ष नित्यसिद्ध नहीं किन्तु साध्य है तो अनित्यत्व दोष आ जायेगा । यह बताया जा चुका है (श्लो. ८२–८४) कि जो साध्य होता है वह अनित्य होता है ॥ ९१ ॥ जो तो वैशेषिकों ने कल्पना कर रखी है कि ध्वंसाभाव साध्य किंतु नित्य है वह सभी तरह से ग़लत है । (प्रथमतस्तु अभाव में साध्यता संभव नहीं यह निरूपित किया जा चुका है । तथा) जड सभी वस्तुओं का विनाश होना ध्रुव है । (अभाव जड है ही अतः अवश्य नाशवान् है) ॥ ९२ ॥ यदि तर्क करें कि साध्य जड भाव वस्तुएँ ही नाशवान् होती हैं (क्योंकि घटादि जड भाववस्तुओं में ही साध्यता व नाशवत्ता देखी

---

१ अभावत्वस्यानित्यत्वप्रयोजकत्वेऽपि साध्यनिष्ठाभावत्वं न नाशहेतुरिति प्रागभावस्य ह्यसाध्यत्वात्तथात्वेऽपि ध्वंसो नित्य एवेत्याशंक्य, अभावे साध्यत्वं न स्थातुमर्हति तथात्वे तस्य भावत्वप्रसंगादिति पूर्वोक्तं (श्लो. ८४) स्मारयति-तच्चेत्यादिना । २ क. घ. "मेव ध" । ३ घ. "मवाय" ।

प्रागभावस्य साध्यत्वाभावे सत्यप्यभावतः ।
अनित्यत्वं यदीष्येत प्रध्वंसस्यापि तत्समम् ॥ ९५ ॥
भावानामप्यभावानां साध्यानां मुनिसत्तम । असाध्यानां च सर्वेषामनित्यत्वे प्रयोजकम् ॥ ९६ ॥
अचेतनत्वमेवोक्तं नेतरद्व्यभिचारतः । चेतनस्य तु नित्यत्वं श्रुतिराह सनातनी ॥ ९७ ॥
तस्मादुक्तप्रकारेण मुक्तिः सायुज्यरूपिणी ।
ज्ञानलभ्या क्रियामात्रान्न लभ्या न समुच्चयात् ॥ ९८ ॥
ज्ञानं नामाखिलं चेदं सद्रूपेणावभासनम् ।
क्रिया तु कारकापेक्षा न ज्ञानालम्बिनी सदा ॥ ९९ ॥

प्रयोजकं, प्रागभावस्यानित्यत्वेऽभावत्वमिति प्रयोजकद्वयाङ्गीकारकल्पनागौरवं स्यात्तस्मादुभयत्रानुगतं जडत्वमेवानित्यत्वप्रयोजकमङ्गीकार्यमित्याह–भावानामिति । असाध्यानामिति । परमाण्वाकाशकालदिगादीनि परैर्नित्यतयाङ्गीकारादसाध्यत्वेनाभिमतानि तेषामपीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

नेतरदिति । इतरत्कृतकत्वादिकमिति यावत्[1] । कुत इत्यत आह–व्यभिचारत इति । प्रागभावादावनित्यत्वे सत्यपि तदव्याप्त्याऽननुगमादित्यर्थः । श्रुतिराहेति । सा च 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादिका । प्रतिपादितमर्थं निगमयति–तस्मादिति ॥ ९७–९८ ॥ किं तज्ज्ञानमित्यत आह–ज्ञानं नामेति । अखिलस्य भोक्तृभोग्यात्मकस्य प्रपञ्चस्य योऽयं सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारस्तत्सायुज्यमुक्तिसाधनमित्यर्थः । श्रूयते हि–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'इदं सर्वं

गयी है), प्रध्वंस साध्य जड होने पर भी अभाव है अतः नाशवान् नहीं होगा; तो यह तर्क संगत नहीं है । कारण कि उक्त तर्क का आशय है कि नाशवत्ता में जडता कारण नहीं किंतु भाववस्तु में साध्यता उसकी नाशवत्ता में कारण है । ऐसा तर्क करने वाले से हम पूछते हैं कि प्रागभाव की नाशवत्ता में क्या कारण हैं ? वह तो न साध्य है और न भाव । अतः उसकी नाशवत्ता में अन्य कोई कारण मानना पड़ेगा । अभाव में अभावत्व से अतिरिक्त कोई धर्म माना नहीं जा सकता अतः प्रागभाव की नाशवत्ता में उसकी अभावरूपता को ही कारण कहना होगा । ऐसा होने पर प्रध्वसं भी अभाव होने से ही नाशवान् हो जायेगा । (किंच नाशवत्ता में भाव तथा अभाव वस्तुओं में विभिन्न प्रयोजकों को माननारूप गौरव से अतिरिक्त कोई लाभ वैशेषिक को नहीं होगा ।) ॥ ९३–९५ ॥ अतः भाव, अभाव, साध्य, असाध्य सभी की अनित्यता का एक ही कारण है–उनकी जडरूपता । इससे अतिरिक्त अन्य कारण मानना ग़लत है क्योंकि कि वह अन्य कारण सब नाशवान् वस्तुओं में अनुगत मिलता नहीं । सनातन श्रुति ने चेतन को नित्य बताया है । (अतः आत्मत्व ही नित्यत्वका और जडत्व ही अनित्यत्व का प्रयोजक लाघवादि युक्ति से स्वीकार्य है । एवं च आत्मातिरिक्त मोक्ष को साध्य या असाध्य दोनों मानना अयुक्त सिद्ध हुआ तथा आत्मरूप मानने पर भी उसे नित्यसिद्ध ही मानना आवश्यक है यह निश्चित हुआ । नित्यसिद्ध आत्मरूप वस्तु की अप्राप्ति उसका अज्ञान ही हो सकता है ।) ॥ ९७ ॥ इसलिये उक्त प्रकार से परमसायुज्यरूप मोक्ष एकमात्र ज्ञान से प्राप्य है, न अकेले कर्म से और न कर्म सहित विद्या से ॥ ९८ ॥ भोक्ता-भोग्यरूप सारा प्रपंच सच्चिदानंद

---

१ नन्वेवं चेत्कथं 'नास्त्यकृतः कृतेन' त्यचूचुदच्छ्रुतिः ? नायं दोषः । कृतेन कर्मणा मोक्षो न सम्भवतीत्येव श्रुतेरर्थो, न तु कृतकत्वानित्यत्वयो र्व्याप्तिरपि, वाक्यभेदापत्तेः । अत एव संसारे कश्चिदपि नित्यः पदार्थो नास्ति ततः किं कृतेन बहुलायासेन कर्मणा संसारफलकेनेति भाष्यकारो बभाषे ।

अतः क्रियाया ज्ञानेन विरोधादेव सर्वदा ।
समुच्चयो न युज्येत कुतस्तेन परा गतिः ॥ १०० ॥
सारूप्याख्या तु या मुक्तिः सामीप्याख्या च याऽपरा ।
सालोक्याख्या च या तासां केवलं कर्म साधनम् ॥ १०१ ॥
ऐहिकामुष्मिकाकारा मुक्तयः सर्वदेहिनाम् ।
कर्मणैव हि सिध्यन्ति न ज्ञानेन विरोधतः ॥ १०२ ॥
ज्ञानं कर्म च वेदोक्तमेव नान्योदितं भवेत् ।
अन्योदितं तु विप्रेन्द्र व्यवहारेऽविवेकिनाम् ॥ १०३ ॥

यदयमात्मा' इत्यादि । ज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्य प्रतिज्ञातं परमुक्त्यसाधनत्वमुपपादयति–क्रिया त्विति । अग्निहोत्रक्रिया हि कर्तृकरणकर्मादिभेदभिन्नकारकसापेक्षा सती तद्गोचरं द्रव्यदेवतादिविषयं शास्त्रजनितं विज्ञानमेव केवलमवलम्बते, न तु कर्तृकारणादिसकलभेदोपमर्देन जायमानं प्रतीचः परमात्मतत्त्वसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानम् । तेन सह विरोधात् । उक्तं हि भगवद्भाष्यकारैः–'अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च' इति । अतो विरोधित्वे समसमयवर्तित्वाभावादद्वैतज्ञानकर्मणोः समुच्चय एव न संभवति । कुतस्तेन मुक्त्याशङ्केत्यर्थः ॥ ९९–१०० ॥

केवलं कर्मेति । उक्ताद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानरहितं द्रव्यदेवतादिज्ञानसहकृतं चरमभावेनावस्थितमग्निहोत्रादिकं हिरण्यगर्भादिसगुणब्रह्मोपासनरूपं च कर्मैव सारूप्याद्यपरमुक्तेः साधनमित्यर्थः ॥ १०१–१०३ ॥

रूप अद्वितीय ब्रह्म ही है ऐसा साक्षात्कार ही वह ज्ञान है जो अविद्यानिवृत्ति कर मोक्षप्रद है । क्रिया तो कर्ता करण आदि विभिन्न कारकों की अपेक्षा रखा करती है, भेदबाधक ज्ञान के सहारे तो क्रिया टिक ही नहीं सकती ॥ ९९ ॥ अतः क्रिया और निरुक्त ज्ञान का शाश्वतिक विरोध होने से उनका समुच्चय असंभव है तो उससे परम गति की आशा शशशृंगधनुष से शिकार मारने की आशा की तरह है । (वस्तुतः क्रिया कर्ता आदि भेद को सत्य मान उनमें श्रद्धालु ही कर्म में अधिकारी है । ज्ञानाभ्यासी उनकी असत्यता समझता है । जैसे पित्तवश तीता लगने पर भी गुड तीता है ऐसी श्रद्धा नहीं होती वैसे कारकादि में ज्ञानवान् को श्रद्धा नहीं होती । श्रद्धारहित का कर्माधिकार नहीं । अतः ज्ञान व कर्म का सहभाव असंभव है । भाष्य व बृहद्वार्तिक में कई तरह से इस बात को समझाया है । संक्षिप्त युक्तियों व उदाहरणों से यह विषय भामती में 'नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः ?' इस आद्यसूत्रभाष्य की व्याख्या में (पृ. ५८ सकल्पतरु संस्करण) देखना चाहिये ।) ॥ १०० ॥

सारूप्य, सामीप्य व सालोक्य नामक मोक्षों का तो साधन कर्म ही है । (उपासना भी मानसकर्म ही है अतः अवधारण उचित है ।) ॥ १०१ ॥ इहलोक में मिलने वाली (जेल से छूटना आदि रूप) व परलोक में मिलने वाली (सालोक्यादि) मुक्तियाँ सभी को कर्म से ही मिल सकती हैं, ज्ञान से नहीं । ज्ञान का तो इन सबसे विरोध है । (जो इहलोक व परलोक को ही समाप्त करने वाला है वह उनमें कुछ दिलाये यह कैसे संभव है ?) ॥१०२ ॥ उभयविध (परमसायुज्य तथा त्रिविध अपर) मोक्षों के लिये साधनभूत ज्ञान व कर्म वे ही हैं जो वेद में प्रतिपादित हैं । अन्य ज्ञान या कर्म किसी मोक्षके उपाय नहीं हैं ।

अपेक्ष्य बुद्धिं विज्ञानं कर्म चेति विधीयते ।
तथाऽपि व्यवहारे ते व्यावहारिकसिद्धिदे ॥ १०४ ॥
तस्मात्सर्वत्र नास्तिक्यं न कुर्यान्मतिमत्तमः ।
नास्तिक्यादेव सर्वेषां संसारे परिवर्तनम् ॥ १०५ ॥
सर्वमुक्तं समासेन साधनं मुनिसत्तम । गोपनीयमिदं तस्मादास्तिकस्य सदाऽद्भुतम् ॥ १०६ ॥
सूत उवाच– एवमुक्त्वा महादेवः साम्बः सर्वावभासकः ।
प्रनृत्य संनिधौ तस्य तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ १०७ ॥
साधनं तु सकलं परिभाषितं केवलं कृपयैव तु वो मया ।
नेतरत्कथितव्यमिह द्विजा मोह एव हि समस्तमितोऽन्यथा ॥ १०८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्तिसाधनविचारो नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अपेक्ष्य बुद्धिमिति । उत्तममध्यमाधमभावेनावस्थितानामधिकारिणां बुद्धितारतम्यमपेक्ष्य हिरण्यगर्भादिसगुणब्रह्म-विज्ञानमग्निहोत्रादिकर्म चोभयं समुच्चित्याभिधीयते–'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह' इत्यादिना । एते च ज्ञानकर्मणी व्यवहारदशायां व्यावहारिकफलप्रयोजने इत्यर्थः ॥ १०४–१०८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मुक्तिसाधनविचारो नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अविवेकियों के व्यवहार मात्र में वे ज्ञान और कर्म कहे जाते हैं । वस्तुतः वे ज्ञान और कर्म हैं ही नहीं । वेदोक्त ही ज्ञान तथा कर्म होते हैं ॥ १०३ ॥ ज्ञान व कर्म का विधान अधिकारी की बुद्धिशुद्धि के अनुसार शास्त्र करता है । एवमपि व्यवहार चलाने वाले होने से वेद द्वारा अनुक्त को भी ज्ञान व कर्म कह देते हैं ॥ १०४ ॥ इसलिये बुद्धिमान् को कहीं भी नास्तिकबुद्धि नहीं करनी चाहिये । (लौकिक ज्ञानादि को लौकिक फललाभ का साधन मान कर चलना चाहिये, उसका अपलाप नहीं करना चाहिये । शास्त्रीय ज्ञानादि को मोक्षादिका उपाय स्वीकारना चाहिये, उनका अपलाप नहीं करना चाहिये । ज्ञान से मोक्ष होता है इतना मानकर कर्म व्यर्थ है कुछ फल नहीं देता इत्यादि प्रलाप अनर्थक है । जिसे ज्ञान समझ आ गया उसके लिये यह कहना वैसे ही व्यर्थ है और जिसे समझ आया नहीं उसे कर्म से भी दूर कर देने से वह और अधिक भ्रष्ट होगा । अतः शास्त्र को पूरा स्वीकार लेना उचित है यह अभिप्राय है ।) । नास्तिक बुद्धि से ही सब लोग संसारचक्र में घूमते रहते हैं, अतः वैसा निश्चय नहीं करना चाहिये ॥ १०५ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ यों मैंने सब मोक्षों के साधन तुम्हे बता दिये । इस अद्भुत विद्या को सुरक्षित रखे यह आस्तिक का काम है ॥ १०६ ॥

सूतजी बोले–इस प्रकार उपदेश देकर तथा मुनि व्यास के संमुख आनंदपूर्वक नृत्य कर सर्वप्रकाशक साम्ब महादेव वहीं अंतर्धान हो गये ॥ १०७ ॥ हे ब्राह्मणो ! शिवोक्ति द्वारा सकल साधन मैंने आप लोगों को समझा दिये हैं । इससे अधिक कुछ वक्तव्य नहीं है । उक्त प्रकार से अन्य किसी भी प्रकार की बात को (जहाँ मोक्ष का ज्ञानेतर कोई साधन कहा जाता हो) अविवेकपूर्ण ही जानना चाहिये ॥ १०८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।
अविरोधं[1] तु वेदानामशेषाणां मुनीश्वराः ॥ १ ॥

अद्वैतवत्कर्तृकरणफलादिभेदभिन्नस्य द्वैतस्यापि श्रुतत्वाद् द्वैताद्वैतश्रुत्योर्मिथो विरोधेनाप्रामाण्यमाशङ्क्य तयोरविरोधं प्रतिपादयितुमारभते–अथात इति ॥ १ ॥

वेदों के अविरोध का निरूपण नामक उनतालीसवा अध्याय

(शिवज्ञान मोक्षहेतु निश्चित किया गया है । यह ज्ञान अनुभवरूप है । भामतीकार ने कहा है कि अनुभवात्मक ब्रह्मसाक्षात्कार ही अभीष्ट है क्योंकि वही सकल दुःखों का निवारक और परमानन्द का अनावरक है : 'अनुभवो ब्रह्मसाक्षात्कारः परमपुरुषार्थः, निर्मृष्टनिखिलदुःखपरमानन्दरूपत्वात् ।' (१.१.२) शिव सिद्ध वस्तु हैं अतः उनका अनुभव संभव है, संभव ही नहीं आवश्यक भी है । अनुभव के विना शिव का सर्वतोभावेन अज्ञान हटता ही नहीं । पंचपादिकाचार्य ने स्पष्ट किया है कि जिस किसी सिद्ध वस्तु को हम ग़लत समझते हैं, उसका मिथ्याज्ञान (तद्विषयक ग़ैरसमझी) तब तक नहीं हटता जब तक उस वस्तु का अनुभव न हो जाये : 'सिद्धस्य साक्षाद्रूपेण विपर्यासगृहीतस्य सम्यग्ज्ञानेन साक्षात्करणमन्तरेण न मिथ्याज्ञानोदयनिवृत्तिः, द्विचन्द्रादिषु तथा दर्शनात् ।' (पृ. ९२८ कल.) । यहाँ जन्मतः नेत्रदोष वाले की दृष्टि से दृष्टांत समझना चाहिये । क्योंकि इस प्रकार शिवतत्त्व का अनुभव अपेक्षित है इसलिये तद्विषयक विरोध नहीं रहना चाहिये । विरोधज्ञान होने पर अनुभव शंकित हो जायेगा । जैसे सूर्य का चलना हमें विज्ञानविरुद्ध रूप से ज्ञात है तो सूर्य के चलने के अनुभव के होते हुए ही हम उसे भ्रम समझ लेते हैं । इसी तरह यदि शिवतत्त्व के अनुभव से विरुद्ध बात हमें प्रमारूप से ज्ञात होगी तो अनुभव होते हुए ही हम उसे गलत ही समझेंगे । एवं च निश्चय न होने से शंकाकलंकित शिवानुभव भी हमें वैसे ही फल नहीं दे पायेगा जैसे कपड़े में लिपटा पारस लोहे को सोना नहीं बना पता । एतदर्थ शिवात्मविषयक विरोध परिहार्य हैं । श्रुतिप्रामाण्य के विषय में आस्तिक निःसन्दिग्ध हैं । श्रुति से ही यदि शिवात्मैक्यका विरोध होगा तो कभी अभेदधी निश्चित अनुभव रूप हो यह अंसभव होगा । अतः यहाँ मुख्यतः अद्वैत में श्रुतिविरोध का परिहार किया जा रहा है । पाश्चात्य अध्येता श्रुति को एक प्रमाणग्रंथ न मानकर नाना ऋषियों के मत-संकलन के रूप में उसे मानते हैं और जो उन्हें विरोध प्रतीत होते हैं उनको वस्तुतः वेदनिष्ठ स्वीकारने में संकोच नहीं करते । उन्हें यह कहने में लज्जा नहीं आती कि वेद के कुछ वाक्य अद्वैतसाधक व कुछ वाक्य भेदसाधक हैं । अतः वे तथा उनके अनुसर्ता अन्य विचारक विरोधपरिहार का प्रयास नहीं करते अपितु वैसे प्रयास को ग़लत भी मानते हैं । किन्तु उनकी ये सभी मान्यतायें कुछ अन्धविश्वासों पर ही टिकी हैं, युक्ति व प्रमाण पर नहीं । श्रुति व स्मृति दोनों ने घोषित किया है कि समस्त वेद की परमशिव में एकवाक्यता है । इसी आधार पर परमर्षि ने समन्वयाधिकरण किंवा समन्वयाध्याय का प्रणयन किया है ।

---

१ वेद एकः प्रमाणं च, न हि तेन विरुद्धार्थावुपदेष्टुं शक्यौ, प्रतिवाक्यं मानहानप्रसंगात्, नापि वस्तुयाथात्म्ये विरोधः प्रामाणिकः समस्ति, अनैकान्तिकत्वापत्तेः तस्य च याथात्म्यघातकत्वादिति समन्वयाधिकरणमुपनिषदामेवाविरोधं न वक्ति किन्तर्हि वेदमात्रस्य । अत एव वेदायतपदमामनन्ति वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्य इत्यादि श्रुतिस्मृती संगच्छेते तस्माद्विषयव्यवस्थयैव स्यादुपपत्तिः । न च भेदसत्यत्वे शास्त्रतात्पर्य वैयर्थ्याद्, धर्मविधायकत्वहानेश्च, अन्यथा वाक्यभेदप्रसंगादित्याद्यन्यत्र विस्तरः ।

द्विविधो वेदराशिस्तु मुनयः संशितव्रताः । सत्याद्वैतपरः कश्चिद्वेदभागः समासतः ॥ २ ॥

कल्पितद्वैतनिष्ठस्तु वेदभागोऽपरस्तथा । सत्यमेव सदाऽद्वैतमसत्यं द्वैतमास्तिकाः ॥ ३ ॥

द्वैतस्यापि च सत्यत्वं वर्णयन्तीह केचन । तदसंगतमध्यस्तं द्वैतं यस्मात्परात्मनि ॥ ४ ॥

अध्यस्तं हि सदा द्वैतं दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवत् । दृश्यत्वं द्वैतजातस्य संमतं सर्वदेहिनाम् ॥ ५॥

कर्मज्ञानकाण्डयोरविरोधं दर्शयितुं तावद्विषयभेदमाह–**सत्याद्वैतेति** । कश्चिदुपनिषल्लक्षणो यो वेदभागः स सर्वदा बाधविधुरमद्वितीयं परशिवस्वरूपं तात्पर्येण प्रतिपादयति । अपरस्तु कर्मकाण्डात्मको वेदभागस्तत्स्वरूपे परिकल्पितं द्वैतप्रपञ्चमुपजीव्य स्वर्गादिफलाय यागहोमादिकं तात्पर्येण विधत्ते । अतो विषयभेदादविरोध इत्यभिप्रायः । विपरीतं न कुत इत्यत आह–**सत्यमेवेति** ॥ २–३ ॥ नन्वद्वैतात्मतत्त्ववद् द्वैतस्य जडप्रपञ्चस्याप्यविसंवादिव्यवहारदर्शनेनाऽऽरोपितरजतादिवैलक्षण्यात्पारमार्थिकत्वं किं न स्यादिति परोऽभिमतां शङ्कामनुभाषते–**द्वैतस्यापीति** । परिहरति–**तदिति** । विमतमसत्यमध्यस्तत्वाच्छुक्तिरूप्यवदिति भावः ॥ ४ ॥ हेत्वसिद्धिं[1] परिहरति–**अध्यस्तं हीति** । अविसंवादिव्यवहारदर्शनेऽपि दृश्यत्वहेतुना शुक्तौ रूप्यवद्द्वैतप्रपञ्चस्यापि दृग्रूपेऽद्वितीये परमात्मन्यध्यस्तत्वमङ्गीकार्यं तेन चासत्यत्वमित्यर्थः । हेतोः पक्षधर्मतामाह–**दृश्यत्वमिति** । द्वैतप्रपञ्चस्य स्वतो जडत्वेन भानासंभवाद् दृग्रूपेण स्वप्रकाशपरशिवस्वरूपचैतन्येनैव [2]भास्यत्वाद् दृश्यत्वहेतुः कृत्स्नं पक्षं व्याप्य वर्तत इत्येतत्सर्वसंमतमित्यर्थः ॥ ५ ॥

केवल औपनिषद ही नहीं सारे वेद का कोई भी सतात्पर्यवचन शिवात्मैक्य का विरोधी नहीं यही बादरायण का दृढ उपदेश है । इसके अनुसार वेदार्थ संभव होने पर उसे विरोधी ढंग से प्रतिपादित करना गलत ही है । प्रमाणविरह में वेद को आर्षकृति क्योंकर स्वीकारा जा सकता है ? सत्य वैकल्पिक हुआ भी नहीं करता । यह तो जो लोग वेद सत्यबोधक है ऐसा नहीं मानने वाले नास्तिक हैं उन्हीं की कल्पना है कि वेदवाक्य विरुद्धार्थप्रतिपादक हैं । पद-वाक्यशास्त्रों की मर्यादाओं के पालकों ने सर्वांश में अविरोध ही स्वीकारा है । वेद के किसी भी तात्पर्य वाले अंश को अप्रमाणादि न मानने वाले आचार्य शंकर ने गीताभाष्योपसंहार में कहा है 'न च कर्मविधिश्रुतेरप्रामाण्यम्, पूर्वपूर्वप्रवृत्तिनिरोधेनोत्तरापूर्वप्रवृत्तिजननस्य प्रत्यगात्माभिमुख्य-प्रवृत्त्युत्पादनार्थत्वात् ।' (पृ. ५३५ आ.आ.) । शास्त्र उसे बताने में प्रवृत्त है जो हम अन्य तरह से नहीं जान सकते–'तत्प्रामाण्यस्याऽदृष्टविषयत्वात्' (वहीं पृ. ५३४) । भेदवास्तवत्व तो यों ही सब मान रहे हैं । उसका उपदेश शास्त्र क्यों देगा ? अतः वह शास्त्र का प्रतिपाद्य ही नहीं होने से अद्वैतवाक्यों का शास्त्र से कोई विरोध नहीं । इसी विषय को पुराण में समझाया जा रहा है–)

सूत जी बोले–अब मैं अधिक विस्तार किये विना यह समझाऊँगा कि सारा वेद एक अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक है । (कर्मभाग मनोनैर्मल्य द्वारा और ज्ञानभाग साक्षात् शिवात्मैक्य में ही तात्पर्य रखता है ।) ॥ १ ॥ वेदराशि दो प्रकार की है । एक हिस्से का संक्षिप्त तात्पर्य है सत्य अद्वैत ॥ २ ॥ दूसरा हिस्सा कल्पित द्वैत को मानकर सफल साधनों का उपदेशक है । अद्वैत सदा सत्य है और द्वैत सदा असत्य ।

---

१ ख. "सिद्धं प" । २ ननु नित्यातीन्द्रियादावसिद्धिः ? मैवम्, अस्तित्वप्रकारकधीविषयत्वसमानाधिकरणं यथाकथंचित् चित्सम्बन्धित्वमिह विवक्षितम् । ईश्वरीयवृत्तिसाधारणं वा भास्यत्वमतो ऽदोषः ।

तस्माद् द्वैतपरो भागः कल्पितद्वैतगोचरः । अद्वैतं सर्वदा सत्यं भेदाभावात्कथंचन ॥ ६ ॥
अद्वैतमपि चाध्यस्तं यदि वेदविदां वराः । कुत्रैवाद्वैतमध्यस्तं नाद्वैते तदभावतः ॥ ७ ॥
केवलं कल्पिते द्वैते नाद्वैताध्याससंभवः । व्यवहारदशायां तु सत्येऽध्यासस्य दर्शनात् ॥ ८ ॥
द्वैते चाद्वैतमध्यस्तमिति वक्तुं न शक्यते । तस्याध्यासस्वरूपत्वाद् द्वैतस्य ब्रह्मवित्तमाः ॥ ९ ॥

एतद्द्वैतजालस्य[1] परिकल्पितत्वप्रतिपादनात्तद्गोचरस्य कर्मकाण्डस्य कल्पितविषयत्वं सिद्धमित्युपसंहरति–**तस्मादिति** । नन्वेवमद्वितीयस्याऽऽत्मनोऽप्यसत्यत्वं कस्मान्न स्यादित्यत आह–**भेदाभावादिति** । ईदृग्रूपदृश्यभावस्य भेदसापेक्षत्वान्निर्भेदे परमात्मनि तस्याभावाद् दृश्यत्वादभावेनाध्यस्तत्वासंभवादद्वैतस्य सर्वदा बाधवैधुर्यात्सत्यत्वमित्यर्थः ॥ ६ ॥ एतदेवोपपादयितुं विकल्पयति–**अद्वैतमिति** । अद्वैतमपि द्वैतवद्यद्यध्यस्तं स्यात्तर्हि तस्य केनचिदधिष्ठानेन भवितव्यम् । निरधिष्ठानभ्रमानुपपत्तेः । किं तदधिष्ठानमद्वैतमेवोत द्वैतमिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह–**नाद्वैत इति** । **तदभावत इति** । तस्याऽऽरोप्यादद्वैतादन्यस्याद्वैतान्तरस्याभावादित्यर्थः[2] ॥ ७ ॥ न द्वितीय इत्याह–**केवलमिति** । अद्वैतस्याऽऽरोपेऽन्यस्याधिष्ठानस्यासंभवात्केवलं कल्पिते द्वैते तदध्यासो वक्तव्यः, सोऽपि न युक्त इत्याह–**व्यवहारेति** । परमार्थभूते शुक्तिशकलादौ रजताद्यध्यासस्य लोके दृष्टत्वात्तदनुसारेणाद्वैताध्यासस्याप्यधिष्ठानत्वेन सत्यभूतमेव किंचिद्वक्तव्यं न परिकल्पितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ भवतु लोके सत्याधिष्ठानत्वमद्वैताध्यासे त्वन्यस्यासंभवात्कल्पितस्यैवाधिष्ठानत्वमिति नियमः कस्मान्न भवतीत्यत आह–**द्वैते चेति** । द्वैतस्याध्यस्तैकशरीरत्वादध्यस्तस्य[3] चाधिष्ठानात्परमात्मस्वरूपादनतिरेकादेकस्यैवाधिष्ठानत्वमारोपितत्वं चेति व्याहतमित्यर्थः ॥ ९ ॥

(जो दो तरह से बँटा हो वही द्वैत है–द्विधा इतं द्वीतं, स्वार्थेऽणि द्वैतम् । यहाँ दो शब्द एक से अतिरिक्त के तात्पर्य से है । अतः जो अनेक विभाजनों वाला अर्थात् सकारण विषयप्रपंच है वह द्वैत है । और द्वैत जिसमें नहीं है वह परमशिव ही अद्वैतशब्दार्थ हैं–द्वैतं यत्र न तद् अद्वैतम् ।) ॥ ३ ॥ कुछ सांसारिक लोग द्वैत की सत्यता का वर्णन करते हैं किन्तु वह संगत नहीं, कारण कि द्वैत परमात्मा में अध्यस्त, कल्पित, है ॥ ४ ॥ सींप में चाँदी की तरह दृश्य होने से द्वैत हमेशा अध्यस्त ही है । द्वैतप्रपंच दृश्य है इसमें किसी को संदेह नहीं ॥ ५ ॥ अतः वेद का वह भाग जो द्वैत से सम्बन्ध रखता है उसका विषय कल्पित द्वैत ही है (क्योंकि द्वैत है ही कल्पित । कोई सत्य द्वैत होता तो वेदविषय बन सकता था, किन्तु द्वैतमात्र दृश्य होने से कल्पित है अतः कल्पित द्वैत ही वेद का भी विषय बनता है ।) अद्वैत सदा सत्य ही है क्योंकि उसमें किसी तरह का भेद नहीं । (भेद दृश्य अतः कल्पित में ही संभव है ।) ॥ ६ ॥ हे वेदवेत्ताओं ! अद्वैत भी अगर अध्यस्त हो तो प्रश्न होगा अद्वैत किस पर अध्यस्त है ? वह अद्वैत पर ही अध्यस्त है, यह कहा नहीं जा सकता (क्योंकि कोई भी वस्तु स्वयं अपने पर अध्यस्त हो नहीं सकती और अद्वैत दो हैं नहीं कि एक अद्वैत दूसरे अद्वैत पर अध्यस्त हो जाये । किंच वह दूसरा अद्वैत पुनः अनध्यस्त मानना ही पड़ेगा अन्यथा पूर्ववद् आत्माश्राय या अन्योन्याश्रय, चक्रिका या अनवस्था की आपत्ति होगी ।) ॥ ७ ॥

---

१ घ. °जातस्य । २ तथात्वेऽद्वैतत्वव्याहतेरिति ज्ञेयम् । ३ अध्यस्तस्यानतिरेकादिति सम्बन्धः । कुतोऽनतिरेकः ? तदाह–अधिष्ठानात् । तत् किम् ? इत्याह–परमात्मेति ।

द्वैतं चापि तथाऽद्वैतमुभयं कल्पितं न हि । द्वैताद्वैतातिरेकेण नास्तित्वादेव[1] वस्तुनः ॥ १० ॥
शून्यमात्रे न चाध्यस्तमुभयं वेदवित्तमाः । निरुपाख्यस्य चाध्यासाधिष्ठानत्वाद्यसंभवात् ॥ ११ ॥
अतो द्वैतं समध्यस्तमद्वितीये परात्मनि । तस्मादुक्तेन मार्गेण कश्चिदंशः श्रुतेर्बुधाः ॥ १२ ॥
सत्याद्वैतपरः प्रोक्तः सर्वशास्त्रार्थवेदिभिः ।
तथैव वेदराशेस्तु कश्चिदंशस्तपोधनाः ।
कल्पितद्वैतनिष्ठस्तु कथितः सत्यवादिभिः ॥ १३ ॥
द्वैताद्वैतश्रुतीनां तु विरोधोऽपि[2] प्रतीतितः । उक्तेनैव प्रकारेण विरोधाभाव एव हि ॥ १४ ॥
प्रत्यक्षादेरगम्यत्वादद्वैतस्य तु सर्वदा । तत्रैवार्थवती साक्षादद्वैतश्रुतिरास्तिकाः ॥ १५ ॥

किंच द्वैतवदद्वैतस्यापि परिकल्पितत्वे निरधिष्ठानभ्रमप्रसङ्गादद्वैतस्य सत्यत्वमेष्टव्यमित्याह–**द्वैतं चेति** । यदि द्वैताद्वैते उभे अप्यारोपिते स्यातां तर्हि तद्व्यतिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याभावान्निरधिष्ठानभ्रमप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ १० ॥ ननु शून्यमेवाधिष्ठानमस्त्वित्यत आह–**शून्येति** । तत्र हेतुमाह–**निरुपाख्यस्येति** । केनाचिदप्याकारेण निर्वक्तुमशक्यस्य शून्यस्याध्यासाधिष्ठानत्व-बाधावधित्वलक्षणधर्मयोगासंभवादित्यर्थः ॥ ११ ॥ एवमद्वैतस्याध्यासासंभवात्प्रतिपादितं द्वैतस्यैवाध्यस्तत्वं निगमयति–**अत इति** । कर्मज्ञानकाण्डयोः प्रतिज्ञातं विषयभेदेनाविरोधं निगमयति–**तस्मादिति** ॥ १२–१३ ॥ मा भूत्कर्मज्ञान-काण्डयोर्विरोधः । ज्ञानकाण्ड एव 'द्वा सुपर्णे'त्यादिवाक्यात् क्वचिद्भेदोऽवगम्यते । क्वचित्पुनः 'तत्त्वमस्या'दिवाक्येष्वभेद इति द्वैताद्वैतश्रुत्योर्विरोधादप्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–**द्वैताद्वैतेति** । विरोधस्य प्रातीतिकत्वमुपपादयति–**उक्तेनेति** । उक्तरीत्या कल्पितद्वैतपरैव भेदश्रुतिः, परमार्थाद्वैतपरा त्वभेदश्रुतिरिति तयोरविरोध इत्यर्थः । ननु भेदाभेदयोरुभयोरपि श्रुत्यर्थत्वे समानेऽप्यभेदस्यैव परमार्थत्वं भेदस्य तु परिकल्पितत्वमित्येतत्कुतो लभ्यते ? इत्यत आह–**प्रत्यक्षादेरिति** । अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणमिति मीमांसकाः[3] । अतः प्रमाणभूता श्रुतिः प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तराविषयमर्थं प्रतिपादयन्ती प्रामाण्यं भजते । अद्वैतं च प्रत्यक्षाद्यगम्यमतस्तदेव श्रुत्या तात्पर्येण प्रतिपाद्यते ॥ १४–१५ ॥

द्वैत पर कैवल्य (अर्थात् अद्वैत) कल्पित है, यह भी संगत नहीं । कारण यह है कि कल्पित द्वैत पर अकल्पित अद्वैत का अध्यास संभव नहीं । व्यवहार में यही देखा गया है कि सत्य पर असत्य का अध्यास होता है । (व्यावहारिक सत्य शुक्तिका आदि पर व्यावहारिक असत्य रजतादि का अध्यास ही अनुभवसिद्ध है ।) ॥ ८ ॥ इसलिये द्वैत पर अद्वैत कल्पित है । यह नहीं कह सकते । वह द्वैत तो स्वयं अध्यासरूप (अर्थात् अध्यस्त) है । वह जिस अद्वैत से अनतिरिक्त है उस अद्वैत का अधिष्ठान क्योंकर हो सकेगा ? ॥ ९ ॥ द्वैत व अद्वैत दोनों ही कल्पित हों यह भी असंभव है क्योंकि इन दोनों से अतिरिक्त कुछ है नहीं जो इनका अधिष्ठान हो ॥ १० ॥ शून्यमात्र पर इन दोनों की कल्पना हो नहीं सकती, कारण कि शून्य निःस्वभाव होता है जिससे वह अधिष्ठानादि स्वभाव वाला नहीं हो सकता । (शंका होती है कि काल्पनिक अधिष्ठानता शून्य में भी संभव है ? इसका समाधान है कि यों शून्य की अधिष्ठानता का विचार तब हो जब पहले शून्य असंदिग्ध हो । शून्य प्रमाण-गोचर तो है नहीं और स्वप्रकाश भी है नहीं । इनसे भिन्न कोई चीज़ असंदिग्ध होती नहीं । एवं च स्वयं संदेहग्रस्त की अधिष्ठानता का निश्चय नतरां सम्भव है । शून्य को स्वप्रकाश मानने पर अद्वैत का ही नामान्तर होगा और प्रमाणगम्य मानने पर वह द्वैत ही होगा) ॥ ११ ॥ अतः यही निश्चय है कि अद्वितीय परमात्मा पर द्वैत कल्पित है । इस प्रकार पूर्वोक्त तरीके से श्रुति का एक हिस्सा सत्य अद्वैत में तात्पर्य वाला है और दूसरा हिस्सा कल्पित द्वैत को विषय करता है (एवं च वेद के किसी हिस्से का तात्पर्य किसी द्वैत या सत्य द्वैत में नहीं है ।) ॥ १२–१३ ॥ अतः द्वैत और अद्वैत बोधक श्रुतिवचनों में विरोध केवल आपाततः है । इस ढंग से विचार करें तो कहीं कोई विरोध नहीं ॥ १४ ॥

क्योंकि अद्वैत प्रत्यक्ष आदि का विषय नहीं इसलिये उसी में श्रुति तात्पर्य वाली हो सकती है । प्रमाणान्तर के अविषय को बताने से ही कोई प्रमाण सार्थक हुआ करता है ॥ १५ ॥ आगे श्रुति के विना ही भेद तो सर्वलोक प्रसिद्ध है । अन्यतः ज्ञात बात को ही बताने में श्रुति की कोई सार्थकता नहीं ॥ १६ ॥ श्रुति

---

१ ङ. "त्वादद्वैतव" । २ ग. घ. "रोधेऽपि । ३ अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणमिति तत्सूत्रोक्तेः । स्वमते स्मृतिप्रामाण्यमभ्युपेतं न मीमांसकैः । न च तर्हि प्रकृतासंगतिः, स्वमतेऽबाधितविषयकत्वस्य स्वीकारान्नेह नानेत्यादिना च नानाशब्दितभेदस्य बाधितत्वादिति दिक् ।

अन्तरेण श्रुतिं भेदो लोकसिद्धः सदैव तु । तेन नार्थवती तत्र श्रुतिर्मानातिगामिनी ॥ १६ ॥

प्रमाणान्तरसंवादापेक्षा नास्ति श्रुतेः सदा[1] ॥ १७ ॥

स्वतश्च परतो दोषो नास्ति तस्याः श्रुतेरपि । प्रत्यक्षादिप्रमाणानां दोषवद्भावता सदा ॥

अस्त्यतः श्रुतिरेतेषां प्रमाणानां बलीयसी ॥ १८ ॥

अन्तरेणेति । घटपटादिभेदस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणाधिगतत्वाच्छ्रुतेस्तत्र तात्पर्यं न युक्तम् । तथाच ह्यनुवादकत्वादप्रामाण्यं स्यादित्यर्थः । ननु प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयं शशविषाणकल्पमद्वैतं श्रुतिः कथं तात्पर्येण प्रतिपादयितुं शक्नुयादित्यत आह–**मानातिगामिनीति** । प्रत्यक्षादिप्रमाणान्यतीत्य तदविषयं [2]स्वर्गापवर्गादिकं[3] यथाऽवगमयति तद्वदद्वैतमपि बोधयितुं शक्तेत्यर्थः । ननु श्रुत्यर्थस्य प्रमाणान्तराविषयत्वे संवादज्ञानाभावाच्छ्रुतेरप्रामाण्यं स्यादित्यत आह–**प्रमाणान्तरेति** । सर्वज्ञानानां स्वतःप्रामाण्याङ्गीकाराच्छ्रुतेर्न संवादज्ञानापेक्षेत्यर्थः ॥ १६–१७ ॥ ननु मा भूत्संवादज्ञानापेक्षा, बाधादन्यथात्वं कस्मान्न भवतीत्यत आह–**स्वतश्चेति** । दुष्टप्रमाणजनितस्य हि बाध्यत्वं श्रुतेस्तावत्स्वतो **दोषो नास्ति** अर्थप्रत्यायनसमर्थत्वात् । **परतोऽपि दोषो नास्ति** अपौरुषेयत्वात् । एवं निर्दुष्टप्रमाणत्वेन बाधशङ्काया अप्यभावाच्छ्रुतेः स्वतः सिद्धं प्रामाण्यमप्रत्यूहमित्यर्थः । एवं श्रुतेर्निर्दोषत्वमभिधाय तस्याः प्रबलतरप्रामाण्यं प्रतिपादयितुं प्रत्यक्षादीनां दोषसद्भावमाह–**प्रत्यक्षादीति** । **दोषवद्भावतेति** दोषसाहित्येनोत्पन्नतेत्यर्थः ॥ १८ ॥

को कभी अपने अर्थ का ज्ञान कराने के लिये यह ज़रूरत नहीं पड़ती कि अन्य प्रमाण भी उस अर्थ को वैसा ही बतायें । (यद्यपि यह सभी प्रमाणों के लिये समान है तथापि प्रमाणान्तर उस रूपादि को विषय करते हैं जो श्रुतिबाधित हैं जबकि श्रुति ऐसी किसी वस्तु को विषय नहीं करती जो किसी प्रमाण से बाधित हो । इसे ही प्रमाणान्तरों की व्यभिचारिता कहते है । प्रत्यक्ष ब्रह्म को भी विषय करता है, रूपादि को भी । ब्रह्म और काल सर्वेन्द्रियविषय हैं ऐसा सिद्धि आदि में कहा गया है । इसी तरह अनुमानादि ब्रह्मविषयक भी होते हैं रूपादिविषयक भी । अतः वे सत्य और असत्य दोनों को विषय करने वाले होने से अकेले ही निश्चायक नहीं हो पाते, प्रमाणान्तर का सहारा चाहते हैं । श्रुति में यह व्यभिचार न होने से वह अन्य प्रमाण का सहारा चाहती नहीं । यद्यपि धर्म, सविशेष आदि को भी श्रुति विषय करती है जिससे पुनः व्यभिचार प्राप्त होता है तथापि यहाँ तात्पर्यतः विषय करना विवक्षित होने से यह दोष नहीं । प्रत्यक्षादि तो तात्पर्यतः रूपादि को विषय करते हैं । श्रुति तात्पर्यतः उन्हें विषय नहीं करती, द्वारमात्र रूप से उनका परिचय कराती है । एवं च अव्यभिचारी होने से श्रुति ही निरपेक्ष प्रमाण है ।) ॥ १७ ॥ उस श्रुति में न तो स्वतः कोई दोष है, न परतः । (वचन में साकांक्षता, अयोग्यता आदि दोष संभव हैं, वे श्रुति में न होने से वह स्वतः निर्दोष है । वक्ता की अनाप्तता आदि होने पर भी वचन अश्रद्धेय हो जाता है । श्रुति नित्य अपौरुषेय होने से उसमें इन दोषों की भी संभावना नहीं ।) इससे विपरीत, प्रत्यक्षादि

---

१ ननु कस्यचनापि मानस्य सा नास्तीति श्रुतेरिति विशेषणमयुक्तम् ? इत्याशंक्य मानान्तराणां व्यभिचारितया शंकास्पदत्वादुक्तापेक्षा-संभवेप्यस्या अव्यभिचारितया तदभावात्तदपेक्षासम्भव इत्याह–सदेति । २ देवाधिकरणन्यायेन स्वार्गादौ मानं श्रुतिरिति मीमांसावैलक्षण्यं द्योतयितुमुक्तं स्वर्गेति । ३ ख. छ. ज. "र्गापूर्वादि" ।

कल्पितद्वैतमात्रे तु नैव मानमियं श्रुतिः । तत्र प्रयोजनाभावात्परमार्थनिरूपणे ॥ १९ ॥

अद्वैतं परमानन्दं ब्रह्मवस्तु न चापरम् ।

तत्र प्रयोजनं विप्रा अस्त्येव हि न संशयः ॥ २० ॥

यत्र प्रयोजनं[1] तत्र श्रुतिर्मानमिति स्थितिः ॥ २१ ॥

अतः प्रयोजनाभावाद् द्वैतं न प्रतिपाद्यते । अनूद्य द्वैतमद्वैतं प्रतिपादयति श्रुतिः ॥ २२ ॥

स्मृतीनां च पुराणानां भारतादेस्तथैव च । तथा शैवागमादीनां तर्काणां च द्विजोत्तमाः ॥

अद्वैतनिष्ठतैवोक्ता न द्वैतपरता सदा ॥ २३ ॥

एवमनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमितिलक्षणपर्यालोचनया प्रत्यक्षाद्यनधिगतेऽद्वैते श्रुतेः प्रामाण्यं प्रतिपादितम् । अथ प्रयोजनसद्भावादपि तत्रैव तत्प्रामाण्यं समर्थयितुं द्वैतपरत्वे प्रयोजनराहित्यमाह–**कल्पितेति** । **प्रयोजनाभावादिति** । कल्पितस्य द्वैतस्य मायामयत्वेनावस्तुत्वात्तत्प्रतिपादने श्रुतेः प्रेक्षावत्प्रवृत्तिहेतुभूतस्य कस्यचिदपि फलस्याभावादित्यर्थः । अद्वैतप्रतिपादने तु प्रयोजनसद्भावं दर्शयति–**अद्वैतमिति** । यस्मादद्वैतं ब्रह्मवस्तु निरतिशयानन्दरूपं तस्मात्तत्त्वप्रतिपादनेन तत्स्वरूपावाप्तिलक्षणं सर्वोत्कृष्टं प्रयोजनं विद्यत इत्यर्थः ॥ १९–२० ॥ ननु प्रयोजनवशात्प्रामाण्यव्यवस्था न युक्ता, प्रमाणानुवर्तित्वात् प्रयोजनस्येत्यत आह–**यत्र प्रयोजनमिति** । सत्यं, प्रत्यक्षादिषु प्रमाणानुवर्ति प्रयोजनम् । श्रुतिस्तु [2]प्रयोजनवशादेव पुरुषं स्वार्थे प्रवर्तयतीति तत्प्रामाण्यं प्रयोजनाधीननिरूपणम् । अतो यस्मिन्नर्थे प्रयोजनमस्ति तत्रैव श्रुतेः प्रामाण्यमिति प्रामाणिकानां स्थितिरित्यर्थः । ननु तर्हि 'द्वा सुपर्णे' त्यादिश्रुत्या निष्प्रयोजनो भेदः कस्मात्प्रतिपाद्यत इत्यत आह-**अनूद्येति** । द्वैतं प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्लोकसिद्धं जीवेश्वरभेदमनूद्य 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न' इत्यादिना जीवभावस्याज्ञानमूलत्वप्रतिपादनपुरःसरमद्वैतमेव तात्पर्येण प्रतिपादयतीत्यर्थः । एवं सर्वत्र भेदश्रुतिर्लोकसिद्धभेदानुवादार्था । अभेदश्रुतिस्तु तात्पर्येण परमार्थाद्वितीयप्रतिपादनार्थेति द्रष्टव्यम् ॥ २१–२२ ॥ स्मृतिपुराणादीनामप्येवमेवाद्वैतपरत्वं न्यायतोऽवगन्तव्यमित्याह–**स्मृतीनामित्यादिना** । अद्वैतपरत्वं च स्मृत्यादीनां सर्वेषां षडक्षरमन्त्रार्थकथनप्रस्तावे प्रागेव प्रतिपादितम् ॥ २३ ॥

सदा ही दोषसहित उत्पन्न होते हैं । (यहाँ अविद्या को ही दोष समझना चाहिये । साहित्य भी यहाँ वह विवक्षित है जो दोष का छेदक न हो । अतः यद्यपि शास्त्र भी दोषसहित ही रहता है–'.......अध्यासं पुरस्कृत्य.......सर्वाणि च शास्त्राणि.......मोक्षपराणि' (अध्यासभाष्य)–तथापि दोष का छेदक होने से दोषसहित होने वाला नहीं कहा जा सकता । अतः शास्त्र निर्दोष व इतर प्रमाण सदोष हैं यह निश्चित है ।) अत एव सभी प्रमाणों में श्रुति ही अधिक बलशाली प्रमाण है ॥ १८ ॥ किन्तु कल्पित द्वैत के विषय में इस श्रुति को प्रमाण

---

१ तच्च साक्षाद्विवक्षितम् । यत्र साक्षात्प्रयोजनं तत्रेत्यर्थः । साक्षात्त्वं च ज्ञानेतरप्रयोजनरहितत्वम् ततो धर्मप्रवृत्तये द्वैतमुपदिशदपि शास्त्रं द्वैतज्ञानमात्रप्रयोजनवत्त्वाभावात्तन्मानं, धर्मं कुर्यादिति द्वैतज्ञानेतरप्रयोजनेन द्वैतस्योक्तेरिति दिक् । २ क. घ. प्रमाणव ।

अध्यस्ताज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिद्वारतोऽद्वयम् । बोधयन्ति मुदा काश्चिछ्रुतयः पण्डितोत्तमाः[1] ॥ २४ ॥

साक्षाद्विधिमुखेनैव ब्रह्म सत्यादिलक्षणम् । बोधयन्ति मुदा काश्चिच्छ्रुतयः पण्डितोत्तमाः ॥ २५ ॥

ननु जातिगुणक्रियायदृच्छाभेदेन चतुष्टयी हि सकलशब्दानां प्रवृत्तिस्तत्कथं जात्यादिसकलधर्मरहितमद्वयं परशिवस्वरूपं श्रुतिस्तात्पर्येण प्रतिपादयितुं शक्नुयादित्यत आह–**अध्यस्तेति** । समस्तप्रपञ्चकल्पनामूलं मायाविद्यापरपर्यायं भावरूपमज्ञानं, तत्कार्यं भूतभौतिकदेहेन्द्रियादिकमेतत्सर्वं[2] परमार्थतो निरवद्ये[3] परशिवस्वरूपेऽनादिवासनयाऽध्यस्यते, तस्य च निवृत्तिस्तदधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानात् । एवं च तां मायां तत्कार्यनिवृत्तिं प्रतिपादयन्त्यः काश्चिच्छ्रुतयस्तद्द्वारोक्तविधमखण्डैकरसं परशिवस्वरूपं तात्पर्येण प्रतिपादयन्ति ताश्च श्रुतयः 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिकाः ॥ २४ ॥ **विधिमुखेनेति** । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिकाः काश्च्छ्रुतयो न पूर्ववन्निषेधमुखेनापि तु यत्सत्यज्ञानादिलक्षणं तद् ब्रह्मेति विधिमुखेनैव प्रतिपादयन्ति । अस्थूलमनण्वह्रस्वमित्यादिनिषेधश्रुतिष्वपि यत्स्थूलत्वादज्ञानकार्यनिवृत्त्यवधिभूतं पारमार्थिकं वस्तु तद्ब्रह्मेत्यर्थाद्विधानमस्ति, ततो विशिनष्टि–**साक्षादिति** । अयमभिप्रायः । लोके तावत्सत्यत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेन सत्यज्ञानादिशब्दा व्युत्पन्नाः । अखण्डैकरसेऽद्वितीये परमात्मनि तथाविधधर्मयोगो न संभवति । अतः सत्यादिशब्दा लौकिकमेव सत्यत्वादिकं प्रवृत्तिनिमित्तत्वेनोपादायाखण्डं वस्तु सर्वदा व्यभिचाररहितत्वाभिप्रायेण सत्यमिति लक्षयन्ति । स्वपरव्यवहारप्रकाशत्वाभिप्रायेण ज्ञानमिति । अत्यन्तानुकूलवेदनीयत्वेनाऽऽनन्दमिति । तथाच[4] सत्यादिशब्दा लौकिकमेव सत्यत्वादिकमादाय[5] साक्षाद्विधिमुखेनैवाखण्डं वस्तु लक्षणया प्रतिपादयन्तीत्यर्थः । उक्तं हि–'लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि' इति । एवम् अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च श्रुतिस्तात्पर्येणाद्वैतं प्रतिपादयितुं शक्तेत्यर्थः ॥ २५ ॥

नहीं मान सकते क्योंकि द्वैतबोधन का कोई प्रयोजन नहीं है और निष्प्रयोजन बात शास्त्र का प्रतिपाद्य न होने से उसमें वह प्रमाण नहीं होता । (देवताधिकरणन्याय से निष्प्रयोजन में भी प्रामाण्य हो ?–यह शंका तुच्छ है । कारण यह है कि वह न्याय उसे विषय करता है जो बात मानान्तरगम्य तथा मानान्तरविरुद्ध न हो । द्वैत तो मानान्तरगम्य है । अतः उस न्याय से भी प्रामाणिकता अशक्यशंक है । द्वैत के विषय में शास्त्र अनुवादक अतः अप्रमाण ही है ।) ॥ १९ ॥ हाँ, अद्वैतप्रतिपादन सप्रयोजन है क्योंकि एक ब्रह्म ही परमानंद और वास्तविक है । अतः उसमें श्रुति प्रमाण हो, इसमें क्या संदेह ? ॥ २० ॥ यह निश्चित है कि जहाँ प्रयोजन होता है वहीं श्रुति प्रमाण होती है ॥ २१ ॥ अतः क्योंकि कोई प्रयोजन नहीं है इसलिये शास्त्र के द्वारा द्वैत का प्रतिपादन नहीं किया जाता । द्वैत का तो केवल अनुवाद कर श्रुति अद्वैत का ही प्रतिपादन करती है ॥ २२ ॥ स्मृति, पुराण, महाभारत, शैवागम तथा सत्तर्क भी अद्वैतविषयक ही हैं, द्वैतबोधन में तात्पर्य वाले नहीं ॥ २३ ॥

हे उत्तम पण्डितो ! कुछ श्रुतियाँ अध्यस्त अज्ञान के और उसके कार्यों के प्रतिषेध द्वारा अद्वय शिव का बोधन कराती हैं ॥ २४ ॥ और कुछ श्रुतियाँ सत्य आदि स्वरूप वाले ब्रह्म का बोध सीधे ही विधान

---

१ तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः 'अनात्माऽदर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे' । २ ख. घ. °र्वं नि° । ३ ग. छ. ज निरविद्ये । ४ संक्षेपशारीरके (१.१५८–१९०) महता विस्तरेणायमर्थः प्रपंचितः । ५ क. ग. घ. ङ. च. छ. ज. °दिकं सा° ।

साधकस्यैव जीवस्य [1]स्वाभाविकशिवात्मताम् ।
बोधयन्ती श्रुतिर्भ्रान्तजीवत्वं बाधते खलु ॥ २६ ॥
जीवत्वं चेतनस्यास्य स्वाभाविकमिति द्विजाः ॥
केचिद्वदन्ति वार्तैषा न तत्स्वाभाविकं सदा ॥ २७ ॥
यदि स्वाभाविकं तर्हि जीवत्वं सर्वदा भवेत् ।
नास्ति तस्य निवृत्तिर्हि स्वतःसिद्धं न नश्यति ॥ २८ ॥

एवं श्रुतेरद्वितीयपरशिवस्वरूपप्रतिपादनप्रकारमभिधाय तत्त्वमस्यादिभिर्महावाक्यैर्जीवेश्वरतादात्म्यप्रतिपादनप्रकारं दर्शयति–साधकस्यैवेति । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिश्रुतेः परमेश्वर एव हि साक्षाज्जीवः । अतो जीवभावापन्नस्य यत्स्वाभाविकमद्वितीयपरशिवात्मत्वं तत्प्रतिपादयन्ती तत्त्वमस्यादिका श्रुतिर्मलिनसत्त्वप्रधानमायोपाधिकं परमार्थवत्प्रतीयमानमात्मनो यद्भ्रान्तं जीवत्वं तन्निवारयति । जगत्कारणोपाधिकं यत्सत्यज्ञानादिलक्षणं यच्चाज्ञानतत्कार्योपाधिकं सर्वप्रत्यग्भूतं चैतन्यं तदुभयमेकमेवेति सोऽयं देवदत्त इतिवद्विरुद्धांशपरिहारेण वाक्यं बोधयतीत्यर्थः ॥ २६ ॥ अथ पराभिमतमात्मस्वाभाविकजीवत्वपक्षमनुभाष्य दूषयति–जीवत्वं चेतनस्येत्यादिना । यद्यात्मनो जीवत्वं स्वाभाविकं स्यात्तर्हि तस्य मुक्तावस्थायामपि निवृत्तिर्न स्यात्स्वभावस्यानपायात् । अतो मुक्तानामपि सुखदुःखानुवृत्तिः स्यादित्यर्थः ॥ २७-२८ ॥

करते हुए करा देती हैं । (निषेध में विधान आर्थिक होता है और विधान में निषेध आर्थिक होता है । क्योंकि लक्ष्य सत्य व्यक्ति का परित्याग नहीं होता इसीलिये 'साक्षात्' शब्द सार्थक है । शक्ति से बोध करना नहीं कहा जा रहा । सत्यादि शब्द लक्षणावृत्ति से ही शिव का बोध कराते हैं । किन्तु जैसे अन्यत्र तट में लक्षणा होने पर गंगा का अर्थ सर्वथा छूट जाता है वैसा यहाँ नहीं होता । सत्य का अर्थ अबाध्यता लक्ष्य ब्रह्म में भी स्वरूपतः रहती है अतः साक्षात् कहा । ऐसा होने पर शक्ति ही क्यों न विषय कर ले ? इसलिये शक्ति विषय नहीं कर सकती कि वह धर्मविधया ही अबाध्यत्व को पहचान कर प्रवृत्त होती है । जहाँ अबाध्यत्व धर्मरूप से हो उसे शक्ति से सत्य कह सकते हैं । शिव अबाध्य होने पर भी उनमें वह धर्म नहीं है अतः शक्तिसंबंध भी नहीं है ।) ॥ २५ ॥ साधक जीव की ही वास्तविक शिवरूपता का ज्ञान कराती हुई श्रुति भ्रमसिद्ध जीवरूपता का बाध कर देती है ॥ २६ ॥ कुछेक विचारक मानते हैं कि 'मैं' रूप से प्रत्यक्षसिद्ध इस चेतन की जीवरूपता वास्तविक है (जीवरूपता अर्थात् कर्तृत्वभोक्तृत्व ।) किन्तु यह बात ग़लत है ॥ २७ ॥ यदि जीवरूपता स्वाभाविक हो तो सदा रहेगी । उसकी कभी निवृत्ति न होगी । स्वतः सिद्ध–स्वाभाविक, वास्तविक–कभी नष्ट होता नहीं । (और ऐसा होने से मोक्ष असंभव हो जायेगा । मोक्ष को नित्य मानना यह मोक्षवादियों की सामान्य स्वीकृति है । वेदान्त से भिन्न मत उसे जन्य नित्य मानते हैं जिसका पर्यवसान अनित्य में ही होता है । साथ

१ वास्तवत्वमिह स्वाभाविकत्वम् ।

यथा भेषजसंपर्कात्ताम्रस्य मलनाशनम् । तथा जीवस्य दुःखादिनिवृत्तिः केनचिद्भवेत् ॥ २९ ॥

रसविद्धमयः स्वर्णं यथा भवति सर्वदा । केनचित्साधनेनैव तथा जीवः शिवो भवेत् ।

इति केचित्स्वमोहेन प्रवदन्ति तु वादिनः ॥ ३० ॥

तन्न संप्रतिपन्नं हि स्वतःसिद्धं न नश्यति[1] ॥ ३१ ॥

यथा स्वाभाविकं वह्नेरौष्ण्यं नैव विनश्यति ।

प्रकाशो वा[2] तथाऽस्यापि न दुःखादिर्विनश्यति ॥ ३२ ॥

जीवत्वस्य स्वाभाविकत्वेऽपि मुक्तिसंभवमाशङ्कते–**यथे**ति । यथाऽम्लसंपर्कात्ताम्रस्य स्वभावभूतं मलं निवर्तते, एवं केनचित्परमेश्वरसमाराधनादिना साधनेन जीवस्य सुखदुःखादिसंसारभावात्मकजीवत्वनिवृत्तौ सत्यां परशिवसायुज्यरूपा मुक्तिः किं न स्यादित्यर्थः ॥ २९ ॥ अम्लेन निवर्तितस्यापि ताम्रमलस्य कालान्तरे[3] पुनरुद्भवदर्शनात्तद्वदेव मुक्तानामपि जीवत्वस्य पुनरुद्भवमाशङ्क्य निदर्शनान्तरेण तामाशङ्कां निरस्यति–**रसविद्ध**मिति । अयसो यथा रसवेधेन स्वाभाविकमयस्त्वं निवर्तते स्वर्णत्वमेव सर्वदा भवति न पुनः कालान्तरेऽप्ययस्त्वस्यानुवृत्तिस्तथैव स्वाभाविकजीवत्वस्याप्यात्यन्तिकनिवृत्त्या हि शिवसायुज्यमित्यर्थः ॥ ३० ॥ तदेतन्निराकरोति–**तन्ने**ति । **यथा स्वाभाविक**मिति । अग्निस्वभावभूतस्य दाहप्रकाशादेर्विनाशाभावात्स्वाभाविकजीवत्वस्यापि विनाशो दुर्घट इत्यर्थः ॥ ३१–३२ ॥

ही जीवभाव वास्तविक होकर यदि नष्ट होगा तब तो मुक्तता भी वास्तविक होने पर भी नाशवान् होगी । पुनरपि मोक्ष की नित्यता कथमपि नहीं रहेगी । मोक्ष मानें ही नहीं तो क्या आपत्ति है ? प्रथमतः तो शास्त्रविरोध होगा । शास्त्र ने मोक्ष का प्रतिपादन किया ही है जिसका अन्यथा अर्थ संभव नहीं । 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' आदि निर्देशों से मोक्ष को स्वर्गादि माना जा नहीं सकता । तथा युक्ति का भी विरोध होगा । कर्तृत्वादि व्यभिचारी तथा इदमात्मनिष्ठ उपलब्ध होते हैं । अव्यभिचारी में व्यभिचारी धर्म औपाधिक ही संभव हैं । वास्तविक मानने पर उपाधिराहित्य में भी उपलब्ध होने चाहिये जो सुषुप्ति आदि के अनुभव से बाधित हैं । औपाधिकों की निवृत्ति संभव है । दुःख-हानि सबको अभिलषित है । एवं च सर्वाभिलषित संभव स्थिति को न मानना युक्तिविरुद्ध है । किं च विद्वद्-अनुभव का भी विरोध है । अतः मोक्ष स्वीकार्य है व जीवत्व को स्वाभाविक मानने पर वह असंभव होगा । फलतः उसे अध्यस्त ही स्वीकारना होगा, यह अभिप्राय है ।) ॥ २८ ॥ शंका होती है कि जैसे खटाई आदि दवा के संबंध से ताँबे की मैल नष्ट हो जाती है ऐसे परमेश्वर की आराधना आदि किसी साधन से जीव की स्वाभाविक भी दुःखादिजीवता की निवृत्ति हो जाये ? ॥ २९ ॥ जैसे पारे के सम्बन्ध वाला लोहा सोना हो जाता है, ऐसे ही किसी साधन से जीव अपनी वास्तविक जीवरूपता छोड़कर सदा के लिये शिव बन जाये ?–ऐसी शंकायें अविवेक

---

१ व्यक्ताऽव्यक्तोभयात्मनाऽसत्त्वं नैतीत्यर्थः । अदर्शनं तु प्राप्नोत्येव । हीति 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इत्यादिस्मृतिस्मृतये । २ अतिदूरस्थस्य मन्दस्य वाग्नेरौष्ण्यं न भासत इति तत्स्वरूपान्तरं सदा भासमानं दर्शितम्–प्रकाशो वेति । ३ ग. "रेण पु" ।

मणिमन्त्रौषधादीनां शक्तिवैचित्र्यमात्रतः । नष्टवत्प्रतिबद्धं तु न नष्टं संमतं हि तत् ॥ ३३ ॥

यथा ताम्रमलं नैव केनचित्प्रविनश्यति । नष्टवत्प्रतिबद्धं हि विनष्टं मन्वतेऽबुधाः ॥ ३४ ॥

जीवत्वं च तथाऽस्यापि सुखदुःखादिलक्षणम् ।
नष्टवत्प्रतिबद्धं स्यान्नैव नश्यति केनचित् ॥ ३५ ॥

पयसा वेष्टितं तोयं पय इत्यभिधीयते ॥ ३६ ॥

रजतं काञ्चनग्रस्तं हेम इत्यभिधीयते । तथैव रसवीर्येण वह्निसंपर्कतोऽपि च ॥ ३७ ॥

ननु मणिमन्त्रादिसामर्थ्यादग्नेरौष्ण्यप्रकाशयोर्निवृत्तिमुपलभामहे तद्वत्साधनवैचित्र्यात्स्वाभाविकजीवत्वस्यापि निवृत्तिरित्यत आह– मणीति । अस्मिन्स्वभावभूतमौष्ण्यादिकं मणिमन्त्रादिसामर्थ्यात्प्रतिबद्धमेव केवलं न तु नष्टम् ॥ ३३ ॥ एवमेव ताम्रमलस्यापि स्वभावसिद्धस्य नाशासंभवमाह– यथेति । अबुधा अज्ञजनाः । [1]प्रतिबद्धमित्येतदजानाना विनष्टमिति मन्वत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ उक्तमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति– जीवत्वमिति । सुखदुःखादिलक्षणस्य स्वाभाविकस्य जीवत्वस्य केनचित्साधनेन प्रतिबन्ध एव केवलं स्यान्न तु नाशः संभवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ननूक्तं रसवेधदृष्टान्तेन स्वाभाविकस्याप्यत्यन्तनिवृत्तिरिति ? तत्राऽऽह–पयसेत्यादिना । यथा पयसा मिश्रितं नीरं पयोवर्णमेव यथा वा काञ्चनेन मिश्रितं रजतं काञ्चनवर्णमेव तथैव ह्ययो रसवीर्येण संपर्कात्केवलं हेमवर्णं

के कारण कुछ लोग उठाते हैं ॥ ३० ॥ इनका सीधा समाधान है कि जो वस्तु स्वतःसिद्ध–स्वाभाविक, सत्य–होती है वह कभी नष्ट नहीं होती ॥ ३१ ॥ जैसे आग स्वभाव से गरम है, उसकी गर्मी स्वतः-सिद्ध सत्य है, अतः आग की गर्मी कभी नष्ट नहीं होती । न उसका स्वाभाविक प्रकाश ही नष्ट होता है । ऐसे ही जीवरूपता स्वाभाविक सत्य हो तो कभी नष्ट नहीं हो सकती ॥ ३२ ॥ मणि, मंत्र, दवा आदि से उनकी विलक्षण शक्तियों के कारण वास्तविक वस्तु नष्ट हुई जैसी लगती है किन्तु वह केवल प्रतिबद्ध रहती है, नष्ट नहीं होती ॥ ३३ ॥ जैसे तांबे की मैल किसी से भी नष्ट नहीं होती । प्रतिबद्ध हुई वह नष्ट हुई जैसी हो जाती है जिसे अविवेकी लोग उसका नाश समझ लेते हैं ॥ ३४ ॥ इसी प्रकार इस आत्मा की सुखदुःखादि जीवरूपता किसी कारण से प्रतिबद्ध तो हो सकती है, नष्ट की तरह तो लग सकती है, नष्ट नहीं हो सकती यदि सत्य हो ॥ ३५ ॥ दूध से मिला पानी दूध ऐसा कहा जाता है, दूध हो नहीं जाता ॥ ३६ ॥ सोने से मिली चाँदी सोना कही जाती है, हो नहीं जाती । ऐसे ही रस की (पारे की) सामर्थ्य से और वह्नि के संपर्क से लोहा सोने की तरह प्रतीत होता है, वह कभी सोना हो नहीं जाता । अत एव पारे की ताकत ख़तम हो जाने पर वह प्रतीयमान स्वर्णिमता समाप्त हो जाती है ॥ ३७–३८ ॥ संसार में निश्चित बात है कि जो कुछ भी कृतिसाध्य है–क्रिया का फल है–वह नित्य

---

१ केनचिद्धेतुनाऽन्यथाव्यवहारविषयत्वं प्रतिबद्धत्वम् । यथा वह्निरदाहकेति व्यवहारविषयो भवति । कारणान्तरेण श्रैष्ठ्यमापन्नमपि प्रतिबद्धमेव, कारणनिवृत्तौ श्रैष्ठ्यनिवृत्तेः ।

अयसो हेमवर्णत्वं न हेमत्वं कदाचन । रसवीर्यविनाशे तु वर्णस्तस्य विनश्यति ॥ ३८ ॥

कृतकस्य न नित्यत्वमिति वार्ता भुवि स्थिरा ।

तथाऽपि मानवा भ्रान्ताः काञ्चनं मन्यते ह्ययः ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मदर्शनहीनानां सुलभः खलु विभ्रमः ।

तथा शिवत्वं जीवस्य भ्रान्त्या सिद्धं भविष्यति ॥ ४० ॥

साधनेन स्वतो जीवो न शिवः सर्वथा भवेत् ।

ततो जीवः शिवः साक्षान्न भवेत्तु कदाचन ॥

शिव एव स्वतः साक्षाच्छिवो भवति नान्यथा ॥ ४१ ॥

यथैव वह्निसंपर्कात्तोयं वह्निर्न वस्तुतः । उष्णं तोयमिति प्राज्ञाः प्रतीतावपि देहिनाम् ॥ ४२ ॥

तथाऽशिवः स्वतो जीवः कदाचित्पण्डितोत्तमाः ।

शिवत्वेन प्रतीतोऽपि स्वतो नैव शिवो भवेत् ॥ ४३ ॥

स्यान्न त्वयसः कदाचिदपि हेमत्वमिति संबन्धः ॥ ३६–३८ ॥ ननु रसवीर्यस्यामोघत्वेन विनाशाभावात्तत्कृतो वर्णनाशः कथं स्यादित्यत आह– **कृतकस्येति** । यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तेः सर्वत्र निरङ्कुशत्वादित्यर्थः ॥ ३९ ॥ **तथा शिवत्वमिति** । यथा सूक्ष्मदर्शनराहित्येन वर्णमात्रदर्शनादयसि काञ्चनत्वभ्रमस्तथा स्वभावतो जीवस्य शिवात्मकत्वं भ्रान्त्यैव भवेन्न तु परमार्थतः संभवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ कुत इत्यत आह–**साधनेनेति** । यदि परमार्थतो जीवः शिवादन्यः स्यात्साधनशतेनापि तस्य शिवत्वं न घटते । अन्योन्याभावस्यानाद्यनन्तत्वेन निवृत्त्यनुपपत्तेरित्यर्थः । तस्माच्छिवस्य शिवत्वं न तु तद्व्यतिरिक्तस्य जीवस्य कदाचिदपि शिवत्वमिति प्रतिपादितमर्थमुपसंहरति–**तत** इति ॥ ४१ ॥ ननु 'मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किं त्वेते तत्प्रसादतो मुक्ताः । सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः' ॥ इत्यादिवचनप्रामाण्यात्स्वतो भिन्नानामपि जीवानां परमेश्वरानुग्रहवशाच्छिवत्वं किं न स्यादित्यत आह– **यथैवेत्यादिना** । अग्निधर्मस्यौष्ण्यस्य तत्संपर्कवशाज्जले प्रतीतावपि जलं नाग्निर्भवति किंतूष्णं जलमित्येव निर्दिश्यते । एवं स्वभावतो भिन्नस्य जीवस्य शिवस्वभावभूतधर्माश्रयत्वे सत्यपि न शिवात्मत्वमित्यर्थः ॥ ४२–४३ ॥

नहीं होता (नित्य अर्थात् अविनाशी) । फिर भी लोग भ्रान्त होकर लोहे को सोना मान लेते हैं ॥ ३९ ॥ सूक्ष्मता से विचार न करने वालों को भ्रम होना सहज है । जैसे लोहे का सोनापन भ्रम से प्रतीत होता है ऐसे ही उपासना आदि के कारण भ्रम से ही जीव की शिवरूपता प्रतीत होगी, यदि जीवरूपता वास्तविक है ॥ ४० ॥ वास्तविक जीव किसी भी साधन से सर्वथा शिव हो जाये यह असंभव है । अतः जीवरूपता सत्य मानने पर जीव कभी साक्षात् शिव नहीं होगा । शिव ही स्वयं साक्षात् शिव हो सकते हैं, अशिव कभी शिव नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥ जैसे अग्निसम्बन्ध से पानी आग नहीं हो जाता ।

स्वतोऽशिवस्तु जीवोऽयं सर्वथा न शिवो भवेत् ॥ ४४ ॥

केनचित्साधनेनैव मुक्तौ शिवसमो भवेत् । इत्येवं केचिदिच्छन्ति वादिनो मुनिपुंगवाः ॥ ४५ ॥

वार्तामात्रमिदं प्रोक्तं सर्वथा न तदर्थवत् ।

एकदेशेन वा जीवः किंवा सर्वात्मना समः ॥ ४६ ॥

एकदेशेन चेत्सर्वे शिवाः संसारवर्तिनः । एकदेशेन सर्वेषामस्ति साम्यं शिवेन हि ॥ ४७ ॥

सर्वात्मना चेत्साम्यं तत्सर्वथा शिव एव सः ।

भेदकारणशून्यत्वाद्भेदाभावाच्च वस्तुतः ॥ ४८ ॥

किंच मुक्तौ शिवेनैव समो जीवो भवेद्यदि ।

ननु न वयं जीवस्य शिवतादात्म्यलक्षणां मुक्तिं ब्रूमः । अपि तर्हि ? तत्साम्यमिति केषांचिन्मतं दूषयितुमुपन्यस्यति– **स्वतोऽशिव** इति ॥ ४४–४५ ॥ तान्निराचष्टे–**वार्तेत्यादिना** ॥ ४६ ॥ जीवस्य किमेकदेशेन शिवसाम्यं विवक्षितमुत सर्वात्मनेति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह–**एकदेशेनेति** । संसारिणामपि जीवानां चेतनत्वादिनैकदेशेन शिवसाम्यं विद्यत[1] एवेति तेऽपि मुक्ताः स्युरित्यर्थः ॥ ४७ ॥ नापि द्वितीय इत्याह–**सर्वात्मनेति** । यदि सर्वेणैवाऽऽकारेण शिवसाम्यं विवक्षितं स्यात्तर्हि तत्साम्यं न युज्यते केनचिदाकारेण व्यावृत्तयोरेव हि समानधर्मयोगादुपमानोपमेयभाव इत्यभिप्रेत्याऽऽह–**भेदेति** । सर्वात्मना समयोर्जीवेश्वरयोर्भेदजनकव्यावृत्ताकारविरहादत एव भेदाभावाज्जीवः शिव एव स्यान्न तु शिवसम इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ किंचास्मिन्पक्षे मुक्तेरप्यनित्यत्वमापादयति–**किंचेति** ॥ ४९ ॥

यद्यपि सबको प्रतीति होती है 'पानी गर्म है' तथापि गर्म आग ही है, उसका पानी से संबंध होने से लगता है पानी गर्म है ॥ ४२ ॥ उसी प्रकार यदि जीव स्वभावतः अशिव होगा तो कभी शिवरूप प्रतीत होने पर भी सचमुच शिव नहीं हो जायेगा ॥ ४३ ॥ वस्तुतः अशिव जीव शिव हो जाये यह हर तरह से असंगत है ॥ ४४ ॥ अतः कुछ वादी कहते हैं कि मोक्ष में जीव शिव नहीं होता किन्तु शिव के समान हो जाता है ॥ ४५ ॥ यह भी कहने की ही बात है, विचारसह पक्ष नहीं । क्या एक अंश में समानता होती है या सब अंशों में ? ॥ ४६ ॥ यदि कहो एक अंश में, तब तो संसारावस्था में भी सभी जीवों में चेतनतारूप एक अंश में शिव से समानता है ही, मोक्ष में क्या विशेषता ॥ ४७ ॥ और यदि मानो कि मोक्ष में सब तरह से समानता होती है तब तो वह शिव हो जाता है, यही अर्थ हुआ । जब सब तरह से समानता है तो उन्हें परस्पर भिन्न कैसे कहा जा सकेगा ? असमानता अर्थात् भेद को निमित्त कर ही भिन्न ऐसा व्यवहार होता है । सभी तरह की समानता होने पर असमानता रही नहीं तो भिन्न नहीं रहे यही अर्थ हुआ ॥ ४८ ॥ और मोक्ष में शिवसमान होगा ऐसा मानने पर मोक्ष

[1] घ. घटत ।

कंचित्कालं हि तत्साम्यमागतं खलु गच्छति ॥ ४९ ॥

तस्माज्जीवः स्वतः साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ।

अप्रच्युतात्मभावेन स्थितः सन्परविद्यया ॥ ५० ॥

स्वाज्ञानं तत्प्रसूतं च संसारं स्वात्मना ग्रसन् । स्वपूर्णशिवरूपेण स्वयमेवावशिष्यते ॥ ५१ ॥

शुक्तिकाकलधौतं तु शुक्तिकावेदनेन तु । शुक्तिकामात्ररूपेण यथा लोकेऽवशिष्यते ॥ ५२ ॥

शिवात्मना जगद्बाधो न चैवं संभविष्यति ।

एवं पराभिमतमुक्तिस्वरूपं निराकृत्य सिद्धान्तं निगमयति–**तस्मादिति** । सत्यज्ञानादिलक्षणः **साक्षाच्छिव एव** सत्त्वपरिणामरूपनानाविधतत्तदन्तःकरणोपहितः [1]सन्नन्नपक्रान्तात्मभावेन[2] नानाविधजीवभावं भजते । स च जीवभावापन्नः **परविद्यया** स्वात्मनः परशिवात्मत्वज्ञानेन स्वस्वरूपस्याऽऽच्छादकं भावरूपमज्ञानं तत्कार्यं संसारं चाऽऽत्ममात्रतया विलापयन्स्वात्मनो यत्परिपूर्णशिवरूपत्वं तेन **स्वयमेवावशिष्यते** न तु भावाभावात्मकं किमपीत्यर्थः ॥ ५०–५१ ॥ अमुमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयति–**शुक्तिकेति** । यथा शुक्तावारोपितस्य रजतस्याधिष्ठानशुक्तियाथात्म्यज्ञानेन निवृत्तौ सत्यामधिष्ठानभूता शुक्तिरेव केवलमवशिष्यते न त्वन्यद्रजतं तदभावलक्षणं किमपि । तद्वदेव सकलजगदधिष्ठानपरशिवस्वरूपयाथात्म्यज्ञानेन समारोपितजगन्निवृत्तावधिष्ठानमात्रावशेषोऽवगन्तव्य इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ ननु [3]मुक्तावस्थायां जगतः प्रतीत्यभावात्तदभावो विद्यत इति कथमधिष्ठानमात्रावशेषतेति केषांचिच्छङ्कामनुभाषते–**शिवात्मनेति** । मुक्तावस्थायामधिष्ठानशिवरूपेणैव जगदवतिष्ठते न तु तद्व्यतिरिक्तभावा[4]भावात्मना रूपेणत्येतन्न संभवति । भावाभावयोरन्यतरनिषेधस्येतरविधिनान्तरीयकत्वेन जगत्सद्भावाभावे तदभावनियमावश्यंभावात् । अतो मुक्तौ जगतोऽभाव एव न तु शिवात्मनाऽवस्थानमिति कथमधिष्ठानमात्रावशेषतेत्यभिप्रायः ॥ ५३ ॥

अनित्य (नाशवान्) तो हो ही जायेगा क्योंकि जो साधनादि कुछ करके प्राप्त हुआ है वह अवश्य समाप्त भी होगा ॥ ४९ ॥ अतः यही स्वीकारना पड़ेगा कि जीव वस्तुतः बिना किसी कारण के स्वयं शिव है । परा विद्या से वह अपने उसी स्वभाव में स्थित हो जाता है, अज्ञान से जो अपने को जीव समझता था वह ग़ैरसमझी नहीं रह जाती ॥ ५० ॥ अपने अज्ञान को और उससे उत्पादित प्रपंच को 'यह सब कुछ नहीं है, मैं ही हूँ' इस प्रकार अपने में विलीन कर अपने पूर्ण शिवरूप से स्वयं ही बचा हुआ रह जाता है । यही मोक्षावस्था है ॥ ५१ ॥ सीप में दीखी चाँदी सीप के यथार्थज्ञान से 'चाँदी नहीं है, सींप ही है' इस प्रकार सींप में लीन हो जाती है और अकेली सींप ही बच जाती है–ऐसे जैसे लोक में अनुभव होता है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये ॥ ५२ ॥ कुछ लोग शंका करते हैं कि मोक्ष में अकेला शिव ही रहता है ऐसा नहीं, संसार का अभाव भी तो रहता है । अतः अद्वैत कैसे ?

---

१ घ. च. "न्नप" । २ ङ. "वे न" । ३ ङ. मुक्त्यव" । ४ घ. "वात्म" ।

अभाव एव मुक्तौ तु जगतो[1] हि भविष्यति ॥ ५३ ॥

इत्येवं केचिदिच्छन्ति स च मन्दमतिभ्रमः ।

भावरूपं तु वस्त्वेव ह्यभावि भवति द्विजाः ॥ ५४ ॥

जगन्न भावो नाभावो भावाभावविलक्षणम् ।

तस्मादध्यस्तबाधस्तु[2] न भावोऽभाव एव न ॥ ५५ ॥

अधिष्ठानावशेषो हि केवलं पण्डितोत्तमाः । जगद्भ्रमस्याधिष्ठानं शिवः सत्यस्वभावतः ॥ ५६ ॥

तदन्यदखिलं भ्रान्तं युक्तितश्च प्रमाणतः । तस्मात्सर्वजगद्बाधे शिव एवावशिष्यते ॥ ५७ ॥

शिवावशेषं सर्वस्य जगतः श्रुतिरादरात् । वक्ति तत्र न संदेहस्त्रिर्वः शपथयाम्यहम् ॥ ५८ ॥

तस्मात्सत्यपरानन्दप्रकाशाद्वैतमीश्वरम् । बोधयन्त्यादरेणैव श्रुतयः स्मृतिभिः सह ॥ ५९ ॥

तदेतन्निराकरोति—**स चेत्यादिना** । यदेतदभावप्रतियोगित्वं जगतोऽभिमतं तन्न युज्यते । यतो भावरूपमेव घटपटाद्यभावप्रतियोगि भवति न तावज्जगद्भावरूपम् । तथात्व आत्मवत्सर्वदाऽवस्थाननियमेनाबाध्यत्वप्रसङ्गात् । नाप्यभावात्मकम् । नरविषाणवत्कदाचिदप्यप्रतिभासप्रसक्तेः । अतः प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्त्या **भावाभावविलक्षणं** तदिति जगतो भावरूपत्वाभावादभावप्रतियोगित्वं न युक्तमित्यर्थः । अतोऽध्यस्तबाधो नामाधिष्ठानमात्रावशेषो नान्यद्भावाभावात्मकं किमपीति निगमयति—**तस्मादिति** । शुक्तिकादावध्यस्तस्य मायामयरजतादेर्भावरूपत्वाभावे नाभावप्रतियोगित्वानुपपत्त्या तद्बाधस्यावश्यमधिष्ठानमात्रावशेषत्वं स्वीकर्तव्यम् । तद्वदध्यस्तजगद्बाधोऽप्यधिष्ठानमात्रावशेषो[3] नाभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः। भवेदेवं यदि जगच्छुक्तौ रजतमिव क्वचिदध्यस्तं स्यात्तु नाध्यस्तं योग्याधिष्ठानानुपपत्तेरित्यत आह—**जगद्भ्रमस्येति** । **सत्यस्वभावत** इति । सत्यस्यैव शुक्तिशकलादिकस्य रजताद्यधिष्ठानत्वं दृष्टमिति तदनुसारात्सत्यस्वभावः परमात्मैव जगद्विभ्रमस्याधिष्ठानमित्यर्थः ॥ ५४–५६ ॥ ननु भवत्वधिष्ठानम् । शुक्तिरजतादिवैलक्षण्याज्जगतोऽध्यस्तत्वमयुक्तमित्यत आह—**तदन्यदिति** । **युक्तितश्च प्रमाणत** इति । यदि जगदध्यस्तं न स्यात्तर्ह्यात्मवज्ज्ञाननिवर्त्यत्वमपि न स्यादित्याद्यनुकूलतर्को युक्तिः । प्रमाणं तु विमतमध्यस्तं दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवदित्याद्यनुमानम् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यद्वैतश्रुतिश्च । एवं प्रमाणतर्काभ्यां जगतोऽध्यस्तत्वप्रतिपत्तेस्तन्नाशोऽधिष्ठानपरशिवस्वरूपमात्रमेव[4] न त्वभाव इत्युपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ ५७ ॥ **श्रुतिरादरादिति** । 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः' इति [5]सकलभौतिकप्रपञ्चस्याधिष्ठानात्मयाथार्थ्यविज्ञानेनाऽऽत्ममात्रावशेषतां तात्पर्येण प्रतिपादयतीत्यर्थः ॥ ५८–५९ ॥

यह शंका मन्दमति वालों का भ्रम ही है ॥ ५३½ ॥ यह नियम है कि भावरूप वस्तु का ही अभाव हो सकता है क्योंकि संसार में घर आदि भाववस्तुओं का ही अभाव दृष्टचर है । जगत् भावरूप या अभावरूप वस्तु है नहीं किन्तु भाव और अभाव से विलक्षण मिथ्या है, अध्यस्त है । अतः उसका बाध होने पर अकेला अधिष्ठान ही बचता है, न कुछ भाव व न कुछ अभाव ॥ ५४–५५½ ॥ सत्य स्वभाव वाले होने से शिव ही जगद्रूप भ्रम के अधिष्ठान हैं । (जिसके ज्ञान से अध्यस्त की सत्यत्वबुद्धि नहीं रह जाती वह अधिष्ठान होता है ।) शिव से अतिरिक्त सब कुछ भ्रममात्र सिद्ध है । यह बात युक्ति व प्रमाण दोनों से निश्चित होती है । इसलिये यही स्वीकारना उचित है कि जगत् का बाध होने पर अकेले शिव ही रहते हैं । अतः अद्वैत ही है । (मण्डनादि आचार्यदेशीयों

---

१ ग. "तो न भ" । "तो नु भ" । २ नन्वभावनिश्चयो बाधो जगतोऽभाववत्त्वाभावे कथं स्यादिति चेत् ? न । अधिष्ठानसत्त्वनिश्चयस्यैव बाधपदार्थत्वात् । तेन च सममध्यस्तनिश्चयोऽसंभवीत्येतावन्मात्रेण तदभावनिश्चयोऽसावित्युच्यते । अत एव ह्यधिष्ठानसाक्षात्कारमन्तराऽध्यस्ताभावधी र्न बाध इत्यंगीकारः । सा नैव समस्तीति रहस्यम् । ३ घ. "षो न भा" । ४ ख. ग. ङ. "न्नाशाधि" । ५ ख. "लभूतभौ" ।

एकत्वबोधकस्यास्य वेदवाक्यस्य सुव्रताः । वाक्यान्तराणि सर्वाणि शेषभूतानि संततम् ॥ ६० ॥

वेदो नान्यस्य शेषस्तु यथा देवो महेश्वरः ।
शिवस्य शेषं सकलं श्रुतेर्मानानि सर्वशः ॥ ६१ ॥

यथा माता स्वपुत्रस्य सत्यमेवाभिभाषते ।
तथा सर्वजनस्यापि सत्यं वदति हि श्रुतिः ॥ ६२ ॥

श्रुतौ चापि महादेवे त्रिपुण्ड्रे भस्मगुण्ठने ।
श्रद्धां न कुरुते मर्त्यः पुण्यलेशविवर्जितः ॥ ६३ ॥

पापिष्ठानां मनुष्याणां त्रिपुण्ड्रोद्धूलने श्रुतौ ।
महादेवे च विद्वेषः स्वत एव विजायते ॥ ६४ ॥

वेदोत्कर्षे शिवोत्कर्षे विद्योत्कर्षे तथैव च ।
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनोत्कर्षे श्रद्धा पुण्यवतां भवेत् ॥ ६५ ॥

एकत्वबोधकस्येति । जीवेश्वरयोर्भेदभ्रमनिरासेन पारमार्थिकमैक्यं वोधयतस्तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य निरतिशयानन्दावाप्तिलक्षणफलवदर्थप्रतिपादकत्वात् 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायेन 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादीनि सर्वाण्युपनिषद्वाक्यानि तावत्तदपेक्षिततत्त्वंपदार्थप्रतिपादनद्वाराऽङ्गभूतानि तदनुसारिस्मृतिपुराणागमवाक्यान्यपि वेदवाक्यस्योक्तरीत्या शेषभूतान्येवेत्यर्थः ॥ ६०–७० ॥

ने 'अभाव से सद्वितीयता का प्रसंग नहीं होता' ऐसा मानकर अद्वैत का उपपादन किया है । पुराण का अभिप्राय है कि अभाव स्वयं एक कल्पित वस्तु है, सारी कल्पित वस्तुओं की निवृत्ति होने पर अभाव की भी निवृत्ति अवश्यम्भावी है अतः मोक्ष में अभाव का साहित्य मामना असंगत है ।) ॥ ५६–५७ ॥ मैं तीन बार शपथ खाकर कहता हूँ कि श्रुति तात्पर्यतः कहती है कि मोक्ष में, भावत्वेन और अभावत्वेन अभिमत सारा ही जगत् नहीं रह जाता, एक शिव ही रहते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ५८ ॥ अतः सत्य, परमानन्द, चित्प्रकाश, अद्वैत, परमेश्वर का ही प्रतिपादन श्रुतियाँ व स्मृतियाँ करती हैं ॥ ५९ ॥ जीव-ईश्वर की एकता के बोधक महावाक्यों के अर्थबोधन के लिये ही अन्य सारे वाक्य हैं । अतः अन्य वाक्यों को महावाक्यों का शेष कहते हैं । (जो जिसके लिये होता है

अविरोधे तु वेदानां पुरोक्तेनैव वर्त्मना ।

वेदानुसारिस्मृत्यादौ पापिष्ठस्य न हि स्पृहा ॥ ६६ ॥

विष्ण्वादेः शिवसाम्यत्वे वेदसाम्ये परस्य च ।

कुर्वन्तीच्छामविद्वांसः पापमेवात्र कारणम् ॥ ६७ ॥

वेदानामपकर्षे तु त्रिपुण्ड्रादेस्तथैव च । तथा शिवापकर्षे च यतन्ते पापयोनयः ॥ ६८ ॥

महादेवश्च वेदश्च तथा तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् । व्यर्थमित्याहुरत्यर्थं पाषण्डाः पापयोनयः ॥ ६९॥

महादेवस्य माहात्म्यं वेदानामपि वैभवम् ।

त्रिपुण्ड्रस्य च माहात्म्यं न शक्यं वर्णितुं मया ॥ ७० ॥

वह उसका शेष कहा जाता है ऐसा मीमांसकों का संकेत है ।) ॥ ६० ॥ जैसे महादेव किसी के शेष नहीं, वैसे वेद किसी का शेष नहीं । सब कुछ जैसे शिव का ही शेष है, वैसे ही सभी अन्य प्रमाण श्रुति के ही शेष हैं । (शेष का शेषी से विरोध नहीं हुआ करता अतः प्रमाणान्तर श्रौत अद्वैत के बाधक नहीं बन सकते । शेषी ही बलवान् होता है । अतः श्रुति ही द्वैतसाधक प्रमाणों का बाध कर लेती है जिससे अद्वैत ही सत्य सिद्ध होता है ।) ॥ ६१ ॥ जैसे माता अपने पुत्र को सत्य बात ही बताती है वैसे ही श्रुति सभी लोगों को सत्य का ही उपदेश करती है ॥ ६२ ॥ जिस व्यक्ति में थोड़ा भी पुण्य नहीं होता, वह श्रुति, महादेव, त्रिपुण्ड्र और भस्मोद्धूलन में श्रद्धा नहीं कर पाता ॥ ६३ ॥ अत्यधिक पापी लोगों को अन्य किसी कारण के बिना ही त्रिपुण्ड्र, उद्धूलन, श्रुति और महादेव से द्वेष हो जाता है ॥ ६४ ॥ वेद, शिव, पराविद्या, त्रिपुण्ड्र और उद्धूलन की उत्कृष्टता में पुण्यशाली लोगों को ही श्रद्धा होती है ॥ ६५ ॥ घोर पापी पूर्वोक्त तरीके से वेदवचनों का अविरोध तथा वेदार्थ से स्मृतियों का अविरोध समझना ही नहीं चाहते, विरोध देखते रहते हैं ॥ ६६ ॥ नासमझ लोग जो विष्णु आदि को शिव के समान मानते हैं और अन्यान्य प्रमाणों को वेद के तुल्य बल वाला मानते हैं, इसमें कारण उनका पाप ही है ॥ ६७ ॥ पाप भोगने के लिये जिन्होंने जन्म पाया है वे पापयोनि लोग कोशिश करते हैं कि वेदों का अपकर्ष हो, त्रिपुण्ड्र व उद्धूलन का आचार भ्रष्ट हो तथा शिव की हेठी हो ॥ ६८ ॥ पापयोनि पाखण्डी ही आयासपूर्वक यह कहते हैं कि महादेव, वेद, व त्रिपुण्ड्र व्यर्थ हैं ॥ ६९ ॥ महादेव की महत्ता, वेदों का वैभव और त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य मैं पूरा बता नहीं सकता, इतना ही पर्याप्त है ॥ ७० ॥

कर्मशेषत्वमायासाद्ब्रह्मकाण्डस्य केचन[1] ।
वर्णयन्ति न ते सन्तः किं तु ते विप्रलम्भकाः ॥ ७१ ॥
कर्तृत्वं चैव भोक्तृत्वं नियोज्यत्वं क्रियाफलम् ।
ग्रसते ब्रह्मविज्ञानं ततस्तच्छेषताऽस्य न ॥ ७२ ॥
[2]अल्पलाभप्रदं कर्म ज्ञानं पूर्णफलप्रदम् । तथा सति मुनिश्रेष्ठास्तच्छेषत्वं कथं भवेत् ॥ ७३ ॥
फलवत्कर्मशेषत्वमफलस्य हि सिध्यति । फलवद्धि परं ज्ञानं ततस्तच्छेषताऽस्य न ॥ ७४ ॥

कर्मशेषत्वमिति । स्वर्गाद्यामुष्मिकफलसाधनस्य ज्योतिष्टोमादिकर्मणोऽनुष्ठाने तत्फलभोगाद्देहातिरिक्तः कश्चिदात्मा विद्यत इत्यवश्यमधिगन्तव्यम् । तथाच कर्मापेक्षितदेहव्यतिरिक्तात्मप्रतिपादनद्वारा ज्ञानकाण्डस्य कर्मकाण्डशेषत्वं केचिन्मन्यन्ते । न चैतद्युक्तं ज्ञानकाण्डस्य कर्मोपयुक्तकर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलसंसारधर्मरहितात्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वादित्याशङ्क्याऽऽह–**आयासादिति** । उक्तविधात्मस्वरूपप्रतिपादकवाक्यसंदर्भस्योपासनाविषयत्वसमर्थनलक्षणमायासात्प्रा(सं प्रा)प्येत्यर्थः । तदेतन्निराकरोति–**न त इति** । **विप्रलम्भका इति** । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्' इत्यादीनामुपासनाविधिगन्धेनाप्यसंस्पृष्टानां तात्पर्येणासंसार्यात्मबोधकानां वाक्यानामन्यथाभिप्रायकल्पनात्तेषां विप्रलम्भकत्वमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

ज्ञानकर्मणोः स्वरूपफलादिपर्यालोचनयाऽङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेरिति हेतुमाह–**कर्तृत्वं चे**त्यादिना । देहातिरिक्तस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्याऽऽत्मनो ज्ञानं हि कर्मापेक्षितम् । ज्ञानकाण्डस्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलसंसारधर्मासंस्पृष्टमद्वितीयमात्मतत्त्वं तात्पर्यतोऽवगमयति न तु देहातिरिक्तकर्त्रात्मस्वरूपमात्रम् । तथा चौपनिषदमद्वितीयात्मविज्ञानं प्रत्यगात्मन्युपाधिवशाद्भासमानं कर्मापेक्षितं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलधर्मं विलापयत्कथं कर्मणः शेषभूतं [3]स्यादिति योधादित्यभिप्रायः । नियोगो नाम[4] यद्यभिधेयमपूर्वं तद्बोद्धृत्वेन पुरुषस्य नियोज्यत्वं, तन्निष्पादकत्वं कर्तृत्वम् । एतच्च द्वादशेऽध्याये–'नियोज्यत्वं च कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च तथैव च' इत्यत्र (४.१२.११) विस्तरेण प्राक्प्रतिपादितमित्युपरम्यते ॥ ७२ ॥ **अल्पलाभप्रदमिति** । स्वर्गपशुपुत्रादिकं स्वल्पमेव फलं कर्म प्रयच्छति । विज्ञानं तु परमानन्दावाप्तिलक्षणं परिपूर्णं फलं प्रयच्छति । अल्पं हि लोकेऽधिकं प्रत्यङ्गत्वेन दृष्टं स्वामिभृत्यादौ । तस्मादधिकफलं ज्ञानं न्यूनफलस्य कर्मणोऽङ्गमित्येतन्न युक्तमित्यर्थः ॥ ७३ ॥ **फलवदिति** । अफलस्य हि प्रयाजादेः कैमर्थक्यवशात् 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायेन फलवदाग्नेयादियागशेषत्वं दृश्यते । ज्ञानस्य तु पृथक्फलसद्भावस्य श्रुतत्वेन फलाकाङ्क्षाया अभावान्नान्यशेषत्वमित्यर्थः

कुछेक व्याख्याता ब्रह्मकाण्ड को (उपनिषदों को) कर्म का शेष बताते हैं । (कर्म करना तब संभव है जब देहातिरिक्त और नित्य आत्मा हो । अतः उपनिषदें ऐसे आत्मा का ज्ञान कराती हैं जिससे हम निःशंक कर्म करें–यह उनकी मान्यता है ।) किन्तु ऐसे लोग भले आदमी नहीं, ठग हैं ॥ ७१ ॥ ब्रह्मज्ञान कर्तृत्व, भोक्तृत्व, नियोज्यत्व, क्रियाफल–इन सबको समाप्त करने वाला है, अतः इनका शेष (–इनके लिये–) हो यह संभव नहीं । (इस तथ्य को कि श्रुति अकर्ता आत्मा का उपदेश करती है वे छिपा लेते हैं और कहते हैं कि औपनिषद श्रुति कर्मशेष है, इसीलिये वे ठग हैं ।) ॥ ७२ ॥ कर्म थोड़ा-सा लाभ देता है जबकि ज्ञान का फल है पूर्णता । (अल्पफलक ही महाफलक का शेष देखा गया है ।) ऐसी स्थिति में ज्ञान क्योंकर कर्म का शेष हो सकता है ? ॥ ७३ ॥ निष्फल वस्तु ही सफल का शेष होती है ऐसा व्यासशिष्य जैमिनि आदि ने स्थिर किया है । परमात्मज्ञान स्वयं सफल है तो कर्म या अन्य किसी का शेष हो कैसे सकता है ? ॥ ७४ ॥ किं च (अंगताबोधक प्रमाणों का भी जैमिनि

१ भट्टाचार्य एव तावात्तथाविधात्मनो दृढबोध उपनिषद्वचोभि र्जायत इत्यस्लोकयत् । 'दृढत्वमेतद्विषयश्च बोध' इत्यादिना । अकर्त्राद्यात्मनो व्यावृत्तय एव 'एतद्विषय' इत्युक्तं, तन्मते कर्त्रादित्वादात्मनः । २ ख. ङ. "ल्पफलप्र" । ३ ग. "दिति भावः । नि । ४ 'यद्य' इत्यत्र 'कार्या-' इति पिपठिषामि ।

कर्मप्रकरणस्थं हि ज्ञानं कर्माङ्गमिष्यते । भिन्नप्रकरणं ज्ञानं ततस्तच्छेषताऽस्य न ॥ ७५ ॥

कर्म साध्यफलं ब्रह्मज्ञानं सिद्धफलं बुधाः ।

तथा सति मुनिश्रेष्ठास्तच्छेषत्वं कथं भवेत् ॥ ७६ ॥

अधिकारिविभेदेन प्रवृत्तं मुनिपुंगवाः । काण्डद्वयमतोऽन्यस्य कथमन्यद्गुणो भवेत् ॥ ७७ ॥

॥ ७४ ॥ ननु यथा प्रयाजविधिवाक्यशेषेण 'वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते' इत्यादिना श्रुतस्य फलस्य 'अङ्गे फलश्रुतिरर्थवादः' इति न्यायेनार्थवादत्वं तथा ज्ञानफलस्याप्यर्थवादत्वात्प्रयाजवदङ्गत्वं किं न स्यादित्यत आह–**कर्मप्रकरणेति** । प्रयाजादेर्हि दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितत्वेनाङ्गाङ्गिभावस्य निर्णीतत्वाद्युक्तं तदीयफलश्रवणस्यार्थवादत्वम् । न तथा ज्ञानं कस्यचित्कर्मणः प्रकरणे स्थितं येन फलश्रुतेरर्थवादता कल्प्येत । अतः प्रकरणभेदादपि ज्ञानस्य न कर्माङ्गत्वम् ॥ ७५ ॥**कर्म साध्यफलमिति** । यागहोमादिक्रियानिष्पाद्यत्वात्स्वर्गादेः[1] । **सिद्धफलमिति** । ज्ञानप्राप्यस्य फलस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मस्वरूपत्वादित्यर्थः ॥ ७६ ॥ **अधिकारिविभेदेनेति** । कर्मकाण्डे स्वर्गपुत्रादिफलरागयुक्तोऽधिकारी, वैराग्यादियुक्तस्तु ज्ञानकाण्डस्येत्यधिकारिविशेषमुपादाय प्रवृत्तत्वेनेत्यर्थः ॥ ७७ ॥

आदि ने निर्णय किया है । श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये प्रसिद्ध प्रमाण हैं जो अंग-अंगि के निर्णायक हैं । साक्षात् श्रुति कहीं भी ब्रह्मज्ञान को कर्मशेष नहीं कहती । ब्रह्मज्ञान में यह योग्यता भी नहीं कि वह कर्मशेष बने, बल्कि वह तो उसका विरोधी है । ब्रह्मज्ञान कहीं कर्म के साथ इकट्ठा कहा भी नहीं गया है जो सह-उच्चारणमात्र से अंगांगिभाव समझा जाये । क्रमशः उपदिष्ट वस्तुओं का यथाक्रम सम्बन्ध स्थान कहा जाता है । जैसे 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालम्' (तै. सं. २.२.१.१.) आदि दस इष्टियाँ क्रमशः विहित हैं और 'इन्द्राग्नी रोचनादिवः' इत्यादि मंत्र क्रमशः पठित हैं (ऋ.सं. ३.१२.९), अतः निश्चित होता है कि पहला मंत्र पहली इष्टि का अंग है, दूसरा दूसरी का इत्यादि । ऐसा कोई क्रम कर्म और ज्ञान में उपलब्ध नहीं । समाख्या अर्थात् नाम भी ऐसा कोई नहीं है जिससे प्रतीत हो कि ब्रह्मवेत्ता का अमुक कर्म है, जैसे आध्वर्यव–इस नाम से समझ आता है कि यह कर्मपूग अध्वर्यु के हैं । उल्टा 'यति' (महाना १०.६, मुं. ३.६, कैव. १.३), 'अत्याश्रमी' (श्वे. ६. २१) आदि समाख्यायें यही द्योतित करती हैं कि ज्ञानी कर्मत्यागी होते हैं । न आत्मज्ञान के बिना कर्म साकांक्ष रहता है और न कर्म के बिना आत्मज्ञान । अतः उभयाकांक्षारूप प्रकरण भी यहाँ अंगतावोधक नहीं यह बताते हैं–) कर्म के प्रकरण में स्थित उपासनादि ज्ञान ही कर्म का अंग स्वीकारा जाता है । ज्ञान तो उससे अलग प्रकरण में स्थित है । अतः यह उसका शेष हो यह संभव नहीं ॥ ७५ ॥ कर्म का फल साध्य वस्तु हुआ करती है । (साध्य अर्थात् उत्पाद्यादिचतुष्टयसम्बन्धी । कर्म से या कुछ पैदा किया जा सकता है या पाया जा सकता है या सुधारा जा सकता है या बिगाड़ा जा सकता है । अतः वह वस्तु जो या पैदा हो सकती है, पायी जा सकती है, सुधारी या बिगाड़ी जा सकती है, साध्य कहलाती है । वही कर्म का फल हो

---

१ उत्पत्त्यादिविशिष्टमेव फलं, न वस्तुमात्रमतिप्रसंगान्न च तन्मुक्तेर्विशेषणं समस्ति, ततो न मोक्षफलं कर्म ।

कर्माज्ञानस्य सद्भावे न तथा ब्रह्मवेदनम् । तथा सति कथं विप्रा ज्ञानकर्मसमुच्चयः ॥ ७८ ॥

अप्रकाशात्मकं कर्म स्वप्रकाशं तु वेदनम् । तथा सति कथं विप्रा ज्ञानकर्मसमुच्चयः ॥ ७९ ॥

ज्ञानकर्मणोः सहावस्थानासंभवादप्यङ्गाङ्गिभावो न युक्त इत्याह–**कर्माज्ञानस्येति** । सर्वानर्थप्रपञ्चस्य मूलभूतं प्रत्यगात्मनः पारमार्थिकपरशिवस्वरूपत्वाच्छादकमज्ञानं सविलासे तस्मिन्सत्येव कर्म तत्प्रसादेन स्वात्मानं लभते । अद्वैतज्ञानं तु तदज्ञानं निवर्तयदाविर्भवति[1] । तथाच ज्ञानकर्मणोः सहावस्थानविरोधादङ्गाङ्गिभावेन न समुच्चयो घटत इत्यर्थः ॥ ७८ ॥ **अप्रकाशात्मकमिति** । अज्ञानकार्यत्वात्कर्माप्रकाशात्मकम् । प्रकाशब्रह्मात्मकत्वाज्ज्ञानं प्रकाशात्मकम् । तथाच तमःप्रकाशयोरिवानयोः सहावस्थानानुपपत्त्या कथमङ्गाङ्गिभावेन समुच्चय इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

यह संभव है ।) इससे विपरीत ज्ञान का फल सिद्ध वस्तु होती है । (उत्पत्त्यादि से सम्बद्ध न हो सकने वाली स्वप्रकाश वस्तु यहाँ साध्यशब्दार्थ है ।) यों विपरीत फल वाला ज्ञान कर्म का अंग हो यह कैसे हो सकता है ? (द्वारतया भी अंगता संभव नहीं । कारण यह है कि द्वार वही होगा जो अगले को अर्थात् अंगी को संभव बनाये । आज्यावेक्षण सिद्धफलक होने पर भी क्योंकि अवेक्षित आज्य का होम संभव करता है, कारण कि अवेक्षित आज्य का ही होम विहित है, इसलिये कर्म का अंग हो सकता है । किंतु ब्रह्मज्ञान तो सकल क्रियाकारकादिका उपमर्दन कर देगा, फलतः कर्म असंभव हो जायेगा । अतः वैसे भी अंगता असंभव है । ॥ ७६ ॥ और भी, कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विभिन्न अधिकारियों को उद्देश्य कर प्रवृत्त हुए हैं । इससे भी कर्म व ज्ञान में अंगांगिभाव नहीं हो सकता । (कर्म में रागी का और ज्ञान में विरागी का अधिकार है । एक ही व्यक्ति दो काम करे तब तो कामों की अंगांगिता संभव भी है । यहाँ तो जो कर्म कर सकता है वह ज्ञान नहीं और जो ज्ञान पा सकता है वह कर्म नहीं कर सकता । अतः ज्ञान अंग हो कर्म का यह कैसे होगा ?) ॥ ७७ ॥ इतना ही नहीं, कर्म होता है जब अज्ञान हो और ज्ञान तब होता है जब अज्ञान न हो । इस स्थिति में ज्ञान और कर्म का सह-अवस्थानरूप समुच्चय क्योंकर हो सकेगा ? ॥ ७८ ॥ कर्म किसी वस्तु का भान कराने वाला नहीं जबकि ज्ञान स्वयं भानरूप है । अतः स्वरूपतः विरोधी वस्तुएँ शेषशेषी हो नहीं सकतीं जिससे ज्ञान व कर्म का सह-अवस्थान नामक समुच्चय असंभव है ॥ ७९ ॥ अतः

---

१ तत्त्वज्ञानाधिकरणक्षणेऽज्ञानानधिकरणत्वनियमांगीकारात् । तयोः सहभावः क्षणमपि चेन्न ज्ञानमज्ञानं निवर्तयेदिति भावः ।

तस्माद्वेदान्तभागस्तु ब्रह्मकाण्डसमाह्वयः । सर्वथा कर्मकाण्डस्य नैव शेषः कदाचन ॥ ८० ॥

एवं ज्ञानस्य कर्मशेषत्वानुपपत्तेस्तत्प्रतिपादको वेदान्तभागो न कर्मकाण्डशेष इत्युपसंहरति–तस्मादिति ॥ ८० ॥

निश्चित है कि ब्रह्मकाण्ड कहलाने वाला उपनिषद्भाग कभी भी कर्मकाण्ड का शेष नहीं है । (विविदिषावाक्य तो ऐसे समुच्चय में प्रमाण है जो सिद्धान्त में स्वीकृत है । 'यज्ञेन' शब्द की तृतीयाश्रुति इष्यमाण वेदन के प्रति कर्म की कारणता बताती है, अतः क्रमसमुच्चय सिद्ध होता है, सहसमुच्चय नहीं । 'विद्यां च अविद्यां च' आदि तो सर्वथा ही समुच्चयपरक नहीं हैं । यदि विद्या से ब्रह्मज्ञान अर्थ मान भी लें तो वहीं विद्या और अविद्या का फलभेद बताया है–अविद्या का फल है मृत्युशब्दित कल्मष का निरास और विद्या का अमृतत्व । अतः विभिन्नफलक होने से समुच्चय नहीं है । किं च 'तीर्त्वा' की क्त्वा-श्रुति स्पष्ट ही क्रमसमुच्चय में प्रमाण होगी । 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ. ४.४.९) अर्थात् 'उस मार्ग से पुण्य करने वाला तेजस्वी ब्रह्मवेत्ता जाता है'–यह वाक्य भी समुच्चय का लिंग नहीं है । 'तेन' शब्द से किस मार्ग का परामर्श है ? यदि देवयान का, तब तो यहाँ ब्रह्मवित्शब्द से अहंग्रहोपासक मानना पड़ेगा क्योंकि परब्रह्मवेत्ता का मार्गों से गमन नहीं होता यह 'उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो ३ नेति ? नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ. ३.२.११) आदि से निश्चित किया जा चुका है । यदि 'तेन' का अर्थ है ब्रह्मविद्यारूप मार्ग, तब पुण्यकृत् का अर्थ करना होगा 'जिसने पूर्व में पुण्य किये हैं' क्योंकि पुण्य करने वाला तो धूमादि या अग्न्यादि मार्ग पाता है यह 'अथ य इमे ग्रामे' (छा.५.१०.३) आदि में निश्चित हो चुका है इसलिये उसका ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग पाना अस्वीकार्य है । इसी वाक्य से पुण्यकर्ता के लिये भी मार्गोपदेश मानें तो स्पष्ट क्रम-समुच्चय होगा–पुण्यकारी ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग से परमप्राप्ति करता है, यह कहने का अर्थ ही है कि पहले पुण्य कर चुकता है, फिर ज्ञान पाता है जिससे परलाभ होता है । इसी वाक्य से यह भी मान लें कि पुण्य करते हुए ब्रह्मज्ञान पाता है और मार्गविधान भी मान लें तो वाक्यभेद स्फुट है । अन्य दोष तो हैं ही । किं च 'यज्ञरूप नौकायें अदृढ हैं' ऐसी निंदापूर्वक परब्रह्म के विज्ञान की प्राप्ति के लिये गुरु की शरण जाने का विधान मुंडक में मिलता है जो समुच्चय में असंगत होगा । साधन की निंदा अनुचित होती है । अन्यथा अन्य भी निन्दित रजतदानादि की साधनता का प्रसंग होगा । 'झूठ बोलना छोड़ने से, तप से, सम्यग्ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा प्राप्य है' (मुं. ३.१.५) आदि वाक्य भी सम्यग्ज्ञान का तप से साहचर्य कहते हुए समुच्चय में प्रमाण हैं ऐसा नहीं मान सकते । कारण यह है कि वहाँ, तप का अर्थ है मन व इंद्रियों की एकाग्रता । उस प्रसंग में पहले से ही ज्ञानमात्र की साधनता कही जा रही है–'यदा पश्यति.......महिमानमिति; यदा पश्य...तदा...परमं साम्यमुपैति' (३.१.२,३) और अनुपद ही कर्म की साधनता का निषेध किया है–'नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (३.१.८) । अतः मध्य में समुच्चय-विधान असंगत हो जायेगा । इतना ही नहीं साक्षात् प्रतिषेध भी श्रुति करती है ज्ञानेतर साधन का 'नान्यः पन्थाः', 'नास्त्यकृतः कृतेन; 'न कर्मणा न प्रजया' आदि । सब कर्मों का ससाधन संन्यास ज्ञान के अंगरूप से विहित होने से भी सहसमुच्चय संभव नहीं । यदि कर्मों को मोक्षफलक मानने का साहस करें तो भी विकल्प ही सिद्ध हो सकता है, समुच्चय नहीं; चाहे कर्म से मोक्ष पाओ, चाहे ज्ञान से । इस पक्ष के दोष मोक्षानित्यत्वप्रसंग आदि पूर्व में कहे जा चुके हैं । यह भी नहीं कर सकते कि ज्ञान के करने का ढंग–इतिकर्तव्यता–कर्म

तथैव कर्मभागश्च ब्रह्मकाण्डस्य सर्वथा ।
न साक्षादेव शेषः स्याज्ज्ञानं वेदान्तवाक्यजम् ॥ ८१ ॥
शान्तिदान्त्यादयः [1]सर्वे गुणा एव मुनीश्वराः ।
अङ्गानि ब्रह्मविद्यायाः श्रवणं करणं बुधाः ॥ ८२ ॥
विद्याफलोपकारि स्यान्मननं चिन्तनं तथा । ज्ञानमज्ञानविच्छित्तौ न सहायमपेक्षते ॥ ८३ ॥
तमोनिवृत्तौ सूर्यस्तु यथा नान्यदपेक्षते । तथाऽज्ञाननिवृत्तौ तु ज्ञानं नान्यदपेक्षते ॥ ८४ ॥

ननु तर्हि कर्मकाण्ड एव ज्ञानकाण्डस्य शेषो भवत्वित्यत आह–**तथैवेति** । परम्परया शेषत्वस्योपरिष्टाद्वक्ष्यमाणत्वात्तद्व्यावृत्तये विशिनष्टि–**न साक्षादिति** । ननु तदद्वितीयपरशिवस्वरूपज्ञानं केन प्रमाणेन जन्येत, कानि पुनस्तदुत्पत्त्यनुकूलव्यापारनिष्पादनेनाङ्गभावं भजन्ते, किंवा तदुत्पत्तौ करणं फलोपकार्यङ्गं च किमित्येतत्सर्वं क्रमेणाऽऽह–**ज्ञानं वेदान्तवाक्यजमित्यादिना** ॥ ८१ ॥ **शान्तिदान्त्यादय इति** । 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' इत्यादिश्रुत्युक्तमुपरत्यादिकमादिशब्दग्राह्यम् ॥ ८२ ॥ **विद्याफलोपकारीति** । करणभूतस्य वेदान्तवाक्यार्थविचारात्मकस्य श्रवणस्य जीवब्रह्मतादात्म्यगोचरविद्याजननलक्षणं यत्फलं तदुपकारकमित्यर्थः । अत एवाऽऽम्नायते–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति । सा च श्रुतिरेवमाचार्यैर्व्याख्याता–'आत्मदर्शनमुद्दिश्य मनननिदिध्यासनाभ्यां, फलोपकार्यङ्गाभ्यां श्रवणं नामाङ्गि विधीयते' इति ॥ ८३ ॥ विद्यायाः स्वोत्पत्तावेव करणोपकरणाद्यपेक्षा न तु [2]स्वकार्येऽन्यदपेक्षत इत्येवं दृष्टान्तेनोपपादयति–**तमोनिवृत्ताविति** ॥ ८४ ॥

है, क्योंकि ज्ञान कैसे किया जाये, इसका निरूपण शास्त्र ने ही कर दिया है–'शान्तः···पश्येत्; 'श्रोतव्यः' इत्यादि से, तथा कर्मों का ज्ञान के उपाय रूप से ही विविदिषावाक्य में विधान है । कारण होने से वे पूर्व में ही रह सकते हैं । पुनः ज्ञान के ढंगरूप से उपस्थित नहीं हो सकते । यह विषय विवरण में (पृ. ७११-७२० कल.) विस्तार से प्रतिपादित है । बृहद्भाष्य तथा वार्तिक में तो समुच्चय पक्ष की धज्जियाँ उड़ा दी गयी हैं, अतः वहीं से विशेष समझना चाहिये ।) ॥ ८० ॥ इसी तरह कर्मकाण्ड भी ब्रह्मकाण्ड का सर्वथा व साक्षात् शेष नहीं है । (ज्ञान के बिना कर्म स्वर्गादि स्वफल देने में समर्थ हैं ही अतः कहा 'सर्वथा' । विविदिषा द्वारा कर्मों की ज्ञानोपयोगिता स्वीकृत होने से कहा 'साक्षात्' ।) ॥ ८०½ ॥

ब्रह्मविद्या के अंग हैं वेदान्तवाक्यों से होने वाला ज्ञान तथा शम, दम आदि सब गुण । विद्या का साक्षात् करण श्रवण है ॥ ८१–८२ ॥ विद्या है फल जिसका उस श्रवण का उपकारी है मनन और चिन्तन (चिन्तन का अर्थ है श्रुत व मत विषय को पुनः पुनः दुहराना और उससे विरुद्ध विचार छोड़ना ।) ज्ञान स्वयं उत्पन्न होने के लिये कर्म, शमादि, मननादि व श्रवण की जरूरत रखता है किन्तु अज्ञान को नष्ट करने के लिये किसी की सहायता नहीं चाहता । (व्यास जी ने अग्नीन्धनाद्यधिकरण (३.४.५.२५) में

१ अमानित्वादयोऽद्वेष्टृत्वादयश्च स्मार्ता गुणा इह ज्ञेयास्तद्वतएव ज्ञानोदय इति वार्तिकाचार्यैरुक्तत्वात् । २ घ. "र्ये वेदनेऽन्य" ।

क्षणध्वंसिक्रियायास्तु धर्माधर्मात्मकं फलम् ।

न ज्ञानं[१] तेन विद्याया न साक्षात्कर्म साधनम् ॥ ८५ ॥

अधर्मस्य फलं साक्षान्नरकप्राप्तिरेव हि ।

न ज्ञानं तेन विद्याया नाधर्मः साधनं भवेत् ॥ ८६ ॥

धर्मस्य पापविच्छित्तिद्वारा शुद्धिस्तु मानसी ।

फलं न ब्रह्मविज्ञानं तेन धर्मो न साधनम् ॥ ८७ ॥

कर्मणा शुद्धचित्तस्य संसृतेर्दोषदर्शनम् ।

पुनर्विरक्तिः संसारान्मोक्षेच्छा जायते तथा ॥ ८८ ॥

तस्मात्कर्म प्रनाड्यैव ज्ञानशेषं न चान्यथा । अत एवोक्तमार्गेण तयोः समसमुच्चयः ॥ ८९ ॥

सुतरामेव नास्त्येव सम्यगुक्तं मयाऽनघाः । अतश्चान्योन्यसंबन्धः काण्डयोर्नैव विद्यते ॥ ९० ॥

श्रवणादिवत्कर्मणोऽपि प्रसक्तं विद्योत्पत्तिसाधनत्वं निराकरोति–क्षणध्वंसीत्यादिना ॥ ८५–८७ ॥ एवं साक्षाद्विद्यासाधनत्वं कर्मणो निराकृत्य 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादिश्रुत्या विहितं परम्परया तत्साधनत्वमाह– कर्मणा शुद्धचित्तस्येति ॥ ८८ ॥ उक्तमार्गेणेति । विज्ञानस्य कर्मशेषत्वनिराकरणप्रस्तावे 'कर्माज्ञानस्य सद्भाव' इति यदुक्तं तेनेत्यर्थः ॥ ८९–९५ ॥

यह स्थापित किया है । अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने प्रमाणमात्र का यह नियम स्वीकारा है कि वे अपना कार्य करने में किसी सहायता को नहीं चाहते–'विद्या, स्वकार्ये नेतिकर्तव्यतापेक्षा, प्रमाणत्वाद् अबोधनिवृत्तिफलत्वाद्वा, (पृ. ९६२ प्रकटार्थ.) । इससे समुच्चय व्यर्थ है यह स्पष्ट है ।) ॥ ८३ ॥ जैसे अंधेरा हटाने के लिये सूर्य को अपने से भिन्न किसी की आवश्यकता नहीं, वैसे ही अज्ञान को निवृत्त (बाधित) करने के लिये ज्ञान को किसी की आवश्यकता नहीं ॥ ८४ ॥

अनित्य कर्म का फल पुण्य या पाप (और तद्द्वारा सुख या दुःख) ही होता है । ज्ञान किसी कर्म का साक्षात् फल नहीं । अतः कर्म ज्ञान का साक्षात् साधन नहीं ॥ ८५ ॥ अधर्म का फल है सीधे नरकप्राप्ति, ज्ञान उसका फल नहीं (क्योंकि ऐसा कोई शास्त्रवचन नहीं जो पाप या अधर्म को ज्ञान-साधन बताये) । अतः विद्या का उपाय अधर्म है, यह नहीं मान सकते । (उल्टा 'धर्म्यम्' (गी. ९.२) आदि समाख्या से अधर्म की ज्ञानसाधनता विरुद्ध होगी ।) ॥ ८६ ॥ धर्म का कार्य है पापों का क्षय कर मन को शुद्ध करना, ब्रह्मज्ञान पैदा करना नहीं । अतः धर्म भी साक्षात् साधन ज्ञान का नहीं है ॥ ८७ ॥

---

१ ज्ञानं साक्षान्न फलमिति साक्षाच्छब्द इहापि युज्यते । कर्म विविदिषोपहारमुखेनैव ज्ञानस्य साधनम् ।

न्यायाभासं महामोहादवलम्ब्य नराधमाः । विप्लावयन्ति वेदार्थं नैतेषां मतिरुत्तमा ॥ ९१ ॥

प्रत्युत भ्रान्तिविज्ञानाद्वेदान्तार्थस्य बाधनात् । सदा संसारवर्तित्वमेव तेषां न संशयः ॥ ९२ ॥

अहो मोहस्य माहात्म्यं सर्ववेदार्थवर्जिताः । परिभ्रमन्ति वेदार्थादन्यत्रैव विचेष्टिताः ॥ ९३ ॥

वेदानशेषानवधार्य मर्त्यो मदुक्तवेदान्तविचारमार्गम् ।

उपैति पुण्येन च शंभुभक्त्या शिवप्रसादेन न चेतरेण ॥ ९४ ॥

अविरोधः कथितो मया द्विजाः कृपयैव श्रुतिगोचरस्तु वः ।

मतिरेषा मनुजस्य मुक्तिदा विपरीता मतिरस्य नाशिनी ॥ ९५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे वेदानामविरोधनिरूपणं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इति श्रीसूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे वेदानामविरोधनिरूपणं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

कर्मफलस्वरूप जिसका चित्त शुद्ध हो चुकता है उसे संसार में दोषदृष्टि होती है जिससे वह विरक्त होकर संसार से छूटना चाहता है ॥ ८८ ॥ अतः कर्म विविदिषा की प्रणाली से (द्वार से) ही ज्ञान का शेष बनता है, साक्षात् नहीं । इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञान व कर्म का समसमुच्चय (सह-अवस्थान होकर फलोत्पादकत्व) हो यह सर्वथा असंभव है अतः दोनों काण्डों का ऐसा कोई संबंध नहीं है जिससे ज्ञानकाण्ड का विरोध कर्मकाण्ड कर सके ॥ ८९–९० ॥ जो लोग वेद के अर्थ में विरोध दिखाते हैं वे नीच मनुष्य तुच्छ बुद्धि वाले हैं अतएव युक्ति की तरह प्रतीत होने वाली बातों से कोमलमति वालों को ही संशयाविष्ट कर पाते हैं, विचारकों को नहीं ॥ ९१ ॥ वेदान्तसिद्ध अद्वैत अर्थ की काट करने वाले भ्रमज्ञान से उपेत होने से ऐसे लोग सदा संसारचक्र में ही परिभ्रमण करते रहते हैं ॥ ९२ ॥ अहो ! मोह की कितनी सामर्थ्य है कि लोग सारे वेद के अर्थ को न समझकर वेदार्थ से भिन्न बातों को ही जानने की चेष्टा करते हुए संसरण करते रहते हैं ॥ ९३ ॥ समस्त वेद के अर्थ का निर्धारण कर मेरे द्वारा बताये वेदान्त विचारमार्ग को वही मनुष्य प्राप्त करता है जिसका कुछ पुण्य हो और जिसने शंभुभक्ति की हो । शिव कृपा से ही इस मार्ग में गति मिलती है, अन्यथा नहीं ॥ ९४ ॥ हे ब्राह्मणों! इस अध्याय में मैंने कृपापूर्वक अविरोध का प्रतिपादन किया है और आप लोगों ने सुन भी लिया है । यह निश्चय कि वेदार्थ अविरुद्ध है, मनुष्य को मोक्ष प्रदान करता है और इससे विपरीत निश्चय नाश का कारण बनता है ॥ ९५ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिकरं नृणाम् ।

मया नोक्तमितः पूर्वमतिगुह्यमनुत्तमम् ॥ १ ॥

कायिकं वाचिकं चैव मानसं च तथैव च ।

त्रिविधं कर्म कर्तव्यं सर्वसिद्ध्यर्थमास्तिकैः ॥ २ ॥

सर्वसिद्धिकरं कर्म कायिकं बहुधा स्मृतम् ।

लिङ्गे शिवार्चनं चैव रुद्राक्षाणां च धारणम् ॥ ३ ॥

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालोक्तैश्च सप्तभिः।

त्रियायुषेण मन्त्रेण भस्मना सजलेन च ॥ ४ ॥

सर्वाङ्गोद्धूलनं चैव त्रिपुण्ड्रस्य च धारणम् । शिवस्योत्सवसेवा च शिवक्षेत्रेषु वर्तनम् ॥ ५ ॥

वाचिकं कर्म विप्रेन्द्राः सर्वसिद्धिकरं नृणाम् । चिन्मन्त्रस्य जपस्तद्वत्पदाख्यस्य जपस्तथा ॥ ६ ॥

प्रणवस्य जपस्तद्वद्धंसाख्यस्य मनोर्जपः । षडक्षरस्य मन्त्रस्य सावित्र्याश्च जपस्तथा ॥ ७ ॥

एवं कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा परम्परया ज्ञानशेषत्वमुक्तम् । अथ किं तत्कर्मेति तद्वक्तुं प्रतिजानीते–अथात इति ॥ १–५ ॥ चिन्मन्त्रस्येति । संविद्रूपिण्याः परशक्तेर्वाचको हृल्लेखामन्त्रश्चिन्मन्त्रः । पदाख्यस्येति । मातृकोत्पत्तौ 'अपदं पदमापन्नमि'त्यादिना चतुर्थेऽध्याये प्रतिपादितत्वात्पदाख्योऽयं मातृकामन्त्रः ॥ ६–११ ॥

सर्वसिद्धि करने वाले धर्मों का विचार नामक चालीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं उन धर्मों को बताने जा रहा हूँ जो सर्वोत्तम पुरुषार्थ की प्राप्ति में सहायक बनते हैं । यह श्रेष्ठ रहस्यभूत विषय इससे पहले नहीं बताया है ॥ १ ॥ सर्वसिद्धि के लिये आस्तिकों को तीन तरह के कर्म करने चाहिये–कायिक, वाचिक और मानसिक ॥ २ ॥ सर्वसिद्धिप्रद कायिक कर्म कई प्रकार का बताया गया है । शिवलिंग में महादेव की अर्चना, रुद्राक्ष धारण करना, 'अग्निरिति भस्म' आदि जाबालोक्त मंत्रों से तथा 'त्र्यायुषम्' आदि मंत्र से जलसहित भस्म का सारे शरीर में उद्धूलन और त्रिपुण्ड्र धारण करना, शिवोत्सवों में शारीरिक सेवा करना तथा शिवक्षेत्रों में रहना–ये उत्तम कायिक कर्म हैं ॥ ३-५ ॥ सर्वसाधक वाचिक कर्म नानाविध है–चिन्मात्रवाचक शब्दों का जप, मातृका मंत्र का जप, प्रणवजप, हंसनामक मंत्र का जप, षडक्षरजप, गायत्रीजप, वेदों का पारायण, वेदांगों का पाठ–ये श्रेष्ठ वाचिक कर्म हैं ॥ ६–७½ ॥ सर्वसिद्धि करने वाले मानस कर्म हैं–महादेव व साक्षात् महादेवी का स्मरण, वेदान्त

वेदपारायणं चैव वेदाङ्गानां च कीर्तनम् । मानसं कर्म विप्रेन्द्राः सर्वसिद्धिकरं नृणाम् ॥ ८ ॥
महादेवस्मृतिः साक्षान्महादेव्याः स्मृतिस्तथा । वेदान्तार्थविचारश्च वेदादन्यत्र विस्मृतिः ॥ ९ ॥

विरक्तिः सर्वलोकेभ्यो वेदार्थे निश्चयोऽचलः ।
स्मार्ते पौराणिकेऽप्यर्थे निश्चयश्च तथैव च ॥ १० ॥
शिवस्योत्कर्षताबुद्धिः शिवोऽहमिति भावना ।
एते धर्मा विशिष्टाः स्युः सर्वसिद्धिकरा अपि ॥ ११ ॥
एभ्योऽतिरिक्ता ये धर्माः श्रौतस्मार्तास्तथाऽपरे ।
ते तु वेदविदां मुख्याः सर्वसिद्धिकरा न हि ॥ १२ ॥

महादेवस्तु सर्वात्मा सर्ववस्त्ववभासकः । सर्वानन्दकरः पूर्णः सर्वदेवोत्तमोत्तमः ॥ १३ ॥

तस्यासाधारणा[1] धर्मा एत एव न चापरे ।
तस्मादेते हि सर्वेषां सर्वसिद्धिकरा नृणाम् ॥ १४ ॥
सत्तासिद्धिश्च सर्वेषां महादेवप्रसादतः ।
विष्ण्वादीनामतो धर्माः पूर्वोक्ताः सर्वसिद्धिदाः ॥ १५ ॥

मुखतो मोक्षदा ह्येते पृष्ठतः सर्वसिद्धिदाः । शीघ्रसिद्धिकराश्चैव शिवासाधारणत्वतः ॥ १६ ॥

यद्यपि शिवार्चनभस्मोद्धूलनार्चिन्मन्त्रपदमन्त्रजपादिकमात्मविद्याहेतुत्वेन प्रागेव प्रतिपादितं तथाऽपि सर्वसिद्धिकरत्वमेतस्यैव नान्येषां श्रौतस्मार्तानां कर्मणामित्येतद्दर्शयितुं पुनः प्रतिपादनम् । तदाह– एभ्योऽतिरिक्ता इत्यादिना ॥ १२–२५ ॥

के अर्थ का विचार, अवैदिक बातें भूल जाना, सारे लोकों से वैराग्य, वेद के अर्थ का दृढ निश्चय, स्मृतियों व पुराणों के अर्थ का निश्चय, शिव की सर्वश्रेष्ठता की समझ, 'मैं शिव हूँ' ऐसी भावना करना–ये श्रेष्ठ मानस धर्म हैं ॥ ८–११ ॥

हे वेदज्ञों में मुख्य मुनियों ! इनसे अतिरिक्त जो कर्तव्य शास्त्रों में प्रतिपादित हैं वे सर्वसाधक नहीं (अपना-अपना फल ही देते हैं) ॥ १२ ॥ महादेव सबके आत्मा हैं, सब वस्तुओं को वे ही प्रकाशित करते हैं, सबको आनंदित करने वाले, पूर्ण एवं सब देवताओं से श्रेष्ठ वे ही हैं ॥ १३ ॥ उनसे सम्बद्ध विशेष धर्म ये ही हैं, अन्य नहीं । अतः ये धर्म ही सबको सर्वसिद्धि करा सकते हैं ॥ १४ ॥ विष्णु आदि देवतान्तरों की सत्ता महादेव की कृपा से ही है । अतः पूर्वोक्त महादेव सेवारूप धर्म ही सर्वोत्तम फल के उपाय हैं ॥ १५ ॥ ये धर्म मुख्यतः मोक्ष देते हैं और आनुषंगिक रूप से सभी सिद्धियाँ प्रदान करते हैं । शिव से विशेष संबंध वाले होने से ये अति शीघ्र फल देते हैं ॥ १६ ॥ जैसे शिव के समान

---

१ ग. च. "तस्य सा" ।

शिवेन सदृशो देवो यथा विप्रा न विद्यते ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ १७ ॥
शिवज्ञानसमं ज्ञानं यथा नास्ति द्विजर्षभाः ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ १८ ॥
वेदमानसमं मानं यथा नास्ति द्विजर्षभाः ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ १९ ॥
भूभिदेवसमो मर्त्यो यथा नास्ति द्विजर्षभाः ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २० ॥
मेरुणा पर्वतस्तुल्यो यथा लोके न विद्यते ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २१ ॥
अन्नपानसमं किंचिन्न हि देहस्थितौ यथा ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २२ ॥
यथा भागीरथीतुल्या नदी लोके न विद्यते ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २३ ॥
शिवस्थानसमं स्थानं यथा लोके न विद्यते ।
तथैवैभिः समा धर्मा न विद्यन्ते श्रुतौ स्मृतौ ॥ २४ ॥
सर्वसिद्धिकरा मुनिपुंगवा [1]एत एव सदैव न चापरे ।
चोदितेषु न संशयकारणं केवलं कृपयैव मयोदितम् ॥ २५ ॥

इति श्रीसूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सर्वसिद्धिकरधर्मविचारो नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इति श्री सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे सर्वसिद्धिकरधर्मविचारो नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

कोई देव नहीं है वैसे इनके समान कोई धर्म भी नहीं ॥ १७ ॥ जिस प्रकार शिवज्ञान के तुल्य कोई ज्ञान नहीं है उसी प्रकार इन धर्मों से तुलना करने लायक कोई धर्म श्रुति या स्मृति में विहित नहीं ॥ १८ ॥ जैसे वेदरूप प्रमाण के समान कोई प्रमाण नहीं, भूसुर के समान कोई मनुष्य नहीं, मेरु के तुल्य कोई पर्वत नहीं, अन्न-जल के समान कोई देहस्थिति का कारण नहीं, गंगा के समान कोई नदी नहीं, शिवस्थान के तुल्य कोई तीर्थ नहीं, वैसे इन धर्मों के समान कोई धर्म शास्त्र में नहीं बताया गया है ॥ १९–२४ ॥ केवल कृपा कर जो मैंने आपको ये श्रेष्ठ धर्म बताये हैं ये ही सर्वसिद्धि करते हैं, अन्य नहीं । इस विषय में संदेह का कोई कारण नहीं ॥ २५ ॥

---

१ ग. गतदेव ।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच– अथातः संप्रवक्ष्यामि पातकानि समासतः ।
शृणुत श्रद्धया सार्धं परिहाराय सुव्रताः ॥ १ ॥
पातकानि समासेन दश प्रोक्तानि सूरिभिः । तारतम्यक्रमेणैव तेषामस्त्येव लाघवम् ॥ २ ॥
प्रथमं पातकं प्रोक्तं महापातकसंज्ञितम् । द्वितीयमतिपापाख्यं ततः प्रासङ्गिकाभिधम् ॥ ३ ॥
चतुर्थं पातकं प्रोक्तं पञ्चमं चोपपातकम् । [1]जातिभ्रंशकरं षष्ठं संकीर्णकरणं ततः ॥ ४ ॥
अपात्रीकरणं पश्चान्नवमं तु मलावहम् । प्रकीर्णकसमाख्यं तु दशमं पातकं द्विजाः ॥ ५ ॥
[2]प्रतिषिद्धसुरापानं ब्रह्महत्या तथैव च । ब्राह्मणानां सुवर्णस्य हरणं मुनिपुंगवाः ॥ ६ ॥
जननीगमनं चैव संयोगस्तैः सह द्विजाः । महान्ति पातकान्याहुर्मुनयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ७ ॥
असाक्षान्मातृगमनं स्वपुत्रीगमनं तथा । स्नुषाया गमनं तद्वद्भगिनीगमनं तथा ॥ ८ ॥
शिवस्य मूर्तिचलनं विष्णोश्च ब्रह्मणस्तथा । अतिपातकमित्याहुर्मुनयो वेदवित्तमाः ॥ ९ ॥

एवं विद्योत्पत्त्यनुकूलं कायिकवाचिकमानसभेदेन त्रिधाऽवस्थितं कर्म प्रतिपाद्य, तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकानां पापानाम् अनिर्ज्ञातस्वरूपाणां परिहाराऽसम्भवात् तत्परिहाराय तत्स्वरूपं वक्तुमारभते–अथात इति । परिहारायेति परित्यागार्थमित्यर्थः । अत एवोक्तं शाबरभाष्ये 'अधर्मोऽपि विजिज्ञास्यः परिहाराय' इति ॥ १–९ ॥

पातक-विचार का कथन नामक इकतालीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं पापों के विषय में बताता हूँ ताकि व्यक्ति सजग रहे कि उससे पाप न हो और यदि करता हो तो छोड़ दे ॥ १ ॥ संक्षेप में, पातक दस बताये गये हैं जिनका क्रमशः तारतम्य है । उत्तरोत्तर पाप कम दोष वाला है ॥ २ ॥

सबसे अधिक दोष वाले को महापातक कहते हैं । दूसरे का नाम है अतिपातक, तीसरे का प्रासंगिक पाप, चौथे का पातक, पाँचवें का उपपातक, छठे का जातिभ्रंशकर पाप, सातवें का संकीर्णकरण, आठवें का अपात्रीकरण, नवें का मलावह-पाप और दसवे का प्रकीर्ण पाप है ॥ ३–५ ॥

निषिद्ध सुरा पीना, ब्राह्मण की हत्या करना, ब्राह्मणों का सोना हर लेना, माता से संभोग करना तथा इनमें से किसी कर्म को करने वालों से मेल-जोल रखना–ये महापातक बताये गये हैं ॥ ६–७ ॥ अतिपातक ये हैं–जो साक्षात् (सगी) माता न हो किंतु माता लगती हो उससे संभोग करना, अपनी पुत्री से, अपने पुत्र की पत्नी से तथा अपनी बहन से संभोग करना, शिव विष्णु या ब्रह्मा की प्रतिष्ठित मूर्ति को उसके स्थान से हटाना । (ब्रह्मवैवर्त पुराण में सोलह प्रकार की मातायें कही गयी हैं–स्तनपान कराने वाली, गर्भ से जन्म देने वाली, भोजन देने वाली, गुरुपत्नी, अपने इष्टदेव की पत्नी, पिता की पत्नी, कन्या (आठ वर्ष या उससे छोटी बच्ची), अपनी माता से ही उत्पन्न बहन, पुत्र की पत्नी, अपनी पुत्री, नानी, दादी, भाभी, मासी, बुआ और मामी । अन्यत्र इन छह को माता के समान ही बताया है–मासी, मामी, चाची, बुआ, सास और भाभी । ब्रह्मवैवर्त में ही अन्यत्र कहा गया है कि जिसे 'माता' इस प्रकार व्यवहार में सम्बोधित किया जाता है वह माता के तुल्य ही है और उससे कभी भोग नहीं करना चाहिये–'मातरित्येव शब्देन यां च संभाषते नरः । सा मातृतुल्या सत्येन धर्मः साक्षी ।' यहाँ इन सभी को सगी से अतिरिक्त माताओं में

---

१ घ. "तिभ्रष्टक" । २ 'अन्नविकारसुरयाएव त्रैवर्णिकानां प्रतिषेधः मधुसीध्वोस्तु क्षत्रियवैश्ययो नैव प्रतिषेध' इति तन्त्रवार्तिके (१.३.७.पृ १३१–१३२ आ. आ.) निर्धारितम् । तत्र मध्वादिकृतसुरा माध्वी, इक्षुरसविकारभूता सीधुः ।

राजन्यवैश्ययोर्हिंसा यज्ञसंबन्धिनस्तथा । रजस्वलाया गर्भिण्या आर्तायाश्च वधस्तथा ॥ १० ॥
अविज्ञातस्य गर्भस्य शरणागतदेहिनः । कौटसाक्ष्यं सुहृद्धिंसा ब्राह्मणस्य तपोधनाः ॥ ११ ॥
पृथिवीहरणं, तद्वत्पितृव्यस्य तथैव च । मातामहस्य विप्रेन्द्रा मातुलस्य नृपस्य च ॥ १२ ॥
भार्याभिगमनं तद्वत्प्राहुः प्रासङ्गिकाभिधम् । स्वमातुः सोदरायास्तु गमनं तद्वदेव तु ॥ १३ ॥
मातृष्वसुर्मातृसख्युर्दुहितुर्गमनं तथा । मातुलानीस्नुषाश्वश्रूगमनं च तथैव च ॥ १४ ॥
त्रिपुण्ड्रधारणाभावो भूत्याऽनुद्धूलनं तथा । पुण्ड्रान्तरस्य विप्रेन्द्रा धारणं तद्वदेव तु ॥ १५ ॥
पाशाङ्कुशगदादण्डशङ्खचक्रादिभिर्द्विजाः । अङ्कनं विग्रहे सन्तः पातकं प्राहुरास्तिकाः ॥ १६ ॥
मातापित्रोः स्वसुश्चैव गमनं श्रोत्रियस्य च ।
ऋत्विगध्यापकस्यापि मित्रस्य च तथैव च ॥ १७ ॥
भार्याभिगमनं तद्वत्स्ववधूसख्युरास्तिकाः । स्वगोत्रायास्तथा विप्रकन्यकायास्तथैव च ॥ १८ ॥
चतुर्थाश्रमनिष्ठाया निक्षिप्तायास्तथैव च ।
पाषण्डेषु च निष्ठानां संबन्धो द्विजपुंगवाः ॥ १९ ॥
स्वस्यैव शरणं प्राप्तस्त्रिया गमनमेव च । दुर्गादित्यादिदेवानां चालनं विग्रहस्य च ॥ २० ॥

यज्ञसंबन्धिन इति । प्रवृत्तयज्ञस्य दीक्षितस्येत्यर्थः ॥ १०–२४ ॥

गिना नहीं समझना चाहिये । क्योंकि आगे तत्तत् स्त्रियों के संभोग को पृथक् गिना जायेगा । उनसे बची व ऊपर गिनायी स्त्रियाँ समझ लेनी चाहिये ।) प्रासंगिक पाप हैं—क्षत्रिय और वैश्य की हिंसा, जिसने यज्ञ करना प्रारम्भ कर रखा हो उसकी हिंसा, रजस्वला की, गर्भिणी की और दुःखी स्त्री की हिंसा, जिसे जानते ही नहीं उसकी हिंसा, गर्भस्थ शिशु की हिंसा, शरणागत की हिंसा, झूठी गवाही, मित्र की हिंसा, ब्राह्मण की ज़मीन दबोच लेना, चाचा की, नाना की, मामा की और राजा की पत्नियों से संभोग करना ॥ १०–१२$^1/_2$ ॥ इन्हें पातक कहते हैं—अपनी माता की सगी बहन से, मौसी की पुत्री से, माता की सखी की पुत्री से तथा ममेरी बहन की सास से संभोग करना, त्रिपुण्ड्र न लगाना, उद्धूलन न करना, ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि लगाना, पाश अंकुश गदा दण्ड शंख चक्र आदि का शरीर पर अंकन कराना (गर्म लोहे आदि से दगवाना) ॥ १३–१६ ॥ मुख्य उपपातक ये हैं—माता व पिता की किसी बहन से, वेदज्ञ की, ऋत्विक् कर्म करने वाले अध्यापक की, और मित्र की पत्नियों से, अपनी पत्नी की सखियों से, अपने समान गोत्र वाली स्त्री से, (अपने से न व्याही) वेदपाठी की पुत्री से, संन्यासधर्म का पालन करने वाली स्त्री से, किसी के द्वारा भरोसे पर अपने पास छोड़ी स्त्री से तथा अपनी शरण आयी स्त्री से सम्भोग करना, पाखण्ड करने वालों से सम्बन्ध रखना और दुर्गा, सूर्य आदि देवताओं की प्रतिष्ठित मूर्तियों को उनके स्थानों से हटाना । (माता की सगी बहन से संभोग पातक में आ चुका होने से माता की अन्य बहनें यहाँ समझनी चाहिये । पिता की सभी बहनें समझ लेनी चाहिये ।) ॥ १७–२०1/2 ॥ गौण उपपातक इन्हें

मुख्योपपातकं प्राहुर्महान्तो वेदवित्तमाः । असत्यभाषणं तद्वत्पैशुन्यं राजगामि च ॥ २१ ॥
गुरोश्चालीकनिर्बन्धो वेदनिन्दा तथैव च ।
अधीतायाः श्रुतेस्त्यागः स्वाग्नेस्त्यागस्तथैव च ॥ २२ ॥
पितृमातृस्वसृत्यागः स्वभार्यात्याग एव च । अभक्ष्यभक्षणं तद्वत्परार्थग्रहणं तथा ॥ २३ ॥
परदारनिषेवा च तथाऽयाज्यस्य याजनम् । भृतकाध्यापनं तद्वद्भृताध्ययनमेव च ॥ २४ ॥
[1]सर्वाधिकारकरणं महायन्त्रप्रवर्तनम् । द्रुमगुल्मलतादीनां हिंसया जीवनं तथा ॥ २५ ॥
अभिचारक्रिया तद्वत्स्वस्यैव पचनं तथा । अनाहिताग्निना तद्वद्ब्रह्मचर्यविवर्जनम् ॥ २६ ॥
यज्ञस्याकरणं तद्वत्पुत्रानुत्पादनं तथा । असच्छास्त्राभिगमनं नास्तिक्यं च कुशीलता ॥ २७ ॥
मद्यपस्त्रीनिषेवा च प्राहुर्गौणोपपातकम् । विप्राणां रोगकारित्वमघ्रेयघ्रातिमेव[2] च ॥ २८ ॥
सुराघ्रातिं तथा जैह्म्यं पशौ पुंसि च मैथुनम् ।
जातिभ्रंशकरं प्राहुर्धार्मिका वेदपारगाः ॥ २९ ॥
ग्राम्यारण्यपशूनां तु हिंसनं मुनिपुंगवाः । संकीर्णकरणं प्राहुः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥ ३० ॥
निन्दितेभ्यो धनादानमन्नदानं तथैव च । कुसीदजीवनं चैव वाणिज्यमनृतोक्तिता ॥ ३१ ॥
शूद्रस्य याजनं प्राहुरपात्रीकरणात्मकम् । पक्षिणां घातनं चापि जलस्थलनिवासिनाम् ॥ ३२ ॥

महायन्त्रप्रवर्तनमिति । इक्षुयन्त्रादिप्रवर्तनमित्यर्थः ॥ २५–४१ ॥

जानना चाहिये—झूठ बोलना, राजा तक चुगली पहुँचाना, अपने गुरु पर झूठा दोषारोपण, वेद की निन्दा करना, पढ़ी हुई श्रुति का त्याग करना, आहित अग्नि का (अविहित ढंग से) त्याग करना, पिता माता बहन व पत्नी का (अवैध) त्याग करना, शास्त्र द्वारा निषिद्ध खाद्यों को खाना, दूसरे का धन हथिया लेना, अन्य की पत्नी से संभोग करना, जिसे यज्ञ करने का अधिकार नहीं उसका यज्ञ कराना, वेतन लेकर पढ़ाना, वेतन देकर पढ़ना, सर्वाधिकार करना (सोने आदि की खानों को चाहे राजाज्ञा से ही अपने अधिकार में ले लेना), महायन्त्रों को चलाना (ईख का रस, तेल आदि निकालने के यंत्र महायंत्र कहे जाते हैं, अथवा बाँध आदि बनाना महायन्त्र प्रवर्तन है), पेड़, झाड़ी, लता आदि की हिंसा से (इनको काटकर) आजीविका चलाना, अभिचार करना (मंत्र, यज्ञ आदि से किसी को मारना अभिचार है), केवल अपने लिये ही भोजन बानाना (रोगी आदि के लिये जब असमय भोजन बनाना हो उस परिस्थिति को छोड़कर सदा देवता आदि के उद्देश्य से भोजन बनाना उचित है), जिसने अब तक अग्न्याधान न किया हो ऐसे ब्रह्मचारी द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन न करना, अपने लिये विहित यज्ञ न करना, गृहस्थ होकर पुत्र उत्पन्न न करना (अर्थात् तदनुकूल यत्न न करना), असच्छास्त्रों में अभिरुचि रखना, वेद में अश्रद्धा करना, बुरा शील रखना और शराब पीने वाली स्त्री से सम्बंध रखना ॥ २१—२७½ ॥ जातिभ्रंशकर पाप ये हैं—ब्राह्मणों को रोगी बनाना, जिसे सूँघना शास्त्र में निषिद्ध है उसे सूँघना, सुरा को सूँघना, (लहसुन, विष्ठा आदि नहीं सूँघने योग्य वस्तुए हैं) कुटिलता, पशु से या (पुरुष द्वारा) पुरुष से मैथुन करना । ॥ २८—२९ ॥ ग्राम्य व

---

१ ग. ङ. च. "र्वाकाराधिकारं च म" । २ क. "तिरेव ।

मद्यस्पृष्टस्य भुक्तिं च प्राहुः सन्तो मलावहम् ।

अनुक्तानि समस्तानि प्रकीर्णकसमाह्वयम् ॥ ३३ ॥

प्रवदन्ति हि विद्वांसः सत्यधर्मपरायणाः । अदण्ड्यदण्डनं चैव युद्धे भीत्या पलायनम् ॥ ३४ ॥

क्षत्रियस्य विशेषेण महापातकमुच्यते । वञ्चनं च तुलामाने महापापं विशो भवेत् ॥ ३५ ॥

मांसस्य विक्रयं चैव सुराविक्रयणं तथा ।

ब्राह्मणीगमनं चापि पयःपानं तु कापिलम् ॥ ३६ ॥

महापापं मया प्रोक्तं शूद्राणां च विशेषतः । संकराणां द्विजद्वेषो महापातकमुच्यते ॥ ३७ ॥

पुरुषाणां तथा स्त्रीणां समानं पातकं स्मृतम् । नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ॥ ३८ ॥

भर्तुः शिष्यस्य गमनं मत्या भर्तुर्गुरोरपि ।

विशेषेण स्त्रियाः सन्तः पातकं प्रवदन्ति हि ॥ ३९ ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन श्रुतिस्मृत्युदितं विना ।

यत्किंचिदपि कुर्वाणः पातकी स्यान्न संशयः ॥ ४० ॥

जंगली पशुओं को मारने का नाम ही संकीर्णकरण ॥ ३० ॥ अपात्रीकरण से ये समझे जाते हैं—निन्दित व्यक्तियों से धन लेना, निन्दितों को अन्न देना, सूदखोरी, व्यापार, झूठ बोलना और शूद्र का यज्ञ कराना । (यद्यपि वाणिज्य वैश्य की स्वाभाविक वृत्ति बतायी है तथापि उसे पाप गिनना असंगत नहीं । वृत्ति होने से जैसे बहेलिये आदि का पशुहिंसा कर्म अपाप नहीं होता वैसे समझना चाहिये । अत एव वैश्य को पापयोनि कहा है । अथवा निषिद्ध व्यापारों को पाप समझ सकते हैं ।) ॥ ३१½ ॥ मलावह पाप ये हैं—पक्षियों को, जलचरों व स्थलचरों को मारना, और मद्य से स्पर्श की हुई वस्तु खाना ॥ ३२½॥ यहाँ बताये पापों के अतिरिक्त सब पाप प्रकीर्ण जानने चाहिये ॥ ३३ ॥

सत्यधर्म पर निष्ठा वाले विद्वान् लोग क्षत्रिय के लिये विशेष महापाप इन दो को बताते हैं—जो दण्ड देने योग्य न हो उसे दण्ड देना और युद्ध में भय से भाग जाना ॥ ३४½ ॥ वैश्य का विशेष महापाप है तोलने में ठगी करना ॥ ३५ ॥ शूद्र के विशेष महापाप हैं—मांस बेचना, सुरा बेचना, ब्राह्मणी से संभोग करना और कपिला गाय का दूध पीना (भूरी गाय को कपिला गाय कहते हैं) ॥ ३६½ ॥ संकर जाति वालों का विशेष महापाप है द्विजों से द्वेष करना ॥ ३७ ॥ पूर्वोक्त प्रायः सब पाप पुरुष और स्त्री दोनों के लिये समान हैं । स्त्री के विशेष पातक हैं—नीच पुरुष से संभोग करना, गर्भ को यत्नपूर्वक गिरा देना, पति की हिंसा करना, पति के शिष्य से या पति के गुरु, पिता आदि से जान-बूझ कर संभोग करना ॥ ३८–३९ ॥

इस विषय में अधिक क्या कहें ? श्रुति-स्मृति से विरुद्ध जो कुछ भी आचार है उसे करने वाला निःसंदेह पापी है ॥ ४० ॥ अब तक वेद की सारभूत सब बातें आप लोगों को बता दी हैं । शोक-मोह

वेदसारतरः कथितस्तु वः शोकमोहसमुद्रनिवारकः ।
पातकानि विहाय महामतिर्देवदेवमनिशं शरणं व्रजेत् ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे पातकविचारकथनं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच–प्रायश्चित्तरहस्यं वः प्रवक्ष्यामि समासतः ।
श्रद्धया सहिता यूयं शृणुत ब्रह्मवित्तमाः[1] ॥ १ ॥

वेदान्तवाक्यजं ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् । बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥ २ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे पातकविचारकथनं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

परिहरणीयत्वेनोक्तानां दशविधपातकानां द्वादशवार्षिकादिप्रायश्चित्तं वक्तुमारभते–प्रायश्चित्तेति ॥ १ ॥ ब्रह्मात्मैकत्वगोचरमिति । जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतभेदभ्रमनिरासेन यत्पारमार्थिकमेकत्वं तद्गोचरं तत्त्वमस्यादिवेदान्तवाक्यजनितमपरोक्षज्ञानमित्यर्थः । बुद्धिपूर्वकृतमिति । अन्यद्धि प्रायश्चित्तमबुद्धिपूर्वकृतस्यैव निवर्तकम् । अद्वैतात्मविज्ञानं तु बुद्धिपूर्वकृतं प्रमादकृतं चोभयविधमपि पातकं निवर्तयतीत्यर्थः । असहायस्यैव ज्ञानस्य बहुविधपापसंघनिवर्तकत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते–वह्निवदिति । भगवता व्यासेनापि स्मर्यते[2]–'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इति ॥ २ ॥ ज्ञानस्य प्रतिज्ञातं सर्वपातकनिवर्तकत्वमुपपादयति–कर्तारमित्यादिना । लोके तावत्कर्तुरेव हि यज्ञदत्तादेः स्वकृतकर्मतत्फलसंबन्धात्मको बन्धो, नाकर्तुर्देवदत्तादेः । तथाचाऽऽत्मानात्मनोर्विवेकं जानानः साक्षिचिन्मात्रस्वरूप आत्माऽपि यदि कर्ता स्यात्तर्हि तस्य [3]कर्तृत्वधर्मसंसर्गनिबन्धनपुण्यपापाश्रयत्वलक्षणो बन्धः स्यात् । न च तस्य कर्तृत्वमस्ति । तत्साक्षितया ताटस्थ्याल्लौकिकसाक्षिवत्स हि विवदमानयोर्मध्यस्थः सन्केवलं जयपराजयलक्षणौ तद्व्यवहारौ साक्षात्करोति न तु ताभ्यां संसृज्यते । एवं कर्तृत्वस्य साक्षिणोऽपि न तत्संसर्ग इत्यर्थः । अयमभिप्रायः–कर्तृत्वं नाम क्रियाश्रयत्वम्[4] । तच्च सर्वगतस्य नित्यस्याऽऽत्मनो न संभवति । तस्याऽऽकाशवन्निष्क्रियत्वात् । तदाश्रयत्वे 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायेनानित्यत्वप्रसङ्गाच्च । नापि देहस्य कर्तृत्वम् । तस्य सत्यपि क्रियाश्रयत्वेऽचेतनत्वेन तदनुपपत्तेः । चेतनो हि ममेदमिष्टसाधनमिति जानञ्ज्ञानं कर्म क्रमेणानुतिष्ठन्कर्ता भवति । यदि देहस्यैव कर्तृत्वं स्यात्तदा यागादिक्रियाश्रयस्य तस्य भस्मीभूतत्वाद्देहातिरिक्तस्याकर्तुरात्मनो लोकान्तरोपभोग्यं स्वर्गनरकादिफलं निर्हेतुकं स्यात् 'कर्तुरेव फलम्' इति नियमात् । तथाच पारमर्षं सूत्रम् 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणात्' इति । न च देहातिरिक्तस्य प्राणस्यैव कर्तृत्वमिति वाच्यम् । तस्य सुषुप्त्यवस्थायां सद्भावेऽपि विशेषज्ञानादर्शनादचेतनत्वेनोक्तदोषानु(नि)वृत्तेः । नापि चक्षुरादीन्द्रियाणामेव कर्तृत्वम् । तेषां करणत्वेन कर्तुरन्यत्वावश्यंभावात् । अत एवान्तःकरणस्यापि न कर्तृत्वम् । ननु न क्रियाश्रयत्वमात्रं

के समुद्र से उबरने के लिये बुद्धिमान् को चाहिये कि पाप न करे और सदा महादेव की शरण लेवे ॥ ४१ ॥

प्रायश्चित्तविचार नामक बयालीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–हे उत्तम ब्रह्मज्ञो ! अब मैं संक्षेप में प्रायश्चित्त सम्बन्धित रहस्य बताता हूँ, श्रद्धासहित सुनिये ॥ १ ॥

ब्रह्म और जीव की एकता को विषय करने वाला वेदांत वाक्य से उत्पन्न ज्ञान (अपरोक्ष साक्षात्कार) उन सब पापों को वैसे ही समाप्त कर देता है जो जानबूझ कर किये गये हैं जैसे आग तिनकों को जला डालती है ॥ २ ॥ कर्म उसे ही बाँधते हैं जो कर्ता हो (–मैंने किया, मैं करने

---

१ घ. व्रतवित्तमाः । २ ग. "ते–गीतासु 'च" । ३ ख. "तृत्वादिध" । ४ क्रिया-चिकीर्षाभ्यामन्यस्याः कृतेरप्रामाणिकत्वात्कृत्याश्रयत्वमुपेक्ष्य क्रियाश्रयत्वमुक्तम् । वस्तुतः कर्ताहमित्यभिमानवान् कर्ता स च तादृशधीतादात्म्यापन्नचैतन्यम् ।

कर्तारं कर्म बध्नाति खलु वेदविदां वराः ।
ज्ञानिनो नैव कर्तृत्वं कर्तृत्वस्य तु साक्षिणः ॥ ३ ॥
कायिकं वाचिकं चैव मानसं कर्म नान्यथा ।
तथा सति कथं कर्म भवेत्तत्साक्षिरूपिणः ॥ ४ ॥
घटवद् दृश्यभूतस्य शरीरस्य तु साक्षिणः । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ५ ॥
इन्द्रियाणां समस्तानां सदा साक्षिस्वरूपिणम् । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ६ ॥
प्राणापानादिभेदेन विभक्तस्य तु साक्षिणम् । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ७ ॥

कर्तृत्वं येन निष्क्रियस्याऽऽत्मनो न स्यात्किं तु प्रयत्नगुणाश्रयत्वमपि तर्हि चेतनस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वं किं न स्यादिति चेत् ? मैवम् । उपगमापगमयुक्तप्रयत्नलक्षणधर्माश्रयत्वे प्रागुक्तन्यायेनाऽऽत्मनो विकारित्वप्रसङ्गेनानित्यत्वं स्यात् । अतः परैरात्मनो गुणत्वेनाभिमता बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादय आन्तरत्वेन प्रतीयमानाः सर्वे धर्मा विकारिणोऽन्तःकरणस्यैव न त्वविक्रियस्याप्यात्मन इत्यनिच्छताऽप्यङ्गीकार्यम् । अत एव साक्षिभूतस्याऽऽत्मनो निर्गुणत्वमाम्नायते–'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति । एवं च परेषामपि संसार्यात्मनि कर्तृत्वलक्षणधर्मसंसर्गप्रतीतिरयो दहतीत्यादिवत्क्रियाश्रय-देहादिधर्मतादात्म्याध्यासनिबन्धनैव न तु पारमार्थिकी । अत एव देहादिसंघातविशिष्टस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमाम्नायते–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति । गीतासु च स्मर्यते–'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधा च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः' इति । एवं चाऽऽत्मानात्मविवेकज्ञानेन देहादिधर्मतादात्म्याध्यासनिवृत्त्या तद्धर्मभूतक्रियाश्रयत्वादिधर्मसंसर्गनिवृत्तिरिति सिद्धम् । साक्षिभूतस्य चिन्मात्रस्वरूपस्य केवलस्याऽऽत्मनोऽकर्तृत्वम् । स्मर्यते हि–'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः' इति ॥ एवं केवलस्याकर्तुरात्मनः कर्मसंबन्धाभावाद्देहादितादात्म्याध्यासेन कृतं पातकशतमपि न स्पृशतीति सिद्धमकर्त्रात्मज्ञानस्य[1] सकलपापनिवर्तकत्वम् ॥ ३ ॥ एतदेव कर्तृत्वमुपपादयति-कायिकमित्यादिना । कायिकादिभेदेन त्रिधाऽवस्थितं कर्म देहादितादात्म्याध्यासवतः कर्त्रात्मन एव बन्धकं न तु विवेकज्ञानेन निवर्तिततादात्म्यस्य[2] । देहादिसंबन्धिन एव त्रिविधं कर्म नान्यस्य चिन्मात्रस्वरूपस्य, तत्कर्मसाक्षिण इत्यर्थः ॥ ४ ॥ ननु देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यहंकारादिसाक्ष्यगतमेव कर्म तत्तत्साक्षिरूपेणावस्थितस्याऽऽत्मनो बन्धकं किं न स्यादित्याशङ्क्य क्रमेण निरस्यति–घटवदित्यादिना । देह आत्मा न भवति दृश्यत्वाद्घटवदिति देहस्यानात्मत्वं विवेकज्ञानेन निश्चित्य तद्विविक्तं तत्साक्षिणं चिन्मात्रस्वरूपिणमात्मानमात्मना प्रकाशान्तरनिरपेक्षेण स्वरूपप्रकाशेनैव पश्यन्देहाद्याश्रितेन कर्मणा कथं बद्धः घटगतरूपादिवच्छरीराश्रितकर्मणोऽपि विविक्तत्वेन तत्संबन्धविरहादित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि दृश्यत्वहेतुना साक्ष्यस्येन्द्रियादेः साक्षिणः सकाशाद्घटादिवदेव विविक्तत्वमिति तदाश्रितकर्मणा तत्साक्षिणो बन्धो न युक्त इत्ययमर्थः सर्वत्र योजनीयः ॥ ५–११ ॥

वाला हूँ ऐसा निश्चय रखता हो) । ज्ञानी तो कर्तृत्व का साक्षी है, अतः वह कर्ता है नहीं (–उक्त निश्चय वाला है नहीं) । कायिक, वाचिक और मानस कर्म कर्तृत्व वाले के ही होते हैं, जिसे कर्तृत्व नहीं, उसके कर्म भी नहीं होते । (अन्यथा देवदत्तकृत ब्रह्महत्या का कर्तृत्व यज्ञदत्त में न होने पर भी उसका भी वह कर्म मानने की नौबत आयेगी !) । यह स्थिति होने पर कर्तृत्व के साक्षी का–अतएव कर्तृत्वहीन ज्ञानी का कोई कर्म कैसे हो सकता है ? ॥ ३-४ ॥ जो ज्ञानी घट की तरह दृश्य शरीर का साक्षी है और चिद्रूप को ही आत्मा जान रहा है, वह कर्म से कैसे बाँधा जा सकता है ? ॥ ५ ॥ चैतन्य को स्वस्वरूप देखते हुए समस्त इन्द्रियों का जो साक्षी है वह कर्म द्वारा कैसे बाँधा जा सकता है ? ॥ ६ ॥ प्राण अपान आदि भेदों में बँटे मुख्य प्राण के साक्षी चेतन को निजरूप जानने वाला कर्मों से बाँधा नहीं जा सकता ॥ ७ ॥ इस संकल्परूप मन के साक्षी चिद्रूप को निजात्मा समझने वाले को कर्म क्योंकर बाँध

---

१ ग. घ. "कर्तात्म° । २ ग. "दात्स्याध्यासस्य ।

संकल्पलक्षणस्यास्य मनसः साक्षिरूपिणम् ।
चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ८ ॥
निश्चयात्मकविज्ञानसाक्षिणं ब्रह्मवित्तमाः ।
चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ९ ॥
अहंकारस्य दुःखादिविशिष्टस्य तु साक्षिणम् । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं वध्येत कर्मणा ॥ १० ॥
चेतनालक्षणस्यास्य चित्तसंज्ञस्य साक्षिणम् ।
चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ ११ ॥
देहेन्द्रियादिसंघातसाक्षिणं निरुपद्रवम् ।
चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यावस्थासाक्षिणमव्ययम् । चिद्रूपमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १३ ॥
सच्चिदानन्दसंपूर्णलक्षणं तमसः परम् । ब्रह्मात्मानं सदा पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १४ ॥

ननु देहेन्द्रियादीनां दृश्यत्वेन घटवद्विविक्तत्वात्प्रत्येकं तदाश्रितकर्मणा वन्धासंभवेऽपि तत्संघाताश्रितेन कर्मणा वन्धः किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह देहेन्द्रियादीति ॥ १२ ॥ देहादिविवेकप्रतिपादितेनैव जाग्रदाद्यवस्थानामपि दृश्यतयाऽतिविविक्तत्वात्तदाश्रितेनापि कर्मणा वन्धो न घटत इत्याह—जाग्रदिति ॥ १३ ॥ एवं साक्षित्वाकारेण साक्ष्याद्देहादेर्विविच्य साक्षित्वस्यापि साक्ष्यप्रतियोगित्वेनौपाधिकत्वात्तन्निर्मुक्तं प्रत्यगात्मनः पारमार्थिकं रूपं दर्शयति—सच्चिदिति । जीवात्मनोऽपि परशिववत्सच्चिदानन्दरूपत्वं हंसमन्त्रार्थकथनावसरे 'अहं चाव्यभिचारित्वात्स्वस्वभावो न संशयः' इत्यादिना सप्तमेऽध्याये प्रागेव प्रतिपादितम् । तमसः परमिति । स्वस्वरूपस्याऽऽच्छादकाद्देहेन्द्रियाद्युपादानभूताद्भावरूपाज्ज्ञानात्परं[1] विविक्तमित्यर्थः । स ईदृग्विधमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति नित्यशुद्धवुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मस्वरूपतया जानन्कर्मणा कथं वध्येतेत्यर्थः ॥ १४ ॥

सकेंगे ॥ ८ ॥ निश्चयात्मक अनुभव के साक्षी आत्मा को अपना स्वरूप जानने वाला कर्मों द्वारा बाँधा नहीं जाता ॥ ९ ॥ दुःख आदि विशेषणों वाले अहंकार के साक्षी चेतन को स्वस्वरूप समझने वाला कर्मों द्वारा कैसे बाँधा जा सकता है ॥ १० ॥ चेतनारूप चित्त के साक्षी चैतन्य को आत्मा जानने वाला कर्मों से नहीं बँधता (जाग्रदवस्था में समस्त शरीर में जो भान रहता है उसे चेतना कहते हैं जो बेहोशी में सर्वथा नहीं रह जाती । वह चेतना भी मनोवृत्तिविशेष ही है और उसे ही यहाँ चित्त कह दिया है ।) ॥ ११ ॥ देह इन्द्रिय आदि समूह के निर्विकार साक्षी चैतन्य आत्मा को निजरूप देखने वाला कर्मों से किस तरह बाँधा जा सकता है ? ॥ १२ ॥ जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नामक अवस्थाओं के सनातन साक्षी चिन्मात्र को जो आत्मा जानता है वह कर्मबन्धन वाला नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ अज्ञान से भिन्न एवं सच्चिदानन्द परिपूर्णरूप ब्रह्म को स्वस्वरूप जानने वाला कर्मों द्वारा कैसे बँध सकता है ? ॥ १४ ॥ विकृत न होने

---

१ भावरूपात् तमसः परमित्यन्वयः । परमित्यस्यार्थो विविक्तमिति । तत्र साधनं ज्ञानादिति । यद्वा ज्ञानादित्यन्यथाज्ञानात्तत्कारणाच्चेत्यर्थः ।

अविक्रियमसङ्गं च परिशुद्धं सदोदितम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १५ ॥

सदाऽऽकाशादिभूतानां शब्दादीनां च साक्षिणम् ।
आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १६ ॥

अनियोज्यमकर्तारमभोक्तारं परामृतम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १७ ॥

स्वयंभातं प्रमातीतं प्रमाणानां च साक्षिणम् ।
आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १८ ॥

आविर्भावतिरोभावसंकोचरहितं[1] सदा । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ १९ ॥

ननु दृशिक्रिया व्याप्यत्वादुक्तस्य ब्रह्मात्मभावस्य कर्मत्वमवसीयते । परसमेतक्रियाजन्यफलभाक्त्वात्तन्निमित्तो[2] बन्धः किं न स्यादित्यत आह–**अविक्रियमिति** । क्रियाजन्यफलं हि चतुर्विधं कर्मकारकगतमुत्पत्ति-विकृतिप्राप्तिसंस्कृतिरूपम् । तच्चतुष्टयमत्र विशेषणैर्निरस्यते । एवंलक्षणस्याऽऽत्मनो नित्यत्वेन विकारासंभवाद्विक्रियाहेतोर्वस्त्वन्तरभावाच्चाविक्रिय एव स इति न तस्य [3]विकार्यकर्मत्वम् । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः केनचिदप्यसौ न संबध्यत इत्यसङ्गः । अतः प्राप्तिकर्मत्वमस्य न भवति । संस्कारश्च द्वेधा गुणाधानलक्षणो मलापकर्षणलक्षणश्चेति । तत्रानाधेयातिशयत्वेनाऽऽत्मनस्तावदाद्यो न युक्तः । द्वितीयं प्रत्याह–**परिशुद्धमिति** । पूर्वोत्तरकालयोरिव जगद्भ्रमावस्थायामप्यविद्यातत्कार्यसंस्पर्शकृतस्य मलस्य परमार्थतो विरहात्स्वत एव परिशुद्ध इति मलापकर्षणलक्षणसंस्कारोऽपि तत्र निष्प्रयोजन इत्यर्थः । नाप्युत्पाद्यकर्मत्वम् । स्वप्रकाशसाक्षिरूपेण सर्वदा भावत्वेनोत्पाद्यत्वाभावादित्याह–**सदोदितमिति** ॥ १५ ॥ ननु मा भूद्भौतिकदेहादितादात्म्याध्यासनिबन्धनो बन्धः । वियदादिभूततादात्म्यनिबन्धनस्तु किं न स्यादित्यत आह–**सदेति** ॥ १६ ॥ **अनियोज्यमिति** । नियोज्यत्वधर्मविशिष्टस्यैव ह्यात्मनः कर्मण्यधिकारस्तस्यैव कर्मनिबन्धननिमित्तको बन्धो न तु चिन्मात्रस्वरूपस्य केवलात्मन इत्यर्थः ॥ १७ ॥ ननु मा भूदुक्तरीत्याऽऽत्मनः कर्तृत्वं क्रियाजन्यफलभागित्वं च प्रमाणप्रेरकत्वलक्षणं प्रमातृत्वं स्वगोचरप्रमाविषयत्वं च किं न स्यादित्यत आह–**प्रमातीतमिति** । चिदात्मनः प्रमाणसाक्षित्वमेव केवलं न तु तत्प्रेरकत्वमहंकारविशिष्टस्यैव तत्प्रेरकत्वात् । सम्यगर्थविषयाऽन्तःकरणवृत्तिः प्रमा, साऽपि सोपाधिकमेव स्वरूपं विषयी करोति न तूक्तविधं निरुपाधिकस्वरूपमिति प्रमामतीत्य वर्तत इत्यर्थः । ननु स्वसत्ताबोधकप्रमाविषयत्वाभावे कथं तत्स्वरूपसिद्धिरिति तत्राऽऽह–**स्वयंभातमिति** ॥ १८ ॥ **आविर्भावेति** । अस्वप्रकाशस्य घटादेः स्वगोचरज्ञानेनाऽऽविर्भावस्तद्राहित्ये तु तिरोभाव इत्येवमनात्मनः

वाला, सम्बद्ध न होने वाला, नित्य शुद्ध, सदा प्रकाशमान आत्मतत्त्व को निजरूप जानने वाला कर्मों द्वारा बँधता नहीं ॥ १५ ॥ आकाशादि महाभूत और उनके शब्दादि गुणों का सदा अपने को साक्षी मानने वाला आत्मा कहीं कर्मों से बँध सकता है ? ॥ १६ ॥ जिसका कोई कर्तव्य नहीं, जिसकी कोई क्रिया नहीं, जिसका कोई भोग नहीं वह परम अमृत आत्मा मैं हूँ–ऐसा जानने वाला कर्मों से कैसे बँध सकता है ? ॥ १७ ॥ प्रमा और उसके साधनों का स्वयम्प्रकाश साक्षी मैं हूँ–यों जिसका अप्रकम्प्य अनुभव है वह कर्मों से बँधता नहीं ॥ १८ ॥ प्रकट और अप्रकट इस तरह संकुचित न होने वाला आत्मा मैं हूँ, ऐसा जानते हुए कोई कर्म से बद्ध नहीं होता ॥ १९ ॥ सबका साक्षी, सबसे निरपेक्ष, वास्तविक ईश्वर मैं

---

१ आविर्भावतिरोभावयोः कादाचित्कत्वध्रौव्याद्यदाद्यस्तदा नेतरो यदापरस्तदा नैक इति पूर्णतायाः संकोचो दुर्निवारः स्यात् । २ छ. "न्निमित्तो ब" । ३ ख. "र्यत्व" ।

सर्वसाक्षिणमात्मानं सर्वहीनं तु वस्तुतः । आत्मानमीश्वरं पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २० ॥

स्वस्मिन्नध्यस्तरूपस्य प्रपञ्चस्य तु साक्षिणम् ।
आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २१ ॥

निर्लेपं निर्मलं सूक्ष्मं निरस्तसकलक्रियम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २२ ॥

भूमानन्दं बुभुत्सोस्तु स्वरूपं भोगवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २३ ॥

संकोचो भवति न तु स्वयंप्रकाशस्य चिदात्मनः स्वसत्ताप्रकाशव्यतिरेकविरहादित्यर्थः ॥ १९ ॥ ननु घटपटादिविभिन्नलक्ष्यसत्त्वे घटसाक्षीति विशिष्टरूपेण साक्षिणोऽपि भेदः प्रतीयते । तथा च यदा घटसाक्षी न तदा पटसाक्षीति घटादिवदेव साक्षिणोऽप्याविर्भावतिरोभावलक्षणः संकोचः किं न स्यादित्यत आह–**सर्वसाक्षिणमिति** । एक एव हि चिदात्मा सर्वस्य घटपटादेः साक्षी तस्य सर्वसाक्ष्यभासकत्वोपाधिना सर्वदा भानमस्तीति न संकोच इत्यर्थः । ननु तस्याऽऽत्मनः सर्वसाक्षित्वं सर्वकृतं चेत्तद्वदेव साक्ष्यस्यापि सर्वस्य सर्वदाऽऽवस्थानप्रसङ्ग इत्यत आह–**सर्वहीनमिति**[1] । नन्वेतत्सर्वसाक्षित्वं सर्वहीनत्वं चोभयं व्याहतमित्यत आह–**वस्तुत** इति । परमार्थोपाधौ सर्वहीनत्वं मिथ्योपाधौ सर्वसाक्षित्वमिति वास्तवावास्तवभेदेनाविरोध इत्यर्थः । एवं साक्ष्युपलक्षितस्य चिन्मात्रस्वरूपस्याऽऽत्मनः प्राकृताद्देहेन्द्रियाद्यनात्मनः सकाशाद्विवेकख्यातिरेव श्रेयःसाधनं, तन्निरस्यति–**आत्मानमीश्वरमिति** ॥ २० ॥ नन्वात्मनः सर्वहीनत्वमयुक्तं प्रतिभासमानस्य प्रपञ्चस्यापलापासंभवादित्यत आह–**स्वस्मिन्निति** । शुक्त्यादौ रजतादिवत्स्वात्मनि मायापरिकल्पितः प्रपञ्चः स्वाधिष्ठानरूपेण साक्षिणा भास्यते तस्य च रजतादिवदेवाधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेन निवृत्तेः प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वेन मिथ्यात्वात्प्रतीतिबाधसाक्षिण आत्मनो वस्तुतः सर्वहीनत्वमित्यर्थः ॥ २१ ॥

एवं कार्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं प्रसाध्य कारणभूतमज्ञानमपि तस्मिन्वस्तुतो नास्तीत्याह–**निर्मलमिति** । कार्यानुरूपं हि कारणं कल्पनीयं कार्यं च मिथ्याभूतं दृष्टमिति तत्कारणत्वेन कल्पितमज्ञानमपि तादृशमेवेति तदपि तस्मिन्वस्तुतः सर्वदा नास्तीत्यर्थः । एवमज्ञानसंबन्धाभावात्तद्विलासक्रियासंबन्धोऽपि नास्तीत्याह–**निरस्तेति** । **निर्लेपमिति** । उक्तरीत्या क्रियासंस्पर्शाभावात्तज्जनितपुण्यपापलेपरहितमित्यर्थः । अत एव भगवतोक्तम्–'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा' इति । नन्वीदृशमात्मतत्त्वं कस्मात्सर्वैर्नानुभूयत इत्यत आह–**सूक्ष्ममिति** । प्रतिबन्धकपापजनितप्रत्यूहप्राचुर्यादसंस्कृतचित्तैः स्थूलदर्शिभिर्विकल्पहेत्वभावेनात्यन्तनिर्विकल्पकमात्मतत्त्वं तन्न द्रष्टुं शक्यमित्यर्थः ॥ २२–२४ ॥ उक्तं सर्वविहीनत्वं श्रुतिसंवादेन

हूँ, ऐसा जानने वाला कर्म से बँध नहीं सकता ॥ २१ ॥ क्रियादि के सम्बन्ध से रहित, मायादि मलशून्य, सपापों द्वारा अविज्ञेय, निष्क्रिय आत्मा को अपना स्वरूप जानने वाला कर्मों से नहीं बँधा करता ॥ २२ ॥ व्यापक आनन्द को जो समझना चाहता है उसका जो अपना स्वरूप ही है उस सम्बन्धरहित आत्मतत्त्व को 'यह मैं हूँ' यों समझने वाला कर्मबन्धन से परे ही है ॥ २३ ॥ किसी को प्रेरणा आदि न देने वाला

---

१ अतः प्रश्नभाष्येऽपि (४.५) 'स्वयंज्योतिष्ट्वादिव्यवहारोऽपि आमोक्षान्तः सर्वोऽविद्याविषय एव' इत्यगादि ।

प्रेरकत्वादिनिर्मुक्तं प्रियाप्रियविवर्जितम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २४ ॥

नेति नेतीति वेदान्तैर्निरस्तस्वाविलक्षणम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २५ ॥

अनण्वह्रस्वमस्थूलमदीर्घं सत्यचिद्घनम् । आत्मानमात्मना पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा ॥ २६ ॥

अज्ञानजन्यकर्त्रादिकारकोत्पन्नकर्मणा । श्रुत्युत्पन्नात्मविज्ञानप्रदीपो [1]बध्यते कथम् ॥ २७ ॥

प्रपञ्चयति—**नेतीति** । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इति प्रक्रम्य 'अथात आदेशो नेति नेति' इति मूर्तामूर्तसकलानात्मप्रपञ्चनिषेधस्य श्रुतत्वादपि स्वात्मव्यतिरिक्तं नास्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ उक्तपुण्यपापलेपादिसकलधर्मराहित्यमेव श्रुतिप्रमाणसिद्धमिति दर्शयति—**अनण्वह्रस्वमिति** । 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम्' इत्यादिना स्थौल्यादिसर्वधर्मनिषेधावधितयाऽतद्व्यावृत्तिमुखेन श्रुत्या प्रतिपादितमित्यर्थः । नन्वेवं सर्वधर्मनिषेधेऽन्ततः शून्यमेव पर्यवस्येन्न हि निर्धर्मकं किंचिदस्तीत्यत आह—**सत्यचिद्घनमिति** । यदनुवेधात्सर्वं जगदस्ति भातीति प्रतीयते तत्सच्चिन्मात्रं सर्वाधिष्ठानमवशिष्यत इति न शून्यपर्यवसानमित्यर्थः । न च सच्चितोर्भेदाशङ्का तयोरेकतरत्वादिति घनशब्दार्थः । अत एव सैन्धवखिल्यदृष्टान्तेनैकरसत्वमाम्नायते—'एवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' इति ॥ २६ ॥ **अज्ञानजन्येति** । क्रियानिष्पादकस्य कर्तृकरणकर्मादिकारकज्ञानस्य सर्वस्याज्ञानकार्यत्वादज्ञानस्य चाधिष्ठानब्रह्मयाथात्म्यज्ञानेन निवृत्तेरुपादाननिवृत्त्या कार्यस्य कर्मणोऽपि निवृत्तिः[2] सिद्धेति निःस्वरूपेण कर्मणा कथं निरवद्यब्रह्मात्मतया स्वात्मानमनुसंदधानस्य बन्धाशङ्का । न हि रज्जुयाथात्म्यज्ञानेन निवर्तितः सर्पः पुरुषस्य भ्रान्तिं जनयति, तद्वदित्यर्थः ॥ २७ ॥

तथा जिसे न कुछ प्रिय है न अप्रिय, उसे जो आत्मा जानता है वह किस तरह कर्मों द्वारा बाँधा जा सकता है ॥ २४ ॥ 'व्यक्त, अव्यक्त आदि जो कुछ भी विषय हो सकता है वह आत्मा नहीं' इत्यादि वेदवाक्यों से जिससे अतिरिक्त हर चीज़ का निषेध (बाध) किया जा चुका है उस अद्वितीय आत्मा को निज की वास्तविकता जानने वाला कैसे कर्मों से बँध सकता है ॥ २५ ॥ जो न अणु है, न छोटा है, न मोटा है, न लम्बा है ऐसे सद् से अभिन्न चेतन को अपना आत्मा जानने वाला कर्म से बँध नहीं सकता ॥ २६ ॥ अज्ञान से उत्पन्न कर्ता आदि कारकों से निष्पन्न कर्म के द्वारा वह कैसे बाँधा जा सकता है जिसने श्रुति से उत्पन्न आत्मानुभवरूप प्रदीप से अज्ञान का निःशेष निवारण कर दिया है ? ॥ २७ ॥ धर्मादिरूप कर्म अज्ञानस्वरूप है और अज्ञान घोर अंधकार की तरह आवरक वस्तु है । वह स्वप्रकाश आत्मा

---

१ ख. ङ. बाध्यते । २ एतेन जीवन्मुक्तौ कर्माभास एव न कर्मेति व्यक्तम् । उपादानमन्तरा कार्यं तिष्ठतीति कर्मापि किमित्यज्ञानं विना न स्यादित्याशंक्य, सोपादानस्यैव कर्मत्वं निरुपादानस्य तदाभासमात्रत्वमिति विवेकं सूचयितुं वक्ति स्म 'उपादाननिवृत्त्ये'ति ॥

अज्ञानान्धतमोरूपं कर्म धर्मादिलक्षणम् । स्वप्रकाशकमात्मानं नैव संस्प्रष्टुमर्हति ॥ २८ ॥
आदित्यं शार्वरं यद्वत्तमो न स्पृशति स्वतः । चित्प्रकाशमहादित्यं तमोरूपक्रिया तथा ॥ २९ ॥
तमोरूपो रविं राहुः समाश्रित्य प्रतीयते । यत्प्रकाशेन संबन्धस्तयोर्नास्ति तथाऽपि तु ॥ ३० ॥
तद्वदज्ञानतत्कार्यं समाश्रित्य स्वयंप्रभम् । तद्भासा भाति संबन्धस्तयोर्नास्ति तथाऽपि तु ॥ ३१ ॥
कर्मसंबन्धमज्ञानादात्मनो मन्यते भ्रमात् । विदुषो न भ्रमस्तस्मात्कर्मणा नास्ति संगतिः ॥ ३२ ॥
तस्माद्देहादिसंघातेऽहंमतिं कुरुते तु यः ।
तस्यैव कर्मणा योगः [1]संभ्रान्तस्य सदा बुधाः ॥ ३३ ॥

एवं ज्ञानाज्ञानयोर्निवर्त्यनिवर्तकतामुपजीव्य ज्ञानिनां बन्धाभाव उक्तः । अथ तत्स्वरूपपर्यालोचनया संस्पर्शोऽप्यज्ञानस्याऽऽत्मना[2] सह दुर्घट इत्याह–अज्ञानेति । अज्ञानं नाम तमोवदाच्छादकं चित्प्रकाशविरोधिभावरूपं, न तु ज्ञानाभावः, तथा सति कार्यरूपेण क्रियातत्साधनफलाद्यात्मना व्यवस्थितं तत्कथं स्वविरोधिस्वप्रकाशचिदात्मानं स्पृशेदित्यर्थः ॥ २८ ॥ एतदेव दृष्टान्तमुखेनोपपादयति–आदित्यमिति । शार्वरस्य [3]तमसोऽपि नाऽऽलोकाभावमात्रत्वं[4] (किंतु) निवर्त्यभावत्वं प्रतिपादितम् । 'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत् । प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति' इति ॥ तद्वदज्ञानतमसोऽपि भावरूपत्वमिति तमःशब्दमज्ञानं निर्दिशतोऽभिप्रायः ॥ २९ ॥ नन्वज्ञानस्य स्वप्रकाशचिदात्मना संस्पर्शो न चेत्कथं तस्य संसारदशायां प्रतीतिरित्याशङ्क्य सदृष्टान्तमुपपादयति–तमोरूप इति । यत्प्रकाशेनेति । यस्याऽऽश्रयभूतस्य सूर्यस्य प्रकाशेन प्रतीयत इत्यन्वयः । यद्यप्येवं तथाऽपि तयोः परस्परं संबन्धो नास्ति । सूर्यलक्षान्तरे राहोर्विप्रकृष्टदेशवर्तित्वेन व्यवधानात् । यथैव हि संबन्धाभावेऽपि राहोः सूर्यप्रकाशेन प्रतीतिराश्रयबलात्तथैवाज्ञानकार्यमसङ्गोदासीनमपि स्वप्रकाशचिदात्मानमाश्रित्य तदीयप्रकाशेन भासते । तावन्मात्रेण तयोः संबन्धो वस्तुतो नास्तीत्यर्थः ॥ ३०–३१ ॥ ननु 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तम्' इत्यादिना प्रत्यगात्मनः कर्मसंबन्धः श्रुत्यैव प्रतिपादित इत्यत आह–कर्मेति । अज्ञाननिमित्तकाद्देहादितादात्म्यभ्रमादेवाऽऽत्मनः कर्मसंबन्धो न वास्तवः । उदाहृतश्रुतेः स्वधर्मसिद्धमेव तमुपजीव्येश्वरस्य फलप्रदातृत्वप्रतिपादने तात्पर्यम् । ज्ञानिनस्तु परविद्यया भ्रममूलस्याज्ञानस्य निवर्तनात्कर्मसंबन्धो नास्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

को छू भी नहीं सकता तो उसे बाँध कैसे सकेगा ? ॥ २८ ॥ रात्रि का अंधकार जैसे आदित्य का स्वयं स्पर्श नहीं कर पाता वैसे ही अज्ञानरूप क्रिया चेतनप्रकाशरूप आत्मा नामक महान् सूर्य का स्पर्श नहीं करता ॥ २९ ॥ जिस आश्रयभूत सूर्य के प्रकाश से अँधेरारूप राहु सूर्य का स्पर्श करता प्रतीत होता है उस सूर्य से वस्तुतः राहु का कोई सम्बन्ध नहीं । इसी तरह अज्ञान और उसका कार्य स्वप्रकाश आत्मा के स्वरूपभूत भान से ही भासता है और लगता है कि अज्ञान ने आत्मा को आवृत कर रखा है किन्तु वस्तुतः अज्ञान व उसके कार्य का आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ॥ ३०–३१ ॥ कर्म का आत्मा से सम्बन्ध अज्ञानवश भ्रम से ही माना जाता है । ज्ञानी का अज्ञान निवृत्त हो चुकने से उसे भ्रम नहीं अतः वह कर्म से कथमपि सम्बद्ध नहीं होता ॥ ३२ ॥ इसलिये जिसे यह निश्चय होता है कि देहादि संघात मैं हूँ, उसी का कर्म से सम्बन्ध है । जिसे पक्का भ्रम है उसे ही 'मेरे कर्म हैं' ऐसा कर्मबन्धन होता है ॥ ३३ ॥ जो आत्मयाथात्म्य के विज्ञान वाला है उसका कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह मैंने सही

---

१ 'न खल्वयं सर्वथा मनुष्याभिमानरहितः किंत्वविद्यासंस्कारानुवृत्त्याऽस्य मात्रया तदभिमानोऽनुवर्तते, अनुवर्तमानं च मिथ्येति मन्यमानो न श्रद्दधान' इत्यादिभागत्योक्तरीत्या (पृ. ६०) विद्वानपि भ्रान्त इति तद्व्यावृत्तये समित्युपसर्गः । २ ग. घ. ङ. च. छ. ज. "ज्ञानेनास्या" । ३ घ. छ. "सोऽप्यालो" । ४ ग. छ. ज. "त्वं तन्निवर्त्यत्वं च प्र" ।

यस्तु विज्ञानसंपन्नः कर्मणा तस्य संगतिः ।
नैव सत्यं मया प्रोक्तं नास्ति संदेहकारणम् ॥ ३४ ॥
तस्माद्ब्रह्मात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् । बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं निर्दहति क्षणात् ॥ ३५ ॥
अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् । संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥ ३६ ॥
महापातकपूर्वाणां पातकानां मुनीश्वराः ।
रहस्यानां प्रसिद्धानां प्रायश्चित्तं हि वेदनम् ॥ ३७ ॥
अपरोक्षात्मविज्ञानवतां नैवास्ति पातकम् । प्रायश्चित्तं परिज्ञानं परोक्षज्ञानिनां नृणाम् ॥ ३८ ॥
तेषां निष्ठामविज्ञाय मनुष्याश्चर्मचक्षुषा । विलोक्य पातकैर्युक्तान्मन्वते सत्तमानपि ॥ ३९ ॥

एवं देहादितादात्म्यभ्रमवत एव कर्मसंबन्धो न तु तद्विविक्तस्य विशुद्धात्मज्ञानवत इति प्रतिपादितमर्थमुपसंहरति–**तस्मादिति** । व्यासेनापि देहादावहमभिमानहीनस्य कर्मणा संबन्धाभावः स्मर्यते–'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥' इति ॥ ३३–३४ ॥ 'वेदान्तवाक्यजं ज्ञानमि'ति यत्प्राक्प्र[1]तिपादितं (श्लो. २) तदुपसंहरति–**तस्मादिति** । अहं ब्रह्मास्मीति यज्जीवपरतादात्म्यगोचरमाचार्योपदिष्टं वेदान्तवाक्यजनितं यन्निर्विचिकित्सं परोक्षज्ञानं[2] तद्बुद्धिपूर्वकृतमपि सर्वपापजालं निर्दहतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ **अपरोक्षात्मविज्ञानमिति** । आत्मन्यपरोक्षेण भासमानस्याविद्यातत्कार्यभूतदेहेन्द्रियादिभ्रमस्यापरोक्षात्मयाथात्म्यज्ञानव्यतिरेकेण निवृत्त्यनुपपत्तेः परोक्षज्ञानेन केवलमज्ञानकार्यस्य पापसंघस्यैव प्रायश्चित्तेनेव नाशो न तु मूलाज्ञानस्य । अपरोक्षब्रह्मात्मज्ञानं तु स्वात्मन्यध्यस्तसर्वानर्थनिदानसंसारकारणभूतं भावरूपमज्ञानं समूलं नाशयतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ एवं परोक्षापरोक्षरूपेण ब्रह्मात्मविज्ञानस्य द्वैविध्यमभिधाय तत्र परोक्षज्ञानस्य प्रायश्चित्तरूपतामाह–**महापातकेति** ॥ ३७ ॥ **नैवास्ति पातकमिति** । सति हि पातके तत्परिहाराय प्रायश्चित्तमनुष्ठेयं देहादिव्यतिरिक्तस्य चिन्मात्रस्य प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपसाक्षात्कारेण तत्स्वरूपाच्छादकाविद्यानिवृत्तौ तत्कार्यकर्तृत्वादिनिवृत्तेः पातकप्रसक्तिरेव नास्तीत्यपरोक्षज्ञानस्य संसारकारणाविद्यानिवृत्तिरेव फलमित्यर्थः । **'प्रायश्चित्तंपरिज्ञानं, प्रायश्चितं हि वेदनम्'** इति परोक्षब्रह्मात्मज्ञानस्य प्रायश्चित्तरूपत्वप्रतिपादनेन [3]तदेतत्परोक्षज्ञानिविषयमित्यर्थः ॥ ३८–३९ ॥

बात कही है इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं ॥ ३४ ॥ अतः गुरु के उपदेश से वेदान्तशास्त्रानुसार वस्तुतः ब्रह्मरूप आत्मा का विज्ञान उन सब पापों को तत्काल नष्ट कर देता है जो जानबूझकर भी किये गये हैं ॥ ३५ ॥ गुरूपदेश से वेदान्त महावाक्यानुसार होने वाला आत्मा का अपरोक्ष विज्ञान संसार के कारणभूत अज्ञानरूप अन्धकार का वैसे ही नाशक होता है जैसे सूर्य अँधेरे का नाशक होता है ॥ ३६ ॥ छिपकर तथा खुलकर किये महापाप आदि सब पापों का प्रायश्चित्त शिववेदन ही है ॥ ३७ ॥ अपरोक्ष आत्मज्ञानियों के लिये कोई पातक है ही नहीं । आत्मज्ञान परोक्षज्ञानियों के लिये ही प्रायश्चित्त का काम करता है ॥ ३८ ॥ ज्ञानियों की निर्विकार स्थिति को जाने बिना ही उन विशुद्ध सद्रूप महात्माओं को साधारण मनुष्य चर्मचक्षुओं से देखकर उन्हें पापयुक्त मानते हैं ॥ ३९ ॥

---

१ ख. ग. घ. "तिज्ञातं । २ नन्वध्यायादावपरोक्षमिति व्याख्यातं तस्यैवोपसंहारे परोक्षमिति विरोध इति चेन्न । इह परोक्षमित्यस्यार्थानवगमाद्विरोधो दृष्टः । नह्यपरोक्षस्य वस्तुनो ज्ञानं परोक्षं संभवति । शुद्धत्वमर्थस्य निश्चयः पारिभाषिकं परोक्षमात्मज्ञानं तथाऽखण्डधीरपरोक्षं ज्ञानमात्मन इति सर्वमुपपद्येत । तस्माद् 'ब्रह्मात्मेति' वस्तुतो ब्रह्म य आत्मा तस्येत्यर्थः । ३. घ. ङ. ज. "ज्ञानवि" ।

यथा ब्रह्मात्मविज्ञानं पातकानां मुनीश्वराः ।
प्रायश्चित्तं मया प्रोक्तं तथैव ब्रह्मभावना ॥ ४० ॥
श्रुत्याचार्यप्रसादेन सर्वं ब्रह्मेति भावयन् । मुच्यते पातकैः सर्वैर्घटिकामात्रतो नरः ॥ ४१ ॥
दिनार्धं सकलं ब्रह्म भावयन्गुरुपूर्वकम् । बुद्धिपूर्वकृतैः सर्वैः पातकैर्मुच्यते नरः ॥ ४२ ॥
विग्रहं परतत्त्वस्य त्रिनेत्रं साम्बमद्भुतम् । मुहूर्तं चिन्तयन्मर्त्यो मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४३ ॥
स्वस्वरूपानुसंधानान्नृत्यन्तं सर्वकारणम् । मुहूर्तं चिन्तयन्मर्त्यो मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४४ ॥
नृत्यमानं महादेवं साम्बमूर्तिधरं तु वा । दिनार्धं चिन्तयन्पापात्प्रसिद्धान्मुच्यतेऽखिलात् ॥ ४५ ॥
त्रिमूर्तीनां तु रुद्रस्य विग्रहं चिन्तयन्दिनम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ४६ ॥
दिनत्रयमभिध्यायन्रुद्रमूर्तिमतन्द्रितः । मुच्यते पातकैः सर्वैः प्रसिद्धैर्नात्र संशयः ॥ ४७ ॥
विष्णोश्च विग्रहं ध्यायन्मर्त्यः शुद्धं दिनत्रयम् ।
महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ४८ ॥

यथा ब्रह्मेति । निर्विचिकित्सपरोक्षब्रह्मात्मविज्ञानेनैव प्रायश्चित्तरूपेण यथा सर्वपापनिवृत्तिस्तथा श्रुत्याचार्यमुखादापातप्रतिपन्नस्य[1] ब्रह्मात्मभावनस्य ध्यानमपि प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ श्रुत्याचार्यप्रसादेनेति । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुत्यर्थं गुरुमुखादधिगत्य यत्स्थावरजङ्गमात्मकं सर्वं यथावद् ब्रह्म भावयेत्तद्धुपासनमपि सर्वपातकनिवृत्तिहेतुरित्यर्थः ॥ ४१–४२ ॥ निर्गुणब्रह्मज्ञानवत्सगुणब्रह्मोपासनस्यापि प्रायश्चित्तरूपतामभिधाय स्वलीलास्वीकृतमूर्तिध्यानमपि सर्वपातकप्रायश्चित्तमित्याह–विग्रहमित्यादिना ॥ ४३–५१ ॥

हे मुनियो ! जैसे ब्रह्मात्मा का ज्ञान पापों का प्रायश्चित है वैसे ही ब्रह्मात्मभावना भी ॥ ४० ॥ गुरु कृपा से श्रुति के अनुसार 'सब ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करने वाला व्यक्ति एक घड़ी में ही सब पापों से छूट जाता है । आधे दिन तक यदि उक्त भावना बनी रहे तो जानबूझकर किये पाप भी समाप्त हो जाते हैं । (श्रुत्यनुसार इसलिये कहा गया है कि यहाँ बाधसामानाधिकरण्य समझते हुए भावना करनी श्रेष्ठ है क्योंकि वही श्रुत्यर्थ है । उसमें असामर्थ्य होने पर सब कुछ जैसा प्रतीत हो रहा है वैसा ही ब्रह्म है यह भावना भी की जा सकती है । भावना का तात्पर्य है कि ऐसी प्रतीति तो नहीं होती किंतु हम अपनी ओर से कोशिश कर ऐसा सोचते हैं ।) ॥ ४१–४२ ॥

परतत्त्व के साम्ब त्रिनेत्र विग्रह को एक मुहूर्त तक (अड़तालीस मिनट तक) ध्याने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ४३ ॥ अपने स्वरूप प्रकाश के नित्य प्रस्फुरित उल्लास को कृपापूर्वक अन्यों के लिये प्रकट करने के उद्देश्य से नृत्य करते हुए सर्वकारण महेश्वर का मुहूर्तभर ध्यान करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ४४ ॥ अम्बायुक्त मूर्ति धारण किये नाचते हुए महादेव का आधे दिन ध्यान करने से उन सब पापों से व्यक्ति छूट जाता है जो प्रत्यक्ष में किये गये हैं ॥ ४५ ॥ त्रिमूर्ति में रुद्र का दिन भर ध्यान करने से व्यक्ति अन्य पापों समेत महापापों से भी छूट जाता है ॥ ४६ ॥ तीन दिन तक अप्रमादी हो रुद्रमूर्ति का ध्यान करने से सब प्रसिद्ध पापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ४७ ॥ विष्णु के शुद्ध विग्रह का तीन दिन ध्यान करने से महापापादि सब पापों से मनुष्य छूट जाता है ॥ ४८ ॥ सात दिन महाविष्णु के विग्रह

---

१ ख. "दापातसंप्र" ।

सप्तरात्रं[1] महाविष्णोर्विग्रहं चिन्तयन्नरः । मुच्यते पातकैः सर्वैः प्रसिद्धैर्नात्र संशयः ॥ ४९ ॥
ब्रह्मणो विग्रहं शुद्धं सप्तरात्रं विचिन्तयन् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः[2] ॥ ५० ॥
मासमात्रमभिध्यायन्ब्रह्मणो विग्रहं परम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः प्रसिद्धै र्नात्र संशयः ॥ ५१ ॥
जपित्वा दशसाहस्रं मन्त्रं चैतन्यवाचकम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५२ ॥
पातकानां समस्तानां लाघवापेक्षया क्रमात् ।
जपेऽपि लाघवं कार्यं चिन्मन्त्रस्य क्रमेण तु ॥ ५३ ॥
पदं द्वादशसाहस्रं जपित्वा मातृकाश्रयम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५४ ॥
पातकानां समस्तानां लाघवापेक्षया क्रमात् ।
जपेऽपि लाघवं कार्यं पदाख्यस्य मनोरपि ॥ ५५ ॥
जपित्वा लक्षमेकं तु प्रणवं ब्रह्मवाचकम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५६ ॥
कण्ठमात्रोदके लक्षं जपित्वा हंसमन्त्रकम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५७ ॥
नाभिमात्रोदके लक्षं जपित्वा तु षडक्षरम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५८ ॥

मन्त्रं चैतन्यवाचकमिति । स च भुवनेश्वरीमन्त्रः ॥ ५२–५३ ॥ मातृकाश्रयमिति । मातृकारूपेण स्थितं पदाख्यं[3] मन्त्रमित्यर्थः ॥ ५४–६१ ॥

का ध्यान करने से सब प्रसिद्ध पापों से छुटकारा हो जाता है ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा के शुद्ध विग्रह को तीन दिन ध्याने से महापाप आदि पातक छूट जाते हैं ॥ ५० ॥ ब्रह्मा के श्रेष्ठ विग्रह को महीने भर ध्याने से सब प्रसिद्ध पाप छूट जाते हैं, इसमें संदेह नहीं ॥ ५१ ॥

चैतन्य वाचक मंत्र का दस हज़ार जप करने से महापातकों व अन्य पातकों से व्यक्ति छूट जाता है ॥ ५२ ॥ सभी पापों की क्रमशः लघुता के अनुसार चिन्मंत्र के जप की संख्या में भी कमी कर लेनी चाहिये ॥ ५३ ॥ मातृकारूप से स्थित पद नामक मंत्र का बारह हजार जप करने से अन्य पापों सहित महापातकों से भी छुटकारा मिल जाता है ॥ ५४ ॥ यहाँ भी पाप की लघुता के हिसाब से जप में कमी की जा सकती है ॥ ५५ ॥ ब्रह्मवाचक प्रणव का एक लाख जप करने से व्यक्ति महापातकादि से छूट जाता है ॥ ५६ ॥ कण्ठ तक के जल में स्थित होकर हंस मंत्र का एक लाख जप करने से महापाप आदि पापों से व्यक्ति छूट जाता है ॥ ५७ ॥ नाभि तक के जल में स्थित होकर एक लाख जप षडक्षर मन्त्र का करने से महापापादि पाप छूट जाते हैं ॥ ५८ ॥ कण्ठ तक गहरे जल में स्थित होकर तीनों व्याहृतियों का एक लाख जप करने से

---

१ ननु सप्तरात्रं सप्ताहोरात्रमित्यर्थ एवं च त्रिभिर्दिनैरेव महाफललाभे कुतः सप्तरात्रे कोऽपिध्यायेदिति चेत् ? सत्यम्, अतएव दिनत्रयमित्यत्र नैरन्तर्यं विवक्षितं मन्तव्यं, सप्तरात्रमित्यत्र तु प्रतिदिनं ध्यानमित्येव, न नैरन्तर्यमिति । एवमग्रेप्यूह्यम् । २ घ. "रैः । आत्मना" । ३ अस्योपपादनं पूर्वं (४.४.२३) कृतम् ।

कण्ठमात्रोदके लक्षं जपित्वा व्याहृतित्रयम् । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ५९ ॥
वाग्यतस्तु जपेल्लक्षं सावित्रीमादरेण तु(यः) । महापातकसंघैश्च मुच्यते पातकान्तरैः ॥ ६० ॥
[1]सव्याहृतिसप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश । अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ ६१ ॥
गवां गोष्ठे तु भिक्षाशी पावमानीर्जपन्मुदा । वत्सरात्पातकैः सर्वैर्मुच्यते न हि संशयः ॥ ६२॥
दशवारं जपेन्नित्यं पावमानीर्महामतिः । गवानुगमनं प्रोक्तं गोघ्नस्यैव न चान्यथा ॥ ६३ ॥
उपवासत्रयं कृत्वा कण्ठमात्रोदके स्थितः । मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ ६४ ॥
गायत्र्यष्टसहस्रं तु जपित्वा तु दिने दिने । सप्ताहात्सर्वपापेभ्यो मुच्यते भैक्षभुङ्नरः ॥ ६५ ॥
उपवासत्रयं कृत्वा चत्वारिंशद्घृताहुतीः । कूष्माण्डैर्जुहुयात्सर्वपापेभ्यो मुच्यते नरः ॥ ६६ ॥
जपित्वा शिवसंकल्पमस्यवामीयमेव च । सुवर्णस्तेयदोषेण मुच्यते न हि संशयः ॥ ६७ ॥

पावमानीर्जपन्निति । पवमानसोमदेवताका ऋचः पावमान्यः ॥ ६२–६३ ॥ कूष्माण्डैरिति । 'यद्देवा देवहेडनम्' इत्यादिकाः स्वयंभुवकाण्डसमाम्नाता मन्त्राः कूष्माण्डाः ॥ ६६ ॥ जपित्वा शिवसंकल्पमिति । 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति यस्मिन्सूक्ते शि(तच्छि) वसंकल्पम् । 'अस्य वामस्य' इति सूक्तमस्यवामीयम् ॥ ६७ ॥

महापापादि पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ५९ ॥ मौन होकर गायत्री का एक लाख जप करने से महापाप आदि का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ६० ॥ व्याहृतियों व प्रणव सहित सोलह प्राणायाम रोज़ करे तो भ्रूणहत्यारा भी पवित्र हो जाता है ॥ ६१ ॥ गोशाला में रहते हुए और भिक्षा से प्राप्त भोजन ही करते हुए साल भर पावमानी ऋचाओं का जप करने से सभी पापों से निःसंदेह छूट जाता है ॥ ६२ ॥ नित्य दस बार पावमानी ऋचाओं का जप करना चाहिये । गोहत्यारा हो तो गायों का अनुगमन भी करे ॥ ६३ ॥ तीन दिन उपवास कर कण्ठ तक गहरे जल में स्थित हो तीन बार अघमर्षण सूक्त का जप करने से सभी पाप छूट जाते हैं ॥ ६४ ॥ भिक्षा का अन्न खाते हुए सात दिन तक रोज़ आठ हज़ार गायत्री जपने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ६५ ॥ तीन दिन उपवास कर कूष्माण्ड मन्त्रों से चालीस घृताहुतियों का प्रक्षेप करे तो व्यक्ति सब पापों से छूट जाता है ॥ ६६ ॥ शिवसंकल्पसूक्त और अस्यवामीय सूक्त का जप करने से स्वर्ण की चोरी का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ६७ ॥ पुरुषसूक्त और हविष्पान्तीय सूक्त का जप करने से

१ क. ख. ग. घ. °हृतीः स° ।

जपित्वा पौरुषं सूक्तं हविष्पान्तीयमेव च । गुरुतल्पगदोषेण मुच्यते न हि संशयः ॥ ६८ ॥

उपवासत्रयं कुर्याद्धोमश्चाऽऽज्येन धीमता । पौरुषेण च सूक्तेन सर्वपापनिवृत्तये ॥ ६९ ॥

पवित्रमृषभं तोये स्थित्वा जप्त्वा दशावरम् ।

त्रिरात्रोपोषितः स्तेयान्मुच्यते न हि संशयः ॥ ७० ॥

उपवासत्रयं कृत्वा भस्मोद्धूलितविग्रहः । रुद्राध्यायी विमुच्येत सुरापानान्न संशयः ॥ ७१ ॥

द्रुपदा नाम गायत्री वेदे वाजसनेयके । पञ्च जप्त्वा जले मग्नो मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७२ ॥

अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा । महापातकसंघैश्च मुच्यते हि दशावरैः ॥ ७३ ॥

जपेत्तरत्समन्दीयमभक्ष्यस्य तु भक्षणे । तद्दोषेण विमुच्येत मानवस्तु न संशयः ॥ ७४ ॥

[1]इन्द्रं मित्रं तदेनस्वी जपेदब्दार्धमादरात् । भैक्ष्याहारो विशुध्येत पातकैश्च महत्तरैः ॥ ७५ ॥

प्राणायामशतं कुर्वन्सर्वपापैः प्रमुच्यते । प्राणायामसहस्रैस्तु मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ७६ ॥

'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदम्' इति सूक्तं हविष्पान्तीयम् ॥ ६८-६९ ॥ पवित्रमृषभमिति । 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः' इति श्रुतेः प्रणव ऋषभः ॥ ७०–७१ ॥ द्रुपदा नामेति । 'द्रुपदादिव मुमुचानः' इत्येषा ॥ ७२ ॥ अवेत्यृचमिति । 'अव ते हेळो वरुण' इत्येषा 'यत्किंचेदं वरुण' इति ॥ ७३ ॥ जपेत्तरत्समन्दीयमिति । 'तरत्समन्दी धावति' इति सूक्तम् ॥ ७४ ॥ इन्द्रमिति । 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इति ॥ ७५–८९ ॥

गुरुपत्नी से संभोग का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ६८ ॥ तीन उपवास और पुरुषसूक्त से आज्यहोम करे तो सब पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ६९ ॥ तीन दिन उपवास करे और जल में खड़े हो दस बार प्रणव का जप करे तो चोरी का पाप छूट जाता है ॥ ७० ॥ तीन दिन उपवास कर शरीर को भस्म से उद्धूलित कर रुद्राध्याय का जप करने से सुरा पान का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ७१ ॥ जल में डूब कर (डुबकी लगाये हुए) वाजसनेयी संहिता में (२०.२०) आयी द्रुपदा नामक गायत्री का पाँच बार जप करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ७२ ॥ 'अव' इत्यादि अथवा 'यात्किंचेदम्' इत्यादि ऋचाओं का एक साल जप करने से यदि दस से कम पाप हों तो वे चाहे महापाप ही क्यों न हों, छूट जाते हैं ॥ ७३ ॥ अभक्ष्य खा लेने का प्रायश्चित्त है तरत्समन्दीय सूक्त का जप करना ॥ ७४ ॥ पापी आधे वर्ष तक 'इन्द्रं मित्रम्' इत्यादि का जप भिक्षाशी रहते हुए करे तो महान् पापों से छूट जायेगा ॥ ७५ ॥ एक सौ प्राणायाम करने से सब पाप छूट जाते हैं । हज़ारों प्राणायाम करने से भवबंधन से ही मुक्ति मिल जाती है ॥ ७६ ॥ सिर को भी जल में डुबाकर व्याहृतियों व प्रणव सहित

१ ख. ग. घ. इन्द्रमित्येत° ।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेत्तु जले मग्नः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७७ ॥
तिलहोमसहस्रेण व्याहृत्या प्रणवेन वा । महापातकसंघैश्च मुच्यते न हि संशयः ॥ ७८ ॥
महादेवेति यो ब्रूयात्प्रातरुत्थाय नित्यशः । जन्मान्तरसहस्रेषु कृतं पापं विनश्यति ॥ ७९ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
शिवेति कीर्तयन्मर्त्यः[1] पातकैस्तु विमुच्यते ॥ ८० ॥
पुण्या भागीरथी लोके पुण्या वाराणसी पुरी ।
पुण्या वेदाः शिवः पुण्यः पुण्यं तिर्यक्त्रिपुण्ड्रकम् ॥ ८१ ॥
पञ्च पुण्यानि यो मर्त्यः[2] प्रातरुत्थाय कीर्तयेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ८२ ॥
विषुवायनकालेषु ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । शिवशब्दजपं कुर्वन्मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८३ ॥
व्यतीपाते तिलं धान्य ब्राह्मणाय ददाति यः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ८४ ॥
पञ्चदश्यां समुद्दिश्य महादेवं सितेतरे । ब्राह्मणं भोजयित्वा तु मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८५ ॥

गायत्री का तीन बार पाठ करे तो सब पाप छूट जाते हैं ॥ ७७ ॥ व्याहृतियों या प्रणव से तिल की हज़ार आहुतियाँ देने से महापातकसमूहों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ७८ ॥ प्रातः उठकर रोज़ जो 'महादेव' ऐसा बोलता है उसके हज़ारों पूर्वजन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ७९ ॥ ब्राह्म मुहूर्त में उठकर, शुद्ध होकर एकाग्रता से जो 'शिव' ऐसा कीर्तन करता है वह पापों से निवृत्त हो जाता है ॥ ८० ॥ प्रातः उठकर जो इन पाँच पुण्यों का कीर्तन करता है वह सब पापों से रहित हुआ परागति पाता है—लोक में भागीरथी पुण्य है, वाराणसी पुरी पुण्य है, वेद पुण्य हैं, शिव पुण्य है, त्रिपुण्ड्र पुण्य है ॥ ८१–८२ ॥ विषुव व अयन के समय तथा चंद्र या सूर्य के ग्रहण के समय 'शिव' शब्द का जप करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ८३ ॥ व्यतीपात योग होने पर जो ब्राह्मण को तिल और धान्य देता है वह सब पापों से रहित हो परा गति पाता है ॥ ८४ ॥ महादेव के उद्देश्य से पूर्णिमा को ब्राह्मण-भोजन कराने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ८५ ॥ शिव के उद्देश्य से कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को ब्राह्मण-भोजन

१ ख. ग. "यन्सर्वैः पा" । २ ख. ग. घ. नित्यं ।

यस्तु कृष्णचतुर्दश्यां शिवमुद्दिश्य भोजयेत् ।
ब्राह्मणं पातकैः सर्वैर्मुच्यते न हि संशयः ॥ ८६ ॥
कृष्णाष्टम्यां द्विजश्रेष्ठं भोजयेच्छंकरात्मना । सर्वपापविनिर्मुक्तः शंकरं याति मानवः ॥ ८७ ॥
अर्कवारे तु सावित्रीं जपित्वाऽष्टोत्तरं शतम् ।
भोजयत्वा द्विजश्रेष्ठं मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८८ ॥
आर्द्रायां रुद्रमुद्दिश्य भोजयित्वा द्विजोत्तमम् । सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात् ॥ ८९ ॥
महामघे महादेवमभिषिच्य घृतेन तु । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते हि महत्तरैः ॥ ९० ॥
माघे मासि चतुर्दश्यां कृष्णपक्षे महेश्वरम् । बिल्वपत्रेण संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९१ ॥
उत्तरे फाल्गुने मासि पलाशकुसुमेन च । महादेवं समाराध्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९२ ॥
वसन्तकाले चित्रायां सुगन्धकुसुमैर्हरम् । पूज्य प्रासङ्गिकाद्यैस्तु मुच्येत पातकैर्नरः ॥ ९३ ॥
सकृद्गङ्गाजले स्नात्वा वाराणस्यां महेश्वरम् ।
दृष्ट्वा विश्वेश्वराख्यं तु मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९४ ॥
गोदावर्यां [1]सकृत्स्नानात्सिंहयुक्ते बृहस्पतौ । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९५ ॥

महामघ इति । माघपौर्णमासीयुक्तं मघर्क्षं महामघम् ॥ ९०–९१ ॥ उत्तरे फाल्गुन इति। फाल्गुनमासस्योत्तरफल्गुन्यामित्यर्थः ॥ ९२–१२१ ॥

कराने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ८६ ॥ कृष्णाष्टमी को किसी उत्तम ब्राह्मण को शिवरूप समझते हुए उसे भोजन कराने से सब पापों से छूट कर शिवप्राप्ति होती है ॥ ८७ ॥ रविवार को एक सौ आठ गायत्री जप कर श्रेष्ठ ब्राह्मण को भोजन कराने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ८८ ॥ आर्द्रा नक्षत्र वाले दिन में रुद्र के उद्देश्य से उत्तम ब्राह्मण को भोजन कराने से सब पापों से छूटकर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ ८९ ॥ मघानक्षत्र युक्त माघी पूर्णिमा को महादेव का घी से अभिषेक कर ब्रह्महत्यादि अत्युग्र पापों से मनुष्य छूट जाता है ॥ ९० ॥ माघ कृष्णा चतुर्दशी को बिल्व पत्र से महेश्वर की पूजा करने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ ९१ ॥ वसन्त ऋतु में चित्रा नक्षत्र के दिन सुगन्धयुक्त पुष्पों से महादेव की पूजा करने से प्रासंगिक नामक पापों का प्रायश्चित हो जाता है ॥ ९३ ॥ एक बार काशी में गंगास्नान कर विश्वनाथ का दर्शन करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ९४ ॥ बृहस्पति जब सिंह राशि में हो तब एक वार गोदावरी में स्नान करने से ब्रह्महत्या आदि पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ९५ ॥ माघ

१ ख. घ. °त्स्नात्वा सिंह° ।

माघमासि मघर्क्षे तु सुवर्णमुखरीजले । स्नात्वा दत्त्वा महापापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९६ ॥
स्नात्वा तु शिवगङ्गायां पर्वयुक्तेऽर्कवासरे[1] । महापातकसंघैश्च मुच्यते नात्र संशयः ॥ ९७ ॥
सोमवारे त्वमावस्यां सप्तम्यामर्कवासरे । सकृत्स्नानेन कावेर्यां मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९८ ॥

स्नात्वा दत्त्वा तु विप्राय गन्धमादनपर्वते ।
दृष्ट्वा रामेश्वरं देवं मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ९९ ॥
अन्नपानादिभिर्भक्त्या ब्रह्मनिष्ठं समर्चयेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शंकरं याति मानवः ॥ १०० ॥
श्रीमद्दभ्रसभामध्ये नृत्यन्तं देवनायकम् ।
दृष्ट्वा दिने दिने पापैर्मुच्यते दशभिर्दिनैः ॥ १०१ ॥
संन्यासश्चापि पापानां प्रायश्चित्तं प्रकीर्तितम् ।
पापिष्ठानामयोग्यानां योग्यानां मुक्तिसाधनम् ॥ १०२ ॥
चतुर्विधस्तु संन्यासो वृत्तिभेदेन सत्तमाः ।
एकः कुटीचकः प्रोक्तस्तथाऽन्यश्च बहूदकः ॥ १०३ ॥

हंसश्चान्यस्तथैवान्यः परहंससमाश्रयः । कुटीचकादपि श्रेष्ठो भिक्षुकश्च बहूदकः ॥ १०४ ॥

हंसो बहूदकाच्छ्रेष्ठः परहंसस्ततः परः ।
परहंसादपि श्रेष्ठ आश्रमी नास्ति कश्चन ॥ १०५ ॥
कुटीचकाश्च हंसाश्च तथैव च बहूदकाः ।
नित्यानुष्ठानतः शुद्धा भवन्ति द्विजपुंगवाः ॥ १०६ ॥

में मघा नक्षत्र के दिन स्वर्णमुखरी में नहा कर दान करने से महापाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ९६ ॥ पर्व के दिन (पूर्णिमा या अमावस्या को) यदि रविवार हो तो शिवगंगा में स्नान करने से महापातक-समूह निवृत्त हो जाते हैं ॥ ९७ ॥ सोमवती अमावस को या रविवार के दिन सप्तमी को एक बार कावेरी में नहाने से सब पाप धुल जाते हैं ॥ ९८ ॥ गंधमादन पर्वत पर स्नान व ब्राह्मणों को दान कर रामेश्वर का दर्शन करे से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ९९ ॥ भक्तिपूर्वक अन्नपान आदि द्वारा ब्रह्मनिष्ठ की अर्चना करने से सब पापों से छूट कर मानव शंकर को प्राप्त होता है ॥ १०० ॥ दस दिन तक रोज़ दभ्रसभा में (चिदम्बर में) नटराज का दर्शन करे से पाप छूट जाते हैं ॥ १०१ ॥ घोर पापी अतएव कल्याण प्राप्ति के अयोग्य लोगों के लिये संन्यास भी प्रायश्चित्त बताया गया है । योग्यों के लिये तो वह मोक्ष का उपाय है ॥ १०२ ॥ संन्यास चार तरह का है । प्रत्येक संन्यास में व्यापार (धर्म) अलग-अलग हैं । इनके नाम हैं—कुटीचक,

---

१ ख. ग. घ. °वारके ॥ म° ।

चित्तशुद्ध्या मुमुक्षुत्वं क्रमात्तेषां विजायते । मुमुक्षुत्वे तु संजाते भवेयुः परहंसकाः ॥ १०७ ॥
परहंसस्तु नित्याख्यं कर्म त्यक्त्वा विधानतः । शगोमादिसाधनो भूत्वा वेदान्तज्ञानमभ्यसेत्[1] ॥ १०८ ॥
कुटीचकाख्यः संन्यासी तथैव च बहूदकः । गोवालरज्जुसंबन्धं त्रिदण्डं च कमण्डलुम् ॥ १०९ ॥
पात्रं जलपवित्रं च तथा काषायमेव च । शिखां यज्ञोपवीतं च पवित्रं चैव धारयेत् ॥ ११०॥
पात्रं जलपवित्रं च पवित्रं च तथैव च । कुण्डिकां चोपवीतं च हंसस्यापि समं बुधाः ॥ १११॥
हंसः परमहंसश्च सत्वचं सौम्यमव्रणम् । एकं तु वैणवं दण्डं काषायं चैव धारयेत् ॥ ११२ ॥
परहंसस्य हंसस्य समानं मौण्ड्यमास्तिकाः । स्नानं शौचं शिवध्यानं शिवार्चा[2] भस्मगुण्ठनम् ॥ ११३ ॥
त्रिपुण्ड्रधारणं शान्तिर्दान्तिः क्रोधादिवर्जनम् । चातुर्मास्यं च सर्वेषां समानं परिकीर्तितम् ॥ ११४ ॥
पापिष्ठः कर्मसंन्यासं कृत्वा शास्त्रोक्तवर्त्मना । प्राणत्यागं पुनः कुर्यात्पापानां च विशुद्धये ॥ ११५॥
योगी संन्यासमापन्नः प्राणत्यागं कदाचन । न कुर्यान्मोहतो वाऽपि ज्ञानमेव सदाऽभ्यसेत् ॥ ११६॥
संन्यासेन समं नास्ति प्रायश्चित्तं द्विजर्षभाः । ततः पापनिवृत्त्यर्थं संन्यसेत्परितापितः ॥ ११७ ॥
रहस्यानां च संन्यासः प्रायश्चितं तथैनसाम् । प्रसिद्धानां च पापानां प्रायश्चित्तमयं तथा ॥ ११८॥
शिवज्ञानं शिवध्यानं शिवशब्दजपस्तथा । अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मना चावगुण्ठनम् ॥ ११९ ॥
रुद्राक्षधारणं भक्त्या त्रिपुण्ड्रस्य च धारणम् । संन्यासश्चैव पापानां प्रायश्चित्तं महत्तरम् ॥ १२० ॥

बहूदक, हंस और परमहंस । उत्तरोत्तर को श्रेष्ठ जानना चाहिये । परमहंस से श्रेष्ठ कोई आश्रम वाला नहीं है ॥ १०३–१०५ ॥ कुटीचकादि त्रिविध यति नित्यकर्म के अनुष्ठान से शुद्ध हो जाया करते हैं ॥ १०६ ॥ चित्तशुद्धि द्वारा उन्हें मुमुक्षा होती है । तदनन्तर वे परमहंस हो जाते हैं ॥ १०७ ॥ परमहंस तो यथाविधि नित्यकर्म का परित्याग करते हैं और शम आदि साधनों की पुष्कलता के लिये प्रयास करते हुए वेदान्तों का अभ्यास करते हैं ॥ १०८ ॥ कुटीचक और बहुदक को गोवाल की रज्जु से बँधे त्रिदण्ड, कमण्डलु, पात्र, पानी छानने के वस्त्र, काषाय, शिखा, यज्ञोपवीत और पवित्र का धारण करना चाहिये ॥ १०९–११० ॥ हंस को भी पात्र, पानी छानने का वस्त्र, पवित्र (कुश), कुण्डिका और उपवीत धारण करना चाहिये ॥ १११ ॥ हंस और परमहंस एक बाँस का दण्ड रखें जो छीला न गया हो । काषाय वस्त्र उन्हें धारण करना चाहिये ॥ ११२ ॥ हंस व परमहंस दोनों को मुण्डित रहना चाहिये । स्नान, सफाई, शिवध्यान, शिव-अर्चना, भस्मधारण, त्रिपुण्ड्रधारण, शम, दम, अक्रोध और चातुर्मास्य व्रत—ये सभी के लिये समान हैं ॥ ११३–११४ ॥ घोर पापी यदि पापों से छूटना चाहे तो उसे शास्त्रीय विधि के अनुसार कर्मों से संन्यास लेकर पुनः प्राण छोड़ देने चाहिये ॥ ११५ ॥ इससे विपरीत जो साधक हो (जिसने प्रायश्चित्तार्थ संन्यास न किया हो) वह संन्यास धारण कर प्राण त्यागने का कभी प्रयास न करे । उसे सदा ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये ॥ ११६ ॥ संन्यास के समान कोई प्रयश्चित्त नहीं है । अतः जिसे अपने किये पापों का परिताप हो उसे संन्यास ग्रहण (व तदनंतर प्राणत्याग) करना चाहिये ॥ ११७ ॥ गुप्त व प्रकाशित सभी पापों का प्रायश्चित्त है संन्यास ॥ ११८ ॥ शिवज्ञान, शिवध्यान, 'शिव' शब्दका जप, 'अग्निरिति भस्म' आदि मंत्रों से भस्मोद्धूलन, रुद्राक्षधारण, भक्तिपूर्वक त्रिपुण्ड्रधारण और संन्यास पापों का श्रेष्ठ प्रायश्चित्त है ॥ ११९–१२० ॥ करुणामय सर्वज्ञ गुरु व्यासदेव ने जो मुझे प्रायश्चित्तविषयक

---

१ अत आचार्या आहुः—'ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्मे'ति (सूत्र भा. ३.४.२.२०) ब्रह्म वेदस्तन्निष्ठता श्रवणादिपरत्वम् । यद्वा त्वमर्थविवेको ब्रह्मनिष्ठता । त्वमर्थस्य विवेकाय संन्यास इति विवेकं परित्यजेच्चेत्प्रत्यवेयादित्यादि स्मृतौ प्रसिद्धम् ।
२ ङ. भस्मधारणम् ।

सर्ववेदरहस्यमिदं मया केवलं कृपयैव समीरितम् ।
प्राह कारुणिकः सकलार्थविद्देशिकप्रवरप्रवरस्तु मे ॥ १२१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे प्रायश्चित्तविचारो नाम द्वाचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच–भूयोऽपि पापशुद्ध्यर्थमुपायं प्रवदाम्यहम् ।
महत्या श्रद्धया युक्ताः शृणुत ब्रह्मवित्तमाः ॥ १ ॥
निर्मितानि शिवेनैव भूमौ स्थानानि देहिनाम् ।
सर्वपापविशुद्ध्यर्थं तानि वक्ष्याम्यशेषतः ॥ २ ॥
अमरेशमिति प्रोक्तं स्थानं सर्वार्थसाधकम् । ओंकारसंज्ञस्तत्रेशश्चण्डिकाख्या महेश्वरी ॥ ३ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायां प्रायश्चित्तविचारो नाम द्वाचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

एवं वेदाधिकृतानां चित्तपरिपाकानुसारेण वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मात्मज्ञानतद्ध्यानवैदिकमन्त्रजपादिकं प्रायश्चित्तत्वेनोपदिष्टम् । अथ[1]सर्वसाधारणममरेशादिस्थानविशेषेषु शक्तिसहितस्य परमेश्वरस्य तत्तन्नाम्ना पूजनात्मकं पापक्षयोपायं वक्तुमारभते–भूयोऽपीति ॥ १-२() ॥

शास्त्ररहस्य बताया था उसे मैंने आप लोगों को केवल कृपा कर सुना दिया है ॥ १२१ ॥

पापशुद्धि के उपायों का कथन नामक तेंतालीसवाँ अध्याय

सूतजी बोले–पापों से निवृत्त होने के कुछ और उपाय बताता हूँ । (इन्हें सभी वर्ण वाले कर सकते हैं) बड़ी श्रद्धापूर्वक सुनिये ॥ १ ॥ शिव ने ही भूमि पर कई स्थान इसलिये बनाये हैं कि प्राणी पापों से शुद्धि पा सके । उन सब स्थानों को मैं बताता हूँ ॥ २ ॥

अमरेश नामक स्थान सब सिद्धियाँ देने वाला है । वहाँ महादेव ओंकारेश्वर नाम से और महेश्वरी चण्डिका नाम से स्थित हैं । वहाँ शिव व पार्वती की उस उस नाम से पूजा कर सब पापों से व्यक्ति

---

१ ख. "र्ववर्णसा" ।

प्रभासाख्यं महास्थानमस्ति भूमितले द्विजाः ।
सोमनाथः शिवस्तत्र शिवा सा पुष्करेक्षणी ॥ ५ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६ ॥
नैमिषाख्यं महास्थानमस्ति तत्र महेश्वरः ।
देवदेवाभिधः[1] प्राज्ञा देवी सा लिङ्गधारिणी ॥ ७ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८ ॥
पुष्कराख्यं महास्थानमन्यदस्ति महीतले । रजोगन्धिर्महादेवः पुरुहूता महेश्वरी ॥ ९ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १० ॥
आषाढी नाम विप्रेन्द्राः स्थानमस्ति महीतले ।
आषाढीशो हरस्तत्र रतिः सा परमेश्वरी ॥ ११ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १२ ॥

छूट जाता है ॥ ३–४ ॥ पृथ्वी पर प्रभास नाम का एक महान् स्थान है । वहाँ सोमनाथ नाम के महादेव तथा पुष्करेक्षणी नाम की देवी हैं । परम श्रद्धा से उस उस नाम से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ५–६ ॥ नैमिष नामक एक अन्य श्रेष्ठ स्थान है । वहाँ महेश्वर का नाम है देवदेव और देवी का नाम है लिंगधारिणी । इन नामों से वहाँ इनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ७–८ ॥ पुष्कर नामक एक उत्तम तीर्थ है । वहाँ रजोगन्धि महादेव हैं और पुरुहूता देवी हैं । वहाँ इन नामों से उनकी पूजा करना सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ९–१० ॥ धरती पर एक आषाढी नामक स्थान है । शिव का वहाँ नाम है आषाढीश और देवी का रति । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पापों की निवृत्ति हो जाती है ॥ ११–१२ ॥ एक अधिक महान् स्थान है जिसका नाम है चण्डमुण्डी । वहाँ महादेव हैं दण्डी और परमेश्वरी हैं दण्डिनी । इन नामों से वहाँ इनका पूजन करने से सब

१ ङ. "भिधस्तत्र दे" ।

चण्डमुण्डीसमाख्यं तु स्थानमन्यन्महत्तरम् । दण्डी तत्र महादेवो दण्डिनी परमेश्वरी ॥ १३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १४ ॥

भारभूतिरिति ख्यातमस्ति स्थानं महत्तरम् । भारभूतिर्महादेवो भूतिः सा परमेश्वरी ॥ १५ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १६ ॥

नाकुलं नाम संशुद्धमस्ति स्थानं महीतले ।
नकुलीशो हरस्तत्र शिवा सैव प्रकीर्तिता ॥ १७ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ १८ ॥

हरिश्चन्द्रसमाख्यं च स्थानमस्ति महीतले ॥
हराख्यः शंकरस्तत्र चण्डिकाख्या महेश्वरी ॥ १९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २० ॥

श्रीपर्वतसमाख्यं च स्थानमस्ति महत्तरम् । मायावी शंकरी तत्र शंकरस्त्रिपुरान्तकः ॥ २१ ॥

मायावीति । यद्यपि 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विन्नन्तात्स्त्रियां ङीपि मायाविनीति भवितव्यं तथाऽपि पुराणानामप्यार्षत्वेन च्छन्दोवद्भावत्वात् 'बहुलं छन्दसि' इति बहुलग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् 'नस्तद्धिते' इत्युच्यमानष्टिलोपोऽतद्धिते ङीप्यपि द्रष्टव्यः ॥ २१-९६ ॥

पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३–१४ ॥ भारभूति नाम का एक श्रेष्ठ स्थान है जहाँ परमेश्वर का नाम भारभूति और देवी का नाम भूति है । इन नामों से वहाँ उनका पूजन करने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १५–१६ ॥ नाकुल नामक एक विशुद्ध स्थान है । वहाँ शिव हैं नकुलीश और शिवा भी वही बतायी गयी हैं । परम श्रद्धा से वहाँ इन नामों से उनकी पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ १७–१८ ॥ हरिश्चन्द्र नामक एक स्थान है । वहाँ हर नाम से महेश्वर और चण्डिका नाम से देवी प्रतिष्ठित हैं । इन नामों से वहाँ उनकी श्रद्धा से पूजा करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है ॥ १९–२० ॥ श्रीपर्वत नाम का एक प्रशस्यतर स्थान है । शिव वहाँ त्रिपुरान्तक नाम से हैं और

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २२ ॥
जप्येश्वरमिति ख्यातं स्थानमस्ति महत्तरम् ।
त्रिशूला[1] शंकरी तत्र त्रिशूली परमेश्वरः ॥ २३ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २४ ॥
आम्रातकेश्वरं नाम स्थानमन्यत्सुशोभनम् ।
तत्र सूक्ष्माभिधो रुद्रः सूक्ष्माख्या परमेश्वरी ॥ २५ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २६ ॥
महाकाल इति प्रोक्तमन्यदस्ति महत्तरम् ।
महाकालो हरस्तत्र शंकरी सा महेश्वरी ॥ २७ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ २८ ॥
मध्यमाख्यं महास्थानमस्ति मायाविषापहम् ।
तत्र शर्वः शिवः साक्षाच्छर्वाणी परमेश्वरी ॥ २९ ॥

देवी मायावी नाम से । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करना सब पापों से छुड़ा देता है ॥ २१–२२ ॥ एक उत्तम स्थान है जप्येश्वर । वहाँ परमेश्वर हैं त्रिशूली और देवी हैं त्रिशूला । इन नामों से वहाँ उनका सश्रद्ध पूजन करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ २३–२४ ॥ एक अन्य सुशोभन स्थान है—आम्रातकेश्वर । वहाँ रुद्र का नाम है सूक्ष्म और देवी का नाम है सूक्ष्मा । वहाँ श्रद्धा से इन नामों से उनका पूजन करने से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ २५–२६ ॥ एक अन्य महान् स्थान है महाकाल जहाँ हर हैं महाकाल और शंकरी महेश्वरी हैं । वहाँ श्रद्धा से इन नामों से उनका पूजन करने से सब पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ २७–२८ ॥ माया विष को हटाने वाला मध्यम नाम का स्थान है । वहाँ शिव का नाम है

१ घ. ङ. °शूली शंकरस्तत्र त्रिशूली परमेश्वरी ॥ २३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३० ॥
केदाराख्यं महास्थानमस्ति भूमितले शुभम् ।
ईशानाख्यो हरस्तत्र देवी सा मार्गदायिनी ॥ ३१ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३२ ॥
भैरवाख्यं महास्थानं भवरोगस्य भेषजम् । भैरवः शंकरस्तत्र भैरवी परमेश्वरी ॥ ३३ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३४ ॥
गया नाम महाक्षेत्रमस्ति भूमितले शुभम् । मङ्गलाख्या महादेवी शंकरः प्रपितामहः ॥ ३५ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तनांम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३६ ॥
कुरुक्षेत्रमिति ख्यातमस्ति क्षेत्रं महीतले ।
शिवा स्थाणुप्रिया तत्र शिवः स्थाणुसमाह्वयः ॥ ३७ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तनाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३८ ॥

शर्व और भगवती हैं शर्वाणी । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ २९–३० ॥ पृथ्वी पर एक और शुभ स्थान है केदार । वहाँ महादेव का नाम है हर और देवी का नाम है मार्गदायिनी । इन नामों से वहाँ उनकी सश्रद्ध पूजा करने से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ३१–३२ ॥ भवरोग की दवारूप भैरव नामक एक महान् स्थान है । वहाँ शंकर हैं भैरव और परमेश्वरी हैं भैरवी । इन नामों से वहाँ उनका पूजन सब पापों को निवृत्त कर देता है ॥ ३३–३४ ॥ भूमितल पर गया नाम का एक शुभ महाक्षेत्र है । शंकर वहाँ प्रपितामह हैं और मंगला देवी हैं । वहाँ उनकी श्रद्धा से इन नामों से पूजा करें तो सब पाप छूट जाते हैं ॥ ३५–३६ ॥ ऐसे ही एक स्थान है कुरुक्षेत्र । वहाँ शिव हैं स्थाणु और देवी हैं स्थाणुप्रिया । इन नामों से वहाँ उनका पूजन सब पापों का निवारक है ॥ ३७–३८ ॥ लाकुल नामक स्थान सर्वार्थप्रद है । महादेव वहाँ हैं स्वयंभू और देवी हैं स्वायंभुवी ।

लाकुलाख्यं महास्थानमस्ति सर्वार्थसाधकम् ।

स्वयंभूस्तत्र देवेशः शिवा स्वायंभुवी मता ॥ ३९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४० ॥

अन्यत्कनखलं नाम स्थानमस्ति महत्तरम् । उग्रस्तत्र महादेवः शिवोग्रा मुनिपुंगवाः ॥ ४१ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४२ ॥

विमलेश्वरमित्युक्तमन्यदस्ति महीतले । विश्वस्तत्र महादेवो विश्वेशा परमेश्वरी ॥ ४३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४४ ॥

अट्टहासमिति प्रोक्तमन्यदस्ति महत्तरम् । महानन्दो हरस्तत्र महानन्दा महेश्वरी ॥ ४५ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४६ ॥

महेन्द्रमिति विख्यातमन्यदस्ति महीतले ।

हरो महान्तकस्तत्र शिवा सा तु महान्तका ॥ ४७ ॥

इन नामों से उनकी वहाँ पूजा सब पापों का निवारण करती है ॥ ३९–४० ॥ एक अन्य उत्तम स्थान है कनखल । महादेव वहाँ हैं उग्र और उग्रा महादेवी हैं । इन नामों से उनकी वहाँ पूजा करना सब पापों की निवृत्ति करता है ॥ ४१–४२ ॥ विमलेश्वर नामक एक और शिवस्थान है जहाँ महादेव विश्व नाम से और देवी विश्वेशा नाम से प्रतिष्ठित हैं । श्रद्धापूर्वक वहाँ उनका इन नामों से पूजन सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ४३–४४ ॥ अट्टहास नामक स्थान पर महानन्द महादेव तथा महानन्दा देवी हैं । वहाँ उनकी इन नामों से पूजा सब पापों को निवृत्त करती है ॥ ४५–४६ ॥ महेन्द्र नामक स्थान पर महान्तक महादेव और महान्तका देवी हैं । इन नामों से उनका वहाँ पूजन पापमोचक है ॥ ४७–४८ ॥ भयनिवारक

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ४८ ॥
भीमं नाम महास्थानमस्ति भीतिविनाशनम् ।
तत्र भीमेश्वरो देवः शिवा भीमेश्वराभिधा ॥ ४९ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५० ॥
वस्त्रापथमिति ख्यातमस्ति स्थानं महत्तरम् । भवस्तत्र शिवः साक्षाद्भवानी परमेश्वरी ॥ ५१ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५२ ॥
अर्धकोटिरिति ख्यातमन्यदस्ति सुशोभनम् । देवस्तत्र [1]महायोगी रुद्राणी च महेश्वरी ॥ ५३ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५४ ॥
अविमुक्तमिति ख्यातमन्यदस्ति सुशोभनम् । महादेवाभिधः शंभुर्विशालाक्षी शिवा परा ॥ ५५ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५६ ॥
महालयमिति ख्यातमन्यदस्ति सुशोभनम् । रुद्रस्तत्र हरः साक्षान्महाभागाभिधा शिवा ॥ ५७ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ५८ ॥

भीम नामक स्थान पर भीमेश्वर महादेव और भीमेश्वरा देवी हैं । वहाँ इन नामों से उनकी पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ४९–५० ॥ वस्त्रापथ नामक एक श्रेष्ठ स्थान है । शिव वहाँ भव हैं और परमेश्वरी वहाँ भवानी हैं । इन नामों से सश्रद्ध वहाँ उनका पूजन सब पापों का निवारक है ॥ ५१–५२ ॥ अर्धकोटि नाम का एक अन्य स्थान है । शिव-पार्वती का वहाँ नाम है महायोगी और रुद्राणी । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ५३–५४ ॥ एक श्रेष्ठ स्थान है अविमुक्त जहाँ शंभु का नाम है महादेव और देवी विशालाक्षी हैं । इन नामों से उनका वहाँ पूजन सब पापों को निवृत्त करता है ॥ ५५–५६ ॥ महालय नामक एक शुभ स्थान है । हर नाम से रुद्र और महाभागा नाम से देवी वहाँ स्थित हैं । इन नामों से उनकी वहाँ पूजा सब पापों की निवारक है ॥ ५७–५८ ॥ भूतल पर

---

१ ग. महादेवो ।

गोकर्णाख्यं महास्थानमस्ति भूमितले शुभम् ।

महाबलो हरस्तत्र शिवा सा भद्रकर्णिका ॥ ५९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६० ॥

भद्रकर्णं महास्थानमस्ति भद्रकरं परम् । भद्रा तत्र महादेवी महादेवः शिवाभिधः ॥ ६१ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६२ ॥

सुवर्णाक्षमिति प्रोक्तमन्यदस्ति महत्तरम् । शिवस्तत्र सहस्राक्ष उत्पलाक्षी शिवा परा ॥ ६३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६४ ॥

स्थाणुसंज्ञं महास्थानमस्ति भूमितले शुभम् ।

शिवः स्थाण्वीश्वरस्तत्र शिवा स्थाण्वीश्वरी परा ॥ ६५ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६६ ॥

कमलालयमित्युक्तमस्ति स्थानं महत्तरम् । कमलाख्यो हरस्तत्र कमलाख्या महेश्वरी ॥ ६७ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।

तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ६८ ॥

गोकर्ण नामक एक परम स्थान है । महाबल वहाँ महादेव और भद्रकर्णिका देवी हैं । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ५९–६० ॥ कल्याणकारी भद्रकर्ण नामक एक उत्तम स्थान है । शिव नाम से महादेव और भद्रा नाम से महादेवी वहाँ स्थित हैं । इन नामों से उनकी वहाँ पूजा करना सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ६१–६२ ॥ सुवर्णाक्ष एक अन्य स्थान है । सहस्राक्ष और उत्पलाक्षी वहाँ शिव व पार्वती हैं । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा सर्वपापनिवारक है ॥ ६३–६४ ॥ एक स्थान है स्थाणु (थानेश्वर, हरियाणा) । शिव वहाँ स्थाण्वीश्वर और शिवा स्थाण्वीश्वरी हैं । वहाँ इन नामों से सश्रद्ध उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ६५–६६ ॥ कमलालय (तिरुवारुर) नामक एक महान् स्थान है जहाँ हर कमल और देवी कमला हैं । इन नामों से वहाँ इनका पूजन सब पापों की

छागण्डलमिति प्रोक्तमन्यदस्ति महत्तरम् । कपर्दी तत्र देवेशः प्रचण्डाख्या महेश्वरी ॥ ६९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७० ॥

[1]कुरण्डमिति विख्यातमन्यदस्ति सुशोभनम् ।
ऊर्ध्वरेता हरस्तत्र त्रिसंध्याख्या[2] शिवा परा ॥ ७१ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७२ ॥

माकोटाख्यं महास्थानमन्यदस्ति महीतले । महोत्कटो हरस्तत्र शिवा सा मुकुटेश्वरी ॥ ७३ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७४ ॥

मण्डलेश्वरसंज्ञं च स्थानमस्ति महत्तरम् ।
श्रीकण्ठस्तत्र देवेशः शंकरी [3]शाण्डकी मता ॥ ७५ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७६ ॥

कालंजरमिति ख्यातमस्ति स्थानं महीतले ।
नीलकण्ठो हरस्तत्र शिवा काली प्रकीर्तिता ॥ ७७ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ७८ ॥

निवृत्ति करता है ॥ ६७—६८ ॥ छागण्डल एक स्थान है जहाँ कपर्दी महादेव और प्रचण्डा देवी हैं। वहाँ उनकी इन नामों से पूजा करना सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ६९—७० ॥ एक और स्थान है कुरण्ड । वहाँ ऊर्ध्वरेता हर हैं और त्रिसन्ध्या देवी हैं । इन नामों से वहाँ उनकी पूजा करने से सब पाप छूट जाते हैं ॥ ७१—७२ ॥ माकोट नामक एक महास्थान है जहाँ महोत्कट और मुकुटेश्वरी नाम से शिव-शिवा स्थित हैं । इन नामों से उनकी वहाँ सश्रद्ध पूजा करने से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं ॥ ७३—७४ ॥ मण्डलेश्वर नामक स्थान पर श्रीकण्ठ और शाण्डकी नाम से शिव-पार्वती हैं । वहाँ उनकी इन नामों से पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है

१ ग. करण्डलमिति ख्या" । २ ग. "ख्या महेश्वरी ॥ ७१ ॥ त" । ३ ग. शार्ङ्की ।

शङ्कुकर्णं महास्थानं सर्वदोषनिवारणम् । महातेजा हरस्तत्र ध्वनिः सा परमेश्वरी ॥ ७९ ॥

तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८० ॥
स्थूलेश्वरसमाख्यं तु स्थानमस्ति महत्तरम् ।
स्थूलस्तत्र महादेवः स्थूला सा परमेश्वरी ॥ ८१ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८२ ॥
श्रीमद्व्याघ्रपुराख्यं तु स्थानमस्ति महीतले ।
हरः सभापतिस्तत्र शिवा [1]दभ्रसभाधिपा ॥ ८३ ॥
तत्र देवं च देवीं च श्रद्धया परया सह ।
तत्तन्नाम्ना तु संपूज्य मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ८४ ॥

यत्र नृत्यति देवेशः स्वात्मानन्दप्रमोदतः । यत्र नृत्यन्तमीशानमम्बिका परिपश्यति ॥ ८५ ॥
यत्र भक्तिमतां नृणां प्रसीदति महेश्वरः । यत्र नृत्यन्तमीशानं दृष्ट्वा मर्त्यो विमुच्यते ॥ ८६ ॥
स्थानानामपि सर्वेषामेतत्स्थानं महत्तरम् । अत्र जप्तं हुतं दत्तमसंख्येयगुणाधिकम्[2] ॥ ८७ ॥

॥ ७५–७६ ॥ कालंजर नामक स्थान पर नीलकण्ठ और काली नाम से देव-देवी हैं और इन्हीं नामों से वहाँ उनका पूजन पापनिवृत्ति कर देता है ॥ ७७–७८ ॥ सब दोषों का निवारक शंकुकर्ण स्थान है। यहाँ महातेजा और ध्वनि नाम से हर और परमेश्वरी स्थित हैं। इन नामों से पूजित वे पाप-निवृत्ति कर देते हैं ॥ ७९–८० ॥ स्थूलेश्वर नामक स्थान पर स्थूल और स्थूला नाम से शिव व देवी हैं। इन नामों से वहाँ उनकी सश्रद्ध पूजा सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ८१–८२ ॥ व्याघ्रपुर स्थान पर शिव का नाम है सभापति और भगवती का नाम है दभ्रसभाधिपा। इन नामों से वहाँ उनका पूजन सब पापों का प्रायश्चित्त है ॥ ८३–८४ ॥ जहाँ महादेव स्वरूपानंद के कारण नृत्य करते हैं और अम्बिका उन्हें नृत्य करते हुए देखती हैं, जहाँ भक्तों पर महेश्वर प्रसन्न होते हैं; वह स्थान सब स्थानों से महत्तर है। यहाँ किया जप, होम व दान असंख्य गुणा अधिक फल देता है ॥ ८५–८७ ॥ इसी (व्याघ्रपुर, चिदम्बर) स्थान पर शिवगंगा नाम का श्रेष्ठ

---

१ "भापती इति आ.आ. पाठः। २ ङ. "गुणात्मक" ।

अस्मिन्नेव महास्थाने शिवगङ्गाभिधं परम् । तटाकमस्ति तत्तीरे दक्षिणे नृत्यतीश्वरः ॥ ८८ ॥

तस्मिन्नेव तटाके यो नित्यं स्नात्वा द्विजा नरः ।
दृष्ट्वा दभ्रसभानाथं परमश्रद्धया सह ॥ ८९ ॥

अष्टोत्तरसहस्रं तु मन्त्रमाद्यं षडक्षरम् । जपति प्रीतिसंयुक्तः प्रसिद्धैरपि[1] मुच्यते ॥ ९० ॥

आदित्ये मेषसंयुक्ते पर्वण्यार्द्रादिने तथा । तटाकेऽस्मिन्नरः स्नात्वा प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९१ ॥

आदित्ये वृषभं प्राप्ते तटाकेऽस्मिन्वृषोदये ।
स्नात्वा दत्त्वा महापापैः प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९२ ॥

आदित्ये मिथुनं प्राप्ते तटाकेऽस्मिन्महत्तरे ।
कृष्णाष्टम्यां नरः स्नात्वा प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९३ ॥

आषाढे तु चतुर्दश्यां कृष्णपक्षे समाहितः ।
तटाकेऽस्मिन्नरः स्नात्वा प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां पौर्णमास्यां तु तटाकेऽस्मिन्समाहितः ।
स्नात्वा तु पातकैः सर्वैः प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९५ ॥

कन्यकायां स्थिते चार्के जन्मर्क्षे चार्कवारके ।
नरः स्नात्वा तटाकेऽस्मिन्प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९६ ॥

आदित्ये च तुलां प्राप्ते भगनक्षत्रके नरः ।
प्रातः स्नात्वा तटाकेऽस्मिन्प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९७ ॥

तालाब है । उसके दाहिने तट पर परमेश्वर नाचते हैं ॥ ८८ ॥ जो व्यक्ति उस तालाब में नित्य नहाकर परम श्रद्धापूर्वक दभ्रसभानाथ नटराज का दर्शन कर एक हज़ार आठ बार षडक्षर का जप करता है वह प्रसिद्ध पापों से भी छूट जाता है ॥ ८९–९० ॥ सूर्य मेष राशि में हो और पर्व के दिन आर्द्रा नक्षत्र हो तो उस तटाक में स्नान करने से प्रसिद्ध पाप भी छूट जाते हैं ॥ ९१ ॥ सूर्य वृष राशि में हो तो इस धर्मोत्पादक तालाब में स्नान करने से व्यक्ति प्रसिद्ध महापापों से भी छूट जाता है ॥ ९२ ॥ सूर्य जब मिथुन राशि में हो तब कृष्णपक्ष की अष्टमी को इसमें नहाने से प्रसिद्ध पापों से भी मनुष्य विमुक्त हो जाता है॥ ९३ ॥ आषाढ कृष्णा चतुर्दशी को इस तालाब में नहाने से प्रसिद्ध पापों से भी मनुष्य छूट जाता है ॥ ९४ ॥ श्रावणी पूर्णिमा को इसमें स्नान करने से प्रसिद्ध पापी को भी सब पापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ९५ ॥ सूर्य जब कन्या राशि में हो तब रविवार को (अथवा जन्म नक्षत्र रहते) इस तालाब में नहाने से प्रसिद्ध पापों से भी नर छूट जाता है ॥ ९६ ॥ आदित्य जब तुला राशि में हो तब पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र वाले दिन प्रातः इस तालाब में स्नान करने से प्रसिद्ध पापों से भी छूट जाता ह

---

१ अप्रसिद्धानां रहसि कृतानां संग्राहकोऽपिकारः ।

आदित्ये वृश्चिकं प्राप्ते पावकस्य दिने नरः ।
प्रातः स्नात्वा तटाकेऽस्मिन् प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९८ ॥
आदित्ये चापसंयुक्ते रौद्रनक्षत्रके नरः । स्नानं कृत्वा तटाकेऽस्मिन्प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ ९९ ॥
आदित्ये मकरं प्राप्ते पुष्यर्क्षे चार्कवारके ।
नरः स्नात्वा तटाकेऽस्मिन्प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ १०० ॥
माघमासि मघर्क्षे तु तटाकेऽस्मिन्महत्तरे ।
स्नानं कृत्वा महापापैः प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ १०१ ॥
फाल्गुने चोत्तरे मर्त्यस्तटाकेऽस्मिन्महत्तरे ।
स्नानं कृत्वा महापापैः प्रसिद्धैरपि मुच्यते ॥ १०२ ॥
अनेन सदृशं स्थानं नास्ति लोकत्रयेष्वपि ।
अत्रैव वर्तमानस्तु मुच्यते भवबन्धनात् ॥ १०३ ॥
अत्र ब्रह्मविदां नित्यमन्नं पेयं ददाति यः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ १०४ ॥
गृहं वा मठिकां वाऽपि प्रदत्त्वाऽत्रैव योगिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शंकरं याति मानवः ॥ १०५ ॥

भगनक्षत्रक इति । 'फल्गुनीनक्षत्रं भगो देवता' इति [2]श्रुतेः पूर्वाफल्गुन्याख्यं भगनक्षत्रम् ॥ ९७ ॥ पावकस्य दिन इति[3] । कृत्तिकायामित्यर्थः ॥ ९८–१०८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे पापशुद्ध्युपायकथनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

॥ ९७ ॥ सूर्य जब वृश्चिक राशि में हो तव कृत्तिका नक्षत्र के दिन प्रातः इस तालाब में नहाने से प्रसिद्ध पापों से भी छूट जाता है ॥ ९८ ॥ आदित्य के धनु राशि में रहने पर रौद्र नक्षत्र (आर्द्रा नक्षत्र) युक्त दिन में इस तालाब में स्नान करने से प्रसिद्ध पापों से भी मनुष्य छूट जाता है ॥ ९९ ॥ आदित्य जब मकर राशि में हो तव रविवार को पुष्य नक्षत्र होने पर इस शिवगंगा नामक तालाब में स्नान करने से प्रसिद्ध पापों का भी प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १०० ॥ माघ महीने में मघा नक्षत्र रहने पर इसमें नहाने से प्रसिद्ध महापापों का भी प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १०१ ॥ उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र रहने पर (फाल्गुन महीने में) इस महत्तर तालाब में स्नान करने से प्रसिद्ध महापापों से भी व्यक्ति छूट जाता है ॥ १०२ ॥ इसके समान कोई स्थान त्रिलोकी में नहीं है । जो मनुष्य नियमतः यहीं रहे वह भवबंधन से छूट जाता है ॥ १०३ ॥

स्थानमेतत्पुरा शंभुः सर्वदोषनिवृत्तये । निर्ममे सर्वजन्तूनां केवलं करुणाबलात् ॥ १०६ ॥

अनेककोटिभिः कल्पैरर्जितैः पुण्यराशिभिः । स्थानमेतन्मनुष्याणां सिध्यत्यत्यन्तशोभनम् ॥ १०७ ॥

सर्वमुक्तमतिशोभनं मया पापराशिविनिवर्तकं नृणाम् ।

स्थानमेतदतिशोभनं सदा सेवनीयमखिलैस्तु जन्तुभिः ॥ १०८ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे पापशुद्ध्युपायकथनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच–अथातः संप्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं समासतः ।

श्रद्धया सह विप्रेन्द्राः शृणुताऽऽत्मविशुद्धये ॥ १ ॥

सच्चिदानन्दरूपस्याऽऽत्मनः स्वाभाविकशुद्धिं सिद्धवत्कृत्य तदुपजीवनेन तत्स्वरूपेऽध्यस्ताविद्यातत्कार्यविलसितरूपस्य दोषजातस्य निवर्तकप्रायश्चित्तमुक्तम् । अथ तां स्वतःशुद्धिमात्मनः प्रतिपादयितुं द्रव्यशुद्धिं प्रतिजानीते–अथात इति ॥ १ ॥

जो यहाँ रोज ब्रह्मवेत्ताओं को अन्न व पेय का दान करता है वह सब पापों से छूटकर परागति पा जाता है ॥ १०४ ॥ शिवयोगी को यहाँ घर या मठ प्रदान करने से सब पापों से छूटकर मानव शंकर को प्राप्त कर लेता है ॥ १०५ ॥ यह स्थान केवल करुणा के आधार पर शंभु ने बनाया था ॥ १०६ ॥ यह अत्यंत शुभ स्थान उन मनुष्यों को सिद्ध होता है (फलता है) जिनके अनेक करोड़ों कल्पों में अर्जित पुण्यराशियाँ फलोन्मुख हों ॥ १०७ ॥ इस प्रकार पापराशि के निवर्तक के विषय में सारी शोभनीय बातें मैंने बता दीं । व्याघ्रपुर नामक अतिशुभ स्थान का सबको सदा सेवन करना चाहिये ॥ १०८ ॥

द्रव्यशुद्धि का विचार नामक चवालीसवाँ अध्याय

सूत जी बोले–अब मैं संक्षेप में द्रव्यशुद्धि के विषय में बताऊँगा । आत्मा की स्वाभाविक शुद्धि समझने के लिये इस प्रसंग को श्रद्धा सहित सुनिये ॥ १ ॥

आत्माऽनात्मेति विप्रेन्द्रा द्विधा द्रव्यं व्यवस्थितम् ।

आत्मद्रव्यं स्वयं[1] शुद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणम् ॥ २ ॥

सत्तामात्रे[2] न दोषोऽस्ति स्वतः शुद्धं यतः सदा ।

यदि सत्ता स्वतोऽशुद्धा दुष्टं सर्वं भवेत्सदा ॥ ३ ॥

दुष्टसत्ताभिसंबन्धाद्दुष्टस्पृष्टं सदा खलु ।

तथा सति विशुद्धं तु न सिध्यत्येव किंचन ॥ ४ ॥

सत्ताशून्यं तु तुच्छं स्यात्सत्ता शुद्धा स्वतस्तथा ।

ज्ञप्तिरूपमपि ज्ञानं शुद्धमेव स्वतः सदा ॥ ५ ॥

द्रव्यं व्यवस्थितमिति । द्रव्यशब्दो वस्तुपर्यायो न तु पराभिमतद्रव्यत्वजातिप्रवृत्तिनिमित्तकस्तथात्वे त्वात्मनो द्रव्यत्वजातिसंसर्गविरहेण द्रव्यशब्दवाच्यता न स्यात् । सत्यज्ञानानन्दादिकं ह्यात्मनः पारमार्थिकं स्वरूपम् । यद्यपि तदखण्डैकरसं, तथाऽपि सर्वदा बाधराहित्यादुपाधिभेदेन सच्चिदादिभेदेन[3] व्यवह्रियते । उक्तं ह्याचार्यैः–'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः । अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते'[4] इति ॥ २ ॥ तत्र स्वरूपस्य स्वतःशुद्धिं प्रतिपादयति– **सत्तामात्र** इति । स्वस्मिन्परिकल्पितनानाव्यक्तिष्वधिष्ठानसद्रूपस्यानुगमात्तदभिप्रायेणाधिष्ठानभूतं सन्मात्रमेव सत्तेत्युच्यते[5] । तस्य सत्तामात्रस्य यस्मात्स्वतःशुद्धिरङ्गीकार्या अतस्तत्र न दोषस्पर्श इत्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह– **यदि सत्तेति** । **स्वत** इति । कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वरूपत एवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ विमतं सर्वं दुष्टं दुष्टसत्तासंस्पृष्टत्वाद्दुष्टस्पृष्टभाण्डवदित्यभिप्रायः । तथा सति[6] दोषाभावव्याप्तायाः शुद्धेर्न क्वचिदप्यात्मलाभ इत्यर्थः ॥ ४ ॥ **सत्ताशून्यं त्विति** । निर्दुष्टत्वाय यदि सर्वं जगत्स्वात्मनो दुष्टसत्तासंसर्गं जह्यात्तदा तन्निरुपाख्यमेव भवेत् । अतः सत्तायाः स्वतः शुद्धिरङ्गीकार्येत्यर्थः । चिन्मात्रस्यापि स्वतःशुद्धिमाह–**ज्ञानमिति** । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति करणत्वेन व्युत्पत्तिसंभवात्तद्व्यावृत्त्यर्थं **ज्ञप्तिरूपमिति** विशेषणम् ॥ ५ ॥

हे उत्तम ब्राह्मणो ! आत्मा और अनात्मा–यों दो प्रकार की वस्तुएँ हैं ॥ सत्य ज्ञान आदि स्वरूप आत्मवस्तु स्वयं शुद्ध है ॥ २ ॥ सत्तारूप से अनुभूयमान सन्मात्र में कोई दोष नहीं है क्योंकि वह सदा स्वतः शुद्ध है । यदि अन्य कारण के बिना स्वरूपतः ही सत्ता अशुद्ध हो तो सभी वस्तुएँ अशुद्ध ही होंगी । जैसे सदोष द्वारा स्पृष्ट बर्तन आदि अशुद्ध होता है ऐसे ही अशुद्ध सत्ता से सम्बद्ध होने के कारण सब वस्तुएँ अशुद्ध होंगी । और ऐसा होने पर कुछ भी शुद्ध सिद्ध न होगा क्योंकि सत्ता वाला रहते

---

१ ख. स्वतः । २ ङ. त्रेणादो॰ । ग. घ. ॰त्रेण दो॰ । ३ ख. घ. ॰दानन्दभे । ४ छ. ॰थाग्विभा॰ । ५ सामान्यमनेकव्यक्त्यपेक्षं न तु व्यक्तिभेदस्य सत्यत्वापेक्षम् । अत एव विम्वप्रतिविम्वव्यक्त्यनुगतं चन्द्रत्वसामान्यं व्यवह्रियते । ६ घ. ज. ॰ति निर्दोषभा॰ । ग. ङ. च. ॰ति निर्दोषाभा॰ ।

अशुद्धिर्जडरूपे हि दृष्टा सर्वजनैरपि । स्वतःस्फुरणरूपं तु ज्ञानं दुष्टं भवेद्यदि ॥ ६ ॥
दुष्टमेव भवेत्सर्वं दुष्टस्फुरणसंगमात् । तथा सति विशुद्धं तु न सिध्यत्येव किंचन ॥ ७ ॥
वस्तु स्फुरणशून्यं तु तुच्छमेव भवेत्सदा । दुष्टकारणविज्ञाने दोषोऽस्तीति वदेद्यदि ॥ ८ ॥

अशुद्धिर्जडरूप इति । अनात्मप्रपञ्चे ह्यशुद्धत्वं जडत्वव्याप्तं दृश्यते तज्जडत्वं स्वप्रकाशचिदात्मनो व्यावर्तमानं स्वव्याप्यमप्यशुद्धत्वं व्यावर्तयतीत्यर्थः । तत्रापि पूर्ववद्विपक्षे बाधकमाह–ज्ञानं दुष्टमित्यादिना ॥ ६–७ ॥ **स्फुरणशून्यं** त्विति । स्वगोचरज्ञानाधीनत्वाद्वस्तुसिद्धेस्तस्य च ज्ञानस्य दुष्टत्वेनाङ्गीकारे[1] सर्वदाऽप्रतिभातं जडं जगच्छशविषाणवत्तुच्छमेव भवेदित्यर्थः । विपक्षे बाधकमभिधाय ज्ञानस्य पुनर्दोषसद्भावमाशङ्क्य निरस्यति –**दुष्टकारणे**ति । काचकामलादिदोषदूषितचक्षुरादिकारणजनिते[2] शुक्तिरजतादिभ्रमज्ञाने दोषो दृश्यते तत्सामान्यादन्यत्रापि दोषसंभावना किं न स्यादिति न शङ्कनीयम् । तत्र हि शुक्त्यधिष्ठानचैतन्याभिव्यञ्जिका[3] तदाश्रितमायामयरजतविषयेदंकारास्पदमनोवृत्तिर्वाच्चित्तचैतन्यस्थाविद्यावृत्तिरेव दुष्टकारणजनिता न तु वृत्त्यवच्छिन्नस्फुरणम् । ततश्चोपाधिवशादेव स्फटिके

हुए तो अशुद्ध ही होगा व सत्तारहित होने पर असत् अर्थात् होगा ही नहीं । जो है ही नहीं उसकी शुद्धि का प्रश्न ही नहीं । अतः सत्ता को स्वतः शुद्ध ही स्वीकारना होगा । (आत्मा की शुद्धि 'शुद्धमपापविद्धम्' आदि शास्त्रसिद्ध है । सत्ता को स्वतः अशुद्ध मानने में कोई प्रमाण नहीं । जब औपाधिक अशुद्धि से व्यवहार सिद्ध हो जाता है तब अनौपाधिक अशुद्धि मानना अन्याय्य है । अतः सत्ता स्वतः अशुद्ध नहीं मानी जा सकती ।) ॥ ३–४१/२ ॥ ज्ञप्तिरूप (अनुभवरूप) ज्ञान भी स्वतः सदा शुद्ध ही है ॥ ५ ॥ जडरूप वस्तुओं में ही सभी लोगों द्वारा अशुद्धि देखी गयी है (उनके अनुभवों में नहीं) । स्फुरणरूप ज्ञान यदि कारण के बिना ही अशुद्ध हो तो सभी कुछ अशुद्ध ही होगा क्योंकि हर चीज ज्ञान से सम्बद्ध है ही और अशुद्ध से सम्बद्ध होने पर अशुद्धि दुर्निवार्य है । ऐसा होने पर कुछ भी (सत्ता भी) शुद्ध सिद्ध न होगा क्योंकि जिस किसी का भी ज्ञान होगा वह तो अशुद्ध ज्ञान के सम्बन्ध से ही अशुद्ध हो जायेगा और जो जड वस्तु कभी ज्ञान से संबद्ध नहीं होती वह शशशृंग की तरह असत् होती है जिसकी शुद्धि का प्रश्न नहीं ॥ ६–७१/२ ॥ यदि कहो कि सदोष साधन से उत्पन्न होने के कारण विज्ञान भी सदोष है, तो ऐसा न कहना । अभिव्यंजक वृत्ति से ज्ञान में दोष प्रतीत होता है स्वतः उसमें दोष नहीं । (सदोष कारण से अभिव्यंजक वृत्ति ही जन्य हैं अतः वही सदोष भी हो सकती है, अभिव्यंग्य ज्ञान नहीं । जैसे काँच के दोष से बिम्ब में दोष नहीं आता वैसे समझना चाहिये ।) यदि ऐसा न हो तो समस्त ज्ञान, बिना कारण, स्वभाव से सदोष होगा और फलतः वस्तुमात्र ही सदोष होने लगेगी । (तथा वैसा मानना शास्त्रविरुद्ध है । अनुभव भी ज्ञान में किसी हेतु से ही अशुद्धि का होता है । ज्ञान स्वरूपतः अशुद्ध

---

१ ग. ङ. °नानङ्गी । २ च. °दि र° । ३ घ. °व्यञ्जकातदा° ।

अभिव्यञ्जकवृत्त्या तु ज्ञाने दोषो न च स्वतः ।
अन्यथा सकलं ज्ञानं दुष्टमेव स्वतो भवेत् ॥
अतः स्फुरणरूपं तु ज्ञानं शुद्धं सदैव तु ॥ ९ ॥
आनन्दस्तु स्वयं शुद्धः पुरुषैरर्थ्यते यतः ।
अशुद्धः सर्वथा भावो नार्थ्यते पुरुषैः खलु ॥ १० ॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैरर्थ्यते हि सुखं सदा ॥ ११ ॥
विषयेन्द्रियसंपर्काज्जन्यते हि सुखं सदा । न दृश्यते ततो दुष्टमिति चेत्तन्न संगतम् ॥ १२ ॥
अभिव्यञ्जकवृत्त्या हि सुखे दोषो न च स्वतः ।
आत्मरूपं सुखं नित्यं नैव जन्मविनाशवत् ॥ १३ ॥
प्रेमालम्बनतः स्वात्मा सुखमेव न संशयः ।
आत्मनश्च सुखस्यापि प्रेमालम्बनता सदा ॥ १४ ॥

लौहित्यमिव स्फुरणे दोषावभासो न तु स्वभाव इत्यर्थः । अन्यथेति । विभ्रमज्ञानगतस्फुरणमात्रस्य स्वाभाविकदुष्टत्वाङ्गीकारे तत्सामान्यात्सर्वमपि ज्ञानं स्वभावतो दुष्टं स्यात् । तथाच पूर्वोक्तो बाध इत्यभिप्रायः ॥ ८–९ ॥

आनन्दरूपस्यापि स्वतः शुद्धिमुपपादयति–आनन्दस्त्वित्यादिना । पुरुषैरर्थ्यमानत्वादानन्दस्यापि स्वतः शुद्धिरङ्गीकार्या, न ह्यविशुद्धः पदार्थः पुरुषैरर्थ्यते ॥ १०–११ ॥ ब्रह्मादिस्तम्बान्तैरर्थनीयस्य तस्याऽऽनन्दस्य नश्वरत्वमाशङ्क्य निरस्यति–विषयेन्द्रियेति । शुभकर्मोपस्थापितविषयैरिन्द्रियसंप्रयोगवशात्सुखं जन्यते । अनन्तरक्षणे च दृश्यते । तथा च सत्युत्पत्तिविनाशवत्त्वेन सुखस्य दुष्टत्वमिति शङ्काभिप्रायः । विषयेन्द्रिसंप्रयोगात्सुखविषया मनोवृत्तिरेव केवलं जन्यते न तु तद्वृत्त्यवच्छिन्नसुखमतो व्यञ्जकवृत्तिगतावेव जन्मविनाशौ व्यङ्ग्ये सुखेऽवभासेते अतो नश्वरत्वदोषप्रसङ्गः स्वाभाविकसुखे नास्तीत्यर्थः । आत्मरूपमिति । सुखस्य नित्यात्मस्वरूपत्वादपि जन्मविनाशौ स्वाभाविकौ न स्त इत्यर्थः ॥ १२–१३ ॥ सुखस्याऽऽत्मरूपत्वमुपपादयति–

है ऐसा अनुभव कभी नहीं होता ।) अतः स्फुरणरूप ज्ञान स्वयं सदा स्वभावतः शुद्ध है ॥ ८–९ ॥ इसी तरह आनंद भी स्वतः शुद्ध है क्योंकि सभी के द्वारा चाहा जाता है । जो वस्तु सर्वथा अशुद्ध होती है उसे सब लोग कभी नहीं चाहते ॥ १० ॥ ब्रह्मा से लेकर अल्पतम प्राणी तक सब हमेशा आनंद चाहते ही हैं (अतः उसे शुद्ध मानना होगा ।) ॥ ११ ॥ शंका होती है–सुख तो विषय और इंद्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, सदा तो अनुभव में आता नहीं, अतः उत्पत्ति-विनाशशाली होने से अशुद्ध ही होना चाहिये । किंतु यह शंका अनुचित है ॥ १२ ॥ सुख में दीखने वाला जन्मादि दोष उसकी अभिव्यंजक वृत्ति के कारण है । वह दोष वृत्ति में है, स्वयं सुख में नहीं । सुख आत्मा का स्वरूप है अतः नित्य है, उत्पत्ति आदि वाला नहीं ॥ १३ ॥ सदा प्रिय होने से आत्मा की सुखरूपता निश्चित है । जैसे सुख

विद्यतेऽतस्तयोरैक्यं वस्तुतस्तु सुखात्मनोः ।
अतश्चाऽऽत्मतया नित्यं सुखं निर्दोषमेव हि ॥ १५ ॥
अतः सत्यचिदानन्दः स्वतः शुद्धो न संशयः ॥
सत्यादिलक्षणं चाऽऽत्मद्रव्यं शुद्धं ततः स्वतः ॥ १६ ॥
अज्ञानोपाधिसंपर्कादशुद्धमिव भाति तत् । विशुद्धिः परमा तस्य ज्ञानादेव न कर्मणा ॥ १७ ॥
स्वतःशुद्धस्य चाज्ञानादशुद्धिः स्वात्मवस्तुनः ।
अज्ञानस्य निवृत्त्यैव शुद्धिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ १८ ॥
कर्मणा शुद्धिरुत्पन्ना यदि सा तस्य नश्यति ।
कर्मसाध्यमनित्यं हि न नित्यं संमतं हि तत् ॥ १९ ॥

प्रेमालम्बनत्व इति । परप्रेमास्पदत्वादात्मनः सुखरूपत्वम् । एतदेव सुखात्मनोरैक्यमुपपादयति—**आत्मनश्चेति** । शुभकर्मोपस्थापितविषयेन्द्रियसंपर्कजनितान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नस्य सुखस्य तदनुभवित्रात्मनश्चोभयोरपि प्रेमास्पदत्वात्तस्मादुपाधिकृतभेदविरहे वास्तवमैक्यमध्यवसेयमित्यर्थः ॥ १४–१५ ॥

सत्यादिलक्षणमिति । परिकल्पितभेदभिन्नानां सत्ताज्ञानसुखानां निर्दुष्टत्वेन स्वतःशुद्धिप्रतिपादनात्कल्पितभेदविरहादखण्डैकरसभावेनैतेषामेवाऽऽत्मस्वरूपत्वात्सत्यज्ञानादिलक्षणमात्मवस्त्वपि स्वतः शुद्धमित्यर्थः ॥ १६ ॥ **ज्ञानादेवेति** । अविशुद्ध्यापादकस्याज्ञानस्य कर्मणा सह विरोधाभावात्स्वाभाविकशुद्धात्मज्ञानादेव तस्य निवृत्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥ **अज्ञानस्य निवृत्त्यैवेति** । ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिरेव केवलं निष्पाद्या तथैव ज्ञानप्राप्त्याऽशुद्धिनिवृत्तावात्मनः स्वाभाविकी शुद्धिरावरणाभावादाविर्भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ **तस्य नश्यतीति** । वस्तुकृतमात्मनोऽशुद्धत्वमङ्गीकृत्य तस्य प्रायश्चित्तरूपेण कर्मणा निवर्तितत्वादसती शुद्धिरिदानीमुत्पद्यते चेत्तर्हि सा शुद्धिस्तस्याऽऽत्मनोऽवश्यं नश्यति

सदा प्रिय होता है ऐसे आत्मा भी, अतः वस्तुतः इन दोनों की एकता है । इसलिये आत्मरूप होने से सुख नित्य व स्वतः निर्दोष है ॥ १४–१५ ॥ अतः सत् चित् और आनन्द स्वतः शुद्ध है । इसमें संशय नहीं । एवं च सद् आदि रूप आत्मवस्तु स्वतः शुद्ध है ॥ १६ ॥ अज्ञानरूप उपाधि के संपर्क से आत्मा अशुद्ध की तरह प्रतीत होता है । उसकी परम विशुद्धि ज्ञान से ही होती है, कर्म से नहीं ॥ १७ ॥ क्योंकि स्वरूपतः आत्मवस्तु शुद्ध है केवल अज्ञान से उसकी अशुद्धि है अतः अज्ञान की निवृत्ति से ही उसकी स्वाभाविक शुद्धि हो सकती है ॥ १८ ॥ कर्म से यदि शुद्धि उत्पन्न की जायेगी तो उसकी वह जन्य शुद्धि नष्ट भी हो जायेगी । यह बात सर्वसंमत है कि कर्म से जो कुछ साध्य होता है वह अनित्य ही होता है, नित्य नहीं ॥ १९ ॥ सच्चिदानंदरूप आत्मा स्वयं स्वतः नित्यशुद्ध है । उसकी जीवरूपता अज्ञानवश है,

सच्चिदानन्दरूपात्मा नित्यशुद्धः स्वयं स्वतः ।

अज्ञानाज्जीवता तस्य नैव स्वाभाविकी सदा ॥ २० ॥

अतो जीवेश्वरैकत्वज्ञानादेवाऽऽत्मवस्तुनः ॥

विशुद्धिः परमा प्रोक्ता कर्मणा न कथंचन ॥ २१ ॥

अज्ञानेनाऽऽवृतो जीवो व्यवहारे तु कर्मणा ।

वेदोदितेन शुद्धिः स्याज्ज्ञानाच्छुद्धिः पराऽस्य तु ॥ २२ ॥

अनात्मरूपं यद् द्रव्यमशुद्धं तत्स्वभावतः । तथाऽपि व्यवहारे तु विशुद्धिस्तस्य कीर्तिता ॥ २३ ॥

आध्यात्मिकादिभेदेन द्विधाऽनात्मा व्यवस्थितः । देहेन्द्रियाद्यहंबुद्धिग्राह्यमाध्यात्मिकं भवेत् ॥ २४ ॥

कृतकत्वस्यानित्यत्वनियमादित्यर्थः । व्याप्तिं दर्शयति—**कर्मसाध्यमिति** ॥ १९ ॥ **अज्ञानाज्जीवतेति** । सच्चिदानन्दरूपः परमेश्वर एव प्रत्यगात्मा तस्य तादृक्स्वरूपत्वाच्छादकादज्ञानादेव जीवत्वे तदभिमानत एव तस्याशुद्धिः ॥ २० ॥ तन्निवृत्त्युपायमाह—**अतो जीवेश्वरैकत्वज्ञानादिति** । जीवभावेनावस्थितस्य प्रत्यक्चैतन्यस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावपरशिवात्मत्वज्ञाना-दज्ञानपरिकल्पितजीवत्वलक्षणाया अविशुद्धेःस्वकारणभूताज्ञाननिरासेन निःशेषं निवर्तितत्वात्पुनरुत्पत्त्यभावेन परमा विशुद्धिरात्मनो भवतीत्यर्थः । याज्ञवल्क्येनापि स्मर्यते—'क्षेत्रज्ञस्याऽऽत्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता' इति ॥ २१ ॥

परत्वस्यापरसापेक्षत्वादीदृशीं शुद्धिं दर्शयति—**अज्ञानेति** । सच्चिदानन्दलक्षणः परमेश्वर एव ह्यज्ञानेनाऽऽवृतो जीवो भवति तस्य व्यवहारदशायां श्रुतिस्मृत्युदितेन कर्मणा या शुद्धिः साऽपरमा । तेन ह्यज्ञानकार्यं पापमेव केवलं निवर्त्यते न तु तन्मूलभूताज्ञानं तेन सह कर्मणो विरोधाभावादेव मूलभूते तस्मिन्सति [1]निवर्त्यसजातीयस्यापुण्यस्य पुनरुत्पत्तेरवश्यंभावात्कर्मजन्या शुद्धिस्तात्कालिकीति तस्या अपरमत्वम् । ज्ञानजन्या शुद्धिस्तु नेदृशीति तस्याः परत्वम् ॥ २२ ॥ **अशुद्धं तत्स्वभावत इति** । अनात्मवस्तुनः सर्वस्य मायापरिकल्पितस्वरूपत्वादविचारितरमणीयत्वेन

स्वाभाविक (अनौपाधिक) नहीं ॥ २० ॥ अतः जीव-ईश्वर की एकता के ज्ञान से ही आत्मवस्तु की परम विशुद्धि होती है । कर्म से किसी भी तरह परम शुद्धता नहीं हो सकती ॥ २१ ॥ जीवात्मा अज्ञान से आवृत है । व्यवहार में तो वेदोक्त कर्म से उसकी शुद्धि होती है किन्तु परम शुद्धि तो ज्ञान से ही होती है ॥ २२ ॥

अनात्मरूप जो वस्तुएँ हैं वे स्वभावतः ही अशुद्ध हैं । फिर भी व्यवहार में उनकी भी शुद्धि बतायी गयी है ॥ २३ ॥ आध्यात्मिक व आधिभौतिक भेद से अनात्मवस्तुएँ दो तरह बँटी हैं । 'मैं'—इस तरह

---

१ घ. "र्त्यजातीयस्य पापस्य पुन" ।

पृथिव्यादीनि भूतानि भौतिकानि तथैव च ॥
शब्दस्पर्शादयः प्रोक्ता आधिभौतिकसंज्ञिताः ॥ २५ ॥
वेदोदिताच्च संस्काराच्छिवभावनयाऽपि च । तथा हिंसादिराहित्याद्देहशुद्धिर्द्विजा भवेत् ॥ २६ ॥
इन्द्रियाणामधिष्ठातृदेवतास्मरणादपि । शिवभावनया चापि विशुद्धिर्द्विजपुंगवाः ॥ २७ ॥
प्राणायामादधिष्ठातृदेवतास्मरणादपि । शिवभावनया शुद्धिर्भवेत्प्राणस्य सुव्रताः ॥ २८ ॥
निषिद्धचिन्तनाभावाच्छिवभावनयाऽपि च । मनआदेस्तु विप्रेन्द्रा भवेच्छुद्धिर्न संशयः ॥
समाधौ विलयश्चापि विशुद्धिः परिकीर्तिता ॥ २९ ॥
देहादेस्तु विशुद्ध्याऽऽत्मा शुद्धोऽहमिति विभ्रमात् ।
स्वात्मानं मन्यते शुद्धं सा शुद्धिर्व्यावहारिकी ॥ ३० ॥
अशुद्ध्याऽशुद्धवद्भाति शरीरादेस्तु चेतनः ।
व्यवहारे यथा चन्द्रो निश्चलोऽपि चलत्यपि ॥ ३१ ॥

स्वाभाविकमेवाशुद्धत्वमित्यर्थः । **कीर्तितेति** । जीवात्मनोऽपि श्रुतिस्मृत्युदितेन कर्मणा व्यावहारिकी शुद्धिर्मन्वादिभिरभिहितेत्यर्थः ॥ २३–२५ ॥

वेदोदिताच्च संस्कारादिति । गर्भाधानपुंसवनसीमन्तजातकर्मादिको देहादेरनात्मनो वेदोदितः संस्कारः ॥ २६ ॥ **इन्द्रियाणामिति** । श्रोत्रत्वगादीनामिन्द्रियाणाम् 'दिग्वाय्वादित्यवरुणपृथिव्याख्यास्तु देवताः' इत्यादिना चतुर्दशेऽधिष्ठातृदेवताः प्रतिपादितास्तन्मयत्वेन तेषां स्मरणं विशुद्धिहेतुः । **अपिशब्दः** पूर्वोक्तसंस्कारसमुच्चयार्थः ॥ २७–२८ ॥ **समाधौ विलय इति** । विजातीयवृत्त्यव्यवहितेन[1] ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहेण ध्येयपरशिवस्वरूपावरणाज्ञानापनयनेन यद् ध्येयमात्रस्य स्फुरणं स समाधिः । तत्र विद्यमाना अपि मनोवृत्तयः स्वगोचरविषयवृत्तेरभावे तदविषया इवासच्छायाः । तथा च पातञ्जलं सूत्रम्–'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति । एवं समाध्यवस्थायामुक्तलक्षणेन **विलयः** सोऽप्यन्तःकरणस्य शुद्धिहेतुरित्यर्थः ॥ २९ ॥ **विभ्रमादिति** । [2]तीर्थस्नानादिजन्यशुद्ध्यधिकरणदेहेन्द्रियादितादात्म्यविभ्रमात्स्वात्मनि तदीयधर्मसंसर्गाध्यासेन शुद्धोऽहमिति सा व्यावहारिकी न तु पारमार्थिकी ॥ ३० ॥

जिसे विषय किया जाता है वह देह इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक है । इससे अतिरिक्त पृथ्वी आदि भूत, उनके विकार तथा शब्दादि गुण–ये आधिभौतिक हैं ॥ २४–२५ ॥ वेदोक्त संस्कारों से, शिवध्यान से तथा हिंसा आदि की रहितता से देह की शुद्धि होती है ॥ २६ ॥ इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं के स्मरण से व शिवभावना

१ ख. "त्त्यन्तररहि" । २ ख. घ. "शुद्धिक" । ङ. च. "शुद्धान्तःक" ।

भूतभौतिकरूपाणां विशुद्धिर्ब्रह्मभावनात् । भवत्येव न संदेहः सत्यमुक्तं मयैव तु ॥ ३२ ॥

ब्रह्मभावनया सर्वं विशुद्धमिति[1] पश्यतः ।

न हेयं विद्यते किंचित्सत्यमेव न संशयः ॥ ३३ ॥

ब्रह्म सर्वमिति ज्ञानाद्भावनाबलतोऽपि वा ॥ ३४ ॥

विना विशुद्धिर्द्रव्याणां न सिध्यति कदाचन ।

शुद्धिः कृच्छ्रेण सिद्धाऽपि द्विजा वेदार्थपारगाः ॥ ३५ ॥

तर्हि परमार्थतोऽशुद्ध एवाऽऽत्मा ? नेत्याह–अशुद्ध्येति । सच्चिदानन्दलक्षणस्य स्वात्मनः स्वतःशुद्धेः प्राक्प्रतिपादितत्वात्तादृशस्याप्यस्य व्यवहारावस्थायामविशुद्धदेहादितादात्म्याभिमानेन तदीययाऽशुद्ध इव भाति । यथा चन्द्रः स्वतो निश्चलोऽपि चञ्चलेषु जलतरङ्गबुद्बुदेषु प्रतिबिम्बितः सन्स्वाश्रयचलनाध्यासेन स्वयमपि चलन्निव भाति तद्वत् ॥ ३१–३३ ॥ ब्रह्म सर्वमिति ज्ञानादिति । अनात्मप्रपञ्चस्य सर्वस्य सन्घटः सन्पटः सत्कुड्यमित्याद्यनुवेधबलेन सन्मात्रस्वरूपपरमात्मनि कल्पितत्वेन वस्तुतस्तत्स्वरूपानतिरिक्तत्वाद्वास्तवमखण्डैकरसमद्वितीयं तत्स्वरूपं साक्षात्कुर्वतो ब्रह्मैव सर्वं न ततोऽतिरिक्तं किंचिदिति निर्विचिकित्सं ज्ञानं जायते तस्मादित्यर्थः । भावनाबलत इति । यस्तु 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिश्रुतेरुक्तलक्षणमर्थं जानानोऽप्यसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां संदिग्धे तस्याऽऽपातज्ञानिनो ब्रह्मभावनयैव सर्वं शुध्यतीत्यर्थः । विनेति । सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वज्ञानं तद्रूपत्वेन भावनं चैतदुभयमन्तरेणेत्यर्थः ॥ ३४–३५ ॥ अशुद्ध्या चाऽऽवृतमिति । प्रायश्चित्तेन शुद्धोऽप्यनात्मपदार्थः स्वाभाविकयाऽशुद्ध्याऽऽवृत एव भवति । अग्निधूमयोरिवतयोरविनाभूतत्वादित्यर्थः । भगवताऽप्युक्तम्–'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः' इति । श्रेयस्कामैरिति । अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणपुरुषार्थं कामयमानैर्विद्वद्भिः पूर्वोक्तब्रह्मरूपत्वज्ञानेन सद्भावनया चोक्तेन श्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेणानात्मपदार्थस्य तात्कालिकी शुद्धिः कर्तव्या ॥ ३६–६४ ॥

से भी इन्द्रियों की विशुद्धि होती है ॥ २७ ॥ प्राणायाम से (प्राणादि के) अधिष्ठाता देवताओं के स्मरण से और शिवभावना से प्राणों की शुद्धि होती है ॥ २८ ॥ निषिद्ध चिन्तन न करने से और शिवभावना से भी मन आदि की शुद्धि होती है । समाधि में मन को विलीन करना भी उसकी शुद्धि का हेतु है ॥ २९ ॥ देह आदि की शुद्धि से आत्मा भ्रमवश मानता है 'मैं शुद्ध हो गया' । यह उसकी व्यावहारिक शुद्धि है ॥ ३० ॥ जैसे निश्चल चंद्र भी जल आदि के चलने पर उस उपाधि से अविविक्त देखा जाता हुआ चलता है, वैसे शरीर आदि की अशुद्धि से आत्मा भी ऐसा प्रतीत होता है मानो अशुद्ध हो गया हो ॥ ३१ ॥ भूत-भौतिक वस्तुओं की विशुद्धि ब्रह्मभावना से होती है । ब्रह्मभावना से जो ऐसा देखता है कि सब विशुद्ध ही है, उसके लिये कुछ भी हेय नहीं है, यह बात सत्य है ॥ ३२–३३ ॥ 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसे ज्ञान से और वह न हो तो ऐसी भावना से ही सब वस्तुएँ शुद्ध हो जाती हैं । तादृश ज्ञान या भावना के बिना सब वस्तुएँ शुद्ध नहीं होतीं । कठिनाई से तत्तद् उपाय करने से तत्तद् वस्तु की शुद्धि के अन्य उपाय हैं (किंतु सभी वस्तुओं की शुद्धि का एक उपाय तो उक्त ज्ञान या भावना ही है ।) ॥ ३४–३५ ॥ यद्यपि जडप्रपंच सारा ही अशुद्धि से वैसे ही आवृत है जैसे धुएँ से आग ।

---

1 ग. "मिव प" ।

अशुद्ध्या चाऽऽवृतं सर्वं धूमेनाग्निर्यथाऽऽवृतः ।
तथाऽपि शुद्धिः कर्तव्या व्यवहारेऽखिलस्य तु ॥ ३६ ॥

वेदसिद्धेन मार्गेण श्रेयस्कामैर्मनीषिभिः । चण्डालाद्यैस्तु संस्पृष्टं मृन्मयं पक्वमुत्सृजेत् ॥ ३७ ॥

प्रक्षालयेदपक्वं तु प्रोक्षयेद्वा कुशोदकैः । पक्वं शूद्रेण संस्पृष्टं प्रोक्षणादेव शुध्यति ॥ ३८ ॥

त्याज्यमेवोपयुक्तं स्यात्पुनः पाकेन वा शुचि ।
आकारद्वितयात्मस्थं मृन्मयं तु पुरातनम् ॥ ३९ ॥

अग्निदाहेन संशुध्येन्नूतनं क्षालनेन तु । विष्ठया मृन्मयं स्पृष्टमुपयुक्तं परित्यजेत् ॥ ४० ॥

अपक्वं क्षालयेच्छुद्ध्यै बहुशस्तु कुशोदकैः । उदक्याशुचिसंस्पृष्टं यज्ञपात्रं तु दारवम् ॥ ४१ ॥

(धुआँ होगा तो आग होना आवश्यक है, ऐसे ही जड वस्तु है तो अशुद्धि होना निश्चित है ।) तथापि व्यवहार में सब वस्तुओं की शुद्धि करनी चाहिये । शुद्धि का ढंग वही है जो वेद आदि सच्छास्त्रों में बताया गया है । ॥ ३६½ ॥

मिट्टी का पका बर्तन यदि चाण्डाल आदि छू दें तो त्याज्य हो जाता है । यदि मिट्टी का पका बर्तन न हो और चाण्डालादि ने छू दिया हो तो उसे धो लेना चाहिये या कुशोदक से उसका प्रोक्षण कर देना चाहिये । पका बर्तन शूद्र द्वारा छू लिया जाये तो प्रोक्षण से शुद्ध हो जाता है ॥ ३७–३८ ॥ जिसका उपयोग शूद्र ने कर लिया हो वह तो त्याज्य ही है, अथवा पुनः आग में पका लेने से वह शुद्ध हो जाता है । मिट्टी का कच्चा या पक्का पुराना बर्तन हो तो आग में तपाने से तथा नया हो तो धोने से शुद्ध होता है ॥ ३९½ ॥ मिट्टी का बर्तन यदि विष्ठा के उपयोग में आ जाये तो उसका परित्याग कर देना चाहिये । यदि कच्चा बर्तन हो और केवल विष्ठा से स्पर्श हुआ हो तो कुशोदक से उसे कई बार धो लेने से वह शुद्ध हो जाता है ॥ ४०½ ॥ रजस्वला या अन्यथा अशुद्ध व्यक्ति द्वारा छुआ गया लकड़ी का यज्ञपात्र यदि उसके द्वारा प्रयोग में नहीं लिया गया है तो कुशोदक से धो लेना चाहिये और प्रयोग में ले लिया गया है तो उसका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४१½ ॥ देश काल आदि को, द्रव्य

उपयुक्तं त्यजेदन्यत्क्षालयेच्च कुशाम्भसा । विलोक्य देशकालादि द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ॥ ४२ ॥

स्वोपपत्तिमवस्थां च पुनः शौचं समारभेत् ।

अन्नं द्रोणादिकं पक्वमन्त्याद्यस्पृश्यदूषितम् ॥ ४३ ॥

क्षालनेन विघातेन परिशुद्धं हि चाऽऽपदि । द्रोणादूनं त्यजेद्भारादधिकं प्रोक्षयेद् बुधः ॥ ४४ ॥

अनापदि न सर्वत्र क्षालयेद् द्रोणतः परम् ।

कुम्भादूर्ध्वं द्विजा धान्यं पक्वं प्रोक्षणतः शुचि ॥ ४५ ॥

अपक्वं क्षालनेनैव विशुद्धं भवति ध्रुवम् ।

भारादूनः परित्याज्यः पक्वधान्यस्य तण्डुलः ॥ ४६ ॥

भारद्वयादधः क्षाल्यस्तदूर्ध्वं प्रोक्षणाच्छुचिः । अन्नं पक्वं परित्याज्यमुदक्यान्त्यादिदूषितम् ॥ ४७ ॥

भारषट्कौदनं क्षाल्यं प्रोक्षणीयं ततः परम् ।

उदक्यान्त्यादिसंस्पृष्टं वस्त्रं प्रक्षालयेत्तथा ॥ ४८ ॥

श्वसूकरखरोष्ट्रादिस्पृष्टं च क्षालयेत्तथा । नववस्त्रं च काषायं बहुवस्त्रं तथैव च ॥ ४९ ॥

को, उसके प्रयोजन को, अपने विचार और अवस्था को दृष्टि में रख शौच का निर्णय करना चाहिये ॥ ४२½ ॥ द्रोण या उससे अधिक मात्रा का पका अन्न यदि अन्त्यज आदि अस्पृश्यों ने दूषित कर दिया हो तो आपत्ति की अवस्था में उसे धोने से या कूटने से वह शुद्ध हो जाता है । यदि द्रोण से कम हो तो उसका त्याग कर लेना चाहिये ॥ ४३–४४ ॥ सब स्थितियों में नहीं किंतु जब आपत्ति की अवस्था न हो तो द्रोण से अधिक को धोकर शुद्ध कर लेना चाहिये । पका धान यदि मात्रा में कुंभ से अधिक हो तो प्रोक्षण से शुद्ध हो जाता है ॥ ४५ ॥ यदि पका हुआ न हो तो धोने से ही शुद्ध होता है । पके धान का चावल यदि भार से कम हो तो स्पर्श दोष होने पर छोड़ देने योग्य है ॥ ४६ ॥ दो भार से कम हो तो उसे धोना चाहिये और उससे अधिक हो तो प्रोक्षण से वह शुद्ध होता है । रजस्वला, अन्त्यज आदि के स्पर्श से दूषित पका अन्न त्याज्य होता है ॥ ४७ ॥ छह भार जितना भात हो तो उसे धो लेना चाहिये और उससे अधिक हो तो प्रोक्षण करना चाहिये । रजस्वला, अन्त्यजादि से छूए वस्त्र को धो लेना चाहिये ॥ ४८ ॥ कुत्ता, सुअर, गधा, ऊँट आदि से छुए वस्त्र को भी धो लेना चाहिये । नया कपड़ा, काषायवस्त्र तथा बहुत वस्त्र (या अनेक रंगों वाला वस्त्र) लाल वस्त्र और काला वस्त्र इन्हें भी धोना चाहिये और कम्बल आदि का प्रोक्षण कर लेना चाहिये ॥ ४९½ ॥ चावल, धान, गुड, दूध आदि म

रक्तवस्त्रं तथा कृष्णं प्रोक्षयेत्कम्बलादिकम् ।
तण्डुलेषु तथा धान्ये गुडे गव्ये रसात्मके ॥ ५० ॥
काकादिदूषितांशं तु त्यक्त्वा संप्रोक्षयेद् बुधः । द्रवद्द्रव्यस्य संशुद्धिर्भवेदुत्पवनेन तु ॥ ५१ ॥
दुष्टभाण्डस्थितस्यास्य भवेद्दोषो न चापरः । द्रव्याणामग्निपक्वानां धान्यवच्छुद्धिरीरिता ॥ ५२ ॥
अलभ्यलाभे संशुद्धिः प्रोक्षणेनैव केवलम् । केशलोमनखस्पृष्टं क्रिमिकीटादिदूषितम् ॥ ५३ ॥
अन्नं तु भस्मना शुद्धं प्रोक्षणेन घृतेन च ।
क्रीतं पिष्टमयं सर्वं पुनः पाकेन शुद्ध्यति ॥ ५४ ॥
शूद्रान्त्याशुचिसंस्पृष्टं त्याज्यमेव न संशयः ।
उच्छिष्टो द्रव्यहस्तस्तु भक्ष्यद्रव्यं तु किंचन ॥ ५५ ॥
निधाय शौचं कृत्वाऽथ गृह्णीयात्प्रोक्षितं ततः ।
अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ॥ ५६ ॥
प्रक्षालनेन त्वल्पानां शुद्धिर्वेदोदिताऽपरा । तैजसानां सुरास्पर्शे वह्निदाहेन शुद्धता ॥ ५७ ॥

कौए आदि से दूषित अंश का परित्याग कर प्रोक्षण कर लेना चाहिये । द्रव (तरल) वस्तु की शुद्धि उत्पवन से होती है । (कुशपवित्र को द्रव में डाल कर उसे थोडा सा उछालना उत्पवन कहलाता है ।) ॥ ५०-५१ ॥ द्रव वस्तु तभी सदोष होती है जब उसे अशुद्ध पात्र में रख दिया जाये । आग में पकी वस्तुओं की शुद्धि धान्य की शुद्धि की तरह समझनी चाहिये ॥ ५२ ॥ जो वस्तु दुर्लभ हो उसकी प्राप्ति होने पर प्रोक्षण से उसकी शुद्धि हो जाती है । केश, रोम, नख से छुआ या क्रिमि कीट आदि से दूषित अन्न भस्म से शुद्ध हो जाता है । प्रोक्षण से व घी से भी वह शुद्ध हो जाता है । पिसा हुआ जो कुछ खरीदते हैं वह पकाने से शुद्ध हो जाता है ॥ ५३–५४ ॥ शूद्र, अन्त्यज या अन्य अशुद्ध व्यक्ति द्वारा छू लेने पर तो त्याज्य ही हो जाता है । जूठी अवस्था में अर्थात् खाई जाती वस्तु को हाथ में लिये हुए यदि कोई भक्ष्य चीज़ का अपने से स्पर्श करा अपने पास रख ले तो प्रोक्षण से उसका शोधन कर ही उसका ग्रहण करना चाहिये । बहुतेरे धानों और कपड़ों का शोधन प्रोक्षण से ही हो जाता है ॥ ५५–५६ ॥ थोड़ों का शोधन धोने से होता है । तैजस (सोना चाँदी आदि के) पात्रों का सुरा से स्पर्श हो जाये तो आग में तपाने से उनकी शुद्धि होती है यदि वे पात्र ब्राह्मण के हैं । वैश्य या क्षत्रिय के वे पात्र हों तो धोने से शुद्ध होत

ब्राह्मणस्य विशां राज्ञां क्षालनेन विशुद्धता ।

श्वचाण्डालादिसंस्पर्शे तैजसानां तु मार्जनात् ॥ ५८ ॥

प्रोक्षणाच्च विशुद्धिः स्यात्तिन्तिण्या ताम्रशोधनम् ।

भस्मना मृज्जलाभ्यां च मार्जनेन विशुद्धता ॥ ५९ ॥

उदक्या भुक्तकांस्यस्य घर्षणेन जलेन च ।

कल्याणे तीर्थयात्रायां राष्ट्रक्षोभे च संभ्रमे ॥ ६० ॥

देवोत्सवे च दारिद्र्ये स्पृष्टिदोषो न विद्यते ।

शूद्रानुलोमकाकाद्यैः प्रतिलोमैश्च दूषितम् ॥ ६१ ॥

मृज्जलाभ्यां विशुध्येत त्वेकविंशतिमार्जनात् ।

अश्मना निर्मितं पात्रं भस्मना सजलेन तु ॥ ६२ ॥

निर्लेपं शुद्धिमाप्नोति त्वेकविंशतिमार्जनात् ।

अब्जानि शङ्खशुक्त्यादिद्रव्याणि सकलानि तु ॥ ६३ ॥

प्रक्षालनेन शुद्धानि भस्मना मार्जनेन च । बहुनाऽत्र किमुक्तेन सर्वं ब्रह्मात्मना बुधाः ।

हैं । कुत्ता, चाण्डाल आदि का स्पर्श होने पर तैजस पात्रों का मार्जन से शोधन होता है ॥ ५७–५८ ॥ प्रोक्षण से भी विशुद्धि हो जाती है । तिन्तिणी (इमली) से ताँबे की शुद्धि होती है । भस्म (राख), मिट्टी, जल और मार्जन से भी विशुद्धता होती है ॥ ५९ ॥ रजस्वला ने जिस काँसे के बर्तन का प्रयोग किया हो उसका शोधन घिसने से और जल से होता है । विवाह, तीर्थयात्रा, राष्ट्रीय आपत्ति एवं देवोत्सवों के मौकों पर तथा भ्रम से और दारिद्र्य की अवस्था में स्पर्श का दोष नहीं होता ॥ ६०½ ॥ शूद्र, अनुलोम, कौआ आदि और प्रतिलोम द्वारा दूषित वस्तु मिट्टी और जल से इक्कीस बार माँजने से शुद्ध होती है ॥ ६१½ ॥ पत्थर से बना वर्तन जल सहित राख से इक्कीस बार माँजने से शुद्ध हो जाता है ॥ ६२½ ॥ जल में उत्पन्न शंख, सींप आदि सभी वस्तुएँ राख से माँजने और धोने से शुद्ध होती हैं ॥ ६३½ ॥ इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ ? सभी दोषों की निवृत्ति के लिये 'सब कुछ ब्रह्मरूप है' ऐसा दृढ चिंतन करना चाहिये ॥ ६४ ॥ जिस चीज़ में ब्रह्मभावना हो वह शुद्ध हो जाती है, संग्राह्य

सर्वदोषनिवृत्त्यर्थं चिन्तयेत्सुदृढं सदा ॥ ६४ ॥
ब्रह्मरूपेण संग्राह्यं सर्वं शुद्धं सदा भवेत् ।
नित्यशुद्धस्य दृष्टिस्तु विशुद्ध्यै भवति ध्रुवम् ॥ ६५ ॥
नित्यशुद्धं हि तद्ब्रह्म सदा सत्यादिलक्षणम् ।
ततस्तद्दृष्टिसंयुक्तं विशुद्धं सकलं भवेत् ॥ ६६ ॥
अथवा सकलं कार्यं तर्कतश्च प्रमाणतः । कारणात्मतया पश्येत्सर्वदोषनिवृत्तये ॥ ६७ ॥
कारणं सर्वकार्याणां परमात्मैव नेतरत् । प्रवदन्ति हि वेदान्ताः स्मृतयश्चाऽऽदरेण तु ॥ ६८ ॥
अतः समस्तं परमेश्वरात्मना विचिन्तयेत्स्वानुभवेन मानवः ।
विचिन्तनेनैव समस्तमास्तिका विशुद्धतामेति न चात्र संशयः ॥ ६९ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे द्रव्यशुद्धिविचारो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मरूपेणेति । अनात्मद्रव्यस्य ब्रह्मरूपत्वभावनयेत्यर्थः ॥ ६५–६६ ॥

एवं परमार्थतो ज्ञानवतः पुरुषस्यानात्मवस्तुनि नाम [1]ब्रह्मेत्यादाविव ब्रह्मदृष्ट्या भावनं शुद्धिहेतुरित्युक्तम् । अथ सम्यग्ज्ञानिनः कार्यप्रपञ्चस्य सर्वस्य कारणभूतसच्चिन्मात्रब्रह्मात्मनाऽनुसंधानमेव शुद्धिहेतुरित्याह–**अथवे**ति । **तर्कतश्च प्रमाणत** इति । यदिदं कार्यं कारणमात्रादनन्यत्तस्य प्राक्प्रतिपादितत्वाज्जगदाकारविवर्तमानमायाधिष्ठानत्वेन कारणभूतं सन्मात्रं ब्रह्मैव सकलकार्यजगदात्मकं न तु ततोऽतिरिक्तं कार्यं नाम किंचिदस्ति तर्कतः कार्यस्य कारणत्वावगमः । अस्यार्थस्य प्रतिपादकमुक्ततर्कानुग्राह्यं प्रमाणम् 'इद ँ सर्वं यदयमात्मा' 'तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' 'स एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिका श्रुतिः ॥ ६७ ॥ तत्र हि 'येनाश्रुत ँ श्रुतं भवति' इत्येकविज्ञानात्सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय, कथमेतद्युज्यत इत्याशङ्क्य, घटशरावादिकार्यस्य विकारित्वान्मृदादिकारणमात्रस्यैव सत्यत्वम्, 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिना निर्धार्य, तद्दृष्टान्तबलेन वियदादिभूतभौतिकात्मकस्य कार्यप्रपञ्चस्य वाचाऽऽरम्भणमात्रत्वात् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति प्रकृतस्य कारणभूतस्य सद्वस्तुन एव सत्यत्वमिति सत्यनिर्धारणात्कार्यं जगद्विकारमात्रं न तु तत्स्वरूपादन्यदिति कार्यस्य कारणमात्रप्रतिपत्तिस्तदाह–**कारणं सर्वकार्याणा**मिति ॥ ६८–६९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

हो जाती है । निश्चय ही नित्य शुद्ध ब्रह्म की दृष्टि अर्थात् उस दृष्टि से समझना विशुद्धि कर देती है ॥ ६५ ॥ वह ब्रह्म जो हमेशा सत्यादिरूप है सदा शुद्ध है । अतः जिस वस्तु को भी हम ब्रह्म समझते हैं वह शुद्ध हो जाती है ॥ ६६ ॥ अथवा सारे कार्य प्रपंच को प्रमाण और युक्ति पूर्वक कारण ब्रह्मरूप समझना चाहिये । इससे भी दोष-निवृत्ति हो जाती है ॥ ६७ ॥ (पूर्वत्र या बाध था या यथावस्थित में ही शालग्राम में विष्णु की तरह ब्रह्मदृष्टि थी । यहाँ कार्य का कारण से अभेद समझ कर ब्रह्म दृष्टि है यह अंतर है ।) सभी कार्यों का एकमात्र कारण परमात्मा ही है । इस विषय में स्मृतियों व श्रुतियों की एकवाक्यता है ॥ ६८ ॥ अतः मानव को चाहिये कि ऐसा अनुभव करते हुए यह सोचे कि सब कुछ परमात्मरूप है । इसमें कोई संदह नहीं कि यों चिंतन करने से ही सब कुछ पवित्र हो जाता है ॥ ६९ ॥

---

१ ग. ब्रह्मरूपेत्या° ।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि मुनयः [1]संशितव्रताः ।
अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत् ॥ १ ॥
आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः । चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं जायते पारमेश्वरम् ॥ २ ॥
पारमेश्वरविज्ञाने सति संसारहेतवः । ग्रन्थयस्तु विनश्यन्ति न हि संदेहकारणम् ॥ ३ ॥
अभक्ष्यभक्षणाच्चित्तमशुद्धं भवति स्वतः । अशुद्ध्या भ्रान्तिविज्ञानं जायते सुदृढं नृणाम् ॥ ४ ॥
भ्रान्तिविज्ञानतः पुंसो निषिद्धाचरणे रतिः ।
जायते तु तया पापं कुरुते कर्म सर्वदा ॥ ५ ॥

एवमात्मानात्मनोरुक्तोपायेन शुद्धयोरप्यभक्ष्यभक्षणजनितचित्तमालिन्यद्वारा पुनरप्यविशुद्धिः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं भक्ष्याभक्ष्यं विवेक्तुमारभते—अथात इति ॥ १ ॥ आहारशुद्धाविति । कारणभूतस्यान्नस्य विशुद्धौ सत्यां च तत्परिणामरूपस्य कार्यस्यान्तःकरणस्यापि विशुद्धिर्भवतीत्यर्थः । मनसोऽन्नकार्यत्वं श्रूयते 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः' इति । क्रमादिति । 'कर्मणा शुद्धचित्तस्य संसृतेर्दोषदर्शनम् । पुनर्विरक्तिः संसारान्मोक्षेच्छा जायते ततः' ॥ इति प्रागुक्तादित्यर्थः ॥ २ ॥ ग्रन्थयस्त्विति । अग्न्ययःपिण्डयोरिव सत्त्वपरिणामरूपान्तःकरणचैतन्ययोः अज्ञाननिमित्तको यस्तादात्म्यविभ्रमः स एको ग्रन्थिः । अन्तःकरणधर्माणां कर्तृत्वभोक्तृत्वादीनां धर्मितादात्म्याध्यासनिवन्धनो यश्चिदात्मना संसर्गाध्यासः सोऽपरः । चिद्व्याप्तान्तःकरणेन स्थूलदेहादेर्यत्तादात्म्यं सोऽपरः । एते च परमार्थतो निःसङ्गस्याऽऽत्मनः संसारबन्धहेतुत्वाद् ग्रन्थय उच्यन्ते । ततश्च प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपसाक्षात्कारेण मूलज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यभूता ग्रन्थयो ह्युपादाननिवृत्त्या निःशेषं निवर्तन्त इत्यर्थः । तथा च छन्दोगैराम्नायते—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भात्सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' इति ॥ ३ ॥ एतदेव विशुद्धाहारस्य क्रमान्मुक्तिसाधनत्वं व्यतिरेकमुखेणोपपादयति—अभक्ष्येति । अशुद्ध्या भ्रान्तिविज्ञानमिति । अविशुद्धाहारेण मलिनस्यानित्याशुचिदुःखादिलक्षणे संसारे नित्यशुचित्वादिलक्षणं भ्रान्तिज्ञानं जायते । 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु शुचिनित्यसुखात्मख्यातिरविद्या' इति हि पातञ्जलाः ॥ ४ ॥

अभक्ष्य से निवृत्ति का कथन नामक पैंतालीसवा अध्याय

सूत जी ने कहा—अब मैं यह बात बताता हूँ कि जो खाने योग्य नहीं उसका वर्जन करने से हृदय शुद्ध होता है ॥ १ ॥ आहार की शुद्धि होने पर चित्त की शुद्धि अपने आप हो जाती है । चित्त शुद्ध होने से संसार में दोषदृष्टि, वैराग्य, मुमुक्षा आदि के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान होता है । (चित्तशुद्धि को नापा ही वैराग्य से जा सकता है ।) ॥ २ ॥ परमेश्वर का ज्ञान होने पर संसार की हेतुभूत ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं इसमें कोई संदेह नहीं । (आत्मा व अनात्मा—मन शरीरादि—का इतरेतराध्यास व इनके धर्मों का इतरेतराध्यास ही ग्रंथियाँ हैं ।) ॥ ३ ॥ अभक्ष्य—न खाने योग्य—के भक्षण से चित्त स्वतः ही अशुद्ध होता है और अशुद्ध चित्त से संसार में मोहरूप भ्रान्तिज्ञान हो जाता है । (यद्यपि अज्ञान से भ्रमज्ञान कहना चाहिये तथापि सुषुप्ति में अज्ञान के रहते ही भ्रमज्ञान न होने से या समाधि में भ्रमज्ञान न होने से अशुद्ध मन को सहायक आवश्यक कारण मानकर ऐसा कहा है ।) ॥ ४ ॥ संसार को सत्यादि समझकर

---

१ ङ.च. छ. ज. शंसितव्रताः ।

तेन संसारवृद्धिः स्यान्न हि मुक्तिः कथंचन । तस्मादभक्ष्यं यत्नेन दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः । न [1]सम्यग्ज्ञानिनस्तस्य स्वरूपं सकलं खलु ॥ ७ ॥
अहमन्नं तथाऽन्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम् । ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु ॥ ८ ॥
ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा । यस्योपसेचनं मृत्युस्तज्ज्ञानी तादृशः खलु ॥ ९ ॥
ब्रह्मस्वरूपं विज्ञातुर्ज्ञानात्तत्तस्य भासते । तथा सति जगद्भोज्यं भवेद्विज्ञानिनः खलु ॥ १० ॥

भ्रान्तिविज्ञानत इति । उदीरितलक्षणान्मिथ्याज्ञानान्निषिद्धविषयगोचरो रागो जायते तस्माच्च पापे प्रवृत्तिस्तत्फलभूतसंसाराभिवृद्धिरित्याहारशुद्ध्यभावे मुक्त्याशङ्काऽपि नास्तीत्यर्थः । एतच्च विभ्रमज्ञानादीनामुत्तरोत्तरं प्रति पूर्वपूर्वस्य कारणत्वं नैयायिकैरपि सूत्रितम्–'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इति ॥ ५–६ ॥ **देहिन** इति । स्थूलसूक्ष्मकारणात्मना त्रिविधेनापि देहेन तादात्म्यमभिमन्यमानस्य विवेकज्ञानरहितस्यैव वक्ष्यमाणो भक्ष्याभक्ष्यविवेकः । यस्तु सम्यग्ज्ञानी न तस्याभक्ष्यवर्जनं संभवतीत्याह–**न सम्यगि**ति । सम्यग्ज्ञानेन संशयनिरासज्ञानी हि निर्विचिकित्सं स्वात्मनः परं शिवात्मत्वं जानन्भक्ष्याभक्ष्यरूपेण विविधावस्थितमपि सर्वं स्वरूपतयैव जानाति न त्वभक्ष्यं स्वतोऽतिरिक्तं पश्यतीति यद्वर्जने प्रयतेतेत्यर्थः ॥ ७ ॥ एतदेव सर्वात्मत्वमुपपादयति–**अहमन्नमि**ति । भोक्तृभोग्यात्मकं हि सकलं जगत्तस्य सर्वस्य स्वस्मिन्नज्ञानपरिकल्पितत्वात्स्वरूपयाथात्म्यावबोधेन सकारणस्य तत्रैव विलये सति भोक्तृभोग्ययोः स्वात्ममात्रतया यदनुसंधानं तत्खलु ब्रह्मज्ञानमित्यर्थः । तथा चाऽऽम्नायते–'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽ३हमन्नादोऽ३हमन्नादः' इति । एवमभक्ष्यवर्जनस्यासंभवं प्रतिपाद्य प्रत्युत तस्य सर्वं भक्ष्यमेवेत्युपपादयति–**ब्रह्मविदि**ति ॥ ८ ॥ उक्तोऽर्थः श्रुतिसंमत इति दर्शयति–**ब्रह्मक्षत्रादिकमि**ति । सा च श्रुतिरेवमाम्नाता–'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' इति स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन ब्रह्मक्षत्राद्युपलक्षितं समृत्युकं सर्वं जगत्स्वात्ममात्रतया ग्रसतः सर्वं जगद्भक्ष्यमेव भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥ **ब्रह्मस्वरूपमि**ति । सर्वात्मज्ञानवतस्तस्य पुरुषस्य तत्सर्वं जगत्सच्चिदानन्दानुभवबलेन[2] ब्रह्मस्वरूपं भासते । तथा च सति प्रतीयमानस्य जगतः स्वात्मना ग्रस्यमानत्वात्तस्य ज्ञानिनो भोज्यं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

उसमें मोह होने पर व्यक्ति निषिद्ध आचरण कर बैठता है । उससे पाप होता है । किं च मोहवश मनुष्य सदा कर्म करता ही रहता है । इससे संसरण चलता ही रहता है, किसी भी तरह मोक्ष नहीं हो पाता । अतः जो मोक्ष चाहे उसे प्रयत्नपूर्वक अभक्ष्य खाने से बचना चाहिये ॥ ५–६ ॥

भक्ष्य-अभक्ष्य का विभाजन उसी के लिये है जिसे ब्रह्मात्मानुभव नहीं अतः जो स्वयं को देहधारी समझता है । जो तो शिवात्मैक्य का सम्यग्ज्ञानी है उसके लिये कोई विभाजन नहीं । सभी कुछ उसी का स्वरूप है ॥ ७ ॥ 'जो खाया जाता है तथा जो खाता है वह मैं ही हूँ'–यह ब्रह्मवेत्ता का अनुभव है । ज्ञान के फलस्वरूप ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप से सब कुछ निगल जाता है । ॥ ८ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सारा जगत् जिसके लिये भात की तरह है और मृत्यु साग की जगह है, उस परमशिव का जानकार भी वैसा ही होता है ॥ ९ ॥ विज्ञाता का स्वरूप ब्रह्म ही है और ज्ञान से अज्ञान हट चुकने पर ऐसा ही उसका निश्चय है । अतः विज्ञानी के लिये सारा जगत् ही भोज्य है । (प्रपंच की हर वस्तु अत्ता व अन्न है

---

१ ग. °ग्ज्ञानतस्त° । २ घ. °नुवेधव° ।

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा ।
यदा स्वात्मतया भाति भक्षितं सकलं तदा ॥ ११ ॥
तदा भातेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्स्वयम् ।
मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम् ॥ १२ ॥
जाग्रत्स्वप्नाभिधे काले प्रतीतं ग्रसतीश्वरः ।
स्वात्मनैव सुषुप्ते तु पुनस्तत्सृजति प्रभुः ॥ १३ ॥

एतदेव विवृणोति–जगदात्मतयेति । सद्रूपे ब्रह्मण्यध्यस्तं नामरूपात्मकं जगद्यदा यस्यां प्रतीत्यवस्थायामधिष्ठानसत्तासंसर्गवशाल्लब्धसत्ताकं भाति तदा तस्यामवस्थायामारोप्यस्य[1] जगतोऽधिष्ठानसत्त्वव्यतिरेकेण पृथक्सत्त्वानुपपत्तेः सन्मात्रब्रह्मात्मनाऽनुसंधानादभक्ष्यस्य पृथक्सत्त्वाभावेन वर्जयितुमशक्यत्वाच्च तथाविधज्ञानिनः सर्वं जगद्भोज्यमेव भवति । यदा तु बाधावस्थायामधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनाज्ञानतत्कार्यजातस्य विनिवर्तिततत्वात्सर्वं जगत्स्वात्मतया भाति बाधावधिभूतेन प्रत्यगात्मना स्वरूपभूतेन सद्ब्रह्मात्मनैव केवलं भासते न तु नामरूपात्मनेत्यर्थः । तदा सर्वं जगत्सन्मात्रे स्वात्मनि विलापनाद्भक्षितमेव भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ एवमधिष्ठानसत्त्वोपजीवनेनाभोज्यत्वं निराकृत्याधिष्ठानचिन्मात्रपर्यालोचनयाऽपि तन्निराकरोति–तदेति । अधिष्ठानस्फुरणरूपेणाऽऽरोप्यं जगदपि यदा प्रतीतिसमये स्फुरणवद्भवति तदा सर्वस्य नामरूपात्मकस्य जगतः पृथक्स्फुरणाभावेनाधिष्ठानचिन्मात्रतयाऽनुसंधानाद्वर्जयितुमशक्यत्वेन ज्ञानिनः सर्वं जगद्भोज्यं भवतीत्यर्थः । अन्यत्पूर्ववद्योज्यम् । मानत इति । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिकात्प्रमाणादित्यर्थः ॥ १२ ॥ ननु चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्घटपटादिलक्षणः प्रपञ्चः पृथक्सत्त्वेनैवानुभूयते, कथं तस्य स्वात्ममात्रतया भक्षितत्वमित्याशङ्क्याऽऽह–जाग्रदिति । जागरस्वप्नावस्थयोः प्रतीयमानं सर्वं जगत्सुषुप्तिसमये जीवरूपेण स्थित ईश्वरः स्वात्ममात्रतया ग्रसति तदा तस्याप्रतिभासमानत्वात्तत्कारणभूतमज्ञानमेव हि केवलं प्रतिभासते । नन्वेवं सुषुप्तिसमये यदि सर्वं जगद्ग्रस्तं, परेद्युः कथं तस्याऽऽविर्भावः ? इति तत्राऽऽह–पुनरिति । ग्रस्तसजातीयमन्यदेव जगत्स्वाज्ञानबलात्परस्मिन्दिने पुनरपि सृजति यतोऽयं प्रभुरीश्वरः । अज्ञानादेव तस्य जीवत्वमतस्तस्य सर्जनशक्तिरस्तीति[2] ॥ १३ ॥

अतः ज्ञानी का सब भक्ष्य है । अथवा सबका बाध करने से मानो वह सबको निगल जाता है, यह अर्थ है ।) ॥ १० ॥ ज्ञानी को जब तक नामरूप आत्मक जगत् आत्मसत्ता से सत्तान्वित उसी तरह प्रतीत होता है जैसे स्फटिक की वास्तविकता के जानकार को लाल स्फटिक, तब तक सभी कुछ उसका भोज्य है । जब नामरूप की प्रतीति नहीं रहती, आत्ममात्र रहता है तब समझ लेना चाहिये कि वह सब कुछ खा चुका है । (जीवन्मुक्त की प्रथम व विदेहमुक्त की द्वितीय स्थिति है ।) ॥ ११ ॥ प्रथम स्थिति में प्रतीयमानरूप से सारा जगत् स्वयं भोज्य हो जाता है । और श्रुतिप्रमाण से वही स्व-रूप से प्रतीत होने पर (अर्थात् वह प्रतीत न हो आत्ममात्र प्रतीत होने पर) उसे खा लिया गया समझा जाता है ॥ १३ ॥ जाग्रत् और स्वप्न के समय प्रतीत होने वाले सारे संसार को सुषुप्ति के समय जीवरूप से स्थित ईश्वर अपने में विलीन कर लेता है और पुनः जाग्रद् आदि के समय उत्पन्न कर देता है । जैसे स्वप्न-प्रपंच में स्थित सब वस्तुएँ

---

१ ङ. 'रोपितस्य । २ 'पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रमि'ति श्रुतिरिहानुसन्धेया ।

यथा स्वप्नप्रपञ्चस्थं समस्तं वस्तुतः स्वयम् ।
तथा जाग्रत्प्रपञ्चस्थं वस्तुतः स्वयमेव हि ॥ १४ ॥
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ।
अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥ १५ ॥
अस्तितालक्षणा सत्ता सदा ब्रह्म न चापरा ।
नास्ति सत्ताऽतिरेकेण किंचिदप्यास्तिकोत्तमाः ॥ १६ ॥
सत्तातिरिक्तं चेदस्ति शून्यवच्छून्यमेव तत् ।
भवेन्नैवात्र संदेहो नास्ति माया च वस्तुतः ॥ १७ ॥
अविचारितरूपा हि माया सर्वविमोहिनी ।
सा शिवज्ञानहीनानामेव भाति न योगिनः ॥ १८ ॥

अस्त्वेवं स्वप्नप्रपञ्चस्य, जाग्रत्प्रपञ्चस्य तु नैवं संभवतीत्याशङ्क्य स्वप्नदृष्टान्तेनैव तस्यापि स्वात्ममात्रत्वं प्रतिपादयति– **यथा स्वप्नेति** । यथा स्वप्नप्रपञ्चस्योत्तरक्षणे बाधदर्शनान्मिथ्यात्वेन स्वात्ममात्रत्वमेवमद्वितीयब्रह्मयाथात्म्यज्ञानेनाविद्यातत्कार्यजाग्रत्प्रपञ्चस्यापि बाधितत्वात्परमार्थतः स्वात्ममात्रान्न व्यतिरिच्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥ **स्वस्वरूपमिति** । यस्मादुक्तरीत्या सर्वं जगज्ज्ञानिनः स्वात्मभूतमेव तस्माद्विषयाकारेण परिकल्पितं स्वात्मानमेव स्वयं भुङ्क्ते न तु स्वस्मात्पृथग्भूतं भोज्यं नाम किंचिदस्ति यद्भक्ष्याभक्ष्यतया विविच्य विधीयेतेत्यर्थः । ननु भोक्तुरात्मनः सकाशात्पृग्भूतमेव परिकल्पितमिति शब्दस्पर्शादि भोज्यमस्त्येवेत्याशङ्क्य निरस्यति–**अस्तिचेदिति** । यद्यस्ति भोज्यं तदप्यस्तित्वानुवेधाद् घटपटादिवदस्तित्वरूपं ब्रह्मैव तत्खल्वस्तित्वलक्षणम् । 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद' 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इत्यादिश्रुतेः । अतोऽधिष्ठानास्तित्वमेवाऽऽरोपितभोज्येऽवभासत इति न पृथगस्तित्वं तस्येत्यर्थः ॥ १५ ॥ ननु जायतेऽस्ति विपरिणमत इति परिपठितस्य द्वितीयभावविकारस्यास्तित्वस्य कथं निर्विकारब्रह्मरूपतेत्याशङ्क्याऽऽह–**अस्तितेति** । नात्र भावविकारो विवक्षितोऽपि तु तद्धेतुभूता सत्ता । सा च सन्मात्रं ब्रह्मैव न तु तद्व्यतिरिक्ता पराभिमता जातिरित्याह–**नास्तीति** ॥ १६ ॥ सत्ताया जातित्वे तद्व्यञ्जकतयाऽन्यत्किंचिदवश्यमेष्टव्यम्[1] । तच्च न संभवति, सत्तातिरिक्तस्य व्यञ्जकस्य तस्य सत्ताभिव्यक्तेः पूर्वमाद्यक्षणवर्तित्वनियमात्तदा सत्तासंसर्गाभावात्स्वतःसत्ताभावाच्च शशविषाणवच्छून्यमेव तद्भवेत् । अतो व्यञ्जकानिरूपणात्सन्मात्रं ब्रह्मैव स्वस्मिन्परिकल्पितनानाव्यक्त्यनुगमवशात्सत्तेत्युच्यते न तु पराभिमता जातिरित्यर्थः । एतच्च पञ्चदशेऽध्याये–'सत्ता या भासते सैका' इत्यादिना प्राक्प्रपञ्चितम् । **नास्ति मायेति** । जडप्रपञ्चकारणभूता सद्ब्रह्मातिरिक्ता माया परमार्थतो नास्ति । अवस्तुभूतेन कार्यप्रपञ्चेन स्वानुरूपस्यैव कारणस्य कल्पनात्तदाह–**अविचारितेति** । सत्त्वासत्त्वादिविचारासहरूपा सर्वजनसंमोहनशक्तिर्हि माया तथाविधाया एवैन्द्रजालिकादौ दर्शनादित्यर्थः ॥ १७–१८ ॥

भी आत्ममात्र ही हैं । (सौषुप्त वेला में सब को स्वयं में लीन कर लेता है का सरलार्थ यह समझना चाहिये कि स्वयं बना रहता है और बाकी सब नहीं रह जाते । अन्यों को प्रतीत होने पर भी उसे प्रतीत न होने से और अप्रतीयमान का सद्भाव दुःसाध्य होने से बाकी सब नहीं है यह ठीक है । एकजीववाद

---

१ किंचिदित्याकारः, संस्थानमुच्यते । न चैवं घटत्वहीनस्य घटस्यापि सिद्धिरिति शंकनीयम्, घटत्वादेरप्यजातित्वस्य ममेष्टत्वात् ।

योगिनामात्मनिष्ठानां माया साक्षिणि कल्पिता ।
साक्षिरूपतया भाति शिवज्ञानेन बाधिता ॥ १९ ॥
बाधिताऽपि पुनर्माया भाति दिङ्मोहभानुवत्[1] । प्रारब्धकर्मपर्यन्तं ब्रह्मविज्ञानिनामपि ॥ २० ॥
ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत् ।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥ २१ ॥
तस्मादभक्ष्यं नैवास्ति विदुषः परयोगिणः । आत्मविज्ञानहीनानां खल्वेवाभक्ष्यमास्तिकाः ॥ २२ ॥
द्विजानामात्मविज्ञानविहीनानामियं बुधाः । व्यवस्था शंकरेणैव निर्मिताऽभक्ष्यगामिनी ॥ २३ ॥
लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं ग्रामकुक्कुटम् । छत्राकं विड्वराहं च मतिमान्नैव भक्षयेत् ॥ २४ ॥

शिवज्ञानेन बाधितेति । यस्मादवस्तुभूततयैव साक्षिणि माया परिकल्पिता तस्मात्तस्य साक्षिणः परशिवात्मसाक्षात्कारेण बाधिता भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥ ननु ज्ञानिनः परतत्त्वसाक्षात्कारेण मायाया निवर्तितत्वात्पुनः सा भातीति न युक्ता । न तु रज्जुयाथात्म्यज्ञानेन निवर्तितसर्पस्य पुनस्तत्प्रतीतिः[2] संभवतीत्यत आह—**बाधिताऽपीति** । ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारेण हि प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तं कर्मजातं[3] निवर्त्यते, प्रारब्धफलं तु कर्म भोगेनैव क्षपयितव्यम् । अतस्तावत्पर्यन्तं ज्ञानिनोऽपि संसारप्रतिभासावश्यंभावात्तदुपादानभूता माया तत्त्वसाक्षात्कारेण बाधिताऽपि पुनस्तस्य भाति पर्वतान्तादिदेशविशेषेपूपसंजातदिग्भ्रमस्य पुरुषस्य सूर्योदयादिकारणेन निर्णीतप्राच्यादिदिक्तत्त्वस्यापि पुनर्यथा दिङ्मोहानुवृत्तिस्तद्वत् ॥ २० ॥ **पश्यन्नपीति** । घटपटाद्यात्मकं सर्वं जगच्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्जानन्नपि सच्चिदानन्दरूपाधिष्ठानब्रह्मात्मनैव पश्यति । नतु तत्स्वरूपात्पृथग्भूतं पश्यति । आरोप्यस्य स्वाधिष्ठानादव्यतिरिक्तत्वादित्यर्थः ॥ २१–५१ ॥

के ढंग से यह प्रसंग अधिक स्पष्ट होता है यह जानना चाहिये ।) ॥ १३–१४ ॥ विद्वान् अपने स्वरूप का स्वयं ही भोग करता है क्योंकि उससे पृथक् कोई भोज्य है नहीं । जो कुछ प्रतीयमान भोज्यजात है भी वह भी नियमतः सदभेदेन उपलभ्यमान होने से सद्रूप ब्रह्म ही है । अस्तिता—होना, हैपना—ही सत्ता है और वह ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं । सत्ता से अन्वित ही सब उपलब्ध होने से उससे अतिरिक्त कुछ वस्तुतः है ही नहीं ॥ १५–१६ ॥ सत्ता से अतिरिक्त कुछ हो तो वह शून्य की तरह होने से शून्य ही होगा अर्थात् नहीं ही होगा (जो है वह सब तो सद्रूप है, जो है ही नहीं उसका विचार क्या किया जाये ? होने व न होने से अतिरिक्त अनिर्वाच्य ही संभव है । उससे भी भिन्न की दृष्टान्तादि के अभाव में कोई संकल्पना नहीं बन सकती । शिव तो सद्रूप हैं ।) सद्रूप ब्रह्म से भेदेन प्रतीत होने वाली माया है जो वास्तविक नहीं । सब को मुग्ध करने वाली उस माया का रूप ही है विचारसिद्ध न होना । शिवयाथार्थ्य न जानने वालों को ही उसका भान होता है, शिवयोगियों को नहीं ॥ १७–१८ ॥ योगियों अर्थात् आत्मनिष्ठों को शिवज्ञान से बाधित तथा साक्षी में कल्पित माया साक्षीरूप से ही प्रतीत होती है (अर्थात् साक्षी ही वास्तविक है यह बोध बना रहते हुए कल्पित—बाधित—रूप से माया भी दीख जाती है जैसे देवदत्तादि नामक नट ही है ऐसा निश्चय रहते ही वह नल, सत्यवान् आदि रूप से प्रेक्षकों को दीखता रहता है ।) ॥ १९ ॥ जैसे जिसे दिशाओं का सही ज्ञान हो चुका है उसे भी कदाचित् पूर्ववासनावश लगता है—अब सूर्य उत्तर में है इत्यादि । (अथवा, जिसे निश्चित मालूम है कि सूर्य में ऊँचा-नीचापन नहीं, पृथ्वी की ही ये स्थितियाँ हैं, उसे भी प्रतीति होती है—अब सूर्य ऊँचा चढ़ गया, अब नीचे डूब रहा है, इत्यादि ।) ऐसे ही प्रारब्ध कर्म के रहते ब्रह्म का अनुभव कर चुके महात्माओं को भी मायाविलास प्रतीत हो जाता है ॥ २० ॥ ब्रह्मज्ञानी सारे जगत् को देखते हुए भी उसे अपने से पृथक् नहीं देखता—मैं ही इस सब रूप से भास रहा हूँ ऐसा ही समझता है ॥ २१ ॥ अतः परमयोगी विद्वान् के लिये कुछ अभक्ष्य नहीं है । जिन्हें आत्मज्ञान नहीं, उन्हीं के लिये भक्ष्याभक्ष्य विवेक है ॥ २२ ॥

आत्मज्ञानरहित ब्राह्मणों के लिये यह अभक्ष्यविषयक व्यवस्था भगवान् शंकर ने ही बनायी है ॥ २३ ॥ बुद्धिमान् को चाहिये कि लहसन, गृंजन (लाल लहसन, गाँजा या विषाक्त बाण से मारा पशु), प्याज,

---

१ कार्यात्मनैव भाति न त्वावरणरूपकारणात्मनेति विशेषः । प्रारब्धभोगदशायामपि नात्मयाथात्म्यावरणं कदाचिज्जायते विदुषः । अस्मान्प्रति सूर्य उत्तरदिशीत्यादिरीत्या दिङ्मोहेन भानोर्भानमुन्नेयम् । दिङ्मोहभानवदिति चेत्पाठः, सरलोऽर्थः । २ ख. °तीतिप्रथनं सं° । ३ घ. ङ. च. कर्मकाण्डं ।

पलाण्डुसदृशं सर्वं गन्धवर्णरसादिभिः । कामतोऽकामतश्चैव ब्राह्मणो नैव भक्षयेत्[1] ॥ २५ ॥

व्रश्चनप्रभवं सर्वं हिङ्गुद्रव्यं विनैव तु । भूस्तृणं शिग्रुकं चैव ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ २६ ॥

खट्वासंज्ञं च वार्ताकं तथैवोखरजं तृणम् ।
लवणं भूमिजं विप्रो मोहेनापि न भक्षयेत् ॥ २७ ॥

नखविष्किरसंज्ञं च तथा कोयष्टिसंज्ञितम् ।
[2]सौलं वल्लूरसंज्ञं च मत्स्यादो नैव भक्षयेत् ॥ २८ ॥

बकं चैव बलाकं च खञ्जरीटकसंज्ञितम् ।
कोकिलं च द्विजश्रेष्ठाः प्रमादाच्च न भक्षयेत् ॥ २९ ॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः । राजीवान्सिंहतुण्डांश्च शशकान्नैव भक्षयेत् ॥ ३० ॥

केवलानि च शुष्काणि तथा पर्युषितानि च ।
ऋजीषपक्वं विप्रेन्द्राः कदाचिन्नैव भक्षयेत् ॥ ३१ ॥

विण्मूत्रं च सुरास्पृष्टं सर्वं द्रव्यं तथैव च ।
सुरास्पृष्टस्य च स्पृष्टं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३२ ॥

रेतो देहमलं चैव श्वकाकोच्छिष्टमेव च ।
विड्वराहखरोष्ट्राणां मूत्रं विप्रो न भक्षयेत् ॥ ३३ ॥

विडालकाकाद्युच्छिष्टं नकुलोच्छिष्टमेव च । वेदबाह्येन संस्पृष्टं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३४ ॥

मुर्गा-मुर्गी, कुकुरमुत्ता (खुम्भी) और सुअर न खावे ॥ २४ ॥ हींग से अतिरिक्त वे वस्तुएँ जो पेड़ों में छिद्रादि कर निकाली जाती हैं, भूस्तृण तथा शिग्रुक (दोनों क्रमशः वालव देश में और वाहीकों में प्रसिद्ध शाक हैं) ब्राह्मण को नहीं खाने चाहिये ॥ २६ ॥ खट्वा नामक बैंगन, ऊपर भूमि में उत्पन्न घास और ज़मीन से निकले नमक को भ्रम से भी ब्राह्मण न खाये ॥ २७ ॥ अपने पंजों से फाड़ने वाले शिकारी पक्षी को, टिटहरी को, सौल को, जंगली सुअर को तथा मछली खाने वाले प्राणियों को नहीं खाना चाहिये ॥ २८ ॥ बक, बलाक (दोनों बगुले की जातियाँ हैं), खंजन पक्षी, सुअर तथा कोयल को प्रमाद से भी नहीं खाना चाहिये ॥ २९ ॥ पाठीन और रोहित मछलियाँ देवताओं व पितरों को समर्पणीय हैं । सारस, सिंहतुण्ड मछली और खरगोश को नहीं खाना चाहिये ॥ ३० ॥ कच्चे, सूखे, बासी तथा कड़ाही में पके (मांस) को नहीं खाना चाहिये ॥३१ ॥ विष्ठाको, मूत्रको, सुरा से स्पृष्ट किसी चीज़ को व उस चीज़ से स्पृष्ट किसी चीज को ब्राह्मण न खाये ॥ ३२ ॥ रेतस् को, देह के मैलको, कुत्ते व कौए के

---

१ घ. "त् ॥ २॰ ॥ छेदनोत्पन्ननिर्यासं हि" । २ तुलय–सौनं वल्लूरमेव चेति याज्ञवल्क्यस्मृतिः (आचार-१७४) । सौनं सूनारूढदुर्ष्टमिति वालक्रीडायां तत्र ।

शकुनीसंज्ञितान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः । अनिर्दिष्टांश्चैकशफान्क्रव्यादांश्च न भक्षयेत् ॥ ३५ ॥
कलविङ्कसमाख्यं च टिट्टिभं प्लवमेव च । हंसं चक्रसमाख्यं च सारसं नैव भक्षयेत् ॥ ३६ ॥
रज्जुवालं च दात्यूहं शुकं सारिकसंज्ञितम् । प्रतुदाञ्जालपादांश्च ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३७ ॥
तुरङ्गस्य गजस्यापि मण्डूकस्य तथैव च । पुरीषं च तथा मूत्रं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३८ ॥
नराणां च गजानां च मांसमश्वस्य सत्तमाः । महिषस्य च मांसं च ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ३९ ॥
अजाविमांसं रक्तं च गोमांसं च तथैव च । मृगाणां च तथा मांसं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४० ॥
मांसं पञ्चनखानां च विनैव सकलानि तु । कामतोऽकामतो वाऽपि ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४१ ॥
मत्स्यं कृत्स्नं दृतिस्पृष्टमाज्यं कीलालमेव च । रसं तालफलस्यापि ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४२ ॥
ओदनं तु पुनःपक्वं नारिकेलरसं तथा । पक्वं तोयमभूमिस्थं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४३ ॥
अनिर्दशाहगोक्षीरमौष्ट्रमेकशफं तथा । आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ४४ ॥
आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना । स्त्रीक्षीरं च भ्रमाद्वाऽपि ब्राह्मणो न पिबेत्सदा ॥ ४५ ॥
गोगजाश्वादिभिर्घ्रातं पादस्पृष्टं च कामतः । अनुलोमादिभिः स्पृष्टं ब्राह्मणो नैव भक्षयेत् ॥ ४६ ॥
उक्तान्येतानि सर्वाणि ब्राह्मणानां विशेषतः । अभक्ष्याणि मयोक्तानि भक्षकाश्च पतन्त्यधः ॥ ४७ ॥

जूठे को, गधे और ऊँट के मूत्र को कभी न खाये ॥ ३३ ॥ बिलार, कऊआ आदि के जूठे को, नेवले के जूठे को, तथा वैदिक मर्यादा से वहिर्भूत (म्लेच्छादि) व्यक्ति के छुए को ब्राह्मण न खाये ॥ ३४ ॥ शकुनी नाम वाले सव खेचरों को, गाँव में रहने वाले पशु-पक्षियों को जिन्हें यहाँ नहीं भी गिनाया है, एक शफ पशुओं को और मांस खाने वाले पशुओं को नहीं खाना चाहिये ॥ ३५ ॥ गौरय्या कहाने वाला टिट्टिभ (टिटिहिरी), प्लव (काण्डव, एक प्रकार की वत्तख), हंस, चकवा और सारस खाने योग्य नहीं हैं ॥ ३६ ॥ रज्जुवाल (एक तरह का जंगली मुर्गा), जल-कौवा, सुग्गा, सारिका, प्रतुद (बाज आदि जाति वाले पक्षी) और कलहंस–इन्हे भी ब्राह्मण न खाये ॥ ३७ ॥ घोड़े, हाथी और मण्डूक का मल-मूत्र ब्राह्मण को नहीं खाना चाहिये ॥ ३८ ॥ मनुष्य, हाथी, घोड़े और भैंस का मांस ब्राह्मण के लिय अभक्ष्य है ॥ ३९ ॥ बकरी, भेड़, गाय और मृग का मांस व रक्त ब्राह्मण को नहीं खाना उचित है ॥ ४० ॥ पंचनखों से अतिरिक्त किसी का मांस चाहकर या विन चाहे ब्राह्मण न खाये । (श्वाविध अर्थात् साही, शल्यक अर्थात् साही की ही तरह का स्थूल लोम वाला एक और प्राणी, गोधा अर्थात् घड़ियाल, गैंडा, कछुआ और खरगोश–ये छः जानवर ही पंचनखों में भी भक्ष्य हैं ऐसी मनूक्ति है (५.१८) श्वाविध व शल्यक एक मानकर इन्हें पाँच भी कहा जाता है । याज्ञवल्क्यस्मृति में (आचार.१७६) सेधा, गोधा (घड़ियाल), कच्छप (कछुआ), शल्यक (साही) और खरगोश–ये गिनाये गये हैं । किन्तु स्मृतिकारों का तात्पर्य मांस न खाने में ही है । मनुस्मृति में ही पहले (५.१५) तथा बाद में (५.४८ आदि) मांसभक्षण की निंदा की है । ऐसे ही याज्ञवल्क्य महर्षि

तस्मादभक्ष्यं संत्यज्य ब्राह्मणो मतिमत्तमः ।
चित्तस्य परिशुद्ध्यर्थं भक्ष्यमेव तु भक्षयेत् ॥ ४८ ॥
क्षत्रियाणां च वैश्यानां भक्ष्यमेष्वपि विद्यते । तथाऽपि भक्षणाभावस्तेषामत्यन्तशोभनः ॥ ४९ ॥
शूद्रादीनां च सर्वेषामभक्ष्यं नैव विद्यते । तथाऽप्यभक्षणं तेषां फलाय महते भवेत् ॥ ५० ॥
भक्ष्यस्य भक्षणादेव विशुद्धहृदयः पुमान् । पारमेश्वरविज्ञानान्मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ५१ ॥
परमेश्वरविज्ञानं वेदादेव न चान्यतः । आगमान्तरजन्यं तु ज्ञानं न ज्ञानमास्तिकाः ॥ ५२ ॥

परमेश्वरविज्ञानमिति । प्रत्यगात्मनः परशिवस्वरूपत्वगोचरं विशिष्टं ज्ञानं साक्षात्कारात्मकं वेदान्तवाक्यादेव नान्यस्मादित्यर्थः । आगमान्तरेति । वेदविरुद्धागमवाक्याद्यत्पारमेश्वरं ज्ञानं तद्विकल्पज्ञानमेव स्वतःप्रमाणेन वेदवाक्येन बाधितविषयत्वादित्यर्थः ॥ ५२ ॥ अष्टादशानामिति । 'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥' इति चतुर्दशविद्याः । आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं नीतिशास्त्रं चेति चतस्रः । तासामष्टादशानां मध्ये वेदव्यतिरिक्ता या विद्यास्ताः सर्वा वेदप्रतिपादितार्थानुसारेण प्रवृत्ताः प्रमाणत्वेन ज्ञातव्या इत्यर्थः ॥ ५३ ॥ तास्विति । वेदव्यतिरिक्तास्वित्यर्थः ॥ ५४–५९ ॥

ने मांसवर्जन की प्रशंसा की है (आचार.१८०) । उन्होंने जो मांस की अनुमति दी है वह इस दृष्टि से कि यदि खाना ही हो तो इनसे अतिरिक्त मांसों को तो नहीं ही खाना चाहिये, कर्माद्यंगभूत भक्षण तो सर्वथा निर्दुष्ट है । पुराण का भी यही अभिप्राय है कि मांस न खाये किंतु यदि स्वाद के लोभ से अपने को रोक न सके तो उक्त मांसों का तो परित्याग करे ही ।) ॥ ४१ ॥ सभी मछलियाँ, चर्म से छुआ घी, खून और ताड़फल का रस–इन्हें ब्राह्मण न खाये ॥ ४२ ॥ दुबारा पकाया चावल, दुबारा पकाया नारियल का रस और पृथ्वी पर न पड़ा पानी (अर्थात् बरसता हुआ पानी)–इनका ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ४३ ॥ गाय के बछड़ा होने पर प्रथम दस दिन उसका दूध नहीं पीना चाहिये । ऊटनी (सांडनी) का, एक शफ वालों का, भेड़ का, गर्माई गाय का और विना बछड़े की गाय का दूध नहीं पीना चाहिये ॥ ४४ ॥ भैंस को छोड़ किसी जंगली पशु का दूध नहीं पीना चाहिये । ब्राह्मण को भ्रम से भी किसी स्त्री का दूध नहीं पीना चाहिये । (यहाँ स्त्रीपद औचित्य से माता आदि से भिन्न के विषय में है ।) ॥ ४५॥ गाय, हाथी, घोड़ आदि द्वारा सूंघा, जानबूझकर पैर से छुआ हुआ, तथा अनुलोमादि द्वारा छुआ भोजन ब्राह्मण को नहीं करना चाहिये ॥ ४६ ॥ ये जितने अभक्ष्य मेरे द्वारा बताये गये हैं वे विशेषतः ब्राक्षणों के लिये है । इन्हें खाने वाले नरकगामी होते हैं ॥ ४७ ॥ अतः बुद्धिमान् ब्राह्मण को अभक्ष्य छोड़कर शास्त्र-अभ्यनुज्ञात का ही भक्षण चित्त की शुद्धि के लिये करना चाहिये ॥ ४८ ॥ पूर्वोक्त अभक्ष्यों में कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो क्षत्रिय व वैश्य खा सकते हैं, किन्तु अच्छा यही है कि वे भी इन निषिद्ध वस्तुओं को न ही खायें ॥ ४९ ॥ शूद्रादि सभी के लिये यद्यपि कुछ अभक्ष्य नहीं, तथापि यदि वे उक्त अभक्ष्यों का परित्याग करें तो उन्हें महान् फल मिलता है ॥ ५० ॥ खाने योग्य वस्तुओं को ही खाने से शुद्ध हृदय वाला हुआ व्यक्ति परमेश्वर ज्ञान द्वारा भवबंधन से मुक्त

अष्टादशानां विद्यानां वेदादन्याश्च सत्तमाः । विद्यावेदानुसारेण प्रवृत्ताः सर्वशोभनाः ॥ ५३ ॥
तथाऽपि तासु सर्वासु कश्चिदंशः क्वचित्क्वचित् । शिवागमानुसारेण तत्प्रभेदानुसारतः ॥ ५४ ॥
विष्णवागमानुसारेण तत्प्रभेदानुसारतः । ब्रह्मागमानुसारेण तत्प्रभेदानुसारतः ॥ ५५ ॥
अधिकारिविशेषेण क्रमेणैव विमुक्तये । प्रवर्तन्ते मुनश्रेष्ठाः सत्यमेव मयोदितम् ॥ ५६ ॥
तत्तत्तन्त्रेषु ये मर्त्या दीक्षिता मुनिसत्तमाः ।
सोंऽशस्तैरेव संग्राह्यः सर्वथा नैव वैदिकैः ॥ ५७ ॥
मदुक्ता संहिता साध्वी वेदमानानुसारिणी । वेदेतरागमाधीनः कश्चिदंशो न विद्यते ॥ ५८ ॥
प्रसादादेव रुद्रस्य संहितेयं मयोदिता । प्रसादः शांकरः सम्यग्ज्ञानस्य खलु साधनम् ॥ ५९ ॥
अतो वेदानुसारेण द्विजानामात्मशुद्धये । अभक्ष्यमादरेणोक्तं मया वेदार्थवित्तमाः ॥ ६० ॥
सर्वमुक्तं समासेन केवलं करुणाबलात् । श्रद्दधानस्त्वभक्ष्याणि भ्रमाद्वाऽपि न भक्षयेत् ॥ ६१ ॥
इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽभक्ष्यनिवृत्तिकथनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायामभक्ष्यनिवृत्तिकथनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

होता है ॥ ५१ ॥ परमेश्वर का ज्ञान वेद से ही होता है । अन्य आगमों के हुआ ज्ञान वस्तुतः ज्ञान नहीं है ॥ ५२ ॥ अठारह विद्याओं में वेद से अतिरिक्त जितनी विद्यायें हैं वे सब वेद के अनुसार हैं, उससे विरुद्ध नहीं । (चार वेद, छह वेदांग, चार उपवेद, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र– ये अठारह विद्यायें हैं ।) ॥ ५३ ॥ फिर भी वेदेत्तरविद्याओं में कहीं-कहीं कोई अंश शैवागम के या उनके किसी प्रभेद के अनुसार अथवा वैष्णवागम या उनके किसी प्रभेद के अनुसार, ब्राह्मागम या उनके किसी भेद के अनुसार भी आ जाता है ॥ ५४–५५ ॥ सब आगम तथा वेदभिन्न विद्यायें अधिकारियों के वैचित्र्य से उपयुक्त हैं और क्रमशः मोक्ष के लिये उपोयगी हैं ॥ ५६ ॥ जो व्यक्ति किसी आगम संप्रदाय में दीक्षित हो वही वेदेतर विद्याओं में आये आगमानुसारी अंश का ग्रहण करे, वैदिक व्यक्ति को उसका ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ५७ ॥ मैंने जो (प्रकृत्त) संहिता सुनाई है यह बहुत शुद्ध है क्योंकि प्रमाणभूत वेद का पूर्णतः अनुसरण करती है । वेदभिन्न किसी आगम के अनुसार इसमें कुछ वर्णित नहीं किया गया है ॥ ५८ ॥ रुद्र की कृपा से ही यह संहिता मैं सुना पाया हूँ । शिवकृपा ही सम्यग्ज्ञान का उपाय है ॥ ५९ ॥ अतः द्विजों की चित्तशुद्धि के लिये मैंने वेदानुारी अभक्ष्यनिर्णय बता दिया है ॥ ६० ॥ भक्ष्याभक्ष्य विषयक सभी ज्ञेय विषय मैंने करुणा कर बता दिया है । इस पर श्रद्धा कर भ्रम से भी अभक्ष्य का भक्षण नहीं करना चाहिये ॥ ६१ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।

येन ज्ञानविशेषेण मृत्युं पश्यन्ति देहिनः ॥ १ ॥

सोमच्छायां ध्रुवं चैव महापथमरुन्धतीम् ।

अपश्यन्वत्सरादूर्ध्वं न जीवति न संशयः ॥ २ ॥

अरश्मिमन्तमादित्यं रश्मिमन्तं च पावकम् ।

पश्यन्नेकादशान्मासादूर्ध्वं मर्त्यो न जीवति ॥ ३ ॥

रजतं वा सुवर्णं वा विण्मूत्रं वा वमेन्नरः ।

प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने दश मासान्न जीवति ॥ ४ ॥

भूतप्रेतपिशाचांश्च गन्धर्वनगराणि च ।

रुक्मवर्णान्द्रुमान्पश्यन्नव मासान्न जीवति ॥ ५ ॥

आसन्नमरणः पुरुषो वाराणस्यादिस्थानविशेषमाश्रित्य संसारनिवृत्त्युपायं शीघ्रमनुतिष्ठेदित्यभिप्रेत्य मरणसूचकान्यरिष्टानि वक्तुं प्रतिजानीते—**अथात** इति ॥ १ ॥ **सोमच्छायामिति** । शुक्लद्वितीयादितिथिषु कतिपयकलात्मकस्य तेजसोंऽशो दृश्यते सा सोमच्छाया । **महापथमिति** । प्रवाहरूपेणावस्थितो नक्षत्रश्रेणिस्तारापथपर्यायो महापथः ॥ २ ॥ **अरश्मिमन्तमादित्यमिति** । उष्णकिरणरहितं[1] चन्द्रमण्डलवदवस्थितं सूर्यमण्डलमित्यर्थः । ऐतरेयारण्यकेऽपि—'चन्द्रमा इवाऽऽदित्यो दृश्यते न रश्मयः प्रादुर्भवन्ति' इत्यादिना । प्रत्यक्षं स्वप्ने चैवमादीनि बहून्यरिष्टानि तानि सर्वाण्यत्र मूलप्रमाणत्वेनानुसंधेयानि ॥ ३–६६ ॥

मृत्युसूचकों का विवरण नामक छियालीसवाँ अध्याय

(पता चल जाये कि मौत आने ही वाली है तो व्यक्ति काशी आदि मुक्तिक्षेत्रों में पहुँचकर यथानियम वास आदि कर सकता है, इस अभिप्राय से) सूत जी बोले—अब मैं बिना अधिक विस्तार किये वे विशेष ज्ञान बताऊँगा जिनसे लोगों को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है ॥ १ ॥ सोम-छाया, ध्रुव, महापथ या अरुन्धती

---

१ ख. ग. "रणाद्रहि" ।

स्थूलो वाऽपि कृशोऽकस्माद्भवेन्मर्त्यः स्वयं यदि । कृष्णवर्णोऽथवा मासानष्टौ जीवति मानवः ॥ ६ ॥
स्वपादं खण्डितं पश्यन्नग्रतः पृष्ठतोऽपि वा । पङ्के वा पांसुके वाऽपि सप्त मासान्न जीवति ॥ ७ ॥
कपोतो वाऽथ गृध्रो वा काको वा यदि मूर्धनि । स्थितः क्रव्यादसंज्ञो वा षण्मासेन विनश्यति ॥ ८ ॥
गच्छन्ती वायसी पङ्क्तिः पांसुवर्षं विमुञ्चति । गच्छेद्वायसपङ्क्तीभिः पांसुवर्षेण वा नरः ।[1]
स्वच्छायां विकृतां पश्येच्चतुर्वा पञ्च जीवति ॥ ९ ॥
विद्युतं दक्षिणे भागे पश्यन्मेघविवर्जिते ।
उदके चापमैन्द्रं वा त्रीणि द्वौ वा स जीवति ॥ १० ॥
दर्पणे वा जले वाऽपि परेषां वाऽथ चक्षुषि । अशिरस्कं तथाऽऽत्मानं पश्यन्मासेन नश्यति ॥ ११ ॥
वस्तगन्धस्तु वा देहः शवगन्धस्तु वा भवेत् । निम्बगन्धस्तु वाऽतीव मासार्धेन विनश्यति ॥ १२ ॥
शुष्यते हृदयं यस्य मस्तकं धूमसंवृतम् । सदा कम्पो भवेद्यस्य दशाहं नैव जीवति ॥ १३ ॥
संभिन्नो मारुतो यस्य मर्मस्थानानि कृन्तति । अद्भिः स्पृष्टो न हृष्येच्च मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ १४ ॥
ऋक्षवानरसंयुक्तरथेनैव तु दक्षिणाम् । दिशं गच्छति यो मर्त्यो मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ १५ ॥

जिसे न दीखे वह एक साल से अधिक नहीं जीता । (शुक्लपक्ष की द्वितीया आदि को तेज का अंश दीखता है वह सोम-छाया है । तारापथ को महापथ कहते हैं ।) ॥ २ ॥ जिसे सूर्य विना किरणों वाला दीखे और आग किरणों वाली दीखे, वह ग्यारह महीने से अधिक नहीं जीता ॥ ३ ॥ जाग्रत् या स्वप्न अवस्थाओं में जो चाँदी, सोना, विष्ठा या मूत्र की पल्टी करे (वमन करे) वह दस महीने नहीं जीता ॥ ४ ॥ भूत, प्रेत, पिशाच, गंधर्वनगर तथा सुनहरे रंग के वृक्ष जिसे दीखें वह नौ महीने नहीं जीता ॥ ५ ॥ जो व्यक्ति स्वयं ही अकस्मात् अति मोटा या अति पतला या काले रंग का हो जाये, वह आठ ही महीने जीता है ॥ ६ ॥ यदि कोई व्यक्ति कीचड़ या धूल में अपने पैर को आगे या पीछे से खण्डित देखे ले तो सात महीने नहीं जीता ॥ ७ ॥ कवूतर, गीध, कौवा या क्रव्याद (शेर, चीता या राक्षसादि) यदि सिर पर बैठ जाये तो व्यक्ति छह महाने में मर जाता है ॥ ८ ॥ यदि उड़ती हुई कौवों की पंक्ति धूल बरसाये, या कौवों की पंक्ति सहित कोई जाये, या धूल वरसने के साथ जाये, या अपनी छाया को विकृत देखे तो वह चार-पाँच महीने ही जीता है ॥ ९ ॥ मेघ के विना ही दायीं ओर विजली दीखे या जल में इन्द्रधनुष दीखे तो समझना चाहिये कि वह दो-तीन महीने ही जियेगा ॥ १० ॥ जो दर्पण, जल या दूसरे की आँख में अपने को बिना सिर वाला देखता है वह महीने भर में ही मर जाता है ॥ ११ ॥ जिसका शरीर बकरे की, शव की या नीव की गंध वाला हो जाये वह आधे महीने में ही मर जाता है ॥ १२ ॥ जिसका हृदय सूख जाये, माथे में धुआँ भर जाये, जो सदा काँपता रहे, वह दस दिन भी नहीं जी पाता ॥ १३ ॥ नाना प्रकार की वायुएँ जिसके मर्मस्थानों को काटती हैं, पानी से छुए जाने पर जो प्रसन्न नहीं होता, उसकी मौत उसके घर आ ही चुकी समझनी चाहिये ॥ १४ ॥ रीछ और वानर से जुते रथ से जो दक्षिण दिशा को जाता है (स्वप्न में), उसकी मौत उपस्थित ही है ॥ १५ ॥ स्वप्न

१ कुत्रचित्कोशेषु प्रथमार्धपंक्तिः क्वचिच्च द्वितीया नास्ति ।

कृष्णाः कृष्णाम्बराः स्वप्ने श्यामवस्त्रधराः स्त्रियः । येनैव सह[1] गच्छन्ति दक्षिणां न स जीवति ॥ १६ ॥
छिन्नं कृष्णं स्वकं वासः स्वप्ने पश्यति यः पुमान् । नग्नं वा [1]श्रमणं तस्य गृहे मृत्युरुपस्थितः ॥ १७ ॥
नक्षत्राणि दिवा पश्यन्रात्रौ चेन्द्रधनुस्तथा । चन्द्रं रक्तं तु वा कृष्णं भानुं पश्यति मानवः ॥ १८ ॥
आदित्यमण्डले पश्येत्सुषिरं चन्द्रमण्डले । आकाशे रक्तमालां वा सद्य एव विनश्यति ॥ १९ ॥
श्मशानं भस्म केशांश्च नदीं शुष्कां भुजंगमान् । पश्येत्स्वप्नदशायां यस्तस्य मृत्युर्गृहं गतः ॥ २० ॥
कृष्णैर्विकेशैः पुरुषैः स्वप्ने यः पीडितः पुमान् । पाषाणैस्ताड्यते यस्तु मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २१ ॥
आदित्योदयवेलायां प्रत्यक्षं यस्य वै शिवाः । क्रोशन्त्यभिमुखा ह्येत्य मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २२
भयकम्पादयो यस्य भूयो भूयो भवन्ति च । शोकमोहौ सदा यस्य मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २३ ॥
निर्जला यस्य जिह्वा तु दन्तघर्षस्तु यस्य च । हृदये यस्य वै वह्निर्मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २४ ॥
चक्षुरेकं स्रवेद्यस्य कर्णौ स्थानाच्च भ्रश्यतः । यस्य नासा च वक्रा स्यान्मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २५ ॥
यस्य जिह्वा च कृष्णा स्यात्सुमुखं दुर्मुखं भवेत् । गण्डे च कृष्णे रक्ते वा मृत्युस्तस्य गृहं गतः ॥ २६ ॥
मुक्तकेशो हसन्गायन्नृत्यन्गच्छति दक्षिणाम् । दिशं स्वप्नेऽस्य मृत्युः स्यादीदृशस्वप्नदर्शिनः ॥ २७ ॥
श्वेतभूतास्तथा श्वेता अश्वाः श्वेततरा अपि । वहन्ति याम्यदेशे यं तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ २८ ॥
उष्ट्ररासभसंयुक्तं रथमारुह्य दक्षिणे । स्वप्ने गच्छति यो मर्त्यस्तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ २९ ॥
घोषं न शृणुयात्कर्णे ज्योतिर्नेत्रे न पश्यति । श्वभ्रे यो निपतेत्स्वप्ने तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३० ॥
ऊर्ध्वदृष्टिस्तथा रक्तकृष्णदृष्टिश्च यः पुमान् । ऊष्माविहीनदेहश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३१ ॥
नाभौ वा हृदये वाऽपि सुषिरं यस्य भासते । यस्यात्युष्णं भवेन्मूत्रं तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३२ ॥

में जिसके साथ दक्षिण की ओर काले कपड़े पहने हुए तथा श्याम वस्त्र लिए हुए काली स्त्रियाँ जाती हैं, वह अधिक नहीं जीता ॥ १६ ॥ जो स्वप्न में अपना काला कपड़ा फटा देखता है या नंगे श्रमण को (बौद्ध साधु) स्वप्न में देखता है, मौत उसके घर में आ चुकी जाननी चाहिये ॥ १७ ॥ दिन में नक्षत्र और रात में इंद्रधनुष, चाँद को लाल या सूर्य को काला देखने वाला जल्दी ही मरता है ॥ १८ ॥ सूर्यमंडल या चंद्रमंडल में छेद दीखे, अथवा आकाश में लाल माला दीखे तो जल्दी ही मौत आती है ॥ १९ ॥ जो सपने में श्मशान, राख, केश, सूखी नदी, या साँप देखे वह जल्दी ही मर जाता है ॥ २० ॥ बिगड़े बालों वाले काले लोगों द्वारा जो स्वप्न में पत्थरों से पीटा जाता है वह अधिक नहीं जीता ॥ २१ ॥ सूर्योदय के समय जिसके सामने सियार रोते हैं वह अधिक जीवित नहीं रहता ॥ २२ ॥ जिसे बार-बार डर लगता है और कँपकँपी छूटती है तथा जिसे हमेशा शोक-मोह वना रहता है, उसकी मृत्यु निकट ही है ॥ २३ ॥ जिसकी जीभ सूखी हो, दाँतों का घर्षण होता रहे और हृदय में आग जैसी गर्मी हो, वह अधिक नहीं जीता ॥ २४ ॥ जिसकी एक आँख बहती हो, कान अपनी जगह से हिल जायें और नाक टेढ़ी हो जाये वह शीघ्र मर जाता है ॥ २५ ॥ जिसकी जीभ काली हो जाये, पूर्व में अच्छा भी चेहरा विकराल हो जाये तथा कपोल काले या लाल हो जायें, समझना चाहिये मौत उसके घर आ चुकी है ॥ २६ ॥ जो ऐसा स्वप्न देखे कि मैं विना शिखा आदि बाल बाँधे हँसते, गाते, नाचते हुए दक्षिण दिशा को जा रहा हूँ, वह अधिक नहीं जीता ॥ २६ ॥ (स्वप्न में) जिसे अति सफेद घोड़े दक्षिण की ओर ले जायें, उसकी मृत्यु उपस्थित ही है ॥ २८ ॥ स्वप्न में जो व्यक्ति ऊँट और गधे से जुते रथ पर दक्षिण को जाता है, उसकी मौत निकट है ॥ २९ ॥ जो कान से हल्ला न सुने

---

१ घ. ङ. भ्रमणं ।

जाग्रत्कालेऽथवा स्वप्ने योऽदृष्टेन निहन्यते ।
जीवनं तस्य नास्त्येव मृत्युरग्र इति स्थितः ॥ ३३ ॥
याम्यशब्दं च यो ब्रूयात्तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३४ ॥
शुक्लं प्रावरणं रक्तं कृष्णं वा यस्य भासते ।
स्वप्ने नीलं पटं यस्य तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ ३५ ॥
एवमादीन्यरिष्टानि भासन्ते यस्य दुःस्थितम्[1] ।
स भयं शोकमोहौ च त्यक्त्वैकाग्रमना दृढम् ॥ ३६ ॥
श्रीमद्वाराणसीं गत्वा स्नात्वा गङ्गाजले नरः ।
दृष्ट्वा विश्वेश्वरं देवं जपेत्पञ्चाक्षरं सदा ॥ ३७ ॥
सोमनाथेऽथवा स्नात्वा सोमतीर्थे महोदधौ ।
सोमनाथं महादेवं दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ३८ ॥
श्रीपर्वतेऽथवा देवं दृष्ट्वा [2]श्रीमल्लिकेश्वरम् ।
भस्मनोद्धूल्य मन्त्रेण सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ३९ ॥
श्रीकालहस्तिनाथं वा सुवर्णमुखरीजले ।
स्नात्वा दृष्ट्वा महादेवं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४० ॥

और आँख से ज्योति न देख पाये तथा सपने में किसी दरार में (गड्ढे में) गिर पड़े, वह जल्दी मरता है ॥ ३० ॥ जिसकी आँखें ऊपर चढ़ जायें या लाल अथवा काली हो जायें, जिसका गात्र गर्मी-रहित हो वह मरने ही वाला होता है ॥ ३१ ॥ जिसे नाभि या हृदय में छेद की प्रतीति हो व जिसका मूत्र असाधारण गर्म हो, वह जल्दी मर जाता है ॥ ३२ ॥ जाग्रत् या स्वप्न में जो किसी अदृष्ट वस्तु या व्यक्ति द्वारा मारा जाये, उसकी मौत उसके सामने ही खड़ी है यह समझ लेना चाहिये ॥ ३३ ॥ जो सपने में आग में गिर पड़े, जो हमेशा हर चीज़ भूल जाये तथा जो यमसम्बन्धी शब्द बोलने लगे वह मरा ही चाहता है ॥ ३४ ॥ सफेद कपड़ा जिसे लाल या काला दीखे या स्वप्न में जिसे अपने कपड़े नीले दीखें, वह शीघ्र मरता है ॥ ३५ ॥

ये तथा ऐसे अन्य अरिष्ट (मृत्युसूचक) जिसे प्रतीत हों उसे भय, शोक व मोह छोड़कर पक्का निश्चय कर एकाग्र मनसे वाराणसी जाना चाहिये । वहाँ पहुँचकर गंगाजी में स्नान करे और विश्वनाथ का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जप करता रहे ॥ ३६–३७ ॥ अथवा वह सोमनाथ जाये । सोमतीर्थ में स्नानकर सोमनाथ का दर्शन करे और सदा पंचाक्षर जपे ॥ ३८ ॥ अथवा श्रीशैल जाकर मल्लिकार्जुन का दर्शन कर, समंत्र

---

१ ख. घ. सुस्थितम् । ग. सुस्थिरम् । २ श्रीमल्लिकार्जुनम् ।

गोपर्वते तथा देवं दृष्ट्वा शक्तीश्वराभिधम् ।
भस्मनोद्धूल्य मन्त्रेण सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४१ ॥
श्रीमद्वृद्धाचले वाऽपि स्नात्वा मुक्ताजले नरः ।
दृष्ट्वा वृद्धाचलेशानं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४२ ॥
श्रीमद्रामेश्वरे वाऽपि स्नात्वा तत्र महोदधौ ।
दृष्ट्वा रामेश्वरं देवं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४३ ॥
श्रीहालास्येऽथवा देवं दृष्ट्वा हालास्यनायकम् ।
यथाशक्ति धनं दत्त्वा सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४४ ॥
वेदारण्येऽथवा स्नात्वा वेदतीर्थे महोदधौ ।
वेदारण्याधिपं दृष्ट्वा सदा पञ्चाक्षरं जपेत ॥ ४५ ॥
श्रीमद्वल्मीकसंज्ञे वा क्षीरकुण्डजले नरः ।
स्नात्वा दृष्ट्वा महेशानं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४६ ॥
गजारण्येऽथवा स्नात्वा कावेर्यामेव मानवः ।
गजारण्याधिपं दृष्ट्वा सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४७ ॥
जप्येश्वरं तु वा गत्वा स्नात्वा कावेरिकाजले ।
दृष्ट्वा जप्येश्वरेशानं सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४८ ॥
अथवा दक्षिणावर्ते स्नात्वा कावेरिकाजले । दक्षिणावर्तनाथेशं दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ४९ ॥
कुम्भकोणेऽथवा स्नात्वा कावेर्यामेव मानवः ।
कुम्भकोणाधिपं देवं दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ५० ॥
मध्यार्जुने वा कावेर्यां स्नात्वा मर्त्यः समाहितः ।
मध्यार्जुनाधिपं देवं दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ५१ ॥
श्रीमद्गोपटुतीर्थे वा तथा मङ्गलवंशके । श्रीमदग्नीश्वराख्ये वा कोटिहास्येऽथवा नरः ॥ ५२ ॥

भस्म से उद्धूलन कर सदा पंचाक्षर जपता रहे ॥ ३९ ॥ या सुवर्णमुखरी में स्नान कर श्रीकालहस्तीश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपते हुए वहाँ रहे ॥ ४० ॥ अथवा गोपर्वत जाकर शक्तीश्वर का दर्शन कर, समंत्र भस्मोद्धूलन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ४१ ॥ अथवा वृद्धाचल जाये । मुक्ता में स्नान कर, वृद्धाचलेश्वर का दर्शन कर हमेशा पंचाक्षर जपता रहे ॥ ४२ ॥ अथवा रामेश्वर जाकर, समुद्र में स्नान कर, रामेश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपना चाहिये ॥ ४३ ॥ अथवा हालास्य जाकर महादेव का दर्शन कर, यथाशक्ति धनदान देकर सदा पंचाक्षर जपना चाहिये ॥ ४४ ॥ या वेदारण्य जाये और समुद्र में वेदतीर्थ में स्नान कर महादेव का दर्शन कर सदा पंचाक्षर मंत्र का जप करते हुए वहाँ रहे ॥ ४५ ॥ अथवा वल्मीक जाना चाहिये । वहाँ क्षीरकुण्ड में स्नान कर महादेव का दर्शन कर हमेशा पंचाक्षर जपता रहे ॥ ४६ ॥ या गजारण्य में जाकर कावेरी में स्नान करे और गजारण्येश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ४७ ॥ अथवा जप्येश्वर जाकर कावेरी में स्नान कर, जप्येश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ४८ ॥

आम्रतीर्थे दृतिस्थाने श्वेतारण्यसमाह्वये । श्रीमद्ब्रह्मपुरे वाऽपि कावेर्युदधिसंगमे ॥ ५३ ॥

स्नात्वा दत्त्वा यथाशक्ति धनं धान्यं तिलं तु वा ।

दृष्ट्वा महेश्वरं भक्त्या सदा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ५४ ॥

अथवा मानवः शीघ्रं गत्वा व्याघ्रपुरं मुदा ।

शिवगङ्गाभिधे तीर्थे स्नात्वा दत्त्वा यथाबलम् ॥ ५५ ॥

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा श्रीमद्दभ्रसभापतिम् ।

दृष्ट्वा पञ्चाक्षरं मन्त्रं सतारं सर्वदा जपेत् ॥ ५६ ॥

अस्मिन्व्याघ्रपुरे पुण्ये यो वा को वा तु मानवः ।

ममार परमा मुक्तिः सिद्धा तस्य न संशयः ॥ ५७ ॥

अथवा दक्षिणावर्त में जाये तथा कावेरी में स्नान कर दक्षिणावर्तेश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ४९ ॥ या कुम्भकोण जाकर, कावेरी में स्नान कर कुम्भेश्वर का दर्शन कर सदा पंचाक्षर जपे ॥ ५० ॥ अथवा मध्यार्जुन जाये । वहाँ भी कावेरी में नहा कर मध्यार्जुनेश्वर का दर्शन कर पंचाक्षर जपे ॥ ५१ ॥ अथवा गोप्टुतीर्थ, मंगलवंशक, अग्नीश्वर, कोटिहास्य, आम्रतीर्थ, दृतिस्थान, श्वेतारण्य, ब्रह्मपुर—इनमें से किसी तीर्थ में जाये और स्नान, दान, शिवदर्शन कर निरंतर पंचाक्षर जपता रहे । अथवा कावेरी और समुद्र के संगम पर जाकर स्नान करे, धन, धान्य या तिल का यथाशक्ति दान करे, महादेव का दर्शन करे और पंचाक्षर जपने लगे ॥ ५२–५४ ॥

अथवा जिस मानव ने अपनी मृत्यु के सूचक देख लिये हैं वह शीघ्र व्याघ्रपुर चला जाये । वहाँ शिवगंगा में स्नान कर यथाशक्ति दान दे ॥ ५५ ॥ मंदिर की तीन परिक्रमायें कर दभ्रसभापति का दर्शन करे । तदनन्तर षडक्षर मंत्र का जप करने लगे ॥ ५६ ॥ इस पवित्र स्थान पर जो मरता है उसकी मुक्ति निःसंदिग्ध है ॥ ५७ ॥ इस स्थान में प्रवेश मात्र से महापापों का समूह निवृत्त हो जाता है । दभ्रसभापति का दर्शन होने पर मोक्ष निश्चित हो जाता है ॥ ५८ ॥ परमकरुणामय महान् आनंद व्यक्त करने वाले महादेव जहाँ नृत्य करते हैं वहाँ उनका दर्शन कर मनुष्य भवबंधन से मुक्त हो जाता है । ॥ ५९ ॥ बहुतेरे लोग उस देश के दर्शन से ही मुक्त हो गये हैं । अतः साक्षात् नटराज का दर्शन कर मुक्ति होती

महापातकसंघाश्च स्थानस्यास्य [1]प्रवेशनात् ।
नश्यन्ति दर्शनादेव मुक्तिः सिद्धा सभापते: ॥ ५८ ॥
महाकारुणिको देवो महानन्दपरायणः । यत्र नृत्यति तं दृष्ट्वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ५९ ॥
देशदर्शनमात्रेण विमुक्ता बहवो जनाः । किं पुनर्देवदेवस्य दर्शनेन सभापते: ॥ ६० ॥
अविमुक्तादपि श्रेष्ठमिदं स्थानं न संशयः[2] ।
अत्र नृत्यति देवेशस्तत्र देवो न नृत्यति ॥ ६१ ॥
अत्र दर्शनमात्रेण मुक्तिः सिद्धा हि देहिनाम् ।
तत्र नष्टस्य मर्त्यस्य ततः श्रेष्ठमिदं पुरम् ॥ ६२ ॥
श्रीमद्व्याघ्रपुरं मुक्त्वा यो वा वाराणसीं गतः ।
तत्र नष्टोऽपि कैवल्यं प्राप्नुयान्नैव मानवः ॥ ६३ ॥
पार्वती परमा शक्तिः श्रीमद्व्याघ्रपुरे सदा ।
प्रकाशते हि विद्याभिः संवृता करुणाबलात् ॥ ६४ ॥
सर्वविद्यालया देवी यत्रातीव प्रकाशते । खलु तत्र परा मुक्तिरतः श्रेष्ठमिदं पुरम् ॥ ६५ ॥
अतः समस्तं परिवर्ज्य सत्वरं समस्तदोषस्य निवृत्तिसिद्धये ।
इदं तु मुख्यं पुरमाप्नुयान्नरः शिवप्रसादेन हि तत्र मुच्यते ॥ ६६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मृत्यसूचकविवरणं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहिताटीकायां तात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे मृत्युसूचकविवरणं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

है इस में कहना ही क्या ? ॥ ६० ॥ यह स्थान अविमुक्त से भी श्रेष्ठ है । यहाँ परमशिव प्रसन्नता से नाचते हैं जबकि वहाँ वे नाचते नहीं ॥ ६१ ॥ अविमुक्त में तो मरने पर मोक्ष मिलता है और व्याघ्रपुर में शिव का दर्शन कर लेने से ही मोक्ष मिल जाता है । अतः यही स्थान उससे श्रेष्ठ है ॥ ६२ ॥ जो व्यक्ति व्याघ्रपुर छोड़ कर वाराणसी जाता है वह वहाँ मर कर भी मुक्त नहीं होता ॥ ६३ ॥ परा शक्ति पार्वती व्याघ्रपुर में करुणावश विद्याओं से घिरी हुई सदा प्रकाशित होती हैं ॥ ६४ ॥ सब विद्याओं की निधिरूप देवी जहाँ अत्यधिक प्रकाशित होती हैं वहाँ परम मोक्ष निश्चित है । अतः यह श्रेष्ठ पुर है ॥ ६५ ॥ अतः मनुष्य को बाकी सब छोड़ कर अतिशीघ्र सारे दोषों से निवृत्ति पाने के लिये इस मुख्य शिवपुर का सेवन करना चाहिये । यहाँ शिवकृपा से सब मुक्त हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ (वाराणसी को न्यून बताने में नहीं वरन् चिदम्बर की प्रशंसा में तात्पर्य है ।)

---

१ ग. प्रशासनात् । २ व्याघ्रपुरप्रशंसायां तात्पर्यात्सर्वमुपपादनीयम् । काशीमरणान्मोक्ष इति स्मृत्यादिसिद्धः पक्षः । स्थानान्तरेषु मृतो मोक्षान्तराण्याप्नोति जन्मान्तरे वा काशीमरणं प्राप्नोतीति साम्प्रदायिकानां मर्यादा । ततइह न हि निन्देति न्यायो वोध्यः ।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

सूत उवाच—अथातः संप्रवक्ष्यामि पापस्याकरणाय तु ।
भोगावशिष्टपापानां लक्षणं मुनिसत्तमाः ॥ १ ॥
ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः । स्वर्णापहरी कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥ २ ॥
परिवादरतः पङ्गुरन्धश्च बधिरस्तथा । अनुकीर्तनकृन्मर्त्यः खरस्वामी भवेत्सदा ॥ ३ ॥
गुरुनिन्दापरो नित्यमपस्मारी निरन्तरम् । भगंदरी गुरोराज्ञाभङ्गकारी न संशयः ॥ ४ ॥
गुरुमात्सर्यकृन्मर्त्यो विट्क्रिमिः स्यान्न संशयः । गुर्ववज्ञापरस्तद्वच्छिवद्रोही तथा भवेत् ॥ ५ ॥
गुरोःशुश्रूषणेऽसक्तो दुष्प्रज्ञः स्यात्तु मानवः ।
विष्णुद्रोही नरः साक्षात्कृकलासत्वमाप्नुयात् ॥ ६ ॥
यो वेददूषको मर्त्यः स चण्डालो भवेत्तथा ।
वेदान्तदूषकः साक्षात्पुल्कसः स्यान्न संशयः ॥ ७ ॥
उन्मत्तो वेदविज्ञानदूषकः पुरुषाधमः । रजस्वलाभिगन्ता स्यादन्त्यजातिस्तु मानवः ॥ ८ ॥
अग्निदो मनुजः कुष्ठी गरदश्च तथैव च । शस्त्रपाणिस्तथा मर्त्यो रूप्यचोरस्तु दर्दुरः ॥ ९ ॥

ब्रह्महत्यादिपापपरिणामरूपं क्षयरोगादिकमप्यज्ञानिनः कर्त्रात्मन एव नाकर्तुर्ब्रह्मात्मन इति दर्शयितुमारभते—अथात इति ॥ १–२८ ॥

बचे पापों के स्वरूप का कथन नामक सैंतालीसवा अध्याय

सूतजी बोले—अब मैं उन पापों के फलों का वर्णन करता हूँ (जिनका प्रायश्चित्त न किया होने से) जो भोगने के लिये बचे रहते हैं । इसे समझ कर इन कष्टों से जो बचना चाहे वह इन पापों को न करे, यह मेरे कथन का प्रयोजन है ॥ १ ॥

ब्रह्महत्यारे को क्षयरोग होता है । सुरा पीने वाले के दाँत काले होते हैं । सोना चुराने वाला कुरूप नाखूनों वाला होता है । गुरुपत्नी से संभोग करने वाले की त्वचा सदोष होती है ॥ २ ॥ अनावश्यक निंदा करने वाला (या सदा गाली देने वाला) लंगड़ा, अन्धा और बहिरा होता है । अनुकीर्तन करने वाला (अपने किये का बखान करते रहने वाला) गधे का मालिक बनता है ॥ ३ ॥ जो सदा गुरुनिंदा करता है उसे अपस्मार रोग हो जाता है । (भूलने का रोग या मिरगी आने का रोग अपस्मार कहलाता है ।) जो गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह भगंदररोग से पीडित होता है ॥ ४ ॥ जो गुरु से मात्सर्य रखता है वह टट्टी का कीड़ा बनता है । जो गुरु का अनादर करता रहता है वह शिवद्रोही हो जाता है ॥ ५ ॥ जो मानव गुरु की सेवा में सद्भाव नहीं रखता वह निर्बुद्धि हो जाता है । विष्णुद्रोही व्यक्ति गिरगिट बन जाता है ॥ ६ ॥ वेद को दूषित करने वाला व्यक्ति चाण्डाल बनता है । (वेदाक्षरों में हेर-फेर या वेदार्थ को ग़लत ढंग से निष्पन्न करना या उसे ग़लत बताना या अनधिकारी को उसका उपदेश देना आदि वेद को दूषित करना है ।) वेदान्तों को दूषित करने वाला पुल्कस बनता है ॥ ७ ॥

कूटकृन्मुखरोगी स्यात्कूटसाक्षी तथैव च । कूटकृत्यसहायश्च तदुपायप्रदोऽपि च ॥ १० ॥
पितृमातृपरित्यागी बालत्यागी तथैव च ।
अक्षिरोगी भवेन्नित्यं भार्यात्यागी तु मानवः ॥ ११ ॥
अल्पायुश्चाप्रदानेन प्रतिज्ञातस्य मानवः । पत्नीबहुत्वे त्वेकस्यां रमते षण्ढ एव सः ॥ १२ ॥
अन्नापहारी मन्दाग्निर्जिह्वारोगी भवेत्तथा । [१]अग्रभुग्गलरोगी स्यान्मिष्टभुक्च तथैव च ॥ १३ ॥
पञ्चयज्ञविनिर्मुक्तो विड्वराहो भवेन्नरः । पर्वमैथुनकृन्मर्त्यः प्रमेही स्यान्न संशयः ॥ १४ ॥
अभ्यागतपरित्यागी कपोलपिण्डको भवेत् । तथाऽतिथिपरित्यागी भवेन्नात्र विचारणा ॥ १५ ॥
स्वात्मोत्कर्षपरो नित्यं वामनः पङ्गुरेव च ।
गोघ्नश्चैव कृतघ्नश्च जात्यन्धः स्यान्न न संशयः ॥ १६ ॥
निःस्नेहकः स्वभार्यायां गलगण्डी भवेन्नरः ।
वेश्यासेवापरो मर्त्यश्छिन्नलिङ्गो न संशयः ॥ १७ ॥
पिशुनः पूतिवक्त्रः स्यान्नरस्ताम्रादिविक्रयी । [२]एडकाजगजाश्वादिविक्रेता व्याध एव हि ॥ १८ ॥

जो नीच व्यक्ति वेदसिद्ध विज्ञान (धर्मज्ञान) को दूषित करता है वह पागल हो जाता है । रजस्वला से संभोग करने वाला अन्त्यज होता है ॥ ८ ॥ किसी को जलाने वाला कोढ़ी होता है । जहर देने वाला भी कोढ़ी होता है । शस्त्र से किसी निरपराध को मारने वाला भी कोढ़ी होता है । चाँदी चुराने वाला मेंढक बनता है ॥ ९ ॥ छल करने वाले के मुँह में रोग होता है । झूठा गवाह, छल में सहायक और उसके उपाय देने वाले के भी मुँह में रोग होता है ॥ १० ॥ पिता, माता, बालक या भार्या को अवैध ढंग से त्यागने वाला नेत्ररोगी होता है ॥ ११ ॥ प्रतिज्ञा कर न देने वाला अल्पायु होता है । जिसकी अनेक पत्नियाँ हों पर एक से ही रमण करता रहे वह हिजड़ा होता है ॥ १२ ॥ अन्न चुराने वाले को भूख कम लगती है । उसकी जीभ में भी रोग होता है । जो (देवतादि को समर्पण करने के) पहले ही खा लेता है तथा जो (उसी तरह) मिठाई खा जाता है उसके गले में रोग होता है ॥ १३ ॥ जो मनुष्य पंचयज्ञ नहीं करता वह सुअर बनता है । जो व्यक्ति पर्वों के अवसर पर (पूर्णिमा और अमावस्या को) मैथुन करता है उसे प्रमेह हो जाता है ॥ १४ ॥ जो व्यक्ति अभ्यागत व अतिथि का यथाशक्ति यथोचित सत्कार नहीं करता उसके गाल में गूमड़ हो जाते हैं । (चाहे जो अन्न या आश्रय चाह कर आया अभ्यागत होता है । अतिथि के लिये वर्णादिकृत विशेष है ।) ॥ १५ ॥ जो सदा अपनी ही बड़ाई पाने की कोशिश करता है वह बौना और लंगड़ा होता है । गाय मारने वाला और कृतघ्न व्यक्ति जन्म से ही अंधा होता है ॥ १६ ॥ जो अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता उसके गले में गाँठ हो जाती है । जो पुरुष वेश्या सेवन में तत्पर रहता है उसका शिश्न कटा होता है ॥ १७ ॥ चुगलखोर व्यक्ति ऐसे

१ ख. घ. "भुग्माळरो" । २ घं. "कादिग" ।

ज्ञानापहारी मूकः स्यान्मन्त्रचोरस्तथैव च ।
अभक्ष्यभक्षको मर्त्यो गण्डमाली भवेत्सदा ॥ १९ ॥
रङ्गोपजीवी कुमतिर्भवेन्नात्र विचारणा । अन्धः पुस्तकचोरः स्यात्तथा स्याल्लेखनीहरः ॥ २० ॥
सदा पुण्यकथाक्षेपी वक्रनासो भवेन्नरः ।
शिष्टाचारस्य धर्मस्य दूषको राक्षसो भवेत् ॥ २१ ॥
ज्ञानयोगगुरुद्वेष्टा वक्रास्यो[1] देवदूषकः । पुण्यकर्मप्रवृत्तस्य प्रतिषेधी क्रिमिर्भवेत् ॥ २२ ॥
देवद्रव्यापहारी स्यान्मनुष्यो वायुभक्षकः । तटाकारामभेत्ता स्यादङ्गहीनस्तु मानवः ॥ २३ ॥
मर्यादाभेदको दासो भवेन्नात्र विचारणा । परदाराभिगामी तु वातरोगी भवेन्नरः ॥ २४ ॥
मधुप्रमेही चोष्ट्रा(ष्ट्र्या)दिगन्ता नात्र विचारणा ।
पतिव्रताभिगन्ता तु सूकरः स्यात्तु मानवः ॥ २५ ॥
परापवादनिरतो व्यसनी चालसः सदा । अतिपातकदोषेण भवेयुः क्रिमयो नराः ॥ २६ ॥
तथा पातकदोषेण विड्वराहो न संशयः ।
उपपातकदोषेण तथा श्वानः सदा नरः ॥ २७ ॥
पातकैरपरैः क्षुद्रैर्जायन्ते क्षुद्रयोनिषु । महापातकपूर्वैश्च पातकैरखिलैः सदा ॥ २८ ॥

मुँह वाला होता है जिससे बदबू आये । ताँबा आदि बेचने वाला, भेड़, बकरी, हाथी, घोड़ा आदि बेचने वाला व्याधा हो जाता है ॥ १८ ॥ ज्ञान चुराने वाला गूंगा होता है । ऐसे ही मंत्र चुराने वाला भी गूंगा होता है (अनुचित ढंग से, छिपकर या धोखे से विद्या या मंत्र ग्रहण करना उनकी चोरी है ।) अभक्ष्य खाने वाला गण्डमाला रोग से पीडित रहता है । (इसमें गले की गिल्टियाँ सूज जाती हैं ।) ॥ १९ ॥ चित्रकार दुष्ट बुद्धि वाला हो जाता है । पुस्तक व लेखनी चुराने वाला अंधा हो जाता है ॥ २० ॥ जो व्यक्ति सदा पुण्यकथाओं पर आक्षेप करता रहे वह टेढ़ी नाक वाला होता है । शिष्टाचार धर्म को दूषित करने वाला राक्षस बन जाता है ॥ २१ ॥ ज्ञानयोग के गुरु से या देवता से द्वेष करने वाला टेढ़े मुँह वाला होता है । पुण्य कर्म में प्रवृत्ति करने वालों को वैसा करने से जो मना करता है वह क्रिमि बन जाता है । ॥ २२ ॥ देवता के धन को चुराने वाला व्यक्ति साँप बनता है । तालाब या बगीचे को नष्ट करने वाला अंगहीन होता है ॥ २३ ॥ मर्यादा तोड़ने वाला दास बनता है । दूसरे की पत्नी से संभोग करने वाला वातरोग से पीडित रहता है ॥ २४ ॥ ऊँटनी (साँड़नी) आदि से मैथुन करने वाला मधुमेह रोग वाला होता है । पराई पतिव्रता नारी से संभोग करने वाला सुअर होता है ॥ २५ ॥ दूसरों की निंदा करने वाला व्यसनी और आलसी होता है । अतिपातकों से व्यक्ति क्रिमियोनि पाता है ॥ २६ ॥ पातकवशात् मनुष्य सुअर

---

१ ध. च. छ. ज. "स्यां वेददू" ।

स्वस्वरूपापरिज्ञानाद् बध्यते खलु मानवः ।
स्वस्वरूपपरिज्ञानात्कर्मभिर्न स बध्यते ॥ २९ ॥
स्वस्वरूपं तु शुद्धं हि सततं सर्वदेहिनाम् ।
स्वस्वरूपं तु चिन्मात्रं सर्वदा सर्वदेहिनाम् ॥ ३० ॥
नैव देहादिसंघातः[1] पटवद्दृशिगोचरः ।
दृश्यरूपेण यद्रूपं दृश्यते देहपूर्वकम् ॥ ३१ ॥
तदनात्मैव दृश्यत्वाद्यदित्थं तत्तथा खलु ।
दृश्यत्वं देहपूर्वस्य संमतं सर्वदेहिनाम् ॥ ३२ ॥

स्वस्वरूपापरिज्ञानादिति । कर्तृत्वभोक्तृत्वादिचञ्चलसंसारधर्मरहितं सच्चिदानन्दाखण्डैकरसं स्वप्रतिष्ठमद्वितीयं परब्रह्म हि स्वात्मनः पारमार्थिकं स्वरूपं तस्यापरिज्ञानादन्तःकरणादिधर्मितादात्म्याध्यासेन तद्धर्माणां कर्तृत्वभोक्तृत्वादीनामप्यात्मनि संसर्गाध्यासात्तत्कृतैः पातकैरपि बद्धो भवतीत्यर्थः । **स्वस्वरूपपरिज्ञानादिति** । स्वस्वरूपयाथात्म्यज्ञानिनस्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मवदन्तःकरणतादात्म्याध्यासस्य निवृत्तेस्तत्कृतैः पापैरपि न संश्लेष इत्यर्थः ॥ २९ ॥ **शुद्धं हीति** । 'आत्मद्रव्यं स्वयं शुद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणम्' इत्यादिना स्वतःशुद्धेः प्राक्प्रतिपादितत्वात् । 'अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' इत्यादिश्रुतेः स्वात्मनः शुद्धत्वम् । **चिन्मात्रमिति** । देहेन्द्रियादिसंघातस्य जाग्रदादिसकलव्यवहारस्य यद्यत्प्रकाशकं साक्षिभूतं चैतन्यं तदेवाऽऽत्मनः स्वरूपमित्यर्थः ॥ ३० ॥ मात्रचो व्यावृत्तिं दर्शयति–**नैवेति** । **दृशिगोचर** इति । हेतुगर्भविशेषणमेतत्[2] । दृशिः प्रागुक्तं चैतन्यं यतस्तद्गोचरो देहादिरतः पटवदनात्मेत्यर्थः । ननु दृशिगोचरत्ववद्द्रष्टृत्वमपि देहादिसंघातस्य परिदृश्यमानं कथमपलपितुं शक्यत इत्याशङ्क्याऽऽह–**दृश्येति** । अहं मनुष्यः कृशोऽहं स्थूलोऽहमहं कर्ता भोक्तेत्येवं द्रष्टृरूपतया देहादेर्योऽनुभवः सोऽपि तत्संसारादिविभ्रमवन्मिथ्यानुभवो दृश्यत्वहेतुना देहादेरनात्मत्वस्य घटादेरिव सिद्धत्वादित्यर्थः । हेत्वसिद्धिं परिहरति–**दृश्यत्वमिति** । अज्ञाः स्त्रीबालादयोऽपि मम देहो मम चक्षुर्ममान्तःकरणमिति द्रष्टुरात्मनः सकाशाद्भेदेनैव ज्ञेयतया देहादिकं व्यवहरन्ति । तत्सर्वेषामपि तत्र[3] दृश्यत्वं संमतमित्यर्थः ॥ ३१–३२ ॥

बनता है और उपपातक से कुत्ता । अन्य क्षुद्र पापों से अन्य नीच योनियों में जन्म होता है ॥ २७–½ ॥

निज स्वरूप का सही ज्ञान न होने से ही मानव महापाप आदि द्वारा बँधता है । अपने स्वरूप का प्रामाणिक ज्ञान हो जाये तो किसी कर्म से वह बँधता नहीं ॥ २८–२९ ॥ सब देहधारियों का अपना स्वरूप चेतनमात्र है जो निरंतर शुद्ध ही है ॥ ३० ॥ कपड़ों की तरह दृश्य शरीरादि जीव का स्वरूप नहीं है । देहादि जो कुछ भी दृश्यरूप से उपलब्ध होता है वह अनात्मा ही है क्योंकि जो वस्त्रादि दृश्य हैं वे निश्चित ही अनात्मा हैं । देहादि दृश्य हैं इसमें किसी को सन्देह नहीं । (मेरा–ऐसा जिसका व्यवहार हो वह दृश्य हुआ करता है यह वस्त्रादि में निश्चित किया गया है । देह, इंद्रिय, मन आदि का 'मेरा'

---

१ ख. घ. "घातो घट" । २ ग. घ. "णतो दृ" । ३ ख. सर्वत्र ।

दृश्यत्वं द्रष्टृपूर्वं तु लोके दृष्टं हि चेतनैः ।
द्रष्टुर्नास्ति हि[1] दृश्यत्वं दृश्यत्वे द्रष्टृता न हि ।
दृश्यरूपस्य कुड्यादेर्द्रष्टृता न हि दृश्यते ॥ ३३ ॥
अंशभेदेन दृश्यत्वं द्रष्टृत्वं चेति चेन्मतम् ।
अंशभेदे तु सांशत्वात्कुड्यवत्तदनात्मकम् ॥ ३४ ॥
अंशभेदेऽपि दृश्यांशः समानः कुड्यवस्तुना ।
द्रष्ट्रंशः केवलः साक्षादात्मैव स्यान्न संशयः ॥ ३५ ॥
द्रष्ट्रंशेऽपि च कर्तृत्वमुपाधिजनितं सदा ।
दृश्याभिव्यक्त्यपेक्षं वा न स्वतः पण्डितोत्तमाः ॥ ३६ ॥

एवं दृश्यत्वहेतुना देहादेरनात्मत्वं प्रतिपाद्य द्रष्टुरात्मनस्तद्व्यतिरिक्तत्वं प्रतिपादयति—**दृश्यत्वं द्रष्टृपूर्वं** त्विति । द्रष्टृसमवेतया दृशिक्रियया व्याप्यं हि दृश्यं घटादिकं तच्च स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृपूर्वकं दृष्टं लोके । अतो देहादेरपि स्वातिरिक्तेन केनचिद् द्रष्ट्रा भवितव्यमित्यर्थः । ननु देहातिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽप्यहंप्रत्ययवेद्यत्वाद् दृश्यत्वमस्ति । अतो दृश्यस्य सर्वस्य स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृपूर्वकत्वनियमो नास्तीत्यत आह—**द्रष्टुरि**ति । द्रष्टुरात्मनो दृश्यत्वे द्रष्टृत्वं न स्याद् द्रष्टृत्वे न दृश्यत्वं कर्मकर्तृभावविरोधप्रसङ्गात् । न ह्येकस्यैव स्वसमवेतक्रियाश्रयत्वं तद्विषयत्वं च युगपत्संभवति । अतो द्रष्टुरात्मनो दृश्यत्वं न युक्तमित्यर्थः । विपक्षे वाधकमाह—**दृश्ये**ति । यद्यात्माऽपि दृश्यः स्यात्कुड्यादेरिव तस्य द्रष्टृत्वमपि न स्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥ उक्तं कर्मकर्तृभावविरोधं परिहर्तुं शङ्कते—**अंशभेदेने**ति । द्रव्यवोधस्वरूपो हि देहातिरिक्त आत्मा तत्र द्रव्यांशेन तस्य दृश्यत्वं वोधांशेन च द्रष्टृत्वं चेति कर्तृत्वकर्मत्वयोर्व्यवस्थितत्वाद्विरोधो नास्तीत्यर्थः । तदेतन्निरस्यति—**अंशभेद** इति । आत्मनो निरवयवद्रव्यत्वाभ्युपगमादंशभेदकल्पने च सावयवत्वप्रसङ्गात्कुड्यादिवदनात्मत्वमेव तस्य भवेदित्यर्थः । अङ्गीकृत्यापि दूषयति—**अंशभेद** इति । दृग्विषयो द्रव्यात्मकस्तस्याऽऽत्मनो योंऽशः सोऽयं दृश्यत्वात्कुड्यादिसदृशोऽनात्मा । दृशिधात्वर्थाश्रयभूतो योंऽशश्चिदात्मकः स एवाऽऽत्मा । अतो द्रष्टुर्दृश्यत्वं कदाचिन्न संभवतीत्यर्थः । नन्वन्तःकरणादेर्विविक्तं चिन्मात्रमेव ह्यन्तरात्मेति मतम् । तस्य च दृशिधात्वर्थरूपत्वेन तदाश्रयत्वानुपपत्तेर्द्रष्टृत्वं न संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—**द्रष्ट्रंशेऽपी**ति । कर्तृत्वं नाम क्रियाश्रयत्वम् । क्रिया नाम हस्तपादादिचलनानुगुणप्रयत्नविशेषः[2] स चान्तःकरणधर्मस्तद्विशिष्टान्तःपाकरणोधिसंवन्धवशाद्द्रष्ट्रंशे चिन्मात्रस्वरूप आत्मन्यपि स्फटिके लौहित्यवत्कर्तृत्वावभासो निगद्यते । अतस्तद्विषयात्मकं तद्द्रष्टृत्वमपि तस्मिन्नौपाधिकमित्यर्थः । पक्षान्तरमाह—**दृश्याभिव्यक्ती**ति । दर्शनमात्ररूपस्यापि साक्षिचिदात्मनः क्रियानाश्रयत्वेऽपि दृश्याभिव्यक्तिहेतुत्वेनौपचारिकमेवद्रष्टृत्वं न तु स्वाभाविकमित्यर्थः ॥ ३४–३६ ॥

ऐसा व्यवहार होता है । अतः वे दृश्य हैं ।) ॥ ३१–३२ ॥ द्रष्टा होने पर ही कुछ दृश्य होता है यह अनुभवसिद्ध है । (द्रष्टा के बिना स्वरूपतः रहने पर भी वस्तु दृश्य नहीं कही जा सकती, यह त्रिविधसत्तावाद

---

१ अतोऽत्र प्रकटार्थकृतः 'अस्मच्छब्दोल्लिखितः प्रत्ययो नाम जीवाऽहंकारवृत्तिः ।.....तस्याः स्वरूपेणाविषयोऽपि अध्यस्ताहंकर्तृत्वादिविशिष्टरूपेण विषयो भवति इत्यधिष्ठानत्वयोग्योभवतीत्यर्थ' इत्युक्तवन्तः ॥(पृ. १३) । २ इच्छाक्रिययोर्मध्ये व्यापारभूतः प्रयत्नः स्वीक्रियते । न च जीवनयोनाविच्छापूर्वकत्वाभावादव्याप्ति र्जिजीविषायास्तस्यापि हेतुत्वांगीकारादविद्याकामकर्मेति क्रमस्वीकारात् । स चात्मधर्म इति तार्किकाः क्षेत्रधर्म इति सिद्धान्तः ।

स्वतः कर्तृत्वमस्यापि विद्यते यदि चाऽऽत्मनः ।
तर्हि दर्शनरूपेण परिणामी भवेद्धि सः ॥ ३७ ॥
परिणामी न चाऽऽत्मा स्यात्सर्वथा मृत्तिकादिवत् ।
अचित्त्वं च प्रसज्येत ततश्चिन्न हि विद्यते ॥ ३८ ॥
चिद्विहीनं जडं नैव विभाति मुनिपुंगवाः । स्वतः प्रकाशहीनस्य प्रकाशो नोपपद्यते ॥ ३९ ॥

विपक्षे बाधकमाह–**स्वत** इत्यादिना । यद्यात्मनः स्वाभाविकं द्रष्टृत्वं स्यात्तर्हि तद्दर्शनक्रियासंबन्धेन तस्य परिणामित्वं स्यात् 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायत् । परिणामिनश्च मृदादिवदनात्मत्वं स्यात् । अनात्मत्वे च घटादिवदेवाचिद्रूपत्वमपि स्यात् । तथा च न किंचिदपि प्रतीयेतेत्यर्थः । प्रतीयते च । विपर्यये पर्यवसानमाह–**चिन्न हीति** । कोऽप्यर्थो न विद्यते न ज्ञायत इति न हि । अपि तु चिता सर्वमपि ज्ञायते । अतश्चिन्मात्रस्याऽऽत्मनः स्वाभाविककर्तृत्वं न युक्तमित्यर्थः ॥ ३७–३८ ॥ अथ तस्याऽऽश्रितप्रतीयमानभेदस्यौपाधिकत्वप्रतिपादनेनैक्यमुपपादयति–**चिद्विहीनमित्यादिना** । जडं जगत्तावच्चिद्रहितत्वान्नैव भाति । ननु यथा चिच्चिदन्तराभावेऽपि तन्निरपेक्षं भासते तद्वज्जडस्याप्यवभासः किं न स्यादित्यत आह–**स्वत** इति । स्वभावतः प्रकाशानात्मकस्य जडस्य चिन्नैरपेक्ष्येण प्रकाशो न युक्त[1] इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

में उपपत्ति जाननी चाहिये ।) द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकता क्योंकि तब (वह या कोई भी) द्रष्टा नहीं रह जायेगा । दीवाल आदि जो दृश्य वस्तुएँ हैं वे द्रष्टा हों ऐसा कभी नहीं देखा गया है । (इसलिये भी द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता ।) ॥ ३३ ॥ यदि कहो कि आत्मा एक हिस्से से द्रष्टा और दूसरे से दृश्य हो जायेगा तो उसे सांश मानने से दीवालादि की तरह अनात्मा ही मानने की स्थिति हो जायेगी ॥ ३४ ॥ और कथंचित् अंशभेद मानें तो भी दृश्य होने वाला अंश अनात्मा और द्रष्टा रहने वाला अंश ही आत्मा होगा । (वह अंश पुनः दृश्य नहीं हो पायेगा । फलतः अंशकल्पना व्यर्थ हो जायेगी ।) ॥ ३५ ॥ आत्मा की जो द्रष्टारूपता है वह भी उपाधि से है । दृश्य की उपलब्धि की अपेक्षा से ही आत्मा द्रष्टा कहा जाता है । (स्वरूपतः तो वह दृङ्मात्र है । विषय के बिना ही अनुभवरूपता उसकी वास्तविक है । विषयसम्बन्ध काल्पनिक है ।) ॥ ३६ ॥ यदि आत्मा में उपाधि के बिना स्वतः ही दृष्टिकर्तृत्व हो तो कादाचित्क दर्शनक्रिया से वह बदलने वाला हो जायेगा और जो बदलने वाला होता है वह मिट्टी आदि की तरह कभी आत्मा नहीं हो सकता । एवं च दृष्टिकर्ता मानने पर आत्मा जड हो जायेगा जिसका फल होगा कि कोई ज्ञान उपपन्न न होगा । ज्ञानरूप चेतन के संबंध से ही सब वस्तुएँ ज्ञात होती हैं । चेतन वैसा न रह जाने पर वस्तुओं के ज्ञान की क्या उपपत्ति दी जा सकेगी ? ॥ ३८ ॥ चेतन से रहित जड वस्तु कभी भासती नहीं है । जो वस्तु जड होने से स्वयं ज्ञानप्रकाश वाली नहीं, उसका बिना ज्ञानसम्बन्ध के प्रतीत हो जाना असंभव है ॥ ३९ ॥ दृश्य वस्तु चेतन के ज्ञान-प्रकाश से सम्बद्ध होने पर भासती है–यह भी कथन अनुचित ही है क्योंकि चेतन और जड का कोई वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं है । चेतन में अध्यस्त होने से ही जड ज्ञात होता है । अतः दृश्यज्ञानात्मक वृत्तिरूप उपाधि से ही चेतन में दृष्टिकर्तृता आदि भेद आते हैं, स्वयं नहीं । (चेतन में परिणाम व दृश्य से वास्तविक

---

१ तथात्वे चित्त्वप्रसंगादिति भावः ।

चित्प्रकाशात्मसंबन्धादपि चेत्यं न भासते ।
तस्याभावात्ततश्चेत्यप्रतीत्या [1]भिद्यते हि चित् ॥ ४० ॥
चिच्चिदेव सदा विप्रा न दृश्यैव हि केनचित् ।
या दृग् दृश्यत्वहीना सा सर्वदा भासते खलु ॥ ४१ ॥
सा कदाचिन्न भातीति यदि स्यान्मुनिपुंगवाः ।
तर्हि नैव विभातीति विभानं केन सिध्यति ॥ ४२ ॥

अथ चित्संवन्धवशाच्चेत्यप्रतीतिमाशङ्क्य निरस्यति—**चिदिति** । चित्प्रकाशस्य च स्वस्यार्थस्य च विषयविषयिभावादिलक्षणो यः संवन्धस्तस्मादपि चेत्यप्रपञ्चस्यावभासो न युक्तः । तत्र हेतुमाह—**तस्याभावादिति** । तादृशस्य संवन्धस्यैवानिरूपणाद्विषयविषयिभावलक्षणसंवन्धस्य संवन्धान्तरमूलत्वात्तदनङ्गीकारेऽस्य ज्ञानस्यायमेव विषय इति नियमानुपपत्तेरवश्यं मूलभूतः संबन्धो वक्तव्यः । स च संयोगसमवायतादात्म्यादिलक्षणः । तथा च ज्ञानार्थयोस्तादृशः संवन्धो दुर्निरूप इति विषयविषयिभावोऽपि न युक्त इत्यर्थः । एवं च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेस्त्वनाद्यनन्ता ब्रह्मस्वरूपभूता स्वप्रकाशा या चित्तस्यामनाद्यविद्यावशाच्चेत्यप्रपञ्चोऽध्यस्ततयैव प्रतीयत इत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । ततश्चौपाधिक एव चितो नानात्वावभास इत्याह—**तत इति** । यत एवं ज्ञानार्थयोः परमार्थतः संवन्धाभावस्ततश्चेत्यप्रपञ्चस्य चिद्रूपेऽध्यस्ततयैव प्रतीतिर्वक्तव्या । तथाच जलतरङ्गवुद्बुदादिनानाविधोपाधिसंवन्धवशादेकमेव चन्द्रस्वरूपं यथा भिन्नं प्रतीयते तथा स्वात्मन्यध्यस्तनानाविधचेत्योपाधिसंवन्धवशादधिष्ठानभूता चिदपि भिद्यते । अतश्चितो भेदप्रतीतिश्चेत्यघटपटादिभेदनिवन्धनैव न तु पारमार्थिकीत्यर्थः ॥ ४० ॥ नन्वयं घट इत्यादिज्ञानस्यापि ज्ञातो घट इत्याद्यनुव्यवसायज्ञानवेद्यत्वाच्चेत्यप्रपञ्चवदध्यस्तता किं न स्यादित्यत आह—**चिच्चिदेवेति** । चेत्यप्रपञ्चस्याधिष्ठानभूता या चित्सा चिदेव सर्वदा प्रकाशमानैव न तु स्वप्रतिवद्धव्यवहारे ज्ञानान्तरमपेक्षते । अतः सा केनचिदपि द्रष्ट्रा न दृश्या यतश्चेत्यप्रपञ्चस्येवाध्यस्तत्वमाशङ्क्येतेत्यर्थः । तदेतदुपपादयति—**या दृगिति** । दृग्रूपा या चित्साऽवश्यं दृश्यत्वहीना । दृश्यत्वे हि [2]यावत्स्वगोचरज्ञानं नोदेति तावत्पर्यन्तं न प्रतिभासते तदप्रतिभासेन विषयप्रतीतिरपि न स्यादतः सा सर्वदा ज्ञानान्तरनैरपेक्ष्येण भासत इत्यङ्गीकरणीयम् । तथा सति यतः सर्वदा भासतेऽतो दृश्यत्वहीनेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ ननु दृग्रूपस्य ज्ञानस्य चक्षुरादिसंप्रयुक्तघटादिविषयवैशिष्ट्येन भासमानस्याऽऽशुतरविनाशित्वेन क्षणान्तरेऽनवस्थानात्तस्य सर्वदा भासनमसिद्धमित्यत आह—**सेति** । सा दृक्कदाचिद्विषयप्रतीतिदशायां न भातीति यदि स्यात्तर्हि न भातीत्येतदपि केन साधनेन सिध्येत् । न हि चित्प्रकाशमन्तेरण कस्यचित्प्रकाशः संभवति । अतश्चाभावगोचरं[3] स्फुरणं तत्राप्यङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

सम्बन्ध असंभव होना 'अतः' शब्द का अर्थ है ।) ॥ ४० ॥ चित् हमेशा चित् ही है, कभी किसी की दृश्य नहीं वनती । जो दृग्रूप चित् दृश्यत्व से सर्वथा रहित है वह सर्वदा भासती ज़रूर रहती है । (अदृश्य चेतन अप्रमाणिक होने से अस्वीकार्य है—ऐसी शंका का यहाँ समाधान है । अदृश्य, अतएव प्रमाण का अविषय होने पर भी चेतन स्वयं प्रकाश होने से स्वीकारना आवश्यक है ।) ॥ ४१ ॥ हे मुनियों ! यदि कभी ऐसा हो कि वह न भासे, तो (उसका) न भासना जाना कैसे जाये ? (चित् नहीं भास रही ऐसा भान होगा, तव तो जो चित् के न भासने के भानरूप से स्फुट है वह चित् भास ही रही है, नहीं भास

१ ग. घ. विद्यते । २ घ. "वत्सत्वज्ञा" । ३ ख. ङ. "भानगो" ।

न भातीति विभानं तु न भातमिति चेन्मतम् ।
तर्हि भानं हि नाभातं तज्ज्ञानं[1] भानमेव हि ॥ ४३ ॥
भानं भानान्तरेणैव न भाति द्विजपुंगवाः ।
भानरूपेण भानं तु सदैकं न हि तद्द्वयम् ॥ ४४ ॥
भातं भानं सदा स्वेन भासा भाति न चान्यतः ।
यत्स्वयं भाति तद्भानं खलु भास्यस्य भासकम् ॥ ४५ ॥

ननु तदानीं न भातीति स्फुरणाभावः प्रतीयते कथं तदा स्फुरणस्य सद्भावो, भावाभावयोर्विरोधादिति शङ्कते–न भातीति । घटादिकं वस्तु न भातीत्यज्ञानविषयतयैव ज्ञातं, न तु भातमिति ज्ञानविषयतया । अतस्तस्मिन्समये निषेध्यमानस्य भानस्य कथमवस्थितिरित्यर्थः । परिहरति–तर्हीति । न भातीत्यज्ञानविषयतया भानमपि भातमेव न त्वभातम् । तत्र ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति करणव्युत्पत्त्या सत्त्वपरिणामरूपचक्षुरादिसंप्रयुक्तविषयाकारान्तःकरणवृत्तिर्वृत्तिज्ञानम् । सविषयस्य तस्य साक्षाद्भासकं स्वरूपज्ञानं च वृत्तिज्ञानेनाविषयीकृतमज्ञाततया । अतस्तस्याज्ञातस्य भानमपि भानमेव । ज्ञाताज्ञातयोरुभयोरपि स्फुरणसाक्षिकत्वादित्यर्थः । अत एवोच्यते सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवेति ॥ ४३ ॥ अस्य च साक्षिचैतन्यस्फुरणस्य वृत्तिज्ञानतो विशेषमाह–भानमिति । वृत्तिज्ञानं हि जडत्वात्साक्षिचैतन्यरूपेण भानान्तरेणैव भाति । साक्षिरूपं भानं तु नैव भानान्तरेणापि तु स्वयमेव प्रकाशते । प्रकाशमानं हि ज्ञानमर्थस्य भासकं तत्प्रकाशनं च ज्ञानान्तरायत्तं चेत्तत्राप्येवमित्यनवस्था स्यात्ततो ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं न संभवतीत्यर्थः । सति हि ज्ञानान्तरे तद्वेद्यत्वं ज्ञानस्याऽऽशङ्क्येत, तदेव नास्तीत्याह–भानरूपेणेति । घटपटादिदृश्यभेदोपाधिना या(यद्) दृग्रूपं ज्ञानं विभिन्नं प्रतीयते तद् दृश्यसंबन्धं परित्यज्य केवलं स्फुरणरूपेण सर्वदैकमेव न तु भिन्नम् । घटपटादिज्ञानेषु स्फुरणमात्रस्याविशेषेण प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यर्थः ॥ ४४ ॥ एवं भानस्यैकत्वेन तद्गोचरं स्फुरणान्तरं नास्ति चेत्कथं तर्हि तस्य प्रतीतिरित्यत आह–भातमिति । प्रतीयमानं स्फुरणरूपं साक्षिचैतन्यं स्वेनैव भासा भाति न चान्यस्मात्प्रकाशान्तरात् । श्रूयते हि 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति । स्वयंप्रकाशमानस्यैव प्रकाशकत्वं लोके प्रसिद्धमिति दर्शयति–यत्स्वयमिति । यत्प्रभादीपादिकं सजातीयप्रकाशान्तरनैरपेक्ष्येण भासते तस्यं खलु लोके प्रकाशकत्वं दृष्टम् । अतो ज्ञानं ज्ञानान्तरनैरपेक्ष्येण स्वयंप्रकाशमानमेव सद्भास्यं विषयं प्रकाशयेत् । तस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽनवस्थाप्रसक्तेः ।[2] ये तु चक्षुरादिवन्निर्लीनमेव विज्ञानं विषये ज्ञाततारूपं फलं जनयतीतिवर्णयन्ति तैरपि विषयस्फुरणरूपा ज्ञातता स्वप्रकाशत्वेनैष्टव्या । तथा सति सैव चक्षुरादिकरणजन्याऽस्तु कृतमन्तर्गडुना ज्ञानेन ॥ ४५ ॥

रही यह कहना ही वदतोव्याघात होगा ।) ॥ ४२ ॥ यदि कहो कि 'चित् नहीं भास रही'—ऐसा भान कभी भास नहीं सकता (अन्यथा पूर्वोक्त दोष होगा, अतः चित् के न भासने को कैसे जाना जाये इत्यादि प्रश्न असंगत है) ? तो यह समझ लो कि (जब वैसा भान भासता नहीं तो अननुभूत व अप्रामाणिक होने से चित् का न भासना असंगत है, चिद् भासती ही है । किंच) 'चिद् नहीं भास रही' यह एक भान ही है । अतः सदा भान का सद्भाव ही है । कभी भी अभान नहीं होता । (तात्पर्य है कि भानमात्र का अभाव न स्वप्रकाश और न प्रमाणसिद्ध है अतः अमान्य है । स्वप्रकाश भान सदा रहता है अतः भान का अभाव बाधित भी है ।) ॥ ४३ ॥ भान किसी अन्य भान से भासित नहीं होता । भानरूप से वह एक ही है । भान विभिन्न

---

१ न भातीति ज्ञानम् । २ मीमांसकान्प्रत्याह–य इत्यादिना । न चैवं 'प्रमाणानां ज्ञातताजनकत्वान्न वैयर्थ्यमि'ति तत्त्वदीपनविरोधः (पृ १००. कल.), तत्र ज्ञाततापदस्य अज्ञाननिवृत्तिपरत्वात् ।

अतः सर्वस्य साक्ष्यस्य साक्षिभूतः स्वयंप्रभः ।

आत्मा साक्ष्यगतैर्धर्मैः कर्मभिर्न स बध्यते ॥ ४६ ॥

दृग्रूपं दृश्यसंबद्धमिति वक्तुं न शक्यते ॥ ४७ ॥

संबन्धस्यापि साक्ष्यत्वात्संबन्धो दृश्यवस्तुगः ।

दृश्यभूतस्य रज्ज्वादेः खलु दृष्टस्तु संगमः ॥ ४८ ॥

असङ्गो ह्ययमित्येवं ब्रवीति च परा श्रुतिः ।

तस्मादात्मा तु चिद्रूपः कर्मभिर्न स बध्यते ॥ ४९ ॥

एवमद्वितीयस्वप्रकाशचिन्मात्ररूपत्वमात्मनः प्रसाध्य सर्वसाक्षितया साक्ष्याननुप्रविष्टस्य प्रतिज्ञातं साक्ष्यगतकर्मसंबन्धाभावं निगमयति–अत इति ॥ ४६ ॥ दृग्रूपस्य तस्य पुनरपि कर्मसंबन्धमाशङ्क्य निरस्यति–दृगिति । दृश्यसंबन्धापेक्षो हि तथाविधस्याऽऽत्मनो दृग्व्यपदेशः । तथा तत्कर्मापि हि दृश्यमिति तेन सह दृग्रूपस्य संबन्धोऽवश्यं भावीति न शक्यते वक्तुम् । संबन्धिद्वयघटितो हि धर्मः संबन्धस्तस्य च दृग्रूपत्वे दृग्रूपसंबन्धिनाऽनतिरिक्तत्वात्संबन्धत्वमेव हीयते । दृश्यरूपत्वेऽपि दृश्यलक्षणसंबन्धिकोटिनिक्षिप्तत्वात्संबन्धित्वमेव न तु संबन्धरूपतेत्यर्थः । दृश्यस्य च दृशा सह संबन्धाभावः सुप्रसिद्ध इति दर्शयति–दृश्यभूतस्येति । यथा रज्ज्वादेर्दृश्यस्य दृशा सह परमार्थतः संबन्धो नास्ति । अध्यस्ततयैव प्रतीतिरिति प्राक्प्रतिपादितत्वात् ॥ ४७–४८ ॥ उक्तेऽर्थे श्रुतिं संवादयति–असङ्ग इति । सा च श्रुतिः–'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'असङ्गो न हि सज्जते' इत्यादिका । तस्मादिति । [1]दृग्दृश्ययोर्वास्तवसंबन्धाभावादित्यर्थः ॥ ४९ ॥

तो हैं नहीं जो एक से दूसरा भासित हो । (भानों का भेद औपाधिक है यह पूर्वत्र कह चुके हैं ।) ॥ ४४ ॥ प्रतीयमान भान अर्थात् स्फुरणरूप साक्षीचैतन्य सदा अपने स्वरूपभूत भान से ही भासता है, अन्य किसी (भान या अभान से नहीं) । भास्य का भासक भान होता ही वह है जो स्वयं भासता है । (जो स्वयं न भासे वह अन्य का भासक क्योंकर होगा ? जहाँ भास्य भी भासक दीखता है वहाँ भी भासकता मुख्य भासक में ही है, भास्य तो द्वारमात्र बना है ।) ॥ ४५ ॥ अतः समस्त साक्ष्य वस्तुओं का साक्षी स्वप्रकाश आत्मा है जो साक्ष्य के धर्मभूत कर्मों से कभी संश्लिष्ट नहीं होता ॥ ४६ ॥ दृग्रूप आत्मा दृश्य से सम्बद्ध होता है यह नहीं कह सकते क्योंकि सम्बन्ध भी साक्ष्य होने से दृश्य का ही धर्म हो सकता है दृक् का नहीं । जितना भी संबंध देखा गया है दृश्यों में ही देखा गया है । अतः दृक् आत्मा का सम्बन्ध होना असंभव है ॥ ४७–४८ ॥ किंच श्रुति स्पष्ट कहती है कि यह आत्मा असंग है–सम्बन्ध वाला नहीं । अतः चिद्रूप–ज्ञानरूप–आत्मा कर्मों से बँधता नहीं ॥ ४९ ॥ चेतनरूप आत्मा ब्रह्म है यह श्रुति की घोषणा है और अन्यत्र श्रुति ने यह भी कहा है कि ब्रह्म का कर्म से कोई सम्बन्ध

१ घ. दृग्रूपयो° ।

चिद्रूपस्याऽऽत्मनः साक्षाद्ब्रह्मतामाह हि श्रुतिः ।
ब्रह्मणः कर्मसंबन्धाभावं चाऽऽह परा श्रुतिः ॥ ५० ॥
तथा सति कथं सोऽयं कर्मभिर्बध्यते बुधाः ।
तस्मादात्मा स्वमोहेन संसारीव प्रकाशितः ॥ ५१ ॥
वर्णाश्रमवयोवस्थाविशेषानात्मविभ्रमात् । अध्यस्याशेषवेदानां नियोज्यः स्यान्न च स्वतः ॥ ५२ ॥
अज्ञानादन्यथा ज्ञानं मनुष्यत्वादिमानयम् ।
आत्मा तु परमात्माऽपि कर्मभिर्बध्यतेऽवशः ॥ ५३ ॥
कर्मभिर्व्यवहारे तु बद्धोऽपि स्वीयमायया । वस्तुतः परमात्माऽयं खलु तैर्न निबध्यते ॥ ५४ ॥
स्वात्मनः सर्वसाक्षित्वं देहादेर्व्यतिरिक्तताम् ।
ब्रह्मत्वं च श्रुतेर्ज्ञात्वा कर्मभिर्न हि बध्यते ॥ ५५ ॥

एवं प्रत्यगात्मनः साक्षिचिन्मात्ररूपतया कर्मसंबन्धाभावमभिधाय ब्रह्माभिन्नतयाऽपि तत्प्रतिपादयितुं ब्रह्मणः कर्मसंबन्धराहित्यं श्रुतिप्रसिद्धमिति दर्शयति–**ब्रह्मण** इति । श्रूयते हि–'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति ॥ ५० ॥ **सोऽयमिति** । पुण्यपापसंस्पर्शवैधुर्येण श्रुत्या प्रतिपादितो यः परमात्मा स एवायं साक्षिरूपेणावस्थित आत्मेति तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तत्तादात्म्येन प्रतिपादित इत्यर्थः । यद्येवमात्मनः कर्मसंबन्धो नास्ति तर्हि कथं तस्य संसारित्वप्रतीतिरित्यत आह–**तस्मादिति** । **स्वमोहेनेति** । स्वस्याऽऽत्मनः पारमार्थिकाद्वितीयस्वप्रकाश-चिन्मात्ररूपत्वापरिज्ञानेनेत्यर्थः ॥ ५१ ॥ **वर्णाश्रमेति** । स्थूलदेहादितादात्म्याध्यासनिबन्धन एवाऽऽत्मनि ब्राह्मणत्वगृहस्थत्वलक्षणवर्णाश्रमादिसकलविशेषावभासः । **अध्यस्येति** ब्राह्मणत्वाद्यध्यासादित्यर्थः । **अशेषवेदानामिति** । 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत राजा राजसूयेन यजेत' इत्यादीनामित्यर्थः ॥ ५२ ॥ **अज्ञानादन्यथा ज्ञानमिति** । अविद्या हि द्विविधा । विक्षेपशक्तिरावरणशक्तिश्चेति । तत्राऽऽवरणशक्त्या नीलपृष्ठत्रिकोणत्वादिवदात्मनो विशेषरूपस्य ब्रह्मात्मत्वस्याऽऽवरणात् । विक्षेपशक्त्या रजतादिवन्मिथ्याभूतस्य मनुष्यत्वादेरुपस्थापनाच्चेत्यर्थः । **अवश** इति । देहादितादात्म्याभिमानवतस्तत्कृतपुण्यपापपारवश्यमेव न तु स्वातन्त्र्यमित्यर्थः ॥ ५३ ॥ परमात्मनोऽपि जीवभावापन्नस्योक्तरीत्या कर्मपारवश्यं चेत्कृतमात्मनः परमात्मत्वज्ञानेनेत्यत आह–**कर्मभिरिति** । व्यवहारदशायां स्वात्मनः कर्मसंबन्धं मायामयत्वेन साक्षात्कुर्वतः परमात्मनो वास्तवो बन्धलेशोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ ५४ ॥ कथं तर्ह्यज्ञानाज्जीवभावमापन्नस्य तस्य कर्मपारवश्यनिरास इति तत्राऽऽह–**स्वात्मन** इति । प्रत्यगात्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वं साक्षिचिन्मात्ररूपत्वमुक्तयुक्तिभिर्निश्चित्य तस्य ब्रह्मरूपत्वमहं ब्रह्मास्मीत्यादिश्रुतिमुखाद्गुरूपदेशेन ज्ञात्वेत्यर्थः । परोक्षस्य ब्रह्मात्मज्ञानस्यापरोक्षसंसारभ्रमनिवर्तकत्वाभावेऽपि कर्मबन्धनिवर्तकत्वं प्राक्प्रतिपादितम्–'परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्' इत्यादिना ॥ ५५ ॥

नहीं । तब आत्मा कर्म से क्योंकर बँध सकेगा ? अतः अपने अज्ञान से ही आत्मा संसरण करता हुआ सा प्रतीत होता है ॥ ५०–५१ ॥ वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि अनात्मविशेषों को अपना रूप समझकर ही आत्मा स्वयं को सारे वेद का नियोज्य समझता है–यह समझता है कि वेद के अमुक वाक्य द्वारा बताया कार्य मेरा कर्तव्य है । इन अनात्मविशेषों के तादात्म्यके बिना स्वयं अकेला आत्मा कभी नियोज्य नहीं होता–उसका कोई कर्तव्य नहीं होता ॥ ५२ ॥ आत्मा स्वयं परमात्मा होते हुए भी अज्ञानवश अन्यथाज्ञान वाला होकर मनुष्यत्वादि अपने में मानने लगता है, फलतः कर्मों से अपने को बँधा प्रतीत करता है ॥ ५३ ॥ अपने ही अज्ञान से व्यवहारदृष्टि से कर्मों से बँधा होने पर भी वस्तुतः क्योंकि यह परमात्मा है इसलिये निश्चित है कि उनसे नहीं बँधता ॥ ५४ ॥ श्रुतिपूर्वक यह निश्चय कर कि 'देहादि से अतिरिक्त, सबका साक्षी मैं ब्रह्म हूँ,' कर्मबन्धन से आत्मा छूट जाता है–पुनः यह भ्रम नहीं होता कि मैं कर्म से

सर्वसाक्षिणमात्मानं वर्णाश्रमविवर्जितम् । ब्रह्मरूपतया पश्यन्मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ५६ ॥

अतः स्वात्मापरिज्ञानाद्देहेऽहंभावमाश्रितः[1] ।

करोति सर्वशास्त्रोक्तं न ज्ञानी न हि संशयः ॥ ५७ ॥

ईदृशी परमा विद्या शांकरी भवनाशिनी । प्रसादादेव जन्तूनां शक्तेरेव हि जायते ॥ ५८ ॥

[2]वागुद्भूता परा शक्तिर्या चिद्रूपा पराभिधा ।

वन्दे तामनिशं भक्त्या श्रीकण्ठार्धशरीरिणीम् ॥ ५९ ॥

इच्छासंज्ञा च या शक्तिः परिपूर्णशिवोदरा । वन्दे ताम दरेणैव ममेष्टफलदायिनीम् ॥ ६० ॥

पश्यन्निति । यस्तूदीरितं ब्रह्मात्मत्वं मननर्निदिध्यासनाभ्याममसंभावनाविपरीतभावनानिरासेन साक्षात्करोति स तु साक्षात्कारसमय एव कारणभूतस्याज्ञानस्य निवृत्तेस्तत्कार्यभूतात्संसारबन्धादपि तदैव मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥ एवं ब्रह्मात्मत्वज्ञानवतः कर्मसंबन्धाभावात्कर्मकाण्डविहितमग्निहोत्रादिकं सर्वं देहादितादात्म्याध्यासवतएवेत्युपसंहरति–**अत** इति ॥ ५७ ॥ **शक्तेरेव हीति** । एवकारोऽन्ययोगव्यावृत्त्यर्थः । संविद्रूपिण्याः परशक्तेरेव, नान्यस्या देवताया इत्यर्थः । प्रसादे सत्येव परविद्योत्पत्तिर्नासतीत्यर्थः । शक्तिप्रसादाद्ब्रह्मत्वलाभश्च तलवकारोपनिषद्याम्नायते–'तस्मिन्नेवाऽऽकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ब्रह्मेति होवाच' इति ॥ ५८ ॥ अतस्तत्प्रसादहेतुभूतं स्तोत्रमारभते–**वागित्यादिना** । या संविद्रूपिणी परमा शक्तिः सैव शब्दरूपेण विवर्तमाना प्रथमं पराख्याऽऽविर्भूता विन्दुस्फोटनोद्भूतात्सर्वत्रासावनुस्यूतशब्दः[3] प्राणिनामर्थविवक्षाहेतुकप्रयत्नजनितपवनसंबन्धहेतूनां मूलाधारेऽभिव्यक्तो निस्पन्दः परा वागित्युच्यते । उक्तं ह्याचार्यैः–'मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः' इति । तां विशिनष्टि–**श्रीकण्ठेति** । श्रीकण्ठादिन्यासे ह्यकारमूर्तिः श्रीकण्ठः । अकारस्य सर्ववागात्मकत्वम् । 'आकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इत्यादिश्रुतेः । परा वाग्रूपा वा शक्तिः सा वैखरीरूपतया सकलफलात्मिकाऽतः सा सर्ववागात्मकत्वसाम्याच्छ्रीकण्ठस्य शक्तिभूतेत्यर्थः ॥ ५९ ॥ **इच्छासंज्ञेति** । सैव परा शक्तिरिष्यमाणसकलजगल्लक्षणशक्त्या विशेषनिरूपिता सतीच्छाशक्तिरित्युच्यते । सा विशेष्यते–**परिपूर्णेति** । परिपूर्णेनाप्यनन्तशिवसत्यज्ञानादिलक्षणेन तेन सहितमुदरं यस्याः सा तथोक्ता । जपाकुसुमरागेण स्फटिकवत्स्वप्रकाशपरशिवचैतन्येन व्याप्तेत्यर्थः । एवं ह्यकारस्य श्रीकण्ठादिन्यासे शक्तिमूर्तिः 'पूर्णोदरी च विरजा तृतीया शाल्मली तथा' इति आचार्यैरुक्तत्वात् । यत इयमिच्छाशक्तिरतः स्तोतुरिष्टं फलं दातुं शक्तेत्यर्थः ॥ ६० ॥

बँधा हूँ ॥ ५५ ॥ सबके साक्षिभूत आत्मा को वर्णाश्रम रहित ब्रह्मरूप समझता आत्मा भवबंध से मुक्त हो जाता है ॥ ५६ ॥ अतः सब शास्त्रों में बताये कर्म वे ही करते हैं जो अपने स्वरूप को जाने विना देहादि को अपना स्वरूप समझे बैठे हैं । ज्ञानी कुछ नहीं करता इसमें कोई संशय नहीं ॥ ५७ ॥ कल्याण करने वाली, संसार निवृत्त करने वाली ऐसी परा विद्या, शक्ति की कृपा से ही लोगों को होती है ॥ ५८ ॥ परा नामक जो चिद्रूपिणी शक्ति है वही परा वाक् रूप से विवर्तित हुई है । श्रीकण्ठ की अर्धांगिनी

---

१ ख. ग. ङ. "हंमानमा" । २ तत्पदार्थएवेह शक्तिर्न देवतान्तरमिति स्पष्टयितुं स्तौति–वागित्यादिना । ३ घ. "शब्दात्प्राण" ।

शक्तिर्या परमा साक्षाद्बीजभूताऽखिलस्य च ।
वन्दे तामनिशं भक्त्या नकुलीशशिवान्विताम् ॥ ६१ ॥
ऊर्ध्वरूपाऽप्यधोरूपा तथाऽधस्थाऽपि मध्यगा ।
मध्यरूपाऽपि चान्तःस्था या तां वन्दे वरप्रदाम् ॥ ६२ ॥
विन्यासैर्वर्णसंक्लृप्तैर्विश्वविद्यालयात्मना । विद्योतमाना या वाचि वन्दे तामादरेण तु ॥ ६३ ॥
एकधा च द्विधा चैव तथा षोडशधा स्थिता ।
द्वात्रिंशद्भेदभिन्ना च या तां वन्दे परात्मदाम् ॥ ६४ ॥
अकारादिक्षकारान्तैर्वर्णैरत्यन्तनिर्मलैः । अशेषशब्दैर्या भाति तामानन्दप्रदां नुमः ॥ ६५ ॥

वीजभूतेति । ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चा पुनरुत्पत्स्यमानस्य सर्वस्य जगतः साक्षाद्बीजतया परमा चिच्छक्तिस्तामिति संवन्धः **नकुलीशशिवान्वितामिति** । श्रीकण्ठादिन्यासे नकुलीशो नाम हकारमूर्त्याकारात्मनाऽवस्थितेन नकुलीशाख्येन शिवेन सहिता विश्वजननसमर्था वीजात्मिका संविद्रूपिणी शक्तिर्हकारवाच्या प्रकृतिः 'अथ संज्ञा भवेद्व्याप्य विश्वम्' इत्याचार्यैरुक्तत्वात् । अतो हकाररूपेण नकुलीशशिवेन वाच्यवाचकभावेन संवद्धामित्यर्थः ॥ ६१ ॥ **ऊर्ध्वरूपेति** । ऊर्ध्वं कार्यप्रपञ्चस्योपरि प्रध्वंसस्योत्तरकाले वर्तमानं ग्रस्तसमस्तप्रपञ्चात्मनो रूपं यस्याः सा तथोक्ता । एवमूर्ध्वरूपाऽप्यधोरूपा कार्यप्रपञ्चस्याधस्तादुत्पत्तिकाले वर्तमानं तज्जननसमर्थकारणात्मकं रूपं यस्याः सा तथोक्ता । एवं कारणतया तथाऽधःस्थाऽपि कार्यप्रपंचस्य अधस्थाद् वर्तमानाऽपि सैव **मध्यगा**; प्रपंचस्य प्रागभावप्रध्वंसयोर्मध्यकालेऽपि व्याप्य वर्तमानाया एव चिच्छक्तेः कालत्रयव्याप्तिर्दर्शिता । अन्तस्थेति कालव्याप्त्या मध्यरूपाऽपि कार्यप्रपंचस्य **अन्तस्था** उपादानकारणरूपेण अन्तर्वर्तमाना । यद्वा, स्थावरजङ्गमात्मके स्वसृष्टे जगति स्वात्मकत्वतयाऽन्तरनुप्रविश्य स्थिता । श्रूयते हि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति ॥ ६२ ॥ अत्र चोर्ध्वरूपाया अधोरूपत्वमधोरूपायास्तु मध्यरूपत्वं मध्यमाया अन्तरवस्थानं च प्रतीत्यैतद्विरुद्धं तादृशविरोधाभावं दर्शयति-**विन्यासैरिति** । अकारादिहकारान्तवर्णपरिकल्पितैर्विन्यासैर्गद्यपद्यादिसंस्थानविशेषैः सकलविद्याश्रयतया शब्दे या विद्योतमाना तामित्यर्थः ॥ ६३ ॥ **एकधा चेति** । एकेनैव प्रकारेण ताल्वोष्ठपुटाभिव्यक्तवैखरीवागात्मना प्रथममवस्थिता । पुनः स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विप्रकारं विभज्य स्थिता । पुनश्च षोडशधाऽकारादिविसर्गान्तषोडशस्वरूपेण विभज्य स्थिता । पुनरपि द्वात्रिंशद्भेदभिन्ना काद्याः पञ्चविंशतिर्यादयोऽष्टौ रलयोरभेदाल्लकारो न पृथग्गणनीयः । क्षकारश्च संयुक्ताक्षरतया न पृथग्भूतः । हकारोऽपि मूलप्रकृतिवाचकतया सकलजगन्मूलत्वेनावस्थितो व्यष्टिरूपेण गणनां नार्हति । अत एवोक्तं 'नकुलीशशिवान्विताम्'इति (श्लो. ६१) । अतो यादयः सप्तावशिष्यन्ते । तथा चायमर्थः- ककारादिसकारान्तद्वात्रिंशद्व्यञ्जनात्मना विभज्यावस्थिता । इत्थं मातृकारूपेणावस्थिता या परमा शक्तिस्तामित्यर्थः ॥ ६४ ॥ **अकारादीति** । उक्तभेदेन भिन्नायाः शक्तेरवयवभूता अकारादिक्षकारान्तवर्णास्ते चात्यन्तनिर्मलाः अमृतमयत्वात् । आधारादिषट्कमलदलेषु पातिता द्वादशान्तस्थितचन्द्रमण्डलात्सृता अमृतविन्दवोऽकारादिक्षकारान्तवर्णात्मना परिणताः । उक्तं ह्याचार्यैः । 'मूलाधारात् स्फुरिततडिदाभाप्रभा सूक्ष्मरूपोद्गच्छन्त्या मस्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता । सौषुम्नाध्वाचरणनिपुणा सा सविन्नाऽनुवद्धा ध्याता सद्योऽमृतमथ रवेः स्रावयेत्सार्धसोमात्' ॥ 'शिरसि निपतिता या विन्दुधारा सुधारा भवति लिपिमयी सा[1] ताभिरङ्गं मुखाद्यम्' ॥ इति । तथाविधैर्निर्मलैर्वर्णैस्तत्संस्थानभेदपदवाक्यात्मनाऽवस्थितैः शब्दैर्या शक्तिर्मातृकात्मिका भाति तामित्यर्थः ॥ ६५ ॥

उस उमा की मैं अहर्निश वन्दना करता हूँ ॥ ५९ ॥ इच्छा नामक जो शक्ति परिपूर्ण शिव से व्याप्त है, मुझे इष्ट फल देने वाली उस माहेश्वरी की मैं भक्तिपूर्वक वंदना करता हूँ ॥ ६० ॥ जो परम शक्ति समस्त जगत् की बीज है, नकुलीश नामक शिव सहित उस शक्ति की मैं प्रेम से वन्दना करता हूँ ॥ ६१ ॥ पहले, पीछे, कार्यकाल में और कार्य में उपादान रूप से स्थित वरदायिनी परदेवता की मैं वंदना करता हूँ ॥ ६२ ॥ वर्णघटित गद्य आदि आकारों में जो समस्त विद्याओं की आश्रय बनी शब्द रूप से प्रकाशित होती है उसकी मैं आदरपूर्वक वंदना करता हूँ ॥ ६३ ॥ जो एक वैखरी रूप से स्थित है,

---

१ ज. "सा नाभि" ।

लक्ष्मीवागादिरूपेण नर्तकीव विभाति या । तामाद्यन्तविनिर्मुक्तामहं वन्दे वराननाम् ॥ ६६ ॥
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च यस्या एव समुद्गताः ।
यस्यामेव विलीयन्ते तस्यै नित्यं नमो नमः ॥ ६७ ॥
महदादिविशेषान्तं जगद्यस्याः समुद्गतम् । यस्यामेव लयं याति वन्दे तामम्बिकामहम् ॥ ६८ ॥
गुरुमूर्तिधरां गुह्यां गुह्यविज्ञानदायिनीम् । गुह्यभक्तजनप्रीतां गुहायां निहितां नुमः ॥ ६९ ॥
य इदं पठते स्तोत्रं सन्ध्ययोरुभयोरपि । सर्वविद्यालयो भूत्वा स याति परमां गतिम् ॥ ७० ॥
इति जनहितमेतत् प्रोच्य देव्याः प्रसादाद् गुरुगुरुमखिलेशं भक्तिपूर्वं प्रणम्य ।
मुनिगणमवलोक्य स्वानुभूत्यैव सूतः स्वकपरशिवरूपे लीनबुद्धिर्बभूव ॥ ७१ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽवशिष्टपापस्वरूपकथनं नाम सप्तचत्त्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

नर्तकीवेति । यथा नर्तकी स्वयमेकैव सत्याहार्यनानाविधरूपेण नानाविधा भात्येवमेकैव परा शक्तिः परिकल्पितभेदाल्लक्ष्मीवागादिनानाशक्त्यात्मना भातीत्यर्थः । **आद्यन्तविनिर्मुक्तामिति** । आदिरुत्पत्तिरन्तो विनाशस्तदुभयनिर्मुक्तां सर्वदा वर्तमानामित्यर्थः ॥ ६६ ॥ **ब्रह्माद्या इति** । ब्रह्मादिस्तम्बान्तो यो भोक्तृप्रञ्चस्तस्य सर्वस्योत्पत्तिस्थितिलया यस्याः स्वरूपे परिकल्प्यन्ते तस्या इत्यर्थः । श्रूयते हि–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति ॥ ६७ ॥ न केवलमेव भोक्तृप्रपञ्चस्याधिष्ठानं भोग्यप्रपञ्चपरिकल्पनस्यापि सैवाधिष्ठानमित्याह–**महदादीति** । मूलप्रकृतेरत्यन्तनिर्विकल्पकतया चिच्छक्तितादात्म्येन क्षीरनीरवदविभागापन्नत्वान्महत्तत्त्वस्य च प्रथमकार्यत्वात्तदेवाऽऽदित्वेनोपादीयते । महदहंकारादिघटपटादिविशेषान्तं भोग्यरूपं जगदस्याः परशक्तेः समुद्भूतं समुद्भूयावस्थितमित्यर्थः ॥ ६८ ॥ **गुरुमूर्तिधरामिति** । शमदमादिसाधनसम्पन्नविरक्तजनाननुग्रहीतुं गुरुमूर्तिरूपेणावस्थिताम् । गुह्यां रहस्यां दुरधिगमामित्यर्थः । गुह्यं रहस्यम् द्वितीयब्रह्मात्मैकत्वविषयं वेदान्तश्रवणमननादिसाधनजनितं यत्सम्यग्ज्ञानं तद्दातुं शीलमस्याः सा तथोक्ता । **गुहायां निहितामिति** । देहमध्येऽवस्थितहृदयकमलमध्यं गुहा, तस्यां निहिताम्, तत्र विशेषतोऽभिव्यक्तामित्यर्थः । श्रूयते हि 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इति ॥ ६९–७१ ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवापरायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन श्रीमाधवाचार्येण विरचितायां सूतसंहितातात्पर्यदीपिकायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डेऽवशिष्टपापस्वरूपकथनं नाम सप्तचत्त्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

स्वर और व्यंजन–यों दो तरह से स्थित है, अ-आ इत्यादि सोलह प्रकारों से स्थित है तथा क से स तक बत्तीस तरह से स्थित है, उस परात्मबोधिका शिवा की मैं वन्दना करता हूँ । (बत्तीस की गिनती समझने के लिये ळकार को अलग से नहीं गिनना चाहिये । ज्ञ को लेकर संख्या पूरी होती है ।) ॥ ६४ ॥ अ से क्ष तक के अत्यंत निर्मल वर्णों के रूप में व सब शब्दों के रूप में जो प्रतीत होती है उस आनन्दप्रद शांभवी को हम प्रणाम करते हैं ॥ ६५ ॥ जो नर्तकी की तरह एक रहती हुई लक्ष्मी, सरस्वती आदि नाना प्रतीत होती है उस आद्यन्तरहित स्मितमुखी की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ६६ ॥ ब्रह्मा से स्थावर पर्यंत जो कुछ है वह जिससे ही निकला है और जिसमें ही विलीन होता है उसे सदा प्रणाम है ॥ ६७ ॥ उस अम्बिका की वंदना करता हूँ जिससे महान् आदि सारा जड प्रपंच निकला है और जिसमें ही विलीन होता है ॥ ६८ ॥ गुरुमूर्ति धारण करने वाली, गोपनीय, रहस्यभूत विज्ञान का उपदेश देने वाली, गुप्त भक्तजनों पर प्रसन्न होने वाली, हृदय-गुहा में स्थित महादेवी को नमस्कार करते हैं । (ख्याति, लाभ आदि के लिये स्वयं या प्रेरणा द्वारा प्रयास न करने वाले गुप्त भक्त कहे जाते हैं । 'अव्यक्ताचाराः' इत्यादि श्रुतियाँ इस विषय में समझनी चाहिये ।) ॥ ६९ ॥ जो व्यक्ति प्रातः-सायम् इस स्तोत्र का पाठ करता है वह सब विद्याओं की निधि बन जाता है और परम गति प्राप्त करता है ॥ ७० ॥ देवी की कृपा से जनहित की इन सब बातों को बताकर, परमगुरु अखिलेश्वर शंकर को प्रणाम कर, मुनिगणों पर कृपादृष्टि डाल श्री सूत जी ने अपनी अनुभूतिरूप से स्थित अपने परमशिवस्वरूप में अपनी बुद्धि लीन कर ली । (अर्थात् उनकी बुद्धि सर्वथा अचंचल हो गयी, वे समाधिस्थ हो गये) ॥ ७१ ॥

समाप्तोऽयं पूर्वो भागः

---

१ ज. "सा नाभि" ।

262- [illegible]